इतिहास समिति प्रकाशन–५

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(द्वितीय भाग)

केवली व पूर्वधर-खण्ड

आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक मण्डल

पं० रत्न मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी महाराज
श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
पं० शशिकान्त झा
डॉ० नरेन्द्र भानावत
प्रेमराज बोगावत
गजसिंह राठोड़, न्याय-व्याकरण-तीर्थ
(मुख्य-सम्पादक)

प्रकाशक

जैन इतिहास समिति

जयपुर (राजस्थान)

समर्पण

पुण्ये शताब्दि-सु-महे तव पंचविंशे,
श्री वर्द्धमान ! जिननाथ ! समर्पयामि ।
जैनेतिहासकुसुमस्तबकं द्वितीयम्,
ते हस्तिमल्लमुनिपोऽहमतीव भक्त्या ॥

विषयानुक्रमणिका

[1] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४७२ का टिप्पण।

प्रकाशकीय

विश्वबंधु भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के परम पावन ऐतिहासिक पर्व के अवसर पर धर्म एवं इतिहास के प्रति अभिरुचि, प्रेम अथवा श्रद्धा रखने वाले जिज्ञासु पाठकवृन्द के कर-कमलों में जैन इतिहास ग्रन्थमाला का यह पाँचवां पुष्प – "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, द्वितीय भाग" प्रस्तुत करते हुए हमें असीम आनन्द, परम संतोष एवं गौरव का अनुभव हो रहा है।

विगत अनेक वर्षों से एक सर्वांगसंपूर्ण शृंखलाबद्ध जैन इतिहास का अभाव जैन जगत् में तीव्रता से अनुभव किया जा रहा था। उस अभाव की पूर्ति का भार इस युग के महान् मनीषि जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा. ने अपने दृढ़ एवं सबल कन्धों पर उठाया। आपने इस महान् कार्य को सम्पन्न करने हेतु सुदूरस्थ प्रदेशों में उग्र विहार कर जैन संस्कृति के निधि-स्वरूप अनेक हस्तलिखित ग्रन्थागारों – ज्ञानभण्डारों से विपुल ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित की। इन कर्मठ-योगी ने धर्माचार्य के अपने दैनिक कर्त्तव्यों के निर्वहन के साथ-साथ एक के बाद एक ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ की। आप श्री की ही सद्-प्रेरणा से गठित इस जैन इतिहास समिति ने उन इतिहास ग्रन्थों का प्रकाशन सन् १९६९–७० से प्रारम्भ किया।

इतिहास समिति इस अवधि में आचार्यश्री द्वारा प्रणीत क्रमशः (१) पट्टावली प्रबन्ध संग्रह, (२) आचार्य चरितावली, (३) जैन धर्म का मौलिक इतिहास (प्रथम भाग), तीर्थंकर खण्ड और (४) ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर (तीर्थंकर खण्ड का ही अंतिम अंश) – इन चार ग्रन्थों का प्रकाशन कर उन्हें विज्ञ एवं श्रद्धालु पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर चुकी है। इतिहास समिति के सामान्यतः उपर्युक्त सभी प्रकाशनों तथा विशेषतः मौलिक इतिहास के प्रथम भाग का जो समाज द्वारा हार्दिक अभिनन्दन एवं विद्वानों द्वारा सार्वत्रिक स्वागत किया गया (देखें परिशिष्ट), उससे हमारा उत्साह बढ़ा है। इतिहास समिति इसके लिए अपने को गौरवान्वित भी अनुभव करती है।

आचार्यश्री ने जैन इतिहास के इस महान् ऐतिहासिक कार्य को सम्पन्न करने की दिशा में जो भागीरथ-प्रयास किया है, उसके लिये समाज आपका चिर-ऋणी रहेगा। "मौलिक इतिहास" के इस "द्वितीय भाग" को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते समय हम यह अनुभव करते हैं कि इतिहास समिति ने अपने कन्धों पर जिस प्रकाशन कार्य का गुरुतर भार उठाया था, उसका आचार्यश्री के अनन्य अनुग्रह एवं आप सभी महानुभावों के आर्थिक एवं हार्दिक सहयोग से अब

अनुमानतः आधा भार हल्का हो चुका है। कुलकर-काल एवं प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से प्रारम्भ कर अन्तिम तीर्थंकर प्रभु महावीर तक का इतिहास प्रथम भाग में और वीर निर्वाण सं० १ से १००० तक के काल का इतिहास इस द्वितीय भाग में दिया जा चुका है। डेढ़ हजार वर्ष का इतिहास तीसरे और चौथे भाग में प्रकाशित करना शेष रहा है। इस प्रकार अब केवल आधा भार ही अवशिष्ट रहा है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि यह अवशिष्ट आधा भार भी आचार्यश्री की कृपा तथा आप सभी सहृदय समाजसेवियों के सहयोग से शीघ्र ही दिव्य, सुरभित-सुमनवत् सुखद एवं सुवाह्य हो जायगा।

अगाध कृपासिन्धु आचार्य देव ने जैन जगत् की इस बहुत बड़ी कमी को पूरा करने के अपने दृढ़ संकल्प के पश्चात् यत्र-तत्र बिखरी ऐतिहासिक सामग्री के संकलन में, इतिहास की टूटी कड़ियों को जोड़ने और प्रथम भाग की प्रामाणिक आधारों पर संरचना में कितना बड़ा बौद्धिक एवं शारीरिक श्रम किया, इसका थोड़ा-सा दिग्दर्शन – "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग" के प्रकाशकीय तथा संपादकीय में कराया जा चुका है। द्वितीय भाग को सर्वांगपूर्ण एवं प्रामाणिक बनाने में भी श्रद्धेय आचार्यश्री को उससे कहीं अधिक श्रम करना पड़ा है। इतिहास के इन दोनों भागों के अध्ययन से ऐसा आभास होता है कि आचार्यश्री की वाणी की तरह लेखनी में भी अद्‌भुत चमत्कार है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इतिहास जैसे नीरस एवं जटिल विषय का भी बड़ी ही सरस, सरल और लालित्यपूर्ण भाषा में निरूपण करते हुए आचार्यश्री ने जिस सहज, सुन्दर रचना-शैली को अपनाया है, उसे समतल भूमि में सहज प्रवाह से बहती हुई कलकलनिनादिनी, सर्वजनमन, मुदमंगल-प्रदायिनी सुरसरिता से उपमित करने हेतु प्रत्येक पाठक का मन सहज ही व्यग्र हो उठता है। प्रावाहिक एवं प्रासादिक भाषा में वर्णित इस ग्रन्थ के सुसंबद्ध, सुसंस्कृत एवं सुपरिमित प्रामाणिक विवरणों को पढ़ते-पढ़ते इतिहास को शुष्क विषय समझने वाले पाठकों की धारणा अनायास ही बदल जाती है। वस्तुतः आचार्यश्री की लेखनी के इसी प्रसाद-गुण के कारण इस पुस्तक को एक बार हाथ में लेने के पश्चात् पाठक का मन छोड़ने को नहीं होता।

प्रस्तुत ग्रन्थ की अपनी अनेक विशेषताएं हैं। इसमें जहां एक ओर वीर निर्वाण सम्वत् १ से १००० तक की अवधि में हुए प्रभावक आचार्यों, युग

एवं देशभक्त के लिये इस प्रकार की विपुल सामग्री विधिवत् निहित है, जिससे प्रेरणा लेकर प्रत्येक पाठक यथारुचि यथेप्सित सफलता प्राप्त करने में इस ग्रन्थराज से लाभान्वित हो सकता है।

इतिहास समिति आज जिस तत्परता के साथ ऐसे उपयोगी ग्रंथों के प्रकाशन कार्य में सफल हो रही है, उसका बहुत बड़ा श्रेय समिति के भूतपूर्व अध्यक्ष न्यायमूर्ति स्वर्गीय श्री इन्द्रनाथजी मोदी और समिति के भूतपूर्व मंत्री स्वर्गीय श्री सोहनमलजी कोठारी को है, जिन्होंने समाजसेवा की उत्कट भावना से अनवरत प्रयास कर समिति को सक्षम एवं स्वावलम्बी बनाने में अपनी ओर से किसी प्रकार की कोई कोर-कसर नहीं रखी। स्वर्गीय श्री कोठारी तो वस्तुतः इतिहास समिति एवं आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार के प्राण ही थे। श्री कोठारी का सुगौर, सुडौल, भव्य व्यक्तित्व, सस्मित प्रसन्न वदन, वचन माधुरी, स्नेहिल व्यवहार एवं अहं से अछूता स्वाभिमान यदा-कदा स्मृति-पटल पर उभर कर प्रत्येक परिचित को व्यग्र कर देता है। हमारी प्राचीन संस्कृति का प्रतीक, अध्यात्मविद्या का अक्षय भण्डार "आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार" (शोध प्रतिष्ठान), जिस पर सम्पूर्ण समाज को गर्व है, वह स्वर्गीय श्रीसोहनमलजी कोठारी की निस्वार्थ समाज सेवा, सच्ची लगन और पक्की धुन की ही देन है। जब तक जैन इतिहास समिति और आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार सही दिशा बोध के साथ-साथ समाज में आध्यात्मिक आलोक का प्रचार-प्रसार करते रहेंगे, तब तक इनके साथ श्री कोठारी का नाम भी अमर रहेगा एवं जैन समाज इन दोनों समाज सेवियों का ऋणी रहेगा। इतिहास समिति के सभी माननीय सदस्यों की ओर से हम स्वर्गीय श्री मोदीजी तथा कोठारी जी के प्रति निस्सीम कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्हें भावभरी श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।

जिन-धर्म प्रेमी महानुभावों ने आर्थिक सहायता प्रदान कर इस गुरुतर कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने में समिति को सक्षम बनाया है, हम उन सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित करते हैं। उनकी सूची इसी ग्रंथ के परिशिष्ट में दी जा रही है। हम इस भगीरथ कार्य में विशिष्ट आर्थिक सहयोग देने एवं जुटाने वाले महानुभाव सर्वश्री श्रीचन्दजी गोलेछा, सोहननाथजी मोदी, पूनमचन्दजी बडेर, नथमलजी टीकमचन्दजी हीरावत एवं उमरावमलजी सेठ के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए पूर्ण आशान्वित हैं कि भविष्य में भी इसी उत्साह से आप सब का सहयोग हमें यथापूर्व मिलता रहेगा।

हम दिल्ली के प्रसिद्ध समाजसेवी सेठ श्री मणिलालजी डोसी के प्रति भी आन्तरिक आभार प्रकट करते हैं, जिनसे केवल हमारी इतिहास समिति ही नहीं, अपितु सम्यग्ज्ञान का प्रचार प्रसार करने वाली अन्य समाजसेवी संस्थाओं को भी सदा पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहा है। श्रीमान् डोसीजी मूलतः मारवाड़ के निवासी हैं। आपकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह रही है कि आप बिना किसी भेद-भाव के सभी समाजसेवी संस्थाओं को समान रूप से सहयोग प्रदान करते रहते हैं।

पूर्ण विश्वास है कि इतिहास के तीसरे और चौथे भाग के प्रकाशन में भी आपका उदार सहयोग हमें इसी तरह प्राप्त होता रहेगा।

हम सम्पादक मण्डल के सभी सम्माननीय सदस्यों – पं० मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी म० सा०, श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, पं० शशिकान्त झा, डॉ० नरेन्द्र भानावत, श्री प्रेमराज बोगावत और मुख्य सम्पादक श्री गजसिंह राठोड़ के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। साथ ही ग्रन्थ के प्रकाशन एवं उसकी सर्वांग-सुन्दर छपाई के कार्य में जयपुर प्रिण्टर्स के संचालक श्री सोहनलालजी जैन व प्रेस के अन्य अधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं विशेषत: सर्वश्री सूरजप्रकाशजी शर्मा, प्रकाशचंद्रजी गोयल, राधेश्यामजी, मूलचंदजी, दौलतरामजी, लीलारामजी एवं कंवरलालजी का पूर्ण सहयोग रहा, अत: हम समिति की ओर से उनके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

अन्त में हम आराध्य गुरुदेव आचार्य श्री हस्तीमलजी म० साहब के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा एवं श्रद्धा भक्ति के साथ अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जो धर्म की अभिवृद्धि के अन्यान्य अनेक ठोस कार्यों के साथ-साथ इतिहास लेखन के इस महान् कार्य के द्वारा समाज पर असीम उपकार करने में निरत हैं।

इन्द्रचन्द्र हीरावत — अध्यक्ष

चन्द्रराज सिंघवी — मंत्री

जैन इतिहास समिति

धुन के कर्मठ धनी

इतिहास समिति के प्राण

स्वर्गीय श्री सोहनमलजी कोठारी

जन्म १६ अगस्त, १६१८ निधन २६ मई, १६७३

आचार्यश्री की सद्प्रेरणासे अनुप्राणित होकर अपने अनथक प्रयास से जैन जगत् को "आचार्यश्री विनयचंद्र ज्ञान भण्डार" एवं "जैन इतिहास" रूपी दो अक्षय निधियां उपलब्ध कराने में जिनका अनुपम योगदान रहा एवं जिनकी धर्म, साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में की गई अपूर्व सेवाएं भावी पीढ़ी को अनुप्राणित करती रहेंगी।

पुष्ट किया गया। दूसरा लाभ यह हुआ कि इतिहास की अनेक जटिल गुत्थियों को सुलझाने, अनेक भ्रान्त धारणाओं के निराकरण, विवादास्पद विषयों का निर्णयात्मक निष्कर्ष निकालने तथा अनेक स्थलों पर – इतिहास की टूटी कड़ियों के संधान में इस तुलनात्मक अध्ययन से बड़ी सहायता मिली। किसी उलझी हुई ऐतिहासिक गुत्थी पर उत्कट चिन्तन की अवस्था में "परोक्षप्रिया: वै देवा:" इस तथ्य की भी अनुभूति हुई। अतः उस अचिन्त्य शक्ति के प्रति भी अपना आन्तरिक आभार प्रकट करता हूँ।

"श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद" के संचालक पं० श्री दलसुखभाई मालवणियां ने "तित्थोगालिय पइण्णा", भद्रेश्वरसूरी की "कहावली" जैसे अलभ्य ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों को पढ़ने एवं उनके महत्वपूर्ण स्थलों को लिख लेने की सुविधा प्रदान की, उसके लिये मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। श्री मालवणियां साहब व भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में कार्य करने वाले अधिकारियों का सुमधुर स्नेह, सौहार्द और सहयोग मेरे हृदयपटल पर सदा अंकित रहेगा। "तित्थोगालिय पइण्णा" वस्तुतः कतिपय महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों के प्रतिपादन में प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य श्री के लिये बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ एवं आगमवेत्ता वयोवृद्ध विद्वान् मुनि श्री कल्याण-विजयजी म. सा. ने अप्राप्य ग्रन्थ "हिमवन्त स्थविरावली" की हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि करने की सुविधा प्रदान कर एवं अपना प्रेरणा प्रदायी आत्मवृत्त सुना तथा दिशानिर्देश कर मुझे अनुप्राणित किया, उस उपकार के प्रति अपने अन्तर के उद्गार प्रकट करने में मैं उसी प्रकार असमर्थ हूँ जिस प्रकार कि प्रथम बार गुड़ का रसास्वादन करनेवाला गूंगा गुड़ का स्वाद बताने में। एक अजैन कुल में उत्पन्न हुआ शिशु सुयोग और सुसंसर्ग पाकर कितना बड़ा धर्म-प्रभावक बन सकता है, इस तथ्य के साक्षात् दर्शन कर आह्लाद के साथ-साथ अंतर में एक अदम्य द्वन्द्व आन्दोलित हो उठा। कितना साम्य था हमारे प्रारम्भिक जीवन का। सम्भवतः दोनों के किशोरवय के भोले निश्छल मानस में समान अध्ययन के फल-स्वरूप बहुत कुछ कर गुजरने की एक समान ही उमंगें उठी होंगी। पर "गहना कर्मणो गतिः" इस शाश्वत सत्य को चरितार्थ करती हुई एक ओर वे उमंगें दृढ़ संकल्प के सहारे अनुकूल वातावरण में उत्तरोत्तर फली-फूलीं और सुरतरु का स्वरूप धारण कर गईं। दूसरी ओर सच्ची लगन के अभाव में मेरे कच्चे हृदय में उठी उसी तरह की उमंगें प्रतिकूल वातावरण की प्रचण्ड अग्नि में जलभुन कर राख बन गईं। सब कुछ प्राप्त करके भी मैं अति दीना रीता सदृश ही बना रहा। बरबस आत्मग्लानि से कराह उठा अन्तर –

शान्त हुई। सोचा इतिहास की अतिस्थूल परतों के नीचे न मालूम कितने असंख्य मुभ से अभागों के इतिवृत्त दबे पड़े होंगे, जो अमोघ वीतराग-वाणी की वीचियों से शोभायमान सुधासागर के तट पर पहुँच कर भी निपट प्यासे ही रह गये।

मैं अपने अध्यापक पं० हीरालालजी शास्त्री (ब्यावर) के प्रति भी श्रद्धा-सिक्त आभार प्रदर्शित करता हूँ। पंडित सा० ने दिगम्बर परम्परा के हस्तलिखित एवं मुद्रित अनेक ग्रन्थ प्रदान करने के साथ-साथ मार्गदर्शन एवं दिगम्बर परम्परा के विद्वानों से परिचय करवाया, जिससे मुझे अपने कार्य में बड़ी सफलता मिली।

मैं हैरत में हूँ कि श्रीमान् दरबारीलालजी कोठिया के प्रति किन शब्दों में आभार प्रकट करूं। पं० हीरालालजी और कोठियाजी में मैंने एक अनूठी आत्मीयता देखी। "नन्दीसंघ-प्राकृतपट्टावली" में वर्णित अंगधारी आचार्यों के विवादास्पद काल, नाम आदि के सम्बन्ध मे मुझे यथाशक्य अधिकाधिक सामग्री एकत्रित करनी थी। श्री कोठियाजी ने स्व० श्री नेमिचन्दजी, ज्योतिषाचार्य द्वारा लिखित निर्वाणोत्तर काल की आचार्य परम्परा विषयक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि और दिगम्बर परम्परा की १७ पट्टावलियां मुझे प्रदान कीं। मुद्रणाधीन पुस्तक की पाण्डुलिपि उसी विषय के एक अपरिचित शोधार्थी को दिखा देने की उदारता कोठियाजी जैसे असाधारण सौजन्य के धनी ही कर सकते हैं। कोठियाजी ने मुझे एक अनन्य आत्मीय तुल्य सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कीं। प्रस्तुत ग्रन्थमाला के तृतीय एवं चतुर्थ भाग के लिये उपयोगी उन १७ पट्टावलियों की मैंने प्रतिलिपि कर ली पर २५०० पृष्ठ की पाण्डुलिपि में से मैंने केवल ६०–७० पृष्ठ ही पढ़े। स्वर्गीय पं० नेमिचन्दजी ने निर्वाणोत्तर काल की आचार्य परम्परा का बहुमूल्य पानीदार शीशे में क्रमशः प्रतिबिम्बित होने वाले मनमोहक दृश्यों की तरह सजीव चित्रण किया था। पुस्तक बड़ी रोचक थी किन्तु मैं जिस वस्तु की खोज में था, वह उसमें नहीं थी अतः पाण्डुलिपि का जितना भाग मेरे पास आया था, न उसे ही पूरा पढ़ा और न अवशिष्ट अंश कोठियाजी के आग्रह के उपरान्त भी लिया ही।

मैं जैन परम्परा के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्री अगरचन्दजी नाहटा का भी बड़ा आभारी हूँ कि उन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रम में से ३ दिन का समय निकाल कर प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के प्रारूप को सुना और अनेक उपयोगी सुझाव दिये।

मैं अपने सहपाठी श्रेष्ठिवर श्री आनन्दराज मेहता, न्याय व्याकरणतीर्थ एवं बालसखा श्री प्रेमराज बोगावत, व्याकरणतीर्थ के सौहार्द को कभी नहीं भुला सकता। मेरे इन दोनों मित्रों ने ठंडी, मीठी और उत्साहवर्द्धक वाक्चातुरी से समय २ पर मेरा उत्साह बढ़ाकर मुझे अकर्मण्य होने से बचाया।

प्रस्तुत ग्रन्थ और इसके विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन में श्रद्धेय आचार्यश्री ने वीर निर्वाण पश्चात् १००० वर्ष के जैन इतिहास पर इतना विशद रूप से प्रकाश

डाला है कि अब इस सम्बन्ध में मेरे जैसे व्यक्ति के लिये एक शब्द भी कहने अथवा लिखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। तथापि जैन इतिहास के इन दो बड़े ग्रन्थों के सम्पादनकाल में सनातन, जैन और बौद्ध, इन भारत की तीन महान् संस्कृतियों के आर्ष एवं आर्पेतर साहित्य तथा भारत के सार्वभौम इतिहास-ग्रन्थों का अध्ययन तथा तुलनात्मक चिन्तन-मनन करते समय मुझे जो अनुभूतियां हुई हैं उन्हें केवल अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं के रूप में यहां इस दृष्टि से प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि संभवतः वे समष्टि के लिये न सही, कतिपय नवीन विचारकों के लिये उपयोगी सिद्ध हों।

१. हमारा देश आर्यावर्त विगत अचिन्त्य लम्बे अतीत से आध्यात्मिक एवं सार्वजनीन हित साधक ऐहिक ज्ञान का केन्द्र रहा है। एक ही धरातल पर फली-फूली सनातन, जैन एवं बौद्ध आदि संस्कृतियों के धर्म एवं इतर विषयों के ग्रन्थों में इन तीनों संस्कृतियों के अनेक तथ्य संपृक्त रूप में निहित हैं। जहां तक इतिहास जैसे जटिल एवं विस्तीर्ण विषय का प्रश्न है, कतिपय अंशों में इन तीनों संस्कृतियों का साहित्य परस्पर एक दूसरे की कमियों का पूरक है। उदाहरण स्वरूप शिशु-नागवंश और नंदवंश का पूरा एवं वास्तविक इतिहास इन तीनों परम्पराओं के ग्रन्थों में वर्णित एतद्विषयक उल्लेखों के तुलनात्मक अध्ययन और उनमें से सार भूत पूरक तथ्यों को ग्रहण करने से ही पूरा होता है। इन तीनों में से किसी एक को ही आधार मान लेने पर भारत के इन दो प्रमुख राजवंशों का इतिहास अधूरा ही नहीं अपितु पर्याप्त रूपेण भ्रामक ही रह जाता है।

इसी प्रकार हमारे देश आर्यावर्त का नाम भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर 'भारत' पड़ा, इस तथ्य की निष्पक्ष एवं सर्वमान्य साक्षी सनातन परम्परा के पुराणों से ही उपलब्ध होती है।

वाराणसी पर इक्ष्वाकु-राजवंश का कब से किस समय तक राज्य रहा और भगवान् पार्श्वनाथ के पिता महाराज अश्वसेन के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् वाराणसी पर किस प्रकार शिशुनागवंश का आधिपत्य हुआ, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख जैन परम्परा के ग्रन्थों में नहीं है। सनातन परम्परा के पुराणों में इस विषय के स्रोत बीज रूप में उपलब्ध होते हैं, जिनसे एतद्विषयक प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने में बड़ी सहायता मिलती है।

निष्पक्ष दृष्टि से तुलनात्मक एवं तलस्पर्शी अध्ययन करें, तभी वह इतिहास प्रामाणिक, सर्वांगसुन्दर एवं समष्टि के लिये उपयोगी तथा उपादेय होगा। भारतीय इतिहास पर नवीन शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखने वाले विद्वान् लेखकों के लिये तो इस प्रक्रिया को अपनाना परमावश्यक हो जाता है। इन तीनों परम्पराओं के ऐतिहासिक स्रोतों का इतिहासविदों द्वारा समान रूप से उपयोग न किये जाने के कारण आज जितने भारतीय इतिहास उपलब्ध हैं, उनमें से अधिकांश को सर्वांगपूर्ण इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

२. आचार्यश्री ने जिस प्रकार जैन काल-गणना को ६० वर्ष पीछे की ओर धकेलने वाली शताब्दियों पुरानी एक भ्रांत मान्यता का सदा के लिए अंत किया है, उसी प्रकार के निष्पक्ष एवं ठोस प्रमाणों द्वारा दो-तीन बड़ी महत्वपूर्ण समस्याओं का समाधान परमावश्यक है। समस्याएं बड़ी ही जटिल हैं, अतः उनको सुलझाने के लिए आज स्व० श्री नाथूराम प्रेमी के समान शोधप्रिय, अध्ययनशील एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त निष्पक्ष चिन्तकों की तथा सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है। पीढ़ियों से वैदिक परम्परा के गहरे रंग में रंगे हुए वैदिक परंपरा के उद्भट आचार्य गौतम आदि ११ गणधर वीर प्रभु की वाणी द्वारा सत्य का बोध होते ही तत्काल निःसंकोच अपनी परम्परागत आस्थाओं-मान्यताओं का पूर्णतः परित्याग कर सत्य को आत्मसात् कर लेते हैं, तो सहस्राब्दियों से उन्हीं के अनुयायी कहलाने वाले विद्वानों के लिए सत्य की खोज में निष्पक्ष दृष्टि से सामूहिक प्रयास करना कोई कठिन कार्य नहीं।

पहली और सबसे जटिल समस्या हमारे समक्ष यह है कि आर्य जम्बू के पश्चात् श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यों की नामावली में भेद क्यों है? चार आचार्यों के पश्चात् पांचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु का नाम दोनों परंपराओं में पुनः किस कारण सर्वमान्य हो गया? भद्रबाहु के पश्चात् पुनः नदी की दो बिछुड़ी हुई, कभी न मिलने वाली दो भिन्न धाराओं की तरह दो पृथक् धाराएं किस कारण चल पड़ीं? वास्तव में अब एक दूसरे पर दोषारोपण करने वाली ये निस्सार बातें सुनने के लिए कोई तैयार नहीं कि—

> "अमुक परम्परा के साधु नग्न रहते थे, पोथी-पन्ना उनके पास था नहीं, इसलिए वे अपनी परम्परा के इतिहास को सुरक्षित नहीं रख सके—कालान्तर में जैसा मन में आया वैसा लिख दिया" अथवा "अमुक परंपरा के साधु दुष्काली में ढीले पड़ गये, अर्द्धफालक-डंडा-पात्र धारण कर गृहस्थों से भीख मांग कर उनके घरों में बैठकर खाने लग गये। फिर तो शिथिलाचार में मजा आ गया, गुरु ने ज्यादा कहा तो उनकी खोपड़ी पर लट्ठ का प्रहार कर गुरुहत्या कर दी।"

कोटि कोटि कांचन मुद्राओं और कनकलता सी कामिनी के प्रलोभन से तिल मात्र भी नहीं डिगने वाले, भीषण दुष्काल के समय विद्यापिण्ड के उपभोग की अपेक्षा मृत्यु को श्रेयस्कर समझने वाले ५०० शिष्यों के साथ संथारा एवं समाधिपूर्वक

पण्डितमरण का वरण करने वाले आर्य वज्रस्वामी आदि के दशपूर्वधर पूर्वाचार्यों के लिए इस प्रकार की वात कहना विश्वबन्धु महावीर के अनुयायियों के लिए किसी भी दशा में शोभाजनक नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के इस पावन-प्रसंग पर इन सब थोथी वातों को गहन गर्त में फेंक कर वास्तविक तथ्यों की खोज करना प्रत्येक जैन विद्वान् का पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है। तिलोयपण्णत्तीकार और पुन्नाट संघीय विद्वान् आचार्य जिनसेन से लेकर पश्चाद्वर्ती सभी बड़े-बड़े दिगम्बराचार्यों ने जम्बूस्वामी के पश्चात् विष्णु और भद्रबाहु के पश्चात् विशाखाचार्य से आचार्यों की पट्टावली प्रारम्भ की है। दिगम्बर परम्परा के वीरसेन, इन्द्रनन्दी, जम्बूदीव प्रज्ञप्तिकार आचार्यों ने गौतम से लेकर अंतिम अंगधर लोहार्य तक जो आचार्यों की नामावली दी है, उसे आचार्य परम्परा की पट्टावली के नाम से अभिहित न कर, उसका श्रुतावतार की परम्परा के नाम से उल्लेख किया है। इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या आचार्यों की श्रुतावतार परम्परा और पट्टधर आचार्य-परम्परा परस्पर दो भिन्न-भिन्न परम्पराएँ हैं। यदि भिन्न हैं तो पट्टानुक्रम से आचार्य परम्परा की पट्टावली कौन-सी है और कहां है ? पट्टानुक्रम की अन्य पट्टावली के अभाव में यही मानना श्रेयस्कर है कि यह श्रुतावतार परम्परा की नामावली ही आचार्य परम्परा की पट्टावली है। जहां तक मुझे याद पड़ता है मेरी जिज्ञासा के उत्तर में दिगम्बर परम्परा के एक माने हुए विद्वान् ने इसे श्रुतावतार पट्टावली ही बताया था। पर वस्तुतः यह श्रुतावतार पट्टावली ही पट्टधर पट्टावली होनी चाहिए। अन्यथा अनेक इस प्रकार की वाधाएँ उपस्थित होंगी, जिनका निराकरण किसी प्रकार संभव नहीं।

श्वेताम्बर परम्परा की दो मुख्य स्थविरावलियां हैं – एक तो कल्पसूत्र के अंत में दी हुई स्थविरावली और दूसरी नंदीसूत्र के प्रारम्भिक मंगल पाठ में दी हुई वाचक-परम्परा की पट्टावली। मथुरा के कंकाली टीले से निकले आयागपट्टों, मूर्तियों, स्तम्भों आदि पर उट्टंकित शिलालेखों से कल्पस्थविरावली और नन्दीस्थविरावली की प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध हो चुकी है। इसी प्रकार के प्रामाणिक उल्लेखों की खोज चतुर्दश पूर्वधर आचार्य विष्णु से लेकर अंतिम अंगधर लोहाचार्य के सम्बन्ध में करने की महती आवश्यकता है। श्रवणबेलगोल, पार्श्वनाथ वसति के कुछ शिलालेखों में विष्णु आदि आचार्यों के उल्लेख हैं पर वह अपूर्ण, कतिपय अंशों में परस्पर विरोधी और पर्याप्त पश्चाद्वर्ती काल के हैं।

इन सब विवादास्पद प्रश्नों का कोई सर्वमान्य हल आज उपलब्ध समस्त जैन वाङ्मय में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि यापनीय संघ के यापनीय – तन्त्र तथा साहित्य की सामूहिक रूप से खोज की जाय और उस संघ के आचार्यों की कोई पट्टावली खोज निकाली जाय तो उस निष्पक्ष साक्ष्य के आधार पर इस प्रकार की अनेक समस्याओं को हल करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। ऐसा लगता है कि यापनीय संघ का जो विपुल एवं महत्त्वपूर्ण साहित्य था, उसका

पर्याप्त अंश दक्षिणी लिपियों में कहीं न कहीं अवश्य अन्धकार में पड़ा हुआ है। आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस दिशा में प्रयास करेंगे तो अवश्य सफलता प्राप्त होगी।

३. एकादशांगी की विद्यमानता अथवा विच्छेद के सम्बन्ध में भी निष्पक्ष दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है। जहां एक ओर श्वेताम्बर परम्परा की यह दृढ़ मान्यता एवं आस्था है कि एकादशांगी का कतिपय अंशों में ह्रास तो हुआ है पर वह विच्छिन्न नहीं हुई है, तो दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में इस प्रकार की मान्यता अभिव्यक्त की गई है कि वीर नि० सं० ६८३ में अंतिम आचारांगधर लोहाचार्य के स्वर्गस्थ होने के साथ ही एकादशांगी का विच्छेद हो गया। इन दोनों परम्पराओं से भिन्न जैनसंघ की तीसरी परम्परा – यापनीय संघ के 'ग्रन्थ भगवती आराधना' एवं 'विजयोदया टीका' में एकादशांगी की विद्यमानता के स्पष्ट उल्लेख आज भी उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में एकादशांगी की विद्यमानता विषयक श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता का पक्ष भारी पड़ता है।

तत्त्वार्थ-सूत्र के प्रणेता उच्चनागर शाखोद्भव वाचक[1] उमास्वाति (स्व० प्रेमीजी की मान्यतानुसार वीर नि० की दशवीं शताब्दी) ने इस सूत्र पर निर्मित स्वोपज्ञ भाष्य की प्रशस्ति में एकादशांगी की विद्यमानता का स्पष्ट उल्लेख किया है :-

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशांगविदः ॥१॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥२॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे-कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥३॥
अर्हद्वचनं गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य।
दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥४॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकंपया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम्।
सोऽव्याबाध सुखाख्यं, प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥

अर्थात् – यशस्वी वाचकश्रेष्ठ शिवश्री के प्रशिष्य, एकादशांगधर घोषनन्दिक्षमण के शिष्य, वाचना (विद्या) दान की दृष्टि से महावाचक मुण्डपादक्षमण के प्रशिष्य तथा कीर्तिशाली मूल नामक वाचकाचार्य के शिष्य, पिता स्वाति एवं माता वात्सी के पुत्र, न्यग्रोधिका में उत्पन्न (जन्म ग्रहण करने वाले)

---

[1] वाचको हि पूर्ववित्.... [तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य की सिद्धसेनीया टीका, अ० ६, सूत्र ६]

एक बड़े महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर मैं विचारकों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ जिससे यह प्रमाणित होता है कि उमास्वाति जिस प्रकार दिगम्बर परम्परा के आचार्य नहीं थे, उसी प्रकार यापनीय परम्परा के आचार्य भी नहीं थे। तत्त्वार्थाधिगम के अष्टम अध्याय के अन्तिम सूत्र – "सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्" – की व्याख्या करते हुए आचार्य सिद्धसेन गणि ने अपनी तत्त्वार्थ टीका में लिखा है :–

"कर्मप्रकृतिग्रन्थानुसारिणस्तु द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतीः पुण्याः कथयन्ति।...... आसां च मध्ये सम्यक्त्वहास्यरति पुरुषवेदा न सन्त्येवेति कोऽभिप्रायो भाष्यकृतः को वा कर्मप्रकृतिग्रन्थप्रणायिनामिति सम्प्रदायविच्छेदान्मया तावन्न व्यज्ञायीति।"

अर्थात् "कर्म-प्रकृति ग्रन्थ का अनुसरण करने वाले जिन ४२ प्रकृतियों को पुण्यरूप मानते हैं, उनमें सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद का उल्लेख नहीं है। सम्प्रदाय के लुप्त हो जाने के कारण मैं नहीं कह सकता कि इस प्रकार के भिन्न कथन में भाष्यकार का अभिप्राय क्या था और कर्मप्रकृतिग्रन्थकारों का क्या।"

सिद्धसेन के उपर्युक्त कथन में 'सम्प्रदायविच्छेदात्' पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। सिद्धसेन के इस कथन से यही प्रकट होता है कि उमास्वाति जिस सम्प्रदाय, जिस उच्चनागरी शाखा के महाश्रमण थे, वह सम्प्रदाय सिद्धसेन के समय से पूर्व ही नष्ट हो चुका था। उस सम्प्रदाय की मान्यताओं का विश्लेषण – विशद व्याख्यान करने वाला कोई उनके समय में अवशिष्ट नहीं रहा था।

यदि वाचक उमास्वाति यापनीय संघ के होते तो सिद्धसेन सम्प्रदाय-विच्छेद की बात कदापि नहीं लिखते। क्योंकि उनसे लगभग ७००-८०० वर्ष पश्चात् तक यापनीय संघ की विद्यमानता अनेक प्रमाणों से और स्वयं प्रेमीजी के अभिमत से प्रमाणित होती है। प्रेमीजी की मान्यतानुसार सिद्धसेन गणि का समय विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी[1] और यापनीयों की विद्यमानता का समय विक्रम की १५वीं-१६वीं शताब्दी[2] है।

उमास्वाति की तरह यापनीय आचार्य अपराजित ने भी भगवती आराधना की टीका में अपने – "सद्वेद्यं सम्यक्त्वं रतिहास्यपुंवेदाः शुभे नाम गोत्रे शुभं चायुः पुण्यं, एतेभ्योऽन्यानि पापानि।"[3] – इस कथन द्वारा सम्यक्त्व, रति, हास्य और पुरुषवेद को पुण्य रूप माना है – यदि इस आधार पर वाचक उमास्वाति को यापनीय मान लिया जाय तो फिर सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद देवनंदी को दिगंबर परम्परा के आचार्य मानने में बाधा उपस्थित की जायगी। क्योंकि पूज्यपाद ने भी अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' में, तथासम्भावित यापनीय उमास्वाति के 'तत्त्वार्थाधिगम स्वोपज्ञभाष्य' में वर्णित पुलाक, वकुश, कुशील, प्रतिसेवनाकुशील और कषाय

[1] जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५४१

[2] वही, पृ० ५७

[3] देखिये – तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य – ९/४८, ९/४९। सर्वार्थसिद्धि – ९/४७

कुशील – इन पांच निर्ग्रन्थ मुनियों के विवरण को, प्रायः उसी रूप में स्थान दिया है,[1] जैसाकि दिगम्बर परम्परा के अन्य किसी ग्रंथ में नहीं है।

इतना सब कुछ होते हुए भी स्व० श्री प्रेमीजी द्वारा जो सम्भावना प्रकट की गई है, उसके सम्बन्ध में प्रामाणिक निर्णय उसी समय लिया जा सकता है जब कि हमारे सामने यापनीय संघ की कोई पट्टावली अथवा एतद्विषयक कोई साहित्य हो। इस दृष्टि से भी यापनीय संघ के साहित्य की सम्मिलित रूपेण खोज करना अत्यावश्यक हो गया है।

४. यापनीय संघ द्वारा मान्य एकादशांगी, अंगबाह्य, आगम, यापनीयतंत्र, पट्टावलियां आदि आगमेतर साहित्य की वर्तमान में अनुपलब्धि के कारण आज यापनीय संघ की ठीक वही दशा हो रही है, जो दो दलों के खेल में गेंद की। एक ओर श्वेताम्बर परम्परा के ग्रंथ यापनीयों की उत्पत्ति दिगम्बर संघ से बताते हैं तो दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ श्वेताम्बरों से।[1]

तीनों परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा अनुमान किया जाता है कि यापनीय संघ भी अपने आप में पूर्ण, सुसंगठित एवं स्वतन्त्र धर्मसंघ था।

आचारांग द्वितीय श्रुत स्कन्ध के पांचवें अध्ययन के वस्त्रैषणा तथा छठे अध्ययन के पात्रैषणा विषयक उद्देशकों के साथ यापनीयों के उपलब्ध ग्रन्थ भगवती आराधना और उस पर अपराजितसूरि की विजयोदया टीका के तुलनात्मक अध्ययन से विद्वान् यह अनुभव करेंगे कि यापनीय मुनियों का आचार सर्वथा आचारांग के निर्देशों के अनुसार ही था।

मैं विश्वास करता हूँ कि इन कतिपय तथ्यों पर विद्वान् चिन्तक निष्पक्ष दृष्टि से गवेषणा कर प्रकाश डालेंगे।

सम्पादन काल में वस्तुस्थिति के चित्रण में सजीवता लाने का प्रयास करते समय यदि कहीं साधुभाषा का अतिक्रमण हो गया हो तो वह मेरा दोष है। विद्वान् पाठक मेरे उस प्रमाद के लिये मुझे क्षमा करेंगे।

गजसिंह राठोड़,
न्याय, व्याकरण-तीर्थ,
मुख्य सम्पादक

---

[1] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ६१५-६१६

प्राक्कथन

पीठिका

जैन धर्म का मौलिक[1] इतिहास, प्रथम भाग इतिहास-प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत किया जा चुका है। उसमें भगवान् ऋषभदेव से प्रभु महावीर तक चौवीसों तीर्थंकरों के जनक, जननी, च्यवन, जन्म, गृहस्थ जीवन, अभिनिष्क्रमण, दीक्षा छद्मस्थ-जीवन, कैवल्योपलब्धि, तीर्थप्रवर्तन, केवली-चर्या, गणधर, साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका एवं प्रभु द्वारा प्राणिमात्र के प्रति किये गये महान् उपकार एवं निर्वाण आदि का पावन परिचय प्रस्तुत किया जा चका है। उसे पढ़ कर संत-सतियों, लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों, इतिहासप्रेमियों, श्रद्धालु पाठकों एवं समाज के प्रायः सभी वर्गों ने परम प्रमोद प्रकट किया है। त्रैलोक्यवन्धु तीर्थंकरों के भवतापहारी इतिवृत्त को पढ़कर सहस्रों श्रद्धालुओं ने आध्यात्मिक आनन्द का रसास्वादन किया। इससे हम संतोष का अनुभव करते हैं कि हमारा परिश्रम सफल एवं लक्ष्य सार्थक हुआ। हमें इस वात पर वड़ी प्रसन्नता हुई कि कतिपय अध्ययनशील महानुभावों ने इसे अति सूक्ष्म एवं शोधपूर्ण दृष्टि से पढ़कर अपनी शंकाएं एवं सुझाव भेजे हैं। इस प्रकार की शोधप्रिय रुचि वस्तुतः सराहनीय है।

प्रथम भाग में जो विपुल सामग्री प्रस्तुत की गई है, उसमें से कुल मिलाकर केवल पांच प्रसंगों के संवंध में जिज्ञासुओं द्वारा जो शंकाएं उठाई गई हैं, वे शंकाएं तथा उनके समाधान निम्न प्रकार हैं :-

प्रथम भाग के पृष्ठ ६१–३२ पर भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारण का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है – "भगवान् (ऋषभदेव) ने वैशाख शक्ला तृतीया को वर्ष-तप का पारणा किया।"

यहां यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि भगवान् ऋषभदेव ने चैत्रकृष्णा अष्टमी को वेला-तप के साथ दीक्षा ग्रहण की और दूसरे वर्ष की वैशाख शुक्ला तृतीया को श्रेयांस कुमार के यहां प्रथम पारणा किया तो इस प्रकार चै. कृ. ९ से वै. शु. ३ तक उनकी यह तपस्या १३ मास और १० दिन की हो गई। ऐसी स्थिति में–'संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण' – इस गाथा के अनुसार आचार्यों ने प्रभु आदिनाथ के प्रथम तप को संवत्सर तप कहा है, वह कहां तक ठीक है? क्योंकि वह तप १२ मास का नहीं अपितु १३ मास और १० दिन का तप था।

वस्तुतः यह कोई आज का नवीन प्रश्न नहीं। यह एक वहुचर्चित प्रश्न है। 'संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण।' यह एक व्यवहार वचन

---

[1] मूलतो भवं मौलिकम्।

मानना चाहिये। व्यवहार में ऊपर के दिन अल्प होने के कारण गणना में उनका उल्लेख न कर मोटे तौर पर संवत्सर तप कह दिया गया है। कल्प किरणावली में स्पष्ट उल्लेख है कि शुद्धाहार न मिलने के कारण प्रभु की तपश्चर्या का एक वर्ष व्यतीत हो गया। फिर उस अंतराय कर्म के क्षयार्थ उन्मुख होने पर प्रभु ने सांवत्सरिक तप का पारण किया।[1] वसुदेव हिंडी में भी इसी से मिलता जुलता उल्लेख किया गया है।[2] इससे भी यही प्रकट होता है कि एक वर्ष व्यतीत हो जाने के उपरान्त भी कुछ समय तक शुद्धाहार नहीं मिला।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ हरिवंश पुराण में ६ मास की अवधि के अनशन तप के साथ प्रभु के दीक्षित होने तथा ६ मास के तप की अवधि के समाप्त हो जाने के अनन्तर भी आहारदान की विधि से लोगों के अनभिज्ञ होने के कारण भिक्षाचरी के लिये भ्रमण करने पर भी छः मास तक शुद्धाहार न मिलने एवं अन्ततोगत्वा श्रेयांश द्वारा इक्षुरस के दान और प्रभु के पारणक का कल्प किरणावली से मिलता-जुलता उल्लेख किया गया है। प्रभु के उस प्रथम तप की अवधि एक वर्ष से कुछ अधिक रही। इस प्रकार का स्पष्ट आभास 'हरिवंश पुराण' के उल्लेख से प्रकट होता है।[3]

इन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि प्रभु ऋषभदेव का प्रथम तप १ वर्ष से अधिक समय का रहा पर व्यवहार में ऊपर के दिनों को गौण मान कर इसे वर्षी तप ही कहा गया है। जिस प्रकार प्रभु महावीर का केवलज्ञान काल ३० वर्ष माना जाता है परन्तु उनके ४२ वर्ष के संयमित जीवन में से १२ वर्ष और १३ पक्ष से कुछ समय छद्मस्थकाल का निकाल देने पर वस्तुतः उनके केवलज्ञान का काल २९ वर्ष और ६ मास से थोड़ा न्यून होता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में श्रेयांसकुमार द्वारा भगवान् आदिनाथ का प्रथम पारणा कराये जाने के कारण पारणक दिवस अक्षयतृतीया के रूप में पर्व माना जाता है। यद्यपि भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणक दिवस की तिथि का कहीं प्राचीन उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता परन्तु परम्परा से दोनों

---

१ शुद्धाहारमलभमानस्य एकं वर्षं जगाम। तदा च तस्मिन् कर्मणि क्षयाय उन्मुखे सति... ततस्तेन भगवान् सांवत्सरिकतपः पारणकं कृतवान्। [कल्प किरणावली, पत्र १५४(१)]

२ भयवं पियामहो निराहारो परमधिति-बल-सत्तसायरो सयंभुसागरो इव थिमिओ अणाउलो संवच्छरं विहरइ, पत्तो य हत्थिणउरं। [वसुदेव हिंडी, प्रथमोंऽशः, पृ. १६४]

३ षण्मासानशनस्यान्ते, संहृतप्रतिमास्थितिः।
प्रतस्थे पदविन्यासैः, क्षितिं पल्लवयन्निव ।।१४२।।
तथा यथागमं नाथः, षण्मासानविषण्णधीः।
प्रजाभिः पूज्यमानः सन्, विजहार महिं क्रमात् ।।१५६।।
सम्प्राप्तोऽथ.............................
वृत्तवृद्ध्यै विशुद्धात्मा, पाणिपात्रेण पारणम्।
समपादस्थितश्चक्रे, दर्शयन् क्रियया विधिम् ।।१८९।। [हरिवंश पुराण, सर्ग ९]

सम्प्रदायों में इस प्रकार की मान्यता प्रचलित है। शोधक इस सम्बन्ध में कोई प्राचीन उल्लेख प्रस्तुत कर सकें तो उत्तम होगा।

दूसरी शंका ब्राह्मी और सुंदरी के विवाह एवं दीक्षा के सम्बन्ध में उठाई गई है। परम्परागत मान्यतानुसार इन दोनों बहिनों को बालब्रह्मचारिणी माना गया है। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में इन दोनों को स्पष्ट रूपेण अविवाहित बताया गया है। हरिवंश पुराणकार ने लिखा है कि वे दोनों कुमारिकाएं अर्थात् अविवाहिता थीं :-

ब्राह्मी च सुन्दरी चोभे, कुमार्यौ धैर्यसंगते।
प्रव्रज्य वहुनारीभिरार्याणां प्रभुतां गते ॥२१७॥[1]

इसी प्रकार आदि पुराणकार ने भी ब्राह्मी के लिये राजकन्या का विशेषण प्रयुक्त कर इन दोनों बहिनों के अविवाहित होने का निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है :-

भरतस्यानुजा ब्राह्मी, दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनीपदमार्याणां, सा भेजे पूजितामरैः ॥१७५॥

रराज राजकन्या सा, राजहंसीव सुस्वना।
दीक्षाशरन्नदीशीलपुलिनस्थलशायिनी ॥१७६॥
.... ।
सुन्दरी चात्त-निर्वेदा, तां ब्राह्मीमन्वदीक्षत ॥१७७॥[2]

ब्राह्मी और सुन्दरी को हरिवंश पुराणकार ने तो 'कुमार्यौ' विशेषण के द्वारा स्पष्टरूपेण अविवाहितावस्था में दीक्षित होना बताया है। आदि पुराणकार ने भी ब्राह्मी को राजकन्या बताया है। इससे यही सिद्ध होता है कि दोनों बहिनें बालब्रह्मचारिणी थीं।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में तो ब्रह्मी और सुंदरी इन दोनों बहिनों के अविवाहित होने एवं साथ साथ प्रव्रजित होने की मान्यता प्रचलित है। परन्तु श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में निम्नलिखित तीन प्रकार की विभिन्न मान्यताएं उपलब्ध होती हैं :-

१. भगवान् ऋषभदेव के धर्म-परिवार का विवरण प्रस्तुत करते हुए, कल्प सूत्र में ब्राह्मी और सुंदरी का तीन लाख श्रमणियों की प्रमुख साध्वियां होने का उल्लेख किया है।[3] साथ ही श्राविका समूह की प्रमुखा सुभद्रा को बताया

---

[1] हरिवंश पुराण, सर्ग ९ पृ. १८३,

[2] आदि पुराण, भा. १, पर्व २४.

[3] उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स बंभी सुंदरिपामोक्खाणि अज्जियाणं तिण्णि सय-साहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिया संपया होत्था। [कल्पसूत्र, सूत्र १९७ (पुण्य विजय जी)]

उक्त सब उल्लेखों को दृष्टि में रखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् ऋषभदेव की दोनों पुत्रियां बालब्रह्मचारिणी थीं। उनका केवल वाग्दान ही किया गया था, न कि विवाह।

जहां तक ब्राह्मी और सुन्दरी के एक साथ अथवा पूर्वापर क्रम से प्रव्रजित होने का प्रश्न है वहां कल्पसूत्र, आवश्यक मलय वृत्ति एवं त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के उपरिचर्चित परस्पर भिन्न उल्लेखों को देखते हुए ऐसा अनुमान किया जाता है कि संघ में इनके दीक्षाकाल को ले कर पूर्व समय में दो प्रकार की परम्पराएं प्रचलित थीं। एक परम्परा दोनों बहिनों का साथ-साथ दीक्षित होना मानती थी। दूसरी परम्परा ब्राह्मी की दीक्षा के अनन्तर बड़े लम्बे व्यवधान के पश्चात् सुन्दरी द्वारा दीक्षा ग्रहण किया जाना मानती थी।

तीसरी शंका उपस्थित की गई है – चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार के स्वर्गगमन के सम्बन्ध में। प्रस्तुत ग्रन्थ-माला के भाग १, पृष्ठ १९३ पर चक्रवर्ती सनत्कुमार के लिये उल्लेख किया गया है कि वह तीसरे सनत्कुमार देवलोक में उत्पन्न हुआ। सैद्धान्तिक परम्परा में सनत्कुमार चक्री का मोक्षगमन माना गया है। वस्तुतः प्रथम भाग में इस प्रकार का उल्लेख टीकाकार अभयदेव सूरि कृत स्थानांग की टीका[1] और आचार्य हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के आधार पर किया गया है।

स्थानांग सूत्र में चार प्रकार की अंत-क्रियाओं का जो सोदाहरण विवरण दिया गया है, उसका सारांश इस प्रकार है :-

प्रथम – अल्पकर्म-प्रत्यया अंत-क्रिया, जिसमें भरत की तरह अल्प तप, अल्प वेदना और दीर्घ पर्याय से सिद्ध होना।

दूसरी – महाकर्म प्रत्यया अन्त-क्रिया, जिसमें गज सुकुमाल की तरह तथा प्रकार के तप और वेदना के साथ निरुद्ध पर्याय से अल्प काल में ही सिद्धि प्राप्त करना।

तीसरी – वही महाकर्मप्रत्यया अन्त-क्रिया, जिसमें सनत्कुमार चक्रवर्ती की तरह दीर्घकालीन तप, रोग के कारण दीर्घकालीन दारुण वेदना के साथ दीर्घ पर्याय से सिद्ध होना।

चौथी – अल्पकर्मप्रत्यया अन्त-क्रिया, जिसमें भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी के समान तथाविध तप वेदना और संयम ग्रहण करते ही निरुद्ध पर्याय से सिद्धि प्राप्त कर लेना।[2]

---

[1] यथासौ सनत्कुमार इति चतुर्थचक्रवर्ती स हि महातपा महावेदनश्च सरोगत्वात् दीर्घ-पर्यायेण च सिद्धस्तद्भवे सिद्धयभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति।
[स्थानांग, ठाणा ४, टीका-अभयदेव सूरि (राय धनपत सिंह प्रकाशन) भाग १, पत्र १९९]

[2] स्थानांग, ठाणा ४

जिस रूप में इन चारों अन्त-क्रियाओं का वर्णन स्थानांग सूत्र में किया गया है, उसे देखते हुए तो यही प्रतीत होता है कि इन सभी अंत-क्रियाओं के उदाहरण तद्भव की अपेक्षा बतलाये गये हैं। जब प्रथम द्वितीय एवं चतुर्थ अंत-क्रिया में उदाहृत भरत, गजसुकुमाल और मरुदेवी तीनों उसी भव में सिद्ध हुए माने गये हैं तो तीसरी अंत-क्रिया के उदाहरण में निर्दिष्ट सनत्कुमार को भी उसी भव में सिद्ध हुआ मानना उचित प्रतीत होता है क्यों कि तीसरी अंत-क्रिया और साधुपर्याय सनत्कुमार चक्रवर्ती की बताई गई है न कि आचार्य अभय देव एवं हेमचन्द्राचार्य द्वारा वर्णित सनत्कुमार देव लोक की देवायु भोगने के पश्चात् महा विदेह क्षेत्र में साधुपर्याय पाल कर सिद्ध होने वाले किसी साधक की।

'सूत्रों के अर्थ विचित्र होते हैं'–इस प्रसिद्ध एवं प्राचीन उक्ति के अनुसार आचार्य अभय देव जैसे आगम निष्णात टीकाकार के समक्ष क्या इस प्रकार का कोई परम्परागत प्राचीन उल्लेख रहा है, जिसके आधार पर उन्होंने सनत्कुमार चक्री का तद्भव में मोक्ष न मान कर तीसरे देव लोक की देवायु पूर्ण कर महा-विदेह में जन्म लेने तथा वहां दीर्घ काल तक श्रमणपर्याय से सिद्ध होने का उल्लेख किया? यह प्रश्न भी निष्पक्ष विचारक के मस्तिष्क में सहज ही उद्भूत हो सकता है। पर इस प्रकार के निर्णायक प्रमाण के अभाव में स्थानांग सूत्र के एतद्विषयक मूल पाठ की शब्द रचना और पूर्वापर सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए सनत्कुमार का तद्भव में मोक्ष मानना ही उचित प्रतीत होता है।

दिगम्बर परम्परा में भी चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार का उसी भव में मुक्त होना माना गया है।[1]

चौथी शंका महाबल मुनि द्वारा स्त्री नाम गोत्र कर्म का उपार्जन किये जाने के सम्बन्ध में उठाई गई है। प्रथम भाग, भगवान् मल्लिनाथ के प्रकरण में उनके पूर्वभव का परिचय देते हुए पृष्ठ १२६ पर लिखा है :–

"इस प्रकार छद्मपूर्वक तप करने से उन्होंने स्त्रीवेद का और बीस स्थानों की आराधना करने से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया।"

यहां यह शंका उपस्थित की जाती है कि भगवान् मल्लिनाथ के जीव ने अपने तीसरे, महाबल के पूर्व भव में जो स्त्रीवेद का उपार्जन किया वह तीर्थंकर नामगोत्र कर्म के उपार्जन से पूर्व किया अथवा पश्चात्।

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के एतद्विषयक मूल पाठ का सम्यग्रूपेण अवलोकन करते ही स्वतः इस शंका का समाधान हो जाता है। मूल पाठ में स्पष्ट उल्लेख है कि राजा महाबल अपने छः बालसखाओं के साथ श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर एकादशांगी का अध्ययन और विविध तपश्चरण से आत्मा को भावित

---

[1] क्षपकश्रेणिमारुह्य, ध्यानद्वय सुसाधनः।
घातिकर्माणि निर्धूय, कैवल्यमुदपादयन् ॥१२७॥
...सर्वकर्मक्षयावाप्यमावापन्मोक्षमक्षयम् ॥१२८॥ [उत्तर पुराण, पर्व ६१, पृ. १३५]

करता हुआ विचरण करने लगा। एक दिन उन सातों मुनियों ने परस्पर विचार-विमर्श करने के पश्चात् यह प्रतिज्ञा की कि वे सब साथ-साथ एक ही प्रकार का तपश्चरण करेंगे। प्रतिज्ञानुसार वे सब उपवासादि समान तप करने लगे। पर मुनि महाबल ने इस (आगे बताये जाने वाले) कारण से स्त्री-नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन कर लिया।[1]

यदि महाबल अणगार के वे छः मित्र मुनि एक उपवास की तपस्या करते तो महाबल दो उपवास की। यदि वे दो उपवास, तीन उपवास, चार, अथवा पांच उपवास की तपस्या करते तो मुनि महाबल उनसे अधिक क्रमशः तीन, चार, पांच और छः उपवासों की तपश्चर्या करता।[2]

इस प्रकार मूल आगम में मुनि महाबल द्वारा प्रथमतः स्त्रीनाम-गोत्र-कर्म का बन्ध किये जाने का उल्लेख किया गया है। वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है :-

"तत्काले च मिथ्यात्वं सास्वादनं वा अनुभूतवान्, स्त्रीनामकर्मणो मिथ्यात्वानन्तानुबन्धी प्रत्ययत्वात्।"[3]

अर्थात् – उस समय महाबल मुनि ने मिथ्यात्व अथवा सास्वादन गुणस्थान का अनुभव किया, क्योंकि मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी माया के कारण ही वस्तुतः स्त्रीनामकर्म का बन्ध होता है।

महाबल अणगार बनने से पूर्व अधिनायक था और उसके छहों मित्र उसके अधीनस्थ। उपर्युक्त प्रतिज्ञा को भंग करने के पीछे उसका यही उद्देश्य हो सकता है कि इन छहों से विशिष्ट प्रकार का तपश्चरण कर के वह आगामी भव में भी उन छहों की अपेक्षा अधिकाधिक ऐश्वर्यादि प्राप्त करे। इस आन्तरिक आकांक्षा की पूर्ति हेतु महाबल ने अपनी प्रतिज्ञा के विपरीत माया-छलछद्मपूर्वक उन छहों मुनियों से विशिष्ट तप किया। शंका, आकांक्षा, वितिगिच्छा, परपाषंड-प्रशंसा और परपाषंड-संस्तव – ये सम्यक्त्व के पांच दोष हैं। महाबल के अन्तर में अपने मित्रों की अपेक्षा विशिष्ट व्यक्तित्व की प्राप्ति हेतु आकांक्षा उत्पन्न हुई और उसके फलस्वरूप उसका सम्यक्त्व दूषित हो गया। मैं इन छहों से बड़ा हूँ और आगे भी बड़ा बना रहूँ – इस अभिमान ने महाबल के अन्तर में माया को जन्म दिया। माया स्त्रीनाम-कर्म की जननी है, अतः महाबल ने स्त्रीनामकर्म का अर्थात् स्त्रीवेद का बंध किया। 'गहना कर्मणो गति' – *कर्मगति विचित्र है।* अपने लिये उपयुक्त अवकाश पाते ही कर्म अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं। यहां

---

[1] ...पडिसुणित्ता बहूहिं चउत्थ जाव विहरंति, तएणं से महब्बले अणगारे इमेणं कारणेणं इत्थिणामगोयं कम्मं निव्वत्तिंसु ॥सू.४॥
[ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र (श्री घासीलाल जी म.) अ. ८]

[2] वही, सूत्र ५ का पूर्व भाग

[3] ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र-वृत्ति

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि गुणस्थानों का मापदण्ड आन्तरिक भावना है न कि बाह्य लिंग।

ज्ञाताधर्मकथांग के पांचवें सूत्र के पूर्व भाग में महाबल द्वारा स्त्री नाम-गोत्र-कर्म का उपार्जन कर लिये जाने के पश्चात् इसके उत्तर भाग में बीस बोलों की उत्कृष्ट साधना से तीर्थंकर नामगोत्र कर्म के उपार्जित किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है।[1] इससे स्पष्टतः यही सिद्ध होता है कि महाबल ने संयम ग्रहण करने के पश्चात् साधना की प्रारम्भिक अवधि में अभिमान-मायाजन्य आकांक्षा नामक सम्यक्त्व के दोष के प्रभाव से उदित मिथ्यात्व अथवा सास्वादन गुणस्थान में पहुंच कर पहले स्त्रीनामगोत्र-कर्म का उपार्जन किया और तदनन्तर साधनापथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते हुए बीसों ही बोलों की उत्कट आराधना से तीर्थंकरनाम गोत्र-कर्म का उपार्जन किया।

मूलपाठ में इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी वृत्तिकार ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि महाबल ने पहले तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया और उसके पश्चात् स्त्रीनामकर्म का।[2] वस्तुतः वृत्तिकार का यह अभिमत कम से कम महाबल के लिये किसी भी दशा में इन दो प्रबल कारणों से मान्य नहीं हो सकता। प्रथम कारण तो यह है कि वृत्तिकार का यह अभिमत शास्त्र के मूल पाठ से विपरीत है। शास्त्र का निर्विवादास्पद एवं स्पष्ट मूल पाठ सदा से सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता रहा है। दूसरा कारण यह है कि महाबल ने जिस साधना से तीर्थंकर नामगोत्र-कर्म का उपार्जन किया, वह अत्युत्कट साधना थी। शास्त्र में वर्णित बीस बोलों में से किसी एक बोल की उत्कट आराधना से साधक तीर्थंकर नामगोत्र-कर्म का उपार्जन कर लेता है। ऐसी मान्यता है कि भगवान् ऋषभदेव, और महावीर की तरह मल्लिनाथ ने भी अपने तीसरे पूर्वभव में उन सभी बीस बोलों की उत्कट साधना की थी जब कि शेष २१ तीर्थंकरों के जीवों ने एक दो, तीन अथवा अधिक बोलों की।[3] ऐसी स्थिति में बीसों बोलों की उत्कट साधना करने के पश्चात् साधक महाबल का सम्यक्त्व आकांक्षा दोष से दूषित हो

---

[1] इमेहि यं णं बीसाएहि य कारणेहिं आसेविय बहुलीकएहिं तित्थयर नाम गोयं कम्मं निव्वत्तिसु तं जहा –

अरहंत सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसुं।......आदि।

[ज्ञाता धर्मकथांग, सूत्र ५ का उत्तर भाग]

[2] जह मल्लिस्स महाबलभवम्मि, तित्थयरनामबंधेऽवि।
तव विसय-थोवमाया जाया, जुव इत्त हेउ त्ति॥ [ज्ञाताधर्मकथांगवृत्ति]

[3] (क) पुरिमेण पच्छिमेण य, एए सव्वे वि फासिया ठाणा।
मज्झिमगेहिं जिणेहिं, एगं दो तिण्णि सव्वे वा॥ [संग्रहीत गाथा]

(ख) आसेविय बहुलीकएहि प्रत्येक स्थानस्य सकृत् करणादासेवितानि बहुशः सेवनाद् बहुलीकृतानि तै लब्धोत्कृष्टरसायनपरिणामैः तीर्थंकरनामगोत्रं कर्म उपार्जितवान्। इससे सिद्ध होता है कि महाबल ने बीसों बोलों की आराधना की।

मिथ्यात्व अथवा सास्वादन के धरातल पर पहुंच गया हो, यह बात न बुद्धिसंगत ही प्रतीत होती है और न युक्तिसंगत ही।

इन सब तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि महाबल मुनि ने तीर्थंकर नामगोत्र-कर्म के उपार्जन से पूर्व ही स्त्रीनामगोत्र-कर्म का उपार्जन कर लिया था।

अंतिम पांचवी शंका में यह कहा गया है कि तीन संघाटकों में भिक्षार्थ देवकी के यहां आये छः मुनियों का वास्तविक परिचय देवकी को भगवान् अरिष्ट नेमि के समवसरण में स्वयं प्रभु से प्राप्त हुआ था। पर प्रथम भाग में 'चउपन्न महापुरिस चरित्र' के उल्लेखानुसार उन छहों मुनियों द्वारा देवकी को अपना पूरा परिचय दिये जाने का उल्लेख किया गया है। साथ ही साथ शास्त्रीय मान्यता को टिप्पण में बताया गया है, क्या उससे शास्त्रीय अभिमत की गौणता प्रकट नहीं होती ?

वस्तुस्थिति यह है कि प्रथम भाग में २०३ से २०९ पृष्ठ पर जो अनीकसेन आदि ६ मुनियों के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है, उसके शीर्षक और उस विवरण को यदि ध्यान पूर्वक आद्योपान्त पढ लिया जाता है तो इस प्रकार की शंका उठाने की आवशकता ही नहीं रह जाती।

इस सारे विवरण का शीर्षक है – "अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन।" यह शीर्षक ही एतद्विषयक शास्त्रीय मान्यता का स्पष्टतः बोध करा देता है। इसके अतिरिक्त पृष्ठ २०८ के अन्तिम गद्यौघ (Paragraph) से पृष्ठ २०९ में इस आख्यान से सम्बन्धित पूरी शास्त्रीय मान्यता का समीचीनतया दिग्दर्शन कराने के साथ साथ इसकी पुष्टि में त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्रकार द्वारा किये गये वर्णन का भी उल्लेख कर दिया गया है। एक तथ्य का प्रतिपादन करने से पूर्व उसके विविध पक्षों को प्रस्तुत करने की परम्परा सदा से स्वस्थ मानी जाती रही है। इसी स्वस्थ परम्परा का अवलम्बन ले कर इस प्रकरण में 'चउपन्नमहापुरिस चरियं' के रचयिता का पक्ष प्रस्तुत किया गया है, जो परम वैराग्योत्पादक और सरस होने के साथ साथ अधिकांश विज्ञों के लिये भी नवीन है। इस पक्ष को प्रस्तुत करते समय भी इस बात की पूरी सावधानी वरती गई है कि जिन दो स्थलों पर शास्त्रीय मान्यता से भिन्न प्रकार के उल्लेख आये हैं, वहां तथ्य के प्रकाशार्थ शास्त्रीय मान्यता के द्योतक टिप्पण दे दिये गये हैं।

इस प्रकार केवल इस प्रकरण में ही नहीं आलेख्यमान सम्पूर्ण ग्रन्थमाला में शास्त्रीय उल्लेखों, अभिमतों अथवा मान्यताओं को सर्वोपरि प्रामाणिक मानने के साथ साथ आवश्यक स्थलों पर उनकी पुष्टि में अन्य प्रामाणिक आधार एवं न्यायसंगत, बुद्धिसंगत युक्तियां प्रस्तुत की गई हैं।

शास्त्रों के प्रति अगाध श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए शास्त्रीय अभिमतों की सर्वोपरि प्रामाणिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने की प्रशस्त भावना से प्रेरित

हो जिन विज्ञ पाठकों ने जागरूकता दिखाई है, वे वस्तुतः साधुवाद के पात्र हैं। यदि प्रत्येक जिनशासनानुयायी में इस प्रकार की जागरूकता उत्पन्न हो जाय तो आज जैनागमों के सम्बन्ध में तथाकथित सुधारवादियों द्वारा जो विषैला प्रचार किया जा रहा है, उसके कुप्रभाव और कुप्रवाह को रोका जा सकता है।

आलेख्यमान ग्रन्थमाला के प्रस्तुत द्वितीय भाग का आलेखन समाप्त करते करते प्रथम भाग से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण एवं विचारणीय प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है। विज्ञ पाठकों, विद्वानों एवं शोधार्थियों के विचारार्थ उसे यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

यह एक शाश्वत नियम है कि सभी तीर्थंकर केवलज्ञान की उपलब्धि होते ही उसी दिन धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से कभी कभी इस नियम के अपवाद के उदाहरण भी श्वेताम्बर परम्परा के आगम एवं आगमेतर साहित्य में उपलब्ध होते हैं। प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल हुण्डावसर्पिणी माना गया है, जिसके प्रभाव से भगवान् महावीर ने, जिस दिन उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ, उसी दिन धर्मतीर्थ का प्रवर्तन नहीं किया। श्वेताम्बर परम्परा के आगम एवं सर्वमान्य आगमेतर साहित्य में इसे १० आश्चर्यों में से एक आश्चर्य मानते हुए यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि प्रभु महावीर ने प्रथम समवसरण के समय अपनी पहली देशना हृदयंगम कर व्रत ग्रहण करने वाले भव्य प्राणी की अनुपस्थिति के कारण केवलज्ञान की प्राप्ति के दूसरे दिन धर्मतीर्थ की स्थापना की।

केवलज्ञान की उपलब्धि तथा तीर्थप्रवर्तन के बीच काल का व्यवधान तो दोनों परम्पराओं में माना गया है परन्तु यह व्यवधान जहां श्वेताम्बर परम्परा में एक दिन का माना गया है वहां दिगम्बर परम्परा के मण्डलाचार्य धर्मचन्द्रकृत 'गौतमचरित्र' नामक ग्रन्थ में[1] केवल ३ घण्टों और शेष सभी ग्रन्थों में ६६ दिनों के व्यवधान का उल्लेख उपलब्ध होता है।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उल्लेख है कि साढ़े बारह वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् एक दिन महावीर छट्ठ भक्त की तपस्या किये हुए ऋजुबालुका नदी के तट पर अवस्थित जृंभिका ग्राम के बाहर श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र में शालवृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से आतापन ले रहे थे, उस समय भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तत्काल देवेन्द्र की आज्ञा से समवसरण की रचना की गई और प्रभु ने वहां प्रथम देशना दी। पर वहां ऐसा कोई भव्य व्यक्ति विद्यमान नहीं था जो व्रतों को ग्रहण कर सकता। अतः रात्रि में ही जृंभिका ग्राम से विहार कर प्रभु पावापुरी के आनन्दोद्यान में पधारे। वहां देवों ने समवसरण की रचना की। गौतमादि के उपस्थित होने पर प्रभु ने देशना दी और धर्मतीर्थ की स्थापना की।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. २८, २९

केवलज्ञान की उपलब्धि के पश्चात् भगवान् महावीर ने तीर्थ-प्रवर्तन कब किया, इस विषय में दिगम्बर परम्परा के विभिन्न ग्रन्थकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के उल्लेख किये हैं। तिलोय पण्णत्तीकार ने भगवान् महावीर को वैशाख शुक्ला १० के अपराह्न में ऋजुकूला नदी के तट पर केवलज्ञान की प्राप्ति होने[1] तथा उससे ६६ दिवस पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन[2] उनके द्वारा पंचशैल (राजगृह) नगर के विपुलाचल पर्वत पर[3] धर्मतीर्थ की स्थापना का उल्लेख किया है।

धवलाकार ने भी केवलज्ञान एवं तीर्थ प्रवर्तन की उपरिलिखित तिथियां बताते हुए लिखा है :-

"........छउमत्थत्तरणेण गमिय वइसाहजोण्णपक्खदसमीए उजुकूलणदी तीरे जिंभियगामस्सवाहिं छट्ठोववासेण सिलावट्टे आदावेंतेण अवरण्हे पादछायाए केवलणाणमुप्पाइदं।

एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ –

गमइय छदुमत्थत्तं, बारसवासाणि पंच मासे य।
पण्णरसाणिदिणाणि य, तिरयणसुद्धो महावीरो ।।३२।।

उजूकूलणदीतीरे, जंभियगामे बहिं सिलावट्टे।
छट्ठेणादावेंतो, अवरण्हे पायछायाए ।।३३।।

वइसाहजोण्णपक्खे, दसमीए खवगसेडियारूढो।
हंतूण घाइकम्मं, केवलणाणं समावण्णो ।।३४।।[4]

धवलाकार ने तीर्थप्रवर्तन के स्थल (क्षेत्र) का उल्लेख करते हुए लिखा है :-

(१) "तत्थ खेत्तविसिट्ठोत्थकत्ता परूविज्जदि –
पंचसेल पुरे रम्मे, विउले पव्वदुत्तमे।
णाणादुमसमाइण्णे, देवदाणववंदिदे ।।५२।।
महावीरेणत्थो कहिओ, भविअलोगस्स।[5]

(२) ......पंचसेलउरणेरइदिसाविसयअइ– विउलविउलगिरिमत्थयत्थए ......गंधउडि–पासायम्मि ट्ठियसीहासणारूढेण वड्ढमाणभडार-एणतित्थमुप्पाइदं[6]।

---

[1] वइसाहसुद्धदसमीमाघारिक्खम्मि वीरणाहस्स।
रिजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवलं णाणं ।।७०१।। [तिलोयपण्णत्ती, ४ महाधिकार]

[2] वासस्स पढ़ममासे, सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य, उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ।।६९।। [वही, १ महाधिकार]

[3] सुरखेयरमणहरणे, गुणणामे पंचसेलणयरम्मि।
विउलम्मिपव्वदवरे, वीर जिणो अट्ठकत्तारो ।।६५।। [वही]

[4] षट्खण्डागम-धवला-, भाग ९, पृष्ठ १२४

[5] षट्खण्डागम, धवलासहित, भाग १, पृष्ठ ६२

[6] वही, भाग ९, पृष्ठ ११३

तीर्थोत्पत्ति का समय धवलाकार ने तिलोयपण्णत्ती की एतद्विषयक गाथा से पर्याप्त साम्य रखने वाली निम्नलिखित गाथा द्वारा श्रावण कृष्णा प्रतिपदा वताया है, जो प्रभु महावीर को केवलज्ञान होने की तिथि से ६६ दिन पश्चात् का ठहरता है :–

वासस्स पढममासे, पढमे पक्खम्हि सावणे वहुले ।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे, तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ।।५६।।[1]

धवलाकार के प्रशिष्य आचार्य गुणभद्र ने अपने ग्रन्थ उत्तर पुराण में वैशाख शुक्ला दशमी के दिन अपराह्न में जृम्भिका ग्राम के समीप ऋजुकूला नदी के तट पर अवस्थित मनोहर नामक वन में वेले की तपस्या से सालवृक्ष के नीचे एक शिला पर विराजमान वीर प्रभु को केवलज्ञान की उपलब्धि का उल्लेख किया है । तत्काल चार प्रकार के देवों के साथ इन्द्र के आगमन, समवसरण की रचना, इन्द्र द्वारा इन्द्रभूति गौतम के लाये जाने, शंकासमाधान के पश्चात् इन्द्रभूति के दीक्षित होने, श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के पूर्वाह्न में प्रभु द्वारा अर्थतः द्वादशांगी के उपदेश के अनन्तर इन्द्रभूति द्वारा रात्रि के पूर्व भाग में अंगों तथा पश्चिम भाग में पूर्वों की रचना किये जाने का विवरण तो उत्तर पुराण में दिया गया है पर यह नहीं बताया गया है कि समवसरण की रचना किस स्थान पर की गई, किस स्थान पर प्रभु ने धर्मतीर्थ की स्थापना की तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति और तीर्थस्थापन के बीच ६६ दिन का व्यवधान किस कारण रहा । उत्तर पुराण के ७४ वें पर्व के श्लोक संख्या ३६९ का अंतिम चरण—"श्रावणे वहुले तिथौ" को यदि हटा दिया जाय तो इस पूरे विवरण से स्पष्टतः यही प्रकट होगा कि वैशाख शुक्ला १० को ऋजुकूला नदी के तट पर ही समवसरण की रचना से लेकर इन्द्रभूति द्वारा द्वादशांगी की प्रतिरचना तक की समस्त घटनायें घटित हुई ।[2]

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के सर्वाधिक मान्य ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती और षट्खण्डागम की धवला टीका में वैशाख शुक्ला १० के दिन भगवान् महावीर को ऋजुकूला नदी के तट पर अवस्थित जृम्भिका ग्राम के वाहर केवलज्ञान की उपलब्धि का और उससे ६६ दिन पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन पंचशैलपुर (राजगृह) के विपुलाचल पर उनके द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन का तो उल्लेख किया गया है पर इस प्रकार का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया है कि भगवान् जृम्भिका ग्राम से राजगृह के विपुलाचल पर कव, कितने समय पश्चात् तथा किस प्रकार पधारे और जव ऋजुकूला नदी के तट पर ही प्रभु को केवलज्ञान की उपलब्धि हो चुकी थी तो उस कैवल्योपलब्धि के स्थल पर ही समवसरण की रचना किस कारण नहीं की गई ? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका समुचित समाधान न किये जाने की दशा में जैनेतर एवं निष्पक्ष विद्वानों को अनेक प्रकार के ऊहापोह

---

[1] वही, भाग १, पृष्ठ ६४
[2] उत्तरपुराण, पर्व ७४, श्लोक ३४८ – ३७१

करने का अवसर मिल सकता है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध भी बोधिलाभ के अनन्तर लोगों को उपदेश, दीक्षा आदि देने के लिये उद्यत नहीं हुए। उन्होंने कहा :-

"कठोर साधना एवं कष्ट सहन के फलस्वरूप मैने जो धर्म अधिगत किया है, उसे राग-द्वेष में फँसे हुए लोग समझ नहीं पायेंगे। क्योंकि वह धर्मतत्त्व लोक-प्रवाह से विपरीत दिशा में चलने वाला, अति गम्भीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं दुर्द्दश्य है। राग के रंग में रंगे तथा अज्ञानान्धकार से आच्छन्न मनुष्य उसे नहीं देख पायेंगे।"[1]

सुरलोक से समागत ब्रह्म सुहम्मपति देव ने पुनः विशिष्ट अनुनय-विनय के स्वर में प्रार्थना की - "भगवन्! देवताओं एवं मनुष्यों के कल्याण के लिये धर्म-देशना दीजिये।"

"तब भगवान् बुद्ध ने पहले-पहल ५ मनुष्यों को धर्म में दीक्षित किया और वे पंचवग्गिय कहलाये।"[2]

बौद्ध धर्म ग्रन्थों का इस प्रकार का उल्लेख तो विचार करने पर सयौक्तिक और बुद्धिगम्य प्रतीत हो सकता है किन्तु केवलज्ञान की उपलब्धि के तत्काल पश्चात् समवसरण की गन्ध कुटी में प्रथम देशनार्थ सर्वज्ञप्रभु ६६ मिनट नहीं ६६ घन्टे नहीं निरन्तर ६६ दिन तक मौन विराजे रहें और ससुरासुर देवेन्द्र, नर, नरेन्द्र इतनी लम्बी अवधि तक निरन्तर निष्क्रिय बैठे रहें, यह बात सहज ही किसी के गले नहीं उतर सकती।

धवलाकार के समकालीन पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन ने धवला से लगभग ३० वर्ष पूर्व रचित अपने ग्रन्थ हरिवंश पुराण में इस उलझन भरी गुत्थी को सुलझाने का प्रयास करते हुए लिखा है :-

"चार ज्ञानधारी महावीर ने (छद्मस्थावस्था में) १२ वर्ष पर्यन्त १२ प्रकार का तप किया और विहारक्रम से ऋजुकूला नदी के तट पर अवस्थित जृम्भिक गाँव के समीप पहुंचे। वहां वैशाख शुक्ला दशमीं के दिन दो दिवस के उपवास का नियम कर वे सालवृक्ष के समीप एक शिला पर आतापन योग में आरूढ़ हुए। उसी समय जबकि चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में स्थित था, तब शुक्लध्यान-धारी प्रभु महावीर ने चार घाति-कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया।[3] समस्त सुरासुरेन्द्रों ने तत्काल वहां उपस्थित हो प्रभु के ज्ञान कल्याणक का उत्सव किया। तदनन्तर छयासठ दिनों तक मौनावस्था में विहार करते हुए भगवान् महावीर राजगृह नगर के विपुलाचल पर आरूढ़ हुए।[4] देवों ने वहां भव्य

---

[1] महावग्ग, १, ५. ७

[2] महावग्ग, १. ५. १०

[3] हरिवंश पुराण, सर्ग २, श्लोक ५६ - ५६

[4] केवलस्य प्रभावेण, सहसा चलितासनाः।
आगत्य महिमां चक्रुस्तस्य सर्वे सुरासुराः ॥६०॥
षट्षष्टि दिवसान् भूयो, मौनेन विहरन् विभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं, जिनो राजगृहं पुरम् ॥६१॥
आरुरोह गिरिं तत्र, विपुलं विपुलश्रियम्।....॥६२॥ [हरिवंश पुराण, सर्ग २, पृ १७]

समवसरण की रचना की। सौधर्मेन्द्र की प्रेरणा से इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति और कौण्डिन्य नामक विद्वान् भगवान् के समवसरण में उपस्थित हुए और उन्होंने अपने पांच-पांच सौ शिष्यों के साथ दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण की। चेतक की पुत्री चन्दनाकुमारी एक स्वच्छ वस्त्र धारण कर आर्यिकाओं में प्रमुख होगई। राजा श्रेणिक भी अपनी चतुरंगिनी सेना के साथ प्रभु के समवसरण में पहुँचा। इन्द्रभूति गौतम गणधर ने प्रभु से तीर्थ की प्रवृत्ति करने हेतु प्रश्न किया।[1] इस पर वर्धमान जिनेश्वर ने श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल दिव्य ध्वनि के द्वारा शासन की परम्परा चलाने के लिए उपदेश दिया।[2]

हरिवंश पुराणकार ने जो यहां उल्लेख किया है कि कैवल्योपलब्धि के अनन्तर ६६ दिन तक भगवान् महावीर मौन धारण किये हुए विचरण करते रहे, इस प्रकार का उल्लेख दिगम्बर परम्परा के अन्य किसी ग्रन्थ में दृष्टिगोचर नहीं होता।

ऋजुकूला नदी पर जृम्भिका ग्राम के बाहर ज्यों ही भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई तत्काल देव देवेन्द्रों ने वहाँ उपस्थित हो ज्ञान कल्याणक का उत्सव तो किया किन्तु उसी स्थान पर देवों द्वारा समवसरण की रचना क्यों नहीं की गई? इस सम्बन्ध में तिलोयपण्णत्ती, धवला, जयधवला, हरिवंश पुराण, उत्तर पुराण आदि दिगंबर परम्परा के सर्वमान्य ग्रन्थों के रचयिता मौन हैं। उत्तर पुराणकार ने तो विपुलाचल पर समवसरण की रचना का उल्लेख तक नहीं किया है। इससे यह प्रकट होता है कि आज से लगभग १२०० वर्ष पूर्व तक इस सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित एवं सर्वसम्मत मान्यता दिगम्बर परम्परा में प्रचलित नहीं थी कि प्रभु महावीर को कैवल्यलाभ होते ही ऋजुकूला नदी के तट पर समवसरण की रचना किस कारण नहीं की गई। क्या यह आश्चर्यजनक घटना प्रवर्तमान हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव के कारण घटित हुई अथवा सहज ही?

तिलोय पण्णत्ती[3] में हुण्डावसर्पिणी के कुप्रभाव के कारण विस्मयजनक अघटित घटनाओं के घटित होने का विवरण दिया गया है, जिसमें सातवें, तेवीसवें और अंतिम तीर्थंकर के उपसर्ग होने का तो उल्लेख है पर यह नहीं बताया

---

[1] वही, श्लोक ६४ – ८९

[2] श्रावणस्यासिते पक्षे, नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्णे, शासनार्थमुदाहरत् ॥९१॥ [वही]

[3] अवसप्पिणि उस्सप्पिणि कालसलाया गदे य संखाणि।
हुंडावसप्पिणी सा एक्का, जाएदि तस्स चिण्हमिमं ॥१६१५॥
....चक्कधराउ दिजाणं हवेदि वंसस्स उप्पत्ती ॥१६१८॥
....णवमादिसोलसंतं सत्तसु तित्थेसु धम्मवोच्छेदो ॥१६१९॥
....सत्तमतेवीसंतिम तित्थयराणं च उवसग्गो ॥१६२०॥
[तिलोयपण्णत्ती, प्रथम भाग, ४ महाधिकार]

गया है कि प्रभु को केवलज्ञान होते ही तत्काल उस स्थान पर समवसरण, तीर्थ प्रवर्तन आदि की प्रक्रियाएं क्यों न पूर्ण हुईं।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम स्थानांग में प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के १० आश्चर्यों का उल्लेख है। भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की उपलब्धि होते ही जृंभिका ग्राम के बाहर देवताओं द्वारा निर्मित समवसरण में जो प्रथम देशना दी उसके परिणाम स्वरूप उसी दिन नियमतः धर्म-तीर्थ की स्थापना हो जानी चाहिए थी। परन्तु ऐसा न होकर दूसरे दिन पावापुरी के महासेन उद्यान में निर्मित समवसरण में प्रभु द्वारा देशना एवं तीर्थ की स्थापना की गई, इस घटना की भी उन १० आश्चर्यों में गणना की गई है।[1] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई उल्लेख न होने, कैवल्योपलब्धि और तीर्थप्रवर्तन के बीच व्यवधान विषयक मतवैभिन्य तथा घटना के चित्रण में वैविध्य होने के कारण स्थिति बड़ी अस्पष्ट, अनिश्चित एवं विवादस्पद सी प्रतीत होती है। आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस पर गम्भीर अन्वेषण के पश्चात् समुचित प्रकाश डालेंगे।

इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार करते समय इस तथ्य को दृष्टि में रखना परमावश्क होगा कि दिगम्बर परम्परा के हरिवंश पुराण आदि सभी मान्य ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर को छोड शेष ऋषभदेव आदि तेवीसों ही तीर्थंकरों ने उसी दिन धर्म-तीर्थ का प्रवतन किया, जिस दिन कि उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई।

कल्पसूत्र एवं नन्दी सूत्र की स्थविरावलियों की परम प्रामाणिकता :- आज सभी विद्वान् समवेत स्वर में स्वीकार करते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा की २ स्थविरावलियां कल्पसूत्रीया स्थविरावली और नन्दी स्थविरावली (जिनको मूल आधार मान कर प्रस्तुत ग्रन्थ का आलेखन किया गया है), पूर्णतः प्रामाणिक विश्वसनीय एवं अति प्राचीन ऐतिहासिक स्थविरावलियां हैं। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से निकले ई. सन् ८३ से १७६ तक के, (आयागपट्टों, ध्वजस्तम्भों, तोरणों, हरिणैगमेषी देव की मूर्ति, सरस्वती की मूर्ति, सर्वतोभद्र प्रतिमाओं, प्रतिमापट्टों एवं मूर्तियों की चौकियों पर उट्टंकित) शिलालेखों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वस्तुतः ये दोनों स्थविरावलियां अति प्राचीन ही नहीं, प्रामाणिक भी हैं।

मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई का कार्य सर्व प्रथम ई. सन् १८७१ में जनरल कनिंघम के तत्त्वावधान में, दूसरी वार सन् १८८८ से १८९१ में

---

[1] उवसग्ग गब्भहरणं, इत्थितित्थं अभाविया-परिसा।
कण्हस्स अवरकंका, उत्तरणं चंद-सूराणं।।
हरिवंसकुलुप्पत्ती, चमरुप्पातो तह अट्ठसय सिद्धा।
अस्संजतेसु पूआ, दस वि अणंतेण कालेण।। [स्थानांग, स्थान १०]
विशेप विवरण के लिये देखिये, "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १", पृ. ३४४-३४६
— सम्पादक

डा. फ्यूरर के तत्त्वावधान में तथा तीसरी बार पं. राधाकृष्ण के तत्त्वावधान में करवाया गया। इन तीनों खुदाइयों में जैन इतिहास की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण विपुल सामग्री उपलब्ध हुई। वह सामग्री आज से १८९१ से ले कर १७९८ वर्ष पहले तक की प्राचीन एवं प्रामाणिक होने के कारण बड़ी विश्वसनीय है। इन शिला लेखों में कल्पसूत्र की स्थविरावली के छः गणों में से तीन गणों, चार गणों के १२ कुलों, १० शाखाओं तथा नन्दीसूत्र के आदि मंगल के रूप में दी हुई वाचक वंश (वाचनाचार्यों) की स्थविरावली[1] के पन्द्रहवें वाचनाचार्य आर्य समुद्र, सोलहवें आर्य मंगु, इक्कीसवें आर्य नन्दिल (आनन्दिल), बावीसवें आर्य नागहस्ती और उनतीसवें वाचनाचार्य भूत दिन्न के नाम विद्यमान हैं।[2] आज से लगभग १८००–१९०० वर्ष पूर्व के इन शिलालेखों में लगभग २२०० वर्ष पूर्व, वीर नि. सं. २९१ में हुए आर्य स्थविर रोहण आदि सुहस्ति के शिष्यों के उद्देह प्रभृति ३ गणों, कालान्तर में प्रसृत हुए उनके १२ कुलों तथा १० शाखाओं, वीर नि० सं० ४१४ में वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए आर्य समुद्र, वीर नि० सं० ४५४ में वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए आर्य मंगू, उनके पश्चात् हुए वाचनाचार्य नन्दिल, उनके अनन्तर अनुमानतः वीर नि० सं० ५८४ तक वाचनाचार्य पद पर रहे आर्य नागहस्ती और वीर नि० सं० ९०४ से ९८३ तक युग प्रधानाचार्य पद पर रहे आर्य भूतदिन्न के उल्लेखों से निर्विवाद रूपेण सिद्ध होता है कि आर्य सुधर्मा से प्रारम्भ हुई कल्प स्थविरावली और नन्दि-स्थविरावली – ये दोनों स्थविरावलियाँ परम प्रामाणिक और पूर्णतः विश्वसनीय हैं। इन शिलालेखों में दशपूर्वधर काल से लेकर सामान्य पूर्वधर काल की समाप्ति से १७ वर्ष पूर्व तक के कतिपय वाचनाचार्यों, गणों, कुलों आदि का उल्लेख इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये सबल ही नहीं अकाट्य प्रमाण है कि ये दोनों स्थविरावलियां क्रमबद्ध और पूर्णतः प्रामाणिक हैं।

जिज्ञासु पाठकों एवं शोधार्थियों के लाभार्थ उन शिलालेखों का यहां संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है, जिनमें कि उपरिलिखित गणों एवं वाचनाचार्यों का उल्लेख है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४६४-६५ पर आर्य सुहस्ति के १२ शिष्यों में से ६ के नाम से प्रचलित हुए गणों, उनकी शाखाओं और कुलों का विवरण दिया गया है। आर्य सुहस्ती के प्रथम शिष्य आर्य रोहण के नाम से निकले उद्देह गण और नागभूतिकीय (नागभूय) कुल का उल्लेख कनिष्क सं० ७ के लेख सं० २४ में है।[3] इसी प्रकार कुषाणवंशी राजा वासुदेव के समय के कनिष्क सं० ९८,

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. ४७१-७२

[2] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ७५५

[3] १ [सिद्धम् ॥] महाराजस्य राजातिराजस्य देवपुत्रस्य पाहिकणिष्कस्य सं० ७ हे १ दि १० ५ एतस्य पूर्व्वायां अर्य्योदेहिकियातो २ गणातो अर्य्यनागभूतिकियातो कुलातो गणिस्य अर्यबुद्धशिरिस्य शिष्यो वाचको अर्य्यस[न्धि]कस्य भगिनि अर्य्यजया ध्रर्म गोष्ठ....

तदनुसार वीर नि० सं० ७०३ के लेख सं० ६९ में उद्देह गण, इसके परिधासिक (परिहासय) कुल और पेतपुत्रिका (पुण्य पत्रिका) शाखा का स्पष्ट उल्लेख है।[1]

इसी प्रकार आर्य सुहस्ती के चतुर्थ शिष्य आर्य कामर्धिगणी से निकले वेसवाडिय गण और उसकी शाखाओं का नाम तो मथुरा के शिलालेखों में स्पष्टतः उट्टंकित नहीं है किन्तु इस गण के चार कुलों में से मेहिय (मेहिक) नामक कुल का उल्लेख कुछ त्रुटिताक्षरों में लेख सं० २६ और ६३ में विद्यमान है।[2]

आर्य सुहस्ती के पांचवें एवं छट्ठे प्रमुख शिष्य आर्य सुस्थित और सुप्रतिबद्ध से निकले कोटिक (कोडिय अथवा कोटिय) गण का उल्लेख शिलालेख संख्या १८ तथा २५ में, कोटिय गण, ब्रह्मदासिय (बंभलिज्ज) कुल एवं उच्चनागरी (उचेनागरी) शाखा का उल्लेख लेख संख्या १९, २०, २२ एवं २३ में, कोटिय गण के वत्थलिज्ज कुल का वच्छलियातो कुलातो के रूप में लेख सं० २७ में, कोटिय गण, ठानिय कुल (संभवतः वाणिय अथवा वाणिज्य कुल का विकृत रूप), श्रीगृह संभोग, वज्री (वेरि) शाखा का उल्लेख लेख सं० २९ एवं ३० में, कोटिय गण, बम्भलिज्ज कुल (ब्रह्मदासिक कुल के रूप में), उच्चनागरी शाखा तथा श्रीगृहसंभोग का उल्लेख लेख सं० ३१ में, कोट्टिय गण, ब्रह्मदासिक (बम्भलिज्ज) कुल तथा उचेनागरी शाखा का उल्लेख लेख सं० ३५ में, इस गण की केवल उच्चनागरी शाखा का उल्लेख लेख सं० ३६ में, कोटिय गण वेरि शाखा ठाणिय (वाणिय) कुल का उल्लेख लेख सं० ४० एवं ४१ में, इस गण के वंभदासिक (बम्भलिज्ज) कुल और उच्चनागरी शाखा का उल्लेख लेख सं० ५० में, कोटिक गण वेरा (वज्री) शाखा, स्थानिक कुल, श्रीगृह संभोग, वाचक आर्य घस्तुहस्ति (हस्तिहस्ति अर्थात् नागहस्ति)[1] के शिष्य मंगुहस्ति का उल्लेख लेख सं० ५४ में, कोटियगण, स्थानिय (वाणिय) कुल वैरा शाखा, श्रीगृह संभोग वाचक आर्य हस्तहस्ति (नागहस्ति) का उल्लेख लेख सं० ५५ में किया गया है।

१. काल की दृष्टि से गण, कुल एवं शाखा के उल्लेख से युक्त सबसे पहला शिला लेख है कुषाणवंशीय राजा कनिष्क के राज्यकाल के ५ वें वर्ष (ई० सन् ८३ तदनुसार वीर नि० सं० ६१०) का। इसमें लिखा है :–

---

[1] सिद्ध (म्) ।। नमो अरहतो महावीरस्य दे....रस्य । राजवासुदेवस्या संवत्सरे ९० ८ वर्ष-मासे ४ दिवसे १० १. एतस्या २. पूर्वायि अर्य्यदेहिकियातो ग (णातो) परिधासिकातो कुलातो पेतपुत्रिकातो शाखातो गणिस्य अर्य्य देवदत्तस्य न ३. र्य्यं क्षेमस्य ४. प्रकगिरिणं ५. कि हदिये प्रज ६.....तस्य प्रवरकस्य धिनु वरुणस्य गन्धिकस्य वधूये मित्रस....दत्त गा [१] ७ ये....भगवतो महावीरस्य ।
जैन शिलालेख सं०, भा० २ (माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रं० माला समिति), लेख सं० २४ तथा ६९, पृ० २२ एवं ४७

[2,3] जैन शिलालेख संग्रह भाग २

"देवपुत्र कनिष्क के ५वें वर्ष की हेमन्त ऋतु के पहले महिने के पहले दिन कोट्टियगण, ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा के……श्रेष्ठि……सेन की धर्मपत्नी देव……पाल की पुत्री खुडा (क्षुद्रा) ने वर्धमान की प्रति (मा)।।[1] लेख सं० ५६ में कोट्टिय गण, स्थानिकीय कुल, वे रि शाखा के आर्य वृद्ध हस्ति का उल्लेख है। कल्प स्थविरावली के २७वें गणाचार्य आर्य वृद्ध ही वस्तुतः इस शिलालेख के आर्य वृद्ध होने चाहिए। क्योंकि आर्य सुहस्ती के शिष्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध द्वारा सूरिमन्त्र का एक करोड़ बार जाप किये जाने के कारण उनका विशाल श्रमण समूह कोटिक गण के नाम से विख्यात हुआ। आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध आचार्य सुहस्ति के पट्टधर आचार्य हुए अतः सुहस्ती की मुख्य शिष्य परम्परा कोटिक गण के नाम से ही अभिहित की जाने लगी। उस मुख्य परम्परा के आचार्य होने के कारण कल्प स्थविरावली के २७वें आचार्य आर्यवृद्ध[2] ही वे कोट्टिय गण ठाणिय अथवा वाणिय कुल और वज्री शाखा के आर्य वृद्धहस्ती होने चाहिए जिनका कि नाम इस लेख में उत्कीर्ण किया हुआ है।

इसी प्रकार लेख संख्या ५९ में भी कोट्टिय गण और वइरी (वज्री) शाखा के आर्य वृद्धहस्ती का उल्लेख है। वे भी निश्चित रूप से कल्प स्थविरावली के २७वें आचार्य आर्य वृद्ध ही होने चाहिए। इनके अतिरिक्त लेख सं० ६४ में उच्चनागरी शाखा, लेख सं० ६६ में कोट्टिय गण, पण्हवाहणय कुल एवं मझमा शाखा, लेख सं० ६८ में कोट्टिय गण, ठानिय कुल और वइरी शाखा, लेख सं० ७० में कोटिक गण और उच्चनागरी शाखा, लेख सं० ७४ में कोटियगण का उल्लेख विद्यमान है।

कल्पसूत्रीया स्थविरावली में उल्लिखित गणों, कुलों एवं शाखाओं आदि के उल्लेखों वाले जो लेख मथुरा के कंकाली टीले से उपलब्ध हुए हैं, उनमें अंतिम लेख है गुप्त सं० ११३ तदनुसार ई० सन् ४३३ (वीर नि० सं० ९६०) में उत्कीर्ण, गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त[3] के शासन काल का लेख सं० ९२।[4]

इस लेख सं० ९२ में कोट्टिय गण की विद्याधरी शाखा के आचार्य दतिल का उल्लेख किया गया है। वाचनाचार्य परम्परा की, युगप्रधानाचार्य परम्परा

---

[1] अ. १. ……दे (व) पुत्रस्य क (नि) ष्कस्य सं० ५ हे. १ दि १ एतस्य पूर्व्वे (१) यं कोट्टियातो गणातो ब्रह्मदासिका (तो) (कु) लातो (उ) च्चेनागरितो शाखातो सेथि – ह – स्य ि – ि – ि – सेनस्य सहचरि खुडाये दे (व)
व. १. पालस्य धि (त)……
२. वधमानस्य प्रति (मा) ॥
[जैन शिलालेख संग्रह, भा २ माणकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति) लेख सं० १९, पृ० सं० १९] मथुरा का प्राकृत लेख कनिष्क सं० ५.

[2] कल्पसूत्रीया स्थविरावली के आचार्यों की सूची, देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४७३-७४

[3] कुमारगुप्त का शासन वीर नि० सं० ९५१ से ५८२ तक रहा। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ६७२

[4] जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृ० ५८

की और कल्पसूत्रीया स्थविरावली – इन तीनों स्थविरावलियों में 'दत्तिल' नामक किसी आचार्य का नाम उपलब्ध नहीं होता है। हां वाचनाचार्य परम्परा की (नन्दीसूत्रीया) स्थविरावली के २९ वें (आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र, रक्षित और गोविन्द – इन पांचों के नाम वाचनाचार्यों में सम्मिलित न किये जाने की दशा में २४ वें)[1] आचार्य तथा युगप्रधानाचार्य परम्परा की पट्टावली के २६ वें आचार्य का नाम भूत दिन्न है। लेख सं० ९२ में उट्टंकित 'दत्तिल' और इन दोनों पट्टावलियों में उल्लिखित 'दिन्न' ये दोनों (दत्तिल और दिन्न) शब्द वस्तुतः दत्त शब्द के प्राकृत रूप हैं।[2] आर्य भूतदिन्न का युगप्रधानाचार्य काल वीर नि० सं० ९०४ से ९८३ माना गया है।[3] इस लेख सं० ९२ में गुप्त सं० ११३ उत्कीर्ण किया हुआ है, जो वीर नि० सं० ९६० अर्थात् आचार्य भूत दिन्न के आचार्यकाल का ही समय है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपरिलिखित लेख सं० ९२ में कोट्टिय गण की विद्याधरी शाखा के जिन दत्तिलाचार्य का उल्लेख है, वे वस्तुतः नन्दि स्थविरावली के वाचनाचार्य और युगप्रधान पट्टावली के युगप्रधान आचार्य भूतदिन्न ही हैं।

युग प्रधानाचार्य भूतदिन्न की ही तरह लेख सं० ५२ के गणि समदि वस्तुतः वाचक परम्परा के १५ वें वाचनाचार्य आर्य समुद्र, लेख सं० ४१ और ६१ के आर्य नन्दिक व गणिनन्दि १७ वें वाचनाचार्य नन्दिल और लेख सं० ५४ और ५५ के क्रमशः घस्तु हस्ति और हस्तहस्ति १८ वें वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती ही हैं। नन्दिसूत्रीया स्थविरावली में इन चारों वाचनाचार्यों के नाम इसी क्रम से एक के पश्चात् एक हैं।

आर्य सुधर्मा से लेकर देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक एक हजार वर्ष की लम्बी कालावधि में अनेक आचार्य एवं उनके आज्ञानुवर्ती सहस्रों महान् प्रभावक श्रमण हुए, सहस्रों प्रभाविका श्रमणियां हुईं, जिन्होंने भारत जैसे अतिविशाल देश के कोने-कोने में विचरण कर प्राणिमात्र को अभयदान देने वाले प्रभु महावीर के अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह मूलक विश्वकल्याणकारी धर्म का प्रचार-प्रसार किया। कालान्तर में क्रमशः हुए गणभेद, परम्पराभेद, मान्यताभेद, संघ-विभाजन, गच्छोपगच्छ-कुलोपकुलजन्य विभिन्न भेद-प्रभेदों के अनन्तर एक ही समय में एक-एक प्रदेश को, एक-एक क्षेत्र को पृथकतः अपना कार्यक्षेत्र चुनकर जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करने वाले अनेक आचार्य हुए। उनमें से कतिपय महापुरुषों ने स्वर्णभूमि, सिंहल आदि सुदूरस्थ एवं दुर्गम देशों में जाकर, वहां पर भी जनमानस में जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा उत्पन्न की एवं वहां के लोगों को जैनधर्मावलम्बी बनाया। उक्त १००० वर्ष की अवधि में हुए अनेक राजाओं, महाराजाओं,

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४७२–७३

[2] दिन्न और दत्तिल दोनों शब्द दत्त शब्द के प्राकृत रूप होते हैं।
[जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, भूमिका (डा० गुलाबचन्द्र चौधरी), पृ० १८ टिप्पण २]

[3] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ६६५

सामन्तों, श्रेष्ठियों एवं सभी वर्गों के श्रावकों तथा श्राविकाओं ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ इसके दिगदिगन्तव्यापी प्रताप को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए जो-जो महत्वपूर्ण कार्य किये, उन सबका क्रमबद्ध पूर्ण विवरण आज जैन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। फिर भी उनमें से कतिपय कार्यों का शिलालेखों, आयागपट्टों, ताम्रपत्राभिलेखों आदि में उट्टंकित विवरण आज भी उपलब्ध होता हैं, जिनका प्रस्तुत ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है। प्राक्कथन में भी यथास्थान इस पर और अधिक प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

कार्य की गुरुता एवं दुस्साध्यता – इतने सुदीर्घ अतीत के सुविस्तृत इतिहास का यथावत् निरूपण तो वस्तुतः केवल अतिशयज्ञानी ही कर सकते हैं। क्योंकि उनमें से विभिन्न गणों के जिन गणाचार्यों, प्रभावक महाश्रमणों ने जीवन भर सुदूर दक्षिण के तमिलनाडु, बंग, कलिंग, आन्ध्र आदि प्रदेशों में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया, उनमें से अधिकांश के तो नाम तक भी आज कहीं उपलब्ध नहीं हैं। कल्पस्थविरावली में आर्य सुहस्ती के पश्चात् जिन आचार्यों के नाम दिये गये हैं, उनमें से अधिकांश का नाम के अतिरिक्त किंचित्मात्र भी परिचय आज के उपलब्ध जैन वाङ्मय में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार नन्दीसूत्र के आदि में दी गई वाचनाचार्यों की स्थविरावली के भी कतिपय आचार्यों का कोई परिचय कहीं उपलब्ध नहीं होता। जब मुख्य-मुख्य आचार्यों का भी पूरा परिचय उपलब्ध नहीं होता तो उस दशा में उनके समय में घटित घटनाओं का शृंखलाबद्ध निरूपण करना कितना कठिन कार्य है, इसका विज्ञ स्वयं सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। यह स्थिति वर्तमान समय में ही हो, ऐसी बात नहीं है। आज से अनेक शताब्दियों पहले भी कुछ इसी प्रकार की स्थिति की विद्यमानता के उल्लेख जैन साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इतिहासलेखन का कार्य कितना जटिल है, इस सम्बन्ध में आज से लगभग ७०० वर्ष पूर्व हुए आचार्य प्रभाचन्द्र (वि० सं० १३३४) द्वारा प्रकट किए गए निम्नलिखित उद्गारों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है :–

श्रीवज्रानुप्रवृत्त(त्तौ) प्रकटमुनिपति प्रष्ठवृत्तानितत्तद्,
ग्रन्थेभ्यः कानिचिच्च श्रुतधरमुखतः कानिचित्संकलय्य।
दुष्प्रापत्वादमीषां विशकलिततयैकत्रचित्रावदातं,
जिज्ञासैकाग्रहाणामधिगतविधयेऽभ्युच्चयं स प्रतेने ॥[1]

अर्थात् – आर्य वज्र और उनके अनुवर्ती आचार्यों का इतिवृत्त खण्ड-विखण्डित रूप में इतस्ततः बिखरा हुआ एवं अपूर्ण होने के कारण एक प्रकार से दुष्प्राप्य था। अतः उनमें से कतिपय आचार्यों का इतिवृत्त अनेक ग्रन्थों के परि-शीलन से, कुछ आचार्यों का श्रुतधरों से सुनकर और कइयों का (जैन वाङ्मय में से) संकलित कर मैंने (प्रभाचन्द्र ने) उसे सम्यक्रूपेण सुव्यवस्थित किया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने "प्रभावक चरित्र" नामक अपने अत्यन्त महत्वपूर्ण

[1] प्रभावक चरित्र, ग्रन्थकारकृता स्वकीया प्रशस्तिः, पृष्ठ २१५, श्लोक १३

एवं उपयोगी ग्रंथ में कुल मिलाकर २३ आचार्यों एवं महाकवि धनपाल के जीवन की कतिपय प्रमुख घटनाओं का विवरण दिया है। आचार्य प्रभाचन्द्र के समय में प्राचीन ग्रन्थ भी आज की अपेक्षा निश्चित रूप से कुछ अधिक मात्रा में उपलब्ध रहे होंगे। इतिहास साक्षी है कि आचार्य प्रभाचन्द्र के पश्चाद्वर्ती काल में आततायी विदेशी आक्रान्ताओं ने भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि के रूप में सुरक्षित ग्रन्थागारों, पुस्तकभण्डारों एवं स्वर्णपत्र, ताम्रपत्र, प्रस्तर, भित्ति आदि पर शताब्दियों पूर्व उत्कीर्ण किए गए अभिलेखों को नष्ट-निश्शेष-करने में किसी प्रकार की कोर- कसर नहीं रखी। एक यवन आक्रान्ता ने तो अपनी सैनिक-पाक शाला-में शताब्दियों के अथक श्रम से लिखे गये भारतीय संस्कृति के प्राचीन ग्रंथों को ईंधन की जगह जलाने के काम में लेकर छः महीनों तक विशाल सेना के लिए भोजन बनवाया, और स्नानार्थ पानी गरम करवाया।

वर्गविद्वेष, धार्मिक असहिष्णुता आदि के फलस्वरूप समय-समय पर भारत के विभिन्न प्रदेशों में उत्पन्न हुए आन्तरिक कलहों ने भी भारतीय संस्कृति के अवशेषों, स्मारकों, धर्मस्थानों, तीर्थस्थानों एवं ग्रन्थागारों आदि को भयंकर क्षति पहुंचाई।

केवल २३ आचार्यों के जीवनवृत्त का आलेखन करते समय आचार्य प्रभाचंद्र द्वारा अभिव्यक्त किए गए उपर्युल्लिखित उद्गारों और उनसे अवांतरवर्ती काल में हुई पुरातन साहित्य की दुखद महती क्षति के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि ईसा पूर्व ५२७ से ई० सन् ४७३ (वीर नि० सं० सं० १ से १०००) तक का १००० वर्ष का जैन धर्म का सर्वांगपूर्ण इतिहास शृंखलाबद्ध रूप में सम्पन्न करना कितना कठिन, कितना दुरूह, दुस्साध्य एवं श्रमापेक्षी कार्य है। पर इन सब कठिनाइयों से हतोत्साहित हो इस दिशा में प्रयास न करने की स्थिति में तो प्रत्येक जैनी के हृदय में खटकने वाली इतिहास के अभाव की कमी कभी दूर नहीं होने वाली है, यह विचार कर इस कार्य को हाथ में लिया गया।

पुरातन प्रामाणिक आधार – हमने अंगों, उपांगों, निर्युक्तियों, चूर्णियों, टीकाओं, भाष्यों, चरित्रग्रन्थों, कथाकोषों, स्थविरावलियों, पट्टावलियों, जैन एवं वैदिक परम्परा के पुराणों, विभिन्न इतिहास-ग्रन्थों, बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों, शिलालेखों, प्रकीर्णक ग्रन्थों एवं सभी प्रकार की उपलब्ध सामग्री के पर्यवेक्षण-पर्यालोचन के माध्यम से प्रामाणिक साधनों के आधार पर अथ से इति तक शृंखलाबद्ध रूप में जैन इतिहास के आलेखन की अमिट अभिलाषा लिये यथामति कुछ लिखने का प्रयास किया है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इस ग्रन्थ के लेखन में इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि थोथी कल्पनाओं और निर्मूल अनुश्रुतियों को महत्व न देकर प्राचीन ग्रन्थों एवं अभिलेखों के आधार पर प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों का ही निरूपण किया जाय। इसी प्रकार बहुत-सी चमत्कारिक रूप से चित्रित घटनाओं को भी इस ग्रन्थ में समाविष्ट नहीं किया

गया है। मध्ययुगीन अनेक विद्वान् ग्रन्थकारों ने सिद्धसेन प्रभृति कतिपय प्रभावक आचार्यों के जीवन चरित्र का आलेखन करते हुए उनके जीवन की कुछ ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया है, जिन पर आज के युग के अधिकांश चिन्तक किसी भी दशा में विश्वास करने को उद्यत नहीं होते। त्यागी, तपस्वी महान् पुरुषों के प्रबल आत्मबल में अचिन्त्य शक्ति होती है, इस बहुजन सम्मत तथा भारतीय संस्कृति के प्रायः सभी अध्यात्म विषयक प्राचीन ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित तथ्य से इतिहास के पाठकों को थोड़ा बहुत अवगत कराने की दृष्टि से श्रद्धास्पद पूर्वाचार्यों द्वारा विशद रूपेण वर्णित घटनाओं में से एक दो चमत्कारिक घटनाओं का भी इस ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है। इस स्पष्टीकरण का मूलतः मुख्य तात्पर्य यही है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में जो कुछ लिखा गया है, वह सब कुछ साधार है, बिना आधार के एक भी बात नहीं लिखी गई है।

विशुद्ध उद्देश्य – केवल तथ्य की खोज : – यह एक निर्विवाद तथ्य है कि इतिहास के क्षेत्र में केवल उन्हीं विवरणों को पूर्ण प्रामाणिक माना जाता है, जिनको सत्य सिद्ध करने वाले ठोस आधार हों। कतिपय ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में समय-समय पर बहुत से विद्वानों ने ऊहापोह, किंवदन्ती, निरे अनुमान, केवल-कल्पना अथवा पारम्परिक मान्यता के नाम पर अपनी-अपनी मान्यताएं रखी हैं। इस प्रकार के प्राचीन अथवा अर्वाचीन विद्वानों की वे व्यक्तिगत मान्यताएं यद्यपि ऐतिहासिक घटनाक्रम, निष्पक्ष साक्ष्य एवं समकालीन अन्य निर्विवादास्पद ऐतिहासिक घटनाचक्र से अन्यथा सिद्ध होती हैं, तथापि आज वे लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की मान्यता होने, बहुजनसम्मत होने, पक्ष विशेष की प्राचीनता की साधक होने अथवा अन्य कतिपय कारणों से निर्विवादास्पद मान्यताओं का रूप धारण करती जा रही हैं। इस तरह की कतिपय मान्यताओं को अप्रामाणिक-अमान्य सिद्ध कर देने वाले जो प्रबल तथ्य हमें उपलब्ध हुए हैं, उन्हें यथास्थान उल्लिखित कर हमने वास्तविकता को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। ऐसे प्रसंगों पर हमें कुछ इस प्रकार के तथ्य भी प्रस्तुत करने पड़े हैं, जो कतिपय विद्वानों की मान्यताओं के अनुकूल नहीं पड़ते। ऐसा करने के पीछे हमारी किंचित्मात्र भी इस प्रकार की भावना नहीं रही है कि किसी के भावुक कोमल मन को किसी प्रकार की कोई ठेस पहुँचे। हमारी चेष्टा पक्षपात विहीन एवं केवल यही रही है कि वस्तुस्थिति प्रकाश में लाई जाय।

सम्प्रदाय-मोह एवं परम्परा विशेष के पूर्वाग्रह से विमुक्त हो तटस्थ भाव से लिखते हुए भी विचार-भेद अथवा दृष्टिभेदवशात् यदि कोई उल्लेख तथ्य की सीमा का किंचित्मात्र भी अतिक्रमण कर गया हो तो 'तं मे मिच्छामि दुक्कडं।'

संघ-संचालन की प्रणाली :– कोई भी संगठन, चाहे वह धार्मिक, राज-नैतिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक संगठन हो, उसके संचालन के लिए किसी एक प्रणाली को अपनाना आवश्यक हो जाता है। अनेक भेद-प्रभेदों के होते हुए भी इन प्रकार के संगठनों को सुचारु रूप से चलाने के लिए सुन्दर रूप से

दो प्रणालियां प्रधान मानी गई हैं – प्रथम एकतन्त्रीय प्रणाली और दूसरी प्रजातन्त्रीय प्रणाली।

तीर्थप्रवर्तन-काल से लेकर आज तक के भगवान् महावीर के धर्मसंघ के इतिहास का समीचीनतया पर्यालोचन करने के पश्चात् यही तथ्य प्रकट होता है कि प्रारम्भ से ही इसका संचालन एक ऐसी सुन्दर एवं सुदृढ़ प्रणाली से किया जाता रहा है जिसे न विशुद्ध एकतन्त्री प्रणाली ही कहा जा सकता है और न पूर्ण प्रजातान्त्रिक ही। महावीर यद्यपि लिच्छविराजकुमार थे। लिच्छवि गणतंत्र उनके समय का एक प्रमुख प्रजातान्त्रिक गणराज्य था। पर कैवल्योपलब्धि के अनन्तर तीर्थ-प्रवर्तन के समय उन्होंने अपने धर्म संघ के संचालन के लिए प्रजातान्त्रिक प्रणाली एवं एकतन्त्रीय प्रणाली के केवल गुणों को ग्रहण कर मिश्र प्रणाली को अधिक उपयुक्त समझा। यद्यपि वे प्रजातान्त्रिक परम्परा से आये थे परन्तु त्रिकालदर्शी-सर्वज्ञ हो जाने पर उन्होंने देखा कि उनका धर्म संघ एकान्ततः प्रजातान्त्रिक अथवा एकतंत्री प्रणाली का अनुसरण कर चिरकाल तक अपने वास्तविक स्वरूप में अजस्र एवं निर्द्वन्द्व रूप से नहीं चल सकेगा। केवल प्रजातान्त्रिक पद्धति से संघसंचालन की व्यवस्था में उन्हें अपने धर्म संघ का चिरस्थायी जीवन प्रतीत नहीं हुआ।

संघ-व्यवस्था के आद्योपान्त स्वरूप के अध्ययन से तथा भगवान् द्वारा की गई पद व्यवस्था से यही तथ्य प्रकट होता है कि भगवान् महावीर ने संघ-संचालन के लिए प्रजातान्त्रिक प्रणाली के अंकुश सहित सुयोग्य वैयक्तिक अधिकार प्रधान एकतंत्री व्यवस्था प्रणाली को अधिक श्रेयस्कर समझा। संघ तथा आचार के प्रति अनन्य निष्ठावान्, प्रत्युत्पन्नमति, शासननिपुण, ओजस्वी, प्रतिभाशाली व्यवहारकुशल एवं योग्यतम अधिकारिक व्यक्ति के सांकुश अधिनायकत्व में अपने धर्म संघ का चिर जीवन तथा चिरस्थायी हित समझकर भगवान् महावीर ने संघ के संचालन के लिए एक मिश्रित प्रणाली निर्धारित की। अनादिकालीन 'पंचपरमेष्ठि नमस्कारमंत्र' के पांचों पदों से भी यही सिद्ध होता है कि जैन धर्म संघ में अनादि काल से दोनों प्रणालियों के दोषों से मुक्त एवं गुणों से युक्त मिश्र शासन-व्यवस्था रही है। अर्हंतों के पश्चात् आचार्यों का धर्म संघ में सदा-सर्वदा सर्वोपरि स्थान माना जाता रहा है पर आचार्य सदा संघ के प्रति उत्तरदायी रहे हैं।

इतिहास साक्षी है कि जहां उदायी, अशोक, संप्रति और विक्रमादित्य जैसे एकतन्त्री शासक कर्त्तव्यपरायणतापूर्वक प्रजावत्सल न्यायनिष्ठ और सेवाव्रती बने रहे, वहां धर्म, समाज एवं राष्ट्र ने सर्वतोमुखी प्रगति की। इसके विपरीत कुछ अपवादों को छोड़ यह कटुसत्य सर्वविदित है कि प्रजातांत्रिकता में अभाव, अभियोग, अनुत्तरदायित्व, अनिश्चितता, अस्थिरता, विपाक्त प्रतिस्पर्धाजन्य अशान्ति का आधिक्य रहा। प्रजातान्त्रिक प्रणाली में जहां एक ओर अनेक गुण हैं वहां दूसरी ओर बहुत बड़ा अवगुण भी है। वहां अधिकारी और अधिकृत, बड़े

और छोटे के भेद का केवल कहने भर के लिए स्थान न रहने के कारण प्रत्येक व्यक्ति में सबसे आगे उभरने की, अहमिन्द्र अथवा अधिनायक बनने की प्रतिस्पर्धा प्रबल वेग से जागृत रहती है। प्रत्येक व्यक्ति में उत्पन्न हुई इस प्रकार की भावना के परिणामस्वरूप संगठन में सांठ-गांठ, जोड़-तोड़, दलबन्दी, अनुशासनहीनता, और कलह आदि विनाशकारी प्रवृत्तियां पनपने लगती हैं। इस प्रकार शनैः-शनैः सामूहिक अपनत्व की भावना अधिनायकत्व, अहमिन्द्रत्व का रूप ग्रहण कर लेती है। एक डोर में चलने वाले एक सम्पन्न-समृद्ध घर के सभी सदस्यों में अपनत्व के स्थान पर अहम्मन्यता और अधिनायकत्व की भावना के पनपने पर जो उस घर की दुर्दशा होती है, ठीक वही दशा अन्ततोगत्वा प्रजातान्त्रिक प्रणाली से चलने वाले संगठन की होती है। यों तो सभी स्थितियां सापवाद होती हैं। पर जहां तक धार्मिक संघ का प्रश्न है, कम से कम इसके संचालन में तो एकांतिक प्रजातन्त्रीय प्रणाली न फव सकती है और न चिरकाल तक सफल ही सिद्ध हो सकती है। प्रारम्भिक दशा में भले ही उससे कुछ लाभ दृष्टिगोचर हो पर उसमें चिरकालिक स्थैर्य नहीं आ पाता। परिवर्तन पर परिवर्तन आते हैं। उस संघ का वास्तविक स्वरूप बदलते-बदलते मूल स्वरूप से पूर्णतः भिन्न हो जाता है। धार्मिक संघ मूलतः आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिए स्थापित किये जाते हैं पर उनके एकान्ततः प्रजातान्त्रिक प्रणाली से संचालित किये जाने के परिणामस्वरूप उस संघ के अधिकांश सदस्यों में उत्पन्न हुई विषाक्त प्रतिस्पर्धा के कारण आध्यात्मिक शान्ति तो दूर भौतिक शान्ति भी नहीं रह पाती। उस धर्म संघ की स्थापना के पीछे जो आध्यात्मिक शांति की अवाप्ति का मूल उद्देश्य रहता है, वह तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार 'नष्टे मूले कुतो शाखा' की उक्ति के अनुसार वह संघ निष्प्राण हो जाता है।

एकतन्त्री व्यवस्था-प्रणाली में भी अंकुश के अभाव तथा सर्वाधिक सुयोग्य व्यक्ति को अधिनायक न बना उसके स्थान पर अयोग्य व्यक्ति के मनोनयन के भी बड़े भीषण परिणाम होते हैं।

बौद्ध संघ का दृष्टान्त हमारे समक्ष है। बौद्धसंघ की व्यवस्था किस प्रणाली पर आधारित थी, इसका यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता तथापि पाली-पिटकों के उल्लेखानुसार लिच्छवियों के बौद्ध संघ की ओर अधिक झुकाव से यह अनुमान किया जाता है कि प्रारम्भिक काल में बौद्ध संघ की संचालन प्रणाली एकतन्त्री प्रणाली के आधार पर न की जाकर कतिपय परिवर्तनों के साथ गणतन्त्र प्रणाली के अनुरूप प्रजातान्त्रिक आधार पर की गई थी। यह भी एक कारण हो सकता है कि गणतान्त्रिक व्यवस्था के अभ्यस्त, शासक और शासित, अधिनायक और अधीनस्थ आदि के बड़े-छोटे के भेद के अनभ्यस्त लिच्छवियों का प्रारम्भ में बौद्ध संघ की ओर अपेक्षाकृत अधिक झुकाव रहा हो। पर बौद्ध संघ में वज्जिपुत्तक संघ के नाम से एक पृथक् संघ की स्थापना से यह प्रकट होता है कि प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप बौद्धसंघ में उत्पन्न हुई अनुशासनहीनता

अथवा विश्रृंखलता को दूर करने के उद्देश्य से द्वितीय बौद्ध संगीति के समय संघ व्यवस्था के नियमों में वैयक्तिक अधिकारों के आधार पर कुछ परिवर्तन किये जाने लगे तो वज्जीवंशी 'वज्जि पुत्रक' नामक भिक्खु, जो कि लिच्छवी गणतन्त्र के अंगभूत प्रजातान्त्रिक वज्जीसंघ के सदस्य रह चुके थे, बौद्ध भिक्षु-संघ से पृथक् हो गये। जब वज्जिपुत्रक भिक्खु ने देखा कि बौद्ध-भिक्षुसंघ पर व्यक्तिनिष्ठ अधिनायकवाद छा रहा है, भिक्षुओं की स्वतन्त्रता पर वैयक्तिक आधिपत्य छा जाना चाहता है तो उन्होंने पृथकतः, अपने विचारों से सहमत भिक्षुओं का, एक संघ स्थापित किया और उस संघ का नाम वज्जिपुत्रक संघ रखा।

इस प्रकार इतिहास साक्षी है कि प्रजातान्त्रिक प्रणाली के आधार पर निर्धारित की गई संघीय व्यवस्था के कारण बौद्ध भिक्षुसंघ बुद्ध से थोड़े समय पश्चात् ही विश्रृंखल होने लगा। विदेशी कुषाणवंशी सम्राट् कनिष्क (वीर नि० की सातवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल) के समय तक विघटित होते होते अनेक खण्डों में विभक्त होगया और कालान्तर में तो वह आर्यधरा से प्रायः विलुप्त ही हो गया। निस्संदेह, विदेशों में बौद्धधर्म का असाधारण प्रचार और विस्तार हुआ पर सुयोग्य एवं सांकुश एकतन्त्री संचालन प्रणाली के अभाव में परिवर्तन पर परिवर्तन होते रहने के कारण उसकी मौलिकता स्थिर नहीं रह पाई।

एकतन्त्री व्यवस्था-प्रणाली में भी अधिनायक के मनोनयन के समय यदि समुचित सतर्कता, जागरूकता न वर्ती जाय और उस पर सुयोग्य एवं सजग अंकुश न रखा जाय तो उसके बड़े भयंकर दुष्परिणाम हो सकते हैं। इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं कि सर्वाधिक सुयोग्य व्यक्ति के स्थान पर किसी अयोग्य व्यक्ति को किसी धर्म संघ, राज्य अथवा राष्ट्र का सर्व सत्ता सम्पन्न अधिनायक बना दिये जाने की स्थिति में उस राज्य, राष्ट्र अथवा धर्म संघ को कितनी बड़ी-बड़ी क्षतियां उठानी पड़ी हैं। जहां तक एकतन्त्री राज्य सत्ता का प्रश्न है, उसमें इस प्रकार के दोषों और दुष्परिणामों की संभावना दो कारणों से अधिक रहती है। प्रथम कारण तो यह रहा है कि एक राजा की मृत्यु के पश्चात् वंश परम्परागत प्रथा के अनुसार उसके पुत्र को, चाहे वह अयोग्य ही क्यों न हो राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त कर उसे राज्य का सर्व सत्ता सम्पन्न निरंकुश अधिनायक बना दिया जाना। दूसरा कारण रहा है विदेशी आततायियों अथवा आक्रान्ताओं द्वारा राज्यसत्ता पर बलपूर्वक अपना आधिपत्य स्थापित कर लेना। ये दोनों ही स्थितियां राज्य, राष्ट्र और जन साधारण के लिये बड़ी दुःखद, विनाशकारी एवं भयावह होती हैं। पहली स्थिति में अधिनायक शास्ता की अकर्मण्यता के कारण शासन में दौर्बल्य प्रजा में निराशा एवं अविश्वास घर करने लगता है, अवांछनीय तत्त्व उभर कर सक्रिय हो उठते हैं, जनहित, उत्पादन, अभिवृद्धि, शक्ति संचय आदि के आवश्यक कार्य और राज्य की आय के स्रोत अवरुद्ध हो जाते हैं। दूसरे प्रकार की स्थिति में विदेशी शासन का मुख्य उद्देश्य येन केन प्रकारेण धन संचय करना अपने शासन को चिरस्थायी बनाने के लिये अपनी

सेना में, राज्य के प्रमुख पदों पर और युद्ध की दृष्टि से देश के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अपने कुटुम्ब के, अपनी जाति के और अपने देश के लोगों को अधिकाधिक संख्या में नियुक्त करना, जमाना और शासित देश की सैनिक जातियों एवं शक्तियों को नष्ट करना मात्र रहता है। विदेशी शासक के अन्तर्मन में जन सेवा, प्रजा-वत्सलता और राष्ट्र को सशक्त, सुसम्पन्न, समृद्ध-समुन्नत बनाने की भावना वस्तुतः नाममात्र को भी नहीं रहती।

पर जहाँ तक धर्म संघ की व्यवस्था का प्रश्न है, उसकी सांकुश एकतन्त्री शासन प्रणाली अर्थात् मिश्र शासन प्रणाली में चैत्यवास-संस्थापन जैसे अत्यल्प अपवादों को छोड़ कर इस प्रकार के दोषों के उत्पन्न होने की संभावनाएँ नहीं रहती हैं। किसी राज्य अथवा राष्ट्र की एकतन्त्रीय शासन प्रणाली को सदोष एवं अनिष्टकर बना-देने वाले मुख्यतया जो दो कारण बताये गये हैं, उसी राजवंश के व्यक्ति को सिंहासनारूढ़ करना और विदेशी आक्रान्ता द्वारा बलात् राज्यसत्ता को हथिया लेना, इन दोनों कारणों की एक धर्म संघ के संचालन की एकतन्त्री व्यवस्था प्रणाली में तो कल्पना तक नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में एकतन्त्रीय शासन प्रणाली के इन दो विनाशकारी मूल दोषों से धर्म-संघ सर्वथा अछूता रह सकता है। इनके अतिरिक्त धर्मसंघ की एक- तन्त्रीय व्यवस्था प्रणाली में धर्मसंघ को अधःपतन की ओर ले जाने वाले साधारणतः जिन दोषों की संभावना की जा सकती है, उनमें प्रथम है आचार्य पर संघ का अंकुश न रखना अथवा किसी अयोग्य व्यक्ति को आचार्य पद पर अधिष्ठित कर देना। आचार्य में जिन जिन गुणों का होना आवश्यक है उन गुणों से विपरीत जितने भी अवगुण हैं उनमें से प्रत्येक अवगुण किसी भी श्रमण को आचार्य पद के लिये अयोग्य ठहराने में पर्याप्त माना जाता रहा है। जो उत्सूत्र प्ररूपक, अदूरदर्शी, शिथिलाचारी, स्वार्थी, निष्प्रभ, निस्तेज, अशक्त हो, अंग-वाचना, प्रवचन, धर्म प्रभावना, संघ-संचालन, संघोत्कर्ष में अकुशल, हो उग्र एवं अस्थिर स्वभाव वाला और अवशेन्द्रिय हो, मुख्यतः वह श्रमण आचार्य पद के लिये अयोग्य माना गया है।

वस्तुतः सर्वाधिक सुयोग्य एवं आचार्य पद के लिये आवश्यक सर्वगुणों से सम्पन्न श्रमण को ही आचार्य पद पर नियुक्त किये जाने का विधान रखा गया है।

किन-किन प्रकार के विशिष्ट गुणों से सम्पन्न श्रमण को आचार्य पद पर मनोनीत किया जाता था और इस कार्य में किस प्रकार पूर्ण सतर्कता और जागरूकता से काम लिया जाता था, यह – "निर्वाणोत्तर काल में संघ व्यवस्था का स्वरूप इस शीर्षक के नीचे आगे दिये जा रहे आचार्य के गुणों एवं संपदाओं के विवरण से भली भांति प्रकट हो जाता है।

प्रायः सभी आचार्य अपने जीवन काल में ही सतत प्रयत्नशील रहते थे कि ऐसे योग्यतम व्यक्ति को अपने उत्तराधिकारी के रूप में शिक्षित-दीक्षित किया जाय, जिसके सुदृढ़ नेतृत्व में संघ उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता रहे, विश्वकल्याणकारी अहिंसा-धर्म का उद्योत दिग्दिगन्त में व्याप्त हो जाय, अनेक

मानव विश्वबन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत होकर स्व-पर के कल्याण में निरत रहे। इस तथ्य का साक्षी है आचार्य प्रभव द्वारा अपने उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में अर्द्धरात्रि के समय चिन्तन, यज्ञानुष्ठान में निरत ब्राह्मण, सद्गृहस्थ सय्यंभव का चयन, प्रतिवोधन, दीक्षण, अध्यापन और आचार्य पद पर मनोनयन।[1] आचार्य प्रभव के आचार्य काल में श्रमण संघ बड़ा विशाल था। उनके सुविशाल शिष्य समूह में अनेक श्रमण द्वादशांगी के पारंगत और चतुर्दश पूर्वधर होंगे पर तात्कालिक परिस्थितियों में अपने पश्चात् आचार्यपद के लिये जिन प्रकृष्ट गुणों की आवश्यकता थी, वे गुण आचार्य प्रभव ने गृहस्थ सय्यंभव ब्राह्मण में पाये और उन्होंने आचार्य पद के लिये अपने दीक्षावृद्ध, ज्ञानवृद्ध और विद्वान् शिष्यों में से किसी को न चुनकर उनसे पश्चाद् दीक्षित आर्य सय्यंभव को चुना।

भगवान् महावीर द्वारा अपने धर्मसंघ के संचालन के लिये जो प्रणाली निर्धारित की गई वह एक ऐसी सुन्दर, सुनियोजित, सहज सुव्यवहार्य, समीचीन, श्रेयस्कर एवं स्वस्थ सांकुश एकतन्त्री परम्परा थी, जिसमें संघ के सर्वोपरि अधिनायक आचार्य के प्रति अगाध श्रद्धा और पूर्ण विश्वास के उपरान्त भी उसमें पूर्वाग्रहविहीन उन्मुक्त चिन्तन के लिये पूर्ण अवकाश था। विचार स्वातन्त्र्य के लिये द्वार उन्मुक्त थे। निर्णय से पूर्व उस कार्य के औचित्यानौचित्य के सम्बन्ध में अपना-अपना अभिमत प्रकट करने का संघ को पूर्ण अधिकार था।

यदि संक्षेप में कहा जाय तो वह संघ के अंकुश सहित एक ऐसी एकतन्त्रीय शासन प्रणाली थी, जिसमें एकान्तिकता अथवा निरंकुशता नाम मात्र को भी नहीं थी। सब के विचारों के प्रति सम्मान और समादर रखा जाता था। सामष्टिक रूप से विवेक की कसौटी पर कसे जाने के अनन्तर ही पेचीदा प्रश्नों पर आचार्य द्वारा निर्णय लिया जाता था।

स्थविर आदि विशिष्ट श्रमणों के सुदूरस्थ प्रदेशों में विचरण करने की दशा में अथवा किसी प्रकार की अन्य अपरिहार्य परिस्थितियों में जहां समष्टि का अभिमत लिया जाना संभव नहीं होता उस स्थिति में यदि किसी आत्यन्तिक महत्त्व के प्रश्न पर आचार्य अपना निर्णय देते तो उनका निर्णय सर्वोपरि और सर्वमान्य होता था। तदनन्तर उपयुक्त अवसर उपस्थित होते ही सामूहिक रूप से उस पर पुनर्विचार करने की स्थिति में यदि उस निर्णय में परिवर्तन करना अनिवार्य समझा जाता तो निस्संकोच भाव से आचार्य की विद्यमानता में आचार्य द्वारा और आचार्य के दिवंगत हो जाने की दशा में श्रमण संघ द्वारा उस निर्णय में आवश्यक परिवर्तन भी कर दिया जाता था। किन्तु इस प्रकार की परिस्थितियां कादाचित्क ही होती थीं क्योंकि संघहित को सदा लक्ष्य में रखने वाले दूरदर्शी आचार्य प्रत्येक कार्य के औचित्यानौचित्य पर पूरी तरह विचार करने के पश्चात् ही निःस्वार्थ, निर्लेप एवं निर्मोह भाव से निर्णय लेते थे।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. ३१२-३१४

आचार्य अपने शिष्य वर्ग में से योग्य शिष्यों की अनेक प्रकार से परीक्षाएं लेकर मन ही मन सर्वतः सर्वाधिक सुयोग्य शिष्य को अपने उत्तराधिकारी के रूप में चुन कर उसे स्वार्जित समस्त ज्ञान की शिक्षा प्रदान करते और अन्त में अपनी आयु-समाप्ति से पूर्व ही समस्त संघ के समक्ष उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया करते थे। जहाँ इस प्रकार के उत्तराधिकारी नियुक्त करने जैसे आत्यन्तिक महत्व के प्रश्न पर श्रमणवर्ग एवं संघ में मतवैभिन्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती वहाँ पर आचार्य किस प्रकार अपने श्रमण समूह और संघ का पूर्णतः परितोष और समाधान करते थे, इसका एक बड़ा सुन्दर उदाहरण श्वेताम्बर परम्परा के वाङ्मय में उपलब्ध होता है।

घटना वीर नि० सं० ५९७ की है। अनुयोगों के पृथक्कर्त्ता महान् आचार्य रक्षित अपने अनेक शिष्यों के साथ दशपुर नगर के बाहर अपने दीक्षास्थल इक्षुगृह में ठहरे हुए थे। चातुर्मासावधि में अपनी आयु का अन्तिम समय समीप समझ कर अपने शिष्य-समूह एवं संघ के समक्ष अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। आर्य रक्षित अपने अनेक सुयोग्य शिष्यों में से केवल दुर्बलिका पुष्यमित्र को ही अपने उत्तराधिकारी आचार्य पद के लिये योग्य समझते थे पर उनके शिष्य समूह में से कतिपय मुनि और संघ के कुछ प्रमुख व्यक्ति फल्गुरक्षित को तथा कुछ मुनि और संघ के प्रमुख व्यक्ति गोष्ठामाहिल को आचार्य पद का उत्तराधिकारी बनाये जाने के पक्ष में थे। उत्तराधिकारी की नियुक्ति के प्रश्न पर अपने शिष्यसमूह और संघ में मतभेद देखकर भी आर्य रक्षित संघहित को सर्वोपरि समझ अपने महान् पावन उत्तरदायित्व के निर्वहन में कृतसंकल्प रहे। प्रश्न वस्तुतः बड़ा जटिल था। आर्य फल्गुरक्षित बड़े ही प्रतिभाशाली विद्वान् श्रमण और आचार्य रक्षित के छोटे सहोदर थे। उन्होंने किशोरावस्था में अपने ज्येष्ठ भ्राता रक्षित के केवल एक इंगित मात्र पर श्रामण्य अंगीकार कर संसार के समक्ष महान् त्याग और भ्रातृस्नेह का अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया था। बहुमत फल्गुरक्षित के पक्ष में था। गोष्ठामाहिल भी बड़े तार्किक और विद्वान् मुनि थे। उत्तराधिकार के इस प्रश्न के उपस्थित होने से कुछ समय पूर्व ही संघ की प्रार्थना पर उन्होंने आर्य रक्षित का आदेश पा मथुरा में दुर्दान्त अक्रिया-वादियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर धर्म की महती प्रभावना करने के साथ साथ बड़ा यश अर्जित किया। अतः गोष्ठामाहिल का पक्ष भी पर्याप्त रूपेण सबल था। परन्तु आचार्य रक्षित अपने सहोदर फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल की अपेक्षा दुर्बलिकापुष्यमित्र को आचार्य पद पर नियुक्त किये जाने की दशा में संघ का सर्वतोमुखी विकास, हित और उज्ज्वल भविष्य देख रहे थे।

अपने सम्मुख उपस्थित समस्या का वे इस प्रकार का हल निकालना चाहते थे, जिससे संघ के भावी उत्कर्ष एवं उज्ज्वल भविष्य में किंचित्मात्र भी कोर-कसर न रहे और सभी पक्षों का पूर्ण संतोषप्रद समाधान हो जाय। आचार्य रक्षित ने बड़ी ही सूझ-बूझ से काम किया। उन्होंने उपस्थित शिष्य समूह और

संघ-मुख्यों को सम्वोधित करते हुए पूछा—"यदि हम लोगों के सामने तीन घड़े रखे जायँ जो क्रमशः उड़द, तेल और घृत से भरे हों। उन तीनों को क्रमशः पृथक्-पृथक् तीन रिक्त घड़ों में उंडेल दिये जाने पर उनमें उड़द, तेल और घृत कितनी-कितनी मात्रा में अवशिष्ट रहेंगे?"

सभी ने एक स्वर में उत्तर दिया – उड़द के घड़े में एक भी दाना अवशिष्ट न रहेगा। तेल के घड़े में कुछ तेल और घी के घड़े में तेल की अपेक्षा अधिक मात्रा में घृत अवशिष्ट रह जायगा।

आचार्य रक्षित ने निर्णायक स्वर में कहा – "उड़द के घड़े की तरह मैं अपना समस्त ज्ञान (द्वादशांगी एवं संघ संचालन का ज्ञान) दुर्बलिका पुष्यमित्र में उंडेल चुका हूँ। मेरे शेष सव शिष्यों की स्थिति घृत-घट और तेल-घट तुल्य है। जिस प्रकार तेलपूर्ण एवं घृतपूर्ण घड़े को एक बार अन्य घड़े में उंडेल दिये जाने के अनन्तर भी न्यूनाधिक मात्रा में तेल और घृत अवशिष्ट रह ही जाता है, उसी प्रकार दुर्वलिका पुष्यमित्र को छोड़ कर शेष शिष्य मेरे सम्पूर्ण ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सके हैं।"

महान् धर्म प्रभावक एवं अनन्य उपकारी धर्माचार्य के संघहितैकनिष्ठ आन्तरिक उद्गारों को सुनते ही तत्क्षण समस्त संघ का सम्यक्रूपेण समाधान हो गया, सभो मतभेद समाप्त हो गये, सभी पक्षों को पूर्ण संतोष हुआ और तत्काल श्रमण समूह और समस्त संघ ने सर्व सम्मति से दुर्वलिका पुष्यमित्र को आर्य रक्षित के उत्तराधिकारी आचार्य के रूप में स्वीकार किया। भविष्य ने भी सिद्ध कर दिया कि आचार्य रक्षित का निर्णय वस्तुतः वड़ा दूरदर्शिता पूर्ण, सर्वथा उपयुक्त, समीचीन एवं भगवान् महावीर के धर्मसंघ की भावी संकट से रक्षा करने वाला था। आचार्य रक्षित के स्वर्ग गमन के कुछ ही समय पश्चात् मुनि गोष्ठा माहिल जव उत्सूत्र प्ररूपक सातवां निह्नव वना और आचार्य दुर्वलिका पुष्यमित्र ने आर्य रक्षित द्वारा प्रदत्त दिव्य आध्यात्मिक शक्ति के वल पर गोष्ठा माहिल जैसे शास्त्रार्थ कुशल दुर्जेय तार्किक को समस्त संघ के समक्ष हतप्रभ कर प्रभु महावीर के सिद्धान्तों एवं संघ के प्रति जन-मानस में समादर की अभिवृद्धि की[1] तो धर्म संघ के प्रत्येक सदस्य के मुख से यही उद्गार निकले – "आर्य रक्षित वस्तुतः महान् भविष्य-द्रष्टा थे। उनका निर्णय अतीव अद्भुत, सर्वथा उपयुक्त और वड़ा दूरदर्शितापूर्ण था, जो उन्होंने सर्वतः सक्षम-समर्थ दुर्वलिका पुष्यमित्र को अपना उत्तराधिकारी वनाया। यदि हम लोगों को प्रसन्न रखने के लिये संघ-हित की उपेक्षा कर गोष्ठामाहिल को आचार्य पद का उत्तराधिकारी घोषित कर देते तो प्रभु के विश्व कल्याणकारी धर्म संघ का कितना वड़ा अहित होता। कोटि-कोटि प्रणाम हैं उन दिवंगत महान् दूरदर्शी आचार्य को।"

इस प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं से यह भली-भांति प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर ने अपने धर्म संघ के संचालन के लिये जो, संघ के अंकुश

---

[1] प्रस्तुत, ग्रन्थ, पृ० ५९८–६०२

सहित एकतन्त्रीय शासन प्रणाली निर्धारित की, उसमें इस प्रकार की व्यवस्थाएँ की गई थीं कि उन व्यवस्थाओं को कार्यान्वित करते रहने पर वह सदा निर्दोष और पूर्ण स्वस्थ परम्परा बनी रहे। उस व्यवस्था में संघ के संरक्षण, उत्कर्ष आदि के लिये पूर्णतः उत्तरदायी एवं सांकुश सर्व सत्ता सम्पन्न जो आचार्य पद रखा, उस पद पर नियुक्ति का आधार निर्वाचन के स्थान पर मनोनयन रखा गया। संघ संचालन की इस प्रकार की एकतन्त्री प्रणाली में कभी किसी प्रकार का दोष आने की संभावना तक न रहे, इस उद्देश्य से उसी श्रमण को आचार्य पद पर मनोनीत अथवा अधिष्ठित करने का कड़ा विधान किया गया, जिसमें निम्न-लिखित योग्यताएं हों :-

जो स्वयं पूर्ण आचारवान्, दूसरों से विशुद्ध आचार का परिपालन करवाने वाला, संघ में पूर्ण अनुशासन रखने की क्षमता वाला, श्रमण समूह को तलस्पर्शी तत्त्वज्ञान एवं आगम वाचना देने में सक्षय, साधक वर्ग को आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर करते रहने की असाधारण योग्यता वाला, जन्मजात मेधावी, सर्वातिशायी ओज-तेज-प्रतिभा-प्रभावसम्पन्न व्यक्तित्व का धनी, धीर-वीर-गम्भीर, संस्कार सम्पन्न, पुण्यात्मा, आत्मजयी, निष्कलंक जाति-कुल-स्वभावसम्पन्न एवं निश्छल प्रकृति का हो।

जैसा कि आर्य प्रभव एवं आर्य रक्षित के उपरिलिखित उल्लेखों से स्पष्ट है वीर निर्वाण के पश्चात् समय-समय पर आचार्यों ने और चतुर्विध संघ ने किसी भी श्रमण को आचार्य पद पर अधिष्ठित अथवा मनोनीत करते समय अपने गुरुतर उत्तरदायित्व का निर्वहन करते हुए उपरिलिखित योग्यताओं से सम्पन्न सर्वाधिक योग्य श्रमण को ही आचार्य पद पर अधिष्ठित किया। मतवैभिन्य की स्थिति में अथवा अन्य आत्यन्तिक महत्व के अवसरों पर आत्मार्थी आचार्यों ने समस्त संघ का विश्वास संपादन कर अन्तिम निर्णय वही दिया, जो उन्हें संघ एवं समष्टि के लिये हितकर प्रतीत हुआ। जैसा कि फल्गुरक्षित को उत्तरा-धिकारी घोषित किये जाने के प्रश्न से प्रकट है, उन्हें उनके पुनीत कर्त्तव्य के पावन उत्तरदायित्व से न लघुसहोदर का सम्बन्ध विचलित कर सका और न अन्य निकट से निकटतम सम्बन्ध ही। उन निर्लेप-निष्पक्ष महामना महान् आचार्यों के सुयोग्य नेतृत्व, दूरदर्शितापूर्ण समुचित निर्णयों, उदात्त चारित्र और सही मार्गदर्शन का ही प्रतिफल है कि धर्मसंघ की सांकुश एकतंत्र शासन प्रणाली में विनाशकारी दोष प्रवेश न पा सके और आज सहस्राब्दियां बीत जाने पर भी भगवान् महावीर का धर्मसंघ एक प्रतिष्ठित धर्मसंघ के रूप में अक्षुण्ण और अजस्र धारा के प्रवाह की तरह चला आ रहा है।

जब तक आचार्यों ने संघ के प्रति उत्तरदायी रहते हुए संघहित के अपने महान् उत्तरदायित्व का सच्चाई के साथ निष्पक्ष और निर्लेप रह कर निर्वहन किया तब तक संघ अभिवृद्ध एवं समुन्नत होकर उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता रहा।

कालान्तर में ज्यों-ज्यों काल-प्रभाव से आचार्यों के अपने पवित्र उत्तरदायित्वों का न्याय एवं सच्चाई पूर्वक निर्वहन करने में शैथिल्य आने लगा, पुनीत कर्त्तव्य की भावना शनैः शनैः विलुप्त होने लगी, धर्म संघ के हितार्थ दिये गये अधिकारों का उपयोग केवल अपनी महानता और स्वामित्व को प्रदर्शित करने मात्र के लिये किया जाने लगा, त्यों-त्यों अनुशासन शिथिल तथा धर्म संघ विकीर्ण एवं क्षीण होता गया। पर सौभाग्य से समय-समय पर अनेक महान् विभूतियां उन दुर्दिनों में उभर कर आगे आईं। उन्होंने घोरातिघोर कष्ट सह कर भी अनेक बार क्रियोद्धार किये। उन महान् आत्माओं के त्याग का ही फल है कि अनेक परिवर्तनों के उपरान्त भी आज भगवान् महावीर का धर्म संघ अपने मूल स्वरूप को अपरिवर्तित एवं अक्षुण्ण बनाये हुए है।

उत्तरवर्ती काल में श्रमण संघ के चतुर्दिक प्रसार, सुदूरस्थ प्रदेशों में धर्मप्रचार की दृष्टि से गये हुए श्रमणों द्वारा उन क्षेत्रों में धर्मोद्योत की प्रचुर संभावनाओं के कारण वहीं विहार करते रहने के कारण अथवा कालान्तर में छोटी-बड़ी कतिपय मान्यताओं का भेद उत्पन्न हो जाने व समय प्रभाव से अपना पृथक्तः एक गण के रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने की भावना के बलवती बन जाने के फलस्वरूप श्रमण संघ में क्रमशः अनेक संघ, गण, गच्छ, शाखा, उपशाखा, कुल तथा उपकुल आदि का अस्तित्व बढ़ने लगा और मुख्यतः वे विभिन्न संघ, गण, गच्छ आदि अपने अपने स्वतन्त्र आचार्य के नेतृत्व में धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। इस प्रकार भगवान् महावीर के धर्म संघ में अनेक संघों, गणों तथा गच्छों के प्रादुर्भाव के कारण एक ही समय में अनेक आचार्यों की प्रथा का प्रचलन तो हुआ पर उन सभी धर्म संघों, गणों अथवा गच्छों के संचालन की परम्परागत सांकुश एकतन्त्री शासन-प्रणाली यथावत् रही। उत्तरोत्तर अंकुश में शैथिल्य के अतिरिक्त उसके मूल स्वरूप में विशेष परिवर्तन नहीं आया। आज भी जैन धर्म के सभी श्रमण संघों एवं सम्प्रदायों की संचालन व्यवस्था अपने उसी पुरातन स्वरूप सांकुश एकतन्त्री व्यवस्था-प्रणाली को लिये हुए है।

निर्वाणोत्तर काल में संघ व्यवस्था का स्वरूप :– यह तो एक निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान् महावीर का धर्म-संघ भारत के विभिन्न धर्म संघों में सदा से प्रमुख, सुविशाल तथा बहुजन सम्मत रहा है। जैन वाङ्मय में निर्वाण-पूर्ववर्ती एवं निर्वाणोत्तरकाल के अनेक ऐसे अन्य धर्मसंघों का उल्लेख उपलब्ध होता है जो विशाल भी थे और बहुजन सम्मत भी। पर आज उन धर्म संघों में से एक दो को छोड़कर शेष का नाम के अतिरिक्त कोई अवशेष तक भी अवशिष्ट नहीं रहा है। इसके विपरीत भगवान् महावीर का धर्म संघ जिस प्रकार प्रभु महावीर के निर्वाण से पूर्व एक विशाल, बहुजन सम्मत एवं सुप्रतिष्ठित धर्म संघ के रूप में समीचीन रूप से चलता रहा, उसी प्रकार निर्वाणोत्तर काल में भी चलता रहा। निर्वाणोत्तर काल के १००० वर्ष के इतिहास का विहंगमावलोकन करने पर तो यह विश्वास करने के लिये अनेक

प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि जैन धर्म सुदूरवर्ती प्रदेशों तथा देशों में फैला, फला-फूला और एक लम्बे समय तक उत्तरोत्तर अभिवृद्धि को प्राप्त होता रहा। जहां अन्य अनेक बड़े-बड़े धर्म-संघ विषम परिस्थितियों में विश्रृंखल एवं संक्रान्ति-काल की चपेट से चकनाचूर हो धरातल से तिरोहित हो गये, वहां जैन-धर्म प्रभु महावीर द्वारा दी गई अहिंसा, अस्तेय, अचौर्य, अब्रह्मनिवृत्ति और अपरिग्रह रूपी अमर, अनमोल, महान् सिद्धान्तों की धरोहर को सुरक्षित रखे हुए आज भी अनवरुद्ध गति से एक अजस्र धारामयी सौख्य-सरिता के समान चल रहा है। काल प्रभाव से यह धारा पूर्वापेक्षया परिक्षीण तो अवश्य हुई है पर उसके शिवसौख्य प्रदायी मूल गुण में किसी प्रकार की किंचित्मात्र भी न्यूनता नहीं आ पाई है।

आजीवक प्रभृति अनेक विशाल धर्म-संघ विलुप्ति की घोर अन्धकारपूर्ण गुफा में विलीन होगये। आज उन धर्म संघों का अनुयायी तो दूर, चिन्ह तक कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन धर्म पर भी अनेक वार विपत्ति के वादल मंडराये, द्वादशवार्षिकी दुष्कालियों, राजनयिक उथल-पुथल, वर्ग विद्वेष, धर्मांधता-जन्य गृह कलह आदि संक्रान्तिकाल के अनेक दौर आये और चले गये। अनेक धर्म संघों का सर्वनाश करने वाले वे विप्लव भी जैन धर्म को समाप्त नहीं कर सके। अतीत की उन अति विकट संकटापन्न घड़ियों में भी जैन धर्म किन कारणों से अपने अस्तित्व को वनाये रखने में सफल हुआ? इस प्रश्न की गहराई में उतरने और खोज करने पर इसके कतिपय प्रवल कारण उभर कर सामने आते हैं। सवसे पहला और प्रवल कारण तो यह था कि सर्वज्ञ प्रणीत धर्म होने के फलस्वरूप इस धर्म संघ का संविधान सभी दृष्टियों से सुगठित और सर्वांग-पूर्ण था। अनुशासन, संगठन की स्थिरता, सुव्यवस्था, कुशलता पूर्वक संघ के संचालन की विधा आदि संघ के उस संविधान की अपनी अप्रतिम विशेषताएं थीं। दूसरा मुख्य कारण था इस धर्म संघ का विश्वबन्धुत्व का महान् सिद्धान्त, जिसमें प्राणिमात्र के कल्याण की सच्ची भावना सन्निहित थी। इन सव से वढ़ कर इस धर्म संघ की घोरातिघोर संकटों में भी रक्षा करने वाला था इस धर्मसंघ के कर्णधार महान् आचार्यों का त्याग-तपोपूत अपरिमेय आत्मवल। इस प्रकार ये ३ प्रमुख कारण थे, जिनके वल पर सघन काली मेघ घटाओं के विच्छिन्न हो जाने पर जिस प्रकार सूर्य पुनः अपनी प्रखर किरणों के प्रचण्ड तेज से जगती-तल को प्रकाशित करने लगता है, ठीक उसी प्रकार जैन धर्म-संघ भी समय-समय पर आये संकटों से उभर कर अपने अलौकिक ज्ञानालोक से जन-जन के मन-मन्दिर और मुक्ति पथ को प्रकाशित करता रहा।

जैन वाङ्मय के कतिपय अति प्राचीन प्रामाणिक उल्लेखों और पुरातन काल से चली आ रही पारम्परिक मान्यता के आधार पर यह अनुमान करने के अनेक कारण विद्यमान हैं कि श्रुतकेवली आचार्य भद्रवाहु के समय तक जैन धर्म-संघ का एक सर्वांगपूर्ण एवं अतिविशाल संविधान विद्यमान था। उस संविधान में संभवतः पंच महाव्रतधारी साधु-साध्वी, अणुव्रतधारी श्रावक-श्राविका

वर्ग के लिये ही नहीं अपितु संघ के प्रति निष्ठा-प्रेम रखने वाले साधारण से साधारण सदस्य के कर्त्तव्यों एवं कार्यकलापों के लिये मार्ग दर्शक विधिविधान था। उसमें निर्दिष्ट विधि के अनुसार इस धर्म-संघ का प्रत्येक सदस्य अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अपने दायित्वों का निष्ठापूर्वक निर्वहन करता था।

वीर नि० सं० १६० के आस-पास पाटलिपुत्र में हुई प्रथम आगम-वाचना के समय दृष्टिवाद की रक्षार्थ संघ द्वारा साधुओं के एक संघाटक को भद्रबाहु की सेवा में नेपाल भेज कर उन्हें मेधावी साधुओं को चौदह पूर्वों की वाचना देने की प्रार्थना करना, भद्रबाहु द्वारा प्रथमतः संघ की प्रार्थना को अस्वीकार करना और अन्ततोगत्वा बारह प्रकार के संभोगविच्छेद की संघाज्ञा के समक्ष झुक कर स्थूल भद्र आदि को पूर्वज्ञान की वाचना देने के उल्लेख[1] से भी यह अनुमान किया जाता है कि पूर्वकाल में जैन संघ का एक सर्वांग सम्पन्न संविधान था, जिसमें श्रमण संघ की ही तरह साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका इन चारों वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले एक जैन संघ के कर्त्तव्यों एवं दायित्वों के सम्बन्ध में स्पष्ट एवं विशद प्रावधान थे। चतुर्विध तीर्थ का प्रतिनिधित्व करने वाला इस प्रकार का संघ विशिष्ट प्रकार के संकट के समय विचार-विमर्श के पश्चात् किसी विकट समस्या के समाधान के लिये निर्णय लेता था। यदि इस प्रकार की व्यवस्था संविधान में नहीं होती, तो न तो संघ ही एक आचार्य को इस रूप में आज्ञा देने का अधिकारी हो सकता था और न आचार्य भद्रबाहु ही उस संघाज्ञा को मानने के लिये बाध्य होते। वह संघाज्ञा केवल श्रमणवर्ग की ही हो, यह भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि भद्रबाहु आचार्य होने के नाते समस्त श्रमण वर्ग के शास्ता थे और श्रमण समूह उनका शासित वर्ग। शासित वर्ग शास्ता को आज्ञा दे, यह युक्तिसंगत नहीं लगता। विद्वान् इतिहासज्ञ इस विषय में गवेषणा करेंगे ऐसी अपेक्षा है।

पहली आगम-वाचना के समय के उपरिवर्णित उल्लेख के अतिरिक्त आर्य वज्र की माता द्वारा अपने पुत्र वज्र को पुनः उसे लौटाने के लिये राज्य के न्यायालय में की गई प्रार्थना, आर्य रक्षित का उत्तराधिकारी घोषित करने विषयक उलझन जैसे अनेक प्रसंगों पर संघमुख्यों के हस्तक्षेप, विचार विनिमय, सहयोग आदि के उदाहरण भी जैन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। इनसे यही प्रकट होता है कि संघमुख्यों के भी परम्परा से कुछ कर्त्तव्य, कतिपय दायित्व रहे हैं और उनका उल्लेख कहीं न कहीं था, जिसे आज की भाषा में संविधान की संज्ञा दी जा सकती है।

श्रुत केवली आचार्य भद्रबाहु ने दृष्टिवाद के नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से, श्रमण संघ के लिये आवश्यक विधि विधानों को निर्यूढ-उद्धृत कर, चुन चुन कर दशाश्रुत स्कन्ध, कल्प, व्यवहार इन तीन छेद सूत्रों तथा आचार-कल्प (निशीथ)

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३७७

इन आगमों का निर्माण किया[1] – यही एक सर्वसम्मत ऐतिहासिक घटना इस बात का विश्वास करने के लिये पर्याप्त एवं प्रबल प्रमाण है कि भगवान् महावीर के धर्म-संघ का प्राचीन काल में एक विशाल एवं अपने आप में सर्वतः परिपूर्ण संविधान था।

इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण समीचीन व्यवस्था के कारण भगवान् महावीर का धर्म-संघ तत्कालीन क्रमागत आचार्यों के नेतृत्व में सुसंगठित रूप से चलता रहा। समय समय पर अनेक प्रतिकूल परिस्थितियां आईं, आपत्कालीन स्थितियां भी उत्पन्न हुईं, इस धर्म-संघ पर अनेक वार विपत्तियों के घने काले वादल भी मंडराए पर दूरदर्शी अप्रतिम प्रतिभा-सम्पन्न, तपोधन आचार्यों के कुशल नेतृत्व में यह धर्म-संघ सुसंगठित रहने के कारण उन परीक्षा की घड़ियों में सदा उत्तीर्ण हुआ। उसने अपने अस्तित्व को ही नहीं अपितु अपनी प्रतिष्ठा को भी वनाये रखा।

इस धर्मसंघ की वह सर्वांगपूर्ण एवं छिद्रविहीन सुव्यवस्था किस प्रकार की थी? इस धर्मसंघ का संविधान क्रमवद्ध एवं पृथक् रूप से एकत्र ग्रथित था अथवा आज जिस प्रकार विविध छेद सूत्रों, भाष्यों एवं महाभाष्यों आदि में विकीर्ण रूप में दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार विभिन्न आगमों में निहित था? आज आगम साहित्य में मुख्यतः केवल श्रमण-श्रमणीवर्ग की दैनिकचर्या, दीक्षित होने के समय से लेकर प्राणोत्सर्ग-कालपर्यंत श्रमण-श्रमणियों के सभी उत्तर-दायित्वों, आवश्यक कर्त्तव्यों आचार-विचार, आहार-विहार-प्रायश्चित आदि के सम्वन्ध में विधान उपलब्ध होता है। श्रावकवर्ग के आचार-विचार के सम्वन्ध में तो कुछ स्थलों पर प्रत्यक्ष और कतिपय स्थलों पर अप्रत्यक्ष-रूप में थोड़ा वहुत उल्लेख विद्यमान है किन्तु धर्मसंघ के प्रति उनके दायित्वों, धर्मसंघ के अभ्युत्थान हेतु उनके कर्त्तव्यों आदि का क्रमिक एवं विस्तृत उल्लेख कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। तो वस्तुतः श्रावक श्राविका वर्ग के लिये भी इस धर्मसंघ के पूर्वकालवर्ती संविधान में विधिविधान, किसी प्रकार का नीती-निर्देश था अथवा नहीं? साधु-साध्वी वर्ग और श्रावक-श्राविकावर्ग के बीच का भी कोई वर्ग था अथवा नहीं? यदि था तो उसका स्वरूप क्या था और उस वर्ग के दायित्व क्या क्या थे? इन सब आत्यन्तिक महत्व के प्रश्नों के यत्किंचित् उत्तर तो आज हमें उपलब्ध जैन वाङ्मय में खोजने पर मिल जाते हैं पर उन्हें पूर्ण संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता। इस संवन्ध में गहन शोध के साथ-साथ शास्त्रीय आधार पर जैन संघ के संविधान के निर्माण की भी आवश्यकता है, जो सभी दृष्टियों से पूर्ण और स्पष्ट हो।

---

[1] (क) वन्दामि भद्दवाहुं, पाईणं चरिम सगलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासुकप्पे य ववहारे ॥१॥ [दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति]

(ख) तत्तोच्चिय णिज्जूढं, अणुग्गहट्ठाए संपयजतीणं।
तो सुत्तकारओ खलु, स भवति दसकप्प ववहारे ॥१॥ [पंचकल्प महाभाष्य]

(ग) तेण भगवता आयार पकप्प-दसा-कप्प-ववहारा
य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा [पंचकल्प चूर्णि, पत्र १]

छेद सूत्रों में निर्वाणोत्तर कालीन श्रमण संघ की व्यवस्था का विस्तृत रूप से विवरण उपलब्ध होता है। धर्म संघ का श्रमण-श्रमणीवर्ग सुदृढ संगठन एवं पूर्ण अनुशासन में रहते हुए सम्यग् रीति से ज्ञानाराधना तथा साधना का निरन्तर-उत्तरोत्तर विकास, धर्म का प्रचार-प्रसार-प्रभावना-अभ्युत्थान और निर्दोष रूप से अपने संयम एवं जीवन का निर्वाह कर सके, इस प्रकार धर्मसंघ की व्यवस्था सहज भाव से सम्यक् रूपेण चल सके, इस उद्देश्य से श्रमण संघ में निम्नलिखित पदों की व्यवस्था किये जाने के उल्लेख स्थानांग सूत्र की वृत्ति[1] एवं वृहत्कल्पसूत्र[2] में प्राप्त होते हैं :–

१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. प्रवर्तक, ४. स्थविर,
५. गणी, ६. गणधर, ७. गणावच्छेदक

श्रमण समूह के समान श्रमणी समूह भी आचार्य का ही आज्ञानुवर्ती रहता था। पर श्रमणीवर्ग की दैनन्दिन-व्यवस्था समीचीनतया चलती रहे, श्रमणों तथा श्रमणियों का अवांछनीय अतिसम्पर्क न हो और समलैंगिकता के कारण श्रमणियों की व्यवस्था भी श्रमणों की अपेक्षा श्रमणियां सुविधापूर्वक कर सकें, इस दृष्टि से श्रमणीवृन्द के लिये प्रवर्तिनी महत्तरा, स्थविरा और गणावच्छेदिका पदों की व्यवस्था निर्धारित की गई है। इन पदों पर अधिष्ठित किये जाने वाले महा श्रमणों की कायिक, वाचिक एवं आध्यात्मिक सम्पदाओं, योग्यताओं, उत्तर-दायित्वों, पुनीत कर्त्तव्यों और उनके द्वारा वहन किये जाने वाले गुरुतर कार्यभार आदि का यहां शास्त्रीय एवं पुरातन आधार पर संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्य :– भगवान्-महावीर के धर्मसंघ में आचार्य (धर्माचार्य) का पद अप्रतिम गौरव-गरिमापूर्ण और सर्वोपरि माना जाता है। जैन धर्म संघ के संगठन, संचालन, संरक्षण, संवर्द्धन, अनुशासन एवं सर्वतोमुखी विकास-अभ्युत्थान का सामूहिक एवं मुख्य उत्तरदायित्व आचार्य पर रहता है। समस्त धर्म संघ में उनका आदेश अन्तिम निर्णय के रूप में सर्वमान्य होता है। यही कारण है कि जिनवाणी का यथातथ्य रूप से निरूपण करने वाले आचार्य को तीर्थंकर के समान और सकल संघ का नेत्र वताया गया है।[3]

आवश्यक चूर्णिकार ने 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति वताते हुए लिखा

---

१ स्थानांग सूत्र, ४. ३., ३२३ (वृत्ति)

२ वृहत्कल्प सूत्र, ४. १२३

३ तित्थयर समो सूरि, सम्मं जो जिणमयं पयासेई।
आणं अइक्कमंतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो॥
स एव भवसत्ताणं, चक्खुभूए वियाहिए।
दंसेई जो जिणुदिट्ठं, अणुट्ठाणं जहाहियं॥
[गच्छाचार पयन्ना, अधि० १]

है :– "आङ् मर्यादाभिविध्योः चरिर्गत्यर्थे, मर्यादया चरन्तीत्याचार्याः" आचारेण वा चरन्तीत्याचार्याः ।"

आवश्यक मलय वृत्ति में भी 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार उल्लिखित है: – "चर गति – भक्षणयोः आङ् पूर्व आचर्य्यंते कार्यार्थिभिः सेव्यते इत्याचार्यः, ऋवर्ण व्यंजनाद्यणिति ।"[1]

भगवती सूत्र की वृत्ति में 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए इस पद की गरिमा पर निम्नलिखित रूप में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है :-

"आ मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्य्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशतया तदाकांक्षिभिरित्याचार्याः । उक्तं च –

सुत्तत्थविऊलक्खण-, जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य ।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ ।।त्ति।।

अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चधा । आ मर्यादया वाचारो विहार, आचारस्तत्र साधवः स्वयं करणात्प्रभाषणाप्रदर्शनाच्चेत्याचार्य्याः । आह च–

अथवा आ ईषदपरिपूर्ण इत्यर्थश्चाराहैरिका ये ते आचाराश्चारकल्पा इत्यर्थः युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया अतस्तेपु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतयेत्याचार्याः ।"[2]

सारांश यह है कि जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित आगमज्ञान को हृदयंगम कर उसे आत्मसात् करने की उत्कण्ठा वाले शिष्यों द्वारा जो विनयादिपूर्ण मर्यादापूर्वक सेवित हों, उनको आचार्य कहते हैं । कहा भी है – जो सूत्र और अर्थ–उभय के ज्ञाता हों, उत्कृष्ट कोटि के लक्षणों से युक्त हों, संघ के लिये मेढि अर्थात् आधार स्तम्भ के समान हों, जो अपने गण-गच्छ अथवा संघ को समस्त प्रकार के संतापों से पूर्णतः विमुक्त रखने में सक्षम हों तथा जो अपने शिष्यों को आगमों की गूढ़ार्थ सहित वाचना देते हों, उन्हें आचार्य कहते हैं ।

जो (आचार्य) पांच प्रकार के आचार अर्थात् ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार एवं वीर्याचार का स्वयं सम्यग् रूपेण पालन, प्रकाशन प्रसारण तथा उपदेश करते हैं और अपने अन्तेवासियों से भी उसी प्रकार का आचरण करवाते हैं, उन्हे आचार्य कहा जाता है ।

राज प्रश्नीय सूत्र में आचार्य के तीन भेद बताने के पश्चात् किस प्रकार के आचार्य के प्रति किस तरह का विनय व्यवहारादि प्रदर्शित करते हुए कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए-इसका निम्नलिखित शब्दों में सुन्दर उल्लेख किया है :-

"केसीकुमार समणे पदेसिं रायं एवं वयासि – जाणासि णं तुम्हे पएसी केवइयारिया पण्णत्ता ? हंता-जाणामि तओ आयरिया । जाणासि णं तुमं

---

[1] आवश्यक मलयवृत्ति, द्वितीय ।

[2] भगवती सूत्र, १. १. १. मंगलाचरण (वृत्ति)

पएसी तेसिं तिण्हं आयरियाणं कस्स का विणय पडिवत्ती पउंजियव्वा ? हंता जाणामि कलायरियस्स, सिप्पायरियस्य उवलेवणं वा समज्जणं करेज्जा, पुप्फाणि वा आणावेज्जा, मंडावेज्जा वा भोयवेज्जा वा विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलाएज्जा, पुत्ताणं पुत्तियं वावि विकप्पेज्जा। जत्थेव धम्मायारियं पासेज्जा तत्थेव वंदिज्जा, णमंसेज्जा, सक्कारेज्जा, सम्माणेज्जा, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा, फासुएसणिज्जेण असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेज्जा, पाडिहारिएणं पीठफलगसेज्जा संथारगेणं उवनिमंतिज्जा।[1]

अर्थात् – केशि कुमार श्रमण के प्रश्न के उत्तर में राजा प्रदेशी ने कहा कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य ये ३ प्रकार के आचार्य होते हैं। उनमें से कलाचार्य तथा शिल्पाचार्य ऋतुओं के अनुकूल उबटन, मज्जन, पुष्प, वस्त्राभूषणादि, भोजन और उनके जीवनयापन योग्य प्रीतिदान से सम्मानार्ह होते हैं। उनके पुत्र पुत्रियों को भी इसी प्रकार सम्मानित किया जाना चाहिए। इन दोनों प्रकार के आचार्यों की तुलना में धर्माचार्य अत्यधिक सम्मानार्ह होते हैं। जहां कहीं धर्माचार्य के दर्शन हो जायं वहीं उनको भक्ति भाव से वंदन-नमस्कार करना चाहिए, उनका हार्दिक सत्कार कर उनके प्रति सम्मान प्रकट करना चाहिए। हे भगवन्! आप महान् कल्याणकारी, सर्व मंगल स्वरूप-मंगल-प्रदायी और पूजनीय हैं – इस प्रकार के भक्ति पूर्ण आन्तरिक उद्गारों के साथ मधुर शब्दों से उनकी उपासना के पश्चात् उन्हें निर्दोष सात्विक अशनपानादि का दान देकर तख्ता (पीठ फलक) संस्तारक आदि आवश्यक वस्तुओं को ग्रहण करने के लिये निवेदन करना चाहिए।

सार रूप में 'आचार्य' शब्द के अर्थ का प्रतिपादन निम्नलिखित श्लोक में इस प्रकार किया गया है :–

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते॥

अर्थात् – जो श्रमणाग्रणी सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रों के अर्थ का आचयन – मननपूर्वक संचयन अथवा संग्रहण करते हैं, स्वयं विशुद्ध – निरतिचार आचार का सम्यक् रूपेण परिपालन करते हैं एवं अपने शिष्य-शिष्याओं तथा भव्य भक्तों को आचार में स्थापित करते हैं, इसी लिये उनको आचार्य कहा जाता है।

महानिशीथ, (अध्ययन ३) में आचार्य का लक्षण इस प्रकार बताया गया है :-

"अट्ठारस सीलंग-सहसाहिठियं तणू छत्तीसइविहिमायारं जह-ट्ठियमगिलाए महत्ति साणुसमयं आयरंतित्ति वत्तयंतित्ति आयरिया परमप्पणो य हियमायरंति आयरिया सव्वसत्तसीसगणाणं च हियमायरंति आयरिया। पाणपरिच्चाए वि उ

---

[1] राजप्रश्नीय सूत्र

पुढवादिणं समारंभं नायरंति नारभंति णाणुजाणन्ति आयरिया सुहुमावरद्धेवि ण कस्सई मणसावि पावमायरंतित्ति वा आयरिया।"[1]

फिर वहीं पर आचार्य के चार भेदों के निरूपण के साथ भावाचार्य को तीर्थंकर के समान समझने का निर्देश किया गया है। यथा–

"कस्याज्ञा नातिक्रमणीयेत्यधिकृत्य गोयमा! चउव्विहा आयरिया भवंति, तंजहा – नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया, तत्थणं जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा तेसिं संतियाणं णाइक्कमेज्जा।"[2]

अंगचूलिका में आचार्य के तीन भेद बताने के पश्चात् धर्माचार्यों को उनके गुण कर्मानुसार चार वर्गों में विभाजित किया गया है।

"तओ आयरिया पण्णत्ता। सिप्पायरिया, कलायरिया, धम्मायरिया। जे ते धम्मायरिया, परलोगहियट्ठाए निज्जरट्ठाए आराहेयव्वा। अण्णे कलायरिया, सिप्पायरियाए कइएहिं कित्तबुद्धिए आराहियव्वे।

तत्थेगे धम्मायरिया सोवायकरंडसमा। वद्धाइकथत्थप्पयगाहाइहिं जे सुद्धसभाए वखाणिंति ते सोवागकरंडसमा। वेसाकरंडसमा जो रीरी आहारण-सरिसजीहावक्खाणडंबरेणं अंतरं सुअसार-विरहियावि सुद्ध सभाए जणं विमोहिंति णेरविंति, अप्पाणं थुतंसि आलुच्च अणत्थे पाडिंति गोयम! गणहराणं उवमाए ते वेसाकरंडसमा। गाहावईकरंडसमा जे समं समुवसिय-सुगुरुहिंतो संपत्त अंगोवंगाइ सुत्तत्थेसु परिच्छिन्नयच्छेयगंथा स-समय-पर-समयणिच्छया परोवयार करणिक्कभल्लिच्छया। जणजोग विहीए अणुओगं करिंति ते गाहावईकरंडसमा। रायकरंडसमा–जे गणहरा चउदसपुव्विणो वा घडाओ घडसयं, पडाओ पडसयं इच्चाइं विहाइं सयसमणिया ते रायकरंडसमा।

गाहावई करंडसमाणे, रायकरंडसमाणे दो विए आयरिए तित्थयर समाणे।"[3]

दिगम्बर परम्परा के ख्यातनामा विद्वान् आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम के आदिमंगल पंचपरमेष्ठि-मंत्र के तीसरे पद की व्याख्या करते हुए 'धवला' में आचार्य शब्द की परिभाषा निम्नलिखित रूप में की है :–

"णमो आयरियाणं – पंचविधमाचारं चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः चतुर्दश-विद्यास्थानपारगः एकादशांगधरः आचारांगधरो वा तात्कालिकस्वसमयपर–समयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिः क्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः—आचार्यः।"

आचार्य शब्द की उपर्युक्त परिभाषा देने के पश्चात् आचार्य वीरसेन ने आचार्य के स्वरूप और उसके लिये आवश्यक अनुपम गुणों पर विशद प्रकाश डालने वाली निम्नलिखित तीन गाथाएं उद्धृत की हैं :–

---

[1] महानिशीथ, अ० ३ [2] महानिशीथ, अ० १ [3] अंग चूलिया

पवयणजलहि-जलोयर, पहायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो।
मेरुव्व णिप्पकंपो, सूरो पंचाणणो वज्जो ॥२६॥
देस-कुल – जाइ-सुद्धो, सोमंगो संग-भंग विम्मुक्को।
गयणव्व णिरुवलेवो, आइरियो एरिसो होई ॥३०॥
संगह-णुग्गह-कुसलो, सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती।
सारण-वारण-सोहण, किरियुज्जुत्तो हु आइरियो ॥३१[1]॥

आचार्यों का गुरुतम उपकार :- प्रस्तुत खण्ड में जिन आचार्यों का पावन इतिवृत्त प्रस्तुत किया जा रहा है, उनका संसार के प्राणिमात्र पर इतना गुरुतम उपकार है कि उनके द्वारा किये गये महान् उपकार के प्रति आभार प्रकट करने में न लाखों लेखनियां ही सक्षम हैं और न सहस्रों जिह्वाएं एवं संसार के समस्त शब्दकोश ही।

आज से लगभग २५३० वर्ष पूर्व निखिल विश्वैकवन्धु श्रमण भगवान् महावीर ने सम्पूर्ण संसार के जड़, चेतन, रूपी-अरूपी, चर-अचर जीवाजीवादि त्रैकाल्यवर्ती समस्त भावों का हस्तामलक के समान सकल एवं युगपद् साक्षात्कार कराने वाले केवलालोक की उपलब्धि के पश्चात् संसार-सागर के सेतु रूप धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया। लगभग ३० वर्ष तक प्रभु अपने अमोघ उपदेशामृत से प्राणिमात्र का कल्याण और भव्यों का उद्धार करते रहे।

प्रभु के निर्वाण पश्चात् की क्रमवद्ध आचार्य परम्परा में हुए त्यागी तपस्वी आचार्यों ने भगवान् महावीर की दिव्य-ज्ञान की ज्योति को अपने अपने आचार्य-काल में अनवरत अध्ययन,अध्यापन, प्रवचन-प्रख्यापन एवं गहन चिन्तन-मनन के स्नेह से सिंचित कर अक्षुण्ण-अखण्डित वनाये रखा। इसी कारण निर्युक्तिकार महान् नैमित्तिक आचार्य भद्रवाहु ने उन आचार्यों को निम्नलिखित शब्दों में उस दीपक की उपमा दी है, जो स्वयं प्रकाशित होते हुए औरों को भी प्रकाशित करता है और जिससे अन्य सैकड़ों-सहस्रों दीप प्रदीप्त किये जा सकते हैं :-

जह दीवादीवसयं पईप्पए, सो य दीप्पए दीवो।
दीव समा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति ॥[1]

वीर निर्वाण के पश्चात् हुए इन परम परोपकारी आचार्यों ने भगवान् महावीर की सकल-भूत-हितानुकम्पामयी वाणी को न केवल अक्षुण्ण वनाये रखा अपितु अपने अपने समय में उसे नगर-नगर डगर-डगर में जन-जन तक पहुँचा कर अगणित लोगों को सम्यक्त्व प्रदान कर प्राणिमात्र पर कितना वड़ा उपकार किया है, इसका अनुमान आचार्य हरिभद्र के निम्नलिखित पदों से लगाया जा सकता है :-

सयलमवि जीव लोए, तेण इह घोसिओ अमाघाओ।
इक्कं वि जो दुहत्तं, सत्तं वोहेइ जिण वयणे ॥६२॥

---

[1] आचारांग निर्युक्ति, गाथा ८

सम्मत्त दायगाणं, दुप्पडियारं भवेसु वहुएसु ।
सव्वगुण मिलियाहि वि, उवयारसहस्सकोडीहिं ।।९३।।

अर्थात्–जो सत्पुरुष, दुखार्त्त किसी एक भी जीव को प्रतिवोधित कर वीतराग वाणी में उसकी श्रद्धा उत्पन्न करता है तो ऐसा समझना चाहिए कि उस सत्पुरुष ने सम्पूर्ण जीव लोक में अमारि (अभय) की घोषणा करवा दी। क्योंकि वह सम्यक्त्वधारी जीव पूर्ण अहिंसक वनकर प्राणिमात्र को अभयदान देने वाला होता है।

सम्यक्त्व प्रदान करने वाले सत्पुरुष के इस महान् उपकार से वह जीव अनेक जन्मों तक करोडों प्रकार के उपकार कर के भी उऋण नहीं हो सकता।

दंसणभट्ठो भट्ठो न हु भट्ठो होइ चरणपब्भट्ठो ।
दंसणमणुपत्तस्स हु, परियडणं नत्थि संसारे ।।
दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसण भट्ठस्स नत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरण रहिआ, दंसण रहिआ न सिज्झंति ।।

इन आचार्यों ने प्रवचन को सुरक्षित रक्खा। प्रवचन के अभ्यास से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है :–

मेरुव्व णिप्पकंपं णट्ठट्ठमलं तिमूढ उम्मुक्कं ।
सम्मदंणमणुवममुप्पज्जइ पवयणब्भासा ।।

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र में आचार्य की विशेषताओं का विस्तार में वर्णन किया गया है। वहां आचार्य की आठ सम्पदायें वतलाई गई हैं, जो निम्नांकित हैं।[1]

१. आचार-सम्पदा
२. श्रुत-सम्पदा
३. शरीर-सम्पदा
४. वचन-सम्पदा
५. वाचना-सम्पदा
६. मति-सम्पदा
७. प्रयोग-सम्पदा तथा
८. संग्रह-सम्पदा

आचार-सम्पदा

आचार-प्रवणता आचार्य का मुख्य गुण है। आचार्य शब्द भी प्रायः इसी आधार पर निष्पन्न हुआ है। आचार-सम्पदा में इसी आचार पक्ष का विश्लेषण है, जिसके चार भेद कहे गये हैं :–

१. **संयम ध्रुवयोग युक्तता** – संयम के साथ आत्मा का ध्रुव या अविचल सम्वन्ध संयम-ध्रुवयोग कहा जाता है। आचार्य संयम ध्रुवयोगी होते हैं। वे अपनी संयम-साधना में सदा अडिग रहते हैं।

२. **असंप्रगृहीतात्मता** – जिसे जाति, पद, तप, वैदुष्य आदि का मद या अहंकार होता है, उसे संप्रगृहीतात्मा कहा जाता है। आचार्य निरहंकार होते हैं जो गरिमायें उन्हें प्राप्त हैं, उनका जरा भी मद उन्हें नहीं होता। फलतः वे क्रोध, मानसिक

---

[1] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र २

उत्ताप आदि से मुक्त होते हैं। अतः वे असंप्रगृहीतात्मा कहे जाते हैं। अर्थात् उनकी आत्मा अहंकार, मद एवं क्रोध आदि से जकड़ी नहीं रहती।

३. अनियतवृत्तिता – जिनका आहार, विहार नियत या प्रतिबद्ध होता है, उनसे विशुद्ध आचारमय जीवन भली भांति सध नहीं पाता। अनेक प्रकार की औद्देशिकता का जुड़ना वहां सम्भावित होता है, जो निर्दोष संयम-पालन में बाधक है। अतः आचार्य अनियत – वृत्ति होते हैं। शास्त्रीय आचार-परम्परा के अनुरूप उनका आचार अप्रतिबद्ध होता है।

४. वृद्धशीलता – युवा और चिरदीक्षित न होने पर भी आचार्य में वयोवृद्ध और दीक्षा-मर्यादा में ज्येष्ठ श्रमणों जैसा शील, संयम, नियम, चारित्र आदि पालने की विशेषता होती है। अतः वे वृद्धशील कहे जाते हैं।

वृद्धशील का आशय यों भी हो सकता है – आचार्य वृद्ध या रोग आदि के कारण जो वृद्ध की तरह अशक्त हो गये हैं, उन श्रमणों की सेवा या सुव्यवस्था में सदा जागरूक रहते हैं।

श्रुत-सम्पदा

श्रुत-सम्पदा का भी चार प्रकार से विवेचन किया गया है[1] :-

१. बहुश्रुतता　　　　३. विचित्र-श्रुतता
२. परिचित-श्रुतता　　४. घोषविशुद्धिकारिता

१. बहुश्रुतता – आचार्य बहुश्रुत होते हैं। वे अपने समय में उपलब्ध आगम सम्यक्तया जानते हैं। अपने समय-सिद्धान्त या शास्त्रों के अतिरिक्त परसमय अन्य शास्त्रों के भी वेत्ता होते हैं। यों उनका श्रुत-शास्त्रीय ज्ञान बहुत विस्तीर्ण और व्यापक होता है।

२. परिचित श्रुतता – आचार्य आगमों के रहस्यवित्-मर्मज्ञ होते हैं। वे सूत्र और अर्थ – दोनों को भली-भांति आत्मसात् किये हुए होते हैं। उनमें क्रम से – आदि से अन्त तक और उत्क्रम से – अन्त से आदि तक धारा-प्रवाह रूप में सूत्र-वाचन की क्षमता होती है। संक्षेप में आशय यह है कि आगमों का उन्हें चिर-परिचय, सूक्ष्म परिचय और सम्यक् परिचय होता है।

३. विचित्र-श्रुतता – आचार्य बहुश्रुत के साथ विचित्रश्रुत भी होते हैं। उनके द्वारा अधिकृत श्रुत अनेक विचित्रतायें या विभिन्नतायें लिए होता है। आचार्य को जीव, मोक्ष आदि सूक्ष्म विषयों का निरूपण करने वाले विविध आगमों का अन्तः-स्पर्शी ज्ञान होता है। वे उत्सर्ग, अपवाद आदि विभिन्न पक्षों को विशद रूप से जानते हैं। जिस प्रकार अपने सिद्धान्तों का अंग-प्रत्यङ्ग उन्हें अभिगत होता है, उसी प्रकार अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का भी उन्हें तलस्पर्शी बोध होता है।

४. घोषविशुद्धिकारकता – घोष का अर्थ शब्द या ध्वनि है। अपने आप में

---

[1] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ४

अलंकृत सत्य, प्रिय, हित, परिमित तथा प्रसंगानुरूप होना शब्द की सुषमा है। अनलंकृतता, असत्यता, अप्रियता, अहितता; अपरिमितता तथा अप्रासंगिकता शब्द के दोष हैं। इनके वर्ज से घोष या शब्द विशुद्ध कहा जाता है। आचार्य की यह सहज विशेषता होती है। वे सुन्दर, सत्य, प्रिय, हित, परिमित और प्रसंगानुरूप शब्द बोलते हैं। श्रुत-सम्पदा के अन्तर्गत यह उनका शब्द-सौष्ठव है।

शरीर-सम्पदा

शरीर-सम्पदा या शारीरिक सुष्ठुता भी चार[1] प्रकार की मानी गई है।

१. आरोह परिणाह सम्पन्नता,
२. अनवत्राप्यशरीरता,
३. स्थिरसंहननता तथा
४. बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता

१. आरोह परिणाह सम्पन्नता – देह की समुचित लम्बाई और चौड़ाई को आरोह परिणाह कहा जाता है। अपने पुण्योदय के कारण आचार्य के देह की यह विशेषता होती है।

२. अनवत्राप्यशरीरता – अवत्राप्य का अर्थ लज्जायोग्य है। जो शरीर कुरूप, अंगहीन, घृणोत्पादक तथा उपहासजनक होता है, वह अवत्राप्यशरीर कहलाता है, जो हीन व्यक्तित्व का द्योतक है। आचार्य का शरीर इस प्रकार का नहीं होना चाहिये। यह सुरूप सांगोपांग, सुन्दर तथा आकर्षक होना चाहिये।

३. स्थिरसंहननता – आचार्य का दैहिक संहनन – शारीरिक गठन सुदृढ़ होना चाहिये। आचार्य पर जो संघ का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है, उसके निर्वाह के लिए सुदृढ़, स्थिर और सशक्त देह का होना भी आवश्यक है। ताकि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का अनाकुल भाव से निर्वाह किया जा सके।

४. बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता – नेत्र, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियों का सर्वथा निर्दोष, अपने-अपने विषयों के ग्रहण में सक्षम होना बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता कहा जाता है। आचार्य में इसका होना अपेक्षित है। सर्वेन्द्रियपरिपूर्णता में जहां देह की प्रभावकता फलित होती है, वहां उससे व्यक्ति की गम्भीरता भी प्रकट होती है। आचार्य में ऐसा होना चाहिए।

वचन-सम्पदा

वचन-सम्पदा चार[2] प्रकार की कही गई है :–

१. आदेयवचनता
२. मधुर वचनता
३. अनिश्चित वचनता
४. असन्दिग्ध वचनता

१. आदेयवचनता – जो वचन ग्रहण करने योग्य होता है, वह आदेय वचन कहा जाता है। ग्रहण करने योग्य वही वचन होता है, जिसमें उपयोगिता तथा

---

[1] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ५

[2] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४ सूत्र ६

श्रद्धेयता हो। आचार्य में आदेयवचनता की विशेषता होनी चाहिए, जिससे श्रोतागण उनके वचनों की ओर सहजतया आकृष्ट हों, लाभान्वित हों।

२. मधुरवचनता – हितकरता और उपादेयता के साथ यदि वचन में मधुरता भी हो तो वह सोने में सुगन्ध जैसी बात है। लौकिक जन सहज ही माधुर्य और प्रेयस् की ओर अधिक आकृष्ट रहते हैं। यदि उत्तम बात भी अमधुर या कठोर वचन द्वारा प्रकट की जाए तो सुनने वाला उससे झिजकता है। महान् कवि और नीतिविद् भारवि ने इसीलिए कहा था –

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः

अर्थात् ऐसा वचन दुर्लभ है, जो हितकर होने के साथ साथ मनोहर भी हो। आचार्य में ऐसा होना सर्वथा वांछनीय है। इससे उनके आदेय वचनों की ग्राह्यता वहुत अधिक वढ़ जाती है।

३. अनिश्रितवचनता – जो वचन राग, द्वेष या किसी पक्ष विशेष के आग्रह पर टिका होता है, वह निश्रित वचन कहा जाता है। वैसा वचन न वक्ता के अपने हित के लिए है और न उससे श्रोतृगण को ही कुछ लाभ हो सकता है। आचार्य निश्रितवचन प्रयोक्ता नहीं होते। वे अनिश्रित वचन वोलते हैं, जिससे सर्वसाधारण का हित सधता है, जिसे सव आदरपूर्वक अंगीकार करते हैं।

४. असंदिग्धवचनता – तथ्य का साधक और अतथ्य का वाधक जो न हो, वैसा ज्ञान सन्देह कहलाता है। जो वचन उससे लिप्त है, वह सन्दिग्ध है। आचार्य सन्दिग्ध वचन का प्रयोग नहीं करते। वैसा करने से उपासकों की श्रद्धा घटती है। उनका किसी भी प्रकार से हित नहीं सधता। क्योंकि वचन के सन्देहयुक्त होने के कारण वे उधर आकृष्ट नहीं होते फलतः आचार्य चाहे व्यक्त न सही, अव्यक्त रूप में उपेक्षणीय हो जाते हैं।

वाचना-सम्पदा

वाचना-सम्पदा के निम्नांकित चार[1] भेद हैं –

१. विदित्वोद्देशिता
२. विदित्वा वाचिता
३. परिनिर्वाप्य वाचिता तथा
४. अर्थनिर्यापिकता

१. विदित्वोद्देशिता – पहले उल्लेख किया गया है कि आचार्य अन्तेवासियों को श्रुत की अर्थ-वाचना देते हैं। वाचना-सम्पदा में इसी सन्दर्भ में कतिपय महत्वपूर्ण विशेपतायें वतलाई गई हैं। उनमें पहली विदित्वोद्देशिता है। इसका सम्वन्ध अध्येता या वाचना लेने वाले अन्तेवासी से है। अध्येता का विकास किस कोटि का है, उसकी ग्राहक शक्ति कैसी है, किस आगम में उसका प्रवेश सम्भव है, इत्यादि पहलुओं को दृष्टि में रखकर आचार्य अन्तेवासी को पढ़ाने का निश्चय करते हैं। इसका आशय यह है कि अध्येता की क्षमता को आंकने की आचार्य में विशेप सूझ-बूझ होती है।

---

[1] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र अध्ययन ४ सूत्र ७

२. **विदित्वा वाचिता** – उक्त रूप में अन्तेवासी की योग्यता तथा धारणा शक्ति को आंक कर उसे प्रमाण, नय, हेतु, दृष्टांत तथा युक्तिपूर्वक अर्थ-वाचना देना विदित्वा वाचिता है।

३. **परिनिर्वाप्य वाचिता** – अन्तेवासी अध्यापित विषयों को असन्दिग्ध रूप से हृदयंगम कर सका है, उसकी स्मृति में वे स्थिर हो चुके हैं, यह जानकर उसे वाचना देना परिनिर्वाप्य वाचिता है। अध्यापयिता को ऐसा करना आवश्यक है क्योंकि यदि पूर्व अध्यापित विषय अध्येता यथावत् हृदयंगम नहीं कर सका है तो उस ओर ध्यान दिये बिना आगे से आगे पढ़ाते जाना अध्येता के लिए लाभ-जनक नहीं होता है। यों अध्यापयिता को वृथा श्रम होता है। उसका अभीप्सित फल नहीं होता।

४. **अर्थनिर्यापिकता** – सूत्र-अध्यापयिता के लिए आवश्यक है कि सूत्र-निरूपित जीव, अजीव, आस्रव, सम्वर, निर्जरा, वन्ध, मोक्ष, प्रभृति विषयों का उसे पूर्वापर संगति सहित असन्दिग्ध-निर्णायक बोध हो। उत्सर्ग, अपवाद आदि का रहस्य उसे सम्यक् परिज्ञात हो। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से ये समस्त विषय उस द्वारा आत्मसात् किये हुए हों। यह विषय का निर्यापन है। आचार्य में ऐसा अध्ययन-अनुशीलन होना अपेक्षित है। अपने इस प्रकार के अध्ययन क्रम द्वारा अन्तेवासियों को अर्थ का अवबोध कराना अर्थ निर्यापिकता है।

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि जहां किसी कारणवश उपाध्याय के पद की व्यवस्था नहीं होती या सूत्र-वाचना का कार्य नहीं चलता, वहां आचार्य सूत्र-वाचना भी देते हैं। वे सूत्र और अर्थ दोनों की वाचना देने के कारण दोनों पदों का उत्तरदायित्व वहन करते हैं। भगवती वृत्ति[1] तथा व्यवहार भाष्य आदि में ऐसे उल्लेख प्राप्त हैं।

इतना ही नहीं, आवश्यक होने पर आचार्य अन्य पदों का भार भी स्वयं ले सकते हैं। वस्तुतः वे सर्वाधिकारी होते हैं।

मति-सम्पदा

मन का पदार्थ विषयक निर्णायक व्यापार मति है। मति-सम्पदा का अर्थ बुद्धि-वैशिष्ट्य है।

मति-सम्पदा के चार[2] भेद हैं –

१. अवग्रह- मति सम्पदा,	३. अवाय-मति सम्पदा,
२. ईहा-मति सम्पदा	४. धारणा-मति सम्पदा

---

[1] आचार्येण सहोपाध्याय: – आचार्योपाध्याय:,
सविसयंसि त्ति स्वविषयेऽर्थदान – सूत्रदानलक्षणं
गणं त्ति शिष्यवर्गम्, अगिलाए त्ति अखेदेन
संगृह्णन् – स्वीकुर्वन – उपष्टम्भयन् । – भगवती, शतक ५, उद्देशक ६, सूत्र १८ (वृत्ति)

[2] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ८

१. **अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा** – मति-ज्ञान के परिणति-क्रम के ये चार सोपान हैं। सबसे पहले ज्यों ही इन्द्रिय किसी पदार्थ का साक्षात्कार करती है, तब उस (पदार्थ) का अति सामान्य ज्ञान होता है।

सामान्य का तात्पर्य उस बोध से है, जहां पदार्थ के स्वरूप, नाम, जाति आदि की कल्पना नहीं रहती, वे अनिर्दिष्ट रहते हैं। वह मन:स्थिति अवग्रह कही जाती है। अवग्रह की प्रशस्त क्षमता का होना अवग्रह सम्पदा है। आचार्य में सहज ही यह विशेषता होती है।

२. **ईहा मति-सम्पदा** – अवग्रह में ज्ञेय पदार्थ विषयक अस्पष्ट मन: स्थिति रहती है। तब निश्चोयन्मुख जिज्ञासा का स्पन्दन होता है। मन तदनुरूप चेष्टोन्मुख बनता है। अवग्रह द्वारा गृहीत स्वरूपादि के वैशद से रहित अति सामान्य ज्ञान के पश्चात् विशेष ज्ञान की ओर ईहा, मननात्मक चेष्टा, ज्ञान की निर्णीत स्थिति की ओर बढ़ते क्रम का रूप है। ऐसी उदात्त स्फुरणा का होना ईहा-सम्पदा कहा जाता है। आचार्य इससे युक्त होते हैं।

३. **अवाय-मति सम्पदा** – ईहा का उत्तरवर्ती क्रम अवाय है। ईहा चेष्टात्मक है, अवाय निश्चयात्मक निर्णय। पदार्थ के साधक और बाधक प्रमाण या गुणागुण विश्लेषण के माध्यम से जो निश्चित मन: स्थिति बनती है, वह अवाय है। रज्जू और सर्प के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। अंधेरे में सहसा निश्चय नहीं हो पाता कि जिज्ञासित पदार्थ सर्प है या रज्जू। जब साधक प्रमाण द्वारा या स्पष्टता करने वाले हेतु द्वारा यह निश्चित रूप से अवगत हो जाता है कि यह रज्जू है, तब अवाय की स्थिति आ जाती है। अवाय तक सूक्ष्मतापूर्वक पहुंचना या यथावत् अवायात्मक – निश्चयात्मक स्थिति अभिगत कर लेने की विशिष्ट क्षमता अवाय-सम्पदा के नाम से अभिहित होती है, जो आचार्य में स्वभावत: होनी चाहिये।

४. **धारणा मति सम्पदा** – अवाय-क्रम में ज्ञान जिस निश्चिति में पहुंचता है, उसका टिकना, स्थिर रहना, स्मरण रहना धारणा है। इसे वासना या स्मृति भी कहा जाता है। यह संस्कारात्मक है। मन के स्मृति-पट पर उस ज्ञान का एक भावात्मक रूप अंकित हो जाता है। दूसरे किसी समय वैसे पदार्थ को देखते ही पहले के पदार्थ की स्मृति जाग उठती है। यह जागने वाली स्मृति उसी संस्कार का फल है, जो उस पदार्थ के मत्यात्मक मनन-क्रम में मन पर अंकित हो गया था। धारणा, वासना या स्मृति का वैशिष्ट्य या वैभव धारणा-मति-सम्पदा है। आचार्य इसके धनी होने चाहिये।

जिसकी मननात्मक क्षमता जितनी अधिक विकसित होती है, उसे मति के इस उत्थान-क्रम में उतना ही वैशिष्ट्य प्राप्त रहता है। आचार्य में यह क्षमता अपनी विशेषता लिये रहनी चाहिये। उदात्त व्यक्तित्व की दृष्टि से आचार्य के लिए ऐसा होना आवश्यक भी है।

प्रयोग-सम्पदा

किसी विषय पर प्रतिवादी के साथ वाद या विचार करना यहां प्रयोग शब्द से अभिहित किया गया है। वाद सम्बन्धी विशेष पटुता या कुशलता का नाम प्रयोग-सम्पदा है। उसके निम्नलिखित चार[1] भेद हैं –

१. अपने आपको जान कर वाद का प्रयोग करना।

२. परिषद् को जान कर वाद का प्रयोग करना।

३. क्षेत्र को जान कर वाद का प्रयोग करना।

४. वस्तु को जान कर वाद का प्रयोग करना।

१. आत्म-ज्ञानपूर्वक वाद का प्रयोग – वादार्थ उद्यत व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि पहले वह अपनी शक्ति, क्षमता, प्रमाण, नय आदि के सम्बन्ध में अपनी योग्यता को आंके। यह भी देखे कि प्रतिवादी की तुलना में उसकी कैसी स्थिति है। वह तत्पश्चात् वाद में प्रवृत्त हो। ऐसा न होने पर प्रतिकूल परिणाम आने की आशंका हो सकती है। अतः आचार्य में इस प्रकार की विशेषता का होना आवश्यक है। यों सोच-विचार कर, अपनी क्षमता को आंक कर बुद्धिमत्ता-पूर्वक वाद में प्रवृत्त होना पहले प्रकार की प्रयोग-सम्पदा है।

२. परिषद्-ज्ञान पूर्वक वाद-प्रयोग – जिस परिषद् के बीच वाद होने को है, कुशल वादी को चाहिए कि वह उस परिषद् के सम्बन्ध में पहले से ही जानकारी प्राप्त करे कि वह (परिषद्) गम्भीर तत्त्वों को समझती है या नहीं। यह भी जाने कि परिषद की रुचि वादी के अपने धार्मिक सिद्धान्तों में है या प्रतिवादी के सिद्धान्तों में। केवल तर्क और युक्ति-बल द्वारा ही प्रतिवादी पर सम्पूर्ण सफलता नहीं पाई जा सकती। जिन लोगों के बीच वाद प्रवृत्त होता है, उनका मानसिक झुकाव भी उसमें काम करता है। अतएव सफलता या प्रतिवादी पर विजय चाहने वाले वादी के लिए यह आवश्यक है कि पदिपद् की अनुकूलता और प्रतिकूलता को दृष्टि में रखे। इस ओर सोचे-विचारे बिना वाद में प्रवृत्त न हो। आचार्य में इस प्रकार की विशेष समझ के साथ वाद में प्रवृत्त होने की सहज विशेषता होनी चाहिये।

३. क्षेत्र-ज्ञानपूर्वक वादप्रयोग – जिस क्षेत्र में वाद होने को है, वह कैसा है, वहां के लोग दुर्लभ बोधि हैं या सुलभ बोधि, वहां का शासक विज्ञ है या अज्ञ, अनुकूल है या प्रतिकूल – इत्यादि बातों को भी ध्यान में रखना वादी के लिए आवययक है। यदि लोग सुलभ बोधि, शासक विज्ञ तथा अनुकूल हों तो विद्वान् वादी को सफलता और गौरव मिलता है। क्षेत्र की स्थिति उसके प्रतिकूल हो तो वादी अत्यन्त योग्य होते हुए भी सफल बन सके, यह कठिन है। आचार्य में क्षेत्र को परखने की अपनी विशेषता होनी है।

४. वस्तु-ज्ञान पूर्वक वाद का प्रयोग – वस्तु का अर्थ वाद का विषय है। जिस विषय पर वाद या वैचारिक ऊहापोह किया जाना है, वह वादी के ध्यान में रहना आवश्यक है। उस विषय के विभिन्न पक्ष, उस सम्बन्ध में विविध धारणा उनका समाधान इत्यादि दृष्टि में रखते हुए वाद में प्रवृत्त होना हितावह होता है। आचार्य में यह विशेषता भी होनी चाहिए।

संक्षेप में सार यह है कि आचार्य का संघ में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। उनकी विजय सारे संघ की शोभा है, उनकी पराजय सारे संघ का अपमान। अतः यह वांछनीय है कि आचार्य में वाद-प्रयोग सम्बन्धी विशेषताएं, जिनका उल्लेख हुआ है, हों। जिससे उनका अपना गौरव बढ़े, संघ की महिमा फैले।

संग्रहपरिज्ञा सम्पदा

जैन श्रमण के जीवन में परिग्रह के लिए कोई स्थान नहीं है। वह सर्वथा निष्परिग्रही जीवन यापन करता है। यह होने पर भी जब तक साधक सदेह है, उसे जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए कतिपय वस्तुओं की अपेक्षा रहती ही है। शास्त्रीय विज्ञान के अनुरूप उन वस्तुओं को ग्रहण करता हुआ साधक परिग्रही नहीं बनता क्योंकि उन वस्तुओं में उसकी जरा भी मूर्च्छा या आसक्ति नहीं होती। परिग्रह का आधार मूर्च्छा या आसक्ति है। यदि अपने देह के प्रति भी साधक के मन में मूर्च्छा या आसक्ति हो जाए तो वह परिग्रह हो जाता है। आत्म-साधना में लगे साधक का जीवन अनासक्त और अमूर्च्छित होता है, होना चाहिए। यही कारण है कि उस द्वारा अनिवार्य आवश्यकताओं के निर्वाह के लिए अमूर्च्छित एवं अनासक्त भाव से अपेक्षित पदार्थों का ग्रहण अदूषणीय है।

संग्रह का अर्थ श्रमण के वैयक्तिक तथा सामष्टिक संघीय जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का अवलोकन, आकलन है या स्वीकार है। वस्तुओं की आवश्यकता, समीचीनता, एवं सुलभता का ज्ञान संग्रह-परिज्ञा कहा जाता है। आचार्य पर संघ के संचालन, संरक्षण एवं व्यवस्था का उत्तरदायित्व होता है अतः उन्हें इस ओर जागरूक रहना अपेक्षित है कि कब किस वस्तु की आवश्यकता पड़ जाए और पूर्ति किस प्रकार सम्भव हो। इसमें जागरूकता के साथ-साथ सूझ-बूझ तथा व्यावहारिक कुशलता की भी आवश्यकता रहती है। यह आचार्य की अपनी असाधारण विशेषता है।

संग्रहपरिज्ञा-सम्पदा के चार[1] प्रकार बताये गये हैं –

१. क्षेत्र प्रतिलेखनापरिज्ञा
२. प्रातिहारिक अवग्रह परिज्ञा
३. काल सम्मान परिज्ञा तथा
४. गुरु संपूजनापरिज्ञा

१. क्षेत्र प्रतिलेखनापरिज्ञा – साधुओं के प्रवास और विहार के स्थान क्षेत्र कहे जाते हैं। जैन श्रमण वर्षा ऋतु के चार महीने एक ही स्थान पर टिकते हैं,

---

[1] दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र १०

कहीं विहार-यात्रा नहीं करते। इसे चातुर्मासिक प्रवास कहा जाता है। इसके अतिरिक्त वे जन-जन को धर्मोपदेश या अध्यात्म-प्रेरणा देने के निमित्त घूमते रहते हैं। रोग, वार्धक्य, दैहिक अशक्तता आदि अपवादों के अतिरिक्त वे कहीं भी एक मास से अधिक नहीं ठहरते।

चातुर्मासिक प्रवास के लिए कौनसा क्षेत्र कैसा है, साधु-जीवन के लिए अपेक्षित निरवद्य पदार्थ कहाँ किस रूप में प्राप्य हैं, अस्वस्थ साधुओं की चिकित्सा, पथ्य, आहार आदि की सुलभता, जलवायु व निवास-स्थान की अनुकूलता आदि बातों का ध्यान आचार्य को रहता है। चातुर्मासिक प्रवास में इस बात का और अधिक महत्व है। वर्ष भर में वर्षावास के अन्तर्गत ही श्रमणों का एक स्थान पर सबसे लम्बा प्रवास होता है। अध्ययन, चिकित्सा आदि की दृष्टि से वहाँ यथेष्ट समय मिलता है। इसलिए इन बातों का विचार बहुत आवश्यक है।

धर्म-प्रसार की दृष्टि से भी क्षेत्र की गवेषणा का महत्व है। यदि किसी क्षेत्र के लोगों को अध्यात्म में रस है तो वहाँ बहुत लोग धर्म भावना से अनुप्राणित होंगे, धर्म की प्रभावना होगी।

२. प्रातिहारिक अवग्रह-परिज्ञा – श्रमण अपनी आवश्यकता के अनुसार दो प्रकार की वस्तुएँ लेते हैं। प्रथम कोटि में वे वस्तुएँ आती हैं, जो सम्पूर्णतया उपयोग में ली जाती हैं, वापिस नहीं लौटाई जातीं, जैसे – अन्न, जल औषधि आदि। दूसरी वे वस्तुएँ हैं, जो उपयोग में लेने के बाद वापिस लौटाई जाती हैं, उन्हें प्रातिहारिक कहा जाता है। प्रातिहारिक का शाब्दिक अर्थ भी इसी प्रकार का है। पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि इस कोटि में आते हैं।

आचार्य के दर्शन तथा उनसे अध्ययन आदि के निमित्त अनेक दूसरे साधु भी आते रहते हैं। उनके स्वागत-सत्कार, सुविधा आदि की दृष्टि से जब जैसे अपेक्षित हो, पीठ, फलक, आसन आदि के लिए आचार्य को ध्यान रखना आवश्यक होता है। कौन वस्तु कहाँ प्राप्य है, यह ध्यान रहने पर आवश्यकता पड़ते ही शास्त्रीय विधि के अनुसार वह तत्काल प्राप्त की जा सकती है। उनके लिए अनावश्यक रूप में भटकना नहीं पड़ता।

३. काल सम्मान परिज्ञा – काल के सम्मान का आशय साधुजीवनोचित क्रियाओं का समुचित समय पर अनुष्ठान करना है। ऐसा करना व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ व्यवस्थित जीवन का परिचायक है, वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन में इससे अन्तः स्थिरता परिव्याप्त होती है। क्रियाओं के यथाकाल अनुष्ठान के लिए काल का 'सम्मान' करना – ऐसा जो प्रयोग शास्त्र में आया है, उससे स्पष्ट है कि यथासमय धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन का कितना अधिक महत्त्व रहा है। आचार्य सारे संघ के नियामक और अधिनायक होते हैं। उनके जीवन का क्षण-क्षण अन्तेवासियों एवं अनुयायियों के समक्ष आदर्श के रूप में विद्यमान रहता है। उसका उन पर अमिट प्रभाव होता है। इसलिए यथासमय सब क्रियाएँ

सुव्यवस्थित रूप में संपादित करना, उस ओर अनवरत यत्नशील रहना आचार्य के लिए आवश्यक है।

४. गुरु-संपूजना-परिज्ञा– जो दीक्षा-पर्याय में अपने से ज्येष्ठ हों, उन श्रमणों का वन्दन, नमन आदि द्वारा बहुमान करने में आचार्य सदा जागरूक रहते हैं। इसे वे आवश्यक और महत्वपूर्ण समझते हैं, ऐसा करना गुरु-संपूजना-परिज्ञा है।

आचार्य की यह प्रवृत्ति अन्तेवासियों को बड़ों का सम्मान करने, उनके प्रति आदर एवं श्रद्धा दिखाने की ओर प्रेरित करती है। संघ के वातावरण में इससे सौहार्द का संचार होता है। फलतः संघ विकसित और उन्नत बनता है।

उपाध्याय

जैन दर्शन ज्ञान और क्रिया के समन्वित अनुसरण पर आधृत है। संयम-मूलक आचार का परिपालन जैन साधक के जीवन का जहाँ अनिवार्य अंग है, वहाँ उसके लिए यह भी अपेक्षित है कि वह ज्ञान की आराधना में भी अपने को तन्मयता के साथ जोड़े। सद्ज्ञान पूर्वक आचरित क्रिया में शुद्धि की अनुपम सुषमा प्रस्फुटित होती है। जिस प्रकार ज्ञान-प्रसूत क्रिया की गरिमा है, उसी प्रकार क्रियान्वित या क्रिया-परिणत ज्ञान की ही वास्तविक सार्थकता है। ज्ञान और क्रिया जहाँ पूर्व और पश्चिम की तरह भिन्न दिशाओं में जाते हैं, वहाँ जीवन का ध्येय सधता नहीं। अनुष्ठान द्वारा इन दोनों पक्षों में सामंजस्य उत्पन्न कर जिस गति से साधक साधना-पथ पर अग्रसर होगा, साध्य को आत्मसात् करने में वह उतना ही अधिक सफल बनेगा।

जैन-संघ के पदों में आचार्य के बाद दूसरा पद उपाध्याय का है। इस पद का सम्बन्ध मुख्यतः अध्यापन से है, उपाध्याय श्रमणों को सूत्र-वाचना देते हैं। कहा गया है :–

> बारसंगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिओ बुहे।
> तं उवदिसंति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति ॥[1]

जिन प्रतिपादित द्वादशांगरूप स्वाध्याय – सूत्र-वाङ्मय ज्ञानियों द्वारा कथित-वर्णित या ग्रथित किया गया है। जो उसका उपदेश करते हैं, वे (उपदेश-श्रमण) उपाध्याय कहे जाते हैं,

यहां सूत्र-वाङ्मय का उपदेश करने का आशय आगमों की सूत्र-वाचना देना है। स्थानांग वृत्ति में भी उपाध्याय का सूत्रदाता[2] (सूत्रवाचनादाता) के रूप में उल्लेख हुआ है।

आचार्य की सम्पदाओं के वर्णन-प्रसंग में यह बतलाया गया है कि आगमों की अर्थ-वाचना आचार्य देते हैं। यहां जो उपाध्याय द्वारा स्वाध्यायोप-

---

१ भगवती सूत्र, १. १. १ मंगलाचरण वृत्ति

२ उपाध्याय : सूत्रदाता। स्थानांग सूत्र, ३. ४. ३२३ वृत्ति

देश या सूत्रवाचना देने का उल्लेख है, उसका तात्पर्य यह है कि सूत्रों के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता तथा स्थिरता बनाये रखने के हेतु उपाध्याय पारंपरिक व भाषा वैज्ञानिक आदि दृष्टियों से अंतेवासी श्रमणों को मूलपाठ का सांगोपांग शिक्षण देते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में 'आगमतः द्रव्यावश्यक' के सन्दर्भ में पठन या वाचन का विवेचन करते हुए तत्सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रतीत होता है कि पाठ की एक अक्षुण्ण तथा स्थिर परंपरा जैन श्रमणों में रही है। आगम-पाठ को यथावत् बनाये रखने में इससे बड़ी सहायता मिली है।

आगम-गाथाओं का उच्चारण कर देना मात्र पाठ या वाचन नहीं है। अनुयोग द्वार में पद के शिक्षित, जित, स्थित, मित, परिजित, नामसम, घोषसम, अहीनाक्षर, अत्यक्षर, अव्याविद्धासर, अस्खलित, अमिलित, अव्यत्याम्रेडित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्ण-घोष तथा कण्ठोष्ठविप्रमुक्त विशेषण दिये गये हैं।[1] संक्षेप में इनका तात्पर्य यों है –

१. शिक्षित	:	साधारणतया सीख लेना।
२. स्थित	:	सीखे हुए को मस्तिष्क में टिकाना।
३. जित	:	अनुक्रमपूर्वक पठन करना।
४. मित	:	अक्षर आदि की मर्यादा, संयोजन आदि जानना।
५. परिजित	:	अनुक्रम – व्यतिक्रम या अनुक्रम के बिना पाठ करना।
६. नामसम	:	जिस प्रकार हर व्यक्ति को अपना नाम स्मरण रहता है, उस प्रकार सूत्र का पाठ याद रहना अर्थात् सूत्रपाठ को इस प्रकार आत्मसात् कर लेना कि जब भी पूछा जाए, यथावत् रूप में बतलाया जा सके।
७. घोषसम	:	स्वर के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के रूप[2] में जो उच्चारण सम्बन्धी तीन भेद वैयाकरणों ने किये हैं, उनके अनुरूप उच्चारण करना।
८. अहीनाक्षर	:	पाठक्रम में किसी भी अक्षर को हीन,-लुप्त या अस्पष्ट न कर देना।
९. अनत्यक्षर	:	अधिक अक्षर न जोड़ना।
१०. अव्याविद्धासर	:	अक्षर, पद आदि का विपरीत-उलटा पठन न करना।
११. अस्खलित	:	पाठ में स्खलन न करना, पाठ का यथा प्रवाह उच्चारण करना।
१२. अमिलित	:	अक्षरों को परस्पर न मिलाते हुए, उच्चारणीय पाठ के साथ किन्हीं दूसरे अक्षरों को न मिलाते हुए उच्चारण करना।

[1] अनुयोग द्वार, सूत्र ८

[2] उच्चैरुदात्तः। नीचैरनुदात्तः। समाहारः स्वरितः। – सिद्धान्त कौमुदी १. २. २९-३१

१३. अव्यत्याम्रेडित : अन्य सूत्रों, शास्त्रों के पाठ को समानार्थक जान कर उच्चार्य्य पाठ के साथ मिला देना व्यत्याम्रेडित है। ऐसा न करना अव्यत्याम्रेडित है।

१४. प्रतिपूर्ण : पाठ का पूर्ण रूप से उच्चारण करना, उसके किसी अंग को अनुच्चारित न रखना।

१५. प्रतिपूर्णघोष : उच्चारणीय पाठ का मन्द स्वर, जो कठिनाई से सुनाई दे, द्वारा उच्चारण न करना, पूरे स्वर से स्पष्टता से उच्चारण करना।

१६. कण्ठोष्ठविप्रमुक्त : उच्चारणीय पाठ या पाठांश को गले और ओठों में अटका कर अस्पष्ट नहीं वोलना।

सूत्र पाठ को अक्षुण्ण तथा अपरिवर्त्य वनाये रखने के लिए उपाध्याय को सूत्र-वाचना देने में कितना जागरूक तथा प्रयत्नशील रहना होता था — यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है।

लेखनक्रम के अस्तित्व में आने से पूर्व वैदिक, जैन और वौद्ध सभी परंपराओं में अपने आगमों, आर्ष शास्त्रों के कण्ठस्थ रखने की प्रणाली थी। मूल पाठ का रूप अक्षुण्ण वना रहे, परिवर्तमान समय का उस पर प्रभाव न आए, इस निमित्त उन द्वारा ऐसे पाठ-क्रम या उच्चारण-पद्धति का परिस्थापन स्वाभाविक था, जिससे एक से सुन कर या पढ़ कर दूसरा व्यक्ति सर्वथा उसी रूप से शास्त्र को आत्मसात् वनाये रख सके। उदाहरणार्थ — मंत्रपाठ, पदपाठ, जटापाठ आदि के रूप में वेदों के पठन का भी वड़ा वैज्ञानिक प्रकार था, जिसने अव तक उनको मूल रूप में वनाये रखा है।

एक से दूसरे द्वारा श्रुति परम्परा से आगम प्राप्तिक्रम के वावजूद जैनों के आगमिक वाङ्मय में कोई परिवर्तन आया हो, ऐसा सम्भव नहीं लगता। सामान्यतः लोग कह देते हैं कि किसी से एक वाक्य भी सुनकर दूसरा व्यक्ति किसी तीसरे व्यक्ति को वताए तो यत्किंचित् परिवर्तन आ सकता है फिर यह कव सम्भव है कि इतने विशाल आगम-वाङ्मय में काल की इस लम्वी अवधि के वीच भी कोई परिवर्तन नहीं आ सका। साधारणतया ऐसी शंका उठना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु आगम-पाठ की उपर्युक्त परंपरा से स्वतः समाधान हो जाता है। जहां कि मूल पाठ की सुरक्षा के लिए इतने उपाय प्रचलित थे, वहां आगमों का मूल स्वरूप क्यों नहीं अव्याहत और अपरिवर्तित रहता।

अर्थ या अभिप्राय का आश्रय सूत्र का मूल पाठ है। इसी की पृष्ठभूमि पर उसका पल्लवन और विकास सम्भव है। अतएव उसके शुद्ध स्वरूप को स्थिर रखने के लिए सूत्र-वाचना या पठन का इतना वड़ा महत्व समझा गया कि संघ में उसके लिए उपाध्याय का पृथक् पद प्रतिष्ठित किया गया।

प्रवर्तक

आचार्य के बहुविध उत्तरदायित्वों के सम्यक् निर्वहन में सुविधा रहे, धर्म-संघ उत्तरोत्तर उन्नति करता जाए, श्रमणवृन्द श्रामण्य के परिपालन और विकास में गतिशील रहे, इस हेतु अन्य पदों के साथ प्रवर्तक का भी विशेष पद प्रतिष्ठित किया गया। प्रवर्तक पद का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

> तपः संयमयोगेषु, योग्यं हि यो प्रवर्त्तयेत्।
> निवर्त्तयेदयोग्यं च, गणचिन्ती प्रवर्त्तकः ।।[1]

प्रवर्तक गण या श्रमण-संघ की चिन्ता करते हैं अर्थात् वे उसकी गतिविधि का ध्यान रखते हैं। वे जिन श्रमणों को तप, संयम तथा प्रशस्त योगमूलक अन्यान्य सत्प्रवृत्तियों में योग्य पाते हैं, उन्हें उनमें प्रवृत्त या उत्प्रेरित करते हैं। मूलतः तो सभी श्रमण श्रामण्य का निर्वाह करते ही हैं पर रुचि की भिन्नता के कारण किन्हीं का तप की ओर अधिक झुकाव होता है, कई शास्त्रानुशीलन में अधिक रस लेते हैं, कई संयम के दूसरे पहलुओं की ओर अधिक आकृष्ट रहते हैं। रुचि के कारण किसी विशेष प्रवृत्ति की ओर श्रमण का उत्साह हो सकता है पर हर किसी को अपनी यथार्थ स्थिति का भली-भांति ज्ञान हो, यह आवश्यक नहीं। अति उत्साह के कारण कभी कभी अपनी क्षमता का आंक पाना कठिन होता है। ऐसी परिस्थिति में प्रवर्तक का यह कर्त्तव्य है कि वे जिनको जिस प्रवृत्ति के लिए योग्य मानते हों, उन्हें उस ओर प्रेरित और प्रवृत्त करें। जो उन्हें जिस प्रवृत्ति के सम्यक् निर्वाह में योग्य न जान पड़ें, उन्हें वे उस ओर से निवृत्त करें। साधक के लिए इस प्रकार के पथ-निर्देशक का होना परम आवश्यक है। इससे उसकी शक्ति और पुरुषार्थ का समीचीन उपयोग होता है। ऐसा न होने से कई प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं। उदाहरणार्थ—कोई श्रमण अति उत्साह के कारण अपने को उग्र तपस्या में लगाये पर कल्पना कीजिये, उसकी दैहिक क्षमता इस प्रकार की न हो, स्वास्थ्य अनुकूल न हो, मानसिक स्थिरता कम हो तो वह अपने प्रयत्न में जैसा सोचता है, चाहता है, सफल नहीं हो पाता। उसका उत्साह टूट जाता है, वह अपने को शायद हीन भी मानने लगता है। अतएव प्रवर्तक, जिनमें ज्ञान, अनुभव तथा अनूठी सूझ-बूझ होती है, का दायित्व होता है कि वे श्रमणों को उनकी योग्यता के अनुरूप उत्कर्ष के विभिन्न भागों पर गतिशील होने में प्रवृत्त करें, जो उचित न प्रतीत हो, उनसे निवृत्त करें।

उक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुए और भी कहा गया है :—

> तवसंजमनियमेसुं, जो जुग्गो तत्थ तं पवत्तेइ।
> असहू य नियत्तंती, गणतत्तिल्लो पवत्तीओ ।।

तपः संयमयोगेषु मध्ये यो यत्र योग्यस्तं तत्र प्रवर्त्तयन्ति. असमर्थान्

---

[1] धर्मसंग्रह, अधिकार ३, गाथा १४३

असमर्थांश्च निवर्त्तयन्ति, एवं गणतृप्तिप्रवृत्ताः प्रवर्तिनः ।[1]

संयम, तप आदि के आचरण में जो धैर्य और सहिष्णुता चाहिए, जिनमें वह होती है, वे ही उसका सम्यक् अनुष्ठान कर सकते हैं। जिनमें वैसी सहनशीलता और दृढ़ता नहीं होती, उनका उस पर टिके रहना सम्भव नहीं होता। प्रवर्तक का यह काम है कि किस श्रमण को किस ओर प्रवृत्त करे, कहां से निवृत्त करे। गण को तृप्त – तुष्ट – उल्लसित करने में प्रवर्तक सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

स्थविर

जैन संघ में स्थविर का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्थानांग[2] सूत्र में दश प्रकार के स्थविर बतलाये गये हैं, जिनमें से अन्तिम तीन जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर तथा पर्याय-स्थविर का सम्बन्ध विशेषतः श्रमण-जीवन से है। स्थविर का सामान्य अर्थ प्रौढ़ या वृद्ध है। जो जन्म से अर्थात् आयु से स्थविर होते हैं, वे जाति-स्थविर कहे जाते हैं। स्थानांग[3] वृत्ति में उनके लिए साठ वर्ष की आयु का संकेत किया गया है।

जो श्रुत-समवाय आदि अंग-आगम व शास्त्र के पारगामी होते हैं, वे श्रुत-स्थविर[4] कहे जाते हैं। उनके लिए आयु की इयत्ता का निर्बन्ध नहीं है। वे छोटी आयु के भी हो सकते हैं। पर्याय स्थविर वे होते हैं, जिनका दीक्षा-काल लम्बा होता है। इनके लिए बीस वर्ष के दीक्षा-पर्याय के होने का वृत्तिकार ने उल्लेख किया है।[5]

जिनकी आयु परिपक्व होती है, उन्हें जीवन के अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। वे जीवन में बहुत प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय घटनाक्रम देखे हुए होते हैं अतः वे विपरीत परिस्थिति में भी विचलित नहीं होते हैं। वे स्थिर बने रहते हैं। स्थविर शब्द स्थिरता का भी द्योतक है।

जिनका शास्त्राध्ययन विशाल होता है, वे भी अपने विपुल ज्ञान द्वारा जीवन-सत्य के परिज्ञाता होते हैं। शास्त्र-ज्ञान द्वारा उनके जीवन में आध्यात्मिक स्थिरता और दृढ़ता होती है।

जिनका दीक्षा-पर्याय, संयम-जीवितव्य लम्बा होता है, उनके जीवन में धार्मिक परिपक्वता, चारित्रिक बल एवं आत्म ओज सहज ही प्रस्फुटित हो जाता है।

---

[1] व्यवहार भाष्य, उद्देशक १, गाथा ३४०

[2] स्थानांग सूत्र स्थान १० सूत्र ७६२

[3] जातिस्थविरा :— षष्टिवर्षप्रमाणजन्मपर्यायाः ।
— स्थानांग सूत्र, स्थान १०, सूत्र ७६२ (वृत्ति)

[4] श्रुतस्थविरा :— समवायाद्यंगधारिणः ।
— स्थानांगसूत्र स्थान, १० सूत्र, ७६२ (वृत्ति)

[5] पर्यायस्थविरा :— विंशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायिणः ।
— स्थानांगसूत्र, स्थान १०, सूत्र ७६२ (वृत्ति)

इस प्रकार के जीवन के धनी श्रमणों की अपनी गरिमा है। वे दृढ़धर्मा होते हैं और संघ के श्रमणों को धर्म में, साधना में, संयम में स्थिर बनाये रखने के लिए सदैव जागरूक तथा प्रयत्नशील रहते हैं।

प्रवचनसारोद्धार (द्वार २) में कहा गया है –

"प्रवर्तितव्यापारान् संयम योगेषु सीदतः साधून् ज्ञानादिषु ऐहिकामुष्मिकापायदर्शनतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः।"

जो साधु लौकिक एषणावश सांसारिक कार्य-कलापों में प्रवृत्त होने लगते हैं, जो संयम-पालन में, ज्ञानानुशीलन में कष्ट का अनुभव करते हैं, ऐहिक और पारलौकिक हानि या दुःख दिखला कर उन्हें जो श्रमण-जीवन में स्थिर करते हैं, उन्हें स्थविर कहते हैं। वे स्वयं उज्ज्वल चारित्र्य के धनी होते हैं, अतः उनके प्रेरणा-वचन, प्रयत्न प्रायः निष्फल नहीं होते।

स्थविर की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्थविर संविग्न – मोक्ष के अभिलाषी, मार्दवित, – अत्यन्त मृदु या कोमल प्रकृति के धनी और धर्मप्रिय होते हैं। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की आराधना में उपादेय अनुष्ठानों को जो श्रमण परिहीन करता है, उनके पालन में अस्थिर बनता है, वे (स्थविर) उसे ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की याद दिलाते हैं। पतनोन्मुख श्रमणों को वे ऐहिक और पारलौकिक अधः पतन दिखला कर मोक्ष के मार्ग में स्थिर करते हैं।[1]

इसी आशय को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है –

तेन व्यापारितेष्वर्थे – स्वनगारांश्च सीदतः।
स्थिरीकरोति सच्छक्तिः, स्थविरो भवतीह सः॥[2]

तप संयम, श्रुताराधना तथा आत्मसाधना आदि श्रमण-जीवन के उन्नायक कार्य जो संघ-प्रवर्तक द्वारा श्रमणों के लिए नियोजित किये जाते हैं, उन में जो श्रमण अस्थिर हो जाते हैं, इनका अनुसरण करने में जो कष्ट मानते हैं या इनका पालन करना जिनको अप्रिय लगता है, भाता नहीं, उन्हें जो आत्म-शक्ति-सम्पन्न दृढ़चेता श्रमण उक्त अनुष्ठेय कार्यों में दृढ़ बनाता है, वह स्थविर कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि संयम-जीवन जो श्रामण्य का अपरिहार्य अंग है, के प्रहरी का महनीय कार्य स्थविर करते हैं। संघ में उनकी बहुत प्रतिष्ठा तथा सम्मान होती

है। अवसर आने पर वे आचार्य तक को आवश्यक बातें सुझा सकते हैं, जिन पर उन्हें (आचार्य को) भी गौर करना होता है।

संक्षेप में सार यह है कि स्थविर संयम में स्वयं अविचल-स्थितिशील होते हैं और संघ के सदस्यों को वैसा बने रहने के लिए उत्प्रेरित करते रहते हैं।

गणी

गणी का सामान्य अर्थ गण या साधु समुदाय का अधिपति है। अतः आचार्य के लिए भी इस शब्द का प्रयोग देखने में आता है। परन्तु यहां यह एक विशिष्ट अर्थ को लिये हुए है। संघ में जो अप्रतिम विद्वान्, बहुश्रुत श्रमण होता था, उसे गणी का पद दिया जाता था। गणी के सम्बन्ध में लिखा है—

अस्य पार्श्वे आचार्याः सूत्रार्थमभ्यस्यन्ति।[1]

अर्थात् आचार्य उनके पास सूत्र आदि का अभ्यास करते हैं।

यद्यपि आचार्य का स्थान संघ में सर्वोच्च होता है। उनमें आचार-पालने, मनवाने, संघ के श्रमणों को अनुशासन में रखने, उनको तत्त्व-ज्ञान देने, उनका परिरक्षण तथा विकास करते रहने की असाधारण क्षमता होती है। उनके व्यक्तित्व में सर्वातिशायि ओज तथा प्रभाव होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि संघगत श्रमणों में वे सबसे अधिक विद्वान् एवं अध्येता हों। गणी में इस कोटि की ज्ञानात्मक विशेषता होती है। फलस्वरूप वे आचार्य को भी वाचना दे सकते हैं।

इससे यह भी स्पष्ट है कि आचार्य-पद केवल विद्वत्ता के आधार पर नहीं दिया जाता। विद्या जीवन का एक पक्ष है। उसके अतिरिक्त और भी अनेक पक्ष हैं—जिनके बिना जीवन में समग्रता नहीं आती। आचार्य के व्यक्तित्व में वैसी समग्रता होनी चाहिए जिससे जीवन के सब अंग परिपूरित लगें। यह सब होने पर भी आचार्य को यदि शास्त्राध्ययन की और अपेक्षा हो तो वे गणी से शास्त्राभ्यास करें। आचार्य जैसे उच्च पद पर अधिष्ठित व्यक्ति एक अन्य साधु से अध्ययन करें, इसमें क्या उनकी गरिमा नहीं मिटती—आचार्य ऐसा विचार नहीं करते। वे गुणग्राही तथा उच्च संस्कारी होते हैं अतः जो-जो उन्हें आवश्यक लगता है, वे उन विषयों को गणी से पढ़ते हैं। यह कितनी स्वस्थ तथा सुखावह परंपरा है कि आचार्य भी विशिष्ट ज्ञानी से ज्ञानार्जन करते नहीं हिचकते। ज्ञान और ज्ञानी के सत्कार का यह अनुकरणीय प्रसंग है।

गणधर

गणधर का शाब्दिक अर्थ गण या श्रमण संघ को धारण करने वाला, गण का अधिपति, स्वामी या आचार्य होता है। आवश्यक[2] वृत्ति में अनुत्तर ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के गण—समूह को धारण करने वाले गणधर कहे गये हैं।

---

[1] कल्प सुबोधिका क्षण ८

[2] अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणानां गणं धारयन्तीति गणधराः

— आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १०६२ वृत्ति

आगम-वाङ्मय में गणधर शब्द मुख्यतः दो अर्थों में प्रयुक्त है।

तीर्थंकर के प्रमुख शिष्य, जो उन (तीर्थंकर) द्वारा प्ररूपित तत्व-ज्ञान का द्वादशांगी के रूप में संग्रथन करते हैं, उनके धर्म-संघ के विभिन्न गणों की देख-रेख करते हैं, अपने-अपने गण के श्रमणों को आगम-वाचना देते हैं, गणधर कहे जाते हैं। अनुयोग-द्वार सूत्र में भाव-प्रमाण के अन्तर्गत ज्ञान गुण के आगम[1] नामक प्रमाण-भेद में बताया गया है कि गणधरों के सूत्र आत्मगम्य होते हैं। दूसरे शब्दों में वे सूत्रों के कर्ता हैं।

तीर्थंकरों के वर्णन-क्रम में उनकी अन्यान्य धर्म-संपदाओं के साथ-साथ उनके गणधरों का भी यथा प्रसंग उल्लेख हुआ है। तीर्थंकरों के सान्निध्य में गणधरों की जैसी परंपरा वर्णित है, वह सार्वत्रिक् नहीं है। तीर्थंकरों के पश्चात् अथवा दो तीर्थंकरों के अन्तर्वर्ती काल में गणधर नहीं होते। अतः उदाहरणार्थ गौतम, सुधर्मा आदि के लिए जो गणधर शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह गणधर के शाब्दिक या सामान्य अर्थ में अप्रयोज्य है।

गणधर का दूसरा अर्थ, जैसा कि स्थानांग[2] वृत्ति में लिखा गया है, आर्याओं या साध्वियों को प्रतिजागृत रखने वाला अर्थात् उनके संयम-जीवन — के सम्यक् निर्वहण में सदा प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं आध्यात्मिक सहयोग करने वाला श्रमण गणधर कहा जाता है।

आर्या-प्रतिजागरक के अर्थ में प्रयुक्त गणधर शब्द से प्रकट होता है कि संघ में श्रमणी-वृन्द की समीचीन व्यवस्था, विकास, अध्यात्म-साधना में उत्तरोत्तर प्रगति — इत्यादि पर पूरा ध्यान दिया जाता था। यही कारण है कि उनकी देख रेख और मार्गदर्शन के कार्य को इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि एक विशिष्ट श्रमण का मनोनयन केवल इसी उद्देश्य से होता था।

गणावच्छेदक

इस पद का सम्बन्ध विशेषतः व्यवस्था से है। संघ के सदस्यों का संयम जीवितव्य स्वस्थ एवं कुशल बना रहे, साधु-जीवन के निर्वाह-हेतु अपेक्षित उपकरण साधु-समुदाय को निरवद्य रूप में मिलते रहें इत्यादि संघीय आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व या कर्त्तव्य गणावच्छेदक का होता है। उनके संबंध में लिखा है —

> जो संघ को सहारा देने, उसे सुदृढ़ बनाये रखने अथवा संघ के श्रमणों की संयम-यात्रा के सम्यक् निर्वाह के लिए उपधि — श्रमण-जीवन के लिए आवश्यक साधन-सामग्री की गवेषणा करने के निमित्त विहार करते हैं — पर्यटन करते हैं, प्रयत्नशील रहते हैं, वे गणावच्छेदक होते हैं।[3]

---

[1] प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम — इन चार प्रमाणों का यहां वर्णन हुआ है।

[2] आर्यिका प्रतिजागरको वा साधुविशेषः [illegible]। — स्थानांग सूत्र [illegible] वृत्ति

[3] यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति

— स्थानांग सूत्र, स्थान [illegible], उद्देशक ३ (वृत्ति)

श्रामण्य-निर्वाह के लिए अपेक्षित साधन-सामग्री के आकलन, तत्सम्बन्धी व्यवस्था आदि की दृष्टि से गणावच्छेदक के पद का बहुत बड़ा महत्व है। गणावच्छेदक द्वारा आवश्यक उपकरण जुटाने का उत्तरदायित्व सम्हाल लिये जाने से आचार्य का संघ-व्यवस्था सम्बन्धी भार काफी हल्का हो जाता है। फलतः उन्हें धर्म-प्रभावना तथा संघोन्नति सम्बन्धी अन्यान्य कार्यों की सम्पन्नता में समय देने की अधिक अनुकूलता प्राप्त रहती है।

आधार : पृष्ठभूमि

पहले यह चर्चित हुआ है कि जैन परंपरा में पद-नियुक्ति का आधार निर्वाचन जैसी कोई वस्तु नहीं थी। वर्तमान आचार्य अपने उत्तराधिकारी आचार्य तथा अन्य पदाधिकारियों का मनोनयन संघ की सम्मति से करते थे। आज भी वैसा ही है। ज्ञातव्य है कि उत्तराधिकारी आचार्य का मनोनयन तो आवश्यक समझा गया पर दूसरे पदों में से जितनों की, जब आचार्य चाहते, पूर्ति करते। ऐसी अनिवार्यता नहीं थी कि उत्तराधिकारी आचार्य के साथ-साथ अन्य सभी पदों की पूर्ति की जाए। आचार्य चाहते तो अवशेष सभी पदों का कार्य-निर्वाह स्वयं करते अथवा उनमें से कुछ का करते, कुछ पर अधिकारी मनोनीत करते। मूलतः समग्र उत्तरदायित्व के आधार-स्तम्भ तो आचार्य ही माने गये हैं।

व्यवस्था-सौकर्य के लिए प्रायः अन्य पदों पर उपयुक्त, योग्य अधिकारियों का मनोनयन भी आचार्य उपयोगी मानते रहे हैं। पर क्रमशः पश्चाद्वर्ती समय में वैसा क्रम रहा। कभी-कभी केवल आचार्य-पद पर अधिष्ठित एक ही व्यक्ति सारा कार्य-भार सम्हालते रहे। कभी आचार्य तथा उपाध्याय दो-पदों पर कार्य करते रहे। कभी सातों पदों में से जब जो जो अपेक्षित समझे गये, तत्कालीन आचार्यों द्वारा भरे गये।

कुछ विशिष्ट योग्यताएं

पदों पर मनोनीत किये जाने वाले श्रमणों में कुछ विशेष योग्यताएं वांछनीय समझी गई थीं। असाधारण स्थितियों में कुछ विशेष निर्णय लेने की व्यवस्था भी रही है। व्यवहार-सूत्र तथा भाष्य में इस सन्दर्भ में बड़ा विशद विवेचन हुआ है, जिसके कतिपय पहलू यहां उपस्थित करना उपयोगी होगा।

कहा[1] गया है कि जिन श्रमणों निर्ग्रन्थों को दीक्षा स्वीकार किये आठ वर्ष हो गये हों, जो आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह[2] तथा उपग्रह (श्रमणों के परिपोषण) में कुशल हों, जिनका चारित्र अखण्ड, अशबल – अनाचार के धब्बों से रहित – अदूषित, अभिन्न – सर्वतः सात्विक, असंक्लिष्ट – संक्लेश-

---

[1] व्यवहार सूत्र, ३ उद्देशक, सूत्र ७

[2] श्रमणों के विहार के लिए समीचीन क्षेत्र, अपेक्षित उपकरण, उनकी यथावश्यकता और यथोचित परिपूर्ति।

रहित हो अर्थात् जो चारित्र का सम्पूर्ण रूप में आत्मोल्लासपूर्वक पालन करते हों, जो बहुश्रुत और विद्वान् हों, जो कम से कम अनिवार्यत: स्थानांग-सूत्र और समवायांग सूत्र के धारक-वेत्ता हों, उन्हें आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी और गणावच्छेदक पद पर अधिष्ठित करना कल्पनीय-विहित है।

इसी को और स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि जिन श्रमणों में उक्त गुण या विशेषताएं न हों, उन्हें ये पद देना अकल्पनीय है – ये पद उन्हें नहीं दिये जाने चाहिए।

पदों के सम्बन्ध में एक विकल्प यों है –

> जिन श्रमण-निर्ग्रन्थों को दीक्षा स्वीकार किये पांच वर्ष व्यतीत हो चुके हों, जो आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह तथा उपग्रह में कुशल हों, जिनका चारित्र अखण्ड, अशबल-अदूषित, अभिन्न – एक जैसा सात्विक, असंक्लिष्ट – संक्लेशरहित हो, जो बहुश्रुत और विद्वान् हों, जो कम से कम दशाश्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र के वेत्ता हों, उनके लिए आचार्य और उपाध्याय का पद कल्पनीय है – उन्हें आचार्य या उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित करना विहित है।[1]

उपाध्याय पद पर मनोनीत किये जाने योग्य श्रमणों का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि जिन श्रमणों, निर्ग्रन्थों, को दीक्षा स्वीकार किये तीन वर्ष व्यतीत हो गये हों, जो आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह तथा उपग्रह में कुशल हों, जिनका चारित्र अखण्ड, अशबल – अदूषित, अभिन्न – सर्वत: सात्विक, असंक्लिष्ट – संक्लेशरहित हो, जो बहुश्रुत और विद्वान् हों, जो कम से कम आचारांग और निशीथ के वेत्ता हों, उन्हें उपाध्याय के पद पर आसीन करना कल्पनीय है।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों में जो दीक्षा-काल दिया गया है, वह न्यूनतम है। उससे कम समय का दीक्षित श्रमण साधारणत: ऊपर वर्णित पदों का अधिकारी नहीं होता।

पद और दीक्षा-काल

आठ वर्ष, पांच वर्ष और तीन वर्ष के दीक्षा-काल के रूप में ऊपर तीन प्रकार के विकल्प उपस्थित किये गये हैं। अन्य योग्यतायें सबकी एक जैसी बतलाई गई हैं।

आठ वर्ष के दीक्षित श्रमण को आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी तथा गणावच्छेदक का पद दिया जाना कल्पनीय विहित कहा गया है। तीन पदों

---

१ व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र ५

२ आवश्यक सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र ३

सदस्यों की अनुमति हो – सभी भिक्षा देने के अधिकारी हों, जो संघ द्वारा बहुसम्मत हो – सेवाशीलता, शालीनता तथा धर्म-भावना की वृत्ति के कारण जिस कुल का संघ में बहुमान हो।[1]

पारंपरिक संस्कारों का मनुष्य-जीवन पर बहुत प्रभाव होता है। पारिवारिक और पैतृक संस्कार मानव के हृदय में कुछ ऐसी धारणाएँ और मान्यताएँ प्रतिष्ठित कर देते हैं कि वह सहसा हीन पथ का अवलम्बन नहीं कर पाता। उसमें सहज ही धीरज, दृढ़ता, स्थिरता और उदात्तता आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जिनके कारण संघ का गुरुतर उत्तरदायित्व वह वहन कर सकता है। अपनी पैतृक प्रतिष्ठा, सम्मान और गरिमा भी उसके मस्तिष्क में रहती है, जो उसे किसी भी महान् कार्य में साहस और निर्भीक भाव से जुट जाने को प्रेरित करती है। यही कारण है, यहाँ कुल की महत्ता पर इतना जोर दिया गया है।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कुल के जो विशेषण ऊपर दिये गये हैं, उनका सीधा सम्बन्ध श्रमण संघ से है। जिस कुल से श्रमण संघ का इतना नैकट्य है, जिसके बच्चे-बच्चे के हृदय में श्रमणों के प्रति अगाध श्रद्धा है, परिवार का प्रत्येक सदस्य श्रमणों को भक्ति और आदर के साथ सदा दान देने को तत्पर रहता है, वहाँ एक दो का अपवाद हो सकता है, पर उस में उत्पन्न व्यक्ति सहज ही संघीय दायित्वों के प्रति बहुत जागरूक होगा। परंपरा और संस्कार के कारण उसे लगभग वह सब प्राप्त होता है, जो काफी समय पूर्व दीक्षित साधु को होता है।

यह विशेष परिस्थिति भी, कभी-कभी तब बनती है, जब अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने का अवसर पाये बिना ही आचार्य अचानक काल धर्म को प्राप्त हो जाते हैं।

अनुमान किया जाता है कि वीर नि० सं० १ से आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण के समय तक की १००० वर्ष की अवधि में आचार्य परम्परा की तरह उपाध्याय, प्रवर्तक स्थविर, गणी, गणधर गणावच्छेदक, महत्तरा, प्रवर्तिनी आदि पदों की भी क्रमबद्ध परम्पराएँ चली हों। अनेक परम उपकारी महान् श्रमणों ने अपने अपने समय में श्रमण परम्परा के इन विशिष्ट उत्तरदायित्व पूर्ण पदों का कार्यभार सम्हाला। उन्होंने जीवन भर स्व-पर-कल्याण में निरत रहते हुए बड़ी लगन और योग्यता के साथ भगवान् महावीर के सर्वभूत हितकारी धर्मसंघ की चहुंमुखी प्रगति की। हमारी उत्कट अभिलाषा थी कि आचार्य परम्परा की तरह उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक, महत्तरा आदि सभी परम्पराओं का क्रमबद्ध इतिहास दिया जाय। पर यथाशक्ति पूरी खोज और प्राप्त पुरातन सामग्री के पर्यवेक्षण के पश्चात् हमें बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हम प्रस्तुत ग्रन्थ में उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि पदों को अतीत में विभूषित करने वाले महापुरुषों का परिचय नहीं दे पा रहे हैं, क्योंकि उनका नाम काल आदि साधारण परिचय

---

[1] व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र ८

भी आज कहीं उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि इस द्वितीय भाग में मुख्यतः आचार्यों, वाचनाचार्यों, युग-प्रधानाचार्यों, कतिपय प्रभावक संतों एवं महत्तरा सतियों का तथा उनके समय की विशिष्ट घटनाओं का ही परिचय प्रस्तुत कर पा रहे हैं।

भविष्य में शोध करते समय इन उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि परम्पराओं का यदि परिचय प्राप्त हुआ तो उसे समुचित रूप से यथा स्थान देने का प्रयास किया जायगा।

अन्तःपरिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन धर्म का वीर नि० सं० १ से १००० तक का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक पाठक निर्वाणोत्तर काल के एक हजार वर्ष के इतिहास को सहज ही हृदयंगम कर स्मृति पटल पर अंकित कर सके, इस दृष्टि से इसे निम्नलिखित चार प्रकरणों में विभक्त कर दिया गया है :-

१. केवलिकाल
२. श्रुतकेवलिकाल
३. दशपूर्वधरकाल
४. सामान्य पूर्वधरकाल

१. **केवलिकाल** – श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं द्वारा वीर निर्वाण के पश्चात् समान रूप से इन्द्रभूति गौतम, आचार्य सुधर्मा और आचार्य जम्बू ये तीन केवली माने गये हैं पर इन तीनों केवलियों के मुख्यतः पृथक्-पृथक् एवं अंशतः समुच्चय काल के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं का परस्पर मान्यता भेद पाया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के सभी मान्य ग्रन्थों में इन्द्रभूति गौतम का १२ वर्ष, आर्य सुधर्मा का ८ वर्ष और आर्य जम्बू का ४४ वर्ष, इस प्रकार कुल मिला कर ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है।

जब कि दिगम्बर परम्परा में केवलिकाल विषयक दो प्रकार की मान्यताएं उपलब्ध होती हैं, उत्तर पुराण[१] और पुष्पदन्त-कृत अपभ्रंश भाषा के महापुराण[२] में इन्द्रभूति गौतम का १२ वर्ष, आर्य सुधर्मा का १२ वर्ष और जम्बू स्वामी का ४० वर्ष इस प्रकार कुल मिलाकर ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है। धवला,[३] श्रुतावतार[४], ब्रह्म हेमचन्द्रकृत श्रुतस्कन्ध[५] हरिवंश पुराण[६] और नन्दि संघ की प्राकृत पट्टावली[७] में समान रूप से इन तीनों केवलियों का पृथक्-पृथक् केवलिकाल क्रमशः १२ वर्ष, १२ वर्ष और ३८ वर्ष उल्लिखित करते हुए समुच्चय केवलिकाल

---

[१] उत्तर पुराण, पर्व ७६, पृ० ५३७

[२] महा पुराण, संधि १००, पृ० २७४

[३] षट् खण्डागम, वेदना खण्ड-धवला, भा. ९, पृ० १३०-३१

[४] श्रुतावतार, श्लो० ७२-७६

[५] श्रुतस्कन्ध, गाथा ६६, ६७

[६] हरिवंश पुराण, सर्ग ६६, श्लो. २२

[७] नन्दि संघ की प्राकृत पट्टावली, गा. १, २

६२ वर्ष बताया है। तिलोय पण्णत्ती[1] में इन तीनों का केवलिकाल पृथक् २ न बताकर पिण्ड रूप से ६२ वर्ष लिखा है। तिलोयपण्णत्तिकार ने इन तीनों केवलियों को अनुबद्ध केवली की संज्ञा देते हुए अन्तिम केवली श्री धर[2] के कुंडलगिरी पर सिद्ध होने का उल्लेख किया है। इस प्रकार का उल्लेख तिलोय पण्णत्ति और उत्तरवर्ती काल के श्रुतस्कन्ध[3] को छोड़कर सम्पूर्ण प्राचीन जैन वाङ्मय में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता।

दिगम्बर परम्परा के ही वीर कवि रचित अपभ्रंश भाषा के जम्बू सामि-चरिउ[4] तथा पं० राजमल्ल रचित 'जम्बू चरित्र'[5] (संस्कृत) में इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा इन दोनों का सम्मिलित रूप से १८ वर्ष और जम्बू का समय १८ वर्ष उल्लिखित करते हुए इन तीनों केवलियों का केवलिकाल कुल मिलाकर केवल ३६ वर्ष ही बताया गया है।

इस प्रकार उपरिलिखित उद्धरणों के अनुसार श्वेताम्बर परम्परा में वीर नि० सं० १ से ६४ तक कुल ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है। जबकि दिगम्बर परम्परा के ऊपर लिखे विभिन्न ग्रन्थों में केवलिकाल विषयक तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न मान्यताएं उपलब्ध होती हैं। एक मान्यता केवलिकाल ६४ वर्ष का, दूसरी ६२ वर्ष का और तीसरी केवल ३६ वर्ष का ही बताती है। इस प्रकार के विभेदात्मक उल्लेखों के उपरान्त भी दिगम्बर परम्परा में आज जो सर्वसम्मत मान्यता प्रचलित है, उसके अनुसार केवलिकाल ६२ वर्ष माना जाता है।

केवलिकाल विषयक इस साधारण मतभेद के अतिरिक्त श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों परम्पराओं में दूसरा मान्यता भेद भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के सम्बन्ध में है। जहां श्वेताम्बर परम्परा में आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना गया है, वहां दिगम्बर परम्परा में इन्द्रभूति गौतम को। भगवान् महावीर के धर्म संघ के आचार्यों की जितनी भी पट्टावलियां उपलब्ध हैं, उनमें से श्वेताम्बर परम्परा की सभी पट्टावलियां आर्य सुधर्मा से और दिगम्बर परम्परा की सभी पट्टावलियां इन्द्रभूति गौतम से प्रारम्भ होती हैं। दोनों परम्पराओं में इस बात पर तो मतैक्य है कि जिस रात्रि में भगवान् का निर्वाण हुआ उसी रात्रि में प्रथम गणधर इन्द्रभूति को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई परन्तु श्वेताम्बर परम्परा के सभी प्रामाणिक ग्रन्थों में आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इन्द्रभूति गौतम को भगवान् का प्रथम पट्टधर एवं तत्पश्चात् सुधर्मा को द्वितीय पट्टधर माना गया

---

[1] तिलोय पण्णत्ति, महा० ४, गा. १४७८

[2] वही, गा. १४७६

[3] ब्रह्म हेमचन्द्ररचित श्रुतस्कन्ध, गा. ६८

[4] जम्बुसामिचरिउ, वीर कवि रचित (सम्पादक डा. वी. पी. जैन) १० : २३

[5] जम्बू चरित्र, राजमल्ल रचित, सर्ग १२, श्लो. १०६, ११०, ११२, १२० और १२१

है। वस्तुतः भगवान् के प्रमुख गणधर और प्रधान शिष्य होने के कारण इन्द्रभूति गौतम उनके पट्टधर बनने के सर्वप्रथम अधिकारी थे, संभवतः इसी दृष्टि से दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में एतद्विषयक किसी प्रकार के ऊहापोह, युक्ति अथवा प्रमाण के प्रस्तुतीकरण की आवश्यकता न समझकर सहज रूप से यह उल्लेख कर दिया गया कि प्रभु के निर्वाण पश्चात् इन्द्रभूति गौतम उनके प्रथम पट्टधर बने।

श्वेताम्बर परम्परा के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में इन्द्रभूति की विद्यमानता में आर्य सुधर्मा को भगवान् का प्रथम पट्टधर बनाये जाने के सम्बन्ध में सयौक्तिक एवं सप्रमाण पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के "केवलिकाल" शीर्षकान्तर्गत प्रकरण में इस विषय पर विस्तारपूर्वक जो विवेचन किया गया है उसका सारांश इस प्रकार है :—

१. सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने तीर्थप्रवर्तन काल में ही अपने ११ प्रमुख शिष्यों को गणधर पद प्रदान करते समय आर्य सुधर्मा को दीर्घजीवी समझकर – "मैं तुम्हें धुरी के स्थान पर रखकर गण की अनुज्ञा देता हूँ"–यह कह कर एक प्रकार से अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था।

२. प्रभु के निर्वाण के थोड़े समय पश्चात्, उसी निर्वाण रात्रि में इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई थी। केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व उत्तराधिकारी के पद पर नियुक्त व्यक्ति केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् उस पद पर बना रह सकता है पर जिसे केवलज्ञान की उपलब्धि हो चुकी है, वह व्यक्ति किसी का उत्तराधिकारी नहीं बनाया जा सकता। इसका कारण यह है कि कोई भी पट्टधर अपने पूर्ववर्ती आचार्य के आदेशों, उपदेशों, आदर्शों एवं सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार तथा आज्ञाओं का पालन करवाता है। परन्तु केवलज्ञानी निखिल चराचर के पूर्ण ज्ञाता एवं साक्षात् द्रष्टा होने के कारण–"भगवान् ने जैसा कहा है, वही मैं कह रहा हूँ" यह कहने के स्थान पर "मैं ऐसा देखता हूँ, मैं ऐसा कहता हूँ" यह कहने की स्थिति में रहता है। ऐसी स्थिति में तीर्थंकर महावीर द्वारा अर्थतः प्ररूपित द्वादशांगी का श्रमण-समूह को ज्ञान कराते समय कोई केवलज्ञानी यह नहीं कह सकते कि भगवान् महावीर ने ऐसा देखा, ऐसा जाना और ऐसा कहा। वे तो प्रत्यक्ष ज्ञाता एवं द्रष्टा होने के कारण यही कहते कि मैं ऐसा देखता हूँ, ऐसा जानता हूँ और जो देखता जानता हूँ वही कहता हूँ। उस दशा में अंतिम तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित श्रुत-परम्परा भगवान् महावीर की परम्परा न रहकर गौतम केवली की श्रुतपरम्परा कही जाती।

आर्य सुधर्मा उस समय तक चार ज्ञान और चतुर्दश पूर्वों के धारक थे। उन्हें वीर निर्वाण के १२ वर्ष पश्चात् केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। भगवान् द्वारा उपदिष्ट द्वादशांगी का उपदेश करते समय वे छद्मस्थ होने के कारण यही कहते

---

[१] आवश्यक चूर्णि, पृ. ३३९

कि भगवान् ने ऐसा देखा-जाना-उपदेश दिया और इस प्रकार की आज्ञाएं दीं, जैसा मैंने उनसे सुना वही कह रहा हूँ।

इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए तीर्थेश्वर भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट श्रुतपरम्परा को पंचम आरक की समाप्ति पर्यन्त अविच्छिन्न एवं उत्कर्ष की ओर अग्रसर करने वाली उनकी आज्ञाओं को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये केवली गौतम को भगवान् का प्रथम पट्टधर न मान कर चतुर्दश पूर्वधर और मनः पर्यवज्ञानी सुधर्मा को माना गया।

धवलाकार (शक सं० ७३८ अनुमानतः) से ३५८ वर्ष पूर्व मुनि सर्वनन्दि (शक सं० ३८०)[1] द्वारा रचित 'लोक-विभाग' (प्राकृत) के संस्कृत रूपान्तर-कार सिंहसूरर्षि ने 'लोक-विभाग' (संस्कृत) की प्रशस्ति में लिखा है :—

देवों और मनुष्यों की सभा में तीर्थंकर वर्द्धमान प्रभु ने भव्यजनों के हित के लिये जगत् का विधान कहा, जो सुधर्मा स्वामी आदि ने जाना और जो आचार्य-परम्परा से आज तक चला आ रहा है, उसे सिंहसूर ऋषि ने भाषा-परिवर्तन कर विरचित किया उसका निपुण जनों ने सम्मान किया है।[2]

इससे अनुमान किया जाता है कि दिगम्बर समाज में भी प्राचीन काल में आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर मानने की परम्परा प्रचलित थी।

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य धर्मघोष ने अपनी 'दुस्समाकालसमण-संघथयं' – नामक (ऐतिहासिक महत्व की) एक छोटी सी स्तुतिपरक पुस्तिका की अवचूरी में वीर नि० १ से ६० तक पालक के ६० वर्ष के राज्यकाल में हुए युगप्रधान पुरुषों का उल्लेख करते हुए लिखा है :–

"तस्स य वरिस ६० रज्जे गोयम १२ सुहम्म ८ जंबू ४४ जुगप्पहाणा।"[3]

कुछ विद्वानों का इस पर यह अभिमत हो सकता है कि इन तीनों का पृथक् पृथक् समय देते हुए जो कालक्रम की कड़ियां जोड़ी गई हैं, वह भगवान् महावीर के पट्टानुक्रम की ओर ही स्पष्ट इंगित है। परन्तु इस प्रश्न पर सूक्ष्म दृष्टि से थोड़ी सी गम्भीरतापूर्वक विचार करते ही इस प्रकार की आशंका निराधार सिद्ध हो जायगी। युगप्रधान पट्टावली में इन्द्रभूति गौतम का कहीं

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ४५

[2] भव्येभ्यः सुरमानुषोरुसदसि श्रीवर्द्धमानार्हता,
यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिलं ज्ञातं सुधर्मादिभिः।
आचार्यावलिकागतं विरचितं तत् सिंहसूरर्षिणा,
भाषायाः परिवर्तनेन निपुणैः सम्मानितं साधुभिः॥

[3] आर्य जम्बू के अन्तिम ४ वर्षों की गणना अवचूरिकार ने आर्य [illegible] के समय में कर ली है।

नामोल्लेख नहीं है। यदि युगप्रधान आचार्यों में गौतम की गणना की गई होती तो उनका नाम युगप्रधान पट्टावली में अवश्य होता। इससे यह प्रमाणित होता है कि उपरिलिखित रूप से अवचूरी में आचार्य धर्मघोष द्वारा जो गौतम का नामोल्लेख किया गया है, वह वीर निर्वाण के पश्चात् हुए प्रथम केवली के नाते उनके प्रति सम्मान प्रगट करने की दृष्टि से उस युग के महान् पुरुष के रूप में किया गया है न कि युगप्रधानाचार्य के रूप में।

आर्य सुधर्मा के प्रकरण में – 'वर्तमान द्वादशांगी के रचनाकार', 'द्वादशांगी का परिचय', 'द्वादशांगी का ह्रास एवं विच्छेद' और द्वादशांगी विषयक दिगम्बर मान्यता' – इन उपशीर्षकों के अन्तर्गत पृष्ठ सं० ६८ से १८६ तक लगभग ११८ पृष्ठों में द्वादशांगी विषयक सुविस्तृत एवं सर्वाङ्गपूर्ण परिचय दिया गया है। इस प्रकरण को सर्वसाधारण के लिए सुगम तथा शोधार्थियों के लिए उपयोगी बनाने के लिए इस ग्रंथ के प्रधान सम्पादक श्री राठोड़ ने अलभ्य सामग्री उपलब्ध करा, एकादशांगी तथा द्वादशांगी से सम्बन्धित उपलब्ध विपुल साहित्य के गहन अध्ययन के साथ जो अनेक उपयोगी परामर्श दिये हैं, उन्हें कभी नहीं भुलाया जा सकता।

इस प्रकरण में द्वादशांगी की रचना विषयक जो मान्यता-भेद इन दोनों – श्वेताम्बर और दिगम्बर – परम्पराओं में पाया जाता है, उस पर भी, यथाशक्य विशद प्रकाश डाला गया है।

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में एक मत से निर्विवादरूपेण यह उल्लेख उपलब्ध होता है कि भगवान् महावीर के इन्द्रभूति गौतम प्रभृति ग्यारहों गणधर अपने अपने संदेह का प्रभु से समाधान पाकर एक ही दिन भगवान् के पास श्रमणधर्म में दीक्षित हुए। उसी दिन सर्वज्ञ प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान और गणधर पद प्राप्त करने पर तत्काल उत्पन्न हुई गणधर-लब्धि के प्रभाव से उन सबने प्रभु की वाणी के आधार पर सर्व प्रथम चतुर्दश पूर्वो और तदनन्तर शेष दृष्टिवाद सहित एकादशांगी का पृथक्तः ग्रथन-गुंफन किया। तीर्थंकर महावीर की वाणी के आधार पर उन ग्यारहों गणधरों द्वारा स्वतन्त्ररूपेण ग्रथित द्वादशांगी में अर्थतः समानता रहते हुए भी वाचनाभेद रहा है।

जैसा कि आलेख्यमान ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प – "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग" – में बताया जा चुका है, भगवान् के ११ गणधरों में से सात के पृथक्तः, प्रत्येक के एक गण के हिसाब से सात गण, आठवें तथा नौवें गणधर का सम्मिलित एक गण और दसवें एवं ग्यारहवें गणधर का सम्मिलित एक गण – इस प्रकार कुल ९ गण थे। गणधरों की संख्या के अनुसार ग्यारह नहीं पर ९ गणों की दृष्टि से द्वादशांगी की ९ वाचनाएं मानी गई हैं। इन्द्रभूति गौतम एवं सुधर्मा को छोड़कर शेष ९ गणधर, भगवान् महावीर की विद्यमानता में ही अपने अपने गण आर्य सुधर्मा को सम्हला, एक एक मास का

पादोपगमन संथारा कर सिद्ध हो गये।[1] उनके सात गण आर्य सुधर्मा के गण में विलीन हो गये।

इन्द्रभूति गौतम भी वीर निर्वाण के १२ वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपना गण सौंपकर सिद्ध हुए। इस प्रकार भगवान् के दश गणधरों की शिष्य परम्परा और उनकी ८ वाचनाएं उनके (गणधरों के) निर्वाण के साथ ही समाप्त हो गई और परिणामतः केवल सुधर्मा स्वामी की शिष्य-परम्परा और द्वादशांगी की वाचना अवशिष्ट रह गई।[2]

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में द्वादशांगी की रचना के सम्बन्ध में २ प्रकार की मान्यताएँ उपलब्ध होती हैं। धवलाकार से लगभग ढाई सौ – तीन सौ वर्ष पूर्व हुए आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी (विक्रम की छठी शताब्दी) ने तत्त्वार्थ सूत्र पर लिखी गई अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' नामक वृत्ति में सभी गणधरों द्वारा द्वादशांगी की रचना की जाने का स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है –

"सर्वज्ञ परमर्षि तीर्थंकर ने अपने परम अचिन्त्य केवलज्ञान की विभूति की विशिष्टता द्वारा अर्थरूप से आगमों का उपदेश दिया। उन तीर्थंकर के, अतिशय बुद्धि की ऋद्धि से सम्पन्न श्रुतकेवली गणधरों द्वारा भगवान् के उस उपदेश के आधार पर जो ग्रन्थों की रचना की गई, उसे अंगपूर्व लक्षण अर्थात् द्वादशांगी कहते हैं।"[3]

इसी प्रकार धवलाकर के पूर्ववर्ती आचार्य अकलंक देव (वि० ८ वीं शती) ने तत्त्वार्थ सूत्र की राजवार्तिक टीका[4] में तथा विक्रम की ६ वीं शती के आचार्य विद्यानन्द ने 'तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक[5] नामक अपने ग्रन्थ में इसी मान्यता को अभिव्यक्त किया है।

---

[1] (क) परिणिव्वुया गणहरा जीवन्ते णायए णव जणाउ ॥६५८॥ [आवश्यक निर्युक्ति]
(ख) ......यश्च यश्च कालं करोति, स स सुधर्मस्वामिने गणं ददाति.......
[आव० नि०, गा० ६५८ की मलयवृत्ति]

[2] (क) जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एए णं सव्वे अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा, अवसेसा गणहरा निरवच्चा वुच्छिन्ना। [कल्प स्थविरावली]
(ख) अधुनैकादशांग्यस्ति, सुधर्मस्वामिभाषिता ॥१४८॥
[प्रभावकचरित्र, ८ वृद्धवादिचरित्र, पृ० ५७]

[3] तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थतः, आगम, उद्दिष्टः। ....तस्य साक्षात् शिष्यैः बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैः गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थ रचनम्–अंगपूर्वलक्षणम्। [सर्वार्थसिद्धि, १।२०]

[4] अंगप्रविष्टमाचारादि द्वादशभेदं बुद्ध्यतिशयर्द्धि–युक्तगणधरानुस्मृत ग्रन्थ रचनम् ।१२॥ भगवदर्हत्सर्वज्ञहिमवन्निर्गतवाग्गंगार्थविमलसलिलप्रक्षालितान्तःकरणैः बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैः गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम्–आचारादि द्वादशविधमंगप्रविष्टमित्युच्यते। तद्यथा– आचारः, सूत्रकृतम् स्थानम्, समवायः, व्याख्याप्रज्ञप्ति.......।
[तत्त्वार्थवार्तिक, १।२० – १२, पृ० ७२]

[5] ....अर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रथितम्–इति वचनात्।
[तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, पृ० ६]

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि द्वारा "तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा" – इस पद में किये गये तृतीया विभक्ति के एक वचन के प्रयोग से तथा – "तस्य साक्षात् शिष्यैः बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तैः गणधरैः श्रुतकेवलिभिः" इस पद में गणधरों के लिये प्रयुक्त तृतीया विभक्ति के बहुवचन से निर्विवाद रूपेण यही अर्थ प्रकट होता है कि भगवान् महावीर ने अर्थतः आगमों का जो उपदेश दिया उसी को सब गणधरों ने द्वादशांगी के रूप में ग्रथित किया। इसमें आगे ऊहापोह अथवा शंका के लिये किसी प्रकार का अवकाश नहीं रह जाता।

दूसरी मान्यता यह है कि भगवान् से अर्थतः आगमों का उपदेश सुनकर इन्द्रभूति गौतम ने उसी दिन एक मुहूर्त में द्वादशांगी की प्रतिरचना की। तिलोयपन्नत्ति,[1] धवला,[2] जयधवला[3] इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार[4] और अंगपण्णत्ती[5] में इसी मान्यता का प्रतिपादन किया गया है।

धवलाकार ने उपरिवर्णित मान्यता के प्रतिपादन के पश्चात् आगे चलकर अपनी एक ऐसी मान्यता रखी है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं यापनीय आदि सभी परम्पराओं के उपलब्ध समस्त जैन साहित्य में अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। धवलाकार ने केवल द्वादशांगी को ही नहीं अपितु सामाइक, दशवैकालिक आदि १४ सूत्रों, १४ प्रकीर्णकों एवं अंगवर्ज्य आगमों को भी एक मात्र इन्द्रभूति द्वारा ही ग्रथित बताते हुए लिखा है :–

को होदि त्ति सोहम्मिद चालणादो (प्रश्नेन) जादसंदेहेण पंच पंचसयंतेवासिसिहियभादुत्तिदयपरिवुदेण माणत्थंभदंसणेणेव पणट्ठमाणेण वड्ढमाणविसोहिणा वड्ढमाणजिणिंददंसणेण णट्ठासंखेज्जभवज्जियगरुवकम्मेण जिणिंदस्स तिपदाहिणं करिय, पंचमुट्ठीय वंदिय हियएण जिणं झाइय पडिवण्णसंजमेण विसोहिवलेण अंतोमुहुत्तस्स उप्पण्णासेसगणिद [illegible] उवलद्धजिणवयणविणिग्गयवीजपदेण गोदमगोत्तेण वम्हणेण इंदभूइणा–आयार–सूदयडट्ठाण-समवाय-वियाहपण्णत्तिणाहधम्मकहोवासयज्झयणंतयड दस-अणुत्तरोववा-

---

[1] महावीर भासियत्थो तस्सि खेत्तम्मि तत्थकाले य ॥७६॥
विमले गोदमगोत्ते जादेणं, इंदभूदिणामेणं ॥७८॥
भावसुदपज्जएहिं परिणदमइणा य बारसंगाणं।
चोद्दस पुव्वाण तहा, एक्कमुहुत्तेण विरचणा विहिदा ॥७९॥
[तिलोयपण्णत्ति, प्रथम अधिकार]

[2] पुणो तेणिंदभूदिणा भावसुद-पज्जयपरिणदेण बारहंगाणं चोद्दस-पुव्वाणं च [illegible]-मेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा। [धवला, १, १, १, पृ० ६५]

[3] तदो तेण गोअमगोत्तेण इंदभूदिणा अंतोमुहुत्तेणावहारिय [illegible] कप्पदुवालसंगगंथरयणेण.......... [जय धवला]

[4] तेनेन्द्रभूति-गणिना, तद्दिव्यवचोवबुध्य तत्त्वेन।
ग्रन्थोऽङ्गपूर्वनाम्ना प्रतिरचितो युगपदपराह्णे ॥६६॥ [इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार]

[5] सिरिवड्ढमाणमुहकय विणिग्गयं बारहंग-[illegible]।
सिरिगोदमेण रइयं [illegible] ॥४२॥ [अंग पण्णत्ती]

दियदस-पण्णवायरण-विवायसुत्त-दिट्ठिवादाणं-सामाइय-चउवीसत्थय-वंदण-पडिक्कमण-वइणइय-किदियम्म-दसवेयालि-उत्तरज्झयण-कप्पववहार-कप्पाकप्प-महाकप्प-पुंडरीय-महापुंडरीय, णिसिहियाणं, चोद्दसपइण्णयाणमंगवज्जाणं च सावण मास वहुलपक्ख जुगादिपडिवय पुव्वदिवसे जेण रयणा कदा तेणिंदभूदि भडारग्रो वद्धमाण-जिणतित्थगंथकत्तारो ।"

धवलाकार ग्राचार्य वीरसेन के समकालीन पुन्नाट संघीय ग्राचार्य जिनसेन ने धवला से पूर्वरचित अपने ग्रन्थ हरिवंश पुराण में धवला की अपेक्षा और अधिक विस्तार के साथ वताया है कि भगवान् महावीर ने द्वादशांगी, पूर्वों तथा पूर्वों की चूलिकाओं के ज्ञान का उपदेश देने के पश्चात् सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक तथा जिसमें सभी प्रायश्चित्तों का विधान है उस निषद्यका (निषीथ) का उपदेश दिया। तदनन्तर प्रभु ने अपनी देशना में मति आदि पांचों ज्ञान के स्वरूप, विषय, फल, अपरोक्ष-परोक्षता, मार्गणा भेद, गुणस्थान विकल्पों, जीवस्थान के भेद-प्रभेदों सहित जीव द्रव्य का, सत्संख्यादि अनुयोगों आदि के द्वारा पुद्गलों एवं उनके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व, वन्ध, मोक्ष, लोक, अलोक आदि का विशद ज्ञान दिया। प्रभु के उस उपदेश के आधार पर गौतम गणधर ने अंग प्रविष्ट द्वादशांगी एवं उपांगों की रचना की।[1]

---

[1] अंगप्रविष्टतत्त्वार्थ, प्रतिपाद्य जिनेश्वरः ।
अंगवाह्यमवोचत्तत्प्रतिपाद्यार्थरूपतः ॥१०१॥
सामायिकं यथार्थाख्यं सचतुर्विंशतिस्तवम् ।
वन्दनां च ततः पूतां, प्रतिक्रमणमेव च ॥१०२॥
वैनयिकं विनेयेभ्यः कृतिकर्म ततोऽवदत् ।
दशवैकालिकां पृथ्वीमुत्तराध्ययनं तथा ॥१०३॥
तं कल्पव्यवहारं च कल्पाकल्पं तथा महा-
कल्पं च पुण्डरीकं च, सुमहापुण्डरीककम् ॥१०४॥
तथा निषद्यकां प्रायः प्रायश्चित्तोपवर्णनम् ।
जगत्त्रयगुरुः प्राह प्रतिपाद्यं हितोद्यतः ॥१०५॥
मत्यादेः केवलान्तस्य, स्वरूपं विषयं फलम् ।
अपरोक्षपरोक्षत्वं, ज्ञानस्योवाच संख्यया ॥१०६॥
मार्गणास्थानभेदैश्च, गुणस्थान विकल्पनैः ।
जीवस्थानप्रभेदैश्च, जीव-द्रव्यमुपादिशत् ॥१०७॥
सत्संख्याद्यनुयोगैश्च, ससामादिकमादिभिः ।
द्रव्यं स्वलक्षणैर्भिन्नं, पुद्गलादिविलक्षणम् ॥१०८॥
द्विविधं कर्मबन्धं च, सहेतुं-गुण दुःखदम् ।
मोक्षं मोक्षस्य हेतुं च, फलं चाष्टगुणात्मकम् ॥१०९॥
बन्ध-मोक्षफलं [illegible], [illegible] ।
[illegible] लोकमलोकं च बहिःस्थितम् ॥११०॥
[illegible] ।
[illegible], सोपांगं गौतमो व्यधात् ॥१११॥
[हरिवंश पुराण, सर्ग २, पृ० [illegible]]

पूज्यपाद देवनन्दी ने तत्त्वार्थ सूत्र की अपनी सर्वार्थ-सिद्धिवृत्ति में दश-वैकालिक आदि अंगबाह्य आगमों को आरातीय आचार्यों की रचना बताते हुए लिखा है :-

"आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहाथ दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम् । तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घट-गृहीतमिव ।

पूज्यपाद देवनन्दी के इस उल्लेख से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उनके समय तक दिगम्बर परम्परा में भी दशवैकालिक एकादशांगी के समान परम प्रामाणिक माना जाता था ।"

दिगम्बर आचार्य अकलंक देव ने भी तत्त्वार्थ वार्त्तिक में अंग बाह्य आगमों को आरातीय आचार्यों द्वारा रचित बताते हुए लिखा है :-

"आरातीयाचार्य-कृतांगार्थ-प्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम् ।।१३।।

यद्गणधर-शिष्य-प्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधा-युर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्तांगार्थवचनविन्यासं तदंगबाह्यम् ।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ मूलाचार में सूत्र की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतिकेवली और सम्पूर्ण १० पूर्वों के धारण करने वाले आचार्यों द्वारा ग्रथित आगम को ही श्रुत के नाम से अभिहित किया जा सकता है । यथा :-

सुत्तं गणहरकथिदं, तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च ।[3]
सुदकेवलिणाकथिदं, अभिण्णदसपुव्वकथिदं च ।।४।।

श्वेताम्बर परम्परा के टीका, चूर्णि भाष्य आदि मान्य ग्रन्थों में अंग प्रविष्ट (द्वादशांगी) को गणधरों द्वारा ग्रथित[4] एवं अंगबाह्य आगमों को विशुद्ध आगम बुद्धि संयुक्त (चतुर्दशपूर्वधर एवं अभिन्न दशपूर्वधर) आचार्यों द्वारा द्वादशांगी के आधार पर रचित माना गया है ।[5]

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, १, २०, पृ० १२४

[2] तत्त्वार्थ वार्त्तिक, १. २०, पृ० ७८

[3] मूलाचार ३.८०

[4] जे अरहंतेहिं भगवंतेहिं अईयाणागयवट्टमाण – दव्वखेत्तकालभावजहावत्थितदंसीहिं अत्था परूविया ते गणहरेहिं परमबुद्धिसन्निवायगुणसंपण्णेहिं सयं चेव तित्थगरसगासाओ उवलभिऊणं सव्व-सत्ताणं हियट्ठयाए सुत्तत्तेण उवणिबद्धा तं अंगपविट्ठं, आयाराइ दुवालस-विहं । [आवश्यक चूर्णि, भाग १. पृ० ८]

[5] जं पुण अण्णेहिं विसुद्धागमबुद्धिजुत्तेहिं थेरेहिं अप्पाउयाणं मणुयाणं अप्पबुद्धिसत्तीणं य दुग्गाहमंति णाऊण तं चेव आयाराइ सुयणाणं परंपरागयं अत्थओ गंथओ य अतिबहुं ति णाऊण अणुकंपानिमित्तं दसवेयालियमादि परूवियं तं अणेगभेयं अणंगपविट्ठं ।

मणक मुनि के हितार्थ आचार्य शय्यंभव द्वारा द्वादशांगी में से दशवैकालिक सूत्र के निर्यूढ किये जाने का स्पष्ट उल्लेख दशवैकालिक निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा में किया गया है :-

मणगं पडुच्च सज्जंभवेण, निज्जूहिया दसज्झयणा।
वेयालियाइ ठविया, तम्हा दसकालियं णाम ॥[1]

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के प्राचीन एवं प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थों के उपर्युद्धृत उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि गणधरों ने प्रभु महावीर के उपदेश के आधार पर केवल द्वादशांगी की ही प्रतिरचना की। द्वादशांगी वस्तुतः गणधरों की कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त चारित्र के धनी तीर्थंकर प्रभु महावीर ने जो निखिलार्थ प्रतिपादी अथाह ज्ञान का उपदेश दिया उस ही को कतिपय अंशों में हृदयंगम कर गणधरों ने उसे द्वादशांगी का रूप दिया; अतः उनकी इस ग्रथन क्रिया के लिये रचना की अपेक्षा प्रतिरचना शब्द का प्रयोग विशेष उपयुक्त जंचता है। वस्तुतः द्वादशांगी में समस्त ज्ञेय को समाविष्ट कर दिया गया था। उसमें प्रतिपादित ज्ञान के अतिरिक्त कोई विशिष्ट ज्ञातव्य अवशिष्ट ही नहीं रह गया था, जिसके लिये द्वादशांगी के अतिरिक्त और किसी आगम की प्रतिरचना की गणधरों को आवश्यकता रहती।

"जस्स जत्तियाइं सीसाइं तस्स तत्तियाइं पइण्णगसहस्साइं" - नन्दीसूत्र के इस उल्लेखानुसार भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यों (गणधरों के अतिरिक्त) तथा प्रत्येक बुद्धों, शय्यंभव और भद्रबाहु जैसे चतुर्दश-पूर्वधर तथा श्यामार्य जैसे दशपूर्वधर एवं श्रुतार्थतत्त्वपारगामी देवर्द्धि जैसे आचार्यों द्वारा द्वादशांगी के अथाह ज्ञान में से साधकों के लिये परमोपयोगी ज्ञान को चुन-चुन कर पृथक्-पृथक् प्रकीर्णकों के रूप में संकलित आगम ही अंगबाह्य आगम हैं। यदि संक्षेप में यह कहा जाय तो उपयुक्त होगा कि अंगबाह्य आगम द्वादशांगी रूपी अगाध अमृत-सागर में से भर कर पृथकतः रखे हुए अमृतघट तुल्य हैं।

इन सब तथ्यों के पर्यालोचन के पश्चात् सुनिश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रभु की प्रथम देशना के पश्चात् उसी दिन गणधरों ने द्वादशांगी की रचना की। तदनन्तर तीर्थंकर के समस्त अतिशयों से युक्त भगवान् महावीर ने ३० वर्ष तक विचरण करते हुए अपनी देशनाओं में समसामयिक, भूत अथवा भावी घटनाओं, चरित्रों, दृष्टान्तों आदि प्रसंगोपात्त विविध विषयों का जो दिग्दर्शन कराया उनके आधार पर स्थविरों ने आगमों की रचना की। जैसा कि 'उत्तराध्ययन' शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्टतः प्रकट होता है कि यह सूत्र प्रभु महावीर द्वारा दिये गये उत्तरकालवर्ती उपदेशों के आधार पर ग्रथित अध्ययनों का संकलन है। समवायांग और कल्पसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर

---

[1] दशवैकालिक निर्युक्ति, गा. १५ (हरि)

ने सोलह प्रहर की अपनी अन्तिम देशना में पुण्य फल के ५५, पाप फल विपाक[1] के ५५ एवं अपृष्ट व्याकरण (उत्तराध्ययन) के ३६ अध्ययन कहे और ३७ वें अध्ययन का उपदेश देते देते वे शैलेशी दशा में पहुँच निर्वाण को प्राप्त हो गये।[2]

इस प्रकार श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के उपरिचर्चित उल्लेखों के पर्यालोचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि द्वादशांगी की रचना किसी एक गणधर ने नहीं अपितु सभी गणधरों ने की और निर्वाणानन्तर पश्चाद्वर्ती काल में समय समय पर आवश्यकतानुसार चतुर्दश पूर्वधर तथा कम से कम दशपूर्वधर आचार्यों ने अंगबाह्य आगमों की दृष्टिवाद के पूर्वांग में से संकलना की।

आचार्य वीरसेन ने गौतम द्वारा द्वादशांगी के साथ ही अंगवर्ज्य १४ आगमों की रचना का जो उल्लेख धवला में किया है, उस पर एक प्रश्न उपस्थित होता है। वह यह है कि दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थकारों एवं स्वयं धवलाकार के उल्लेखानुसार वीर नि० सं० ६८३ के पश्चात् सम्पूर्ण द्वादशांगी में से किसी एक अंग तक का ज्ञाता मुनि भी यहां विद्यमान नहीं रहा। क्रमिक ह्रास होते होते वीर निर्वाण संवत् ६८३ में अवशिष्ट अंतिम अंग आचारांग का भी आर्यधरा से लोप हो गया। तब प्रश्न उठता है कि अंगवर्ज्य आगमों का क्या हुआ? वे कुछ अवशिष्ट रहे, अथवा द्वादशांगी के साथ ही सबके सब विलुप्त हो गये? न तो धवलाकार ने इस विषय में कोई उल्लेख किया है और न किसी अन्य ग्रन्थकार ने ही। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर शोधप्रिय विद्वान् अवश्य प्रकाश डालेंगे ऐसी आशा है।

२. श्रुतकेवलिकाल – पृष्ठ २९१ से ३८० तक कुल ८९ पृष्ठों के इस प्रकरण में श्रुतकेवलिकाल के चतुर्दशपूर्वधर ५ आचार्यों के जीवन परिचय के साथ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में उन आचार्यों की समान संख्या किंतु नामभेद, उनके समय में घटित विशिष्ट ऐतिहासिक महत्व की घटनाओं, दशवैकालिकसूत्र की रचना, प्रथम आगम वाचना, छेदसूत्रों की रचना, भद्रबाहु के इतिवृत्त को लेकर दोनों परम्पराओं में व्याप्त कतिपय भ्रान्त धारणाओं, भिन्न समय में हुए आचार्य भद्रबाहु और मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त को समकालीन ठहराने तथा उनके समय में दिगम्बर श्वेताम्बर-भेद के तथाकथित बीजारोपण की केवल काल्पनिक (एवं नितान्त निर्मूल) मान्यता के जन्म तथा क्रमिक विकास, उपलब्ध निर्युक्तियों को श्रुतकेवली भद्रबाहु की रचना मानने विषयक भ्रान्ति, ओसवाल वंश की उत्पत्ति, गोदास गण तथा सर्वप्रथम गोदासगण और उसकी शाखाओं के प्रादुर्भाव आदि महत्व के अनेक विषयों पर अनुसन्धानात्मक विवेचन प्रस्तुत कर यथाशक्य पूरा प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

यह प्रकरण वस्तुतः अनेक दृष्टियों से बड़ा ही महत्वपूर्ण है। श्वेताम्बर और दिगम्बर – दोनों ही परम्पराओं के परवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा और निर्णीत

---

[1] ये दोनों विपाकसूत्र से भिन्न हैं, वर्तमान में उपलब्ध नहीं होते।

[2] देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० ८३८

सं० १७० (श्वे० मान्यतानुसार) अथवा वीर नि० सं० १६२ (दिगम्बर मान्यतानुसार) स्वर्गस्थ हुए श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं के साथ अनुमानतः वीर नि० सं० ६३० से ६६० के बीच हुए नैमित्तिक भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं को नाम साम्य के कारण जोड़ दिए जाने के फलस्वरूप दोनों परम्पराओं में एक लम्बे समय से अनेक भ्रान्त धारणाएं चली आ रही हैं। इस प्रकरण में इन्हीं दोनों परम्पराओं के प्राचीन एवं मध्ययुगीन ग्रन्थों तथा शिलालेख के आधार पर दोनों परम्पराओं के हृदयों में घर की हुई उन भ्रान्तियों का निराकरण किया गया है।

भगवान् महावीर का धर्मसंघ श्वेताम्बर और दिगम्बर — इन दो परम्पराओं के रूप में किस प्रकार विभक्त हुआ — इस विषय में तो दोनों परम्पराओं की मान्यताओं में आकाश-पाताल का सा अन्तर है। किन्तु यह मतभेद किस समय उत्पन्न हुआ — इस प्रश्न पर यदि मोटे तौर पर विचार किया जाय तो दोनों परम्पराओं की मान्यता में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होगा। केवल तीन वर्ष का अन्तर है। इस प्रकार का सम्प्रदायभेद दिगम्बर परम्परा की प्राचीन एवं साधारणतया वर्तमान में प्रचलित मान्यतानुसार वीर नि० सं० ६०६ में और श्वेताम्बर परम्परा की सर्वसम्मत मान्यतानुसार वीर नि० सं० ६०९ में उत्पन्न हुआ, माना जाता है।

दिगम्बर मत कब और किस प्रकार उत्पन्न हुआ इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थकार एकमत हैं। जबकि श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई — इस विषय में दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थकारों में मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के जिन-जिन ग्रन्थों में उल्लेख देखे गये हैं वे सब परस्पर एक दूसरे से न्यूनाधिक भिन्न ही हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के उपरिलिखित प्रकरण में पृष्ठ संख्या ३३७ से ३५८ तक २२ पृष्ठों में एतद्विषयक दिगम्बर परम्परा की विभिन्न मान्यताओं का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

दिगम्बर-परम्परा के आचार्य देवसेनकृत 'भावसंग्रह' (दर्शनसार के कर्ता से भिन्न) आचार्य हरिषेणकृत 'वृहत्कथाकोष' (वीर नि० सं० १४५९), अपभ्रंश भाषा के कवि रयधूकृत 'महावीर चरित्' (वि० सं० १४९५ तदनुसार वीर नि० सं० १९६५) और भट्टारक रत्ननन्दिकृत 'भद्रबाहु चरित्र' (वि० सं० १६२५ तदनुसार वीर नि० सं० २०९५) — इन चार ग्रन्थों में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में श्वेताम्बर परम्परा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन उल्लेख 'दर्शनसार' का है। अपने से पूर्ववर्ती किसी प्राचीन आचार्य द्वारा रचित एक गाथा[1] को आचार्य देवसेन ने वि० सं० ९९० में रचित अपने

---

[1] छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो, सेवडसंघो हु वलहीए॥ [दर्शनसार तथा भावसंग्रह]

छोटे पर ऐतिहासिक महत्व के ग्रन्थ 'दर्शनसार' में उल्लेख किया है। उसी गाथा को मूलाधार के रूप में प्रथम स्थान देते हुए देवसेन[1] (दर्शनसार के रचयिता देवसेन से भिन्न) ने अपने ग्रन्थ 'भावसंग्रह' में श्वेत पट संघ की उत्पत्ति का जो विवरण दिया है उससे निम्नलिखित बातें स्पष्टतः प्रकट होती हैं :-

१. निमित्त ज्ञानी भद्रबाहु नामक आचार्य विक्रम सं० १२४ तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् ५९४ में उज्जयिनी में ठहरे हुए थे।

२. उन्होंने अपने निमित्तज्ञान के बल पर समस्त श्रमण संघों को सूचित किया कि अवन्ती सहित समस्त उत्तरापथ में भीषण दुष्काल पड़ने वाला है जो १२ वर्ष तक चलेगा। अतः सभी श्रमण उत्तरापथ से विहार कर सुभिक्षा वाले क्षेत्रों की ओर चले जायं।

३. सभी आचार्य अपने-अपने संघ सहित उत्तरापथ से विहार कर अन्यत्र चले गये। शान्ति नामक आचार्य सौराष्ट्र प्रदेश के वल्लभी नगर में पहुँचे पर वहां भी बड़ा भयंकर दुष्काल पड़ गया। दुष्कालजन्य अपरिहार्य परिस्थितियों में शान्त्याचार्य के संघ के श्रमणों ने दण्ड, कम्बल, पात्र, श्वेतवस्त्रादि धारण कर श्रमणों के लिये वर्जित शिथिलाचार की शरण ली।

४. शेष श्रमणों के संघ जहां जहां गये वहां संभवतः सुभिक्ष रहा और उन्होंने अपने विशुद्ध एवं कठोर श्रमणाचार में किसी प्रकार का शैथिल्य नहीं आने दिया।

५. सुभिक्ष होने पर शान्त्याचार्य ने अपने शिष्य-समूह को सत्परामर्श दिया कि वे दण्ड, वस्त्र, पात्रादि का परित्याग कर प्रायश्चित लें और पूर्ववत् कठोर श्रमणाचार में प्रवृत्त हो जायं। शान्त्याचार्य के कटुसत्य आदेश से क्रुद्ध हो उनके जिनचन्द नामक प्रमुख शिष्य ने उनके कपाल पर दण्ड प्रहार किया जिससे उनका प्राणान्त हो गया।

६. शान्त्याचार्य की हत्या कर जिनचन्द्र उनके संघ का आचार्य बन गया और उसने स्वेच्छानुसार अपने आचरण के अनुकूल नवीन शास्त्रों की रचना की।

७. दिगम्बर मान्यतानुसार वीर नि० सं० १६२ में स्वर्गस्थ हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु का न कहीं इसमें उल्लेख है और न विशाखाचार्य, रामिल्ल, स्थूलभद्र, स्थूलाचार्य अथवा सम्राट् चन्द्रगुप्त का ही। यह पूरा विवरण वस्तुतः दि०

---

[1] 'भाव संग्रह' और 'सुलोयणा चरिउ' के रचनाकार देवसेन ने अपने आपको [illegible] का प्रशिष्य और विमलसेन (अपरनाम मलधारिदेव) का शिष्य बताया है। इन्होंने 'सुलोयणा चरिउ' में कवि-पुष्पदंत का, जिनका समय वि० सं० १०२९ अर्थात् दर्शनसार के कर्त्ता देवसेन से ३९ वर्ष बाद का है। इन शब्दों में स्मरण किया है :-
सउमुह-ससंड-पमुहेहिं [illegible]

सं० १२४ से १३६ के बीच का और उस समय में हुए नैमित्तिक भद्रबाहु से सम्बन्धित बताया गया है।

अवन्ती में भावी द्वादशवर्षीय दुष्काल की नैमित्तिक भद्रबाहु द्वारा पूर्व सूचना पर संघ तथा भद्रबाहु में दक्षिणगमन का जो विवरण आचार्य देव सेन ने प्राचीन गाथा के उल्लेख के साथ भाव संग्रह में किया है, उसकी पुष्टि, श्रमण बेलगोल पार्श्वनाथ वसति के शक सं० ५२२ (वि० सं० ६५७) के शिला लेख से होती है।[1]

अब तो गहन शोध के पश्चात् दिगम्बर परम्परा के अन्य अनेक विद्वान् भी स्पष्ट रूप से कहने लगे हैं कि दक्षिण में प्रथम भद्रबाहु नहीं अपितु द्वितीय भद्रबाहु गये थे। डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी, आचार्य, पुस्तकालयाध्यक्ष एवं प्राध्यापक नवनालन्दा महाविहार (नालन्दा) ने लिखा है :-

"हम श्रवण बेलगोल के एक लेख (प्र. भा. नं. १) से जानते हैं कि दक्षिण भारत में सर्वप्रथम भद्रबाहु द्वितीय आये थे और वहां जैन धर्म की प्रतिष्ठा इनसे ही हुई थी, पर कदम्बवंशी नरेशों के एक लेख (९८) से मालूम होता है कि ईसा की ४-५ वीं शताब्दी में जैन संघ के वहां विशाल दो संप्रदाय – श्वेतपट महाश्रमण संघ और निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ – का अस्तित्व था। इसी तरह इस वंश के कई लेखों में जैनों के यापनीय और कूर्चक नाम संघों का उल्लेख मिलता है, जो कि एक प्रकार से उक्त दोनों से भिन्न थे।

दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एवं यापनीय तथा कूर्चक संप्रदायों की स्थापना किसने की, यह बात स्पष्ट रूप से हमें लेखों से विदित नहीं होती, पर यह कहने में शायद आपत्ति नहीं होगी कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय वहां भद्रबाहु (द्वितीय) द्वारा स्थापित हुआ।"[2]

उपरिलिखित प्राचीन गाथा, शिला लेख एवं शोधकर्त्ताओं द्वारा समर्थित आचार्य देवसेन के विवरण के विपरीत आचार्य हरिषेण (वीर नि० सं० १४५९) ने अपने 'कथाकोश' में वीर नि० सं० ६०६ के आसपास हुए निमित्तज्ञ भद्रबाहु के इस आख्यान को वीर नि० सं० १६२ में स्वर्गस्थ हुए श्रुत केवली भद्रबाहु के साथ जोड़कर निम्नलिखित नवीन बातें और बढ़ा दी हैं।

---

१ ·······महावीर सवितरि परिनिर्वृत्ते ······गौतम ······लोहार्य जम्बुविष्णुदेवापराजित गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाख-प्रोष्ठिल-कृत्तिकार्य-जयनाम-सिद्धार्थ-धृतिषेण-बुद्धिलादि गुरु परम्परीण वक्र (क्र) माभ्यागतमहापुरुष-संतति समवद्योतितान्वय भद्रबाहुस्वामिना उज्जयन्यामष्टांगमहानिमित्ततत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सरकालवैषम्य-मुपलभ्य कथिते सर्वसंघ उत्तरापथाद्दक्षिणापथं प्रस्थितः।

[जैन शिलालेख संग्रह भा० १, शिलालेख सं० १]

२ [जैन शिलालेख संग्रह, भा. ३ (माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थ माला समिति), प्रस्तावना, पृ. ३३]

अवन्ती में भावी बारह वर्षीय दुष्काल की सूचना श्रुतकेवली भद्रबाहु ने श्रमण संघ को देते हुए निर्देश दिया कि सब श्रमण उत्तरा पथ से दक्षिणापथ में लवण समुद्र के तटवर्ती प्रदेश की ओर विहार कर जायं। दुष्काल का हाल सुनकर मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के पास दीक्षा ग्रहण करली और १० पूर्वों का अध्ययन कर वे विशाखाचार्य के नाम से विख्यात हुए। उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर भद्रबाहु वहीं रहे और विशाखाचार्य ने श्रमण संघ सहित दक्षिण की ओर विहार किया।

वे दक्षिण के पुन्नाट प्रदेश में पहुंचे। रामिल्ल, स्थूलाचार्य एवं स्थूलभद्र ये तीनों अपने संघ के साथ सिन्धु प्रदेश में चले गये।

आचार्य भद्रबाहु उज्जयिनी के अन्तर्गत भाद्रपद नामक स्थान पर अनशन कर एवं समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्गस्थ हुए।

विशाखाचार्य (चन्द्रगुप्त) अपने श्रमण समूह के साथ जिस प्रदेश में गये थे वहां सुभिक्ष रहा और वे विशुद्ध श्रमणाचार पालते रहे। सिन्धु प्रदेश में भीषण दुष्काल के कारण रामिल्ल, स्थूलाचार्य एवं स्थूलभद्र के श्रमण दण्ड कम्बल पात्रादि धारण कर शिथिलाचारी बन गये। सुभिक्ष होने पर रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य इन तीनों ने निर्ग्रन्थ श्रमणाचार स्वीकार कर लिया पर हीन मनोबल वाले श्रमणों ने स्थविरकल्प परम्परा का प्रचलन किया।

भट्टारक रत्ननन्दी ने भी वीर निर्वाण सम्वत् २०९५ में रचित अपने भद्रबाहु चरित्र नामक ग्रंथ में मुख्य रूप से हरिषेण का अनुसरण करते हुए निम्नलिखित कुछ बातें जोड़ी हैं :-

चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्न, रामल्य, स्थूलाचार्य एवं स्थूलभद्र आदि साधुओं का अवन्ती से विहार कर उज्जयिनी के उपवनों में ही रहना, भद्रबाहु का दक्षिण के लिये विहार, पर एक विस्तीर्णवन में निमित्त ज्ञान से अपनी स्वल्पायु का बोध होने पर चन्द्रगुप्तिमुनि (राजा चन्द्रगुप्त) के साथ वहीं रुक जाना और विशाखाचार्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर समस्त श्रमणसंघ के साथ बारह वर्ष पर्यन्त दक्षिणी प्रदेशों में विचरण करते रहने का निर्देश, चन्द्रगुप्ति और विशाखाचार्य को पृथक्-पृथक् दो मुनि बताना अर्थात् हरिषेण ने चन्द्रगुप्त के दीक्षित होने पर उसका नाम विशाखाचार्य रखे जाने का जो उल्लेख किया है उसका निराकरण कर चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्ति मुनि बताना, चन्द्रगुप्ति मुनि को देव-निर्मित नगर में देवपिण्ड प्राप्त होते रहना, भद्रबाहु के स्वर्गगमन के अनन्तर उनके चरण-चिन्हों की सेवा, रामल्य, स्थूलाचार्य, स्थूलभद्रादि श्रमणों का वेष परिवर्तन और शिथिलाचार, सुभिक्ष हो जाने पर विशाखाचार्य का पुनः अवन्ती की ओर विहार, मार्ग में चन्द्रगुप्ति से मिलन, देवपिण्ड का सब श्रमणों द्वारा ग्रहण, रहस्योद्घाटन, प्रायश्चित्त, विशाखाचार्य का श्रमणों में प्राधान्य, उनके द्वारा श्रमणाचार से विपरीत वेष और आचरण धारण करने वाले श्रमण

आदि के साधुओं की भर्त्सना, स्थूलाचार्य द्वारा अपने श्रमणों को विशुद्ध श्रमणाचार के पालन करने का परामर्श, क्रुद्ध साधुओं द्वारा स्थूलाचार्य की हत्या आदि।

भट्टारक रत्ननन्दी से १३० वर्ष पूर्व हुए कवि रयधू (वीर नि. सं. १९६५) ने महावीर चरित् में चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्ति को राजराजेश्वर बनाये जाने, चन्द्रगुप्ति के पुत्र विन्दुसार, पौत्र अशोक प्रपौत्र णउकु (कुणाल) का वर्णन करते हुए सौतेली मां के षडयन्त्र द्वारा उसको अन्ध बना दिये जाने के उल्लेख के पश्चात् लिखा है कि अशोक ने अन्धे कुणाल के पुत्र चन्द्रगुप्ति को मौर्य साम्राज्य का अधिपति बनाया। कुणाल के पुत्र चन्द्रगुप्ति ने एक रात्रि में १६ स्वप्न देखे। भद्रबाहु से अपने स्वप्नों का दारुण फल सुनकर चन्द्रगुप्ति (सम्प्रति) ने विरक्त हो उनकी सेवा में निर्ग्रन्थ-श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली।

रयधू ने इसके पश्चात् भद्रबाहु द्वारा दुष्काल की पूर्व-सूचना से लेकर सुभिक्ष के अनन्तर स्थूलाचार्य आदि के श्रमणों द्वारा शिथिलाचार में प्रवृत्त रहने तक का शेष वर्णन रत्ननन्दी की तरह ही किया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि हरिषेण, रत्ननन्दी आदि दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने जहां मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को श्रुतकेवली भद्रबाहु का समकालीन बनाकर श्वेताम्बर दिगम्बर मतोत्पत्ति की घटना को वीर नि. सं. १६२ में घटित होना और आचार्य देवसेन ने चन्द्रगुप्ति, विशाखाचार्य वामिल्ल, स्थूलाचार्य, स्थूलभद्राचार्य आदि किसी का किसी प्रकार उल्लेख न करते हुए वीर नि. सं. ५९४ में विद्यमान भद्रबाहु नामक नैमित्तिक भद्रबाहु के समय में सम्प्रदाय-भेद होना बताया है वहां रयधू ने मौर्य-सम्राट सम्प्रति (कुणालपुत्र) को चन्द्रगुप्ति के नाम से अभिहित करते हुए उसके अन्तिम समय में वीर नि. सं. ३३० के आसपास इस सम्प्रदाय भेद की उत्पत्ति होना बताया है। इससे स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय भेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के पास कोई सर्वसम्मत प्रामाणिक आधार नहीं था, जिसके फलस्वरूप जिसने जैसा सुना, जिसके सामने जैसी किंवदन्ती आई उसने उसी को आधार मान कर उसमें अपनी ओर से दो चार नाम और कुछ नई बातें बढ़ाकर लिख डाला। (दिगम्बर परम्परा में) यदि इस विषय में कोई ठोस प्रामाणिक आधार होता तो 'जितने मुंह उतनी बात' इस कहावत के अनुसार (दिगम्बर परम्परा के) विभिन्न ग्रंथों में इस प्रकार के आकाश-पाताल तुल्य अन्तर वाले परस्पर विरोधी उल्लेख कदापि नहीं किये जाते।

दिगम्बर परम्परा के उपरिचर्चित उल्लेखों में कौन से उल्लेख में कितनी सच्चाई है और कितनी कोरी कल्पना—यह निर्णय तो प्रत्येक उल्लेख को इतिहास की कसौटी पर कसने के अनन्तर ही किया जा सकता है। यह तो ऊपर बताया जा चुका है कि दिगम्बर परम्परा के सब से प्राचीन शिलालेख (श्रवण बेलगोल-पार्श्वनाथ बसदि, जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेख सं. १) में आचार्य सिद्धार्थ, धृतिषेण एवं बुद्धिल आदि के बहुत काल पश्चात् हुए नैमित्तिक आचार्य

भद्रबाहु द्वितीय द्वारा अवन्ती में भावी द्वादशवार्षिक दुष्काल की भविष्यवाणी के पश्चात् उनके श्रमण संघ सहित दक्षिण में जाने का उल्लेख है न कि श्रुतकेवली भद्रबाहु का। यदि यह ऐतिहासिक महत्व की घटना श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन से सम्बन्धित होती तो उस प्राचीन शिलालेख में इसका अवश्य उल्लेख होता। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, गहन अन्वेषण के पश्चात् दिगम्बर परम्परा के आधुनिक इतिहास गवेषक भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि दक्षिण में प्रथम भद्रबाहु नहीं अपितु नैमित्तिक भद्रबाहु द्वितीय गये थे।

हरिषेण, रत्ननन्दी आदि विद्वानों द्वारा उल्लिखित श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय भेद की उत्पत्ति विषयक उपरिचर्चित विवरणों को ऐतिहासिक तथ्यों की कसौटी पर कसने के पश्चात् वे केवल किंवदन्ती पर आधारित ही नहीं अपितु नितान्त काल्पनिक और तथ्यविहीन ही सिद्ध होते हैं। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु तथा दशपूर्वधर आचार्य स्थूलभद्र के प्रकरण में भारत, यूनान और विश्व के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में इस तथ्य को भली-भांति सिद्ध कर दिया गया है कि ईसा पूर्व ३२७ (वीर नि. सं. २००) में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। ईसा पूर्व ३२४ तक उत्तरी सीमावर्ती राजा एवं पंजाब के छोटे-छोटे गणराज्य सिकन्दर से लोहा लेते हुए उसको आगे बढ़ने से रोकते रहे। सिकन्दर के सर्वोच्च सेनानायकों तथा यूनानी राजदूत मेगस्थनीज द्वारा लिखे गये कतिपय महत्वपूर्ण तथ्यों के आधार पर ईसा पूर्व तथा ईसा की प्रथम, द्वितीय शताब्दी में यूरोपीय विद्वानों ने जो रचनाएं कीं, उनमें स्पष्ट उल्लेख किया है कि पोरस तथा चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को शक्तिशाली नन्द साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहित किया था। उन्होंने सिकन्दर को बताया कि गंगादिराई का राजा बिल्कुल दुश्चरित्र शासक है, कोई उसका सम्मान नहीं करता आदि आदि। ईसा की दूसरी शताब्दी के विद्वान् जस्टिन ने अपनी रचना 'एपिटोम' (सारसंग्रह) में स्पष्ट लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने भारतीयों में यूनानी शासन के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़काई। उसने लुटेरों का दल गठित किया और हाथी पर सवार हो वह यूनानियों से लड़ता रहा।

इस प्रकार विदेशी निष्पक्ष साक्षियों से समर्थित केवल निर्विवाद ही नहीं अपितु सर्व सम्मत ऐतिहासिक तथ्य से यह अन्तिम रूप से सिद्ध हो जाता है कि ईसा पूर्व ३२७ से ३२४ (वीर नि० सं० २०० से २०३) तक चन्द्रगुप्त एक देशभक्त साधारण सैनिक के रूप में और नवम नन्द मगध के महाशक्तिशाली सम्राट् के रूप में विद्यमान था। सिकन्दर के पश्चाद्वर्ती यूनानी शासक सेल्युकस और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में किये गये यूनानी लेखकों के उल्लेखों के सन्दर्भ में चन्द्रगुप्त, चाणक्य और मगध सम्राट् नवम नन्द विषयक भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि चाणक्य ने ईसा पूर्व ३१२ तदनुसार वीर नि० सं० २१५ में नन्द साम्राज्य का अन्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य को पाटलिपुत्र के साम्राज्य का अधिपति बनाया।

सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्टतः भासमान इन ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में वस्तुतः दिगम्बर परम्परा के उपरिचर्चित हरिषेण, रत्ननन्दी आदि द्वारा किये गये श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य को समकालीन बताने वाले उल्लेख केवल काल्पनिक किंवदन्ती मात्र ही सिद्ध होते हैं। क्योंकि एक ओर तो दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थ, समस्त पट्टावलियां वीर नि० सं० १६२ में श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास होना मानती हैं और दूसरी ओर भारतीय, यूनानी एवं विश्व-इतिहास से निर्विवादरूपेण यह सिद्ध है कि ईसा पूर्व ३२४ (वीर नि० सं० २०३) में अर्थात् श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गस्थ हो चुकने के ४१ वर्ष पश्चात् तक चन्द्रगुप्त साधारण सैनिक और नन्द मगध का शक्तिशाली सम्राट् था। 'तित्थोगालियपइन्ना' जैसे प्राचीन, प्रामाणिक एवं निष्पक्ष ग्रन्थ से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि वीर नि० सं० २१५ में नन्द साम्राज्य का अन्त और मौर्य साम्राज्य का अभ्युदय हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य हरिषेण और रत्ननन्दी ने जिस समय ये विवरण लिखे, उस समय ये प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथ्य उनके ध्यान में नहीं आये कि सम्प्रति के मगध सम्राट् बनने तक केवल पाटलिपुत्र ही मगध साम्राज्य की राजधानी रही, अवन्ती वस्तुतः सम्प्रति के राज्यारोहण के पश्चात् १ वर्ष तक कुमार भुक्ति में ही रही। इस इतिहास प्रसिद्ध तथ्य की ओर ध्यान न जाने के कारण ही हरिषेण आदि ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के अवन्ती में रहने की बात का उल्लेख किया है।

इस प्रकार के उल्लेखों के पीछे पूर्वाग्रह का पुट रहा है अथवा नहीं, इस विषय में तो साधिकारिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता पर इतना तो सुनिश्चित है कि पश्चाद्वर्ती भद्रबाहु नामक आचार्य के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को नामसाम्यजनित भ्रान्तिवशात् लगभग ४४८ वर्ष पूर्व हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन से सम्बद्ध कर दिया गया है।

नाम साम्य के कारण केवल दिगम्बर परम्परा में ही इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न हुई हो ऐसी बात नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में भी इस प्रकार की भ्रान्तियां उत्पन्न हुई और अवान्तर काल में हुए नैमित्तिक आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित निर्युक्तियों, उवसग्गहरस्तोत्र और भद्रबाहु संहिता को तथा उनके जीवन की कतिपय घटनाओं को श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन से जोड़ दिया गया है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के प्रकरण में विस्तारपूर्वक प्रमाण प्रस्तुत कर शताब्दियों से व्याप्त इस प्रकार की भ्रान्ति का निराकरण करने का प्रयास किया गया है।

श्रुतकेवलीकाल के ५ आचार्यों में से भद्रबाहु को छोड़ शेष चार श्रुतकेवलियों के नाम दोनों परम्पराओं में भिन्न क्यों पाये जाते हैं, इस प्रश्न पर यहां विशेष न लिख कर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जहां तक आचार्यों के नामों का प्रश्न है — दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में भगवान् महावीर से [illegible] के नामों

के सम्बन्ध में भी कहीं मतैक्य नहीं मिलता।[1] यही कारण है कि इस युग के दिगम्बर विद्वानों ने श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थकारों द्वारा सम्मत गणधरों के नाम, ग्राम आदि परिचय को अपने ग्रन्थों में स्थान देना प्रारम्भ कर दिया है।[2]

श्रुतकेवली काल की समाप्ति के पश्चात् एक नवीन तथ्य सामने आता है जो विद्वानों के लिये विचारणीय और गवेषकों के लिये गहन गवेषणा का विषय प्रतीत होता है। तीर्थ प्रवर्तन के समय से लेकर आर्य सुस्थित एवं सुप्रतिबद्ध के आचार्य काल के प्रारम्भिक कुछ काल तक भगवान् महावीर का धर्म संघ निर्ग्रन्थ संघ के नाम से लोक में विश्रुत रहा। आर्य सुधर्मा के आचार्यकाल से आर्य भद्रबाहु (श्रुतकेवली) के आचार्य काल तक इसमें किसी गण विशेष का नाम कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। पर आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् कल्पस्थविरावली जैसी प्राचीन और प्रामाणिक पट्टावली में उनके प्रथम शिष्य गोदास के नाम से गोदास गण के प्रचलित होने का उल्लेख उपलब्ध होता है। निर्ग्रन्थ संघ में गण की विद्यमानता का यह सबसे पहला उल्लेख होने के कारण वस्तुतः विचारणीय है। कल्पस्थविरावली में गोदासगण की चार शाखाओं – तामलित्तिया, कोडिवरिसिया, पंडुवद्धणिया और दासी खव्वड़िया – का भी उल्लेख है जो संभवतः सुदूरस्थ बंग प्रदेश के ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष, पौण्ड्रवर्धन आदि स्थानों में धर्म का प्रचार-प्रसार करने के फलस्वरूप उन स्थानों के नाम से प्रसिद्ध हुई प्रतीत होती हैं।

यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या स्थविर गोदास के समय में श्रमण संघ इतना विशाल स्वरूप धारण कर गया था कि श्रमणों के समीचीन अध्यापन, अनुशासन आदि की दृष्टि से गोदासगण के नाम से पृथक् गण स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी अथवा स्थविर गोदास और उनके विशाल शिष्य समूह के निरन्तर अति दूर बंग प्रदेश में ही विचरण करते रहने के फलस्वरूप केवल पहिचान मात्र के लिये उनके साधु समूह की गोदासगण के नाम से प्रसिद्धि हुई। बहुत सोच विचार के पश्चात् हमें तो गोदासगण के उल्लेख के पीछे उपरि अनुमानित दो कारणों में से अंतिम कारण ही उचित प्रतीत होता है। आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस पर गवेषणा कर विशेष प्रकाश डालेंगे।

इस उल्लेख से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य भद्रबाहु के प्रमुख शिष्य गोदास ने अपने शिष्य समूह सहित दक्षिण में पहुँच कर वहां जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया।

३. दशपूर्वधर-काल :– वीर निर्वाण सं० १७० से ५८४ तक के इस काल में आर्य स्थूलभद्र से लेकर आर्य वज्र तक ११ दशपूर्वधर आचार्यों, आर्य सुहस्ती से प्रारम्भ हुई युग-प्रधान-परम्परा, आर्य बलिस्सह से प्रारम्भ हुई वाचनाचार्य परम्परा

---

[1] देखिये हरिवंश पुराण, सर्ग ३, श्लोक ४१ से ४३, उत्तर पुराण.

[2] वीरोदय काव्य (पं० हीरालालजी शास्त्री द्वारा संपादित)

में आर्य रेवतीनक्षत्र से लेकर आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक १० वाचनाचार्यों, आर्य रक्षित से आर्य सत्यमित्र तक १० युगप्रधानाचार्यों, आर्य रथ, चन्द्र, सामंतभद्र वृद्धदेव, प्रद्योतन, मानदेव आदि गणाचार्यों का परिचय दिया गया है। इस प्रकरण में अनुयोगों के पृथक्करण, शालिवाहन शाक-संवत्सर, जैन-शासन में सम्प्रदायभेद, दिगम्बर परम्परा में संघभेद, यापनीय संघ, गच्छों की उत्पत्ति, चैत्यवास, स्कन्दिलीया एवं नागार्जुनीया – इन दोनों आगमवाचनाओं, वीर नि० सं० ९८० में वल्लभी नगर में हुई अन्तिम आगमवाचना के समय आगम-लेखन, आर्य देवर्द्धि की गुरु-परम्परा, सामान्य पूर्वधर काल सम्बन्धी दिगम्बर परम्परा की मान्यता, प्रज्ञापना सूत्र और षट्खण्डागम का तुलनात्मक परिचय, नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली को लेकर दिगम्बर परम्परा में व्याप्त कालनिर्णय विषयक भ्रान्ति आदि कतिपय महत्वपूर्ण तथ्यों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

वीर नि० सं० ६०५ तदनुसार ई० सन् ७८ से प्रारम्भ हुए शालिवाहन शाकसंवत्सर के सम्बन्ध में यद्यपि इस प्रकरण में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है तथापि इस सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण परमावश्यक है। कतिपय विद्वानों का अभिमत है कि भारत में कुषाण राज्य की नींव डालने वाले कुषाण राजा कनिष्क ने ई० सन् ७८ में सिंहासनारूढ़ होते ही अपने नाम से जिस कनिष्क संवत् का प्रचलन किया, वही शक संवत्सर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। संयोग की बात है कि भारत भूमि से शक सत्ता का अन्त कर जिस वर्ष सातवाहनवंशीय गौतमीपुत्र सातकर्णि ने शकारि विक्रमादित्य की उपाधि धारणकर शालीवाहन शाक-संवत्सर की स्थापना की उसी वर्ष में भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर अधिकार कर कनिष्क ने भी अपने राज्यारोहण की स्मृति में कनिष्क संवत् का प्रचलन किया। इस प्रकरण में यह स्पष्टतः उल्लेख कर दिया गया है कि कुषाणवंशी कनिष्क पार्थियन था। उसने शकों को उत्तरी भारत में परास्त कर भारत के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश कच्छ एवं सौराष्ट्र की ओर खदेड़ दिया।[1] ऐसी स्थिति में शकों के शत्रु एक कुषाणवंशी (पार्थियन) राजा द्वारा शकों के नाम पर किसी संवत्सर के प्रवर्तन की कल्पना तक नहीं की जा सकती। उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं के पर्यवेक्षण से यही सिद्ध होता है कि वर्तमान में प्रचलित शक संवत्सर शकों द्वारा स्थापित नहीं अपितु शकारि विक्रमादित्य के विरुद से विभूषित गौतमीपुत्र सातकर्णि द्वारा, अवन्ती, सौराष्ट्र एवं पश्चिमी भारत से शकों की विदेशी सत्ता को समाप्त किये जाने के उपलक्ष में स्थापित शक्ति का प्रतीक शाक संवत्सर है। उसी वर्ष कुषाणवंशी राजा कनिष्क ने भी कनिष्क संवत् चलाया ; अतः इन दोनों संवत्सरों की पृथकतः पहिचान के लिए सातकर्णि द्वारा स्थापित शाक संवत्सर के साथ शालिवाहन अथवा सातवाहन (सातकर्णि का वंश) विशेषण जोड़ा गया।

जिस प्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहु के प्रकरण में दिगम्बर परम्परा के हरिषेण, रत्ननन्दी, देवसेन आदि आचार्यों तथा कवि रयघू द्वारा श्वेताम्बर

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ६२६

मतोत्पत्ति के सम्बन्ध में किये गये उल्लेखों को यथावत् उन्हीं के मृदु अथवा कटु शब्दों में प्रस्तुत किया गया है, उसी रूप में इस प्रकरण में भी "जैन-शासन में सम्प्रदायभेद" – नामक उपशीर्षक में दिगम्बर मतोत्पत्ति विषयक श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों के उल्लेख को यथावत् प्रस्तुत किया गया है। इसमें हमारा उद्देश्य दोनों ओर के उल्लेखों को यथावत् रूप में इतिहासज्ञों, अनुसन्धाताओं एवं पाठकों के समक्ष रखना मात्र है। वस्तुस्थिति को रखने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की भावना नहीं रही है।

इसी प्रकार प्रज्ञापना सूत्र और षट्खण्डागम का तुलनात्मक विवेचन तथा नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली को दिगम्बर परम्परा के कतिपय चोटी के विद्वानों द्वारा तिलोयपण्णत्ती, हरिवंश पुराण, उत्तर पुराण, धवला, जय धवला आदि प्राचीन ग्रन्थों से भी अधिक महत्व देने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई भ्रान्त मान्यता का निराकरण करते समय हमें कतिपय ऐसे विद्वानों की मान्यताओं को अप्रामाणिक सिद्ध करना पड़ा है जिन्होंने जैन इतिहास, साहित्य एवं शोध के क्षेत्र में उल्लेखनीय सेवाएं देकर बड़ी ख्याति प्राप्त की है। ऐसा करने में हमारा विशुद्ध लक्ष्य तथ्यों को प्रकाश में लाना मात्र रहा है।

इस प्रकरण के अन्त में "केवलिकाल से पूर्वधर काल तक की साध्वी-परम्परा" विषयक शीर्षक में आर्य सुधर्मा से देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक की १००० वर्ष की अवधि में हुई परम प्रभाविका प्रवर्तिनियों एवं साध्वियों का यथोपलब्ध परिचय दिया गया है।

उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ में वीर नि० सं० १ से १००० तक का जैनधर्म का इतिहास दिया गया है। उसमें आचार्यों, आगमों, साधु-साध्वियों, गणों, गच्छों, कुलों शाखा-उपशाखाओं, जन-साधारण से लेकर शासकवर्ग तक के श्रावक-श्राविकाओं, उन आचार्यों के समय में घटित हुई प्रमुख धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व की घटनाओं के उल्लेख के साथ-साथ उक्त अवधि में हुए राजवंशों, उनकी परम्पराओं, राज्यविप्लवों, विदेशियों द्वारा भारत पर किये गये आक्रमणों आदि का भी यथावश्यक जो संक्षिप्त अथवा विस्तारपूर्वक परिचय दिया गया है, उनकी पृष्ठभूमि में मुख्यतः निम्नलिखित उद्देश्य रहे हैं :–

१. समसामयिक धार्मिक एवं राजनैतिक घटनाचक्र का साथ-साथ विवरण प्रस्तुत कर धार्मिक इतिहास को विश्वसनीय एवं सर्वांगपूर्ण बनाना।

२. जैन धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक घटनाओं का पर्यवेक्षण कर निहित स्वार्थ इतिहासकारों द्वारा उत्पन्न की गई अथवा उत्पन्न की जाने वाली भ्रान्तियों का निराकरण।

३. जैन धर्म के इतिहास की विविध [illegible] में उलझी हुई जटिल

गुत्थियों को (राजनैतिक) इतिहास ग्रन्थों एवं जैन धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से सुलझाने का प्रयास करना।

४. स्वतन्त्रता तथा धर्मनिष्ठ शासकों के शासन काल में धर्म की सर्वतोमुखी अभ्युन्नति एवं जन-जीवन की समृद्धि में शासक-वर्ग द्वारा दिये गये योग के सुफल से पाठकों को परिचित कराना।

५. अधर्मिष्ठ कुशासकों एवं विदेशी आततताइयों के शासन में परतन्त्र प्रजा के सर्वतोमुखी पतन एवं धर्म के ह्रास के कुफल से पाठकों को परिचित कराना।

६. धार्मिक, सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से सुशासक अथवा स्वशासित सुशासन जहां सर्वतोमुखी समुन्नति की मूल कुंजी है, वहां कुशासन अभाव-अभियोगों एवं घोर अवनति का जनक, इस तथ्य का निरूपण।

७. प्रत्येक जैन को सुनागरिक के उन सभी परमावश्यक कर्त्तव्यों से अवगत कराना, जिनके पालन से देश में लोक कल्याणकारी सुशासन सशक्त एवं समुन्नत होता और उन कर्त्तव्यों से च्युत होने की दशा में कुशासन के पनपने के साथ साथ देश अवनति के गहरे गड्ढे में गिरता है।

८. भारतीय इतिहास के जिस-जिस समय को ऐतिहासिक घटनाओं की अनुपलब्धि के कारण अन्धकारपूर्ण बताया गया है, उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं को जैन धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों, शिलालेखों आदि के ठोस आधार पर प्रकाश में लाकर भारतीय इतिहास की टूटी कड़ियों को जोड़ना और इस प्रकार अन्धकारपूर्ण समय को प्रकाशपूर्ण बनाना।

९. स्वातन्त्र्य मूलक सुशासन की सुखद शीतल छाया में ही भौतिक तथा आध्यात्मिक सौख्य-समृद्धि का कल्पतरु अंकुरित, पुष्पित, पल्लवित एवं सुफल समन्वित होता है। इससे विपरीत पारतन्त्र्य मूलक कुशासन के अपावन पंक में सुरतरु के स्थान पर वैषम्य का विष-वृक्ष अंकुरित हो देखते ही देखते वीभत्स रूप धारण कर लेता है। उस विषवृक्ष के असितुल्य पत्र, दुर्वासना की दुस्सह्य दुर्गन्धपूर्ण पुष्प, पग-पग पर कुत्सित क्लेशजनक अति तीक्ष्ण त्रिशूलतुल्य कण्टक और अभाव, अभियोग, अशान्ति, ईर्ष्या, कलह, अन्याय, अनीति, अनाचार रूपी विपाक्त फलों से मानव वस्तुतः मानवता को भूल कर किस प्रकार नारकीय कीट से भी निकृष्ट बन जाता है – इस तथ्य से प्रत्येक पाठक को अवगत कराने के अभिप्राय से ही प्रस्तुत खण्ड में धर्म एवं धर्माचार्यों के इतिहास के साथ साथ उसके समसामायिक इतिहास का भी दिग्दर्शन कराया गया है। मानवता को दानवता में परिवर्तित कर देने वाली भूतकालीन भूलों की पुनः किसी भी दशा में इस धर्मप्राण देश के निवासी पुनरावृत्ति न करें, वस्तुतः यही मुख्य लक्ष्य इस वर्णन के पीछे रहा है। आशा है केवल जैन ही नहीं प्रत्येक देशवासी इससे प्रेरणा लेकर सदा धर्म, देश और समाज के प्रति अपने दायित्वों के निर्वहन में जागरूक बना रहेगा।

इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण एवं प्रामाणिक बनाने में हमने सम्पूर्ण आगम-साहित्य, पुराणादि आगमेतर जैन वाङ्मय, श्रुति, स्मृति, पुराण, कोश, व्याकरण, पिटकादि बौद्ध साहित्य, प्राचीन-अर्वाचीन आचार्यों तथा प्राच्य-पाश्चात्य विद्वानों की सामाजिक धार्मिक एवं ऐतिहासिक कृतियों की सहायता ली है। उन सभी ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का यहां नाम निर्देश किया जाना संभव नहीं अतः केवल संदर्भ ग्रन्थों की सूची उनके लेखकों के नाम के साथ परिशिष्ट में दी जा रही है। हम उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति आन्तरिक आभार प्रकट करते हैं।

संघभेद विषयक विभिन्न विचार

भगवान् महावीर के धर्मसंघ में विचार भेद, मान्यताभेद अथवा संघभेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कतिपय विचारकों एवं इतिहासविदों द्वारा समय-समय पर अनेक प्रकार के विचार प्रकट किये जाते रहे हैं, जिनमें से अधिकांश को, एतद्विषयक सभी तथ्यों पर गहन विचार-विमर्श के पश्चात् मात्र अटकलबाजी की संज्ञा दी जा सकती है। कतिपय विद्वानों ने अपना यह अभिमत प्रकट किया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के तत्काल पश्चात् ही उनके धर्म संघ में विघटन प्रारम्भ हो गया था। अपने इस कथन की पुष्टि में वे बौद्ध-परम्परा के ग्रन्थ मज्झिम निकाय के निम्नलिखित उद्धरण को प्रस्तुत करते हैं:

"एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पन समयेन निग्गन्थो नात पुत्तो पावायं अधुना कालकतो होति। तस्य कालकिरियाय भिन्न-निग्गंथद्वेधिक जाता, भंडन जाता, कलह जाता, विवादापन्ना अण्णमण्णं मुख-सत्तीहिं वितुदता विहरंति।"– (मज्झिम निकाय, भाग २, पृ. १४३)

उक्त ग्रन्थ का उपरिलिखित उल्लेख कई कारणों से विवादास्पद ही नहीं अविश्वसनीय भी है। प्रथम कारण तो यह है कि उक्त ग्रन्थ भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण से शताब्दियों पश्चात् की रचना है। दूसरा कारण यह है कि केवल अन्य साहित्य ही नहीं बौद्ध परम्परा के धर्म ग्रन्थों में भी उपर्युक्त उल्लेख के विपरीत इस प्रकार के प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि बुद्ध का महावीर के निर्वाण से लगभग २२ वर्ष पूर्व ही परिनिर्वाण हो चुका था।[1] ऐसी स्थिति में मज्झिमनिकाय का उपरोक्त उल्लेख स्वतः ही निराधार एवं तथ्यविहीन सिद्ध हो जाता है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-दोनों ही परम्पराओं के सभी ग्रन्थों में आर्य सुधर्मा से अन्तिम केवली जम्बू तक एक ही प्रकार की सर्वसम्मत पट्ट परम्परा का उल्लेख विद्यमान है। केवल इतना ही अन्तर है कि दिगम्बर परम्परा में इन्द्रभूति गौतम को भगवान् का प्रथम पट्टधर माना गया है

[1] विशेष विवरण के लिये देखिये –
(क) जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ. ५४८–५५३
(ख) वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना
(ग) आगम और त्रिपिटक – एक अनुशीलन

श्रौर श्वेताम्बर परम्परा में कैवल्यालोकशाली हो जाने के कारण गौतम के प्रति पट्टधर से भी अत्यधिक सर्वोच्च सम्मान प्रदर्शित करते हुए आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना गया है। दोनों परम्पराओं के सुविशाल साहित्य में कहीं किंचित्मात्र भी इस प्रकार का उल्लेख नहीं है, जिससे निर्वाण पश्चात् के ६४ अथवा ६२ वर्ष के केवलिकाल में पारस्परिक कलह, मतभेद अथवा धर्म सघ में विघटन का आभास तक प्रकट होता हो।

पूर्वकाल में जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों में बड़े लम्बे समय तक परस्पर प्रतिस्पर्धा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के समक्ष उनके प्रथम निह्नव जमाली के साथ इन्द्रभूति गौतम का जो वादविवाद हुआ उस ही को अतिशयोक्तिपूर्ण विकृत रूप देकर बौद्धपरम्परा के ग्रन्थ मज्झिमनिकाय में उपरोक्त उल्लेख कर दिया गया है। किसी धर्मग्रन्थ द्वारा अपने प्रमुख प्रतिस्पर्धी धर्म के सम्बन्ध में किया गया कटु उल्लेख वस्तुतः कितना प्रामाणिक और विश्वसनीय होता है यह किसी विचारक से छुपा नहीं है।

आर्य जम्बू के पश्चात् पाँच श्रुतकेवली आचार्यों में से भद्रबाहु को छोड़ शेष चारों के नाम दोनों परम्पराओं में पूर्णतः भिन्न देखकर कुछ विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि आर्य जम्बू के पश्चात् भगवान् महावीर के धर्मसंघ में मत-भेद उत्पन्न हो गया था। पर वस्तुतः चार श्रुतकेवलियों के नाम भेद के अतिरिक्त दोनों परम्पराओं के साहित्य में इस प्रकार का एक भी स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे उन विद्वानों के इस अनुमान की पुष्टि होती हो।

स्वयं भगवान् महावीर के लिये, उनकी श्रमण एवं श्रमणी परम्परा के लिये शास्त्रों में प्रयुक्त "णिग्गंठ" विशेषण को देख कर जिन विद्वानों ने अपनी यह धारणा बना ली है कि प्रभु महावीर ने तीर्थप्रवर्तन के प्रथम दिन से ही श्रमणों के लिए एकान्ततः जिनकल्प का—नग्नत्व का ही विधान किया था, वे विद्वान् आर्य शय्यंभव द्वारा द्वादशांगी में से निर्यूढ अथवा संकलित दसवैका-लिकसूत्र में मुनियों के लिये वस्त्र, पात्र, कम्बल एवं पादपूँछन का उल्लेख देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि अन्तिम केवली जम्बू के निर्वाण के पश्चात् भगवान् महावीर के संघ में नग्नता और सोपधिता को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया। इस प्रकार का अनुमान लगाते समय वे विद्वान् संभवतः इस बात को भूल जाते हैं अथवा नजरंदाज कर देते हैं कि शास्त्रों में जिस प्रकार श्रमणों के लिये निग्गंठ शब्द का प्रयोग किया है, उसी प्रकार श्रमणियों के लिये भी "णिग्गंठिओ" विशेषण प्रयुक्त किया गया है[1]।

---

[1] (क) गोयमा जेणं णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा फासुएसणिज्जं.........[भगवती सूत्र, शतक ७, ३, १, क्षेत्रातिक्रान्तादि दोप]

(ख) निगन्थो विइमंतो, णिग्गंथीवि न करेज्ज छहिं चेव।.........॥३४॥

[उत्तराध्ययन, अध्ययन २६]

वस्तुतः "णिग्गंठ" शब्द का संस्कृत रूप है निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ है ग्रन्थ रहित–ग्रन्थी रहित अर्थात् भवप्रपंच में बांधकर रखने वाली हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह आदि की गांठों से रहित। यह एक बड़ा महत्वपूर्ण और विचारणीय तथ्य है कि यदि "णिग्गंठ" (निर्ग्रन्थ) शब्द का अर्थ एकान्ततः नग्नता ही होता तो श्रमणियों के लिये "णिग्गंठिओ" शब्द का प्रयोग शास्त्रों में कदापि नहीं किया जाता।

दशवैकालिक सूत्र की जिन गाथाओं में मुनियों द्वारा वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादपुंछनक के उपयोग में लाने का उल्लेख है, वे गाथाएं इस प्रकार हैं :

जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥२०॥
न सो परिग्गहो वुत्तो", नायपुत्तेण ताइणा।
"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो", इइ वुत्तं महेसिणा ॥२१॥[1]

अर्थात् – संयम के निर्वहन हेतु अथवा लज्जानिवारणार्थ मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कंबल अथवा पादपुंछनक (आदि) धारण अथवा परित्यक्त करते हैं, उसे, भवसागर से भव्यों का त्राण करने वाले ज्ञात पुत्र भगवान् महावीर ने परिग्रह नहीं बताया है। वस्तुतः किसी वस्तु पर ममत्व भाव रखना परिग्रह है, ऐसा महर्षि (महावीर) ने कहा है।

इन गाथाओं पर तटस्थ दृष्टि से गहन चिन्तन करने पर स्पष्टतः यही सिद्ध होता है कि तीर्थ प्रवर्तन के समय से ही प्रभु महावीर ने श्रमणों के लिये मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण का रखना तो अनिवार्य रखा और अचीवरत्व तथा सचीवरत्व को ऐच्छिक रखा। आर्य सुधर्मा से देवर्द्धि तक के एक हजार वर्ष के इतिहास के सिंहावलोकन से भी यही तथ्य प्रकट होता है कि आर्य रक्षित के समय तक भगवान् महावीर के धर्म संघ के श्रमण इन दोनों प्रकार के द्रव्य लिंगों में से ऐच्छिक रूपेण किसी एक का आलम्बन लेते रहे। इस द्रव्यलिंग के विभेद से न उनमें किसी प्रकार के गुरुत्व लघुत्व का भाव रहता था और न किसी प्रकार का मतभेद ही। अपने गुरु और अन्य श्रमणों की अनुपस्थिति में श्रमणों के संस्तारकों को पंक्तियों में रख एवं उन संस्तारकों में ही शिक्षार्थी श्रमणों की कल्पना कर बालक मुनि वज्र ने शास्त्र की वाचना दी – इस प्रकार के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि आर्य वज्र की गुरु परम्परा के श्रमण वस्त्र पात्रादि रखते थे।[2]

---

[1] दशवैकालिक सूत्र, अध्याय ६.

[2] अवकाशं च वालस्य, ददच्चापलतस्तदा।
सर्वेषामुपधीनमिग्राहं भूमौ निवेश्य च ॥ ११९ ॥
वाचनां प्रददौ वज्रः, श्रुतस्कन्धप्रलस्य सः।
प्रत्येकं गुरुवक्त्रेण कथितस्य महोद्यमात् ॥ ११२ ॥
वज्रोऽपि तं गुरोर्ध्वानं, श्रुत्वा लज्जाभयाकुलः।
सन्निवेश्य यथास्थानं, वेष्टिकाः संमुखोऽन्वगात् ॥ ११६ ॥
(प्रभावक चरित, [illegible])

आर्य रक्षित ने वस्त्रधारी अपने पिता खन्त मुनि से किस प्रकार पूर्णतः वस्त्र का त्याग करवाया, इसका उल्लेख प्रभावक चरित्र में है।[1]

आर्य वज्र और आर्य रक्षित के आख्यानों से यह सिद्ध होता है कि उनके समय तक वस्त्रधारी और निर्वस्त्र दोनों ही प्रकार के मुनियों की परम्पराएं विद्यमान थीं। उन दोनों परम्पराओं के मुनि परस्पर एक दूसरे का पूरा सम्मान ही नहीं अपितु द्वादशांगी का अध्ययन अध्यापन भी करते रहते थे। सवस्त्रता और निर्वस्त्रता उनके पारस्परिक श्रमणोचित ऋजु-मृदु सम्बन्धों में कभी कहीं बाधक नहीं वनी।

इन सब ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में अनेक विद्वानों द्वारा प्रकट किये गये सम्प्रदाय भेद विषयक विभिन्न अभिमतों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर उनके सभी अभिमत प्रमाणाभाव में निराधार और अटकलबाजी मात्र सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण प्राचीन जैन साहित्य में केवल एक ही ऐसा दृष्टान्त उपलब्ध होता हैं, जिससे कुछ क्षणों के लिये संघ में विचार भेद की झलक प्रकट होती है। वह है आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति के बीच सम्भोग विच्छेद की क्षणस्थायी घटना। उस अचिरस्थायिनी घटना के पीछे भी मूल कारण विशुद्ध पिण्डेषणा का था, न कि सचीवरत्व-अचीवरत्व का।

इन सव प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि वस्तुतः सम्प्रदाय भेद दिगम्वर परम्परा की मान्यतानुसार वीर निर्वाण सम्वत् ६०६ और श्वेताम्वर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० ६०९ में हुआ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में पं० मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी, श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री तथा सम्पादक मण्डल के अन्य सभी सदस्यों का समय २ पर सहयोग मिलता रहा। इसके लेखन एवं सूची निर्माण आदि कार्यों में श्री हीरामुनि, श्री शीतल मुनि सेवा सहयोग से लघु लक्ष्मीचन्द्रजी, मान मुनि, शुभ मुनि, चंपक मुनि आदि का सहयोग भी भुलाया नहीं जा सकता। आचार्यों के साथ-साथ उनके समसामयिक राज-वंशों के क्रमवद्ध इतिहास के आलेखन तथा कतिपय आचार्यों के काल-निर्णय में इस ग्रन्थ के मुख्य सम्पादक श्री राठोड़ ने वड़ी सहायता की। लगन और निष्ठा पूर्वक गवेषणा तथा उपलब्ध साहित्य के आलोडन के अतिरिक्त इतिहासज्ञ

---

[1] पुरा प्रत्यूहसंघातो, वेदमंत्रैर्मया हतः।
समस्तस्यापि राज्यस्य, राष्ट्रस्य नृपतेस्तथा ॥ १७६ ॥
ततः संवोढुरस्यांशे, शवं शवरथस्थितम्।
आचकर्षुर्निर्वसनं, शिशवः पूर्वशिक्षिताः ॥ १७७ ॥
गुरूणाप्रच्छि किं नग्नस्तात ! सोऽप्युत्तरं ददौ।
उपसर्गः समुत्तस्थौ, त्वद्वचो ह्यनृतं नहि ॥ १७९ ॥
तथाकर्ण्य पिता प्राह, द्रष्टव्यं दृष्टमेव यत्।
को नः परिग्रहस्तस्मात् नाग्न्यमेवास्त्वतः परम् ॥ १८१ ॥ (प्रभावक चरित्र, पृ० १५)

विद्वान् श्री जिन विजयजी, विद्वान् मुनि पं० कल्याण विजयजी, क्षुल्लक जिनेन्द्र-वर्णी, पं० दलसुख मालवणिया, पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, डा० मोहनलाल मेहता, परामर्शदाता श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री दरबारीलालजी कोठिया आदि विद्वानों के साथ विविध विवादास्पद विषयों पर चर्चा कर प्रामाणिक निर्णय प्रस्तुत करने में भी राठोड़ ने पूर्ण सहयोग दिया। श्री राठोड़ के अहर्निश गवेषण का ही फल है कि इतिहास का आलेखन इतना सुन्दर-सरस-प्रमाणयुक्त बन पाया है।

दिगम्बर परम्परा के प्रामाणिक ग्रन्थों-हरिवंश पुराण, धवला, श्रुतावतार, आदि पुराण, महापुराण पट्टावलियां, श्रवणबेलगोल के शिलालेखों आदि के गहन अध्ययन के उपरान्त ही दिगम्बर परम्परा के आचार्यों के काल तथा परिचय आदि के सम्बन्ध में विवरण एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में हम एक बात स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं। यद्यपि हमारा यह सतत प्रयास रहा है कि निर्वाण पश्चात् १००० वर्ष के इस इतिहास में किसी भी धार्मिक अथवा ऐतिहासिक महत्व की कोई घटना आलेखन से वची न रह जाय तथापि संभव है किसी महत्वपूर्ण घटना से सम्वन्धित प्राचीन ग्रन्थ, शिलालेख आदि के दृष्टिगोचर न होने प्रभृति अनेक कारणों से कतिपय महत्व-पूर्ण घटनाओं का आलेखन न किया गया हो। आशा है कि विद्वान् पाठक इस प्रकार की अथवा अन्य किसी प्रकार की कमियों को भविष्य में पूरा करने के लिये पूरा सहयोग प्रदान करेंगे।

शिवमस्तु सर्वजगतः।

मुनिः हस्तिमल्लः

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(द्वितीय भाग)

केवली व पूर्वधर-खण्ड

स्वर्णिमकाल

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर चौवीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण तक के काल को भारतवर्ष का तीर्थंकर-काल माना गया है। इसे हम भरतखण्ड का स्वर्णिमकाल भी कह सकते हैं।

उस स्वर्णिमकाल में भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हुए। उन्होंने जन्म-जरा-व्याधि एवं मृत्यु के घोर दुःखों से पूर्ण, अनादिकाल से चलती आ रही करालकाल की विशाल चक्की में पिसते हुए अनन्त प्राणियों की दारुण एवं दयनीय दशा से रक्षा करने और भवताप से उनका उद्धार करने हेतु अपने-अपने समय में धर्मतीर्थ की स्थापना की।[1]

उन्होंने मानव को न केवल मानव के प्रति अपितु संसार के समस्त प्राणियों के प्रति सौहार्द, आत्मीयता, निश्छल-विशुद्ध प्रेम एवं विश्व-बन्धुत्व का सक्रिय पाठ पढ़ाते हुए वास्तविक मानवता का प्रशस्त पथ प्रदर्शित किया। 'सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं'[2] तथा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो'[3] के अन्तस्तलस्पर्शी दिव्य घोषों से तीर्थंकरों ने जाति, वर्ण, वर्ग एवं रंग-भेद से विहीन एक ऐसे मानव-समाज की स्थापना की, जिसमें न केवल मानव के ही प्रति अपितु निखिल विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीयता का अथाह प्रेम लबालब भरा हुआ था।

उन करुणाकर तीर्थंकरों ने जगह-जगह अप्रतिहत विहार कर भीषण भवज्वालाओं में निरन्तर झुलसते हुए संसार के अमित प्राणियों को अपनी पीयूषवर्षिणी अमृततुल्य अमोघ वाणी से आप्यायित करते हुए उनका उद्धार कर उन्हें अनन्त-अक्षय सुखसागर, शिवधाम का अधिकारी बनाया।

उस अनिर्वचनीय सुखमय तीर्थंकर-काल में तेवीस अन्तरालों और पौने तीन पल्यों के तीर्थोच्छित्तिकाल को छोड़कर शेष सम्पूर्ण समय में इस भरतखण्ड के धरातल और गगनमण्डल में तीर्थंकरों की ३५ अतिशय युक्त दिव्य वाणी गूंजती

---

[1] (क) सव्व जग-जीव रक्खण- दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं।

[प्रश्नव्याकरण-सूत्र, द्वितीय भाग, प्रथम संवर द्वार]

(ख) सद्धर्म-तीर्थं कुर्वन्तीति तीर्थकराः............कृतिनोऽपि तीर्थकरनामोदयात् भव्य-सत्त्वानुकम्पापरतया च सद्धर्म-तीर्थप्रदेशनशीलाः........

[विशे. भा., स्वोपज्ञ टीका, (ला. द. वि. अहमदाबाद) गा. १०४४, पृ० १६६]

[2] दशवैकालिक सू., अ. ६, गा. ११

[3] दशवैकालिक सू., अ. १, गा. १

रही और तीर्थंकरों के ३४ अतिशयों एवं अष्ट महाप्रातिहार्यों[1] से यह मर्त्यलोक स्वर्गलोक से भी अतिशय सुन्दर, कमनीय, रमणीय और सुखद बना रहा। वह असंख्य वर्षों का काल इस भारतवर्ष का उत्कृष्ट स्वर्णिमकाल था। पर भरत खण्ड के इस वर्तमान अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् भारतवर्ष तीर्थंकरों के इन ३४ अतिशयों, वाणी के ३५ गुणों और उनके अष्ट महाप्रातिहार्यों की उस अनिर्वचनीय अलौकिक शोभा से शून्य हो गया।

उस स्वर्णिमकाल का आद्योपान्त संक्षिप्त विवरण 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' नामक आलेख्यमान ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में प्रस्तुत किया जा चुका है। अब भगवान् महावीर के निर्वाणकाल से लेकर एक पूर्वधर आचार्यों के काल तक का ऐतिहासिक विवरण इस द्वितीय भाग में प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

[1] देखिये "जैन धर्म का मौलिक इतिहास", प्रथम भाग, पृ० ३३, टि० २

केवलिकाल

इन्द्रभूति गौतम

निर्वाण – वीर निर्वाण सम्वत् १२

आर्य सुधर्मा

आचार्यकाल – वी. नि. सं. १ से २०

आर्य जम्बू

आचार्यकाल – वी. नि. सं. २० से ६४

केवलिकाल

जिस प्रकार भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर के निर्वाण तक का काल तीर्थंकर-काल माना जाता है, उसी प्रकार तीर्थंकर-काल के पश्चात् का, वीर निर्वाण संवत् १ से वीर निर्वाण संवत् ६४ तक का काल जैन जगत् और जैन इतिहास में केवलिकाल के नाम से पहिचाना जाता है।

आज से लगभग ढाई हजार (२५००) वर्ष पहले कार्तिक कृष्णा अमावस्या की अर्द्धरात्रि के पश्चात् – प्रत्यूषकाल की वेला में भगवान् महावीर मोक्ष पधारे।[1] भगवान् महावीर के उस निर्वाण समय से ही वीर निर्वाण संवत्सर का प्रारम्भ हुआ।

वीर निर्वाण संवत् के प्रारम्भिक प्रथम दिन में ही अत्यन्त ऐतिहासिक महत्व की निम्नलिखित तीन प्रमुख घटनाएं घटीं :–

(१) उसी निर्वाण रात्रि को म० बुद्ध के समवयस्क अवन्ती के महाराजा चण्डप्रद्योत (जिनका म० बुद्ध के जन्मदिन को ही जन्म हुआ था) का ५८ वर्ष की आयु में देहावसान और अवन्ती के राज्यसिंहासन पर चण्डप्रद्योत के पुत्र पालक का राज्याभिषेक।[2]

(२) प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति।[3]

(३) पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी को भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के रूप में आचार्य-पद प्रदान।

---

[1] पच्चूसकाल समयंसि संपलियंक निसन्ने···कालगए···सव्वदुक्खप्पहीणे।
[कल्पसूत्र, सू० १४६ सिवाना संस्करण]

[2] (क) सिरि जिणनिव्वाणगमणरयणिए उज्जेणीए चण्डपज्जोअमरणे पालओ राया अहिसित्तो। [सिरि दुस्समाकाल समणसंघ थयं, अवचूरि (पट्टावली समु०, भा० १)]

(ख) जं रयणिं सिद्धिगओ अरहा, तित्थयरो महावीरो।
तं रयणिमवंतिए अहिसित्तो पालओ राया॥
[तित्थोगाली पइन्ना, गा० ६२०]

केवलिकाल का प्रादुर्भाव

चौबीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर का निर्वाण होते ही हमारे देश से तीर्थंकरकाल की समाप्ति हुई। तदनन्तर केवलिकाल प्रारम्भ होता है। तीर्थंकरकाल और केवलिकाल में यह अन्तर है कि केवलिकाल में तीर्थंकरकाल की तरह तीर्थंकरों के ३४ अतिशय, ३५ वाणी के अतिशय और अष्ट महाप्रातिहार्य नहीं रहते। भगवान् महावीर के धर्म-शासन में उनके सबसे ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम हुए। गुरुभक्ति के प्रगाढ़ शुभराग के कारण इन्द्रभूति को भगवान् महावीर के जीवनकाल में केवलज्ञान की उपलब्धि नहीं हुई।

कोटि-कोटि सूर्यों से भी अधिक प्रकाश वाले अनन्त केवलज्ञान के धारक भगवान् महावीर के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते ही आर्य वसुधा से ज्ञानसूर्य अस्त होगया। विशिष्ट अतिशय और अनन्तज्ञानी तीर्थंकर भगवान् महावीर का निर्वाण होते ही सारा भूमण्डल अन्धकारपूर्ण हो गया।[1] उसी रात प्रथम गणधर महामुनि इन्द्रभूति गौतम के अन्तर में केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय हुआ, उससे फिर समस्त भूमण्डल केवलज्ञानालोक से आलोकित हो गया।

इन्द्रभूति गौतम से केवलिकाल प्रारम्भ होता है अतः पहले यहां उनका परिचय दिया जा रहा है।

---

[1] तिहिं ठाणेहिं लोगंधयारेतिया तं जहा अरहंतेहिं वोच्छिज्जमाणेहिं, अरहंतपन्नत्ते धम्मे वोच्छिज्जमाणे, पुव्वगए वोच्छिज्जमाणे। [स्थानांग, स्थान ३]

इन्द्रभूति गौतम

महागणनायक इन्द्रभूति गौतम के अलौकिक गौरवपूर्ण विराट व्यक्तित्व का यथातथ्य रूप से चित्रण करने का प्रयास, अनन्त उन्मुक्त आकाश को अपने बाहुपाश में आबद्ध कर लेने और उत्तुंग तरंगों से उद्वेलित सागरों की अपार जलराशि को एक गागर में भर लेने के समान हास्यास्पद प्रयास है फिर भी सत्य के अनन्य उपासक, प्राणिमात्र के परम हितैषी और अनुपम लोकोपकारी उस महामानव द्वारा मानव जाति ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के लिये किये गये अनन्त उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने हेतु कुछ लिखना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। इसीलिये यहां गौतमस्वामी का यत्किंचित् परिचय दिया जा रहा है।

जन्म और वंश आदि

जैन वाङ्मय में इन्द्रभूति गौतम का उनके श्रमण-जीवन से पूर्व का कोई विशिष्ट तो नहीं किन्तु थोड़ा आवश्यक निर्युक्ति में जन्मभूमि, नक्षत्र, माता-पिता, गोत्र, गृहवास और फिर श्रमण-जीवन के छद्मस्थकाल, केवलिकाल, पूर्ण आयु, ज्ञान, निर्वाणकालीन तप, निर्वाण, संहनन तथा संस्थान का वर्णन उपलब्ध होता है,[1] जो इस प्रकार है :-

इन्द्रभूति गौतम का जन्म ईसा से ६०७ वर्ष पूर्व मगध राज्य के सत्ताकेन्द्र राजगृह के समीपवर्ती गोब्बर ग्राम (गौवर्यग्राम) नामक एक ग्राम के गौतम गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ। गौतम गोत्र ७ प्रकार का है।[2] आपके जन्म के समय ज्येष्ठा नक्षत्र था। आपके पिता का नाम वसुभूति गौतम और माता का नाम पृथ्वी था। इनके अग्निभूति और वायुभूति नामक दो सहोदर थे। इन तीनों भाइयों में इन्द्रभूति सबसे बड़े, अग्निभूति मंझले और वायुभूति सबसे कनिष्ठ थे।

शिक्षा

इन तीनों भाइयों ने विद्वान् शिक्षा-गुरु की सेवा में रह कर ऋग्, यजु, साम एवं अथर्व इन चारों वेदों; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् तथा ज्योतिष – इन छहों वेदांगों और मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र एवं पुराण – इन चारों उपांगों का – इस प्रकार कुल मिलाकर सम्पूर्ण चौदह विद्याओं का सम्यक् अध्ययन किया।[3]

कुशाग्रबुद्धि होने के कारण इन्द्रभूति स्वल्प समय में ही उपर्युक्त चौदह विद्याओं के परम पारंगत विद्वान् बन गये।

वेद-विद्या के आचार्य एवं उनके छात्र

जैन वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि इन्द्रभूति गौतम वेद-विद्या के एक प्रख्यात विद्वान् आचार्य थे और उनके पास ५०० छात्र अध्ययन करते थे। हमारे विचार से इनके आचार्य रूप से अध्यापनकाल का क्रम इस प्रकार हो सकता है कि लगभग २५ वर्ष की वय में अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् उन्होंने ५ वर्ष तक विभिन्न प्रदेशों में घूम कर वहाँ के विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया हो। जैसा कि टीकाकार ने गौतम के द्वारा कहलवाया है- "मैंने तीनों जगत् के हजारों विद्वानों को वाद में पराजित किया है।"[1]

संभवत: इस प्रकार ख्याति प्राप्त कर लेने के पश्चात् वे वेद-वेदाङ्ग के आचार्य वने हों। उनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल जाने के कारण यह सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि सैकड़ों की संख्या में शिक्षार्थी उनके पास अध्ययनार्थ आये हों और यह संख्या उत्तरोत्तर वढ़ते-वढ़ते ५०० ही नहीं अपितु इससे कहीं अधिक वढ़ गई हो। इन्द्रभूति के अध्यापनकाल का प्रारम्भ उनकी ३० वर्ष की वय से भी माना जाय तो २० वर्ष के अध्यापनकाल की सुदीर्घ अवधि में अध्येता वहुत वड़ी संख्या में स्नातक वन कर निकल चुके होंगे और उनकी जगह नवीन छात्रों का प्रवेश भी अवश्यंभावी रहा होगा। ऐसी स्थिति में अध्येताओं की पूर्ण संख्या ५०० से अधिक होनी चाहिए। ५०० की संख्या केवल नियमित रूप से अध्ययन करने वाले छात्रों की दृष्टि से ही अधिक संगत प्रतीत होती है।

गार्हस्थ्य जीवन

आर्य सुधर्मा के विवाह का कुछ आचार्यों ने उल्लेख किया है, पर इन्द्रभूति गौतम का विवाह हुआ अथवा नहीं, यदि हुआ तो कहां हुआ, इस सम्बन्ध में सभी परम्पराएं मौन हैं। इन्द्रभूति का ५० वर्ष की वय तक गृहवास में रहना सभी को मान्य है किन्तु उस अवस्था तक ब्रह्मचारी रूप में रहे या गृहस्थ रूप में एतद्विषयक कोई स्पष्ट उल्लेख कहीं पर दृष्टिगोचर नहीं होता। निर्युक्तिकार ने भी "सव्वे य माहणा जच्चा," इस गाथा के माध्यम से केवल इतना ही कहा है कि सब गणधर जाति से ब्राह्मण, सभी विद्वान् प्राध्यापक, सब द्वादशांगी के ज्ञाता और सभी चतुर्दश पूर्वधर थे। गवेषणाशील विद्वान् इस सम्बन्ध में प्रयत्न कर तथ्य प्रकट करें, यह इष्ट है।

याजकाचार्य के रूप में

कर्मकाण्ड एवं यज्ञ-यागादि क्रियाओं के अनुष्ठान में अतिनिष्णात और वेदविद्या के पारंगत आचार्य इन्द्रभूति की यशोगाथा दशों दिशाओं में फैल चुकी

---

[1] चित्रं चैव त्रिजगति सहस्रशो निर्जिते मया वादे।
[कल्प सुबोधिका, श्लो. १५, पृ० ३८८]

थी। इसके फलस्वरूप अनेक वैभवशाली गृहस्थ बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान कराने के लिये उन्हें अपने यहां आमन्त्रित करने लगे।

जिन दिनों श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि हुई उन्हीं दिनों अपापा नगर के निवासी सोमिल नामक एक धनाढ्य ब्राह्मण ने अपने यहां एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया। सोमिल अपने यज्ञ के अनुष्ठान हेतु इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित, मौर्यपुत्र, अकंपित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास नामक उस समय के लोकमान्य प्रसिद्ध कर्मकाण्डी आचार्यों को बड़े आग्रह और आदर के साथ अपापा ले गया। सोमिल ब्राह्मण ने और भी अनेक विद्वानों को उस यज्ञ में आमन्त्रित किया। यज्ञ के सुविशाल आयोजन एवं इन्द्रभूति आदि उपर्युक्त उद्भट आचार्यों की कीर्ति से आकृष्ट हो कर दूर-दूर के प्रदेशों से अपार जनसमूह अपापा नगर की ओर यज्ञ की शोभा देखने उमड़ पड़ा।

इन्द्रभूति गौतम को उनकी अप्रतिम विद्वत्ता और यशोकीर्ति के कारण यज्ञ के अनुष्ठान हेतु मुख्य आचार्य के पद पर अभिषिक्त किया गया एवं उनके तत्वावधान में बड़ी धूमधाम के साथ यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ। सहस्रों कण्ठों से उच्चरित वेदमन्त्रों की ध्वनि तथा यज्ञवेदियों में हजारों श्रुवाओं से दी जाने वाली आहूतियों की सुगन्ध एवं धूम्र के घटाटोप से धरा, नभ और समस्त वातावरण एक साथ ही गुंजरित, सुगन्धित तथा मेघाच्छन्न सा हो उठा। अति विशाल यज्ञ-मण्डप में उपस्थित जनता-जनार्दन आनन्द-विभोर हो एक अद्वितीय मस्ती के साथ झूमने लगा।

सहसा यज्ञमण्डप में उपस्थित सभी लोगों की आंखें एक साथ नीलगगन की ओर उठीं। आकाश के दृश्य को देख कर यज्ञ में उपस्थित लोगों की आंखें चौंधिया गईं। सबने बार-बार आंखों को मलते हुए स्पष्टतः देखा कि सहस्रों सूर्यों की तरह दैदीप्यमान सहस्रों विमानों से नभमण्डल जगमगा रहा है। देव-विमानों को यज्ञमण्डप की ओर अग्रसर होते देख उपस्थित विशाल जनसमूह के हर्ष का पारावार न रहा।

यज्ञ के प्रमुख आचार्य इन्द्रभूति गौतम ने घनगम्भीर सगर्व स्वर में अपने यजमान को सम्बोधित करते हुए कहा "सोमिल ! तुमने सतयुग के दृश्य को साक्षात्-साकार उपस्थित कर दिया है। तुम महान् भाग्यशाली हो। देखो ! अपना अपना पुरोडाश ग्रहण करने हेतु स्वयं इन्द्रादि सभी देव सशरीर तुम्हारे यज्ञ में उपस्थित हो रहे हैं।"[1]

"भगवन् ! यह सब आप जैसे समर्थ वेदाचार्य की कृपा और करुणा का ही प्रसाद है।" अपने रोम-रोम से असीम कृतज्ञता प्रकट करते हुए पुलकितमना सोमिल ने गद्गद् स्वर में कहा।

"नहीं, सोमिल ! यह सब वेदमन्त्रों का प्रताप है।" इन्द्रभूति गौतम ने अपने प्रोन्नत भाल को और समुन्नत करते हुए कहा और वे कनखियों से आकाश की ओर देखते हुए पुनः शतगुणित उत्साह एवं उच्च स्वरों से वेदमन्त्रों के पाठ के साथ आहूतियों पर आहूतियां देने लगे।

पहले की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च स्वर में की जाने वाली मंत्रध्वनि और स्वाहा के घोष आकाश को अधर उठाने लगे। हजारों ही नहीं, लाखों नेत्र आकाशमार्ग से आते हुए सहस्रों देवविमानों की ओर अपलक देख रहे थे।

उसी समय यज्ञस्थल को लांघ कर देवविमान आगे बढ़ गये। सहसा मंत्र-पाठ की ध्वनि मंद पड़ गई। उत्साह का स्थान अचानक ही निराशा ने ले लिया। हताश लाखों लोचन मूक जिज्ञासा लिये कभी इन्द्रभूति गौतम के मुख की ओर, तो कभी जाते हुए विमानों की ओर देखने लगे। सर्वत्र निस्तब्धता छा गई।

स्वाभिमान

"अरे ! ये देवगण उस ओर पास ही के किस स्थान पर आकाश से नीचे की ओर उतर रहे हैं ?" सहसा अति विस्मित सहस्रों कण्ठों से यह प्रश्न फूट पड़ा।

जिस प्रकार प्रायः सभी नदियां समुद्र की ओर दौड़ी जाती हैं ठीक उसी प्रकार यज्ञमण्डप में एकत्रित अधिकांश जनसमूह देवविमानों के सम्पातस्थल की ओर उमड़ पड़ा।

इन्द्रभूति ने आश्चर्य, निराशा और झुंझलाहट भरे स्वर में कहा – "अरे ! ये देवगण कहीं मार्ग तो नहीं भूल गये हैं ? आखिर ये इस महान् यज्ञ को छोड़ कर अन्यत्र जा कहां रहे हैं ? वेदमन्त्रों द्वारा आहूत एवं आमन्त्रित हो कर भी ये भ्रान्तिवश आगे कहां बढ़े जा रहे हैं ? इसकी छानबीन कर शीघ्र ही कोई मुझे सूचित करे।"

कुछ ही समय पश्चात् कतिपय व्यक्तियों ने आकर इन्द्रभूति से कहा – "आचार्य प्रवर ! समीपस्थ आनन्दोद्यान में सर्वज्ञ श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं। उन्हें हाल ही में सकल चराचर का साक्षात्कार करने वाला समस्त लोकालोक को हस्तामलक की भांति देखने-जानने वाला केवलज्ञान हुआ है। अतः सभी देवगण भगवान् महावीर के समवसरण में जा रहे हैं।"

इतना सुनते ही इन्द्रभूति गौतम क्षुब्ध हो उठे। उनकी आंखों से क्रोध की चिनगारियां सी बरसने लगीं। उन्होंने हुंकार भरे स्वर में कहा – "अरे ! तुम यह क्या कह रहे हो ? क्या मेरी उपस्थिति में और भी कोई सर्वज्ञ बनने का साहस कर

सकता है ? प्रतीत होता है; वह कोई बहुत बड़ा ऐन्द्रजालिक है[१] जिसने बुद्धिमान कहे जाने वाले देवों तक को छल लिया है और वे देव उसे सर्वज्ञ समझ कर उसकी वन्दना एवं स्तुति करने जा रहे हैं। मुझे तरस आता है इन देवताओं की बुद्धि पर कि जिस प्रकार कौवे तीर्थजल का, मेंढक पद्मसरोवर का, मक्खियां सुगन्धित गोशीर्ष चन्दन का, उष्ट्र अंगूर की वल्लरियों का, ग्राम शूकर क्षीरोदन का और उलूक प्रकाश का परित्याग कर अन्यत्र चले जाते हैं, ठीक उसी प्रकार ये देवगण भी इस पवित्र हविष्यान्न और मेरे जैसे सर्वज्ञ को छोड़ कर कहीं अन्यत्र भागे जा रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार का वह नामधारी सर्वज्ञ है उसी प्रकार के ये देव भी हैं। ग्राम्य नट और मूर्ख ग्रामीणों जैसा यह कैसा हास्यास्पद संयोग है। खैर, कुछ भी हो पर मैं किसी भी दशा में इस सर्वज्ञता के ढोंगपूर्ण नाटक को चुपचाप बैठे नहीं देख सकता। क्या आज तक कभी नील गगन में एक साथ दो सूर्य उदित हुए हैं ? क्या एक ही गिरिगह्वर में कभी दो मृगराज एक साथ रह पाये हैं ? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। तो ठीक उसी प्रकार मुझ जैसे सर्वज्ञ के रहते अन्य कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। देवताओं और दानवों के देखते ही देखते अभी मैं जटिल प्रश्नों की झड़ी लगा उसे हतप्रभ कर उसकी सर्वज्ञता के छद्म आवरण को उतार फेंकता हूं।"

ठीक उसी समय इन्द्रभूति के आदेश से वस्तुस्थिति का पता लगा कर कुछ व्यक्ति समवसरण से लौटे। उनकी आंखों से उनके मनोगत भावों को पढ़ते हुए इन्द्रभूति ने बड़ी व्यग्रता के साथ पूछा – "क्यों ? देख आये उस मायावी को ? कैसा है वह ऐन्द्रजालिक ?"

उनमें से एक ने कहा – "हजारों जिह्वाओं से भी उस अलौकिक विभूति का वर्णन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार सम्पूर्ण त्रिलोकी के समस्त प्राणियों की गणना करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार करोड़ों सूर्यों के समान देदीप्यमान श्रमण भगवान् महावीर के अनन्त गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता। ईश्वर के समस्त गुणों का वर्णन करने में असमर्थ वेदों के "नेति, नेति" इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ वस्तुतः आज ही हमारी समझ में आया है। भगवान् महावीर की गुणगाथा वर्णनातीत है, वह तो केवल आत्मानुभवगम्य ही है।"

अपने ही लोगों के मुख से श्रमण भगवान् महावीर की इस प्रकार की प्रशंसा सुन कर इन्द्रभूति तिलमिला उठे और बोले – "अवश्यमेव यह कोई महान् धूर्त, माया का आदि-आवास है। बड़े आश्चर्य का विषय है कि सभी लोगों को इसने भ्रम में डाल दिया है। मैं तो निमिषमात्र के लिये भी इस मायाचारी की सर्वज्ञता के दावे को सहन नहीं कर सकता। क्योंकि [illegible]

---

[१] [illegible]
[illegible]

करने के लिये सूर्य कभी प्रतीक्षा में नहीं रहता। अग्नि किसी के करस्पर्श, सिंह अपनी ग्रीवा के बालों के कर्षण को और क्षत्रिय अपने शत्रु को कभी चुपचाप सहन नहीं कर सकता। मैंने बड़े से बड़े दिग्गजवादियों को शास्त्रार्थ में हरा कर उनका मुंह सदा के लिये बन्द कर दिया है तो यह गेहेनर्दी गृहशूर सर्वज्ञ मेरे समक्ष चीज ही क्या है? जिस अग्नि ने गगनचुम्बी गिरीन्द्रों को भस्मसात् कर राख की ढेरी बना दिया हो उस अग्नि के समक्ष बेचारे वृक्षों और घास-फूस की क्या सामर्थ्य? जिस प्रचण्ड पवन के झोंकों ने हाथियों के झुण्डों को आकाश में उड़ा दिया हो उसके समक्ष क्या कभी रूई की फुरहरी ठहर सकती है?

मेरे भय से अंग देश के विद्वान् अपना पारम्परिक निवासस्थान छोड़ कर सुदूर देशों की ओर भाग गये, बंग देश के विद्वान् मेरे भय से त्रस्त और जर्जर हो गये, अवन्ती देश के विद्वान् मेरे भय से मानो मर ही गये और तिलंग देश के विद्वान् तो मेरे भय के ही कारण तिलकण के रंग की तरह काले हो गये हैं। अरे ओ लाट देश के विद्वानो! तुम सबके सब कहां चले गये हो? मनुष्यों में सर्वोत्कृष्ट चतुर द्रविड़ विद्वानो! तुम मारे लज्जा के किस गिरिगह्वर में जा छिपे हो? खेद! महाखेद! शास्त्रार्थ के लिये परम आतुर, कण्डूयमान जिह्वा वाले इस इन्द्रभूति के लिये तो आज समस्त जगत् में वादियों का भयंकर दुष्काल और एकान्ततः अभाव हो गया है। ऐसे मुझ इन्द्रभूति के समक्ष सर्वज्ञता का दम्भ लिये हुए यह नया वादी कौन आया है?"

वस्तुतः मानव-स्वभाव में अहं इतना संपृक्त और घुला-मिला रहता है कि उसे मानव के सहजन्मा की संज्ञा दी जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अधिकांशतः यह देखा जाता है कि मानव थोड़ा-सा ज्ञान अर्जित कर अपने उस पल्लवग्राही पाण्डित्य से ही अपने आपको सकल विद्यानिधान, अद्वितीय प्रकाण्ड पण्डित और यहां तक कि सब कुछ जानने देखने वाला सर्वज्ञ तक घोषित करने का दुराग्रह एवं दम्भ कर बैठता है। यह हमें प्रत्यक्ष में और पुरातन इतिहास के पन्नों में यत्र-तत्र देखने को मिलता है।

मानव-मानस में उद्भूत इस अहं की विषवल्लरी के साथ-साथ जब दम्भ अथवा दुराग्रह का विषवृक्ष अंकुरित-पल्लवित तथा पुष्पित हो जाता है तो वह उस मानव के साथ-साथ कभी-कभी समग्र मानव जाति के अधःपतन का कारण भी बन जाता है।

अपने समय में अपने समकक्ष अन्य किसी विद्वान् को न पा कर मानव स्वभाव के कारण इन्द्रभूति के मन में भी कुछ क्षणों के लिये अहं के अंकुरित होने की संभावना सहज प्रतीत होती है। पर पूर्वाग्रह, दुराग्रह अथवा दम्भ का उद्भव उनके मानस में किंचित्मात्र भी नहीं हो पाया था। उनका अन्तर्मन तथ्य को ग्रहण करने के लिये सदा पूर्वाग्रह, दुराग्रह एवं दम्भ आदि से उन्मुक्त और अछूता रहा। यही कारण है कि तथ्य की प्रबल जिज्ञासा और सत्य को ग्रहण

कर उसे आत्मसात् करने की उनकी उदार मनोवृत्ति ने उनके एकांगीण व्यक्तित्व को आगे चल कर समष्टि के विराट् व्यक्तित्व का स्वरूप प्रदान किया ।

भ० महावीर से शास्त्रार्थ का विचार

अपने अहं के पूर्णरूपेण जागृत होने के फलस्वरूप इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने हेतु भगवान् के समवसरण की ओर जाने के लिये उद्यत हुए ।

इन्द्रभूति को भगवान् महावीर के पास जाने के लिये उद्यत देख कर उनके अनुज अग्निभूति ने उनसे कहा – "ज्येष्ठार्य ! जिस प्रकार कोमल कमलनाल को उखाड़ने के लिये इन्द्र के हस्तिशिरोमणि ऐरावत का उपयोग करना अनावश्यक है उसी प्रकार इस नगण्य साधारण वादी के लिये आपको कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं । मैं ही वहां जा कर अभी उसे परास्त किये देता हूं ।"

इन्द्रभूति ने कहा – "वत्स ! यह सर्वज्ञप्रलापी यों तो मेरे किसी भी छात्र के द्वारा भी जीता जा सकता है पर किसी भी प्रतिवादी का नाम सुनने के पश्चात् मैं चुपचाप बैठ नहीं सकता । जिस प्रकार तिलराशि को पेरते समय कोई एक तिल का दाना, धान्य को दलते समय कोई एक धान्यकरण, घास को काटते समय कोई एक तृण और अन्न को पीसते समय कोई तुसकरण बचा रह जाता है, उसी प्रकार संसार के समस्त वादियों को परास्त करते समय किसी न किसी तरह यह वादी बचा रह गया है । अपने आपको सर्वज्ञ बताने वाले इस वादी को मैं किसी भी तरह सहन नहीं कर सकता । अब यदि इस एक वादी को मैं पराजित नहीं करता हूं तो मेरे द्वारा पराजित समस्त वादी अपराजित हो जायेंगे । क्योंकि सती स्त्री यदि एक वार अपने सतीत्व से स्खलित हो जाती है तो वह सदा के लिये दुराचारिणी कही जाती है ।"

"वत्स ! मुझे वड़ा आश्चर्य हो रहा है कि मैंने त्रैलोक्य के हजारों प्रतिवादियों को पराजित कर दिया फिर भी पाकशाला की हंडिया में पकाये गये अन्न में विना पके एक कोरडू की तरह यह एक वादी अपराजित कैसे बचा रह गया ? इस एक के अनिर्जित रहने पर तो मेरा विश्वविजयित्व का समग्र यश ही नष्ट हो जायगा । क्योंकि शरीर में रहा हुआ एक साधारण शल्य भी, यदि उसका शमन नहीं किया जाय तो एक न एक दिन असाध्य बन कर प्राणों का अपहरण कर लेता है । वत्स ! क्या एक जलयान में किसी भी तरह हुआ एक छोटा सा छिद्र भी उसे समुद्र में नहीं डुबो देता ? क्या एक आधारभूत ईंट को नींव से लेने पर सारा दुर्ग ढह नहीं पड़ता ?"

देवों द्वारा यज्ञभूमि का उल्लंघन कर भगवान् महावीर के समवसरण में जाने की घटना पर कुछ क्षण विचार करने के अनन्तर इसे अपने अहं पर वज्राघात समझ कर इन्द्रभूति ने आवेशपूर्ण स्वर में कहना प्रारम्भ किया – "इस मायावी ने अपने आपको सर्वज्ञ घोषित कर के अकारण ही मेरी क्रोधाग्नि को भड़का दिया है। यह तो इसका वस्तुतः वैसा ही दुस्साहस है जैसे मानो कोई मेंढक भयंकर काले विषधर को चपत लगाना, स्वर्गलोक के निवासी देव पर धरती पर रहने वाला बैल अपने सींगों से प्रहार करना, एक हाथी अपने दांतों से गिरिराज को उखाड़ कर धराशायी करना और एक अकिंचन शशक सिंह के कन्धे के बालों को खींचना चाहता हो। जिस प्रकार कोई मूढ़ व्यक्ति शेषनाग के मस्तक की मणि को लेने के लिये हाथ बढ़ा कर अपने काल को स्वयं बुलावा देता है उसी प्रकार इसने अपनी सर्वज्ञता का आडम्बर रच कर मेरे क्रोध को भड़का दिया है। जिस प्रकार कोई मूर्ख व्यक्ति घने जंगल में आग लगा कर उसके मध्य भाग में बैठ जाता है अथवा कोई बुद्धिहीन व्यक्ति सुखप्राप्ति की अभिलाषा से कंटकलता का आलिंगन करता है, ठीक उसी प्रकार इसने मेरी उपस्थिति में सर्वज्ञता का ढोंग रच कर अपने लिये संकट को निमन्त्रित किया है। खद्योत तभी तक टिमटिमाता और चन्द्र तभी तक चमकता है जब तक कि प्रखर किरणों वाला प्रचण्ड मार्तण्ड उदित नहीं हो जाता। सूर्योदय हो जाने पर न कहीं खद्योत का पता चलता है और न कहीं चन्द्रमा का ही। ओ हाथियो! हरिणो और वन्य पशुओं के झुण्डो! अब इस जंगल से शीघ्रातिशीघ्र भाग निकलो। देखो! क्रोध से अपनी ग्रीवा की बड़ी-बड़ी केसर का आटोप बनाये तुम्हारा काल वह सिंह आ रहा है।"

"ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे सौभाग्य से ही यह वादी यहाँ आया है। आज मैं निश्चित रूप से इसकी जिह्वा की खुजली सदा के लिये मिटा दूंगा।"

शास्त्रार्थ के लिये प्रयाण

इस प्रकार का निश्चय कर इन्द्रभूति गौतम ने यज्ञोपवीत, पीला चोला आदि बारह विशिष्ट चिह्न धारण कर अपने ५०० शिष्यों के साथ श्रमण भगवान् महावीर के समवसरण की ओर प्रस्थान किया।

इन्द्रभूति के अनेक शिष्य अपने हाथों में विविध प्रकार के उपकरण लिये हुए थे। कई शिष्य कमण्डलु और कई विजय के द्योतक पवित्र दर्भ हाथों में लिये हुए थे। वे सभी ५०० शिष्य अपने गुरु इन्द्रभूति की महिमा के द्योतक "सरस्वतीकण्ठाभरण की जय हो", "वादिविजयलक्ष्मीशरण की जय हो", "वादिमदगंजन–वादिमुखभंजन की जय हो", "वादिगजसिंह की जय हो"[1] आदि

---

[1] कल्पसूत्र की सुबोधावृत्ति (पृ० ३८६) के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रभूति गौतम को अनेक शास्त्रार्थों में विजयोपलब्धि के फलस्वरूप उस समय की [illegible] के विद्वत्समाज द्वारा निम्नलिखित उपाधियों से संबोधित किया जाता था :–

(१) सरस्वती कण्ठाभरण,
(२) वादिविजयलक्ष्मीशरण,
(३) वादि-मद-गंजन,
(४) वादि-मुख-भंजन,

जयघोषों से गगनमण्डल को गुंजाते हुए इन्द्रभूति के पीछे-पीछे भगवान् महावीर के समवसरण की ओर बढ़ चले।

भ० महावीर को देख कर विचार

मार्ग में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करते हुए इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के समवसरण के सन्निकट पहुंचे। अष्ट महाप्रातिहार्यों और श्रमण भगवान् महावीर के महाप्रतापी अलौकिक ऐश्वर्य को देख वे अत्यन्त आश्चर्य से स्तंभित हो सीढ़ियों पर निश्चल खड़े रह कर निर्निमेष दृष्टि से प्रभु की ओर देखते ही रह गये।[1] वे मन ही मन सोचने लगे "कहीं ये साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु अथवा शंकर तो नहीं हैं। चन्द्र तो ये निश्चित रूप से नहीं हैं, क्योंकि चन्द्र तो सकलंक होता है और इनका स्वरूप, शान्त, स्वच्छ एवं निष्कलंक है। ये सूर्य भी नहीं हैं, क्योंकि सूर्य तो संतापकारी प्रखर किरणों वाला है, पर इनका स्वरूप बड़ा ही सौम्य, सुखद, शीतल, मनोहारि और नयनाभिराम है।"

"ये सुमेरु पर्वत भी नहीं हैं क्योंकि अति कठोर सुमेरु की तुलना में ये अत्यन्त सुकोमल हैं। न ये विष्णु ही हो सकते हैं, क्योंकि विष्णु तो सस्यश्यामल वर्णवाले हैं और इनका स्वरूप तपाये हुए स्वर्ण के समान बड़ा ही मनोहारि है। यह ब्रह्मा भी नहीं हैं क्योंकि ब्रह्मा बुड्ढा है और ये युवा हैं। ये कामदेव भी नहीं हो सकते क्योंकि वह तो वृद्धावस्था से सदा भयभीत रहने वाला और अशरीरी है।"

"तो निश्चित रूप से मुझे यह विश्वास करने के लिये बाध्य होना पड़ रहा है कि उन सब दोषों से रहित और समस्त गुणों से सम्पन्न ये अन्तिम तीर्थंकर हैं।"

---

(५) वादि-गज-सिंह,
(६) वादीश्वरलीह,
(७) वादिसिंहाष्टापद,
(८) वादिविनयविशद,
(९) वादिवृन्दभूमिपाल,
(१०) वादिशिरःकाल,
(११) वादिकदलीकृपाण,
(१२) वादितमोभाण,
(१३) वादिगोधूमघरट्ट,
(१४) मर्दितवादिमरट्ट,
(१५) वादिघटमुद्गर,
(१६) वादिघूकभास्कर,
(१७) वादिसमुद्रागस्ति,
(१८) वादितरून्मूलनहस्ती,
(१९) वादिसुरसुरेन्द्र,
(२०) वादिगरुड़गोविन्द,
(२१) वादिजनराजान,
(२२) वादिकंसकान्ह,
(२३) वादिहरिणहरि,
(२४) वादिज्वरधन्वन्तरि,
(२५) वादियूथमल्ल,
(२६) वादिहृदयशल्य,
(२७) वादिगणजीपक,
(२८) वादिजनदीपक,
(२९) वादिचक्रचूड़ामणि,
(३०) पण्डितशिरोमणि,
(३१) विजितानेकवाद, और
(३२) सरस्वतीलब्धप्रसाद।

[सम्पादक]

[1] इय चुसूणं पत्तो, दट्ठुं तेलुक्कपरिवुडं वीरं।
पडतोसाइसयनिहिं, स संकिओ चिट्ठिओ पुरओ ॥१२४॥

[illegible]

स्वतः सिद्ध है।[१] जो प्रत्यक्षतः सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार अनुभूति, इच्छा, संशय, हर्ष, विषाद आदि भाव अमूर्त-अरूपी होने के कारण बाह्य चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होते उसी प्रकार जीव भी अमूर्त-अरूपी होने के कारण चर्मचक्षुओं से नहीं दिखाई देता।[२] गौतम! प्रत्येक व्यक्ति द्वारा वर्तमान, भूत और भविष्य के अपने कार्यकलापों के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनुभूति की जाती है कि "मैं सुन रहा हूं", "मैंने सुना था", "मैं सुनूंगा"। इस प्रकार की अनुभूतियों में "मैं" की प्रतिध्वनि से प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीव का प्रत्यक्षानुभव होता है।"

भगवान् महावीर प्राणिमात्र के मनोगत भावों को जानने वाले थे अतः गौतम के मन में जो भी शंका उठी, गौतम द्वारा उस शंका के प्रकट किये जाने से पहले ही भगवान् ने उसे गौतम के समक्ष रख कर उसका तत्काल समाधान कर दिया और इस प्रकार गौतम इन्द्रभूति को अपनी शंकाओं के समाधान के लिये बोलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

भगवान् ने फरमाया – "गौतम! प्रत्येक व्यक्ति द्वारा की गई–'मैं प्रसन्न हूं' अथवा 'मैं पीड़ित हूं' इत्यादि अनुभूतियों में प्रयुक्त 'मैं' पद से आत्मा का ही बोध होता है। 'मैं नहीं हूं' इस प्रकार की अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति कोई व्यक्ति नहीं करता।"

आगम प्रमाण के सम्बन्ध में गौतम के अन्तर्मन में उठी शंका का तत्काल समाधान करते हुए प्रभु ने कहा – "गौतम! तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होने का मूल कारण यह है कि तुम वेद की ऋचाओं के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ पाये हो। एक ओर –

'न ह वै सशरीरस्यसतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसंत प्रियाप्रिये न स्पृशतः'[३] तथा –

'स्वर्गकामो यजेत'

---

[१] (क) अत्थि णिरुत्तं जीवो, इमेहिं सो लक्खणेहिं मुणियव्वो।
चित्तं-चेयण-सण्णा, विण्णाणादीहिं चिंधेहिं ॥४२०॥
[चउपन्नमहापुरिस चरियं, पृ० ३०१]

(ख) गोयम पच्चक्खुच्चिय, जीवो जं संसयाइ विन्नाणं।
पच्चक्खं च न सज्झं, जह सुह-दुक्खा सदेहम्मि ॥१५५४॥
[विशेषावश्यक भाष्य]

[२] नाणादओ न देहस्स, मुत्तिमत्ताइओ घडस्सेव।
तम्हा नाणाइ गुणा जस्स, स देहाइओ जीवो ॥१५६२॥
[विशेषावश्यक भाष्य]

[३] छान्दोग्योपनिषद्, ४४५

इन वेद-पदों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। दूसरी ओर –

'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्ति'[1]

इस वाक्य से तज्जीव तच्छरीरवाद की प्रतिध्वनि व्यक्त होती है। वेद के इन वाक्यों को परस्पर विरोधी मानने के कारण तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हुआ है। गौतम ! उपर्युक्त अंतिम वेदवाक्य का वस्तुतः तुम अर्थ ही नहीं समझे हो। मैं तुम्हें इसका सही अर्थ समझाता हूं।"

विज्ञानघन का वास्तविक अर्थ

"इस वाक्य में ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोगरूप विशिष्ट ज्ञानपुंज से युक्त आत्मा को विज्ञानघन कहा गया है, क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानपुंज है। विज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं है। विज्ञान की दृष्टि से आत्मा सर्वव्यापी है। वह आत्मविज्ञान घटपटादि भूतों के ज्ञान से विज्ञान के रूप में उत्पन्न होता है। जब वे घटपटादि भूत शनैः शनैः विज्ञानघन आत्मा का ध्यान दूसरी ओर आकर्षित होने के कारण विज्ञेय के भाव से नष्ट – तिरोहित हो जाते हैं तो वह आत्मा का विज्ञान स्वरूप अपने उस पूर्वोपलब्ध घटपटादि के ज्ञान की दृष्टि से उन घटपटादि के विनष्ट अर्थात् तिरोहित होते ही उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है।"

उक्त वेदवाक्य का तात्पर्य यह है कि विज्ञानघन आत्मा को घटपटादि भूतों के देखने से जो घटविषयक अथवा पटविषयक ज्ञान होता है, वह क्रमशः अन्य वस्तुओं की ओर ध्यान आकर्षित होने पर नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर वृक्ष, फूल, फलादि अन्य वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। किसी वस्तु के प्रथम दर्शन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसके अनन्तर दूसरी वस्तु के दर्शन से तद्विषयक नवीन ज्ञान होते ही पूर्व वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान का स्थान नवीन वस्तुओं का ज्ञान ग्रहण कर लेता है। यही क्रम आगे से आगे चलता रहता है। इस प्रकार पहले देखी हुई वस्तु का ज्ञान उसके पश्चात् देखी हुई वस्तु के ज्ञान के साथ ही नष्ट हो जाता है। वस्तुतः आत्मा नष्ट नहीं होती, अपितु पूर्ववर्ती ज्ञान का स्थान पश्चाद्वर्ती ज्ञान द्वारा ले लिये जाने पर वह पूर्ववर्ती घटपटादि ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञाता विज्ञान ही नष्ट होता है। एक ज्ञेय के पश्चात् अन्य ज्ञेय का ज्ञान विज्ञानघन आत्मा में अविकल रूप से क्रमशः चलता रहता है अतः आत्मा के नष्ट होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।"

वेदपद में प्रयुक्त प्रेत्य संज्ञा का वास्तविक अर्थ

उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् पट को देखने पर आत्मा का ध्यान घट की ओर से हट कर पट की ओर आकर्षित हुआ। उस दशा में घट के दृष्टि से ओझल होने के साथ ही आत्मा का घटोपयोग नष्ट हो गया और उसका स्थान आत्मा में पट-सम्बन्धी ज्ञान होने के कारण पटोपयोग ने ले लिया और इस तरह पटोपयोग के आविर्भूत हो जाने पर आत्मा में घटोपयोग की प्रेत्य अर्थात् पूर्व की संज्ञा—जानकारी नहीं रहती।"

"ज्ञान वस्तुतः भूतों का धर्म नहीं है क्योंकि वह वस्तु के अभाव में भी विद्यमान और वस्तु की विद्यमानता में अविद्यमान भी रहता है। जिस प्रकार घट से पट एक भिन्न वस्तु है, उसी प्रकार भूतों से ज्ञान नितान्त भिन्न वस्तु है। घट और पट दोनों भिन्न-भिन्न दो वस्तुएं होने के कारण जिस प्रकार घट के अभाव में पट की और पट के अभाव में घट की विद्यमानता रहती है, उसी प्रकार मुक्तावस्था में वस्तुओं का अभाव होने पर भी उनका ज्ञान विद्यमान रहता है और मृत शरीर में भूतों की विद्यमानता रहने पर भी ज्ञान नहीं रहता। वस्तुतः शरीर और जीव एक दूसरे से भिन्न दो वस्तुएं हैं। शरीर जीव का आधार और जीव शरीर का आधेय है। उपयोग, अनुभूति, संशयादि विज्ञान जीव के लक्षण अरूपी-अमूर्त हैं, पर शरीर मूर्त है। किसी मूर्त का गुण अमूर्त नहीं हो सकता, अतः विज्ञानादि अमूर्त गुण मूर्त शरीर के नहीं अपितु अमूर्त आत्मा के ही हो सकते हैं। जिस प्रकार दूध में घी, तिल में तेल, काष्ठ में अग्नि, पुष्प में सुगन्ध, चन्द्रकान्त मणि में सुधा घुलीमिली प्रतीत होने पर भी वस्तुतः दुग्ध आदि से भिन्न है, उसी प्रकार शरीर के सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त आत्मा भी निश्चित रूपेण शरीर से भिन्न है।"[1]

एकात्मवाद का निराकरण

तदनन्तर—"पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यं, उतामृतत्वस्येशानः यदन्नेनातिरोहति, यदेजति, यन्नेजति, यद्दूरे, यदुअन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य, यत् सर्वस्यास्य वाह्यतः।

[ईशावास्योपनिषद्]

तथा :—

एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते प्रतिष्ठितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
संकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥

तथेदममलं ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं, भेदरूपं प्रकाशते ॥

---

[1] क्षीरे घृतं तिले तैलं काष्ठेऽग्निः सौरभं सुमे।
चन्द्रकान्ते सुधा यद्वत्तथात्माप्यंगतः पृथक् ॥ [गणधरवाद की टीका]

आदि एकात्मवादपोषक उक्तियों के अनुसार समग्र संसार में भिन्न-भिन्न आत्माएं नहीं अपितु आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त एक ही आत्मा है –"

इन्द्रभूति गौतम के हृदय में उत्पन्न हुए इस प्रकार के संशय का भी बड़ी युक्तिपूर्ण मधुर वाणी से समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने फरमाया— "इन्द्रभूते ! यदि निर्मल अनन्त आकाश के समान विराट् एक ही आत्मा सब पिण्डों में विद्यमान होता तो जिस प्रकार आकाश सभी भिन्न-भिन्न पिण्डों में एक ही रूप से विद्यमान है, आकाश की नानारूपता, विचित्रता और विलक्षणता उन पिण्डों में दिखाई नहीं देती उसी प्रकार जीव भी सब भूतसंघों में नानारूपता, वैचित्र्य एवं विलक्षणता से रहित एकरूपता में ही दिखाई देता पर प्राणी-समूह में ऐसी समानरूपता एवं एकरूपता का नितान्त अभाव है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि एक प्राणी के लक्षणों से दूसरे प्राणी के लक्षण बिलकुल ही भिन्न दिखाई देते हैं। इससे सहज ही यह सिद्ध होता है कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा नहीं अपितु भिन्न-भिन्न आत्माएं हैं। लक्षणभेद होने पर लक्ष्यभेद स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। यदि सभी देहसमूहों में आकाश की तरह सर्वव्यापी एक ही आत्मा होता तो कर्त्ता, भोक्ता, मन्ता, एवं सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि की विभिन्न दशाएं प्राणियों में विद्यमान नहीं रहतीं। पर वस्तुस्थिति सर्वथा प्रत्यक्ष है कि सुख-दुःख आदि की समानता प्राणिवर्ग में दृष्टिगोचर नहीं होती। आज अनेकों प्राणी दुःख के कारण छटपटाते और कई प्राणी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह अन्तर इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि समस्त भूतसंघों में व्योम की तरह कोई विराट् एक आत्मा नहीं बल्कि अलग अलग अनन्त आत्माएँ हैं।"

"जीव का प्रमुख लक्षण है उपयोग। वह उपयोग प्रत्येक प्राणी में एक दूसरे से भिन्न-भिन्न, स्वल्पाधिक मात्रा में और विभिन्न प्रकार का पाया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक देहधारी में उपयोग के उत्कर्ष-अपकर्ष एवं न्यूनाधिक्य भेद के कारण संसार में आत्माओं की संख्या भी अनन्त है। वस्तुतः आत्मा अविनाशी-ध्रौव्य है। संसारी आत्माओं में घटपटादि के इन्द्रियगोचर होने पर जो घटोपयोग, पटोपयोग आदि ज्ञान-पर्यायें उत्पन्न होती हैं उस दृष्टि से आत्मा के उत्पाद स्वभाव का तथा उसमें पटोपयोग के उत्पन्न हो जाने पर पूर्व के घटोपयोग रूपी ज्ञान-पर्याय का व्यय अर्थात् विनाश हो जाने के कारण आत्मा के व्यय स्वभाव का परिचय प्राप्त होता है। पर उत्पाद और व्यय की उन दोनों ही परिस्थितियों में आत्मा का अविनाशी स्वभाव सदा सर्वदा अपने शाश्वत ध्रुव स्वरूप में विद्यमान रहता है अतः आत्मा ध्रौव्य स्वभाव वाला माना गया है। ज्ञान-पर्यायों के उत्पाद एवं व्यय के कारण ही आत्मा उत्पाद और व्यय रूप से परिलक्षित होता है अन्यथा वह शाश्वत-ध्रौव्य-अविनाशी है।"

पूर्वक प्रमाणसंगत एवं हृदयग्राही युक्तियों से आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में इन्द्रभूति गौतम के मनोगत सम्पूर्ण संशयों का मूलोच्छेद कर दिया। हृत्तल के निविड़तम अज्ञानान्धकार को विनष्ट कर देदीप्यमान ज्ञानालोक प्रकट करने में समर्थ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर के अमोघ वचनों का, परम सत्य को पहिचान कर उसे आत्मसात् करने की उत्कट अभिलाषा रखने वाले इन्द्रभूति के पूर्वाग्रहों से विनिर्मुक्त स्वच्छ निश्छल अन्तर्मन पर अत्यन्त अद्‌भुत प्रभाव पड़ा। प्रभु की दिव्य ध्वनि से न केवल उनके अन्तर्मन के संदेह ही दूर हुए अपितु उनका अन्तर अचिन्त्य, अनिर्वचनीय अद्‌भुत एवं अलौकिक उल्लास से ओतःप्रोत हो गया।

हृदयपरिवर्तन

इन्द्रभूति गौतम ने अपनी आंखों से असीम कृतज्ञता प्रकट करने के साथ-साथ अपने आपको प्रभुचरणों पर न्योछावर करते हुए हर्षगद्‌गद् स्वर में कहा--"भगवन् ! अब मैं सम्पूर्णरूपेण आपकी शरण में हूँ। प्रभो ? आज का दिन मेरे लिये परम सौभाग्यशाली दिन है। आज मेरा सकल जीवन सफल हो गया क्योंकि आज मुझे आप जैसे महान् जगत्‌गुरु प्राप्त हुए हैं।[1] आपने मेरे हृदय में व्याप्त घोर अन्धकार को विनष्ट कर दिया है। आपकी युक्तिपूर्ण, सुधासिक्त शाश्वत-सत्य वाणी से मेरे मन के समस्त संशयों का समूल नाश हो गया है। मैं आपको पूर्णरूपेण सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वीकार करता हूँ तथा आपके वचनों एवं सिद्धान्तों पर प्रगाढ़ श्रद्धा रखता हूँ। आपके कृपाप्रसाद से मैंने वास्तविक सत्य को पा लिया है।"

पश्चात्ताप भरे स्वर में आत्मनिन्दा करते हुए इन्द्रभूति कहने लगे-"शोक ! महाशोक ! विश्व में मिथ्यात्व वस्तुतः पाप का बहुत बड़ा भण्डार है। अपने जीवन का आज तक का इतना अमूल्य समय मैंने मिथ्यात्व का सेवन करते हुए व्यर्थ ही खो दिया है।"[2]

इस प्रकार सर्वज्ञ प्रभु महावीर की अतुल प्रभावोत्पादक तर्क एवं युक्तिसंगत अमोघ वाणी द्वारा इन्द्रभूति गौतम की सत्यान्वेषिणी, सरल, स्वच्छ एवं अनाग्रह-पूर्ण मनोभूमि में बोया हुआ एवं परिसिंचित आध्यात्मिकता का बीज सहसा अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हो उठा।

पूर्वाग्रहों के प्रति किंचितमात्र भी मोह न होने तथा सत्य के प्रति परम निष्ठा के साथ-साथ सत्य को अपने जीवन में ढालने का प्रबल साहस होने के

---

[1] अद्याहमेव धन्योऽहं (स्मि), सफलं जन्म मेऽखिलम् ।
यतो मयातिपुण्येन, प्राप्तो देवो जगद्गुरुः ॥१३४॥
— [वीर वर्द्धमानचरित्र-भट्टारक श्री सकलकीर्ति]

[2] अहो मिथ्यात्व मार्गोऽयं, विश्वपापाकरोऽशुभः ।
नित्यं वृथा मया निन्द्यः, सेवितो मूढचेतसा ॥१३३॥ [वही]

कारण इन्द्रभूति गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर द्वारा परम सत्य का बोध होते ही तत्क्षण बिना किसी प्रकार की हिचक के सहर्ष अपना सर्वस्व श्रमण भगवान् महावीर के चरणों में समर्पित कर दिया। उन्होंने अपने समाज में अर्जित उज्ज्वल यश, धार्मिक जगत् एवं विद्वत्समाज में वर्षों के अथक प्रयास से अर्जित अपनी प्रतिष्ठा और शिष्यसंघ के हृदयों में ओतःप्रोत अपने प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा, उत्कट निष्ठा व सर्वोच्च समादर आदि की किंचित्मात्र भी चिन्ता किये बिना उन्होंने प्रभु-चरणों में प्रव्रजित होने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

उन्होंने सांजलि शीश झुका कर प्रभु से प्रार्थना भरे स्वर में कहा–"प्रभो! मुझे आपके चरणों में पूर्ण आस्था है। मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि आपके द्वारा बताये गये प्रशस्त मार्ग का अवलम्बन करने पर ही प्राणी सब प्रकार के दुःखों और बन्धनों से विनिर्मुक्त हो अपने चरम एवं परम लक्ष्य शिवपद को प्राप्त कर सकता है। मैं अब आजीवन आपके चरणों की शरण में रहना चाहता हूँ, अतः आप मुझे अपने परम कल्याणकारी धर्म में श्रमण-दीक्षा प्रदान कर कृतार्थ कीजिये।"

शिष्यमंडल सहित प्रव्रज्या

परम दयालु प्रभु महावीर ने "अहासुहं देवाणुपिया!" इस सुधासिक्त सुमधुर वाक्य से इन्द्रभूति को यथेप्सित सुखद कार्य करने की अनुज्ञा प्रदान की।

तदनन्तर इन्द्रभूति गौतम ने अपने ५०० शिष्यों को सम्बोधित करते हुए शान्त, सहज, सरल एवं गम्भीर स्वर में कहा– "आयुष्मन् अन्तेवासियो! मुझे प्रभुकृपा से वास्तविक सत्य का बोध हो गया है। मैं अब सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर से श्रमण-दीक्षा अंगीकार कर शिष्यरूपेण इनकी शरण ग्रहण करना चाहता हूँ। अतः अब आप लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार जैसे आपको अच्छा लगे, वही कर सकते हैं।"

इस पर इन्द्रभूति गौतम के ५०० शिष्यों ने एक स्वर में कहा—"परम श्रद्धास्पद गुरुदेव! हमारी आन्तरिक प्रगाढ़ श्रद्धा के एकमात्र केन्द्रबिन्दु आप जैसे महान् आचार्य जब भगवान् महावीर के पास शिष्यभाव से दीक्षित हो रहे हैं तो हम लोग आपको छोड़ कर अन्यत्र कहाँ और क्यों जायें? हम सब लोग भी आपके चरणचिन्हों पर चलते हुए आपकी एवं प्रभु की सेवा करते हुए अपना आत्मकल्याण करेंगे।"[1]

श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने हेतु समुद्यत इन्द्रभूति गौतम के अन्तर्मन की पुकार और प्रार्थना को सुन कर भगवान् महावीर ने उन्हें अपना भावी प्रथम गणधर जान कर प्रमुख शिष्य के रूप में ईसा पूर्व ५५७ एवं विक्रमपूर्व ५०० वैशाख

त्मक स्वभाव को जानने वाला प्रबुद्धचेता, ज्ञानवान् व्यक्ति समस्त तत्त्वों की उत्पाद – व्यय अवस्था में हर्ष – विषाद से परे रह कर उनके ध्रौव्य स्वभाव का विचार कर तटस्थ रहता हुआ आत्मकल्याण में निरत रहता है।

सरल, निर्मल और तीक्ष्ण बुद्धि के कारण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर की विशिष्ट ३५ अतिशययुक्त अमोघ वाणी के प्रभाव से अपने अन्तर में अनिर्वचनीय दिव्य ज्ञानालोक का अनुभव किया।

उत्पाद – व्यय – ध्रौव्यात्मक त्रिपदी के रूप में समस्त विश्व के त्रिकाल-वर्ती संपूर्ण ज्ञान – विज्ञान की कुन्जी प्राप्त कर वेद–वेदांग के पारंगत विद्वान् इन्द्रभूति गौतम आदि के अन्तर में रुंधे हुए ज्ञान के समस्त स्रोत अजस्ररूपेण फूट पड़े और ज्ञान का अथाह सागर उनके हृदयों में हिलोरें लेने लगा। उनके हृदय की समस्त कुंठाएं, रिक्तताएं, शंकाएं, अनिश्चितताएं एवं सभी प्रकार की कमियां क्षण भर में ही दूर हो गईं। उन्होंने अनुभव किया कि अज्ञान के एक घने काले आवरण के हट जाने के कारण उनके अन्तर में दिव्य तेजोमय प्रकाशपुंज ज्ञान का सहस्ररश्मि आलोक जगमगाने लगा है।

तीर्थंकर भगवान् महावीर की अतिशययुक्त दिव्य वाणी के प्रभाव से तथा पूर्वजन्म में कृत उत्कट साधना के परिणामस्वरूप इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारहों सद्यःप्रव्रजित विद्वानों के श्रुतज्ञानावरण कर्म का तत्क्षण विशिष्ट क्षयोपशम हुआ और वे उसी समय समग्र श्रुतज्ञानसागर के विशिष्ट वेत्ता बन गये। उन्होंने सर्व-प्रथम चौदह पूर्वों की रचना की, जो इस प्रकार हैं :

१. उत्पादपूर्व
२. अग्रायणी पूर्व
३. वीर्यप्रवाद पूर्व
४. अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व
५. ज्ञानप्रवाद पूर्व
६. सत्यप्रवाद पूर्व
७. आत्मप्रवाद पूर्व
८. कर्मप्रवाद पूर्व
९. प्रत्याख्यान पूर्व
१०. विद्यानुप्रवाद पूर्व
११. कल्याणवाद पूर्व
१२. प्राणावाय पूर्व
१३. क्रियाविशाल पूर्व
१४. लोकबिन्दुसार पूर्व

अतिविशाल चौदह पूर्वों की रचना आचारांगादि द्वादशांगी से पूर्व की गई, अतः इन्हें पूर्वों के नाम से अभिहित किया गया।[1]

चौदह पूर्वों की रचना के पश्चात् अंगशास्त्रों की रचना की गई।

---

[1] (क) जम्हा तित्थगरो तित्थपवत्तणकाले गणधराणं सव्वसुत्ताधारत्तणतो पुव्वं पुव्वगय सुत्तत्थं भासइ तम्हा पुव्वत्ति भणिया,...... [नन्दी – हारिभद्रीया वृत्ति पृ० १०३]

(ख) सृष्टानि गणधरैरेभ्यः पूर्वमेव यत् ।
पूर्वाणीत्यभिधीयन्ते, तेनैतानि चतुर्दश ॥१३१॥
[त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ५]

भगवान् महावीर के इन्द्रभूति आदि ग्यारहों प्रमुख शिष्यों ने भगवान् की वाणी को जो द्वादशांगी के रूप में ग्रथित किया उसमें इन्द्रभूति गौतम, अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त, आर्यसुधर्मा, मंडित और मौर्यपुत्र इन सात गणधरों की अलग-अलग रूप से सात वाचनाएं थीं। आठवीं वाचना के रूप में अकम्पित एवं अचल भ्राता की सम्मिलित रूप से एक वाचना थी, तथा नवमीं वाचना के रूप में मेतार्य और प्रभास की भी सम्मिलित रूप से एक वाचना थी। इस प्रकार क्योंकि पृथक्-पृथक् रूप से ९ वाचनाएं थीं, अतः पृथक्-पृथक् वाचनाभेद की दृष्टि से भगवान् महावीर के ९ गण विख्यात हुए एवं अलग-अलग व्यक्तियों की दृष्टि से ११ गणधर कहलाये।[1]

भगवान् महावीर के ९ गणों के स्थान पर समवायांग सूत्र में बताई गई ११ गण संख्या, गणधरों के अधीन ११ साधु समुदायों की अपेक्षा से होनी संभव है।[2]

दीक्षा-समय पिता की विद्यमानता

श्वेताम्बर साहित्य में इन्द्रभूति गौतम के दीक्षाकाल में उनके पिता के विद्यमान होने अथवा न होने का कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। दिगम्बर परम्परा के भी अधिकांश आचार्य इस विषय में मौन हैं। किन्तु दिगम्बर कवि 'रयधु' ने जो अपभ्रंश भाषा में महावीर-चरित्र लिखा है उसके अनुसार इन्द्रभूति के दीक्षाकाल में उनके पिता शांडिल्य विद्यमान थे। जब देवपति शक्रेन्द्र के साथ इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के समवसरण की ओर प्रस्थान करने लगे तब उनके दोनों भाई अग्निभूति और वायुभूति भी अपने छात्रमंडल सहित उनके साथ हो लिये। यह देख कर इन्द्रभूति के पिता शांडिल्य ब्राह्मण चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगे – "हाय रे दुर्दैव ! मेरा तो सर्वस्व लुट गया। मेरे इन पुत्रों के जन्म-समय नैमित्तिक ने अपनी भविष्यवाणी में कहा था कि तुम्हारे ये पुत्र जैनधर्म की महती प्रभावना कर परम-सौख्यदायी मार्ग को प्रशस्त करने वाले होंगे। आज उस ज्योतिषी की बात सत्य होने जा रही है। हाय ! यह मायावी महावीर यहां कहां से आ गया है ?"[3]

दीक्षा पर दोनों परम्पराओं का समन्वय

इन्द्रभूति गौतम की श्रमण-दीक्षा को लेकर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा प्रभु महावीर की केवल ज्ञानोपलब्धि के दूसरे ही दिन इन्द्रभूति की दीक्षा मानती है; जबकि दिगम्बर परम्परा ६६ दिन बाद।

भगवान् महावीर और गौतम गणधर को समान रूप से आदरणीय मान कर भी दोनों परम्पराएं सामान्य मतभेद के कारण एक प्रकार से कुछ अलग, कुछ दूर सी दृष्टिगोचर होती हैं।

श्वेताम्बर - दिगम्बर परम्परा के इस मंतव्यभेद के कारण धर्मशासन के संचालन में एकरूपता नहीं रही। पर यह प्रसन्नता की बात है कि हमें दोनों परम्पराओं में समन्वय का एक आधार मिल रहा है।

दिगम्बर परम्परा के मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र कृत 'गौतमचरित्र' में भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण और धर्मसंघ आदि विषयों में श्वेताम्बर - दिगम्बर, दोनों परम्पराओं में कोई खास मतभेद नहीं है। केवल गर्भापहरण, कुमारत्व, तीर्थस्थापन जैसे कुछ प्रसंगों में सामान्य परम्परा - भेद है, जो प्रायः प्रसंग को नहीं समझने अथवा अर्थभेद की दृष्टि से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। समन्वय दृष्टि से विचार करने पर कई विषयों के हल निकल आते हैं। उदाहरण के तौर पर 'कुमार' का अर्थ अविवाहित की तरह अनभिषिक्त भी मान लिया जाय तो समन्वय हो सकता है।

वैसे श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परानुसार वैशाख शुक्ला ११ को और दिगम्बर परम्परा के अनुसार श्रावण कृष्णा १ (प्रतिपदा) को तीर्थस्थापना और गौतमादि की दीक्षा मानी गई है; पर उसका समन्वय भी प्राप्त होता है।

प्रायः सभी दिगम्बर ग्रन्थों में प्रभु को केवलज्ञान की प्राप्ति के ६६ दिन पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को इन्द्रभूति आदि की दीक्षा का होना माना गया है; जबकि मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र कृत 'गौतमचरित्र' में एक नवीन समन्वयकारी तथ्य दृष्टिगोचर होता है।

गौतमचरित्र में लिखा है :—

"ऋजुकूला नदी के तट पर स्थित जृंभक नामक ग्राम के पास शालवृक्ष के नीचे शिला पर विराजमान भगवान् महावीर को वैशाख शुक्ला १० के दिन सायंकाल की वेला में केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इन्द्र की आज्ञा से तत्काल कुवेर द्वारा समवसरण की रचना की गई। भगवान् महावीर सिंहासन पर विराजमान हुए किन्तु याममात्र अर्थात् तीन घण्टे व्यतीत हो जाने पर भी प्रभु की दिव्यध्वनि प्रकट नहीं हुई।"[1]

[1] याममात्रे व्यतिक्रान्ते, सिंहासनप्रसंस्थिते।
तद श्री वीरनाथस्य, नाभवद् ध्वनिनिर्गमः ॥३२॥

इन्द्र ने अवधिज्ञान से दिव्यध्वनि प्रस्फुटित न होने का कारण जाना और वह इन्द्रभूति गौतम को लेने के लिए वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण कर उनके पास पहुंचा। शक्र युक्तिपूर्वक गौतम को भगवान् के पास ले आया।

वृद्ध - ब्राह्मण - वेषधारी इन्द्र द्वारा पूछे गये श्लोक का अर्थ समझ में न आने, मानस्तम्भ को देखते ही अपने मान के तत्काल विगलित हो जाने तथा प्रभु के अलौकिक आभासम्पन्न, त्रैलोक्य विमोहक दिव्य तेजोमय स्वरूप को देखने के कारण इन्द्रभूति प्रतिबुद्ध हुए और प्रभुचरणों में दीक्षित हो गये।

६६ दिन पश्चात् ही इन्द्रभूति के दीक्षित होने की मान्यता को अभिव्यक्त करना यदि मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र भट्टारक को अभीष्ट होता तो वे "याममात्रे व्यतिक्रान्ते" पद का प्रयोग नहीं करते। संभव है उनके समक्ष एकादशी के दिन इन्द्रभूति के दीक्षित होने की समाज में मान्य कोई प्राचीन परम्परा रही हो।

इस प्रकार दोनों परम्पराओं में समन्वय प्राप्त होता है। समन्वयप्रेमी विद्वान् इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें।

गणधर-पद प्रदान की विधि

वर्तमान काल में आचार्यादि पद प्रदान के अवसर पर जिस प्रकार कुछ विधि-विधान और मंगल उत्सव होते हैं उसी तरह शास्त्र में तीर्थंकर भगवान् द्वारा वासक्षेपादि किसी विशेष विधिपूर्वक गणधर नियुक्त करने का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। संभव है त्रिपदी-ज्ञान के पश्चात् तीर्थंकर भगवान् विशिष्ट योग्यता वाले मुनियों को चतुर्विध संघ के समक्ष गणधर रूप से घोषित करते हों और उपस्थित चतुर्विध संघ एवं देव-देवी समूह हर्षध्वनिपूर्वक मंगल-महोत्सव मनाकर अभिनन्दन तथा अनुमोदन अभिव्यक्त करते हों।

आवश्यक चूर्णि, महावीर चरित्र और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में इस प्रकार का उल्लेख है कि इन्द्रभूति आदि ग्यारहों गणधर प्रभु महावीर के सम्मुख कुछ झुक कर परिपाटी से खड़े हो गये। कुछ क्षण के लिए देवों ने वाद्यनिनाद बंद किये। उस समय जगद्गुरु प्रभु महावीर ने सर्वप्रथम इन्द्रभूति गौतम को लक्ष्य कर यह कहते हुए कि "मैं तुम्हें तीर्थ की अनुज्ञा देता हूं" — इन्द्रभूति के सिर पर स्वयं के करकमलों से सौगन्धिक रत्नचूर्ण डाला। तदनन्तर प्रभु ने क्रमशः अन्य सब गणधरों के सिर पर भी उसी प्रकार चूर्ण डाला। तत्पश्चात् प्रभु महावीर ने अपने पंचम गणधर आर्य सुधर्मा को चिरंजीवी समझ कर सब गणधरों के आगे खड़ा किया और श्रीमुख से फरमाया — "मैं तुम्हें धुरी के स्थान पर रख कर गण की अनुज्ञा देता हूं।"[1]

मूल आगम – शास्त्रों में इस प्रकार की किसी प्रक्रिया का कहीं किंचितमात्र भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि आचार्यों द्वारा आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थों में उपरोक्त उल्लेख किस आधार पर किया गया है।

गणधर-पद की महत्ता

इन्द्रभूति गौतम ने चरमशरीरी गणधर पद की प्राप्ति की। इससे उनके द्वारा पूर्वजन्म में की गई उत्कट साधना और प्रभूत पुण्योपार्जना का परिचय मिलता है। जैन परम्परा के आगम और आगमेतर साहित्य में विश्ववंद्य, त्रैलोक्यश्रेष्ठ तीर्थंकर-पद के पश्चात् गणधर-पद को ही श्रेष्ठ माना गया है।[1]

जिस प्रकार कोई विशिष्ट साधक अत्युच्च कोटि की साधना के द्वारा त्रैलोक्यपूज्य तीर्थंकर नामगोत्र का उपार्जन करता है उसी प्रकार गणधर-पद को प्राप्त करने के लिये भी साधक को उच्चकोटि की साधना करनी पड़ती है। तीर्थंकर नामगोत्र के उपार्जन के लिये तो आगमों में स्पष्ट उल्लेख है कि अमुक १६ या २० स्थानों में से किसी एक अथवा एक से अधिक स्थानों की उत्कट साधना करने से साधक तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करता है।[2] किन्तु गणधर नाम-कर्म की उपार्जना किस-किस प्रकार की उत्कृष्ट कोटि की साधना करने पर होती है, इसका कोई उल्लेख आगम साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। आवश्यक मलयगिरि वृत्ति में इस प्रकार का उल्लेख अवश्य उपलब्ध होता है कि भरत चक्रवर्ती का ऋषभसेन नामक पुत्र, जिसने कि पूर्व भव में गणधर नामगोत्र का उपार्जन किया था, संसार से विरक्त होकर दीक्षित हो गया।[3]

भद्रेश्वर ने ईसा की ग्यारहवीं शती में रचित अपने प्राकृत भाषा के "कहावली" नामक बृहद् ग्रन्थ में भी भगवान् ऋषभदेव के प्रथम गणधर ऋषभसेन के प्रव्रजित होने का उल्लेख करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि उन्होंने अपने पूर्वभव में गणधर नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन किया था। इस सम्बन्ध में कहावलीकार भद्रेश्वर द्वारा उल्लिखित पंक्तियां इस प्रकार हैं –

"सामिणो य समोसरणे ससुरासुरमणुयसभाए धम्मं साहिन्तस्सोसभसेणो-नाम भरहपुत्तो पुव्वभवनिबद्धगणहरनामगो जायसंवेगो पव्वइओ।"

श्रमण भगवान् महावीर के इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह गणधरों ने भी अपने-अपने पूर्वजन्म में गणधर-पद की अवाप्ति के योग्य किसी न किसी प्रकार की विशिष्ट साधना की थी इस प्रकार का संकेत कतिपय आचार्यों ने किया है। यथा –

---

[1] [illegible] तीर्थंकरत्वं, मध्यम श्रद्धा गणधरत्वम् । [लोकबिन्दुसार]

[2] देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ६

[3] "...उसभसेणे नाम भरहपुत्तो पुव्वभवबद्धगणहरनामगोत्तो जायसंवेगो पव्वइओ...।" [आवश्यक मलय, [illegible]]

१. तीर्थंकर भगवान् को विश्राम देना एवं शिष्यों की योग्यता का बढ़ाना।
२. श्रोताओं को विश्वास दिलाना कि गणधर भी तीर्थंकर जैसा ही उपदेश देते हैं एवं गुरु-शिष्य के वचनों में कोई विरोध नहीं है।
३. यह बताना कि भगवान् ने अर्थरूप वाणी फरमाई, उस वाणी को गणधरों ने सूत्र रूप में ग्रथित किया एवं गणधरों द्वारा सूत्र रूप में ग्रथित भगवान् की उसी वाणी को वाचना में सुनाया जाता है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार जब भगवान् महावीर गणधरों को सद्यः स्थापित चतुर्विध तीर्थ के संचालन की अनुमति प्रदान कर देवच्छंद में पधार गये तब प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् के सिंहासन के पास पादपीठ पर आसीन हो द्वितीय प्रहर में परिषद को उपदेश दिया।[2]

"सेन प्रश्न" के अनुसार तीर्थस्थापना-दिवस के अतिरिक्त भी सर्वदा द्वितीय पौरुपी में प्रथम या अन्य गणधर का व्याख्यान करना माना गया है।[3]

आगमकालीन परम्परा में कहीं ऐसा स्पष्ट निर्देश नहीं है कि तीर्थंकर भगवान् प्रथम प्रहर में ही धर्मोपदेश करते हैं। प्रथम प्रहर का ही देशना का नियम माना जाय तो जहां प्रथम प्रहर के बाद ही भगवान् का पदार्पण हुआ होगा वहां उस दिन देशना नहीं हुई होगी। पर ऐसा आगमकालीन स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। संभव है उत्तरकालीन परम्परा में ऐसा माना गया हो। गणधर द्वारा द्वितीय प्रहर के धर्मोपदेश में जो 'खेद-विनोद' का हेतु प्रस्तुत किया गया है वहां अनन्तशक्ति सम्पन्न भगवान् के लिये खेद की संभावना विचारणीय है। संभव है भगवान् से सुने हुए भावों को गणधर सूत्र रूप से फिर वहीं पर सुनाते हों। जैसा कि चूर्णिकार ने कहा है :—

"भगवता अत्थो भणितो, गणहरेहिं गंथो कओ, वाइओ य इति।"
[आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३३४]

समवायांग सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर अपनी निर्वाण-रात्रि में कल्याणफल विपाक एवं पापफल विपाक के क्रमशः ५५-५५ अध्ययनों का उपदेश देकर सिद्ध हुए। इस तरह आचार्यों ने १६ प्रहर तक निरन्तर भगवान् महावीर द्वारा देशना देना मान्य किया है।[4] इससे प्रमाणित होता है कि तीर्थंकर प्रथम प्रहर में ही देशना देते हैं, ऐसा नियम नहीं है।

---

[1] भगवता अत्थो भणितो, गणहरेहिं गंथो कओ वाइओ य इति। [आव० चू०, पृ० ३३४]
[2] त्रिषष्टि०, पर्व १०, सर्ग ५, श्लो० १८४
[3] जेट्ठो अन्नो वा...... [१३५ प्रश्न, सेन प्र०, ३]
[4] (क) समणे भगवं महावीरे अंतिम राइयंसि पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफल विवागाइं पणपन्नं अज्झयणाइं पावफल विवागाइं वागरित्ता सिद्धे, बुद्धे [illegible]।
[समवायांग-समवाय ५५]

भगवान् की देशना विषयक दिगम्बर-मान्यता

तीर्थंकर भगवान् की देशना-रूप दिव्य ध्वनि कब और कितने समय तक प्रकट होती है, इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा की यह मान्यता है कि तीर्थंकर भगवान् की दिव्य ध्वनि त्रिकाल में नवमुहूर्त तक और इसके अतिरिक्त गणधर, देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपण हेतु शेष समय में भी प्रकट होती है।[1]

इन्द्रभूति का उच्चतम व्यक्तित्व

व्यक्ति का महत्व धन, वैभव अथवा किसी उच्च पद से नहीं किन्तु उसके उच्च व्यक्तित्व से होता है। आकृति से भी व्यक्ति की महत्ता समझी जाती है पर कई बार इसमें भ्रान्ति भी हो जाती है। शास्त्र में कहा है कि कुछ व्यक्ति रूप-संपन्न होते हैं पर शीलसंपन्न नहीं। कुछ व्यक्ति शीलवान्-गुणवान् होकर भी रूपवान् नहीं होते। परन्तु महामुनि इन्द्रभूति भव्य आकृति के साथ शांत-सौम्य प्रकृति के भी धनी थे। लोकोक्ति में कहा है :—

"सुलभा आकृतिर्रम्या, दुर्लभं हि गुणार्जनम्।"

इन्द्रभूति गौतम इसके अपवाद थे। गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति का शरीर ऊंचाई में सात हाथ का, आकार समचतुरस्र-लक्षण युक्त, बल वज्रऋषभनाराच—वज्र सा मजबूत, वर्ण तपाये हुए कुन्दन अथवा पद्मकमल सा गौर। इन्द्रभूति की भव्य और सुन्दर आकृति को देखकर मनुष्य तो क्या देव भी मोहित हो जाते थे। विशाल भाल और कमलपुष्प सम खिले नयनों की रमणीकता देख दर्शकजन के नयन अपलक निहारते ही रह जाते थे।

शरीर की तरह उनका अन्तर्मन भी अनुपम शान्ति का आकर था। प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ इन्द्रभूति के विमल आचार और तपस्तेज ने उनके जीवन को शतगुना चमका रखा था।

इन्द्रभूति के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए भगवती और उपासकदशा सूत्र में कहा है—श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति अरणगार उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप और महातप के धारक थे। घोर गुणी और घोर ब्रह्मचारी थे। शरीर से ममता-रहित, तप की साधना से प्राप्त तेजोलेश्या को गुप्त रखने वाले, ज्ञान की अपेक्षा से चतुर्दश पूर्वधारी और चार ज्ञान के धारक थे।

---

[1] पठादीए अक्खलिओ, संझत्तिदय णवमुहुत्ताणि।
णिस्सरदि णिरुवमाणो, दिव्वझुणी जाव जोयणयं ॥९०३॥

सेसेसुं समएसुं, गणहरदेविंदचक्कवट्टीणं।
पण्हाणुरूवमत्थं, दिव्वझुणी अ सत्तभंगीहिं ॥९०४॥

[तिलोयपण्णत्ती, महाधिकार ४]

वे सर्वाक्षर-सन्निपात जैसी विविध लब्धियों के धारक और महान् तेजस्वी थे। वे भगवान् महावीर से न अति दूर न अति समीप ऊर्ध्वजानु और अधोसिर हो बैठते थे, सब ओर से अवरुद्ध अपने ध्यान को केवल प्रभु के चरणारविन्द में केन्द्रित किये हुए संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।[1] वे अतिशय ज्ञानी होकर भी परम गुरुभक्त और आदर्श शिष्य थे।

उपासकदशासूत्र के अनुसार वे छट्ठ-छट्ठ तप के निरन्तर पारणा करने वाले थे।[2] आपका विनय इतना उच्चकोटि का था कि जब भी उन्हें कोई प्रश्न पूछना होता तो वे तत्परता से उठकर भगवान् के पास जाते और श्रमण भगवान् महावीर को तीन वार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना-नमस्कार करते और तदनन्तर मर्यादित क्षेत्र में सम्मुख बैठ कर सेवा करते हुए, विनय से प्रांजलियुक्त भगवान् से पूछते।[3] संक्षेप में कहा जाय तो वे "जाइसंपन्ने, कुलसम्पन्ने, बलसम्पन्ने, विणयसंपन्ने, णाणसम्पन्ने, दंसणसंपन्ने, चरित्तसंपन्ने, ओयंसी-तेयंसी जसंसी" आदि संसार के समस्त सर्वोच्च कोटि के गुणों के अक्षय भंडार थे। कितना उच्चकोटि का व्यक्तित्व था इन्द्रभूति गौतम का !

इन्द्रभूति द्वारा देवशर्मा को प्रतिबोध

जब भगवान् महावीर ने अपना निर्वाण-काल निकट देखा तो उन्होंने अपने प्रति निस्सीम स्नेह व प्रगाढ़ राग रखने वाले गणधर इन्द्रभूति गौतम को अपने निर्वाण समय में अपने से दूर रखना आवश्यक समझ कर देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोध देने हेतु एक गांव में भेज दिया। गुरु-आज्ञा पालन में अहर्निश तत्पर रहने वाले परम आज्ञाकारी इन्द्रभूति गौतम ने प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य कर तत्क्षण देवशर्मा के ग्राम की ओर प्रस्थान कर दिया।

भद्रेश्वरसूरि ने कहावली में इस प्रकार का उल्लेख किया है कि भगवान् ने इन्द्रभूति गौतम को चम्पा नगरी के मार्गस्थ ग्राम में देवशर्मा को

---

[1] तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे गोयम गुत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए, वज्जरिसह-नारायसंघयणे, कणग-पुलयनिसहपम्हगोरे, उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, महातवे, ओराले, घोरे, घोरगुणे, घोर-तवस्सी, घोरबंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्तविउलतेउलेस्से, चोद्दसपुव्वी, चउनाणोवगए, सव्वक्खरसन्निवाई समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।
[भगवती सूत्र, शतक १]

[2] छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरई।

[3] तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए......उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेइत्ता वंदइ नमंसइ नमंसइत्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी।
[भगवती सूत्र, शतक १, उ० १]

प्रतिबोध देने और उसे प्रतिबोध देने के पश्चात् चम्पा नगरी में जाकर सुभद्रा श्राविका को धर्म-संदेश सुनाने का आदेश देकर भेजा था। भगवान् की आज्ञानुसार देवशर्मा को प्रतिबोध देकर जब इन्द्रभूति गौतम चम्पा नगरी में सुभद्रा श्राविका के घर पहुंचे तो वहां सुभद्रा श्राविका ने उन्हें भगवान् महावीर के निर्वाण प्राप्त कर लेने का समाचार सुनाया।[1]

परम्परागत मान्यता यह है कि अर्द्धरात्रि के पश्चात् निर्वाणोत्सव मनाने हेतु देवों के आकाशमार्ग से गमनागमन को देखकर ज्ञानोपयोग से इन्द्रभूति गौतम को विदित हो गया कि भगवान् महावीर ने निर्वाण-पद प्राप्त कर लिया है।[2]

"मेरे आराध्य देव श्रमण भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया है", इस बात का विचार आते ही इन्द्रभूति गौतम क्षण भर के लिये स्तब्ध रह गये। इन्द्रभूति गौतम का श्रमण भगवान् महावीर के प्रति प्रगाढ़ अनुराग होने के कारण वे शोकसागर में निमग्न हो गये और उनके शोकसंतप्त अन्तरंग से हठात् इस प्रकार के करुणोद्‌गार प्रकट होने लगे :–

भगवान् महावीर के निर्वाण पर इन्द्रभूति का चिन्तन

"शोक ! महाशोक ! आज मिथ्यात्व अपना निविड़ान्धकार फैलाने में समर्थ हो गया। रात्रि के अन्धकार में जिस प्रकार उलूक बोलते हैं उसी तरह अब मिथ्या-मत के प्रवर्तक गर्जना करने लगेंगे। अब दुर्भिक्षादि का यत्र-तत्र प्रसार होगा। जिस प्रकार राहु द्वारा सूर्य के ग्रस्त कर लिये जाने पर गगन में और दीपक के बुझ जाने पर भवन में अन्धकार व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार हे त्रैलोक्य-प्रभाकर प्रभो ! आपके निर्वाणपद को प्राप्त हो जाने के कारण आज समस्त भरतक्षेत्र तिमिराच्छन्न और श्रीहीन हो गया है। नाथ ! अब मैं किनके चरण-कमलों पर अपना मस्तक रखकर अपने अन्तर में उद्‌भूत हुई शंकाओं के समाधान हेतु

---

[1] दुहविवगमोहहारी, सामी भणइ गोयमं।
पुहविवाग मोहं तं, पेच्छन्तो तह चेव से ॥
वच्च गोयम चंपाए, बोहंतो मग्गसंट्ठियं।
देव समट्टियं ततो, चंपं पत्तो पुरिं तुमं ॥
पत्ता उ छणएणं मे, संभासिज्जेसु मायरं।
सुढ़धम्मं जिणणाए, सुभद्दं नाम सावियं ॥
सोउं च गोयमो धीमं, चोत्तुं (वोत्तुं) भंते तहत्ति य।
तत्तो सिग्घं विणायप्पा, निव्वियप्पो गओ तहिं ॥
गोयमेण विमगत्थ देवसम्म माहणं संबोहित्ता चंपाए गंतुं महावीर-भणियं साहिऊण सविसेसं भासिया सुभद्दा तीए वि विण्णाय परमत्थाए भणियं सिद्धो सामी……
[कहावली (अप्रकाशित)]

[2] देखिये, जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४७०

प्रश्न रखूंगा ? प्रभो ! अब मैं किसको भदन्त एवं भगवन् कह कर पुकारूंगा और मुझे अब प्रगाढ़ स्नेह एवं अनन्त आत्मीयता से ओतःप्रोत अमृत से भी अत्यंत मधुर वाणी में "गौतम !" इस सम्बोधन से कौन सम्बोधित करेगा ?"[1]

"हा, हा ! करुणैकसिन्धो ! आपने यह क्या किया जो अपने सदा-सर्वदा के दास को अवसान की इस अन्तिम वेला में अपने से दूर भेज दिया ? प्रभो ! हठी बालक की तरह क्या मैं बलात् आपकी गोद में बैठने वाला था ? क्या मैं आपके केवलज्ञान में से कोई हिस्सा बंटा लेता ? क्या मुझे साथ ले जाने से मोक्ष में स्थान की अवकुण्ठा आने वाली थी और क्या मैं आपके लिये कोई भाररूप हो रहा था जो आप दास को इस प्रकार असहाय छोड़ कर मोक्ष में पधार गये ?"

इस प्रकार पूर्ण मनोयोग के साथ-साथ "वीर ! वीर !" का निरन्तर उच्चारण एवं ध्यान करते-करते इन्द्रभूति स्वयं वीरमय हो गये, वीर की अनन्त वीतरागता का उद्गम उनके अन्तर में हुआ और उनकी उत्कट विचारधारा ने अपना प्रवाह पलटा। उन्हें अनुभव हुआ—

"अरे ! वीर तो परम वीतराग थे। वीतराग प्रभु में किसी के प्रति अनुराग नहीं होता, यह तथ्य मेरे परम दयालु प्रभु ने मुझे कितनी बार समझाया है। यह तो मेरा ही अपराध था कि मैंने इस तथ्य की ओर किंचितमात्र भी अपना उपयोग नहीं लगाया और एकपक्षीय अनुराग-सागर में पूर्णतः निमग्न रहा। धिक्कार है मेरे इस एकपक्षीय राग को, एकपक्षीय स्नेह को। सचमुच इस प्रकार का एकांगीण स्नेह-राग ही शिवसुख की प्राप्ति में शैलाधिराज के समान सबल अवरोध है। अब मैं इस अनुराग को, इस स्नेह को सदा-सर्वदा के लिये तिलांजलि देता हूँ। वस्तुतः मैं एकाकी हूँ। न तो मैं स्वयं किसी का हूँ और न कोई मेरा।"

इन्द्रभूति गौतम ने स्नेह की वज्रशृंखलाओं को एक ही झटके में तोड़ डाला। वे उत्कट चिन्तन से तत्क्षण उच्चतर ध्यान की परम उच्च सीढ़ी पर पहुँचे और उन्हें निखिल विश्व की त्रिकालवर्ती सकल चराचर वस्तुओं के समस्त भावों को देखने-जानने वाले केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई।

---

[1] प्रसरन्ति मिथ्यात्वतमो, गर्जन्ति कुतीर्थिकौशिका अद्य ।
दुर्भिक्षडमरवैरादि राक्षसाः प्रसरिष्यन्ति ॥
[illegible]मिव गगनं, दीप[illegible]मिव भवनम् ।
भरतमिदं [illegible], त्वया विनाद्य प्रभो ! [illegible] ॥
[illegible] पदार्थान्, पुनः पुनः [illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible]

उसी दिन से लोक में ये दो उक्तियां प्रचलित हो गई :-

मुक्खमग्गपवन्नाणं, सिणेहो वज्जसिखला ।
वीरे जीवन्तए जाओ, गोयमो जं न केवली ।।

अर्थात् मोक्ष पथ के पथिकों के लिये स्नेह वज्रश्रृंखलाओं के समान है। इसका ज्वलंत उदाहरण है इन्द्रभूति गौतम का भगवान् महावीर के प्रति सीमातीत स्नेह, जिसके कारण वीरप्रभु की विद्यमानता में गौतम केवली न हो सके।

अहंकारोऽपि बोधाय, रागोऽपि गुरुभक्तये ।
विषादः केवलायाभूत् चित्रं श्री-गौतम प्रभोः ।।

अर्थात् संसार के प्राणियों के लिये अहंकार, राग और विषाद नितान्त अनर्थकारी हैं; पर बड़े आश्चर्य की बात है कि गौतम स्वामी के लिये तो ये तीनों महान् अनर्थकारी सिद्ध होने के स्थान पर महान् लाभकारी सिद्ध हो गये क्योंकि अहंकार उन्हें शास्त्रार्थ हेतु भगवान् महावीर के पास लाया और उनके लिये बोधिप्राप्ति में परम सहायक कारण हुआ। राग के कारण उनके हृदय में गुरुभक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और वे गुरुभक्तों के प्रतीक माने जाने लगे। विषाद वस्तुतः सबके लिये दुःखदायी है पर गौतम इन्द्रभूति के लिये तो भगवान् महावीर के निर्वाण से उनके अन्तर में उत्पन्न हुआ विषाद भी उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि कराने में कारण बना।

इन्द्रभूति की निर्वाणसाधना

पचास वर्ष की वय में इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर के पास श्रमण दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के प्रथम दिन में ही वे चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता बन गये। वे निरन्तर ३० वर्ष तक विनय भाव से भगवान् की सेवा करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण कर जिनशासन की प्रभावना करते रहे। उनके द्वारा दीक्षा ग्रहण करने के ३० वर्ष पश्चात् जब पावापुरी में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ तब आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए उन्होंने घाति-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने बारह वर्ष तक केवलीभाव से पृथ्वीमण्डल पर विचरण करते हुए जिनमार्ग की प्रभावना की और अन्त में वीर निर्वाण सं० १२ के अंत में उन्होंने अपना अवसान काल निकट जान कर राजगृह के गुणशील चैत्य में आमरण अनशन स्वीकार किया। एक मास के अनशन की आराधना के पश्चात् समाधिपूर्वक काल कर वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये। आपकी पूर्ण आयु ९२ वर्ष की थी। आपका मंगल नामस्मरण आज भी जन-जन के हृदय को आह्लादित व आनंदित करता है। प्रतिदिन लाखों जन आज भी प्रभात की मंगल वेला में भक्तिपूर्वक भावविभोर हो बोलते हैं :-

अंगूठे अमृत वसे, लब्धि तणा भण्डार ।
श्री गुरु गौतम समरिये, वांछित फल दातार ।।

पूर्वभव में इन्द्रभूति गौतम

कर्म के अनुसार अनन्तकाल से प्रत्येक प्राणी संसार में जन्म–मरण ग्रहण करता आ रहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रभूति गौतम का जीव भी पूर्वभव में विविध गति, जाति और शरीरों को धारण करता आया था, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर ऐसी उत्तम करणी करने वाला यह जीव पहले कौन था और भगवान् महावीर से उनका पहले कहां-कहां और कैसा–कैसा सम्वन्ध रहा, इस सम्वन्ध में जिज्ञासा होनी सहज है।

श्वेताम्वर साहित्य में आगमकार इतना तो स्पष्टत: उल्लेख करते हैं कि भगवान् महावीर और गौतम का पहले अनेकों भवों का प्रेमसम्वन्ध रहा था। भगवती सूत्र में इस प्रकार का उल्लेख आता है कि एक वार इन्द्रभूति गौतम के द्वारा इस वात पर खेद प्रकट करने पर कि उनके समक्ष दीक्षित अनेक मुनियों ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया पर उनको स्वयं को केवलज्ञान की प्राप्ति किस कारण से नहीं हुई, श्रमण भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति को आश्वस्त करते हुए कहा –

> "गौतम ! तेरा और मेरा अनेक भवों में प्रेमसम्वन्ध रहा है। तुम चिरकाल से मेरे साथ स्नेहसूत्र में वँधे हो। तुम चिरकाल से मेरे द्वारा प्रशंसित, परिचित, सेवित एवं मेरे अनुवर्त्ती रहे हो। कभी देव भव में, तो कभी मनुष्य भव में मेरे साथ रहे हो। यही नहीं, अव यहां से मरणानन्तर हम दोनों परस्पर तुल्य रूप वाले, भेदरहित, कभी न विछुड़ने वाले एवं सदा एक साथ रहने वाले संगी–साथी वन जायेंगे।[१] अभी तक तुम्हारा मेरे प्रति प्रगाढ़ धर्मानुराग रहने के कारण तुम्हें केवलज्ञान की उपलब्धि नहीं हो पाई हैं किन्तु चिन्ता जैसी कोई वात नहीं है।"

भगवती सूत्र के उपरिवर्णित उल्लेखानुसार भगवान् महावीर के साथ इन्द्रभूति गौतम का अनेक भवों का सम्वन्ध होना प्रमाणित होता है। किन्तु भगवान् महावीर के त्रिपृष्ठ वासुदेव के पूर्वभव में इन्द्रभूति गौतम के जीव का उनके सारथी के रूप में उनके साथ होने के अतिरिक्त अन्य किसी भव का श्वेताम्वर साहित्य में कहीं कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता।

दिगम्वर परम्परा के कवि 'रयधू' कृत अपभ्रंश भाषा के "महावीर चरित्र" और भट्टारक धर्मचन्द्रकृत "गौतम चरित्र" में इन्द्रभूति, अग्निभूति

---

[१] रायगिहे जाव परिसा पडिगया गोयमादि। समणे भगवं महावीरे गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी– "चिरसंसिट्ठोसि मे गोयमा ! चिरसंथुओसि मे गोयमा ! चिरपरिचिओसि मे गोयमा ! चिरजुसिओसि मे गोयमा ! चिराणुगओसि मे गोयमा ! चिराणुवत्तीसि मे गोयमा ! अणंतरं देवलोए अणंतरं माणुस्सए भवे किं परं मरणा कायस्स भेदा, इओ चुया दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो।

[भगवती सूत्र शतक १४, उ० ७]

एवं वायुभूति के सात भवों का परिचय उपलब्ध होता है, पर उनमें से किसी एक भव में भी भगवान् महावीर के जीव के साथ उनका किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया है।

पाठकों की जानकारी हेतु उस कथा-भाग का यहां सार प्रस्तुत किया जा रहा है :-

एक बार भगवान् महावीर विभिन्न देशों के अनेक भव्यों का उद्धार करते हुए राजगृह नगर के विपुलाचल पर पधारे। वहां मगधाधिपति श्रेणिक ने सविधि वंदन के पश्चात् अत्यन्त विनीत एवं मधुर स्वर में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान् महावीर से प्रश्न किया - "भगवन् ! आपके प्रमुख शिष्य एवं प्रथम गणधर आर्य इन्द्रभूति गौतम ने ऐसी अद्भुत और अचिन्त्य आध्यात्मिक संपदा किस महान् सुकृत के फलस्वरूप प्राप्त की है ?"

भगवान् महावीर ने महाराजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया - "श्रेणिक ! प्राणी पाप - प्रकृतियों के बन्ध से अवनति की ओर तथा पुण्य - प्रकृतियों के बन्ध से उन्नति की ओर अग्रसर होता है। यह इन्द्रभूति गौतम के पूर्वभवों से भलीभांति विदित हो जाता है।"

अति प्राचीन समय में काशी देश के महाराज विश्वलोचन एक बड़े प्रतापी राजा हुए हैं। उनकी पटरानी का नाम विशालाक्षी था जो परम सुन्दरी पर स्वभाव से बड़ी चंचल एवं अजितेन्द्रिया थी। एकदा रात्रि के समय रंगिका और चामरी नाम की अपनी दो दासियों के साथ रानी विशालाक्षी ने एक नाटक देखा। नाटक के शृंगाररसपूर्ण उत्तेजक अभिनयों को देख कर विशालाक्षी की कामवासना इतने प्रचण्ड वेग से जागृत हो उठी कि वह स्वैरिणी की तरह स्वेच्छा-विहार की भावना लिये राजमहलों से भाग निकलने को छटपटाने लगी। दोनों दासियों की दुरभिसंधि एवं सहायता से वह मध्यरात्रि में छल-छद्मपूर्वक महलों से भाग निकलने में सफल हुई। नगर से दूर जंगल में पहुंचने पर उन्होंने योगिनियों का रूप धारण किया और चोरी-छिपे काशी राज्य की सीमा पार की। तदनन्तर वे तीनों योगिनियों का वेष धारण किये हुए विभिन्न ग्रामों एवं नगरों आदि में उन्मत्त भाव से काम-सेवन करती हुईं यथेच्छ विचरने लगीं। उधर महलों में रानी को न पा कर राजा विश्वलोचन बड़ा चिन्तित हुआ और लज्जा, वियोग एवं शोक से संतप्त हो कुछ ही दिनों पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हुआ।[1]

उधर योगिनियों के वेष में स्वच्छन्दतापूर्वक भटकती हुईं वे तीनों अवन्ती देश में पहुंचीं। एक दिन किसी तपस्वी मुनि को नगर की ओर नग्न रूप में आते देख वे तीनों क्रुद्ध हो मुनि को भला-बुरा सुनाने लगीं। अन्तराय समझ कर मुनि बिना भिक्षा ग्रहण किये ही लौट पड़े। उन कामान्ध तीनों स्त्रियों ने जंगल

---

[1] ततः स निधनं प्राप्तस्तद्वियोगप्रपीडितः।.... —गौतम चरित्र, अधिकार २, श्लो० १८५

में पहुंच कर रात्रि के समय अपनी वासनापूर्ति के लिये ध्यानस्थ मुनि को ध्यान से विचलित करने के अनेक उपाय किये। मुनि को ध्यान से विचलित करने के सभी उपायों के निष्फल हो जाने पर उन तीनों स्त्रियों ने बड़ी निर्दयतापूर्वक मुनि पर दण्डों और पत्थरों के प्रहार किये।

मुनि को दी गई घोर पीड़ा के फलस्वरूप वे तीनों स्त्रियां अति भीषण कुष्ठ रोग से ग्रस्त हो अन्ततोगत्वा पंचम नरक में उत्पन्न हुईं। १७ सागर तक नरक के असह्य दारुण दुःखों को भोग कर वे तीनों क्रमशः बिल्ली, शूकरी, कुतिया और मुर्गी के भव कर म्लेच्छ कुल में कन्याओं के रूप में उत्पन्न हुईं। सद्यः जात अवस्था में माता-पिता और शैशवावस्था में अभिभावकों तक के मर जाने के कारण वे तीनों कन्याएं दर-दर की ठोकरें खाती हुईं बड़ा दुःखमय जीवन बिताने लगीं। उन तीनों का स्वरूप बड़ा ही अमनोज्ञ था। उनके शरीर से निरन्तर ऐसी कुत्सित दुर्गन्ध निकलती रहती थी कि कोई उन्हें पास तक नहीं फटकने देता था। कुरूप होने के साथ-साथ उनमें से एक कानी, दूसरी लंगड़ी और तीसरी कौवे की तरह नितान्त काली-कलूटी थी। इस प्रकार असहायावस्था में भूखी-प्यासी इधर-उधर भटकती हुई वे तीनों कन्याएं एक नगर के बाहर विराजमान अंगभूषण नामक मुनि के पास पहुंचीं और वंदन-नमस्कार के पश्चात् उनका उपदेश श्रवण करने लगीं।

उपदेश-श्रवण के पश्चात् अवन्ती के महाराज महीचन्द्र ने मुनि से प्रश्न किया – "भगवन्! इन अत्यन्त घृणित शरीर वाली नितान्त कुरूप कन्याओं के प्रति मेरे मानस में आत्मीय भाव से स्नेह किस कारण जागृत हो रहा है?"

उत्तर में अंगभूषण मुनि ने कहा – "राजन्! पूर्वभव में यह कानी कन्या तुम्हारी विशालाक्षी नाम की रानी और ये दोनों उसकी दासियां थीं। मुनि को भीषण यातना देने के फलस्वरूप ये तीनों दुर्गतियों में भटकती हुई शूद्रकन्याओं के रूप में उत्पन्न हुई हैं। पूर्वभव के सम्बन्ध के कारण तुम्हारे मन में इनके प्रति स्नेह जागृत हो उठा है।"

पश्चात्ताप के आंसू बहाती हुई कन्याओं की प्रार्थना पर मुनि ने उन्हें "लब्धिविधान" नामक व्रत करने का उपदेश दिया। मुनिराज के उपदेश और महाराज महीचन्द्र के सहयोग से उन तीनों ने सम्यक्त्व ग्रहण किया और लब्धिविधान व्रत एवं तप करती हुई वे तीनों कन्याएं धर्माचरण में निरत रहीं। अन्त में वे तीनों कन्याएं अपनी स्त्रीलिंग की कर्मप्रकृतियों को विनष्ट कर समाधि-पूर्वक आयु पूर्ण कर पंचम देवलोक में महर्द्धिक देवों के रूप में उत्पन्न हुईं।

पंचम स्वर्ग के अनुपम सुखों का १० सागर की सुदीर्घ अवधि तक उपभोग करने के अनन्तर विशालाक्षी का जीव भरत क्षेत्रान्तर्गत मगध देश के राजगृह नगर के निवासी शांडिल्य नामक वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण की ज्येष्ठ भार्या स्थंडिला के गर्भ में उत्पन्न हुआ। गर्भाधान की रात्रि में स्थंडिला ने एक अद्भु-

प्रतापी पुत्र के जन्म का सूचक शुभ स्वप्न देखा। गर्भकाल की समाप्ति पर भाग्यवती स्थंडिला ब्राह्मणी ने एक महान् तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। ब्राह्मण-दम्पति ने अपने उस पुत्र का नाम इन्द्रभूति रखा।

कालान्तर में चामरी दासी का जीव भी पंचम स्वर्ग की आयु पूर्ण कर स्थंडिला के गर्भ में अवतरित हुआ। यथासमय स्थंडिला ने दूसरे तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम अग्निभूति (दूसरा नाम गार्ग्य) रखा गया।

तदनन्तर रंगिका दासी का जीव भी पंचम स्वर्ग की १० सागर की आयु पूर्ण होने पर उसी शांडिल्य ब्राह्मण की दूसरी धर्मपत्नी केसरी नाम की ब्राह्मणी के गर्भ में आया और गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। उस सौम्य शिशु का नाम वायुभूति (दूसरा नाम भार्गव) रखा गया। दोनों माताओं और पिता शांडिल्य ने अपने परम भाग्यशाली तीनों पुत्रों का बड़े दुलार और प्यार के साथ पालन-पोषण किया।

शांडिल्य ने समय पर अपने तीनों पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था की। तीनों भाइयों ने परिश्रमपूर्वक विविध शास्त्रों का अध्ययन किया और वे वेदविद्या के पारगामी विद्वान् बन गये।

इस प्रकार वे ही विशालाक्षी, रंगिका और चामरी के जीव—क्रमशः इन्द्रभूति अग्निभूति एवं वायुभूति—ये तीन गणधर कहलाये।

रयधू और भट्टारकजी ने किस प्रामाणिक आधार से इन्द्रभूति आदि तीन गणधरों के इन पूर्वभवों का उल्लेख किया है यह ज्ञात नहीं होता,[1] क्योंकि दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थ इस विषय में मौन हैं।

भगवती सूत्र के पूर्वोक्त उल्लेख के अनुसार तो भगवान् महावीर और इन्द्रभूति गौतम की पूर्वभव-परम्परा अनेक पूर्वभवों में एक दूसरे से सम्बन्धित और साथ-साथ होनी चाहिए। अपभ्रंश भाषा के कवि रयधू और भट्टारक धर्मचन्द्र द्वारा उल्लिखित इन्द्रभूति आदि तीनों गौतम बन्धुओं के ये पूर्वभव भगवती सूत्र के भावों से मेल नहीं खाते। विद्वज्जन इस विषय में विशेष रूप से प्राचीन साहित्य में तथ्य की गवेषणा करें, यह वांछनीय है।

प्रथम पट्टधर विषयक प्राचीन दिगम्बर मान्यता

यद्यपि दिगम्बर परम्परा के प्रायः सभी मान्य ग्रन्थों में यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम ही भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आचार्य बने किन्तु दिगम्बर परम्परा के एक सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'लोक विभाग' में श्वेताम्बर मान्यता की ही तरह इस बात का संकेत उपलब्ध होता

---

[1] ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः भट्टारक परंपरा के प्रसार के समय व्रतों के माहात्म्य को बढ़ाचढ़ा कर जनता के समक्ष रखने की दौड़ में "लब्धिविधानव्रत" को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से इस कथा की कल्पना की गई हो। —सम्पादक

है कि भगवान् के निर्वाण के पश्चात् उनके प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा बने, न कि इन्द्रभूति गौतम ।

दिगम्बर परम्परा का वह अतिप्राचीन ग्रन्थ मूलतः प्राकृत भाषा में था । वह तो विलुप्त हो चुका है परन्तु उसी प्राकृत भाषा के 'लोकविभाग' ग्रन्थ के आधार पर बना संस्कृत 'लोक विभाग' उपलब्ध होता है । संस्कृत 'लोकविभाग' के कर्त्ता सिंहसूरर्षि ने मूल लोकविभाग का संस्कृत में अनुवाद करते समय ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है :–

> लोकालोकविभागज्ञान्, भक्त्या स्तुत्वा जिनेश्वरान् ।
> व्याख्यास्यामि समासेन, लोकतत्वमनेकधा ।।

अन्त में प्रशस्ति में लिखा है :–

> भव्येभ्यः सुरमानुपोरुसदसि श्री वर्द्धमानार्हता,
> यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिलं ज्ञातं सुधर्मादिभिः ।
>
> आचार्यावलिकागतं विरचितं तत् सिंहसूरर्षिणा ।
> भाषाया परिवर्तनेन निपुणैः सम्मानितं साधुभिः ।।

अर्थात् लोक और अलोक के विभागों को जानने वाले जिनेश्वरों की भक्ति-सहित स्तुति कर के लोकतत्व का संक्षेप में व्याख्यान करता हूँ ।

अन्तिम प्रशस्ति में लिखा है कि देवों और मनुष्यों की सभा में तीर्थंकर वर्द्धमान ने समस्त जगत् का विधान भव्यजनों के लिये कहा, जो सुधर्मा स्वामी आदि ने जाना और जो आचार्य परम्परा से आज तक चला आ रहा है, उसे सिंहसूर-ऋषि ने भाषा-परिवर्तन कर के विरचित किया, उसका निपुण साधुजनों ने सम्मान किया है ।

प्रशस्ति के श्लोक में प्रयुक्त – "ज्ञातं सुधर्मादिभिः" और "आचार्यावलिका-गतं" – इन दोनों पदों पर सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इनका स्पष्टरूप से यही अर्थ निकलता है कि – 'सुधर्मा' आदि ने इसे सुना, सुधर्मा आचार्य ने अपने उत्तराधिकारी आचार्य को वह ज्ञान दिया और क्रमशः उनके उत्तराधिकारी आचार्य अपने-अपने उत्तराधिकारी आचार्यों को वह ज्ञान देते रहे । इस प्रकार आचार्य परम्परा से वह ज्ञान आज तक चला आ रहा है ।

भगवान् महावीर से ज्ञान प्राप्त करने वालों के नामोल्लेख के समय प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नामोल्लेख करने के स्थान पर सुधर्मा का नामोल्लेख किया जाना और "आचार्यावलिकागतं" – इस पद से पहले "ज्ञातं सुधर्मादिभिः" – इस पद का प्रयोग वस्तुतः प्रत्येक विचारक को यह विश्वास करने के लिये प्रेरित करता है कि भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आचार्य सुधर्मा स्वामी हुए, न कि इन्द्रभूति गौतम । उपर्युक्त श्लोक के पदविन्यास से "लोकविभाग" के रचनाकार की यही भावाभिव्यक्ति स्पष्ट प्रतिध्वनित होती है कि महावीर के प्रथम पट्टधर

इन्द्रभूति गौतम नहीं, अपितु सुधर्मा स्वामी हुए। उपरोक्त श्लोक में छन्द की दृष्टि से गौतम इन्द्रभूति का नामोल्लेख करने में ग्रन्थकार को कठिनाई आई होगी इसलिये उसके द्वारा सुधर्मा का नाम रखा गया – इस प्रकार की लचर दलील दे कर इस श्लोक के अर्थ को यदि तोड़-मरोड़ कर अन्य रूप से रखने का प्रयास किया जाय तो निश्चित रूप से मूलग्रन्थकार और संस्कृत में उसका अनुवाद करने वाले– इन दोनों ही ग्रन्थकारों के प्रति अन्याय होगा।

मूल "लोकविभाग" की रचना मुनि सर्वनन्दि ने पाण्ड्य राष्ट्र के पाटलिक ग्राम में की और शक संवत् ३८०, तदनुसार विक्रम सं० ५५५ में इसे समाप्त किया[1] इस प्रकार का उल्लेख संस्कृत "लोकविभाग" के रचयिता ने किया है।

इस प्रकार के प्राचीन ग्रन्थ में भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के सम्बन्ध में परोक्ष रूप से जो यह उल्लेख किया गया है यह इतिहास के विद्वानों के लिये विचारणीय है।

---

[1] विश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे, राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे।
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाण्ड्यराष्ट्रे, शास्त्रं पुरा लिखितवान्मुनि सर्वनन्दिः ॥२॥
संवत्सरे तु द्वाविंशे, कांचीशसिंहवर्मणः।
अशीत्यग्रे शकाब्दानां, सिद्धमेतच्छतत्रये ॥३॥ [लोकविभाग]

आर्य सुधर्मा

(भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर)

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् वीर संवत् के प्रारम्भकाल में अर्थात् शक संवत् से ६०५ वर्ष पूर्व कार्तिक शुक्ला १ के दिन चतुर्विध संघ ने आर्य सुधर्मा को भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर के रूप में नियुक्त किया।

भगवान् महावीर के समय संघ की व्यवस्था में अनुशासन एवं संगठन आदि की जो प्रमुख विशेषताएं थीं, उन्हें भगवान् के निर्वाण पश्चात् भी आर्य सुधर्मा ने बड़ी ही कुशलता के साथ यथावत् बनाये रखा।

आचार्य सुधर्मा के प्रशासन-कौशल, दूरदर्शिता और तपस्तेज का ही चमत्कार है कि उनके उत्तरवर्ती काल में अनेक बार अगणित प्रतिकूल परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भी भगवान् महावीर का धर्मसंघ इतने सुदीर्घ काल तक एक महान् संघ के रूप में समीचीन रूप से चलता रहा और आज तक विविध वाह्य विभिन्नताओं के होते हुए भी वह अपने मूलभूत महान् सिद्धान्तों को अमूल्य थाती के रूप में सुरक्षित रख पाया है। धर्म संघ की वह पतितपावनी अध्यात्म-सरिता आज भी निर्बाध गति से निरन्तर चलती आ रही है।

लगभग ढाई हजार वर्ष के अति दीर्घ अतीत की लम्बी अवधि में अगणित आपत्तियों, विषम परिस्थितियों, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक क्रान्तियों, विप्लवों तथा दिल दहला देने वाले कई द्वादशवर्षीय दुष्कालों ने प्राचीन और अर्वाचीन सभी धर्मसंघों को बुरी तरह झकझोरा। उन संकटों की विकट घड़ियों में बौद्ध धर्म जैसे अनेक धर्मसंघ इस आर्य धरा से विलुप्त हो गये, किन्तु भगवान् महावीर द्वारा त्याग-तप व संगठन की सुदृढ़ नींव पर खड़े किये गये इस निर्ग्रन्थ संघ की आर्य सुधर्मा ने प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित नीति का पालन करते हुए ऐसी चिरस्थायी और दृढ़ व्यवस्था की कि भीषण से भीषण एवं प्रलयंकर क्रान्तियां भी इस धर्मसंघ की गहरी जड़ों को नहीं हिला सकीं।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन प्रतिकूल परिस्थितियों का भगवान् महावीर के धर्मसंघ पर बिलकुल ही प्रभाव नहीं पड़ा। लगातार आपत्तियों पर आपत्तियां आने के कारण अन्ततोगत्वा इस धर्मसंघ में भी अनेक विकृतियां उत्पन्न हुईं और पर्याप्त हानियां उठानी पड़ीं। आचार्य भद्रबाहु के समय, आचार्य सुहस्ती के समय एवं आर्यवज्र के समय में पड़े दीर्घकालीन दुष्कालों के विनाशकारी कुप्रभाव के कारण श्रमणों के केवल स्मृतिपटल पर अंकित रहने वाले श्रुतशास्त्र में ही नहीं; अपितु आचरण में भी मन्दता आई। इस मंदता से धर्मसंघ का सर्वांग-

कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छः वेदांगों तथा मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र एवं पुराण इस प्रकार कुल मिला कर चौदह विद्याओं का सम्यक्-रूपेण अध्ययन किया। तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के अनुसार पारगामी विद्वान् बनने के पश्चात् आर्य सुधर्मा ने अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। उनके पास ५०० छात्रों के नियमित अध्ययन से यह अनुमान लगाया जाता है कि उनकी गणना उस समय के बहुत उच्चकोटि के विद्वानों में की जाती रही होगी।

उस समय की शिक्षा-प्रणाली के तलस्पर्शी विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन जनमानस में ज्ञान-पिपासा और शिक्षा के प्रति अभिरुचि पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी, पर वस्तुतः लोगों का शास्त्रीय पाण्डित्य की ओर जितना अधिक झुकाव था उतना अध्यात्म-चिन्तन की ओर नहीं था।

तत्कालीन धार्मिक स्थिति

ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों कतिपय अंशों में ब्राह्मण क्रियाकाण्डों और यज्ञ-यागादि का धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में बड़ा महत्व माना जाता था और यज्ञानुष्ठान को ही सबसे बड़ा धर्म समझा जाने लगा था। यही कारण था कि उस समय यत्र-तत्र, यदा-कदा बड़े-बड़े आयोजनों के साथ समारोहपूर्वक यज्ञ किये जाते थे। उन यज्ञों में यजमानों द्वारा यज्ञानुष्ठान कराने वाले विद्वानों और ब्राह्मणों को निमन्त्रित कर बड़ी-बड़ी दक्षिणाएं दी जाती थीं। वेद-वेदांगों के प्रकाण्ड पण्डित आर्य सुधर्मा को उस समय किये जाने वाले अनुष्ठानों में बुलाया जाता रहा होगा। इस प्रकार का विश्वास करने के लिये उनका सोमिल द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में सम्मिलित होना पर्याप्त प्रमाण है। ५०० विद्यार्थी सदा आर्य सुधर्मा की सेवा में रह कर उनसे विद्याध्ययन करते थे, यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि आर्य सुधर्मा प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ-साथ पर्याप्तरूपेण साधन-सम्पन्न एवं समृद्ध भी थे।

दीक्षा से पूर्व का जीवन

श्रमण भगवान् महावीर के पास दीक्षित होने से पूर्व के किसी भी गणधर के जीवन का पूर्ण विवरण जैन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता। केवल आवश्यक निर्युक्ति में भगवान् महावीर के ग्यारहों गणधरों के नाम, ग्राम, गोत्र, जन्म-नक्षत्र, जाति, माता-पिता के नाम, शैक्षणिक योग्यता, शिष्य-परिवार, तात्त्विक शंका और दीक्षा के समय उनकी आयु आदि का विवरण दिया गया है। इससे अधिक, दीक्षा से पूर्व का गणधरों के गृहस्थ-जीवन का कोई विवरण आज जैन अथवा जैनेतर ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। यदि इस दिशा में प्रयास किये जायं तो अन्धेरे में छिपे अनेक ऐतिहासिक महत्व के तथ्य प्रकाश में लाये जा सकते हैं।

इन्द्रभूति गौतम के जीवन-परिचय में अपभ्रंश भाषा के कवि रयधू द्वारा रचित "महावीरचरित" के आधार पर जिस प्रकार कुछ नये तथ्य विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किये गये हैं उसी प्रकार आर्य सुधर्मा के गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में

भी खोज करने पर कुछ अपुष्ट विवरण प्रकाश में आये हैं। शोधार्थियों की सुविधा और विद्वानों के विचार हेतु उन्हें यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजयजी ने "जैन साहित्य संशोधक", खंड १, अंक ३ के परिशिष्ट में 'वीर वंशावलि अथवा तपागच्छ वृद्ध पट्टावलि' प्रकाशित की है। उसके पृष्ठ १-२ में आर्य सुधर्मा के श्रमणजीवन से पूर्व का विवरण देते हुए लिखा गया है :–

"१. सुधर्मा स्वामी

> पछी श्री वीर पाटे पांचवां गणधर श्री सुधर्मा स्वामी पहले पाटे थया। तथा हि –
>
> कोल्लाग सन्निवेशे धम्मिल्ल नामा विप्र तेहनी स्त्री भद्दिला नामे। ते हरिद्रायण गोत्र थी उपनी। तेहनो पुत्र। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में जन्म हुओ सुधर्मा नाम दीधु। अनुक्रमें यौवनावस्था में वक्षस (वत्स) गोत्र थकी उपनी एक कन्या परणावी। तेहसुं सांसारिक सुख भोगवतां एक पुत्री हुई। ते सुधर्मा चार वेद-वेदांग नो पाठी छे। तेहूने पासे पांच सये विद्यार्थी वाड़वसुत विद्याभ्यास (२–१) करे छे। पिण ते सुधर्मा ना चित्तने विषे एक महा संदेह छे। ते किस्यो ? जे जेहवो ते तेहवो। ते संदेह श्री वीरवचने निःसंदेह हुओ। तिवारे पांच सय छात्र युक्त वर्ष ५० गृहस्थ पणुं भोगवी संसयछेदक श्री वीर हस्ते दीक्षा लीधी।"

इस प्रकार उपर्युक्त तपागच्छ वृद्ध पट्टावलि में दिये गये सुधर्मा स्वामी के गृहस्थ-जीवन संबंधी वृत्त में निम्नलिखित जो तीन बातों का उल्लेख किया गया है, वह अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता :–

१. आर्य सुधर्मा की माता का हरिद्रायण गोत्र होना।
२. यौवनावस्था में आर्य सुधर्मा का वक्षस (वत्स्य) गोत्र की कन्या के साथ विवाह होना। और
३. सुधर्मा की वत्स्य गोत्रीया पत्नी से एक पुत्री का जन्म होना।

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त लींबड़ी संघवी उपाश्रय के पूज्य श्री मोहनलालजी स्वामी के शिष्य स्वर्गीय मुनि श्री मणिलालजी महाराज द्वारा लिखित "श्री जैन धर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावली" नामक ग्रन्थ में आर्य सुधर्मा का प्रव्रजित होने से पूर्व का जो जीवन-परिचय दिया गया है उसमें तपागच्छ पट्टावली में उल्लिखित ऊपर दी हुई तीन बातों में से पहली को छोड़ कर शेष दो के उल्लेख के साथ दो और नये तथ्य दिये गये हैं।

मुनि मणिलालजी ने लिखा है कि आर्य सुधर्मा ने वत्स गोत्रीया कन्या के साथ विवाह करने और उससे एक कन्या का जन्म होने के पश्चात् संसार से विरक्त हो संन्यास ग्रहण किया और उन्हें कालान्तर में शंकराचार्य की सम्माननीय उपाधि से अलंकृत किया गया था।

स्वर्गीय मुनि मणिलालजी द्वारा आर्य सुधर्मा के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में दिया गया वह विवरण यहां यथावत् दिया जा रहा है :—

"प्रभु वीर पट्टावली

भगवान् महावीर नी पहेली पाट पर श्री सुधर्म स्वामी विराज्या। तेमनो जन्म "कोल्लाग सन्निवेश" नामक स्थल मां 'धम्मिल' नामना विप्र ने त्यां थयो हतो। बाल्यावस्था थीज धर्म प्रत्ये तेमनी अथाग रुचि होवा थी तेमनुं नाम "सुधर्म" तरीके जनता में प्रसिद्ध थयुं। यौवन वय प्राप्त थई त्यारे पोतानी अनिच्छा छतां तेमने माता-पिताए "वात्स्य गोत्र" मां उत्पन्न थयेली एवी एक कन्या साथे तेमनुं पाणिग्रहण कराव्युं। उदासीन भावे संसार मां रहेतां तेमने एक पुत्री थई हती। सतत ज्ञानाभ्यास मां रहेतां तेओ चार वेद, श्रुति, स्मृति वगेरे अढ़ार पुराण मां सम्पूर्ण पारंगत थया। दिन प्रतिदिन संसार पर तेमनी अरुचि बधती गई, अने समय परिपक्व थतां सर्व नी अनुमति लई तेमणे सन्यासपणुं अंगीकार कर्युं अने छेवटे शंकराचार्य नी पदवी प्राप्त करी, पोताना शिष्य परिवार साथे फरता-फरता ज्यारे तेओ "जंभिका" नामनी नगरी मां आव्या, त्यारे तेमने प्रभु महावीर नो समागम थयो। ज्यां तेमने शंकाओनुं समाधान थयुं अने प्रभु वीर पासे तेमणे भागवती दीक्षा अंगीकार करी।"[1]

आर्य सुधर्मा के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवरण देते हुए स्व० मुनि मणिलालजी ने जो नवीन तथ्य रखने का प्रयास किया है, उन तथ्यों को रखते समय उनके समक्ष क्या आधार था इसे जानने के लिये हमारी ओर से पूरा प्रयास किया गया, पर अभी तक वृद्ध पट्टावली के उपरिलिखित आलेख के अतिरिक्त और कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है, जिसके आधार पर आर्य सुधर्मा के जीवन के सम्बन्ध में जो नवीन बातें मुनि श्री मणिलालजी ने रखी हैं उन्हें पूर्ण प्रामाणिक माना जा सके।

इस सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा अप्रकाशित पुस्तकों की खोज की जाय तो जैन और वैदिक दोनों ही परम्पराओं के इतिहास में कुछ नवीन उपलब्धियां हो सकती हैं। आशा है इस सम्बन्ध में इतिहास के विद्वान् तथ्य को खोजने का प्रयास करेंगे।

आर्य सुधर्मा के गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में जो प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होता है, उससे यह तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि विद्वत्ता के साथ-साथ वे आर्थिक दृष्टि से भी पर्याप्तरूपेण सम्पन्न थे। यज्ञानुष्ठानादि से उन्हें विपुल अर्थ की उपलब्धि होती रही होगी तभी उनकी सेवा में ५०० छात्र सदा विद्यमान रहते थे।

---

[1] श्री जैन धर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावलि, (पंच भाई नी पोळ, अहमदावाद)।

सोमिल ब्राह्मण द्वारा मध्यम पावा में यज्ञानुष्ठान के लिये आमन्त्रित आर्य सुधर्मा अन्य १० विद्वानों के साथ जिस समय यज्ञानुष्ठान कर रहे थे, उसी समय मध्यम पावा नगरी के आनन्दोद्यान में भगवान् महावीर का समवसरण हुआ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इन्द्रभूति तथा अग्निभूति गौतम भगवान् महावीर को शास्त्रार्थ में जीतने की अभिलाषा लिये और वायुभूति तथा आर्य व्यक्त अपनी-अपनी शंकाओं के समाधानार्थ प्रभु के समवसरण में अपने शिष्य-समूह के साथ क्रमशः गये और भगवान् महावीर द्वारा अपनी गूढ़ शंकाओं का समुचित समाधान पा कर उनके चरणों में दीक्षित हो गये।

आर्य सुधर्मा ने जब यह सुना कि इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति और आर्य व्यक्त जैसे उच्चकोटि के विद्वान् अपने-अपने मन की शंकाओं का समाधान पा कर भगवान् महावीर के पास श्रमणधर्म में दीक्षित हो गये हैं, तो उनके मन में भी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई कि क्यों न वे भी नर, नरेन्द्र, देवेन्द्रादि द्वारा पूजित सर्वज्ञ प्रभु महावीर से अपने मन में चिरकाल से संचित निगूढ़ शंका का समाधान कर लें। वे तत्काल अपने ५०० शिष्यों के साथ प्रभु के समवसरण में पहुंचे।[1] उन्होंने श्रद्धावनत हो प्रभु के चरणों में नमन किया।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर ने नाम – गोत्रोच्चारणपूर्वक आर्य सुधर्मा को सम्बोधित करते हुए घनरव–गम्भीर स्वर में कहा – "आर्य सुधर्मन्! तुम्हारे मन में यह शंका है कि प्रत्येक जीव वर्त्तमान भव में मनुष्य, तिर्यंच आदि जिस गति में है, वह मरने के पश्चात् भावी भवों में भी क्या उसी गति में उसी प्रकार के शरीर में उत्पन्न होगा? अपनी इस शंका की पुष्टि में तुम मन ही मन यह युक्ति देते हो कि जिस प्रकार एक खेत में जौ बोये जायं तो जौ और गेहूं बोये जायं तो गेहूं पैदा होंगे। यह संभव नहीं कि जौ बोने पर गेहूं उत्पन्न हो जायं अथवा गेहूं बोने पर जौ उत्पन्न हो जायं। सौम्य सुधर्मन्! तुम्हारी यह शंका वस्तुतः समुचित नहीं है। क्योंकि प्रत्येक प्राणी त्रिकरण एवं त्रियोग से जिस प्रकार की अच्छी अथवा बुरी क्रियाएं करता है, उन्हीं कार्यों के अनुसार उसे भावी भवों में अच्छी अथवा बुरी गति, शरीर, सुख-दुःख, संपत्ति-विपत्ति, संयोग-वियोगादि की प्राप्ति होती रहती है और कृतकर्मजन्य यह क्रम अजस्ररूपेण तब तक चलता रहता है जब तक कि वह आत्मा अपने – अच्छे-बुरे – सभी प्रकार के समस्त कर्मों का समूल नाश कर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं हो जाता।

एक मनुष्य अपने वैराग्य, सदाचार, आर्जव, मार्दव आदि गुणों से मनुष्य-आयु का बन्ध कर अगले जन्म में पुनः मानव-भव प्राप्त कर सकता है। यदि उस मनुष्य में त्याग-तप-दया आदि सद्गुणों का बाहुल्य हो तो वह देवायु का बन्ध कर, मरने पर देव रूप से उत्पन्न हो सकता है। परन्तु वही मनुष्य, यदि उसमें

---

[1] ते पव्वइए सोउं, सुहम्मो आगच्छइ जिणसगासं।
वच्चामि णं वंदामि, वंदित्ता पज्जुवासामि ॥६१४॥ [आव० नि० १]

उपर्युक्त सद्गुणों का अभाव एवं हिंसा, असत्य-भाषण, चौर्य, दुराचरण, क्रोध, मान, मद, मोह, मात्सर्य और लोभादि दुर्गुणोंका प्राचुर्य हो तो वह मर कर कृमि-कीट-पतंग एवं नारकीय अथवा निगोद के रूप में भी उत्पन्न हो सकता है।

एक प्राणी जिस योनि में है, वह यदि उसी योनि में उत्पन्न कराने वाले कर्मों का बन्ध करे तो पुनः उस योनि में भी उत्पन्न हो सकता है, पर एकान्ततः यह मानना सत्य नहीं है कि जो प्राणी वर्तमान में जिस योनि में है, वह सदा-सर्वदा के लिये निरंतर उसी योनि में उत्पन्न होता रहे।"

प्रतिबोध और दीक्षा-ग्रहण

श्रमण भगवान् महावीर की निर्दोष एवं अमोघ वाणी को सुन कर आर्य सुधर्मा के मन में प्रभु के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई। उनके समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो गये, उनके हृदय की सभी ग्रंथियां स्वतः ही खुल गईं। त्रैलोक्यैकनाथ प्रभु महावीर के दर्शन और कृपाप्रसाद के फलस्वरूप आर्य सुधर्मा पर उपनिषद्कार की निम्नलिखित उक्ति पूर्णरूपेण घटित हो गई :–

"भिद्यते हृदयथिग्रंश्छिद्यंते सर्वसंशयाः।"

ज्ञानी सद्गुरु की संगति हृदय की मोहजन्य गांठ का भेदन कर सकल संशयों का छेदन करती है। जगद्गुरु प्रभु महावीर की कृपा से आर्य सुधर्मा के अन्तर्मन में उद्भूत ज्ञानालोक जगमगा उठा और उन्हें अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि हुई।

उन्होंने भावविभोर हो प्रभु के चरणों पर अपना सिर रखते हुए गद्गद् स्वर में कहा – "प्रभो! आपने मेरे अन्तस्तल में व्याप्त अज्ञानान्धकार को दूर कर दिव्य आलोक से मेरे हृदय को प्रकाशमान कर दिया है। मैं आपकी वीतराग वाणी में पूर्ण श्रद्धा और आस्था रखता हूँ। मै आपकी निर्दोष वाणी में पूर्ण प्रीति करता हूँ। करुणाघन! आपने मुझे सही दिशा और मेरे चरम लक्ष्य का बोध करा दिया है। मैं अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आपके चरणों की शरण में श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर आजीवन आपकी सेवा करना चाहता हूँ।"

इस प्रकार आर्य सुधर्मा की सरल, निर्लेप, मुमुक्षु एवं सत्योपासक वृत्ति का परिचय मिलता है। भगवान् महावीर के मुखारविन्द से सत्य का परिज्ञान होते ही उन्होंने अपनी चिरपरिपालित परम्परा, बड़े परिश्रम से अर्जित प्रतिष्ठा, शिष्यों और अनुयायियों के मोह आदि का परित्याग कर दिया और वे तत्काल श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने के लिये तत्पर हो गये।

इससे यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि आर्य सुधर्मा के हृदय में सत्य को जानने की प्रबल जिज्ञासा और सत्य को आत्मसात् करने की अनुपम तत्परता थी। उनकी बुद्धि सत्य को ग्रहण करने हेतु सदा उन्मुक्त-द्वार एवं तत्पर रहती थी। उन्नति के पथ पर अग्रसर होने से रोकने वाली सभी दुर्बलताओं, विचारों एवं बाधाओं को झटक कर उन्होंने अपने मन से दूर फेंक दिया।

स्वयं द्वारा चिरपोषित, चिरपरिपालित परंपरा की अनुपादेयता और अयथार्थता का ज्यों ही उन्हें बोध होता है वे तत्काल उसका सदा के लिये उसी प्रकार परित्याग कर देते हैं जिस प्रकार कि सांप अपनी केंचुल का।

"तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः, क्षारं जलं कापुरुषा पिबन्ति"

इस उक्ति के अनुसार कदाग्रही कायर व्यक्ति ही अपनी रूढ़ मान्यता को सदोष समझ कर भी उससे चिपटे रहते हैं। सत्योपासक एवं तत्त्वदर्शी पुरुषों की यह विशेषता होती है कि वे सत्य का दर्शन होते ही तत्काल निर्भीकता के साथ असत्य का परित्याग कर सत्य को आत्मसात् कर लेते हैं।

आर्य सुधर्मा पूर्वाग्रहों से परे, सत्य के परमोपासक और प्रबुद्धचेता विद्वान् थे। उन्होंने प्रभु द्वारा अपनी प्रार्थना के स्वीकृत होते ही भगवान् महावीर के कर-कमलों से श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। आर्य सुधर्मा के साथ उनके ५०० शिष्यों ने भी सत्य मार्ग को पहिचाना और अपने शिक्षा-गुरु के पदचिन्हों पर चलते हुए श्रमणधर्म स्वीकार कर प्रभुचरणों में अपना जीवन समर्पित कर दिया।

दीक्षा के पश्चात् आर्य सुधर्मा

जिस समय आर्य सुधर्मा ने भगवान् महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण की, उस समय उनकी आयु ५० वर्ष थी। वे वय में भगवान् महावीर से लगभग ८ वर्ष बड़े थे। वेद-वेदांगादि के धुरंधर विद्वान् होने के साथ-साथ वे पूर्ण अनाग्रही भी थे। उनकी बुद्धि पर्याप्तरूपेणं परिपक्व हो चुकी थी पर वे बड़े जिज्ञासु वृत्तिके विद्वान् थे। महान् अतिशयों से युक्त सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर महावीर को गुरुरूप में पा कर उनकी जिज्ञासु-वृत्ति बड़े वेग के साथ जागृत हो उठी।

गौतम प्रभृति अन्य गणधरों के साथ-साथ आर्य सुधर्मा ने भी एकाग्र चित्त हो जब भगवान् महावीर से त्रिपदी का ज्ञान सुना तो वे अथाह ज्ञान के भण्डार बन गये। सभी गणधरों ने प्रभु के मुख से सुने उपदेश के आधार पर सर्वप्रथम चतुर्दश पूर्वों की रचना की और तदनन्तर एकादशांगी का ग्रथन किया। चतुर्दश पूर्व जो पहले संस्कृत भाषा में थे, वे काल-प्रभाव से विच्छिन्न हो गये हैं। आज जो आचारांगादि एकादशांग उपलब्ध होते हैं, वे आर्य सुधर्मा की वाचना के ही माने जाते हैं।[1]

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने ग्यारहों गणधरों द्वारा द्वादशांगी की रचना के पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपने पंचम

---

[1] यदिति श्रुतमस्माभिः, पूर्वेषां सम्प्रदायतः।
चतुर्दशापि पूर्वाणि, संस्कृतानि पुराभवन् ॥११३॥
प्रज्ञातिशय साध्यानि, तान्युच्छिन्नानि कालतः।
अधुनैकादशांग्यस्ति, सुधर्मस्वामिभाषिता ॥११४॥
[प्रभावक चरित्र, ८, वृद्धवादिसूरिचरित्र, पृ० ५८]

गणधर के पद पर नियुक्त करते समय उन्हें दीर्घजीवी और पंचम आरक के अन्त तक अनवच्छिन्न शिष्य-सन्तति वाला समझ कर गणनायक घोषित किया। आर्य सुधर्मा ने तीस वर्ष तक भगवान् महावीर की सेवा में रह कर अपने गण के श्रमणों को द्वादशांगी का अध्यापन कराने के साथ-साथ प्रभु वीर के समस्त श्रमण-संघ की समीचीन रूप से व्यवस्था और अभिवृद्धि की। वे चतुर्दश पूर्वधर-द्वादशांगी के सूत्र, अर्थ और विवेचन आदि के ज्ञाता एवं व्याख्याता ही नहीं अपितु रचयिता भी थे।

भव्य-विराट व्यक्तित्व

आर्य सुधर्मा ब्राह्मण-परम्परा के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् एवं आचार्य तो थे ही पर श्रमण-परम्परा में दीक्षित होने के पश्चात् उनकी प्रतिष्ठा विश्वमान्य हो चली थी। वे नरेन्द्र-सुरेन्द्रों के भी पूजनीय और समस्त विश्व के वन्दनीय बन गये थे।

आर्य सुधर्मा के शरीर की ऊँचाई सात हाथ थी। आकार-प्रकार से समचतुरस्र संस्थान[1] और वज्रऋषभनाराच संहनन[2] से सुगठित उनकी देह अत्यन्त बलिष्ठ, सुन्दर, सौम्य और आकर्षक थी। तपाये हुए सोने के समान उनका तेजोमय लालिमा लिये सुन्दर एवं सुगौर वर्ण दर्शक के मन को हठात् विमुग्ध कर देता था। वे अतुल बल, अदम्य उत्साह, अटल धैर्य, अथाह गाम्भीर्य और अक्षोभ्य क्षमा एवं शान्ति के सागर थे।

आर्य सुधर्मा का वहिरंग व्यक्तित्व जितना आकर्षक, सम्मोहक और सुन्दर था उससे कई गुना अधिक आकर्षक, सम्मोहक और सुन्दर उनका आभ्यंतर व्यक्तित्व था। वे क्षमा, दया, आर्जव, मार्दव आदि गुणों के आगार तथा विनय, त्याग और तप की प्रतिमूर्त्ति थे। उन्होंने तन, मन और इन्द्रियों का निग्रह कर काम, क्रोध, मोह, अहंकार, निद्रा एवं परीषहों पर विजय प्राप्त कर ली थी। वे स्वसमय तथा परसमय के पूर्ण ज्ञाता, जीव अजीव आदि समस्त तत्त्वों के विशेषज्ञ, उग्र तपस्वी, घोर तपस्वी, घोर ब्रह्मचारी, अनासक्त, विमल ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के धनी, ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी थे। उनकी साधना उस चरमोत्कृष्ट कोटि तक पहुंच चुकी थी जिसमें जीवन की कामना और मृत्यु से भय का लवलेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता।

'णायाधम्मकहाओ' के अध्ययन प्रथम, सूत्र दो में आर्य सुधर्मा को 'आर्य', 'स्थविर' आदि जिन सम्मानसूचक विशेषणों से सम्बोधित किया गया है, उनसे आर्य सुधर्मा के प्रतिभाशाली विराट व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वस्तुतः आर्य सुधर्मा का विराट वहिरंग व्यक्तित्व समस्त श्रमण

---

[1] शरीर लक्षणोक्त प्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रो यस्य तत्समचतुरस्रम्।
[भगवती (टीका) १।१ व प्रश्नोत्थान पृ० ३४]

[2] भगवती, शतक १ प्रश्नोत्थान पृ० ३४

परम्परा का आकर्षण केन्द्र और उनका उदात्त आध्यात्मिकता से ओत:प्रोत आभ्यंतर व्यक्तित्व हमारी सम्पूर्ण श्रमण संस्कृति का पुंजीभूत तेजोमय स्वरूप सा प्रतीत होता है।

छद्मस्थकालीन साधना

आर्य सुधर्मा वेद-वेदांगादि चतुर्दश विद्याओं के कुशल ज्ञाता थे। सकल शास्त्र के पारगामी विद्वान् होने पर भी उन्हें कठोर परिश्रम से अर्जित अपनी विशाल ज्ञानराशि में एक प्रकार की न्यूनता, अपूर्णता एवं रिक्तता का अनुभव होता था। ज्ञान की यह रिक्तता उनके अन्तर्मन में अहर्निश एक शल्य की तरह खटकती रहती थी। वे सत्य की गवेषणा में सतत प्रयत्नशील थे। जब उन्हें भगवान् महावीर के प्रथम दर्शन हुए तो वे उनकी सौम्य मुखमुद्रा के दर्शन और उनकी वीतरागतापूर्ण वाणी के श्रवण से पूर्णरूपेण प्रभावित हुए।

प्रभुदर्शन से उनके मानस में आशा की किरण प्रस्फुटित हुई और उन्हें यह अनुभव हुआ कि उनकी वह रिक्तता-अपूर्णता विश्व की महान् विभूति — भगवान् महावीर के द्वारा अवश्य ही भर दी जायगी — पूर्ण कर दी जायगी।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर के मुखारविन्द से अपने अन्तर्मन की निगूढ़तम शंका को सुन कर तो वे आश्चर्य से अभिभूत हो गये और उनकी वह आशा तत्क्षण आस्था के रूप में परिणत हो गई। भगवान् महावीर की तर्कसंगत एवं युक्तिपूर्ण अमोघ वाणी से अपने सन्देह का सम्पूर्ण रूप से समाधान होते ही आर्य सुधर्मा ने परम सन्तोष का अनुभव करते हुए श्रमण दीक्षा ग्रहण कर अपने आपको प्रभु की चरण-शरण में समर्पित कर दिया। भगवान् महावीर द्वारा दिये गये 'त्रिपदी' के ज्ञान से आर्य सुधर्मा ने अपने अन्तर में भरे अक्षय्य ज्ञान भण्डार के वन्द कपाटों की मानो कुंजी ही प्राप्त कर ली। अभ्यन्तर के कपाट खुलते ही उनके मनोमंदिर में अनन्तकाल से आधिपत्य जमाया हुआ निबिड़तम अज्ञानान्धकार क्षण भर में तिरोहित हो गया और उसके स्थान पर अनिर्वचनीय, शुभ्र, दिव्य प्रकाश जगमगा उठा।

आर्य सुधर्मा ने प्रभु के प्रथमोपदेश से सामायिक चारित्र के महत्व को आत्मसात् कर अपने लोकजनीन प्रकाण्ड पाण्डित्य के प्रवाह को थोथे कर्मकाण्ड की ओर से मोड़ कर सम्पूर्ण सावद्य — त्यागरूप सामायिक चारित्र की दिशा में जोड़ दिया। पूर्ण ज्ञानी त्रिलोकगुरु भगवान् महावीर के उपदेशों से उन्होंने अपने ज्ञान की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि के साथ-साथ श्रमणसंघ की सुव्यवस्था, उन्नति एवं अभिवृद्धि करते हुए आर्य जम्बू और प्रभव जैसे सहस्रों भव्यों को श्रमणधर्म में दीक्षित किया। शासन-सेवा की तरह आप कठोर और दीप्त तप की साधना में भी पीछे नहीं रहे। उपशम भावपूर्वक घोर तपस्या के प्रभाव से उन्हें अनेक प्रकार की आश्चर्यकारी लब्धियां भी शक्तिरूप से प्राप्त हो गईं। परन्तु आपने सदा शान्त, दान्त एवं गम्भीर भाव से उन सिद्धियों को अपने अभ्यन्तर में ही दबाये रखा।

आर्य सुधर्मा मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान – इन चार ज्ञान के धारक थे। आगम और आगमेतर साहित्य में जिस प्रकार इनके केवलज्ञान की उपलब्धि का समय मिलता है उस प्रकार इन्हें चार ज्ञान कब हुए, इसका कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्य सुधर्मा भगवान् महावीर की विद्यमानता में ही चार ज्ञान के धारक हो चुके थे और वर्षों चार ज्ञान के धारी रहे।

सुधर्मा के गण और साधु

अग्निभूति आदि ९ गणधर आर्य सुधर्मा को दीर्घजीवी समझ कर उन्हें अपना-अपना गण सम्हला कर भगवान् महावीर की विद्यमानता में ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये, अतः क्रमशः उनके निर्वाण से एक-एक मास पूर्व उनके गणों का भी आर्य सुधर्मा के गण में विलय हो गया और उन ९ गणधरों के गणों के सभी श्रमण आर्य सुधर्मा के अन्तेवासी कहलाने लगे।[1]

९ गणधरों का निर्वाणकाल और सुधर्मा के साधु

भगवान् महावीर के निर्वाण से पूर्व जिन ९ गणधरों का निर्वाण हुआ एवं जिनके गण आर्य सुधर्मा के गण में विलीन हुए उनके नाम व निर्वाणकाल निम्न प्रकार से हैं :–

गणधर-नाम	निर्वाण-काल
द्वितीय गणधर अग्निभूति	वीर-निर्वाण से २ वर्ष पूर्व
तृतीय गणधर वायुभूति	वीर-निर्वाण से २ वर्ष पूर्व
चतुर्थ गणधर आर्य व्यक्त	वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व
छट्ठे गणधर आर्य मण्डित	वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व
सातवें गणधर आर्य मौर्यपुत्र	वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व
आठवें गणधर आर्य अकम्पित	वीर-निर्वाण से कुछ समय पूर्व
नवमें गणधर अचलभ्राता	वीर-निर्वाण से ४ वर्ष पूर्व
दशवें गणधर मेतार्य	वीर-निर्वाण से ४ वर्ष पूर्व
ग्यारहवें गणधर आर्य प्रभास	वीर-निर्वाण से ६ वर्ष पूर्व

ये ९ ही गणधर एक मास की संलेखना से राजगृह में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

इसके परिणामस्वरूप आर्य सुधर्मा के शिष्य-श्रमणों की संख्या भगवान् महावीर की विद्यमानता में ही ३९०० तक पहुंच गई।

ग्यारह गणधरों के श्रमणों की कुल संख्या ४४०० आगम एवं आगमेतर साहित्य में बताई गई है और भगवान् महावीर के संघ में कुल साधु १४,००० थे। उनमें से इन्द्रभूति के ५०० श्रमणों को छोड़ कर शेष साधु-समुदाय

[1] परिणिव्वुया गणहरा जीवंते णायए णव जणाउ। ६५८ [आवश्यक निर्युक्ति, भा० १]

आर्य सुधर्मा के ही नेतृत्व में आ जाता है। क्योंकि भगवान् महावीर ने सुधर्मा को गणधर नियुक्त करते समय गण की अनुज्ञा प्रदान कर दी थी। उसकी सार्थकता सुधर्मा के ५०० शिष्यों के अतिरिक्त अन्य साधु-समुदाय के मिलाने पर ही हो सकती है। अतः और गणधरों के गणों के अतिरिक्त शेष श्रमणों को सुधर्मा के गण में ही समझना चाहिये। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् आर्य सुधर्मा गणधर के स्थान पर संघाधिनायक आचार्य कहलाये क्योंकि वे भगवान् महावीर के पट्टधर हो चुके थे।

क्या सुधर्मा के आधीन अन्य आचार्य भी थे ?

प्रश्न उपस्थित होता है कि हजारों श्रमणों के उस अतिविशाल समुदाय की शिक्षा-दीक्षा और दैनिकचर्या की समुचित व्यवस्था का संचालन तप-स्वाध्याय-निरत और शास्त्र की वाचना देने वाले आर्य सुधर्मा स्वयं ही करते थे अथवा संघ-संचालन में उनके सहायक कोई अन्य आचार्य आदि भी थे।

शास्त्रीय प्रकरणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन एवं अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के शासनकाल में जिस प्रकार गणधर और स्थविर आदि श्रमणसंघ की व्यवस्था का कार्य करते थे, उसी प्रकार आर्य सुधर्मा के काल में भी आचार्य, स्थविर आदि संघ की व्यवस्था में आर्य सुधर्मा का हाथ बटाते थे।

शास्त्र में स्थान-स्थान पर उल्लेख आता है :-

"थेराणं अंतिए सामाइयमाइआईं एक्कारस अंगाईं अहिज्जइ-अहिज्जित्ता" आदि।

निर्युक्ति, चूर्णि आदि प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के समय में भी अलग-अलग आचार्यों के नेतृत्व में साधुओं का अध्ययन-अध्यापन एवं विचरण होता था।

भगवान् महावीर के शासन में ३०० चतुर्दश पूर्वधर और ४०० वादी थे, तो उनके साथ रहने वाले साधुओं के अध्ययन आदि की व्यवस्था उनके द्वारा अवश्य की जाती होगी। आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थों से हमारे इस अनुमान की पूर्ण पुष्टि होती है जैसाकि निर्युक्ति में कहा है - "राजगृही के गुणशील उद्यान में चतुर्दश पूर्वी आचार्य वसु के शिष्य तिष्यगुप्त से 'जीवप्रदेश' दृष्टि उत्पन्न हुई। आमलकल्पा के मित्रश्री ने उसको प्रतिबोध देकर समझाया।"[१] इससे यह सिद्ध

[१] (क) "जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।" [आव० निर्युक्ति गाथा]
रायगिहे गुणसिलए वसु चोद्दसपुव्वि तीसगुत्ताओ।
आमलकप्पा णयरी, मित्तसिरि कूरपिंडाई ॥१२८॥ [मूलभाष्य]

(ख) "त्रित्तिओ सामिणा सोलसवासाइं उप्पाडितस्स णाणस्स तो उप्पण्णो। तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे गुणसिलए चेतिए वसू नाम भगवंतो आयरिया चोद्दसपुव्वी समोसड्ढा, तस्स सीसो तीसगुत्तो नाम··· [आव० चू०, भा० १, पृ० ४१६-२०]

(ग) राजगृहे गुणशीलके उद्याने वसुराचार्यश्चतुर्दशपूर्वी समवसृतः, तच्छिष्यात्तिष्यगुप्तादेषा दृष्टिरुत्पन्ना···।" [आवश्यकनिर्युक्तेरवचूर्णि, भा० १]

उपदेश देते हैं वह वे अपने ज्ञान के आधार से देते हैं न कि अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य के उपदेश-आदेश के आधार से ।

आर्य सुधर्मा प्रभु के निर्वाण के समय १४ पूर्व के ज्ञाता थे, केवली नहीं । अतः वे यह कह सकते थे कि "भगवान् ने ऐसा फरमाया है", अथवा "भगवान ने जैसा फरमाया है वैसा ही मैं कह रहा हूँ ।" किन्तु इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर की निर्वाण-रात्रि के अवसान में ही सकल चराचर के पूर्ण ज्ञाता केवली बन चुके थे । ऐसी स्थिति में वे यह नहीं कह सकते थे कि "भगवान् ने ऐसा कहा है, वही मैं कहता हूँ" । केवली होने के कारण वे तो यही कहते कि – "मैं ऐसा देखता हूँ, मैं ऐसा कहता हूँ" ।

ऐसी स्थिति में तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित श्रुतपरम्परा को अविच्छिन्न रूप से यथावत् रखने की दृष्टि से इन्द्रभूति गौतम को भगवान् महावीर का उत्तराधिकारी न बनाया जाकर आर्य सुधर्मा को प्रथम पट्टधर नियुक्त किया गया । दूसरा कारण यह भी है कि केवली किसी के पट्टधर अथवा उत्तराधिकारी नहीं होते क्योंकि वे आत्मज्ञान के स्वयं पूर्ण अधिकारी होते हैं ।

पट्ट-प्रदान किसके द्वारा ?

आर्य सुधर्मा की तीर्थाधिनायक के रूप में भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर-पद पर नियुक्ति चतुर्विध संघ ने की अथवा स्वयं श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रश्न पर प्रकाश डालने वाली एक गाथा "गणहरसत्तरी" में उपलब्ध होती है, जो इस प्रकार है :–

तित्थाहिवो सुहम्मो, लहुकम्मो गरिमगयण संकासो ।
वीरेण मज्झिमाए, संठविओ अग्गिवेसाणो ।।२।।

इस गाथा का सामान्य अर्थ इस प्रकार होता है कि स्वयं भगवान् महावीर ने मध्यमपावा में अतिक्षीणकर्मा, केसरीसिंह तुल्य, अग्निवेश्यायन गोत्रीय सुधर्मा को तीर्थाधिप पद पर प्रतिष्ठित किया ।

गाथा में प्रयुक्त "तित्थाहिवो" और "मज्झिमाए" इन दो शब्दों पर समीचीन रूपेण विचार करने की आवश्यकता है ।

यह तो निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान् महावीर ने मध्यमा (मध्यम पावा) में तीर्थ की स्थापना की और लगभग ३० वर्ष पश्चात् वहीं निर्वाण प्राप्त किया । ऐसी स्थिति में प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रभु महावीर द्वारा आर्य सुधर्मा की तीर्थाधिप पद पर नियुक्ति तीर्थ-स्थापना के समय की गई अथवा निर्वाण के समय ?

जैसा कि पहले बताया जा चुका है "आवश्यक निर्युक्तिकार ने – "पुव्वं तित्थं गोयमसामिस्स दव्वेहिं पज्जवेहिं अणुजाणामित्ति" – इन शब्दों के साथ

भगवान् द्वारा इन्द्रभूति गौतम को तीर्थ की अनुज्ञा और—"गणं च सुहम्म सामिस्स धुरे ठावेत्ता णं अणुजाणति" इन शब्दों के साथ आर्य सुधर्मा को गण की अनुज्ञा प्रदान किये जाने का स्पष्टतः उल्लेख किया है। उस समय भगवान् महावीर ने न तो एकाकी इन्द्रभूति गौतम को तीर्थ तथा गण की सम्मिलित रूप से अनुज्ञा प्रदान की और न एकाकी आर्य सुधर्मा को ही।

इस गाथा में—"मज्झिमाए वीरेण सुहम्मो तित्थाहिवो संठविओ"—ये शब्द विद्यमान हैं। इन शब्दों का सीधा सा स्पष्ट अर्थ यही है कि भगवान् महावीर ने मध्यम पावा में सुधर्मा को तीर्थाधिप-तीर्थनायक (जिसमें गणाधिनायकत्व सम्मिलित होना स्वतः ही सिद्ध है) नियुक्त किया।

इस प्रकार उपरिलिखित गाथा में प्रयुक्त शब्दावली के सम्यक् पर्यालोचन से गाथा का यही अर्थ-संगत प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर ने अपने निर्वाण के समय मज्झिमा (मध्यम पावा) में आर्य सुधर्मा को तीर्थाधिप अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ के नायक पद पर अपना प्रथम पट्टधर नियुक्त किया।

"वीरवंश पट्टावली—अपर नाम विधिपक्ष गच्छ पट्टावली" की निम्न-लिखित गाथा में तो इस प्रकार का और भी स्पष्ट उल्लेख है कि स्वयं भगवान् महावीर ने आर्य सुधर्मा को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया :—

भवियजणे पडिबोहिय, बावत्तरि पालिऊण वरिसाइं।
सोहम्म गणहरस्स य, पट्टं दाउं सिवं पत्तो ॥६॥

अर्थात्—भव्य जीवों को प्रतिबोध दे, बहत्तर वर्ष की आयुष्य पूर्ण कर और गणधर सुधर्मा को अपने उत्तराधिकारी के रूप में पट्टधर पद देकर भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए।

यद्यपि वर्तमान में उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों में कहीं इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि स्वयं भगवान् महावीर ने आर्य सुधर्मा को अपने निर्वाण के समय अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया फिर भी उपरोक्त गाथाओं में प्रकट किये गये भाव सभी दृष्टियों से विचार करने पर संगत प्रतीत होते हैं। क्योंकि त्रिकालज्ञ सर्वदर्शी प्रभु अपने निर्वाण से पूर्व संघहित के अत्यन्त महत्वपूर्ण इस प्रश्न का स्पष्ट रूप से हल न करें कि उनके पश्चात् चतुर्विध तीर्थ की सुचारु रूप से व्यवस्था करने वाला उनका उत्तराधिकारी कौन होगा, इस बात को मानने के लिये संभवतः कोई विचारक तैयार नहीं होगा।

आगम एवं इतिहास के मर्मज्ञ इस पर विचार करें।

सुधर्मा का अपर नाम लोहार्य

दिगम्बर परम्परा के कतिपय ग्रन्थों में आर्य सुधर्मा का अपर नाम लोहार्य भी उपलब्ध होता है ।[1] यद्यपि दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती[2] आदि में आर्य सुधर्मा के इस अपर नाम का उल्लेख नहीं है और पट्टधरों के क्रम में श्वेताम्बर परम्परा की तरह सुधर्मा का नाम ही उपलब्ध होता है न कि लोहार्य का तथापि उपरिलिखित मान्यता के अनुसार पट्टधरों के क्रम में दिगम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों और पट्टावलियों में सुधर्मा के स्थान पर लोहार्य का नाम उपलब्ध होता है ।

श्वेताम्बर परम्परा की किसी भी पट्टावली अथवा ग्रन्थ में पट्टधरों के क्रम में कहीं भी लोहार्य का नाम दृष्टिगोचर नहीं होता । सर्वत्र सुधर्मा का नाम ही उपलब्ध होता है ।

आवश्यक निर्युक्ति के वृत्तिकार आचार्य मलयगिरी ने भगवान् महावीर को कैवल्योपलब्धि के पश्चात् आहार लाकर देने वाले श्रमण का नाम लोहार्य लिखकर उनकी निम्नलिखित शब्दों में स्तुति की है :-

धन्नो सो लोहज्जो, खंतिखमो पवरलोह सरिवन्नो ।
जस्स जिणो पत्ताओ, इच्छइ पाणिहिं भोत्तुं जे ।।२।।

अर्थात् – वे क्षमासागर, लोहसार के समान कान्तिमान वर्ण वाले लोहार्य धन्य हैं जिनके भिक्षापात्र से स्वयं जिनेन्द्र भगवान् (महावीर) अपने पाणिपात्र द्वारा भोजन करना चाहते हैं ।

इस प्रकार श्वेताम्वर परम्परा में भी "लौहार्य" – यह नाम तो उपलव्ध होता है पर यह आर्य सुधर्मा का ही अपर नाम था ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख न तो कहीं उपरोक्त "आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरी वृत्ति" में दृष्टिगोचर होता है और न श्वेताम्वर परम्परा के किसी अन्य ग्रन्थ में ही ।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पश्चात् उनके द्वारा तीर्थस्थापना के समय उनके तत्कालीन मुनियों में ग्यारह गणधरों का और उनमें भी इन्द्रभूति गौतम तथा आर्य सुधर्मा-इन दो गणधरों का विशिष्ट स्थान माना गया है । ऐसी दशा में केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान् महावीर को आहार लाकर देने वाले सुयोग्यतम साधु इन्द्रभूति गौतम एवं आर्य सुधर्मा से बढ़कर कोई अन्य नहीं

---

१ (क)....गोदमसामिम्हि णिव्वुदे संते लोहज्जाइरिओ केवलणाणसंताणहरो जादो ।
[छक्खंडागम वेदनाखंड, धवला, पृ० १३०]

(ख)....एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम – लोहज्ज – जम्वुसामियादि – आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहास-रूवेण परिणमिय अज्जमंखुणागहत्थीहिंतो जइवसहायरियमुवणमिय....
[कसायपाहुड, जयधवला··· अणुभागविहत्ती, पृ० ३८८]

२ जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी ।
जादो तस्सिं सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ।।१४७६।।
तम्मि कदकम्मणासे जंबूसामि त्ति केवली जादो ।....
[तिलोयपण्णत्ती, महा० ४]

हो सकते। इन्द्रभूति का अपरनाम लोहार्य हो इस प्रकार का उल्लेख दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता जब कि आर्य सुधर्मा के लिये कषायपाहुड़ तथा षट्खंडागम की टीकाओं में एवं दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में लोहार्य नाम का प्रयोग किया गया है।

दिगम्बर परम्परा में केवली द्वारा कवलाहार किया जाना मान्य नहीं अतः केवलज्ञान के पश्चात् भगवान् को आहार देने वाले साधु का नाम लोहार्य था इस अभिमत की दिगम्बर परम्परा में तो कल्पना तक नहीं की जा सकती। पर श्वेताम्बर परम्परा में केवली द्वारा कवलाहार किया जाना मान्य है। ऐसी स्थिति में "आवश्यक मलयवृत्ति" में भगवान् को कैवल्यप्राप्ति के पश्चात् आहार ला कर देने वाले, "खंतिखमो, पवरलोह सखिन्नो" इन उत्कृष्ट विशेषणों से सम्बोधनीय साधु संभवतः आर्य सुधर्मा हो सकते हैं। तत्कालीन साधुओं में लोहज्ज (लोहार्य) नामक अन्य किसी साधु का श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इन सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए अनुमान किया जा सकता है कि आर्य सुधर्मा का अपरनाम लोहार्य हो।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगम में और यापनीय परम्परा (जो विलुप्त हो चुकी है) के "केवलिभुक्ति"[1] नामक उपलब्ध ग्रन्थ में केवली द्वारा कवलाहार किया जाना मान्य है। भगवान् स्वयं भिक्षार्थ नहीं पधारते। ऐसी दशा में भगवान् को आहार ला कर देने वाला कोई न कोई साधु अवश्य होना चाहिए। भगवान् को आहार ला कर देने के लिये कोई एक ही साधु नियत था अथवा विभिन्न इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। सीहा अणगार ने मेढियाग्राम में रेवती गाथापत्नी के घर से बीजोरापाक ला कर दिया और उसके सेवन से भगवान् का रोग शान्त हुआ, इस प्रकार का उल्लेख भगवती सूत्र में उपलब्ध होता है।[2] यह एक विशिष्ट परिस्थिति में घटित हुई घटना है। इससे यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि भगवान् को आहार ला कर देने का कार्य किसी एक साधु के जिम्मे था या अनेक के।

क्या आर्य सुधर्मा क्षत्रिय राजकुमार थे ?

यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के मान्य ग्रन्थों में भगवान् महावीर के ग्यारहों गणधरों को ब्राह्मण जाति का बताया गया है किन्तु दिगम्बर परम्परा के वीर नामक कवि ने वि० सं० १०७६ में रचित अपने अपभ्रंश भाषा के महाकाव्य "जम्बूसामिचरिउ" में और कवि राजमल्ल ने वि० सं० १६३२ में रचित संस्कृत भाषा के अपने काव्य "जम्बूस्वामिचरितम्" में चौथे और पांचवें – दो गणधरों के क्षत्रिय होने का उल्लेख करते हुए पांचवें गणधर आर्य सुधर्मा को चौथे गणधर सुप्रतिष्ठ का पुत्र बताया है।

---

[1] केवलिभुक्ति, यापनीय आचार्य शाकटायन (पाल्यकीर्त्ति) रचित (विक्रम की ६ वीं शताब्दी)

[2] भगवती सूत्र, शतक १५, सू० ५५७

दिगम्बर परम्परा के उपरोक्त दोनों विद्वानों ने जम्बुकुमार को संसार से विरक्ति होने के प्रकरण में चौथे और पांचवें गणधर के क्षत्रिय होने का जो उल्लेख किया है वह इस प्रकार है :–

"एक दिन जम्बुकुमार ने अपने मन में विचार किया कि विपुल वैभव एवं यश की जो उन्हें प्राप्ति हुई है वह किस सुकृत के प्रताप से हुई है ? अपनी इस आन्तरिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिये जम्बुकुमार ने एक मुनि को सविधि वन्दन करने के पश्चात् प्रश्न किया–भगवन् ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि वास्तव में मैं कौन हूँ, कहां से आया हूँ और जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है, वह किस पुण्य के फल से प्राप्त हुआ है ? आप दया कर मुझे मेरे पूर्व-भव का वृत्तान्त सुनाइये।"

"सौधर्म नामक उन मुनि ने, जो कि धर्मोपदेशक थे, उत्तर दिया – 'वत्स ! सुन, मैं तुझे पूर्व-भवों का वृत्तान्त सुनाता हूँ।'[1] इसी मगध देश के वर्द्धमान नामक ग्राम में किसी समय भवदत्त और भवदेव नामक दो सहोदर रहते थे। उन दोनों ने क्रमशः जैन श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और बहुत वर्षों तक श्रमणाचार का पालन किया एवं दोनों भाई मृत्यु के पश्चात् सनत्कुमार स्वर्ग में देव रूप से उत्पन्न हुए। देवायु पूर्ण होने पर बड़े भाई भवदत्त का जीव महाविदेह क्षेत्र में वज्रदन्त नामक राजा के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम सागरचन्द्र रखा गया। छोटे भाई भवदेव का जीव देवलोक से च्युत हो महाविदेह क्षेत्र में महापद्म चक्रवर्ती का शिवकुमार नामक पुत्र हुआ। सागरचन्द्र संयम ग्रहण कर कठोर तपश्चर्या करने लगा और शिवकुमार माता-पिता के अत्यधिक अनुरोध के कारण घर में रहते हुए भी श्रमणाचार का पालन एवं उग्र तपश्चरण करने लगा। अन्त में क्रमशः समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर वे दोनों ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देव हुए।"

"दश सागर की देवायु पूर्ण होने पर बड़े भाई भवदत्त का जीव मगध देश के संवाहनपुर नामक नगर के राजा सुप्रतिष्ठ की रानी धर्मवती की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम सौधर्म रखा गया।[2] सौधर्मकुमार क्रमशः सभी विद्याओं में निष्णात हुआ। एक दिन राजा सुप्रतिष्ठ अपने परिवार सहित भगवान् महावीर के दर्शन-वन्दन, उपदेश-श्रवण के लिये प्रभु के समवसरण में पहुँचा। भगवान् की भवरोग विनाशिनी देशना सुनकर राजा सुप्रतिष्ठ ने संसार से विरक्त हो प्रभु के पास निर्ग्रंथ–दीक्षा ग्रहण कर ली। थोड़े ही दिनों में वह सुप्रतिष्ठ मुनि समस्त श्रुतशास्त्र के ज्ञाता बन गये और भगवान् महावीर ने उन्हें अपने चतुर्थ गणधर के पद पर नियुक्त किया।"[3]

---

[1] अथोवाच मुनिर्नाम्ना, सौधर्मा धर्म देशकः। शृणु वत्स वदे तेऽथ, वृत्तान्तं पूर्वजन्मनः ॥
[जम्बूस्वामीचरितम् (पं० राजमल्ल) सर्ग ६]

[2] [वही, सर्ग ६, श्लो० १८-२३]

[3] दिवसैः कतिभिर्भिक्षुः श्रुतपूर्णोऽभवन्मुनिः।
गणधरस्तुर्यो जातो वर्द्धमानजिनेशिनः ॥२८॥ [वही]

"सौधर्मकुमार ने कुछ दिनों पश्चात् अपने पिता सुप्रतिष्ठ को भगवान् के गणधर के रूप में देखा तो उसे भी संसार से विरक्ति हो गई और वह भी प्रव्रजित हो गया। थोड़े समय के पश्चात् वह भी भगवान् का पांचवां गणधर बन गया। सुधर्मा नाम का वह पंचम गणधर मैं ही हूँ जो कि तुम्हारे भवदेव के भव में तुम्हारा भवदत्त नामक बड़ा भाई था।[1] तुम (छोटे भाई भवदेव के जीव) ब्रह्मोत्तर स्वर्ग से च्युत हो राजगृह नगर के श्रेष्ठी अर्हद्दास की पत्नी जिनमती की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। तुम्हारा नाम जम्बूकुमार रखा गया।"[2]

कवि वीर और पं० राजमल्ल ने भगवान् महावीर के चतुर्थ एवं पंचम गणधर को किस आधार पर क्षत्रिय वंशोद्भव बताया है इसे खोज निकालने का पर्याप्त प्रयास किये जाने के उपरान्त भी अभी तक किसी भी अन्य ग्रन्थ में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं हो सका है।

यह पहले बताया जा चुका है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परायें एक मत से भगवान् महावीर के सभी गणधरों को ब्राह्मण कुलोद्भव

---

[1] (क) सौधर्मोऽपि तथा पश्चाद्वीक्ष्य तं गणनायकम्।
जातसर्वांगनिर्वेदः प्रवव्राज महामुनिः ।।२९।।
क्रमात्सोऽप्यभवत्तस्य पंचमो गणनायकः।
सोऽहं सुधर्म्मनामा स्यां भवद्भ्रातृचरोऽधुना ।।३०।। [वही]

(ख) तं पुरु सुपइट्ठियनिवइ जिणचरणमइ परिपालइ समरे बलुद्धरु।
...तहो सुहलक्खणभायणा, गुरदेवच्चणकयमणा।
सिंगारासयसिप्पिणी, पढ़मकलत्तं रुप्पिणी।
भवयत्तु जेट्ठु जो विहि मि चिरु सुरु सायरचंदु पुणो वि सुरु।
सो जाउ पुत्तु जणजाणियहे नरनाहें रुप्पिणीराणियहे।
सउहम्मनामुविज्जापवरु, नीसेससत्थविण्णाणधरु।
एक्कहिं दिणे सुप्पइट्ठु निवइ सकलत्तु सनंदणु सुद्धमई।
गउ वंदणभत्तिए भवतरणु सिरिवीरजिणंदसमोसरणु।
निसुणेवि परमेट्ठिहि दिव्वभुणि पव्वज्ज लेवि हुउ परममुणि।
गणहरु चउत्थु तवतवियतणु सिद्धिवहुनिवेसियविमलमणु।
पेक्खेवि जणेरु निवसिरि चइउ सउहम्मकुमारु वि पव्वइउ।
गणहरु पंचमु नासियदुहहो अविणट्ठथाणु सासयसुहहो।
सो हउं रिसिसंघविराइयउ विहरंतुज्जाणि पराइयउ ।।
[जंबूसामिचरिउ (वीर विरचित) ८-३, ८-४]

[2] त्वं हि ततो दिवश्च्युत्वा, विद्युन्मालिचरोऽमरः।
अर्हद्दासगृहे सूनुर्जातः सर्वसुखाकरः ।।३३।।
[जम्बूस्वामिचरितम् (पं० राजमल्ल रचित), सर्ग ६]

मानती हैं ।[१] ऐसी दशा में उपरोक्त दोनों कवियों ने चतुर्थ एवं पंचम गणधर को क्षत्रिय माना है; इस सम्बन्ध में विशेष खोज करने की आवश्यकता है। यहां सबसे बड़ी विचारणीय बात तो यह है कि भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों में सुप्रतिष्ठ नाम के कोई भी गणधर नहीं थे। ऐसी स्थिति में वीर कवि और पं० राजमल्ल ने चतुर्थ गणधर का नाम आर्यव्यक्त के स्थान पर सुप्रतिष्ठ और आर्य सुधर्मा को सुप्रतिष्ठ का पुत्र बताते हुए जो कथानक प्रस्तुत किया है, वह सारा कथानक ही तब तक प्रामाणिक नहीं माना जा सकता जब तक कि इसकी पुष्टि में कोई प्राचीन ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हो जाता।

आर्य सुधर्मा का निर्वाण

आर्य सुधर्मा ने ५० वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर तप-संयम की आराधना और निरन्तर ३० वर्ष तक एक परम विनीत शिष्य के रूप में भगवान् की आज्ञा का पालन करते हुए गण की महती सेवा की। उन्होंने प्रभु के निर्वाण के पश्चात् प्रभु के प्रथम पट्टधर के रूप में २० वर्ष तक संघाधिनायक रहकर संघ का संचालन किया। वीर-निर्वाण संवत् १२ में इन्द्रभूति गौतम के निर्वाण के पश्चात् उन्होंने चार घाति-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार आर्य सुधर्मा ने १२ वर्ष छद्मस्थचर्या में संघाधिनायक रहते हुए तथा ८ वर्ष तक केवली रूप से संघाधिनायक रहते हुए कुल मिलाकर २० वर्ष तक भगवान् महावीर के शासन की अमूल्य सेवाएं कीं, जो इस पंचम आरक की समाप्ति तक जिनशासन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित की जाती रहेंगी।

अन्त में वीर नि० संवत् २० के अन्तिम चरण में ईसा से ५०७ वर्ष पूर्व राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में आर्य सुधर्मा ने पादोपगमन संथारा किया।

आर्य सुधर्मा ने पचास वर्ष का एक लम्बा आदर्श, पवित्र और सफल जीवन जीते हुए वीर निर्वाण संवत् २० के अन्तिम चरण में एक मास के पादोपगमन संथारे से १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर अपने जीवन का चरम और परम लक्ष्य–निर्वाण प्राप्त किया जिसके लिये वे पचास वर्ष की आयु में अपना सर्वस्व त्याग कर साधनापथ पर आरूढ़ हुए थे।

विश्व-कल्याणकारी उन महान् आचार्यप्रवर को कोटि-कोटि प्रणाम !

वर्तमान द्वादशांगी के रचनाकार

समस्त जैन परम्परा की मान्यतानुसार तीर्थंकर भगवान् अपनी देशना में जो अर्थ अभिव्यक्त करते हैं, उनको उनके प्रमुख शिष्य गणधर शासन के हितार्थ

---

[१] सव्वे य माहणा जच्चा, सव्वे अज्झावया विऊ।
सव्वे दुवालसंगीआ, सव्वे चउदस पुव्विणो ॥६५७॥
[आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्र ३३९ (२)]

अपनी शैली में सूत्रबद्ध करते हैं। वे ही बारह अंग प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल में द्वादशांगी-सूत्र रूप में प्रचलित एवं मान्य होते हैं।[1] द्वादशांगी का गणिपिटक के नाम से भी उल्लेख किया गया है।[2] सूत्र गणधर-कथित या प्रत्येकबुद्ध-कथित होते हैं। वैसे श्रुतकेवलि-कथित और अभिन्न दशपूर्वी-कथित भी होते हैं।[3]

यद्यपि विभिन्न तीर्थंकरों के धर्मशासन में तीर्थस्थापना के काल में ही गणधरों द्वारा द्वादशांगी की नये सिरे से रचना की जाती है तथापि उन सब तीर्थंकरों के उपदेशों में जीवादि मूल भावों की समानता एवं एकरूपता रहती है क्योंकि अर्थ रूप से जैनागमों को अनादि-अनंत अर्थात् शाश्वत माना गया है। जैसा कि नन्दीसूत्र के ५८वें सूत्र में तथा समवायांगसूत्र के १८५वें सूत्र में कहा गया है :–

"इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाई नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे, निग्रए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए निच्चे।"

समय-समय पर अंगशास्त्रों का विच्छेद होने और तीर्थंकरकाल में नवीन रचना के कारण इन्हें सादि और सपर्यवसित भी माना गया है।[4] इस प्रकार द्वादशांगी के शाश्वत और अशाश्वत दोनों ही रूप शास्त्रों में प्रतिपादित किये गये हैं। इस मान्यता के अनुसार प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर द्वारा चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के दिन जो प्रथम उपदेश इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों को दिया गया, भगवान् की उस वाणी को अपने साथी अन्य सभी गणधरों की तरह आर्य सुधर्मा ने भी द्वादशांगी के रूप में सूत्रबद्ध किया।

ग्यारहों गणधरों द्वारा पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से ग्रथित बारह ही अंगों में शब्दों और शैली की न्यूनाधिक विविधता होने पर भी उनके मूल भाव तो पूर्णरूपेण वही थे जो भगवान् महावीर ने प्रकट किये।

पहले बताया जा चुका है कि भगवान् महावीर के ११ गणधरों की वाचनाओं की अपेक्षा से ६ गण थे और उनकी पृथक्-पृथक् ६ वाचनाएं थीं। ११ में से ६ गणधर तो भगवान् महावीर के निर्वाण से पूर्व ही मुक्त हो गये। केवल इन्द्रभूति और आर्य सुधर्मा ये दो ही गणधर विद्यमान रहे। उनमें भी इन्द्रभूति गौतम

---

[1] अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ॥१९२॥
[आ० निर्युक्ति, गा० १९२, धवला भा० १ पृ० ६४,७२]

[2] "दुवालसंगे गणिपिडगे" [समवायांग सूत्र १ व १३६, नंदी० ४०]

[3] सुत्तं गणहरकथिदं, तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं, अभिण्णदसपुव्वकथिदं च ॥४॥ [मूलाचार, ५-८०]

[4] इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं वुच्छित्तिनयट्ठाए साइयं सपज्जवसियं, अवुच्छित्तिनयट्ठाए अणाइयं अपज्जवसियं। [नन्दी सू०, सू० ४२]

तो प्रभु की निर्वाणरात्रि में ही केवली बन गये और १२ वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपना गण सौंप कर निर्वाण को प्राप्त हुए। अतः आर्य सुधर्मा को छोड़कर शेष दशों गणधरों की शिष्य-परम्परा और वाचनाएं उनके निर्वाण के साथ ही समाप्त हो गईं, आगे नहीं चल सकीं।

ऐसी अवस्था में भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके धर्मतीर्थ के उत्तराधिकार के साथ-साथ भगवान् के समस्त प्रवचन का उत्तराधिकार भी आर्य सुधर्मा को प्राप्त हुआ और केवल आर्य सुधर्मा की ही अंगवाचना प्रचलित रही। बारहवें अंग दृष्टिवाद का आज से बहुत समय पहले विच्छेद हो चुका है। आज जो एकादशांगी उपलब्ध है, वह आर्य सुधर्मा की ही वाचना है।१ इस तथ्य की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण आगमों में उपलब्ध हैं उनमें से कुछ प्रमाण यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं :–

आचारांग सूत्र के उपोद्घातात्मक प्रथम वाक्य में – "सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं।" अर्थात् – हे आयुष्मन् (जंबू) मैंने सुना है, उन भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा है……………। इस वाक्य रचना से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस वाक्य का उच्चारण करने वाला गुरु अपने शिष्य से वही कह रहा है जो स्वयं उसने भगवान् महावीर के मुखारविन्द से सुना था।

आचारांग सूत्र की ही तरह समवायांग, स्थानांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति आदि अंग-सूत्रों में तथा उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अंगबाह्य श्रुत में भी आर्य सुधर्मा द्वारा विवेच्य विषय का निरूपण – "सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं" इसी प्रकार की शब्दावली से किया गया है।

अनुत्तरोपपातिक सूत्र, ज्ञाताधर्म कथा आदि के आरंभ में और भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है :–

"……………तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे, अज्ज सुहम्मस्स समोसरणं……परिसा पडिगया ॥२॥

जंबू जाव पज्जुवासइ एवं वयासी जइणं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगडदसाणं अयमट्ठे पण्णत्ते, नवमस्स णं भंते ! अंगस्स अणुत्तरोववाइयदसाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ॥३॥

तएणं से सुहम्मे अणगारे जंवू अणगारं एवं वयासी – एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं नवमस्स अंगस्स अणुत्तरोववाइयदसाणं तिण्णि वग्गा पण्णत्ता ॥४॥"

आर्य जम्बू ने अपने गुरु आर्य सुधर्मा से समय-समय पर अनेक प्रश्न प्रस्तुत करते हुए पूछा – "भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने अमुक अंग का क्या अर्थ बताया ?"

अपने शिष्य जम्बू के प्रश्न के उत्तर में उन अंगों का अर्थ बताने का उपक्रम करते हुए आर्य सुधर्मा कहते हैं – "आयुष्मन् जंबू ! अमुक अंग का जो

अर्थ भगवान् महावीर ने फरमाया वह मैंने स्वयं ने सुना है। उन प्रभु ने अमुक अंग का अमुक अध्ययन का, अमुक वर्ग का यह अर्थ फरमाया है..."

अपने शिष्य जम्बू को आगमों का ज्ञान कराने की उपरिवर्णित परिपाटी सुखविपाक, दुखविपाक आदि अनेक सूत्रों में भी परिलक्षित होती है।

नायाधम्मकहाओ के प्रारम्भिक पाठ से भी यही प्रमाणित होता है कि वर्तमान काल में उपलब्ध अंग-शास्त्र आर्य सुधर्मा द्वारा गुंफित किये गये हैं।[1]

आगमों में उल्लिखित – "उन भगवान् ने इस प्रकार कहा –" इस वाक्य से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि इन आगमों में जो कुछ कहा जा रहा है उसमें किंचित्मात्र भी स्वकल्पित नहीं अपितु पूर्णरूपेण वही शब्दबद्ध किया गया है जो श्रमण भगवान् महावीर ने उपदेश देते समय अर्थतः श्रीमुख से फरमाया था।

केवल धवला को छोड़कर सभी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थों में भी यही मान्यता अभिव्यक्त की गई है कि अर्थ रूप में भगवान् महावीर ने उपदेश दिया और उसे सभी गणधरों ने द्वादशांगी के रूप में ग्रथित किया। आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने विक्रम की छठी शताब्दी में तत्वार्थ पर सर्वार्थसिद्धि की रचना की उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि परम अचिन्त्य केवलज्ञान की विभूति से विभूषित सर्वज्ञ परमर्षि तीर्थंकर ने अर्थरूप से आगमों का उपदेश दिया। उन तीर्थंकर भगवान् के अतिशय बुद्धि सम्पन्न एवं श्रुतकेवली प्रमुख शिष्य गणधरों ने अंग-पूर्व लक्षण वाले आगमों (द्वादशांगी) की रचना की।[2]

इसी प्रकार आचार्य अकलंक देव (वि. ८वीं शती) ने तत्त्वार्थ पर अपनी राजवार्त्तिक टीका में[3] और आचार्य विद्यानन्द[4] (वि. ९वीं शती) ने अपने तत्त्वार्थ

---

[1] "तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्ज सुहम्मस्स अणगारस्स जेट्ठे अंतेवासी अज्ज जंबू नामे अणगारे.........................अज्ज सुहम्मस्स थेरस्स नच्चासन्ने नाइदूरे,............विणएणं पज्जुवासमाणे एवं वयासी जइणं भंते समणेणं भगवया महावीरेणं...............पंचमस्स अंगस्स अयमट्ठे पन्नत्ते छट्ठस्स णं भंते! नायधम्मकहाणं के अट्ठे पन्नत्ते? जंबूत्ति अज्जसुहम्मे थेरे अज्ज जंबू नामं अणगारं एवं वयासी...............।"
[नायाधम्मकहाओ १–५]

[2] तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्टः।........ तस्य साक्षात् शिष्यैः बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैः गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनम्-अंगपूर्वलक्षणम्।
[सर्वार्थसिद्धि १-२०]

[3] बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम्-आचारादि द्वादशविधमंगप्रविष्टमुच्यते।
[राजवार्तिक १-२० १२, पृ० ७२]

[4] (क) तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धेः अर्हद्भाषितार्थं गणधर देवैः ग्रथितम् इति वचनात्।
[तत्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ६]

(ख) द्रव्यश्रुतं हि द्वादशांगं वचनात्मकमाप्तोपदेशरूपमेव, तदर्थज्ञानं तु भावश्रुतं, तदुभयमपि गणधरदेवानां भगवदर्हत्सर्वज्ञवचनातिशयप्रसादात् स्वमतिश्रुतज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपमशमातिशयाच्च उत्पद्यमानं कथमाप्तायत्तं न भवेत्?
[तत्वार्थश्लोकवार्त्तिक]

श्लोकवार्त्तिक में इसी मान्यता को अभिव्यक्त किया है कि तीर्थंकर आगमों का अर्थतः उपदेश देते हैं और उसे सभी गणधर द्वादशांगी के रूप में शब्दतः ग्रथित करते हैं।

धवला में यह मन्तव्य दिया गया है कि आर्य सुधर्मा को अंगज्ञान इन्द्रभूति गौतम ने दिया। परन्तु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के प्राचीन ग्रंथों में कहीं इस प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि धवलाकार की यह अपनी स्वयं की नवीन मान्यता है।

श्वेताम्बर आचार्यों की ही तरह धवलाकार के अतिरिक्त अन्य सभी प्राचीन दिगम्बर आचार्यों की यह मान्यता है कि भगवान् महावीर ने सभी गणधरों को अर्थतः द्वादशांगी का उपदेश दिया। जयधवला में जब यह स्पष्टतः उल्लेख किया गया है कि आर्य सुधर्मा ने अपने उत्तराधिकारी शिष्य जम्बूकुमार के साथ-साथ अन्य अनेक आचार्यों को द्वादशांगी की वाचना दी थी[1] तो यह कल्पना धवलाकार ने किस आधार पर की कि श्रमण भगवान् महावीर ने अर्थतः द्वादशांगी का उपदेश सुधर्मादि अन्य गणधरों को न देकर केवल इन्द्रभूति गौतम को ही दिया?

ऐसी स्थिति में अपनी परंपरा के प्राचीन आचार्यों की मान्यता के विपरीत धवलाकार ने जो यह नया मन्तव्य रखा है कि आर्य सुधर्मा को द्वादशांगी का ज्ञान भगवान् महावीर ने नहीं अपितु इन्द्रभूति गौतम ने दिया इसका औचित्य विचारणीय है।

ऊपर उल्लिखित प्रमाणों से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि अन्य गणधरों के समान आर्य सुधर्मा ने भी भगवान् महावीर के उपदेश के आधार पर द्वादशांगी की रचना की। अन्य दश गणधर आर्य सुधर्मा के निर्वाण से पूर्व ही अपने-अपने गण उन्हें सम्हला कर निर्वाण प्राप्त कर चुके थे अतः आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी ही प्रचलित रही और आज वर्तमान में जो एकादशांगी प्रचलित है वह आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित है। शेष गणधरों द्वारा ग्रथित द्वादशांगी वीर निर्वाण के कुछ ही वर्षों पश्चात् विलुप्त हो गई।

द्वादशांगी का परिचय

समवायांग[2] और नन्दीसूत्र[3] में द्वादशांगी का परिचय दिया गया है।

---

[1] तद्दिवसे चेव सुहम्माइरियो जंबूसामीयादीणमणेयाणमाइरियाणं वक्खाणिददुवालसंगो घाइचउक्कखयेण केवली जादो। [जयधवला, पृ० ८४]

[2] सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं ।।सू० १।।
इह खलु समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं.............इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ते, तं जहा-आयारे, सूयगडे, ठाणे, समवाए, वियाहपन्नत्ति, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणं, विवागसुए, दिट्ठिवाए।" [समवायांग, प्रारम्भिक पाठ]

[3] ....अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं। तं जहा-आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणं, विवागसुयं दिट्ठिवाओ, ।।सू० ४४।। [नंदीसूत्र]

समवायांग सूत्र में सागरोपम कोटाकोटि समवाय के पश्चात् बारह अंगों का क्रम और प्रत्येक का विस्तारपूर्वक परिचय दिया गया है।

केवल समवायांग ही नहीं अपितु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में द्वादशांगी का क्रम निम्नलिखित रूप में दिया गया है :-

१. आचारांग
२. सूत्रकृतांग (गोम्मटसार के अनुसार सुद्दयड़)
३. स्थानांग
४. समवायांग
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति (अंगपण्णत्ति के अनुसार विपाकप्रज्ञप्ति)
(गोम्मटसार के अनुसार-विक्खापण्णत्ति)
६. ज्ञाताधर्मकथा (अंगपण्णत्ति के अनुसार ज्ञातृधर्मकथा)
(गोम्मटसार के अनुसार-नाहस्स धम्मकहा)
७. उपासकदशा (अंगपण्णत्ति के अनुसार-उपासकाध्ययन)
८. अंतकृद्दशा (गोम्मटसार के अनुसार-अंतयडदसा)
९. अनुत्तरोपपातिक दशा (अंगपण्णाति के अनुसार-अनुत्तरोपत्पाद)
१०. प्रश्न व्याकरण
११. विपाकसूत्र (विपाकश्रुत, विवायसुय, विवागसुय और विवागसुत्त ये सभी समानार्थक नाम हैं।)
१२. दृष्टिवाद

१. आचारांग

(१) आचारांग – में श्रमण निर्ग्रंथों के आचार, गोचर, विनय, कर्मक्षयादि विनय के फल, कायोत्सर्ग, उठना-बैठना, सोना, चलना, घूमना, भोजन-पान-उपकरण की मर्यादा एवं गवेषणा आदि, स्वाध्याय, प्रतिलेखन आदि, पांच समिति, तीन गुप्ति का पालन, दोषों को टाल कर शय्या, वसति, पात्र, उपकरण, वस्त्र, अशन-पानादि का ग्रहण करना, महाव्रतों, विविध व्रतों, तपों, अभिग्रहों, अंगोपांगों के अध्ययनकाल में आचाम्ल आदि तप, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार – इन सब बातों का सम्यक्रूपेण विचार किया गया है।

आचारांग में वाचनाएं, अनुयोगद्वार, प्रतिपत्तियां वेष्टक, श्लोक, निर्युक्तियां – ये सभी संख्यात हैं। अंगों के क्रम की अपेक्षा से आचारांग का प्रथम स्थान है अतः यह प्रथम अंग माना गया है। श्रुत-पुरुष का प्रमुख अंग आचार होने के कारण भी इसे प्रथम अंग कहा गया है।

आचारांग में दो श्रुतस्कन्ध, पच्चीस अध्ययन, ८५ उद्देशनकाल एवं ८५ ही समुद्देशनकाल कहे गये हैं। इस प्रथम अंग में १८,००० पद, संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, और इसकी वर्णन परिधि में आने वाले असंख्यात त्रस एवं अनन्त स्थावर माने गये हैं।

पच्चीस अध्ययनात्मक आचारांग के जो ८५ उद्देशन और ८५ समुद्देशनकाल माने गये हैं उसका कारण यह है कि दोनों श्रुतस्कन्धों के कुल मिला कर ८५ उद्देशक होते हैं। उनमें से प्रत्येक उद्देशक का वाचनाकाल एक-एक मान कर उद्देशकों के अनुसार ही उद्देशनकाल कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं :–

प्रथम अध्ययन के ७, दूसरे के ६, तीसरे और चौथे के चार-चार, पाँचवें के ६, छठे के ५, सातवें के ८, आठवें के ७, नौवें के ४, दशवें के ११, ग्यारहवें एवं बारहवें के तीन-तीन, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें – इन चारों के क्रमशः दो-दो उद्देशक तथा शेष ६ अध्ययनों में से प्रत्येक के एक-एक उद्देशक। इस प्रकार कुल ८५ उद्देशकों के अनुसार उद्देशनकाल और समुद्देशनकाल भी ८५-८५ हैं।[1]

उपर्युक्त ये सभी जिनोक्त जीवादि पदार्थ जो द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शाश्वत एवं पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशाश्वत हैं, उन सब का समस्त जीवों पर दया व उनके कल्याण की दृष्टि से आचारांग में समीचीन एवं समग्ररूपेण विवेचन किया गया है।

आचारांग में गद्य और पद्य इन दोनों ही शैलियों में प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन होने के कारण यह गद्य-पद्यात्मक अंगशास्त्र है। इसके त्रिष्टुभ, जगती आदि पद्य वैदिक पद्यों से पर्याप्त सादृश्य रखते हैं। वर्तमान में दोनों श्रुतस्कन्धरूप आचारांग का पद[2] – परिमाण २५०० श्लोक प्रमाण है।

---

[1] सत्त य छ चउ चउरो, छ पंच अट्ठेव सत्त चउरो य।
एक्कारा ति ति दो दो, सत्तेक्क एक्को य ।। [संग्रह गाथा]
गणना एवं छन्द की दृष्टि से चतुर्थ चरण में "सत्तेक्केक्क एक्को य" इस प्रकार का पाठ होना चाहिए। – सम्पादक

[2] पद के परिमाण का पता लगाने के लिये पूर्वाचार्यों ने पूरा प्रयास किया है। विशेषावश्यक भाष्य की गाथा १००३, अनुयोगद्वारवृत्ति, अगस्त्यसिंह की दशवैकालिकचूर्णि, दशवैकालिक की हारिभद्रीया वृत्ति (अध्ययन १ की गाथा १) तथा शीलांकाचार्य-कृत आचारांग-वृत्ति (श्रुतस्कन्ध १, सूत्र १) में पद शब्द पर प्रकाश डाला गया है। पर शास्त्रों में प्रयुक्त "पद" का युक्तिसंगत वास्तविक अर्थ क्या होना चाहिए इसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि को पहले कर्मग्रन्थ की ७वीं गाथा के अन्तर्गत "पद" की व्याख्या करते समय लिखना पड़ा कि "जिससे पूरे अर्थ का बोध हो उसे "पद" माना गया है।" दिगम्बरपरम्परा के मान्य ग्रन्थ "अंग पण्णत्ती" में एकादशांगी के कुल श्लोकों और पदों की जो संख्या दी है उसके अनुसार श्लोक-संख्या में पदसंख्या का भाग लगाने पर ५१०८८४६२१ श्लोकों का एक पद बनता है। ऐसी स्थिति में द्वादशांगी में प्रयुक्त पद के परिमाण के सम्बन्ध में आज हमारे समक्ष ऐसी कोई सर्वमान्य परम्परा नहीं है जिससे कि पद का निश्चित स्वरूप जाना जा सके। – सम्पादक

समवायांग सूत्र[1] और नन्दी सूत्र[2] के मूल पाठ में आचारांग की (दोनों श्रुतस्कन्धों को मिला कर) पदसंख्या उल्लिखित है। इसके विपरीत आचारांग निर्युक्तिकार[3], आचारांग–वृत्तिकार शीलांकाचार्य और समवायांग की टीका में नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि[4] आदि ने आचारांग के केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध की पदसंख्या १८,००० मानी है। इस सम्बन्ध में यथास्थान आगे विवेचन किया जायगा।

प्रथम श्रुतस्कन्ध

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम नवब्रह्मचर्य है और इसमें निम्नलिखित ६ अध्ययन हैं:–

शस्त्रपरिज्ञा, लोकविजय, शीतोष्णीय, सम्यक्त्व, लोकसार (आवंति), धूत, महापरिज्ञा, विमोक्ष (विमोह) और उपधानश्रुत। आचारांग सूत्र में ये ६ अध्ययन इसी क्रम से दिये हुए हैं। आचारांग निर्युक्तिकार[5] तथा वृत्तिकार

---

[1] (क) से णं अंगट्टाए पढ़मे अंगे दो सुयक्खंधा, पणवीसं अज्झयणा, पंचासीइं उद्देसणकाला, पंचासीइं समुद्देसणकाला, अट्ठारस पदसहस्साइं पदग्गेणं
[समवायांग, (पू० घासीलालजी म०) पृ० ६५७]

(ख) आयारस्स णं भगवओ सचूलिआगस्स अट्ठारसपयसहस्साणि पयग्गेणं पण्णत्ताइं
– वही, पृ० २३२

[2] से णं अंगट्ठयाए पढ़मे अंगे, दो सुयक्खंधा, पणवीसं अज्झयणा, पंचासीईं उद्देसणकाला, पंचासीइ समुद्देसणकाला, अट्ठारस पयसहस्साइं पयग्गेणं.
[नन्दी सूत्र, (पू० घासीलालजी म०) पृ० ५४८]

[3] नव वंभचेरमइयो अट्ठारस पयसहस्सियो वेओ।
हवइ य सपंच चूलो वहु – वहुत्तरओ पयग्गेणं ॥ [आचारांग निर्युक्ति]

[4] स च नव ब्रह्मचर्याभिधानाध्ययनात्मकप्रथमश्रुतस्कन्धरूपः तस्यैव चेदं पदप्रमाणं न चूलानाम्, यदाह – "नव वंभचेरमइओ अट्ठारस पयसहस्सिओ वेओ, हवइ य सपंच चूलो वहु-वहुत्तरओ पयग्गेणं ॥१॥ त्ति। यच्च सचूलिकाकस्येति विशेषणं तत्तस्य चूलिकासत्ता प्रतिपादनार्थम् न तु पदप्रमाणाभिधानार्थम्। यतोऽवाचि नन्दी टीकाकृता" – "अट्ठारस पयसहस्साणि पुण पढमसुयक्खंधस्स, नव वंभचेरमइयस्स पमाणं विचित्तत्थाणिय सुत्ताणि गुरूवएसओ तेसिं अत्थो जाणिअव्वो। [समवायांग टीका (आचार्य अभयदेव सूरि)]

[5] सत्थपरिण्णा लोगविजओ य सीउसणिज्ज सम्मत्तं।
तह लोगसार नामं, धुत्तं तह महापरिण्णा य ॥ ३१ ॥
अट्ठसए य विमोक्खा उन्हाण सुयं च नवमगं भणियं।
.... ॥ ६२ ॥
[आचारांग निर्युक्ति]

अथाह सागर तुल्य जैन दर्शन को इस एक ही सूत्र रूप गागर में समाविष्ट कर दिया गया है। सच्ची मानवता का प्रतीक यह सूत्र जैन धर्म को विश्व धर्म के गौरवगरिमापूर्ण पद पर प्रतिष्ठापित करने के लिये पर्याप्त है।

द्वितीय उद्देशक में आस्रव एवं संवर द्वारों का विवेचन करते हुए बताया गया है कि आस्रव एवं संवर एकान्ततः स्थान और क्रिया पर नहीं अपितु मूलतः साधक की क्रमशः शुभाशुभ तथा विशुद्ध भावना पर निर्भर करते हैं अतः साधक को राग द्वेष से रहित विशुद्ध भावना रखने के लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

तृतीय उद्देशक में साधक को उपदेश दिया गया है कि वह भाव-विशुद्धि द्वारा नये कर्मों के आगमन को रोकने के साथ-साथ पूर्वसंचित कर्मों का नाश करने के लिये यथाशक्य तप-साधना में निरत रहे।

चौथे उद्देशक में साधनामार्ग को कठोर और वीरों का मार्ग बताते हुए साधक को उपदेश दिया गया है कि वह समस्त ऐहिक सुखों और अपने शरीर के प्रति भी ममत्व का त्याग कर सम्यक्त्व द्वारा अहिंसा, संवर और निर्जरा पर प्राप्त हुई अपनी श्रद्धा को सदा अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करता रहे। चारों उद्देशकों का यही विषयक्रम निर्युक्ति एवं वृत्ति में निर्दिष्ट है और यही क्रम आचारांग में आज भी विद्यमान है।

पंचम अध्ययन

पाँचवें अध्ययन का नाम लोकसार अध्ययन है। इसके आदि, मध्य और अंत में 'आवंति' शब्द आया है इस दृष्टि से इसका दूसरा नाम 'आवंति अध्ययन' भी रखा गया है। इसमें समग्र लोक के सारभूत धर्म-मर्म का निरूपण करते हुए बताया गया है कि लोक में सारभूत-तत्व धर्म, धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम और संयम का सार मोक्ष है। प्रस्तुत अध्ययन में ६ उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक में प्राणिहिंसा को कर्मबन्ध एवं भवभ्रमण का कारण बताते हुए कहा गया है कि जो कोई व्यक्ति किसी प्रयोजन अथवा बिना किसी प्रयोजन के प्राणियों की हिंसा करता है, वह निरन्तर उन्हीं जीवों में घूमता हुआ दुस्सह दुःखों का अनुभव करता है। हिंसा, संशय एवं भोगों का परित्याग किये बिना कोई प्राणी संसारसागर से पार नहीं हो सकता।

द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि सभी प्राणी जीना और सुखी रहना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, अतः सच्चा मुनि वही है जो किसी जीव की हिंसा नहीं करता और हिंसाजन्य पाप से सदा दूर रहता है।

तृतीय उद्देशक में साधक को उपदेश दिया गया है कि वह सर्वथा अपरिग्रही रह कर कामोन्मुख एवं भोगासक्त अपनी आत्मा के साथ युद्ध करते हुए अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करे। बाह्य युद्धों को अनार्य-युद्ध की संज्ञा देते हुए आत्म-विजय हेतु किये जाने वाले युद्ध को ही आर्य-युद्ध एवं सच्चा युद्ध बताया गया है।

चतुर्थ उद्देशक में उस मुनि के लिये एकाकी विचरण वर्जनीय बताया गया है जो कि वय एवं ज्ञान की दृष्टि से अपरिपक्व अथवा परीषहों को सहन करने में सक्षम न हो।

पंचम उद्देशक के प्रारम्भ में आचार्य की उस निर्मल जल से भरे उपशान्त जलाशय से तुलना की गई है जो अपने स्वच्छ जल से समस्त जलचर जन्तुओं की रक्षा करते हुए समभूमि में अवस्थित है। इसमें बताया गया है कि आचार्य भी उस स्वच्छ जलपूर्ण जलाशय के समान सदगुणों से ओतःप्रोत, उपशान्त, मन एवं इन्द्रियों को वश में रखने वाले, प्रबुद्ध, तत्वज्ञ, और श्रुत से अपना तथा पर का कल्याण करने वाले हैं। जो साधक संशय रहित हो जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्वज्ञान को सत्य समझ कर ऐसे महर्षियों की आज्ञानुसार संयम का पालन करता है वह समाधि को प्राप्त करता है।

इस पांचवें उद्देशक के पांचवें सूत्र में हिंसा से उपरत रहने का जिन मार्मिक और अन्तस्तलस्पर्शी शब्दों में जो महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया गया है वह उस रूप में संभवतः अन्यत्र विश्व के किसी दर्शन में उपलब्ध नहीं होगा। इसमें बताया गया है – '(ओ मानव !) जिसे तू मारने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू अपना आज्ञावर्ती बनाने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू परिताप पहुंचाने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू पकड़ने-बांधने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू प्राणों से वियोजित कर देने योग्य समझता है वह भी तू ही तो है। इस प्रकार के वास्तविक तथ्य को पहिचान कर प्रत्येक जीव को अपनी आत्मा के समान समझने वाला सरलवृत्ति युक्त साधु किसी भी जीव की न तो स्वयं हिंसा करे न किसी दूसरे से हिंसा करवाये और न किसी प्राणी की हिंसा का अनुमोदन ही करे। दूसरे की हिंसा के फलस्वरूप होने वाला घोर दुःख मेरी आत्मा को ही भोगना पड़ेगा इस प्रकार का विचार कर बुद्धिमान् अपने मन में किसी प्राणी की हिंसा का विचार तक न आने दे।'[1]

इस सूत्र में निहित उद्बोधन के माध्यम से स्पष्टरूपेण प्रत्येक प्राणी को सतर्क किया गया है कि किसी प्राणी के वध, बन्धन, उत्पीड़न आदि का विचार करना वस्तुतः स्वयं का वध, बन्धन, उत्पीड़न करना है। इस प्रकार के विचार करने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम स्वयं ही अपने विचारों का निशाना बनता है। क्योंकि दूसरे प्राणी को पीड़ा पहुंचाने के संकल्पमात्र से, इस प्रकार का संकल्प करने वाले प्राणी के आत्मगुणों का हनन हो जाता है। आत्मगुणों का हनन वस्तुतः आत्मघात तुल्य है।

---

[1] तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वंति मन्नसि एवं जं परिघित्तव्वंति मन्नसि, जं उद्दवेयंति मन्नसि अंजू चय पडिवुद्धजीवी, तम्हा न हंता नवि घायए, अणुसंवेयणमप्पाणेण जं हंतव्वं नाभिपत्थए। [आचारांग ५।५]

है उसी प्रकार साधक घोरातिघोर परीषहों को निर्भय और स्थिरभाव से सहन करते हुए मृत्युकाल उपस्थित होने पर पादोपगमन आदि अनशन कर जब तक आत्मा शरीर से पृथक् न हो जाय तब तक आध्यात्मिक चिन्तन में स्थिरभाव से दत्तचित्त रहे।

सातवां अध्ययन

सात उद्देशकों वाला "महापरिज्ञा" नामक सातवां अध्ययन वर्तमान काल में उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में उसके अन्तर्गत किन-किन विषयों पर विवेचन किया गया था इस पर साधिकारिक रूपेण कोई प्रकाश नहीं डाला जा सकता। यह महापरिज्ञा अध्ययन किस समय विलुप्त हुआ, इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता परन्तु कुछ तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विक्रम संवत् ५६२ के पश्चात् विक्रम सं० ६३३ से पहले किसी समय में महापरिज्ञा अध्ययन उच्छिन्न हुआ होगा।

शीलाचार्य अपर नाम तत्वादित्य[1] ने शक संवत् ७६८ की वैशाख शुक्ला ५ के दिन आचारांग की टीका का लेखन सम्पूर्ण किया।[2] आचारांग सूत्र की टीका में प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन की टीका सम्पूर्ण करने के पश्चात् लिखा है– "छठे अध्ययन की टीका समाप्त हुई। अब सातवें अध्ययन की टीका करने का अवसर समुपस्थित है किन्तु सातवां अध्ययन विच्छिन्न हो चुका है अतः उसे छोड़ कर आठवें अध्ययन के सम्बन्ध में कहा जा रहा है।"[3]

आचारांग टीका में उपलब्ध उपरोक्त उल्लेखों से यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि शक सं० ७६८ तदनुसार विक्रम सं० ६३३ में महापरिज्ञा अध्ययन विद्यमान नहीं था और उससे पहले ही यह विलुप्त हो चुका था।

अब यह देखना है कि महापरिज्ञा अध्ययन किस समय तक विद्यमान था। आज दुर्भाग्यवश महापरिज्ञा अध्ययन तो उपलब्ध नहीं पर सौभाग्य से इस पर लिखी हुई नवगाथात्मक निर्युक्ति उपलब्ध है।

आचारांग-निर्युक्ति में महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन के विलुप्त होने का कोई उल्लेख न होना और उसमें इस अध्ययन की निर्युक्ति का अस्तित्व, इन दो प्रबल प्रमाणों से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि निर्युक्ति की रचना के समय निर्युक्तिकार के समक्ष महापरिज्ञा अध्ययन विद्यमान था।

---

१ ब्रह्मचर्याख्य श्रुतस्कंधस्य निर्वृत कुलीनश्री शीलाचार्येण तत्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधु-सहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति श्लोकतो ग्रन्थमानं ६७६।
[आचारांग, प्र० श्रु० स्कं०, शीलांकाचार्यकृत टीका, पृ० ४२७]

२ शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेषु सप्तसु अष्टानवतीत्यधिकेषु वैशाखशुक्ल पंचम्यां २ आचार-टीका कृतेति।
[वही, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, पृ० २८१]

३ उक्तं षष्टमध्ययनमधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसरस्तच्च व्यवच्छिन्नमिति-कृत्वातिलंघ्याष्टमस्य संबन्धो वाच्यः।
[वही, पृ० ३४२ : धनपतिसिंह आगमसंग्रह]

इस तथ्य के स्पष्ट हो जाने के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आचारांग-निर्युक्ति की रचना किस समय की गई ? परम्परागत जनश्रुति के आधार पर बहुत प्राचीन काल से यह मान्यता चली आ रही है कि चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ने आचारांगादि १० सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचना की। श्रुतकेवली भद्रबाहु का आचार्यकाल वीर नि० सं० १५६ से १७० तक का है। निर्युक्तियों में उल्लिखित अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों, घटनाओं और व्यक्तियों से सम्बन्धित विवेचनों पर गम्भीरतापूर्वक पर्यालोचन के पश्चात् प्रत्येक निष्पक्ष विचारक की यह निश्चित धारणा बन जाती है कि परम्परागत मान्यता के अनुसार चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु भले ही मूल निर्युक्तियों के रचनाकार रहे हों पर वर्तमान में जो स्वरूप इन निर्युक्तियों का उपलब्ध होता है, वह स्वरूप विक्रम सं० ५६२ के आस-पास हुए नैमित्तिक भद्रबाहु ने प्रदान किया। इसी ग्रन्थ के आगे के श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के प्रकरण में एतद्विषयक महत्वपूर्ण तथ्यों पर यथास्थान पर्याप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

उपर्युल्लिखित तथ्यों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचारांग सूत्र का महापरिज्ञा नामक सातवां अध्ययन निर्युक्तियों को अन्तिम रूप देने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु के समय में वि० सं० ५६२ तक विद्यमान था और इसके पश्चात् वि० सं० ५६२ से वि० सं० ९३३ के बीच की ३७१ वर्ष की अवधि में किसी समय वह लुप्त हो गया।

विषय-वस्तु

यह तो पहले बताया जा चुका है कि महापरिज्ञा अध्ययन में किन-किन विषयों का समावेश था, यह आधिकारिक रूप से विस्तारपूर्वक नहीं बताया जा सकता क्योंकि मूलतः यह अध्ययन विलुप्त हो चुका है। फिर भी प्रथम श्रुत-स्कन्ध के अध्ययनों की विषय-परिचायिका गाथाओं में, और शीलांकाचार्यकृत इनकी टीका में किंचित् संकेत के रूप में और आचारांग निर्युक्ति में उसकी अपेक्षा थोड़े विस्तार के साथ महापरिज्ञा अध्ययनान्तर्गत विषय का परिचय दिया गया है।

आचारांग निर्युक्ति में प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययनों के विषय का परिचय देते हुए सातवें महापरिज्ञा अध्ययन का विषय बताया गया है– "मोहजन्य परीषह उपसर्ग।"[1] इस गाथा-पद की व्याख्या करते हुए टीकाकार आचार्य शीलांक ने लिखा है – "संयमादि गुण युक्त साधु के समक्ष यदि कभी मोहजन्य

---

[1] जियसंजमो य लोगो, जह वज्झइ जह य तं पज्जहियव्वं।
सुहदुक्खतितिक्खा वि य, संमत्तं लोगसारो य ॥३३॥
निस्संगया य छट्ठे, मोहसमुत्था परीसहोवसग्गा।
निज्जाणं अट्ठमए, नवमे य जिणेण पयंति ॥३४॥
[आचारांग-निर्युक्ति, (प्रथम श्रुतस्कंध)]

परीषह अथवा उपसर्ग उत्पन्न हो जायं तो उसे चाहिये कि वह उन्हें दृढ़ता के साथ समीचीन रूपेण सहन करे।[1]

आचारांग निर्युक्ति में महापरिज्ञा अध्ययन पर जो ६ गाथाएं दी हुई हैं उनमें से पहली दो गाथाओं में यह बताया गया है कि साधक अपनी दैनंदिनी क्रिया से लेकर अंतक्रिया संलेखना तक में अपने सम्मुख उपस्थित होने वाले अनुकूल परीषहों तथा साध्वाचार के समस्त अतिचारों को उत्कृष्ट कोटि के आदर्श एवं विशिष्ट ज्ञान से समझ कर उनसे किंचित्मात्र भी विचलित न होते हुए संयममार्ग में स्थिर रहे।

इनसे आगे की तीन गाथाओं में बताया गया है कि महा शब्द का प्राधान्य अर्थ में और परिमाण अर्थ में भी प्रयोग होता है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की दृष्टि से जो प्राधान्यता में महान् हों वहां महा शब्द प्राधान्यता का द्योतक और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से जहां, आकार, प्रकार, परिमाण, भार आदि का बोध कराने के लिये महा शब्द का प्रयोग किया जायगा वहां वह परिमाण का बोधक होगा।

इससे आगे की तीन गाथाओं में परिज्ञा के द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से भेद उपभेद बताने के पश्चात् भावपरिज्ञा को मूलगुण एवं उत्तरगुण के भेद से दो प्रकार का, मूल गुण भावपरिज्ञा को पांच प्रकार का और उत्तर गुण भावपरिज्ञा को दो प्रकार का बताया गया है और यह कहा गया है कि प्राधान्यता की दृष्टि से दोनों प्रकार की परिज्ञाओं में जो सर्वोत्तम परिज्ञान होता है उसे महापरिज्ञा कहते हैं।

इस अध्ययन की निर्युक्ति की अंतिम गाथा में साधक को यह निर्देश दिया गया है कि वह मन, वचन और काय से पूर्णतया देवांगना, मानवांगना एवं तिर्यंचांगना का परित्याग करे।[2]

---

[1] सप्तमे त्वयं-संयमादि गुणयुक्तस्य कदाचित्मोहसमुत्था परीषहोपसर्गा वा प्रादुर्भवेयुस्ते सम्यक् सोढव्या। [आचारांग, शीलांकाचार्यकृत टीका, पृ० ८]

[2] सत्तंमि य तिण्णिपलिया, सीयपरीसह हीयासणं धुवणं।
सूईमादियाणं, सन्निही अट्ठवडिया ॥६०॥

आसंदीय अकरणं उवएसाणं निकायणा चेव।
संलेहणिया णेया, भत्तपरिण्णंतकिरिया य ॥६१॥

पाहत्थे महासद्दो परिमाणो चेव होइ नायव्वो।
पाहणे परिमाणे य छव्विहो होइ निक्खेवो ॥६२॥

दव्वे खेत्ते काले, भावंमि य होंति या पहाणाउ।
तेसि महासद्दो खलु, पाहणेणं तु निप्फन्नो ॥६३॥

महापरिज्ञा अध्ययन पर दी हुई उपरिलिखित ६ निर्युक्ति-गाथाओं से इस अध्ययन के विषय पर स्पष्ट रूप से पूर्ण प्रकाश तो नहीं पड़ता पर इतना संकेत अवश्य मिलता है कि इस अध्ययन में साधक को अपने सम्पूर्ण साधक जीवन में प्रतिपल प्रतिपद पर सजग रहने, साध्वाचार तथा साध्वाचार के अतिचारों को विशिष्ट प्रज्ञा द्वारा भलीभांति समझकर तीव्र मोह के उदय से उत्पन्न सभी प्रकार के यौन अथवा अन्य परीषहों एवं उपसर्गों से किंचित्मात्र भी चलित न हो ब्रह्मनिष्ठ, आत्मनिष्ठ और संयमनिष्ठ रहने का उपायों सहित उपदेश दिया गया था।

लुप्त हुए "महापरिज्ञा" अध्ययन में किन-किन विषयों का निरूपण किया गया था इस सम्बन्ध में उपर्युल्लिखित टीका, चूर्णि एवं निर्युक्ति के उल्लेखों के अतिरिक्त एक और बड़ा ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख आचारांग-द्वितीय श्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति तथा टीका में उपलब्ध होता है। उसमें यह बताया गया है कि आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की "सप्तसप्तिका" नाम की द्वितीया चूला के सातों अध्ययनों की रचना आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन के सातों उद्देशकों के आधार पर की गई है।[1]

निर्युक्तिकार और टीकाकार, दोनों ने ही आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को आचारांग और द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचाराग्र बताते हुए कहा है कि नव-ब्रह्मचर्याध्ययनात्मक आचारांग में साधुओं के जानने योग्य सभी बातें नहीं बताई जा सकी हैं तथा अनेक बातें संक्षेप में बताई गई हैं। शिष्यों को उन सब आवश्यक ज्ञेय वस्तुओं का स्पष्टरूपेण बोध हो जाय इस दृष्टि से चतुर्दशपूर्वधर स्थविरों ने

दव्वे खेत्ते काले भावंमिय जे भवे महंताउ।
तेसु महासद्दो खलु, पमाणउ होंति निप्पण्णो ।।६४।।
दव्वे खेत्ते काले, भावे परिण्णा य बोधव्वा।
जाणण उववक्खणउ य, दुविहा पुणेक्केक्का ।।६५।।
भावपरिण्णा दुविहा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य।
मूलगुणे पंचविहा, दुविहा पुण उत्तरगुणेसु ।।६६।।
पाहणाण उपमयं भाव, परिण्णाए तह य दुविहाए।
परिण्णाणेसु पहाणे, महापरिण्णा तउ होइ ।।६७।।
देवीणं मणुईणं, तिरिक्खजोणिगयाण इत्थीणं।
तिविहेण परिव्वाउ, महापरिण्णाए निज्जुत्ती ।।६८।।
[आचारांग-निर्युक्ति (प्रथम श्रुतस्कंध)]

[1] सत्तेकाणि सत्तवि, णिज्जूढाई महापरिण्णाओ।············।।६।।
[आचारांग निर्युक्ति, श्रुत० २]

(ख) तथा महापरिज्ञाध्ययने सप्तोद्देशकास्तेभ्यः प्रत्येकं सप्तापि सप्तैकका निर्व्यूढा।
[शीलांकाचार्यकृत आचारांग टीका, पृ० ४]

उन नवब्रह्मचर्याध्ययनों में से, उक्त, अनुक्त अथवा संक्षेप से कहीं गई बातों को लेकर द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप आचाराग्र की विस्तारपूर्वक रचना की ।[1]

निर्युक्तिकार और टीकाकार के इस कथन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि महापरिज्ञा अध्ययन के सात उद्देशकों में जिन विषयों का विवेचन विवक्षित था अथवा जिन विषयों का संक्षेपतः उल्लेख किया गया उन्हीं सातों अध्ययनों में प्रतिपादित विषयों के आधार पर आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की द्वितीया चूला के सात अध्ययनों की रचना की गई। इसका सीधा सा अर्थ यह हुआ कि द्वितीया चूला के सात अध्ययनों में जो विषय हैं वे तो कम से कम, संक्षेपतः अवश्य ही महापरिज्ञा अध्ययन के सात उद्देशकों में प्रतिपादित किये गये थे।

महापरिज्ञा अध्ययन में मंत्र-विद्या

यद्यपि आचारांग निर्युक्ति, शीलांककृत आचारांग टीका, जिनदास गणि द्वारा रचित आचारांग चूर्णि और अन्य आगमिक ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता पर पारम्परिक प्रसिद्ध जनश्रुति के आधार पर यह मान्यता चली आ रही है कि आचारांग सूत्र के "महापरिज्ञा" अध्ययन में अनेक मन्त्रों और वड़ी महत्वपूर्ण विद्याओं का समावेश था। उन मन्त्रों और विशिष्ट विद्याओं का स्वल्प सत्त्व, धैर्य एवं गाम्भीर्य वाले साधक कहीं दुरुपयोग न कर लें इस जनहित की भावना से पूर्वकाल के आचार्यों ने अपने शिष्यों को इस अध्ययन की वाचना देना वन्द कर दिया और इसके परिणामस्वरूप शनैः शनैः कालक्रम से महापरिज्ञा अध्ययन विलुप्त हो गया। इस परम्परागत प्रसिद्ध जनश्रुति को एकान्ततः अविश्वसनीय किंवदन्ती की गणना में भी नहीं रखा जा सकता क्योंकि आचार्य वज्रस्वामी ने महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या की उपलब्धि की, इस प्रकार का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में आज भी उपलब्ध होता है।[2] आचारांग चूर्णिकार ने लिखा है – "विना आज्ञा, विना अनुमति के महापरिज्ञा अध्ययन

---

[1] (क) आयाराउ अत्थो आयारग्गेसु पविभत्तो ॥३॥

[आचारांग-निर्युक्ति, श्रुतस्कंध २]

(ख) तत्राद्ये श्रुतस्कन्धे नवब्रह्मचर्याध्ययनानि प्रतिपादितानि तेषु च न समस्तोऽपि विवक्षितोऽर्थोऽभिहितो......संक्षेपोक्तस्य प्रपंचाय तदग्रभूताश्चतस्र-श्चूड़ा......शिष्यहितं भवत्विति कृत्वा अनुग्रहार्थं तथा अप्रकटोऽर्थ प्रकटो यथास्यादित्येवमर्थं च कुतो निर्व्यूढः ? आचारात् सकाशात् समस्तोऽप्यर्थ आचाराग्रेषु विस्तरेण प्रविभक्त इति।

[शीलांकाचार्यकृत टीका, श्रु० २, पृ० ४]

[2] (क) जेणुद्धरिया विज्जा, आगासगमा महापरिन्नाओ।
वंदामि अज्ज वइरं, अपच्छिमो जो सुअधराणं ॥७६८॥

[आवश्यक मलय, उपोद्घात, पृ० ३९० (१)]

(ख) महापरिज्ञाध्ययनाद्, आचारांगान्तरस्थितात्।
श्री वज्रेणोद्धृता विद्या तदा गगनगामिनी ॥१४८॥ [प्रभावक चरित]

नहीं पढ़ा जाता (था) ।" इससे भी थोड़ा आभास होता है कि महापरिज्ञा अध्ययन में कुछ इस प्रकार की विशिष्ट बातें थीं जिनका बोध साधारण साधक के लिये वर्जनीय था ।

आठवां अध्ययन

आठवें अध्ययन के दो नाम हैं विमोक्ष और विमोह । इसके मध्य में "इच्चेयं विमोहायतणं" तथा "अणुपुव्वेण विमोहाइं" और अन्त में-"विमोहन्नयरं हियं" – इन पदों में विमोह शब्द का प्रयोग होने के कारण संभवतः इस अध्ययन का नाम विमोह अध्ययन रखा गया हो । अर्थतः इन दोनों शब्दों में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता क्योंकि विमोक्ष का अर्थ है सब प्रकार के संग से पृथक् हो जाना और विमोह का अर्थ है मोह रहित होना । इस अध्ययन में ये दोनों शब्द समस्त ऐहिक संसर्गों के परित्याग के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं ।

इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में श्रमणों के लिये निर्देश है कि वे अपने से भिन्न आचार, भिन्न धर्मवाले साधुओं के साथ न अशन-पान करें और न वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपुंछनक, निमन्त्रण, आदर-समादर, सेवा-शुश्रूषा आदि का आदान-प्रदान ही करें। इसमें सदा सब प्रकार के पापों से बचते रहने के आदेश के साथ कहा गया है कि विवेकपूर्वक सब पाप-कर्मों को सम्यक्रूपेण समझते हुए किसी भी दशा में पाप न करना ही वास्तविक धर्म है ।

द्वितीय उद्देशक में साधु को यह उपदेश दिया गया है कि वह अकल्पनीय वस्तु को किसी भी दशा में ग्रहण न करे और उस प्रकार की स्थिति में यदि कोई गृहस्थ अप्रसन्न हो कर ताड़न-तर्जन आदि भयंकर कष्ट भी दे तो साधु शान्तचित्त और समभाव से उन परीषहों को सहन करे ।

तीसरे उद्देशक में एकचर्या, भिक्षुलक्षण आदि का उल्लेख करने के पश्चात् कहा गया है कि यदि किसी साधु के शरीर-कम्पन को देख कर किसी गृहस्थ के मन में इस प्रकार की शंका उत्पन्न हो जाय कि कामोत्तेजना के कारण उसका शरीर कांप रहा है तो उस साधु को चाहिये कि उस गृहस्थ की उस शंका का समीचीन रूपेण समाधान करे ।

चौथे उद्देशक में एक अभिग्रहधारी मुनि के वस्त्र, पात्र आदि की मर्यादा के उल्लेख के साथ साधु को निर्देश दिया गया है कि वह जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित मुनि की सचेलक तथा अचेलक अवस्थाओं को समभावपूर्वक अच्छी तरह से जाने और समझे । इसमें साधक को निर्देश दिया गया है कि उन विषम परिस्थितियों में जब कि संयम की रक्षा सभी तरह से असंभव प्रतीत होने लगे अथवा स्त्री आदि का अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित होने पर उसे अपने संयम के भंग होने की पूरी संभावना हो तो उस प्रकार की विषम परिस्थितियों में वह विवेक एवं समभावपूर्वक प्राणों के मोह का परित्याग कर सहर्ष मृत्यु का वरण करे ।

पांचवें उद्देशक में बताया गया है कि दो वस्त्र एवं एक पात्रधारी, एक साटकधारी अथवा अचेल साधक समभाव से परीषहों को सहन करे। विभिन्न अभिग्रहधारी साधु जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म को अच्छी तरह जानता हुआ अपने अभिग्रह का यथार्थरूप से पालन करे और भक्तपरिज्ञा द्वारा अन्त में समाधिपूर्वक प्राणत्याग करे।

छठे उद्देशक में साधु को उपदेश दिया गया है कि यदि उसने एक वस्त्र और एक पात्र रखने का अभिग्रह किया है तो शीतादि परीषहों के समुपस्थित होने पर दूसरे वस्त्र अथवा पात्र की कांक्षा न करे। इस उद्देशक में वस्त्र, पात्र आदि की लाघवता एवं आत्मलाघवता अर्थात्– मैं एकाकी हूं, न तो मेरा कोई है और न मैं किसी का हूं– इस प्रकार की भावना को तप और आत्मविकास का साधन बताया गया है। इसमें साधु को यह भी उपदेश दिया गया है कि वह रस का आस्वादन नहीं करते हुए आहार करे और जब उसे विश्वास हो जाय कि संयमसाधना के कठोर क्रियानुष्ठानों का पालन करते हुए अथवा रोगादि के कारण उसका शरीर अत्यंत क्षीण एवं अशक्त हो गया है तो वह किसी गृहस्थ से निर्दोष घास की याचना कर जीवजन्तु रहित एकान्त स्थान में भूमि को परिमार्जित कर तृणशय्या बिछाये और उस पर शान्ति एवं समतापूर्वक इंगितमरण स्वीकार करे।

सातवें उद्देशक में बताया गया है कि जो प्रतिमासम्पन्न अचेलक साधु संयम में अवस्थित है उसके मन में यदि इस प्रकार के विचार उत्पन्न हों कि वह तृणस्पर्श, शीत, उष्ण, डांस मच्छर आदि के परीषहों को सहन करने में तो समर्थ है पर लज्जा को जीतने में असमर्थ है तो उस स्थिति में उसे कटिबन्ध धारण करना कल्पता है।[1] संयमसाधना अथवा रोगादि के कारण बल तथा शरीर के अत्यधिक क्षीण हो जाने की दशा में साधु के लिये इस उद्देशक में विधान किया गया है कि वह गुफा आदि प्राशुक स्थान में गृहस्थ से याचना कर लाये हुए तृणों की शय्या बिछा उस पर कटी हुई लकड़ी की तरह निश्चल हो पादोपगमन अनशन करे।

आठवें उद्देशक में पंडितमरण का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन करते हुए बताया गया है कि निरन्तर संयम की कठोर साधना करते हुए अथवा असाध्य रोग से शरीर इतना निर्बल हो जाय कि स्वाध्यायादि संयमसाधना का भी सामर्थ्य न रहे तो मुनि पूर्ववर्णित विधि से जीवजन्तुरहित एकान्त स्थान में तृणासन बिछा कर बाह्याभ्यंतर ग्रन्थियों के परित्याग के साथ शान्त चित्त से अनशन स्वीकार करे। भक्त प्रत्याख्यान, इंगित मरण और पादोपगमन-इन तीन प्रकार के सन्थारों

---

[1] जे भिक्खु अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए, सीयफासं अहियासित्तए..................हिरिपडिच्छादणं च हं नो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पेइ कडिबन्धणं धारित्तए ॥२२०॥ (आचा०, अ० ८ उ० ७)

में पहले से दूसरे और दूसरे से तीसरे को श्रेष्ठ बताते हुए साधक को निर्देश दिया गया है कि वह जीवन और मरण दोनों में समान रूप से अनासक्त रहते हुए न जीने की अभिलाषा करे और न मरने की प्रार्थना ही। वह आत्मचिन्तन के अतिरिक्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक सभी प्रकार के व्यापार को बन्द कर केवल आत्मरमण करता हुआ घोर से घोर उपसर्ग उपस्थित होने पर भी शान्त, दान्त एवं स्थिर रहे। अनशनावस्था में उसके शरीर के मांस का यदि हिंस्र पशु भक्षण करें या उसके रक्त का पान करें तो उस हिंसा-जन्य वेदना को अपनी आत्मा के लिये अमृतसिंचन तुल्य समझ कर समभाव से अंतिम सांस तक अपने कर्मों की निर्जरा करता रहे। यदि उसे उस अवस्था में मानवोपभोग्य अथवा देवोपभोग्य कमनीय से कमनीय भोगों का भी प्रलोभन दिया जाय तो वह उनको ग्रहण करने की इच्छा तक न करे और मोहरहित हो कर उपरोक्त तीन प्रकार के अनशनों में से यथाशक्ति किसी एक अनशन को हितकारी समझ कर स्वीकार करे।

नौवां अध्ययन

नौवें उपधानश्रुत नामक अध्ययन में मुख्य रूप से भगवान् महावीर की साधना का वर्णन है। यह पूरा अध्ययन गाथात्मक है। इसमें एक भी सूत्र नहीं है। इसके ४ उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में भगवान् महावीर द्वारा दीक्षा से दो वर्ष पूर्व सचित्त का त्याग, दीक्षानन्तर विहार, परपात्र एवं परवस्त्र का त्याग और १३ मास पश्चात् देवदूष्य वस्त्र का परित्याग बताया गया है। इसमें यह बताया गया है कि भगवान् महावीर ने केवल पूर्व-तीर्थंकरों की परम्परा का निर्वहन करने के लिये ही देवदूष्य वस्त्र स्वीकार किया पर शीत एवं दंस-मशकजन्य परीषहों से बचने के लिये उन्होंने उसका कभी उपयोग नहीं किया।

दूसरे और तीसरे उद्देशक में यह बताया गया है कि भगवान् महावीर को किन-किन विकट क्षेत्रों में विहार कर कैसे-कैसे स्थानों में रहना पड़ा और उन्हें वहां कितने असह्य एवं घोर परीषह सहन करने पड़े।

चौथे उद्देशक में भगवान् महावीर की घोर तपश्चर्याओं के वर्णन के साथ-साथ यह भी बताया गया है कि उन्हें भिक्षा में किस-किस प्रकार का रूक्ष एवं नीरस भोजन मिला, कितना समय उन्होंने निराहार रह कर तथा कितना समय बिना पानी के बिताया। अनार्य देश में विहार के समय वहाँ के निवासियों द्वारा प्रभु को दिये गये भीषण कष्टों के हृदयद्रावी वर्णन के साथ इसमें बताया गया है कि भगवान् महावीर उन असह्य परीषहों से किंचितमात्र भी विचलित नहीं हुए।

इस प्रकार आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ९ अध्ययन और नवों अध्ययनों के कुल ५१ उद्देशक हैं। महापरिज्ञा अध्ययन और उसके सातों उद्देशकों के विलुप्त हो जाने के कारण वर्तमान में प्रथम श्रुतस्कन्ध के ८ अध्ययन और ४४ उद्देशक ही उपलब्ध हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

निर्युक्तिकार के मतानुसार आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की ५ चूलिकाएं मानी गई हैं उनमें से प्रथम चार चूलिकाएं ही विद्यमान हैं तथा निशीथ नाम की पांचवीं चूलिका विस्तृत होने के कारण संभवतः निर्युक्तियों के रचनाकाल से पहले ही आचारांग से अलग की जा कर निशीथ नामक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठापित कर दी गई थी। क्योंकि नन्दिसूत्र में इसका निशीथ के नाम से तथा स्थानांग, समवायांग एवं निर्युक्ति में इसका आचारकल्प अथवा आचारप्रकल्प के नाम से उल्लेख उपलब्ध होता है।

प्रथम चूलिका में पिण्डैषणा आदि सात अध्ययन और उनके कुल मिला कर २५ उद्देशक हैं। पिण्डैषणा नामक इसके प्रथम अध्ययन में निर्दोष आहार-पानी किस प्रकार प्राप्त करना, भिक्षा के समय किस प्रकार चलना, किस प्रकार की भाषा बोलना, किस प्रकार आहार प्राप्त करना आदि का वर्णन है। शय्यैषणा नामक द्वितीय अध्ययन में सदोष-निर्दोष उपाश्रय का विचार किया गया है। तीसरे ईर्यैषणा अध्ययन में चलने की विधि और अपवाद काल में नाव में बैठने की विधि बताई गई है। चौथे भाषैषणा अध्ययन में वक्ता के लिये १६ वचनों की जानकारी आवश्यक बताते हुए क्रोधोत्पत्ति के कारणों का निषेध किया गया है। पांचवें वस्त्रैषणा अध्ययन में यह बताया गया है कि साधु को किस प्रकार वस्त्र ग्रहण करने चाहिये। छट्ठे पात्रैषणा नामक अध्ययन में पात्र-ग्रहण की विधि का निरूपण किया गया है। सातवें अवग्रहैषणा नामक अध्ययन में यह बताया गया है कि श्रमण को अपने सावधि निवासार्थ किस तरह का मर्यादित स्थान किस प्रकार प्राप्त करना और उसमें किस प्रकार रहना आदि। यह पूरी चूलिका गद्यात्मक है।

द्वितीय चूलिका में भी स्थान, निषीधिका आदि ७ अध्ययन हैं जो सभी उद्देशकरहित हैं। पहले अध्ययन में कायोत्सर्ग (ध्यान) आदि की दृष्टि से उपयुक्त स्थान तथा दूसरे अध्ययन में निषीधिका की प्राप्ति के सम्बन्ध में निर्देश दिया गया है। तीसरे अध्ययन में दीर्घशंका तथा लघुशंका के स्थान के बारे में निरूपण है। चौथे तथा पांचवें अध्ययन में क्रमशः शब्द और रूप के प्रति राग-द्वेष रहित रहने का श्रमण के लिये विधान है। द्वितीय चूलिका भी पूरी गद्यमय है।

तीसरी "भावना" नामक चूलिका में भगवान् महावीर के गर्भावतरण, गर्भ-साहरण, जन्म, जन्मोत्सव, नामकरण, तीन नाम, माता-पिता-पितृव्य के नाम, बहिन, भाई, भार्या, पुत्री एवं दोहित्री के नाम, माता-पिता का स्वर्गवास, वर्षीदान और साधना का वर्णन किया गया है। इसमें प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाओं का भी प्रतिपादन किया गया है। इस चूलिका में चौबीस गाथाएं और शेष सब गद्य-पाठ हैं।

चौथी "विमुक्ति" नामक चूलिका में वीतराग स्वरूप का उपमाओं के साथ वर्णन किया गया है। इस चूलिका में केवल ११ गाथाएं हैं।

इस प्रकार आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों के कुल मिला कर २५ अध्ययन और ८५ उद्देशक होते हैं पर प्रथम श्रुतस्कन्ध के महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन के लुप्त हो जाने के कारण वर्तमान में सम्पूर्ण आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध, २४ अध्ययन और ७८ उद्देशक ही उपलब्ध हैं।

गोम्मटसार, धवला, जयधवला, अंगपण्णत्ति, राजवार्तिक आदि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आचारांग के विषयों का परिचय कराते हुए बताया गया है कि आचारांग में मन, वचन, काय, भिक्षा, ईर्या, उत्सर्ग, शयनासन एवं विनय इन आठ प्रकार की शुद्धियों का विधान है। समीचीनतया विचार किया जाय तो यह कथन आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध पर पूरी तरह घटित होता है। वस्तुत आचारांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध में आचार पर विशेष बल दिया जा कर उसके प्रत्येक पहलू पर पूर्णरूपेण प्रकाश डाला गया है। उदाहरणस्वरूप "पिण्डैषणा" नामक अध्ययन में श्रमणों को निर्देश दिया गया है कि उनका आहार किस प्रकार का होना चाहिये, उन्हें किस प्रकार, किस समय और किस स्थान पर आहार लेना एवं उसका उपयोग करना चाहिये। शयैषणा नामक अध्ययन में विस्तार के साथ पूर्ण स्पष्ट रूप से साधु को निर्देश दिये गये हैं कि उसे किस-किस प्रकार के निर्दोष स्थान में ठहरना चाहिये और किस-किस प्रकार के स्थान से सदा बचते रहना चाहिये। इन सब निर्देशों के साथ ही साथ गमनागमन की दूरियों के सम्बन्ध में, भाषा, पात्र, वस्त्र, अवग्रह एवं स्थान का परिसीमन, खड़े रहने के स्थान, मलोत्सर्गस्थान, शब्द के प्रति विरति, रूप के प्रति अनासक्ति, साधुओं की अहर्निश क्रियाएं, महावीर-चरित्र और पंच महाव्रतों की भावनाओं का द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सम्यग्रूपेण प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार कौन

यह पहले सप्रमाण बताया जा चुका है कि सम्पूर्ण द्वादशांगी अर्थतः भगवान् महावीर की और शब्दतः गणधरों की कृति है। इसके साथ ही साथ समवायांग[1] और नन्दिसूत्र[2] में जो आचारांग का परिचय दिया गया है उसमें समान रूप से दोनों श्रुतस्कन्धों, अध्ययनों, उद्देशनकालों, समुद्देशनकालों और पदसंख्या को आचारांग का अभिन्न स्वरूप मानते हुए स्पष्टरूपेण कहा गया है– "आचारांग अंग की अपेक्षा से प्रथम अंग है, इसमें दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशनकाल और १८००० पद हैं।" यदि आचारांग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध अर्थतः भगवान् महावीर द्वारा कथित और शब्दतः गणधरों द्वारा ग्रथित नहीं होता तो इसे आगमों के मूल पाठ में इस प्रकार आचारांग का अभिन्न अंग कदापि स्वीकार

[1] समवायांग (राय धनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित), पत्र १६६ (१)

[2] नन्दी सूत्र (पू. घासीलालजी म.) पृ० ५४८

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

निर्युक्तिकार के मतानुसार आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की ५ चूलिकाएं मानी गई हैं उनमें से प्रथम चार चूलिकाएं ही विद्यमान हैं तथा निशीथ नाम की पांचवीं चूलिका विस्तृत होने के कारण संभवतः निर्युक्तियों के रचनाकाल से पहले ही आचारांग से अलग की जा कर निशीथ नामक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठापित कर दी गई थी। क्योंकि नन्दिसूत्र में इसका निशीथ के नाम से तथा स्थानांग, समवायांग एवं निर्युक्ति में इसका आचारकल्प अथवा आचारप्रकल्प के नाम से उल्लेख उपलब्ध होता है।

प्रथम चूलिका में पिण्डैषणा आदि सात अध्ययन और उनके कुल मिला कर २५ उद्देशक हैं। पिण्डैषणा नामक इसके प्रथम अध्ययन में निर्दोष आहार-पानी किस प्रकार प्राप्त करना, भिक्षा के समय किस प्रकार चलना, किस प्रकार की भाषा बोलना, किस प्रकार आहार प्राप्त करना आदि का वर्णन है। शय्यैषणा नामक द्वितीय अध्ययन में सदोष-निर्दोष उपाश्रय का विचार किया गया है। तीसरे ईर्यैषणा अध्ययन में चलने की विधि और अपवाद काल में नाव में बैठने की विधि बताई गई है। चौथे भाषैषणा अध्ययन में वक्ता के लिये १६ वचनों की जानकारी आवश्यक बताते हुए क्रोधोत्पत्ति के कारणों का निषेध किया गया है। पांचवें वस्त्रैषणा अध्ययन में यह बताया गया है कि साधु को किस प्रकार वस्त्र ग्रहण करने चाहिये। छट्ठे पात्रैषणा नामक अध्ययन में पात्र-ग्रहण की विधि का निरूपण किया गया है। सातवें अवग्रहैषणा नामक अध्ययन में यह बताया गया है कि श्रमण को अपने सावधि निवासार्थ किस तरह का मर्यादित स्थान किस प्रकार प्राप्त करना और उसमें किस प्रकार रहना आदि। यह पूरी चूलिका गद्यात्मक है।

द्वितीय चूलिका में भी स्थान, निषीधिका आदि ७ अध्ययन हैं जो सभी उद्देशकरहित हैं। पहले अध्ययन में कायोत्सर्ग (ध्यान) आदि की दृष्टि से उपयुक्त स्थान तथा दूसरे अध्ययन में निषीधिका की प्राप्ति के सम्बन्ध में निर्देश दिया गया है। तीसरे अध्ययन में दीर्घशंका तथा लघुशंका के स्थान के बारे में निरूपण है। चौथे तथा पांचवें अध्ययन में क्रमशः शब्द और रूप के प्रति राग-द्वेष रहित रहने का श्रमण के लिये विधान है। द्वितीय चूलिका भी पूरी गद्यमय है।

तीसरी "भावना" नामक चूलिका में भगवान् महावीर के गर्भावतरण, गर्भ-साहरण, जन्म, जन्मोत्सव, नामकरण, तीन नाम, माता-पिता-पितृव्य के नाम, बहिन, भाई, भार्या, पुत्री एवं दोहित्री के नाम, माता-पिता का स्वर्गवास, वर्षीदान और साधना का वर्णन किया गया है। इसमें प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाओं का भी प्रतिपादन किया गया है। इस चूलिका में चौबीस गाथाएं और शेष सब गद्य-पाठ है।

चौथी "विमुक्ति" नामक चूलिका में वीतराग स्वरूप का उपमाओं के साथ वर्णन किया गया है। इस चूलिका में केवल ११ गाथाएं हैं।

इस प्रकार आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों के कुल मिला कर २५ अध्ययन और ८५ उद्देशक होते हैं पर प्रथम श्रुतस्कन्ध के महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन के लुप्त हो जाने के कारण वर्तमान में सम्पूर्ण आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध, २४ अध्ययन और ७८ उद्देशक ही उपलब्ध हैं।

गोम्मटसार, धवला, जयधवला, अंगपण्णत्ति, राजवार्तिक आदि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आचारांग के विषयों का परिचय कराते हुए बताया गया है कि आचारांग में मन, वचन, काय, भिक्षा, ईर्या, उत्सर्ग, शयनासन एवं विनय इन आठ प्रकार की शुद्धियों का विधान है। समीचीनतया विचार किया जाय तो यह कथन आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध पर पूरी तरह घटित होता है। वस्तुत आचारांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध में आचार पर विशेष बल दिया जा कर उसके प्रत्येक पहलू पर पूर्णरूपेण प्रकाश डाला गया है। उदाहरणस्वरूप "पिण्डैषणा" नामक अध्ययन में श्रमणों को निर्देश दिया गया है कि उनका आहार किस प्रकार का होना चाहिये, उन्हें किस प्रकार, किस समय और किस स्थान पर आहार लेना एवं उसका उपयोग करना चाहिये। शय्यैषणा नामक अध्ययन में विस्तार के साथ पूर्ण स्पष्ट रूप से साधु को निर्देश दिये गये हैं कि उसे किस-किस प्रकार के निर्दोष स्थान में ठहरना चाहिये और किस-किस प्रकार के स्थान से सदा बचते रहना चाहिये। इन सब निर्देशों के साथ ही साथ गमनागमन की दूरियों के सम्बन्ध में, भाषा, पात्र, वस्त्र, अवग्रह एवं स्थान का परिसीमन, खड़े रहने के स्थान, मलोत्सर्गस्थान, शब्द के प्रति विरति, रूप के प्रति अनासक्ति, साधुओं की अहर्निश क्रियाएं, महावीर-चरित्र और पंच महाव्रतों की भावनाओं का द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सम्यग्रूपेण प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार कौन

यह पहले सप्रमाण बताया जा चुका है कि सम्पूर्ण द्वादशांगी अर्थतः भगवान् महावीर की और शब्दतः गणधरों की कृति है। इसके साथ ही साथ समवायांग[1] और नन्दिसूत्र[2] में जो आचारांग का परिचय दिया गया है उसमें समान रूप से दोनों श्रुतस्कन्धों, अध्ययनों, उद्देशनकालों, समुद्देशनकालों और पदसंख्या को आचारांग का अभिन्न स्वरूप मानते हुए स्पष्टरूपेण कहा गया है– "आचारांग अंग की अपेक्षा से प्रथम अंग है, इसमें दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशनकाल और १८००० पद हैं।" यदि आचारांग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध अर्थतः भगवान् महावीर द्वारा कथित और शब्दतः गणधरों द्वारा ग्रथित नहीं होता तो इसे आगमों के मूल पाठ में इस प्रकार आचारांग का अभिन्न अंग कदापि स्वीकार

---

[1] समवायांग (राय धनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित), पत्र १६६ (१)

[2] नन्दी सूत्र (पू. घासीलालजी म.) पृ० ५४८

नहीं किया जाता। इस प्रकार की स्पष्ट एवं निर्विवाद स्थिति में इस तरह के किसी प्रश्न के लिये किंचित्मात्र भी अवकाश नहीं रहता कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार कौन हैं। वस्तुतः मूल आगम में कहीं ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जिससे स्वल्पमात्र भी ऐसा आभास होता हो कि आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कंध आचारांग का अभिन्न अंग न हो कर आचाराग्र, आचारांग का परिशिष्ट अथवा पश्चाद्वर्ती काल में जोड़ा हुआ भाग हो।

ऐसी स्पष्ट स्थिति में यह प्रश्न कब और किस प्रकार उत्पन्न हुआ इस पर सभी दृष्टियों से समीचीनतया विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि आचारांग सूत्र की पदसंख्या के सम्बन्ध में विचार करते समय आचारांग-निर्युक्तिकार ने सर्वप्रथम अपना यह अभिमत रखा कि समवायांग और नन्दी सूत्र में आचारांग का जो पद परिमाण १८००० पद बताया गया है– "वह केवल नवब्रह्मचर्याध्ययन नामक आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का ही पदपरिमाण है। पांच चूलिकाओं सहित आचारांग की पदसंख्या तो १८००० से बहुत अधिक और अधिकतर है।"[1]

"१८,००० पदसंख्या आचारांग के केवल नव ब्रह्मचर्याध्ययनों की ही है न कि द्वितीय श्रुतस्कंध सहित आचारांग की"–अपनी इस आगमों के उल्लेखों से विपरीत मान्यता की पुष्टि में न तो निर्युक्तिकार ने किसी आगमिक आधार का ही उल्लेख किया है और न अपने किसी पूर्ववर्ती आचार्य के एतद्विषयक अभिमत का ही। यही नहीं, उन्होंने आगम के उस मूलपाठ की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी निर्युक्ति में अपना कोई मन्तव्य अभिव्यक्त नहीं किया है जिसमें स्पष्ट रूप से एक चूलिका वाले आचारांग की निम्नलिखित शब्दों में १८,००० पदसंख्या वताई गई है :–

"आयारस्स णं भगवओ सचूलिआगस्स अट्ठारसपयसहस्साणि पयग्गेणं पण्णत्ताई।"[2]

यदि यह कहा जाय कि इस निर्णायक और अत्यधिक महत्वपूर्ण तथ्य पर निर्युक्तिकार का मौन वस्तुतः उनके पक्ष की निर्वलता का वहुत वड़ा प्रमाण है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। संभवतः समवायांग के उपरोक्त सूत्र को ध्यान में रखते हुए ही आचार्य शीलांक ने आचारांग टीका में इस प्रश्न पर अपना कोई अभिमत व्यक्त नहीं किया है कि १८,००० पदप्रमाण केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का है अथवा दो श्रुतस्कन्धात्मक सम्पूर्ण आचारांग का।

नन्दीसूत्र के चूर्णिकार ने निर्युक्तिकार की मान्यता का समर्थन करते हुए कहा है – "१८,००० पदसंख्या नवब्रह्मचर्याध्ययनरूप प्रथम श्रुतस्कन्ध की है, सूत्रों के अर्थ विविध-विचित्र होते हैं, गुरु के मुख से ही उनका अर्थ समझना चाहिये।"[3]

---

[1] आचारांग निर्युक्ति (१ श्रुतस्कंध), गाथा ११

[2] समवायांग सूत्र, समवाय १८

[3] अट्ठारस पयसहस्साणि पुण पढमसुयक्खंधस्स, नवबंभचेरमइयस्स पमाणं विचित्तत्थाणि य सुत्ताणि गुरुसयासाओ तेसिं अत्थो जाणियव्वो। [नंदी-चूरिण]

इस प्रकार नन्दी-चूर्णिकार ने भी कोई आगमिक अथवा अन्य आधार प्रस्तुत नहीं किया है कि किस आधार पर वे अपना यह मन्तव्य अभिव्यक्त कर रहे हैं। उपरोक्त सूत्र में प्रयुक्त "सचूलिआगस्स" – इस पद पर भी उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला है।

नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि ने समवायांग सूत्र की समवाय संख्या १८ के उपरोक्त सूत्र की टीका में निर्युक्तिकार की मान्यता का समर्थन करते हुए एक नवीन युक्ति भी प्रस्तुत की है – "चूलिकाओं सहित आचार नामक प्रथम अंग की द्वितीय श्रुतस्कंधात्मिका पिण्डैषणा आदि पांच चूलाएं हैं। वह प्रथम अंग आचार नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कंध स्वरूप ही है। उस ही का यह पदप्रमाण है न कि चूलाओं का। जैसा कि निर्युक्तिकार ने कहा है –

नवबंभचेरमइओ, अट्ठारस पयसहस्सिओ वेओ।
हवइ य सपंच चूलो, वहु बहुतरओ पयग्गेणं ॥ त्ति ॥

जो 'सचूलिकाकस्य' शब्द का इस सूत्र में प्रयोग किया गया है वह इस प्रथमांग का विशेषण है और वह चूलिकाओं के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त किया गया है न कि चूलिकाओं का पदप्रमाण बताने के लिये।" इसके पश्चात् उन्होंने नन्दी-टीकाकार (चूर्णिकार) के उपरोक्त अभिमत को दोहराया है।[1]

केवल प्रथम श्रुतस्कंध को ही १८००० पदसंख्या वाला आचारांग तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध को पंचचूलात्मक बता कर उसे आचारांग से भिन्न आचाराग्र अथवा आचारांग का परिशिष्ट सिद्ध करने की दृष्टि से "केवल चूलिकाओं का अस्तित्व बताने के लिये विशेषण के रूप में 'सचूलिकाकस्य' शब्द का प्रयोग इस सूत्र में किया गया है" – नवांगी टीकाकार द्वारा इस सूत्र का इस प्रकार का किया गया अर्थ साधारण से साधारण भाषाविद् को भी मान्य नहीं हो सकता। यदि आगमकार को इस सूत्र का इस प्रकार का अर्थ अभिप्रेत होता तो वे निश्चित रूप से "सचूलिकाकस्य" के स्थान पर इस सूत्र में "चूलिकावर्जस्य" शब्द का प्रयोग करते। पर न इस सूत्र की शब्द रचना को देखते हुए इस प्रकार का अर्थ किया जाना संभव है और न सूत्रकार का ही इस प्रकार का अभिप्राय था। आगमकार तो यही बताना चाहते थे कि चूलिकावाले आचारांग का पदपरिमाण १८,००० पद हैं और उन्होंने अपने इस अभिप्राय को इस सरल सूत्र के माध्यम से स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया – "आयारस्स णं भगवओ सचूलिआगस्स अट्ठारस पयसहस्साणि पयग्गेणं पण्णत्ताइं।"

नवांगी टीकाकार द्वारा प्रस्तुत की गई युक्ति के केवल कुछ ही अंश से हम साभार सहमत हैं। उपरोक्त सूत्र में "सचूलिआगस्स" शब्द का प्रयोग निश्चित रूप से दो श्रुतस्कंधात्मक आचारांग के विशेषण के रूप में केवल उसकी एक

[1] समवायांग-टीका (अभयदेवसूरिकृता), राय धनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित पत्र ५४ (२)

चूलिका का अस्तित्व मात्र प्रकट करने के लिये ही किया गया है, इसका पदसंख्या से सीधा कोई संवन्ध नहीं। वस्तुतः यह एक तथ्य है कि आचारांग की उस एक चूलिका के पदों की संख्या को दो श्रुतस्कंधात्मक आचारांग की पदसंख्या में सम्मिलित नहीं किया गया है क्योंकि वह आचारांग से प्रगाढ़रूपेण सम्वन्धित होते हुए भी पूर्व-ज्ञान का अंश होने के कारण आचारांग से पूर्णतः पृथक् एवं भिन्न है। आगम में कहीं उल्लेख नहीं है कि आचारांग की पांच चूलिकाएं हैं। यह तो निर्युक्तिकार की अपनी स्वयं की स्वतन्त्र कल्पना है। आगम द्वारा असमर्थित निर्युक्तिकार की इस स्वकल्पित मान्यता से प्रभावित होने के कारण ही अभयदेव सूरि ने आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को पंचचूलात्मक माना है और अपनी इस पहले से ही वनी हुई धारणा के फलस्वरूप उन्होंने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है – "द्वितीय श्रुतस्कन्धरूपी पांच चूलाओं वाले प्रथम श्रुतस्कन्धात्मक आचारांग भगवान् के १८ हजार पद हैं।"

यदि वे मूल आगम (समवायांग एवं नन्दी सूत्र) के द्वादशांगी परिचायक पाठ से प्रभावित होते तो इस सूत्र का अर्थ निम्नलिखित रूप में करते :-

"एक चूलिका वाले दो श्रुतस्कंधात्मक आचारांग भगवान् के १८,००० पद हैं।" यही अर्थ सही और संगत भी होता क्योंकि "आयारस्स भगवओ" – यह पद दो श्रुतस्कंधात्मक आचारांग का परिचायक है न कि एक श्रुतस्कंधात्मक आचारांग का। और आचारप्राभृत आचारांग की एक ऐसी चूला है जिसकी पदसंख्या आचारांग की पदसंख्या में न कभी सम्मिलित थी और न है।

"सूत्रों के अर्थ विचित्र और गूढ़ार्थ भरे होते हैं, गुरु के उपदेश से ही उनके अर्थ को समझना चाहिये"-इस प्रकार की उक्ति का अवलम्वन लेकर मूल आगम के पाठ की तुलना में निर्युक्तिकार के अभिमत को प्रश्रय देते हुए केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही १८००० पदवाला पूर्ण आचारांग तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध को उसका पंचचूलात्मक आचाराग्र अथवा परिशिष्ट मात्र वताते समय टीकाकार के पास निर्युक्ति के अतिरिक्त और क्या आधार था, यह विचारणीय होते हुए भी स्पष्ट है।

केवल इस सूत्र में ही नहीं इस सूत्र से आगे कोटाकोटि समवाय के पश्चात् आगमों का परिचय देते हुए समवायांग में और नन्दी सूत्र में जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है स्पष्ट रूप से यह वताया गया है कि आचारांग में दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशनकाल और ८५ समुद्देशनकाल हैं तथा उसकी पदसंख्या १८,००० है। दोनों श्रुतस्कन्धात्मक आचारांग के १८ हजार पद हैं – इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख आगम के मूल पाठों में दो स्थान पर किये जाने के उपरान्त भी "विचित्तत्थाणि य सुत्ताणि" इस पद का अवलम्वन लेकर सहज-सुगम स्पष्ट सूत्रों का अर्थ इस प्रकार वदलने की प्रक्रिया को यदि मान्य किया जाने लगे तो निश्चित रूप से इसका परिणाम अन्ततोगत्वा बड़ा भयावह होगा।

आचारांग की ही तरह दो श्रुतस्कन्ध वाले अन्य भी आगम हैं पर उनके सम्बन्ध में प्रथम श्रुतस्कन्ध से द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पृथक् पदसंख्या की इस प्रकार की मान्यता को कहीं नहीं अपनाया गया है। सूत्रकृतांग, ज्ञातृधर्मकथा, प्रश्न-व्याकरण और विपाक–इन चारों अंगों के पदपरिमाण प्रत्येक के दोनों श्रुतस्कन्धों को मिला कर ही माने गये हैं। ऐसी स्थिति में केवल आचारांग के दोनों श्रतस्कंधों का पदपरिमाण पृथक्-पृथक् वताते हुए केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का ही पदपरिमाण १८,००० पद किस कारण माना है, यह समझ में नहीं आता। इसका स्पष्टीकरण न निर्युक्तिकार ने किया है, न चूर्णिकार ने अथवा किसी वृत्तिकार ने और न इसका कोई आधार कहीं खोजने पर उपलब्ध ही होता है।

दिगम्वर परम्परा के मान्य ग्रन्थ धवला और अंगपण्णत्ती में भी आचारांग की पदसंख्या १८,००० मानी गई है तथा उन ग्रन्थों में आचारांग के विषयों का जो परिचय दिया गया है वह आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रतिपादित विषयों से प्रायः पूरी तरह मिलता-जुलता है।

इन सव तथ्यों पर गम्भीरता और निष्पक्षतापूर्वक विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि आगमों के मूल पाठ में दो श्रुतस्कन्ध और २५ अध्ययनात्मक सम्पूर्ण आचारांग की जो १८,००० पदसंख्या वताई गई है वही पूर्णरूपेण, सही, प्रामाणिक और मान्य है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आगम सर्वोपरि है और निर्युक्तियों, चूर्णियों और टीकाओं की तुलना में निश्चित रूप से सर्वतः सर्वाधिक प्रामाणिक भी।

अव यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु (द्वितीय) तथा टीकाकार आचार्य अभयदेव और चूर्णिकार जैसे आगमनिष्णात, एवं विद्वान् परमर्षियों ने आगम के उल्लेख से भिन्न इस प्रकार की मान्यता आखिरकार क्यों अभिव्यक्त की ? क्योंकि उन्होंने इसका कोई आधार या कारण अपनी रचनाओं में नहीं लिखा है इसलिये निश्चित रूप से तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह एक ऐसा जटिल प्रश्न है जो शताब्दियों से विचारकों के मस्तिष्क में अनेक प्रकार की कल्पनाओं और ऊहापोहों का जनक वना हुआ है। इस प्रश्न का समीचीनतया समाधान न हो पाने के कारण ही आगमिक इतिहासविदों के समक्ष आज भी एक उलझन भरी ऐतिहासिक गुत्थी अनवुझी पहेली का रूप धारण किये उपस्थित है। वह जटिल ऐतिहासिक गुत्थी यह है कि – आचारांग के पदपरिमाण विषयक प्रश्न को हल करने के प्रयास में सर्वप्रथम निर्युक्तिकार ने और तदनन्तर निर्युक्तिकार का अनुसरण करते हुए चूर्णिकार, टीकाकार और वृत्तिकार आदि ने विना किसी प्रामाणिक आधार के अपनी एक ऐसी मान्यता अभिव्यक्त कर दी जो आगम के उल्लेखों से विपरीत है। निर्युक्तिकार, वृत्तिकार आदि ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि गणधरकृत आचारांग तो नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक ही है और केवल उसी का पदपरिमाण १८,००० पद है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध आचारांग नहीं अपितु स्थविरकृत आचाराग्र

है जिसमें नवब्रह्मचर्याध्ययनों में संक्षेपतः उल्लिखित तथ्यों का विशद व्याख्यात्मक विवेचन मात्र है। केवल यही नहीं उन्होंने अपनी ओर से यह मान्यता भी प्रकट की है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध ५ चूलाओं में विभक्त है। इसकी पदसंख्या प्रथम श्रुतस्कन्ध से अधिक और अधिकतर है।[१]

निर्युक्तिकार आदि के आगमों से भिन्न इस अभिमत का अनुकरण करते हुए हरमन जैकोबी आदि आधुनिक विद्वान् विचारकों ने भी अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है कि भाषा एवं शैली की दृष्टि से आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अति प्राचीन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध उससे पश्चाद्वर्ती काल की रचना है।[२]

पद-प्रमाण सम्बन्धी निर्युक्ति की मान्यता को मूल आगम के उल्लेखों से वाधित तथा आधारविहीन सिद्ध करते हुए ऊपर यह सप्रमाण बताया जा चुका है कि आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों का पदपरिमाण १८,००० पद है न कि केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का।

आचारांग की पदसंख्या के प्रश्न को हल करने के प्रयास में ही निर्युक्तिकार तथा वृत्तिकारों ने इसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविरकृत पंचचूलात्मक आचाराग्र माना। इस कारण ये दोनों प्रश्न परस्पर संपृक्त हैं अतः द्वितीय श्रुतस्कन्ध की मौलिकता के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व यह देखना परमावश्यक है कि यह पदसंख्या का प्रश्न किस कारण उत्पन्न हुआ।

एतद्विषयक सभी तथ्यों का समीचीनतया पर्यालोचन करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि निशीथ को आचारांग की पांचवीं चूला मानने और उसके पश्चात् उसे आचारांग से पृथक् किया जाकर स्वतन्त्र छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठापित किये जाने की मान्यता के कारण पदसंख्या विषयक मतभेद और उसके फलस्वरूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचारांग से भिन्न उसका परिशिष्ट अथवा आचाराग्र मानने की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ। समवायांग सूत्र की समवाय संख्या १८ में आये हुए "चूलिकासहित आचारांग भगवान् के १८,००० पद है।" इस उल्लेख के कारण अधिकांशतः जनमानस में यही धारणा वनी हुई थी कि चूलिका सहित आचारांग की पदसंख्या १८,००० है। समवायांग की समवाय संख्या २५ में आचारांग के २५ अध्ययनों के नाम दो गाथाओं में गिना चुकने और गाथाओं की परिसमाप्ति के पश्चात् "निसीहज्झयणं पणवीसइमं" – इस

---

[१] आचारांग निर्युक्ति (प्रथम श्रु० स्कन्ध), गा० ११ तथा आचा० नि० (२ श्रु० स्कंध), गा० २ से ७

२. The Acharanga Sutra contains two books, or Srutskandhas, very different from each other in style and in the manner in which the subject is treated. The sub-divisions of the second book being called Chulas (चूलाएं), or appendices, it follows that only the first book is really old...........

The first book, then, is the oldest part of the Acharanga Sutra; it is probably the old Acharanga itself to which other treatises have been added.

[Sacred Book of the East, Vol. 22, Introduction; P. 47, —By Hermann Jacobi]

प्रकार के विवादास्पद पाठ को देखकर और समवाय संख्या ५७ में "आयार-चूलियावज्जाणं" इस पद के द्वारा आचारांग के २५ अध्ययनों में से एक अध्ययन के चूलिकास्वरूप होने तथा आचारांग के अध्ययनों से पृथक् रखने के संकेत से यह अनुमान लगा लिया गया कि निशीथ आचारांग की चूलिका के रूप में जब विद्यमान था उस समय आचारांग की पदसंख्या १८,००० थी और जब निशीथ को आचारांग से पृथक् किया जाकर छेदसूत्र के रूप में उसकी प्रतिष्ठापना हो चुकी है तो उस दशा में स्वतः ही आचारांग की पदसंख्या १८,००० से कम हो गई।

वस्तुतः आचारांग की ५ तो क्या एक भी ऐसी चूलिका नहीं थी जो आचारांग का अभिन्न अंग हो और उसके पदों की संख्या की गणना आचारांग की पदसंख्या में सम्मिलित मानी गई हो। इस ओर न तो निर्युक्तिकार का ही ध्यान गया और न वृत्तिकार, चूर्णिकार अथवा डॉ० हर्मन जैकोबी का ही। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् हर्मन जैकोबी ने अपने इस अभिमत के समर्थन में जो युक्तियां दी हैं उनको देखने से स्पष्टतः यह प्रकट होता है कि वे निर्युक्तिकार, वृत्तिकार तथा टीकाकार के विचारों से और विशेषतः आचारांग चूर्णिकार द्वारा प्रारम्भ में प्रस्तुत मंगल प्रकरण से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं जिसमें चूर्णिकार ने प्रथम श्रुतस्कन्ध के - "सुयं में आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं" इस प्रथम सूत्र को आदिमंगल तथा "से बेमि जे य अतीता अरहंता भगवंता" एवं "से बेमि से जहा विहरे" - इन मध्यवर्ती सूत्रों को मध्यमंगल और "अभिनिव्वुडे अमाई य" - प्रथम श्रुतस्कन्ध के इस अंतिम पद को अंत-मंगल बताते हुए केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही परिपूर्ण आचारांग मानने विषक अपना अभिमत व्यक्त किया है।

तथ्यों पर गहराई से विचार करने पर उपरोक्त सभी विद्वानों की मान्यता प्रमाण के स्थान पर केवल कल्पना पर आधारित नितान्त निराधार धारणा ही सिद्ध होती है। वस्तुतः आगमों के रचनाकाल में आचारांग की एक भी ऐसी चूला विद्यमान नहीं थी जिसे आचारांग का अभिन्न अंग मानकर उसके कलेवर की आचारांग के १८,००० पदपरिमाण में गणना की गई हो। इसका प्रबल प्रमाण आगम का मूल पाठ है। यह पहले बताया जा चुका है कि समवायांग और नन्दी सूत्र में जो द्वादशांगी का सर्वांगपूर्ण परिचय दिया है उसमें आचारांग का स्वरूप - दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशनकाल, ८५ समुद्देशनकाल और १८,००० पदयुक्त बताया गया है। उपरोक्त दो सूत्रों के अतिरिक्त अन्य किसी आगम में द्वादशांगी का इतना विस्तृत परिचय नहीं मिलता।

द्वादशांगी के इस परिचय में बारहवें अंग 'दृष्टिवाद' के तृतीय भेद 'पूर्वगत' के १४ पूर्वों में से आदि के चार पूर्वों को छोड़ कर शेष किसी भी अंग की चूलिकाओं का अस्तित्व नहीं बताया गया है।[1] जहां द्वादशांगी के परिचय में

---

[1] चत्तारि दुवालस, अट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि।
आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ॥ [नन्दीसूत्र (द्वादशांगी प्रकरण)]

प्रत्येक अंग के श्रुतस्कन्धों, अध्ययनों, उद्देशकों, पदों एवं अक्षरों तक की संख्या बताई गई है और प्रथम चार पूर्वों की चूलिकाओं तथा उनकी संख्या का उल्लेख किया गया है वहां आचारांग की चूलिका के सम्बन्ध में किसी प्रकार का उल्लेख न होना इस बात का स्वतःसिद्ध प्रमाण है कि वस्तुतः आचारांग की एक भी चूलिका नहीं थी। द्वादशांगी के इस परिचय से यह प्रमाणित होता है कि दृष्टिवाद के उपरोक्त चार पूर्वों को छोड़ कर अन्य किसी भी अंग की एक भी चूलिका नहीं थी। चूलिकाओं की वस्तुतः एकादशांगी के लिये आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि दृष्टिवाद में एकादशांगी के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित, उनमें उक्त, अनुक्त एवं संक्षेपतः उक्त सभी विषयों का बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया था।[1] तदनुसार जहां आचारांग में आचार-धर्म (साध्वाचार) के विधिमार्ग का प्रतिपादन किया गया है वहां नवम पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत में साध्वाचार के अपवादों और उनकी शुद्धि हेतु सम्पूर्ण विधि-विधानों का विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन किया गया था।

चतुर्दश पूर्व जब तक विच्छिन्न नहीं हुए तब तक उपरोक्त बीसवां प्राभृत आचारांग का अभिन्न अंग नहीं होते हुए भी आचारसुमेरु के शिखर (चूला) के रूप में आचारांग का सहायक अथवा पूरक माना जाता रहा। कालान्तर में काल-दोषजन्य बुद्धिमान्द्य के कारण पूर्वज्ञान क्षीण होने लगा और पूर्वधर आचार्यों ने ज्ञानबल से यह देखा कि सन्निकट काल में ही पूर्वों का ज्ञान विच्छिन्न होने वाला है तो विशाख नाम के आचार्य ने प्रत्याख्यान-पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत से सारभूत अंशों को उद्धृत कर 'आचार प्रकल्प' अर्थात् निशीथ का निष्पादन किया और उसे छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया।[2] पूर्वज्ञान

---

[1] पाटलीपुत्र में हुई प्रथम अंगवाचना के समय एकादशांगी के पाठों को व्यवस्थित करने के पश्चात् जब वहां उपस्थित स्थविरों को यह विदित हुआ कि 'दृष्टिवाद' उनमें से किसी श्रमण के स्मृतिपटल पर अंकित नहीं है तो उन्होंने खिन्न हो जो शोकोद्गार प्रकट किये उन्हें "तित्थोगालिय पइन्ना" में निम्नलिखित रूप से प्रकट किया गया है :—

ते बिंति सव्वसारस्स दिट्ठिवायस्स नत्थि पडिसारो।
कह पुव्वगएण विणा, पवयणसारं धरेहामो ॥

अर्थात् जब उन्हें विदित हुआ कि परम सारभूत दृष्टिवाद उनमें से किसी की स्मृति में नहीं रहा है तो उन्होंने खिन्न हो परस्पर एक दूसरे से पूछा—"अरे! अब हम लोग पूर्वज्ञान के बिना प्रवचन के सार को किस प्रकार धारण करेंगे?" इस गाथा से प्रकट होता है कि दृष्टिवाद में प्रत्येक अंगशास्त्र के सम्बन्ध में परमोपयोगी तथ्यों का प्रतिपादन किया गया था। —सम्पादक

[2] दंसण चरित्तजुत्तो, गुत्तो गुत्तीसु (परि) संरक्खहिए।
नामेण विसाहगणी, महत्तरओ णाणमंजूसा ॥
तस्स लिहियं निसीहं धम्मधुरा धरणपवर पुज्जस्स।
[हस्तलिखित निशीथ की कुछ प्रतियों की प्रशस्ति]

के विच्छिन्न हो जाने के पश्चात् भी परंपरागत धारणा के अनुसार पूर्वगत से उद्धृत होने की स्थिति में भी निशीथ को आचारांग की चूला ही माना जाता रहा। जिस प्रकार गंगा के जल को यमुना जल और यमुना के जल को गंगाजल नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार आचारांग और निशीथ को एक नहीं माना जा सकता। क्योंकि दोनों का परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध होने के उपरान्त भी आचारांग श्रुत-गंगा की एकादशांगी रूप एक धारा का जल है तो निशीथ चतुर्दश पूर्व रूपी दूसरी धारा का जल। स्वयं निर्युक्तिकार ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि आचारप्रकल्प (निशीथ) प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक वीसवें प्राभृत से निर्व्यूढ किया गया है।[1]

उपरिलिखित तथ्यों से यह निस्संदिग्धरूपेण सिद्ध हो जाता है कि आचारांग की अभिन्न अंग के रूप में कोई चूला न तो पूर्वकाल में कभी थी और न वर्तमान में ही है। इसका प्रवल प्रमाण है समवायांग और नन्दी सूत्र में उल्लिखित द्वादशांगी का परिचय जिसमें कि आचारांग की किसी चूला के अस्तित्व का संकेत तक नहीं किया गया है।

आचारांग की अभिन्न अंग के रूप में चूलिका का अस्तित्व न होते हुए भी अपवाद की स्थिति में साध्वाचार में लगे अतिचारों के विशुद्धिकरण की दृष्टि से पूर्वकाल में आचारप्राभृत को और पश्चाद्वर्तीकाल में उसी के सारभूत स्वरूप निशीथ को परमावश्यक समझ कर आचारांग की वस्तुतः चूला न होते हुए भी चूला माना जाता रहा। यही कारण है कि समवायांग सूत्र की समवाय संख्या १८, २५ और ८५ में "आयारस्स भगवओ सचूलियागस्स" – इस पद के द्वारा एक चूलिका की सत्ता का संकेत किया गया। यहां संकेत शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि मूल आगम में उस चूलिका के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है। समवाय संख्या ५७ में जो–"आयारचूलावज्जाणं" इस पद के प्रयोग से सूत्रकृतांग के २३, स्थानांग के १० और आचारांग के २५ अध्ययनों में से चूलिकात्मक एक अध्ययन को छोड़ कर शेष २४ को मिला कर प्रथम के तीन अंगों के ५७ अध्ययन वताये गये हैं।[2] इस सूत्र में आचारांग का २५ वां अध्ययन चूलात्मक वताया गया है पर समवायांगसूत्र की समवाय संख्या २५ में आचारांग के प्रथम अध्ययन "शस्त्रपरिज्ञा से लेकर विमुक्ति नामक २५वें अध्ययन तक के २५ नामों का उल्लेख करने के पश्चात् "निसीहं पणवीसइमं" इस प्रकार का पद देकर निशीथ को आचारांग का २५वां अध्ययन वताया गया है। २५वीं समवाय में जो आचारांग के २५ अध्ययनों के नाम गिनाये गये हैं उन्हीं नामों के २५ अध्ययन वर्तमान काल में आचारांग में विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में जो ५७वें समवाय

---

[1] आयारपकप्पोउ, पच्चखाणस्स तइयवत्थूओ।
आयारणामधेज्जा, विसइमा पाहुडच्छेया॥　　[आचारांग–निर्युक्ति, श्रु० २]

[2] तिण्हं गणिपिडगाणं आयारचूलियावज्जाणं सत्तावन्नं अज्झयणा पण्णत्ता तंजहा आयारे सूयगड़े ठाणे।　　[समवायांग, समवाय ५७]

में २५वें अध्ययन को चूलिकास्वरूप और २५वीं समवाय में विमुक्ति अध्ययन को आचारांग का पच्चीसवां अध्ययन बताने के पश्चात् जो निशीथ को भी २५वां अध्ययन वताया गया है, इसका वास्तविक अर्थ क्या है, इसमें किसी लिपिकार की भूल है अथवा संकलनाकाल में इन दोनों सूत्रों के पाठ में किसी प्रकार की भूल हुई है यह तो अतिशय ज्ञानी ही वता सकते हैं पर इस प्रकार के पाठों से यह अवश्य प्रकट होता है कि नवम पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत को आचारांग का अंग न होते हुए भी परमावश्यक होने के कारण जो आचारांग की चूला माना गया है उसके प्रस्तुतीकरण (Interpretation) को लेकर मान्यता-भेद उत्पन्न हो गया था।

अव हमें निष्पक्ष दृष्टि से यह देखना है कि निशीथ वस्तुतः आचारांग का ही अंग है अथवा उससे पूर्णतः पृथक्। इस सम्वन्ध में आगम और आगम से सम्वद्ध इतर साहित्य के पर्यालोचन से यह प्रकट होता है कि निशीथ आचार-प्रकल्प अथवा प्रकल्प का ही दूसरा नाम है। ये तीनों शव्द समानार्थक और एक दूसरे के पर्यायवाची हैं।

स्थानांग[1] और समवायांग[2] में आचार प्रकल्प के क्रमशः ५ और २८ भेदों का निरूपण करते हुए जो नाम दिये हैं उनसे यह प्रकट होता है कि आचारप्रकल्प और आचारांग इन दोनों की विषयवस्तु विभिन्न होने के कारण ये दोनों अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी आचारप्रकल्प २८ प्रकार का वताया गया है।[3] आवश्यक वृहद्वृत्ति में २८ प्रकार का आचारप्रकल्प वताते हुए २५ नाम तो वही गिनाये गये हैं जो कि आचारांग के २५ अध्ययनों के हैं। इन पच्चीस के साथ निशीथ के तीन भेद जोड़कर २८ प्रकार के आचार-प्रकल्प की संख्या पूरी की गई है।[4] इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचार-प्रकल्प आचारांग का अभिन्न अंग नहीं अपितु इससे भिन्न है।

---

[1] पंचविहे आयारकप्पे पं० तं० मासिए उग्घाइए मासिए अणुग्घाइए, चउमासिए उग्घाइए, चउमासिए अणुग्घाइए, आरोवणा ॥ [स्थानांग, ठाणा ५]

[2] अट्ठावीसविहे आयारकप्पे पं० तं० मासिया आरोवणा (१)...अकसिणा आरोवणा (२८) [समवायांग, सम० २८]

[3] अट्ठावीसा आयारकप्पा। [प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ५]

[4] सत्थपरिन्ना लोगविजओ अ सिओसणिज्जं संमत्तं।
आवंति धुय विमोहो, उवहाणसुयं महपरिन्ना ॥ ५१
पिंडेसणसिज्जिरिया, भासज्जाया य वत्थपाएसा।
उग्गहपडिमासत्तिक्कसत्तयं भावण विमुत्ति ॥५२
उग्घायमणुग्घायं आरोवण तिविहमो निसीहं तु।
इअ अट्ठावीसविहो, आयारपकप्पनामोऽयं ॥५३ [आवश्यक वृहद्वृत्ति, अ० ३]

व्यवहारकल्प[1] और पंचकल्पभाष्य[2] में भी आचारांग-निर्युक्तिकार की तरह आचारप्रकल्प को नवम पूर्व से निर्व्यूढ माना गया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचारप्रकल्प (निशीथ) आचारांग का अंग नहीं अपितु अपना पृथक अस्तित्व रखता है।

"धर्म प्रकरण" में "आचारप्रकल्प" शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है :– "आचार आचारांगम्, प्रकल्पो निशीथाध्ययनम्-तस्यैव पंचमचूला, आचारेण सहितः प्रकल्प आचारप्रकल्पः निशीथाध्ययनसहिते आचारांगे।

नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि ने समवायांग-टीका में 'आचारप्रकल्प' शब्द का दो प्रकार से अर्थ करते हुए लिखा है – "आचारः प्रथमांगस्तस्य प्रकल्पोऽध्ययनविशेषो निशीथमित्यपराभिधानस्य, वा साध्वाचारस्य ज्ञानादि विषयस्य प्रकल्पोऽध्यवसायमित्याचारप्रकल्पः।"

उपरोक्त व्याख्याओं में दोनों टीकाकारों ने आचार शब्द का आचारांग और प्रकल्प का अर्थ निशीथाध्ययन किया है, इससे भी दोनों का एक दूसरे से पार्थक्य तो सिद्ध होता ही है। निर्युक्तिकार के अभिमत से प्रभावित होकर उन्होंने निशीथ को आचारांग का अध्ययनविशेष अथवा पांचवीं चूला लिख दिया है पर जो २८ प्रकार का आचारप्रकल्प ऊपर बताया गया है उससे भी निशीथ के आचारांग का अध्ययन होने की संगति बिल्कुल नहीं बैठती। क्योंकि २८ प्रकार के आचारप्रकल्प में शस्त्रपरिज्ञा से लेकर विमुक्ति तक के आचारांग के २५ अध्ययन और उग्घाइये, अणुग्घाइये और आरोवणा – ये निशीथ के तीन प्रकार – इस तरह कुल मिलाकर २८ भेद गिना दिये गये हैं अतः निशीथ की आचारांग के २५ अध्ययनों में किसी भी तरह गणना नहीं की जा सकती। आगम में आचारांग के २५ अध्ययन होने का उल्लेख है न कि २६ का। ऐसी दशा में यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि आचारांग से आचारप्रकल्प अर्थात् निशीथ सदा से पृथक् ही माना जाता रहा है।

आचारांग और निशीथ के पृथक्-पृथक् और भिन्न-भिन्न होने का एक सबसे अधिक सशक्त और, अकाट्य प्रमाण यह है कि आचारांग कहीं से निर्व्यूढ नहीं है, उद्धृत नहीं है जब कि निशीथ को निर्युक्तिकार, वृत्तिकार, चुर्णिकार आदि सभी विद्वान् एकमत हो नवम पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक वीसवें प्राभृत से उद्धृत अथवा निर्व्यूढ मानते हैं। ऐसी स्थिति में निशीथ को आचारांग का अध्ययन अथवा अंग नहीं माना जा सकता। हां, साध्वाचार के लिये परमोपयोगी होने के कारण इसे आचारांग की चूला माना जा सकता है, वह भी पांचवीं नहीं अपितु पहली और अंतिम अर्थात् एक मात्र।

---

[1] आयारपकप्पो उ नवमे पुव्वंमि आसि सोधीय।
तत्तोव्वि य निज्जूढो, इहाणियतो किं न सद्धिभवे॥ [व्यवहारकल्प]

[2] आयारदसाकप्पो ववहारो नवमपुव्वाणिसंदा चारित्तरक्खणट्ठा सुयकडस्सुवरिठविताइं…
[पंचकल्पभाष्य]

उपरोक्त सभी तथ्यों पर गम्भीरतापूर्वक मनन के पश्चात् सिद्ध हो जाता है कि वस्तुतः आचारांग की ऐसी एक भी चूला नहीं थी और न है, जिसकी कि गणना आचारांग के दो श्रुतस्कन्धों, २५ अध्ययनों, ८५ उद्देशकों अथवा सम्पूर्ण आचारांग के १८००० पदों में सम्मिलित की जा सके। प्रारम्भ से आचारप्राभृत, अपर नाम आचारप्रकल्प, प्रकल्प अथवा निशीथ जो कि पूर्वज्ञान का अंश है, आचारांग की ऐसी चूला माना जाता रहा है जिसकी पदसंख्या आचारांग की पदसंख्या में सम्मिलित नहीं मानी जाती।

इस प्रकार आगमों में उपलब्ध आचारांग की चूलिका से सम्बन्धित उल्लेखों के पर्यवेक्षण से जो स्थिति स्पष्टतः प्रकट होती है वह इस प्रकार है:–

१. समवायांग और नन्दीसूत्र में आगमों के परिचय के प्रकरण में जो आचारांग का परिचय दिया गया है उसमें आचारांग की एक भी चूलिका के अस्तित्व का उल्लेख नहीं किया गया है। उसमें यह स्पष्ट उल्लेख है कि दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशन काल, तथा ८५ समुद्देशनकाल वाले आचारांग की पदसंख्या १८००० है।

२. पूरे नन्दी सूत्र में एक भी ऐसा उल्लेख नहीं है जिससे कि आचारांग की एक भी चूलिका का अस्तित्व प्रकट होता हो।

३. समवायांग की समवाय संख्या १८, २५ और ८५ में आचारांग की चूलिका के अस्तित्व का उल्लेख अवश्य है। उसके अतिरिक्त चूलिका के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं किया गया है। समवाय संख्या २५ में शस्त्रपरिज्ञा से प्रारम्भ कर २५वें विमुक्ति नामक अध्ययन तक आचारांग के पच्चीसों अध्ययनों के नामों का उल्लेख करने के पश्चात् सन्देहास्पद स्थिति में जो उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है – "निसीहं पणवीसइमं" – अर्थात् पच्चीसवां अध्ययन निशीथ।

४. समवाय संख्या ५७ में "आयारचूलावज्जाणं" अर्थात् "आचार चूला को छोड़कर" – इस उल्लेख के साथ आचारांग के २५ अध्ययनों में से आचार-चूला स्वरूप एक अध्ययन को छोड़कर शेष २४ अध्ययनों के साथ सूत्रकृतांग के २३ और स्थानांग के १० अध्ययनों को मिलाकर प्रथम तीन अंगों के अध्ययनों की संख्या ५७ बताई गई है। इस समवाय में भी यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि आचार-चूला आचारांग का कौनसा अध्ययन है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि आचारांग के जिन २५ अध्ययनों के नाम समवाय संख्या २५ में उल्लिखित किये गये हैं वे पच्चीसों ही अध्ययन उन्हीं नामों के साथ आचारांग में आज भी विद्यमान हैं।

५. संभव है समवाय सं० २५ और ५७ में परिलक्षित होने वाली चूलिका-विषयक संदेहास्पद स्थिति ही पदसंख्याविषयक, चूलिकाविषयक और आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचारांग से भिन्न आचारांग की चूलिकाएं-आचाराग्र मानने

आचारांग का परिशिष्ट मात्र मानने विषयक और निशीथ को आचारांग की चूलिका मानने विषयक विवादों की जननी हो।

६. आचारांग की चूलिका के सम्बन्ध में उपरोक्त उल्लेखों के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का उल्लेख आगमों में दृष्टिगोचर नहीं होता।

७. आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पंच चूलात्मक होने अथवा आचारांग से भिन्न आचाराग्र, चूलिकास्वरूप, अथवा परिशिष्टमात्र होने का आगम में कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

८. मूल आगम में कहीं एक भी ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जिससे यह प्रकट होता हो कि आचारांग के केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध की पदसंख्या १८००० है।

९. समवाय संख्या २५ में निशीथ विषयक संदिग्ध पाठ और समवाय संख्या ५७ में "आयारचूलावज्जाणं" इस पद द्वारा आचारांग के २५ अध्ययनों में से १ अध्ययन को आचारचूला मान कर उसे अध्ययनों की गणना में न रखने विषयक पाठ संभवतः चूलिका के स्वरूप के प्रस्तुतीकरण (Interpretation) में किसी प्रकार की भ्रान्ति के प्रतिफल हों।

१०. द्वादशांगी के रचनाकाल में आचारांग के जो २५ अध्ययन थे उनमें से महापरिज्ञा सातवां अध्ययन विलुप्त हो चुका है और शेष २४ अध्ययन आज भी आचारांग में विद्यमान हैं।

११. आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही गणधरकृत मानते हुए निर्युक्तिकार ने आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को जो स्थविरकृत और आचारांग से भिन्न पंचचूलात्मक आचाराग्र सिद्ध करने की मान्यता प्रकट की है वह मूल आगम की भावना से विपरीत और आगमिक आधारविहीन होने के कारण काल्पनिक अमान्य मान्यताओं की कोटि में परिगणित की जा सकती है।

१२. आगम में जिन-जिन स्थलों पर दो श्रुतस्कन्धों, २५ अध्ययनों, ८५ उद्देशनकालों, ८५ समुद्देशनकालों और १८ हजार पदों से युक्त स्वरूप वाले आचारांग को उद्दिष्ट कर के कोई भी बात कही गई है, केवल उन्हीं स्थलों पर "आयारस्स भगवाओ", "से किं आयारे" और "आयारे" इन पदों का प्रयोग किया गया है[1] और जहां केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध को लक्ष्य कर कोई बात कही गई है वहां इन पदों में से किसी भी पद का प्रयोग न किया जाकर "नवण्हं बंभचेराणं" अर्थात् "नवब्रह्मचर्याध्ययनों का" – इस पद का प्रयोग किया गया है।[2]

उपरोक्त प्रमाणों से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार सम्पूर्ण द्वादशांगी अर्थतः तीर्थंकरप्रणीत और शब्दतः गणधरों द्वारा ग्रथित है

---

[1] (क) नंदी एवं समवायांग के द्वादशांगी परिचय प्रकरण।
(ख) समवायांग, सम० १८, २५ और ८५

[2] नवण्हं बंभचेराणं एकावन्नं उद्देसणकाला पण्णत्ता। [समवायांग, सम० ५१]

उसी प्रकार आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी द्वादशांगी का अभिन्न अंग होने के कारण अर्थतः तीर्थंकरप्रणीत और शब्दतः गणधरों द्वारा ग्रथित है। उपर्युल्लिखित प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य आगमों में भी इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध हैं जिनसे इस तथ्य की पुष्टि होती है।

"प्रश्नव्याकरण सूत्र" में जिस स्थल पर यह विवेचन आया है कि अमुक-अमुक प्रकार का सावद्य आहार ग्रहण करना साधु को नहीं कल्पता, वहां शिष्य ने प्रश्न किया है—"तो फिर किस प्रकार का आहार ग्रहण करना कल्पता है ?" इस प्रश्न के उत्तर में आचारांग के दशवें, तदनुसार द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पहले पिण्डपात अध्ययन का उल्लेख करते हुए बताया गया है – "'पिण्डपात' अध्ययन के ११ उद्देशकों में जो आहार ग्रहण करने की निर्दोष विधि बताई गई है उसके अनुसार साधु को आहार ग्रहण करना चाहिये।"[1]

"स्थानांग सूत्र" चतुर्थ स्थान में[2] आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के शय्या, वस्त्रैषणा, आदि चार अध्यायनों में वर्णित विषयों का तथा सातवें स्थानक में आचारांग – द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात सप्तैकका अध्ययनों तथा पिण्डैषणा आदि का उल्लेख किया गया है।[3]

'दशवैकालिक सूत्र' का 'छज्जीवणिकाय' नामक चौथा अध्ययन आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक पन्द्रहवें अध्ययन के आधार पर निर्मित किया गया है। दशवैकालिक का 'पिण्डैषणा' नामक पांचवां अध्ययन तो वस्तुतः आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'पिण्डैषणा' नामक प्रथम अध्ययन का सुगठित रूपान्तर है। दोनों आगमों के इन अध्ययनों का नामसाम्य और विषयसाम्य इस तथ्य के सबल साक्षी हैं कि दशवैकालिक के संकलयिता अथवा निर्माता – आचार्य सय्यंभव (भ० महावीर के चतुर्थ पट्टधर) के समक्ष आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध विद्यमान था। इसी प्रकार दशवैकालिक सूत्र का 'सुवक्कसुद्धी' नामक सातवां अध्ययन भी आचारांग – द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'भाषैषणा' नामक चतुर्थ अध्ययन का पद्यानुवाद प्रतीत होता है।

अल्पायुष्क मणकमुनि के हित को दृष्टि में रखते हुए आचारांग के द्वितीय श्रुत० अथवा पूर्वो के आधार पर आ० सय्यंभव ने "दशवैकालिक सूत्र" का ग्रथन किया अतः वह आचार्य सय्यंभव की रचना माना जाता है। निर्युक्तिकार के कथनानुसार यदि शिष्यों के हित के लिए किसी स्थविर ने आचारांग के द्वितीय

---

[1] अह केरिसयं पुणाइ कप्पइ ? जं तं इक्कारस पिंडवायसुद्धं……
[प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ५]

[2] चत्तारि सेज्जापडिमाओ प० चत्तारि वत्थपडिमाओ प० चत्तारि पायपडिमाओ प० चत्तारि ठाणपडिमाओ प० ॥२९८॥
[स्थानांग, ठा० ४।३]

[3] सत्त पिंडेसणाओ प० ।५४५। सत्त पाणेसणाओ प० ।५४६।
सत्त उग्गहपडिमाओ प० ॥५४७॥ सत्त सत्तिक्कया प० ॥५४८॥ [स्थानांग, स्थान ७]

श्रुतस्कन्ध की रचना की होती तो इसके साथ भी इसके रचनाकार का नाम अवश्य जुड़ा हुआ होता और प्रश्नव्याकरण-सूत्र, स्थानांग, समवायांग आदि एकादशांगी के प्रमुख अंगों में इसके अध्ययन, विषय आदि का उल्लेख एवं परिचय उपलब्ध नहीं होता।

आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों की शैली और भाषा में द्विरूपता देखकर कतिपय विद्वानों ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध से पश्चाद्वर्तीकाल की कृति है। वस्तुतः यह तर्क एकान्ततः सभी जगह उपयोग में नहीं लाया जा सकता क्योंकि ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जहां एक ही सूत्र में समास और व्यास दोनों ही प्रकार की वर्णनशैलियां और क्लिष्ट एवं सरल-सुगम भाषाशैलियां अपनाई गई हैं। ज्ञाताधर्मकथाङ्ग के प्रथम १९ अध्ययनों की वर्णनशैली और इनके पीछे के अध्ययनों की वर्णनशैली में इस प्रकार का अन्तर स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। ज्ञाताधर्मकथांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रत्येक अध्ययन में विषयवस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन है जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध में अतिसंक्षेपतः धर्मकथाओं का उल्लेख है। केवल इस आधार पर ज्ञाताधर्मकथांग के दोनों श्रुतस्कन्धों के भिन्नकर्तृक होने की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी तरह आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में पांच प्रकार के आचार का दार्शनिक एवं तात्विक दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है। दार्शनिक एवं तात्विक विवेचन प्रायः सूत्र शैली में ही पाये जाते हैं। सागर को गागर में समा देने की क्षमता सूत्रशैली में ही है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में सूत्रशैली को अपनाया गया है अतः वहां भाषा, भाव और शैली में गाम्भीर्य एवं गूढ़ार्थता-जन्य क्लिष्टता का आजाना अनिवार्य ही था। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में यह सब कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका कारण यह है कि इसमें साध्वाचार के लिये आवश्यक छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी सभी बातों का साधक को समीचीनतया ज्ञान कराने के लिए सरल भाषा में उचित विस्तार के साथ समझाया गया है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में दार्शनिक एवं तात्विक विषय का प्रतिपादन किया गया है अतः उसमें सूत्रशैली अपनाई गई है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में साधु के आचार के प्रत्येक पहलू को व्याख्यात्मक ढंग से समझाना आवश्यक था इसलिये यहां सरल और सुगम व्यास शैली को अपनाया गया है। वस्तुतः सूत्रात्मक समास शैली के माध्यम से साध्वाचार की सब बातें साधारण साधक को सरलता के साथ हृदयंगम नहीं कराई जा सकतीं।

दोनों श्रुतस्कन्धों में दृष्टिगत होने वाली दो शैलियों का यही कारण है। वस्तुतः ये दोनों श्रुतस्कन्ध आर्य सुधर्मा की ही कृति हैं।

निष्कर्ष

उपरिचर्चित सभी तथ्यों के समीचीनतया पर्यालोचन से जो निष्कर्ष निकलता है वह इस प्रकार है :-

१. आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्ध द्वादशांगी के रचनाकाल में गणधरों द्वारा सर्वप्रथम ग्रथित किये गये थे। आगम में जो आचारांग की पदसंख्या १८,००० उल्लिखित है वह वस्तुतः दोनों श्रुतस्कन्धों सहित सम्पूर्ण आचारांग की है न कि केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध की।

२. द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पंचचूलात्मक एवं आगमों के रचनाकाल से पश्चाद्वर्ती काल में स्थविरकृत आचाराग्र मात्र होने तथा प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मूल आचारांग मानते हुए केवल उसी की पदसंख्या १८,००० होने की जो मान्यता निर्युक्तिकार आदि द्वारा अभिव्यक्त की गई है वह आगमिक एवं अन्य किसी आधार पर आधारित न होने के कारण निराधार, काल्पनिक एवं अमान्य है।

३. वर्तमानकाल में आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के स्वरूप के सम्बन्ध में जो यह मान्यता प्रायः सर्वत्र प्रचलित है कि संपूर्ण द्वितीय श्रुतस्कन्ध चार चूलाओं में विभक्त है, यह मान्यता किसी शास्त्र द्वारा सम्मत न होने के कारण शास्त्रीय मान्यता की कोटि में नहीं आती। यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि आचारांग की मूलतः अभिन्न अंग के रूप में एक भी चूला न तो कभी थी और न है ही। आगमों के रचनाकाल से लेकर निशीथ के छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठापित किये जाने तक नवम पूर्व की तृतीय वस्तु का आचार नामक बीसवां प्राभृत संभवतः आचारांग की चूलिका के रूप में माना जाता रहा और कालान्तर में उस प्राभृत की निशीथ छेदसूत्र के रूप में प्रतिष्ठापना के पश्चात् निशीथ को आचारांग की चूलिका माना जाने लगा। इतना होने पर भी न कभी आचार-प्राभृत की पद-संख्या आचारांग की पदसंख्या के सम्मिलित मानी गई थी और न निशीथ की ही।

आचारांग का स्थान एवं महत्व

आचार जीवन को समुन्नत बनाने का साधन, साधना का मूलाधार और मोक्ष का सोपान है अतः आचारांग का जैन वाङ्मय में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" – इस सर्वजनसुविदित सुविख्यात सूक्ति के अनुसार सर्वप्रथम सदसद् का ज्ञान तथा तदन्तर उस ज्ञान के माध्यम से विवेकपूर्वक असद् अर्थात् हेय का परित्याग एवं सद् अर्थात् उपादेय का विवेकपूर्वक आचरण करने पर ही साधक द्वारा मोक्ष की उपलब्धि की जा सकती है। आचारांग में मोक्ष-प्राप्ति के बाधक असद् का एवं मोक्ष-प्राप्ति में परम सहायक सद् का ज्ञान कराते हुए समस्त हेय के परित्याग का और उपादेय के आचरण का उपदेश दिया गया है। इस दृष्टि से आचारांग के सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने के कारण ही समवायांग और नन्दी सूत्र में द्वादशांगी का परिचय देते हुए उसे द्वादशांगी के क्रम में सर्व-प्रथम स्थान पर रखा गया है।[1]

---

[1] [illegible] । [समवायांग एवं नन्दीसूत्र]

निर्युक्तिकार, टीकाकार और चूर्णिकार ने भी आचारांग का द्वादशांगी के क्रम में सर्वप्रथम स्थान माना है। निर्युक्तिकार के उल्लेखानुसार तीर्थंकर भगवान् सर्वप्रथम आचारांग का और तदनन्तर शेष अंगों का प्रवर्तन-प्रचलन करते हैं।[1] गणधर भी उसी क्रम से अंगों की रचना करते हैं। आचारांग को अंगों के क्रम में प्रथम स्थान देने का कारण बताते हुए निर्युक्तिकार ने लिखा है कि आचारांग में मोक्ष के उपायों का प्रतिपादन किया गया है और यही प्रवचन का सार है, इसलिए इसको द्वादशांगी के क्रम में प्रथम स्थान दिया गया है।[2]

आचारांग के चूर्णिकार और टीकाकार दोनों ने ही आगम और निर्युक्ति के उपरोक्त उल्लेखों का समर्थन करते हुये निम्नलिखित रूप में आचारांग की सर्वाधिक महत्ता प्रकट की है :-

"अनन्त अतीत में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सब ने सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश दिया, वर्तमान काल के तीर्थंकर जो महाविदेह क्षेत्र में विराजमान हैं, वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देते हैं और अनागत अनन्त काल में जितने भी तीर्थंकर होने वाले हैं वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देंगे, तदनन्तर शेष ११ अंगों का। गणधर भी इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए इसी अनुक्रम से द्वादशांगी को ग्रथित करते हैं।"[3]

समवायांग की टीका में अभयदेव सूरी ने[4] और नन्दी सूत्र की वृत्ति में

---

[1] सव्वेसिमायारो तित्थस्य पवत्तणे पढ़मयाए।
सेसाइं अंगाइं, एक्कारस अणुपुव्वीए ॥८॥ [आचारांग निर्युक्ति]

[2] आयारो अंगाणं, पढ़ममंगं दुवालसण्हं पि।
इत्थ य मोक्खो वाओ, एस य सारो पवयणस्स ॥९॥ [वही]

[3] (क) सव्व तित्थगरा वि य आयारस्स अत्थं पढ़मं आइक्खंति ततो सेसगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताए चेव परिवाडीए गणहरा वि सुत्तं गुंथंति। (आचारांग चूर्णि, पृ० ३)
(ख) कदा पुनर्भगवताचारः प्रणीत; इत्यत आह सव्वेसिमित्यादि-सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थप्रवर्तनादावाचारार्थः प्रथमतयाभूद्, भवति, भविष्यति च ततः शेषांगार्थ इति गणधरा अप्यनयैवानुपूर्व्या सूत्रतया ग्रथ्नंतीति।
[आचारांग शीलांकाचार्यकृत टीका, पृ० ६ राय धनपतिसिंह]

[4] अथ किं तत् पूर्वगतं? उच्यते, यस्मात्तीर्थंकरः तीर्थप्रवर्तनकाले गणधराणां सर्वसूत्राधारत्वेन पूर्वं पूर्वगतं सूत्रार्थं भाषते तस्मात्पूर्वाणीति भणितानि, गणधराः पुनः सूत्ररचनां विदधाना आचारादिक्रमेण रचयन्ति स्थापयन्ति च, मतान्तरेण तु पूर्वगतसूत्रार्थः पूर्वमर्हता भाषितो गणधरैरपि पूर्वगतश्रुतमेव पूर्वं रचितं पश्चादाचारादि, नन्वेवं यदाचारनिर्युक्त्यां सव्वेसिं आयारो पढ़मो इत्यादि, तत्कथम्? उच्यते, तत्र स्थापनामाश्रित्य तयोक्तमिह त्वक्षररचनां प्रतीत्य भणितं पूर्वं पूर्वाणि कृतानीति।"
[समवायांग टीका (अभयदेवसूरि विरचिता) पत्र १३१(१)]

आचार्य मलयगिरि[1] ने उपरोक्त मान्यता के समर्थन में अपना अभिमत व्यक्त करने के पश्चात् इस प्रकार की मान्यता का उल्लेख भी किया है कि आचारांग स्थापना की दृष्टि से पहला अङ्ग और रचनाक्रम की दृष्टि से १२ वां अङ्ग माना गया है।

मूल आगम समवायांग में तथा नन्दी सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है – "से णं अङ्गट्ठाए पढमे अङ्गे"। इस सूत्र की संस्कृत छाया इस प्रकार होगी – तन्नु अङ्गार्थे प्रथममङ्गम्।" इस सूत्र में प्रयुक्त "णं" शब्द को केवल वाक्यालंकार के लिए प्रयुक्त न मानकर निश्चयार्थक माना जाय तो इस सूत्र का अर्थ होता है – "वह आचारांग अङ्गक्रम की दृष्टि से निश्चितरूपेण प्रथम अङ्ग है।"

मूल आगम में इस प्रकार के निश्चयात्मक स्पष्ट उल्लेख के पश्चात् इस प्रकार के प्रश्न के लिए किंचित्मात्र भी अवकाश नहीं रहना चाहिये था कि आचारांग स्थापना की दृष्टि से प्रथम अङ्ग है अथवा रचना की दृष्टि से। पर यह प्रश्न पूर्वाचार्यों के समक्ष उठा और आज तक इसका कोई सर्वसम्मत समाधान नहीं हो पाया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक छोटी सी भ्रांति के कारण ही संभवतः इस प्रश्न का प्रादुर्भाव हुआ है। यद्यपि आगम में तो स्पष्ट उल्लेख है कि अङ्गों के क्रम में आचारांग का प्रथम स्थान है परन्तु आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने "त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र"[2] में इस प्रकार का उल्लेख किया है कि प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त होने पर गौतमादि गणधरों ने सर्वप्रथम चौदह पूर्वों की रचना की और तदनन्तर द्वादशांगी की। गणधरों द्वारा द्वादशांगी की रचना से पहले ही चतुर्दश पूर्वों की रचना की गई, इस कारण चतुर्दश पूर्वों की रचना को पूर्व के नाम से अभिहित किया गया है।

इस प्रकार की स्थिति में गहराई से विचार करने से पहले यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था कि जब पूर्वों की रचना अङ्गों से पहले कर ली गई तो द्वादशांगी के क्रम में आचारांग का प्रथम स्थान किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर यह है कि पूर्वों की प्रथम रचना से आचारांग का द्वादशांगी के क्रम में प्रथम स्थान मानने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती।

क्योंकि वारहवां अङ्ग 'दृष्टिवाद' है न कि पूर्व। वस्तुतः पूर्व तो दृष्टिवाद के पांच विभागों में से एक विभाग है ।[1] सबसे पहले पूर्वों की रचना गणधरों ने कर ली पर वारहवें अङ्ग दृष्टिवाद के शेष वहुत वड़े भाग का तो ग्रथन आचारांगादि के क्रम से वारहवें स्थान पर ही हुआ। इस प्रकार का तो एक भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता जिसमें वताया गया हो कि वारहवें अङ्ग दृष्टिवाद का गणधरों द्वारा सबसे पहले ग्रथन किया गया। ऐसी स्थिति में आगम के उल्लेख के अनुसार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रचना एवं स्थापना दोनों ही दृष्टियों से द्वादशांगी के क्रम में आचारांग का प्रथम स्थान है ।

आचारांग को द्वादशांगी में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है, वस्तुतः वह सब दृष्टियों से विचार करने पर पूर्णतः संगत प्रतीत होता है। आचार को निर्युक्तिकार द्वारा अङ्गों का सार माना गया है ।[2] क्योंकि अक्षय अव्यावाध शिवसुख की प्राप्ति का मूलाधार आचार है । उस आचार अर्थात् साध्वाचार का आचारांग में सांगोपांग समीचीनरूपेण निरूपण होने के कारण इसे द्वादशांगी में प्रथम स्थान दिया गया है। आचारांग सूत्र के विशिष्ट ज्ञाता मुनि को ही उपाध्याय और आचार्य पद के योग्य माना जाय, इस प्रकार के अनेक उल्लेख आगम साहित्य में उपलब्ध होते हैं। आचारांग का सर्वप्रथम अध्ययन करना साधु-साध्वियों के लिए अनिवार्य रखने के साथ-साथ इस प्रकार का भी विधान किया गया था कि यदि कोई, साधु अथवा साध्वी, आचारांग का सम्यक्‌रूपेण अध्ययन करने से पूर्व ही अन्य आगमों का अध्ययन-अनुशीलन करता है तो वह लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का अधिकारी वन जाता है ।[3] इतना ही नहीं आचारांग का अध्ययन एवं ज्ञान प्राप्त नहीं करने वाले साधु को किसी भी प्रकार का पद नहीं दिया जाता था। आचारांग के अध्ययन के पश्चात् ही प्रत्येक साधु धर्मानुयोगऔर द्रव्यानुयोग पढ़ने का अधिकारी समझा जाता था। नवदीक्षित मुनि की उपस्थापना भी आचारांग के "शस्त्र-परिज्ञा" अध्ययन द्वारा की जाती थी। वह पिण्डकल्पी (भिक्षा लाने योग्य) भी आचारांग का अध्ययन करने के पश्चात् माना जाता था। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वादशांगी में आचारांग का कितना महत्वपूर्ण स्थान माना जाता रहा है ।

वर्तमान में आचारांग के स्थान पर दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन, आगमों के अध्ययनक्रम में सर्वप्रथम प्रचलित होने के कारण आचारांग की सबसे पहले वाचना की अनिवार्यता नहीं रही है ।

आचारांग के परिशीलन एवं निदिध्यासन के पश्चात् विना किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से प्रभावित हुए निष्पक्षतापूर्वक विचार करने पर अन्तर्मन यही साक्षी देता

---

[1] परिकर्म-सूत्र-पूर्वानुयोग-पूर्वगत-चूलिकाः पंच ।
स्युर्दृष्टिवादभेदाः, पूर्वाणि चतुर्दशापि पूर्वगते ।।१६०।। [अभिधानचिन्तामणि]

[2] अंगाणं किं सारो ? आयारो,...... [आचारांग निर्युक्ति]

[3] निशीथ सूत्र, १६ – २० ।

है कि वस्तुतः आचारांग विश्वधर्म का प्रतीक है। विश्वबन्धुत्व की भावनाओं से ओतःप्रोत सच्चे और आदर्श मानवीय सिद्धान्तों का इसमें सजीव वर्णन होने के कारण आचारांग का केवल द्वादशांगी में ही नहीं अपितु संसार के समग्र धर्मशास्त्रों में एक बड़ा ऊंचा एवं महत्वपूर्ण स्थान है।

आचारांग के ह्रास एवं तथाकथित विच्छेद विषयक विविध मान्यताओं पर "द्वादशांगी का ह्रास" शीर्षक आगे के प्रकरण में यथाशक्य समुचित प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

२. सूत्रकृतांग

द्वादशांगी के क्रम में सूत्रकृतांग का दूसरा स्थान है। निर्युक्तिकार ने इस अंग के सूयगड के अलावा सूतगड, सुत्तकड़ और सुयगड–ये तीन और नाम भी बताये हैं।[१] समवायांग में आचारांग के पश्चात् सूत्र कृतांग का परिचय देते हुए कहा गया है कि इसमें स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध, मोक्ष आदि तत्वों का निरूपण एवं नवदीक्षितों के लिए हितकर उपदेश हैं। इसमें एक सौ अस्सी क्रियावादी मतों, चौरासी अक्रियावादी मतों, सड़सठ अज्ञानवादी मतों एवं बत्तीस विनयवादी मतों–इस प्रकार कुल मिलाकर तीन सौ त्रेसठ अन्य मतों पर चर्चा की गई है। इन सब की समीक्षा के पश्चात् यह बताया गया है कि अहिंसा ही धर्म का मूल स्वरूप और श्रेष्ठ तत्व है।

सूत्र कृतांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह, और द्वितीय श्रुतस्कंध में सात इस तरह कुल २३ अध्ययन, ३३ उद्देशनकाल, ३३ समुद्देशनकाल तथा ३६,००० पद हैं। समवायांग सूत्र की २३ वीं समवाय में सूत्र कृतांग के तेवीस अध्ययनों का नामोल्लेख भी किया गया है।

नंदिसूत्र में सूत्रकृतांग का परिचय देते हुए बताया गया है कि इसमें लोक, अलोक, लोकालोक, जीव अजीव, स्वसमय, तथा परसमय का निदर्शन और क्रियावादी, अक्रियावादी आदि ३६३ पाषण्ड मतों पर विचार किया गया है।

दिगम्बर परम्परा के अंग पण्णत्ति, धवला, जयधवला, राजवार्तिक आदि मान्य ग्रन्थों में जो सूत्रकृतांग का परिचय दिया गया है वह काफी अंशों में श्वेताम्बर परम्परा द्वारा दिये गए इस अंग के परिचय से मिलता-जुलता है।

दिगम्बर परम्परा के "प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी" नामक ग्रंथ में सूत्रकृतांग के २३ अध्ययन हैं, इस प्रकार का उल्लेख–"तेवीसाए सुद्दयड[२] ज्झाणेसु"–इस पद से किया है। इस पाठ की प्रभाचन्द्रकृत वृत्ति में इन तेवीस अध्ययनों के नाम

---

[१] सूयगडं अंगाणं वितियं, तस्स य इमाणि नामाणि।
सूतगडं, सुत्तकडं, सुयगडं चेव गोण्णाइं ॥ २ ॥
[सूत्रकृतांग आ० जवाहरलालजी म० द्वारा संपादित, प्रस्ता० पृ० ६]

[२] सूत्र का प्राकृत रूप सुद्द या सुत्त और कृत का प्राकृत रूप यड या कड, इस प्रकार संस्कृत शब्द सूत्रकृत का प्राकृत स्वरूप सुद्दयड होता है। [सम्पादक]

दिये गये हैं, जिनका श्वेताम्बर परम्परा की आवश्यक वृत्ति में दिये गए नामों से नगण्य अन्तर को छोड़ पूर्ण साम्य है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध – इसके १६ अध्ययनों में से प्रथम "समय" अध्ययन में पर-समय का परिचय देकर उसका निरसन किया गया है। यहां परिग्रह को बन्ध और हिंसा को वैरवृद्धि का कारण बताकर कुछ परवादियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। उनमें भूतवाद, आत्माद्वैतवाद, एकात्मवाद, देहात्मवाद, अकारक-वाद (सांख्य), आत्म षष्टवाद, पंच स्कन्धवाद, क्रियावाद, कर्त्तृत्ववाद और त्रैराशिक आदि का परिचय देकर उन वादों का निरसन किया गया है।

दूसरे अध्ययन में पारिवारिक मोह से निवृत्ति, परीषहजय, कषायजय, आदि का उपदेश, सूर्यास्त के पश्चात् विहार का निषेध और काम-मोह से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है।

तीसरे उपसर्ग अध्ययन में अनुकूल, प्रतिकूल परीषह सहन का उपदेश देते हुए अनुकूल परीषह से प्रतिकूल परीषह की अपेक्षा अधिक हानि बताई गई है। साथ ही इसमें उस समय की विभिन्न मान्यताओं का परिचय देते हुए कहा गया है कि कुछ लोग जहाँ जल से, कुछ लोग आहार ग्रहण करने से, कुछ आहार ग्रहण न करने से मुक्ति मानते हैं, वहां आसिल, द्वीपायन आदि ऋषि पानी पीने और वनस्पति भक्षण से सिद्धि मानते हैं। इस अध्ययन के अन्त में ग्लान-सेवा और उपसर्ग-सहन का उपदेश दिया गया है।

"स्त्री परिज्ञा" नामक चतुर्थ अध्ययन में स्त्री सम्बन्धी परीषहों को सहने का उपदेश दिया गया है।

पांचवे नरकविभक्ति नामक अध्ययन के दो उद्देशकों में यह बताते हुए कि भोगों से नरक गति होती है–नरक के दुःखों का वर्णन किया गया है।

छटे "वीरस्तुति" नामक अध्ययन में भगवान् महावीर के गुणानुवाद और उपमाओं का वर्णन किया गया है।

सातवें "कुशील" नामक अध्ययन में बताया गया है कि जो हिंसक जिस जीव-काय की हिंसा करता है, वह उसी जीवनिकाय में उत्पन्न होकर वेदना भोगता है। यहां उपसर्गसहन एवं रागद्वेष की निवृत्ति से कर्मक्षय और मोक्ष का लाभ बताया गया है।

आठवें, वीर्य अध्ययन में बाल और पंडित वीर्य के भेद से मनुष्य की शक्ति के उपयोग की दृष्टि से २ प्रकार बतलाये गये हैं। इन्हें कर्मवीर्य और अकर्मवीर्य भी कहा गया है।

नौवें–"धर्म" अध्ययन में धर्म का स्वरूप बतलाते हुए बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह का त्याग तथा हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और कषाय को कर्मबन्ध का कारण बतलाकर इनके त्याग एवं अनाचारवर्जन का उपदेश भी दिया गया है।

दशवें – "समाधि" अध्ययन में हिंसानिषेध, संयमपालन और समत्व का उपदेश दिया गया है। धार्मिक व्यक्ति को पाप से सदा उसी प्रकार डरते रहने का उपदेश दिया गया है जिस प्रकार कि मृग सिंह से डरता रहता है।

ग्यारहवें "मार्ग" अध्ययन में मोक्ष-मार्ग पर विचार किया गया है।

बारहवें "समवसरण" अध्ययन में अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी, और क्रियावादी ऐसे ४ समवसरणों का वर्णन है। इसमें मुक्ति, एकान्तक्रियावाद से नहीं किन्तु सर्वज्ञसम्मत ज्ञान-क्रिया से वताई गई है।

तेरहवें अध्ययन में यथातथ्य स्थिति का वर्णन करते हुए बताया गया है कि क्रोध के दुष्परिणाम समझकर सुशिष्य को पापभीरू, लज्जावान्, श्रद्धालु, अमायी और आज्ञापालक होना चाहिये। इसमें यह भी वताया गया है कि अभिमानी का तप निरर्थक होता है और ज्ञान एवं लाभ का मद करने वाला अज्ञानी है अतः मद नहीं करने वाला ही पण्डित एवं मोक्षगामी कहा गया है।

चौदहवें – "ग्रंथ अध्ययन" में जीवननिर्माण की विविध शिक्षाओं के रूप में बताया गया है कि साधक को प्रथम गुरुकुलवास–गुरुजनों का सहवास आवश्यक है। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, आज्ञापालन और अप्रमाद साधना के प्रमुख अंग हैं। इसमें आगे कहा गया है कि साधक को हास्य, अप्रिय सत्य, प्रतिष्ठा की चाह और कषाय से बचते रहना आवश्यक है।

पन्द्रहवें – "आदान अध्ययन" में स्त्री लिंग-त्याग और निष्काम-साधना का उपदेश देते हुए रत्नत्रय की आराधना से भवभ्रमण मिटना बतलाया गया है।

सोलहवें – "गाथा अध्ययन" में साधु के "माहन", "श्रमण", "भिक्खु" और "निर्ग्रन्थ" ये चार नाम देकर इनकी व्याख्या की गई है।

दूसरे श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन में। प्रथम "पुण्डरीक" अध्ययन में वताया गया है कि संसार सरोवर में साधु रूक्ष वृत्ति से रहता हुआ राजा आदि अधिकारी को निस्पृह भाव से धर्मोपदेश करते हुए स्व-पर कल्याण का अधिकारी होता है। अन्त में श्रमण के सोलह पर्यायवाची शब्द वताये गये हैं।

दूसरे-"क्रियास्थान अध्याय" में १३ क्रियाओं का वर्णन किया गया है। क्रिया के सन्दर्भ में धर्मस्थान को उपशान्त और अधर्म को अनुपशान्त स्थान कहा गया है। संक्षेप में संसारी जीवों के तीन भाग किये गये हैं। इनमें निरारम्भी मुनि-जीवन को धर्मपक्ष कह कर उपादेय और महा आरम्भी गृहस्थों के अधर्मपक्ष को और मिश्र पक्ष को हेय वतलाया गया है। किन्तु धार्मिक गृहस्थों का धर्माधर्ममिश्रित जीवन उपादेय कहा गया है।

तीसरे "आहार परिज्ञा अध्ययन" में जीवों के आहार का विचार किया गया है। वनस्पति के आहार पर विस्तृत विचार है। वनस्पतियां पृथ्वीयौनिक, वृक्षयौनिक रूप से मुख्यतः दो प्रकार की वताई गई हैं। वृक्षों की उत्पत्ति का कारण आहारक शरीर और उनके विभिन्न १० अंगों में भिन्न-भिन्न जीव वतलाये गये

है। कुछ वनस्पतियां उदकयौनिक भी बताई गई हैं। अन्त में प्राणभूत जीव तत्व की अनेक योनियों में उत्पत्ति, आहार, शरीर और तत्वों के स्वरूप को पहिचान कर मुनि को "आहारगुप्त" रहने की शिक्षा दी गई है।

चौथे – "प्रत्याख्यान अध्ययन" में, यह बताते हुए कि प्रत्याख्यान नहीं करने से सर्वदा पाप-कर्मों का उपार्जन होता है, प्रत्याख्यान करने की शिक्षा दी गई है।

पांचवें – "आचारश्रुत अध्ययन" में एकान्त वचन का निषेध करते हुए अनाचार के त्याग का उपदेश दिया गया है।

छठे आर्द्रकुमार के अध्ययन में आर्द्रकुमार के गोशालक, ब्राह्मणों और हस्तितापसों के साथ संवाद का वर्णन किया गया है। प्रसंगोपात्त शाक्य भिक्षुओं की भोजनचर्या का भी इसमें वर्णन है।

सातवें – "नालन्दीय अध्ययन" में लेप गाथापति के धार्मिक जीवन और उसके द्वारा भवन-निर्माण से बची हुई सामग्री से बनाई गई "सेसदविया" नाम की एक उदक्शाला का उल्लेख है।

इसके पश्चात् उस उदक्शाला से ईशान कोणस्थ वनखण्ड के एक भाग में विराजमान इन्द्रभूति गौतम के साथ पार्श्वापत्य पैढालपुत्र का संवाद और गौतम से प्रतिबोध पाकर पैढालपुत्र द्वारा भगवान् महावीर के पास चातुर्याम धर्म का परित्याग कर पंचमहाव्रत-धर्म स्वीकार करने का उल्लेख है।

उपरोक्त संवाद में प्रश्नोत्तर के संदर्भ में एक स्थान पर यह बताया गया है कि जो लोग सम्पूर्ण पापों का परित्याग नहीं कर सकने की स्थिति में देश-विरति धर्म स्वीकार कर त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करते हैं वह त्याग भी उनके लिये कुशल एवं लाभ का कारण होता है। इसमें स्थावर काय की हिंसा के खुले रखने का त्याग कराने वाले को दोष नहीं लगता। इस बात को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया गया है, जो इस प्रकार है :–

रत्नपुर के राजा ने एक दिन कौमुदी महोत्सव के अवसर पर अपने नगर में घोषणा करवाई कि महोत्सव के दिन कोई भी पुरुष नगर में न रहे। यदि कोई व्यक्ति रात्रि के समय नगर में रहा तो उसे मृत्युदण्ड दिया जायगा। राजाज्ञानुसार कौमुदी-महोत्सव के दिन सभी लोग संध्या होते-होते नगर से बाहर चले गये लेकिन एक व्यापारी के छः पुत्र कार्य में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण समय पर नगर से बाहर नहीं जा सके। सूर्यास्त के पश्चात् जब वे श्रेष्ठिपुत्र नगर से बाहर जाने के लिए उद्यत हुए तो उन्होंने नगर के सब द्वार बन्द पाये। परिणामतः भयभीत होकर वे छहों भाई किसी गुप्त स्थान में छुप बैठे।

दूसरे दिन गुप्तचरों द्वारा राजा को जब यह ज्ञात हुआ कि रात्रि में ६ श्रेष्ठिपुत्र राजाज्ञा का उल्लंघन कर नगर के अन्दर ही रहे, तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ। राजा ने छहों वणिक्पुत्रों के वध की आज्ञा दी। अपने पुत्रों के वध की सूचना मिलते ही श्रेष्ठी बड़ा दुखित हुआ। उसने राजा के पास जाकर प्रार्थना की –

"स्वामिन ! मेरे कुल का सर्वनाश मत करिये। मेरे पास जितनी सम्पत्ति है वह सब लेकर भी मेरे पुत्रों को जीवनदान दे दीजिये।"

राजा ने कुपित हो कहा—"पापिष्ठ ! राजा की आज्ञा का उल्लंघन राजा के प्राणहरण तुल्य है। तेरे पुत्रों ने मेरी आज्ञा की अवहेलना की है अतः मैं उन्हें किसी भी तरह क्षमा नहीं कर सकता।"

श्रेष्ठी ने पुनः करुण स्वर में प्रार्थना की—"स्वामिन् ! यदि प्राणदण्ड ही देना है तो मेरे ६ पुत्रों में से किसी एक को प्राणदण्ड देकर शेष को दण्डमुक्त कर दीजिये।"

राजा ने श्रेष्ठी की इस प्रार्थना को भी स्वीकार नहीं किया। तत्पश्चात् श्रेष्ठी ने क्रमशः चार, तीन और दो पुत्रों को छोड़ने की प्रार्थनाएं कीं पर राजा ने उसकी एक भी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। अन्त में श्रेष्ठी ने घबड़ाकर प्रतिष्ठित नागरिकों के माध्यम से अत्यन्त विनयपूर्वक प्रार्थना की—"स्वामिन् ! आप प्रजा के पिता हैं अतः हमारी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है। हम आपकी शरण में हैं, चाहे तारो या मारो।" इस प्रकार कहते हुए वह श्रेष्ठी राजा के पैरों पर गिर पड़ा।

श्रेष्ठी की सानुनय प्रार्थना से द्रवित हो राजा ने भी उसके ६ पुत्रों में से एक ज्येष्ठ पुत्र को मुक्त कर दिया। सर्वनाश की अपेक्षा एक ज्येष्ठ पुत्र बचा इसी से संतोष मानकर श्रेष्ठी अपने घर गया।

जिस प्रकार राजा द्वारा श्रेष्ठी के सभी पुत्रों को मृत्युदण्ड देने का आग्रह करने पर श्रेष्ठी ने अपने एक पुत्र के दण्डमुक्त होने में भी बड़ा संतोष माना। यहां पर पांच पुत्रों की मृत्यु में श्रेष्ठी को दोषी नहीं माना जा सकता क्योंकि श्रेष्ठी के मन में उनकी मृत्यु के लिए किंचित्मात्र भी अनुमति नहीं अपितु विवशता थी। उसी प्रकार साधु द्वारा षट्कायिक जीवों की हिंसा से बचाने का उपदेश होने पर भी गृहस्थ राजा के समान केवल त्रसकाय की हिंसा का ही त्याग करता है, ५ स्थावरकाय के जीवों की हिंसा नहीं छोड़ता, इसमें व्रतदाता मुनि दोष का भागी नहीं माना जा सकता।

सूत्र कृतांग वस्तुतः प्रत्येक साधक के लिये दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति में बड़ा पथप्रदर्शक है। मुनियों के लिये इसका अध्ययन, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन परमावश्यक है। इसमें उच्च आध्यात्मिक सिद्धान्तों को जीवन में ढालने, सभी प्रकार के अन्य मतों का परित्याग करने, विनय को प्रधान भूषण मानकर आदर्श श्रमणाचार का पालन करने आदि की बड़ी प्रभावपूर्ण ढंग से प्रेरणाएं दी गई हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह आगम उस समय की चिन्तन प्रणाली का बड़ा ही मनोहारी दिग्दर्शन प्रस्तुत करता है।

सूत्रकृतांग में बताया गया है कि साधना के क्षेत्र में आने वाले भीषण से भीषण उपसर्गों से विचलित, परिचितों के स्नेहसिक्त मधुर संलापों से पतित न

होते हुए आध्यात्मिक साधना के पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होने वाला साधक ही अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है। सूत्रकृतांग में आध्यात्मिक विषयों पर दिये गये सुन्दर एवं सोदाहरण विवेचनों से भारतीय जीवन, दर्शन और अध्यात्मतत्व का भलीभांति बोध हो जाता है।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व हमारे यहां भारतवर्ष में कौन-कौन से धर्म एवं संप्रदाय प्रचलित थे और उनकी किस-किस प्रकार की मान्यताएं थीं, इस सम्बन्ध में सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पहले एवं बारहवें तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'पुण्डरीक', 'आर्द्रकीय' और 'नालंदीय' अध्ययनों में बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। वह वस्तुतः ऐतिहासिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि अनेक दृष्टियों से परमोपयोगी है।

३. स्थानांग

द्वादशांगी में स्थानांग का तीसरा स्थान है। समवायांग एवं नन्दी सूत्र में जो आगमों का परिचय दिया गया है उसमें स्थानांग का परिचय निम्नलिखित रूप में उल्लिखित है :–

स्थानांग नामक तीसरे अङ्ग में स्वसमय, परसमय, स्व-पर उभय समय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक और लोकालोक की स्थापना की गई है। इसमें जीवादिक पदार्थों का उनके द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल और पर्याय की दृष्टि से विचार किया गया है। इसमें एक स्थान, दो स्थान, यावत् दश स्थान से दशविध वक्तव्यता की स्थापना तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि द्रव्यों की प्ररूपणा की गई है। स्थानांग में वाचनाएं, अनुयोगद्वार, प्रतिपत्तियां, वेष्टक, निर्युक्तियां और संग्रहणियां – ये प्रत्येक संख्यात-संख्यात हैं। अंग की अपेक्षा यह तीसरा अंग है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध, दश अध्ययन, २१ उद्देशनकाल, २१ समुद्देशनकाल, ७२,००० पद, अक्षर संख्यात, गम अनन्त, पर्याय अनन्त, तथा इसकी वर्णन-परिधि में असंख्यात त्रस और अनन्त स्थावर हैं। वर्तमान में उपलब्ध इस सूत्र का पाठ ३७७० श्लोक परिमाण है।

स्थानांग एवं समवायांग – ये दो सूत्र अन्य दश अङ्गों से भिन्न प्रकार के संकलनात्मक अङ्ग हैं। इन दोनों अङ्गों में जैन प्रवचनसम्मत तथा लोकसम्मत तथ्यों के रूप में संसार की प्रायः सभी वस्तुओं का संख्या के क्रम से कोश-शैली में संग्रहात्मक निरूपण किया गया है। अगणित तथ्यों को स्थायी रूप से चिरकाल तक स्मृतिपटल पर अङ्कित रखने और अथाह ज्ञानार्णव में से अभीष्ट तथ्य को तत्काल खोज निकालने की अद्भुत क्षमताशालिनी जिस शैली का इन दो अङ्गों की रचना में उपयोग किया गया है वह वस्तुतः अद्वितीय और बड़ी ही उपयोगी शैली है।

स्थानांग में संख्याक्रम से द्रव्य, गुण एवं क्रियाओं आदि का निरूपण किया गया है। इसके प्रथम प्रकरण में एक-एक, दूसरे में दो-दो, तीसरे में तीन-तीन,

इस अनुक्रम से अन्तिम प्रकरण में दश-दश वस्तुओं का वर्णन किया गया है। जिस संख्या की वस्तु का निरूपण जिस प्रकरण में किया गया है, उसी संख्या के आधार पर इसके प्रकरणों का नाम प्रथम स्थान, द्वितीय स्थान, तृतीय स्थान और इसी अनुक्रम से अन्तिम प्रकरण का नाम दशम स्थान रखा गया है।

जिस प्रकरण में तत्संख्याविषयक निरूपणीय सामग्री का प्राचुर्य हो गया, वहां उस प्रकरण के उपविभाग कर दिये गये हैं। दूसरे, तीसरे तथा चौथे – इन तीनों प्रकरणों के, प्रत्येक के चार-चार उपविभाग और पांचवें प्रकरण के ३ उपविभाग हैं। प्रथम तथा छठे से दशवें तक इन ६ स्थानों में पृथक् कोई उपविभाग नहीं है। १५ उद्देशकों और ६ अध्ययनों के, प्रत्येक के एक-एक उद्देशनकाल के हिसाब से स्थानांग सूत्र के कुल मिला कर २१ उद्देशनकाल और २१ ही समुद्देशनकाल होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के निर्वाण-पश्चात् दूसरी से छठी शताब्दी तक के अवान्तर काल की कुछ घटनाओं का उल्लेख किया गया है। उसे देखकर कुछ इतिहास के विद्वानों को इस प्रकार की भ्रांति होती है कि स्थानांग सूत्र की रचना गणधरों द्वारा नहीं अपितु किसी अर्वाचीन आचार्य द्वारा की गई है। अपने इस अभिमत की पुष्टि में वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं–"स्थानांगसूत्र के नौवें स्थान में गोदास से कोडिन्न तक के ९ गणों का उल्लेख है पर वस्तुतः वे गण भगवान् महावीर के निर्वाण से लगभग २०० वर्ष पश्चात् अस्तित्व में आये। इसी प्रकार ७ वें स्थान में जो ७ निन्हवों का उल्लेख है उनमें रोहगुप्त नामक निन्हव वीर निर्वाण की छठी शताब्दी के अन्त में हुआ है। भगवान् महावीर के निर्वाण से लगभग २०० और ६०० वर्षों पश्चात् घटित हुई घटनाओं का स्थानांग में उल्लेख होना यह प्रमाणित करता है कि इसकी रचना भगवान् महावीर की विद्यमानता में गणधरों द्वारा नहीं अपितु भगवान् के निर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् किन्हीं आचार्यों द्वारा की गई है।"

किन्तु इस प्रकार केवल इन उल्लेखों के आधार पर यह मान्यता बना लेना कि स्थानांग सूत्र की रचना ही किसी परवर्ती आचार्य ने की है, किसी भी दशा में न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। द्वादशांगी के विलुप्त हो जाने की मान्यता अभिव्यक्त करने वाली दिगम्बर परम्परा भी इस तथ्य को स्वीकार करती है कि द्वादशांगी का अर्थतः उपदेश भगवान् महावीर ने दिया और गणधरों ने उसी को शब्द रूप में ग्रथित किया। ऐसी स्थिति में किसी पश्चाद्वर्ती घटना का स्थानांग में उल्लेख देखकर बिना विचारे ही यह कह देना कि यह गणधर की कृति नहीं किसी पश्चाद्वर्ती आचार्य की कृति है – कदापि न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में दो बातें विशेष विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कि अतिशयज्ञानी सूत्रकार ने कतिपय भावी घटनाओं की पूर्वसूचना बहुत पहले ही दे दी हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं जैसे कि स्थानांग के नवम स्थान में आगामी उत्सर्पिणी काल के भावी

तीर्थंकर महापद्म का चरित्रचित्रण किया गया है। दूसरी विचारणीय बात यह है कि श्रुति-परम्परा से चला आने वाला आगमपाठ स्कंदिलाचार्य और देवर्द्धि गणी द्वारा आगमवाचना में स्थिर किया गया। संभव है उस स्थिरीकरण के समय मूल भावों को यथावत् सुरक्षित रखते हुए भी उसमें प्रसंगोचित समझ कर कुछ आवश्यक पाठ बढ़ाया गया हो। यह भी संभव है कि भविष्यकाल की घटनाओं के रूप में जिन घटनाओं का आगम में उल्लेख किया गया था, आगमवाचना के समय तक वे घटनाएं घटित हो चुकने के कारण भावी घटनाएं न रह कर भूत की घटनाएं बन चुकी थीं अतः उन्हें यथावत् भविष्य की घटनाओं के रूप में ही उल्लिखित किये जाने की अवस्था में कहीं भ्रांति न हो जाय इस दृष्टि से आगम-वाचना के समय सर्वसम्मति से संघ द्वारा भविष्य काल की क्रिया के स्थान पर भूतकाल की क्रिया का प्रयोग कर दिया गया हो। शासनहित में सामयिक संवर्द्धन करने का गीतार्थ आचार्यों को पूर्ण अधिकार था।

ऐसी स्थिति में यह शंका करना कि स्थानांग मौलिक नहीं है– यह सर्वथा अदूरदर्शितापूर्ण एवं अनुचित है।

स्थानांग के १० स्थानों में क्रमशः जो विवरण दिया गया है उसको संक्षेप में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :–

(१) प्रथम स्थान में आत्मा, अनात्मा, धर्म, अधर्म, बंध और मोक्ष आदि को सामान्य दृष्टि से एक बतलाया गया है। गुण-धर्म एवं स्वभाव की समानता के कारण अनेक भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक बताया गया है। आर्द्रा चित्रा और स्वाति का एक-एक तारा बताकर प्रकरण पूरा किया गया है।

(२) दूसरे प्रकरण में बोध की सुलभता के लिये जीवादि पदार्थों के दो-दो प्रकार किये हैं। जैसे आत्मा के दो प्रकार – सिद्ध और संसारी। धर्म दो प्रकार का आगार धर्म, अनागार धर्म, श्रुतधर्म, चारित्रधर्म। बंध के दो प्रकार – रागबन्ध एवं द्वेषबंध। वीतराग के दो प्रकार – उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय। काल के दो प्रकार–अवसर्पिणी काल एवं उत्सर्पिणी काल। राशि दो – जीवराशि तथा अजीव राशि। दो प्रकार के मरण – बालमरण और पण्डितमरण।

(३) तीसरे विभाग में कुछ और स्थूल दृष्टि से विचार किया गया है। जैसे–दृष्टि ३–सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्र दृष्टि। तीन वेद – स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद। पक्ष तीन – धर्म पक्ष, अधर्म पक्ष और धर्माधर्म पक्ष। लोक तीन – ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। आहार के तीन प्रकार – सचित्त आहार अचित्त आहार और मिश्र आहार। तीन प्रकार का परिग्रह – सचित्त परिग्रह, दास-दासी–पशु आदि, अचित्त परिग्रह – सोना, चांदी आदि, मिश्र परिग्रह – आभूषणयुक्त दासदासी। अशुभ दीर्घायु के तीन कारण – प्राणघात करना, मृषा बोलना एवं तथारूप श्रमण की हीलना, निन्दा तथा तिरस्कार करना एवं अमनोज्ञ अशनादि से प्रतिलाभ देना इत्यादि।

(४) चौथे प्रकरण में स्त्री-पुरुष, आचार्य श्रावक आदि के चार-चार विकल्प कर सैकड़ों प्रकार की चौभंगियां बताई गई हैं। जैसे–खजूर ऊपर से मृदु और अन्दर से कठोर (१), बादाम जिस प्रकार ऊपर से कठोर अन्दर कोमल (२), जिस प्रकार सुपारी अन्दर और बाहर दोनों ही ओर से कठोर (३) और द्राक्षा–जिस प्रकार ऊपर से भी मृदु तथा अन्दर से भी मृदु (४)।

चार पुरुष–रूपवान-गुणहीन, (१) गुणवान-रूपहीन, (२) रूप और गुण दोनों से रहित (३), तथा रूप और गुण उभय-सम्पन्न (४)।

चार प्रकार की नारियां–रूपवती पर शीलविहीन (१), शीलवती पर रूपविहीन (२), रूप और शील उभयसम्पन्न, (३) रूप और शील उभय-हीन (४)।

चार प्रकार के कुंभ – अमृत का कुंभ-मुख पर विष (१) विषकुंभ-मुख पर अमृत (२), विषकुंभ और विषभरा ढक्कन (३), तथा अमृत का घड़ा-अमृत का ढक्कन (४)।

चार प्रकार के पुरुष – कार्य करे पर मान नहीं, (१), मान करे कार्य नहीं (२), कार्य भी करे और मान भी करे (३) और न कार्य करे न मान करे (४) इत्यादि।

(५) पांचवें प्रकरण में जीवादि पदार्थों को ५ प्रकार से बतलाया है। जीव के ५ प्रकार–एकेन्द्रिय (१), द्वीन्द्रिय (२), त्रीन्द्रिय (३), चतुरिन्द्रिय (४) और पंचेन्द्रिय (५)।

विषय पांच – शब्द विषय (१), रूप (२), गन्ध (३), रस (४) और स्पर्श विषय (५)।

इन्द्रियां ५ – श्रवणेन्द्रिय (१), चक्षु इन्द्रिय (२), घ्राणेन्द्रिय (३), रसनेन्द्रिय (४) और स्पर्शन-इन्द्रिय (५)।

जीव के ५ गुण – उत्थान (१), क्रम (२), बल (३), वीर्य, (४) और पुरुषकार-पराक्रम (५)।

अजीव के पांच प्रकार – धर्मास्तिकाय (१), अधर्मास्तिकाय (२), आकाशास्तिकाय (३), पुद्गलास्तिकाय (४), और काल द्रव्य (५)।

आस्रव के पांच प्रकार – मिथ्यात्व (१), अविरति (२), प्रमाद (३), कषाय (४) और अशुभयोग-आस्रव (५)।

पांच प्रकार का मिथ्यात्व – आभिग्रहिक (१), अनाभिग्रहिक (२), अभिनिवेश (३) संशय मिथ्यात्व (४) और अनाभोग मिथ्यात्व (५) इत्यादि।

(६) छठे प्रकरण में जीवादि पदार्थों का छः-छः की संख्या में वर्णन किया गया है। जैसे – जीव छः प्रकार का – पृथ्वीकायिक जीव (१), अप्कायिक जीव (२), तेजस्कायिक जीव (३), वायुकायिक जीव (४), वनस्पतिकायिक जीव

(५) और त्रसकायिक जीव (६)। जीव की छः प्रकार की लेश्या (मनोवृत्ति)– कृष्ण लेश्या (१), नील लेश्या (२), कापोत लेश्या (३), तेजो लेश्या (४), पद्म लेश्या (५) और शुक्ल लेश्या (६)। आहार-ग्रहण के छः कारण, छः प्रकार का बाह्यतप, छः प्रकार का आन्तरिक तप इत्यादि।

सातवें प्रकरण में पूर्वोक्त पदार्थों का सात की संख्या में वर्णन किया गया है। जैसे – जीव के सात प्रकार–सूक्ष्म एकेन्द्रिय (१), बादर एकेन्द्रिय (२), द्वीन्द्रिय (३), त्रीन्द्रिय (४), चतुरिन्द्रिय (५), असंज्ञी पंचेन्द्रिय (६) और संज्ञी पंचेन्द्रिय (७)। सात भय के स्थान–इस लोक का भय (१), परलोक का भय (२), आदान भय (३), आकस्मिक भय (४), अयश भय (५), आजीविका भय (६) और मरण भय (७)। सप्त स्वर का स्वर मण्डल में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसमें जमालि आदि सात निन्हवों का भी उल्लेख किया गया है।

(८) आठवें स्थान में आत्मा आदि का आठ संख्या से वर्णन किया गया है। जैसे – आत्मा आठ प्रकार का – द्रव्य आत्मा (१), कषाय आत्मा (२), योग आत्मा (३), उपयोग आत्मा (४), ज्ञान आत्मा (५), दर्शन आत्मा (६), चारित्र आत्मा (७) और वीर्य आत्मा (८)। आठ प्रकार का मदस्थान – जाति मद स्थान (१), कुल मद स्थान (२), बल मद (३), रूप मद (४), लाभ मद (५), तप मद (६), श्रुत मद (७) और ऐश्वर्य मद स्थान (८)। आठ प्रकार की समिति– ईर्या-समिति (१), भाषा-समिति (२), एषणा-समिति (३), आदान-निक्षेपणा-समिति (४), परिष्ठापना-समिति (५), मन-समिति (६), वाक्समिति (७) और काय-समिति (८)।

(९) नौवें स्थान में प्रत्येक पदार्थ का ९ की संख्या में वर्णन किया गया है। इसमें नव तत्त्व, नव ब्रह्मचर्य-गुप्ति और चक्रवर्ती की ९ निधियों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। पुण्य के ९ प्रकार – अन्न पुण्य (१), पान पुण्य (२), लयन पुण्य (३), शयन पुण्य (४), वस्त्र पुण्य (५), मन पुण्य (६), वचन पुण्य (७) काय पुण्य (८) और नमस्कार पुण्य (९)। ९ पाप के स्थान – प्राणातिपात (१), मृषाभाषण (२), चौर्य (३), अब्रह्म (४), परिग्रह (५), क्रोध (६), मान (७) माया (८) और लोभ (९)। नव कोटि प्रत्याख्यान– हिंसा करना नहीं, कराना नहीं, करने वाले को भला जानना नहीं (३), पकाना नहीं, पकवाना नहीं और पकाने वाले का अनुमोदन करना नहीं (६), न खरीदना, न खरीदवाना और न खरीदने वाले का अनुमोदन करना (९)। इत्यादि।

(१०) दशवें प्रकरण में प्रत्येक वस्तु का १०-१० की संख्या से वर्णन किया गया है। धर्म के १० प्रकार– क्षान्ति (१), मुक्ति-निर्लोभता (२), आर्जव-धर्म (३), मार्दवधर्म (४), लाघवधर्म (५), सत्यधर्म (६), संयमधर्म (७), तपधर्म (८), त्यागधर्म (९) और ब्रह्मचर्यवास (१०)। १० प्रकार का धर्म– ग्रामधर्म (१), नगरधर्म (२), कुलधर्म (३), गणधर्म (४), संघधर्म (५),

राष्ट्रधर्म (६), पाषण्डधर्म (७), श्रुतधर्म (८), चारित्रधर्म (९) और अस्तिकायधर्म-वस्तुधर्म (१०)। दश प्रकार का दान—अनुकम्पा दान (१), संग्रहदान (२), भयदान (३), शोकदान (४), लज्जादान (५), अहंकारदान (६), अधर्मदान (७), धर्मदान (८), भविष्य के लाभ हेतु दान (९) और उपकार के वदले कृतज्ञतादान (१०)। दश प्रकार का सुख – शरीर की निरोगता (१), दीर्घ आयु (२), आढ्यता (३), शब्द एवं रूप का कामसुख (४), इष्ट गन्ध, इष्ट रस और इष्ट स्पर्श रूप भोगसुख (५), संतोष (६), आवश्यकता की पूर्ति (५), सुखयोग (मानसिक) (८), निष्क्रमण – त्याग-ग्रहण (९) और निराबाध सुख मोक्ष (१०)। इसमें १० प्रकार की लोक स्थिति, क्रोधोत्पत्ति के १० कारण, अभिमान के १० कारण, १० प्रकार की समाधि, आलोचना के १० दोष, १० प्रकार का प्रायश्चित्त, सुकाल-दुकाल के १०-१० लक्षण, १० प्रकार के कल्पवृक्ष, शतायु पुरुष की १० दशा, ज्ञान वृद्धि के १० नक्षत्र और १० आश्चर्यों का उल्लेख किया गया है।

स्थानांग की महत्ता

विषय की गम्भीरता एवं नयज्ञान की दृष्टि से स्थानांग सूत्र की बहुत वड़ी महत्ता मानी गई है। इसमें जो कोश-शैली अपनाई गई है वह वड़ी ही उपयोगी और विचारपूर्ण है। बौद्ध परम्परा के अंगुत्तरनिकाय, पुग्गलपण्णत्ती, महाव्युत्पत्ति एवं धर्मसंग्रह में तथा वैदिक परम्परा के महाभारत (वनपर्व, अध्याय १३४) में भी इसी शैली से संग्रह किया गया है। इसके गम्भीर भावों को समझने वाला श्रुतस्थविर माना गया है। जैनागम में बताये गये तीन प्रकार के स्थविरों में से श्रुतस्थविर के लिए "ठाणसमवायधरे" इस प्रकार के विशेषण द्वारा स्थानांग और समवायांग के धारक होने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

इसके विषयों और विचारों की गम्भीरता एवं दुरूहता के कारण स्वयं टीकाकार अभयदेवसूरी ने इसकी व्याख्या करते समय अपनी कठिनाई का उल्लेख करते हुए लिखा है – "प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या के-समय सिद्धान्तज्ञान की सही परम्परा का अभाव है और आवश्यक तर्कशक्ति का भी योग नहीं है। स्व तथा पर शास्त्रों का अवलोकन भी यथावत् नहीं हो सका और न दृष्ट एवं श्रुत विषयों का पूर्ण स्मरण ही रहा है। इसके उपरांत वाचनाओं की अनेकता, आदर्श पुस्तकों का अशुद्ध-लेखन, सूत्र की अतिशय गम्भीरता और स्थान-स्थान पर मतभेदों के कारण इसकी समीचीन रूप से व्याख्या करने में स्खलनाएं संभव हैं। विवेकशील विचारक इससे केवल शास्त्रसम्मत अर्थ को ही ग्रहण करें।"[1]

---

[1] सत्संप्रदायहीनत्वात्, सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥१॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धतः।
सूत्राणामतिगाम्भीर्यात्, मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥२॥
क्षूणानि संभवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः।
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थः सोऽस्मात् ग्राह्यो न चेतरः ॥३॥ [स्थानांग-वृत्ति प्रशस्ति]

४. समवायांग

द्वादशांगी के क्रम में समवायांग का चौथा स्थान है। इसमें कोटाकोटि-समवाय के पश्चात् जो द्वादशांगी का परिचय दिया गया है, उसमें और नन्दीसूत्र में समवायांग का परिचय निम्नलिखित रूप में उल्लिखित है :-

"समवायांग की परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ़ा (छन्दविशेष), संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियां, संख्यात संग्रहणियां, संख्यात प्रतिपत्तियां, एक श्रुतस्कन्ध, एक अध्ययन, एक उद्देशनकाल, एक ही समुद्देशन-काल, १,४४,००० पद और संख्यात अक्षर हैं। इसकी वर्णनपरिधि में अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर और जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित भावों का वर्णन, प्ररूपण, निदर्शन और उपदेश आता है।"

समवायांग का वर्तमान में उपलब्ध पाठ १६६७ श्लोक-परिमाण है। इसमें संख्याक्रम से संग्रह की प्रणाली के माध्यम से पृथ्वी, आकाश, और पाताल—इन तीनों लोकों के जीवादि समस्त तत्वों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की दृष्टि से संख्या एक से लेकर कोटानुकोटि संख्या तक बड़ा महत्वपूर्ण परिचय दिया गया है। इसमें आध्यात्मिक तत्वों, तीर्थंकरों, गणधरों, चक्रवर्तियों और वासुदेवों से सम्वन्धित उल्लेखों के साथ-साथ भूगर्भ, भूगोल, खगोल-सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एवं तारों आदि के सम्बन्ध में बड़ी ही उपयोगी सामग्री प्रस्तुत की गई है।

स्थानांग की तरह समवायांग में भी संख्या के क्रम से तथा कहीं-कहीं उस प्रणाली को छोड़कर वस्तुओं के भेदोपभेद का वर्णन किया गया है। समवायांग सूत्र की प्रत्येक समवाय में समान संख्या वाले भिन्न-भिन्न विषयों एवं वस्तुओं से सम्वं-धित सामग्री का संकलनात्मक संग्रह होने के कारण विषयानुक्रम से इसका परिचय दिया जाना संभव नहीं है अतः मोटे रूप में समवाय के क्रम को दृष्टिगत रखते हुए इसका संक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है।

समवायांग में द्रव्य की अपेक्षा से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, आदि का (१), क्षेत्र की अपेक्षा से लोक, अलोक, सिद्धशिला आदि का (२), समय, आवलिका, मुहूर्त आदि से लेकर पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, और पुद्गलपरावर्तन आदि काल की अपेक्षा से देवों, मनुष्यों, तिर्यंचों और नारक आदि जीवों की स्थिति आदि का (३), तथा भाव की अपेक्षा से ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि जीव-भाव और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, गुरु, लघु आदि अजीव-भाव का (४) वर्णन किया गया है।

समवायांग की पहली समवाय में एक संख्या वाले जीव, अजीव आदि तत्वों का उल्लेख करते हुये आत्मा, लोक, धर्म, अधर्म आदि को संग्रह नय की अपेक्षा से एक-एक वताया गया है। इसके पश्चात् एक लाख योजन की लम्वाई चौड़ाई वाले जम्बूद्वीप, सवार्थसिद्ध विमान, एक तारा वाले नक्षत्र, एक सागर की

स्थिति वाले नारक, देव, आदि का, असंख्य वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रियों एवं मनुष्यों आदि का विवरण दिया गया है।

समवाय संख्या २ में अर्थदण्ड एवं अनर्थ दण्ड–दो प्रकार के दण्ड, रागबन्ध एवं द्वेषबन्ध–दो प्रकार के बन्ध इस रूप में दो संख्या वाली वस्तुओं का उल्लेख करते हुये अन्त में कुछ भवसिद्धिकों की दो भव से मुक्ति होना बताया गया है।

तीसरी समवाय में – मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड–ये तीन दण्ड, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति – तीन प्रकार की गुप्ति, तीन प्रकार के शल्य, तीन प्रकार के गौरव और तीन प्रकार की विराधना का उल्लेख करने के पश्चात् उन नक्षत्रों के नाम दिये गये हैं जिनमें तीन-तीन तारे हैं। इसके अनन्तर प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नरक के नारकीयों, असुरकुमारों, भोगभूमि के संज्ञी पंचेन्द्रियों, सौधर्म, ईशान देवलोकों के कुछ देवों एवं आभंकर आदि १४ विमानों के देवों की स्थिति का वर्णन किया गया है। इस समवाय के अन्त में बताया गया है कि उपरोक्त १४ विमानों में उत्पन्न होने वाले उन देवों में से कुछ देव तीन भव करने के पश्चात् शाश्वत मोक्षसुख को प्राप्त करेंगे।

चौथी समवाय में कषाय, ध्यान, विकथा, संज्ञा, बन्ध के चार-चार भेद, योजन का परिमाण और चार तारों वाले नक्षत्रों का उल्लेख करने के पश्चात् चार पल्योपम और चार सागरोपम की आयु वाले नारक, देव आदि का नामोल्लेख किया गया है।

पांचवीं समवाय में क्रिया, महाव्रत, कामगुण, आस्रवद्वार, संवरद्वार, निर्जरास्थान, समिति और अस्तिकाय – इनमें से प्रत्येक के पांच-पांच भेदों का निरूपण किया गया है। तदनन्तर पांच तारों वाले नक्षत्र, पांच पल्योपम, पांच सागरोपम की आयु वाले नारक, देव आदि का उल्लेख किया गया है।

छठे समवाय में लेश्या, जीवनिकाय, वाह्य तप, आभ्यंतर तप, छाद्मस्थिक समुद्घात एवं अर्थावग्रह – इन सबके छः छः प्रकारों का नामोल्लेख करने के पश्चात् कृत्तिका तथा आश्लेषा नक्षत्र को छः-छः तारों वाला बताया गया है। इस समवाय में यह भी बताया गया है कि रत्नप्रभा पृथिवी में कतिपय नारकीयों की स्थिति छः पल्योपम, तृतीय पृथ्वी में कतिपय नारकीयों की स्थिति छः सागरोपम, असुर कुमार देवों में से कतिपय देवों की स्थिति ६ पल्योपम, सौधर्म और ईशानकल्प के कुछ देवों की स्थिति ६ पल्योपम तथा सनत्कुमार एवं माहेंद्र-कल्प के कितने ही देवों की स्थिति छः सागरोपम होती है।

इस समवाय के अन्त में बताया गया है कि स्वयंभू, स्वयंभूपण, घोष, सुघोष आदि बीस विमानों के देवों की उत्कृष्ट स्थिति छः सागरोपम की होती है। इन विमानों के देव ६ अर्द्ध मासों के अन्त में वाह्य तथा आभ्यंतर उच्छ्वास ग्रहण करते हैं। उन्हें छः हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर आहार की इच्छा उत्पन्न होती है। उन देवों में कतिपय देव ६ भवों में सिद्धि प्राप्त करने वाले हैं।

सातवें समवाय में सात प्रकार के भयस्थान एवं सात ही प्रकार के समुद्घात का उल्लेख करने के पश्चात् निम्नलिखित तथ्यों का उल्लेख है :—श्रमण भगवान् महावीर का शरीर सात रत्नि (मुंड हाथ) प्रमाण ऊंचा था। जम्बूद्वीप में सात वर्षधर और सात ही क्षेत्र हैं। बारहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग भगवान् मोहनीय कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मप्रकृतियों का अनुभव करते हैं। मघा नक्षत्र ७ तारों वाला है। कृत्तिका आदि सात नक्षत्र पूर्वद्वार वाले, मघा आदि सात नक्षत्र दक्षिण द्वार वाले, अनुराधा आदि सात नक्षत्र पश्चिम द्वार वाले और घनिष्ठा आदि ७ नक्षत्र उत्तर द्वार वाले बताये गए हैं। इस समवाय में नारकीयों असुरकुमारों और देवों में से कतिपय की आयु ७ पल्योपम और कतिपय की उत्कृष्ट आयु ७ सागरोपम की बताने के पश्चात् यह उल्लेख भी किया है कि सम, समप्रभ आदि आठ विमानों के कतिपय देव सात भवों में सिद्ध होने वाले हैं।

आठवें समवाय में ८ मदस्थान और आठ प्रवचनमाताओं के नामोल्लेख के पश्चात् बताया गया है कि व्यन्तरदेवों के चैत्यवृक्षों, जम्बूद्वीप की जगती, और देवकुरूक्षेत्र स्थित गरुड़ जातीय वेणुदेव के आवास की ऊंचाई आठ योजन है। इसमें आठ समय के केवलिसमुद्घात का विवरण देते हुये बताया गया है कि प्रथम समय में वे दण्ड, द्वितीय समय में कपाट, और तीसरे समय में मंथान करते हैं। चतुर्थ समय में वे मंथान के छिद्रों को पूरित, पांचवें समय में उन छिद्रों को संकुचित और छटे समय में मंथान को प्रतिसंहरित करते हैं। सातवें समय में कपाट को और आठवें समय में दंड को संकोचते हैं और तदनन्तर वे पुनः स्वशरीरस्थ हो जाते हैं। इस समवाय में भगवान् पार्श्वनाथ के ८ गण और ८ गणधरों के उल्लेख के पश्चात् यह बताया गया है कि जब चन्द्रमा कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा इन आठ नक्षत्रों के साथ रहता है तब प्रमर्द नाम का योग होता है। इस समवाय में कुछ नारकीयों, असुरकुमारों और देवों की मध्यम स्थिति ८ पल्योपम की और उत्कृष्ट स्थिति ८ सागरोपम की बताने के पश्चात यह उल्लेख किया गया है कि अर्चि, अर्चिमालि, वैरोचन आदि ११ विमानों के देवों में से कतिपय देव आठ भवों में सिद्धि प्राप्त करने वाले हैं।

नौवें समवाय में ९ ब्रह्मचर्यगुप्तियों, ९ अब्रह्मचर्यगुप्तियों, आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययनों के नामोल्लेख के पश्चात् बताया गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ के शरीर की ऊंचाई ९ रत्नि (मुण्ड हाथ) थी। इसमें तारामण्डल को रत्नप्रभा पृथिवी के सम भाग से ९०० योजन दूरी पर बताया गया है। इसमें जम्बूद्वीप की जगती में ९ योजन के छेदों के उल्लेख के साथ यह भी बताया गया है कि ९ योजन की लम्बाई-चौड़ाई के मच्छ लवणसमुद्र में से जम्बूद्वीप में पहले भी आये हैं, आते हैं और आते रहेंगे। इस समवाय में जम्बूद्वीप सम्बन्धी विजयद्वार के पार्श्व में नौ-नो भोमों, व्यन्तरों की सुधर्मसभा की ऊंचाई ९ योजन, दर्शनावरणीय कर्म की ९ उत्तरप्रकृतियों और कतिपय नारकीयों, असुरकुमारों, देवों की मध्यम स्थिति ९ पल्योपम और उत्कृष्ट स्थिति

और अनन्तनाथ के ५४ गणधर थे। ५५ वें समवाय में बताया गया है कि भगवान् मल्लिनाथ ५५००० वर्ष आयु पूर्ण कर सिद्ध हुये। ५६ वें समवाय में विमलनाथ के ५६ गण एवं ५६ गणधर बताने के साथ-साथ ५६ संख्या वाले अनेक तथ्यों का उल्लेख किया गया है।

५७ वें समवाय में मल्लिनाथ के ५७०० मनपर्यवज्ञानी, ५८ वें में ज्ञानावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम और अन्तराय – इन पांच कर्मों की ५८ उत्तरप्रकृतियां होने का उल्लेख है। ५९ वीं समवाय में बताया गया है कि चन्द्र संवत्सर में एक ऋतु ५९ अहोरात्र की होती है। ६० वें समवाय में सूर्य का ६० मुहूर्त तक एक मंडल में रहना बताया गया है।

६१ वें समवाय में एक युग के ६१ ऋतुमास कहे गये हैं। ६२ वें समवाय में भगवान् वासुपूज्य के ६२ गण और ६२ ही गणधर बताये गये हैं। ६३ वें समवाय में भगवान् ऋषभदेव के ६३ लाख पूर्व तक राज्य-सिंहासन पर रहने के पश्चात् दीक्षित होने का उल्लेख है। ६४ वें समवाय में चक्रवर्ती की ऋद्धि में अमूल्य अलभ्य मणिरत्नादि के ६४ हारों का उल्लेख है। ६५ वें समवाय में बताया गया है कि गणधर मौर्यपुत्र ६५ वर्ष तक गृहवास में रहने के पश्चात् दीक्षित हुए। ६६ वें समवाय में उल्लेख है कि भगवान् श्रेयांसनाथ के ६६ गण और ६६ गणधर थे तथा मतिज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर की होती है। ६७ वें समवाय में बताया गया है कि एक युग में नक्षत्रमास की गणना से ६७ मास होते हैं। ६८ वें समवाय में उल्लेख है कि धातकीखण्ड द्वीप में चक्रवर्ती की ६८ विजय (प्रदेश), ६८ राजधानियां और उत्कृष्टत: ६८ ही अरिहंतादि उत्तम पुरुष होते हैं तथा भगवान् विमलनाथ के ६८००० साधु थे। ६९ वें समवाय में बताया गया है कि मनुष्यलोक में मेरु को छोड़कर ६९ वर्ष और ६९ वर्षधर पर्वत हैं। ७० वें समवाय में उल्लेख है कि श्रमण भगवान् महावीर ने वर्षावास के १ मास और बीस रात्रि बीतने और ७० रात्रि दिन शेष रहने पर पर्युषण किया तथा भगवान् पार्श्वनाथ ७० वर्ष संयम-पालन कर सिद्ध-मुक्त हुए।

७१ वें समवाय में यह बताया गया है कि भगवान् अजितनाथ और सगर चक्रवर्ती ७१ लाख पूर्व तक गृहवास में रहकर दीक्षित हुए। ७२ वीं समवाय में श्रमण भगवान् महावीर और उनके गणधर अचल भ्राता की ७२ वर्ष की आयु बताई गई है। इसमें चक्रवर्ती के ७२००० नगर होने का तथा ७२ कलाओं का भी उल्लेख किया गया है। ७३ वें समवाय में बताया गया है कि विजय नामक बलदेव ७३ लाख पूर्व आयु पूर्ण कर सिद्ध हुए। ७४ वीं समवाय में गणधर अग्निभूति द्वारा ७४ वर्ष के आयुभोग के पश्चात् सिद्ध होने का उल्लेख है। ७५ वें समवाय में भगवान् सुविधिनाथ के ७५०० केवली, शीतलनाथ के ७५ लाख पूर्व और भगवान् शान्तिनाथ के ७५ हजार वर्ष गृहवास का उल्लेख है। ७६ वें समवाय में विद्युत्कुमार आदि के ७६–७६ भवन बताये गये हैं। ७७ वें समवाय में भरत चक्री के ७७ लाख पूर्व कुमारावस्था में रहने के पश्चात् महाराज पद पर

आरूढ़ होने तथा अंगवंश के ७७ राजाओं के दीक्षित होने का उल्लेख है। ७८ वें समवाय में बताया गया है कि गणधर अकंपित ७८ वर्ष की पूर्ण आयु भोग कर सिद्ध हुए। ७९ वें समवाय में बताया गया है कि छट्टी नरक के मध्य भाग से छट्टे घनोदधि के नीचे के चरमान्त का अन्तर ७९ हजार योजन है। ८० वें समवाय में भगवान् श्रेयांसनाथ, त्रिपृष्ठ वासुदेव और अचल राम की ८० धनुष ऊंचाई का और त्रिपृष्ठ वासुदेव के ८० लाख वर्ष तक महाराज पद पर रहने का उल्लेख है।

समवाय सं० ८१ में भगवान् कुंथुनाथ के ८१०० मन:पर्यवज्ञानी बताये गये हैं। ८२ वें समवाय में उल्लेख है कि ८२ रात्रियां बीतने पर भगवान् महावीर का गर्भांतर में साहरण किया गया। ८३ वें समवाय में यह बताया गया है कि भगवान् शीतलनाथ के ८३ गरण और ८३ गणधर, स्थविर मण्डित के ८३ वर्ष की आयु पूर्ण कर सिद्ध होने तथा भरत चक्रवर्ती के ८३ लाख पूर्व गृहवास में रहकर केवली होने का उल्लेख है। ८४ वें समवाय में सातों नारक पृथ्वियों के ८४ लाख नरकावासों, भगवान् ऋषभदेव की ८४ लाख पूर्व की आयु, भगवान् श्रेयांसनाथ द्वारा ८४ लाख वर्ष का आयु पूर्णकर सिद्ध होने और त्रिपृष्ठ वासुदेव के ८४ लाख वर्ष की आयु के उपभोग के अनन्तर अपइट्ठाणा नरक में जाने का उल्लेख है। इसमें यह भी बताया गया है कि पूर्व से लेकर शीर्ष प्रहेलिका तक की संख्याओं में परवर्ती संख्या अपनी पूर्ववर्तिनी संख्या से ८ गुना अधिक होती है। इसमें भगवान् ऋषभ देव के ८४ गरण, ८४ गणधर और ८४००० साधु बताये गये हैं। ८५ वें समवाय में आचारांग के ८५ उद्देशनकाल बताये गये हैं। ८६ वें समवाय में भगवान् सुविधिनाथ के ८६ गरण और ८६ गणधर तथा भगवान् सुपार्श्वनाथ के ८६०० वादी बताये गये हैं। ८७ वें समवाय में आठ कर्मों में से प्रथम और अन्तिम को छोड़कर शेष छः कर्मों की ८७ उत्तर-प्रकृतियां बताई गई हैं। ८८ वें समवाय में प्रत्येक सूर्य तथा चन्द्र के साथ ८८-८८ महाग्रह बताये गये हैं। ८९ वें समवाय में तीसरे आरे के ८९ पक्ष शेष रहने पर भगवान् ऋषभदेव के मोक्ष पधारने, दशवें हरिषेण चक्रवर्ती के ८९ हजार वर्ष चक्रवर्ती पद पर रहने और भगवान् शान्तिनाथ की ८९००० साध्वियां होने का उल्लेख है। समवाय संख्या ९० में भगवान् अजितनाथ और शान्तिनाथ इन दोनों तीर्थंकरों के ९०–९० गरण और उतने ही गणधर बताये गये हैं।

समवाय संख्या ९१ में भगवान् कुंथुनाथ के अवधिज्ञानी साधुओं की संख्या ९१००० बताई गई है। ९२ वीं समवाय में बतलाया गया है कि स्थविर इन्द्रभूति ९२ वर्ष की पूर्ण आयु भोगकर सिद्ध हुए। ९३ वीं समवाय में भगवान् चन्द्रप्रभ के ९३ गरण और ९३ गणधर तथा शान्तिनाथ के ९३०० चतुर्दश पूर्वधर होने का उल्लेख है। ९४ वीं समवाय में भगवान् अजितनाथ के ९४०० अवधिज्ञानी बताये गये हैं। ९५ वें समवाय में भगवान् सुपार्श्वनाथ के ९५ गरण एवं ९५ गणधर होने, भगवान् कुंथुनाथ के ९५००० वर्ष और स्थविर मौर्यपुत्र के ९५ वर्ष के आयु-

भोग के पश्चात् सिद्ध होने का उल्लेख है। समवाय संख्या ९६ में प्रत्येक चक्रवर्ती के ९६ करोड़ गांव होने का उल्लेख है। ९७ वीं समवाय में आठ कर्मों की ९७ उत्तर-प्रकृतियां तथा भगवान् नमिनाथ के समय में हुए हरिषेण चक्रवर्ती के ९७०० वर्ष से कुछ कम गृहवास में रहने के पश्चात् दीक्षित होने का उल्लेख है। ९८ वीं समवाय में रेवती से ज्येष्ठा पर्यन्त के १९ नक्षत्रों के ९८ तारे बताये गये हैं। ९९ वीं समवाय में मेरू पर्वत को भूमि से ९९ हजार योजन ऊंचा बताया गया है। १०० वें समवाय में शतभिषा के १०० तारे और भगवान् पार्श्वनाथ एवं स्थविर आर्य सुधर्मा की पूर्ण आयु १००–१०० वर्ष बताई गई है।

उपरोक्त १०० समवायों के पश्चात् क्रमशः डेढ सौ, दो सौ, ढाई सौ, तीन सौ, साढे तीन सौ, चार सौ, साढे चार सौ, पांच सौ यावत् एक हजार, ११००, दो हजार से १० हजार, एक लाख से आठ लाख तथा कोटि संख्या वाली विभिन्न वस्तुओं का उल्लिखित संख्या के अनुसार पृथक्-पृथक् ३२ समवायों में संकलनात्मक विवरण दिया गया है। कोटि समवाय में भगवान् महावीर के तीर्थंकर भव से पहले छट्ठे पोटिल के भव का एक करोड़ वर्ष का श्रामण्य-पर्याय बताया गया है। तदनन्तर कोटाकोटि समवाय में भगवान् ऋषभ देव से भगवान् महावीर के बीच का अन्तर एक कोटाकोटि सागर बताया गया है।

कोटाकोटि समवाय के पश्चात् १२ सूत्रों में द्वादशांगी का "गणिपिटक" के नाम से सारभूत परिचय दिया गया है।

तदनन्तर १५७ वें सूत्र में समवसरण के वर्णन तथा जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की अतीत उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी के कुलकरों तथा वर्तमान अवसर्पिणी के कुलकरों तथा उनकी भार्याओं का वर्णन करने के पश्चात् वर्तमान अवसर्पिणी काल के २४ तीर्थंकरों के सम्बन्ध में बड़ा ही महत्वपूर्ण विवरण दिया गया है।

तीर्थंकरों से सम्बन्धित उस विवरण में चौवीसों तीर्थंकरों के पिता तथा माता के नाम, तीर्थंकरों के पूर्वभवों के नाम, तीर्थंकरों की शिविकाओं, जन्म-भूमियों, देवदूष्य, दीक्षा-साथी, दीक्षा-तप, प्रथम भिक्षादाता, प्रथम भिक्षा का समय, प्रथम भिक्षा में मिले पदार्थ, तीर्थंकरों के चैत्यवृक्ष, उन चैत्यवृक्षों की ऊंचाई, चौवीस तीर्थंकरों के प्रथम शिष्यों और प्रथम शिष्याओं के सम्बन्ध में संक्षिप्त एवं परमोपयोगी विपुल जानकारी दी गई है। इसमें यह भी बताया गया है कि तीर्थंकर अन्यलिंग, गृहलिंग अथवा कुलिंग में कभी नहीं होते।

सूत्र संख्या १५८ में चक्रवर्तियों, बलदेवों और वासुदेवों के सम्बन्ध में आवश्यक परिचय और प्रतिवासुदेवों के नाम मात्र दिये गये हैं। यह उल्लेखनीय है कि समवायांग में प्रतिवासुदेवों की महापुरुषों में गणना नहीं की गई है।

सूत्र संख्या १५९ में सर्वप्रथम जम्बूद्वीप के ऐरवत क्षेत्र में हुये इस अवसर्पिणी के २५ तीर्थंकरों, भरत क्षेत्र की आगामी उत्सर्पिणी के सात कुलकरों, ऐरवत क्षेत्र की भावी उत्सर्पिणी के १० कुलकरों और भरतक्षेत्र तथा ऐरवत क्षेत्र के आगामी

उत्सर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों एवं वासुदेवों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी तथा प्रतिवासुदेवों के नाम दिये गये हैं।

उपसंहारात्मक अन्तिम सूत्र में समवायांग की एक संक्षिप्त विषयसूची दी गई है।

यों तो समवायांग की प्रत्येक समवाय, प्रत्येक सूत्र प्रत्येक विषय के जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों के लिए ज्ञातव्य महत्वपूर्ण तथ्यों का महान् भंडार है पर समवायांग के अन्तिम भाग को एक प्रकार से "संक्षिप्त जैन पुराण" की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः वस्तुविज्ञान, जैन सिद्धान्त और जैन इतिहास की दृष्टि से समवायांग एक आत्यंतिक महत्व का श्रुतांग है।

समवायांग की समवाय संख्या ६२ में इन्द्रभूति गौतम के ६२ वर्ष की आयु पूर्ण करने पर सिद्ध होने तथा समवाय संख्या १०० में आर्य सुधर्मा के १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर सिद्ध होने के उल्लेख को तर्क के रूप में प्रस्तुत कर अनेक विद्वान् अपना यह अभिमत प्रकट करते हैं कि समवायांग सूत्र की रचना आर्य सुधर्मा के मोक्षगमन के पश्चात् की गई है। वस्तुस्थिति यह है कि पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्मा जैसे महापुरुषों की आयु के सम्बन्ध में कहीं आगे चल कर किसी प्रकार का भ्रम न हो जाय, इस दृष्टि से उपरोक्त दोनों समवायों में इस प्रकार के उल्लेख अभिवृद्ध किये हैं। केवल इन दो उल्लेखों को देखकर पूरे समवायांग के लिये इस प्रकार की कल्पना कर लेना कि इसकी रचना पश्चाद्वर्ती काल में की गई है वस्तुतः किसी भी दशा में उचित नहीं कहा जा सकता। स्थानांग सूत्र के परिचय में इस प्रकार की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

इस तथ्य को स्वीकार करने में तो किसी भी निष्पक्ष विचारक को किसी प्रकार की हिचक अथवा झिझक नहीं हो सकती कि समवायांग सूत्र का, इसके प्रणयनकाल से लेकर सम्पूर्ण एकादशांगधरों के काल तक जो वृहद् आकार और विशाल स्वरूप था वह आकार और स्वरूप काल के प्रभाव से सिमटते सिकुड़ते आज वहुत छोटा रह गया है। समवायांग, नन्दी आदि सूत्रों तथा दिगम्बर ग्रन्थों में दी गई इस अंग की पदसंख्या के साथ वर्तमान में उपलब्ध इसकी पदसंख्या का मिलान करने पर यह भलीभांति प्रकट हो जाता है कि इस अंग का वहुत वड़ा भाग विलुप्त हो चुका है।

आगमों के वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने समवायांग-वृत्ति की प्रशस्ति में वड़े ही मार्मिक शब्दों में शोक प्रकट करते हुये इस तथ्य को स्वीकार किया है कि प्राचीनकाल में समवायांग का १,४४,००० पदप्रमाण था पर कालप्रभाव से अव उसका वहुत ही छोटा आकार अवशिष्ट रह गया है।[१]

---

[१] यस्य ग्रन्थवरस्य वाक्यजलधेर्लक्षं सहस्राणि च,
चत्वारिंशदहो चतुर्भिरधिका मानं पदानामभूत्।
तस्योच्चैश्चुलुकाकृति निदधतः कालादि दोषात् तथा,
दुर्लेखात् खिलतां गतस्य कुधियः कुर्वन्तु किं मादृशाः॥ [समवायांगवृत्ति (अंतस्थ प्रशस्ति)]

५. वियाह-पण्णत्ति

पांचवां अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति है। इसे भगवती सूत्र के नाम से भी पहिचाना जाता है।

समवायांग सूत्र में व्याख्या प्रज्ञप्ति का निम्नलिखित रूप से परिचय उपलब्ध होता है :–

"व्याख्या प्रज्ञप्ति में जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय, स्व-पर-समयोभय, लोक, अलोक और लोकालोक विषयक विस्तृत व्याख्या–चर्चा की गई है। इसकी परिमित वाचनाएं हैं। इसमें संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढा (छंदविशेष), संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियां, संख्यात संग्रहणियां और संख्यात प्रतिपत्तियां हैं। व्याख्या प्रज्ञप्ति में १ श्रुतस्कन्ध, १०१ अध्ययन, १० हजार उद्देशनकाल, दश हजार समुद्देशनकाल, ३६ हजार प्रश्न एवं उनके उत्तर, २,८८,००० पद और संख्यात अक्षर हैं। व्याख्या प्रज्ञप्ति की वर्णन-परिधि में अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आते हैं। इसमें जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित भावों का वर्णन, प्ररूपण, निदर्शन और उपदेश दिया गया है।"

व्याख्या प्रज्ञप्ति के अध्ययन शतक के नाम से प्रसिद्ध हैं। वर्तमान में इसके ४१ शतक और उनमें से ८ शतक १०५ अवान्तर शतकात्मक हैं। इस प्रकार शतक और अवान्तर शतक इन दोनों की सम्मिलित संख्या १३८ और उद्देशकों की संख्या १८८३ है। व्याख्या प्रज्ञप्ति अन्य सब अंगों की अपेक्षा अतिविशाल अंग है। वर्तमान में इसका पद परिमाण १५७५१ श्लोकप्रमाण है। व्याख्या प्रज्ञप्ति के – वियाह पण्णत्ति, विवाह पण्णत्ति और विबाह पण्णत्ति – ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने इसके "वियाह पण्णत्ति" नाम को सर्वाधिक महत्व देकर सर्व प्रथम इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है :– "वि-विविधा, आ-अभिविधिना, ख्या-ख्यानानि भगवतो महावीरस्य गौतमादीन् विनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्याः ताः प्रज्ञाप्यन्ते, भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्।"

अर्थात् गौतमादि शिष्यों को उनके प्रश्नों के उत्तर में भगवान् महावीर ने अत्युत्तम विधि से जो विविध विषयों का विवेचन किया, वह सुधर्मा स्वामी द्वारा अपने शिष्य जम्बू को प्ररूपित किया गया विशद विवेचन जिसमें दिया हुआ हो वह व्याख्या प्रज्ञप्ति है।

यद्यपि इस अंग का संस्कृत में जहां कहीं भी नाम आया है वहां "व्याख्या प्रज्ञप्ति" ही आया है तथापि वृत्तिकार ने इसके 'विवाह पण्णत्ति' और 'विबाह पण्णत्ति' इन दोनों रूपों की भी व्याख्या की है।

'विवाह पण्णत्ति' – की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है – "वि-वाह-प्रज्ञप्ति' – अर्थात् जिसमें विविध प्रवाहों की प्रज्ञापना की गई है – वह विवाह-पण्णत्ति।

इसी प्रकार 'विबाह पण्णत्ति' शब्द की व्याख्या में लिखा है – 'वि-बाधा-प्रज्ञप्ति' – अर्थात् जिसमें निर्बाध रूप से अथवा प्रमाण से अबाधित निरूपण किया गया है वह विबाह पण्णत्ति है।

इन दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों का इस सूत्र के संस्कृत नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति से किसी भी प्रकार का मेल नहीं बैठता। ऐसा प्रतीत होता है कि इस आगम का प्राकृत नाम मूलतः वियाहपण्णत्ति ही रहा होगा किन्तु लिपिकों एवं प्रतिलिपिकारों की असावधानी के कारण कहीं विवाह पण्णत्ति और कहीं विबाह पण्णत्ति भी लिख दिया गया होगा।

व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक इस पंचम अंग की शैली प्रश्नोत्तर के रूप में है। इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किये और उन प्रश्नों का भगवान् द्वारा उत्तर दिया गया है। इसी प्रश्नोत्तर के रूप में यह सुविशाल आगम आज विद्यमान है। वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने इन प्रश्नोत्तरों की संख्या ३६००० बताई है। उनमें से अनेक प्रश्न और उनके उत्तर छोटे-छोटे हैं। यथा :–

प्रश्न – भगवन् ! ज्ञान का क्या फल है ?
उत्तर – विज्ञान।
प्रश्न – विज्ञान का क्या फल है ?
उत्तर – प्रत्याख्यान।
प्रश्न – प्रत्याख्यान का क्या फल है ?
उत्तर – संयम।

अनेक प्रश्नोत्तर बहुत बड़े-बड़े हैं। कहीं-कहीं तो एक ही प्रश्न ऐसा है कि उसके उत्तर में पूरा का पूरा एक शतक भर गया है। उदाहरण के रूप में मंखलि गोशालक के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया गया है उसके उत्तर में पूरा का पूरा पन्द्रहवां शतक आ गया है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति के ग्रथन में जो प्रश्नोत्तर की शैली अपनाई गई है वह वस्तुतः अति प्राचीन प्रतीत होती है। भट्ट अकलंक ने अचेलक परम्परा के ग्रन्थ राजवार्तिक में व्याख्या प्रज्ञप्ति की इस शैली का उल्लेख किया है।[1]

भगवती सूत्र के ४१ मूल शतक हैं। प्रथम शतक में चलन आदि १० उद्देशक हैं। प्रारम्भ में नमस्कार मंत्र और ब्राह्मी लिपि व श्रुत के नमस्कार द्वारा मंगलाचरण किया गया है। प्रश्नोत्थान में महावीर और गौतम का संक्षिप्त परिचय है। तत्पश्चात् चलित आदि ९ प्रश्न, २४ दण्डक के आहार, स्थिति एवं श्वासोच्छ्वास काल का विचार, आत्मारम्भ आदि, संवृत-असंवृत, अनगार और असंयत की देवगति का कारण बताया गया है। स्वकृत दुःख का वेदन, उपपात के असंयत आदि १३ बोल, कांक्षामोहनीय आदि २४ दण्डकों के आवास - स्थिति

[1] "एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडकेषु उक्तम्······
······इति गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम्। [राजवार्तिक, अ० ४, सू० २६, पृ० २४५]

आदि स्थान, सूर्यलोक, अलोक, क्रिया, महावीर और रोहक के प्रश्नोत्तर, लोक-स्थिति में मशक का उदाहरण, जीव और पुद्गल के सम्बन्ध में सछिद्रा नाव का उदाहरण, जीवादि का गुरुत्व-लघुत्व विचार, सामायिक आदि पदों के अर्थ, उपपात विरह आदि का इसमें वर्णन है।

दूसरे शतक में १० उद्देशक हैं जिनमें श्वासोच्छ्वास का विचार, स्कन्दक परिव्राजक के लोक और मरण सम्बन्धी प्रश्न, समाधान के लिये स्कन्दक का महावीर के पास आगमन, गौतम द्वारा स्वागत, समाधान पाकर स्कन्दक द्वारा दीक्षा–ग्रहण, तुंगिया के श्रावकों द्वारा पार्श्वापत्यों से प्रश्नोत्तर, समुद्घात, सात पृथ्वियां, इन्द्रियवर्णन, उदग्गर्भविचार, तिर्यग्गर्भ, मानुषी गर्भ, मनुष्य और तिर्यंच स्त्री के बीज की स्थिति, एक जीव के पिता-पुत्र का उत्कृष्ट परिमाण आदि का उल्लेख है।

तीसरे शतक में १० उद्देशक हैं जिनमें तामली तापस की साधना, नियाण नहीं करने से दूसरे स्वर्ग में उत्पाद, प्रणामा प्रव्रज्या, दूसरे उद्देशक में चमरेन्द्र के पूर्वभव पूरण तापस की दानाभा प्रव्रज्या, सौधर्म देवलोक जाना, महावीर की शरण में आना आदि, उद्देशक ३ में क्रिया-विचार, उद्देशक ४ में अनगार वैक्रिय, उद्देशक ५, ६ में भी विक्रिया, उद्देशक ७ में लोकपाल सोम आदि और उनके कार्य का उल्लेख है।

शतक ४ में १० उद्देशक हैं।

पाँचवें शतक के १० उद्देशकों में से ७वें उद्देशक में नारदपुत्र और निग्रन्थी-पुत्र का सम्वाद है।

शतक ६ में वेदना आदि १० उद्देशक हैं, उनमें महावेदना में भी नरक की अल्प निर्जरा, श्रमण निर्ग्रन्थ की महानिर्जरा, निर्जरा के लिये कर्दम राग और खंजन राग के वस्त्र का उदाहरण, अग्नि में सूखे तृणों की पूली और तपे हुए तवे पर जलाबिन्दु के समान श्रमण के कर्मभोग महानिर्जराजनक होते हैं, अल्पवेदन – महानिर्जरा की सोदाहरण चौभंगी, मुहूर्त के श्वासोच्छ्वास और कालमान, आवलिका से उत्सर्पिणी अवसर्पिणी, पृथ्वियां, बंध आदि का उल्लेख है।

७वें शतक में आहार आदि १० उद्देशक हैं। उनमें आहारक-अनाहारक कर्म की गति, पच्चखाण के भेद और स्वरूप, साता-असाता के बन्ध-कारण और छठे आरे का छठे उद्देशक में वर्णन किया गया है। महाशिला कण्टक और रथमूसल संग्राम का वर्णन, वरुण नाग का अभिग्रह और दिव्य गति – ये इस शतक के महत्वपूर्ण उल्लेख हैं।

८वें शतक में १० उद्देशक हैं। प्रथम में पुद्गल, दूसरे में आशीविष और ज्ञानलब्धि, तीसरे में वृक्ष, पांचवें में ३६ भांगा, श्रावक और आजीवक उपासक की तुलना, छठे में तीन प्रकार के दान, एकान्त निर्जरा आदि, आठवें में आचार्य आदि के प्रत्यनीक, ५ व्यवहार बन्ध आदि, ६वें और १०वें उद्देशकों में बन्ध आदि का वर्णन किया गया है।

९वें शतक में ३४ उद्देशक हैं, जिनमें असोच्चा केवली, गांगेयभंग और ऋषभ दत्त – देवानन्दा व जमाली के बोध आदि का वर्णन है।

१०वें शतक में २८ अन्तर्द्वीप आदि के ३४ उद्देशक हैं।

११वें शतक में १२ उद्देशक हैं। इनमें शिवराज ऋषि की प्रव्रज्या, सुदर्शन श्रेष्ठी के कालविषयक प्रश्न का उत्तर, महाबल का वर्णन, आलंभिका के इसिभद्रपुत्र श्रावक पुद्गल का वर्णन आदि है। यह परिव्राजक पुद्गल भगवान् महावीर के पास दीक्षित होकर सिद्ध बुद्ध हुए।

१२वें शतक में शंख आदि १० उद्देशक हैं। इसमें सावत्थी के शंख एवं पोखली श्रावक और उनके द्वारा सामूहिक रूप से खा पीकर पाक्षिक पौषध-विचार, उपासिका उत्पला का पुष्कली श्रमणोपासक के प्रति शिष्टाचार आदि का वर्णन है।

दूसरे उद्देशक में श्रमणोपासिका जयन्ती द्वारा भगवान् महावीर से तात्विक प्रश्नोत्तर, उदायी राजा द्वारा भगवद्वन्दन आदि का तथा तृतीय उद्देशक में सात पृथ्वियां और चौथे उद्देशक में पुद्गलपरिवर्तन का विचार है। पांचवें उद्देशक में रूपी-अरूपी, छठे में राहु का, सातवें उद्देशक में लोक, आठवें उद्देशक में नाग के रूप में देव की उत्पत्ति और उसका एकाभवावतारीपन, नौवें में ५ देव, तथा दशवें में ८ प्रकार की आत्मा का वर्णन है।

१३वें शतक में १० उद्देशक हैं। प्रथम ६ उद्देशकों में क्रमशः सात पृथ्वियों में नारक जीवों की उत्पत्ति आदि, चार जाति के देव, नारक, पृथ्वी, नारक का आहार, उपपात, राजा उद्दयन द्वारा भगवद्वन्दन, प्रव्रज्या का विचार, पुत्र अभीचि के हितार्थ केशी का राज्याभिषेक, उदयन की दीक्षा, अभीचि कुमार का मनोमालिन्य और कूणिक के पास गमन, अभीचिकुमार द्वारा श्रावकधर्मग्रहण और अनालोचनापूर्वक मरण के कारण असुर योनि में उत्पन्न होने का वर्णन है। सातवें उद्देशक में भाषा, मन, काय और मरण का विचार है। आठवें उद्देशक में कर्मप्रकृति, ९वें उद्देशक में अनगार की विक्रिया और दसवें में ६ समुद्घात का वर्णन है।

१४ वें शतक में १० उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में भावितात्मा अनगार की देवावास में उत्पत्ति, नैरयिकों की शीघ्र गति और आयुवन्ध, दो में उन्माद आदि, तीन में मध्यगति, विनय और पुद्गल आदि, ४ में पुद्गल, पांच में अग्नि, छः में आहार, ७ में गौतम को केवलज्ञान की अप्राप्ति से खिन्नता और भगवान् द्वारा उन्हें केवलज्ञान-प्राप्ति होने व अपने समान ही अक्षय पदप्राप्ति का आश्वासन आदि, आठवें उद्देशक में अन्तर, शालवृक्ष की पूजा, अम्वड़ परिव्राजक, जृम्भक देव आदि, नौवें में अनगार और दशवें में केवली के ज्ञान का वर्णन है।

पन्द्रहवें शतक में कोई उद्देशक नहीं है। इसमें गोशालक का परिचय, भगवान् महावीर की दीक्षा, भगवान् का प्रथम वर्षावास अस्थिग्राम में, दूसरा

राजगृह में, दान की महिमा देखकर गोशालक का आगमन और छः वर्ष तक भगवान् के साथ विहार, तिल के पौधे को देख कर गोशालक की भगवान् से पृच्छा से लेकर गोशालक को तेजोलेश्या की प्राप्ति एवं उसके द्वारा भविष्य-कथन तक का वृत्तांत है।

१६ वें शतक के १४ उद्देशक हैं, जिनमें से पहले में अधिकरण, दूसरे में जरा, शोक, अवग्रह, शक्रेन्द्र की भाषा आदि, तीसरे उद्देशक में कर्म-क्रियाविचार, चौथे में अधिक निर्जरा के हेतु, पांचवें में गंगदेव, छठे में स्वप्नविचार, सातवें में उपयोग, आठवें में लोक, नौवें में बली इन्द्र, दशवें में अवधिज्ञान, ग्यारहवें में द्वीपकुमार, बारहवें में उदधिकुमार, तेरहवें में दिशाकुमार और चौदहवें उद्देशक में स्तनितकुमार का वर्णन है।

१७ वें शतक में १७ उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में उदायी हस्ती और क्रियाविचार, दूसरे में धार्मिक-अधार्मिक, धर्म, अधर्म, धर्माधर्म, जीव—बाल, पंडित और बालपण्डित आदि, तीसरे में शैलेषी विचार, चौथे में क्रिया, पांचवें में सुधर्मा सभा, छठे-सातवें में पृथ्वीकायिक, आठवें और नौवें में अप्कायिक, दशवें-ग्यारहवें में वायुकायिक, १२ वें में एकेन्द्रिय, तेरहवें में नागकुमार, चौदहवें में स्वर्णकुमार, पन्द्रहवें में विद्युत्कुमार, १६ वें में वायुकुमार और १७ वें में अग्निकुमार का वर्णन है।

१८ वें शतक में १० उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में प्रथम तथा अप्रथम का विचार, दूसरे में विशाखा नगर के कार्तिक सेठ की तपस्या, तीसरे में माकंदीपुत्र का स्थविरों से प्रश्नोत्तर, चार में प्राणातिपात, पांच में असुरकुमार, छः में गुड़ आदि के वर्ण प्रभृति, सात में केवली, उपधि, परिग्रह, मद्रुक श्रावक के साथ अन्य-तीर्थिक के प्रश्नोत्तर, देवासुरसंग्राम, आठवें में अनगार क्रिया, नौवें में भव्य, द्रव्य, जीव, दशवें में सोमिल का भगवान् महावीर से शंकासमाधान, साधना, निर्वाण आदि का वर्णन किया गया है।

१९ वें शतक में १० उद्देशक हैं।

२० वें शतक में १० उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में द्विन्द्रिय आदि जीवों के शरीर बन्ध आदि, दूसरे में आकाश, तीसरे में प्राणिवध आदि १८ पाप और पापविरक्ति आदि, चौथे में इन्द्रियोपचय, पांचवें में परमाणु आदि, छठे में अन्तर आदि, सातवें में बन्ध, आठवें में कर्मभूमि अकर्मभूमि, तीर्थंकर और अन्तरकाल, कालिक सूत्र का विच्छेद-अविच्छेद, पूर्वज्ञान की स्थिति, तीर्थ, तीर्थंकर आदि, नौवें उद्देशक में चारणमुनि, और दशवें उद्देशक में सोपक्रम, निरुपक्रम आयु आदि का वर्णन है।

२१ वें शतक में ८ वर्ग और प्रत्येक वर्ग में दश-दश के हिसाब से ८० उद्देशक हैं।

२२ वें शतक में ६ वर्ग और छहों वर्गों में — प्रत्येक वर्ग के दश-दश उद्देशक के हिसाब से कुल ६० उद्देशक हैं।

२३ वें शतक में ५ वर्ग और प्रत्येक वर्ग के दश-दश उद्देशक के हिसाब से कुल ५० उद्देशक हैं।

२४ वें शतक में २४ उद्देशक हैं।

२५ वें शतक में १२ उद्देशक हैं। पहले में लेश्या और योग का, दूसरे में द्रव्य का, तीसरे में संस्थान, गणिपिटक, अल्पबहुत्व, चार में युग्म और पर्याय, अल्प बहुत्व आदि, पांचवें में कालपर्यव और दो प्रकार के निगोद, छठे में पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ का ३६ द्वारों से वर्णन, सातवें में पांच प्रकार के संयम का ३६ द्वार से वर्णन करके दश प्रतिसेवना, दश आलोचना दोष, दश आलोचनायोग्य, दश समाचारी, दश प्रायश्चित्त, और तप के बारह भेदों का विस्तृत वर्णन है। आठवें उद्देशक में समुच्चय नारक, नौवें में भव्य नारक, दशवें में अभव्य नारक, ग्यारहवें में समदृष्टि और बारहवें में मिथ्यादृष्टि नारक की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

२६ वें शतक में ११ उद्देशक हैं। पहले में जीव के पापबन्ध का विचार दूसरे में अनन्तरोपपन्न, तीसरे में परंपरोपपन्न, चौथे में अनन्तरावगाढ़, पांचवें उद्देशक में परम्परावगाढ़, छठे में अनन्तराहारक, सातवें में परम्पराहारक, आठवें में अन्तर्पर्याप्त, नौवें में परम्परपर्याप्त, दशवें में चरम और ११ वें में अचरम चौवीस दण्डक के जीवों में वन्ध कहा गया है।

२७ वें शतक में ११ उद्देशकों से पाप कर्म के बन्ध का विचार किया गया है।

२८ वें शतक में ११ उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में भूतकाल के बन्ध आदि का वर्णन किया गया है और शेष १० उद्देशक २६ वें शतक के उद्देशकों के समान हैं।

२९ वें शतक में ११ उद्देशक हैं जिनमें से पहले अध्ययन में पाप कर्मों के वेदन का विवरण दिया गया है और शेष १० उद्देशक छब्वीसवें शतक के उद्देशकों के समान हैं।

३० वें शतक में ११ उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में चार समवसरण और जीव के सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। शेष दश उद्देशक २६ वें शतक के उद्देशकों के समान हैं।

३१ वें शतक में २८ उद्देशक हैं जिनमें चार युग्म से नरक के उपपात का विवरण दिया गया है।

३२ वें शतक में २८ उद्देशक हैं जिनमें नारक का उद्वर्तन ३१ वें शतक के समान बताया गया है।

३३ वें शतक में १२ अवान्तरशतक हैं जिन्हें १२ एकेन्द्रिय शतक के नाम से सम्बोधित किया गया है। प्रथम ८ अवान्तरशतकों के ११-११ और अंतिम ४

के ९-९ उद्देशक के हिसाब से इस तेतीसवें शतक के कुल १२४ उद्देशक हैं। प्रथम एकेन्द्रिय शतक के प्रथम उद्देशक में एकेन्द्रिय के पृथ्वी, अप, तेज वायु और वनस्पति ये पांच भेद और उनके उपभेद बताते हुए उनके कर्मप्रकृतियों के बन्धन एवं वेदन का और शेष १० उद्देशकों में क्रमशः अनन्तरोपपन्न एकेन्द्रिय, परम्परोपपन्न एकेन्द्रिय अनन्तरावगाढ़ पंचकाय, परम्परावगाढ़ पंचकाय, अनन्तराहारक पंचकाय, परम्पराहारक पंचकाय, अनन्तर पर्याप्त पंचकाय, परम्पर पर्याप्त पंचकाय, चरम पंचकाय और अचरम पंचकाय आदि के सम्बन्ध में सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

द्वितीय एकेन्द्रिय शतक (अवान्तरशतक) में कृष्णलेश्यी, तृतीय में नील लेश्यी चौथे में कापोतलेश्यी, पांचवें में भवसिद्धिक, छठे में कृष्णलेश्यायुक्त भवसिद्धिक एकेन्द्रिय, सातवें में नील लेश्या के साथ, आठवें में कापोतलेश्या के साथ, नौवें में अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय, दशवें में कृष्णलेश्यी, ग्यारहवें में नीललेश्यी और बारहवें में कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय अभव्य का विवेचन किया गया है।

३४ वें शतक में १२ अवान्तरशतक और प्रथम आठ अवान्तर शतकों के ११-११ उद्देशक और अन्तिम चार अवान्तरशतकों के ९-९ उद्देशक के हिसाब से इस ३४ वें शतक में कुल १२४ उद्देशक हैं।

प्रथम एकेन्द्रिय शतक समुच्चय में अनन्तरोपपन्न से अचरम तक ११ उद्देशक हैं। दूसरे में कृष्णलेश्यी, तीसरे में नीललेश्यी, चौथे में कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय, पांचवें में भवसिद्धिक एकेन्द्रिय, छठे में कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक, सातवें में नीललेश्यायुक्त मन, आठवें में कापोतलेश्यायुक्त मन का विवेचन है। इन आठों अवान्तरशतकों के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक हैं।

नौवें अवान्तर शतक में अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय, दशवें अवान्तरशतक में कृष्णलेश्यी, ग्यारहवें में नीललेश्या, बारहवें में कापोतलेश्यायुक्त अभवसिद्धिक का वर्णन है। इन चारों अवान्तर शतकों के प्रत्येक के ९-९ उद्देशक हैं।

३५ वें शतक में भी प्रथम एकेन्द्रिय महायुग्म शतक से लेकर द्वितीय, तृतीय यावत् द्वादश एकेन्द्रिय महायुग्म शतक तक बारह अवान्तरशतक हैं। इनमें पहले के ८ अवान्तरशतकों में ग्यारह-ग्यारह उद्देशक और अन्त के ४ अवान्तरशतकों के ९-९ उद्देशक हैं। इस प्रकार इस ३५ वें शतक के कुल मिलाकर १२४ उद्देशक हैं।

प्रथम एकेन्द्रिय महायुग्म शतक (अवान्तरशतक) के पहले उद्देशक में महायुग्म के १६ भेद, उनके हेतु, कृतयुग्म राशिरूप एकेन्द्रिय का उपपात, एक समय के उपपात, जीवों की संख्या, कृतयुग्म-कृतयुग्म राशिरूप एकेन्द्रियों के आठ कर्मों के बन्ध-वेदन, साता असाता वेदन, इनकी लेश्याएं – शरीर के वर्ण – अनुबन्धकाल, सर्व जीवों के इस राशि में उत्पाद आदि २० स्थानों का निरूपण किया गया है। द्वितीय उद्देशक में प्रथम समयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रियों के उत्पाद और अनुबन्ध का निरूपण, तृतीय उद्देशक में अप्रथम समयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्म

प्रमाण एकेन्द्रियों के उत्पाद का, चौथे में चरम समय, पांचव में अचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण के एकेन्द्रियों के उत्पाद का, छठे में प्रथम समय, सातवें में प्रथम अप्रथम समय, आठवें में प्रथम चरम समय, नौवें में प्रथम अचरम समय, दशवें में चरम-अचरम समय और ग्यारहवें में चरम-अचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण एकेन्द्रियों के उत्पाद का वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय चतुर्थ यावत् बारहवें अवान्तरशतक में क्रमशः कृष्णलेश्य, नीललेश्य, कापोतलेश्य, भवसिद्धिक, कृष्णलेश्य भवसिद्धिक,नीललेश्य भवसिद्धिक कापोतलेश्य भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, कृष्णलेश्य अभवसिद्धिक, नीललेश्य अभवसिद्धिक और कापोतलेश्य अभवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण एकेन्द्रियों के उत्पाद का प्रथम अवान्तरशतक के समान वर्णन किया गया है।

३६ वें शतक में १२ अवान्तर शतक और उनके कुल मिलाकर १२४ उद्देशक हैं। इन बारहों अवान्तर शतकों में बेइन्द्रिय महायुग्म के उत्पाद आदि का वर्णन किया गया है अतः इनके नाम प्रथम, द्वितीय, यावत् द्वादश बेइन्द्रिय महायुग्म शतक रखे गये हैं। इनमें से प्रथम आठ अवान्तर शतकों के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक और शेष चार के ९-९ उद्देशक हैं। इन सब अवान्तरशतकों के उद्देशकों में ३५ वें शतक के एकेन्द्रिय महायुग्म अवान्तर शतकों के उद्देशकों के समान ही बेइन्द्रियों के उत्पाद अनुबन्ध और लेश्याओं के अनुक्रम से कृतयुग्म-कृतयुग्म बेइन्द्रियों का वर्णन किया गया है।

३७ वें शतक में भी १२ अवान्तर शतक हैं। इसमें कुल मिलाकर १२४ उद्देशक हैं। इस शतक में कृतयुग्म-कृतयुग्म त्रीन्द्रिय जीवों के उत्पाद आदि का पैंतीसवें शतक के समान ही वर्णन किया गया है।

३८ वें शतक में १२ अवान्तरशतक और १२४ उद्देशक हैं। इस शतक में ३४ वें शतक के समान कृतयुग्म-कृतयुग्म चतुरिन्द्रियों के उत्पाद आदि का वर्णन किया गया है।

३९ वें शतक में भी १२ अवान्तरशतक और १२४ उद्देशक हैं जिनमें ३४ वें शतक के सनान ही असंज्ञी पंचेन्द्रियों के उपपात आदि का वर्णन किया गया है।

४० वें शतक में २१ अवान्तरशतक और प्रत्येक के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक के हिसाब से कुल मिलाकर २३१ उद्देशक हैं। इस शतक में संज्ञी पंचेन्द्रिय महायुग्मों के उत्पाद आदि का ३४ वें शतक के अनुसार ही वर्णन किया गया है।

४१ वें (अन्तिम) शतक में कुल मिलाकर १९६ उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में राशियुग्म के चार भेद, उन भेदों के हेतु कृतयुग्म राशि प्रमाण चौवीस दण्डकों के जीवों के उपपात, सान्तर अथवा निरन्तर उपपात, कृतयुग्म के साथ अन्य राशियों के सम्बन्ध का निषेध जीवों के उपपात की पद्धति, उपपात का हेतु. आत्मा

के ६-६ उद्देशक के हिसाब से इस तेतीसवें शतक के कुल १२४ उद्देशक हैं। प्रथम एकेन्द्रिय शतक के प्रथम उद्देशक में एकेन्द्रिय के पृथ्वी, अप, तेज वायु और वनस्पति ये पांच भेद और उनके उपभेद बताते हुए उनके कर्मप्रकृतियों के बन्धन एवं वेदन का और शेष १० उद्देशकों में क्रमशः अनन्तरोपपन्न एकेन्द्रिय, परम्परोपपन्न एकेन्द्रिय अनन्तरावगाढ़ पंचकाय, परम्परावगाढ़ पंचकाय, अनन्तराहारक पंचकाय, परम्पराहारक पंचकाय, अनन्तर पर्याप्त पंचकाय, परम्पर पर्याप्त पंचकाय, चरम पंचकाय और अचरम पंचकाय आदि के सम्बन्ध में सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

द्वितीय एकेन्द्रिय शतक (अवान्तरशतक) में कृष्णलेश्यी, तृतीय में नील लेश्यी चौथे में कापोतलेश्यी, पांचवें में भवसिद्धिक, छठे में कृष्णलेश्यायुक्त भवसिद्धिक एकेन्द्रिय, सातवें में नील लेश्या के साथ, आठवें में कापोतलेश्या के साथ, नौवें में अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय, दशवें में कृष्णलेश्यी, ग्यारहवें में नीललेश्यी और वारहवें में कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय अभव्य का विवेचन किया गया है।

३४ वें शतक में १२ अवान्तरशतक और प्रथम आठ अवान्तर शतकों के ११-११ उद्देशक और अन्तिम चार अवान्तरशतकों के ६-६ उद्देशक के हिसाव से इस ३४ वें शतक में कुल १२४ उद्देशक हैं।

प्रथम एकेन्द्रिय शतक समुच्चय में अनन्तरोपपन्न से अचरम तक ११ उद्देशक हैं। दूसरे में कृष्णलेश्यी, तीसरे में नीललेश्यी, चौथे में कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय, पांचवें में भवसिद्धिक एकेन्द्रिय, छठे में कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक, सातवें में नीललेश्यायुक्त मन, आठवें में कापोतलेश्यायुक्त मन का विवेचन है। इन आठों अवान्तरशतकों के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक हैं।

नौवें अवान्तर शतक में अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय, दशवें अवान्तरशतक में कृष्णलेश्यी, ग्यारहवें में नीललेश्या, वारहवें में कापोतलेश्यायुक्त अभवसिद्धिक का वर्णन है। इन चारों अवान्तर शतकों के प्रत्येक के ६-६ उद्देशक हैं।

३५ वें शतक में भी प्रथम एकेन्द्रिय महायुग्म शतक से लेकर द्वितीय, तृतीय यावत् द्वादश एकेन्द्रिय महायुग्म शतक तक वारह अवान्तरशतक हैं। इनमें पहले के ८ अवान्तरशतकों में ग्यारह-ग्यारह उद्देशक और अन्त के ४ अवान्तरशतकों के ६-६ उद्देशक हैं। इस प्रकार इस ३५ वें शतक के कुल मिलाकर १२४ उद्देशक हैं।

प्रथम एकेन्द्रिय महायुग्म शतक (अवान्तरशतक) के पहले उद्देशक में महायुग्म के १६ भेद, उनके हेतु, कृतयुग्म राशिरूप एकेन्द्रिय का उपपात, एक समय के उपपात, जीवों की संख्या, कृतयुग्म-कृतयुग्म राशिरूप एकेन्द्रियों के आठ कर्मों के वन्ध-वेदन, साता असाता वेदन, इनकी लेश्याएं – शरीर के वर्ण – अनुवन्धकाल, सर्व जीवों के इस राशि में उत्पाद आदि २० स्थानों का निरूपण किया गया है। द्वितीय उद्देशक में प्रथम समयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रियों के उत्पाद और अनुवन्ध का निरूपण, तृतीय उद्देशक में अप्रथम समयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्म

प्रमाण एकेन्द्रियों के उत्पाद का, चौथे में चरम समय, पांचव में अचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण के एकेन्द्रियों के उत्पाद का, छठे में प्रथम समय, सातवें में प्रथम अप्रथम समय, आठवें में प्रथम चरम समय, नौवें में प्रथम अचरम समय, दशवें में चरम-अचरम समय और ग्यारहवें में चरम-अचरम समय कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण एकेन्द्रियों के उत्पाद का वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय चतुर्थ यावत् बारहवें अवान्तरशतक में क्रमशः कृष्णलेश्य, नीललेश्य, कापोतलेश्य, भवसिद्धिक, कृष्णलेश्य भवसिद्धिक, नीललेश्य भवसिद्धिक कापोतलेश्य भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, कृष्णलेश्य अभवसिद्धिक, नीललेश्य अभवसिद्धिक और कापोतलेश्य अभवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्म प्रमाण एकेन्द्रियों के उत्पाद का प्रथम अवान्तरशतक के समान वर्णन किया गया है।

३६ वें शतक में १२ अवान्तर शतक और उनके कुल मिलाकर १२४ उद्देशक हैं। इन बारहों अवान्तर शतकों में बेइन्द्रिय महायुग्म के उत्पाद आदि का वर्णन किया गया है अतः इनके नाम प्रथम, द्वितीय, यावत् द्वादश बेइन्द्रिय महायुग्म शतक रखे गये हैं। इनमें से प्रथम आठ अवान्तर शतकों के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक और शेष चार के ६-६ उद्देशक हैं। इन सब अवान्तरशतकों के उद्देशकों में ३५ वें शतक के एकेन्द्रिय महायुग्म अवान्तर शतकों के उद्देशकों के समान ही बेइन्द्रियों के उत्पाद अनुबन्ध और लेश्याओं के अनुक्रम से कृतयुग्म-कृतयुग्म बेइन्द्रियों का वर्णन किया गया है।

३७ वें शतक में भी १२ अवान्तर शतक हैं। इसमें कुल मिलाकर १२४ उद्देशक हैं। इस शतक में कृतयुग्म-कृतयुग्म त्रीन्द्रिय जीवों के उत्पाद आदि का पैंतीसवें शतक के समान ही वर्णन किया गया है।

३८ वें शतक में १२ अवान्तरशतक और १२४ उद्देशक हैं। इस शतक में ३४ वें शतक के समान कृतयुग्म-कृतयुग्म चतुरिन्द्रियों के उत्पाद आदि का वर्णन किया गया है।

३९ वें शतक में भी १२ अवान्तरशतक और १२४ उद्देशक हैं जिनमें ३४ वें शतक के सनान ही असंज्ञी पंचेन्द्रियों के उपपात आदि का वर्णन किया गया है।

४० वें शतक में २१ अवान्तरशतक और प्रत्येक के ग्यारह-ग्यारह उद्देशक के हिसाब से कुल मिलाकर २३१ उद्देशक हैं। इस शतक में संज्ञी पंचेन्द्रिय महायुग्मों के उत्पाद आदि का ३४ वें शतक के अनुसार ही वर्णन किया गया है।

४१ वें (अन्तिम) शतक में कुल मिलाकर १९६ उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में राशियुग्म के चार भेद, उन भेदों के हेतु कृतयुग्म राशि प्रमाण चौवीस दण्डकों के जीवों के उपपात, सान्तर अथवा निरन्तर उपपात, कृतयुग्म के साथ अन्य राशियों के सम्बन्ध का निषेध जीवों के उपपात की पद्धति, उपपात का हेतु, आत्मा

का असंयम आदि का वर्णन करने के पश्चात् सलेश्य और सक्रिय आत्म असंयमी और क्रिया रहित की सिद्धि आदि का निरूपण किया गया है।

द्वितीय उद्देशक में त्र्योज राशि प्रमाण चौवीस दण्डक के जीवों का उपपात, तृतीय में द्वापर और चतुर्थ में कल्योज राशि प्रमाण चौवीस दण्डकों के जीवों के उपपात के विषय में विवरण दिया गया है।

पंचम उद्देशक में कृष्णलेश्या वाले कृतयुग्म प्रमाण, छठे में कृष्ण लेश्या त्र्योज राशि प्रमाण, सातवें में कृष्ण लेश्या वाले द्वापर युग्म प्रमाण और आठवें में कृष्ण लेश्या वाले कल्योज प्रमाण चौवीस दण्डकों के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

नवमें से १२ वें उद्देशक में नीललेश्या वाले, तेरहवें से सोलहवें उद्देशक में कापोत लेश्या वाले, सत्रहवें से बीसवें उद्देशक में तेजोलेश्या वाले, २१ वें से चौवीसवें उद्देशक में पद्म लेश्या वाले, और पच्चीसवें से २८ वें उद्देशक में शुक्ललेश्या वाले चार राशि युग्म प्रमाण चौवीस दण्डकों के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

२९ वें से ५६ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण भवसिद्धिक, ५७ से ८४ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण अभवसिद्धिक, ८५ से ११२ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण सम्यग्दृष्टि भवसिद्धिक, ११३ वें से १४० वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण मिथ्यादृष्टि भवसिद्धिक कृष्ण लेश्या यावत् शुक्ल लेश्या वाले चौवीस दण्डक के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

१४१ वें से १६८ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण कृष्णपक्षी और १६९ वें से १९६ उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण शुक्लपक्षी चौवीस दण्डकों के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति में भगवान् महावीर के जीवन का, उनके शिष्यों, भक्तों, गृहस्थ अनुयायियों, अन्य तीर्थिकों एवं उनकी मान्यताओं का विस्तृत परिचय दिया गया है। गौशालक के सम्बन्ध में जितना विस्तृत परिचय इस अङ्ग में मिलता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इसके साथ ही साथ भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायियों तथा चातुर्याम धर्म के सम्बन्ध में व्याख्या प्रज्ञप्ति में स्थान-स्थान पर विवरण मिलते हैं। भगवान् महावीर के पंचमहाव्रत धर्म से प्रभावित होकर अनेक पार्श्वापत्यों ने चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंचमहाव्रत धर्म अंगीकार किया, इस प्रकार के विवरण व्याख्या प्रज्ञप्ति में बहुलता से उपलब्ध होते हैं।

इसके अतिरिक्त कूणिक और महाराज चेटक के बीच हुए महाशिलाकण्टक संग्राम एवं रथमूसल संग्राम नामक दो महायुद्धों का व्याख्याप्रज्ञप्ति में बड़ा ही

मार्मिक वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि उन दोनों महायुद्धों में क्रमशः ८४ लाख और ९६ लाख योद्धा दोनों पक्षों के मारे गये।[1]

व्याख्या प्रज्ञप्ति के २१ वें, २२ वें और २३ वें शतकों में जो वनस्पतियों का वर्गीकरण किया गया है वह अनुपम है।

इस प्रकार व्याख्या प्रज्ञप्ति में ३६ हजार प्रश्नोत्तरों के रूप में विविध विषयों का अथाह ज्ञान संकलित कर लिया गया है जो जैन सिद्धान्त, इतिहास, भूगोल, राजनीति आदि अनेक दृष्टियों से बड़ा ही महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ आध्यात्मिक तत्व की कुँजी की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। तत्कालीन, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों पर व्याख्या प्रज्ञप्ति में दिये गये अनेक विवरण समीचीन रूप से साधिकारिक प्रकाश डालते हैं।

इस पंचम अंग में देवगति प्राप्त करने वाले प्राणियों के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह बताया गया है कि संयम का निरतिचार रूप से पलन करने वाले केवल बाहरी रूप से संयम का पालन करने वाले, असंयत, संयम के विराधक, श्रावकधर्म का न्यूनाधिक रूपेण पालन करने वाले, असंज्ञी जीव, तापस जो जिन प्रवचनों का पालन नहीं करते, कांदर्पिक, चरक अर्थात् त्रिदण्डी, लंगोटधारी परिव्राजक, कपिल के शिष्य, ज्ञानियों, साधुओं तथा धर्माचार्यों की निन्दा करने वाले, किल्विषिक अर्थात् बाह्य रूप से जैन श्रमणाचार का पालन करने वाले और जिन-मार्गानुयायी तिर्यंच कम से कम और अधिक से अधिक किन-किन देवयोनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। इस विवरण में बौद्ध भिक्षुकों का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, यह केवल विचारणीय ही नहीं अपितु गहन शोध का विषय भी है। क्या वस्तुतः इस अंग की रचना के समय तक बौद्ध धर्म का इतना प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया था अथवा कोई अन्य कारण रहा है जिससे कि बौद्ध धर्म के भिक्षुओं का इस प्रकरण में नामोल्लेख तक नहीं किया गया है ?

सभी विद्वानों का यह तो निश्चित अभिमत है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति का विषयवर्णन अति प्राचीन और आचार्य-परम्परागत है तथापि इसमें द्वादशांगी के पश्चाद्वर्ती काल में रचित आगमों-रायपसेणइज्ज, उववाइय, पण्णवणा, जीवाभिगम तथा नंदी आदि का उल्लेख करके अनेक स्थलों पर इसके विवरणों को तथा पूरे के पूरे उद्देशकों को संक्षिप्त कर दिया गया हैं।[1] यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब रायपसेणइज्ज आदि उपर्युक्त आगमों की रचना द्वादशांगी के पश्चात् हुई है तब पूर्वरचित व्याख्या प्रज्ञप्ति में बाद की रचनाओं के उल्लेख किस कारण किये गये हैं ? नन्दीसूत्र तो निश्चित रूप से वीर-निर्वाण सं० ९८० के आस-पास की, वल्लभी-वाचना के सूत्रधार एवं नायक देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की संकलना मानी गई है।

---

[1] विस्तृत जानकारी के लिये देखिये "जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग", पृ० ५१९-५२३

का असंयम आदि का वर्णन करने के पश्चात् सलेश्य और सक्रिय आत्म असंयमी और क्रिया रहित की सिद्धि आदि का निरूपण किया गया है।

द्वितीय उद्देशक में त्र्योज राशि प्रमाण चौवीस दण्डक के जीवों का उपपात, तृतीय में द्वापर और चतुर्थ में कल्योज राशि प्रमाण चौवीस दण्डकों के जीवों के उपपात के विषय में विवरण दिया गया है।

पंचम उद्देशक में कृष्णलेश्या वाले कृतयुग्म प्रमाण, छठे में कृष्ण लेश्या त्र्योज राशि प्रमाण, सातवें में कृष्ण लेश्या वाले द्वापर युग्म प्रमाण और आठवें में कृष्ण लेश्या वाले कल्योज प्रमाण चौवीस दण्डकों के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

नवमें से १२ वें उद्देशक में नीललेश्या वाले, तेरहवें से सोलहवें उद्देशक में कापोत लेश्या वाले, सत्रहवें से बीसवें उद्देशक में तेजोलेश्या वाले, २१ वें से चौवीसवें उद्देशक में पद्म लेश्या वाले, और पच्चीसवें से २८ वें उद्देशक में शुक्ललेश्या वाले चार राशि युग्म प्रमाण चौवीस दण्डकों के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

२६ वें से ५६ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण भवसिद्धिक, ५७ से ८४ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण अभवसिद्धिक, ८५ से ११२ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण सम्यग्दृष्टि भवसिद्धिक, ११३ वें से १४० वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण मिथ्यादृष्टि भवसिद्धिक कृष्ण लेश्या यावत् शुक्ल लेश्या वाले चौवीस दण्डक के जोवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

१४१ वें से १६८ वें उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण कृष्णपक्षी और १६९ वें से १९६ उद्देशक में चार राशि युग्मप्रमाण शुक्लपक्षी चौवीस दण्डकों के जीवों के उपपात का वर्णन किया गया है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति में भगवान् महावीर के जीवन का, उनके शिष्यों, भक्तों, गृहस्थ अनुयायियों, अन्य तीर्थिकों एवं उनकी मान्यताओं का विस्तृत परिचय दिया गया है। गौशालक के सम्बन्ध में जितना विस्तृत परिचय इस अङ्ग में मिलता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इसके साथ ही साथ भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायियों तथा चातुर्याम धर्म के सम्बन्ध में व्याख्या प्रज्ञप्ति में स्थान-स्थान पर विवरण मिलते हैं। भगवान् महावीर के पंचमहाव्रत धर्म से प्रभावित होकर अनेक पार्श्वापत्यों ने चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंचमहाव्रत धर्म अंगीकार किया, इस प्रकार के विवरण व्याख्या प्रज्ञप्ति में बहुलता से उपलब्ध होते हैं।

इसके अतिरिक्त कूणिक और महाराज चेटक के बीच हुए महाशिलाकण्टक संग्राम एवं रथमुसल संग्राम नामक दो महायुद्धों का व्याख्याप्रज्ञप्ति में बड़ा ही

व्याख्याप्रज्ञप्ति का उपलब्ध स्वरूप

व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पंचम अंग के आरम्भ में, तथा १५, १७, २३ एवं २६ इन चार शतकों के प्रारम्भ में और इस अंग के सम्पूर्ण होने पर अन्त में – इस प्रकार कुल मिलाकर ६ स्थानों पर मंगलाचरण किया गया है।

इस सूत्र के प्रारम्भ में सर्वप्रथम पंचपरमेष्ठिनमस्कारमंत्र से और तदनन्तर "णमो बंभीयस्स लिवियस्स" तथा "णमो सुयस्स" इन पदों द्वारा मंगलाचरण किया गया है। इसके पश्चात् शतक संख्या १५, १७, २३ और २६ के प्रारम्भ में– "णमो सुयदेवयाए भगवईए"– इस पद के द्वारा मंगलाचरण किया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अन्त में दिये गए "इक्कचत्तालीसइमं रासी जुम्मसयं समत्तं"– इस समाप्तिसूचक पद से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि इस पंचम अंग के १०१ शतक (अध्ययन) थे उनमें से केवल ४१ शतक ही अवशिष्ट रहे हैं शेष सब विलुप्त हो चुके हैं।

उपरोक्त समाप्तिसूचक पद के पश्चात् यह उल्लेख किया गया है कि भगवती में सब शतकों की (अवान्तरशतकों को मिलाकर) संख्या १३८ और उद्देशकों की संख्या १९२५ है।[1]

प्रथम शतक से ३२वें शतक तथा ४१वें शतक के कोई अवान्तरशतक नहीं हैं। ३३वें शतक से ३९वें शतक तक के ७ शतक बारह-बारह अवान्तर शतकों के तथा ४०वां शतक २१ अवान्तर शतकों का समूह है अतः इन ८ शतकों की गणना १०५ अवान्तर शतकों के रूप में की गई है। इस प्रकार अवान्तर शतक रहित उपरोक्त ३३ शतकों और १०५ अवान्तरशतकात्मक शेष ८ शतकों को मिलाकर व्याख्याप्रज्ञप्ति के शतकों तथा अवान्तर शतकों की सम्मिलित संख्या १३८ बताई गई है वह तो ठीक है परन्तु उपरोक्त संग्रहणी पद में जो उद्देशकों की संख्या १९२५ बताई गई है, उसका आधार खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होता। व्याख्या प्रज्ञप्ति के मूल पाठ में इसके शतकों एवं अवान्तरशतकों के उद्देशकों की संख्या दी गई है, केवल ४०वें शतक के २१ अवान्तरशतकों में से अन्तिम १६ से २१ इन ६ अवान्तरशतकों के उद्देशकों की संख्या स्पष्ट रूप में नहीं दी गई है परन्तु जिस प्रकार इस शतक के पहले से १५वें अवान्तर शतक तक प्रत्येक की उद्देशक संख्या ११ बताई गई है उसी प्रकार उक्त शेष ६ अवान्तर शतकों में से प्रत्येक की उद्देशक संख्या ११-११ मान ली जाय तो व्याख्याप्रज्ञप्ति के कुल उद्देशकों की संख्या १८८३ होती है। कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में केवल "उद्देसगाण" इतना ही पाठ देकर संख्या का स्थान रिक्त छोड़ दिया गया है।

इसके पश्चात् एक गाथा द्वारा इस पंचम अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति की पदसंख्या

---

[1] सव्वाए भगवईए अट्ठतीसं सयं सयाणं (१३८) उद्देसगाणं १९२५
(व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक ४१ के पश्चात्)

इस प्रकार की शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सामान्य रूप से जिस ग्रन्थ में किसी अन्य सूत्र अथवा सूत्रकार का नाम उपलब्ध होता है उसे, जिस ग्रन्थ में उसका उल्लेख है उस ग्रन्थ की रचना से पूर्ववर्ती माना जाता है किन्तु जैन सूत्रों पर इस प्रकार की वात घटित नहीं होती। कारण कि रचना के पश्चात् भी सूत्र शताब्दियों तक गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक चलते रहे। वीर-निर्वाण ६८० में सूत्र अन्तिम रूप से लिपिवद्ध किये गये। ऐसा प्रतीत होता है कि आगमों को लिपिवद्ध करते समय इस नियम का पालन करना आवश्यक नहीं समझा गया कि जिस अनुक्रम से आगमों की रचना हुई है उसी क्रम से उनको लिपिवद्ध किया जाय। इसके परिणामस्वरूप पश्चाद्वर्ती काल में रचित कतिपय आगमों का लेखन सुविधा की दृष्टि से पहले सम्पन्न कर लिया गया। तदनन्तर रचनाक्रम की दृष्टि से प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि स्थान पर माने जाने वाले आगमों का लेखन किया गया तो पश्चाद्वर्ती आगम होते हुए भी जो पहले लिपिवद्ध कर लिये गये थे और उनमें पूर्ववर्ती जिन आगमों के जो-जो पाठ अंकित हो चुके थे उन पाठों की पुनरावृत्ति न हो इस दृष्टि से वाद में लिपिवद्ध किये जाने वाले पूर्ववर्ती आगमों में "जहा नन्दी" आदि पाठ देकर पश्चाद्वर्ती आगमों और आगमपाठों का उल्लेख कर दिया गया। यह केवल पुनरावृत्ति को वचाने की दृष्टि से किया गया। इससे मूल रचना की प्राचीनता में किसी प्रकार की किंचित्मात्र भी न्यूनता नहीं आती। हो सकता है उस समय आगमों को लिपिवद्ध करते समय पुनरावृत्ति के दोष से वचने के साथ-साथ इस विशाल पंचम अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति के अति विशाल स्वरूप एवं कलेवर को थोड़ा लघु स्वरूप प्रदान करने की भी उन देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों की दृष्टि रही हो।

इसके अतिरिक्त अन्य भी मन्दमेघा आदि कारण व्याख्या प्रज्ञप्ति के कलेवर को छोटा वनाने के हो सकते हैं अथवा नहीं इस पर इतिहास के विशेषज्ञ मुनि एवं विद्वान् प्रकाश डालने का सद्प्रयास करेंगे, ऐसी आशा है।

अपरनाम – भगवती

इस पंचम अंग का अपर नाम भगवती सूत्र भी है जो वियाह पण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति) नाम की अपेक्षा प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। अन्य सभी अंगों की अपेक्षा अधिक विशाल इस व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पंचम अंग में भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर द्वारा प्रभु के समक्ष प्रस्तुत किये गये प्रश्नों एवं भगवान् द्वारा दिये गये उनके तात्विक उत्तरों का सुविशाल संकलन होने के कारण इसके प्रति सर्वाधिक, सम्मान, आदर और पूज्यभाव प्रकट करने हेतु वहुत सम्भव है कि विगत कतिपय शताब्दियों से वियाहपण्णत्ति नामक इस पंचम अंग को भगवती सूत्र इस अति सम्माननीय नाम से सम्बोधित किया जाने लगा हो। आज तो चतुर्विध तीर्थ में यह पंचम अंग भगवती सूत्र के नाम से ही लोकप्रिय है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति का उपलब्ध स्वरूप

व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक पंचम अंग के आरम्भ में, तथा १५, १७, २३ एवं २६ इन चार शतकों के प्रारम्भ में और इस अंग के सम्पूर्ण होने पर अन्त में – इस प्रकार कुल मिलाकर ६ स्थानों पर मंगलाचरण किया गया है।

इस सूत्र के प्रारम्भ में सर्वप्रथम पंचपरमेष्ठिनमस्कारमंत्र से और तदनन्तर "णमो बंभीयस्स लिवियस्स" तथा "णमो सुयस्स" इन पदों द्वारा मंगलाचरण किया गया है। इसके पश्चात् शतक संख्या १५, १७, २३ और २६ के प्रारम्भ में– "णमो सुयदेवयाए भगवईए"– इस पद के द्वारा मंगलाचरण किया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अन्त में दिये गए "इक्कचत्तालीसइमं रासी जुम्मसयं समत्त"– इस समाप्तिसूचक पद से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि इस पंचम अंग के १०१ शतक (अध्ययन) थे उनमें से केवल ४१ शतक ही अवशिष्ट रहे हैं शेष सब विलुप्त हो चुके हैं।

उपरोक्त समाप्तिसूचक पद के पश्चात् यह उल्लेख किया गया है कि भगवती में सब शतकों की (अवान्तरशतकों को मिलाकर) संख्या १३८ और उद्देशकों की संख्या १९२५ है।[1]

प्रथम शतक से ३२वें शतक तथा ४१वें शतक के कोई अवान्तरशतक नहीं हैं। ३३वें शतक से ३९वें शतक तक के ७ शतक बारह-बारह अवान्तर शतकों के तथा ४०वां शतक २१ अवान्तर शतकों का समूह है अतः इन ८ शतकों की गणना १०५ अवान्तर शतकों के रूप में की गई है। इस प्रकार अवान्तर शतक रहित उपरोक्त ३३ शतकों और १०५ अवान्तरशतकात्मक शेष ८ शतकों को मिलाकर व्याख्याप्रज्ञप्ति के शतकों तथा अवान्तर शतकों की सम्मिलित संख्या १३८ बताई गई है वह तो ठीक है परन्तु उपरोक्त संग्रहणी पद में जो उद्देशकों की संख्या १९२५ बताई गई है, उसका आधार खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होता। व्याख्या प्रज्ञप्ति के मूल पाठ में इसके शतकों एवं अवान्तरशतकों के उद्देशकों की संख्या दी गई है, केवल ४०वें शतक के २१ अवान्तरशतकों में से अन्तिम १६ से २१ इन ६ अवान्तरशतकों के उद्देशकों की संख्या स्पष्ट रूप में नहीं दी गई है परन्तु जिस प्रकार इस शतक के पहले से १५वें अवान्तर शतक तक प्रत्येक की उद्देशक संख्या ११ बताई गई है उसी प्रकार उक्त शेष ६ अवान्तर शतकों में से प्रत्येक की उद्देशक संख्या ११-११ मान ली जाय तो व्याख्याप्रज्ञप्ति के कुल उद्देशकों की संख्या १८८३ होती है। कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में केवल "उद्देसगाण" इतना ही पाठ देकर संख्या का स्थान रिक्त छोड़ दिया गया है।

इसके पश्चात् एक गाथा द्वारा इस पंचम अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति की पदसंख्या

---

[1] सव्वाए भगवईए अट्ठतीसं सयं सयाणं (१३८) उद्देसगाणं १९२५

(व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक ४१ के पश्चात्)

८४ लाख पद बताई गई है।[1] नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि ने व्याख्या प्रज्ञप्ति की टीका में इस पर "विशिष्टसम्प्रदायगम्यानि" केवल इतना ही लिखा है। इससे आगे की गाथा में संघ की समुद्र के साथ तुलना करते हुए उसकी स्तुति की गई है।[2] इसके पश्चात् गौतम आदि गणधरों को, भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति और द्वादशांगी रूप गणिपिटक को नमस्कार किया गया है। तदनन्तर प्रतिलिपिकार ने कच्छप के समान सुगुप्त चरणों वाली कोरंट वृक्ष के अम्लान (नवविकसित) कुसुम की कली के समान मनोहर भगवती श्रुतदेवी से प्रार्थना की है कि वह उसके अज्ञानान्धकार को विनष्ट करे।[3]

श्रुतदेवी की स्तुति के पश्चात् व्याख्याप्रज्ञप्ति के पठन-पाठन के क्रम के साथ-साथ विधि आदि का उल्लेख किया गया है।

अन्त में प्रतिलिपिकार द्वारा तीन गाथाओं में श्रुतदेवी आदि की निम्न-लिखित रूप में स्तुति की गई है—

प्रखर बुद्धि वाले विद्वानों द्वारा सदा अभिवंदित, अज्ञानान्धकार विध्वंसिनी नवविकसित शतदलकमल वरद हस्त में लिये हुए श्रुताधिष्ठातृ देवी मुझे भी बुद्धि प्रदान करे। जिसके कृपा प्रसाद से ज्ञान सीखा है उस श्रुतदेवता को हम प्रणाम करते हैं। शान्तिप्रदायिनी प्रवचनदेवी को भी मैं नमस्कार करता हूं। श्रुतदेवता, कुम्भधरयक्ष, ब्रह्मशान्ति, वैरोटयादेवी, विद्यादेवी और अंतहुंडी लेखक की सब प्रकार के विघ्नों से रक्षा करे। व्याख्याप्रज्ञप्ति की मंगलसहित ग्रन्थाग्र० संख्या १५७५१ बताई गई है। व्याख्या प्रज्ञप्ति की समाप्ति के पश्चात् जो "णमोगोयमाइण" आदि जितने भी नमस्कारपरक उल्लेख हैं उनके सम्बन्ध में टीकाकार ने लिखा है कि ये सब लिपिकार अथवा प्रतिलिपिकार द्वारा किये गये नमस्कार हैं।[5]

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अंत में जो इसके पठन-पाठन का क्रम दिया गया है वह किसी श्रुतस्थविर द्वारा साधकों के हितार्थ किया गया उल्लेख प्रतीत होता है।

---

[1] चुलसीयसयसहस्सा, पयाण पवरवरणाणदंसीहिं।
भावाभावमणंता, पन्नत्ता एत्थमंगंमि ॥ ४१वें श० के अन्त में

[2] तवनियमविणयवेलो, जयइ सया नाणविमलविउलजलो।
हेउसयविउलवेगो, संघसमुद्दो गुणविसालो ॥ वही—

[3] (कुमुम) कुम्मसुसंठियचलणा, अमलियकोरंटवेंटसंकासा।
सुयदेवया भगवई, मम मइतिमिरं पणासेउ ॥ वही—

[4] वियसियअरविंदकरा, नासियतिमिरा सुयाहिवा देवी।
मज्झं पि देउ मेहं, बुहविबुहणमंसियाणिच्चं ॥१॥
सुयदेवयाए पणमिमो जीए पसाएण सिक्खियं नाणं।
अण्णं पवयणदेवी संतिकरी तं नमंसामि ॥२॥
सुयदेवया य जक्खो कुंभधरो बंभसंति वेरोट्टा।
विज्जा य अंतहुंडी, देउ अविग्घं लिहंतस्स ॥३॥
—(व्याख्याप्रज्ञप्ति की समाप्ति के अनन्तर)

[5] णमो गोयमाईणं' इत्यादयः पुस्तकलेखककृता नमस्काराः प्रकटार्थाश्चेति।
— (व्याख्याप्रज्ञप्ति, टीका)

व्याख्याप्रज्ञप्ति के शतकों, वर्गों, अवान्तरशतकों एवं उद्देशकों की संख्या इस प्रकार है :—

शतक	वर्ग	अवा० श०	उद्देशक	शतक	वर्ग	अवा० श०	उद्देशक
१	—	—	१०	२२	६	—	६०
२	—	—	१०	२३	५	—	५०
३	—	—	१०	२४	—	—	२४
४	—	—	१०	२५	—	—	१२
५	—	—	१०	२६	—	—	११
६	—	—	१०	२७	—	—	११
७	—	—	१०	२८	—	—	११
८	—	—	१०	२९	—	—	११
९	—	—	३४	३०	—	—	११
१०	—	—	३४	३१	—	—	२८
११	—	—	१२	३२	—	—	२८
१२	—	—	१०	३३	—	१२	१२४
१३	—	—	१०	३४	—	१२	१२४
१४	—	—	१०	३५	—	१२	१२४
१५	—	—	००	३६	—	१२	१२४
१६	—	—	१४	३७	—	१२	१२४
१७	—	—	१७	३८	—	१२	१२४
१८	—	—	१०	३९	—	१२	१२४
१९	—	—	१०	४०	—	२१	२३१
२०	—	—	१०	४१	—	—	१९६
२१	८	—	८०				

इस प्रकार व्याख्याप्रज्ञप्ति में ४१ शतक, वर्ग १९, अवान्तरशतक १०५, शतक और अवान्तरशतक दोनों मिलाकर १३८ तथा उद्देशक १८८३ हैं। शतक संख्या ३३ से ४० तक के ८ शतक अवान्तरशतकों से गठित हैं। अतः शतकों और अवान्तरशतकों की गणना में इन आठ शतकों की पृथक् गणना नहीं करने के कारण शतकों एवं उपशतकों की सम्मिलित संख्या १३८ होती है।

६. नायाधम्मकहाओ

नायाधम्मकहाओ का संस्कृत नाम ज्ञातृधर्मकथा है। द्वादशांगी के क्रम में इसका छठा स्थान है। इसमें उदाहरणप्रधान धर्मकथाएं दी हुई हैं, जिनमें मेघ-कुमार आदि के नगरों, उद्यानों, चैत्यों, वनखण्डों, राजाओं, माता-पिता, समव-सरणों, धर्माचार्यों, धर्मकथाओं, ऐहिक एवं पारलौकिक ऋद्धियों, भोग परित्याग, प्रव्रज्या, श्रुतपरिग्रह, उत्कृष्ट तपस्याओं, पर्यायों, संलेखनाओं, भक्तप्रत्याख्यानों, पादपोपगमनों, स्वर्गगमन, उत्तम कुल में जन्म, बोधिलाभ, अन्तक्रिया आदि विषयों का वर्णन तथा भगवान महावीर के विनयमूलक श्रेष्ठ शासन में प्रव्रजित उन साधकों का वर्णन है जो ग्रहण किये हुए व्रतों के परिपालन में दुर्बल, शिथिल, हतोत्साहित, विषयसुखमूर्छित, संयम के मूल गुणों एवं उत्तरगुणों की विराधना

निर्वाण प्राप्त करने तक का पूर्ण विवरण भी इसमें दिया गया है। मल्ली भगवती ने गृहस्थ अवस्था में उस समय की प्रसिद्ध परिव्राजिका चोखा को शुचिमूलधर्म की सदोषता बतलाते हुए विनयमूल धर्म की शिक्षा दी और कहा कि जिस प्रकार रक्तरंजित वस्त्र रक्त से धोने पर स्वच्छ नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार हिंसा आदि से मलीनात्मा यज्ञ-यागादि की हिंसा से शुद्ध नहीं किया जा सकता। इस अध्ययन में प्रसंगोपात्त दिया गया अरणक श्रावक और ६ राजाओं का परिचय भी द्रष्टव्य है।

नौवें "माकन्दी अध्ययन" में बताया गया है कि वासना से चलचित्त होने वाला साधक जिनरक्षित के समान अपने प्राण गंवाता और स्थिरचित्त रहने वाला साधक जिनपालित की तरह सदा सुरक्षित रहकर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलकाम होता है।

दशवें "चन्द्र अध्ययन" में कृष्ण और शुक्लपक्षीय चन्द्रमा की हानि-वृद्धि के उदाहरण से जीव के ज्ञानादि गुणों की हानि-वृद्धि समझाई गई है कि आत्मारूपी चन्द्र का ज्ञान रूपी उद्योत कर्मावरणों के कारण क्षीण और कर्मावरणों के क्षयोपशम से वृद्धिगत होता है।

ग्यारहवें "द्रावद्रव" नामक अध्ययन में जिनमार्ग की आराधना और विराधना पर विचार व्यक्त किये गए हैं। वन के वृक्षों की तरह साधक-श्रमण अन्य तीर्थिकों की संगति द्वारा आराधना से विचलित होता है तथा सम्यग्ज्ञानियों के संसर्ग से साधनामार्ग में स्थिर होकर आराधक बनता है।

बारहवें "खातोदक अध्ययन" में श्रावक सुबुद्धि प्रधान द्वारा जितशत्रु राजा को पुद्गलों के परिवर्तनशील परिणामी स्वभाव को समझाने का उल्लेख किया गया है। मन्त्री ने खाई के गन्दे जल को शुद्धिकारक प्रयोगों द्वारा स्वच्छ, सुस्वादु और सुपेय बना कर यह प्रमाणित किया कि कोई भी वस्तु एकान्ततः शुभ अथवा अशुभ नहीं होती। संसार का प्रत्येक पदार्थ शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ रूप में परिवर्तित होता रहता है अतः एक पर राग और दूसरे पर द्वेष रखना अज्ञान का सूचक है।

तेरहवें "दर्दुर अध्ययन" में राजगृह नगर के श्रावक नन्द मणिकार का परिचय देते हुए बताया गया है कि सत्संग के अभाव में नन्द-मणिकार व्रत-नियम करते हुए भी श्रद्धा से विचलित हो गया। उसने अष्टम तप के समय प्यास से व्याकुल होने पर नगरी के बाहर पुष्करिणी बनवाने का निर्णय किया और चार शालाओं के साथ वापी का निर्माण करवा दिया। अन्त में वापी के प्रति अत्यधिक ममत्व और आर्तध्यान की दशा में मरकर नन्दन मणिकार ने उसी बावड़ी में दर्दुर के रूप में जन्म ग्रहण किया। एक बार भगवान् महावीर के राजगृह नगर में पदार्पण की बात सुनकर दर्दुर वन्दन हेतु निकला और मार्ग में एक घोड़े की टाप से घायल हो गया। गम्भीररूपेण घायल होने पर भी दर्दुर ने प्रभु चरणों में अपना

चित्त स्थिर रखा और अन्त में समाधिपूर्वक प्राण-त्याग कर वह स्वर्ग का अधिकारी बना।

चौदहवें 'तेतलीपुत्र' के अध्ययन में बताया है कि दुःखावस्था में मनुष्य को सत्संग और धर्म जितना प्रिय लगता है उतना सुखावस्था में नहीं लगता। इसमें मित्र और प्रेमी का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वह अपने सखा एवं प्रियजन को सब प्रकार से धर्ममार्ग पर लगाने का प्रयत्न करे। पोटिल देव ने तेतली प्रधान को विविध प्रकार के कष्ट पहुंचाकर भी संयम-धर्म के अभिमुख किया। वस्तुतः इसी को उपकारियों के प्रत्युपकार का सही मार्ग बताया गया है।

पन्द्रहवें नन्दीफल अध्ययन में बतलाया गया है कि नन्दीफल की तरह अज्ञातफल में लुभाने वाले को जीवन से हाथ धोना पड़ता है। इसमें यह उपदेश दिया गया है कि ज्ञानी को किसी भी दशा में रसना के अधीन नहीं होना चाहिये।

सोलहवें "अमरकंका अध्ययन" में पाण्डवपत्नी द्रौपदी का पद्मनाभ द्वारा हस्तशीर्ष नगर से अपहरण और श्रीकृष्ण द्वारा अमरकंका में जाकर पद्मनाभ को पराजित करना, द्रौपदी को पुनः प्राप्त करना, लौटते समय कारणवशात् अप्रसन्न हो श्रीकृष्ण द्वारा पाण्डवों का निर्वासन, कुन्ती की प्रार्थना से द्रवित हो समुद्रतट पर मथुरा बसा कर पाण्डवों को वहाँ रहने की अनुमति, स्थविरों की वाणी सुनकर पाण्डवों द्वारा मुनिव्रत ग्रहण और संयम एवं तप की साधना से निर्वाण-प्राप्ति बतलाई गई है। इसमें यह भी बताया गया है कि द्रौपदी ने अपने पूर्वभव में नागश्री ब्राह्मणी के रूप में तपस्वी मुनि को कड़वे तूँबे का साग बहरा कर दुर्लभ-बोधि की स्थिति का उपार्जन किया और उसके फलस्वरूप अनेक भवों में जन्म-मरण के दुःख सहन कर वही नागश्री द्रौपदी के रूप में उत्पन्न हुई और अन्त में साधना कर ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुई। द्रौपदीहरण के प्रसंग में यहां "कच्छुल्ल नारद" की करतूतों का भी परिचय मिलता है।

सत्रहवें अध्ययन में समुद्री अश्व के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है कि शब्द-रूप आदि विषयों में लुभाने वाले व्यक्ति समुद्री अश्व की तरह पराधीन होते हैं और विषयों से विरक्त रहने वाले स्वाधीन होकर आत्मसुख के अधिकारी होते हैं।

अठारहवें "सुसुमा" नामक अध्ययन में धन्ना सार्थवाह के उदाहरण से बताया गया है कि साधक को जीवन-निर्वाह के लिये उदासीन भाव से आहार ग्रहण करना चाहिये। धन्ना सार्थवाह और उसके पुत्रों ने सुसुमा के अपहरणकर्त्ता चौरराट् का भीषण-अटवियों में निरन्तर पीछा करते हुए जिस प्रकार भूख के कारण मरणासन्न स्थिति में चिलात द्वारा मार कर पटकी हुई सुसुमा दारिका की मृत देह से अपनी क्षुधानिवृत्ति की, उसमें आत्मीयता के कारण मृत दारिका के मांसभक्षण में धन्ना आदि के मन में किंचित्मात्र भी राग का अंश नहीं हो सकता, केवल प्राणरक्षा का ही विचार हो सकता है। ठीक इसी प्रकार साधक

श्रमण को सहज बने अचित्त आहार के ग्रहण करने में रागरहित होकर अधिकाधिक साधना हेतु शरीर को बनाये रखने का ही लक्ष्य रखने की शिक्षा दी गई है।

उन्नीसवें पुण्डरीक अध्ययन में भोगासक्ति का कटु फल बताते हुए विदेह क्षेत्र के पुण्डरीक और कुण्डरीक नामक दो राजकुमारों का उपाख्यान प्रस्तुत किया गया है। उसमें बताया गया है कि पुण्डरीकिणी नगरी के महाराज महापद्म जब संसार की नश्वरता को समझकर श्रमणधर्म में दीक्षित हो गये तब उनके ज्येष्ठ पुत्र पुण्डरीक राज्य का संचालन करने लगे और उनके छोटे भाई कुण्डरीक युवराज के रूप में सुखोपभोग करते रहे।

कालान्तर में मुनि महापद्म विचरण करते हुए पुण्डरीकिणी नगरी में पधारे, तब महाराज कुण्डरीक और उनके लघु भ्राता दर्शन-वन्दन आदि के लिये मुनि सेवा में पहुंचे। उपदेश श्रवण कर पुण्डरीक ने मुनि महापद्म की सेवा में श्रामण्य स्वीकार कर लिया। बहुत काल पश्चात् अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए कुण्डरीक मुनि पुनः उस नगर में आये। उस समय उनके शरीर में दाहज्वर का प्रकोप था। राजा ने उनकी मुनिधर्म के अनुकूल औषधोपचारादि की समुचित व्यवस्था कर दी। परिणामतः मुनि कुण्डरीक कुछ ही समय में पूर्णतः स्वस्थ हो गये। जब मुनि स्वस्थ हो जाने पर भी विहार के प्रति उपेक्षा एवं उदासीनता दिखलाने लगे तो राजा ने उन्हें समझा-बुझाकर विहार करवाया। अनिच्छा होते हुए भी मुनि ने विहार तो कर दिया पर उनका मन राज्य भोगों में विलुब्ध हो चुका था अतः कुछ ही काल के पश्चात् वे पुनः पुण्डरीकिणी नगरी में लौटे और नगरी के बाहर एक उद्यान में विराजमान हुए। मुनि के आगमन की सूचना प्राप्त होते ही राजा उन्हें वन्दन-नमन करने हेतु उद्यान में पहुंचा और मुनि को चिंतित देखकर बोला – "महाराज! आप धन्य हैं, जो विषय-कषायों के प्रगाढ़ बन्धन काट कर संयमसाधना करते हुए विचरण कर रहे हैं। मै अधन्य हूँ, जो अभी तक राज्य के प्रपंचों में उलझा हुआ हूँ।"

राजा द्वारा इस प्रकार की बात के पुनः पुनः दोहराये जाने पर भी मुनि ने जब उस पर कोई ध्यान नहीं दिया तो राजा ने मुनि से पूछा – महाराज! आपको भोग से प्रयोजन है अथवा योग से?"

मुनि कुण्डरीक ने दबे स्वर में कहा – "भोग से।"

अनेक प्रकार से समझाने पर भी जब कुण्डरीक संयम-मार्ग में स्थिर नहीं हुए तो राजा पुण्डरीक ने अपने छत्र, चामरादि राजचिन्ह मुनि कुण्डरीक को देकर उसे राज्य सिंहासन पर आसीन किया और स्वयं शासनहित और वंश की प्रतिष्ठा को उज्ज्वल बनाये रखने हेतु राज्यवैभव का तृणवत् त्याग कर कुण्डरीक के धर्मोपकरण धारण कर संयम मार्ग में दीक्षित हो गये।

मुनि पुण्डरीक विहार करते हुए स्थविरों के पास पहुंचे और उनसे चातुर्याम धर्म स्वीकार कर निरन्तर छट्ठ-छट्ठ तप करते हुए तप की जाज्वल्यमान ज्वाला

में अपने कर्मसमूह को जलाने लगे। प्रतिकूल, अन्तःप्रान्त और निस्सार आहार के कारण मुनि पुण्डरीक के शरीर में प्रबल व्याधि उत्पन्न हो गई पर वे संयम मार्ग में पूर्णरूपेण स्थिर रहे। मुनि पुण्डरीक ने जब देखा कि उनका शरीर असाध्य रोग से ग्रस्त होने के कारण उपचार की स्थिति में नहीं है तो उन्होंने सभी प्रकार के मोह-ममत्व का परित्याग कर स्थितप्रज्ञ हो आजीवन अनशन स्वीकार कर लिया और वे समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध विमान में तेतीस सागर की स्थिति वाले देव के रूप में उत्पन्न हुए।

इधर कुण्डरीक राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होते ही स्वच्छन्द रूप से यथेप्सित भोगोपभोगों में निरन्तर आसक्त रहने लगा। विषयासक्ति और आहारादि के असंयम के परिणामस्वरूप भीषण दाहज्वर की असह्य पीड़ा ने उसे घर दबाया। राज्य, राष्ट्र और अन्तःपुर के भोगों में मूर्च्छित बना हुआ वह रौद्रभाव में करालकाल का कवल बनकर सातवीं नरक में उत्पन्न हो घोर दुःखों का भागी बना।

इस प्रकार संयम लेकर पुनः भोगों में आसक्त होने वाला व्यक्ति कुण्डरीक की तरह घोर दुःखों का भागी बनता है, यह इस अध्ययन में बताया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १० वर्गों में चमरेन्द्र, बलीन्द्र, धरणेन्द्र, पिशाचेन्द्र, महाकालेन्द्र, शक्र एवं ईशानेन्द्र की अग्रमहीषियों के रूप में उत्पन्न होने वाली साध्वियों की पुण्य कथाएं विविध अध्ययनों के रूप में दी गई हैं। दशों वर्गों में कुल २०६ अध्ययन हैं। इनमें वर्णित अधिकांश वृद्धकुमारियां भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षित होकर उत्तरगुण की विराधना के कारण देवियों के रूप में उत्पन्न हुई बताई गई हैं। उन साधिकाओं के देवियों के रूप में उत्पन्न होने पर भी उनका उन्हीं नामों से परिचय दिया गया है जो नाम उनके मानवभव में थे।

इस अंग में उल्लिखित धर्मकथाओं में पार्श्वनाथकालीन जनजीवन, विभिन्न मतमतान्तर, प्रचलित रीतिरस्म, नौका सम्बन्धी साधन सामग्री, कारागार पद्धति, राज्य व्यवस्था, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों आदि का बड़ा सजीव वर्णन किया गया है।

७. उवासगदसाओ

उवासगदसाओ – नामक सातवें अंग में नाम के अनुसार दश उपासक गृहस्थों का वर्णन किया गया है। उनके अध्ययन भी दश हैं अतः शास्त्र का नाम उपासकदशा युक्तिसंगत है।

इसमें १ श्रुतस्कन्ध, १० अध्ययन, १० उद्देशनकाल और १० ही समुद्देशन-काल कहे गये हैं। इसमें संख्यात हजार पद, संख्यात अक्षर, संख्यात निरुक्तियां, संख्यात संग्रहणियां, संख्यात प्रतिपत्तियां और संख्यात श्लोक बताये गए हैं। वर्तमान में इस आगम का परिमाण ८१२ श्लोक-प्रमाण है।

इसके १० अध्ययनों में आनन्द आदि विभिन्न जाति व व्यवसाय वाले श्रावकों की जीवनचर्या का वर्णन किया गया है।

प्रथम अध्ययन में आनन्द गाथापति के सामाजिक जीवन का परिचय देते हुए उसकी १२ करोड़ सम्पदा को तीन भागों में बांट कर रखने, ४० हजार पशु और स्व-पर समाज में उसकी आदर्श प्रामाणिकता का परिचय दिया गया है। आनन्द द्वारा भगवान् महावीर के पास अहिंसादि ५ अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप द्वादशविध श्रावकधर्म स्वीकार करने का उल्लेख है। करोड़ों की सम्पदा के होते हुए भी उस समय के नागरिक-जीवन में आहार-विहार एवं परिधान का कैसा सादापन था, इसका आनन्द के जीवन से सही परिचय प्राप्त होता है। इसमें आगे वताया गया है कि श्रावकधर्म ग्रहण करने के १४ वर्ष पश्चात् आनन्द ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर कोल्लाग सन्निवेश की निजी पौषधशाला में पड़िमाधारी जीवन से विरक्ति मार्ग की साधना की और अन्त समय में अवधिज्ञान के साथ आजीवन अनशनपूर्वक काल कर वह प्रथम स्वर्ग का अधिकारी वना।

दूसरे अध्ययन में उपासक कामदेव के व्रतग्रहण और साधनापूर्ण जीवन का परिचय देते हुए वतलाया गया है कि कामदेव ने देवता द्वारा उपस्थित किये गए पिशाच, सर्प, हाथी आदि के विविध उपसर्गों में भी अविचल रहकर अपनी धार्मिक दृढ़ता का परिचय दिया। देव ने पिशाच एवं हाथी आदि के रूप से उसे खूब डराया, धमकाया और मारणान्तिक कष्ट देने में भी किसी प्रकार की कमी नहीं रखी पर कामदेव पूर्णतः अचल रहा, जिसकी भगवान् महावीर ने भी श्रमण-मण्डल के सम्मुख प्रशंसा की।

तीसरे अध्ययन में चुलणीपिता श्रावक की जीवनचर्या का वर्णन है। इसमें वताया गया है कि चुलणीपिता के यहां ८ गोकुल (८० हजार पशु) एवं २४ करोड़ की सम्पदा थी।

चौथे और पांचवें अध्ययन में क्रमशः सुरादेव और चुलणिशतक के छः-छः गोकुलों (६०-६० हजार पशुओं) और आठ-आठ करोड़ की सम्पदा का उल्लेख है। इन तीनों श्रावकों ने भगवान् महावीर से धर्म-श्रवण किया और अन्त में ५ वर्ष तक पड़िमाधारी के रूप में विरक्तजीवन की साधना करते हुए समाधि-मरण से आयु पूर्ण कर प्रथम स्वर्ग में देवत्व प्राप्त किया।

छठे अध्ययन में उपासक कुण्डकौलिक के साथ अशोकवनिका में नियतिवादी देव के संवाद की चर्चा की गई है। देव ने श्रावक की नामांकित मुद्रिका और ओढ़ने का चादर उठाकर आकाश में स्थित हो कुण्डकौलिक से कहा— "भगवान् महावीर का उत्थान, क्रम, वलवीर्य वाला मार्ग ठीक नहीं है। गोशालक मंखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है। क्योंकि उसमें उत्थान, क्रम, वलवीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम की आवश्यकता नहीं होती।"

इस पर कुण्डकौलिक श्रावक ने देव से पूछा – "तुमने देवभव किस तरह से प्राप्त किया है ?"

गृहस्थ श्रावक भी उस समय धर्म-मर्म के ज्ञाता और दृढ़ श्रद्धालु होते थे, इसका कुण्डकौलिक के जीवन से सहज ही परिचय हो जाता है।

सातवें अध्ययन में कुम्भकार सद्दालपुत्त की जीवनचर्या का वर्णन किया गया है। यह पहले मंखलिपुत्र गोशालक का उपासक था। फिर एक देव द्वारा प्रेरणा पाकर भगवान् महावीर को वन्दन करने गया। उनकी देशना सुनने पर उसके हृदय में कुछ श्रद्धा एवं जिज्ञासा जागृत हुई। उसने भगवान् कहावीर को अपनी कुम्भकारशाला में पधारने की प्रार्थना की। प्रभु भी अवसर देखकर वहां पधारे और उन्होंने सकड़ालपुत्र के साथ नियतिवाद की यथार्थता पर चर्चा की। प्रभु ने पूछा – "सकडाल ! घड़ा कैसे वनता है ?"

सकडाल ने घटनिर्माण की सारी प्रक्रिया कह सुनाई। प्रभु ने कहा – "यदि कोई दुर्मति पुरुष धूप में सूखते हुए तेरे घड़ों को पत्थर मारकर फोड़ने लगे और तेरी प्रिय पत्नी अग्निमित्रा के साथ छेड़छाड़ एवं कुचेष्टा करे तो तू क्या करेगा ? यदि तेरी मान्यता के अनुसार यह सब कुछ नियतिकृत है तो तुझे उन दुष्ट पुरुषों पर रुष्ट होने एवं उनको मारने-पीटने की चेष्टा करना उचित नहीं। यदि तू उन पर रोष करता है और अपराध का दण्ड देने के लिए उन्हें मारता-पीटता है तो नियतिवश सब कार्य का होना मानना ठीक नहीं।"

प्रभु महावीर के इस प्रकार के हृदयग्राही एवं तर्कपूर्ण विचारों से प्रभावित हो सकडाल महावीर भगवान् की धर्मप्रज्ञप्ति का अनुयायी बन गया।

सकडाल के यहां ३० हजार पशु और १ करोड़ की सम्पदा एवं ५०० दुकानें थीं। गोशालक सकडाल के मतपरिवर्तन की सूचना पाकर उसे समझाने आया पर सकडाल पुरुषार्थवाद की सम्यक् श्रद्धा पर इतना दृढ़ हो गया था कि उसने गोशालक को आदर से देखा तक नहीं। गोशालक ने भगवान् महावीर की स्तुति कर उसे आकर्षित करने का प्रयत्न किया। अन्त में ५ वर्ष तक पड़िमाधारी रूप से विरक्तभाव की साधना कर सकडाल ने भी अनशनपूर्वक स्वर्ग प्राप्त किया।

आठवें अध्ययन में उपासक महाशतक की चर्या का वर्णन किया गया है। उसके ८० हजार पशु, २४ करोड़ की सम्पदा और रेवती आदि १३ स्त्रियों का परिवार था। पापकर्म के उदय से रेवती अनार्य कर्म करने लगी। मोहोदय से उसको महाशतक का धार्मिक जीवन अप्रीतिकर लगने लगा। एक बार वह मद्य के उन्माद में उन्मत्त होकर धर्मसाधना में निरत महाशतक के पास जाकर यद्वा-तद्वा बोलने लगी। महाशतक ने परिवार से विरक्त हो एकान्तसेवन चालू कर रखा था अतः रेवती के दुर्वचनों को सुनकर भी वह कुछ काल तक शान्त रहा पर रेवती जब अपने असंगत प्रलाप से बाज नहीं आई तो रुष्ट हो महाशतक ने उसे सातवें दिन मर कर छट्ठी नरक में जाने का अनिष्ट भविष्य सुना डाला। भगवान्

महावीर उस समय राजगृह नगर में ही विराजमान थे। उन्होंने अपने ज्येष्ठ शिष्य गौतम द्वारा महाशतक को भूलसुधार के लिए प्रेरित किया।

नौवें अध्ययन में नन्दिनीपिता और दशवें अध्ययन में सालिहीपिता नामक दो श्रावकों के जीवन का परिचय दिया गया है। उन दोनों के यहां चालीस-चालीस हजार पशु और बारह-बारह करोड़ की सम्पदा थी। अन्त में इन दोनों श्रावकों ने भी पड़िमाधारीपन की साधना कर आरम्भ-परिग्रह से विरक्ति स्वीकार की और अन्त समय में अनशनपूर्वक काल कर प्रथम स्वर्ग में महर्द्धिक देव रूप से उत्पन्न हुए।

शास्त्र में वर्णित ये सभी श्रावक बारह व्रतधारी उपासक थे। महाशतक को छोड़ सबने एक-एक पत्नी के अतिरिक्त मैथुन-सेवन का त्याग कर रक्खा था। सबने १४ वर्ष तक उपासक धर्म की पालना कर १५ वें वर्ष श्रमणधर्म के निकट पहुंचने की भावना से अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रों को गार्हस्थ्य सम्हला कर श्रावक के वेश में शनैः शनैः आरम्भ-परिग्रह का त्याग बढ़ाकर अन्त में श्रमण-भूत प्रतिमा में साधु की तरह त्रिकरण त्रियोग से पाप-निवृत्ति की साधना की।

आनन्द की साधना उपसर्ग रहित रही पर अन्य उपासकों – कामदेव से महाशतक तक को देवकृत उपसर्ग और शेष तीन को स्त्री का उपसर्ग होना बताया गया है। सबने २० वर्ष की अवधि तक श्रावक धर्म का पालन कर सद्गति प्राप्त की और आगामी भव में महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वे सब मोक्ष के अधिकारी बनेंगे।

उपासकदशा का महत्व

सद्गृहस्थों – श्रावक-श्राविकाओं के गृहस्थ धर्म पर समीचीनतया पूर्ण रूपेण प्रकाश डालने वाला यह सातवां अंग उपासकदशा वस्तुतः सभी गृहस्थों के लिए बड़ा ही उपयोगी है। इसमें जिस प्रकार के सदाचार का दिग्दर्शन कराया गया है, उसके अनुसार यदि प्रत्येक गृहस्थ अपने जीवन को ढालने का प्रयास करे तो यह मानवता के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है।

इसमें तत्कालीन भारत और भारतीयों के अतुल धनवैभव, अनुकरणीय सदाचार, उन्नत विचार, सुखपूर्ण आदर्श जीवन और प्रगाढ़ धर्मानुराग के दर्शन होते हैं।

८. अंतगडदसाओ

आठवां अंग अन्तकृतदशा है। इसमें १ श्रुतस्कंध, ८ वर्ग, ९० अध्ययन, ८ उद्देशनकाल और ८ ही समुद्देशनकाल तथा परिमित वाचनाएं हैं। इसमें अनुयोगद्वार, वेढ़ा, श्लोक, निर्युक्तियां, संग्रहणियां, एवं प्रतिपत्तियां संख्यात-संख्यात हैं। इसके पद-संख्यात हजार और अक्षर-संख्यात बताये गये हैं। वर्तमान में यह अंगशास्त्र ९०० श्लोकपरिमाण का है। इसके आठों वर्ग क्रमशः १०, ८, १३, १०, १०, १६, १३ और १० अध्ययनों में विभक्त हैं। प्रस्तुत सूत्र में

भवभ्रमण का अन्त करने वाले साधकों की साधनादशा का वर्णन होने के कारण इसका नाम अन्तकृद्दशा रखा गया है।

अंतकृद्दशा के प्रथम दो वर्गों में गौतम आदि वृष्णि कुल के १८ राजकुमारों की साधना का वर्णन है। उनमें से १० का दीक्षा काल १२-१२ वर्ष का और शेष ८ का १६-१६ वर्ष बताया गया है। इन सभी उच्चकुलीन राजकुमारों ने गुणरत्नसंवत्सर जैसे कठोर तप की आराधना कर एक-एक मास की संलेखना से सब दुःखों का अन्त कर मुक्ति प्राप्त की।

तीसरे वर्ग के १३ और चौथे वर्ग के १० अध्ययनों में वर्णित २३ चारित्रात्मा भी श्री वसुदेव, श्री कृष्ण, श्री बलदेव और श्री समुद्रविजय के राजकुमार बताये गये हैं। उन सभी ने भगवान् नेमिनाथ की सेवा में मुनिव्रत ग्रहण कर अनेक वर्षों तक संयमधर्म की पालना और कठोर तपश्चरण करते हुए समस्त कर्मों का अन्त कर अजरामर सिद्धपद प्राप्त किया।

इनमें से श्रीकृष्ण के अनुज गजसुकुमाल ने बिना दीर्घकाल की श्रमणपर्याय के एक ही दिन की साधना द्वारा आत्मस्वरूप में लीन होकर समस्त कर्मों का एक अन्तर्मुहूर्त में ही अन्त कर दिया। सोमिल ब्राह्मण ने गजसुकुमाल के शिर पर भीगी मिट्टी की पाज बांध कर खैर के प्रदीप्त अंगारे रख दिये पर वे तन मन से अडोल निष्कंप, शान्त और आत्मस्वरूप में लीन रहे। कैसी अद्भुत क्षमता थी ? केवल कुछ ही क्षणों की ज्ञानाराधना थी पर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की उत्कृष्टतम आराधना द्वारा उन्होंने अन्तर्मुहूर्तकाल में ही केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति कर ली। गजसुकुमाल की अति स्वल्पकालीन सफल साधना इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि सम्यग्ज्ञान स्वल्पतर होते हुए भी यदि अन्तस्तलस्पर्शी अथवा अन्तर्मुखी है तो वह बिना दीर्घकाल की तपस्या के भी सिद्धि प्रदान कर सकता है।

पंचम वर्ग में बताया गया है कि राजकुमारों की तरह राजरानियां भी संयमसाधना द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकती हैं, स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही तद्भव मोक्षगमन का अधिकार है। श्रीकृष्ण की पद्मावती आदि रानियों और पुत्रवधुओं ने भी बीस २ वर्ष के दीक्षाकाल में ११ अंगों का ज्ञान प्राप्त कर दीर्घकालीन कठोर तपश्चर्या द्वारा सकल दुःखों का अन्त कर शाश्वत शिवपद प्राप्त किया।

उपरोक्त पांच वर्गों में वर्णित सब साधक-साधिकाओं ने भगवान् नेमिनाथ के धर्मशासन में मुक्ति प्राप्त की फिर भी उन सबका साधनापूर्ण जीवन साधनापथ में मार्गदर्शक है, इसलिये उनके उत्कृष्ट जीवनचरित्र भगवान् महावीर के शासनवर्ती "अन्तगडसूत्र" में सम्मिलित किये गये हैं।

छठे वर्ग में भगवान् महावीर के शासनवर्ती विभिन्न श्रेणी के १६ साधकों का वर्णन है। इन अध्ययनों से प्रमाणित किया गया है कि साधना में कुल, जाति व अवस्था का वर्गभेद नहीं होता। गाथापति, माली, राजा और बालक भी साधना

के अधिकारी हो सकते हैं। निरन्तर ६ मास तक सात-सात मनुष्यों की हत्या करने वाला अर्जुन माली भी क्षमतापूर्वक तप की साधना से ६ माह की अल्प अवधि में ही मुक्ति का अधिकारी हो गया। सचमुच ही वीतराग-मार्ग पतितपावन है। अवस्था की दृष्टि से अतिमुक्त कुमार जैसा ७ वर्ष का बालक भी संयममार्ग की साधना के माध्यम से नर से नारायण और जीव से शिव पद की प्राप्ति का अधिकारी बताया गया है।

सातवें और आठवें वर्ग के २३ अध्ययनों में नन्दा नन्दमती एवं काली, सुकाली आदि श्रेणिक की २३ रानियों के साधनामय जीवन का वर्णन है। इन सब महासतियों ने मुक्तावली, रत्नावली, कनकावली, लघुसिंहविक्रीड़ित, और महासिंह-विक्रीड़ित, लघुसर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्र, भद्रोत्तर एवं आयंबिल वर्द्धमान जैसे तपों के द्वारा कर्मक्षय कर सिद्धि प्राप्त की।

अन्तकृत् दशा सूत्र की यह विशेषता है कि इसमें तद्भवमोक्षगामी जीवों का ही वर्णन किया गया है। यह भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय थी कि राजघराने के नरनारी विपुल ऐश्वर्य एवं अपरिमित भोगों को त्यागकर बड़ी संख्या में त्याग की ओर अग्रसर हुए।

अन्तकृत् दशा के उपलब्ध अध्ययनों के अतिरिक्त स्थानांग सूत्र में अन्य १० अध्ययनों का भी उल्लेख मिलता है। जैसे :

नमी मयंगे सोमिल्ले, रामगुत्ते सुदंसणे।
जमाली अ भगाली अ किंकमे पल्लए इअ॥
फाले अ अट्ठपुत्ते य एमे ते दस आहिया॥

[स्थानांगसूत्र, स्थान १०]

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी अन्तकृत्दशा और अनुत्तरोववाइय दशा के इन दश अध्ययनों के नाम उपलब्ध होते हैं। आचार्य अकलंक ने अपने ग्रन्थ राजवार्तिक में प्रायः इसी रूप में इन अध्ययनों का उल्लेख किया है। धवला, जयधवला, अंगपण्णत्ती[1] आदि में भी इन दोनों अंगों के अध्ययनों का उल्लेख है और वे राजवार्तिक तथा स्थानांग में लिखित नामों से मिलते-जुलते हैं।

वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृत् दशा में इन नाम वाले १० अध्ययनों का बिल्कुल उल्लेख न होकर अन्य पात्रों का जो वर्णन मिलता है इसका प्रमुख कारण वाचना-भेद ही हो सकता है।

९. अणुत्तरोववाइयदसा

द्वादशांगी के क्रम में अनुत्तरोपपातिकदशा नौवां अंग है। इसमें १ श्रुतस्कंध ३ वर्ग, ३ उद्देशनकाल, ३ समुद्देशनकाल, परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार,

---

[1] मायंग रामपुत्तो सोमिल जमलीकरणाम किक्कंवी।
सुदंसणो वलीको य रणामी अलंवद्ध पुत्तलया॥ ५१॥ [अंग पण्णत्ती]

संख्यात वेढ़ा छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निरुक्तियां, संख्यात संग्रहणियां, संख्यात प्रतिपत्तियां, संख्यात हजार पद और संख्यात अक्षर हैं। वर्तमान में यह सूत्र १६२ श्लोकपरिमाण का है।

इस अंग में ऐसे महापुरुषों का चरित्र दिया गया है जिन्होंने घोर तपश्चरण और विशुद्ध संयम की साधना के पश्चात् मरण प्राप्त कर अनुत्तरविमानों में देवत्व प्राप्त किया और वहां से च्यवन कर मनुष्य भव में संयमधर्म की सम्यग् आराधना कर मुक्ति प्राप्त करेंगे।

अनुत्तरोपपातिक दशा के तीन वर्गों में क्रमशः १०, १३ और १० इस प्रकार कुल मिला कर ३३ अध्ययनों में ३३ चरित्रात्माओं का संक्षिप्त वर्णन है। उन ३३ महापुरुषों में से प्रथम जालीकुमार आदि २३ तो मगधसम्राट् श्रेणिक के पुत्र थे। उन २३ राजकुमारों में से कतिपय राजकुमारों की माता धारिणी, कुछ की चेलना तथा कतिपय की नन्दा थीं।

तीसरे वर्ग के धन्य आदि १० चरित्रात्मा काकन्दी नगरी की सार्थवाहपत्नी भद्रा के पुत्र थे। इसमें धन्ना के यहां करोड़ों की सम्पदा और ३२ पत्नियां होने का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुन कर धन्ना को वैराग्य उत्पन्न हुआ। प्रभु चरणों में दीक्षित होने के पश्चात् धन्ना अणगार ने जीवन भर के लिए छट्ठ-छट्ठ तप से पारणा करने की प्रतिज्ञा की। बेले के पारणे में भी आयम्बिल (आचाम्ल) का रूक्ष भोजन जो गृहस्थ के यहां बाहर फैंकने योग्य होता उसे धन्ना मुनि ग्रहण करते। घोर तपश्चरण के कारण उनका रक्त एवं मांस सूख गया और उनका शरीर केवल अस्थिपंजर सा प्रतीत होता था।

एक बार मगधाधिपति श्रेणिक द्वारा यह पूछने पर कि १४,००० साधुओं में से कौनसा मुनि दुष्करकारक है, भगवान् महावीर ने धन्ना मुनि को ही अपने समस्त श्रमणोत्तमों में सर्वोत्तम श्रमण बताया।

धन्ना अणगार ने ६ मास की स्वल्पकालीन साधना से ही आयु पूर्ण की। तपस्या से मुनि धन्ना का शरीर इतना क्षीण हो गया था कि उसमें रक्त-मांस का कहीं पता तक नहीं लगता था। वे अपने चर्मावनद्ध अस्थिमात्रावशिष्ट शरीर को ही मनोबल से चलाते रहे। अन्त में संलेखनापूर्वक एक मास के अनशन से वे सर्वार्थसिद्ध विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए।

स्थानांग, राजवार्तिक और अंगपण्णत्ती[1] आदि में इसके १० अध्ययनों के नाम दिये गए हैं, उनमें से कुछ वर्तमान में उपलब्ध अनुत्तरोपपातिकदशा में मिलते हैं।

---

[1] ...., उजुदासो सालिभद्दक्खो।
सुणक्खत्तो अभयो वि य धण्णो वरवारिसेणणंदणया।
णंदो चिलायपुत्तो कत्तइयो जह तह अण्णे ॥ ५५ ॥ [अंग पण्णत्ती]

निकाल दी गईं और उनके स्थान पर आश्रव एवं संवर का समावेश कर दिया गया।" [1]अभयदेव सूरि का यह कथन ठीक प्रतीत होता है।

आगम के मूलपाठ से यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि भूतकाल की घटनाओं एवं अतीन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष के समान प्रतीति कराने वाली चमत्कारपूर्ण दर्पणप्रश्न, अंगुष्ठप्रश्न, वाहुप्रश्न आदि अनेक विद्याएं इस अंग में विद्यमान थीं। उन प्रश्नों द्वारा अत्यन्त निगूढ़ मनोगत प्रश्नों तक का पूर्ण प्रतीतिकारक वास्तविक उत्तर दे दिया जाता था और इस प्रकार के अत्यद्भुत चमत्कार से लोगों के हृदय में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता था कि अतीत काल में तीर्थंकर निश्चित रूप से हुए हैं तभी उन्होंने इस प्रकार के अलौकिक प्रश्नों का प्रतिपादन किया है। यदि अतिशय ज्ञानी तीर्थंकर नहीं हुए होते तो इस प्रकार के प्रश्नों (विद्याओं) का प्रादुर्भाव ही नहीं होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैन सिद्धान्त के अनुरूप आरम्भ-समारम्भ पूर्ण विद्याओं एवं निमित्तकथन आदि से सर्वथा बचते हुए आध्यात्मिक अभ्युन्नति, प्रतीति अथवा धर्माभ्युदय हेतु अपवाद रूप से ही इस प्रकार की विद्याओं का उपयोग किया जाता होगा। परन्तु कालप्रभाव से परिवर्तित परिस्थितियों में पूर्वाचार्यों को आध्यात्मिक अभ्युत्थान में सहायक उन विद्याओं के दुरुपयोग की आशंका हुई तो उन्होंने उन विद्याओं को इस अंग में से निकाल दिया।

वास्तविकता क्या है, यह वस्तुतः विद्वानों के लिए गहन शोध का एक अच्छा विषय है। वर्तमान में प्रश्नव्याकरणसूत्र १३०० श्लोकप्रमाण कहा जाता है।

वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरणसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों में प्रतिपादित विषय का सारांश इस प्रकार है:–

प्रथम श्रुतस्कन्ध में ५ आश्रव द्वारों का निरूपण किया गया है।

१. प्रथम 'अधर्मद्वार' में हिंसा का पांच प्रकार से वर्णन किया गया है। वीतराग जिनेश्वर ने हिंसा को पापरूप, अनार्य (कर्म) और नरक गति में ले जाने वाला बताया है। प्राणवध आदि इसके ३० नाम दिये गए हैं। इसमें यह समझाया गया है कि असंयमी, अविरति और मन, वाणी तथा कार्य के अशुभ योग वाले जीव, पशु-पक्षी-कीटादि जीवों की हिंसा करते हैं। त्रस जीवों की हिंसा

---

[1] अथ प्रश्नव्याकरणाख्यं दशमांगं व्याख्यायते। अथ कोऽस्याभिधानस्यार्थः? उच्यते प्रश्नाः अंगुष्ठादिप्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियंतेऽस्मिन्निति प्रश्नव्याकरणं। क्वचित्प्रश्नव्याकरणदशा इति दृश्यते तत्र प्रश्नानां विद्याविशेषाणां यानि व्याकरणानि तेषां प्रतिपादनपरादशा-दशाध्ययनप्रतिवद्धाः ग्रन्थपद्धतयः इति प्रश्नव्याकरणदशाः। अयं च व्युत्पत्यर्थोऽस्य-पूर्वकालेऽभूदिदानीं त्वाश्रवपंचक संवरपंचकव्याकृतिरेवेहोपलभ्यतेऽतिशयानां पूर्वाचार्यैर-दंयुगीनां पुष्टालंवनप्रतिषेविपुरुषापेक्षयोत्तारितत्वादिति।

[प्रश्नव्याकरण, अभयदेवसूरिकृता टीका, पृ० १ (धनपतिसिंह)]

के विविध कारणों में से मुख्य कारणों का उल्लेख करते हुए इसमें बताया गया है कि अस्थि, मांस, चर्म आदि प्राण्यंगों के लिए तथा शरीर एवं भवन आदि की शोभा बढ़ाने हेतु मुख्यतः त्रस जीवों की हिंसा की जाती है। पृथ्वी, जल आदि स्थावरकायिक जीवों की हिंसा के कारणों का उल्लेख करने से पहले इसमें कहा गया है कि मन्दबुद्धि लोग जानते हुए और अनजान में भी स्थावरकायिक जीवों की हिंसा करते हैं। पृथ्वीकाय की हिंसा के कारणों को बताते हुए यह कहा गया है कि कृषि, कुआ, बावड़ी, चैत्य, स्मारक, स्तूप, घर, भवन, मन्दिर, मूर्ति और भाण्डोपकरण आदि के लिए मंदबुद्धि प्राणी हिंसा करते हैं।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक आदि हिंसा के अंतरंग कारणों का उल्लेख करते हुए इसमें बताया गया है कि धर्म, अर्थ और काम के निमित्त से मन्द बुद्धिवाले प्राणी प्रयोजनवशात् तथा निष्प्रयोजन ही जीवों की हिंसा करते हैं।

हिंसा करने वालों में शिकारी, पारधि, धीवर आदि क्रूरकर्मी तथा शक, यवन आदि ५० प्रकार के अनार्यों को गिनाया गया है।

हिंसाजन्य पाप के फलस्वरूप होने वाले दुःखों में नरक और तिर्यंचों के विविध दुःखों का उल्लेख किया गया है। जो लोग चैत्य, मंदिर, मठ और यज्ञ-यागादि धर्मकार्यों में होने वाली हिंसा को हिंसा नहीं मानते उन्हें प्रश्नव्याकरण के इस अध्ययन का ध्यानपूर्वक पठन एवं मनन करना चाहिए। इसमें अर्थ और काम निमित्त की जाने वाली हिंसा की ही तरह धर्म हेतु की जाने वाली हिंसा को भी अधर्म बताया गया है। इसमें हिंसा, हिंसा के विविध कारण और हिंसक अनार्य जातियों का विस्तृत परिचय दिया गया है।

२. द्वितीय अध्ययन में झूठ को भयंकर और अविश्वासकारक बताते हुए झूठ बोलने वालों के ३० नाम दिये गये हैं, जिनमें मृषाभाषी, क्रोधी, लोभी, भय-ग्रस्त, हास्यवश झूठ बोलने वाले, अधिकांश गवाह, चोर, भाट, जुआरी, वेषधारी, मायावी, अवैध माप-तौल करने वाले, स्वर्णकार, वस्त्रकार, चुगलखोर, दलाल, लोभी, स्वार्थी आदि के नाम बताये गए हैं। धार्मिक दृष्टि से नास्तिकों, एकान्त-वादियों और कुदर्शनियों को भी मृषाभाषी बताया गया है।

नरक, तिर्यंच गति की अजस्र एवं असह्य वेदना, दुर्मति और अशुभवचन आदि को मृषाभाषण का फल बताते हुए इसमें कहा गया है कि मृषावादी इस लोक और परलोक-उभयत्र ही सब प्राकर के कष्टों और अविश्वास का पात्र होता है।

३. तीसरे अध्ययन में चोरी को चिन्ता एवं भय की जननी तथा साधुपुरुषों द्वारा विनिन्दित बताते हुए इसके चोरी, एवं हरण आदि ३० नामों का उल्लेख किया गया है। चोरी कौन लोग किस प्रकार करते हैं – यह समझाते हुए कहा गया है कि अत्यधिक लालसा वाले, परधन और परकीय भूमि पर आसक्त,

और क्रयदोष से रहित हो, उद्गम, उत्पादना एवं एषणा दोष से रहित, नवकोटि-शुद्ध हो, वह भिक्षा साधु के ग्रहण करने योग्य बताई गई है। कथाप्रयोजन से लाई हुई भिक्षा तथा मंत्र, मूल, भैषज्य, स्वप्नफल और ज्योतिष आदि बताने के उपलक्ष में दी जाने वाली भिक्षा को साधु के लिए अग्राह्य और निषिद्ध बताया गया है। अहिंसा का प्रवचन भगवान् ने प्राणिमात्र के हित और उनके जन्मान्तर के कल्याण के लिए दिया है। इसमें अहिंसा-व्रत की रक्षा के लिए ५ भावनाएं बताई गई हैं। प्रथम भावना में त्रस-स्थावर जीवों की दया हेतु ईर्या-समिति से अर्थात् देख कर चलना। दूसरी मनसमिति में अशुभ एवं अधार्मिक विचार नहीं करना। तीसरी वाक्समिति में सावद्य वचन से बचकर निर्दोष भाषा बोलना। चौथी एषणासमिति में भिक्षैषणा में नियुक्त मुनि को निर्देश दिया गया है कि वह घर-घर से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण करे और गुरु के समक्ष भिक्षा निवेदित कर आलोचना करे। तदनन्तर प्रमादरहित एवं प्रशान्तरूपेण बैठकर क्षण भर शुभ योगों का चिन्तन करे और उसके पश्चात् छोटे-बड़े सभी साधुओं को निमन्त्रित एवं शरीर को साफ कर मूर्च्छारहित हो आहार करे। खाते समय सुरसुर अथवा अन्य किसी प्रकार का शब्द न करे अर्थात् भोजन करते समय मुंह न बोलावे, भूमि पर भोजन का अंश नहीं गिरावे, केवल साधना हेतु प्राण धारण करने के लिए रागद्वेषविहीन भाव से आहार करे। पांचवीं आदान-निक्षेपणासमिति में पीठ, फलक और मुँहपत्ती आदि उपकरणों को रागद्वेषरहित भावना से यतनापूर्वक ग्रहण करने का निर्देश है। इसमें बताया गया है कि आजीवन इस प्रकार के योग से चलने वाला साधक आज्ञा का आराधक होता है।

२. दूसरे अध्ययन में दूसरे धर्मद्वार सत्य की इहलोक और परलोक में उभयत्र महिमा बताते हुए कहा गया है कि सत्यवादी न समुद्र में डूबता है और न अग्नि में ही जलता है। पर्वत से गिरा दिये जाने पर भी वह सुरक्षित ही रहता है क्योंकि पुण्ययोग से देव भी उसकी रक्षा करते हैं। सत्य भगवान् का तीर्थंकरों ने भी कथन किया है। दश प्रकार का सत्य देव, दानव और मानवों का वन्दनीय और पूजनीय है। दूसरे की निन्दा, आत्मप्रशंसा एवं अपवादपूर्ण भाषण को सत्य में सम्मिलित नहीं किया गया है। हिंसाकारी सत्य भी अवाच्य बतलाया गया है। सत्यवादी मुनि के लिए व्याकरण का ज्ञान भी आवश्यक बताया गया है। नामसत्य, रूपसत्य एवं स्थापनासत्य जैसे भेदों को वास्तविकता नहीं होने पर भी व्यवहार में बोलचाल की दृष्टि से सत्य माना है। सत्यधर्म के रक्षणार्थ भी ५ भावनाएं बताई गई हैं। प्रथम भावना में बताया गया है कि संयमी हित-मित-पथ्य वाणी विचार कर बोले। विना विचारे नहीं बोले। क्रोधावेश में नहीं बोले। लोभवश झूठ बोला जाता है अतः लोभ का परित्याग कर संयत भाषा बोले। रोग, व्याधि, जरा आदि से भयभीत होकर नहीं बोले। हास्य को भी झूठ का कारण बताते हुए इसमें कहा गया है कि पंचम भावना में हास्य से सदा बचता रहे। हास्य का प्रसंग उपस्थित हो जाने पर मौन रखे पर हास्य-वश किसी

भी दशा में मृषा न बोले। इस प्रकार सदा सावधान रहकर बोलने वाला भाषा का आराधक बताया गया है।

३. तीसरे अध्ययन में दत्तादान अर्थात् अचौर्य नामक तीसरे धर्मद्वार का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि पूर्ण संयमी साधक ही अचौर्यधर्म का सम्यक्रूपेण आराधन कर पाते हैं। अचौर्यव्रत का स्वरूप बताते हुए इसमें कहा गया है कि ग्राम, नगरादि में कोई वस्तु पड़ी हुई हो, कोई भूल गया हो तो उस वस्तु को नहीं लेना। खेत अथवा जंगल के फल, फूल, तृणादि भी खेत अथवा वन के स्वामी की बिना आज्ञा के तोड़ना अदत्तादान बताया गया है।

इसमें संयमी के लिए यह आवश्यक बताया गया है कि वह पीठ, फलक, शय्या और वस्त्र, उपकरण आदि का सहधर्मियों में समान रूप से विभाग करके उपयोग करे। अचौर्यव्रत का आराधक उसे माना गया है जो बाल, दुर्बल, वृद्ध, तपस्वी और आचार्य आदि की बिना किसी प्रकार की अपेक्षा किये १० प्रकार की सेवा करता है एवं जो अप्रीतिकारक घर तथा उसके यहां के आहार, उपकरण आदि का सेवन नहीं करता और निषिद्ध आचरणों से सदा दूर रहता है।

तीसरे अदत्तादान-विरमण व्रत की रक्षा के लिए ५ भावनाएं बताई गई हैं, जो इस प्रकार हैं :—

स्त्री, पशु, पण्डकरहित निर्दोष वसति में वास करना (१), प्रतिदिन उस वसति में निवास के लिए आज्ञा प्राप्त करना तथा बिना आज्ञा के उसमें से किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करना (२), पीठ, फलक आदि के लिए आरम्भ नहीं करना (३), साधारण पिण्ड की गवेषणा कर विधिपूर्वक आहार करना (४) और सहधर्मी के प्रति विनय प्रदर्शित करना (५)।

४. चौथे अध्ययन में चौथे धर्मद्वार ब्रह्मचर्य का वर्णन किया गया है। इसमें ब्रह्मचर्य को तप एवं संयम का मूल और सुगति का पथप्रदर्शक बताया गया है। इसे "ब्रह्मचर्य भगवान्" कह कर ३२ उपमाओं से उपमित किया गया है। इसमें ब्रह्मचर्य को देवेन्द्र-नरेन्द्रों से पूजित और सद्गुणों में मुकुट के समान श्रेष्ठ बताया गया है। ब्रह्मचारी के आहार, विहार एवं जीवनचर्या का वर्णन करने के पश्चात् इसमें इस व्रत की रक्षा के लिए आवश्यक ५ भावनाओं का उल्लेख किया गया है। ब्रह्मचारी के लिए सादा वेश और सात्विक परिमित भोजन आवश्यक बताया गया है।

५. पांचवें अध्ययन में पांचवें धर्मद्वार अपरिग्रह का निरूपण करते हुए बताया गया है कि अपरिग्रही सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भ और परिग्रहों से पूर्णरूपेण विरत और जिनप्रणीत भावों में शंका-कांक्षा रहित होता है। इसमें अपरिग्रह का संवर वृक्ष के रूप में वर्णन किया गया है। अपरिग्रही के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए इसमें बताया गया है कि अपरिग्रही थोड़ा अथवा बहुत,

सूक्ष्म अथवा स्थूल, सजीव अथवा निर्जीव – किसी प्रकार का द्रव्य ग्रहण नहीं करता। पूर्ण अपरिग्रही को दांत, शृंग, काच, पत्थर एवं चर्म आदि के पात्र प्रभृति तथा फल-फूल, कन्द-मूल आदि ग्रहण करने का इसमें निषेध किया गया है और यह बताया गया है कि अपरिग्रही साधक भोजन के लिए भी हिंसा नहीं करता। वह कारण से ही आहार को ग्रहण करता और कारणवशात् ही आहार का त्याग करता है। निष्परिग्रही साधक शरीर-रक्षा और धर्मसाधना के लिए जो वस्त्र, पात्रादि ग्रहण करता है वह भी आवश्यकतानुसार निर्ममत्व भाव से ही ग्रहण एवं धारण करता है। इसमें अपरिग्रही साधु को ३१ उपमाओं से उपमित किया गया है।

अन्य व्रतों की तरह अपरिग्रह व्रत की भी पांच भावनाओं से सुरक्षा बताई गई है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का इतना विस्तृत और बहुमुखी विश्लेषण अन्य किसी शास्त्र में एकत्र उपलब्ध नहीं होता। हिंसा, मृषा, अदत्तादान, कुशील और परिग्रह – इन पांच आश्रव-द्वारों तथा अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच संवर-द्वारों का सर्वांगपूर्ण बोध प्राप्त करने के लिए प्रश्नव्याकरण के इन दोनों श्रुतस्कन्धों का पठन-पाठन एवं मनन बड़ा ही उपयोगी है। विचारकों के लिए तो प्रश्नव्याकरण वस्तुतः एक महान् निधि के समान है।

११. विवागसुयं

विपाकसूत्र – यह ग्यारहवां अंग है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध, २० अध्ययन, २० उद्देशनकाल, २० समुद्देशनकाल, संख्यात पद, संख्यात अक्षर व परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ़ा छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निरुक्तियां, संख्यात संग्रहणियां और संख्यात प्रतिपत्तियां हैं। वर्तमान में इसका स्वरूप १२१६ श्लोक-परिमाण है। विपाकसूत्र का मुख्य लक्ष्य कर्म के शुभाशुभ फल-विपाक को समझाना है।

विपाक सूत्र के, दुःखविपाक और सुखविपाक ये दो विभाग हैं। कर्मसिद्धांत वस्तुतः जैनधर्म का एक प्रमुख और महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। कर्म सिद्धान्त के उदाहरणों के लिए यह आगम अत्यन्त उपयोगी है।

इसके पहले भाग दुःख विपाक में ऐसे १० व्यक्तियों का वर्णन है जिन्हें अशुभ कर्मानुसार अनेक कष्ट सहन करने पड़े और जो कष्ट से मुक्ति प्राप्त कर सके।

पहले भाग के १० अध्ययनों में से प्रथम मृगापुत्र के अध्ययन में बताया गया है कि राष्ट्रकूट की तरह कठोर एवं क्रूर शासन करने वाले को मृगा लोढ़ा की तरह कैसा विकलांग और निन्द्य जीवन जीना पड़ता है।

दूसरे अध्ययन में गो-मांस भक्षण और मद्यपान के दुखद फलों को बताते हुए उज्झित कुमार का परिचय दिया गया है।

तीसरे अध्ययन में अभंगसेन चोर के माध्यम से बताया गया है कि मद्यपान एवं अण्डों का विक्रय करने वाला किस प्रकार वध-बन्ध के दुःखों का भागी होता है।

चौथे शकट अध्ययन में मांसविक्रय और व्यभिचार के फल बतलाते हुए 'छागलिक' कसाई के जन्म-जन्मान्तर के दुःख और राजपुरुषों द्वारा निर्दयतापूर्वक उसे वध हेतु ले जाये जाने का उल्लेख है।

पांचवें अध्ययन में यज्ञ की हिंसा और परस्त्रीगमन के कटु फलों का वर्णन करते हुए 'महेश्वरदत्त' पुरोहित के माध्यम से नरकादि दुर्गतिरूप हिंसा व व्यभिचार का फल बताया गया है।

छठे अध्ययन में तत्कालीन विविध प्रकार के दण्डविधान का परिचय दिया गया है, और कठोर दण्ड देने वाले को नन्दीषेण की तरह वध, बन्ध और नरकगमन के कैसे कटु फल भोगने पड़ते हैं, यह बताया गया है।

सातवें अध्ययन में मांस और प्राणी-अंगों से चिकित्सा करने का फल बताते हुए 'उमरदत्त' के १६ रोग एक साथ उत्पन्न होने और दीर्घकाल तक उसके भवभ्रमण का परिचय दिया गया है।

आठवें अध्ययन में मच्छीमार के व्यवसाय का दुःखद फल बताते हुए एक मच्छीमार के विविध कष्टपूर्ण नरकादि दुर्गतियों में भ्रमण करने और भयंकर कष्ट पाने का उल्लेख किया गया है।

नौवें अध्ययन में ईर्ष्या का फल बताते हुए राजकुमार 'सिंहसेन' का उल्लेख किया गया है। 'सिंहसेन' ने 'श्यामा' रानी में आसक्त होकर ४९९ रानियों को द्वेषवश महल में बन्द कर जला दिया। इसके परिणामस्वरूप उसको अनेक जन्मों तक नरकादि दुर्गतियों में वध-बन्ध के कष्ट भोगने पड़े, यह बताया गया है।

दशवें अध्ययन में वेश्यावृत्ति के फलस्वरूप होने वाले दारुण दुःखों का चित्रण करते हुए बताया गया है कि अंजुश्री को व्यभिचार के कारण किस प्रकार असह्य एवं असाध्य योनिशूल की वेदना भोगनी पड़ी और अनेक जन्मों तक कष्ट भोगने के पश्चात् अन्ततोगत्वा अत्यन्त कठिनाई से उसे बोधि प्राप्त हुई।

दूसरे श्रुतस्कन्ध में सुबाहु, भद्रनन्दि आदि १० राजकुमारों के सुखमय जीवन का वर्णन है। इन सबने पूर्वभव में तपस्वी मुनि को पवित्र भाव से निर्दोष आहार का प्रतिलाभ देकर संसार का अन्त किया और उत्तम कुल में जन्म लेकर सुखपूर्वक साधना से मुक्ति प्राप्त की। इन १० अध्ययनों में कुछ सुबाहु की तरह १५ भव कर मोक्ष जाने वाले और कुछ तद्भव-मोक्षगामी बताये गये हैं।

१२. दृष्टिवाद

दिट्ठिवाय-दृष्टिवाद-दृष्टिपात – यह प्रवचनपुरुष का बारहवां अंग है, जिसमें संसार के समस्त दर्शनों और नयों का निरूपण किया गया है[1] अथवा जिसमें सम्यक्त्व आदि दृष्टियों अर्थात् दर्शनों का विवेचन किया गया है।[2]

दृष्टिवाद नामक यह बारहवां अंग विलुप्त हो चुका है अतः आज यह कहीं उपलब्ध नहीं होता। वीर नि० सं० १७० में श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगमन के पश्चात् दृष्टिवाद का ह्रास प्रारम्भ हुआ और वी० नि० सं० १००० में यह पूर्णतः (शब्द रूप से पूर्णतः और अर्थ रूप से अधिकांशतः) विलुप्त हो गया।[3]

स्थानांगसूत्र में दृष्टिवाद के दश नाम बताये गए हैं जो इस प्रकार हैं :–

१. दृष्टिवाद, २. हेतुवाद, ३. भूतवाद, ४. तथ्यवाद, ५. सम्यक्वाद, ६. धर्मवाद, ७. भाषाविचय अथवा भाषाविजय, ८. पूर्वगत, ९. अनुयोगगत और १०. सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावह।[4]

समवायांग एवं नन्दीसूत्र के अनुसार दृष्टिवाद के पांच विभाग कहे गये हैं – परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका।[5] इन पांचों विभागों के विभिन्न भेदप्रभेदों का समवायांग एवं नन्दीसूत्र में विवरण दिया गया है, जिनका सारांश यह है कि दृष्टिवाद के प्रथम विभाग परिकर्म के अन्तर्गत लिपिविज्ञान और सर्वांगपूर्ण गणित विद्या का विवेचन था। इसके दूसरे भेद सूत्र-विभाग में छिन्न-छेद नय, अछिन्न-छेद नय, त्रिक नय तथा चतुर्नय की परिपाटियों का विस्तृत विवेचन था। नय की इन चार प्रकार की परिपाटियों में से प्रथम – छिन्न-छेद नय और चतुर्थ-चतुर्नय – ये दो परिपाटियां निर्ग्रन्थों की और अछिन्न-छेद नय एवं त्रिकनय की परिपाटियां आजीविकों की कही गई थीं।

---

[1] दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा। प्रवचनपुरुषस्य द्वादशेऽङ्गे
[स्थानांग वृत्ति, ठा० ४, उ० १]

[2] दृष्टिदर्शनं सम्यक्त्वादि, वदनं वादो, दृष्टिनां वादो दृष्टिवादः।
[प्रवचन सारोद्धार, द्वार १४४]

[3] गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिस्सइ,..............
[भगवतीसूत्र, शतक २०, उ० ८, सू० ६७७ सुत्तागमे, पृ० ८०४]

[4] दिट्ठिवायस्स णं दस नामधिज्जा पण्णत्ता। तं जहा दिट्ठिवाएइ वा, हेतुवाएइ वा, भूयवाएइ वा, तच्चावाएइ वा, सम्मावाएइ वा, धम्मावाएइ वा, भासाविजएइ वा, पुव्वगएइ वा, अणुओगगएइ वा, सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहेइ वा।
[स्थानांग सूत्र, ठा० १०]

[5] से किं दिट्ठिवाए ? से समासओ पंचविहे पण्णत्ते तं जहा परिकम्मे, सुत्ताइं, पुव्वगए, अणुओगे चूलिया। (नन्दी)

दृष्टिवाद का तीसरा विभाग – पूर्वगत विभाग अन्य सब विभागों से अधिक विशाल और बड़ा महत्वपूर्ण माना गया है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित १४ पूर्व थे :–

१. उत्पादपूर्व – इसमें सब द्रव्य और पर्यायों के उत्पाद (उत्पत्ति) की प्ररूपणा की गई थी।[1] इसका पदपरिमाण १ कोटि पद माना गया है।

२. अग्रायणीयपूर्व – इसमें सभी द्रव्य, पर्याय और जीवविशेष के अग्र-परिमाण का वर्णन किया गया था। इसका पद-परिमाण ६९ लाख पद माना गया है।

३. वीर्यप्रवाद – इसमें सकर्म एवं निष्कर्म जीव तथा अजीव के वीर्य-शक्तिविशेष का वर्णन था। इसकी पद संख्या ७० लाख मानी गई है।

४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व – इसमें वस्तुओं के अस्तित्व तथा नास्तित्व के वर्णन के साथ-साथ धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का अस्तित्व और खपुष्प आदि का नास्तित्व तथा प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप से अस्तित्व एवं पररूप से नास्तित्व का प्रतिपादन किया गया था। इसका पदपरिमाण ६० लाख पद बताया गया है।

५. ज्ञानप्रवादपूर्व – इसमें मतिज्ञान आदि ५ ज्ञान तथा इनके भेद-प्रभेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। इसकी पदसंख्या १ करोड़ मानी गई है।

६. सत्यप्रवादपूर्व – इसमें सत्यवचन अथवा संयम का, प्रतिपक्ष (असत्यों के स्वरूपों) के विवेचन के साथ-साथ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। इसमें कुल १ करोड़ और ६ पद होने का उल्लेख मिलता है।

७. आत्मप्रवादपूर्व – इसमें आत्मा के स्वरूप, उसकी व्यापकता, ज्ञातृभाव तथा भोक्तापन सम्बन्धी विवेचन अनेक नयमतों की दृष्टि से किया गया था। इसमें २६ करोड़ पद माने गये हैं।

८. कर्मप्रवादपूर्व – इसमें ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का, उनकी प्रकृतियों, स्थितियों, शक्तियों एवं परिमाणों आदि का बन्ध के भेद-प्रभेद सहित विस्तारपूर्वक वर्णन था। इस पूर्व की पदसंख्या १ करोड़ ८० हजार पद बताई गई है।

९. प्रत्याख्यान-प्रवादपूर्व – इसमें प्रत्याख्यान का, इसके भेद-प्रभेदों के साथ विस्तार सहित वर्णन किया गया था। इसके अतिरिक्त इस नौवें पूर्व में आचार-सम्बन्धी नियम भी निर्धारित किये गए थे। इसमें ८४ लाख पद थे।

१०. विद्यानुप्रवादपूर्व – इसमें अनेक अतिशय शक्तिसम्पन्न विद्याओं एवं उपविद्याओं का उनकी साधना करने की विधि के साथ निरूपण किया गया था, जिनमें अंगुष्ठ-प्रश्नादि ७०० लघु विद्याओं, रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओं

---

[1] पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य उप्पायभावमंगीकाउं पण्णवणा कया।
[नन्दी चू॰

एवं अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षरण, व्यंजन और छिन्न – इन आठ महानिमित्तों द्वारा भविष्य को जानने की विधि का वर्णन किया गया था। इस पूर्व के पदों की संख्या १ करोड़ १० लाख बताई गई है।

११. अवन्ध्यपूर्व–वन्ध्य शब्द का अर्थ है निष्फल अथवा मोघ। इसके विपरीत जो कभी निष्फल न हो अर्थात् जो अमोघ हो उसे अवन्ध्य कहते हैं। इस अवन्ध्यपूर्व में ज्ञान, तप आदि सभी सत्कर्मों को शुभफल देने वाले तथा प्रमाद आदि असत्कर्मों को अशुभ फलदायक बताया गया था। शुभाशुभ कर्मों के फल निश्चित रूप से अमोघ होते हैं, कभी किसी भी दशा में निष्फल नहीं होते इसलिए इस ग्यारहवें पूर्व का नाम अवन्ध्यपूर्व रखा गया। इसकी पदसंख्या २६ करोड़ बताई गई है।

दिगम्बर परम्परा में ग्यारहवें पूर्व का नाम "कल्याणवाद पूर्व" माना गया है। दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार कल्याणवाद नामक ग्यारहवें पूर्व में तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों के गर्भावतरणोत्सवों, तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कराने वाली सोलह भावनाओं एवं तपस्याओं का तथा चन्द्र व सूर्य के ग्रहण, ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव, शकुन, उनके शुभाशुभ फल आदि का वर्णन किया गया था। श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी इस पूर्व की पदसंख्या २६ करोड़ ही मानी गई है।

१२. प्राणायु पूर्व – इस पूर्व में श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार आयु और प्राणों का भेद-प्रभेद सहित वर्णन किया गया था।

दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार इसमें काय-चिकित्सा प्रमुख अष्टांग आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलि, प्रक्रम, साधक आदि आयुर्वेद के भेद, इला, पिंगलादि प्राण, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि तत्वों के अनेक भेद, दश प्राण, द्रव्य, द्रव्यों के उपकार तथा अपकार रूपों का वर्णन किया गया था।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार प्राणायुपूर्व की पदसंख्या १ करोड़ ५६ लाख और दिगम्बर मान्यतानुसार १३ करोड़ थी।

१३. क्रियाविशालपूर्व – इसमें संगीतशास्त्र, छन्द, अलंकार, पुरुषों की ७२ कलाएं, स्त्रियों की ६४ कलाएं, चौरासी प्रकार के शिल्प, विज्ञान, गर्भाधानादि कायिक क्रियाओं तथा सम्यग्दर्शन क्रिया, मुनीन्द्रवन्दन, नित्यनियम आदि आध्यात्मिक क्रियाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। लौकिक एवं लोकोत्तर सभी क्रियाओं का इसमें वर्णन किया जाने के कारण इस पूर्व का कलेवर अति विशाल था।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएं इसकी पद संख्या ९ करोड़ मानती हैं।

१४. लोकबिन्दुसार – इसमें लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की विद्याओं का एवं सम्पूर्ण रूप से ज्ञान निष्पादित कराने वाली सर्वाक्षरसन्निपातादि

विशिष्ट लब्धियों का वर्णन था। अक्षर पर विन्दु की तरह सव प्रकार के ज्ञान का सर्वोत्तम सार इस पूर्व में निहित था। इसी कारण इसे लोकविन्दुसार अथवा त्रिलोकविन्दुसार की संज्ञा से अभिहित किया गया है। श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनों परम्पराओं की मान्यता के अनुसार इसकी पद संख्या साढ़े वारह करोड़ थी।

उपर्युक्त १४ पूर्वों की वस्तु (ग्रन्थविच्छेदविशेष) संख्या क्रमशः १०, १४, ८, १८, १२, २, १६, ३०, २०, १५, १२, १३, ३० और २५ उल्लिखित है।[1]

चौदह पूर्वों के उपरोक्त ग्रन्थविच्छेद-वस्तु के अतिरिक्त आदि के ४ पूर्वों की क्रमशः ४, १२, ८ और १० चूलिकाएं (चुल्ल-क्षुल्लक) मानी गई हैं। शेष १० पूर्वों के चुल्ल अर्थात् क्षुल्ल नहीं माने गये हैं।[2]

जिस प्रकार पर्वत के शिखर का पर्वत के शेष भाग से सर्वोपरि स्थान होता है उसी प्रकार पूर्वों में चूलिकाओं का स्थान सर्वोपरि माना गया है।[3]

अनुयोग – अनुयोग नामक विभाग के मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग ये दो भेद वताये गए हैं। प्रथम मूल प्रथमानुयोग में अरहन्तों के पंच-कल्याणक का विस्तृत विवरण तथा दूसरे गंडिकानुयोग में कुलकर, चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों का चरित्र दिया गया था।

दृष्टिवाद के इस चतुर्थ विभाग अनुयोग में इतनी महत्वपूर्ण विपुल सामग्री विद्यमान थी कि उसे जैन धर्म का प्राचीन इतिहास अथवा जैन पुराण की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा में इस चतुर्थ विभाग का सामान्य नाम प्रथमानुयोग पाया जाता है।

चूलिका – समवायांग और नन्दी सूत्र में आदि के चार पूर्वों की जो चूलिकाएं वताई गई हैं, उन्हीं चूलिकाओं का दृष्टिवाद के इस पंचम विभाग में समावेश किया गया है। यथा :– "से किं तं चूलियाओ ? चूलियाओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिया, सेसाइं अचूलियाइं, से तं चूलियाओ।" पर दिगम्वर परम्परा में जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत – ये पांच प्रकार की चूलिकाएं वताई गई हैं।

---

[1] दस चोद्दस अट्ठ अट्ठारसेव वारस दुवे य वत्थूणि।
सोलस तीसा वीसा पण्णरस अणुप्पवायम्मि।
वारस इक्कारसमे वारसमे तेरसेव वत्थूणि।
तीसा पुण तेरसमे चोद्दसमे पण्णवीसा उ॥

[2] चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि।
आइल्लाण चउण्हं सेसाणं चूलिया नत्थि।
[श्रीमन्नन्दीसूत्रम् (पू० हस्तीमलजी म० सा० द्वारा अनुदित) पृ० १४८]

[3] ते सव्वुवरि ठिया पढ़िज्जंति य अतो तेसु य पव्वय चूला इव चूला। [नन्दीचूर्णि]

द्वादशांगी में मंगलाचरण

परममंगल स्वरूप परमार्हत् प्रभु महावीर के मुखारविन्द से प्रकट हुई सकल अघ-अमंगल-विघ्नविनाशिनी एवं समस्त महामंगल प्रदायिनी वाणी का प्रत्येक पद, वाक्य, शब्द और अक्षर तक परमोत्कृष्ट मंगलाचरण ही है। ऐसी स्थिति में द्वादशांगी के आदि, मध्य अथवा अन्त में पृथक्रूपेण किसी मंगलाचरण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। निसर्गतः मंगल स्वरूप आगम के लिए भी यदि मंगलाचरण किया जाता है तो इससे निश्चितरूपेण 'अनवस्था दोष' उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि महावीरवाणी (द्वादशांगी) को सूत्र रूप में ग्रथित करते समय भगवान् के गणधरों ने द्वादशांगी के किसी भी अंग के आदि, मध्य अथवा अंत में स्तुति-नमस्कृति-परक मंगलाचरण के रूप में कोई पृथक् मंगलपाठ नहीं दिया है।

द्वादशांगी के पांचवें अंग 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' के आदि में पंचपरमेष्ठि-नमस्कारमंत्र, 'णमो बंभीए लिवीए' और 'णमो सुयस्स'[1] – इन प्रकार के उल्लेखों से, शतक संख्या १५, १७, २३ और २६ के प्रारम्भ में 'णमो सुयदेवयाए भगवईए' इस पद से तथा अंत में संघ-स्तुति के पश्चात् गौतमादि गणधरों, भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति, द्वादशांगी रूप गणिपिटक, श्रुतदेवता, प्रवचनदेवी, कुंभधर यक्ष, ब्रह्मशान्ति, वैरोट्यादेवी, विद्यादेवी और अंतहुंडी को नमस्कार किया गया है। इस प्रकार 'व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र' में आदि से अंत तक नमनादि के रूप में कुल मिलाकर १८ बार मंगलाचरण किया गया है।

उपरोक्त मंगलाचरणों में पंचपरमेष्ठिनमस्कारमंत्र से लेकर संघस्तुति तक के ८ मंगलाचरणों को नवांगी टीकाकार आचार्य अभय देव सूरि ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में सूत्रकार द्वारा किये गए मंगलाचरण नहीं बताया है तथापि अपनी टीका में इन्हें स्थान देकर और शेष १० मंगलाचरणों के लिए – "णमो गोयमाइणं गणहराणमित्यादयः पुस्तक-लेखककृता नमस्काराः" यह कह कर एक प्रकार से सूत्रकार द्वारा किये गए मंगलाचरण ही माना है। परन्तु वस्तुतः सम्वन्धित तथ्यों पर समीचीनतया विचार करने पर उपरोक्त १८ मंगलाचरणों में से एक भी मंगलाचरण सूत्रकार द्वारा किया हुआ प्रतीत नहीं होता। निम्नलिखित तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में दिये गए मंगलाचरण सूत्रकार द्वारा किये गए मंगलाचरण नहीं हैं :–

१. यदि द्वादशांगी की रचना के समय सूत्रकार ने मंगलचरण का पाठ दिया होता तो द्वादशांगी के क्रम में प्रथम स्थान पर माने जाने वाले तथा द्वादशांगी में सर्वाधिक महत्वपूर्ण आचारांग सूत्र में सर्वप्रथम इस प्रकार पृथक् रूप से मंगलाचरण का पाठ दिया जाता। पर वस्तुस्थिति इससे विपरीत है।

---

[1] अनेक प्राचीन प्रतियों में "णमो सुयस्स" – यह पाठ उल्लिखित नहीं किया गया है।
[सम्पादक]

आचारांग सूत्र के आदि, मध्य अथवा अन्त में इस प्रकार का कोई पृथक् मंगलपाठ नहीं दिया हुआ है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग को छोड़ कर द्वादशांगी के शेष किसी अंग में मंगलाचरण का न होना इस बात को प्रमाणित करता है कि व्यख्या-प्रज्ञप्ति के आदि, मध्य तथा अन्त में उल्लिखित उपरोक्त १८ मंगलाचरण सूत्रकार द्वारा कृत नहीं अपितु किसी लिपिकार अथवा प्रतिलिपिकार द्वारा किये गए मंगलाचरण हैं।

२. व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग के प्रारम्भ में दी हुई संग्रहगाथा[1] से स्पष्टतः यह प्रकट होता है कि इस अंग का प्रारम्भ राजगृह शब्द से हुआ है, न कि मंगला-चरण से। यदि मंगलाचरण सूत्रकार द्वारा कृत और सूत्र का अभिन्न अंग होता तो संग्रह गाथा निश्चितरूपेण "णमो अरहंताणं" इस पद से पहले उल्लिखित की जाती और उसमें 'रायगिह' शब्द के स्थान पर "णमो" शब्द होता।

३. "णमो बंभीए लिवीए" यह किसी भी दशा में सूत्रकार द्वारा किया हुआ मंगलाचरण नहीं हो सकता क्योंकि श्रुतरचना के समय गौतम-सुधर्मा आदि द्वादशांगी के सूत्रकारों ने न तो ब्राह्मी लिपि का ही उपयोग किया और न अन्य किसी लिपि का ही। ऐसी स्थिति में सूत्रकार आर्य सुधर्मा द्वारा ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किये जाने के इस प्रकार के उल्लेख का कोई औचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि द्रव्यश्रुत का भावश्रुत के समकक्ष महत्व स्थापित करने अथवा द्रव्यश्रुत के माध्यम से भावश्रुत की पूजा अर्चा आदि के विधान को लोक में प्रचलित करने की दृष्टि से 'णमो बंभीए लिवीए' – इस पद को चैत्यवास के समय में अथवा अन्य किसी काल में जोड़ा गया हो।

प्राचीन प्रतियों में 'णमो बंभीए लिविए' इस प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस पद को द्रव्यश्रुत की पूजा का आधारभूत मान कर चर्चास्थल बनाया गया हो और उसके निराकरण हेतु "सुत्तागमे" के संपादक मुनि 'पुप्फभिक्खु' ने "णमो बंभीयस्स लिवीयस्स"[2] इस प्रकार का पाठ प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया हो कि यह वस्तुतः ब्राह्मी लिपि को नमस्कार नहीं लेकिन ब्राह्मी को लिपि-विज्ञान की शिक्षा देने वाले भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया गया है। परन्तु इस प्रकार की पाठपरिवर्तन की परम्परा चाहे वह किसी दृष्टि से प्रारम्भ की जाय उचित नहीं।

जहां तक "णमो बंभीए लिवीए" – इस पद के यहां उल्लिखित किये जाने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वीर नि० सं० ९८० में, देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के तत्वावधान में, वल्लभी में हुई अन्तिम

---

[1] रायगिह चलण १ दुक्खे २ कंख पओसे य ३ पगइ ४ पुढवीओ ५।
जावंते ६ णेरइए ७ बाले ८ गुरुएय ९ चलणाओ १०॥

[2] सुत्तागमे, भाग १, पृ० २८४।

श्वेताम्बर परम्परानुसार द्वादशांगी की पदसंख्या

अंग का नाम	समवायांग के अनुसार	नंदीसूत्र	सम० वृत्ति	नंदी वृत्ति
१. आचारांग	१८०००	,,	,,	,,
२. सूत्रकृतांग	३६०००	,,	,,	,,
३. स्थानांग	७२०००	,,	,,	,,
४. समवायांग	१४४०००	,,	,,	,,
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	८४०००	२८८०००	८४०००	२८८०००
६. ज्ञाताधर्मकथा	संख्यात हजार	संख्यात हजार	५७६०००	५७६०००
७. उपासकदशा	,,	,,	११५२०००	११५२०००
८. अंतकृद्दशा	,,	,,	२३०४०००	२३०४०००
९. अनुत्तरोपपातिकदशा	,,	,,	४६०८०००	४६०८०००
१०. प्रश्नव्याकरण	,,	,,	९२१६०००	९२१६०००
११. विपाकसूत्र	,,	,,	१८४३२०००	१८४३२०००
१२. दृष्टिवाद	,,	,,	–	–

दिगम्बर परम्परानुसार[1] द्वादशांगी की पद, श्लोक एवं अक्षर-संख्या

अंग का नाम	पद संख्या	श्लोक संख्या	अक्षर संख्या
१. आचारांग	१८०००	९१९५९२३११८७०००	२९९२६९५४१९८४०००
२. सूत्रकृत	३६०००	१८३९१८४६३७४०००	५८८५३९०८३९६८०००
३. स्थानांग	४२०००	२१४५७१५४१०३०००	६८६६२८९३१२९६०००
४. समवायांग	१६४०००	८३७८५०७७९२६०००	२६८११२२४९३६३२०००
५. विपाकप्रज्ञप्ति	२२८०००	११६४८१६९३७०२०००	३७२७४१४१९८४६४०००
६. ज्ञातृधर्मकथांग	५५६०००	२८४०५१८४९५५४०००	९८९६५९१८५७२८०००
७. उपासकाध्ययन	११७०००	५९७७३५००७१५५०००	१९१२७५२०२२८९६००००
८. अंतकृद्दशांग	२३२८०००	११८९३३९३९८८५२०००	३८०५८८६०७६३२३४०००
९. अनुत्तरोपत्पाद	९२२४४०००	४७२२६१७४४१४६०००	१५११२३७५८११६६७०००
१०. प्रश्नव्याकरण	९३१६०००	४७५९४०११३३८९४०००	१५२३००८३६२८४६०८०००
११. विपाकसूत्रांग	१८४०००००	९४००२७७०३५६०००००	३००८०८८६५१३९२०००००
१२. दृष्टिवादांग	१०८६८५६००५	५५५२५८०१८७३९४२७१०७	१७७६८२५६५९९६६१९६७४४०

[1] अंगपण्णत्ति

पूर्वों की पदसंख्या

पूर्वनाम	श्वेताम्बर परम्परानुसार	दिगम्बर परम्परानुसार
१. उत्पादपूर्व	एक करोड़ पद	एक करोड़ पद
२. अग्रायणीय	छियानवे लाख	छियानवे लाख
३. वीर्यप्रवाद	सत्तर लाख	सत्तर लाख
४. अस्तिनास्ति प्रवाद	साठ लाख	साठ लाख
५. ज्ञानप्रवाद	एक कम एक करोड़	एक कम एक करोड़ पद
६. सत्यप्रवाद	एक करोड़ ६ पद	एक करोड़ छः पद
७. आत्मप्रवाद	छब्बीस करोड़ पद	छब्बीस करोड़ पद
८. कर्मप्रवाद	१ करोड़ अस्सी हजार	१ करोड़ ८० लाख पद
९. प्रत्याख्यान पद	८४ लाख पद	८४ लाख पद
१०. विद्यानुवाद	१ करोड़ १० लाख पद	१ करोड़ १० लाख पद
११. अवंध्य	२६ करोड़ पद	२६ करोड़ पद[1]
१२. प्राणायु	१ करोड़ ५६ लाख पद	१३ करोड़ पद[2]
१३. क्रियाविशाल	९ करोड़ पद	९ करोड़ पद
१४. लोक बिन्दुसार	साढ़े बारह करोड़ पद	साढ़े बारह करोड़ पद

उपर्युल्लिखित तालिकाओं में अंकित दृष्टिवाद और चतुर्दश पूर्वों की पद-संख्या से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के आगमों एवं आगम सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थों में दृष्टिवाद की पदसंख्या संख्यात मानी गई है। शीलांकाचार्य ने सूत्रकृतांग की टीका में पूर्व को अनन्तार्थ युक्त बताते हुए लिखा है :—

"पूर्व अनन्त अर्थ वाला होता है और उसमें वीर्य का प्रतिपादन किया जाता है अतः उसकी अनन्तार्थता समझनी चाहिए।"

अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने दो गाथाएं प्रस्तुत करते हुए लिखा है – "समस्त नदियों के बालुकणों की गणना की जाय अथवा सभी समुद्रों के पानी को हथेली में एकत्रित कर उसके जलकणों की गणना की जाय तो उन बालुकणों तथा जलकणों की संख्या से भी अधिक अर्थ एक पूर्व का होगा।

---

[1] दिगम्बर परम्परा में ११ वें पूर्व का नाम कल्याण है।

[2] श्वेताम्बर परम्परानुसार पूर्वों की उपरोक्त पदसंख्या समवायांग एवं नन्दी-वृत्ति के आधार पर तथा दिगम्बर परम्परानुसार पदसंख्या धवला, जयधवला, गोम्मटसार एवं अंग पण्णत्ति के अनुसार दी गई है। [सम्पादक]

इस प्रकार पूर्व के अर्थ की अनन्तता होने के कारण वीर्य की भी पूर्वार्थ के समान अनन्तता (सिद्ध) होती है।[1]

नंदी बाळावबोध में प्रत्येक पूर्व के लेखन के लिए आवश्यक मसि की जिस अतुल मात्रा का उल्लेख किया गया है उससे पूर्वों के संख्यात पद और अनन्तार्थ-युक्त होने का आभास होता है।[2] ये तथ्य यही प्रकट करते हैं कि पूर्वों की पदसंख्या असीम अर्थात् उत्कृष्टसंख्येय पदपरिमाण की थी।

इन सब उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि द्वादशांगी का पूर्वकाल में बहुत बड़ा पद-परिमाण था। कालजन्य मन्दमेधा आदि कारणों से उसका निरन्तर ह्रास होता रहा। आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को कभी गर्व न करने का उपदेश देते हुए जो धूलि की राशि का दृष्टांत दिया उस दृष्टांत से सहज ही यह समझ में आ जाता है कि वस्तुतः द्वादशांगी का ह्रास किस प्रकार हुआ। कालकाचार्य ने अपनी मुट्ठी में धूलि भर कर उसे एक स्थान पर रखा। तत्पश्चात् उन्होंने उस धूलि की राशि को उस स्थान से हटाकर क्रमशः दूसरे, तीसरे तथा चौथे स्थान पर और फिर पांचवें स्थान पर रखा। आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को सम्बोधित करते हुए कहा–"वत्स! जिस प्रकार यह धूलि की राशि एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे स्थान पर रखने के कारण निरन्तर कम होती गई है, ठीक इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् महावीर से गणधरों को जो द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त हुआ था वह गणधरों से हमारे पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों को, उनसे उनके शिष्यों और प्रशिष्यों आदि को प्राप्त हुआ, वह द्वादशांगी का ज्ञान एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे और इसी क्रम से अनेकों स्थानों में आते-आते निरन्तर ह्रास को ही प्राप्त होता चला आया है।" ३४ अतिशय, ३५ वाणी के गुण और अनन्त ज्ञान-दर्शन-चरित्र के धारक प्रभु महावीर ने अपनी देशना में अनन्त भावभंगियों की अनिर्वचनीय एवं अनुपम तरंगों से कल्लोलित जिस श्रुतगंगा को प्रवाहित किया, उसे द्वादशांगी के रूप में आबद्ध करने का गणधरों ने यथाशक्ति पूरा प्रयास किया पर वे उसे निश्शेष

---

[1] यतोऽनन्तार्थं पूर्वं भवति, तत्र च वीर्यमेव प्रतिपाद्यते, अनन्तार्थता चातोऽवगन्तव्या तद्यथा :-

सव्व नईणं जा होज्ज वालुया गणणमागया सन्ती।
तत्तो वहुयतरागो, एगस्स अत्थो पुव्वस्स ॥१॥

सव्व समुद्दाणजलं, जइ पत्थमियं हविज्ज संकलियं।
एत्तो वहुयतरागो, अत्थो एगस्स पुव्वस्स ॥२॥

तदेवं पूर्वार्थस्यानन्त्याद्वीर्यस्य च तदर्थत्वादनन्तता वीर्यस्येति।

[सूत्र कृतांग, (वीर्याधिकार) शीलांकाचार्यकृता टीका, आ. श्री जवाहरलालजी म. द्वारा संपादित, पृ. ३३५]

[2] नंदीसूत्र (धनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित) पृ. ४८२–८४

रूप से तो आवद्ध नहीं कर पाये। तदनन्तर आर्य सुधर्मा से आर्य जम्बू ने, जम्बू से आर्य प्रभव ने और आगे चल कर क्रमशः एक के पश्चात् दूसरे आचार्यों ने अपने-अपने गुरू से जो द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त किया उसमें एक स्थान से दूसरे स्थान में आते-आते द्वादशांगी के अर्थ के कितनी वड़ी मात्रा में पर्याय निकल गए, छूट गए अथवा विलीन हो गए, इसकी कल्पना करना भी कठिन है।

आर्य भद्रबाहु के पश्चात् (वी० नि० सं० १७०) अन्तिम चार पूर्व अर्थतः और आर्य स्थूलभद्र के पश्चात् (वी० नि० सं० २१५) शब्दतः विलुप्त हो गए।

द्वादशांगी के किस-किस अंश का किन-किन आचार्यों के समय में ह्रास हुआ यह यथास्थान वताने का प्रयास किया जायगा। आर्य सुधर्मा से प्राप्त द्वादशांगी में से आज हमारे पास कितना अंश अवशिष्ट रह गया, यहां केवल यही वताने के लिए एक तालिका दी जा रही है, जो इस प्रकार है :-

अंग का नाम	मूल पद संख्या	उपलब्ध पाठ (श्लोक प्रमाण)
आचारांग	१८,०००	२५०० महापरिज्ञा नामक ७ वां अध्ययन विलुप्त हो चुका है।
सूत्रकृतांग	३६,०००	२१००
स्थानांग	७२,०००	३७७०
समवायांग	१,४४,०००	१६६७
व्यख्याप्रज्ञप्ति	२,८८,००० (नंदीसूत्र)[1] ८४,००० (समवायांग)[2]	१५७५२ १०१ शतकों में से आज ४१ शतक ही उपलब्ध हैं।
ज्ञातृधर्मकथा	समवायांग और नन्दी के अनुसार संख्येय हजार पद और इन दोनों अंगो की वृत्ति के अनुसार ५,७६,०००	५५०० इस अंग के अनेक कथानक वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं।
उपासकदशा	संख्यात हजार पद सम० एवं नंदी के अनुसार पर दोनों सूत्रों की वृत्ति के अनुसार ११,५२,०००	८१२

[1] दो लक्खा अट्ठासीइं पयसहस्साइं पयग्गेणं...... [नंदी, पृ० ४५८, राय धनपतिसिंह]

[2] चउरासीइपयसहस्साइं पयग्गेणं पण्णत्ता.......
[समवायांग, पृ० १७९ (अ), राय धनपतिसिंह]

अंतकृद्दशा	संख्यात हजार पद, सम० नंदी वृत्ति के अनुसार २३,०४०००	९००	
अनुत्तरोपपातिकदशा	संख्यात हजार पद, सम०, नंदी वृ० के अनुसार ४६,०८०००	१९२	
प्रश्नव्याकरण	संख्यात हजार पद, सम० एवं नंदी वृ० के अनुसार ९२,१६,०००	१३०० समवायांग और नंदी सूत्र में प्रश्नव्याकरण सूत्र का जो परिचय दिया गया है, वह उपलब्ध प्रश्न-व्याकरण में विद्यमान नहीं है।	
विपाकसूत्र	संख्यात हजार पद, सम० और नंदीवृत्ति के अनुसार १,८४,३२,०००	१२१६	
दृष्टिवाद	संख्यात हजार पद	पूर्वों सहित बारहवां अंग वीर निर्वाण सं० १००० में विच्छिन्न हो गया।	

वस्तुस्थिति यह है कि द्वादशांगी का बहुत बड़ा अंश कालप्रभाव से विलुप्त हो चुका है अथवा विच्छिन्न-विकीर्ण हो चुका है। इस क्रमिक ह्रास के उपरान्त भी द्वादशांगी का जितना भाग आज उपलब्ध है वह अनमोल निधि है और साधना-पथ में निरत मुमुक्षुओं के लिए बराबर मार्ग-दर्शन करता आ रहा है।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है कि दुःषमा नामक प्रवर्तमान पंचम आरक के अन्तिम दिन के पूर्वाह्न काल तक भगवान् महावीर का धर्मशासन और महावीर वाणी-द्वादशांगी अंशतः विद्यमान रह कर भव्यों का उद्धार करते रहेंगे। इस प्रकार की मान्यता के उपरान्त भी श्वेताम्बर परम्परा के एक प्राचीन ग्रन्थ 'तित्थोगाली पइन्ना'' में भगवान् महावीर के निर्वाण पश्चात् २१००० वर्ष पर्यन्त पंचम आरक के अन्तिम दिन तक 'दशवैकालिक सूत्र का अर्थ' 'आवश्यक सूत्र', 'अनुयोगद्वार' और 'नंदीसूत्र' – चार सूत्रों के अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहने के उल्लेख के साथ[1] द्वादशांगी के विच्छिन्न होने के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है :–

---

[1] वासाण सहस्सेण य, इकवीसाए इहं भरहवासे।
दसवेयालियअत्थो, दुप्पसहजइंमि नासिहिति ॥५०॥
इगवीस सहस्साइं, वासाणं वीरमोक्खगमणाओ।
अव्वोच्छिन्नं होही, आवस्सगं जाव तित्थं तु ॥५२॥

"भगवान् महावीर के आठवें पट्टधर (आर्य स्थूल भद्र) के समय में १४ पूर्वो में से अन्तिम ४ पूर्व प्रणष्ट हो गए। उनके समय में अनवष्टप तप और पारंचित तप ये दोनों तप भी नष्ट हो गए क्योंकि चतुर्दश पूर्वधरों के काल तक ही ये दोनों तप विद्यमान रहते हैं। शेष सब (तप) तीर्थ की अवस्थिति तक विद्यमान रहते हैं।[1]

सकडाल कुल के यश को वढ़ाने वाले धीरवर आर्य स्थूलभद्र प्रथम दशपूर्वधर और श्रेष्ठ श्रमणगुणों के धारक सत्यमित्र नामक श्रमण अन्तिम दशपूर्वधर होंगे।[2]

वीर-निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् उत्तरवलिस्सह के वाचकवंश में हुए वृषभतुल्य आचार्य (देवर्द्धि क्षमाश्रमण) के स्वर्गगमन के साथ ही पूर्वो का ज्ञान विच्छिन्न हो जाएगा।[3]

वीर-निर्वाण संवत् १२५० में दिन्नगणि-पुष्यमित्र के स्वर्गगमन के साथ 'वियाहपण्णत्ति' का विच्छेद हो जायगा। श्रामण्य के परिपालन में निपुण वीरवर श्रमण पुष्यमित्र 'वियाह पण्णत्ति' के धारकों में अन्तिम होंगे। गुणों से ओत-प्रोत ८४ हजार पदों से सुशोभित 'वियाहपण्णत्ति' रूपी वृक्ष के विच्छिन्न हो जाने पर लोग गुण रूपी फल से वंचित हो जायेंगे।[4]

इगवीस सहस्साइं, वासाणं वीरमोक्खगमणाओ।
अणुओगदार-नंदी, अव्वोच्छिन्नाउ जा तित्थं ॥५३॥
[विजयदानसूरि द्वारा अपने ग्रन्थ 'विविध प्रश्नोत्तर' में तीर्थोद्गाली के नाम से उद्धृत]
ये ३ गाथाएं हमारे पास उपलब्ध तित्थोगालीपइन्ना में नहीं हैं।　　[सम्पादक]

[1] एतेण कारणेण उ, पुरिसजुगे अट्ठमंमि वीरस्स।
सयराहेण पणट्ठाइं, जाण चत्तारि पुव्वाइं ॥७९८॥
अणवट्ठपो य तवो, तव पारंची य दोवि वोच्छिन्ना।
चउदस पुव्वधरंमि, धरंति सेसा उ जा तित्थं ॥७९९॥ तित्थोगाली पइन्ना

[2] पढमो दस पुव्वीणं, सकडाल कुलस्स जसकरो धीरो।
नामेण थूलभद्दो, अविहि साधम्मभद्दोत्ति ॥८०१॥
नामेण सच्चमित्तो, समणो समणगुणनिउणविंचतिओ।
होही अपच्छिमो किर, दसपुव्वीधारओ वीरो ॥८०२॥
[तित्थोगालीपइण्णा]

[3] वोलीणम्मि सहस्से, वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ।
उत्तरवायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो ॥८०५॥ [वही]

[4] पण्णासा वरिसेहिं य बारसवरिससएहिं वोच्छेदो।
दिण्णगणिपूसमित्ते, नविवाहाणं छन्नं माणं ॥८०७॥
नामेण पूसमित्तो, समणो समणगुणनिउणचित्तो।
होही अपच्छिमो किर, विवाहसुयधारको वीरो ॥८०८॥
तंमि य विवाहरुक्खे, चुलसीति पयसहस्सगुणकिलिओ।
सहसंच्चिय संभंतो होही गुणनिप्फलो लोगो ॥८०९॥ [वही]

वीर-निर्वाण सं० १३०० में माढर गोत्रीय संभूति नामक श्रमण की मृत्यु होने पर द्वादशांगी के चतुर्थ अंग समवायांग सूत्र का विच्छेद हो जायगा।[1]

वीर-नि० सं० १३५० में आर्जव मुनि के स्वर्गगमन के पश्चात् जिनेन्द्र भगवान् ने स्थानांग सूत्र के विच्छिन्न होने का निर्देश किया है।[2]

वीर-नि० सं० १५०० में गौतम गोत्रीय महासत्वशाली श्रमण फल्गुमित्र के निधन पर दशाश्रुतस्कंध का विच्छेद होना बताया गया है।[3]

वीर-निर्वाण सं० १६०० में भारद्वाज गोत्रीय महाश्रमण नाम से विख्यात श्रमण के पश्चात् 'सूत्रकृतांग' का विच्छेद हो जायगा।[4]

वीर-नि० सं० २०,००० में हारित गोत्रीय विष्णु मुनि का निधन हो जाने पर आचारांग का विच्छेद हो जायगा। दुःषमा नामक पंचम आरक का थोड़ा-सा समय अवशिष्ट रहने पर क्षमा, तप आदि गुणों के भण्डार दुःप्रसह नाम के अणगार होंगे। वे भरत क्षेत्र में अन्तिम आचारांगधर होंगे। उनके निधन के साथ ही चारित्र सहित आचारांग समूल नष्ट हो जायगा। अनुयोग सहित आचारांग ही श्रमणगण को आचार का बोध कराने वाला है अतः आचारांग के प्रणष्ट हो जाने पर सर्वत्र अनाचार का साम्राज्य व्याप्त हो जायगा। आचार सूत्र के प्रणष्ट हो जाने पर फिर श्रमणों का नाम मात्र भी अवशिष्ट नहीं रहेगा।[5]

---

[1] समवाय ववच्छेदो, तेरसहिं सतेहिं होहि वासाणं।
माढर गोत्तस्स इहं, संभूतिजतिस्स मरणंमि ॥८१०॥ [तित्थोगाली पइन्ना]

[2] तेरसवरिस सतेहिं, पण्णासा समहिएहिं वोच्छेदो।
अज्जव जतिस्स मरणे, ठाणस्स जिणेहिं निद्दिट्ठो ॥८११॥ [वही]

[3] भणिदो दसाण छेदो पनरससएहिं होइ वरिसाणं।
समणम्मि फग्गुमित्ते, गोयमगोत्ते महासत्ते ॥८१३॥ [वही]

[4] भारद्दायसगुत्ते, सूयगडंगं महासमण नामे।
अगुणव्वीससतेहिं जाही वरिसाण वोच्छिति ॥८१४॥ [वही]

[5] विण्हु मुणिम्मि मरंते, हारित गोत्तम्मि होति वीसाए।
वरिसाण सहस्सेहिं, आयारंगस्स वोच्छेदो ॥८१६॥
अह दुसमाए सेसे, होही नामेण दुप्पसह समणो।
अणगारो गुणगारो, खमागारो तवागारो ॥८१७॥
सो किर आयारधरो, अपच्छिमो होहीति भरहवासे।
तेण समं आयारो, निस्सिही समं चरित्तेणं ॥८१८॥
अणुओगच्छिण्णायारो, अह समणगणस्स दावियायारो।
आयारम्मि पणट्ठे, होहीति तइया अणायारो ॥८१९॥
चंकमिउं वरतरं तिमिसगुहाए तमंधकाराए।
न य तइया समणाणं, आयार-सुत्ते पणट्ठंमि ॥८२०॥ [वही]

इस प्रकार द्वादशांगी में से पांच अङ्गों के विच्छेद के समय का उल्लेख तित्थोगाली में किया गया है। इस प्रकरण को पढ़ने के पश्चात् समीचीनतया विचार करने पर दो मुख्य प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला प्रश्न यह है कि इसमें जो अङ्गों के विच्छिन्न होने का उल्लेख किया गया है, वह वस्तुतः उस श्रुत के नष्ट होने के सम्बन्ध में उल्लेख है अथवा प्रधान सूत्रधर के नष्ट होने के सम्बन्ध में ? दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जिन-जिन अङ्गों के जिस-जिस समय में विच्छिन्न होने का उल्लेख किया गया है, वे अङ्ग-शास्त्र उस समय में पूर्णतः नष्ट हो गए अथवा अंशतः ?

जहां तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है यह प्रश्न बड़े लम्बे समय से बहुचर्चित रहा है। व्यवहारभाष्य में भी इस प्रकार का उल्लेख है :-

"तित्थोगाली में अनुक्रम से यह विवरण दिया हुआ है कि किस-किस अंग का किस-किस समय में विच्छेद होगा।"[1] श्रुत-विच्छेद के सम्बन्ध में दो प्रकार के अभिमत रहे हैं, इस प्रकार का आभास नन्दीसूत्र की चूर्णि से स्पष्टतः प्रकट होता है। नन्दीसूत्र-थेरावली की ३२ वीं गाथा की व्याख्या में नन्दीचूर्णिकार ने इन दोनों प्रकार के मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है – "बारह वर्षीय भीषण दुष्काल के समय आहार हेतु इधर-उधर भ्रमण करते रहने के फलस्वरूप अध्ययन एवं पुनरावर्तन आदि के अभाव में श्रुतशास्त्र का ज्ञान नष्ट हो गया। पुनः सुभिक्ष होने पर स्कंदिलाचार्य के नेतृत्व में श्रमणसंघ ने एकत्रित हो, जिस जिस साधु को आगमों का जो जो अंश स्मरण था, उसे सुन-सुन कर सम्पूर्ण कालिक श्रुत को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित किया। वह वाचना मथुरा नगरी में हुई इसलिए उसे माथुरी वाचना और स्कन्दिलाचार्य सम्मत थी अतः स्कंदिलीय अनुयोग के नाम से पुकारी जाती है। दूसरे (आचार्य) कहते हैं – सूत्र नष्ट नहीं हुए, उस दुर्भिक्षकाल में जो प्रधान-प्रधान अनुयोगधर (श्रुतधर) थे, उनका निधन हो गया। एक स्कन्दिलाचार्य बचे रहे। उन्होंने मथुरा में साधुओं को पुनः शास्त्रों की वाचना-शिक्षा दी, अतः उसे माथुरी वाचना और स्कन्दिलीय अनुयोग कहा जाता है।"[2]

नन्दी चूर्णि में जो उक्त दो अभिमतों का उल्लेख किया गया है, उन दोनों प्रकार की मान्यताओं को यदि वास्तविकता की कसौटी पर कसा जाय तो वस्तुतः पहली मान्यता ही तथ्यपूर्ण और उचित ठहरती है। "सूत्र नष्ट नहीं हुए" – इस प्रकार की जो दूसरी मान्यता अभिव्यक्त की गई है वह तथ्यों पर आधारित प्रतीत नहीं होती। द्वादशांगी की प्रारम्भिक अवस्था के पद-परिमाण और वर्तमान में उपलब्ध इसके पाठ की तालिका इसका पर्याप्त पुष्ट प्रमाण है। इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं क्योंकि वर्तमान में उपलब्ध द्वादशांगी का

---

[1] तित्थोगाली एत्थं, वत्तव्वा होई आणुपुव्वीए।
जे तस्स उ अंगस्स, वुच्छेदो जहिं विणिद्दिट्ठो॥ व्या० भा० १०,७०४

[2] नंदीचूर्णि, पृ० ९ (पुण्यविजयजी म० द्वारा संपादित)।

पाठ वल्लभी में हुई अन्तिम वाचना में देवर्द्धि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों द्वारा वीर निर्वाण सं० ६८० में निर्धारित किया गया था। इस अन्तिम आगम-वाचना से १५३ वर्ष पूर्व वीर नि० सं० ८२७ में, लगभग एक ही समय में दो विभिन्न स्थानों पर दो आगम-वाचनाएं, पहली आगम-वाचना आर्य स्कंदिल की अध्यक्षता में मथुरा में और दूसरी आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में, वल्लभी में हो चुकी थीं। उपरिवर्णित द्वितीय मान्यता के अनुसार द्वादशांगी का मूलस्वरूप ८२७ वर्षों तक यथावत् बना रहा हो और केवल १५३ वर्षों की अवधि में ही इतने स्वल्प परिमाण में अवशिष्ट रह गया हो, यह विचार करने पर स्वीकार करने योग्य प्रतीत नहीं होता। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के जीवनकाल में वीर नि० सं० १६० के आसपास की अवधि में हुई प्रथम आगम-वाचना के समय द्वादशांगी का जितना ह्रास हुआ, उसे ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय तो हमें इस कटु सत्य को स्वीकार करना होगा कि वी० नि० सं० ८२७ में हुई स्कन्दिलीय और नागार्जुनीय वाचनाओं के समय तक द्वादशांगी का प्रचुर मात्रा में ह्रास हो चुका था तथा एकादशांगी का आज जो परिमाण उपलब्ध है, उससे कोई बहुत अधिक परिमाण स्कन्दिलीय और नागार्जुनीय वाचनाओं के समय में नहीं रहा होगा।

इन सब तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् पहले प्रश्न का यही वास्तविक उत्तर प्रतीत होता है कि कालप्रभाव, प्राकृतिक प्रकोपों एवं अन्य प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण प्रमुख सूत्रधरों के स्वर्गगमन के साथ-साथ श्रुत का भी शनैः शनैः ह्रास होता गया।

द्वादशांगी का कौन कौन सा अंग किस किस समय में विच्छिन्न हुआ, इस सम्बन्ध में जो तित्थोगाली में विवरण दिया गया है, उसके अनुसार जिस अंग के जिस समय में विच्छिन्न होने का उल्लेख है, उस समय में वह अंग पूर्णतः लुप्त हो गया अथवा अंशतः ही लुप्त हुआ, इस दूसरे प्रश्न पर अब हमें विचार करना है। इस सन्दर्भ में हमें उन सब गाथाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा जो आचारांग के विच्छेद के विषय में ऊपर दी गई हैं। गाथा संख्या ८१६ में बताया गया है कि वी० नि० सं० २०,००० में आचारांग का विच्छेद हो जायगा। इसके पश्चात् गाथा संख्या ८१७ में बताया गया है कि दुःषमा नामक पंचम आरक का कुछ समय शेष रहने पर दुःप्रसह नामक आचार्य अंतिम आचारांगधर होंगे। उन दुःप्रसह आचार्य के निधन के साथ ही साथ चारित्र सहित आचारांग नष्ट हो जायगा। अंत में गाथा संख्या ८२० में बताया गया है कि आचारसूत्र के नष्ट हो जाने के पश्चात् श्रमणों का नाम तक अवशिष्ट नहीं रहेगा और लोग अंधकार-पूर्ण तिमिस्र गुफा में रहेंगे।

इन गाथाओं पर गहन चिन्तन से यही निष्कर्ष निकलता है कि वी० नि० सं० २०००० में आचारांग के बहुत बड़े भाग का लोप हो जायगा किन्तु वह पूर्णतः विलुप्त नहीं होगा। अंशतः एवं अर्थतः आचारांग, आचारसूत्र के रूप में उक्त विलोप के पश्चात् भी १००० वर्ष तक विद्यमान रहेगा और वीर निर्वाण

सं० २१,००० के लगभग जिस दिन पंचम आरक समाप्त होगा, उस दिन के प्रथम प्रहर में आचार्य दुःप्रसह के स्वर्ग-गमन के साथ ही आचारांग का भी पूर्णतः उच्छेद हो जायगा। यदि वीर नि० सं० २०,००० में ही आचारांग का पूर्णतः उच्छेद हो जाता है तो वीर निर्वाण के लगभग २१००० वर्ष पश्चात् पंचम आरक की समाप्ति के अंतिम दिन में स्वर्गस्थ होने वाले दुःप्रसह आचार्य को अंतिम आचारधर किस प्रकार बताया जा सकता है? यदि कहा जाय कि यहां 'आचारधर' शब्द का प्रयोग आचारांगधर के अर्थ में नहीं अपितु आचारधर के अर्थ में किया गया है तो यह कथन किसी भी दशा में उचित नहीं ठहरता। क्योंकि गाथा में निर्दिष्ट – "तेण समं आयारो, निस्सिही समं चरित्तेणं" – इस पद में 'चरित्तेणं' इस शब्द से चारित्र अर्थात् आचार का और 'आयारो' इस शब्द से आचारांग का स्पष्ट शब्दों में पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। यदि तित्थोगाली के रचनाकार को 'आयारो' शब्द से चारित्र-आचार अर्थ अभीष्ट होता तो वे 'समं चरित्तेणं' इस पद से चारित्र का पुनः पृथक् रूप से उल्लेख नहीं करते। वस्तुतः उन्होंने 'आयारो' शब्द का प्रयोग इस गाथा में आचारांग के लिये ही प्रयुक्त किया है और इससे आगे की गाथा संख्या ८२० के – "न य तइया समणाणं, आयारसुत्ते पणट्ठम्मि" – इस पद में अपने अभिप्रेत कथन को यह कह कर सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट कर दिया है कि आचार-सूत्र के विनष्ट होने के पश्चात् श्रमणों का एकान्ततः अभाव हो जायगा।

इन सब तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि 'तित्थोगाली' में जो अंगशास्त्रों के विच्छेद का पृथक्-पृथक् समय दिया गया है, उस-उस समय में आचारांगादि अंग शास्त्रों का पूर्णतः नहीं अपितु अंशतः विच्छेद बताया गया है। तित्थोगाली के प्रणेता आचार्य का उक्त प्रकरण में यही बताने का अभिप्राय है कि गणधर-काल में द्वादशांगी का जो विशाल स्वरूप था उसका प्रचुर मात्रा में विच्छेद हो गया अथवा होगा पर अंशतः छोटे-बड़े यत्किंचित् रूपेण द्वादशांगी पंचम आरक की समाप्ति के अंतिम दिन में चतुर्विध तीर्थ की विद्यमानता तक निश्चित रूप से विद्यमान रहेगी।

तित्थोगाली के उपरोक्त प्रकरण की गाथाओं को ध्यानपूर्वक देखने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि जहां किसी अंगशास्त्र के सम्पूर्ण रूप से विलुप्त होने का उल्लेख करना ग्रन्थकार को अभीप्सित था वहां उन्होंने 'नासिही', 'निस्सिही' और 'पणट्ठम्मि' शब्दों का प्रयोग किया है और जहां उन्हें किसी अंगशास्त्र के कुछ अंश, कुछ भाग के विलुप्त होने का उल्लेख करना अभीष्ट था वहां उन्होंने "वोच्छेदो", "वोच्छित्ती" – इन शब्दों का प्रयोग किया है। इससे भी ग्रन्थकार के अभिप्राय का स्पष्ट आभास होता है कि अंगशास्त्रों के विच्छेद का जो विवरण उन्होंने तित्थोगाली में प्रस्तुत किया है उसमें उन्होंने कतिपय अंगों के अंशतः लोप का और अंत में दुप्पसह आचार्य की मृत्यु के पश्चात् आचारांग के सम्पूर्णतः विनष्ट होने का उल्लेख किया है।

एक श्रुतधर के निधन के साथ जिस अंगशास्त्र के व्यवच्छेद का तित्थोगाली के रचयिता ने उल्लेख किया है, उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यही विचार संगत प्रतीत होगा कि एक श्रुतधर के दिवंगत होने पर उस श्रुत का पूर्णतः नहीं अपितु अंशतः लोप हो गया। क्योंकि किसी भी अंगशास्त्र को सूत्र और अर्थसहित कण्ठस्थ रखने वाले उस शास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता किसी एक समय में कोई एक श्रुतधर हो सकते हैं पर उसके सामान्य सूत्र और अर्थ को कण्ठस्थ रखने वाले हजारों नहीं तो सैकड़ों मुनि उस समय में अवश्य रहे होंगे। ऐसी दशा में एक विशिष्ट सूत्रधर के निधन के साथ उस सूत्र का विशिष्ट ज्ञान विलुप्त हो सकता है न कि वह सम्पूर्ण शास्त्र ही। अपने समय के उन प्रधान और विशिष्ट श्रुतधर के न्यूनाधिक मेधावी शिष्य भी रहे होंगे जिन्होंने सम्पूर्ण न सही पर कुछ न कुछ तो आचारांग का अध्ययन उन श्रुतधर आचार्य के पास अवश्य किया होगा। उन शिष्यों के अतिरिक्त विशाल श्रमण-श्रमणियों के संघों में प्रत्येक साधु अथवा साध्वी ने थोड़ा बहुत तो आचारांग का अध्ययन अवश्यमेव किया होगा। क्योंकि उस समय तक प्रत्येक श्रमण-श्रमणी के लिये आचारांग के अध्ययन की अनिवार्य प्राथमिकता मानी जाती थी। ऐसी स्थिति में एक श्रुतधर के निधन पर किसी भी श्रुत का स्वल्प अथवा अधिक अंश तो विलुप्त हो सकता है पर वह पूरा का पूरा अंगशास्त्र ही एक श्रुतधर के न रहने पर सम्पूर्णरूपेण विलुप्त हो जाय यह किसी भी तरह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

उपरोक्त सब तथ्यों से यही प्रकट होता है कि तित्थोगाली में जो अंगों के विच्छेद का विवरण दिया गया है वह वस्तुतः अंगों के अंशतः विच्छेद का ही विवरण है न कि सम्पूर्णतः विच्छेद का। द्वादशांगी का जो ह्रास हुआ है उसका चित्र आज हमारे समक्ष प्रत्यक्ष विद्यमान है।

द्वादशांगी विषयक दिगम्बर मान्यता

दिगम्बर परम्परा वर्तमान काल में द्वादशांगी के किसी एक भी अंग का अस्तित्व नहीं मानती। उसकी मान्यतानुसार वी० नि० सं० ६८३ में ही द्वादशांगी विलुप्त हो गई। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति, अंगपण्णत्ति श्रुतावतार, आदिपुराण, उत्तरपुराण आदि में द्वादशांगी के विनष्ट होने का थोड़े-बहुत मतभेद के साथ जो विवरण दिया गया है, उसका मोटे तौर पर निम्न-लिखित रूप से निष्कर्ष निकलता है :–

१. वीर निर्वाण सं० ६२ तक केवलज्ञान विद्यमान रहा। वीर नि० सं० १ से १२ तक गौतम, वी० नि० सं० १२ से २४ तक आर्य सुधर्मा और वी० नि० सं० २४ से ६२ तक जम्बू स्वामी केवली रहे।
२. वीर नि० सं० ६२ से १६२ तक १०० वर्ष का काल चतुर्दश पूर्वधर-काल रहा। इन १०० वर्षों में नंदी (विष्णुकुमार), नंदीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये ५ श्रुतकेवली हुए।

३. वी० नि० सं० १६२ से ३४५ पर्यन्त अर्थात् १८३ वर्ष तक १० पूर्वधरों का काल रहा। इस अवधि में विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, देव और धर्मसेन ये ११ दश पूर्वधर हुए।

४. वी० नि० सं० ३४५ से ५६५ पर्यन्त २२० वर्षों का काल एकादशांगधरों का काल रहा। इस २२० वर्ष की अवधि में नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसार्य ये ५ एकादशांगधर हुए।

५. तत्पश्चात् वी० नि० सं० ५६५ से ६८३ तक ११८ वर्ष का आचारांगधर काल रहा। इस अवधि में समुद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु (द्वितीय) और लोहार्य ये ४ आचारांगधर हुए।

इसके पश्चात् कोई अंगधर नहीं रहा और इस प्रकार वी० नि० सं० ६८३ में द्वादशांगी विलुप्त हो गई।

यद्यपि तिलोयपण्णत्ति, आदिपुराण आदि दिगम्बर परम्परा के प्राचीन और मान्य ग्रंथों में स्पष्ट रूप से इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि द्वादशांगी का वी० नि० सं० ६८३ में विच्छेद हो जाने के उपरान्त भी वी० नि० सं० २०३१७ तक अर्थात् दुःषमा काल की समाप्ति के कतिपय वर्ष पूर्व तक द्वादशांगी अंशतः विद्यमान रहेगी,[1] तथापि दिगम्बर परम्परा में आज यह मान्यता आमतौर से प्रचलित है – "वीर नि० सं० ६८३ में ११ अंगों का, १४ पूर्वों का, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र का और समस्त मूल जिनागम साहित्य का सम्पूर्ण रूप से विनाश हो गया। प्रभु महावीर की दिव्य ध्वनि से प्रकट हुआ एक भी शब्द आज विद्यमान नहीं रहा है।"

इस प्रकार की प्रचलित मान्यता का कोई ठोस आधार दिगम्बर परम्परा के किसी मान्य प्राचीन ग्रंथ में खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होता।

भगवान् महावीर के अनुयायी सभी विद्वानों, विचारकों और प्रत्येक जैन के लिए यह निष्पक्ष रूप से चिन्तन का विषय है कि क्या भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित शाश्वत सत्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और भावनाओं आदि के अमर सिद्धान्त आर्यधरा से विलुप्त हो चुके हैं? क्या अमरता की ओर

---

[1] (क) वीससहस्सं तिसदा, सत्तारस वच्छराणि सुदतित्थं।
धम्मपयट्टण हेदू, वोच्छिसदि काल दोसेणं ॥१४९३॥
[तिलोयपण्णत्ति, म. ४]

(ख) श्रुतं तपोभृतामेषां प्रणेश्यति परम्परा।
शेषैरपि श्रुतज्ञानस्यैको देशस्तपोधनैः ॥५२७॥
जिन सेनानुगैर्वीरसेनैः प्राप्तमहर्द्धिभिः।
समाप्ते दुष्षमायाः प्राक्प्रायशो वर्तयिष्यते ॥५२८॥
[महापुराण (उत्तरपुराण, पर्व ७६)]

अग्रसर कर अमृतत्व प्रदान करने वाले, जैन धर्म के आधारस्तम्भोपम मूल सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले अमृत से भी अधिक मधुर निम्नलिखित अमोल वचन किसी छद्मस्थ आचार्य के मस्तिष्क की कल्पना से उद्भूत हैं :–

१. सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिधितव्वा न परियावेयव्वा, न उद्द्वेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निइए सासए.......... ।

२. तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वंति मन्नसि.......... ।

३. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमोतवो । इत्यादि ।

ये शाश्वत सत्य प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित हैं, इसमें किसी को किसी भी प्रकार की शंका नहीं होनी चाहिए। महावीर वाणी (द्वादशांगी) के पूर्णतः विनष्ट हो जाने की बात कहना वस्तुतः एक प्रकार से जिन शासन की प्रतिष्ठा के लिये हितकर नहीं अपितु अहितकर ही सिद्ध हो सकता है। क्योंकि इस प्रकार की मान्यता अभिव्यक्त करने पर सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि प्रभु महावीर की वाणी का एक भी शब्द विद्यमान नहीं है तो आज जो जैन धर्म और जैन सिद्धान्तों का स्वरूप विद्यमान है वह किनके शब्दों पर अवलंबित एवं आधारित है ? जो कुछ आज हमारे पास विद्यमान है क्या वह सब महावीर वाणी की देन नहीं है ?

द्वादशांगी के बहुत बड़े भाग का विच्छेद हुआ है, इस तथ्य को कोई भी विचारक अस्वीकार नहीं कर सकता। द्वादशांगी की भाषा में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन आना सम्भव है पर वस्तुतः आर्य सुधर्मा द्वारा प्रभु की दिव्य ध्वनि के आधार पर ग्रथित एकादशांगी और पूर्वज्ञान आज भी अंशतः विद्यमान हैं और पंचम आरक की समाप्ति से कुछ समय पूर्व तक ये विद्यमान रहेंगे।

आर्य जम्बू

(भगवान् महावीर के द्वितीय पट्टधर)

भगवान् महावीर स्वामी के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा के निर्वाण पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य आर्य जम्बू ईसा से ५०७ वर्ष पूर्व, वीर निर्वाण संवत् २० में धर्म-संघ के द्वितीय आचार्य बने।

भगवान् महावीर के शासन में आर्य जम्बू एक महान् समर्थ आचार्य हुए हैं। जिस प्रकार उनके अनुपम त्याग की महत्ता प्रकट करने के लिए संसार में कोई उपमा उपलब्ध नहीं होती, ठीक उसी प्रकार उनकी शरीर-सम्पदा, वैराग्य, तप, गुरुभक्ति, सरलता और आध्यात्मिक ज्ञान आदि का चित्रण करने के लिए अथक परिश्रम से भी कोई उपयुक्त शब्दावली प्राप्त नहीं होती।

अत्यन्त सुकुमार, स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल और सशक्त, स्वर्ण के समान कान्तिमान सुमनसर-सुरोपम शरीर, मादक यौवन में प्रथम पाद-निक्षेप, समस्त विद्याओं एवं ७२ कलाओं में निपुणता, कुबेरोपम अक्षय-अतुल धन-वैभव, सुरसुन्दरियों के समान रूप-लावण्यसम्पन्न आठ कोकिलकण्ठिनी नववधुएं, विपुल विलासोपकरण, सुन्दर-सुखद वातावरण, सुख के समस्त साधन – ये सब कुछ सहजप्राप्त ऐहिक प्रलोभन जिस मुक्तिपथ के पथिक को किंचित्मात्र भी लुब्ध न कर सके, उस महान् साधक की विराटता का वास्तविक वर्णन लेखनी अथवा शब्दों से किया जाना एक प्रकार से असम्भव है। उद्दाम यौवन में अपने समक्ष भोगार्थ प्रस्तुत असीम भोग सामग्री को ठुकरा कर जम्बू कुमार का स्वेच्छा से कण्टकाकीर्ण त्याग-पथ पर आरूढ़ होना, यह अपने आप में एक ऐसा असाधारण आश्चर्यजनक उदाहरण है जो सम्भवतः संसार के इतिहास में खोजने पर भी अन्यत्र नहीं मिलेगा।

प्रत्येक मुमुक्षु साधक के लिए प्रकाशस्तम्भ की तरह पथ-प्रदर्शक जम्बूकुमार का उत्कट विरक्तिपूर्ण, आध्यात्मिक साधना की अमिट लौ युक्त अखण्ड ज्योति से जगमगाता हुआ परम उद्दीप्त,परम उदात्त साहसी जीवन एक लम्वे काल से कवियों, कलाकारों, एवं लेखकों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है और उनके द्वारा समय-समय पर जम्बूकुमार के जीवन के सम्वन्ध में प्रचुर मात्रा में अनेक भाषाओं एवं विविध विधाओं में साहित्य का सृजन किया जाता रहा है।

आर्य जम्बू वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र के अन्तिम केवली एवं अन्तिम मुक्तिगामी माने गए हैं। श्रद्धालु कवि ने निम्नलिखित सुन्दर शब्दों में एतद्विपयक अपनी भावाभिव्यंजना की है :–

लोकोत्तरं हि सौभाग्यं, जम्बूस्वामि महामुनेः।
अद्यापि यं पतिं प्राप्य, शिवश्रीर्नान्यमिच्छति ॥

आर्य जम्बू के पूर्वभव :

आर्य जम्बू ने ऐसी अद्‌भुत आत्मशक्ति, इतनी अपरिमित धन-सम्पत्ति एवं सर्वप्रिय-सम्मोहक भव्य व्यक्तित्व किस प्रकार प्राप्त किया, यह उनके पूर्वभव के वृत्तान्त से भलीभांति जाना जा सकता है अतः यहां उनके पूर्वभवों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

भगवान् महावीर, निर्वाणगमन से १६ वर्ष पूर्व, एक समय राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान में पधारे हुए थे। भगवान् की दिव्य देशना सुनने हेतु अपार जनसमूह प्रभु के समवसरण की ओर उमड़ पड़ा। मगध-सम्राट् श्रेणिक भी अपने परिजन-पुरजन आदि के साथ तीर्थंकर महावीर के दर्शन-वन्दन एवं उपदेश-श्रवण की उत्कण्ठा लिए प्रभु-सेवा में उपस्थित हुए। दर्शनार्थ जाते समय श्रेणिक ने मार्ग में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को चिलचिलाती धूप में ध्यानमग्न देखा। उनके उग्र तप से प्रभावित श्रेणिक त्रिभुवनतिलक भगवान् महावीर से महर्षि प्रसन्नचन्द्र के घोर तप के फलस्वरूप होने वाली उनकी भावी गति के सम्बन्ध में ऊहापोहात्मक अनेक प्रश्न कर रहे थे। भगवान् महावीर श्रेणिक के प्रश्नों के उत्तर में राजर्षि प्रसन्नचन्द्र द्वारा अपने तीव्र अशुभ एवं शुभ अध्यवसायों के कारण किए जा रहे नारक एवं देवायु के उपार्जन तथा क्षय के सम्बन्ध में फरमा रहे थे। उसी समय श्रेणिक ने देवदुन्दुभि-श्रवण एवं देवों के सम्पात को देखकर साश्चर्य प्रभु से उसका कारण पूछा। प्रभु ने फरमाया – "राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञानोपलब्धि हो गई है।"

देवों ने पंच-दिव्य वर्षा कर केवली प्रसन्नचन्द्र का केवल-ज्ञानोत्सव मनाया और उसके पश्चात् वे दर्शन हेतु प्रभु के समवसरण में आये। उन देवों ने प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम किया। उसी समय विद्युन्माली नामक एक महासमृद्धिशाली देव ने समवसरण में उपस्थित हो प्रभु को वन्दन करते हुए सूर्य एवं चन्द्रमा के समान जगमगाती हुई मणियों से जटित मुकुट से सुशोभित अपना मस्तक प्रभु के पदारविन्द में झुकाया। विद्युन्माली का सौन्दर्य और शरीर की कान्ति अन्य सब देवों से इतनी अधिक तेजस्वी सौम्य, नयनाभिराम और मनोहारी थी कि परिषद् में उपस्थित अधिकांश लोग विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर एक-टक देखते ही रह गये।

महाराज श्रेणिक ने प्रभु को सांजलि शीश झुकाते हुए प्रश्न किया – "विश्वैकनाथ ! सब देवों में अत्यधिक तेजस्वी यह कौनसा देव है ? इसने किस महान् सुकृत के प्रताप से ऐसा अद्‌भुत कान्तिमान् एवं मनमोहक सौन्दर्य प्राप्त किया है ?

भगवान् महावीर ने मगधसम्राट् के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया – "राजन् ! इसी मगध जनपद में सुग्राम नामक ग्राम में आर्जव नामक एक राष्ट्रकूट अथवा राठोड़ (रट्‌ठउड़ो) रहता था।[1] उसकी पत्नी रेवती की कुक्षि

---

[1] तत्थानि तत्थवासी अज्जवं अज्जवंति रट्‌ठउडो।...॥२॥ [उपदेशमाला, दोघट्टी वृत्ति]

से भवदत्त और भवदेव नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। युवावस्था में पदार्पण करते ही भवदत्त ने संसार से विरक्त हो सुस्थित नामक आचार्य के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली और उनके साथ विभिन्न क्षेत्रों, नगरों एवं ग्रामों में विचरण करते हुए संयम की साधना करने लगा।

एक बार आचार्य सुस्थित का एक शिष्य उनसे आज्ञा प्राप्त कर कुछ श्रमणों के साथ अपने छोटे सहोदर को दीक्षित होने की प्रेरणा देने हेतु अपने ग्राम पहुँचा। ग्राम में उसके छोटे भाई का विवाह निश्चित हो चुका था अतः वह प्रव्रजित नहीं हुआ और फलतः मुनि को बिना कार्यसिद्धि के ही लौटना पड़ा। मुनि भवदत्त ने अपने साथी मुनि से वात ही वात में कह दिया – "आपके भाई के हृदय में यदि आपके प्रति प्रगाढ़ प्रीति और सच्चा भ्रातृप्रेम होता तो बड़े लम्बे समय के पश्चात् आपको देख कर अवश्यमेव वह आपके पीछे २ चला आता।"

मुनि भवदत्त के इस कथन को अपने भ्राता के स्नेह पर आक्षेप समझ कर उस मुनि ने कहा – "मुने ! कहना जितना सरल है, वस्तुतः करना उतना सरल नहीं। यदि आपको अपने भाई के प्रति इतना दृढ़ विश्वास है तो आप उन्हें प्रव्रजित करवा कर दिखाइये।"

भवदत्त मुनि ने कहा – "यदि आचार्यश्री मगध जनपद की ओर विहार करें तो कुछ ही दिनों पश्चात् आप मेरे लघु भ्राता को अवश्य ही मुनिवेश में देखेंगे।

संयोगवश आचार्य सुस्थित अपने शिष्यों सहित विचरण करते हुए मगध जनपद में पहुंच गए। मुनि भवदत्त भी अपने गुरु से आज्ञा लेकर कुछ साधुओं के साथ अपने ग्राम में पहुंचे। मुनि भवदत्त के दर्शन कर उनके परिजन व परिचित परम प्रसन्न हुए और उन्होंने सव श्रमणों को निरवद्य आहारादि का दान देकर अपने आपको कृतकृत्य समझा। जिस समय भवदत्त अपने परिवार के लोगों के वीच पहुंचे उससे कुछ ही समय पहले भवदेव का विवाह नागदत्त एवं वासुकी की कन्या नागिला के साथ सम्पन्न हुआ था। अपनी सखी-सहेलियों के वीच वैठी नववधु नागिला को जिस समय भवदेव शृंगारालंकारादि से अलंकृत कर रहा था, उसी समय उसे अपने अग्रज भवदत्त के शुभागमन का समाचार मिला। वह तत्काल उनके दर्शन एवं वन्दन हेतु उठ बैठा। यद्यपि नववधु की सखियों ने उसे वहुतेरा समझाया कि नवविवाहिता पत्नी को प्रसाधनादि से अर्द्धशृंगारितावस्था में छोड़कर उसे नहीं जाना चाहिए तथापि भवदेव क्षण भर भी विना रुके सुदीर्घ-काल से विछुड़े अपने वड़े भाई से मिलने की उत्कण्ठा लिए यह कह कर चल दिया – "कुलवालाओ ! मैं अपने ज्येष्ठार्य को प्रणाम कर अभी-अभी लौटता हूँ।"

तदनन्तर भवदेव वड़ी शीघ्रतापूर्वक अपने वड़े भाई भवदत्त के पास पहुंचा और उसने असीम हर्षोल्लास से भावविभोर हो अपना मस्तक उनके चरणों पर रख दिया। मुनि भवदत्त ने घृत से भरा अपना एक पात्र भवदेव के हाथों पर

रख दिया[1] और साथी श्रमणों के साथ वे अपने आश्रमस्थल की ओर लौट पड़े। भवदेव और अन्य परिजनों सहित अनेक ग्रामवासी भी मुनियों को पहुंचाने हेतु उनके पीछे-पीछे चल दिये। साधुओं को थोड़ी दूरी तक पहुंचा कर महिलाएं अपने अपने घरों की ओर लौट गईं। तदनन्तर कुछ और दूरी पर साधुओं को पहुंचाकर पुरुष-वर्ग भी लौटने लगा। उन लोगों ने वरवेशधारी भवदेव को भी लौटने का आग्रह करते हुए कहा—"जैन श्रमण, "अब तुम लौट जाओ"—इस प्रकार का सदोष वचन कभी नहीं बोलते, अतः भवदेव ! अब तुम भी लौट चलो।"

"पर विना भैया के कहे मैं कैसे लौटूं"—यह सोचकर भवदेव उन लोगों के साथ नहीं लौटा और भवदत्त के पीछे-पीछे आगे की ओर वढ़ता ही गया। ग्राम से पर्याप्त दूरी पर निकल जाने के पश्चात् एक उपाय भवदेव के ध्यान में आया कि वातचीत का क्रम चालू करने पर बहुत सम्भव है उसके वड़े भाई उसे लौटने का कुछ संकेत करें। वह बातचीत का सिलसिला चलाते हुए वोला—"श्रेष्ठार्य ! यह खेत अपना है, यह वनखण्ड और वह तालाव भी अपने ही हैं। वह जो उस पार का खेत है वह अपने पड़ौसी का और उस छोर वाला आम्रकुंज आपके परमसखा का है।"

इस प्रकार की अनेक वातें भवदेव ने कहीं पर भवदत्त ने "हां-हां, मैं जानता हूं", इन वाक्यों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा। इस प्रकार वातों ही वातों में वे अपने गांव की सीमा से बहुत आगे वढ़ गये और कुछ ही समय में वे आचार्यश्री की सेवा में पहुँच गये।

वरोचित वेश में भवदेव को देखकर आचार्य सुस्थित ने पूछा—"यह सौम्य युवक कैसे आया है ?"

भवदत्त ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"प्रव्रज्यार्थ।"

आचार्य श्री ने भवदेव की ओर दृष्टिनिक्षेप करते हुए पूछा—"क्या यही वात है ?"

कहीं वड़े भाई की अवहेलना न हो जाय इस विचार से भवदेव ने स्वीकृति-सूचक मुद्रा में मस्तक झुकाते हुए कहा—"यही वात है भगवन् !"

आचार्यदेव द्वारा भवदेव को उसी समय जैनी भागवती-दीक्षा दे दी गई। कुछ ही क्षणों पूर्व भोग-मार्ग की ओर उठे हुए चरण त्यागमार्ग पर चल पड़े। सभी श्रमणों के मुख से सहसा निकल पड़ा—"आर्य भवदत्त ने जो कहा वही कर दिखाया।"

कालान्तर में मुनि भवदत्त ने अनशनपूर्वक समाधि के साथ नश्वर शरीर का त्याग किया और वे सौधर्मेन्द्र के सामानिक देव बने।

इधर भवदेव दीक्षित हो जाने पर भी सदा अपनी पत्नी का चिन्तन किया करता था। वह बहिरंग रूप से तो श्रमणाचार का पालन कर रहा था परन्तु

[1] समप्पियं च भक्तभायणं भवदेवस्स करे...... [जंबुचरियं (गुणपाल), पृ० १८]

आभ्यंतर में सदा उसकी प्राणप्रिया पत्नी ही बसी रहती थी। वह अहर्निश मन ही मन अपनी पत्नी के सम्बन्ध में सोचता रहता – "हाय ! मैं अपनी सद्यपरिणीता, अर्द्धश्रृंगारिता और भोली-भाली प्रिया को प्रवंचिता सी छोड़कर प्रव्रजित हो गया। मेरी वह परित्यक्ता पत्नी मुझे किन-किन शब्दों में कोसती होगी ? उस पर न मालूम क्या-क्या बीती होगी ? वह कैसी होगी, किस प्रकार रहती होगी ? जल से निकाल कर प्रतप्त मरुभूमि पर पटकी हुई मीन की भांति वहुत सम्भव है वह कब की ही अपने प्राणों का परित्याग कर चुकी होगी अथवा अत्यन्त कृश हो वह अस्थिपंजरमात्रावशिष्ट रह गई होगी।"

इस प्रकार पूत पंचगव्य और अपवित्र मदिरा को एक साथ रखने वाले मूर्ख व्यक्ति की तरह भवदेव अपनी जीवनचर्या में प्रतिपल वाह्यरूपेण श्रमणाचार और अन्तर्मनसा कामिनी की चाह को साथ-साथ संजोये रखता था।

भवदत्त के स्वर्गगमन के पश्चात् भवदेव के मन में नागिला को देखने की वड़ी तीव्र उत्कण्ठा जागृत हुई। वह पाज के टूट जाने पर बंध में रोके हुए पानी की तरह वड़े वेग से स्थविरों की आज्ञा लिए विना ही अपने ग्राम सुग्राम की ओर चल पड़ा। ग्राम के पास पहुँच कर वह एक चैत्यघर के पास विश्राम हेतु बैठ गया।

थोड़ी ही देर में एक संभ्रान्त घर की महिला एक ब्राह्मणी को साथ लिए हुए वहां पहुँची। उसने भवदेव मुनि को वन्दन-नमस्कार किया। मुनि भवदेव ने उस महिला से पूछा – "श्राविके ! क्या आर्जव राष्ट्रकूट और उनकी पत्नी रेवती जीवित हैं ?"

उस महिला ने उत्तर दिया – "मुनिवर ! उन दोनों को तो इहलीला समाप्त किए वहुत समय वीत चुका है।"

यह सुनते ही मुनि के मुखमण्डल पर शोक की काली छाया छा गई। कुछ क्षण मौन एवं विचारमग्न रहने के पश्चात् उन्होंने थोड़ी हिचक के साथ पुनः प्रश्न किया – "धर्मनिष्ठे ! क्या भवदेव की पत्नी नागिला जीवित है ?"

इस प्रश्न को सुनकर वह महिला चौंकी। उसने साश्चर्य मुनि के मुख की ओर देखते हुए अनुमान लगाया कि वहुत सम्भव है यह भवदेव ही हों।

उस महिला ने प्रश्न किया – "आप आर्य भवदेव को किस प्रकार जानते हैं और यहां एकाकी किस कार्य से आये हैं ?"

भवदेव ने कहा – "मैं आर्य आर्जव का छोटा पुत्र भवदेव हूँ। अपने वड़े भाई भवदत्त की इच्छा के कारण अपनी नवविवाहिता पत्नी को विना पूछे तथा अन्तर्मन से न चाहते हुए भी मैं लज्जावश प्रव्रजित हो गया था। कहीं मेरी गणना अकुलीनों में न कर ली जाय, इस हेतु मैं नागिला के मुखकमल को देखने की चिरलालसा से प्रेरित हो यहां आया हूँ। "श्राविके ! तुम तो नागिला

को अवश्य पहिचानती होगी। मेरी वह नागिला कैसी है? उसका रूपलावण्य कैसा है और देखने में वह कैसी लगती है?"

श्राविका बोली – "वह ठीक ऐसी ही दिखती है जैसी कि मैं। उसमें और मुझमें कोई विशेषता नहीं है। पर एक बात मैं समझ नहीं पाई कि आप तो पवित्रश्रमणाचार का पालन कर रहे हैं, अब आपको उस नागिला से क्या कार्य है?"

भवदेव – "पाणिग्रहण के तत्काल पश्चात् ही मैं उसे छोड़कर चला गया था।"

श्राविका – "यह तो पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रताप से आपने बहुत अच्छा किया कि भवभ्रमण की विषवल्लरी को बढ़ने से पहले ही सुखा डाला।"

भवदेव – "क्या नागिला शील, सदाचारादि – श्राविका के व्रतों का पालन करती हुई आदर्श जीवन बिता रही है?"

श्राविका – "नागिला न केवल स्वयं ही आदर्श श्राविका के व्रतों का पालन करती है अपितु अन्य अनेक महिलाओं से भी पालन करवा रही है।"

भवदेव – "जिस प्रकार मैं उसका अहर्निश स्मरण करता हूँ, उसी प्रकार क्या वह भी मेरा स्मरण करती रहती है?"

श्राविका – आप साधु होकर भी अपने कर्त्तव्य को भूल गए हैं पर वह श्राविका नागिला कल्याणकारी साधना-पथ पर चलती हुई आपकी तरह भूल नहीं कर सकती। वह श्राविका के योग्य उच्च भावनाओं का अनुचिंतन करती हुई कठोर तपस्याएं करती है, उत्तम आत्मार्थी साधु-साध्वियों के उपदेशामृत का पान करती है और प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानादि से भवभ्रमण की महाव्याधि के समूलनाश के लिए सदा प्रयत्नशील रहती है।"

भवदेव – "श्राविके! मैं नागिला को एक बार अपनी इन आंखों से देखना चाहता हूँ।"

श्राविका – "अशुचि के भाजन उसके शरीर को देखने से महामुने! आपका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है? मुझे आपने देख ही लिया है। मुझ में और उसमें कोई अन्तर नहीं है। जो नागिला है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही वह नागिला है।"

भवदेव – "तो सच कहो श्राविके! क्या तुम्हीं नागिला हो?"

श्राविका – भंते! मैं ही हूँ वह अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली और रुधिर, मांस, मज्जा, मूत्र, पुरीपादि अशुचि से परिपूर्णगात्रा नागिला।"

भवदेव श्राविका नागिला की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखता हुआ चित्र-लिखित सा मौन खड़ा रहा।

नागिला ने वातावरण की निस्तब्धता को भंग करते हुए कहना आरम्भ किया – "महामुने! मैंने अपनी पूज्या गुरुणीजी से एक बड़ा सुन्दर और शिक्षा-

प्रद आख्यान सुना है। वह मैं आपको सुनाना चाहती हूँ। कृपया ध्यान से सुनिए :–

भवाटवी के संकटों से संत्रस्त एक मुमुक्षु ब्राह्मण अपने पुत्र के साथ एक महाश्रमण के पास पंचमहाव्रतों की दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करने लगा। वह कठिन श्रमणाचार का पूरी तरह से पालन करता हुआ भिक्षा में प्राप्त रूखे-सूखे भोजन से तप के पारणे करता। पर उसका पुत्र कठोर साधुमार्ग से विचलित होकर बार-बार उससे कहता – "खन्त ! मैं यह रूखा-सूखा भोजन नहीं खा सकता। खन्त ! मैं इस स्वादरहित और विरस, भिक्षा में मिले पेय पदार्थ – पानी आदि भी नहीं पी सकता।"

उस श्रमण ने अपने पुत्र को अनेक प्रकार से समझाया कि पंच महाव्रतों का पालन करने से दिव्य सुखों की उपलब्धि और अन्त में अक्षय शिव-सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कुछ समय तक तो वह छोटा मुनि अपने पिता के समझाने-बुझाने से येन-केन प्रकारेण श्रमणाचार का पालन करता रहा पर एक दिन उसने अपने पिता से स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि शुष्क एवं नीरस खान-पान से उसकी शारीरिक शक्ति पूर्णरूपेण क्षीण हो चुकी है अतः वह अब एक क्षण के लिए भी कठोर श्रमणाचार का पालन नहीं कर सकता। यह कह कर उसने साधु-वेश का परित्याग कर दिया और वह एक परिचित ब्राह्मण के घर पर काम-काज करने लगा।

वृद्ध मुनि ने निरतिचार श्रमण-धर्म का पालन करते हुए समाधिपूर्वक आयु पूर्ण की और वे सौधर्मेन्द्र के सामानिक देव हुए। इधर कुछ समय पश्चात् ब्राह्मण ने उस युवक के साथ अपनी कन्या का पाणिग्रहण करा दिया। विवाह के समय डाकुओं ने ब्राह्मण के घर पर आक्रमण किया और नवविवाहित दम्पती उन डाकुओं द्वारा मौत के घाट उतार दिये गए। श्रमणधर्म से च्युत भोगलोलुप वह ब्राह्मणपुत्र आर्तध्यान से मर कर महिष के रूप में उत्पन्न हुआ। बड़े होने पर उस भैंसे को एक क्रूर व्यक्ति ने खरीद लिया और उससे भार ढोने का कार्य लेने लगा। वह उस पर अधिक से अधिक भार लादता और उस पर स्वयं बैठकर डंडों के प्रहार करता हुआ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता। एक बार ग्रीष्मकाल की मध्याह्नवेला में उस भैंसे के स्वामी ने उस पर अत्यधिक भार लादा और उस पर यष्टिप्रहारों की बौछार करता हुआ एक गांव से दूसरे गांव की ओर बढ़ा। ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप के कारण मार्ग की बालू आग की तरह जल रही थी। दुर्वह भार, लगुड़-प्रहार, भीषण गर्मी और प्रतप्त बालु-कणों के कारण भैंसे की जिह्वा बाहर निकल आई और वह आग की तरह जलती हुई धरती पर धड़ाम से गिर पड़ा। भैंसे के स्वामी ने इस पर क्रुद्ध हो पूरी शक्ति के साथ यष्टिप्रहार प्रारम्भ कर दिये। बेबस भैंसा मरणासन्न सा हो गया।

सौधर्म देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुए ब्राह्मण मुनि ने महिष रूप में उत्पन्न हुए अपने पुत्र की दयनीय दशा देख कर उसे प्रतिबोध देने का निश्चय

किया। वे अपना पूर्व का खन्त मुनि का वेश बनाकर महिष के सम्मुख उपस्थित हुए और मुनिचर्या से दुखित हो उनके पुत्र ने जो वाक्य कहे थे उन्हीं वाक्यों को महिष के समक्ष बार-बार दोहराने लगे – "खन्त ! मैं यह नहीं कर सकता, वह नहीं कर सकता।"

खन्त के स्वरूप को देखकर महिष ने विचार किया – "मैंने ऐसा स्वरूप कहीं देखा है और ये वाक्य भी परिचित से प्रतीत होते हैं।" इस प्रकार चिन्तन करते हुए महिष को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उस महिष ने उस ही क्षण मन ही मन देशविरति श्रावकधर्म धारण कर जीवन भर के लिए अशन-पान का परित्याग कर दिया। कुछ ही समय पश्चात् वह भैंसा मरकर अनशन और शुभ अध्यवसायों के फलस्वरूप सौधर्म देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुआ।"

नागिला ने प्रश्न किया – "मुने ! इस प्रकार तिर्यंच योनि में पड़े हुए उस ब्राह्मणपुत्र का उसके पिता ने उद्धार किया। आश्चर्य की बात है कि देवरूप से उत्पन्न हुए आपके बड़े भाई भवदत्त ने अभी तक आपको प्रतिबोधित करने का विचार तक क्यों नहीं किया ?"

अन्त में नागिला श्राविका ने कहा – "महात्मन् ! यह जीवन जलबुद्बुद के समान क्षणविध्वंसी है। यदि आप श्रमणधर्म से विचलित हो गये तो संसार में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करते रहेंगे। अतः अब भी सम्हलिए। अपने गुरु के पास लौट जाइए और प्रायश्चित्त लेकर पंच महाव्रतों का पूरी तरह से पालन कीजिए। तप और संयम से आप अन्ततोगत्वा समस्त कर्मों का क्षय कर अवश्य ही अक्षय, अव्याबाध, अनन्त शिवसुख प्राप्त करने में सफल हो सकेंगे।"

ठीक उसी समय नागिला के साथ आई हुई ब्राह्मणी का पुत्र वहां आया और उसे किसी कारण से वमन हो गया। थोड़ी ही देर पहले खाई हुई खीर बालक के मुँह से बाहर आ गिरी। यह देख कर ब्राह्मणी ने अपने पुत्र से कहा – "वत्स ! इधर-उधर से चावल मांग कर मैंने तेरे लिए बड़े ही चाव से अत्यन्त स्वादु खीर बनाई थी। यह खीर बड़ी ही स्वादिष्ट और मीठी है अतः इस वमन की हुई खीर को तुम पुनः खा लो।"[1]

---

[1] (क) जायं कुओ वि कारणओ वमणं। भणियं बंभणीए – जाय ! जाइऊण तंदुलाइणि मए कओ पायसो एसो ता भुज्जो वि भुंजेसु। अइ लट्ठं मिट्ठमेयं ति।
[जम्बूस्वामी चरित (रत्नप्रभसूरिरचित)]

(ख) वसुदेवहिण्डी में दक्षिणा के लोभ से वमन करने की बात कही गई है।
"एयम्मि देसयाले तीए माहणीए दारगो पायसं भुंजिऊण आगतो भणइ – अम्मो ! आणेह कोलालं जाव पायसं वमामि, ततो पुणो भुंजीहं अईव मिट्ठो, पुणो दक्खिणा हेउं अन्नत्य भुंजामि। तीए भणियं – पुन वंतं न भुंजेइ पुणो अन्नं ते दक्खिणाए, वच्च अच्छसु मुहुत्तं।
[सम्पादक]

ब्राह्मणी की बात सुनकर मुनि भवदेव ने कहा – "धर्मशीले ! तुम बालक को यह क्या कह रही हो ? वमन की हुई वस्तु को खाने वाला व्यक्ति तो अत्यन्त निकृष्ट और घृणापात्र होता है ।"

इस पर नागिला ने मुनि को सम्बोधित करते हुए कहा – "महात्मन् ! आप अपने अन्तर्मन को टटोलिए कि कहीं आप भी वमितभोजी तो नहीं बनने जा रहे हैं ? क्योंकि एक बार परित्यक्त मेरे इस मांस, मज्जा, अस्थि आदि से बने शरीर को अपने उपभोग में लेने की अभिलाषा से आप यहां आये हैं । आप बुरा न मानें तो मैं आपसे एक बात पूछूं ? चिरपरिपालित प्रव्रज्या का परित्याग करने का जो विचार आपके मन में आया है क्या इस बारे में आपको किंचित्मात्र भी लज्जा का अनुभव नहीं होता ? यदि लज्जा का अनुभव होता है तो अब आप बाह्यरूपेण चिरकाल तक परिपालित श्रमणाचार का अन्तर्मन से पूर्णरूपेण परिपालन कीजिए । जो कुत्सित विचार आपके मन में आये हैं उनके लिए आचार्य सुस्थित के पास जाकर प्रायश्चित्त लीजिए ।"

नागिला के हितप्रद एवं बोधपूर्ण वचन सुन कर भवदेव के हृदयपटल पर छाये हुए मोह के घने बादल तत्क्षण छिन्न-भिन्न हो गए और उसका अज्ञान-तिमिराच्छन्न अन्तःकरण ज्ञान के दिव्य प्रकाश से आलोकित हो उठा ।

उसने नागिला के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए शान्त निश्छल स्वर में कहा – "श्राविके ! तुमने मेरी अन्तर्चक्षुओं को उन्मीलित कर दिया है। तुम्हारे उपदेश से मैंने अपने चिरपालित संयम मार्ग को हृदय से अपना लिया है । वस्तुतः तुमने मुझे अन्धकूप में गिरने से बचा लिया है । तुम मेरी सच्ची सहोदरा और गुरुणी तुल्य हो । तुमनें मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया है । मैं अब तुम्हारे कथनानुसार निर्दोष साधुधर्म का त्रिकरण-त्रियोग से पालन करूंगा ।"

यह कह भवदेव वहां से प्रस्थान कर आचार्य सुस्थित के पास पहुँचे और अपने दोषों के लिए प्रायश्चित्त कर कठोर तपश्चरण में निरत हो गये । अनेक वर्षों तक श्रमणधर्म का पालन करने के पश्चात् समाधिपूर्वक काल कर वह सौधर्मेन्द्र के सामानिक देव हुए । इधर नागिला भी अपनी गुरुणी के पास दीक्षित हो संयमधर्म की साधना करती हुई देवगति की अधिकारिणी बनी ।

सागरदत्त और शिवकुमार

सौधर्म देवलोक की आयु पूर्ण होने पर भवदत्त का जीव वहां से च्युत हो महाविदेह क्षेत्रान्तर्गत पुष्कलावती विजय में पुण्डरीकिणी नगरी के चक्रवर्ती सम्राट् वज्रदत्त की महारानी यशोधरा के गर्भ में आया । गर्भकाल में महादेवी को सागरस्नान का दोहद उत्पन्न हुआ जिसे चक्रवर्ती वज्रदत्त ने बड़े समारोह के साथ पूर्ण किया । गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ने अत्यन्त मनोहर एवं शुभलक्षणसम्पन्न पुत्र को जन्म दिया । गर्भकाल में सागर-स्नान के दोहद के कारण माता-पिता ने पुत्र का नाम सागरदत्त रखा । अपनी परमाह्लादकारिणी

बाललीलाओं से माता-पिता और परिजनों के आनन्दोल्लास को बढ़ाते हुए बालक ने शैशवावस्था को पार किया। सुयोग्य कलाचार्यों एवं अध्यापकों से बालक ने समस्त कलाओं और विद्याओं में कुशलता प्राप्त की। युवा होने पर राजकुमार सागरदत्त का अनेक सर्वाङ्गसुन्दरी कुलीन कन्याओं के साथ पारिग्रहण कराया गया। वह सुररमणियों के समान रूपवती पत्नियों के साथ विविध भोगोपभोगों का उपभोग करता हुआ बड़ा ही सुखमय जीवन बिताने लगा।

एक दिन शरद ऋतु में राजकुमार सागर अपनी पत्नियों के साथ प्रासाद के झरोखे में बैठा हुआ प्राकृतिक छटा का निरीक्षण कर रहा था। उसने देखा कि क्षितिज के एक छोर से बादल उभरा और देखते ही देखते उसने ऐसा विशाल रूप धारण कर लिया कि वह समस्त नभमण्डल पर छा गया। समस्त अम्बर सघन काली घनघटा से गहडम्बर बन गया। सहसा दक्षिण-दिशा से पवन का एक झोंका आया और कुछ ही क्षणों में घनघोर मेघघटा छिन्न-भिन्न होकर न मालूम कहां विलीन हो गई।

राजकुमार की विचारधारा ने इससे एक नया मोड़ लिया। वह सोचने लगा – "जिस प्रकार बादलों का वह नयनाभिराम मनोहारी दृश्य क्षण भर में ही जलबुद्बुद् की तरह शून्य में विलीन हो गया, ठीक उसी प्रकार यह राज्यलक्ष्मी, ऐश्वर्य, भोगोपभोग, सुख के सारे साज और शरीर तक भी एक न एक दिन अचानक ही नष्ट होने वाले हैं। दृश्यमान समस्त सांसारिक वस्तुओं का बादल के समान विनाश सुनिश्चित है – अवश्यंभावी है। विनाशशील वस्तुओं में मोह वस्तुतः महामूर्खता का द्योतक है। भोगी और भोग्य ये दोनों ही क्षणभंगुर हैं। इनमें आसक्ति का अर्थ है आत्मनाश–अपना सर्वनाश। भवभ्रमण बढ़ाने वाले इन विषयभोगों में लुब्ध होकर मैंने अपने मानव-जीवन की लाखों अमूल्य घड़ियां व्यर्थ ही बिता दी हैं। अब मुझे सजग होकर आत्मोद्धार के लिए अनवरत प्रयास करना चाहिए। वृद्धावस्था इस देह-पंजर को जर्जरित न कर दे, उससे पहले ही मुझे प्रव्रजित होकर अपनी आत्मा के उद्धार-कार्य में जुट जाना चाहिए।"

इस प्रकार चिन्तन करते हुए राजकुमार सागरदत्त को संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई और उन्होंने दूसरे ही दिन अपने परिवार के अनेक सदस्यों के साथ अभयसार नामक आचार्य के पास भागवती-दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेकर उन्होंने परम विनीत भाव से अपने आचार्य और ज्येष्ठ श्रमणों की लगन के साथ सेवा की और अध्ययन करते हुए गुरुकृपा से मुनि सागरदत्त स्वल्प समय में ही शास्त्रों के पारगामी बन गये। शास्त्राध्ययन के साथ-साथ उन्होंने घोर तपश्चरण भी किया जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अवधिज्ञान की उपलब्धि हुई। वे अपने गुरु की सेवा और भव्य प्राणियों का उद्धार करते हुए अनेक क्षेत्रों में विचरण करने लगे।

उधर भवदेव का जीव भी देवायु पूर्ण होने पर सौधर्म देवलोक से च्यवन कर, उसी पुष्कलावती विजयान्तर्गत वीतशोका नगरी के नृपति पद्मरथ की रानी

वनमाला की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। माता-पिता द्वारा उसका नाम शिवकुमार रखा गया। युवा होने पर शिवकुमार का अनेक राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ और वह देवोपम भोगों का उपभोग करने लगा।

एक समय मुनि सागरदत्त ग्राम-नगरों में विचरते हुए वीतशोका नगरी पधारे। धर्मोपदेश के पश्चात् उन्होंने मासोपवास का पारणा एक सार्थवाह के यहां किया। दान की महिमा में आकाश से पंच-दिव्यों की वृष्टि हुई। वसुधारा की बात सुनकर राजकुमार शिवकुमार भी दर्शनार्थ मुनि सागरदत्त की सेवा में पहुँचा। उसने बड़ी श्रद्धा से मुनि को वन्दन किया और उपदेश सुन कर प्रसन्न हुआ। उपदेश के पश्चात् शिवकुमार ने मुनि से पूछा – "श्रमणशिरोमणे ! मुझे आपको देखते ही अत्यधिक हर्ष और परम उल्लास का अनुभव क्यों हो रहा है ? क्या मेरा आपके साथ कोई पूर्वभव का सम्बन्ध है ?"

मुनि सागरदत्त ने अवधिज्ञान से जान कर कहा – "शिवकुमार ! इससे पहले के तीसरे भव में तुम मेरे भवदेव नामक अनुज थे। तुमने मेरा मन रखने के लिए सद्यःपरिणीता नववधु को छोड़कर मेरी इच्छानुसार श्रमणत्व स्वीकार कर लिया। श्रमणाचार का पालन करते हुए आयु पूर्ण कर तुम सौधर्म देवलोक में महान् ऋद्धिसम्पन्न देव हुए। वहां भी हम दोनों में परस्पर प्रगाढ़ स्नेह था। उन दो भवों के स्नेहपूर्ण सम्बन्ध के कारण आज भी तुम्हारे हृदय में मेरे प्रति स्नेहसागर उमड़ रहा है। वीतरागमार्ग का पथिक होने से मेरे मन पर अब राग अथवा द्वेष का कोई प्रभाव नहीं होता। क्योंकि अब मैं संसार के समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझता हूं।"

राजपुत्र शिवकुमार ने हर्षविभोर हो सांजलि मस्तक झुकाया और मधुर स्वर में कहा–"भगवन् ! आपने जो फरमाया वह तथ्य है। मैं इस भव में भी प्रव्रजित हो आपकी पर्युपासना एवं आत्मकल्याण की साधना करना चाहता हूं। मैं अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर अभी आपकी सेवा में उपस्थित होता हूं।"

मुनि सागरदत्त ने कहा – "देवप्रिय ! शुभ कार्य में प्रमाद नहीं करना ही श्रेयस्कर है।"

तदनन्तर शिवकुमार ने राजभवन में पहुंच कर माता-पिता के सम्मुख अपनी आन्तरिक अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा – "अम्ब-तात ! मैंने आज एक अवधिज्ञानी मुनीश्वर से अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त सुना। मुझे संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई है। मैं श्रमण बन कर आत्मकल्याण करना चाहता हूं। अतः आप मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर मेरी आध्यात्मिक साधना में सहायक बनिये।"

अपने पुत्र की बात सुन कर महाराज पद्मरथ और महारानी वनमाला वज्रप्रहार से प्रताड़ित की तरह अवाक् निषण्ण रह गये। आंखों से अश्रुधाराएं प्रवाहित करते हुए अत्यन्त करुण और दीन स्वर में वे बोले – "वत्स ! तुम

हमारे इकलौते पुत्र हो। हमारे लिये एक मात्र तुम ही स्वर्ग, अपवर्ग, त्राण, शरण और प्रकाशपूर्ण कुलप्रदीप हो। हमारे प्राण तुम्हारे सहारे से ही देहपंजर में रुके हुए हैं। तुम यह निश्चित समझो कि तुम्हारे प्रव्रजित होते ही हमारे प्राण विना नीड़ के पक्षी की तरह उड़ कर अनन्त शून्य में विलीन हो जायेंगे।"

वहुत कुछ समझाने-बुझाने और अनुनय-विनय के पश्चात् भी जब शिवकुमार को अपने माता-पिता से प्रव्रजित होने की अनुज्ञा प्राप्त नहीं हुई तो वह समस्त सावद्य योगों का पारित्याग कर विरक्त भाव से धीर-गम्भीर मुद्रा धारण किये राजप्रासाद में ही श्रमण की तरह स्थिर आसन जमा कर बैठ गया। उसने हास-परिहास, आमोद-प्रमोद, खेल-कूद, बोल-चाल, और खान-पान तक का परित्याग कर दिया। वह एकाग्रचित्त हो अन्तःपुर के एक कोने में इस प्रकार निर्लिप्तभाव से रहने लगा मानो किसी सुनसान बियावान निर्जन वन में निवास कर रहा हो। माता-पिता, परिजन, एवं प्रतिष्ठित पौरजनों ने शिवकुमार को समझाने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी पर सब व्यर्थ। विरक्ति-मार्ग से कुमार को कोई किंचित्मात्र भी विचलित नहीं कर सका। सभी प्रकार के उपायों के निष्फल हो जाने पर राजा पद्मरथ बड़ा चिंतित हुआ। उसने अन्त में दृढ़धर्म नामक एक अत्यन्त विवेकशील श्रावक को बुलाया और उसे सारा वृत्तान्त सुना कर कहा—"श्रेष्ठिपुत्र ! तुम अपने बुद्धिबल से येन-केन-प्रकारेण राजकुमार को अन्न-जल ग्रहण करने के लिये सहमत कर हमें नवजीवन प्रदान करो।"

"राजन् ! मैं यथाशक्ति पूरा प्रयास करूंगा।" यह कह कर श्रेष्ठिपुत्र दृढ़धर्मा राजकुमार शिवकुमार के पास पहुंचा। "निसीहि" "निसीहि" के उच्चारण के साथ दृढ़धर्मा ने राजकुमार के पास पहुंच कर आदक्षिणा-प्रदक्षिणापूर्वक साधुओं के समान सविधि वन्दन किया। तत्पश्चात् राजकुमार की अनुज्ञा प्राप्त कर स्थान को सावधानी से देख कर दृढ़धर्मा शिवकुमार के पास बैठ गया।

राजकुमार ने यह सब देख कर मन ही मन विचार किया कि इस श्रावक ने मुझे ठीक साधु की तरह नमस्कार क्यों किया है ? अपनी शंका के निवारण हेतु उसने दृढ़धर्मा से पूछा—"श्रेष्ठिपुत्र ! मैं साधु नहीं हूं। फिर भी तुमने मुझे साधु की तरह नमस्कार किया, इसका क्या कारण है ?"

श्रेष्ठिपुत्र दृढ़धर्मा ने उत्तर में कहा—"भाग्यवान् ! श्रमणों के समान आपके आचरण को देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। यद्यपि इस प्रकार वन्दन-नमन मुनियों को ही किया जाना उचित है तथापि समस्त सदोष कार्यों का परित्याग करने के कारण आप भाव-यति बन गये हैं अतः आपके समान त्यागियों को भी इस प्रकार नमन करना विनयमूलक जैनधर्म के अनुसार अनुचित नहीं है।"

इतना कहने के पश्चात् श्रावक दृढ़धर्मा ने शिवकुमार से प्रश्न किया—"श्रावकश्रेष्ठ ! मुमुक्षु राजकुमार ! आपने अशन-पान, संभाषणादि का परित्याग क्यों कर दिया है ?"

शिवकुमार ने उत्तर दिया – "इभ्यकुमार ! मैंने पंच महाव्रतों के पालन का दृढ़ संकल्प कर लिया है किन्तु मेरे माता-पिता मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान नहीं करते अतः जब तक कि वे मुझे अनुज्ञा नहीं देते तब तक के लिये भाव-श्रमणत्व को धारण किये मैं घर में ही रह रहा हूं। मैं सभी प्रकार के सावद्य-कर्म के परित्याग की प्रतिज्ञा कर चुका हूं। ऐसी दशा में मैं सदोष अशन, वसन, पानादि ग्रहण नहीं कर सकता और न इन स्वजन-परिजनों के साथ संभाषण ही कर सकता हूं।

श्रेष्ठिपुत्र दृढ़धर्मा ने शिवकुमार के वैराग्य की प्रशंसा करते हुए कहा– "कुमार ! साधनामार्ग में आपका दृढ़ निश्चय वस्तुतः स्तुत्य है पर इस प्रकार अनशन करना तो उन्हीं महापुरुषों के लिये लाभप्रद हो सकता है जो कि कृतकृत्य हो चुके हैं। आप तो साधक हैं। कर्मनिर्जरा हेतु आप अपने भावचारित्र का निर्वहन अशन-पानादि के परिहार से तो अधिक समय तक नहीं कर सकेंगे। अन्न-जल के बिना तो शरीर कुछ ही समय में विनष्ट हो जायगा। यदि आप आवश्यक मात्रा में अशन-पानादि ग्रहण करते रहेंगे तो चिरकाल तक संयम का परिपालन कर कर्मसमूह को विनष्ट करने में अधिकाधिक सफल हो सकेंगे। अतः आपके लिये यही श्रेयस्कर है कि जब तक माता-पिता आपको प्रव्रजित होने की अनुज्ञा प्रदान न करें तब तक निरवद्य अशन-पानादि आवश्यकतानुसार ग्रहण करते हुए अपने घर में ही रह कर साधु तुल्य जीवन व्यतीत करें।"

शिवकुमार ने कहा–"सुश्रावक ! आप जो कह रहे हैं, वह ठीक है किन्तु यहां राजप्रासाद में रहते हुए प्राशुक अशन-पान-वसनादि का मिलना असंभव समझ कर ही मैंने इन सब का परित्याग किया है।"

दृढ़धर्मा ने कहा–"आप इसके लिये निश्चिन्त रहें। मैं यथासमय पूर्णरूपेण प्राशुक आहार-पानी-वस्त्रादि भिक्षा से प्राप्त कर आपको देता रहूंगा और आप जैसे साधुतुल्य महापुरुष की एक विनीत शिष्य की तरह सभी प्रकार से सेवा करता रहूंगा।"

इस पर शिवकुमार ने अपनी सहमति प्रकट करते हुए एवं अपने अतिकठोर अभिग्रह से दृढ़धर्मा को परिचित कराते हुए कहा – "श्रावकोत्तम ! आप मेरे हित में यह आवश्यक समझते हैं कि मैं अशन-पान ग्रहण करता रहूं, तो मैं जीवन पर्यंत छट्ठभक्त की तपस्या करता रहूंगा और तप के पारणे के दिन भी आचाम्ल व्रत करूंगा।"

इस प्रकार शिवकुमार और श्रावक दृढ़धर्मा ने परस्पर एक दूसरे का कहना मान लिया और वे दोनों अपनी-अपनी प्रतिज्ञानुसार कार्य में निरत हो गये।

राजप्रासाद में रहते हुए भी शिवकुमार ने निस्पृहभाव से एक महाश्रमण की तरह बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण किया और अंत में पण्डित-मरण से आयु पूर्ण कर वह पांचवें ब्रह्म देवलोक में ब्रह्मेन्द्र के समान दश सागरोपम की आयु वाले महर्द्धिक और महान् तेजस्वी विद्युन्माली नामक देव के रूप में उत्पन्न हुआ। वहां

वह अतिशय रूप सम्पन्न अमरसुन्दरियों के साथ अनेक प्रकार के दिव्य भोगों का उपभुंजन करता हुआ अत्यन्त सुखमय जीवन व्यतीत करने लगा। अपनी देवियों के साथ जिनेन्द्र भगवान् के समवसरण में जाकर वह प्रभु की अमृतोपम अमोघ वाणी के श्रवण का भी आनन्दानुभव करने लगा।"

त्रिकालज्ञ भगवान् महावीर ने मगध सम्राट् श्रेणिक को इस प्रकार आर्य जम्बू के चार पूर्वभवों का वृत्तान्त सुना कर फरमाया – "मगधेश ! यह वही भवदेव का जीव विद्युन्माली देव है। आज से सातवें दिन यह देवायु की समाप्ति कर इसी राजगृह नगर के श्रेष्ठिमुख्य ऋषभदत्त की पत्नी धारिणी के गर्भ में अवतरित होगा। गर्भकाल की समाप्ति पर धारिणी इसे पुत्र रूप में जन्म देगी और इसका नाम जम्बूकुमार रखा जायगा। जम्बूकुमार विवाहित होकर भी अखण्ड ब्रह्मचारी रहेगा और विवाह के पश्चात् दूसरे ही दिन विपुल धन-सम्पत्ति का परित्याग कर अपनी सद्यःपरिणीता आठों पत्नियों, अपने और उन पत्नियों के माता-पिता, पल्लीपति प्रभव और प्रभव के ५०० साथियों के साथ प्रव्रजित होगा।

जम्बूकुमार इस अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र का अन्तिम केवली और चरमशरीरी मुक्तिगामी होगा। उसके मोक्षगमन के पश्चात् भरत क्षेत्र से इस अवसर्पिणीकाल में और कोई मुक्त नहीं होगा।"

इस पर श्रेणिक ने भगवान् से पूछा – "प्रभो ! देवायु की समाप्ति का समय सन्निकट आने पर देवों के शरीर की कान्ति अक्सर तेजोविहीन हो जाती है पर इसके विपरीत विद्युन्माली देव का शरीर अत्यन्त तेजस्वितापूर्ण और परम कमनीय प्रतीत हो रहा है। ऐसा क्यों ? इसका क्या कारण है ?"

प्रभु ने फरमाया – "आचाम्ल तप के प्रभाव से विद्युन्माली के शरीर की कान्ति इस समय जैसी तुम देख रहे हो उससे लक्ष-लक्ष गुनी अधिक कमनीय और तेजपूर्ण थी। देवायु पूर्ण होने का समय समीप आ जाने से वह कान्ति अब बहुत कम हो गई है।"

भगवान् महावीर के मुख से विद्युन्माली देव के भूत और भावी भवों का वृत्तान्त सुनकर राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का केवल-ज्ञानोत्सव मनाने के पश्चात् प्रभु दर्शनों के लिए आया हुआ अनादृत देव हर्षातिरेक से आनन्द विभोर हो अपने स्थान से उठा। उसने तीन बार प्रदक्षिणा कर भगवान् महावीर को बड़ी ही श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वन्दन किया और मधुर स्वर में कहने लगा – "अहो ! धन्य है मेरा उत्तम कुल।"[1]

---

[1] एवं च भयवओ सोऊण वयणं – अणाढिओ जंबुदीवाहिवई ………… तिविहं नच्चिऊण, अप्फोडेऊण, महया सद्देण – "अहो मम कुलं उत्तमं ति।

[वसुदेव हिंडी, प्रथम खंड, पृष्ठ २४]

अनाधृत देव के उपरोक्त वचन सुन कर सम्राट् श्रेणिक ने आश्चर्य भरे स्वर में भगवान् से पूछा – "प्रभो ! यह देव अपने आन्तरिक आनन्दोल्लास को प्रकट करते हुए अपने कुल की किस कारण प्रशंसा कर रहा है ? इसका वह कौनसा कुल है और यहां उसकी प्रशंसा का क्या प्रसंग है ?"

भगवान् महावीर ने कहा – "मगधेश ! यह जम्बूद्वीप का अधिपति 'अनाधृत' नामक देव है। यह अपने देवभव से पहले के भव में इसी राजगृह नगर के गुप्तिमति नामक श्रेष्ठी का 'जिनदास' नामक छोटा पुत्र था। जिनदास के बड़े भाई का नाम 'ऋषभदत्त' है जिसका आज भी राजगृह नगर के समृद्ध श्रीमन्तों में प्रमुख स्थान है। सदाचारसम्पन्न होने के कारण ऋषभदत्त तो सर्वत्र सम्मानित होने लगा किन्तु उसका छोटा भाई जिनदास मद्यपी, वेश्यागामी और जुआरी बन गया। ऋषभदत्त द्वारा अनेक प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी जब जिनदास ने दुर्व्यसनों का परित्याग नहीं किया तो तंग आकर ऋषभदत्त ने अपने आत्मीयों, परिजनों और परिचितों को यह ज्ञापित कर जिनदास का परित्याग कर दिया – "अनेक दुर्व्यसनों से ग्रस्त जिनदास आज से न तो मेरा भाई है और न अब उसके साथ मेरा किसी प्रकार का सम्बन्ध है।"

इतना सब कुछ होते हुए भी जिनदास अपनी बुरी आदतों का परित्याग करने के स्थान पर और अधिक दुर्व्यसनों का सेवन करने लगा। एक दिन जिनदास सेना के एक उच्च अधिकारी के साथ द्यूतक्रीड़ा में निरत था। द्यूत में हार-जीत की धनराशि के सम्बन्ध में जिनदास ने कुछ आनाकानी की इस पर सेनाधिकारी ने क्रुद्ध हो उस पर घातक हमला कर दिया। जिनदास शस्त्रप्रहार से आहत होकर वहीं गिर पड़ा। ऋषभदत्त ने जब भाई के घायल होने की बात सुनी तो वह उसके पास पहुँचा। भाई को देखकर घायल जिनदास को अपने दुष्कृत्यों पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने ऋषभदत्त के चरणों पर अपना शिर रख दिया और उससे क्षमा-प्रार्थना करते हुए वह निराश एवं करुण स्वर में बोला – "भैया ! अब मैं परलोक के लिए प्रयाण करने वाला हूँ। मुझे आपका कहा न मानने और दुर्व्यसनों में निरत रहने का बड़ा दुःख है। अब अन्तिम समय में आप मुझे धर्म का उपदेश देकर मेरा लोकान्तर सुधारने में मेरी कुछ सहायता कीजिये।"

अपने भाई को मरणासन्न देख कर ऋषभदत्त ने उसे धैर्य दिलाते हुए आजीवन चतुर्विध आहार और आरम्भ – परिग्रह आदि का त्याग कराते हुए पंचपरमेष्टि-नमस्कार महामन्त्र का पाठ सुनाना प्रारम्भ किया। शुभ परिणाम एवं नमस्कार महामन्त्र के प्रभाव से जिनदास मृत्यु के पश्चात् जम्बूद्वीप का अधिपति देव हुआ।"

"मेरे बड़े भाई का पुत्र भरत क्षेत्र से इस अवसर्पिणीकाल में अन्तिम केवली और मुक्तिगामी होगा" – यह जानकर इसे अत्यधिक प्रसन्नता हुई। इसी कारण इसने आनन्दविभोर होकर अपने कुल की प्रशंसा की है।"

त्रिकालदर्शी तीर्थंकर भगवान् महावीर के मुख से विद्युन्माली के पूर्वभवों और भावी-भव का वृत्तान्त सुन कर सबने प्रभु को नमन किया और वे अपने २ स्थान की ओर लौट गये। उस देव की चारों देवियों ने केवली प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को सांजलि शीश झुकाते हुए अत्यन्त विनम्र एवं संभ्रम भरे स्वर में पूछा – "देव ! कृपा कर हमें भी बताइये कि पंचम सुरलोक की आयु पूर्ण कर हम चारों कहां-कहां उत्पन्न होंगी ? विद्युन्माली देव से विछोह हो जाने पर क्या पुनः हमारा उनसे संयोग होगा ?"

राजर्षि ने फरमाया – "देवियो ! तुम चारों स्वर्ग से च्यवन कर इसी राजगृह नगर के निवासी वैश्रमण, धनद, कुबेर तथा सागरदत्त नामक समृद्धिशाली श्रेष्ठियों के यहां पुत्रियों के रूप में उत्पन्न होओगी। वहां जम्बू कुमार के रूप में जन्म ग्रहण किये हुए इस देव के जीव के साथ तुम चारों का पाणिग्रहण संस्कार होगा। जम्बूकुमार के साथ-साथ तुम भी प्रव्रज्या ग्रहण करोगी और संयम की सम्यक् रूपेण साधना कर तुम चारों आयु पूर्ण होने पर ग्रैवेयकों में देव रूप से उत्पन्न होवोगी।"

केवली प्रसन्नचन्द्र से यह सुनकर कि भावी-भव में भी उनका परस्पर वियोग नहीं होगा – देवियां बड़ी प्रसन्न हुईं। उन्होंने श्रद्धावनत हो मुनि को नमन किया और वे सब पंचम स्वर्ग ब्रह्म की ओर लौट गईं।

आर्य जम्बू के माता-पिता

धन-जन और सद्गुण-समृद्ध मगध राज्य की राजधानी राजगृह नगर जिन दिनों उन्नति के उच्चतम शिखर पर आरूढ था, उन दिनों मगध सम्राट् महाराज श्रेणिक बिम्बसार मगध पर शासन करते थे। श्रेणिक बड़े धर्मनिष्ठ, न्यायप्रिय एवं लोकप्रिय नरेश थे। राजगृह नगर में ऋषभदत्त नाम के एक अति समृद्ध इभ्य (श्रेष्ठी) रहते थे। उनके पास उनके पूर्वपुरुषों द्वारा न्याय से उपार्जित विपुल सम्पत्ति थी। वह बड़े दयालु, दृढ़ प्रतिज्ञ, दानशील, दक्ष, विनयी और विद्वान् थे। पत्नी का नाम धारिणी था जो विशुद्ध शीलालंकार से अलंकृत और निष्कलंक एवं स्वच्छ स्फटिक मणि के समान निर्मल स्वभाव वाली थी। श्रेष्ठी ऋषभदत्त और उनकी पत्नी धारिणी का जिन-शासन के प्रति बड़ा अनुराग था। वे ऐहिक भोगों का उपभोग करते हुए बड़े संतोष से गृहस्थ जीवन बिता रहे थे। सभी दृष्टियों से सम्पन्न होते हुए भी संतति के अभाव में वे दोनों सदा चिंतित रहते थे। इभ्य-पत्नी धारिणी को निस्संतान होने का बहुत बड़ा दुःख था। वह यदा-कदा इस शोक से संतप्त हो मन ही मन विचार किया करती कि उन स्त्रियों का सुरसुन्दरियों के समान अनुपम रूप-लावण्य, सौन्दर्य और लक्ष्मी के समान अक्षय वैभव एवं सुखोपभोग की विपुल सामग्री किस काम की, जिनकी कुक्षि से एक भी संतति का जन्म नहीं हुआ। जिन दिनों इभ्य पत्नी धारिणी अहर्निश इस प्रकार की चिन्ता में घुल रही थी उन्हीं दिनों एक समय

भगवान् महावीर के पंचम गणधर आर्य सुधर्मा का वैभारगिरी पर पदार्पण हुआ। राजगृह नगर के नर-नारियों के समूह आर्य सुधर्मा के दर्शनार्थ वैभारगिरी की ओर उमड़ पड़े। श्रेष्ठी ऋषभदत्त भी अपनी पत्नी धारिणी के साथ सुधर्मा के दर्शनार्थ वैभारगिरी की ओर प्रस्थित हुए। मार्ग में उन्हें जसमित्र नामक एक निमित्तज्ञ श्रावक मिले जो ऋषभदत्त के परम मित्र थे।

निमित्तज्ञ जसमित्र ने क्षेम-कुशल के समाचारों के आदान-प्रदान के अनन्तर ऋषभदत्त से पूछा – "मित्रराज ! भाभी का मुख प्रगाढ़ चिन्ता से संतप्ता के समान श्यामल किस कारण हो रहा है ?"

"तुम ही अपनी भाभी से पूछ लो" – ऋषभदत्त के मुख से अपने प्रश्न का यह उत्तर सुनकर 'जसमित्र' ने धारिणी से उसकी चिन्ता का कारण पूछा।

धारिणी ने अपनी आन्तरिक चिन्ता को हंसी की ओट में छुपाने का प्रयास करते हुए कहा – "देवर ! तुम्हारा निमित्तज्ञान बड़ा अद्भुत है। यह कैसी निमित्तज्ञता कि पूछने पर ही तुम्हें दूसरे के मन की बात विदित होती है ? इस प्रकार तो प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको निमित्तज्ञ कहला सकता है। मेरे मन की बात तुम अपने निमित्तज्ञान से विचार कर ही बताओ तब मैं समझूँ कि वास्तव में मेरा देवर निमित्तज्ञ है।"

अपनी प्रिय कला पर परिहास के तीखे प्रहार से जसमित्र का अन्तर्मन सहसा तड़प उठा। अपने निमितज्ञान का चमत्कार बताने की जसमित्र के मन में एक प्रबल लहर उठी। कुछ ही क्षणों के गणन-चिन्तन के पश्चात् उसने बड़ी दृढ़तापूर्वक गम्भीर स्वर में कहा "भाभी ! आप पुत्रवती नहीं हैं अतः उत्तम पुत्र को जन्म देने की अभिलाषा लिये आपका चित्त रातदिन प्रगाढ़ चिन्ता से संतप्त रहता है। सिद्धिप्रदायक शकुन हो रहा है। अब आपका मनोरथ सफल होने वाला है। आपकी कुक्षि से एक महान् प्रतापी पुत्र का जन्म होगा, जो हमारे इस भरत क्षेत्र का अन्तिम केवली होगा। आप स्वप्न में एक मूछों वाले सिंह को शीघ्र ही देखेंगी। उससे आपको मेरे कथन पर और अपनी कार्य-सिद्धि पर विश्वास हो जायगा। भाभी ! आपके इस कार्य में एक छोटा सा अंतराय-विघ्न अवश्य है, वह किसी देवता की आराधना से दूर हो सकता है। पर वह देव कौन सा है यह मैं नहीं जानता।"

जसमित्र द्वारा की गई भविष्यवाणी को सुनकर हर्षातिरेक से इभ्यपत्नी धारिणी का मन-मयूर नाच उठा। वह जसमित्र से बातें करती हुई ऋशभदत्त के साथ उपवन में पहुँची जहां सुधर्मा स्वामी विराजमान थे। ऋषभदत्त जसमित्र और धारिणी ने श्रद्धावनत हो भक्तिपूर्वक सुधर्मा स्वामी को वन्दन-नमन किया और तत्पश्चात् यथास्थान बैठकर सुधर्मा स्वामी का उपदेश सुनने लगे। उपदेश श्रवण करते समय धारिणी ने मन ही मन सुधर्मा स्वामी से पूछने का विचार किया कि उसे पुत्र प्राप्ति में हो रही अन्तराय को दूर करने के लिए किस देव को

अनुकूल करना चाहिये। उसी समय सुधर्मा स्वामी ने वह सारा वृत्तान्त सुनाया कि किस प्रकार ऋषभदत्त का छोटा भाई मरते समय 'पंचपरमेष्टि-नमस्कारमंत्र के प्रताप से जम्बूद्वीप का अधिपति अनाधृत देव बना। धारिणी ने अपने अन्तर में उठे प्रश्न का इसे उत्तर समझा।[1]

सुधर्मा स्वामी की देशना के अनन्तर ऋषभदत्त अपनी पत्नी धारिणी के साथ अपने घर लौट आया। धारिणी ने अनाधृतदेव के साथ अपने परिवार का अत्यन्त सन्निकट का सम्बन्ध होने के कारण उसकी आराधना प्रारम्भ की। धारिणी ने जम्बूद्वीपाधिपति देव के नाम पर १०८ आचाम्ल व्रत किये।[2]

जैसाकि श्रमण भगवान् महावीर ने मगधपति श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में बताया था – उस दिन से ठीक सातवें दिन विद्युन्माली देव ब्रह्मलोक से च्यवन कर ऋषभदत्त की पत्नी धारिणी के गर्भ में अवतरित हुआ। रात्रि के अन्तिम चरण में अर्द्ध-जागृतावस्था में सोई हुई धारिणी ने स्वप्न में मृगराजकिशोर एवं सुन्दर, सरस-सुगन्धित जम्बूफल आदि को देखा।[3]

---

[1] मुनिवर गुणपाल रचित जम्बूचरियं में – "भगवं। किं मम पुत्तो होही नव त्ति ?" इस रूप में स्वयं धारिणी द्वारा सुधर्मा स्वामी के सम्मुख प्रश्न उपस्थित करने तथा जसमित्र द्वारा उत्तर देने का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि जसमित्र ने धारिणी से कहा – "अहो श्राविके ! श्रमण निर्ग्रंथ जानते हुए भी इस प्रकार के सावद्य प्रश्नों का उत्तर नहीं देते। मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता हूँ। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, आचार्य, उपाध्याय, साधु, बलदेव, वासुदेव तथा जम्बूद्वीप समुद्र आदि की चर्चा के पश्चात् यह प्रश्न किया गया है अतः निश्चित रूप से तुम महाभाग्यवान् पुत्र को जन्म दोगी। स्वप्न में जम्बूफल को देखने के पश्चात् तुम्हें मेरी बात पर विश्वास हो जायगा।" [सम्पादक]

[2] (क) भयवं ! जइ इमं एवं, ता अहं जम्बूदेवयाए नामेण अट्ठुत्तरसयं अंबिलाणं काहामि
[जम्बुचरियं, गुणपाल, पृ० ५६]

(ख) सयमट्ठोत्तरमायंबिलाण मन्नेई धारिणी धीरा।
सिरिजंबुदेवयाए, तह तन्नामेण सुयनामं ॥१६६॥ जंबुचरित्र, रत्नप्रभसूरि

[3] (क) "मगहापुरे उसभदत्तो नाम इब्भो धारिणी नाम भारिया ......सा कयाइ सयणगया सुत्तं – जागरा पंच सुमिणे पासित्ता पडिबुद्धा, तं जहा – विधूमं हुयवहं १, पउमसरं वियसिय – कमलकुमुदकुवलयउज्जलं २, फलभारनमियं च सालिवणं ३, गयं च गलित – जलवलाहकपंडुरं समुसियचउविसाणं ४, जंबुफलाणि य वण्णरसगंधोववेयाणि ५ त्ति। (वसुदेवहिण्डी, प्रथमोंऽश, पृ० २)

तथा :–

[कल्पान्तर्वाच्यानि, पत्र ४१–४८, (हस्तलिखित, संवत् १५६६) अलवर भंडार]

(ग) सा अन्नया कयाई पच्छिमजामंमि पेच्छए सुमिणं।
सीहं सरं समुद्दं दामं जलणं च जम्बुफले ॥ [जम्बुचरियं, गुणपाल]

(घ) अह मयरायकिसोरं, नेयं सुमिणंमि पासिऊणेसा।
पडिबुद्धा सन्तुट्ठा, तं साहइ उसभदत्तस्स ॥१७१॥
(जंबुचरित्र रत्नप्रभसूरि)

स्वप्न देखने के तत्काल पश्चात् धारिणी जग उठी और पति के पास जाकर अतीव प्रसन्न मुद्रा में अपने स्वप्न का हाल सुनाते हुए बोली – "प्राणनाथ ! देवर जसमित्र के कथनानुसार मैंने स्वप्न में केसरीसिंह को देखा है। अब मुझे पक्का विश्वास हो गया है कि हमारी चिराभिलषित मनोकामना पूर्ण होगी।

अन्धे को दो आंखें मिल जाने पर जिस प्रकार की प्रसन्नता होती है उसी प्रकार की प्रसन्नता ऋषभदत्त को हुई और उसने कहा – "देवी ! जैसा कि भगवान् महावीर ने फरमाया था, तुम वैसे ही महाप्रतापी पुत्र को जन्म दोगी।"[1]

धारिणी बड़े ही प्रमोद के साथ गर्भ को धारण करती हुई अपने आपको धन्य समझने लगी। गर्भकाल में धारिणी को दीनदुखियों के दुःखों को दूर करने एवं श्रमण – निर्ग्रंथों को अशन-पानादि से प्रतिलाभित करने आदि के अनेक दोहद उत्पन्न हुए। ऋषभदत्त और धारिणी ने मुक्तहस्त से अपार धनराशि व्यय कर उन दोहदों की बड़े हर्षोल्लास के साथ पूर्ति की।[2]

अनुक्रम से ज्यों-ज्यों गर्भ बढ़ने लगा त्यों-त्यों गर्भगत महापुण्यशाली प्राणी के प्रभाव से श्रेष्ठिपत्नी धारिणी की धर्म के प्रति अभिरुचि उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

गर्भकाल के परिपक्व होने पर धारिणि ने एक महातेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। नवजात शिशु का वर्ण कर्णिकार कुसुम की केसर के समान और शरीर की कान्ति वालसूर्य के समान कमनीय थी। पुत्र-जन्म की खुशी में सेठ ऋषभदत्त के भव्य भवन में हर्षोल्लास का सुखद वातावरण व्याप्त हो गया। मंगलगीतों और विविध वाद्यवृन्दों की कर्णप्रिय धुनों से गगनमण्डल गुंजरित हो उठा। लय और ताल पर नृत्य के साथ-साथ मंगल गान गाती हुई कोकिल-कंठिनी सुरवधूपम सुन्दरियों के नूपुरों की झंकारों और सुकोमल कंठारवों से मादकता मुखरित हो उठी। श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त ने अपने अनुचरों, वन्दीजनों, याचकों एवं दीन-दरीद्रों को दिल खोल कर इतना द्रव्य लुटाया कि उनका दारिद्र्य सदा के लिए दूर हो गया। उसने अपने सम्वन्धी एवं स्वजनों को भी द्रव्यालंकारादि से सम्मानित एवं संतुष्ट किया। वारह दिन तक बड़े ही ठाट-वाट के साथ अहर्निश मंगल महोत्सव मनाये गये। एक शुभ दिन एवं शुभ मुहूर्त में विशिष्ट समारोह के साथ शिशु का नामकरण किया गया। परिजनों एवं परिचितों को परम स्वादिष्ट षड्रस भोजन से तृप्त करने के पश्चात् पुत्र का नामकरण किया गया। माता द्वारा स्वप्न में जम्बूफल देखने और जुम्वद्वीपाधिपति

---

[1] तेण वि भणिया – पहाणो ते पुत्तो भविस्सति जहा वागरियो

– वसुदेव हिंडी, प्र० अंश, पृ० २-३

[2] समुप्पन्नोय से दोहलो जिणसाहुपूयाए सोय विभवओ सम्माणिओ।

–वही, पृ० ३

अनाधृत देव की कृपा एवं सान्निध्य के कारण सर्व लक्षण-सम्पन्न पुत्र का नाम जम्बू रखा गया।[1]

विद्युन्माली देव के ब्रह्मलोक से धारिणी के गर्भ में आने के कुछ ही समय पश्चात् उसकी चारों देवियां भी अपनी-अपनी देवी-आयु पूर्ण कर राजगृह नगर के अति समृद्ध श्रेष्ठियों के यहां पुत्रियों के रूप में उत्पन्न हुईं। उन चारों कन्याओं और उनके माता-पिता के नाम इस प्रकार हैं :–

	पुत्री का नाम	पिता का नाम	माता का नाम
१.	समुद्रश्री	समुद्रप्रिय	पद्मावती
२.	पद्मश्री	समुद्रदत्त	कमलमाला
३.	पद्मसेना	सागरदत्त	विजयश्री
४.	कनकसेना	कुवेरदत्त	जयश्री

लगभग उन्हीं दिनों चार अन्य कन्याओं ने भी राजगृह के सम्पन्न कुलों में जन्म ग्रहण किया। उनके तथा उनके माता-पिता के नाम इस प्रकार हैं :–

	पुत्री का नाम	पिता का नाम	माता का नाम
५.	नभसेना	कुबेरसेन	कमलावती
६.	कनकश्री	श्रमणदत्त	सुषेणा
७.	कनकवती	वसुषेण	वीरमती
८.	जयश्री	वसुपालित	जयसेना

जम्बुकुमार जिस समय धारिणी के गर्भ में आये उसी दिन से श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त की समृद्धि एवं सम्मान की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती गई।

जिस प्रकार कल्पवृक्ष का पौधा क्रमशः वृद्धिगत होता है, ठीक उसी प्रकार पांच निपुण धात्रियों की सार–सम्हाल एवं देख-रेख में बालक जम्बुकुमार बढ़ने लगे।

योग्य आयु होने पर बालक जम्बुकुमार के लिये सुयोग्य कलाचार्य के सान्निध्य में शिक्षा की व्यवस्था की गई। कुशाग्र बुद्धि जम्बुकुमार ने दत्तचित्त हो पूर्ण विनय के साथ अपने सुयोग्य आचार्य के पास शिक्षा प्राप्त की और युवावस्था में पदार्पण करने से पहले ही समस्त विद्याओं और कलाओं में दक्षता प्राप्त कर ली।

जम्बुकुमार के साथ उपरिवर्णित आठ श्रेष्ठि कन्याओं ने भी युवावस्था में पदार्पण किया। जम्बुकुमार की अति कमनीय सौम्य मुखाकृति उनके दयालुता,

---

[1] (क) [illegible] य मे जंबुफललाभ – जंबुदीवाधिपतिकयमन्नेभनिमित्तं कयं नाम 'जंबु' त्ति। – वसुदेव हिण्डी, प्र० अंश, पृ० ३

(ख) महया महसवेणं, से नामं निम्मियं सुह मुहुत्ते।
दिन्नो जम्बु देवेण, जंबुणामोत्ति तो होउ॥ ।३६।
जम्बुचरित्र (उपदेश माला, दोघट्टि मे सद्धृत)

दूरदर्शिता आदि अनेक अनुपम सद्गुणों की अभिव्यक्ति कर रही थी। प्रगाढ़ पूर्व-सम्बन्ध के कारण जम्बुकुमार की यशोगाथाएं सुनते ही आठों श्रेष्ठि कन्याओं ने जम्बुकुमार को पतिरूपेण वरण करने का मन ही मन अटल निश्चय कर लिया। सखी-सहेलियों के माध्यम से अपनी पुत्रियों की आन्तरिक अभिलाषाओं के ज्ञात होते ही आठों बालाओं के माता-पिता ने परम हर्ष का अनुभव करते हुए जम्बुकुमार के माता-पिता के पास उनके इकलौते पुत्र जम्बुकुमार के साथ अपनी पुत्रियों के विवाह-प्रस्ताव रखे। ऋषभदत्त और धारिणी ने भी उनके उस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

जम्बू को विरक्ति

उन्हीं दिनों भगवान् महावीर के दिव्य संदेश को ग्रामों, नगरों तथा जनपदों में पहुंचाते हुए एवं मुमुक्षु भव्य प्राणियों के अन्तर्मन को प्रफुल्लित करते हुए आर्य सुधर्मा अपने श्रमणसंघ के साथ राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में पधारे। सुधर्मा स्वामी के आगमन का शुभ संवाद सुनते ही जम्बुकुमार के हर्ष का पारावार न रहा। वे एक शीघ्रगामी एवं धार्मिक अवसरोचित रथ पर आरूढ हो सुधर्मा स्वामी की सेवा में पहुंचे। उन्होंने सुधर्मा स्वामी को अगाध श्रद्धा और परमाभक्ति से विधियुक्त वन्दन-नमन किया और धर्मपरिषद् में यथास्थान बैठ गये।

अमृत की घनघटा से जिस प्रकार अमृतवर्षा की ही अपेक्षा की जाती है, उसी प्रकार अर्हत् भगवान् के समान समस्त तत्वों की विशद् व्याख्या करने वाले आर्य सुधर्मा ने धर्मपरिषद् को उद्दिष्ट कर आध्यात्मिक उपदेश देना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपनी देशना में जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, बंध, संवर निर्जरा तथा मोक्ष के स्वरूप का सब के लिये बोधप्रद विशद् विवेचन किया। मानवभव की महत्ता बताते हुए उन्होंने फरमाया – "भव्यो ! विश्वहितैषी भगवान् महावीर के उपदेशानुसार आचरण करके भव्य प्राणी भवसागर को पार करने में सफल हो सकते हैं। अतः मानव मात्र को इस प्राप्त अवसर का लाभ उठाना चाहिये।

आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में मानव भौतिक एषणाओं के पीछे अहर्निश भागता है और भव सागर में आर्थिक हानि-लाभ के उतार-चढ़ावों के कारण उठी उत्तुंग तरंगों की थपेड़ें खाता हुआ अनन्त काल तक भवभ्रमण करता रहता है। काम भोगों के क्षणिक एवं दुखांत काल्पनिक सुख में लुब्ध मानव यह नहीं सोचता कि पवन के प्रबल झोंकों से झकझोरित वृक्षों से तड़ातड़ झड़ते हुए पत्तों की तरह प्राणियों का जीवन क्षणिक और अनिश्चित है। बादल में से जिस प्रकार पानी तीव्र वेग से झरता है उसी प्रकार मानव की आयु प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही है। जो प्रियजनों का संयोग है वह वस्तुतः वियोगान्त है और लक्ष्मी बिजली की चमक के समान क्षणिक, चंचल एवं अस्थिर है। बुद्धिमान मानव वही है जो आयु, यौवन, कामभोग, लक्ष्मी एवं शरीर को क्षण विध्वंसी समझ कर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रयी को ग्रहण कर इनकी सम्यक्रूपेण आराधना-पालना करते हुए अनन्त, अव्याबाध, शाश्वत शिवसुख की प्राप्ति हेतु

दृढ़ निश्चय के साथ प्रयत्नशील रहते हैं। जो प्राणी इस वास्तविकता को न समझ कर अथवा समझते हुए भी मोह के बन्धनों से जकड़े हुए रह कर प्रमाद एवं आलस्य के वशीभूत हो अपनी आध्यात्मिक उन्नति के कार्य में अकर्मण्य रहते हैं, वे इस भयावह विकट भवाटवी में सदा सर्वदा असहायावस्था में भीषण एवं दारुण दु:खों को भोगते हुए भटकते रहते हैं।"

आर्य सुधर्मा स्वामी के इस हृदयस्पर्शी उपदेश को सुनकर जम्बुकुमार का हृदय वैराग्य से ओतप्रोत हो गया। अपने अन्तर में असीम आत्मतोष का अनुभव करते हुए वे आर्य सुधर्मा के समीप आये और सविधि वन्दन के साथ आर्य सुधर्मा के पावन चरणों में अपना शीश रखते हुए अति विनीत स्वर में बोले–"स्वामिन् ! मैंने आपसे सच्चे धर्म का स्वरूप सुना। मुझे वह बड़ा रुचिकर और आनन्दप्रद लगा। आपके द्वारा बताये गए धर्म के स्वरूप पर मेरे हृदय में प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई है। मैं अब अपने माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर आपके चरणों की शरण में दीक्षित हो आत्म कल्याण करना चाहता हूँ।"

आर्य सुधर्मा ने कहा – "सौम्य ! जिससे तुम्हें सुख हो, वही कार्य करो, शुभ कार्य में विलम्ब करना उचित नहीं।"

जम्बुकुमार ने आर्य सुधर्मा को प्रणाम किया और रथारूढ हो वे द्रुतगति से अपने भवन की ओर लौटे। नगर के द्वार पर अनेक रथों, यानों और वाहनों की भीड़ देख कर विलम्ब की आशंका से सारथी को दूसरे द्वार से नगर में प्रवेश करने का आदेश दिया। सारथी ने 'जो आज्ञा' कह कर शीघ्र ही रथ को मोड़कर नगर के दूसरे द्वार की ओर बढ़ा दिया।

अति घोर प्रतिज्ञा

शत्रुओं का संहार करने के लिए उस द्वार पर मजबूत रस्सों से शिलाएं, शतघ्नी, कालचक्र आदि संहारक शस्त्र लटकाये हुए थे। जम्बुकुमार ने उनको दूर से ही देख कर मन ही मन सोचा – "इन शस्त्रों में से यदि कदाचित एक भी शस्त्र मेरे रथ पर गिर जाए तो बिना व्रत ग्रहण किए ही मेरी मृत्यु सुनिश्चित है और मैं दुर्गति का अधिकारी हो सकता हूं।"[1]

इस प्रकार का विचार आते ही जम्बुकुमार ने गुणशील चैत्य की ओर रथ लौटाने का सारथी को आदेश दिया। "यथाज्ञापयति देव !" कह कर सारथी ने भी रासों के संकेत से रथ को घुमाया और आशुगामी अश्व रथ को लिए गुणशील चैत्य की ओर सरपट चले। कुछ ही क्षणों में रथ उपवन के द्वार पर जा रुका। जम्बुकुमार रथ से उतर कर आर्य सुधर्मा की सेवा में पहुँचे और सविधि वन्दन के पश्चात् उन्होंने निवेदन किया – "भगवन् ! मैं आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करना चाहता हूँ।"

[1] [illegible], पत्र ४१–४८ (हस्तलिखित), [illegible]

जम्बुकुमार की प्रार्थना पर आर्य सुधर्मा ने भी उन्हें जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहने का व्रत ग्रहण करवाया। व्रत ग्रहण के पश्चात् जम्बुकुमार ने पुनः बड़ी श्रद्धा से आर्य सुधर्मा को प्रणाम किया और रथ में बैठकर अपने घर पहुंचे।

माता-पिता के समक्ष प्रव्रजित होने का प्रस्ताव

अपने विशाल भवन के प्रांगण में पहुँचते ही जम्बुकुमार रथ से उतर कर सीधे अपने माता-पिता के पास पहुंचे। माता-पिता को प्रणाम कर जम्बुकुमार ने उनसे निवेदन किया – "अम्ब तात ! मैंने आज आर्य सुधर्मा स्वामी के पास जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित सारभूत धर्मोपदेश सुना।"

माता धारिणी ने अपने प्राणप्रिय पुत्र जम्बू की बलैयां लेते हुए स्नेह-सिक्त स्वर में कहा – "वत्स ! तुम परम भाग्यशाली हो कि तुमने ऐसे महान् धर्म-धुरीण धर्मोपदेशक के दर्शन, वन्दन-नमन एवं उपदेशश्रवण से अपने नेत्रों, शिर, कर्णरन्ध्रों, अन्तःकरण एवं जीवन को सफल किया।"

जम्बुकुमार ने पुनः कहा – "अम्ब-तात ! सुधर्मा स्वामी के उपदेश को सुनकर मेरे अन्तर के पट खुल गये, मुझे मेरे कर्त्तव्य का और सत्पथ का वोध हो गया, मेरे अन्तर में उस अक्षय-अमर-परमपद को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई है, जहां जन्म, जरा, मृत्यु और रोग-शोक आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। संकट के समय शत्रु से नगर की रक्षार्थ नगर के द्वार पर विशाल शिलाखण्ड एवं गोले यन्त्रों में रखे हुए हैं। उन्हें देख कर मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यदि उनमें से एक भी शिला खण्ड अथवा गोला मेरे ऊपर गिर जाय तो अव्रती दशा में मेरी मृत्यु हो सकती है। अतः मैं लौट कर पुनः सुधर्मा स्वामी की सेवा में उपस्थित हुआ और उनसे मैंने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत ग्रहण किया। पूज्यो ! मैं सुधर्मा स्वामी के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण कर उस परमपद की प्राप्ति हेतु प्रयास करने का दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ। कृपा कर आप मुझे दीक्षित होने की आज्ञा प्रदान कीजिये।"

अपने प्राणप्रिय एक मात्र पुत्र के मुख से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने एवं प्रव्रजित होने की वात सुनते ही ऋषभदत्त और धारिणी के हृदय पर वज्राघात सा लगा और वे कुछ क्षणों के लिए मूर्छित हो गये। मूर्च्छा दूर होने पर वे दोनों अपनी आंखों से अविरल अश्रुधाराएं वहाते हुए वड़े दीन स्वर में वोले – "प्रिय पुत्र! तुम ही हमारे मनोरथों को पूर्ण करने वाले हो। तुम्हारे विना हमारा जीवन दूभर हो जायगा। तुमने आर्य सुधर्मा स्वामी से जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित धर्मोपदेश सुना, यह तो वहुत अच्छा किया। परम्परा से हमारे अनेक पूर्वज भी जिन शासन के श्रद्धालु भक्त रहे हैं पर जहां तक हमने सुना है, उनमें से किसी ने प्रव्रज्या ग्रहण नहीं की। हम दोनों भी वहुत समय से जिनोपदेश सुनते आ रहे हैं पर आज तक हमारे मन में कभी इस प्रकार का निश्चय उत्पन्न नहीं हुआ।

ऐसी दशा में तुमने आज एक ही दिन में ऐसी कौनसी विशिष्टता उपलब्ध करली है जिसके कारण तुम प्रव्रजित होने की बात कह रहे हो ?"

इस पर जम्बुकुमार ने कहा – "तात-मात ! संसार में कई लोग ऐसे होते हैं जो बहुत समय के पश्चात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय कर पाते हैं और कुछ लोग अति स्वल्प समय में विशिष्ट परिज्ञा प्राप्त कर लेते हैं।" विशिष्ट परिज्ञा के उदाहरणस्वरूप जम्बुकुमार ने अपने माता-पिता को एक श्रेष्ठिपुत्र का निम्न-लिखित आख्यान सुनाया :–

"किसी समय एक प्रसिद्ध नगर में अप्सरा के समान सुन्दर गुणज्ञा नाम की एक गणिका रहती थी। प्रदीप पर पतंगों की तरह उसके रूप-लावण्य की छटा पर विमुग्ध हो देश-विदेश के अनेक रसिक राजपुत्र, अमात्यपुत्र और इभ्यपुत्र उसके यहां आकर अपना सर्वस्व लुटाते रहते थे। उस गणिका के प्रेम में पागल से बने वे तरुण जब अपना समस्त वैभव व्यय कर अपने-अपने घरों की ओर लौटने के लिए समुद्यत होते तब वह उन्हें कहती–"आप तो मुझे छोड़कर जारहे हैं लेकिन मैं कृतघ्ना नहीं हूं। मेरे स्मृतिचिह्न के रूप में आप मेरे पास से कोई न कोई वस्तु अवश्य लेते जाइये।"

विदाई की वेला में गणिका की उपर्युक्त बात सुनकर वे लोग गणिका द्वारा उपभुक्त करकंकण, हार, भुजबन्ध आदि आभूषणों में से कोई एक आभूषण लेकर अपने घर की राह पकड़ते।

अपना सर्वस्व लुटा चुकने के पश्चात् एक बार एक इभ्यपुत्र की वहां से विदाई का समय आया तो गणिका ने उसके समक्ष भी अपनी वही बात दोहराई। वह श्रेष्ठी-पुत्र एक निष्णात रत्नपरीक्षक था। उसने गणिका का अमूल्य पंचरत्नों से जटित स्वर्णनिर्मित पादपीठ देखा और कहा – "सुमुखि ! मैं तुम्हें अपना सर्वस्व समर्पित कर चुका हूँ अतः तुम से कुछ भी लेना अपने सम्मान के अनुकूल नहीं समझता। फिर भी तुम्हारे सुकोमल हृदय को ठेस न पहुंचे इस दृष्टि से तुम्हारी इच्छा रखने हेतु चाहता हूँ कि सदा तुम्हारे पैरों नीचे रहने वाला यह पाद पीठ दे दिया जाय। बस, तुम्हारे स्मृति-चिह्न के रूप में मेरे लिए यही पर्याप्त है।"

गणिका ने बड़े आग्रहपूर्ण शब्दों में कहा – "आपने ऐसी स्वल्प मूल्य की वस्तु क्या मांगी ? कोई और बहुमूल्य वस्तु मांगिये।"

श्रेष्ठिपुत्र रत्नों का कुशल पारखी था। उसने पादपीठ को गणिका के घर की सारभूत वस्तु समझकर कहा – "मुझे तो सदा तुम्हारे पैरों के नीचे रहने वाली यही साधारण वस्तु प्रिय है।"

अन्ततोगत्वा गणिका ने अपना पादपीठ श्रेष्ठिपुत्र को दे दिया। श्रेष्ठि-पुत्र उस पादपीठ को लेकर अपने घर लौट आया। उसने पादपीठ के कोमलों

रत्नों से विपुल अर्थोपार्जन किया और वह दीर्घ काल तक सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करता रहा ।

विशेष परिज्ञा वाले श्रेष्ठिपुत्र के दृष्टांत की दार्ष्टान्तिक रूप में व्याख्या करते हुए जम्बूकुमार ने कहा – "जिस प्रकार उस श्रेष्ठिपुत्र ने सारभूत वस्तु को ग्रहण कर लम्बे समय तक सुखोपभोग किया, उसी प्रकार मैं भी सुधर्मा स्वामी के उपदेश में से सारभूत अमूल्य वस्तु – प्रव्रज्या को ग्रहण कर अनन्त, शाश्वत सुख स्वरूप परमपद मोक्ष को प्राप्त करना चाहता हूँ । अतः आप मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर परमपद प्राप्त करने के मेरे लक्ष्य में सहायक बनिये ।"

जम्बुकुमार द्वारा सहज भाव से प्रकट किये गये इन उद्‌गारों एवं अन्तस्तल से प्रस्तुत की गई तथ्यपूर्ण युक्तियों से श्रेष्ठिदम्पति को विश्वास हो गया कि जम्बू के अंतःकरण में प्रव्रजित हो, परमपद प्राप्त करने की उत्कट एवं अमिट अभिलाषा उत्पन्न हो चुकी है, वह अब किसी भी दशा में गृहस्थाश्रम में रहने वाला नहीं है । फिर भी उन्होंने अत्यधिक स्नेह के कारण जम्बुकुमार को और कुछ दिन गृहवास में रहने का अनुरोध करते हुए आग्रहपूर्ण स्वर में कहा – "पुत्र ! इस बार तो तुम प्रव्रजित होने का विचार त्याग दो । हां, जब विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए सुधर्मा स्वामी पुनः यहां पधारें तब तुम उनके पास दीक्षित हो जाना ।"

जम्बुकुमार ने अपने लक्ष्य से किंचित्मात्र भी विचलित हुए विना विविध युक्तियों से धर्म की महत्ता एवं दुर्लभता सिद्ध करने वाली अपनी बात को प्रारम्भ रखते हुए कहा – "तात-मात ! यदि मैं अभी प्रव्रजित हो जाऊं तो निश्चित रूपेण अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सिद्ध हो सकूँगा । काल का क्या भरोसा ? अतः मेरे हित को ध्यान में रखते हुए आप मुझे अभी ही प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर दीजिए ।"

अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र के भावी विछोह को टालने का एक और प्रयास करते हुए श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त ने पुनः बड़े दुलार भरे स्वर में कहा – "वत्स ? तुम्हारे पास सभी प्रकार के सुखोपभोग का अनन्यतम साधन – विपुल वैभव विद्यमान है । मानव-मन जिन सुखों के उपभोग के लिए सदा लालायित रहता है, जिन सुखोपभोगों को प्राप्त करने में अधिकांश मानव जीवन भर अहर्निश अथक परिश्रम करते रहने के उपरान्त भी सफल नहीं होते, वे सब सुखोपभोग तुम्हें तुम्हारे प्रबल पुण्य के प्रताप से सहज ही प्राप्त हैं । अतः यथेप्सित विषय – सुखों एवं विविध भोगोपभोगों का जी भर आनन्द लूटने के पश्चात् तुम दीक्षित हो जाना ।"

इस पर जम्बुकुमार ने अपने माता-पिता को विषय-लोलुपता की भयावहता बताते हुए एक बन्दर का दृष्टांत सुनाया जो विषयासक्ति के कारण शिलाजीत में चिपक कर मर गया था । विषयासक्ति के कारण हुई बन्दर की मृत्यु के दृष्टांत को

दार्ष्टान्तिक रूप में घटित करते हुए कुमार ने कहा – "अम्बतात ! अभी तो मुझे बाल भाव के कारण केवल भोज्य पदार्थों की ही अभिलाषा रहती है। अभी रसनेन्द्रिय के आस्वाद-सुख से ही प्रतिबद्ध हूँ जिससे कि मैं अभी अपने आपको बड़ी आसानी में उन्मुक्त कर सकता हूँ। किन्तु यदि मैं पांचों ही इन्द्रियों के विषय सुखों में आसक्त हो गया तो मैं भी उस विषयलोलुप बन्दर की तरह दयनीय एवं दुःखपूर्ण मृत्यु को प्राप्त हो अन्ततोगत्वा अनन्त भव भ्रमण के भंवर में फंस कर अनन्त दुःखों का भागी बन जाऊंगा। अम्ब-तात ! मैं भवभ्रमण की विभीषिका से भयभ्रान्त हूँ। कृपा कर मुझे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कीजिए। जिस प्रकार मकड़ी के जाल के तन्तु मच्छर आदि क्षुद्र कीटों को तो अपने पाश में आवद्ध कर लेते हैं किन्तु मत्त गजेन्द्र को नहीं बाँध सकते, ठीक उसी प्रकार ऐहिक तुच्छ विषय सुख केवल कापुरुषों को ही अपने वशवर्ती बना सकते हैं, प्रबुद्ध चेतस को नहीं।[1]"

जम्बू द्वारा कही गई उपरोक्त बातें सुन कर मां धारिणी इस भय से अधीर हो उठी कि अब तो उसका पुत्र निश्चित रूप से प्रव्रजित हो जायगा। उसने करुण रुदन करते हुए कहा – "पुत्र मैं चिरकाल से अपने हृदय में इस आशा को संजोये बैठी हूं कि एक बार वरवेश में तुम्हारा मुख-कमल देखूँ। यदि तुम मेरे चिराभिलषित इस मनोरथ को पूर्ण कर दो तो मैं भी तुम्हारे ही साथ दीक्षा ग्रहण कर लूँगी।"

उत्तर में जम्बुकुमार ने कहा – "अम्ब ! यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो मैं उसकी पूर्ति करने को तैयार हूँ। परन्तु इसके साथ एक शर्त है कि आपकी मनोरथपूर्ति के उस शुभदिन के पश्चात् फिर आप मुझे प्रव्रजित होने से नहीं रोकेंगी।"

धारिणी ने संतोष की सांस ली, मानो डूबते हुए को तिनके का सहारा मिल गया हो। मां के ममता भरे मन में इस विचार से आशा की किरण प्रकट हुई कि बड़े से बड़े योगियों को विचलित कर देने के लिए एक ही रमणी पर्याप्त होती है। परम रूप-लावण्य एवं सर्व गुणसम्पन्न उसकी आठ वधुएं अपने सम्मोहक हाव-भावों एवं नेत्र-बाणों से उसके पुत्र को भोगमार्ग की ओर आकृष्ट करने में अवश्य ही सफल हो जायेंगी।

उसने हर्षमिश्रित स्वर में कहा – "वत्स ! जो तुम कह रहे हो वही होगा। हम लोगों ने पहले से ही तुम्हारे अनुरूप सर्व गुणसम्पन्न अतिशय रूपवती आठ श्रेष्ठि कन्याओं का तुम्हारे साथ विवाह करने हेतु वाग्दान स्वीकार कर रखा है। वे आठों ही श्रेष्ठी-परिवार जिन शासन में श्रद्धा-अनुराग रखने वाले एवं सम्पन्न हैं। मैं अभी उन आठों सार्थवाहों को सूचना भिजवाती हूँ।"

---

[1] विषयगणः कापुरुषं करोति वशवर्तिनं न सत्पुरुषम् ।
बध्नाति मशकमेव हि लूतातन्तुर्न मातङ्गम् ॥ [illegible]

श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त ने तत्काल विश्वस्त संदेशवाहकों के साथ उन आठों सार्थवाहों के पास संदेश भेजा। उसमें यह स्पष्ट कहला दिया कि विवाह हो जाने के पश्चात् जम्बुकुमार प्रव्रजित हो जायेंगे, अतः सभी बातों पर सुचारु रूप से विचार कर शीघ्र उत्तर दिया जाय।

संदेश में जम्बुकुमार के दीक्षित होने की बात सुन कर उन सभी सार्थवाहों के हृदय पर गहरा आघात पहुंचा। वे अपनी पत्नियों के साथ इस विषय में विचार करने लगे कि समुपस्थित समस्या का हल किस प्रकार किया जाय।

आठों श्रेष्ठि-कन्याओं ने भी जम्बुकुमार के दीक्षित होने और अपने माता-पिता के पास श्रेष्ठि ऋषभदत्त के यहां से प्राप्त संदेश की बात सुनी। समान निश्चय वाली उन सभी कन्याओं ने अपने माता-पिता से स्पष्ट शब्दों में कह दिया – "आपने हमें उन्हें वाग्दान में दे दिया है। अब धर्म से वे ही हमारे स्वामी हैं। वे जिस पथ का अवलम्बन करेंगे, चाहे वह कितना ही दुर्गम अथवा कण्टकाकीर्ण क्यों न हो, हमारे लिये भी वही प्रशस्त पथ होगा। आप और किसी बात का विचार नहीं करें।"

कन्याओं के दृढ निश्चय को सुन कर उनके पिता सार्थवाहों ने ऋषभदत्त को विवाह की स्वीकृति का संदेश प्रेषित कर दिया। दोनों ओर विवाह की तैयारियां होने लगीं।

जम्बू का विवाह

विवाह की मांगलिक वेला में अमूल्य झूल एवं अलंकारों से सुसज्जित हाथी की पीठ पर देव विमान के समान सुन्दर अम्बावारी में वरवेषधारी जम्बुकुमार आरूढ़ हुए। अपने समय के धनकुबेर श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त के प्राणाधिक प्रिय इकलौते पुत्र जम्बुकुमार की वर-यात्रा को देखने राजगृह नगर के नर-नारियों के समूह के समूह सुन्दर परिधान पहने उमड़ पड़े। गवाक्षों से सुन्दरियां सुमन-वृष्टि करने लगीं। समस्त वातावरण को गुंजरित कर देने वाले विविध वाद्यवृन्दों की मधुर ध्वनि के साथ वर-यात्रा मुख्य बाजारों से आगे बढ़ी। पूर्णचन्द्र जिस प्रकार तारिकाओं के समीप जाते हैं उसी प्रकार वरवेष में सजे परम कान्तिमान जम्बुकुमार कन्याओं के घर पहुंचे। मंगल आरतियों के साथ वर को वधुओं के घर में प्रवेश करवाया गया और सम्पूर्ण वैवाहिक विधि-विधान के साथ जम्बू कुमार का आठों वधुओं के साथ पाणिग्रहण एक ही साथ करवाया गया। पाणिग्रहण सम्पन्न होने पर उन आठों सार्थवाहों ने अपने जामाता जम्बुकुमार को दहेज में भोगोपभोग योग्य वसनालंकारादि विपुल सामग्रियों के साथ प्रचुर मात्रा में स्वर्ण मुद्राएं प्रदान कीं। तदनन्तर जम्बुकुमार अपनी आठों वधुओं के साथ भवन की ओर लौटे। कुटुम्बियों और नागरिकों ने वधुओं सहित वर का हार्दिक अभिनन्दन किया। नव वधुओं के साथ अपने गृह में प्रवेश करते हुए जम्बुकुमार ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वे अष्ट सिद्धियों को अपने साथ उस घर में लाये हों।

अपने लाड़ले लाल को अनुपम रूप-लावण्यवती आठ पुत्रवधुओं के साथ देख-देख कर प्रफुल्लवदना मां धारिणी परम प्रसन्न मुद्रा में उनकी वलैयां ले रही थी। श्रेष्ठी ऋषभदत्त और धारिणी ने अपने पुत्र के विवाहोत्सव की खुशी के उपलक्ष में मुक्तहस्त हो स्वजनों, स्नेहियों, आश्रितों और अपाहिजों को मनचाहा द्रव्य देकर संतुष्ट किया।

निशा के आगमन के साथ ही बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत जम्बुकुमार ने आठों नव वधुओं के साथ अपने भवन में सजाये गये सुन्दर शयन-कक्ष में प्रवेश किया। विशाल कक्ष के मध्य भाग में अत्यन्त सुन्दर कला-कृतियों के प्रतीक ९ सुखासन एक दूसरे के सन्निकट गोलाकर में रखे हुए थे। जम्बुकुमार ने उनमें से मध्यवर्ती सिंहासन पर बैठते हुए सहज मृदु एवं शान्त स्वर में अपनी पत्नियों को आसनों पर बैठने को कहा। प्रथम मिलन की वेला में मुख पर मधुर मुस्कान और अन्तःकरण में अगणित अरमान लिये कुछ सकुचाती कुछ लजाती हुई सी वे आठों अनुपम सुन्दरियां अपने प्राणवल्लभ के दोनों पार्श्व में बैठ गईं।

पत्नियों को प्रतिबोध

वातावरण की मादकता, माधुरी और मोहकता चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी। उत्कृष्ट कोटि के सुगंधित द्रव्यों की महक से कक्ष गमक रहा था। प्रथम मिलन की रात, रूप सुधा से ओत-प्रोत सरिताओं के समान इठलाती, वल खाती, कनकलतातुल्य आठ कामिनियां, अंगडाइयां लेता हुआ नवयौवन, एकान्त कक्ष, सहज सुलभ सभी भोग्य सामग्रियां किन्तु जम्बुकुमार के मन पर इन सब का किंचित्मात्र भी प्रभाव नहीं। वे तो जलगत कमल के समान बिल्कुल निर्लिप्त, वीत-दोष की तरह विरक्त एवं निर्विकार बने रहे। नववधुएं अपने जीवनधन जम्बुकुमार के अति कमनीय, परमकान्त मुखचन्द्र की ओर निर्निमेष दृष्टि से अपनी सभी सुध बुध भूले इस प्रकार निहार रही थीं मानों वर्षों से चंद्रिका की प्यासी आठ चकोरियां पूर्ण चन्द्र की ओर अपलक देखती हुई अपनी आंखों की प्यास बुझा रहीं हों।

वातावरण की निस्तब्धता को भंग करते हुए जम्बुकुमार ने अपनी आठों पत्नियों को सम्बोधित किया – "भव्यात्माओं ! आपको विदित ही है कि मैं कल प्रातःकाल प्रव्रजित होकर मुक्तिपथ का पथिक होने जा रहा हूँ। संभवतः आप आश्चर्य कर रहीं होंगी कि मैं विषयोपभोग योग्य इस तरुण वय में अपार वैभव का परित्याग कर भोगों से विमुख हो त्याग मार्ग की ओर उन्मुख क्यों हो रहा हूँ। मेरे द्वारा त्याग मार्ग अपनाने के औचित्य को आप शीघ्र ही भलीभांति समझ सकें इसलिए मैं सर्व प्रथम एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। वह यह है कि ये सांसारिक विषय भोग मानव को उसी समय तक सुखप्रद प्रतीत होते हैं जब तक कि उसके हृदय में तत्त्वबोध न होने के कारण मूढ़ता व्याप्त है। जीवाजीवादि तत्वों का बोध होते ही मानव के हृदय में व्याप्त विमूढ़ता तिरोहित हो जाती है और वह तत्त्वविद् व्यक्ति प्रबुद्धचेता बन जाता है। तत्त्ववेत्ता बन

जाने के पश्चात् उस व्यक्ति के मन में विषय, सुख एवं मूढ़ता के लिए कोई स्थान अवशिष्ट नहीं रह जाता।[1]

मैंने सुधर्मा स्वामी की कृपा से तत्वबोध प्राप्त कर लिया है अतः अब मैं विषय भोग के सुख को और समस्त सांसारिक वैभव को विषवत् हानिप्रद और हेय समझता हूं। वस्तुतः ये सब विषय-भोग क्षणभंगुर हैं। इन विषय भोगों से प्राप्त होने वाले सुख भी क्षणिक होने के साथ-साथ अनन्त दुखानुबन्धी होने के कारण अनन्त काल तक भवभ्रमण कराने वाले और भीषण दुखदायी हैं। इस संसार रूपी विषवृक्ष के जन्म, जरा, रोग, शोक, भीषण यातनाएं और मृत्यु ये दुःखप्रद फल हैं। विषय भोगों में फंसे रहने के कारण हम लोग अनन्तकाल से भवभ्रमण करते हुए दुस्सह दारुण दुःख उठाते आ रहे हैं।"

प्रभव का ५०० चोरों के साथ गृह प्रवेश

जिस समय जम्बूकुमार अपनी आठों पत्नियों को इस प्रकार शिक्षा दे रहे थे, उसी समय प्रभव नामक एक कुख्यात चोर अपने ५०० साथी चोरों के साथ ऋषभदत्त के घर में चोरी करने के लिये आ पहुंचा। प्रभव ने अवस्वापिनी विद्या के प्रयोग से घर के सभी लोगों को प्रगाढ़ निद्रा में सुला दिया और तालोद्घाटिनी विद्या के प्रयोग से सभी कक्षों के ताले खोल डाले। प्रभव के साथ आये हुए चोरों ने जब सेठ ऋषभदत्त और उनके यहां आये हुए श्रीमन्त अतिथियों के बहुमूल्य रत्न एवं आभूषण आदि उतार कर ले जाने की तैयारी की तो शांत गम्भीर स्वर में चोरों को सम्बोधित करते हुए जम्बूकुमार बोले – "अय तस्करो! तुम लोग हमारे यहां अतिथि के रूप में आये हुए इन लोगों की सम्पत्ति को कैसे चुरा कर ले जा रहे हो ?"

जम्बूकुमार के इतना कहते ही ५०० चोर जहां, जिस रूप में थे, उसी रूप में चित्रलिखित से स्तंभित हो गये। यह देख कर प्रभव को बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसकी अमोघ अवस्वापिनी विद्या का जम्बूकुमार पर किस कारण से प्रभाव नहीं हुआ। उसने जम्बूकुमार के पास जा कर कहा – "श्रेष्ठिपुत्र ! मैं जयपुर नरेश विन्ध्यराज का ज्येष्ठ पुत्र प्रभव आपके साथ मित्रता करना चाहता हूं। आप मुझे स्तंभिनी और मोचिनी विद्याएं[2] सिखा कर उनके बदले में मुझ से अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी विद्याएं प्राप्त कर लीजिये।"

प्रभव को प्रतिबोध

जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! मैं तो प्रातःकाल होते ही सब सम्पत्ति और परिवार का परित्याग कर प्रव्रजित होने वाला हूं। मुझे इन पापकारी

---

[1] ददति तावदिमे विषयाः सुखं, स्फुरति यावदियं हृदि मूढ़ता।
मनसि तत्वविदां तु विचारके, क्व विषयाः क्व सुखं क्व च मूढ़ता॥

[2] 'देसु मम' एयाओ विज्जाओ थंभ – मोक्खणीयाओ। ॥२७॥
[जंबुचरियं (गुणपाल), पृ० ८२]

विद्याओं से कोई प्रयोजन नहीं। वस्तुतः मैं कोई विद्या नहीं जानता। मैं तो पंच-परमेष्टिमंत्र को ही सबसे बड़ा मंत्र जानता हूं।"

जम्बूकुमार की निस्पृहता और प्रव्रजित होने की बात सुन कर प्रभव को बड़ा विस्मय हुआ। उसने आग्रहपूर्ण स्वर में कहा – "सौम्य! कुबेरोपम संपत्ति और सुरबालाओं के समान इन सुन्दर नववधुओं को छोड़ कर अभी आप प्रव्रजित न होइये। आप इन रमणी-रत्नों के साथ इस विपुल वैभव का समीचीनतया सुखोपभोग करने के पश्चात् वृद्धावस्था में प्रव्रजित हो जाना।"

जम्बूकुमार ने पूर्ण कुशलता के साथ युक्तिपूर्वक प्रभव को प्रतिबोध दिया।[1] जम्बूकुमार के उपदेश से प्रबुद्ध हो प्रभव तथा उसके ५०० साथियों ने भी जम्बूकुमार के साथ ही प्रव्रजित होने की इच्छा प्रकट की और जम्बूकुमार की सहमति प्राप्त होने पर अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त करने हेतु वह अपने साथियों सहित श्रेष्ठि ऋषभदत्त के घर से चला गया।

पत्नियों के साथ चर्चा

जम्बूकुमार की समुद्रश्री आदि आठ नवविवाहिता पत्नियों ने विरक्त जम्बूकुमार को संयम मार्ग से रोकने और सहज प्राप्त विपुल सुख-सामग्री का सुखपूर्वक उपभोग करने की अनुरोधपूर्ण प्रार्थना करते हुए क्रमशः आठ दृष्टान्त सुनाये। उनके उत्तर में जम्बूकुमार ने भी अपनी आठों पत्नियों द्वारा प्रस्तुत किये गये आठ मार्मिक दृष्टान्तों के उत्तर में आठ दृष्टान्त सुनाये। जम्बूकुमार और उनकी पत्नियों के बीच हुआ संवाद बड़ा प्रेरणादायक, बोधप्रद, रोचक और अनादि काल से अज्ञानावरणों के कारण पूर्णतः निमीलित अन्तर्चक्षुओं को सहसा उन्मीलित कर देने वाला है। उन दृष्टान्तों में से एक पद्मश्री द्वारा तथा उसके उत्तर में जम्बूकुमार द्वारा प्रस्तुत किया गया, ये दो दृष्टान्त यहां अविकल रूप से दिये जा रहे हैं :–

जम्बूकुमार की प्रथम पत्नी समुद्रश्री के पश्चात् दूसरी पत्नी पद्मश्री ने अपने प्राणेश्वर को सम्बोधित करते हुए अति विनम्र एवं मधुर स्वर में कहा – "प्राणनाथ! पूर्वजन्म के पुण्यप्रताप से आपको विपुल वैभव और छाया के समान सदा आपकी अनुगामिनी ८ पत्नियां मिली हैं, इस नश्वर और अधिक सुखोपभोग की सामग्री प्राप्त करने की आशा में इस सब का परित्याग कर आपको भी कहीं उस वानर की तरह घोर पश्चात्ताप और दारुण दुःख सहन नहीं करना पड़े जो मानवस्वरूप पा कर भी देवत्व की प्राप्ति के प्रयास में पुनः वानर बन गया?"

जम्बूकुमार ने सस्मित स्वर में पूछा – "मुग्धे! वानर को किस प्रकार का पश्चात्ताप करना पड़ा?" इस पर पद्मश्री ने निम्नलिखित दृष्टान्त सुनाया :–

[1] [illegible]

वानर का कथानक

किसी सर्वकामप्रदायी द्रह के तट पर स्थित एक विशाल वृक्ष पर वानर और वानरी का युगल (एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूद-फांद करते हुए) क्रीड़ा कर रहा था। वानर किसी तरह फाल चूक गया और उस द्रह में जा गिरा। उस दिव्य द्रह के जल के प्रभाव से वानर तत्काल अति सुन्दर युवा मनुष्य बन गया। इस अद्भुत रूप-परिवर्तन को देख कर वानरी ने भी द्रह में छलांग लगाई और वह भी तत्काल अति सुन्दर रूप- लावण्यवती मानवकन्या बन गई। वे दोनों एक दूसरे के अति कमनीय मानव स्वरूप को देख कर अतीव प्रमुदित हुए।

युवा पुरुष के रूप में परिवर्तित हुए वानर ने अपनी पत्नी से कहा – "सुमुखि ! हम कितने सौभाग्यशाली हैं कि इस द्रह में कूदने के कारण हमें मनोहारी मानवतनु मिल गये। अब हम इस वृक्ष पर चढ़ कर एक बार पुनः इस द्रह में कूदें। अव की वार हम निश्चित रूप से देव तथा देवी बन जायेंगे और सहस्रों वर्षों तक दिव्य सुखों का उपभोग करेंगे।"

मानवी देहधारिणी वानरी ने कहा – "प्रिय ! मानवदेह हमें मिल गई है। इसी में संतोष करके हमें मानवोचित सुखों का उपभोग करना चाहिये। संशयास्पद देवत्व की प्राप्ति के प्रयास में कहीं हम अपना यह मानवतन भी न खो बैठें।"

अपनी प्रिया द्वारा बहुत कुछ समझाये जाने के उपरान्त भी मानवतनधारी वह वानर वृक्ष पर चढ़ कर द्रह में कूद गया। यह देख कर उसे बड़ा दुःख हुआ कि वह पुनः वानर बन गया है। द्रह से निकल कर वानर अनेक वार उस वृक्ष पर चढ़ा और द्रह में कूदा पर सब निष्फल, वह तो वानर ही बना रहा। अपनी असंतोषी वृत्ति पर पश्चात्ताप करता हुआ वह रोने लगा।

दूसरी ओर वनक्रीडार्थ वहां आये हुए एक महाराजा ने जब उस अनुपम सुन्दरी को देखा तो वह उसे अपने राजमहलों में ले गया और उसने उसे अपनी पट्टमहिषी बना दिया। वह एक बड़े नरपति की अग्रमहिषी के रूप में राजकीय विविध सुखों का उपभोग करने लगी।

उधर उस वानर को एक मदारी पकड़ कर ले गया और उसे अनेक प्रकार की वानर-कलाएं सिखा कर ग्रामों व नगरों में उसकी कलाओं का प्रदर्शन करने लगा। एक दिन वह मदारी उस वानर को ले कर उसी राजा के यहां पहुंचा जहां पर उस वानर की महिला रूपधारिणी वानरी पट्ट महिषी के रूप में अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग कर रही थी। मदारी ने राजा, रानी और रनिवास की रमणियों के समक्ष वानर के खेल दिखाने का उपक्रम किया पर वह वानर राजा के अर्द्ध सिंहासन पर बैठी हुई अपनी पूर्वपत्नी को देख कर रोने लगा। मदारी द्वारा बहुतेरा ताड़न-तर्जन किये जाने पर भी वानर ने किसी प्रकार का नाट्य नहीं दिखाया, वह तो राजमहिषी की ओर देख-देख कर रोता ही रहा।

वानर को रोते हुए देख कर राजमहिषी ने कहा – "वानर ! अब तो तुम अपने स्वामी की आज्ञानुसार अपनी वानरी विद्या का प्रदर्शन करते रहो, इसी में तुम्हारी भलाई है। अब उस वृक्ष पर से द्रह में दो बार कूदने की घटना को बिल्कुल भूल जाओ। अब पश्चात्ताप से कोई लाभ नहीं होने वाला है।"

पद्मश्री ने कटाक्षनिक्षेपपूर्वक सस्मित स्वर में जम्बू कुमार की ओर देखते हुए कहा – "कान्त ? मुझे भय है कि अनिश्चित अनागत के अद्भुत सुखों की अवाप्ति की आशा में आप भी कहीं वर्तमान में प्राप्त इन सुखद भोगोपभोगों का परित्याग कर उस वानर की तरह पश्चात्ताप से संतप्त न हो जायें ?"

पद्मश्री की बात सुनकर मुस्कुराते हुए जम्बू कुमार ने कहा – "पद्मश्री ! मुझे अंगारकारक की तरह विषयों की किंचित्मात्र भी तृष्णा अथवा चाह नहीं है। सुनो :–

अंगारकारक का दृष्टांत

"एक अंगारकारक (कोयले बनाने वाला) अपने साथ पर्याप्त मात्रा में पीने का पानी लेकर दूरस्थ किसी जंगल में कोयले बनाने के उद्देश्य से पहुंचा। वहां उसने लकड़ियों को जलाना प्रारम्भ किया। ग्रीष्म ऋतु की तेज धूप और जलती हुई लकड़ियों की ज्वाला के कारण उसे तीव्र प्यास और असह्य जलन का अनुभव होने लगा। उसने बार-बार पानी पीना प्रारम्भ किया पर इससे भी उसकी प्यास और शरीर की तपन शान्त नहीं हुई। प्यास और तपन से पीड़ित हो वह बार-बार अपने शरीर पर और मुँह में पानी डालने लगा। इस प्रकार उसके पास जितना जल था, वह सब समाप्त हो गया। अब उसकी प्यास और शरीर की जलन तीव्र रूप धारण करने लगी। वह जल की तलाश में निकल पड़ा। थोड़ी ही दूर चलने के अनन्तर असह्य तृष्णा और ताप की पीड़ा से वह एक वृक्ष के नीचे पहुंचते-पहुंचते मूर्छित हो वृक्ष की छाया में गिर पड़ा। वृक्ष की शीतल छाया से उसे कुछ शान्ति का अनुभव हुआ और थोड़ी देर के लिए उसे निद्रा ने आ घेरा।

उस अंगारकारक ने स्वप्नावस्था में संसार के समस्त वापी, कूप, तड़ाग आदि जलाशयों का मन्त्रदिग्ध आग्नेयास्त्र की तरह समस्त जल पी डाला पर उसकी तृष्णा एवं तपन किंचित्मात्र भी कम नहीं हुई। उसकी निद्रा भंग हुई और वह वहां से चल कर एक वापी के पास पहुंचा। उस बावड़ी में उतर कर उसने अंजलि से पानी पीना चाहा पर वहां पानी के स्थान पर केवल कीचड़ पाया।

तृषा और तपन से व्याकुल वह अंगारकारक झुक कर अपनी जिह्वा से उस वापी के कीचड़ को चाटने लगा पर इससे न उसकी प्यास ही बुझी और न तपन ही मिटी।"

तदनन्तर पद्मश्री को सम्बोधित करते हुए जम्बूकुमार ने कहा – "नारी! तुम सब लोगों के जीव अंगारकारक की तरह हैं और संसार के समस्त विषयसुख

एवं भोगोपभोग वापी, कूप, तड़ागादि के जल के समान हैं। हमारा जीव चक्रवर्ती देव, देवेन्द्रों के दिव्य भोगों से भी तृप्त नहीं हुआ तो अब उसे वापी के कीचड़ के समान तुच्छ मानवी भोगों से तृप्त करने की इच्छा करना मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं।"

अपनी नव विवाहिता पत्नियों द्वारा भोग मार्ग की ओर आकर्षित करने हेतु प्रस्तुत किये गए मार्मिक दृष्टांतों एवं तर्कों के उत्तर में जम्बूकुमार ने हृदयग्राही दृष्टांत सुनाते हुए अकाट्य एवं प्रबल युक्तियों से संसार की निस्सारता, भोगों की क्षणभंगुरता और भवाटवी की भयावहता का ऐसा मार्मिक चित्रण किया कि जम्बूकुमार को भोग-मार्ग की ओर आकर्षित करने का प्रयास छोड़ कर समुद्रश्री आदि आठों कुसुम-कोमलांगिनियां कुलिश-कठोर योग-मार्ग पर चलने के लिये उद्यत हो गईं। जम्बूकुमार के अन्तर्मन के सच्चे उद्गारों को सुनकर उन आठों ही रमणियों की मोहनिद्रा भंग हो गई। उन आठों रमणी-रत्नों ने श्रद्धापूर्वक मस्तक झुकाते हुए जम्बूकुमार से निवेदन किया – "आर्य! आपकी कृपा से हमें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई है। हमारे मन में अब सांसारिक भोगोपभोगों एवं सुखों के प्रति किंचित्मात्र भी आकर्षण नहीं रह गया है। हमें यह संसार वस्तुतः भीषण ज्वालामालाओं से आकुल एक अति विशाल भट्टी के समान प्रतीत हो रहा है। हम आपके पदचिह्नों का अनुसरण करती हुई अपने समस्त कर्म-समूहों को ध्वस्त कर शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए लालायित हैं। हम अच्छी तरह समझ चुकी हैं कि आप जिस पथ के पथिक बनने जा रहे हैं, वही पथ वस्तुतः हमारे लिए श्रेयस्कर है। अज्ञानवश हमने आपको भोग-मार्ग की ओर आकृष्ट करने के जो प्रयास किये हैं उनके लिए हम आपसे क्षमा-प्रार्थना करती हैं। हम सब आपके साथ ही प्रव्रजित होना चाहती हैं अतः आप हमें अपने साथ ही प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर पाणिग्रहण की लौकिकी क्रिया को सही मायनों में सार्थक कीजिए।"

जम्बूकुमार की अनुमति प्राप्त हो जाने के पश्चात् समुद्रश्री आदि आठों रमणियों ने अपने-अपने माता-पिता के पास अपने निश्चय की सूचना करवा दी कि प्रातः काल होने पर वे भी अपने पति के साथ प्रव्रजित हो जायेंगी।

अपनी पुत्रियों के प्रव्रजित होने की बात सुनते ही आठों श्रेष्ठि-दम्पति तत्काल जम्बूकुमार के भवन पर आये। उस समय तीन प्रहर रात्रि बीत चुकी थी, केवल अन्तिम प्रहर अवशिष्ट था।

परिवार को प्रतिबोध

प्रभवादि दस्युमण्डल और अपनी आठों पत्नियों को प्रतिबोध देने के पश्चात् जम्बूकुमार प्रतिदिन के नियमानुसार अपने माता-पिता के पास गये। उन्होंने अपने माता-पिता और उनके पास बैठे सास-श्वसुरों को विनय पूर्वक प्रणाम किया। आशीर्वचन के पश्चात् श्रेष्ठि ऋषभदत्त ने स्नेहसिक्त स्वर में जम्बूकुमार

से पूछा – "चिरंजीव ! अपने आत्मीयों के भविष्य और अन्य समस्त परिस्थितियों पर गम्भीरतापूर्वक चिंतन तथा नववधुओं के साथ विचार विनिमय के पश्चात् तुम अवश्य ही किसी न किसी निश्चय पर पहुंचे होंगे ?"

जम्बूकुमार ने कहा – "हां, पितृदेव ! आपकी आठों कुलवधुओं और मैंने आत्मोद्धार हेतु यही दृढ़ निश्चय किया है कि आपकी अनुमति पाकर हम प्रातःकाल श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर लेंगे । हमें अब केवल आपकी अनुमति की ही आवश्यकता है । कृपा कर अब विना विलंब के आप हमें दीक्षित होने की अनुमति प्रदान कर दीजिये ।"

तदनन्तर मोहग्रस्त श्रेष्ठि-दम्पतियों को मोहनिद्रा से जागृत करते हुए जम्बूकुमार ने शान्त, मधुर पर दृढ़ स्वर में सम्बोधित किया – 'मातृपितृदेवो ! जिस प्रकार लवणसमुद्र अपार क्षारयुक्त जलराशियों से पूर्ण रूपेण भरा हुआ है ठीक उसी प्रकार भवसागर शारीरिक एवं मानसिक असंख्य दुःखों से भरा हुआ है । वस्तुतः इस संसार में सुख नाम की कोई वस्तु नहीं है । दुःख में सुख के विभ्रम, एवं दुःख में सुख की मिथ्या कल्पना द्वारा दुःख मूलक सुखाभास को ही विषयासक्त प्राणियों ने सुख समझ रखा है । शहद से सिक्त तलवार की तीक्ष्ण धार को जिह्वा से चाटने पर जिस प्रकार शहद के क्षणिक एवं तुच्छ सुख के साथ जिह्वा कटने की असह्य व्यथा संपृक्त है – जुड़ी हुई है, शतप्रतिशत वही स्थिति इन सांसारिक विषयोपभोगजन्य सुखों पर घटित होती है । इसके अतिरिक्त गर्भवास के घोर दुःख की कल्पना तक नहीं की जा सकती । वह नारकीय दुःखों से भी अत्यधिक दुखद, और भट्टी की तीव्रतम ज्वालाओं से भी अधिक दाहक है । इस संसार में एकान्ततः दुःख ही दुःख है, सुख नाम मात्र को भी नहीं है । यदि आपके अन्तर्मन में वास्तविक सुख प्राप्ति की अभिलाषा है तो आप सब प्रातःकाल होते ही मेरे साथ मुक्तिपथ के पथिक बन जाइये ।"

कितना सजीव एवं सच्चा चित्रण था संसार का ? जम्बूकुमार के इन नितान्त विरक्तिपूर्ण वचनों में अद्भुत् चमत्कार था । श्रेष्ठिदम्पतियों के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो इन वाक्यों ने उनकी अन्तश्चेतना को जागृत कर उनके अन्तर्चक्षुओं को उन्मीलित कर दिया । उन्हें अपने अन्तस्तल में अद्भुत आलोक का अनुभव हुआ । संसार के वास्तविक स्वरूप को समझते ही अठारहों भव्य जीवों ने दीक्षित होने का निश्चय कर लिया ।

सहसा सबके मुख से एक ही स्वर प्रतिध्वनित हुआ – 'वत्स ! तुमने हमारी मोहनिद्रा को भगा दिया है । अब हम तुम्हारे साथ ही प्रव्रजित हो आत्मकल्याण करेंगे ।"

जम्बूकुमार द्वारा माता-पिता आदि ५२७ व्यक्तियों के साथ दीक्षा

प्रातःकाल होते ही सारे राजगृह नगर में यह समाचार विद्युद्वेग से नगर के घर-घर पहुंच गया कि जम्बूकुमार कुबेरोपम अपार वैभव का परित्याग कर

अपने माता-पिता, आठों नवविवाहिता पत्नियों, आठों पत्नियों के माता-पिता तथा कुख्यात चौरराज प्रभव एवं उसके ५०० साथियों के साथ आज ही दीक्षित हो रहे हैं। दीक्षा समारोह के अपूर्व ठाट को देखकर अपने नेत्रों को पवित्र करने की अभिलाषा लिये सभी नर-नारी शीघ्रतापूर्वक अपने आवश्यक कार्यों से निवृत्त एवं सुन्दर वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होने लगे। अभिनिष्क्रमण सम्बन्धी सभी प्रकार की व्यवस्था बड़ी शीघ्रता के साथ सम्पन्न कर ली गई। श्रेष्ठिवर ऋषभदत्त एवं माता धारिणी ने अपने पुत्र को स्वयं सुगन्धित उवटनों के विलेपन के पश्चात् स्नान कराया और अंगराग एवं बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से विभूषित किया। उसी समय जम्बूद्वीप के अधिष्ठाता अनाधृत देव भी जम्बूकुमार की सन्निधि में आये।

अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्रों की मधुर ध्वनि के बीच जम्बूकुमार अपने माता-पिता के साथ एक हजार पुरुषों द्वारा वहन की जाने वाली शिविका में आरूढ़ हुए।[1] जयघोषों और वाद्यवृन्दों की कर्णप्रिय धुनों के साथ जम्बूकुमार की अभिनिष्क्रमण यात्रा प्रारम्भ हुई। कल ही जिनकी वरयात्रा का मनोरम दृश्य देखा गया था, उन्हीं जम्बूकुमार को अभिनिष्क्रमण यात्रा को देखने के लिए राजगृह के विशाल राजपथों पर चारों ओर जनसमुद्र उमड़ पड़ा। राजगृह के गगनचुम्बी भवनों की अट्टालिकाओं एवं सुन्दर गवाक्षों में अति मनोज्ञ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कोकिलकण्ठिनी कुलवधुओं द्वारा गाये जा रहे मंगल गीतों की सुमनोहर स्वरलहरियों से गगनमण्डल गुंजरित हो रहा था। शिविकारूढ़ जम्बूकुमार सावन-भादों की घनघटा से जलवर्षा की तरह अमूल्य मणि-कांचन-मिश्रित वसुधाराओं की अनवरत वर्षा कर रहे थे। उन्होंने लोक कल्याणकारी कार्यों के लिये अपनी सम्पत्ति का वहुत वड़ा भाग दान कर डाला[2] और सम्पूर्ण चल-अचल सम्पदा का सर्प कंचुकवत् परित्याग कर दिया। अगणित कंठों द्वारा उद्भूत 'धन्य', 'धन्य' की ध्वनि से राजगृह नगर का समस्त वायु-मण्डल प्रतिध्वनित हो रहा था। नगर के सभी नर-नारी विस्मित एवं विमुग्ध थे, नव-वय में जम्बूकुमार द्वारा किये गये अपूर्वत्याग पर। उनके द्वारा करोड़ों स्वर्णमुद्राओं और आठ नारी-रत्नों के त्याग पर प्रत्येक नागरिक आश्चर्य प्रकट कर रहा था। आवालवृद्ध द्वारा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक जम्बूकुमार पर की गई गुलाल एवं सुगन्धित द्रव्यों की निरंतर वृष्टि के कारण नगर के मुख्य मार्ग ऐसे मनोहर प्रतीत हो रहे थे मानों उन पर लाल-लाल मखमली कालीन बिछा दिये गये हों।

---

[1] जम्बूरनाधृतेनाथ, देवेन कृतसन्निधि :।
उद्वाह्यां नृसहस्रेण, शिविकामारुरोह च ॥ २८३ ॥
परिशिष्ट पर्व, सर्ग ३

[2] दानं विश्वजनीनं स, ददान : कल्पवृक्षवत् ।.......॥२८४॥
परिशिष्ट पर्व, सर्ग ३

मगधेश्वर कूणिक अपनी चतुरंगिणी सेना और समस्त राज्यर्द्धि के साथ जम्बूकुमार के दर्शनार्थ अभिनिष्क्रमणोत्सव में संमिलित हुए ।[1] मगधनरेश कूणिक और जम्बूद्वीप के अधिष्ठाता अनाधृत देव से परिवृत्त जम्बूकुमार वर्षाकालीन घनघोर घटा की तरह द्रव्य की वर्षा कर रहे थे ।[2] कूणिक ने जम्बूकुमार से कहा – "धीरवर ! मेरे योग्य कोई कार्य आप उचित समझते हों, उसे करने की मुझे भी आज्ञा दीजिये ।" कूणिक का इतना कहना था कि प्रभव कुमार अपने पांच सौ साथियों के साथ वहां आ पहुंचा[3] और उसने गुरुचरणों में मस्तक झुका कर नमस्कार किया । जम्बूकुमार ने महाराज कूणिक से कहा – "राजन् ! इस प्रभव ने जो भी अपराध किये हों, उन्हें आप क्षमा कर दीजिये । विगत रात्रि में यह मेरे घर में चोरी करने हेतु आया था । उस समय मैंने इसकी समस्त ऐहिक एषणाओं को शान्त कर दिया । अब यह मेरे साथ संयम ग्रहण करेगा ।" इस पर कूणिक ने कहा – "इन महानुभाव ने आज तक जितने भी अपराध किये हैं, उनके लिये मैं इन्हें क्षमा करता हूं । ये निर्विघ्न रूप से श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण करें ।[4]

जम्बूकुमार का अभिनिष्क्रमण जनौघ (जुलूस) राजगृह नगर के मुख्य मार्गों से क्रमशः आगे बढ़ता हुआ नगर के बाहर उस आराम के पास पहुंचा जहां सुधर्मा स्वामी अपने श्रमण संघ के साथ विराजमान थे । शिविका से उतर कर जम्बूकुमार ५२७ मुमुक्षुओं के साथ सुधर्मा स्वामी के सम्मुख पहुंचे और उनके चरणों पर अपना मस्तक रख कर प्रार्थना करने लगे – "प्रभो ! आप मेरे परिजनों सहित मेरा उद्धार कीजिए ।"

दीक्षार्थियों द्वारा दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व की जाने वाली सभी आवश्यक क्रियाओं के सम्पादन के अनन्तर आर्य सुधर्मा स्वामी ने जम्बूकुमार, उनके माता-पिता, आठों पत्नियों, पत्नियों के माता-पिता, प्रभव तथा प्रभव के ५०० साथियों

---

[1] गुरुसेन्न मिलियसहरिसखुररवसंपायदलिय भूवीढो ।
जंबुस्स दंसणत्थं, समागओ कोणिय नरिंदो ।।५०३।।
[जंबुचरियं, गुणपाल रचितं, १६ उ०]

[2] घणओ व्व पूरमाणो, दविणमहासंचएण पणइयणं ।
कोणिय नरनाहेणं, सहिओ य अणाढिय सुरेण ।।५१५।।
[जंबुचरियं (गुणपाल) १६ उ०]

[3] पभवो पभूयपहाणपुरिसपरिवारवूढो पत्तो ।
नरनाहाणुन्नाओ, सिवियाए सहेव संचलिओ ।।८४३।।
[जम्बूचरियं – रत्नप्रभसूरि विरचित]

[4] नरनाहेणं भणियं कुणसु अविग्घेण एस सामण्णं ।
खमियं सव्वं पि मए, एयस्स महाणुभावस्स ।।५२६।।
[जंबुचरियं, उ० १६]

को विधिवत् भागवती दीक्षा प्रदान की ।[1] इस प्रकार ६६ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं एवं ८ रमणी-रत्नों को त्याग कर जम्बूकुमार ५२७ मुमुक्षुओं के साथ सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हुए ।[2] दीक्षा देने के पश्चात् सुधर्मा स्वामी ने जम्बूकुमार की माता, उनकी आठ पत्नियों और आठों पत्नियों की माताओं को सुव्रता नामक आर्या की आज्ञानुवर्त्तिनी बना दिया ।[3] अपने साथियों सहित प्रभवमुनि सुधर्मा द्वारा जम्बू मुनि को शिष्य रूप से सौंपे गये ।

अपार धन-सम्पदा, सुरम्य विशाल भवन, कोटि-कोटि कांचनमुद्राओं और सुररमणियों के समान अतीव सुन्दर आठ रमणी-रत्नों का परित्याग कर जम्बू कुमार अति कठोर त्यागपथ के पथिक बने, इस प्रकार के घटनाचक्र में सहज ही पाठक को एक चमत्कार सा प्रतीत हो सकता है, कौतूहल भी हो सकता है । पर जिस प्रकार जीवन और जीवन के मूल्य कालक्रम से बदलते रहते हैं, उसी प्रकार हमें भी प्रत्येक युग की, प्रत्येक काल की परिस्थितियों एवं तज्जनित जीवन के मूल्यों के प्रकाश में ही उस समय के जनजीवन का मूल्यांकन करना चाहिए । सर्वज्ञ प्रभु महावीर के अन्तस्तलस्पर्शी उपदेशों से जनमानस में एक नवीन चेतना जागृत हुई । इस चेतना के जागृत होने पर जनमानस जिज्ञासु और चिन्तनशील बना । भगवान् महावीर के दिव्य सन्देश से जीवन की वास्तविकता और सार्थकता का बोध होते ही जन-जीवन में सच्ची संस्कृति साकार हो उठी और जीवन के उच्चतम आदर्शों, उच्चतम संस्कारों को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति प्रबल वेग से प्रबुद्ध व्यक्तियों के मानस में घर करने लगी । ऐसी स्थिति में वास्तविक सत्य का बोध हो जाने के पश्चात् उसको आत्मसात् कर लेना और उसे अपने जीवन में मूर्त स्वरूप देना असम्भव अथवा आश्चर्यजनक नहीं । आज के अर्थमूलक युग में आज के भौतिक मापदण्ड से तत्कालीन आध्यात्मिक प्रवृत्तियों एवं सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित परिस्थितियों का मूल्यांकन करना वस्तुतः उचित नहीं होगा ।

दीक्षानन्तर नवदीक्षित श्रमण श्रमणियों को सम्बोधित करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी ने फरमाया – 'आयुष्मन् श्रमण-श्रमणियो ! आप सबने विषय, कषायादि के बन्धनों को काटकर श्रमणधर्म में दीक्षित हो जो वीरता का परिचय

---

[1] आचार्य हेमचन्द्र ने जम्बूकुमार की दीक्षा के पश्चात् दूसरे दिन अथवा कुछ दिनों पश्चात् प्रभव द्वारा दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख किया है । यथा :–

पितृनापृच्छ्य चान्येद्यु : प्रभवोऽपि समागतः । जम्बूकुमारमनुयान्परिव्रज्यामुपाददे । २६०

[परिशिष्ट प० ३]

[2] नवाणुई कंचणकोडिग्राउ, जेणुज्झिआ अट्ठ य बालिआओ ।
सो जंबू सामी पढमो मुणीणं, अपच्छिमो नंदउ केवलीणं ।।

[कल्पान्तर्वाच्यानि, पत्र ४१–४८ (हस्तलिखित – संवत् १५६६) अलवर भण्डार]

[3] सम्भव है कि श्रमणी संघ की मुख्या चंदनबाला की आज्ञानुवर्तिनी स्थविरा साध्वी का नाम सुव्रता हो । प्रायः साध्वी का नाम स्मरण न होने की दशा में अपनी रचनाओं में विभिन्न रचनाकारों द्वारा सुव्रता नाम लिख दिया गया है । [सम्पादक]

दिया है। वह प्रशंसनीय है। बहुत से लोग सिंह के समान व्रत लेकर शृगालवत् कायरतापूर्वक संयम का पालन करते हैं। कुछ व्यक्ति शृगाल की तरह डरते हुए संयम ग्रहण करते हैं और उसका पालन भी शृगाल की ही तरह कायरतापूर्वक करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो शृगाल के समान डरते हुए संयम ग्रहण करते हैं किन्तु संयम ग्रहण करने के पश्चात् सिंह के समान वीरता से संयम का पालन करते हैं। कुछ ऐसे भी पराक्रमी पुरुष होते हैं जो सिंह के समान पूरे साहस एवं उत्साह के साथ ही संयम ग्रहण करते और उसी प्रकार पूर्ण साहस और पराक्रम के साथ जीवन भर संयम का पालन करते हैं। आप लोगों को चाहिये कि जिस प्रकार सिंह के समान साहसपूर्वक संयम ग्रहण किया है उसी प्रकार सिंह तुल्य पराक्रम प्रकट करते हुए ही जीवन भर संयम का पालन करते रहें जिससे कि आप लोगों को शीघ्र ही परमपद निर्वाण की प्राप्ति हो सके। जीवन के प्रत्येक क्षण को अमूल्य समझते हुए प्रमाद का पूर्णतः परिहार कर अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया में पूरी तरह यतना रखिये जिससे कि आप पाप-बन्ध से बचे रह सकें। वस्तुतः प्रमाद साधक का सबसे बड़ा शत्रु है। चतुर्दश पूर्वधर, आहारक लब्धि के धारक, मनःपर्यवज्ञानी और रागरहित बड़े-बड़े साधक भी प्रमाद के वशीभूत हो जाने पर देव, मानव, तिर्यंच और नारक गति रूप दुःखपूर्ण संसार में भटकते रहते हैं।"[१]

जम्बूकुमार सहित सभी नव दीक्षितों ने अपने श्रद्धेय गुरु सुधर्मा स्वामी के उपर्युक्त उपदेश को शिरोधार्य किया और वे ज्ञानार्जन एवं तपश्चरण के साथ साथ श्रमणाचार का बड़ी दृढ़ता से पालन करने लगे।

महामेधावी जम्बू अणगार ने अहर्निश अपने गुरु सुधर्मा स्वामी की सेवा में रहते हुए परम विनीत भाव से बड़ी लगन, निष्ठा और परिश्रम के साथ सूत्र, अर्थ और विवेचन – विस्तारसहित सम्पूर्ण द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त करना प्रारम्भ किया।

कूणिक की जिज्ञासा

कालान्तर में सुधर्मा स्वामी ने अपने जम्बू आदि शिष्य परिवार सहित राजगृह से विहार किया और विभिन्न क्षेत्रों में अगणित भव्यात्माओं के अन्तर्मन को उपदेशामृत से निर्मल बनाते हुए एक दिन वे चम्पानगरी के "पूर्णभद्र" चैत्य में पधारे। उद्यानपाल के माध्यम से सुधर्मा स्वामी के शुभागमन की सूचना प्राप्त होते ही मगधाधिपति कूणिक अपने पुरजन-परिजन आदि सहित अपने राज्योचित वैभव के साथ उनके दर्शन एवं उपदेश-श्रवण के लिए उद्यान में पहुँचा। उद्यान के द्वार पर ही अपने वाहन, खड्ग, छत्र, चामर एवं समस्त राज्य चिह्न तथा पुष्पमाला मोजड़ी आदि का परित्याग कर सुधर्मा स्वामी की सेवा में

---

[१] चउदसपुव्वी, आहारगावि मणनाणी विरागा य।
होंति पमायपरवसा, तयणंतरमेव चउगइआ।। [स्थानांग]

पहुँचा। उसने भगवान् महावीर के पट्टधर आर्य सुधर्मा स्वामी को बड़ी श्रद्धापूर्वक एवं भक्ति सहित वन्दन-नमन के पश्चात् समस्त साधुसंघ को वंदन किया।

तपोपूत युवा श्रमण जम्बू के अत्यन्त तेजस्वी दिव्य स्वरूप को देखकर कूणिक को बड़ा विस्मय हुआ। कूणिक ने आश्चर्य प्रकट करते हुए सुधर्मा स्वामी से पूछा – "भगवन्! आपके शिष्य श्रमणसमूह में यह तारामण्डल में पूर्णचन्द्र के समान कान्तिमान, घृतसिंचित अग्नि की जाज्वल्यमान ज्वाला की तरह दुर्निरीक्ष्य और महान् तेजस्वी स्वरूप वाले युवा श्रमण कौन हैं? इन्होंने किस तपश्चरण, शीलपालन अथवा महान् दान के प्रभाव से इस प्रकार का अत्यन्त आकर्षक एवं दैदीप्यमान सुन्दरतम स्वरूप पाया है?"

इस पर सुधर्मा स्वामी ने कूणिक को जम्बू कुमार के पूर्वभवों का वह पूरा वृत्तान्त कह सुनाया जो विद्युन्माली देव के सम्बन्ध में श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने जम्बू कुमार के गर्भावतरण से ७ दिन पूर्व सुनाया था।

आचार्य हेमचन्द्र ने "परिशिष्ट पर्व" में इस बात का उल्लेख किया है कि कूणिक को जम्बू श्रमण का पूर्व वृत्तान्त आदि सुनाने के पश्चात् आर्य सुधर्मा अपने शिष्य मण्डल सहित चम्पा से विहार कर श्रमण भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुए और उनके साथ विचरण करते रहे।[1] पर आचार्य हेमचन्द्र का यह कथन तथ्यों की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। क्योंकि स्वयं उनके द्वारा परिशिष्ट पर्व में उल्लिखित कतिपय तथ्यों से आर्य जम्बू का दीक्षा-काल भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् का ही ठहरता है।

जन्म, निर्वाण आदि कालनिर्णय

सम्बन्धित घटनाक्रम पर विचार करने से यह विदित होता है कि जम्बू कुमार का जन्म महावीर की केवली चर्या के १४ वें वर्ष में हुआ। जम्बू कुमार के जन्म से ७ दिन पूर्व महाराज श्रेणिक ने भगवान् महावीर से पूछा – "भगवन्! भरत क्षेत्र में केवलज्ञान किसके पश्चात् समाप्त हो जायगा।"

भगवान् ने उत्तर दिया – "देखो! चार देवियों से परिवृत्त ब्रह्मेन्द्र के समान ऋद्धिवाला जो यह विद्युन्माली देव है, यही आज से सातवें दिन ब्रह्म स्वर्ग से च्यवन कर तुम्हारे नगर राजगृह में श्रेष्ठी ऋषभदत्त के यहां समय पर पुत्र रूप से उत्पन्न होगा और यही भरत क्षेत्र का इस अवसर्पिणी काल का अन्तिम केवली होगा।[2]

---

[1] सुधर्मापि ततः स्थानाज्जगाम सपरिच्छदः।
श्री महावीर पादान्ते, तत्समं विजहार च ॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४]

[2] नाथोऽप्यकथयत्पश्य, विद्युन्माली सुरो ह्यसौ।
सामानिको ब्रह्मेन्द्रस्य, चतुर्देवीसमावृतः ॥
अह्नोऽमुष्मात्सप्तमेऽह्नि, च्युत्वा भावी पुरे तव।
श्रेष्ठिऋषभदत्तस्य जम्बूः पुत्रोऽन्त्यकेवली ॥६४॥ [वही]

श्रेणिक और भगवान् महावीर के बीच यह प्रश्नोत्तर की घटना चम्पा नगरी में हुए भगवान् की केवलीचर्या के १३ वें चातुर्मास से पूर्व की घटना है। शास्त्रीय उल्लेख के अनुसार चम्पा नगरी में हुए इस चातुर्मास से पहले कूणिक मगध का शासक बन चुका था और मगध की राजधानी राजगृह से हटाकर वह चम्पा में ले आया था।

इस दृष्टि से विचार करने पर जम्बूकुमार का जन्म भगवान् महावीर की केवलीचर्या के १४ वें वर्ष में होना अनुमान किया जा सकता है और इस प्रकार भगवान् महावीर के निर्वाण के समय में जम्बू कुमार की आयु १६ वर्ष की होना प्रमाणित हो जाता है।

जम्बू कुमार के विवाह की घटना का वर्णन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में लिखा है :–

क्रमेण प्रतिपेदे च, वयो प्रथममार्षभिः।
अभूत्पाणिग्रहार्हश्च, पित्रोराशालतातरुः ।। ७४ ।।

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग २]

विवाह योग्य वय सोलह वर्ष से कम की नहीं हो सकती। ऐसी दशा में आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार जम्बूकुमार का विवाह १६ वर्ष की अवस्था में हुआ और विवाह होने के पश्चात् दूसरे दिन ही उन्होंने आर्य सुधर्मा के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

इसके पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र स्पष्ट रूप से 'परिशिष्ट पर्व' में यह उल्लेख करते हैं कि – भगवान् महावीर के निर्वाण से ६४ वर्ष पश्चात् जम्बूकुमार ने निर्वाण प्राप्त किया।[1]

इन सब तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्य जम्बूकुमार ने १६ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की और ६४ वर्ष तक श्रमणधर्म का परिपालन करने के पश्चात् ८० वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया।

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा परिशिष्ट पर्व में उल्लिखित उपरोक्त तथ्यों से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि आर्य जम्बूकुमार ने भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् १६ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की। ऐसी दशा में आर्य सुधर्मा स्वामी का जम्बू श्रमण सहित भगवान् महावीर की सेवा में पहुंचने का जो उल्लेख किया गया है, वह संगत प्रतीत नहीं होता।

भगवान् महावीर का निर्वाण जम्बूकुमार की दीक्षा से कुछ मास पूर्व हो चुका था, इस प्रकार के उल्लेख श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

---

[1] श्रीवीरमोक्षदिवसादपि हायनानि, चत्वारि षष्टिमपि च व्यतिगम्य जम्बूः।
कात्यायनं प्रभवमात्मपदे निवेश्य, कर्मक्षयेण पदमव्ययमाससाद ।।६।।

[परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४]

(१) श्वेताम्बर परम्परा की प्रायः सभी पट्टावलियों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि जम्बूकुमार की दीक्षा वीर निर्वाण संवत् १ में हुई ।

(२) दिगम्बर परम्परा के आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित महापुराण के द्वितीय विभाग उत्तरपुराण में श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अर्हद्दास और जिनदासी का पुत्र जम्बूकुमार बड़ा ही भाग्यशाली और कान्तिमान होगा । अनाधृत देव उसकी पूजा करेगा । वह अत्यन्त प्रसिद्ध तथा विनीत होगा । वह यौवन के प्रारम्भ से ही विकार से रहित होगा । जिस समय भगवान् महावीर स्वामी पावापुर में मोक्ष प्राप्त करेंगे उसी समय मुझे भी केवलज्ञान होगा । तदनन्तर सुधर्माचार्य गणधर के साथ अनेक क्षेत्रों में विचरण करता हुआ मैं पुनः इस नगर के विपुलाचल पर्वत पर आऊँगा । मेरे आने का समाचार सुन कर इस नगर का राजा चेलिनी का पुत्र कूणिक अपने परिवार सहित वन्दन तथा उपदेश-श्रवणार्थ आवेगा । उसी समय जम्बूकुमार भी संसार से विरक्त हो दीक्षा ग्रहण करने के लिये समुत्सुक होगा । माता-पिता-कुटुम्बीजनों के आग्रह को स्वीकार कर वह ४ कन्याओं के साथ विवाह करेगा । जम्बूकुमार द्वारा प्रतिबोध पाकर उसकी चारों पत्नियां, उनके तथा जम्बू के माता-पिता और उसके घर में चोरी करने हेतु आया हुआ अपने पांच सौ साथियों सहित विद्युच्चोर भी संसार से विरक्त हो दीक्षित होने का दृढ़ संकल्प करेगा । जम्बूकुमार को दीक्षा लेने के लिये उत्सुक देखकर उसके सब परिजन, अपनी अठारह प्रकार की सेनाओं के साथ कूणिक और अनाधृत देव जम्बू के पास आकर उसका मांगलिक दीक्षा महोत्सव करेंगे । वे सब लोग विपुल वैभव के साथ विपुलाचल पर हमारे पास आवेंगे और जम्बू ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के अनेक लोगों, विद्युच्चोर और उसके ५०० साथियों के साथ सुधर्माचार्य के पास दीक्षा ग्रहण करेगा ।[1]

---

[1] इभ्यात्कृती सुतो भावी, जिनदास्यां महाद्युतिः ।
जम्ब्वाख्योऽनाधृताद्देवादाप्तपूजोऽतिविश्रुतः ।।३७।।
विनीतो यौवनारम्भेऽप्यनाविष्कृतविक्रियः ।
वीरः पावापुरे तस्मिन्, काले प्राप्स्यति निर्वृतिम् ।।३८।।
तत्रैवाहमपि प्राप्य बोधं केवलसंज्ञकम् ।
सुधर्माख्यगणेशेन सार्धं संसारवह्निना ।।३९।।
करिष्यन्नतितप्तानां ह्लादं धर्मामृताम्बुना ।
इदमेव पुरं भूयः, संप्राप्यात्रैव भूधरे ।।४०।।
स्थास्याम्येतत्समाकर्ण्य कुणिकश्चेलिनीसुतः ।
तत्पुराधिपतिः सर्वपरिवारपरिष्कृतः ।।४१।।
आगत्याभ्यर्च्य वन्दित्वा श्रुत्वा धर्मं ग्रहीष्यति ।
[उत्तरपुराणः पर्व ७६]

मुनिवर गुणपाल द्वारा रचित "जम्बूचरियं" में भी स्पष्ट उल्लेख है कि जिस समय जम्बूस्वामी ने दीक्षा-ग्रहण की उससे पहले ही भगवान् महावीर का निर्वाण हो चुका था। जम्बूकुमार को दीक्षार्थ जाते हुए देख कर राजगृह नगर के नर-नारियों ने जो अपने अन्तर्मन के उद्‌गार अभिव्यक्त किये थे उनका चित्रण करते हुए जम्बूचरियं के रचनाकार ने स्पष्ट लिखा है :–

"जिस प्रकार सूर्य से विहीन नभ-मण्डल और भगवान् महावीर के निर्वाण से भारतवर्ष शून्य (सुनसान) प्रतीत होता है उसी प्रकार जम्बूकुमार के दीक्षित हो चले जाने पर समस्त मगधपुर (राजगृह) शून्य हो जायगा।[1]

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि जम्बू स्वामी की दीक्षा के समय भगवान् महावीर का निर्वाण हो चुका था।

जम्बू श्रमण की प्रश्न-परम्परा :

श्रमणधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् आर्य जम्बू अहर्निश अपने आराध्य गुरु सुधर्मा स्वामी की सेवा में श्रुताराधन करने लगे। कठोर तपश्चरण के साथ विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए वे एकाग्रचित्त हो आगमों के अध्ययन में निरत रहते।

जिस प्रकार प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम अपने अन्तर में उत्पन्न हुई जिज्ञासाओं, शंकाओं इवं कुतूहलों के समाधान हेतु पूर्ण श्रद्धा के साथ जगद्‌गुरु भगवान् महावीर के समक्ष परम विनीत भाव से उपस्थित होते थे, ठीक उसी प्रकार जम्बू अणगार भी, अपने मन में कभी किसी प्रकार की शंका अथवा जिज्ञासा उत्पन्न होती तो अपने श्रद्धास्पद गुरु सुधर्मा स्वामी की सेवा में उपस्थित होते और अपनी जिज्ञासाओं की शान्ति के लिये अनेक प्रश्न प्रस्तुत करते। आर्य सुधर्मा भी भगवान् महावीर से प्राप्त अथाह ज्ञान के अनुसार अपने परम विनीत और सुयोग्य शिष्य जम्बू की सभी शंकाओं, जिज्ञासाओं और कुतूहलों का समिचीन रूप से समाधान कर उन्हें पूर्णरूप से संतुष्ट करते।

इस प्रकार प्रगाढ़ श्रद्धा, विनय और निष्ठा के साथ अध्ययन करते हुए तीक्ष्ण बुद्धि जम्बू स्वामी ने स्वल्प समय में ही द्वादशांगी रूप अगाध श्रुतसागर का अर्थ, व्याख्या और विस्तारादि सहित सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

गुरु द्वारा अपने शिष्य को आगमों का ज्ञान देने की वह परम्परा अविच्छिन्न रूप से आगे से आगे पश्चाद्‌वर्ती काल में भी चलती रही। जैनागमों को आज तक यथावत् रूप में बनाये रखने का सारा श्रेय आगमज्ञान के आदानप्रदान की उस पुनीत परम्परा को ही है। इसी परम्परा के कारण भगवान् महावीर द्वारा अनुप्राणित,

---

[1] नहभोयं रविरहियं, भारहवासं व जिणवरविहीणं।
एएण विणा एयं होही सुन्नं व मगहपुरं ।।४७०।।
[जम्बूचरियं (गुणपाल), उ० १६]

गणधरों द्वारा आकलित, और भगवान् के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा द्वारा अपने सुयोग्य शिष्य आर्य जम्बू के मानस में प्रवाहित पुनीत श्रुतसरिता आज भी अपने मूल स्वरूप को बिना छोड़े मुमुक्षुओं के अन्तस्तल में प्रवाहित हो रही है।

उपलब्ध आगमों का जो स्वरूप आज विद्यमान है, यह उस समय की मूल परम्परा को सही रूप में समझने का एक आधार है। आगमों के प्रारम्भिक स्थलों को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर की वाणी को अर्थरूप से सुनकर आर्य सुधर्मा ने जिस प्रकार शब्द रूप से ग्रथित किया, और जिस रूप में जम्बू स्वामी ने पृच्छा कर आगमज्ञान को प्राप्त किया, उसी अपरिवर्तित स्वरूप में आज विद्यमान है। इसकी पुष्टि में "ज्ञाता-धर्मकथा' का निम्नलिखित उपोद्घात सूत्र दृष्टव्य है :-

"उस काल उस समय में आर्य सुधर्मा अणगार के ज्येष्ठ (प्रमुख) शिष्य सात हाथ की ऊँचाई वाले कश्यपगोत्रीय जम्बू नामक अणगार आर्य सुधर्मा से न बहुत दूर और न बहुत समीप घुटने ऊँचे तथा सिर नीचा किये, धर्मध्यान एवं शुक्ल ध्यान रूपी कोष्ठ (आकर अथवा प्रकोष्ठ) में स्थित, संयम एवं तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचर रहे थे। संयोगवश आर्य जम्बू के मानस में श्रद्धा, संशय और कुतूहल उत्पन्न हुआ। श्रद्धा, संशय और कुतूहल उत्पन्न होने पर वे उठे और जहां आर्य सुधर्मा थे वहां आये। आर्य सुधर्मा को वन्दन नमस्कार किया और उनके न अधिक समीप न अधिक दूर, सुनने की इच्छा से उनकी ओर अभिमुख हो, उनकी सुश्रूषा करते हुए, नमन करते हुए, सांजलि शीश झुकाते हुए विनयपूर्वक बोले – "भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने·· पाँचवें व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग का यह अर्थ बताया। प्रभु ने छठे अंग-ज्ञाता धर्मकथा का क्या अर्थ बताया था ?"

आर्य सुधर्मा ने जम्बू अणगार को संवोधित करते हुए इस प्रकार कहा :- "हे जम्बू ! श्रमण भगवान् महावीर ने छठे अंग ज्ञाताधर्मकथांग के दो श्रुतस्कन्ध प्ररुपित किये हैं। वे यह हैं, पहला ज्ञाता और दूसरा धर्म कथा।"[1]

छठे अंग ज्ञाताधर्मकथा के इस उपरिलिखित उद्धरण के एक-एक शब्द से यह स्पष्टतः प्रतिध्वनित होता है कि भगवान् महावीर ने विश्व के प्राणियों का कल्याण करने के लिये जो श्रुत-सरिता प्रवाहित की थी उसका समग्ररूपेण पान करने की उत्कण्ठा लिये आर्य जम्बू अपने श्रद्धेय गुरु सुधर्मा स्वामी के पास जाते हैं और उनसे जिस रूप में उन्होंने भगवान् महावीर से श्रुतसरितावतरण प्राप्त किया, उसी रूप में श्रुतसरित् को प्रवाहित करने की प्रार्थना करते हैं। अपने ज्ञानपिपासु, और उत्कट जिज्ञासु सुयोग्य शिष्य जम्बू की प्रार्थना स्वीकार कर आर्य सुधर्मा भी उसी रूप में, प्रवल वेग के साथ श्रुतसरिता को प्रवाहित करते हैं। आर्य जम्बू ने महान् उल्लास के साथ अपने निर्मल मानस में आर्य सुधर्मा के

[1] नायाधम्मकहाओ, १.५

मुखारविन्द से निकलती हुई श्रुत धारा को ग्रहण किया। वही आज आर्यधरा के मुमुक्षुओं के मानस में प्रवाहित हो रही है। यह प्रवाह चलता रहेगा पंचम आरक के अन्त तक।

आर्य जम्बू स्वामी की विशेषता

जम्बू स्वामी के अनुपम गुणों के सम्बन्ध में विशेष वर्णन की आवश्यकता नहीं क्योंकि ऊपर दिये हुए नायाधम्मकहाओ सूत्र के मूल पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे परम श्रद्धालु, परम विनीत, उत्कट जिज्ञासु और आर्य सुधर्मा के सुयोग्य ज्येष्ठ शिष्य थे। उनके महान् प्रतिभाशाली विराट व्यक्तित्व का, शारीरिक ओज, तेज और कान्ति का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि मगधपति कूणिक ने जब जम्बू अणगार को आर्य सुधर्मा के शिष्य समूह में देखा तो वे आश्चर्य से हठात् स्तब्ध हो गये।

आर्य जम्बू स्वामी के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उनके जीवनकाल में आर्य वसुन्धरा कोटि-कोटि सूर्यों से भी अनन्तगुनित कान्तिमान केवलालोक से निरन्तर प्रकाशमान रही और उनके शुद्ध सच्चिदानन्दघन स्वरूप में लीन होते ही आगामी उत्सर्पिणी काल की चौवीसी के प्रथम जिन को कैवल्योपलब्धि होने तक के लिये केवलालोक से वंचित बन गई।

जब जम्बू स्वामी का जन्म हुआ उस समय सर्वज्ञ-सर्वदर्शी २४वें तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे। जम्बू स्वामी की दीक्षा के समय इन्द्रभूति गौतम, उनकी दीक्षा के १२ वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा स्वामी और दीक्षा के २० वर्ष पश्चात् स्वयं जम्बू स्वामी अपने केवलालोक से समस्त लोकालोक को आलोकित करते रहे। पर जम्बू स्वामी के निर्वाण के साथ ही आर्यावर्त से केवलज्ञान का सूर्य इस अवसर्पिणी काल में सदा के लिये अस्त हो गया।

आर्य जम्बू स्वामी का निर्वाण

आर्य जम्बू स्वामी सोलह वर्ष तक गृहस्थ पर्याय में रहे। फिर दीक्षा ग्रहण कर बीस वर्ष तक गुरु-सेवा के साथ-साथ ज्ञानोपार्जन, तपश्चरण और संयम साधना में निरत रहे। वीर निर्वाण संवत् २० की समाप्ति पर भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा स्वामी ने अपने निर्वाण-गमन के समय आर्य जम्बू को अपने उत्तराधिकारी के रूप में भगवान् महावीर का द्वितीय पट्टधर नियुक्त किया। आर्य जम्बू स्वामी ने आचार्यपद पर आसीन होने के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त किया। अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त चारित्र से भव्यजीवों का कल्याण करते हुए आप ४४ वर्ष तक भगवान् महावीर के द्वितीय पट्टधर के रूप में आचार्य पद पर रहे। अन्त में आर्य प्रभव को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर, वीर नि० सं० ६४, तदनुसार

ईसा पूर्व ४६३ में आर्य जम्बू ने ८० वर्ष की आयु पूर्ण कर अक्षय अव्याबाध निर्वाणपद प्राप्त किया।[1]

मुनिवर गुणपाल (विक्रम की ६ वीं शताब्दी) ने जम्बूचरियं में लिखा है कि जम्बूस्वामी ने अपनी आयु अल्प समझकर एक मास के पादपोपगमन संथारे से शैलेशी दशा प्राप्त की और अपूर्वकरण द्वारा कर्मबन्धन से मुक्त हो शरीर त्याग एक समय की अविग्रह गति से निर्वाण प्राप्त किया।[2]

मुनिवर गुणपाल ने अपने इस अभिमत की पुष्टि में किसी प्राचीन आचार्य द्वारा रचित किसी ग्रन्थ की पांच गाथाएं प्रस्तुत करते हुए लिखा है :-
भणियं च पुव्वसत्थेसु -

भयवं पि जंबुणामो, बहूणि वासाणि विहरिऊण जिणे।
भत्तं पच्चक्खायइ, वालाहगसेलसिहरेसु ॥[3]

दश बोलों का विच्छेद

जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र से निम्नलिखित १० वस्तुएं विलुप्त हो गईं :-

मण परमोहि पुलाए, आहार खवग उवसमे कप्पे।
संजमतिग केवल सिज्झणा य जम्बुम्मि वुच्छिण्णा ॥

अर्थात् - (१) मनःपर्यव ज्ञान, (२) परमावधि ज्ञान, (३) पुलाक लब्धि, (४) आहारक शरीर, (५) क्षपक श्रेणि, (६) उपशम श्रेणि, (७) जिनकल्प, (८) तीन प्रकार के चारित्र, अर्थात् - परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय और यथाख्यात चारित्र, (९) केवलज्ञान और (१०) मुक्तिगमन -

---

[1] बीओ जंबूत्ति, श्रीसुधर्म्मस्वामिपट्टे द्वितीयः श्री जम्बू स्वामी। स च नवनवतिकोटिसंयुक्ता अष्टौ कन्यकाः परित्यज्य श्रीसुधर्म्मस्वाम्यन्तिके प्रव्रजितः। स च षोडश वर्षाणि गृहस्थपर्याये, विंशतिवर्षाणि व्रतपर्याये, चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि युगप्रधानपर्याये चेति सर्वायुरशीति वर्षाणि परिपाल्य श्री वीरात् चतुःषष्टि वर्षे सिद्धः।

[तपागच्छ पट्टावली, स्वोपज्ञ वृत्ति, पन्यास श्री कल्याणविजयजी द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ५]

[2] भयवं पि............संपत्तो विमलुत्तुंगगयणंगणसण्णिहं तं वलाहगसेलसिहरं ति। तओ भगवया नाऊण अत्तणो थोवाउयत्तणं कयं सव्व भत्तपच्चक्खाणं पायवोवगमणाइयं जहाविहि जहाकरणीयं। ठिओ य तत्थ सिलायलोवगओ मासमेगं पाओवगमणेण।.........सेलेसि संपत्तो, विमुक्को अउव्वकरणेण एक्कसमएणेव विमुक्कवुन्दी नेव्वाणपुरवरं संपत्तो त्ति।"

[जंबुचरियं, (गुणपाल) पृ० १६६-६७]

[3] [वही]

इन १० विशिष्ट आध्यात्मिक शक्तियों का जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् विच्छेद हो गया।[1]

आर्य जम्बू स्वामी को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में अन्तिम केवली माना गया है।

इस प्रकार जम्बू स्वामी के निर्वाण के साथ ही वीर निर्वाण सं० ६४ में केवलिकाल समाप्त हो गया।

केवलिकाल के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही शाखाओं की यह परम्परागत एवं सर्व-सम्मत मान्यता रही है कि २४ वें तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम, आर्य सुधर्मा स्वामी और आर्य जम्बू स्वामी—ये तीन केवली हुए और जम्बू स्वामी के निर्वाण के साथ ही केवली काल की परिसमाप्ति हो गई।[2]

ये तीनों महापुरुष कितने-कितने समय तक केवली रहे, इस सम्बन्ध में इन दोनों परम्पराओं में मान्यताभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों एवं पट्टावलियों में इन्द्रभूति गौतम का केवली काल १२ वर्ष, सुधर्मा स्वामी का ८ वर्ष और आर्य जम्बू स्वामी का ४४ वर्ष, इस प्रकार सब मिलाकर ६४ वर्ष का केवली काल माना गया है। किन्तु इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में मतैक्य नहीं पाया जाता।

दिगम्बर परम्परा के प्राचीन तथा परममान्य ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति (डा० ए० एन० उपाध्ये के मतानुसार ई. ५७३ से ६०९ के बीच की कृति) में इन तीनों केवलियों का अलग-अलग केवली काल न देकर पिण्डरूप से ६२ वर्ष दिया है।[3] दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों में गौतम स्वामी का कैवल्यकाल १२ वर्ष, आर्य सुधर्मा स्वामी का १२ वर्ष और जम्बूस्वामी का ३८ वर्ष इस प्रकार कुल मिला कर ६२ वर्ष का केवली काल माना गया है। इसी प्रकार षट्खण्डागम के धवला

---

[1] मनः परावधीश्रेण्यौ, पुलाकाहारकौ शिवम्।
कल्पत्रिसंयमा ज्ञान, नासन् जम्बूमुनेरनु ॥ [परिशिष्ट पर्व]

[2] तिलोयपण्णत्ति में गौतम, सुधर्मा स्वामी और जम्बु स्वामी के ६२ वर्ष के केवली काल का उल्लेख करने के पश्चात् यह स्वीकार करते हुए कि जम्बू स्वामी के पश्चात् कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुआ, यह भी उल्लेख किया गया है कि केवलज्ञानियों में अन्तिम केवली श्रीधर कुंडलगिरी से सिद्ध हुए। यथा :—

कुंडलगिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।
चारणरिसीसु चरिमो सुपासचंदाभिधाणो य ॥४॥ १४७९ ॥

इस प्रकार का उल्लेख (समस्त प्राचीन जैन वाङ्मय में) अन्यत्र देखने में नहीं आता।
[सम्पादक]

[3] वासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीणं णाणवंताणं।
धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिंडरूवेणं ॥४॥१३७८॥ [तिलोयपण्णत्ति]

टीकाकार वीरसेन ने और हरिवंशपुराणकार तथा श्रुतावतारकार ने भी वीर निर्वाण १ से १२ वर्ष पर्यन्त गौतम स्वामी का, गौतम स्वामी के पश्चात १२ वर्ष तक सुधर्मास्वामी का और सुधर्मास्वामी के निर्वाण पश्चात् ३८ वर्ष तक जम्बू स्वामी का केवली काल माना है जो कुल मिलकर ६२ वर्ष होता है। इसके विपरीत आचार्य गणभद्र ने अपने ग्रंथ महापुराण-उत्तरपुराण[1] में तथा पुष्पदन्त ने अपभ्रंश भाषा के अपने महापुराण[2] में गौतम स्वामी और सुधर्मा स्वामी का क्रमशः बारह-बारह वर्ष और जम्बू स्वामी का ४० वर्ष – इस प्रकार कुल ६४ वर्ष का केवली काल माना है, जिससे श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य ६४ वर्ष के केवली काल की मान्यता की पुष्टि होती है। ऐसी स्थिति में ६४ वर्ष का केवली काल दोनों परम्पराओं में मान्य होने के कारण अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है।

इन सब से विपरीत वीर कवि ने अपने अपभ्रंश महाकाव्य "जम्बूचरिउ" और पं० राजमल्ल ने अपने संस्कृत काव्य – "जम्बूस्वामिचरितम्" में जम्बूस्वामी के केवलिकाल के सम्बन्ध में एक नया ही अभिमत रखा है। गौतमस्वामी और सुधर्मास्वामी के केवलज्ञान के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन गौतम स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और जिस दिन गौतमस्वामी का निर्वाण हुआ उसी दिन सुधर्मा स्वामी को केवलज्ञान हुआ। सुधर्मा स्वामी के निर्वाण के समय जम्बूस्वामी को दीक्षा ग्रहण किये १८ वर्ष व्यतीत हो चुके थे।[3] और सुधर्मा स्वामी के निर्वाण पश्चात् अर्द्ध

---

[1] सुधर्मगणभृत्पार्श्वे समचित्तो गृहीष्यति।
केवल्यं द्वादशाब्दान्ते मय्यन्त्यां गौतमांगते ॥११८॥
सुधर्मा केवली जम्बूनामा च श्रुतकेवली।
भूत्वा पुनस्ततो द्वादशाब्दान्ते निर्वृतिंगते ॥११९॥
सुधर्मण्यन्तिमं ज्ञानं जम्बूनाम्नो भविष्यति।
तस्य शिष्यो भवो नाम, चत्वारिंशत्समा महान्।
इह धर्मोपदेशेन, धरित्र्यां विहरिष्यति।
इत्यवादीत्तदाकर्ण्य स्थितस्तस्मिन्ननावृतः ॥ [उत्तरपुराण, ७६ पर्व, पृ० ५३७]

[2] पत्तइ-बारहमइ संवच्छरि, चित्तारिट्ठि वियलियमच्चरि।
पंचमु णाणु एहु पावेसइ भवु णामेण महारिसि होसइ
तेण समउं महियलि विहरेसइ दहगुणियइं चत्तारि कहेसइ।
वरिसइं धम्मु सव्वभव्वोहहं विद्धंसियवहु मिच्छामोहहं
अंतिम केवली उप्पज्जेसइ महु पहुवंसहु उण्णई होसइ।
[महापुराण, पुष्पदंत, संधि १००, पृ० २३४]

[3] (क) जम्बूसामिचरिउ (वीरविरचित, डॉ० वी० पी० जैन द्वारा सम्पादित), १०:२३

(ख) एवमष्टादशाब्दानां, व्यतिक्रान्ता इव क्षणं।
जम्बूस्वामिनि घोरोग्रं, तपः कुर्वति नैकधा ॥१०९
तपोमासे सिते पक्षे सप्तम्यां च शुभे दिने।
निर्वाणं प्राप सौधर्मो, विपुलाचल मस्तकात् ॥११०
[जम्बू च० (राजमल्ल), सं० १२]

प्रहर दिन व्यतीत होने पर जम्बू स्वामी को केवलज्ञान हुआ।[1] तत्पश्चात् जम्बू स्वामी १८ वर्ष तक केवली रूप से विचरण करते रहे और अन्त में विपुलाचल के शिखर पर आठों कर्मों का क्षय कर सिद्ध हुए।[2] इस प्रकार इन दोनों विद्वानों ने गौतम और सुधर्मा इन दोनों का मिलाकर १८ वर्ष कैवल्य काल, जम्बू स्वामी का कैवल्य काल केवल १८ वर्ष और इन तीनों का मिलाकर कुल ३६ वर्ष का ही कैवल्यकाल माना है, जो आज तक उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री एवं श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा स्वीकृत कालक्रम से बिल्कुल विपरीत पड़ता है, अतः प्रामाणिक न होते हुए भी विचारणीय अवश्य है।

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा मान्य उपरिवर्णित अधिकांश ऐतिहासिक तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि जम्बूस्वामी का जन्म वीर-निर्वाण से १६ वर्ष पूर्व, दीक्षा वीर निर्वाण सं० १ में, केवलज्ञान की प्राप्ति वीर नि० सं० २० में और निर्वाण वीर नि० सं० ६४ में हुआ।

अन्य मान्यता भेद

आर्य जम्बू स्वामी को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में अन्तिम केवली माना गया है। जम्बू स्वामी के अपूर्व त्याग, उत्कट वैराग्य और कठोर साधना के प्रति अगाध श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए दोनों परम्पराओं के प्राचीन तथा अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने समय-समय पर इस महाश्रमण के जीवन पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

यद्यपि दोनों परम्पराओं के विद्वानों द्वारा जम्बू स्वामी के जीवनवृत्त पर लिखे गये ग्रन्थों में कतिपय घटनाओं, दृष्टान्तों और नामादि का साधारण वैविध्य है, तथापि जम्बूस्वामी के जीवन की महत्वपूर्ण एवं मूल घटनाओं के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं के विद्वानों का परस्पर पर्याप्त मतैक्य पाया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा में जम्बू स्वामी के पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी बताया गया है, जब कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में पिता का नाम अर्हद्दास और माता का नाम जिनमती उल्लिखित है। श्वेताम्बर मान्यता के ग्रन्थों में जम्बूकुमार का आठ श्रेष्ठि-कन्याओं के साथ पाणिग्रहण होना बताया गया है; जब कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में ४ श्रेष्ठि-कन्याओं के साथ। श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार प्रभव चोर अपने ५००

---

[1] (क) तत्रैवाह्नि यामार्धव्यवधानवती प्रभोः।
उत्पन्नं केवलज्ञानं जम्बूस्वामिमुनेस्तदा ॥११२॥ [जम्बू च० (राजमल्ल), सर्ग १२]

(ख) जम्बूस्वामिचरिउ, १०:२४, पृ० २१५

[2] (क) कुर्वन् धर्मोपदेशं स केवलज्ञानलोचनः।
वर्षाष्टादशपर्यन्तं स्थितस्तत्र जिनाधिपः ॥१२०॥
ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्। [जम्बूस्वामिचरितम् (राजमल्ल)]

(ख) जम्बूसामिचरिउ (वीर विरचित), १०:२४, पृ० २१५

साथियों के साथ जम्बूकुमार के घर में चोरी करने हेतु घुसा, वहाँ दिगम्बर परम्परा प्रभव के स्थान पर विद्युच्चर चोर का, चोरी करने के अभिप्राय से जम्बूकुमार के घर में प्रवेश करना मानती है। संयोग की बात है कि दोनों ही परम्पराएं जम्बूकुमार के घर में चोरी करने हेतु प्रविष्ट होने वाले चौरराट् को क्षत्रिय राजकुमार मानती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में आर्य प्रभव को विन्ध्य की तलहटी के जयपुर नामक राज्य का राजकुमार और दिगम्बर ग्रन्थकारों ने विद्युच्चर को हस्तिनापुर जैसे शक्तिशाली राज्य का राजकुमार बताया है।[1] दिगम्बर परम्परा के विद्वान् कवि राजमल्ल ने विद्युच्चर के साथ दीक्षित हुए प्रभव आदि ५०० चोरों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे सभी राजकुमार थे। उन्होंने जम्बूस्वामीचरित्र में प्रभव का दो स्थलों पर नामोल्लेख करते हुए लिखा है कि विद्युच्चर के साथ प्रभव आदि चोर भी दीक्षित हुए और भूत-प्रेत-राक्षसादि द्वारा उपस्थित किये गये घोरातिघोर परीषहों से भी विचलित न हो कर द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते हुए विद्युच्चर सर्वार्थसिद्ध में और प्रभव आदि ५०० मुनि सुरलोक में देवरूप से उत्पन्न हुए।[2] अपभ्रंश के कवि वीर ने वि० सं० १०७६ में रचित "जम्बूसामिचरिउ" में प्रभव का कहीं नामोल्लेख भी नहीं किया है। श्वेताम्बर परम्परा में जैसा कि आगे बताया जायगा आर्य प्रभव का बहुत ऊँचा स्थान है। उन्हें जम्बू स्वामी का उत्तराधिकारी और भगवान् महावीर का तृतीय पट्टधर माना गया है। पर दिगम्बर परम्परा में जम्बू स्वामी का उत्तराधिकारी विद्युच्चर अथवा प्रभव को न मान कर आर्य विष्णु को माना गया है[3]।

दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में जम्बूकुमार द्वारा महाराज श्रेणिक की हस्तिशाला में से बन्धन तुड़ा कर भागे हुए मदोन्मत्त हाथी को वश में करने का और विद्याधर मृगांक की सहायतार्थ विद्याधरराज रत्नचूल से युद्ध करने और युद्ध में उसे दो बार पराजित करने का उल्लेख किया गया है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य किसी ग्रंथ में इन दोनों घटनाओं का कहीं कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

---

[1] अथात्र मगधे देशे, विद्यते नगरं महत्।
हस्तिनापुरं नाम्ना, स्वर्लोकैकपुरोपमम् ॥२८॥
तत्रास्ति संवरो नाम्ना, भूपो दोर्दण्डमंडितः।
तस्य भार्यास्ति श्रीषेणा, कामयष्टिः प्रियंवदा ॥२९॥
तयोः सूनुरभून्नाम्ना, विद्वान् विद्युच्चरो नृपः।
शिक्षिताः सकला विद्या, वर्द्धमानकुमारतः ॥३०॥ [जम्बू० च०सर्ग ५]

[2] शतानां पंचसंख्याकाः प्रभवादिमुनीश्वराः
अंते सल्लेखनां कृत्वा दिवं जग्मुर्यथायथम् ॥१३९॥ [वही सर्ग १३]

[3] णिरिगोदभेण दिण्णं सुहम्मगणाहस्स तेण जंबुस्स।
विण्हू णंदिमित्तो ततो य पराजिदो ततो ॥४३॥ [अंगपण्णत्ती]

प्रहर दिन व्यतीत होने पर जम्बू स्वामी को केवलज्ञान हुआ।[1] तत्पश्चात् जम्बू स्वामी १८ वर्ष तक केवली रूप से विचरण करते रहे और अन्त में विपुलाचल के शिखर पर आठों कर्मों का क्षय कर सिद्ध हुए।[2] इस प्रकार इन दोनों विद्वानों ने गौतम और सुधर्मा इन दोनों का मिलाकर १८ वर्ष कैवल्य काल, जम्बू स्वामी का कैवल्य काल केवल १८ वर्ष और इन तीनों का मिलाकर कुल ३६ वर्ष का ही कैवल्यकाल माना है, जो आज तक उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री एवं श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा स्वीकृत कालक्रम से बिल्कुल विपरीत पड़ता है, अतः प्रामाणिक न होते हुए भी विचारणीय अवश्य है।

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा मान्य उपरिवर्णित अधिकांश ऐतिहासिक तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि जम्बूस्वामी का जन्म वीर-निर्वाण से १६ वर्ष पूर्व, दीक्षा वीर निर्वाण सं० १ में, केवलज्ञान की प्राप्ति वीर नि० सं० २० में और निर्वाण वीर नि० सं० ६४ में हुआ।

अन्य मान्यता भेद

आर्य जम्बू स्वामी को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में अन्तिम केवली माना गया है। जम्बू स्वामी के अपूर्व त्याग, उत्कट वैराग्य और कठोर साधना के प्रति अगाध श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए दोनों परम्पराओं के प्राचीन तथा अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने समय-समय पर इस महाश्रमण के जीवन पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

यद्यपि दोनों परम्पराओं के विद्वानों द्वारा जम्बू स्वामी के जीवनवृत्त पर लिखे गये ग्रन्थों में कतिपय घटनाओं, दृष्टान्तों और नामादि का साधारण वैविध्य है, तथापि जम्बूस्वामी के जीवन की महत्वपूर्ण एवं मूल घटनाओं के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं के विद्वानों का परस्पर पर्याप्त मतैक्य पाया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा में जम्बू स्वामी के पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी बताया गया है, जब कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में पिता का नाम अर्हद्दास और माता का नाम जिनमती उल्लिखित है। श्वेताम्बर मान्यता के ग्रन्थों में जम्बूकुमार का आठ श्रेष्ठि-कन्याओं के साथ पाणिग्रहण होना बताया गया है; जब कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में ४ श्रेष्ठि-कन्याओं के साथ। श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार प्रभव चोर अपने ५००

---

[1] (क) तत्रैवाह्नि यामार्धव्यवधानवती प्रभोः।
उत्पन्नं केवलज्ञानं जम्बूस्वामिमुनेस्तदा ॥११२॥ [जम्बू च० (राजमल्ल), सर्ग १२]

(ख) जम्बूस्वामिचरिउ, १०:२४, पृ० २१५

[2] (क) कुर्वन् धर्मोपदेशं स केवलज्ञानलोचनः।
वर्षाष्टादशपर्यन्तं स्थितस्तत्र जिनाधिपः ॥१२०॥
ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्। [जम्बूस्वामिचरितम् (राजमल्ल)]

(ख) जम्बूसामिचरिउ (वीर विरचित), १०:२४, पृ० २१५

साथियों के साथ जम्बूकुमार के घर में चोरी करने हेतु घुसा, वहाँ दिगम्बर परम्परा प्रभव के स्थान पर विद्युच्चर चोर का, चोरी करने के अभिप्राय से जम्बूकुमार के घर में प्रवेश करना मानती है। संयोग की बात है कि दोनों ही परम्पराएं जम्बूकुमार के घर में चोरी करने हेतु प्रविष्ट होने वाले चौरराट् को क्षत्रिय राजकुमार मानती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में आर्य प्रभव को विन्ध्य की तलहटी के जयपुर नामक राज्य का राजकुमार और दिगम्बर ग्रन्थकारों ने विद्युच्चर को हस्तिनापुर जैसे शक्तिशाली राज्य का राजकुमार बताया है।[1] दिगम्बर परम्परा के विद्वान् कवि राजमल्ल ने विद्युच्चर के साथ दीक्षित हुए प्रभव आदि ५०० चोरों के सम्बन्ध में लिखा है कि वे सभी राजकुमार थे। उन्होंने जम्बूस्वामीचरित्र में प्रभव का दो स्थलों पर नामोल्लेख करते हुए लिखा है कि विद्युच्चर के साथ प्रभव आदि चोर भी दीक्षित हुए और भूत-प्रेत-राक्षसादि द्वारा उपस्थित किये गये घोरातिघोर परीषहों से भी विचलित न हो कर द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते हुए विद्युच्चर सर्वार्थसिद्ध में और प्रभव आदि ५०० मुनि सुरलोक में देवरूप से उत्पन्न हुए।[2] अपभ्रंश के कवि वीर ने वि० सं० १०७६ में रचित "जम्वूसामिचरिउ" में प्रभव का कहीं नामोल्लेख भी नहीं किया है। श्वेताम्बर परम्परा में जैसा कि आगे बताया जायगा आर्य प्रभव का बहुत ऊँचा स्थान है। उन्हें जम्बू स्वामी का उत्तराधिकारी और भगवान् महावीर का तृतीय पट्टधर माना गया है। पर दिगम्बर परम्परा में जम्बू स्वामी का उत्तराधिकारी विद्युच्चर अथवा प्रभव को न मान कर आर्य विष्णु को माना गया है[3]।

दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में जम्बूकुमार द्वारा महाराज श्रेणिक की हस्तिशाला में से बन्धन तुड़ा कर भागे हुए मदोन्मत्त हाथी को वश में करने का और विद्याधर मृगांक की सहायतार्थ विद्याधरराज रत्नचूल से युद्ध करने और युद्ध में उसे दो बार पराजित करने का उल्लेख किया गया है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य किसी ग्रंथ में इन दोनों घटनाओं का कहीं कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

---

[1] अथात्र मगधे देशे, विद्यते नगरं महत्।
हस्तिनापुरं नाम्ना, स्वर्लोकैकपुरोपमम् ।।२८।।
तत्रास्ति संवरो नाम्ना, भूपो दोर्दंडमंडितः।
तस्य भार्यास्ति श्रीषेणा, कामयष्टिः प्रियंवदा ।।२९।।
तयोः सूनुरभून्नाम्ना, विद्वान् विद्युच्चरो नृपः।
शिक्षिताः सकला विद्या, वर्द्धमानकुमारतः ।।३०।। [जम्बू० च० सर्ग ५]

[2] शतानां पंचसंख्याकाः प्रभवादिमुनीश्वराः
अंते सल्लेखनां कृत्वा दिवं जग्मुर्यथायथम् ।।१३९।। [वही सर्ग १३]

[3] णिरिगोदमेण दिण्णं सुहम्मणाहस्स तेण जंबुस्स।
विण्हू णंदिमित्तो तत्तो य पराजिदो तत्तो ।।४३।। [अंगपण्णत्ती]

हंसद्वीपपति विद्याधरराज रत्नचूल को विजित कर तथा केरलपति विद्याधरेश मृगांक की कन्या विलासवती का महाराज श्रेणिक के साथ पाणिग्रहण कराने के पश्चात् जम्बूकुमार ने राजगृह के बाहर स्थित एक उपवन में गणाधिपति सुधर्मस्वामी से उनके प्रति अपने हृदय में उमड़ते हुए स्नेहसागर का कारण और अपने पूर्वभव का वृत्तान्त पूछा। उस समय भी आर्य सुधर्मा स्वामी ने एक निश्चित समय का उल्लेख करते हुए जम्बूकुमार से कहा कि आज से दसवें दिन तुम्हारा उन चार श्रेष्ठिकन्याओं के साथ पाणिग्रहण होगा, जो कि ब्रह्मस्वर्ग के देव भव में तुम्हारी चार देवियां थीं।[1]

भगवान् महावीर के पंचम गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में वीर कवि ने लिखा है कि दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जम्बूस्वामी को बारह प्रकार के महातप करते हुए जब १८ वर्ष व्यतीत हो गये, उस समय माघ शुक्ला सप्तमी के दिन प्रातःकाल की वेला में सुधर्मा स्वामी ने विपुलाचल पर निर्वाण प्राप्त किया।[2] सुधर्मा स्वामी के निर्वाण पश्चात् अर्द्ध प्रहर दिन व्यतीत होने पर जम्बूस्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।[3]

जम्बूस्वामी के निर्वाण के सम्बन्ध में वीर कवि ने लिखा है कि कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् जम्बूस्वामी १८ वर्ष तक भव्यजनों का उद्धार करते रहे और अंत में (दीक्षा ग्रहण करने के ३६ वर्ष पश्चात्) उन्होंने विपुलाचल के शिखर पर अष्टकर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।[4]

जंबू द्वारा विद्युत् चोर को प्रतिबोध

महापुराण (उत्तरपुराण) में दिगम्बर आचार्य गुणभद्र ने विद्युच्चोर का परिचय देते हुए श्रेष्ठी अर्हद्दास के गृह में चोरी करने की इच्छा से अपने ५०० साथियों के साथ उसके प्रवेश का जो वर्णन किया है वह संक्षेप में इस प्रकार है :–

---

[1] जं तं तउ चिरु देविचउक्कं, छम्मासावहि-पिययममुक्कं।
चिरुभवनेहनिबद्ध आयं, सायरदत्ताईणं जायं॥
....
दिण्णं तुज्झ ताएं तं सव्वं, दसमए वासरे परिणेयव्वं।
[जं० चरिउ, ८–५, पृ० १५१–१५२]

[2] अट्ठारहवरिसहं कालु गउ माहहो सियसत्तमि पसरे तउ।
विउलइरिसिहरे विसुद्धगुणि निव्वाणु पत्तु सोहम्मु मुणि॥२३॥
[वही १०-२३, पृ० २१५]

[3] तत्थेव दिवसि पहरद्धमाणि आउरियजोएं सुक्कझाणि।
पलियंकासीणहो निम्ममासु जंबूकुमार मुणिपुंगमासु।
उप्पण्णउ केवलु पुणु निरंधु अवलोयउ तिहुयणु एक्कखंधु।
[वही, १०-२४]

[4] भव्वयणचित्तचूरियकुतक्कु, अट्ठारहवरिसहं जाम थक्कु।
विउलइरिसिहरि कम्मट्ठचत्तु सिद्धालय सासयसोक्खपत्तु॥
[वही, १०-२४, पृ० २१५]

"पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री नाम की अपनी चारों नव-विवाहिता पत्नियों के साथ जम्बूकुमार प्रथम-मिलन की रात्रि में अपने प्रासाद के अत्यन्त मनोरम ढंग से सुसज्जित शयनकक्ष में बैठे हुए थे। जम्बूकुमार की माता जिनदासी के हृदय की धड़कन रात्रि के एक-एक क्षण के व्यतीत होने के साथ-साथ निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यह रात्रि उसकी कुलपरम्परा, गार्हस्थ्य जीवन और उसके जीवन के समस्त प्रकार के आकर्षण और भविष्य के लिये अन्तिम निर्णायक रात्रि थी। वह अपने अन्तर में अनन्त उत्सुकता लिये बार-बार दबे पांवों अपने शयनकक्ष से निकल कर अपने नयनतारे जम्बू के शयनकक्ष के द्वार पर आती और बन्द कपाटों पर कान रख कर यह जानना चाहती थी कि अप्सराओं के समान अनुपम सुन्दर उसकी चार नव-कुलवधुएं अपनी रूपसुधा से उसके लाल को मदविह्वल कर अपने स्नेह-सूत्र के प्रगाढ़ बन्धन में आबद्ध करने में सफ़ल हुई अथवा नहीं। अपने पुत्र और पुत्रवधुओं के वार्त्तालाप का जो थोड़ा बहुत अंश उसके कर्णरन्ध्रों में पड़ता उससे उसकी आशाओं पर तुषारापात हो जाता और वह अपरिसीम वेदना से छटपटाती हुई पुनः अपने कक्ष की ओर लौट जाती। उसे सारा संसार अन्धकारपूर्ण प्रतीत होने लगता। कुछ ही क्षणों पश्चात् वह पुनः आशा का सम्बल लिये जम्बूकुमार के शयनागार के द्वार पर पहुंचती। मातृस्नेह ने इस क्रम को निरन्तर बनाये रखा। वह स्वासोच्छ्वास को अवरुद्ध किये अपने लाडले लाल के शयनगृह के द्वार पर कान लगाये खड़ी थी।

उसी समय विद्युत्प्रभ नामक एक अतिसाहसी कुख्यात चोर ने अपने ५०० साथी चोरों के साथ अर्हद्दास के घर में प्रवेश किया। वह चोर पोदनपुर नगर के राजा विद्युत्राज और रानी विमलमती का पुत्र था। विद्युत्प्रभ किसी कारणवश अपने बड़े भाई से रुष्ट हो अपने पांच सौ योद्धाओं के साथ पोदनपुर से निकल गया और चौर्यकर्म से अपनी आजीविका चलाता था। वह अदृश्य होने और तालों तथा कपाटों को खोलने की विद्या में निपुण था। जिनदासी को विनिद्र और चिन्तितावस्था में कपाट के पास खड़ी देख कर विद्युत्प्रभ ने उससे उसका कारण पूछा।

माता जिनदासी ने अपनी अथाह अन्तर्व्यथा को उंडेलते हुए संक्षेप में अपनी चिन्ता का कारण विद्युच्चोर को बता दिया। विद्युच्चोर ने जब यह सुना कि कुबेरोपम अपार कांचनराशि और कामिनियों का परित्याग कर युवा जम्बू-कुमार दीक्षित होना चाहता है तो उसके अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये। उसे अपने चौर्यकर्म से और स्वयं अपने आपसे घृणा हो गई। उसने जिनदासी को आश्वस्त करते हुए जम्बूकुमार के शयनकक्ष में प्रवेश किया और उन्हें त्यागमार्ग से विमुख तथा भोगमार्ग की ओर उन्मुख करने हेतु अपनी समस्त वाक्चातुरी, सुतीक्ष्ण बुद्धि और नैपुण्य का प्रयोग किया। विद्युच्चोर और जम्बूकुमार के बीच काफी देर तक संवाद चला और अंततोगत्वा विद्युच्चोर जम्बूकुमार के विरक्ति के रंग में

स्वयं रंग गया एवं दूसरे दिन अपने पांच सौ साथियों सहित जम्बूकुमार के साथ ही दीक्षित हो गया।[1]

वीर कवि रचित अपभ्रन्श भाषा के महाकाव्य 'जम्बूचरिउ' के आधार पर दिगम्बर परम्परा के विद्वान् कवि राजमल्ल ने विक्रम संवत् १६३२ में रचित 'जम्बूस्वामिचरितम्' में जम्बूकुमार को संसार से विरक्ति होने के कारण का विवरण देते हुए अनेक नई बातों पर प्रकाश डाला है, जिनका श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं है। ऐतिहासिक शोध की दृष्टि से वे बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं अतः उनका यहां साररूप में उल्लेख किया जा रहा है।

कवि राजमल्ल ने अपने उक्त काव्य के छठे सर्ग में जम्बूकुमार द्वारा मदोन्मत्त हाथी को वश में करने, सातवें सर्ग में जम्बूकुमार द्वारा विद्याधर राजा रत्नचूल को पराजित कर मृगांक नामक विद्याधरराज की उससे रक्षा करने और आठवें सर्ग में विद्याधरराज पर विजय का तथा जम्बूकुमार और महाराज श्रेणिक के नगरप्रवेश का वर्णन करने के पश्चात् 'जम्बूस्वामिपरिणयनोत्सववर्णनम्' नामक नवम सर्ग के प्रारम्भ में उनको विरक्ति होने की घटना का वृत्तान्त दिया है, जो संक्षेप में इस प्रकार है :—

---

[1] सुतो ममायं रागेण प्रेरितो विकृतिं भजन् ।
स्मितहासकटाक्षेक्षणादिमान्कि भवेन्नवा ।।५१।।
इत्यात्मानं तिरोधाय पश्यन्ती स्थास्यति स्निहा ।
माता तस्य तदैवैकः पापिष्ठः प्रथमांशकः ।।५२।।
सुरम्यविषये ख्यातपौदनाख्यपुरेशिनः ।
विद्युद्राजस्य तुग्विद्युत्प्रभो नाम भटाग्रणी ।।५३।।
तीक्ष्णो विमलवत्यश्च क्रुध्वा केनापि हेतुना ।
निजाग्रजाय निर्गत्य तस्मात्पंचशतैर्भटैः ।।५४।।
विद्युच्चोराह्वयं कृत्वा स्वस्य प्राप्य पुरीमिमाम् ।
जानन्नदृश्यदेहत्वकपाटोद्घाटनादिकम् ।।५५।।
चोरशास्त्रोपदेशेन तन्त्रमन्त्रविशारदः ।
अर्हद्दासगृहाभ्यन्तरस्थं चोरयितुं धनम् ।।५६।।
प्रविश्य नष्टनिद्रान्तां जिनदासीं विलोक्य सः ।
निवेद्यात्मानमेवं किं, विनिद्रासीति वक्ष्यति ।।५७।।
सूनुर्ममैक एवायं प्रातरेव तपोवनम् ।
अहं गमीति संकल्प्य स्थितस्तेनास्मि शोकिनी ।।५८।।
धीमानसि यदीमं त्वं, च्यावयस्वाग्रहात्ततः ।
उपायैरद्य ते सर्वं धनं दास्याम्यभीप्सितम् ।।५९।।
इति वक्त्री भवेत्सापि सोऽपि [illegible] ।
एवं सम्पन्नभोगोऽपि किलैप [illegible]

"एक दिन जम्बूकुमार ने अपने मन में विचार किया कि विशाल वैभव और विपुल यश की जो उन्हें प्राप्ति हुई है वह किस सुकृत के प्रताप से हुई है ? अपनी इस आन्तरिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिये जम्बूकुमार एक मुनि के पास गये और उन्होंने मुनि को सविधि वन्दन करने के पश्चात् प्रश्न किया – "भगवन् ! मैं यह जानना चाहता हूं कि मैं वास्तव में कौन हूं, कहां से आया हूं और जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है वह किस पुण्य के फल से हुआ है ? आप दया कर मुझे मेरे पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाइये ।"

सौधर्म नामक उन मुनि ने, जो कि धर्मोपदेशक थे, उत्तर दिया – "वत्स ! सुन मैं तुझे पूर्व भवों का वृत्तान्त सुनाता हूं ।[1] इसी मगध देश में वर्द्धमान नामक ग्राम में किसी समय भावदेव और भवदेव नामक दो सहोदर रहते थे । उन दोनों ने क्रमशः जैनश्रमण दीक्षा ग्रहण की और बहुत वर्षों तक श्रमणाचार का पालन कर मृत्यु के पश्चात् सनत्कुमार नामक स्वर्ग में दोनों भाई देव रूप में उत्पन्न हुए । तत्पश्चात् देवायु पूर्ण होने पर बड़े भाई भावदेव का जीव वज्रदन्त नामक राजा के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ और उसका नाम सागरचन्द्रमा रखा गया । छोटे भाई भवदेव का जीव देवलोक से च्युत हो महापद्म चक्रवर्ती का शिवकुमार नामक पुत्र हुआ । सागर चन्द्र संयम ग्रहण कर कठोर तपश्चर्या करने लगा और शिवकुमार माता-पिता के अत्यधिक अनुरोध के कारण घर में रहते हुए भी पूर्णरूपेण श्रमणाचार का पालन करते हुए षष्ठभक्त, अष्ठभक्त, अर्द्धमासिक, मासिक आदि घोर तपश्चरण और इन तपस्याओं के पारण के दिन आचाम्लव्रत करने लगा । इस प्रकार शिवकुमार ने घर में रहते हुए ही ६४,००० वर्ष तक घोर तपश्चरण किया । अन्त में समाधिपूर्वक मरण प्राप्त कर क्रमशः दोनों ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देव हुए । दश सागर की देवायु पूर्ण होने पर बड़े भाई भावदेव का जीव मगध देश के संवाहनपुर नामक नगर के अधिपति राजा सुप्रतिष्ठ की रानी धर्मवती की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ । उसका नाम सौधर्म रखा गया ।[2]

सौधर्मकुमार क्रमशः सभी विद्याओं में निष्णात हुआ । एक दिन राजा सुप्रतिष्ठ अपने परिवार सहित भगवान् महावीर के दर्शन-वन्दन-नमन एवं उपदेश-श्रवण के लिये प्रभु के समवशरण में पहुंचा । भगवान् की भवरोगविनाशिनी देशना सुनकर राजा सुप्रतिष्ठ ने प्रभु के पास निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण कर ली । थोड़े ही दिनों में वह सुप्रतिष्ठ मुनि समस्त श्रुतशास्त्र के ज्ञाता बन गये और भगवान् ने उन्हें चतुर्थ गणधर के पद पर नियुक्त किया ।[3]

---

[1] अथोवाच मुनिर्नाम्ना सौधर्मो धर्मदेशकः ।
शृणु वत्स वदे तेऽद्य, वृत्तान्तं पूर्वजन्मनः ।।८।।
[जम्बूस्वामिचरितम् (पं० राजमल्ल-रचित) सर्ग ६]

[2] जम्बूस्वामिचरितम् (पं० राजमल्लरचितं), सर्ग ६, श्लो० १८-२३

[3] दिवसैः कतिभिर्भिक्षुः श्रुतपूर्णोऽभवन्मुनिः ।
गणधरस्तुर्यो जातो वर्द्धमानजिनेशिनः ।।२८।।　　[वही]

सौधर्मकुमार ने कुछ दिन पश्चात् अपने पिता सुप्रतिष्ठ को भगवान् के गणधर के रूप में देखा तो उसे भी संसार से विरक्ति हो गई और वह भी प्रव्रजित हो गया। थोड़े समय के पश्चात् वह भी भगवान् का पांचवां गणधर बन गया। सुधर्मा नाम का वह पंचम गणधर मैं ही हूं जो कि तुम्हारे भवदेव के भव में तुम्हारा भावदेव नामक बड़ा भाई था।[1] तुम (छोटे भाई भवदेव का जीव) ब्रह्मोत्तर स्वर्ग से च्युत हो राजगृह नगर के श्रेष्ठी अर्हद्दास की पत्नी जिनमती की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। तुम्हारा नाम जम्बूकुमार रखा गया।[2]

विद्युन्मालि देव के भव में जो तुम्हारी चार देवियां थीं वे भी क्रमशः पंचम स्वर्ग से च्युत हो राजगृह नगर के वार्द्धिदत्त आदि श्रेष्ठियों के घर में पुत्रियों के रूप में उत्पन्न हुई हैं। वे भी पूर्वभव के स्नेह के कारण तुम्हें प्राणपण से चाहती हैं और वे तुम्हारी लोकधर्मानुसार विवाहित पत्नियां बनेंगी।"

वर्तमान, भूत और भविष्यत् को प्रत्यक्ष की तरह देखने वाले चार-ज्ञानधारी सुधर्मा स्वामी के मुख से अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनकर सांसारिक विषय-भोगों के प्रति जम्बूकुमार के हृदय में उत्कट वैराग्य की भावनाएं उद्भूत हुईं। उनका अन्तर्मन प्रबुद्ध हो गया अतः उन्हें भवभ्रमण भयावह प्रतीत होने लगा और उनके मन में अपने शरीर तक के प्रति किसी प्रकार का व्यामोह अवशिष्ट न रहा।

जम्बूकुमार ने विनयपूर्वक सुधर्मा स्वामी को प्रणाम करते हुए प्रार्थना की – "दयासिन्धो! जिस प्रकार आपने पूर्वभव में निश्छल, स्वच्छ और सच्चे बन्धुत्व का निर्वहन करते हुए मेरा उद्धार किया था, उसी प्रकार आप अब भी मुझे निर्ग्रंथ श्रमणधर्म में दीक्षित कर मेरा इस भवसागर से उद्धार कीजिये।"

भोगों के प्रति निस्पृह एवं आत्मकल्याण के लिये समुत्सुक जम्बूकुमार को आसन्नभव्य (निकट भविष्य में मुक्ति प्राप्त करने वाला) जानते हुए भी आर्य सुधर्मा ने कोमल स्वर में कहा – "जम्बू! कहां तो तुम्हारी यह सुकुमारावस्था और कहां बड़े-बड़े साधकों के लिये भी कठिनतापूर्वक पाला जाने वाला यह श्रमणाचार? फिर भी यदि तुम्हारे हृदय में दीक्षित होने की उत्कट अभिलाषा है तो एक बार अपने बन्धुवर्ग को पूछकर, उनका समाधान करके फिर दीक्षा ग्रहण करो।"

यह सुनकर जम्बूकुमार कुछ क्षणों के लिये विचार में पड़ गये। अन्त में उन्होंने गुरु आज्ञा के समक्ष हठ करना उचित न समझ माता-पिता की आज्ञा

---

[1] सौधर्मोऽपि तथा पश्चाद् वीक्ष्य तं गणनायकम्।
जातसंवेगनिर्वेदः प्रवव्राज महामुनिः ॥२९॥
क्रमात्सोऽप्यभवत्तस्य पंचमो गणनायकः।
सोऽहं सुधर्म्मनामा स्यां भवद्भ्रातृचरोऽधुना ॥३०॥ [जंबूस्वामिचरितम् (पं० राजमल्ल)]

[2] त्वं हि ततो दिवश्च्युत्वा विद्युन्मालिचरोऽमरः।
अर्हद्दासगृहे सूनुर्जातः सर्वसुखाकरः ॥३३॥ [वही]

प्राप्त करने के पश्चात् ही दीक्षित होने का निश्चय किया। तदनुसार वे अपनी माता के पास गये और अपनी आन्तरिक इच्छा उनके समक्ष प्रकट की। शोकाकुल हो माता-पिता ने उन्हें समझाने का पूरा प्रयास किया पर व्यर्थ। जम्बूकुमार को उनके दीक्षित होने के दृढ़ निश्चय से किंचितमात्र भी विचलित न होते देख अर्हद्दास ने वार्द्धिदत्त आदि चारों श्रेष्ठियों के पास जिनकी कि पुत्रियों के साथ जंबूकुमार का विवाह होना निश्चित हो चुका था – संदेश भेजकर उन्हें जम्बूकुमार के दीक्षित होने के दृढ़ निश्चय से अवगत कराया। उन चारों श्रेष्ठियों ने अपनी पुत्रियों को जम्बूकुमार के दीक्षित होने का निश्चय सुनाते हुए उन्हें अन्य किसी वर से विवाह करने का सुझाव दिया। चारों कन्याओं ने अपने-अपने माता-पिता को कहा कि वे अन्तर्मन से जम्बूकुमार को अपना पति चुन चुकी हैं अतः जम्बूकुमार के साथ ही उनका विवाह कर दिया जाय। यदि वे विवाहोपरान्त अपने पति को भोग-मार्ग की ओर आकर्षित कर सकीं तो ठीक, अन्यथा वे भी उनके साथ-साथ दीक्षित हो जाएंगी।

अन्ततोगत्वा जम्बूकुमार ने अर्हद्दास और जिनमती के अनन्य अनुरोध से इस शर्त पर उन चारों कन्याओं के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया कि विवाहोपरान्त उन्हें दीक्षित होने से रोका नहीं जायगा।

बड़ी धूमधाम और समारोहपूर्वक जम्बूकुमार का पद्मश्री आदि चार कन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न हुआ।

विवाहोपरान्त पद्मश्री आदि नववधुएं अपने पति जम्बूकुमार को विविध उपायों, युक्तियों, दृष्टान्तों आदि से भोगमार्ग की ओर आकर्षित करने का और जम्बूकुमार अपनी पत्नियों को विषयभोगों की दुःखान्तता और भवभ्रमण की विभीषिका के विषय में समझाने का प्रयास करने लगे। रम्भा तुल्य चारों नववधुओं ने संमोहक विविध हाव-भावों एवं चेष्टाओं से जम्बूकुमार के मन में कामाग्नि प्रदीप्त करने का पूर्णरूपेण प्रयास किया किन्तु जम्बूकुमार निस्तरंग अथाह पाथोधि की तरह शान्त तथा निश्चल बने रहे।

जिस समय जम्बूकुमार और उनकी चारों पत्नियों में परस्पर वार्तालाप हो रहा था, उस समय विद्युच्चर नामक एक चोर अर्हद्दास के घर में चोरी करने के लिये घुसा। जम्बूकुमार के घर में धनागारों को देखते समय विद्युच्चर की दृष्टि बड़े ही आकर्षक ढंग से सजे हुए जम्बूकुमार के शयनागार पर पड़ी। उसके मन में कुतुहल जागृत हुआ और उसने निश्चय किया कि रत्नादि बहुमूल्य वस्तुओं को तो यहां से लौटते समय ही ले लूंगा, पहले जम्बूकुमार और उनकी नववधुओं का वार्तालाप ही सुन लूं। यह विचार कर विद्युच्चर जम्बूकुमार के शयनागार के एक बन्द द्वार से अपना कान सटाकर खड़ा हो गया। सुहागरात्रि (प्रथम मिलन की रात्रि) के समय जम्बूकुमार के मुख से भोगों के प्रति निरासक्ति प्रकट करने वाली बातें सुनकर रात-दिन कामलता वेश्या के विलास-

गृह में विषयासक्त रहने वाला विद्युच्चर चोर स्तब्ध रह गया। वह और सावधान होकर नवविवाहित वर-वधुओं की बातें बड़े ध्यान से सुनने लगा।

जम्बूकुमार और उनकी चार नववधुओं का परस्पर जो संवाद हो रहा था उसे विद्युच्चर स्पष्टरूप से सुन रहा था। उसे बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि यह नव तारुण्य की भोगयोग्य वय, सभी प्रकार की भोग्य सामग्री सहजरूपेण समुपलब्ध, सुरसुन्दरियों के समान अनुपम रूपलावण्यवती चार नवविवाहिता लोकधर्मानुसार न्यायतः प्राप्त पत्नियां, एकान्त स्थान, विषयभोगों के उपभोग की पूर्ण सामर्थ्य, कुबेरोपम वैभव, भोगोपभोगों के लिये अनुरोध और आग्रहभरा आमन्त्रण किन्तु यह तरुण निर्विकार, निर्लिप्त और निश्चल बना हुआ है। ऐसा अभूतपूर्व आश्चर्य उसके दृष्टिगोचर होना तो दूर उसके कर्णरन्ध्रों में भी कभी नहीं पड़ा है। वह अपने चोर-कार्य को भूल कर नवदम्पति के अद्भुत और अन्तस्तलस्पर्शी संवाद को सुनने में आत्मविस्मृत हो तल्लीन हो गया।

माता जिनमती के लिये यह रात्रि उसके कुटुम्ब एवं वंश-परम्परा के भविष्य के लिये निर्णायक रात्रि थी। उसके हृदय में यह जानने की उत्कण्ठा बार-बार बलवती बनती जा रही थी कि उसकी रूप-यौवन और सर्वगुण सम्पन्ना चार पुत्रवधुएँ उसके इकलौते लाड़ले लाल को भोगमार्ग की ओर आकृष्ट करने में सफल हुई हैं या नहीं। इस उत्कट उत्कण्ठा को अपने अन्तर में लिये वह बार-बार छुपे पावों जम्बूकुमार के शयनकक्ष के द्वारों के पास आकर कान लगा कर अपने पुत्र और पुत्रवधुओं के वार्तालाप को सुनती और अपने पुत्र को अपने निश्चय पर अचल समझ कर हताश हो पुनः अपने शयनकक्ष की ओर लौट जाती। धारिणी का यह क्रम बीच-बीच में कुछ क्षणों के व्यवधानों से निरन्तर चल रहा था। इस बार वह दबे पांवों जम्बूकुमार के शयनकक्ष के उस द्वार की ओर आई जहां चोर विद्युच्चर अपनी सुध-बुध भूले नव वर और वधुओं का संलाप सुन रहा था।

द्वार पर सटे चोर पर दृष्टिपात होते ही जिनमती ने आश्चर्य एवं भय मिश्रित स्वर में पूछा – "अरे ! इस समय यहां तुम कौन हो ?"

विद्युच्चर ने मन्द किन्तु निर्भय स्वर में उत्तर दिया – "बहिन ! तुम विह्वल न होना। मैं विद्युच्चर नामक चोर हूं जो तुम्हारे इसी राजगृह नगर में रहते हुए चोरियां करता रहता हूं। मैंने तुम्हारे इस भवन से भी अनेक बार रत्न-स्वर्ण और विपुल धन चुराया है। उसी चौर्यकार्य के लिये मैं आज भी यहां आया था।"

मां जिनमती ने स्नेहसिक्त स्वर में कहा – "वत्स ! मेरे इस घर में से जो कुछ तुम्हें अच्छा लगे वही ले जा सकते हो।""

विद्युच्चर ने कहा – "बहिन ! सच मानो, आज चोरी करने की इच्छा ही नहीं हो रही है। आज मैंने अपने जीवन में पहली बार यह अदृष्टपूर्व-अश्रुतपूर्व अत्यन्त अद्भुत कुतूहलपूर्ण दृश्य एवं संवाद देखा और सुना है कि दिव्य रूप-लावण्यमयी युवतियों के कटाक्षों और करुण-कोमल प्रार्थना स्वरों से इस युवक का

मन किंचित्मात्र भी विचलित नहीं हुआ। मैं यह जानना चाहता हूं कि इस सब के पीछे कारण क्या है। आज से तुम मेरी धर्म वहिन हो और मैं तुम्हारा सहोदरोपम भाई।"

अपने उद्वेलित अश्रुसमुद्र को हठात् रोकते हुए साहस बटोर कर जिनमती ने कहा – "भैया ! मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय और मेरे कुल का दीपक यह मेरा इकलौता पुत्र है। इसने जैन श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। मोहवश हमने बड़े हठाग्रहपूर्वक इसका विवाह कर दिया है पर यह सूर्योदय होते ही सब कुछ छोड़ – छिटका कर जैन श्रमण बन जायगा। इसके इस अवश्यंभावी वियोग के वज्र से मेरा हृदय खंड-खंड हो विचूर्णित हो रहा है।"

विद्युच्चर ने कहा – "वहिन ! यदि ऐसी बात है तो तुम अपने मन में किसी प्रकार की चिन्ता न करो। मैं अभी कुछ ही क्षणों में तुम्हारी मनोकामना पूर्ण किये देता हूं। जम्बूकुमार को गृहस्थ धर्म की ओर प्रवृत्त करना मेरे जैसे व्यक्ति के लिये एक साधारण सरल कार्य है। किसी न किसी तरह तुम मुझे एक वार जम्बूकुमार के पास पहुंचा दो। फिर देखना कि जिस कार्य को तुम नितान्त दुस्साध्य समझती हो, उसे मैं किस प्रकार बात ही वात में सुसाध्य ही नहीं, सिद्ध वना देता हूं।"

कुछ ही क्षण गहन चिन्तन की मुद्रा में खड़ी रहने के पश्चात् जिनमती ने अपने पुत्र के शयनागार के द्वार पर शनैः शनैः तर्जनी-प्रहार किया। जम्बूकुमार ने तत्क्षण द्वार खोला और वड़े आदर के साथ अपनी माता को एक उच्चासन पर वैठाकर विनम्र स्वर में पूछा – "अम्ब ! इस समय आपने किस कारण स्वयं पधारने का कष्ट किया ?"

जिनमती ने कहा – "पुत्र ! जिस समय तुम गर्भस्थ थे उस समय मेरा भाई व्यापारार्थ विदेश गया हुआ था। वह अव लौटा है। तुम्हारे विवाह की शुभ सूचना मिलते ही यह तुम्हें देखने की उत्कण्ठा लिये वड़ी दूर से चलकर आया है।"

जम्बूकुमार ने अपने मातुल से मिलने की अभिलाषा प्रकट की। विद्युच्चर को जिनमती तत्काल जम्बूकुमार के शयनकक्ष में ले गई। जम्बूकुमार माया-मातुल (कृत्रिम मामा) को देखते ही अपने आसन से उठे और दोनों ने प्रफुल्लित हो एक दूसरे को अपने वाहुपाश में आवद्ध कर लिया।

परस्पर कुशलक्षेम के प्रश्नोत्तर के पश्चात् अहर्निश चतुर वेश्या की संगति में रहने वाले चतुर विद्युच्चर ने अपनी वाक्चातुरी का चमत्कार दिखाते हुए जम्बूकुमार को भोगमार्ग की ओर आकृष्ट करने का भरपूर प्रयास किया। उसने वड़ी चतुराई से जादूभरी शैली में त्यागमार्ग के प्रति तत्काल अनास्था उत्पन्न कर भोगमार्ग की ओर आकृष्ट कर देने वाले अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये। कभी न उतरने वाले वैराग्य के रंग में रंगे हुए प्रत्युत्पन्नमति जम्बूकुमार ने विद्युच्चर द्वारा

प्रस्तुत किये गये प्रत्येक दृष्टान्त का उससे भी अधिक युक्तिसंगत एवं प्रभावोत्पादक दृष्टान्त सुना कर सहज शान्त स्वर में उत्तर दिया। पर्याप्त समय तक यह रोचक संवाद चला। अन्ततोगत्वा परिणाम यह हुआ कि जो मामाजी भानजे पर अपना रंग जमाने आये थे वे स्वयं ही भानजे के वैराग्यरंग में पूर्णरूपेण रंग गये।

विद्युच्चर ने जम्बूकुमार के चरणों में अपना सांजलि मस्तक झुकाते हुए अति विनीत स्वर में कहा – "महाप्राज्ञ महात्मन्! आप धन्य हैं। आपकी जितनी भी प्रशंसा की जाय वह कम है। आप निर्विकार और निर्लेप हैं अतः आपके लिये इस भीषण भवोदधि को पार कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं।"

तदनन्तर विद्युच्चर ने जम्बूकुमार को अपना वास्तविक परिचय देते हुए कहा – "कुमार! मैं हस्तिनापुर के महाप्रतापी राजा संवर और उनकी महारानी श्रीषेणा का विद्युच्चर नामक पुत्र हूं। मैंने वर्द्धमान कुमार से सब प्रकार की विद्याओं में निष्णातता प्राप्त की। उसके पश्चात् चौर्य-विद्या में निपुणता प्राप्त करने की मेरे मन में उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। सर्वप्रथम मैंने अपने ही राज्यकोष में से बहुमूल्य रत्न चुराये पर चोरी करते हुए मुझे किसी राजपुरुष ने देख लिया था अतः मेरे पिता महाराज संवर मेरे उस घृणित कार्य से अवगत हो गये। उन्होंने मुझे राज्य-संपत्ति का खुले रूप में यथेच्छ उपभोग करने की अनुज्ञा देते हुए सब प्रकार से समझाने का प्रयास किया कि मैं उभयलोक बिगाड़ने वाले अति गर्हणीय चौर्य कर्म का परित्याग कर दूँ पर उस समय मेरे हृदय पर पूर्णरूपेण दुर्बुद्धि का आधिपत्य था अतः मैंने धृष्ठतापूर्वक उत्तर दिया – महाराज! राज्य की सम्पत्ति चाहे कितनी ही विपुल क्यों न हो, आखिर वह परिमित ही है किन्तु चौर्यकार्य के अन्तर्गत लक्ष्मी का कोई पार नहीं, वह अपरिमित है।

यह कह कर मैं इस राजगृह नगर में चला आया और कामलता नाम की वेश्या के यहां रात-दिन विषयोपभोगों में निरत रहते हुए चोरियां करने लगा। पर आज आपने मेरी अन्तर की चक्षुओं के निमीलित अक्षपटलों को उन्मीलित कर दिया है। अब मैं भी अपना आत्मकल्याण करूंगा।"

इसी समय प्रातःकाल हो गया। महाराज श्रेणिक को जम्बूकुमार के दीक्षित होने का समाचार मिलते ही वे अपने समस्त राजकीय वैभव के साथ अर्हद्दास के घर पर आये। जम्बूकुमार ने दीक्षा लेने हेतु वन की ओर प्रयाण किया। राजा श्रेणिक ने उन्हें शिविका में आरूढ़ किया।[1] जम्बूकुमार को दीक्षार्थ जाते देख राजगृह नगर में चारों ओर शोक का वातावरण फैल गया।

---

[1] ऐतिहासिक तथ्यों के विश्लेषण से जम्बूकुमार के समय में पण्डित राजमल्ल द्वारा उल्लिखित मगधपति महाराज श्रेणिक सम्बन्धी समस्त विवरण निराधार और कवि की कल्पनामात्र सिद्ध होता है क्योंकि जम्बूकुमार जिस समय घुटनों के बल भी नहीं चलते होंगे उससे पहले ही श्रेणिक का देहावसान हो चुका था।

– सम्पादक

जम्बूकुमार ने सुधर्मा स्वामी के पास पहुंच कर वस्त्राभूषणों का परित्याग किया और पंचमुष्टि लुंचन कर उनसे निर्ग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। जम्बूकुमार के पश्चात् अनेक राजाओं ने दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर विद्युच्चर चोर ने प्रभव आदि ५०० राजकुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की जो सभी चौर्यकर्म में निरत रहते थे।[1] इनके पश्चात् जिनदास ने भी समस्त ऐहिक सुख-वैभव का परित्याग कर संयम ग्रहण किया। तत्पश्चात् जम्बूकुमार की माता जिनमती ने और जम्बूकुमार की पद्मश्री आदि चारों पत्नियों ने भी सुप्रभा आर्यका के पास श्रमणी-दीक्षा ग्रहण की।

जम्बूस्वामी के निर्वाण गमन के वर्णन के पश्चात् पण्डित राजमल्ल ने जम्बूस्वामिचरित्र में विद्युच्चर मुनि द्वारा अपने प्रभव आदि ५०० साधुपरिवार सहित मथुरा नगरी की ओर विहार करने, मथुरा के महोद्यान में ठहरने, सूर्यास्त-वेला में चण्डमारि नाम की वनदेवी द्वारा उन्हें उस महोद्यान में रात्रि के समय भूतप्रेतादि द्वारा घोर उपसर्ग देने की सम्भावना की पूर्वसूचना दिये जाने के साथ-साथ उन्हें वहां से विहार कर अन्यत्र चले जाने का परामर्श दिये जाने का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् यह बताया गया है कि उन मुनियों ने सूर्यास्त के पश्चात् विहार करना अनुचित समझ कर वहीं आवश्यक श्रमणक्रियाएं करना प्रारम्भ कर दिया। रात्रि के समय भूतप्रेतादि द्वारा विद्युच्चर और उनके ५०० साथी साधुओं को ताड़न, तर्जन, मर्दन आदि घोर उपसर्ग दिये गये। पिशाचों द्वारा उन मुनियों को शूलादि तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रहारों से क्षत-विक्षत किया गया, वार-वार आकाश में ऊपर उठा कर पृथ्वी पर पटका गया। पर वे सभी मुनि शान्तभाव से उन दुस्सह्य परीषहों को सहते रहे।

महामुनि विद्युच्चर को उन प्रेतादि द्वारा सबसे अधिक कष्ट दिया गया पर उन्होंने अनित्यानुप्रेक्षा आदि १२ प्रकार की अनुप्रेक्षाओं से अपने मन को निश्चल बनाये रखा।

प्रातःकाल होते ही उपसर्ग तो शान्त हुए, किन्तु उन मुनियों के शरीर ताड़न, छेदन, भेदन आदि के कारण इतने जर्जरित हो गये थे कि उन्हें जीने की आशा न रही। उन ५०१ मुनियों ने संलेखनापूर्वक चार प्रकार की आराधना करते हुए देह त्याग किया। उत्कट भावशुद्धि के कारण मुनि विद्युच्चर सर्वार्थसिद्ध

---

[1] ततः केचित्तु भूपालाः, शुद्धसम्यक्त्वभूपिताः।
वभूवुर्मुनयो नूनं, यथाजातस्वरूपकाः ॥६४॥
अथ विद्युच्चरो दस्युर्विरक्तो भवभोगतः।
सर्वसंगपरित्यागलक्षणं व्रतमग्रहीत् ॥६६॥
सार्धं पंचशतैर्भूपपुत्रैरासीत्स संयमी।
दस्युकर्मरतैः सर्वैः, प्रभवादिमुनंतिकैः ॥६७॥
[जम्बूस्वामिचरितम्, सर्ग १२]

विमान में ३३ सागर की आयु वाले देव बने और प्रभव आदि ५०० मुनि भी स्वर्ग में महर्द्धिक देव रूप से उत्पन्न हुए।[1]

केवलिकाल के राजवंश

ऐतिहासिक घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समय में राजा और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध अधिकांशत: बड़ा ही मधुर और प्रगाढ़ रहा। देश के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक अभ्युत्थान में जनसाधारण की तरह राजवंशों ने भी समय-समय पर अपनी ओर से उल्लेखनीय योगदान किया, इसकी पुष्टि में बड़ी ही प्रचुर मात्रा में प्रमाण उपलब्ध होते हैं। प्राचीन काल में जैन धर्म के पल्लवन से लेकर प्रचार-प्रसार, अभ्युत्थान आदि सभी कार्यों में जब-जब और जो-जो भी लोकजनीन प्रयास किये गये, उनमें राजवंशों ने भी जनसाधारण के साथ कंधे से कंधा मिला कर बड़ा महत्त्वपूर्ण सक्रिय सहयोग दिया है। वस्तुत: प्राचीन काल के राजवंशों का लोकजीवन के साथ ऐसा संपृक्त सम्बन्ध रहा कि भारत का राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा आर्थिक इतिहास लिखते समय यदि तत्कालीन राजवंशों की उपेक्षा कर दी जाय तो कोई भी इतिहास न पूर्ण ही माना जा सकता है और न प्रामाणिक ही।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए केवलिकाल के राजवंशों का यहां संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है। वीर नि० सं० १ से ६४ तक के केवलिकाल में मुख्यत: निम्नलिखित राजवंश भारत के विभिन्न प्रदेशों में सत्तारूढ़ रहे :–

१. मगध में शिशुनाग राजवंश
२. अवंती में प्रद्योत राजवंश
३. वत्स (कोशाम्बी) में पौरव राजवंश
४. कलिंग में चेदि राजवंश

मगध का शिशुनाग-राजवंश

शिशुनाग राजवंश भारत के प्राचीन राजवंशों में बड़ा प्रतापी और प्रसिद्ध राजवंश रहा है। इस वंश में अनेक न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी और शक्तिशाली राजा

---

[1] व्यतीते चोपसर्गेऽथ, मुनिर्विद्युच्चरो महान्।
व्यभ्रे व्योम्नि यथादित्यो, तेजपुंज इवद्युत: ।।१६४।।
प्रात:कालेऽथ संजाते, प्रान्त्यसल्लेखनाविधौ।
चतुर्विधाराधनां कृत्वागमत्सर्वार्थसिद्धिके ।।१६५।।
शतानां पंच संख्याका:, प्रभवादिमुनीश्वरा: ।
अंते सल्लेखनां कृत्वा, दिवं जग्मुर्यथायथम् ।।१६६।।
[जम्बूस्वामिचरित्रं, सर्ग १३]

जम्बूस्वामी चरित्र में पं० राजमल्ल ने दो बार प्रभव का उल्लेख किया है पर कहीं उनका परिचय नहीं दिया है। – सम्पादक

हुए हैं। मगध के उन प्रतापी शासकों ने समय-समय पर क्षितिप्रतिष्ठित नगर, चरणकनगर, वृषभपुर, कुशाग्रपुर, राजगृह, चम्पा और पाटलीपुत्र (पटना) नगर वसा कर उन्हें मगध की राजधानी बनाया, इस प्रकार के उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।[1] इतिहासप्रसिद्ध इस वंश के राजा प्रसेनजित् भगवान् पार्श्वनाथ के धर्मतीर्थ के परमभक्त एवं श्रद्धालु श्रावक थे। प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है कि मगधाधीश प्रसेनजित् के पुत्र महाराज श्रेणिक (बिम्बसार) भगवान् महावीर के प्रमुख भक्त नराधिपों में अग्रणी थे। उन्होंने भगवान् महावीर के धर्मशासन की अत्युत्कट सेवा कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। महाराजा श्रेणिक की अनेक रानियों,पुत्रों और कुटुम्बीजनों ने भगवान् महावीर के उपदेशों से प्रभावित हो श्रामण्य अंगीकार कर आत्मकल्याण किया।

मगधाधिप महाराज श्रेणिक की मृत्यु (वीर निर्वाण से लगभग १७ वर्ष पूर्व) के पश्चात् कूणिक(अजातशत्रु)ने मगध की राजधानी राजगृह नगर से हटा कर चम्पा में स्थापित की। अपने पिता महाराज श्रेणिक की ही तरह कूणिक भी भगवान् महावीर का परमभक्त था।[2]

जिस समय भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ और उस ही रात्रि के अवसान से पूर्व गौतम गणधर को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई, उस समय मगध पर महाराजा कूणिक का शासन था और मगध की राजधानी चम्पा नगरी थी। कूणिक द्वारा वैशाली के शक्तिशाली गणतन्त्र का अन्त कर दिये जाने के पश्चात् कूणिक की सम्राट् के रूप में और मगधराज्य की एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में गणना की जाने लगी थी।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् सुधर्मास्वामी के आचार्यकाल में भी मगधेश्वर कूणिक केवलज्ञानी गौतमस्वामी के तथा आचार्य सुधर्मा स्वामी के दर्शन, वन्दन, उपदेशश्रवण आदि के लिये समय-समय पर उनकी सेवा में आता रहा, इस प्रकार के उल्लेख जैन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं।

आर्य सुधर्मास्वामी के आचार्यकाल में महत्त्वाकांक्षी मगधेश्वर कूणिक ने मगध राज्य का पर्याप्त विस्तार कर लिया था। कूणिक के पिता श्रेणिक ने अपने राज्यकाल में ही अंग राज्य पर विजय प्राप्त कर उसे मगध राज्य के अधीन कर लिया था अतः कूणिक को मगध और अंग का राज्य अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ। उसके अनन्तर कूणिक ने वंग, विदेह, काशी, कौशल और कौशाम्बी पर भी विजय प्राप्त कर इन राज्यों को मगध के अधीन कर लिया था।

---

[1] आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १२८४ एवं आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, उत्तर भाग, पृ०सं० ६७०-७१

[2] औपपातिक सूत्र, सूत्र ८

अजातशत्रु कूणिक किस समय मगध के सिंहासन पर बैठा और कितने वर्ष तक शासन करने के पश्चात् किस समय उसका देहान्त हुआ इस सम्बन्ध में जैन वाङ्मय में यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता तथापि आगम में उपलब्ध उल्लेख से यह अनुमान किया जाता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण से लगभग १७ वर्ष पूर्व वह मगध के राज्य सिंहासन पर बैठा। कूणिक ने कितने वर्ष तक शासन किया इस सम्बन्ध में मथुरा संग्रहालय में उपलब्ध कूणिक की मूर्ति पर खुदे शिलालेख में कूणिक का शासनकाल ३४ वर्ष ८ मास बताया गया है।[1] इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि वीर नि० सं० १७ अथवा १८ के मध्यवर्ती काल में कूणिक का देहावसान हुआ।

शिशुनागवंश का संक्षिप्त परिचय

शिशुनागवंश कब से प्रचलित हुआ, इस वंश का प्रवर्त्तक मूल-पुरुष कौन था और किस-किस समय में इस वंश के किन-किन राजाओं का किस-किस राज्य पर शासन रहा, इस सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में प्रारम्भिक काल का विवरण नहीं के तुल्य उपलब्ध होता है। वस्तुतः जैन ग्रन्थों में "शिशुनागवंश" नामक किसी वंश का उल्लेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

बिम्बसार (श्रेणिक), कूणिक (अजातशत्रु), उदायी (उदयाश्व), नंद (नन्दिवर्धन) महानन्द आदि इतिहास प्रसिद्ध मगध के सम्राटों का भारतीय इतिहास के ग्रन्थों में एवं मत्स्यपुराण, वायुपुराण, और श्रीमद्भागवतपुराण आदि पुराणग्रन्थों में शिशुनागवंशी राजाओं के रूप में परिचय दिया गया है। जब कि जैनग्रन्थों में इन मगधसम्राटों एवं इनके पुत्र-पौत्रों, महारानियों, युवराज्ञियों तक के जीवनवृत्त पर पर्याप्त प्रकाश डाले जाने के उपरान्त भी ये सम्राट् किस वंश के थे इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। एक स्थल पर मागध दूत के द्वारा जिस समय कि श्रेणिक की अभिलाषा की पूर्त्ति हेतु वैशाली गणतन्त्र के अधीश्वर महाराजा चेटक के समक्ष उनकी पुत्री सुज्येष्ठा का विवाह मगधपति श्रेणिक के साथ करने का प्रस्ताव रखा गया, उस अवसर पर त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रकार – आचार्य हेमचन्द्र ने चेटक के मुख से कहलवाया है–

चेटकोऽप्यब्रवीदेवमनात्मज्ञस्तव प्रभुः।
वाहीककुलजो वांछन्, कन्यां हैहयवंशजाम् ॥२२६॥
समानकुलयोरेव विवाहो, हन्त नान्ययोः।
तत्कन्यां न हि दास्यामि श्रेणिकाय प्रयाहि भो ॥२२७॥

---

[1] निभद प्रसेनी अज (1) सत्रु राजो(सि)र (1) ४,२० (य) १० (ड) – ८(हि अथवा ह्नी) कूणिक सेवासि नागो मागधानाम् राजा। ३४(वर्ष) ८ (महिना) (शासन काल) — जनरल आफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, दिसम्बर १९१९ वोल्यूम ५, भाग ४, पृ० ५५०

मागध दूत के मुख से मगधपति श्रेणिक द्वारा अपनी सुज्येष्ठा नामक राजकुमारी की याचना का संदेश सुनकर महाराजा चेटक ने कहा :-

"दूत ! तुम्हारे स्वामी को अपने स्वयं के सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि वाहीक[1] कुल में उत्पन्न होकर भी वह हैहव वंश की कन्या के साथ पाणिग्रहण करना चाहते हैं। समान कुल वालों में ही परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध हो सकते हैं न कि असमान कुलों में। अतः मैं अपनी कन्या श्रेणिक को नहीं दूंगा। अब तुम यहां से यथेच्छ जा सकते हो।"

"वाहीककुलजो" इस वाक्यांश से यह तथ्य प्रकट होता है कि उपरिवर्णित विम्वसार आदि मगध सम्राट् वाहीक कुलोद्भव थे।

विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो शिशुनागवंश एक प्रतापी पुरुष के प्रताप का द्योतक होने के कारण कोई मूलवंश नहीं किन्तु एक वंश विशेष के व्यक्तियों की शाखा का बोधक है। किसी एक वंशविशेष में शिशुनाग नामक प्रतापी और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति उत्पन्न हुआ, उसने एक राज्य की स्थापना की। उस वंश के अन्यान्य सहस्रों अथवा लाखों व्यक्तियों से अपनी विशिष्टता अभिव्यक्त करने हेतु उस शिशुनाग की संतति अपना परिचय शिशुनागवंशी के रूप में देने लगी।

इसी प्रकार "वाहीक" भी कोई मूलवंश नहीं। "वाहीक" शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं - (१) वाहीक अथवा वाल्हीक देश का रहने वाला, (२) वाहीक बाह्य देश का रहने वाला और (३) वाहीक-वाह्य-वहिष्कृत (जाति से वहिष्कार किया हुआ) व्यक्ति अथवा जाति। इन तीनों अर्थों में से इन मगध सम्राटों पर कौनसा अर्थ लागू होता है यह एक विचारणीय विषय है।

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रयुक्त "वाहीककुलजो" पद को लेकर अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय इतिहासकारों ने कल्पना की वहुत लम्बी लम्बीउड़ानें भरी हैं। प्रसिद्ध इतिहासविद् ए. के. मजूमदार ने अपनी पुस्तक "दी हिन्दू हिस्ट्री आफ इन्डिया" के पृष्ठ ४९६ पर लिखा है :-

"Shishunaga was formerly a vassal of the Turanian Vrijjians. He founded his dynasty of ten Kings and ruled for 250 years."

दी जरनल आफ दी ओरिसा-विहार रिसर्च सोसायटी, पुस्तक संख्या १, पृष्ठ ७६ पर यह उल्लेख है :-

"The Pali writers relate that the Sisunagas belonged to the family of Vaishali (Lichhavis).

---

[1] वहिश्चनाम हीकश्च, विपाशायां पिशाचकौ ॥४१॥
तयोरपत्यं वाहीका, नैपा सृष्टिः प्रजापतेः। [महाभारत, कर्णपर्व, अ० ४४]

इस प्रकार इतिहासविद् श्री मजूमदार ने शिशुनागवंशियों को तुर्किस्तान के निवासी और व्रिज्जी जाति के माना है और पाली ग्रन्थों ने वैशाली निवासी लिच्छवी क्षत्रिय।

भारतवर्ष के सगरकालीन अतिप्राचीन इतिहास का विहंगमावलोकन करने पर यह विदित होता है कि चन्द्रवंशी हैहय जाति के क्षत्रियों ने शक आदि अनेक जातियों की सहायता से अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी राजा वाहुक पर आक्रमण किया और उसे पराजित कर अयोध्या पर अधिकार कर लिया। राज्यच्युत राजा वाहुक अपनी रानियों के साथ वन में चला गया। वनवासकाल में बाहुक की एक रानी ने गर्भ धारण किया किन्तु पुत्र का मुख देखने से पूर्व ही बाहुक का देहावसान हो गया। समय पर वाहुक की रानी ने पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम सगर रखा गया। सगर शैशवकाल से ही बड़ा ओजस्वी था। उसने महर्षि और्व के पास समस्त विद्याओं का अध्ययन किया। अपने समय के अप्रतिम धनुर्धर सगर ने युवावस्था में पदार्पण करते ही अपने शत्रुओं पर भीषण आक्रमण कर उन्हें परास्त कर दिया और अपने वंशपरम्परागत अयोध्या के राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया। अयोध्या के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होते ही सगर के अन्तर में प्रतिशोध की अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित हो उठी। वह अपने पिता पर आक्रमण करने वाले हैहय आदि क्षत्रियों का सर्वनाश करने पर उतारू हो गया। सगर के भय के कारण उसके शत्रु सुदूर देशों की ओर पलायन कर गये। सगर ने वहां पर भी उनका पीछा किया और उन्हें वह चुन-चुनकर मारने लगा। अन्ततोगत्वा और्वऋषि द्वारा बीच-बचाव करने पर सगर ने उन क्षत्रियों को विरूप और बहिष्कृत कर उन्हें प्राण-दान दिया।[1] इस घटना के पश्चात् तालजंघों, हैहयों, शकों आदि क्षत्रियों को अन्य क्षत्रियों द्वारा कुछ हीन समझा जाने लगा। कालान्तर में समय-समय पर परस्पर बिगड़े हुए ये सम्बन्ध कुछ सुधरे पर यादवों के प्रति रुक्मी और शिशुपाल द्वारा प्रयुक्त किये गये कटु वाक्-प्रहारों, जातीय हीनतासूचक कटाक्षों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाभारत काल तक इक्ष्वाकु आदि जातियों के क्षत्रिय यदुवंशियों, हैहयों आदि को अपने से हीन समझते रहे हैं।

---

[1] भरुकस्तत्सुतस्तस्माद् वृकस्तस्यापि वाहुकः।
सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥२॥
वृद्धं तं पंचतां प्राप्तं महिष्यनु मरिष्यती।
और्वेण जानतात्मानं प्रजावन्तं निवारिता ॥३॥
आज्ञायास्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह।
सह तेनैव संजातः सगराख्यो महायशाः ॥४॥
सगरश्चक्रवर्त्यासीत सागरो यत्सुतैः कृतः।
यस्तालजंघान् यवनान्छकान् हैहयबर्बरान् ॥५॥
नावधीद् गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेषिणः। [भागवत्, स्कन्ध ९ अ० ८]

इस परम्परागत जातिविद्वेष के कारण तो वैशाली के महाराज चेटक मगधपति श्रेणिक को वाहीक नहीं कह सकते क्योंकि वे स्वयं हैहय वंश की लिच्छवी जाति के क्षत्रिय थे और मगधपति श्रेणिक वज्जी (व्रिज्जी) जाति के हैहयवंशी क्षत्रिय। ऐसी दशा में चेटक द्वारा श्रेणिक के लिये "वाहीककुलजो" कहने के दो ही कारण हो सकते हैं। पहला यह कि महाराजा श्रेणिक महाराजा चेटक की इच्छानुसार गणराज्य व्यवस्था में सम्मिलित नहीं हुए इसलिये उन्हें वाहीक कहा हो। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि श्रेणिक के पूर्वज हैहय-वंशी क्षत्रिय होने पर भी किसी संक्रान्तिकाल में किसी (टर्की आदि) ऐसे प्रदेश में रह चुके हों जिसे उस समय अनार्य देश समझा जाता हो।

युक्ति की कसौटी पर कसे जाने के अनन्तर यह दूसरा कारण केवल काल्पनिक ही ठहरता है, क्योंकि सगर के समय में कौन लोग कहां-कहां गये थे इसका लेखा-जोखा अनेक सहस्राब्दियों तक रखना नितांत असाध्य ही समझा जायगा।

पहला कारण युक्तिसंगत माना जा सकता है। हैहयवंशी समस्त कुलों के क्षत्रियों ने संगठित हो कर वैशाली गणराज्य की स्थापना की, उस समय उन सब लोगों ने मगध के हैहयवंशी शासकों को उस संघ में सम्मिलित होने के लिये बहुत आग्रह किया होगा पर मगध के शासकों द्वारा उनकी प्रार्थना को पूर्णरूपेण ठुकरा दिये जाने के पश्चात् ९ मल्ली, ९ लिच्छवी राजाओं ने मगध के राज्यवंश के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए उसे वाहीक (बहिष्कृत) घोषित कर दिया होगा। इस प्रकार की घोषणा के पीछे जातीय हीनता अथवा उच्चता कारण न बन कर राजनैतिक (सैद्धान्तिक) मतभेद ही कारण रहा होगा।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्रिज्जी शाखा के ये हैहयवंशी शासक शिशुनागवंशी किस कारण से कहलाये। शिशुनागवंश की स्थापना के सम्बन्ध में वायुपुराण में विवरण दिया गया है कि वाराणसी में शिशुनाक नामक राजा होगा। वह अपने पुत्र शकवर्ण (काकवर्ण) को वाराणसी के राज्य का स्वामी बना कर स्वयं गिरिव्रज के राज्य का स्वामी बनेगा।[1]

---

[1] हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं शिशुनाको भविष्यति ॥१७३॥
वाराणस्यां सुतस्तस्य, संप्राप्स्यति गिरिव्रजम्।
शिशुनाकस्य वर्षाणि चत्वारिंशद् भविष्यति ॥१७४॥
[वायु पुराण, अ० ६१]

नोट : वायु पुराण में शिशुनाक को प्रद्योतों के पश्चात् बताया गया है यह ठीक नहीं है। "श्लोक संख्या १६८ के तृतीय पाद "बृहद्रथेश्वतीतेषु" के संदर्भ में ही 'शिशुनाको भविष्यति' पढ़ना चाहिये। क्योंकि प्रद्योत वंश का संस्थापक चण्ड प्रद्योत भगवान् महावीर, बुद्ध और श्रेणिक का समकालीन था इस तथ्य को बौद्ध और जैन दोनों परम्पराएं एक मत से स्वीकार करती हैं।

— सम्पादक

मत्स्यपुराण, वायुपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण और जैन तथा बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में मगध के इस प्रतापी राजवंश के सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध है, उसके सम्यक् पर्यालोचन से शिशुनाग द्वारा वाराणसी में इस नवीन राजवंश की स्थापना का समय तेवीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के पिता काशिपति महाराज अश्वसेन के स्वर्गगमन के पश्चात् ईसा पूर्व ८वीं शताब्दी के आसपास का निकलता है। श्रीमद्भागवतपुराण में शिशुनाग से ले कर महानन्दी तक नागदशकों (शिशुनागवंशी दश राजाओं) का शासनकाल समष्टि रूप से ३६० वर्ष बताया गया है।[1] वायुपुराण में इन नागदशकों का राज्यकाल ३६२ वर्ष और क्रमशः प्रत्येक राजा का राज्यकाल निम्नलिखित रूप से बताया गया है :–

राजा का नाम	शासनकाल
१. शिशुनाक	४० वर्ष
२. शकवर्ण (काकवर्ण)	३६ ,,
३. क्षेमवर्मा	२० ,,
४. अजातशत्रु	२५ ,,
५. क्षत्रौजा (प्रसेनजित्)	४० ,,
६. बिंबिसार (श्रेणिक)	२८ ,,
७. दर्शक (कूणिक-अजातशत्रु)	२५ ,,
८. उदायी	३३ ,,
९. नन्दिवर्धन	४२ ,,
१०. महानन्दी[2]	४३ ,,
इन दश का सब मिला कर शासनकाल :	३३२ वर्ष

इस प्रकार इन शिशुनागवंशी दस राजाओं का पृथक्-पृथक् राज्यकाल उल्लिखित करने के पश्चात् वायुपुराणकार ने लिखा है :–

इत्येते भवितारो वै, शैशुनाका नृपा दश।
शतानि त्रीणि वर्षाणि, द्विषष्ट्यभ्यधिकानि तु ॥१८०॥ अ० ६१

अर्थात् ये दश शिशुनागवंशी राजा होंगे जिनका कि ३६२ वर्ष (तीन सौ वासठ वर्ष) तक शासन रहेगा। किन्तु इन दशों राजाओं का पृथक्-पृथक् जो शासनकाल दिया गया है, उस सबको जोड़ने पर ३६२ वर्ष के स्थान पर ३३२ वर्ष का ही होता है। वायु पुराणकार द्वारा इस प्रकार इन राजाओं का पृथक् २ जो शासनकाल बताया गया है, उसमें निश्चित रूप से किसी शासक का ३० वर्ष का शासनकाल जोड़ना रह गया है। इसी कारण समष्टि रूप से जो ३६२ वर्ष

[1] शिशुनागा दशैवैते षष्ट्युत्तरशतत्रयम्।७
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं, कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः। [भागवत, स्कंध १२, अ० १]

[2] वायुपुराण, अ० ६१, श्लोक १७४ से १८०।

का इन नागदशकों का शासनकाल बताया है वह प्रत्येक राजा के पृथक्-पृथक् दिये गये शासनकाल को जोड़ने पर ३३२ ही होता है। इसी प्रकार की भूल नामों के सम्बन्ध में भी हुई है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न पुराणों में उल्लिखित इन नागदशकों के नामों में भी विभेद पाया जाता है।

मत्स्य पुराण में नागदशकों के स्थान पर १२ नागवंशी राजाओं के नाम व शासनकाल के सम्बन्ध में जो विवरण दिया गया है, वह इस प्रकार है :—

"वाराणसी का राज्यसिंहासन अपने पुत्र काकवर्ण को सम्हलाकर शिशुनाग गिरिव्रज में आयेगा। शिशुनाग का मगध पर ४० वर्ष, काकवर्ण का २६ वर्ष, क्षेमवर्मा का ३६ वर्ष, क्षेमजित् का २४ वर्ष, विन्ध्यसेन का २८ वर्ष, काण्वायन का ६ वर्ष, उसके पुत्र भूमिमित्र का १४ वर्ष, अजातशत्रु का २७ वर्ष, वंशक का २४ वर्ष, उदासी (उदायी) का ३३ वर्ष, नन्दिवर्धन का ४० वर्ष और महानन्दी का ४३ वर्ष राज्य होगा। ये १२ शिशुनागवंशी राजा ३६० वर्ष तक राज्य करेंगे।[1] इन १२ शिशुनागवंशी राजाओं के पृथक्-पृथक् शासनकाल को जोड़ने पर कुल ३४४ वर्ष ही होते हैं किन्तु समष्टिरूप से पुराणकार ने ३६० वर्ष का इनका शासनकाल लिखा है। यह सम्भव है कि काकवर्ण को वाराणसी का राज्य देने एवं शिशुनाग द्वारा मगध के राज्य सिंहासन पर अधिकार करने से पूर्व शिशुनाग का वाराणसी राज्य पर १६ वर्ष तक शासन रहा हो और पुराणकार ने वाराणसी पर शिशुनागवंशियों के शासनकाल को मगध के शासनकाल के साथ जोड़ कर ३६० की गणना पूरी की हो।

उपर्युक्त तीनों पुराणों में नागदशकों का कुल मिला कर ३६० - ३६२ वर्ष का शासनकाल माना है।

अब हमें इन मगध के शासकों के शासनकाल के सम्बन्ध में जो जैन वाङ्मय में उल्लेख उपलब्ध हैं, उनकी ओर दृष्टिपात करना होगा। भगवान् महावीर की केवलिचर्या के तेरहवें वर्ष में मगध पर कूणिक के शासन का उल्लेख उपलब्ध होता है। इस वर्ष से पहले अथवा इसी वर्ष में कूणिक मगध की राजधानी को राजगृह से चम्पा में स्थानान्तरित कर चुका था।[2] इससे यह फलित होता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के समय अर्थात् ईसा पूर्व ५२७ में शिशुनाग वंश के ७वें शासक कूणिक के मगध पर शासनकाल के लगभग १७ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस प्रकार शिशुनाग के शासनकाल के ४० वर्ष, काकवर्ण के ३६, क्षेमवर्मा के २०, अजातशत्रु के २५, क्षत्रौजा (प्रसेनजित्) के ४०, बिम्बिसार (श्रेणिक) के २८ वर्ष और कूणिक के महावीर निर्वाणकाल तक १७ वर्ष इस प्रकार इन शिशुनागवंशी ७ राजाओं का कुल मिला कर २०६ वर्ष का शासनकाल होता है और पुराणकार जो ३० वर्ष का समय जोड़ने में भूल बैठे

[1] मत्स्यपुराण, अ० २७१ श्लोक ५ से १२
[2] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० ४१७

मत्स्यपुराण, वायुपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण और जैन तथा बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में मगध के इस प्रतापी राजवंश के सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध है, उसके सम्यक् पर्यालोचन से शिशुनाग द्वारा वाराणसी में इस नवीन राजवंश की स्थापना का समय तेवीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के पिता काशिपति महाराज अश्वसेन के स्वर्गगमन के पश्चात् ईसा पूर्व ८वीं शताब्दी के आसपास का निकलता है। श्रीमद्भागवतपुराण में शिशुनाग से ले कर महानन्दी तक नागदशकों (शिशुनागवंशी दश राजाओं) का शासनकाल समष्टि रूप से ३६० वर्ष बताया गया है।[1] वायुपुराण में इन नागदशकों का राज्यकाल ३६२ वर्ष और क्रमशः प्रत्येक राजा का राज्यकाल निम्नलिखित रूप से बताया गया है :–

राजा का नाम	शासनकाल
१. शिशुनाक	४० वर्ष
२. शकवर्ण (काकवर्ण)	३६ ,,
३. क्षेमवर्मा	२० ,,
४. अजातशत्रु	२५ ,,
५. क्षत्रौजा (प्रसेनजित्)	४० ,,
६. बिंबिसार (श्रेणिक)	२८ ,,
७. दर्शक (कूणिक-अजातशत्रु)	२५ ,,
८. उदायी	३३ ,,
९. नन्दिवर्धन	४२ ,,
१०. महानन्दी[2]	४३ ,,
इन दश का सब मिला कर शासनकाल :	३३२ वर्ष

इस प्रकार इन शिशुनागवंशी दस राजाओं का पृथक्-पृथक् राज्यकाल उल्लिखित करने के पश्चात् वायुपुराणकार ने लिखा है :–

इत्येते भवितारो वै, शैशुनाका नृपा दश।

शतानि त्रीणि वर्षाणि, द्विषष्ट्यभ्यधिकानि तु ॥१८०॥ अ० ६१

अर्थात् ये दश शिशुनागवंशी राजा होंगे जिनका कि ३६२ वर्ष (तीन सौ बासठ वर्ष) तक शासन रहेगा। किन्तु इन दशों राजाओं का पृथक्-पृथक् जो शासनकाल दिया गया है, उस सबको जोड़ने पर ३६२ वर्ष के स्थान पर ३३२ वर्ष का ही होता है। वायु पुराणकार द्वारा इस प्रकार इन राजाओं का पृथक् २ जो शासनकाल बताया गया है, उसमें निश्चित रूप से किसी शासक का ३० वर्ष का शासनकाल जोड़ना रह गया है। इसी कारण समष्टि रूप से जो ३६२ वर्ष

---

[1] शिशुनागा दशैवैते षष्ट्युत्तरशतत्रयम्। ७
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं, कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः। [भागवत्, स्कंध १२, अ० १]

[2] वायुपुराण, अ० ६१, श्लोक १७४ से १८०।

पाटलीपुत्र का निर्माण

उनमें से विशेषज्ञों का एक दल अनेक स्थानों के गुणदोष देखता हुआ गंगा नदी के तट पर पहुंचा। वहां उन निमित्तशास्त्र के विशेषज्ञों ने सुन्दर पुष्पों से आच्छादित एक पाटली (केसूला-रोहीड़ा) वृक्ष देखा जिस पर (चाष) नीलकण्ठ पक्षी अपना मुख खोले बैठा हुआ था और चारों ओर से कीट-पतंगे स्वतः ही आ आकर उसके मुख में प्रवेश कर रहे थे। इस प्रकार का अद्‌भुत दृश्य देखकर नैमित्तिकों को वड़ा आश्चर्य हुआ। परस्पर विचार-विनिमय के पश्चात् उन लोगों ने यह मन्तव्य अभिव्यक्त किया कि इस स्थान में कोई अद्‌भुत विशेषता है। जिस प्रकार इस चाष पक्षी के मुख में कीट-पतंगे स्वयमेव आ आकर गिर रहे हैं, ठीक उसी प्रकार यदि इस स्थान पर नगर बसा दिया जाय तो उस नगर में रहने वाले पुण्यवान् नृपति के पास दूर-दूर से धन-सम्पत्ति स्वतः ही आ आकर एकत्रित होगी।[1]

वस्तुस्थिति पर विचार-विमर्श करते समय उनमें से एक अतिवृद्ध नैमित्तिक ने कहा – "बन्धुओ ! यह कोई सामान्य पाटलवृक्ष नहीं है। ज्ञानियों द्वारा इसकी बड़ी महिमा बतायी गई है :–

यह अन्निकापुत्र केवली के कपाल में पड़े हुए पाटली बीज का ही विशाल रूप है।

प्राचीन काल में दक्षिण मथुरा और उत्तर मथुरा नामक दो नगरियां थीं। उत्तरमथुरा का निवासी देवदत्त नामक एक युवा व्यवसायी देशाटन करता हुआ दक्षिण मथुरा में पहुंचा। दक्षिण मथुरा के निवासी जयसिंह नामक एक वणिक् पुत्र से देवदत्त की मित्रता हो गई। एक दिन जयसिंह द्वारा निमन्त्रण पाकर देवदत्त जयसिंह के घर भोजनार्थ गया। जयसिंह की रूपगुणसंपन्ना वहिन, कुमारी अन्निका ने अपने सहोदर और उसके सखा को षड्रसयुक्त स्वादिष्ट भोजन कराया। अन्निका के रूप-लावण्य को देखकर देवदत्त उस पर आसक्त हो गया।

दूसरे दिन देवदत्त ने जयसिंह के पास एक प्रस्ताव भेजा, जिसमें उसने अन्निका के साथ अपना विवाह करने की प्रार्थना की। जयसिंह ने इस शर्त के साथ विवाह करने का सन्देश भेजा कि उसकी वहिन अन्निका उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय है, वह एक क्षण के लिए भी उसे दूर नहीं रख सकता। यदि देवदत्त यह प्रतिज्ञा करे कि विवाह होने पर जब तक अन्निका पुत्रवती न हो तब तक वह अन्निका सहित उसके घर पर ही रहेगा, तो वह देवदत्त के साथ अपनी वहिन अन्निका का विवाह करने को तैयार है ?

---

[1] ते चिन्तयन्निहोद्देशे, पक्षिणोऽस्य यथा मुखे।
कीटिकाः स्वयमागत्य, निपतन्ति निरन्तरम् ॥३८॥
तथास्मिन्नुत्तमे स्थाने, नगरेऽपि निवेशिते।
राज्ञः पुण्यात्मनोऽमुष्य, स्वयमेष्यन्ति सम्पदः ॥३९॥ [परिशिष्टपर्व, सर्ग ६]

उस ३० वर्ष के शासनकाल को इसमें जोड़ने पर ईसा पूर्व ७६३ में शिशुनागवंश के संस्थापक एवं मूलपुरुष शिशुनाग द्वारा वाराणसी के राज्य सिंहासन पर आसीन होना सिद्ध होता है। भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण ईसा पूर्व ७७७ में हुआ। इन सब तथ्यों पर विचार करने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि इक्ष्वाकुवंशी वृहद्रथ राजाओं की परम्परा में हुए वाराणसी के महाराजा अश्वसेन के स्वर्ग-गमन के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण हुआ और भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के १४ वर्ष पश्चात् शिशुनाग वाराणसी का राजा बना।

वाराणसी के राज्य सिंहासन पर शिशुनाग ने किस समय में अधिकार किया इस समस्या का निर्णायक हल करने में एक और तथ्य सहायक हो सकता है। वह यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ के पंचम पट्टधर आर्य केशी मगध सम्राट् बिंबसार (श्रेणिक) के समय में विद्यमान थे। वायुपुराण और भागवतपुराण के उल्लेखों के अनुसार श्रेणिक शिशुनागवंश का छठा राजा और मत्स्यपुराण के उल्लेखानुसार ८वां राजा था। भगवान् पार्श्वनाथ के ५वें पट्टधर की विद्यमानता में शिशुनागवंश का छठा अथवा आठवां वंशज विद्यमान हो इस अनुमान के सहारे यह मानना असंगत नहीं कहा जा सकता कि शिशुनाग ने भगवान् पार्श्वनाथ के पिता वाराणसीपति महाराजा अश्वसेन के देहावसान के कुछ ही समय पश्चात् अथवा तत्काल पश्चात् वाराणसी के सिंहासन पर अधिकार कर लिया हो।

इन सब तथ्यों पर समीचीनतया विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाराज अश्वसेन के स्वर्गगमन के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ की विद्यमानता में ही शिशुनाग ने वाराणसी के राज्य पर अधिकार कर लिया था।

मगध पर उदायी का शासनकाल

मगध के महान् प्रतापी एवं महत्त्वाकांक्षी महाराजा कूणिक की मृत्यु के पश्चात् वीर निर्वाण सं० १८–१९ में मगध के राज्यसिंहासन पर कूणिक के पुत्र उदायी का अभिषेक किया गया। उदायी भी अपने पिता और पितामह की ही तरह बड़ा शक्तिशाली और न्यायप्रिय शासक था। जैनधर्म के प्रति उसकी प्रगाढ़ श्रद्धा और भक्ति थी। उसने न केवल प्रजा को सुशासन ही दिया अपितु पैतृक परम्परा से प्राप्त मगध के राज्य की शक्ति, सीमा, यशकीर्ति, श्री और समृद्धि में भी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की।

जिस प्रकार कूणिक ने अपने पिता श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् मगध राज्य की राजधानी राजगृह से हटाकर चम्पा में प्रतिष्ठापित की, उसी प्रकार कूणिक की मृत्यु के पश्चात् उदायी ने भी मगध की राजधानी को चम्पा से किसी अन्य स्थान पर ले जाने का विचार किया। उस समय के विशाल मगधराज्य के अनुरूप ही राजधानी के लिये उपयुक्त स्थान की खोज हेतु विशेषज्ञों और नैमित्तिकों के दल चारों ओर प्रेषित किये गये।

पाटलीपुत्र का निर्माण

उनमें से विशेषज्ञों का एक दल अनेक स्थानों के गुणदोष देखता हुआ गंगा नदी के तट पर पहुंचा। वहां उन निमित्तशास्त्र के विशेषज्ञों ने सुन्दर पुष्पों से आच्छादित एक पाटली (केसूला-रोहीड़ा) वृक्ष देखा जिस पर (चाष) नीलकण्ठ पक्षी अपना मुख खोले बैठा हुआ था और चारों ओर से कीट-पतंगे स्वतः ही आ आकर उसके मुख में प्रवेश कर रहे थे। इस प्रकार का अद्भुत दृश्य देखकर नैमित्तिकों को बड़ा आश्चर्य हुआ। परस्पर विचार-विनिमय के पश्चात् उन लोगों ने यह मन्तव्य अभिव्यक्त किया कि इस स्थान में कोई अद्भुत विशेषता है। जिस प्रकार इस चाष पक्षी के मुख में कीट-पतंगे स्वयमेव आ आकर गिर रहे हैं, ठीक उसी प्रकार यदि इस स्थान पर नगर बसा दिया जाय तो उस नगर में रहने वाले पुण्यवान् नृपति के पास दूर-दूर से धन-सम्पत्ति स्वतः ही आ आकर एकत्रित होगी।[1]

वस्तुस्थिति पर विचार-विमर्श करते समय उनमें से एक अतिवृद्ध नैमित्तिक ने कहा – "बन्धुओ! यह कोई सामान्य पाटलवृक्ष नहीं है। ज्ञानियों द्वारा इसकी बड़ी महिमा बतायी गई है :-

यह अन्निकापुत्र केवली के कपाल में पड़े हुए पाटली वीज का ही विशाल रूप है।

प्राचीन काल में दक्षिण मथुरा और उत्तर मथुरा नामक दो नगरियां थीं। उत्तरमथुरा का निवासी देवदत्त नामक एक युवा व्यवसायी देशाटन करता हुआ दक्षिण मथुरा में पहुंचा। दक्षिण मथुरा के निवासी जयसिंह नामक एक वणिक् पुत्र से देवदत्त की मित्रता हो गई। एक दिन जयसिंह द्वारा निमन्त्रण पाकर देवदत्त जयसिंह के घर भोजनार्थ गया। जयसिंह की रूपगुणसंपन्ना वहिन, कुमारी अन्निका ने अपने सहोदर और उसके सखा को षड्रसयुक्त स्वादिष्ट भोजन कराया। अन्निका के रूप-लावण्य को देखकर देवदत्त उस पर आसक्त हो गया।

दूसरे दिन देवदत्त ने जयसिंह के पास एक प्रस्ताव भेजा, जिसमें उसने अन्निका के साथ अपना विवाह करने की प्रार्थना की। जयसिंह ने इस शर्त के साथ विवाह करने का सन्देश भेजा कि उसकी वहिन अन्निका उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय है, वह एक क्षण के लिए भी उसे दूर नहीं रख सकता। यदि देवदत्त यह प्रतिज्ञा करे कि विवाह होने पर जब तक अन्निका पुत्रवती न हो तब तक वह अन्निका सहित उसके घर पर ही रहेगा, तो वह देवदत्त के साथ अपनी वहिन अन्निका का विवाह करने को तैयार है?

---

[1] ते चिन्तयन्निहोद्देशे, पक्षिणोऽस्य यथा मुखे।
कीटिकाः स्वयमागत्य, निपतन्ति निरन्तरम् ॥३८॥
तथास्मिन्नुत्तमे स्थाने, नगरेऽपि निवेशिते।
राज्ञः पुण्यात्मनोऽमुष्य, स्वयमेष्यन्ति सम्पदः ॥३९॥ [परिशिष्टपर्व, सर्ग ६]

देवदत्त अन्निका के गुणों और रूपराशि पर इतना विमुग्ध हो गया था कि उसने अपने वृद्ध माता-पिता का विचार किये बिना ही जयसिंह द्वारा रखी गई शर्त को स्वीकार कर लिया। अपनी शर्त के स्वीकृत हो जाने पर जयसिंह ने देवदत्त के साथ अन्निका का विवाह कर दिया और नवदम्पती बड़े आनन्द के साथ रहने लगे। अन्निका के प्रेमपाश में आवद्ध देवदत्त ने अपने वृद्ध माता-पिता की वर्षों तक कोई सुध-बुध नहीं ली। पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने पर एक दिन देवदत्त के पास उत्तरमथुरा से उसके माता-पिता का पत्र आया। उस पत्र में लिखा हुआ था – "चिरंजीवीपुत्र ! अब हम दोनों चक्षुविहीन एवं वृद्धावस्था के कारण शिथिलांग हो गये हैं और कराल काल के गाल में जाने ही वाले हैं। हमारी मृत्यु के पहले यदि तुम एक बार आकर हमसे मिल लो तो हमारे हृदय को शान्ति मिल सकेगी।"

अपने वृद्धमाता-पिता का पत्र पढ़ते ही देवदत्त की आंखोंसे अश्रुओं की धाराएं वहने लगीं। वह बार-बार पत्र को पढ़ने लगा और उसका अश्रुप्रवाह वढ़ता ही गया।

अपने पति को दाम्पत्य जीवन में पहली बार इस प्रकार रोते देखकर अन्निका ने उससे शोक का कारण पूछा और उससे किसी प्रकार का उत्तर न मिलने पर अन्निका ने देवदत्त के हाथ से वह पत्र लेकर एक ही सांस में पढ़ डाला। पत्र को पढ़ते ही वह सारी स्थिति को समझ गई। अन्निका तत्काल अपने भाई के पास पहुंची और उसे सब बात समझाकर उसने उत्तर मथुरा जाने की अनुमति प्राप्त करली।

देवदत्त और अन्निका जिस समय अपने सेवकों के साथ उत्तर मथुरा की ओर प्रस्थित हुए, उस समय अन्निका गर्भवती थी। उत्तर मथुरा की ओर यात्रा करते हुए मार्ग में अन्निका ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उत्तर मथुरा पहुंचने पर शिशु के पितामह और पितामही ही इसका नाम रखेंगे, यह सोच कर देवदत्त और अन्निका ने उस शिशु का कोई नाम नहीं रखा। साथ के लोग उसे अन्निकापुत्र कह कर सम्बोधित करने लगे। कुछ ही समय पश्चात् देवदत्त ने अपने घर पहुँच कर अपने वृद्ध माता-पिता को प्रणाम किया और उस शिशु को उनकी गोद में रखते हुए कहा – "विदेश में रहते हुए मैंने जो कुछ अर्जित किया है, वह यह लीजिये।" पौत्र को गले से लगा कर वृद्ध दम्पती अति प्रसन्न हुए और अपना पहले का सव दुःख भूल गये। उन्होंने अपने पौत्र का नाम सन्धीरण (धैर्य बंधाने वाला) रखा पर सवको अन्निकापुत्र सम्वोधन वड़ा प्रिय लगता था अतः वह वालक अन्निकापुत्र के नाम से ही पहचाना जाने लगा। लालन-पालन के साथ-साथ अध्ययन योग्य वय होने पर अन्निकापुत्र को शिक्षा दिलाने का समुचित प्रवन्ध किया गया। सभी विद्याओं में निष्णातता प्राप्त करने के साथ-साथ अन्निकापुत्र ने युवावस्था में प्रवेश किया।

अन्निकापुत्र ने युवावस्था में ही भोगों का विपवत् परित्याग कर आचार्य जयसिंह के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होने के पश्चात् श्रमण

अन्निकापुत्र ने सभी शास्त्रों का समीचीन रूप से अध्ययन किया। निरतिचाररूप से विशुद्ध संयम का पालन करते हुए अन्निकापुत्र ने दुष्कर घोरातिघोर तपश्चरण द्वारा अपने पूर्वसंचित कर्मसमूह को ध्वस्त करना प्रारम्भ किया। आचार्य जयसिंह ने अन्निकापुत्र को सभी भाँति सुयोग्य समझ कर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और उनके दिवंगत होने पर अन्निकापुत्र आचार्य बने।

एक समय वे अपने श्रमणसंघ के साथ विचरण करते हुए गंगातट पर बसी हुई पुष्पभद्रा नगरी में आये। उस समय पुष्पभद्रा नगरी पर पुष्पचूल नामक राजा का शासन था। उसकी रानी का नाम पुष्पचूला था जो कि वस्तुतः उस (पुष्पचूल) के साथ युगल रूप से उत्पन्न हुई उसकी सहोदरा थी। युगल रूप से उत्पन्न हुए उन दोनों बहिन-भाइयों में प्रगाढ़ स्नेह था। उनके पिता महाराज पुष्पकेतु ने अपने पुत्र और पुत्री का प्रगाढ़ स्नेह देख कर लोकनियम के विरुद्ध उनका विवाह कर दिया। इस अनैतिक विवाह सम्बन्ध से दुखित हो पुष्पचूल और पुष्पचूला की माता पुष्पवती ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और अनेक वर्षों तक तपश्चरण करके अन्त में समाधिमरण द्वारा देवत्व प्राप्त किया। राजा पुष्पकेतु की मृत्यु के पश्चात् पुष्पचूल पुष्पभद्रा के राज्य सिंहासन पर बैठा और वे दोनों बहिन-भाई अनेक वर्षों तक पति-पत्नी रूप से दाम्पत्य जीवन बिताने लगे। देवरूप से उत्पन्न हुई पुष्पवती ने पूर्व स्नेहवश सोचा कि इस लोकविरुद्ध वैवाहिक सम्बन्ध और विषयभोगों में आसक्त रहने के कारण पुष्पचूला कहीं नरक में न चली जाय। पुष्पचूला के भावी जीवन को सुधारने की इच्छा से प्रेरित हो उस देव ने पुष्पचूला को स्वप्नों में नरक के दारुण दृश्य दिखाने प्रारम्भ किये। स्वप्न में उन अत्यन्त दुखदायक दृश्यों को देखने के कारण पुष्पचूला अहर्निश कांपती हुई शोकसमुद्र में डूबी रहती। पुष्पचूल द्वारा चिन्ता का कारण पूछने पर पुष्पचूला ने स्वप्न में देखे गये घोर कष्टदायक दृश्यों का विवरण सुनाया। पुष्पचूल ने अनेक प्रकार के शान्तिपाठ करवाये पर देव पुष्पचूला को स्वप्नों में नरक के पहले दिखाये गये दृश्यों से और अधिक भयंकर दृश्य दिखाने लगा। राजा ने अनेक पाखण्डियों को बुला कर पुष्पचूला द्वारा देखे गये स्वप्नों के सम्बन्ध में पूछा पर कोई पुष्पचूला द्वारा देखे गये दृश्यों का यथातथ्यरूपेण चित्रण कर उसकी जिज्ञासा को शान्त करने में समर्थ नहीं हो सका।

अन्निकापुत्र के आगमन का समाचार सुन कर राजा और रानी ने उनसे भी उन स्वप्नों के सम्बन्ध में पूछा। अन्निका पुत्र ने नरकों के नामोल्लेख के साथ-साथ पुष्पचूला द्वारा देखे गये सभी स्वप्नों का ठीक उसी प्रकार से वर्णन किया जिस प्रकार से उसने (पुष्पचूला ने) स्वप्नों में देखा था।

अपने स्वप्नों का बिना किसी न्यूनाधिक्य से वास्तविक चित्रण सुन कर पुष्पचूला ने प्रश्न किया – "भगवन् ! क्या आपने भी कभी इस प्रकार के स्वप्न देखे हैं, जिसके कारण आप उन स्वप्नों का ठीक उसी प्रकार से वर्णन कर रहे हैं, जैसा कि मैंने देखा था ?"

आचार्य अन्निकापुत्र ने कहा – "श्राविके ! मैंने कभी इस प्रकार के स्वप्न नहीं देखे पर बिना देखी हुई बातें भी जिनागमों से देखी हुई के समान मालूम हो जाती हैं। संसार में एक भी ऐसी वस्तु नहीं, जो जैन आगमों के द्वारा नहीं जानी जा सकती हो।"

पुष्पचूला ने प्रश्न किया – "भगवन् ! इस प्रकार के घोर दुःखों से पूर्ण नरकों में जीव किस कारण उत्पन्न होता है ?"

अन्निकापुत्र ने उत्तर दिया – "घोर आरम्भ-परिग्रह, गुरु के प्रति अविनय, मद्य-मांससेवन, द्यूत, परस्त्री-परपुरुष-गमन, विषयासक्ति, पंचेन्द्रियवध आदि पापों के कारण जीव घोरातिघोर नरकों में उत्पन्न हो अनेक प्रकार के दारुण दुःख भोगता है।"

अन्निकापुत्र द्वारा किये गये अपने स्वप्नों के समाधान से पुष्पचूला को पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ और वह अपने राजप्रासाद में लौट गई। उस रात्रि में देव ने उसे स्वर्ग के अत्यन्त मनोहारी एवं असीम आनन्दोत्पादक दृश्य दिखाये।"

प्रातःकाल पुष्पचूला ने अन्निकापुत्र से अपने इन नवीन सुखद स्वप्नों के सम्बन्ध में पूछा। अन्निकापुत्र ने द्वादश देवलोकों, अनुत्तरविमानों आदि के देवों की महर्द्धि, सुदीर्घायु, शक्ति, ऐश्वर्य एवं सुख आदि का वर्णन करते हुए कहा कि अरिहंत, गुरु, साधु और धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति रखने वाले प्राणी के लिये स्वर्गसुखों की प्राप्ति एक साधारण एवं सुसाध्य कार्य है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र से प्राणी समस्त कर्मसमूह को ध्वस्त कर परमपद निर्वाण प्राप्त करता है।

अन्निकापुत्र द्वारा किये गये विवेचन से पुष्पचूला ने संसार का वास्तविक स्वरूप समझ लिया। उसने संसार के घोर दुखों से सदा के लिये अपना उद्धार करने का दृढ़ संकल्प अभिव्यक्त करते हुए अन्निकापुत्र से प्रार्थना की – "भगवन् ! मुझे इस संसार से विरक्ति हो गई है, मैं अपने पति से आज्ञा लेकर आपके पास संयम ग्रहण करूंगी।"

पुष्पचूला ने राजप्रासाद में लौट कर अपने पति के समक्ष अपनी आन्तरिक अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा – "देव ! मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मैं प्रव्रजित हो तपश्चरणपूर्वक संसृति के दुःखों के मूल कारण कर्मसमूह का समूल नाश करूंगी। मुझे आज्ञा दीजिये, मैं प्रव्रजित होना चाहती हूं।"

पुष्पचूल ने अपनी पत्नी के दृढ़निश्चय को देख कर कहा – "मैं तुम्हें उस ही दशा में प्रव्रजित होने की आज्ञा दे सकता हूं जब कि तुम यह प्रतिज्ञा करो कि प्रव्रजित होने के पश्चात् भी तुम इस राजप्रासाद के ही किसी एक स्थान में रहोगी और राजप्रासाद से ही भीक्षा ग्रहण करोगी।"

पुष्पचूला ने अपने पति के उस आग्रह को स्वीकार कर दीक्षा ग्रहण कर ली एवं पूर्णरूपेण निर्दोष श्रमणाचार का पालन करते हुए शास्त्रों का अध्ययन किया और वह राजप्रासाद में रहकर घोर तपश्चर्याएं करने लगी।

कालान्तर में अन्निकापुत्र ने अपने ज्ञान से भावी द्वादशवार्षिक भीषण दुष्काल का आगमन जान कर अपने श्रमणसंघ को अन्यत्र भेज दिया और वे जराजीर्ण शिथिलांग होने के कारण पुष्पभद्रा नगरी में ही रहे।

वृद्धावस्था के कारण अन्निकापुत्र को चलने फिरने में भी कठिनाई होती थी अतः आर्या पुष्पचूला प्रतिदिन राजप्रासाद के अन्तःपुर से निर्दोष आहार-पानी समय पर ला कर देती। संसार की असारता के चिन्तन एवं अपने वृद्ध गुरु अन्निकापुत्र की बड़ी लगन के साथ उत्कट भावना से सेवा करने के फलस्वरूप पुष्पचूला को एक दिन केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। अब तो पुष्पचूला केवलज्ञान की धारिका होने के कारण अन्निकापुत्र के मन में जिस-जिस कार्य अथवा वस्तु के लिये विचार उत्पन्न होता उसे तत्काल पूर्ण कर देती। एक दिन अन्निकापुत्र ने पूछा – "जिस वस्तु की जिस समय मैं इच्छा करता हूं, तत्काल वह वस्तु मुझे मिल जाती है। तुम्हें मेरे मनोगत विचारों का ज्ञान कैसे हो जाता है ?"

पुष्पचूला ने उत्तर दिया – "भगवन् ! मैं आपकी रुचि को पहचानती हूं।"

एक दिन वर्षा हो रही थी, उस समय पुष्पचूला ने आहार ला कर अन्निकापुत्र के समक्ष रखा। उन्होंने कहा – "तुम तो श्रमणाचार को सुचारु रूप से जानने वाली और सम्यक्रूपेण पालन करने वाली हो, फिर इस वर्षा में तुम आहार ले कर कैसे आई ?"

पुष्पचूला ने कहा – "भगवन् ! जिस मार्ग में पानी अचित्त हो गया, उस मार्ग से मैं आहार-पानी लायी हूं। अतः आहार लाने में किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं लगा है।"

"वत्से ! तुमने यह कैसे जान लिया कि उस मार्ग में अप्काय (जल) अचित्त (जीवरहित) हो गया है ?" अन्निकापुत्र ने साश्चर्य प्रश्न किया।

केवली पुष्पचूला ने कहा – "भगवन् ! मुझे केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई है।"

यह सुनते ही अन्निकापुत्र ने पश्चात्ताप भरे स्वर में कहा – "भगवती ! आप मुझे क्षमा करें। मैंने केवलज्ञानी की आसातना की है। मेरा वह पाप निष्फल हो जाय।"

अत्यन्त जिज्ञासापूर्ण स्वर में अन्निकापुत्र ने केवली पुष्पचूला से पूछा – "प्रभो ! मुझे निर्वाण की प्राप्ति होगी अथवा नहीं ?"

केवली पुष्पचूला ने कहा – "आप चिन्ता न करें ! गंगा नदी को पार करते समय आपको केवलज्ञान की प्राप्ति हो जायगी।"

यह सुन कर अन्निकापुत्र केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो गंगा की ओर चल पड़े। गंगातट पर पहुंच कर अन्निकापुत्र भी अन्य लोगों के साथ नाव में बैठे। नाव गंगानदी में प्रवाहित की गई। नाव जब गंगा के मध्य-भाग में पहुंची तो अचानक उस ओर से पानी में डूबने लगी जिस ओर कि अन्निकापुत्र बैठे हुए थे। यह देख कर अन्निकापुत्र नाव में दूसरी ओर बैठे। उनके बैठते ही नाव उस ओर से पानी में डूबने लगी। जिस-जिस ओर अन्निकापुत्र सरकते, नाव उस ही ओर से पानी में डूबने लगती। अन्त में अन्निकापुत्र नाव के बीच में बैठे तो पूरी नाव ही पानी में डूबने लगी। यह देख कर नाव में बैठे हुए अन्य व्यक्तियों ने अन्निकापुत्र को उठा कर गंगा के प्रवाह में फैंक दिया।[1] अन्निकापुत्र शान्तभाव से प्राणिमात्र पर दया रखते हुए विचार करने लगे – "मेरे इस शरीर के द्वारा पानी के कितने जीवों का विनाश हो रहा है ?"

इस प्रकार का विचार करते-करते अन्निकापुत्र का चिन्तन क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुआ और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। केवलज्ञान की प्राप्ति के तत्काल पश्चात् अन्निकापुत्र शुक्लध्यान के तीजे और चौथे चरण में प्रविष्ट हुए और उस ही समय समस्त कर्मों को नष्ट कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

मत्स्य, मच्छ आदि जलचर प्राणियों ने मुनि के पार्थिव शरीर को खा डाला और उनकी करोटी (ठुड्डी सहित कपाल) धड़ से अलग हो गंगा की धाराओं में इधर-उधर वहती हुई गंगा के किनारे एक स्थान पर आ लगी। संयोगवश पाटली वृक्ष का बीज उस करोटी में आ घुसा और कुछ ही समय पश्चात् उस करोटी की दाहिनी हनु (ठुड्डी) को फोड़ कर एक पाटल वृक्ष का छोटा सा पौधा अंकुरित हुआ। वह पौधा समय पाकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर गया। यह वही पाटली का पवित्र वृक्ष है, जिस पर कि यह चाप पक्षी बैठा हुआ है।"

वृद्ध नैमित्तिक से पाटली वृक्ष के सम्बन्ध में सारा विवरण सुन कर अन्य सभी नैमित्तिक आश्चर्यभरी दृष्टि से उस पाटली वृक्ष को देखने लगे।

---

[1] आवश्यक चूर्णि। आवश्यक हारिभद्रीया, पत्र ६८६

(ख) आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि ज्यों ही अन्निकापुत्र को गंगानदी में फैंका गया त्यों ही पूर्वजन्म में वैर रखने वाली एक व्यन्तरी ने उन्हें शूल पर उठा लिया। शूल से विंधे हुए अन्निकापुत्र ने उत्कट भावनाओं के माध्यम से केवलज्ञान प्राप्त किया और तत्काल वे मुक्त हुए।

यथा : ततो नौस्थितलोकेन, सूरिः चिक्षेपि वारिणि।
शूले न्यधात्प्रवचनप्रत्यनीकामरी च तम् ॥१६५॥
शूलप्रोतो पि गंगान्तः सूरिरेवमचिन्तयत्।
अहो वपुर्ममानेकप्राण्युपद्रवकारणम् ॥१६६॥ [परिशिष्टपर्व, सर्ग ६]

तदनन्तर वह विशेषज्ञों का दल मगध की राजधानी के लिये नवीन नगर बसाने हेतु उस स्थान को सर्वश्रेष्ठ स्थान निश्चित कर महाराज उदायी के पास चम्पा पहुंचा। उन लोगों से उस स्थान की विशेषता और महिमा सुन कर मगधपति उदायी बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने मुख्यामात्य को आदेश दिया कि शुभ मुहूर्त में गंगा के तट पर पाटली वृक्ष के पास नगर के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया जाय।

महाराज उदायी के आदेशानुसार इस कार्य से सम्बन्धित मगध के उच्च निर्माण अधिकारी, स्थापत्य एवं वास्तुकला के लब्धप्रतिष्ठ शिल्पी, निमित्तज्ञ और हजारों कर्मकार गंगातट पर पाटली वृक्ष के पास पहुंचे। नगरी के लिये आवश्यक भूमि का माप करना प्रारम्भ किया गया। नाप करने के लिये सांकलें (जरीवें) डाली जाने लगीं। मुख्य नैमित्तिक ने कहा – "डोरी को पकड़े हुए पहले पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर बढ़ो। जब तक शृगाल न बोले तब तक पश्चिम दिशा की ओर बढ़ते ही जाओ। शृगाल के बोलते ही वहां रुक जाओ और फिर पश्चिम दिशा से उत्तर दिशा की ओर बढ़ते जाओ। उत्तर दिशा में भी बढ़ते हुए जिस जगह पहुंचने पर शृगाल की ध्वनि सुनो वहीं रुक जाओ और फिर वहां से पूर्व दिशा की ओर बढ़ो। शृगाल का शब्द सुनते ही पूर्व की ओर बढ़ना भी रोक दो तथा वहां से दक्षिण दिशा की ओर बढ़ना प्रारम्भ करो और शृगाल के बोलते ही वहां रुक जाओ।"

नैमित्तिक के परामर्शानुसार पूर्व से पश्चिम, पश्चिम से उत्तर, उत्तर से पूर्व और अन्त में पूर्व से दक्षिण की ओर डोरी डालने वाले बढ़े। शृगाल के बोलते ही उस दिशा की ओर बढ़ना बन्द कर उपरिवर्णित दिशाक्रम से बढ़ते गये और इस प्रकार नगर बसाने के लिए एक सुविस्तीर्ण भूखण्ड का माप किया जाकर उस पर चारों ओर चिन्ह अंकित कर दिये एवं नगर-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। उस नगर के निर्माण में छोटे-से-छोटे कर्मकार से लेकर बड़े-से-बड़े शिल्पी ने अथक श्रम, अद्भुत कला-कौशल, और उत्कट कर्त्तव्यपरायणता का परिचय दिया। विस्तीर्ण राजपथों, सुन्दर मुख्य मार्गों, सीधे उपमार्गों, गगनचुम्बी राजप्रासादों, भव्य भवनों, विशाल व्यापारिक केन्द्रों, अति सुरम्य अतिथिगृहों, आकर्षक बाजारों, स्थान-स्थान पर वापियों, कूपों, तड़ागों एवं वाटिकाओं आदि से सुशोभित अति कमनीय नगरी का निर्माण पूरा हुआ। शुभ मुहूर्त में उदायी ने उस नगर का नाम पाटलीपुत्र रखा और मगध की राजधानी चम्पा से हटाकर इसी पाटलीपुत्र में प्रतिष्ठापित की।

सोन नदी और गंगा नदी के संगम स्थल के पास गंगा नदी के दक्षिणी तट पर पाटलीपुत्र नामक यह नगर मगधपति उदायी ने अपने राज्यकाल के चौथे वर्ष में बनवाया, इस प्रकार का उल्लेख वायुपुराण में किया गया है। यथा –

अष्टाविंशत्समा राजा बिम्बिसारो भविष्यति।
पंचविंशत्समा राजा दर्शकस्तु भविष्यति ॥१७७॥

उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः ।
स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयं ।
गंगाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति ।।१७८।।[वा० पु० अ० ६१]

जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों, वैदिक परम्परा के पुराणग्रन्थों और गर्ग संहिता में यही अभिमत सर्वसम्मत रूप से दिया गया है कि मगधपति उदायी, उदयाश्व अथवा उदाई भट्ट ने पाटलीपुत्र नगर बसाया। वायुपुराण में कूणिक का दर्शक के नाम से परिचय दिया गया है।

अशोक की राज्य-सभा में यूनान की ओर से मेगेस्थनीज नामक राजदूत कई वर्षों तक पाटलीपुत्र में रहा। उसने ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में पाटलीपुत्र का वर्णन करते हुए लिखा है :

"पाटलीपुत्र नगर का आवासस्थल ८० स्टुडिया अर्थात् ९½ माइल लम्बा, १५ स्टुडिया अर्थात् १ माइल और १२७० गज चौड़ा है। इसके चारों ओर लकड़ी का एक बड़ा सुदृढ़ परकोटा बना हुआ है जिसमें ५७० कोठे, (बुर्जे) और ६४ दरवाजे बने हुए हैं। इस परकोटे को चारों ओर से घेरे हुए एक खाई है, जो ६० फीट गहरी और २०० गज चौड़ी है।"

वर्तमान में परिवर्तित रूप से पाटलीपुत्र आज भी विद्यमान है, जिसको पटना कहते हैं।

जो कोई भी नवागन्तुक पाटलीपुत्र को देखता, उसके मुख से सहसा यही उद्‌गार निकल पड़ते – "अरे ! यह तो असीम आकाश में अवस्थित सुरलोक की राजधानी अलकापुरी ही अवनीतल पर अवतरित हो गई है।"

इस प्रकार स्वल्प समय में ही पाटलीपुत्र की ख्याति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई। देश-देशान्तरों से बड़े-बड़े लक्ष्मीपति श्रेष्ठी, उद्योगपति, समस्त विद्याओं के पारगामी विद्वान्, ज्योतिर्विद, साहित्यिक, आयुर्वेद-विशारद, वैयाकरणी, सामन्त, शिल्पी और कलाकार आदि आ-आ कर पाटलीपुत्र के स्थायी निवासी बनने लगे।

महाराज उदायी द्वारा पाटलीपुत्र को मगध की राजधानी बनाये जाने के पश्चात् पाटलीपुत्र भारतवर्ष का एक प्रमुख, सुन्दर, समृद्ध और अजेय नगर समझा जाने लगा। शनैः शनैः पाटलीपुत्र उद्योग, व्यापार, कलाकौशल, संस्कृति, शिक्षा और धर्म का एक बहुत महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। उदायी ने स्वयं द्वारा बसाये गये इस नगर की श्री-अभिवृद्धि में किसी प्रकार की कोर-कसर न रखी। वह पाटलीपुत्र में रहते हुए न्याय, नीति और धर्मपूर्वक शासन करने लगे। उन्होंने अपनी मन्त्रिपरिषद, माण्डलिक राजाओं, सामन्तों, विद्वानों, विशेषज्ञों और महापौरों के परामर्श से सभी वर्गों के लोगों के लिये सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं का समुचित रूप से यथासमय प्रबन्ध कर पाटलीपुत्र की बहुमुखी प्रगति करने में बड़ी तत्परता से कार्य किया। उदायी बड़ा दुर्धर्ष योद्धा, नीति-निपुण और कुशल शासक था। उसने उद्दण्ड सामन्तों और युद्धप्रिय राजाओं को

युद्ध में पराजित कर मगध के विशाल राज्य को निष्कंटक-शत्रुविहीन बना कर प्रजा को सुशासन दिया।

कुशल राजनीतिज्ञ एवं सुयोग्य शासक होने के साथ-साथ उदायी बड़े ही धर्मनिष्ठ थे। उनके हृदय में जैनधर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा थी। वे प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी के दिन नियमित रूप से पौषध किया करते थे।

अपने शासन को सुदृढ़ बनाने हेतु उन्होंने अनेक उद्धत राजाओं एवं सामन्तों की सैन्यशक्ति को विच्छिन्न कर उन्हें राज्यच्युत किया। एक समय अपने वशवर्ती इसी प्रकार के एक उद्दण्ड राजा द्वारा उनके प्रति किये गये विद्रोह को दबाने के लिये उदायी ने उसके राज्य पर आक्रमण किया। युद्ध में वह विद्रोही राजा बुरी तरह पराजित हुआ और इसी शोक से कुछ ही समय पश्चात् उसका प्राणान्त हो गया। उस मृत विद्रोही राजा का बड़ा राजकुमार अपने पिता की मृत्यु और राज्य छिन जाने से क्रुद्ध हो उदायी से बदला लेने की सोचने लगा। भीषण प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो वह उज्जयिनी गया। उस समय उज्जयिनी में चण्डप्रद्योत के पौत्र का राज्य था।

चण्ड प्रद्योत और श्रेणिक के समय से ही मगध और मालवा के राजवंशों में परस्पर शत्रुता एवं स्पर्धापूर्ण सम्बन्ध चले आ रहे थे। अतः राजकुमार ने मालवपति की सेवा में उपस्थित हो उदायी से प्रतिशोध लेने का अपना संकल्प प्रकट किया। उदायी जैसे प्रबल प्रतापी एवं शक्तिशाली राजा के साथ खुले रूप में टक्कर लेने का मालवपति साहस न कर सका और उसने केवल मौखिक सहानुभूति प्रकट करते हुए उसे यह कह कर विदा किया कि उपयुक्त अवसर आने पर ही कुछ किया जा सकता है।

विद्रोही राजकुमार के हृदय में प्रतिशोध की अग्नि प्रचण्ड वेग से प्रज्वलित हो रही थी। उचित अवसर की प्रतीक्षा करने का उसमें धैर्य नहीं रहा अतः वह राजकुमार छद्म वेष में पाटलिपुत्र पहुंचा और महाराजा उदायी पर कपट-पूर्वक प्राणघातक प्रहार करने की अन्तर में दुराशा छुपाये रात-दिन किसी उपयुक्त अवसर की टोह में रहने लगा। विद्रोही राजकुमार ने उदायी के प्राणों से अपनी प्यास बुझाने के मार्ग में सभी प्रकार के छल-छद्म का सहारा लिया किन्तु राजकीय सुदृढ़ रक्षा व्यवस्था के कारण उसे अपने उद्देश्य की पूर्त्ति में किंचित्मात्र भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। अपनी असफलता पर हताश होने के स्थान पर वह प्रतिशोध लेने के लिये दिन प्रतिदिन और अधिक उत्तेजित रहने लगा। अहर्निश इस उधेड़-बुन में रहते-रहते अन्ततोगत्वा उसने अपनी उद्देश्यपूर्त्ति के लिये एक जघन्य उपाय ढूंढ़ निकाला।

उसने देखा कि उदायी जैन साधुओं का अनन्य भक्त है। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी को वह अपनी पौषधशाला में श्रमणों को आमन्त्रित करता है और उनसे पौषध ग्रहण कर अहर्निश उनकी सेवा में रहता है। श्रमणों पर

पूर्ण विश्वास होने के कारण सुरक्षा व्यवस्था उन दिनों में केवल पौषधशाला के बाहर ही रहती है । पौषधशाला के अभ्यन्तर कक्ष में किसी प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था नहीं रहती । अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये इस विद्रोही राजकुमार ने एक आचार्य की सेवा में उपस्थित हो निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण की । अपने अन्तर में प्रतिशोध की आग को गुप्त रखते हुए वह प्रकट में सभी प्रकार के श्रमणाचार का समीचीन रूप से पालन करने लगा । विनय, परिचर्या आदि गुणों के कारण वह स्वल्प समय में ही सब साधुओं का विश्वासपात्र और प्रीतिभाजन बन गया ।

इस प्रकार उस विद्रोही राजकुमार को श्रमणाचार का पालन करते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गये । विविध क्षेत्रों में विहार करते हुए जैनाचार्य एक दिन पाटलीपुत्र नगर में पधारे । अष्टमी के दिन उदायी ने उन आचार्य को राजप्रासाद में अवस्थित अपनी पौषधशाला में उपदेश देने के लिये प्रार्थना की । उदायी की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए उन आचार्य महाराज ने अपने उस छद्मवेषधारी शिष्य को उपकरणादि ले कर राजप्रासाद में चलने के लिये कहा । अपने चिर-प्रतीक्षित कार्य की सिद्धि का समय सन्निकट आया समझ कर वह छद्मवेषधारी शिष्य मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने अन्य उपकरणों के साथ-साथ अपनी दीक्षा के समय से ही छुपाकर साथ में रखी हुई कंकलोहनिर्मित छुरी भी अपने साथ रख ली और वह अपने धर्माचार्य का पदानुसरण करता हुआ राजप्रासाद में पहुंच गया । उदायी ने भक्तिपूर्वक आचार्य और उनके शिष्य को सविधि वन्दन कर पौषधव्रत ग्रहण किया । आचार्य श्री ने राजकीय पौषधशाला में प्रवचन दिये । दिन भर उदायी ने आचार्य महाराज की सेवा में रह कर उनसे धर्मचर्चा की । रात्रि में भी एक प्रहर तक धर्मचर्चा का क्रम चलता रहा । तदन्तर अपने शिष्य सहित धर्माचार्य और महाराजा उदायी ने पौषधशाला में ही शयन किया । महाराजा उदायी और आचार्य को निद्राधीन समझ कर वह छद्मवेषधारी साधु चुपके से उठा और बड़ी सावधानी से उदायी के पास आया । उसने १२ वर्ष पूर्व अपने पास छुपा कर रखी हुई तीक्ष्ण छुरी को दाहिने हाथ में दृढ़तापूर्वक पकड़ा और उससे उदायी की गर्दन काट दी । उदायी की हत्या करने के पश्चात् वह साधु वेषधारी विद्रोही राजकुमार पौषधशाला से बाहर निकला । "यह साधु शारीरिक शंका की निवृत्ति हेतु बाहर जा रहा होगा" यह समझ कर द्वारपालों ने उसे नहीं रोका और इस प्रकार वह उदायी का हत्यारा पाटलीपुत्र से भाग निकलने में सफल हुआ ।

उदायी के धड़ और मस्तक से बहे रुधिर से आर्द्र होने पर आचार्य की निद्रा भंग हुई । उदायी की कटी हुई ग्रीवा के पास ही लहू से लथपथ छुरी और अपने शिष्य की अनुपस्थिति को देख कर उन्हें वस्तुस्थिति को समझने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ । उन्हें तत्काल विश्वास हो गया कि उनके शिष्य के वेष में वस्तुतः उदायी का कोई घोर शत्रु छुपा हुआ था और वह उदायी की हत्या करने के पश्चात् वहां से पलायन कर गया है । जिनशासन और जिनवाणी की अपकीर्ति

से बचाने के लिये उन्होंने तत्काल अपना प्राणान्त करने का निश्चय किया। आलोचना-प्रतिक्रमण करके आचार्य महाराज ने उदायी के हत्यारे द्वारा घटना-स्थल पर छोड़ी गई छुरी से अपना मस्तक काट कर अपना प्राणान्त कर लिया।[1] इस प्रकार आवश्यक चूर्णि, आवश्यक वृत्ति, परिशिष्ट पर्व आदि प्राचीन ग्रंथों के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण संवत् ६० में, आर्य जम्बूस्वामी के संघाधिनायकत्व काल में ही शिशुनागवंश के अन्तिम राजा संततिविहीन उदायी की हत्या के साथ ही मगध राज्य पर शिशुनागवंश का आधिपत्य समाप्त हो गया। उदायी का हत्यारा विद्रोही राजकुमार साधुवेष का परित्याग कर उज्जयिनी के अधीश्वर के पास पहुंचा और उसे स्वयं द्वारा की गई उदायी की हत्या का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उज्जयिनी के महाराजा ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा – "बारह वर्ष की लम्बी अवधि तक महान् आचार्य की सेवा में रहते हुए श्रमणाचार के पालन करने के अनन्तर भी तुम्हारी पाशविक मनोवृत्ति में किंचित्मात्र भी परिवर्तन नहीं आया, इससे सिद्ध होता है कि तुम एकान्ततः अविश्वसनीय नराधम हो। तुम यथाशीघ्र मेरी राज्य-सीमा से बाहर निकल जाओ।"

अवन्तीपति द्वारा तिरस्कृत हो कर वह विद्रोही राजकुमार वहां से चला गया। वह जहां कहीं जाता लोगों द्वारा यह कह कर दुत्कारा जाता कि यह उदायीमारक है।

अनेक इतिहासज्ञों द्वारा आशंका प्रकट की जाती है कि कौशाम्बी के राजा उदयन के जीवन की अन्तिम घटना को मगधपति उदायी के साथ किसी समय भ्रान्तिवश अथवा भूल से जोड़ दिया गया है। उनका अभिमत है कि वत्सपति उदयन पुत्र विहीन था और उसके किसी शत्रु ने साधु का छद्मवेष धारण कर उसकी हत्या की थी। मगधपति उदायी न तो पुत्र विहीन ही था और न उसकी किसी के द्वारा हत्या ही की गई थी। वस्तुतः यह एक गहन शोध का विषय है। भारतीय वाङ्मय से भिन्न 'महावंशों' के एतद्विषयक कतिपय उल्लेखों से इस प्रश्न की जटिलता और भी बढ़ गई है।

नन्दवंश का अभ्युदय

प्रायः श्वेताम्बर परम्परा के आवश्यक चूर्णि आदि सभी ग्रन्थों में नन्दवंश के अभ्युदय के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से उल्लेख उपलब्ध होता है :–

मगधपति महाराजा उदायी की हत्या से कुछ समय पूर्व वेश्या के गर्भ से उत्पन्न पाटलिपुत्र निवासी नन्द नामक एक नापित पुत्र ने रात्रि की अवसान वेला में स्वप्न देखा कि उसने अपनी आंतों से समस्त पाटलिपुत्र नगर को परिवेष्टित कर लिया है। नन्द ने प्रातःकाल होते ही अपने उपाध्याय को अपना स्वप्न

---

[1] रुहिरेण आयरिया पच्चालिया, उट्ठिया, पेच्छंति तायागुणं वावाइयं, मा पवयणस्स उड्डाहो होहित्ति आलोइय पडिक्कंतो अप्पणो सीसं छिंदेई, कालगओ से एवं।

[आवश्यक हारिभद्रीया, पत्र ६९०]

पूर्ण विश्वास होने के कारण सुरक्षा व्यवस्था उन दिनों में केवल पौषधशाला के बाहर ही रहती है। पौषधशाला के अभ्यन्तर कक्ष में किसी प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था नहीं रहती। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये इस विद्रोही राजकुमार ने एक आचार्य की सेवा में उपस्थित हो निर्ग्रंथ-दीक्षा ग्रहण की। अपने अन्तर में प्रतिशोध की आग को गुप्त रखते हुए वह प्रकट में सभी प्रकार के श्रमणाचार का समीचीन रूप से पालन करने लगा। विनय, परिचर्या आदि गुणों के कारण वह स्वल्प समय में ही सब साधुओं का विश्वासपात्र और प्रीतिभाजन बन गया।

इस प्रकार उस विद्रोही राजकुमार को श्रमणाचार का पालन करते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गये। विविध क्षेत्रों में विहार करते हुए जैनाचार्य एक दिन पाटलीपुत्र नगर में पधारे। अष्टमी के दिन उदायी ने उन आचार्य को राजप्रासाद में अवस्थित अपनी पौषधशाला में उपदेश देने के लिये प्रार्थना की। उदायी की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए उन आचार्य महाराज ने अपने उस छद्मवेषधारी शिष्य को उपकरणादि ले कर राजप्रासाद में चलने के लिये कहा। अपने चिर-प्रतीक्षित कार्य की सिद्धि का समय सन्निकट आया समझ कर वह छद्मवेषधारी शिष्य मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अन्य उपकरणों के साथ-साथ अपनी दीक्षा के समय से ही छुपाकर साथ में रखी हुई कंकलोहनिर्मित छुरी भी अपने साथ रख ली और वह अपने धर्माचार्य का पदानुसरण करता हुआ राजप्रासाद में पहुंच गया। उदायी ने भक्तिपूर्वक आचार्य और उनके शिष्य को सविधि वन्दन कर पौषधव्रत ग्रहण किया। आचार्य श्री ने राजकीय पौषधशाला में प्रवचन दिये। दिन भर उदायी ने आचार्य महाराज की सेवा में रह कर उनसे धर्मचर्चा की। रात्रि में भी एक प्रहर तक धर्मचर्चा का क्रम चलता रहा। तदन्तर अपने शिष्य सहित धर्माचार्य और महाराजा उदायी ने पौषधशाला में ही शयन किया। महाराजा उदायी और आचार्य को निद्राधीन समझ कर वह छद्मवेषधारी साधु चुपके से उठा और बड़ी सावधानी से उदायी के पास आया। उसने १२ वर्ष पूर्व अपने पास छुपा कर रखी हुई तीक्ष्ण छुरी को दाहिने हाथ में दृढ़तापूर्वक पकड़ा और उससे उदायी की गर्दन काट दी। उदायी की हत्या करने के पश्चात् वह साधु वेषधारी विद्रोही राजकुमार पौषधशाला से बाहर निकला। "यह साधु शारीरिक शंका की निवृत्ति हेतु बाहर जा रहा होगा" यह समझ कर द्वारपालों ने उसे नहीं रोका और इस प्रकार वह उदायी का हत्यारा पाटलीपुत्र से भाग निकलने में सफल हुआ।

उदायी के धड़ और मस्तक से बहे रुधिर से आर्द्र होने पर आचार्य की निद्रा भंग हुई। उदायी की कटी हुई ग्रीवा के पास ही लहू से लथपथ छुरी और अपने शिष्य की अनुपस्थिति को देख कर उन्हें वस्तुस्थिति को समझने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ। उन्हें तत्काल विश्वास हो गया कि उनके शिष्य के वेश में वस्तुतः उदायी का कोई घोर शत्रु छुपा हुआ था और वह उदायी की हत्या करने के पश्चात् वहां से पलायन कर गया है। जिनशासन और जिनवाणी की अपकीर्ति

से बचाने के लिये उन्होंने तत्काल अपना प्राणान्त करने का निश्चय किया। आलोचना-प्रतिक्रमण करके आचार्य महाराज ने उदायी के हत्यारे द्वारा घटना-स्थल पर छोड़ी गई छुरी से अपना मस्तक काट कर अपना प्राणान्त कर लिया।[1] इस प्रकार आवश्यक चूर्णि, आवश्यक वृत्ति, परिशिष्ट पर्व आदि प्राचीन ग्रंथों के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण संवत् ६० में, आर्य जम्बूस्वामी के संघाधिनायकत्व काल में ही शिशुनागवंश के अन्तिम राजा संततिविहीन उदायी की हत्या के साथ ही मगध राज्य पर शिशुनागवंश का आधिपत्य समाप्त हो गया। उदायी का हत्यारा विद्रोही राजकुमार साधुवेष का परित्याग कर उज्जयिनी के अधीश्वर के पास पहुंचा और उसे स्वयं द्वारा की गई उदायी की हत्या का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उज्जयिनी के महाराजा ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा – "बारह वर्ष की लम्बी अवधि तक महान् आचार्य की सेवा में रहते हुए श्रमणाचार के पालन करने के अनन्तर भी तुम्हारी पाशविक मनोवृत्ति में किंचित्मात्र भी परिवर्तन नहीं आया, इससे सिद्ध होता है कि तुम एकान्ततः अविश्वसनीय नराधम हो। तुम यथाशीघ्र मेरी राज्य-सीमा से बाहर निकल जाओ।"

अवन्तीपति द्वारा तिरस्कृत हो कर वह विद्रोही राजकुमार वहां से चला गया। वह जहां कहीं जाता लोगों द्वारा यह कह कर दुत्कारा जाता कि यह उदायीमारक है।

अनेक इतिहासज्ञों द्वारा आशंका प्रकट की जाती है कि कौशाम्बी के राजा उदयन के जीवन की अन्तिम घटना को मगधपति उदायी के साथ किसी समय भ्रान्तिवश अथवा भूल से जोड़ दिया गया है। उनका अभिमत है कि वत्सपति उदयन पुत्र विहीन था और उसके किसी शत्रु ने साधु का छद्मवेष धारण कर उसकी हत्या की थी। मगधपति उदायी न तो पुत्र विहीन ही था और न उसकी किसी के द्वारा हत्या ही की गई थी। वस्तुतः यह एक गहन शोध का विषय है। भारतीय वाङ्मय से भिन्न 'महावंशों' के एतद्विषयक कतिपय उल्लेखों से इस प्रश्न की जटिलता और भी बढ़ गई है।

नन्दवंश का अभ्युदय

प्रायः श्वेताम्बर परम्परा के आवश्यक चूर्णि आदि सभी ग्रन्थों में नन्दवंश के अभ्युदय के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से उल्लेख उपलब्ध होता है :-

मगधपति महाराजा उदायी की हत्या से कुछ समय पूर्व वेश्या के गर्भ से उत्पन्न पाटलिपुत्र निवासी नन्द नामक एक नापित पुत्र ने रात्रि की अवसान वेला में स्वप्न देखा कि उसने अपनी आंतों से समस्त पाटलिपुत्र नगर को परिवेष्टित कर लिया है। नन्द ने प्रातःकाल होते ही अपने उपाध्याय को अपना स्वप्न

---

[1] रुहिरेण आयरिया पच्चालिया, उट्ठिया, पेच्छंति रायाणगं वावाइयं, मा पवयणस्स उड्डाहो होहित्ति आलोइय पडिक्कंतो अप्पणो सीमं छिंदेइ, कालगओ य एवं।

[आवस्सय हारिभद्रीया, पत्र ६९०]

सुनाया। उपाध्याय स्वप्नशास्त्र का मर्मज्ञ था। नन्द के मुख से उसके स्वप्नदर्शन की बात सुनकर वह उसे अपने घर ले गया। वहां उसने नन्द को नहला-धुला एवं सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। उपाध्याय की पुत्री के साथ पाणिग्रहण संस्कार होने के उपरान्त नन्द उपाध्याय के घर पर ही रहने लगा। उपाध्याय ने नन्द के लिये एक सुन्दर पालकी का प्रबन्ध कर दिया, जिसमें बैठकर नन्द अपनी इच्छानुसार नगर में परिभ्रमण करने लगा।

मगधपति उदायी के कोई पुत्र नहीं था, इसलिये उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी के रूप में, किसको मगध के राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त किया जाय, यह प्रश्न मंत्रियों एवं अधिकारियों के समक्ष उपस्थित हुआ। बड़े विचार-विनिमय के पश्चात् मन्त्रियों द्वारा उदायी के पट्टहस्ती, प्रमुख अश्व, छत्र, कुम्भकलश और चंवरों को मन्त्राभिषिक्त किया गया एवं उन्हें राज्यप्रासाद की परिधि में घुमाया जाने लगा। कुछ समय तक प्रासाद के प्रांगण में घुमाने के पश्चात् पट्टहस्ती, प्रधान अश्व आदि पांचों दिव्य प्रासाद के बाहर आये। पालकी में आसीन नन्द को उधर से निकलते हुए देखकर पट्टहस्ती ने चिंघाड़ते हुए अपनी सूंड से कुम्भकलश को उठाकर उसके जल से नन्द का अभिषेक कर दिया। प्रधानाश्व भी नन्द के पास पहुंचा और नन्द को उसने अपनी पीठ पर बैठा लिया। ज्योंही नन्द उस प्रधानाश्व की पीठ पर बैठा त्योंही वह प्रधानाश्व हर्षातिरेक-वशात् बड़े जोर-जोर से हिनहिनाने लगा। उदायी का राजछत्र भी स्वतः ही नन्द के मस्तक पर तन गया और नन्द के दोनों ओर मन्त्राधिष्ठित वे दोनों चामर स्वतः ही अदृश्य शक्ति से प्रेरित हो व्यजित होने लगे।

यह सब चमत्कार देखकर अमात्यों, मन्त्रियों, प्रमुख पौरों एवं नागरिकों ने मिलकर बड़े आनन्दोल्लास एवं उत्सव के साथ नन्द का मगध के राज्यसिंहासन पर राज्याभिषेक कर दिया। नन्द का मगध के सिंहासन पर यह राज्याभिषेक वीर निर्वाण के पश्चात् ६० वर्ष व्यतीत हो जाने पर वीर नि० सं० ६१ में हुआ।[1] प्रारम्भ में नन्द के सामन्तों, द्वारपालों और अंगरक्षकों तक ने उसे नापितपुत्र समझकर उसका सम्मान, आज्ञापालन आदि नहीं किया किन्तु कुछ ही समय में उसके प्रबल पुण्य के प्रताप से वे सभी उसकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरशः पालन करने लगे। राजा नन्द किसी सुयोग्य एवं विश्वासपात्र व्यक्ति को अपने कुमारा-मात्य के पद पर नियुक्त करना चाहता था। अतः वह रातदिन किसी ऐसे व्यक्ति की खोज में रहने लगा।

महान् अमात्य वंश का उद्भव

पाटलिपुत्र नगर में मगध की राजधानी स्थानान्तरित हो जाने के अनन्तर कपिल नामक एक विद्वान् एवं अग्निहोत्री ब्राह्मण अपनी गृहिणी के साथ पाटलि-

---

[1] अनन्तरं वर्द्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात्।
गतायां षष्टिवत्सर्यामेष नन्दोऽभवन्नृपः ॥२४३॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६]

पुत्र नगर में आया और वह उस नगर से कुछ ही दूर पर घर बनाकर वहां निवास करने लगा। कालान्तर में एक स्थविर मुनि अपने शिष्यों सहित विचरण करते हुए कपिल ब्राह्मण के निवासस्थान पर पहुंचे। उस समय सूर्यास्त होने ही वाला था इसलिये वे मुनि कपिल से आज्ञा प्राप्त कर अपने शिष्यों सहित उसकी यज्ञशाला में रात्रिविश्राम के लिये ठहर गये।

कपिल के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ये जैन साधु धर्म के गूढ़ रहस्य और तत्वों के ज्ञाता हैं या नहीं। वह रात्रि के समय उनके पास पहुंचा और उसने उन मुनि के साथ धर्मचर्चा प्रारम्भ की। मुनि के मुख से जीव, अजीवादि तत्वों और धर्म की अश्रुतपूर्व विशद व्याख्या सुनकर वह मुनि-चरणों में श्रद्धावनत हो गया और उन्हें अपना गुरु बनाकर उसने उनसे श्रमणोपासक धर्म अंगीकार कर लिया।[1] दूसरे दिन वे मुनि वहां से विहार कर अन्यत्र विचरण करने लगे।

कपिल द्वारा श्रावकधर्म स्वीकार किये जाने के कुछ ही समय पश्चात् एक अन्य आचार्य विहारक्रम से विचरण करते हुए वहां पहुंचे और कपिल से अनुज्ञा प्राप्त कर उसके घर में ठहरे। दूसरे ही दिन कपिल की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उस नवजात शिशु को व्यन्तरियों ने अपने प्रभाव से अभिभूत कर निश्चेष्ट कर दिया। कपिल जैन साधुओं के तप, त्याग एवं तेजस्विता से बड़ा प्रभावित था। उसने अपने उस निस्संज्ञ पुत्र को उठाकर साधुओं द्वारा सुखाने के लिये उल्टे रखे गये एक पात्र के नीचे रख दिया। उन तपोधन महर्षियों के पात्रजल के स्पर्शमात्र से ही शिशु व्यन्तरियों के दुष्ट प्रभाव से सदा के लिये विमुक्त हो पूर्णरूपेण स्वस्थ हो गया। मुनियों द्वारा कल्प किये जाने वाले पात्रों के जल के प्रभाव से उस शिशु की जीवन-रक्षा हुई, इस स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये कपिल ने अपने उस पुत्र का नाम कल्पाक रखा। कल्पाक ने अपने पिता से समस्त विद्याओं एवं जैनागमों का अध्ययन किया। कालान्तर में कल्पाक के माता और पिता का देहान्त हो गया।

कल्पाक अपने समय का एक उच्च कोटि का विद्वान् था। उसके घर पर विभिन्न विषयों के विद्यार्थियों की भीड़ रहने लगी। कल्पाक जब नगर में जाता तो उसके पीछे उसके शिष्यों की भीड़ लग जाती। पाटलिपुत्र के निवासी कल्पाक का बड़ा सम्मान करते थे। अपने पिता द्वारा प्राप्त श्रावक धर्म के संस्कारों के कारण कल्पाक बड़ा संतोषी विद्वान् था। धन-सम्पत्ति के संग्रह करने का कभी कोई विचार तक भी उसके मन में उत्पन्न नहीं हुआ। अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कर लेने की प्रार्थनाएं कल्पाक से कीं पर कल्पाक ने विवाह करना स्वीकार नहीं किया।

---

[1] तस्यामेव हि तामस्यां धर्मदेशनया तया।
श्रावकः कपिलो जज्ञेऽथाचार्या ययुरन्यतः ॥१३॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ७]

कल्पाक जिस मार्ग द्वारा अपने घर से पाटलिपुत्र नगर में जाता-आता था, उस ही मार्ग पर एक ब्राह्मण रहता था। उसकी एक कन्या जलोदर रोग से ग्रस्त थी अतः अनिन्द्य सुन्दरी होते हुए भी किसी ब्राह्मण कुमार ने उसके साथ विवाह करना स्वीकार नहीं किया। उस कन्या के रजस्वला होने पर ब्राह्मण बड़ा चिन्तित हुआ और अपने आपको भ्रूण हत्या करने वाले अपराधी के तुल्य पापी समझते हुए अपनी कन्या के विवाह का कोई उपाय सोचने लगा। बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसे एक उपाय सूझा। उसने अपने घर के सम्मुख मार्ग के पास ही कूपतुल्य एक गड्ढा खोदा और कल्पाक को इस मार्ग से आते देखकर उसने अपनी कन्या को उस गड्ढे में ढकेल दिया और जोर-जोर से चिल्लाने लगा – "जो व्यक्ति मेरी कन्या को इस गहरे गड्ढे में से निकालेगा उस ही को मैं अपनी यह कन्या दे दूंगा।"

कल्पाक कन्या के गड्ढे में गिर पड़ने की बात सुनते ही दौड़ कर गड्ढे के पास गया। उस ब्राह्मण के अन्तिम वाक्य को कल्पाक ने नहीं सुना। वह दया से द्रवीभूत हो गड्ढे में उतरा और उस कन्या को पकड़ कर गड्ढे से बाहर ले आया। ब्राह्मण ने कल्पाक से कहा – "मैंने उच्च-स्वर में कहा था कि जो इस कन्या को इस कूपिका से निकालेगा उस ही को मैं यह कन्या दूंगा। मेरी उस प्रतिज्ञा को सुन कर आपने इसे निकाला है अतः आप इसके साथ पाणिग्रहण कीजिये। आप सत्यसन्ध हैं।" कल्पाक उस ब्राह्मण की बात सुन कर अवाक् खड़ा का खड़ा रह गया। अन्ततोगत्वा विवाह करने की इच्छा न होते हुए भी उसे उस ब्राह्मण-कन्या के साथ विवाह करने की स्वीकृति देनी पड़ी। सकल विद्यानिष्णात कल्पाक ने आयुर्वेदिक औषधियों के प्रयोग से उस ब्राह्मण कन्या को जलोदर रोग से विमुक्त कर उसके साथ विवाह कर लिया।

कल्पाक की विद्वत्ता और प्रत्युत्पन्नमती सम्बन्धी यशोगाथाएं सुन कर महाराज नन्द ने उसे अपना कुमारामात्य बनाने का निश्चय कर अपने पास बुलाया और उसे मगध राज्य के प्रधानामात्य का पद स्वीकार करने की प्रार्थना की। कल्पाक ने नन्द की प्रार्थना को अस्वीकृत करते हुए कहा – "राजन्! समय पर दो रोटी के अतिरिक्त मुझे और किसी प्रकार का परिग्रह बढ़ाने की इच्छा नहीं है। महत्वाकांक्षाओं से विहीन मेरे जैसे धर्मभीरु व्यक्तियों के लिये अमात्य जैसे गुरुतर पद के कर्त्तव्यों का निर्वहन करना सम्भव नहीं। अतः आप मुझे क्षमा प्रदान कीजिये, मैं इस पद को ग्रहण करने में असमर्थ हूं।"

कल्पाक द्वारा अपनी आज्ञा की अवहेलना से नन्द को बड़ा क्षोभ हुआ और वह उसे अपनी इच्छानुसार अपना आज्ञावर्ती अमात्य बनाने के लिये अहर्निश कल्पाक में किसी प्रकार के छिद्र का अन्वेषण करने में प्रयत्नशील रहने लगा। बहुत प्रयास करने पर भी नन्द उस स्वल्पसन्तोषी निरभिलाषी कल्पाक में किसी प्रकार का दोष न पा सका। बहुत सोच-विचार के पश्चात् नन्द ने अपने रजक

(रंगरेज) से पूछा – "तुम्हारे ही घर की ओर कल्पाक पण्डित रहता है। वह तुमसे कभी अपने वस्त्र रंगवाता है अथवा नहीं ?"

रंजक ने सांजलि शीश झुकाते हुए उत्तर दिया – "पृथ्वीनाथ ! वे अपने घर के वस्त्र मुझ से ही रंगवाया करते हैं।"

नन्द ने आज्ञासूचक स्वर में कहा – "अब जब कभी वह तुम्हें वस्त्र रंगने के लिये दे तो उन वस्त्रों को उसे लौटाना मत।"

"जो आज्ञा महाराज !" कह कर रंजक ने नन्द की आज्ञा को शिरोधार्य किया और वह वहां से अपने घर चला गया।

एक दिन कौमुदी महोत्सव का समय समीप आया समझ कर कल्पाक की पत्नी ने अपने पति से कहा – "कान्त ! मेरे इन बहुमूल्य वस्त्रों को आप राजा के रंजक से रंगवा दीजिये।"

कल्पाक ने पहले तो यह सोच कर अपनी पत्नी की बात की उपेक्षा की कि त्यौहार के दिनों में राजमान्य रंजक किराये के लोभ में किसी अन्य को वे सुन्दर वस्त्र दे सकता है किन्तु वह अपनी पत्नी के आग्रहपूर्ण अनुरोध को टाल न सका और अन्त में उसने अपनी पत्नी के वस्त्र उस राज-रंजक को रंगने हेतु दे दिये।

उत्सव के दिन कल्पाक रंजक के घर पर गया और उससे वस्त्र मांगे। राजाज्ञा का अनुपालन करते हुए रजक ने कल्पाक को वस्त्र नहीं लौटाये। कल्पाक अनेक बार रंजक के घर पर वस्त्र लेने गया पर हर बार रंजक ने उसे कोई न कोई बहाना बना कर बिना वस्त्र दिये ही लौटा दिया। इस प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो गये। तृतीय वर्ष का प्रारम्भ होने पर एक दिन कल्पाक पुनः रंजक के घर पर पहुंचा और उसने पूर्ववत् उससे अपने वस्त्रों की मांग की। रंजक द्वारा पुनः एक नया बहाना बनाने और वस्त्र न लौटाने के कारण कल्पाक अत्यन्त क्रुद्ध स्वर में कहने लगा – "ओ परमाधम रंजक ! तू बड़ा अद्भुत चोर है, अब तो मेरे वस्त्र भी जीर्ण होने आये हैं। तुमने मुझे बहुत परेशान किया है। पर याद रखना, अब तो मैं अपने वस्त्र तेरे रक्त से रंग कर ही ले जाऊंगा।" यह कह कर कल्पाक क्रुद्ध सर्प की तरह फूत्कार करता हुआ अपने घर की ओर लौट गया।

दूसरे दिन सूर्यास्त हो जाने पर कल्पाक ने अपना छुरा अपनी बगल में छुपाया और वह क्रुद्ध मुद्रा में रंजक के घर की ओर बढ़ा। रंजक के द्वार पर पहुंच कर कल्पाक ने क्रोधावेश भरे स्वर में पुकारा – "ओ नराधम ! मैं पिछले दो वर्षों से सेवक की तरह तेरे घर पर आता रहा हूं। आज तू स्पष्ट उत्तर दे कि मेरे वस्त्र देता है अथवा नहीं ?" क्रुद्ध यमराज की तरह भृकुटी ताने हुए कल्पाक को देख कर रंजक भय से सिहर उठा। उसने हड़बड़ाहट भरे स्वर में अपनी स्त्री से कहा – "ओ लक्ष्मी ! शीघ्रतापूर्वक आपके वस्त्र ला कर आपको दे दे।" "रजकपत्नी ने तत्काल गृह के अभ्यन्तर कक्ष से वस्त्र लाकर कांपते हुए हाथों से कल्पाक के समक्ष रख दिये। अपनी पत्नी के वस्त्रों को देखकर कल्पाक

ने अपने बगल में छुपाई हुई छुरी को निकाला। एक दो क्षण उस छुरी को अपने हाथ में नचाते हुए कल्पाक ने ब्रह्मराक्षस की तरह भीषण अट्टहास किया और लपक-झपक कर उस छुरी के प्रहार से रजक का पेट चीर डाला। रजक धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा और उसके उदर से रक्तधारा बह निकली। कल्पाक ने उस रजक के लहू में अपनी पत्नी के वस्त्रों को रंगा। अपने पति को निश्चेष्ट पृथ्वी पर छटपटाते देखकर रजकपत्नी ने करुण क्रंदन करते हुए कल्पाक से कहा– "ब्राह्मण देवता ! आपने मेरे निरपराध पति को व्यर्थ ही मार डाला है। हमारा कोई अपराध नहीं, हमने तो महाराज नन्द की आज्ञा से अनुबद्ध होने के कारण आपको वस्त्र नहीं दिये।" यह कहकर रजकपत्नी फूट-फूटकर रोने लगी।

विलक्षण बुद्धि कल्पाक ने तत्क्षण वस्तुस्थिति को समझ लिया। उसने मन ही मन सोचा – "अच्छा, तो महाराज नन्द ने अपनी आज्ञा का अनुपालन करवाने हेतु यह षड्यंत्र रचा है। इस रंजक की हत्या के अपराध में राजपुरुष मुझे पकड़ कर ले जायं, उससे पहले ही मुझे महाराज नन्द के समक्ष उपस्थित हो जाना चाहिये।"

इस प्रकार का निश्चय कर कल्पाक तत्काल त्वरित गति से मगधपति महाराज नन्द के राजभवन की ओर प्रस्थित हुआ। कल्पाक को दूर से देखते ही नन्द ने अनुमान लगा लिया कि उसका दूरदर्शितापूर्ण प्रपंच आज रंग ले आया है और उसकी मनोकामना आज पूर्ण होने जा रही है। वह मन ही मन अपार आनन्द का अनुभव करने लगा। ज्योंही कल्पाक ने उसके कक्ष में पैर रखा कि नन्द अपने सिंहासन से उतर कर कल्पाक के सम्मुख आया। बड़े आदर के साथ उसने कल्पाक को अपने पास ही के एक उच्च सिंहासन पर बैठाया। नन्द ने कल्पाक के मुख के हाव-भावों से उसकी आभ्यंतरेच्छा का परिज्ञान कर लिया। अपनी कार्यसिद्धि के लिये उपयुक्त अवसर देखकर नन्द ने अत्यन्त मधुर स्वर में कल्पाक से प्रार्थना की – "विद्वन् ! आप मगधराज्य का प्रधानामात्य पद स्वीकार कर मगधराज्य की सर्वतोमुखी प्रगति एवं श्रीवृद्धि कीजिये।"

"यथाज्ञापयति देव !" कहकर कल्पाक ने महाराजा नन्द की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।

एक नीतिनिष्णात सुयोग्य विद्वान् को अपने प्रधानामात्य के रूप में प्राप्त कर नन्द ने अपने आपको कृतकृत्य माना। नन्द ने अत्यन्त हर्षविभोर हो अपने हृदय में सुदीर्घकाल से कण्टक के समान खटकने वाली अनेक विकट समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में कल्पाक के सम्मुख कतिपय गूढ़ प्रश्न रखे। सुतीक्ष्ण-बुद्धि कल्पाक ने तत्क्षण उन समस्याओं के समाधान सम्बन्धी सहज उपाय नन्द के सम्मुख प्रस्तुत किये, जिन्हें सुनकर नन्द बड़ा प्रसन्न, प्रभावित एवं चमत्कृत हुआ।

जिस समय महाराज नन्द और कल्पाक मन्त्रणा कर रहे थे, उस ही समय रंजकों का एक प्रतिनिधिमंडल महाराज नन्द के दरबार में कल्पाक के विरुद्ध

अभियोग प्रस्तुत करने नन्द के प्रासाद में उपस्थित हुआ पर ज्यों ही उस प्रतिनिधि मंडल के सदस्यों ने देखा कि कल्पाक महाराजा नन्द के अति सन्निकट एक उच्चासन पर बैठा है और राजा उसके साथ गूढ़ मन्त्रणा में निरत हैं, तो वे सभी रंजक भय एवं आश्चर्य से अभिभूत हो बिना कुछ बोले चुपचाप अपने-अपने घरों की ओर लौट गये।

महाराज नन्द ने तत्काल अपने पहले के प्रधानामात्य को अपदस्थ कर कल्पाक को मगध का प्रधानामात्य बनाया। राजा ने कल्पाक को प्रधानामात्य की मुद्रा, चिन्ह, अधिकार एवं सुख-सुविधा आदि प्रदान की। प्रधानामात्य का पदभार वहन करने के पश्चात् कल्पाक ने बड़ी कुशलता से शाम, दाम, दण्ड, भेद आदि के प्रयोग से क्रमशः नन्द के समस्त शत्रु राजाओं को वश में कर लिया और दूर-दूर तक मगध राज्य का विस्तार कर दिया। कल्पाक के नीतिनैपुण्य के कारण प्रथम नन्द की भारत के महान् शक्तिशाली महाराजाओं में गणना की जाने लगी।

मगध सम्राट् उदायी तथा उसके उत्तराधिकारी नन्द (नन्दिवर्द्धन) के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने परिशिष्ट पर्व में[1], श्री जिनदास गणि महत्तर ने आवश्यक चूर्णि में[2], श्री हरिभद्रसूरि ने आवश्यक वृत्ति में[3] तथा अनेक पूर्वाचार्यों एवं विद्वानों ने कतिपय ग्रन्थों एवं पट्टावलियों में मगधसम्राट् उदायी की अपुत्रावस्था में हत्या किये जाने का उल्लेख किया है। भरतेश्वर वाहुवलि वृत्ति में एक स्थान पर उदायी की संततिविहीन दशा में हत्या किये जाने का तथा दूसरे स्थल में उदायी द्वारा अपने

---

[1] उदाय्यपुत्रगोत्रो हि परलोकमगादिति।
तत्रान्तरे पंचदिव्यान्यभिषिक्तानि मन्त्रिभिः ॥२३६॥   [परिशिष्टपर्व, सर्ग ६]

[2] रुधिरेण आयरिका छिक्का, पेच्छंति राया विवावाडितो, मा पवयणस्स उड्डाहो होहितिति आलोइतपडिक्कंता अप्पणो सीसं छिंदंति, तेवि कालगता, सोवि एयं। इतो य ण्हावियदासो......सीयाए णगरं हिंडाविज्जति, सो य राया अंतेपुरपालेहिं सेज्जावतीए दिट्ठो, सहसा उ कूवितं, णातं, अपुत्तोत्ति अण्णेण दारेण णीतो, सक्कारितो......
[आवश्यकचूर्णि, भा० २, पृ० १८०]

[3] राजापि प्रसुप्त, तेनोत्थाय राज्ञः शीर्षे निवेशिता,...... रुधिरेण आचार्याः प्रत्यार्द्रिताः, प्रेक्षन्ते राजानं व्यापादितं, मा प्रवचनस्य उड्डाहो भूदित्यालोचितप्रतिक्रान्ता आत्मनः शीर्ष छिन्दन्ति, कालगतास्त एवं। इतश्च नापितशालायां नापितदास उपाध्यायाय कथयति–यथा ममाद्यान्त्रेण नगरं वेष्टितं, प्रभाते दृष्टं, स स्वप्नशास्त्रं जानाति, तदा गृहं नीत्वा मस्तकं धौतं दुहिता च तस्मै दत्ता, दीपितुमारब्धः शिबिकया नगरं हिण्ड्यते, सोऽपि राजा अन्तःपुरिकाशय्यापालिकाभिर्दृष्टः सहसा, कूजितं, ज्ञातः अपुत्र इत्यन्येन द्वारेण नीतः सत्कारितः, अश्वोऽधिवासितः, अभ्यन्तरे हिण्डितो मध्ये हिण्डितः बहिर्निर्गतो राजकुलात् तं नापितदारकं पृष्ठौ लगयति प्रेक्षते च तं तेजसा ज्वलंतं राज्याभिषेकेणाभिषिक्तो राजा जातः।   [आवश्यक हारिभद्रीया, पत्र ६६०]

पुत्र अनुरुद्ध को राज्यभार सौंपा जा कर यात्रा, आत्मसाधना में निरत रहने का उल्लेख किया गया है।

लंका में लिखित बौद्ध ग्रंथ महावंश में तथा एक अन्य बौद्ध कृति अशोकावदान में मगधपति उदायी की मृत्यु के पश्चात् ६ वर्ष तक अनुरुद्ध और २ वर्ष तक मुन्द का मगध पर शासन रहने का उल्लेख किया गया है।

वायुपुराण में मगधसम्राट् बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु कूणिक का दर्शक के नाम से परिचय दिया गया है और जैन ग्रंथों की मान्यता के अनुरूप उसके पुत्र का नाम उदायी बताया गया है। उदायी के पश्चात् वायुपुराण में नन्दिवर्द्धन को मगध का शासक बताते हुए लिखा गया है कि नन्दिवर्द्धन ने ४२ वर्ष तक मगध का शासन किया।[1]

श्रीमद्भागवत पुराण में उदायी को अज और उसके उत्तराधिकारी मगध के राजा नन्दिवर्द्धन (नन्द) को आजेय के नाम से सम्बोधित किया गया है। गर्ग संहिता में उदायी को "धर्मात्मा उदयन" के सम्मानपूर्ण सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। बौद्धों के सर्वमान्य धर्मग्रंथ दीर्घनिकाय में उदायी का "उदायी भद्द" नाम से परिचय दिया गया है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वस्तुतः उदायी बड़ा शान्त, निश्छल, सौम्य और बहुत अच्छी प्रकृति का राजा था।

ऐतिहासिक महत्त्व के "महावंशो" नामक लंका में निर्मित ग्रंथ में उदायी के अनुरुद्ध और मुंद नामक दो पुत्रों के होने का जो उल्लेख किया गया है, उस उल्लेख के आधार पर कतिपय विद्वानों ने यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि उदायी ने अथवा उदायी के निर्देश से उसके बड़े पुत्र अनुरुद्ध ने लंका पर सैनिक अभियान किया एवं वहां के राजा को युद्ध में पराजित कर लंका में अनुरुद्धपुर नामक नगर बसाया और उसमें लंका की राजधानी प्रतिष्ठापित की। 'महावंशो' के आधार पर कतिपय विद्वानों ने उदायी के पश्चात् उसके ज्येष्ठ पुत्र अनुरुद्ध का मगध साम्राज्य पर ६ वर्ष का और उसके पश्चात् उसके लघु सहोदर मुंद का दो वर्ष का शासनकाल माना है। किन्तु इन तथ्यों की किसी भी प्रामाणिक अभिलेख अथवा ग्रंथ आदि से न केवल पुष्टि ही नहीं होती अपितु प्राचीन जैन ग्रंथों एवं पौराणिक ग्रन्थों में उदायी के पश्चात् दिये गये नन्द अथवा नन्दिवर्द्धन के राज्य के उल्लेखों से 'महावंशो' की मान्यता का मूलतः निराकरण होता है। आज तक एक भी ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया है, जिसमें उदायी के पश्चात् और नन्द अथवा नन्दिवर्द्धन से पूर्व मगध पर अनुरुद्ध और मुंद के शासन का उल्लेख हो। ऐसी दशा में 'महावंशो' के आधार पर कतिपय विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त की गई मान्यता को काल्पनिक न सही पर विश्वसनीय कभी नहीं माना जा सकता।

---

[1] श्लोक संख्या १७७–१७८ तथा :
द्वाचत्वारिंशत्समा भाव्यो राजा वै नन्दिवर्द्धनः ।१७९।। [वायुपुराण, अ० ९९]

वस्तुतः नन्द कौन था ?

आवश्यकचूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, परिशिष्टपर्व तथा अनेक अन्य जैन ग्रन्थों में मगधसम्राट उदायी के पश्चात् मगध के राज्यसिंहासन पर आसीन होने वाले नन्द को नापितदास, नापितपुत्र, एवं वैश्यापुत्र बताया गया है। इसके विपरीत वायुपुराण[1] और श्रीमद्भागवत पुराण में[2] इस नन्द का नन्दिवर्द्धन के नाम से परिचय देते हुए इसे उदायी का पुत्र बता कर इसकी गणना नागदशकों में की गई है। इस प्रकार सनातन परम्परा के इन दोनों मान्य पुराणों में नन्दिवर्द्धन को शिशुनागवंशी और उदायी का पुत्र माना गया है। जैन परम्परा के ग्रन्थों में मगध के वाहीक कुलोद्भव शिशुनागवंशी राजाओं के नाम क्रमशः जितशत्रु, प्रसेनजित्, श्रेणिक (बिम्बसार), कूणिक (अजातशत्रु) और

---

[1] हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं, शिशुनाको भविष्यति ।।१७३।।
वाराणस्यां सुतस्तस्य, संप्राप्स्यति गिरिव्रजम् ।
शिशुनाकस्य वर्षाणि, चत्वारिंशद्भविष्यति ।।१७४।।
शकवर्णः सुतस्तस्य षट्त्रिंशच्च भविष्यति ।
ततस्तु विंशति राजा क्षेमवर्मा भविष्यति ।।१७५।।
अजातशत्रुर्भविता पंचविंशत्समा नृपः ।
चत्वारिंशत्समा राज्यं क्षत्रौजा प्राप्स्यते ततः ।।१७६।।
अष्टाविंशत्समा राजा बिंबिसारो भविष्यति ।
पंचविंशत्समा राजा दर्शकस्तु भविष्यति ।।१७७।।
उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः ।
द्वाचत्वारिंशत्समा भाव्यो राजा वै नन्दिवर्द्धनः ।
चत्वारिंशत्त्रयं चैव महानन्दो भविष्यति ।।१७९।।
इत्येते भवितारो वै शैशुनाका नृपा दश ।
शतानि त्रीणि वर्षाणि द्विषष्ट्यभ्यधिकानि तु ।।१८०।।

[वायुपुराण, अ० ६१]

स्पष्टीकरण : रेखांकित पद के स्थान पर निम्नलिखित पद होना चाहिये क्योंकि इन नागदशकों का कुल मिला कर शासनकाल ३६२ वर्ष नहीं अपितु ३३२ वर्ष ही होता है:—
······ द्वात्रिंशदधिकानि तु ।।

— सम्पादक

[2] शिशुनागस्ततो भाव्यः, काकवर्णस्तु तत्सुतः ।
क्षेमधर्मा तस्य सुतः, क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः ।।५।।
विधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति ।
दर्भकस्तत्सुतो भावी दर्भकस्याजयः स्मृतः ।।६।।
नन्दिवर्द्धन आजेयो, महानन्दिः सुतस्ततः ।
शिशुनागा दशैवैते षष्ट्युत्तर शतत्रयम् ।।७।।
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं, कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः ।

[श्रीमद्भागवत् महापुराण, स्कन्ध १२, अ०१]

उदायी दिये हुए हैं ।[1] इनसे पूर्व के इस वंश के राजाओं के नाम उपलब्ध जैन ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होते । ऐसी दशा में वायुपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थों में जो नागदशकों (शिशुनागवंशी दश राजाओं) के नाम दिये गये हैं, उनमें प्रथम ३ राजाओं, शिशुनाग, काकवर्ण और क्षेमधर्मा के नाम इस सूची में सर्वोपरि सम्मिलित करने और इस सूची के अन्त में नन्दिवर्द्धन और महानन्दि के नाम शिशुनागवंशियों में सम्मिलित करने पर ही नागदशक राजाओं की सूची पूर्ण होती है ।

नागदशकों की नामपूर्त्ति के लिये सनातन परम्परा के पुराणों में वर्णित शिशुनागवंशियों के उपरिलिखित तीन पूर्वजों के नामों को ग्रहण करने और प्रामाणिक मानने में किसी को किंचित्मात्र भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये क्योंकि पूर्वकाल में घटित घटनाक्रम के संकलन एवं आलेखन का नाम ही इतिहास है । इतिहास में किसी देश, धर्म, जाति अथवा संस्कृति का विभेद नहीं होता, वह तो वस्तुतः अनादिकाल से अनवरतरूपेण घटित होने वाली घटनाओं का अक्षय्य, अथाह एवं अपार सागर है, जिसमें असंख्य गंगाओं के पूर के समान प्रतिदिन नवीनतम घटनाओं के प्रवाह आकर सम्मिलित एवं संचित होते रहते हैं । उस सबका संकलन आलेखन अथवा परिज्ञान त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ के अतिरिक्त और किसी मानव की शक्ति की परिधि में नहीं आता । उस अथाह इतिहास सागर के गहन तल में गोते लगा लगाकर प्राचीनकाल से महान् आचार्य महर्षि और परमार्थी विद्वान् अपने-अपने प्रिय एवं अभीष्ट विषय का इतिहास खोज कर लिखते आये हैं । इस बात को हमें सदा ध्यान में रखना होगा कि आगमों, पुराणों एवं प्राचीन ग्रन्थों को उन आचार्यों, महर्षियों, महात्माओं और विद्वानों ने लिखा है – जिन्होंने समस्त ऐहिक आकर्षणों, लोकेषणाओं और अपनी कर्मेन्द्रियों तथा भावेन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली थी । उनके समस्त आलेखन का उद्देश्य केवल "जनहिताय" ही रहा । किसी तथ्य की स्मृति से स्खलना, पारम्परिक मान्यताभेद, विस्मृति

---

[1] अतीताद्धायां क्षितिप्रतिष्ठितं नगरं, जितशत्रु राजा, तस्य नगरस्य वस्तून्युत्सन्नानि, अन्य नगरस्थानं वास्तुपाठकैर्मार्गयति, तैरेकं चणकक्षेत्रं अतीव पुष्पैः फलैश्चोपपेतं दृष्ट्वा चणकनगरं निवेशितं……तत्र कुशाग्रपुरं जातं, तस्मिंश्च काले प्रसेनजित् राजा तच्च नगरं पुनः पुनः अग्निना दह्यते, तदा लोकभयजनननिमित्तं घोषयति यस्य गृहेऽग्निरुत्तिष्ठति स नगरात् निष्काश्यते, तत्र महानसिकानां प्रमादेन राज्ञ एव गृहात् अग्निरुत्थितः, ते सत्यप्रतिज्ञा राजानः निर्गतो नगरात् तस्मात् गव्यूतमात्रे स्थितः, तदा दण्डिकभटभोजका वणिजश्च तत्र व्रजन्तः भणन्ति क्व व्रजथ ? आह राजगृहमिति, कुत आयाथ ? राजगृहात् एवं नगरं राजगृहं जातं यदा च राज्ञो गृहेऽग्निरुत्थितस्ततः कुमारा यद्यस्य प्रियमस्तो हस्ती वा तत्तेन निष्काशिते श्रेणिकेन ढक्का नीता । राजा पृच्छति केन किं नीतमिति ? अन्यो भणति – मया हस्ती, अश्व एवमादिः ; श्रेणिकः पृष्टः-भम्भा, तदा राजा भणति श्रेणिकं – एष ते सारो भम्भेति? श्रेणिको भणति – ओम् स च राज्ञोऽत्यन्तप्रियः, तेन तस्य नाम कृतं भम्भसार इति

[आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र ६७०–७१ आदि]

अथवा लिपिक के दोष के कारण नामभेद, कालभेद आदि उन प्राचीन ग्रन्थों में मिल सकते हैं। पर इसके लिये किसी प्रकार की दूषित भावना का दोषारोपण उन पर नहीं किया जा सकता।

इन सब वास्तविकताओं पर विचार करने के पश्चात् पुराणों में उदायी के उत्तराधिकारी मगधपति नन्दिवर्द्धन और नन्दिवर्द्धन की मृत्यु के अनन्तर मगध के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होने वाले महानन्दी को जो विशुद्ध शिशुनागवंशी बताया गया है, उस तथ्य को किसी भी दशा में उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

अब प्रश्न यहां यह उपस्थित होता है कि जैन परम्परा के ग्रन्थों में उदायी को अपुत्र और उसके पश्चात् मगध के राज्यसिंहासन पर बैठने वाले नन्द को नापित एवं वेश्यापुत्र क्यों बताया गया है ? यद्यपि जैन ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिसका आश्रय लेकर इस प्रश्न का सर्वमान्य रूप से समाधान किया जा सके किन्तु वायुपुराणादि में उपलब्ध एतद्विषयक सामग्री के सन्दर्भ में इस प्रश्न पर विचार करने और अनुमान प्रमाण का सहारा लेने पर इस प्रश्न का हल ढूंढा जा सकता है।

शिशुनाग से लेकर महानन्दी तक के नागदशकों का संक्षिप्त उल्लेख करने के पश्चात् भागवतकार और वायुपुराणकार ने लिखा है :-

मगधपति महानन्दी की शूद्रा पत्नी के गर्भ से नन्द नामक एक बड़ा बलवान् पुत्र होगा, जो महापद्म नामक निधि का स्वामी होगा और इसी कारण वह महापद्म नाम से भी विख्यात होगा। महापद्म समस्त क्षत्रिय राजाओं का अन्त करेगा। उस महापद्म के समय से ही राजा लोग प्रायः शूद्र और अधार्मिक होंगे। वह पृथ्वी का एकच्छत्र शासक होगा। उसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकेगा। क्षत्रान्तक होने के कारण वह एक प्रकार से दूसरा परशुराम होगा। उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र होंगे जो १०० वर्ष तक, पृथ्वी के राज्य का उपभोग करेंगे।[1]"

वायुपुराण में भी पर्याप्तरूपेण इससे मिलता-जुलता ९ नन्दों का परिचय दिया गया है, जो इस प्रकार है :-

---

[1] महानन्दिसुतो राजन् शूद्रीगर्भोद्भवो वली ॥८॥
महापद्मपतिःकश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत् ।
ततो नृपाः भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः ॥९॥
स एकच्छत्रां पृथिवीमनुल्लंघितशासनः ।
शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः ॥१०॥
तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्य प्रमुखाः सुता ।
य इमां भोक्ष्यन्ति महीं, राजानः स्म शतंसमाः ॥११॥
[श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अध्याय १]

"महानन्दी की शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुआ कालोपेत (कृतान्तोपम) महापद्म नामक पुत्र समस्त क्षत्रियों के अनन्तर होगा। वह एकराट् और एकच्छत्र राजा होगा। उसके समय से ही प्रायः सभी राजा शूद्र होंगे। वह समस्त क्षत्रियों से बलपूर्वक कर ग्रहण कर विपुल धन एकत्रित करेगा और २८ वर्ष तक पृथ्वी पर शासन करेगा। उसके ८ पुत्र होंगे जो महापद्म की मृत्यु के पश्चात् क्रमशः राजा होंगे और वे कुल मिलाकर १२ वर्ष तक राज्य करेंगे।[1]"

इस प्रकार श्रीमद्भागवतपुराण और वायुपुराण के अनुसार नन्दिवर्द्धन और महानन्दी जिन्हें जैन परम्परा के ग्रन्थों में प्रथम नन्द और द्वितीय नन्द बताया गया है, विशुद्ध नागवंशीय राजा थे तथा महापद्म नन्द से शूद्र ९ नन्द राजाओं का राज्यकाल प्रारम्भ होता है।

धार्मिक प्रतिद्वंद्विता के कारण पुरातन काल में हुए धार्मिक संघर्षों, दुष्कालों, विदेशी आक्रमणों आदि के कारण प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री के कतिपय अंशों में नष्ट हो जाने की दशा में यह संभव माना जा सकता है कि साहित्य का नव-निर्माण करते समय जैन विद्वानों ने शूद्रा स्त्री के गर्भ से उत्पन्न महापद्म नन्द के जीवन की घटनाओं को नन्दिवर्द्धन के जीवनवृत्त के साथ जोड़कर उसे ही प्रथम नन्द समझ लिया हो। इस प्रकार की त्रुटि होना असंभव नहीं है क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में यह बताया जा चुका है कि भगवान् महावीर के छठे एवं सातवें गणधर आर्य मंडित और मौर्यपुत्र को कतिपय ख्यातनामा आचार्यों ने सहोदर बताकर उनकी समान नाम वाली माताओं को एक ही महिला मान लिया और अपने इस कथन की पुष्टि में यहां तक लिख दिया कि मंडित के पिता धनदेव की मृत्यु के पश्चात् मंडित की माता विजया ने मौर्य नामक एक ब्राह्मण नवयुवक से विधवा-विवाह कर लिया और मौर्य से विजया ने मौर्यपुत्र को जन्म दिया। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि आगमों में और स्वयं उन आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों में मौर्यपुत्र को मंडित से आयु में १३ वर्ष ज्येष्ठ बताया गया है।

इस प्रकार की और भी अनेक भूलें हुई हैं। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के प्रकरण में आगे बताया जायगा कि किस प्रकार एकादशांगी के अंशधर,

---

[1] महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कालसंवृतः ।
उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रान्तरे नृपः ॥१८५॥
ततः प्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोनयः ।
एकराट् स महापद्म एकच्छत्रो भविष्यति ॥१८६॥
अष्टाविंशतिवर्षाणि पृथिवीं पालयिष्यति ।
सर्वक्षत्राद्धृतोद्धृत्य भाविनोऽर्थस्य वै बलात् ॥१८७॥
सहस्रास्तत्सुता ह्यष्टौ समा द्वादश ते नृपाः ।
महापद्मस्य पर्याये भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् ॥१८८॥ [वायुपुराण, अ० ९९]
श्लोक १८८ के प्रथम पाद में सहृत्वा के स्थान पर माहृत्वा होना चाहिये। —सम्पादक

नैमित्तिक भद्रबाहु और अंतिम श्रुतकेवली चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को एक ही भद्रबाहु मानने की भूल पिछली अनेक सदियों से आज तक चली आ रही है।

ठीक उसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि वत्सपति उदयन की अपुत्रावस्था में मृत्यु हुई और कालान्तर में उदायी और उदयन नामों में यत्किंचित् समानता होने के कारण उदायी के लिये यह मान्यता लोगों के मन में घर कर गई कि उसकी मृत्यु संततिविहीन दशा में हुई। इसके परिणामस्वरूप शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए महापद्मनन्द की घटना को उदायी के उत्तराधिकारी नन्दिवर्द्धन के साथ जोड़कर उसे ही प्रथम नन्द माना जाने लगा।

इन सब तथ्यों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदायी का उत्तराधिकारी उदायी के पश्चात् मगध के राज्य सिंहासन पर आसीन होने वाला नन्दिवर्द्धन शिशुनागवंशीय ही था न कि नापितपुत्र अथवा वेश्यापुत्र।

नन्दिवर्द्धन के विशुद्ध शिशुनागवंशीय होने का एक प्रबल प्रमाण यह है कि वत्सपति उदयन की पुत्री का विवाह नन्दिवर्द्धन के साथ सम्पन्न हुआ था।

अवन्ती का प्रद्योत राजवंश

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वीर निर्वाण संवत् के प्रारम्भ होते ही प्रथम दिन में उज्जयिनी के अधीश्वर चण्डप्रद्योत के पुत्र पालक का अवन्ती (मालव) राज्य के राजसिंहासन पर राज्याभिषेक हुआ। उस समय महत्वाकांक्षी मगधपति कूणिक अपने राज्यविस्तार में जुटा हुआ था। कूणिक द्वारा वैशाली के शक्तिशाली गणतन्त्र को भूलुण्ठित कर देने के पश्चात् मगध की गणना एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में की जाने लगी थी। मगधपति के प्रचण्ड प्रताप के कारण चण्डप्रद्योत के शासनकाल में अर्जित अवन्ती राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा भी शनैः शनैः क्षीण होने लगी थी।

पालक के राज्यारोहण के कुछ ही समय पश्चात् उसके छोटे भाई गोपाल ने आर्य सुधर्मा के उपदेश से विरक्त हो उनके पास श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली थी। पालक के दो पुत्र थे, बड़ा अवन्तीवर्धन और छोटा राष्ट्रवर्धन। पालक ने उज्जयिनी में रहते हुए अवन्ती राज्य पर २० वर्ष तक शासन किया। पालक के शासनकाल में अवन्ती राज्य में कोई विशेष रूप से उल्लेखनीय घटना घटित हुई हो, ऐसा कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

वीर निर्वाण सं० २० में आर्य सुधर्मास्वामी के निर्वाणगमन से कुछ समय पूर्व पालक ने अपने बड़े पुत्र अवन्तीवर्धन को उज्जयिनी का राज्य और छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद देकर आर्य सुधर्मा स्वामी के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

प्रद्योत राजवंश की इन तीन पीढ़ियों के घटनाक्रम का एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। वह यह है कि जिस दिन चण्डप्रद्योत का जन्म हुआ उस ही दिन बौद्धधर्म के प्रवर्तक भ० बुद्ध का जन्म हुआ था। जिस दिन बुद्ध को

बोधिलाभ हुआ, उसी दिन चण्डप्रद्योत उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर बैठा और जिस दिन चौवीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उस ही दिन चण्डप्रद्योत का देहावसान हुआ।[1]

जिस दिन पालक का राज्याभिषेक हुआ उस ही दिन गौतमस्वामी को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई और आर्य सुधर्मास्वामी श्रमण भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर बने। वीर निर्वाण संवत् २० में आर्य सुधर्मा स्वामी ने परमपद निर्वाण प्राप्त किया, उसी वर्ष में अवन्ती के अधीश्वर पालक ने अपने बड़े पुत्र को राज्य और छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद दे आर्य सुधर्मा के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की[2] और पालक का बड़ा पुत्र अवन्तीवर्धन अवन्ती के राज्यसिंहासन पर आरूढ हुआ।

युवराज राष्ट्रवर्धन राज्यसंचालन में अपने बड़े भाई अवन्तीवर्धन को सहायता करने लगा। एक दिन अवन्तीवर्धन ने अपने छोटे भाई राष्ट्रवर्धन की अतिरूपवती पत्नी धारिणी को उद्यान में क्रीड़ा करते हुए देखा। उद्यान में किसी पुरुष की उपस्थिति की उसे आशंका नहीं थी, इसलिये वह निस्संकोचभाव से क्रीड़ा में निरत थी। अवन्तीवर्धन अपनी भ्रातृजाया के अंगप्रत्यंगों के सौष्ठवपूर्ण गठन और अनुपम सौन्दर्य को प्रच्छन्न रूप से देख कर उस पर मुग्ध हो गया। उसने कामासक्त हो अपनी विश्वस्त दासी को धारिणी के पास भेज कर अपनी आन्तरिक अभिलाषा से उसे अवगत कराया। धारिणी ने अवन्तीवर्धन के पापपूर्ण प्रस्ताव को ठुकराते हुए क्रुद्ध हो कहा – 'उस कामुक से कहना कि क्या तुम्हें अपने भाई से भी लज्जा का अनुभव नहीं होता।"

राजा अवन्तीवर्धन ने कामान्ध हो षड्यन्त्र कर अपने छोटे भाई राष्ट्रवर्धन की रहस्यमय हत्या करवा दी। अपने पति की मृत्यु से दुखित हो धारिणी ने अपने सतीत्व की रक्षा हेतु उज्जयिनी का परित्याग करना ही श्रेयस्कर समझा। रात्रि के अन्धकार में अपने पोगण्ड-पुत्र अवन्तीसेन को सोते छोड़कर धारिणी अपने और अपने मृत पति के मूल्यवान आभरण लेकर उज्जयिनी के राजप्रासादों से निकली और प्रच्छन्नरूप से किसी सार्थ के साथ कौशाम्बी की ओर चल पड़ी। कौशाम्बी पहुंचने पर धारिणी कौशाम्बी के राजा की यानशाला में ठहरी हुई साध्वियों की सेवा में उपस्थित हुई और उसने उनके पास प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। इस डर से कि कहीं साध्वियां उसे प्रव्रजित ही न करें, धारिणी ने उनके समक्ष यह बात प्रकट नहीं की कि वह गर्भिणी है। थोड़े ही समय के पश्चात् महत्तरिका (गुरुणी) ने उसके गर्भ की बात ज्ञात होने पर धारिणी से उसके गर्भ के सम्बन्ध में पूछा।

---

[1] देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ५४५ से ५५३ – सम्पादक

[2] इतो य उज्जेणीए पज्जोतसुता दोण्णि पालग्रो गोपालग्रो य, गोपालग्रो पव्वइतो पालगो रज्जे ठितो, तस्स दो पुत्ता पालको अवंतिवद्धणं राजाणं रज्जवद्धणं जुवरायाणं ठवेत्ता पव्वइतो। [आव० चूर्णि, भा० २ पृ० १८६]

(ग) तौ राज-युवराजौ च, [illegible] [illegible]। [आवश्यक कथा]

धारिणी ने अपना परिचय देते हुए अपने साथ घटित हुई सारी घटनाएं अपनी गुरुणी के समक्ष निवेदित कर दीं। गर्भकाल पूर्ण होने पर रात्रि के समय धारिणी ने एकान्त स्थान में पुत्र को जन्म दिया। उसके पुत्र के सम्बन्ध में लोकों में निरर्थक चर्चा न चल पड़े, इस अभिप्राय से धारिणी ने अपनी नामांकित मुद्रिका, आभरण और अपने पति के आभरणों की गठरी प्रच्छन्न स्थान से खोद कर निकाली और उसके साथ उस बालक को कौशाम्बी के राजप्रासाद के प्रांगण में ले जा कर रख दिया। उसका पुत्र किसी उचित स्थान पर पहुंचता है अथवा नहीं, यह देखने के लिये धारिणी एक अन्धकार-पूर्ण स्थान में बैठ गई। उसे वहां बैठे कुछ ही क्षण व्यतीत हुए होंगे कि नवजात शिशु चिल्लाया। शिशु का रुदन सुन कर कौशाम्बी नरेश अजितसेन प्रासाद से नीचे आया और मणिरत्नाभरणों की गठरी सहित उस बालक को उठा कर अपने प्रासाद में ले गया। अजितसेन ने नवजात शिशु को राजमहिषी के अंक में सुलाते हुए कहा – "देवि! देव ने हमें इस राज्य का उत्तराधिकारी दिया है।" राजदम्पति निस्संतान था अतः पुत्र के समान ही उस शिशु का राजकीय ऐश्वर्य और लाड-प्यार के साथ लालन-पालन होने लगा। अवन्तीसेन ने उस शिशु को अपना पुत्र घोषित करते हुए उसका नाम मणिप्रभ रखा।

मन ही मन अपने पुत्र के भाग्य की सराहना करती हुई साध्वी धारिणी अपनी गुरुणी के पास लौट गई और उनसे निवेदन कर दिया कि मृत बालक का जन्म हुआ था अतः वह उसे एकान्त में छोड़ आई है। पुत्र के प्रति अपने उत्तर-दायित्व से उन्मुक्त हो धारिणी निरतिचार साध्वी धर्म का पालन करने लगी।

उधर उज्जयिनीपति अवन्तीवर्धन अनुताप की अग्नि में जलने लगा। अपने निरपराध भाई की हत्या करवाने का और धारिणी के न मिलने का शोक उसे अहर्निश संतप्त करने लगा। उसने अपने उस जघन्य अपराध के प्रायश्चित्त-स्वरूप अपने भाई राष्ट्रवर्धन और देवी धारिणी के पुत्र अवन्तीसेन को उज्जयिनी का अधीश्वर बना कर लगभग वीर निर्वाण संवत् २४ में आर्य जम्बूस्वामी के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करली।

धारिणी यदा-कदा कौशाम्बी जाने पर राजप्रासाद में जाती रहती थी। कौशाम्बीराज के अन्तःपुर की सभी स्त्रियां साध्वी धारिणी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखने लगीं और बालक मणिप्रभ भी उसके प्रति बड़ा स्नेह रखने लगा। क्रमशः मणिप्रभ युवा हुआ और अजितसेन की मृत्यु के पश्चात् वह कौशाम्बी के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ।

कौशाम्बी-नृप शतानीक और अवन्तीपति चण्डप्रद्योत के समय से इन दोनों राजवंशों में वैर-विरोध चला आ रहा था। किसी एक कारण को ले कर अवन्तीसेन ने अपनी बड़ी शक्तिशाली सेना के साथ कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया।

अवन्तीसेन द्वारा कौशाम्बी पर आक्रमण करने से कुछ समय पूर्व विजयवती नाम की महत्तरा की शिष्या विगतभया ने अनशन किया था। कौशाम्बी के श्रद्धालु श्रावक-श्राविका संघ ने उस अवसर पर साध्वी के त्याग की महिमा करते हुए बड़े महोत्सव के साथ उसका अनेक प्रकार से सम्मान किया। इस घटना के थोड़े ही दिनों पश्चात् धर्मघोष और धर्मयश नामक दो साधुओं ने अपना अन्तिम समय समीप समझ कर अनशन करने का निश्चय किया। धर्मघोप मुनि के मन में लोगों द्वारा सम्मान और प्रतिष्ठा पाने की उत्कण्ठा जागृत हुई और यह सोच कर कि जिस प्रकार विगतभया साध्वी की प्रतिष्ठा हुई थी उसी प्रकार की उसकी भी होगी, उन्होंने कौशाम्बी नगरी में अनशन किया। धर्मयश मुनि को मान-सम्मान की किसी प्रकार की चाह नहीं थी अतः उन्होंने अवन्ती और कौशाम्वी के मध्यमार्ग में स्थित वत्सका नदी के तटवर्ती पर्वत की गुफा के एकान्त स्थान में अनशन करने का निश्चय कर उस ओर विहार किया। जिन दिनों धर्मघोष मुनि कौशाम्वी में अनशन कर रहे थे, उन्हीं दिनों अवन्तीसेन ने कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया।

शत्रु के भय से लोग अपने घरों से वाहर निकलते हुए भी हिचकते थे अतः अनशन धारण किये हुए धर्मघोष मुनि के पास कोई व्यक्ति नहीं गया और उनका प्राणान्त हो गया। नगर के चारों ओर अवन्तीराज की सेना का घेरा पड़ा था अतः नगर के परकोटे के द्वार को खोलना खतरे से खाली नहीं था। यह सोच कर लोगों ने धर्मघोष मुनि के शव को परकोटे की दीवार पर से शहर के वाहर फेंक दिया।

दोनों ओर से युद्ध की पूरी तैयारियां हो चुकीं थीं। उस समय साध्वी धारिणी ने भीषण नरसंहार को वचाने के लिये अपने निगूढ़ रहस्य का उद्घाटन करना आवश्यक समझा। धारिणी राजभवन में मणिप्रभ के पास पहुंची। साध्वी को देखते ही मणिप्रभ ने अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में प्रगाढ़ भक्ति के साथ उन्हें वन्दन किया। साध्वी ने कहा – "अपने सहोदर के साथ तुम्हारा यह युद्ध कैसा ?"

मणिप्रभ ने आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा – "पूज्ये ! यह आप क्या कह रही हैं ? यह शत्रु मेरा सहोदर किस प्रकार हो सकता है ?"

इस पर साध्वी धारिणी ने आदि से अन्त तक समस्त वृत्तान्त सुनाते हुए वताया कि उसने उसे जन्म देते ही किस प्रकार, किस स्थान पर, किन-किन आभरणों एवं पहिचान के चिन्हों के साथ रखा और किस प्रकार कौशाम्वी के अधिपति महाराज अजितसेन उसे प्रांगण से उठा कर अपने अन्तःपुर में ले गये।

कौशाम्बी की राजमाता ने अपने समक्ष घटित हुई उन सब वातों की पुष्टि की, जो साध्वी धारिणी ने वताई थीं। नामांकित मुद्रिकाओं, राष्ट्रवर्धन तथा धारिणी के आभरणों पर अंकित नाम एवं राजचिन्हों आदि तथा मणिप्रभ

एवं साध्वी धारिणी की नासिका, ललाट एवं लोचनों की साम्यता से सब को दृढ़ विश्वास हो गया कि धारिणी मणिप्रभ की माता है और मणिप्रभ उसका पुत्र।

सहसा मणिप्रभ के हर्ष गद्गद् कण्ठ से हठात् उद्भूत हुए संसार के समस्त स्नेह और ममता के आगर – "मां! मेरी मा!" इन मधुर स्वरों ने सभी उपस्थित नारियों के हृदयों को पिघला कर पानी-पानी कर दिया और वह पानी बने हृदय आंसुओं की झड़ियां बन कर अति प्रबल प्रवाह के साथ प्रवाहित हो उठे। कुछ क्षणों तक सभी की अन्तरात्माएं उस अथाह अश्रुसागर में स्नान करती हुई एक अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव करती रहीं।

मणिप्रभ ने नीरवता को भंग करते हुए कुछ दुविधा भरे स्वर में कहा – "पूज्ये! मेरा रोम-रोम इसी समय ज्येष्ठार्य के चरणों पर लुंठित होने हेतु उत्कण्ठित हो रहा है पर जब तक वे इस तथ्य से अवगत हो मुझे अपने हृदय से लगाने के लिये उद्यत न हों तब तक मेरी ओर से किया गया इकतरफा मैत्री प्रस्ताव कायरता का प्रतीक और कौशाम्बी के राजवंश के लिये अपयश का जनक बन सकता है।[१]"

"मैं अभी अवन्तीसेन के पास जाकर उसे वस्तुस्थिति से परिचित किये देती हूं।" यह कह कर साध्वी धारिणी राजप्रासाद से प्रस्थित हो अवन्ती के सैन्यशिविर पर पहुंचीं। प्रतिहार से साध्वी के आगमन का समाचार सुनते ही अपनी अंगपरिचारिकाओं सहित अवन्तीसेन ने अपने शिविरकक्ष के द्वार पर उपस्थित हो साध्वी को बड़ी श्रद्धा के साथ वन्दन किया। कुछ वृद्धा परिचारिकाओं ने धारिणी के चरण पर स्फुट प्राकृतिक चिह्न को देखते ही उसे तत्काल पहिचान लिया। एक परिचारिका ने विस्फारित नेत्रों से अवन्तीसेन की ओर देखते हुए आश्चर्य एवं उत्सुकतामिश्रित स्वर में कहा – "महाराज! ये तो हमारी स्वामिनी और उज्जयिनी के महाप्रतापी – चिरायु राजराजेश्वर की मातेश्वरी हैं।"

माता की ममतामयी गोद से चिरवंचित पुत्र की, अपनी जननी को पहचानते ही क्या दशा हुई होगी, यह कल्पना की पहुंच के परे है। बड़े-बड़े भूपतियों के भालों को भूलुण्ठित करने वाले अवन्तीपति अवन्तीसेन का मातृचरणों में झुकता हुआ भाल सहसा भूमि से छू गया। शिशु के समान सुबकियां भरते हुए अवन्तीसेन ने कहा – "मां! तुम इतने वर्षों तक अपने लाड़ले से दूर क्यों रही?"

साध्वी धारिणी ने अवन्तीसेन को आश्वस्त करते हुए संक्षेप में समस्त घटनाचक्र का विवरण सुनाने के पश्चात् कहा – "अवन्तीसेन! प्रसव के तत्काल

---

[१] पत्तीतो भणति-जदि ओसरामि ता मम अजसो, भणति तंपि वहेहि,

[आवश्यक चूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १९०]

पश्चात् ही मैंने तुम्हारे जिस लघु सहोदर का परित्याग कर दिया था, वही तो आज का कौशाम्बीपति मणिप्रभ है । एक प्राण-दो शरीर-सहोदरों में परस्पर यह युद्ध कैसा ?"

वास्तविकता से अवगत होते ही अवन्तीसेन ने स्नेहविह्वल स्वर में कहा – "पूजनीये ! मैं अज्ञानतावश अपने दक्षिण हस्त से स्वयं के वाम हस्त को काटने जैसी मूर्खता कर रहा था । आपने हमें उपकृत किया है । क्षण भर पहले तलवार का प्रहार करने के लिये उद्यत मेरे बाहु-युगल अब मेरे लघु बान्धव को दुलार भरे प्रगाढ आलिंगन में आबद्ध करने के लिये लालायित हो रहे हैं । कहां है मेरा वह प्राणप्रिय सहोदर ?"

तत्पश्चात् दोनों भाइयों का पहली बार मिलन हुआ । चरणों पर झुकते हुए अपने छोटे भाई को अवन्तीसेन ने भुजपाश में आबद्ध कर बड़ी देर तक अपने हृदय से चिपकाये रखा । दो राजवंशों के पीढ़ियों के वैर को दोनों नरेशों ने अपने प्रेमाश्रुओं के प्रवाह में बहा दिया । क्षण भर में ही यह समाचार दोनों सेनाओं के योद्धाओं और कौशाम्बी के घर-घर में विद्युत् के संचार की तरह प्रसृत हो गया । योद्धाओं के हाथों की चमचमाती हुई तलवारें म्यानों में रख दी गईं, शतघ्नियों के कानों में कूंचियां डाली जाकर उनके मुख नीचे की ओर झुका दिये गये और रणभेरी सैंधव आदि रणवाद्यों के घोरारव के स्थान पर मृदंग, मशक, झांझ, वीणा, शहनाई आदि की कर्णप्रिय स्वरलहरियों की गूंज से समस्त वातावरण मृदुल, मोहक और मादक बन गया । क्षण भर पहले अज्ञानवश जो सेनाएं एक-दूसरे के खून से होली खेलने को उद्यत थीं, वे अब अज्ञान का परदा हटते ही परस्पर एक दूसरे को अबीर-गुलाल के रंग से शराबोर करने लगीं । इस प्रकार भगवान् महावीर द्वारा दिये गये विश्वकल्याणकारी अहिंसा के दिव्य संदेश को जन-जन तक पहुंचाने वाली सजग साध्वी धारिणी ने उस समय की मानवता को एक भीषण नरसंहार से बचा लिया ।

बड़े आनन्दोल्लास और सम्मान के साथ अवन्तीसेन का कौशाम्बी में नगर प्रवेश करवाया गया । थोड़ी ही देर पहले जो कौशाम्बी के नागरिक आतताई के रूप में आये हुए अवन्तीसेन से आतंकित थे वे अब उसे अपना प्रिय अतिथि समझकर उस पर आनन्दविभोर हो पुष्पों की वर्षा करने लगे । अपने छोटे भाई के आग्रह पर अवन्तीसेन को एक मास तक कौशाम्बी में रुकना पड़ा । दोनों भाइयों ने सह-अस्तित्व की भावनाओं का समादर करते हुए दोनों राज्यों की प्रजा की सुख-समृद्धि में अभिवृद्धि करने वाली अनेक नीतियों का निर्धारण किया । अवन्तीसेन ने कौशाम्बी राज्य की जनता के हित के लिये अनेक लोकोपयोगी कार्यों को सम्पन्न करने हेतु अपार धनराशि दी । एक मास तक कौशाम्बी में अनेक प्रकार के मंगलमय महोत्सव मनाये गये ।

अन्ततोगत्वा एक मास पश्चात् अवन्तीसेन ने उज्जयिनी की ओर प्रस्थान किया । उसने आग्रहपूर्वक अपने छोटे भाई मणिप्रभ को भी साथ लिया । दोनों

भाइयों की प्रार्थना पर साध्वी धारिणी ने भी अपनी महत्तरा और अन्य साध्वियों के साथ उज्जयिनी की ओर विहार किया। स्थान-स्थान पर पड़ाव डालते हुए अवन्तीसेन और मणिप्रभ कौशाम्बी तथा उज्जयिनी के बीच में वत्सका नदी के तट पर पहुंचे।

उस समय तक धर्मयश मुनि यथाशक्य विहारक्रम से वहां पहुंच चुके थे और उन्होंने वत्सका नदी के पास के एक पहाड़ की गुफा में अनशन प्रारम्भ कर दिया था। उस निर्जन एकान्त स्थान में अनशन प्रारम्भ करने पर भी लोगों से यह बात छुपी न रह सकी और अनशन में स्थित धर्मयश मुनि के दर्शन करने के लिये दूर-दूर से श्रद्धालु नर-नारी बड़ी संख्या में आने लगे।

बहुत बड़ी संख्या में नर-नारियों के समूहों को अनवरत रूप से पहाड़ पर चढ़ते-उतरते देखकर उन दोनों राजाओं ने चरों से वहां लोगों के आवागमन का कारण पूछा। धर्मयश मुनि द्वारा अनशन किये जाने के समाचार सुनकर दोनों भाइयों ने वत्सका नदी के तट पर दोनों सेनाओं का पड़ाव डाला। धारिणी आदि साध्वियां, अवन्तीसेन, मणिप्रभ और उन दोनों राजाओं की सेनाओं ने पहाड़ पर चढ़कर गुफा में स्थित अनशन किये हुए मुनि के दर्शन किये। हजारों कण्ठों ने जयघोष कर मुनि के अपूर्व त्याग, वैराग्य और अनशन की महिमा का गान किया। मुनि के अनशन के अन्त तक साध्वी धारिणी की उसी स्थान पर ठहरने की इच्छा जानकर उन दोनों भाइयों ने भी अपनी सेनाओं के साथ उस ही स्थान पर रहने का निश्चय किया। मुनि धर्मयश के अनशन की यशोगाथाएं दिग्दिगन्त में दूर-दूर तक गाई जाने लगीं। दिन भर उस पर्वत पर अनशनस्थ मुनि के दर्शनार्थ आने वाले यात्रियों का आवागमन बना रहता। अन्त में मुनि ने लम्बे अनशन के पश्चात् देहत्याग किया। अपूर्व श्रद्धा और सम्मान के साथ धर्मयशमुनि के पार्थिव शरीर का राजकीय ऋद्धि के साथ अन्तिम संस्कार किया गया। इस प्रकार किंचितमात्र भी यश की कामना न करने वाले धर्मयश मुनि का यश चारों ओर छा गया।[1]

तदनन्तर अवन्तीसेन और मणिप्रभ ने उज्जयिनी की ओर प्रस्थान किया। महत्तरिका ने भी धारिणी आदि साध्वियों के साथ उज्जयिनी की ओर विहार किया।

कौशाम्बीपति मणिप्रभ का बड़े महोत्सव के साथ अवन्तीसेन ने उज्जयिनी में प्रवेश करवाया। मणिप्रभ के सम्मान में राज्य और उज्जयिनी की प्रजा दोनों ही ओर से आनन्दोल्लास के साथ अनेक उत्सवों के आयोजन किये गये। कतिपय दिनों तक अपने अग्रज के साथ उज्जयिनी में रहने के पश्चात् मणिप्रभ अपने राज्य की राजधानी कौशाम्बी में लौट आया।

---

[1] ...ताओ भणंति-भत्तपच्चक्खातओ एत्थ ता अम्हे अच्छामो, ताहे ते दोवि रायाणो तिन्ना दिवे दिवे महिमं करेंति, कालगता एवं ते गया रायाणो, एवं तस्स अणिच्छमाणस्सवि जाता, इतरस्स इच्छमाणस्स न जाता पूजा। [आवश्यक चूर्णि, उत्तर भाग, पृ० १६१]

उज्जयिनी और कौशाम्बी राज्यों का दीर्घकाल तक बड़ा स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रहा। पारस्परिक सहयोग, व्यापार तथा कला-कौशल एवं विद्या के आदान-प्रदान के कारण दोनों राज्यों के कोष और प्रजा की सुख समृद्धि में उन दिनों उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई।

कहा जाता है कि वत्सका नदी के तटवर्ती पर्वत पर आर्य सुधर्मा के श्रमण-संघ के मुनि धर्मयश के अनशनपूर्वक पण्डितमरण की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये उज्जयिनी के राजा अवन्तीसेन और कौशाम्बी के राजा मणिप्रभ ने एक स्तूप का निर्माण करवाया था जो आज सांची के स्तूप के रूप में विख्यात है।[1] इस सम्बन्ध में समीचीन रूप से शोध करने और ठोस प्रमाण एकत्रित करने की आवश्यकता है।

कौशाम्बी (वत्सराज्य) का पौरव राजवंश

केवलिकाल के प्रथम चरण में कौशाम्बी पर पौरव राजवंश का शासन रहा पर द्वितीय चरण में जैसा कि उज्जयिनी के प्रद्योत राजवंश के विवरण में बताया जा चुका है – कौशाम्बी के राजा अजितसेन ने निसन्तान होने के कारण अवन्ती के राष्ट्रवर्द्धन के नवजात पुत्र को अपने पुत्र की तरह पाला और उसका नाम मणिप्रभ रखा।

अजितसेन की मृत्यु के पश्चात् कौशाम्बी के राज्य सिंहासन पर मणिप्रभ बैठा जो कि चण्ड प्रद्योत का प्रपौत्र था। इस प्रकार कौशाम्बी पर पौरव राजवंश के स्थान पर प्रद्योत राजवंश का अधिकार हो गया।

कौशाम्बी पति मणिप्रभ के राज्यकाल की कतिपय घटनाओं का प्रद्योत राजवंश के परिचय में उल्लेख कर दिया गया है। उन घटनाओं के अतिरिक्त केवलिकाल में कौशाम्बी के राजवंश से सम्बन्धित कोई ऐतिहासिक महत्व की घटनाओं के घटित होने का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

कलिंग का चेदि राजवंश

केवलिकाल में वीर नि० सं० १७ तक चेदि राजवंश के राजा सुलोचन का राज्य रहा। हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेखानुसार वीर नि० सं० १८ में सुलोचन के अपुत्रावस्था में निधन पर वैशाली गणराज्य के अधीश्वर महाराज चेटक के पुत्र शोभनराय को कलिंग के सिंहासन पर अभिषिक्त किया गया। हिमवन्त स्थविरावली में यह उल्लेख किया गया है कि वैशाली के अधिपति चेटक ने कूणिक के साथ युद्ध में अपनी पराजय के पश्चात् अनशन द्वारा स्वर्गारोहण किया। उनके पुत्रों में से शोभनराय नाम का एक पुत्र अपने श्वसुर कलिंगपति सुलोचन के पास कनकपुर चला गया। कलिंगपति सुलोचन के कोई पुत्र

---

[1] जैन परम्परा नो इतिहास, भा० १, (त्रिपुटी महाराज) [पृ० ७४, ७६]

नहीं था अतः उन्होंने अन्तिम समय में अपने जामाता शोभनराय को कलिंग राज्य का अधिपति बनाकर परलोक गमन किया। शोभनराय जैन धर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा रखने वाला प्रमुख श्रमणोपासक था।[1]

केवलिकाल में केवल कलिंग के राजवंश का ही नहीं अपितु भारत के प्रायः सभी अन्य राजवंशों का तेज शिशुनागवंश के बढ़ते हुए प्रताप के समक्ष एक प्रकार से निस्तेज तुल्य ही रहा।

---

[1] अह वेसाली णयराहिवो चेडओ णिवो सिरि महावीर तित्थयरस्सुक्किट्ठो समणोवासओ आसी। से णं णिय भाइणिज्जेणं चंपाहिवेणं कुणिगेणं संगामे अहिणिक्खित्तो अणसणं किच्चा सग्गं पत्तो। तस्सेगो सोहणरायनामधिज्जो पुत्तो तओ उच्चलिओ णिय ससुरस्स कलिंगाहिवस्स सुलोयण णामधिज्जस्स सरणं गओ। सुलोयणो वि णिप्पुत्तो तं सोहणरायं कलिंग रज्जे ठाइत्तां परलोआतिहि जाओ। तेणं कालेणं तेणं समएणं वीराओ अट्ठारस वासेसु विइक्कंतेसु से सोहणराओ कलिंग विसए कणगपुरम्मि अभिसित्तो। से वि य णं जिणधम्मरओ तत्थ तित्थभूए कुमरगिरिम्मि कयजत्तो उक्किट्ठो समणोवासगो होत्था।

[हिमवंत स्थविरावली, अप्रकाशित]
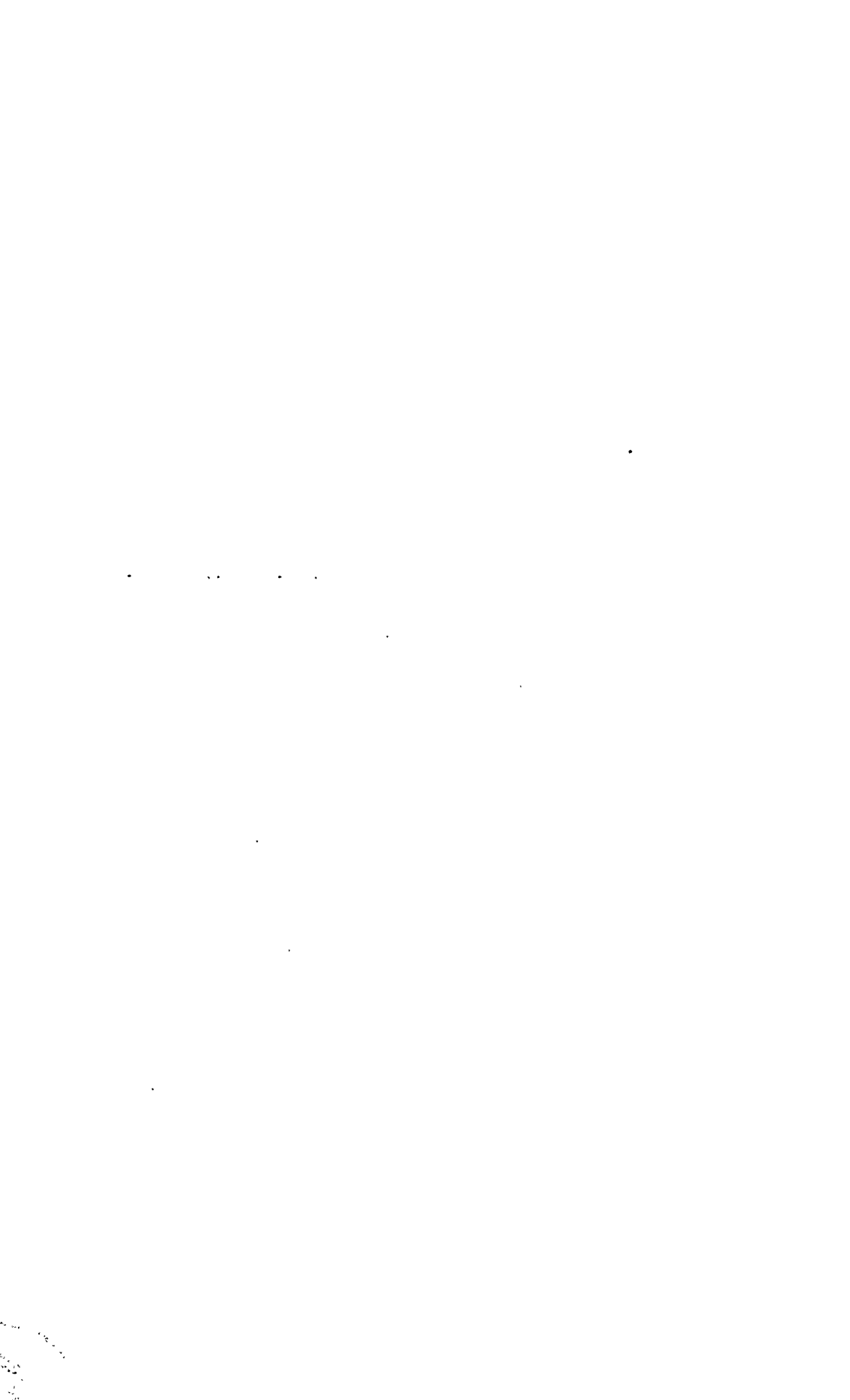
श्रुतकेवली-काल

वीर नि० सं० ६४ में केवलिकाल की समाप्ति के साथ ही श्रुतकेवलिकाल प्रारम्भ हुआ। श्रुतकेवली का मतलब है समस्त श्रुतशास्त्र अर्थात् द्वादशांगी का केवली के समान पारगामी ज्ञाता एवं व्याख्याता। आगम में श्रुतकेवली को जीव, अजीव आदि समस्त तत्वों के व्याख्यान में केवली के समान ही समर्थ बताया गया है।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार श्रुतकेवलिकाल वीर नि० सं० ६४ से वीर नि० सं० १७० तक रहा और श्रुतकेवलिकाल की उस १०६ वर्ष की अवधि में निम्नलिखित ५ श्रुतकेवली हुए :–

१. प्रभवस्वामी
२. सय्यंभवस्वामी
३. यशोभद्रस्वामी
४. संभूतविजय–और
५. भद्रबाहुस्वामी

दिगम्बर मान्यता :– दिगम्बर परम्परा के अधिकांश ग्रन्थों एवं प्राय: सभी पट्टावलियों में वीर नि० सं० ६२ से वीर नि० सं० १६२ तक कुल मिला कर १०० वर्ष का श्रुतकेवलिकाल माना गया है। दिगम्बर परम्परा द्वारा सम्मत ५ श्रुतकेवलियों के नाम एवं उनका आचार्यकाल इस प्रकार है :–

१. विष्णुनन्दि अपरनाम नन्दि	वी० नि० सं० ६२ से ७६
२. नन्दिमित्र ,, ,,	वी० नि० सं० ७६ से ९२
३. अपराजित	वी० नि० सं० ९२ से ११४
४. गोवर्धन	वी० नि० सं० ११४ से १३३
५. भद्रबाहु प्रथम	वी० नि० सं० १३३ से १६२

३. आचार्य प्रभवस्वामी

जम्बूस्वामी के पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी के तृतीय पट्टधर आचार्य प्रभवस्वामी हुए। आप ३० वर्ष गृहस्थ-पर्याय में, ६४ वर्ष सामान्य व्रतपर्याय में और ११ वर्ष तक युगप्रधान-आचार्य के रूप में रह कर शासन सेवा करते रहे। आपकी कुल व्रतपर्याय ७५ वर्ष और पूर्ण आयु १०५ वर्ष थी। आचार्य प्रभवस्वामी वीर निर्वाण संवत् ७५ में स्वर्ग पधारे।[1] आपका जीवन परिचय संक्षेप में इस प्रकार है :–

प्रभवकुमार विन्ध्याचल की तलहटी में स्थित जयपुर नामक राज्य के कात्यायन गोत्रीय क्षत्रिय महाराजा विन्ध्य के ज्येष्ठ पुत्र थे। राजकुमार प्रभव का जन्म ईसा पूर्व ५५७में विन्ध्य प्रदेश के जयपुर नगर में हुआ। इन के लघु भाई का नाम सुप्रभ था। दोनों का लालन-पालन राजकुल के अनुरूप बड़े दुलार और प्यार के साथ हुआ। राजकुमार प्रभव को शिक्षा-योग्य वय में राज्याधिकारी राजकुमारों के अनुरूप शिक्षा-दीक्षा दी गई। वे बड़े साहसी और तेजस्वी राजकुमार थे।

जिस समय राजकुमार प्रभव किशोरावस्था पार कर १६ वर्ष के हुए उस समय उनके पिता जयपुर नरेश विन्ध्य किसी कारणवश उनसे अप्रसन्न हो गये। उन्होंने क्रुद्ध हो राजकुमार प्रभव को राज्य के अधिकार से वंचित कर दिया और अपने कनिष्ठ पुत्र सुप्रभ को अपने राज्य का उत्तराधिकारी युवराज घोषित कर दिया।

डाकू सरदार प्रभव

अपने न्यायोचित पैतृक अधिकार से वंचित कर दिये जाने के कारण राजकुमार प्रभव को बड़ा मानसिक आघात पहुंचा और वे पिता से रुष्ट हो घर-द्वार छोड़ कर विन्ध्य पर्वत के विकट और भयानक जंगलों में रहने लगे। विन्ध्याटवी में रहने वाले लुटेरों ने साहसी एवं युवा राजकुमार प्रभव के साथ संपर्क स्थापित किया। लूट के अभियानों में राजकुमार प्रभव उन लुटेरों के साथ रहने लगे। प्रभव के पराक्रम और साहस को देख कर डाकुओं के गिरोह ने उन्हें अपना सरदार बना लिया। अब डाकू-सरदार प्रभव अपने ५०० डाकुओं के शक्तिशाली दल के साथ दिन-दहाड़े बड़े-बड़े कस्बों और ग्रामों को आये दिन लूटने लगे। डाकू-सरदार प्रभव को डकैती के अभियानों में ज्यों-ज्यों सफलताएं प्राप्त होती गई त्यों-त्यों उसकी महत्वाकांक्षाएं भी बढ़ती गई। अपनी महत्वा-

---

[1] गुरुपट्टावली, तपागच्छ पट्टावली आदि अनेक ग्रन्थों में गणना की भूल के कारण प्रभवस्वामी की सामान्य व्रतपर्याय ४४ वर्ष लिख दी है जब कि वह ६४ वर्ष होती है। गणना की इस त्रुटि के कारण आर्य प्रभव की कुल आयु भी उन ग्रन्थों में ८५ वर्ष ही लिखी है। वस्तुतः आ० प्रभव की कुल आयु १०५ वर्ष ही ठीक बैठती है। — सम्पादक

कांक्षाओं की पूर्त्ति के लिये उसने तालोद्घाटिनी विद्या – (मजबूत से मजबूत तालों को अनायास ही खोल डालने की विद्या) और "अवस्वापिनी विद्या" – (लोगों को प्रगाढ़ निद्रा में सुला देने वाली विद्या) – इन दो विद्याओं की भी प्रयत्नपूर्वक साधना कर ली। अपने शक्तिशाली डाकूदल और उपरोक्त दोनों विद्याओं के बल पर डाकू सरदार प्रभव बड़े से बड़े शहरों में रहने वाले धनाढ्यों के घरों में निशंक हो प्रवेश करता और बिना लहू की एक बूंद बहाये ही अपार सम्पत्ति लूटने में सफल हो जाता। चारों ओर डाकू सरदार प्रभव का भयंकर आतंक छा गया।

प्रभव द्वारा श्रेष्ठी ऋषभदत्त के घर डाका

एक दिन डाकू सरदार प्रभव को उसके चरों ने सूचना दी कि राजगृह नगर में कुबेर के समान अपरिमित सम्पत्ति के स्वामी ऋषभदत्त श्रेष्ठी के पुत्र जम्बूकुमार का आठ बड़े-बड़े सम्पत्तिशाली श्रेष्ठियों की ८ कन्याओं के साथ विवाह हुआ है और विवाह के अवसर पर जम्बूकुमार को अन्य अपरिमित दहेज के साथ-साथ कई करोड़ स्वर्णमुद्राएं भी प्राप्त हुई हैं।

चरों के मुंह से जम्बूकुमार को दहेज में मिलने वाली सम्पत्ति और श्रेष्ठी ऋषभदत्त के घर में विद्यमान विपुल सम्पत्ति का व्यौरा सुन कर डाकुओं ने अपने सरदार प्रभवकुमार से कहा – "स्वामिन् ! इस अवसर का लाभ उठाने पर एक ही बार में इतनी सम्पत्ति मिल जायगी कि उससे हम सब लोगों की अनेक पीढ़ियां सुखपूर्वक जीवनयापन कर सकेंगी।"

प्रभव ने इसे स्वर्णिम अवसर समझ कर अपने ५०० साथियों के साथ शस्त्रास्त्रों से सजधज कर राजगृह की ओर प्रयाण कर दिया।

रात्रि के समय तालोद्घाटिनी विद्या के प्रयोग से मुख्य द्वार खोल कर प्रभव ने अपने ५०० साथियों के साथ जम्बूस्वामी के गृह में प्रवेश किया। उसने अवस्वापिनी विद्या के प्रयोग से विवाहोत्सव पर एकत्रित हुए सभी स्त्री-पुरुषों एवं घर के समस्त लोगों को प्रगाढ़ निद्रा में सुला दिया। तालोद्घाटिनी विद्या के प्रभाव से जम्बूकुमार के सुविशाल भव्य भवन के सभी कक्षों के ताले तत्क्षण खुल गये। प्रभव एवं उसके साथियों ने देखा कि सभी कक्ष अनमोल एवं अपार सम्पत्ति से भरे पड़े हैं।

चोरों का स्तंभन

प्रभव के ५०० साथियों ने अवस्वापिनी विद्या के प्रभाव से प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए जम्बूस्वामी के अतिथियों के अंग-प्रत्यंगों से रत्नजटित अनमोल आभूषण उतारना और विभिन्न कक्षों से बहुमूल्य सम्पत्ति एकत्रित करना प्रारम्भ किया।

जम्बूस्वामी पर अवस्वापिनी विद्या का किंचित्‌मात्र भी प्रभाव नहीं हुआ था। जब उन्होंने देखा कि अतिथियों के अंगप्रत्यंग पर से चोरों द्वारा आभूषण

उतारे जा रहे हैं, तो उन्होंने घनरव गम्भीर स्वर में कहा – "तस्करो ! तुम लोग इन अतिथियों के आभूषण क्यों उतार रहे हो ?"

जम्बूस्वामी के मुख से उपरोक्त वाक्य के निकलते ही प्रभव के सभी ५०० साथी चित्रलिखित की तरह, जहां जिस मुद्रा में थे, वहां उसी रूप में स्तंभित हो गये ।[1]

अपने ५०० साथियों को चित्रलिखित से निश्चल मुद्रा में खड़े देख कर प्रभव को बड़ा आश्चर्य हुआ । उसने अपने उन साथियों में से कई का नाम ले ले कर उन्हें पुकारा, उनके कंधे पकड़-पकड़ कर झकझोरा पर सब व्यर्थ । वे सब ज्यों के त्यों खड़े के खड़े ही रह गये । प्रभव ने इसका कारण जानने के लिये एक के बाद एक, सारे कक्षों को देख डाला पर सर्वत्र निस्तब्धता और निद्रा का साम्राज्य था । जब वह जम्बूकुमार के शयनकक्ष की ओर बढ़ा तो उसने वहां तारिकाओं से घिरे हुए शरदपूर्णिमा के प्रकाशपुंज पूर्णचन्द्र के समान अपनी आठ नववधुओं के साथ सुखासन पर विराजमान जम्बूकुमार को देखा । प्रभव ने जम्बूकुमार को प्रगाढ़ निद्रा में सुला देने हेतु अपनी अवस्वापिनी विद्या का प्रयोग किया किन्तु उसे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उसकी कभी नहीं चूकने वाली उस विद्या का जम्बूकुमार पर कोई प्रभाव नहीं हो रहा है ।

प्रभव का जम्बू से निवेदन

प्रभव ने हाथ जोड़ कर जम्बूकुमार से कहा : – "भाग्यवान् ! मुझे निश्चय हो गया है कि आप कोई महापुरुष हैं । आपने कदाचित् सुना होगा, मैं जयपुर नरेश विन्ध्यराज का बड़ा पुत्र प्रभव हूं । आपके प्रति मेरे हृदय में मैत्री के भाव प्रबल वेग से उमड़ रहे हैं । मैं आपके साथ मैत्री-सम्बन्ध चाहता हूं । कृपा कर आप मुझे अपनी "स्तंभिनी" और 'मोचनी" विद्याएं सिखा दीजिये । मैं आपको तालोद्घाटिनी और अवस्वापिनी नामक दो विद्याएं सिखाये देता हूं ।"

इस पर जम्बूकुमार ने कहा – "सुनो प्रभव ! वस्तुस्थिति यह है कि मैं अपने समस्त कुटुम्बी जनों और अपरिमित वैभव का परित्याग कर कल ही प्रातःकाल प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहा हूं । वैसे मैंने भाव से सभी प्रकार के आरम्भ-समारम्भों का परित्याग कर दिया है । मैं पंचपरमेष्ठि का ध्यान करता हूं अतः मुझ पर किसी विद्या का अथवा देवता का प्रभाव नहीं हो सकता । मुझे इन पापानुबन्धी विद्याओं से कोई प्रयोजन नहीं है । क्योंकि ये सब घोरातिघोर दुःखपूर्ण दुर्गतियों में भटकाने वाली हैं । न मेरे पास कोई स्तंभिनी विद्या है और न विमोचनी ही । मैंने तो आर्य सुधर्मा स्वामी से भवविमोचनी विद्या ग्रहण कर रखी है ।"

जम्बूकुमार की बात सुन कर प्रभव आश्चर्यमग्न हो विस्फारित नेत्रों से उनकी ओर देखता ही रह गया। वह सोचने लगा—कैसा अश्रुतपूर्व महान् आश्चर्य है ? यौवन की मध्याह्नवेला में बल, वैभव और सौन्दर्य की अतुल राशि को पाकर भी देवकन्याओं जैसी आठ-आठ रमणियों के बीच निर्लिप्त रहने वाला यह कौन शूरशिरोमणि है ? इन सब का इस महापुरुष ने तृणवत् परित्याग कर दिया। यह तो कोई अलौकिक अनुपम ज्ञानी, अद्भुत विरागी पुरुष है। वस्तुतः यह वन्दनीय और पूजनीय है। सहसा प्रभव का सांजलि शीश जम्बूकुमार के समक्ष झुक गया।

जम्बू और प्रभव का संवाद

प्रभव असीम आत्मीयता से ओतप्रोत स्वर में कहने लगा – "जम्बूकुमार! आप स्वयं विज्ञ हैं। फिर भी मैं एक बात आपसे निवेदन करता हूं। संसार में रमा और रामा – ये दो अमृतफल हैं, जो देव को भी सहसा दुर्लभ हैं पर सौभाग्य से आपको ये दोनों अमृतफल प्राप्त हैं। आप इनका यथेच्छ, जी भर कर उपभोग कीजिये। भविष्य के गर्भ में छुपे बड़े से बड़े सुख की आशा में, उपलब्ध सुख के परित्याग की पण्डितजन प्रशंसा नहीं करते। अभी तो आपकी वय संसार के इन्द्रियजन्य सुखों के उपभोग करने की है। मेरी समझ में नहीं आता कि इस असमय में भोग-मार्ग से मुख मोड़ कर आपने अपने मन में प्रव्रजित होने की बात क्यों सोच रखी है ? जिन लोगों ने आनन्दप्रद सांसारिक भोगोपभोगों का जी भर रसास्वादन कर लिया हो और जिनकी अवस्था परिपक्व हो चुकी हो, ऐसे व्यक्ति यदि धर्म का आचरण करें, तो उस स्थिति में त्याग का औचित्य समझ में आ सकता है।"

इस पर जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! तुम जिन्हें सुख समझते हो वे तथाकथित विषयसुख मधुबिन्दु के समान अति तुच्छ, नगण्य और क्षणिक हैं। इनका परिणाम अत्यन्त दुःखदायी है।"

प्रभव ने पूछा – "बन्धुवर ! वह मधुबिन्दु क्या है ?"

इस पर जम्बूकुमार ने प्रभव को मधुबिन्दु का आख्यान सुनाया, जो इस प्रकार है :–

मधुबिन्दु का दृष्टान्त

धनोपार्जन की अभिलाषा से एक सार्थवाह अनेकों अन्य अर्थार्थियों को साथ लिये देशान्तर की यात्रा को चला। उसके साथ एक बुद्धिहीन निर्धन व्यक्ति भी था। दूरस्थ प्रदेश की यात्रा करता हुआ वह सार्थ एक जंगल में पहुंचा। वहां एक डाकुओं के दल ने सार्थ पर आक्रमण कर उसे लूटना चाहा। वह गरीब व्यक्ति भय के मारे वहां से किसी न किसी प्रकार अपने प्राण बचा कर भाग निकला। पर थोड़ी ही दूर चलने पर उसने देखा कि एक भयानक जंगली हाथी उसका पीछा कर रहा है। अपने प्राणों की रक्षा हेतु उसने इधर-उधर देखा कि

कहीं कोई सुरक्षित स्थान मिल जाय। उसकी दृष्टि पास ही के एक वट वृक्ष पर पड़ी। उसने वट वृक्ष के प्ररोहों को पकड़ने के लिये कूप के पास पहुंच कर छलांग मारी और वट वृक्ष के प्ररोहों को पकड़ लिया।

कुछ समय के लिये अपने आपको सुरक्षित समझ कर उसने बड़ की शाखा पर लटके-लटके ही कुए के अन्दर की ओर दृष्टि दौड़ाई, तो उसने देखा कि कुएं के बीचोंबीच एक बहुत बड़ा भयंकर अजगर अपना मुंह फैलाये, जिह्वा लपलपाते हुए उसकी ओर सतृष्ण नेत्रों से देख रहा है और उससे आकार-प्रकार में छोटे चार अन्य सर्प कुएं के चारों कोनों में बैठे हुए उसकी ओर मुँह खोले देख रहे हैं। भय के कारण उसका सारा शरीर कांप उठा। अब उसने ऊपर की ओर आंखें उठाईं तो देखा कि दो चूहे, जिनमें से एक काले रंग का और दूसरा श्वेत रंग का है, जिस शाखा के सहारे वह लटक रहा है, उसी को बड़ी तेजी से काट रहें हैं।

यह सब कुछ देखकर उसे पक्का विश्वास हो गया कि उसके प्राण निश्चित रूप से पूर्ण संकट में हैं और अब उसके बचाव का कोई उपाय नहीं है। इधर उस व्यक्ति के पदचिन्हों की टोह लेता हुआ वह जंगली हाथी भी कुएं के पास पहुंचा और उस वृक्ष को जोर-जोर से हिलाने लगा। वृक्ष पर मधुमक्खियों का एक बहुत बड़ा छत्ता था। वृक्ष के हिलने से मधुमक्खियां उड़-उड़कर उस आदमी के रोम-रोम में डंक लगाने लगीं, जिसके कारण उसके शरीर में असह्य पीड़ा और जलन होने लगी। अब तो साक्षात् मृत्यु उसकी आंखों के समक्ष नाचने लगी। मृत्यु के भय से वह सिहर उठा।

सहसा मधुमक्खियों के छत्ते में से एक शहद की बून्द टपक कर उसके मुंह में गिरी। उस घोर दुःखदायी और संकटपूर्ण स्थिति में भी मधु की एक बिन्दु के मधुर रसास्वाद पर मुग्ध हो वह अपने आपको सुखी समझने लगा।

ठीक उसी समय आकाशमार्ग से गमन करता हुआ एक विद्याधर उस ओर से निकला। उसने कुएं में लटकते हुए और सब ओर संकटों से घिरे उस व्यक्ति की दयनीय स्थिति पर दया कर उससे कहा – "ओ मानव ! तुम मेरा हाथ पकड़ लो। मैं तुम्हें इस कुएं में से निकालकर और सब संकटों से बचाकर सुखद एवं सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दूंगा।"

शाखा पर लटके एवं संकटों में फंसे हुए उस व्यक्ति ने उत्तर में विद्याधर से कहा – "तुम थोड़ी देर प्रतीक्षा करो। देखो वह मधुबिन्दु मेरे मुंह में टपकने वाली है।"

पर्याप्त प्रतीक्षा करने के पश्चात् उस विद्याधर ने देखा कि घोर दुःखों से पीड़ित होते हुए और मृत्यु के मुंह में फंसा होकर भी यह अभागा मधु-बिन्दु के लोभ को नहीं छोड़ रहा है, तो वह उसे वहां छोड़कर अपने सुन्दर एवं सुखद आवास की ओर चला गया और वह दुःखी व्यक्ति अनेक प्रकार की असह्य यातनाओं को भोगता हुआ अंततोगत्वा काल का कवल बन गया ।

जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! इस दृष्टान्त में वर्णित अर्थार्थी वणिक् – संसारी जीव, भयानक वन– संसार, हाथी–मृत्यु, कुआ– देवमानवभव, वणिज– संसार की तृष्णा, अजगर-नरक और तिर्यंच गति, चार भीषण सर्प – दुर्गतियों में ले जाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी चार कषाय, वट वृक्ष की शाखा– प्रत्येक गति की आयु, काले और श्वेत रंग के दो चूहे – कृष्ण और शुक्ल पक्ष, जो रात्रि और दिन रूपी अपने दांतों से आयुकाल की शाखा को निरन्तर काट रहे हैं। वृक्ष-कर्मबन्ध के हेतुरूप अविरति और मिथ्यात्व, मधुबिन्दु–पांचों इन्द्रियों के विषय सुख और मधुमक्खियां–शरीर में उत्पन्न होने वाली अनेक व्याधियां हैं। विद्याधर हैं सद्गुरु जो कि भवकूप में पड़े हुए दुःखी प्राणियों का उद्धार करना चाहते हैं।"

प्रभव से जम्बूकुमार ने प्रश्न किया – "प्रभव ! अब तुम बताओ कि जिन परिस्थितियों में वह व्यक्ति कुएं के अन्दर लटक रहा था, उसे कितना सुख था और कितना दुःख ?"

प्रभव ने क्षणभर के लिये विचार कर कहा – "लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् जो शहद की एक बून्द उसके मुख में गिरती थी, बस यही एक थोड़ा-सा उसे सुख था, शेष सब दुःख ही दुःख थे ।"

जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! यही स्थिति संसार के प्राणियों के सुख और दुःख पर घटित होती है। अनेक प्रकार के भय से घिरे हुए उस व्यक्ति को वस्तुतः नाममात्र का भी सुख कहां ? ऐसी दशा में मधुबिन्दु के रसास्वाद में सुख की कल्पनामात्र कही जा सकती है, वस्तुतः सुख नहीं ।"

जम्बूकुमार ने प्रभव से पुनः प्रश्न किया– "प्रभव ! इस प्रकार की दयनीय और संकटपूर्ण स्थिति में कोई व्यक्ति फंसा हुआ हो और उसे कोई परोपकारी पुरुष कहे – "ओ दुःखी मानव ! ले मेरा हाथ पकड़ ले, मैं तुझे इस घोर कष्टपूर्ण स्थान से बाहर निकालता हूं ।" तो वह दुःखी व्यक्ति उस परोपकारी महापुरुष का हाथ पकड़कर बाहर निकलना चाहेगा या नहीं ?"

प्रभव ने उत्तर दिया – "दुःखों से अवश्य बचना चाहेगा ।"

जम्बूकुमार ने कहा – "कदाचित् मधुबिन्दु के स्वाद के मोह में फंस कर कोई मूढ़तावश कह दे कि पहले मुझे मधु से तृप्त होने दीजिये फिर बाहर निकाल लेना, तो वह दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता, क्योंकि उसकी इस प्रकार कभी तृप्ति होने वाली नहीं है। जिस शाखा के सहारे वह लटक रहा है, उस शाखा के काले और श्वेत मूषकों द्वारा, कटते ही वह भयंकर अजगर के मुंह में पड़ेगा ।

प्रभव ! इस प्रकार की वस्तुस्थिति को समझ जाने के पश्चात् मैं इस भवकूप में से निकलने के कार्य में किंचित्मात्र भी प्रमाद नहीं करूंगा।"

प्रभव ने जम्बूकुमार द्वारा रखी गई वस्तुस्थिति की तथ्यता को स्वीकार करते हुए प्रश्न किया – "आपने जो कहा वह तो सब ठीक है किन्तु आपके समक्ष ऐसी कौनसी दुःखपूर्ण स्थिति उपस्थित हो गई है, जिसके कारण आप असमय में ही अपने उन सब स्वजनों को छोड़कर जा रहे हैं, जो आपको प्राणों से भी अधिक चाहते हैं ?"

संसार का बड़ा दुःख

जम्बूकुमार ने उत्तर दिया "प्रभव ! गर्भवास का दुःख क्या कोई साधारण दुःख है ?" जो विज्ञ व्यक्ति गर्भ के दुःखों को जानता है, उसको संसार से विरक्त होने के लिये वही एक कारण पर्याप्त है, निर्वेद प्राप्ति के लिये उसे इसके अतिरिक्त अन्यान्य कारणों की कोई आवश्यकता नहीं रहती।" यह कह कर जम्बूकुमार ने प्रभव को गर्भवास के दुःख के सम्बन्ध में ललितांग का दृष्टान्त सुनाया, जो इस प्रकार है :–

ललितांग का दृष्टान्त

"किसी समय वसन्तपुर नगर में शतायुध नामक एक राजा राज्य करता था। शतायुध की एक रानी का नाम ललिता था। रानी ललिता ने एक दिन एक अत्यन्त सुन्दर तरुण को देखा और उसके प्रथम दर्शन में ही वह उस पर प्राणपण से विमुग्ध हो, उसके संसर्ग के लिये छटपटाने लगी। रानी ने अपनी एक विश्वस्त दासी को भेज कर उस युवक के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त की और जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वह युवक उसी वसन्तपुर नगर के निवासी समुद्रप्रिय नामक सार्थवाह का पुत्र है, तो उसने एक प्रेमपत्र लिखकर अपनी दासी के द्वारा उस युवक के पास पहुँचाया।

छल-छद्म में निपुण उस दासी ने येन-केन प्रकारेण युवक को रानी के भवन में लाकर रानी से उसका साक्षात्कार करवा दिया। रानी और ललितांग वहां निश्शंक हो विषयोपभोग में निरत रहने लगे। एक दिन राजा को अपनी रानी और युवक ललितांग के अनुचित सम्बन्ध के बारे में सूचना मिली, तो सहसा रानी के महल में वस्तुस्थिति का पता लगाने के लिये छानबीन प्रारम्भ करा दी गई। चतुर दासी को तत्काल ही इसकी सूचना मिल गई और उसने अपने तथा अपनी स्वामिनी के प्राणों की रक्षा के निमित्त ललितांग को अमेध्यकूप (गन्दा पानी डालने का कुआ) में ढकेल दिया। नितान्त अपवित्र एवं दुर्गन्धपूर्ण उस कूप में अपने आपको बन्द पाकर ललितांग अपनी दुर्बुद्धि और अज्ञानता पर अहर्निश पश्चात्ताप करते हुए विचार करने लगा – हे प्रभो ! अब अगर एक बार किसी भी तरह इस अशुचि स्थान से बाहर निकल जाऊं, तो इन भयंकर दुःखद परिणाम वाले काम-भोगों का सदा के लिये परित्याग कर दूंगा।"

ललितांग पर दया कर के वह दासी प्रति दिन प्रचुर मात्रा में उस कुएं में जूठन डालती और सार्थवाहपुत्र ललितांग उस जूठन एवं दुर्गन्धपूर्ण गन्दे पानी से अपनी भूख और प्यास शान्त करता।

अन्ततोगत्वा वर्षा ऋतु आई और वर्षा के कारण वह कुआं पानी से भर गया। सफाई का कार्य करने वाले कर्मचारियों ने गन्दे नाले से जुड़ी हुई उस कुएं की मोरी को खोला। मोरी के खोलते ही पानी के तेज वहाव के साथ ललितांग गंदे नाले में बहकर दूर, नाले के एक किनारे जा पड़ा। ललितांग एक लम्बे समय तक गंदे और बंद कुएं में रह चुका था अतः बाहर की हवा लगते ही वह मूर्च्छित हो गया। उसको गन्दे नाले के एक छोर पर मूर्च्छितावस्था में पड़े देख कर बहुत से नागरिक वहां एकत्रित हो गये। ललितांग की धाय भी मूर्च्छित युवक की बात सुन कर वहां पहुंची और बहुत समय से खोये हुए अपने ललितांग को पहिचान कर उसे सार्थवाह के घर ले आई। दीर्घकालीन उपचारों के पश्चात् ललितांग बड़ी कठिनाई से स्वस्थ हुआ।"

ललितांग के उपर्युक्त दृष्टान्त का उपसंहार करते हुए जम्बूकुमार ने कहा— "प्रभव ! इस दृष्टान्त में वर्णित ललितांग के समान संसारी जीव हैं, रानी के दर्शन के समान मनुष्यजन्म है। दासी का उपमेय इच्छा, अन्तःपुरप्रवेश—विषय-प्राप्ति, दुर्गन्धपूर्ण कूप में प्रवेश—गर्भवास का द्योतक, उच्छिष्टभोजन—माता द्वारा खा कर पचाये हुए अन्न तथा जल के स्राव के आहार का, कूप से बाहर निकलना—प्रसवकाल का और धात्री द्वारा परिचर्या—देह की पुष्टि करने वाले कर्मविपाक की प्राप्ति का प्रतीक है।"

जम्बूकुमार ने प्रभव से प्रश्न किया—"कहो प्रभव ! यदि वह रानी ललितांग को पुनः अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दे, तो क्या वह उसके निमन्त्रण को स्वीकार करेगा ?"

प्रभव ने दृढ़तापूर्ण स्वर में उत्तर दिया—"नहीं, कभी नहीं। इतना घोर नारकीय कष्ट उठा चुकने के पश्चात् वह कभी उस ओर मुंह भी नहीं करेगा।"

जम्बूकुमार ने कहा—"प्रभव ! वह कदाचित् अज्ञान के वशीभूत हो, विषयभोगों के प्रति प्रगाढ़ासक्ति के कारण पुनः रानी के निमन्त्रण पर जा सकता है किन्तु मैंने बन्ध और मोक्ष के स्वरूप को समीचीन रूप से समझ लिया है अतः मैं तो किसी भी दशा में जन्म-मरण की मूल और भवभ्रमण में फंसाने वाली रागद्वेष की परम्परा को स्वीकार नहीं करूंगा।"

इस पर प्रभव ने कहा—"सौम्य ! आपने जो कुछ कहा है, वह यथार्थ है किन्तु मेरा एक निवेदन है, वह सुनिये। लोकधर्म का निर्वहन करते हुए पति को अपनी पत्नियों का लालन-पालन एवं परितोष करना चाहिये। यह प्रत्येक पति का नैतिक दायित्व है। तदनुसार इन नववधुओं के साथ कुछ वर्षों तक सांसारिक सुखोपभोग करने के पश्चात् ही आपका प्रव्रजित होना वस्तुतः शोभास्पद रहेगा।"

अठारह प्रकार के नाते

जम्बूकुमार ने सहज शान्त स्वर में कहा – "प्रभव ! संसार में यह कोई निश्चित नियम नहीं है कि जो इस भव में पत्नी अथवा माता है, वह आगामी भव में भी पत्नी अथवा माता ही होगी । वास्तविकता यह है कि जो इस भव में माता है, वह भवान्तर में बहिन, पत्नी अथवा पुत्री भी हो सकती है । इसके अतिरिक्त इस प्रकार का विपर्यास भी होता है कि पति पुत्र के रूप में उत्पन्न हो सकता है, पिता भाई के रूप में अथवा अन्य किसी भी रूप में उत्पन्न हो सकता है । अपने कृतकर्मों के अनुसार जीव जन्मान्तरों में स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक रूप में उत्पन्न होता रहता है । ऐसी दशा में एक समय जो माता, बहिन अथवा पुत्री थी, उसके साथ पत्नी जैसा व्यवहार करते हुए किस प्रकार लालन-पालन परिपोषण किया जा सकता है ?"

प्रभव ने कहा – "महाभाग ! भवान्तरों के सम्बन्ध तो वस्तुतः दुर्विज्ञेय ही हैं, इसी कारण वर्तमान की स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए पिता, पुत्र, पति, पत्नी आदि के सम्बन्ध समझे और कहे जाते हैं ।"

जम्बूकुमार ने उत्तर में कहा – "यह सब अज्ञान का दोष है । अज्ञान के कारण ही मानव अकार्य में कार्यबुद्धि से प्रवृत्त होता है अथवा कार्याकार्य को समझते हुए भी भोगलोलुपता एवं धन-सम्पत्ति के सुख से विमोहित हो अकरणीय दुष्कार्य में प्रवृत्त तथा संलग्न होता रहता है ।"

जम्बूकुमार ने अपनी बात को प्रारम्भ रखते हुए कहा – "प्रभव ! भवान्तर की बात को छोड़ो । एक ही भव में किस तरह १८ प्रकार के सम्बन्ध हो जाते हैं और अज्ञानवश कितनी अनर्थपूर्ण घटनाएं घटित हो जाती हैं, इसका वृत्तान्त मैं तुम्हें सुनाता हूं ।

कुबेरदत्त एवं कुबेरदत्ता का आख्यान

"किसी समय मथुरा नगर में कुबेरसेना नामकी एक गणिका रहती थी । जब वह पहली बार गर्भवती हुई तो उसके पेट में बड़ी पीड़ा रहने लगी । जब उसे वैद्य को बताया गया, तो उस अनुभवी वैद्य ने कहा – "इसके गर्भ में दो बच्चे हैं, इसी कारण इसे अधिक पीड़ा हो रही है । वस्तुतः इसे अन्य कोई रोग नहीं है ।"

कुबेरसेना की माता ने अपनी पुत्री को बहुत समझाया कि वह गर्भस्राव की कोई अच्छी औषधि लेकर उस पीड़ा से छुटकारा पा ले किन्तु कुबेरसेना ने गर्भपात कराने की अपनी माता की बात को स्वीकार नहीं किया । समय पर कुबेरसेना ने एक पुत्र और एक पुत्री के युगल को एक साथ जन्म दिया । कुबेरसेना ने अपने पुत्र का नाम कुबेरदत्त और पुत्री का नाम कुबेरदत्ता रखा ।

एक दिन कुबेरसेना की माता ने उससे कहा – "बच्चों की विद्यमानता में तुम्हारा यह गणिका-व्यवसाय पूर्णतः ठप्प हो जायगा अतः तुम्हें इन बच्चों का किसी निर्जन स्थान में परित्याग कर देना चाहिये ।"

माता द्वारा बार-बार बल दिये जाने पर कुबेरसेना ने कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता के नाम की अंगूठियां बनवाईं और जब वे दोनों शिशु ग्यारह दिन के हुए तब कुबेरसेना ने उनके नाम की अंगूठियां सूत्र में पिरो कर उनके गले में बांध दीं और उन्हें बहुमूल्य रत्नों की दो गठरियों के साथ दो छोटी नावों के आकार के लकड़ी के सन्दूकों में रख दिया। रात्रि के समय कुबेरसेना ने अपने उन दोनों बच्चों सहित उन दोनों सन्दूकों को यमुना नदी के प्रवाह में बहा दिया।

नदी के प्रवाह में तैरती हुई वे दोनों सन्दूकें सूर्योदय के समय शोरिपुर नामक नगर के पास पहुंचीं। वहां यमुनास्नान करने हेतु आये हुए दो श्रेष्ठिपुत्रों ने जब नदी में सन्दूकों को आते देखा तो तत्काल उन्होंने दोनों सन्दूकों को नदी से बाहर निकाल लिया। उनमें दो शिशुओं को नामांकित मुद्रिकाओं एवं रत्नों की पोटलियों के साथ देख कर उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। परस्पर विचारविनिमय के पश्चात् एक श्रेष्ठिपुत्र बालक को और दूसरा बालिका को अपने घर ले गया। उन दोनों श्रेष्ठिपुत्रों एवं उनकी पत्नियों ने उन शिशुओं को अपनी ही संतान के समान रखा और बड़े दुलार एवं प्यार से पालन-पोषण करते हुए क्रमशः शिक्षण देकर उन्हें योग्य बनाया।

जिस समय कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता ने युवावस्था में पदार्पण किया, उस समय समान वैभव वाले उन श्रेष्ठियों ने उन्हें एक दूसरे के अनुरूप और योग्य समझ कर बड़े समारोह के साथ उन दोनों का परस्पर पाणिग्रहण करवा दिया।[1] विवाह के दूसरे दिन द्यूतक्रीड़ा की लौकिक रीति का निर्वहन करते समय कुबेरदत्ता की सहेलियों ने कुबेरदत्त की अंगूठी उतार कर कुबेरदत्ता की अंगुली में और कुबेरदत्ता की अंगूठी कुबेरदत्त की अंगुली में पहना दी। कुबेरदत्ता ने अपनी अंगूठी के साथ उसकी साम्यता देख कर बड़े ध्यान से उसे देखा। यह देख कर उसे कुतूहल के साथ ही साथ बड़ा आश्चर्य हुआ कि दोनों अंगूठियों की बनावट और उन पर अंकित अक्षरों में किंचित्मात्र भी अन्तर नहीं है। वह सोचने लगी कि इन दोनों अंगूठियों की इस प्रकार की समानता के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। उसने स्मृति पर बल देते हुए मन ही मन कहा – "हमारे पूर्वजों में इस नाम का कोई पूर्वज हुआ हो, यह बात भी आज तक किसी के मुंह से नहीं सुनी। इसके साथ ही साथ मेरे अन्तर्मन में इस कुबेरदत्त के प्रति उस प्रकार की भावना स्वल्पमात्र भी उत्पन्न नहीं हो रही है, जिस प्रकार की कि एक पत्नी के मन में अपने पति के प्रति उत्पन्न होनी चाहिये।"

उसके मन में दृढ़ विश्वास हो गया कि इस सब के पीछे अवश्य ही कोई न कोई गूढ़ रहस्य होना चाहिये। यह विचार कर कुबेरदत्ता ने अपनी अंगुली में से

[1] ततो नवीन यौवनिकानिकामरामणीयकरंजितहृदयाभ्यां ताभ्यामिभ्याभ्यां गुणदृष्टरूपरेखा-विशेषो विशेषफलवानस्त्विति कृतस्तयोरेव परिणयः।

[जम्बू चरित्र, (रत्नप्रभसूरिरचित) उपदेशमाला दोघट्टीवृत्ति]

अंगूठी निकाल कर कुबेरदत्त की उसी अंगुली में पहना दी जिसमें कि उसकी स्वयं की नामांकित अंगूठी विद्यमान थी।

दोनों अंगूठियों में पूर्ण साम्य देख कर कुबेरदत्त के मन में भी उसी प्रकार के विचार उत्पन्न हुए और उसे भी विश्वास हो गया कि निश्चित रूप से उस समानता के पीछे कोई रहस्य छुपा हुआ है। कुबेरदत्त ने कुबेरदत्ता को उसकी अंगूठी लौटा दी और अपनी अंगूठी लेकर वह अपनी माता (धर्ममाता) के पास पहुंचा। कुबेरदत्त ने अपनी माता को शपथ दिलाते हुए कहा – "मेरी अच्छी मां! मुझे साफ-साफ और सत्य बात बता दो कि मैं कौन हूं, यह अंगूठी मेरे पास कहां से आई? कुबेरदत्ता के पास भी ऐसी ही अंगूठी है जिस पर अंकित अक्षर मेरी अंगूठी पर अंकित अक्षरों से पूर्ण रूपेण मिलते-जुलते हैं।"

श्रेष्ठिपत्नी ने आदि से लेकर अन्त तक की सारी घटना कुबेरदत्त को सुना दी कि वस्तुतः वह उसका अंगज नहीं है। उसके पति ने उसे यमुना के प्रवाह में बहती हुई एक छोटी सी सन्दूक में रत्नों से भरी एक पोटली और उस अंगूठी के साथ पाया था।

श्रेष्ठिपत्नी से पूरी घटना सुनने के पश्चात् कुबेरदत्त को पक्का विश्वास हो गया कि कुबेरदत्ता वस्तुतः उसकी सहोदरा है। उसने पश्चात्ताप और उपालम्भभरे स्वर में कहा – "मां तुमने जानते-बूझते भाई का बहिन के साथ विवाह करा कर ऐसा अनुचित और निन्दनीय कार्य क्यों किया?"

श्रेष्ठिपत्नी ने भी पश्चात्तापभरे स्वर में कहा – "पुत्र! हमने जानते हुए भी मोहवश यह अनर्थ कर डाला है। पर तुम शोक न करो। वधू को केवल पाणिग्रहण का ही दोष लगा है। कोई महापाप नहीं हुआ है। जो होना था सो हो गया। अब मैं पुत्री कुबेरदत्ता को उसके घर भेज देती हूं। तुम कुछ दिनों के लिये दूसरे नगरों में घूम आओ। वहां से तुम्हारे लौटते ही मैं किसी दूसरी कन्या से तुम्हारा विवाह कर दूंगी।"

तदनन्तर कुबेरदत्त की माता ने कुबेरदत्ता को उसके घर पहुंचा दिया और कुबेरदत्त भी अपने साथ पर्याप्त सम्पत्ति एवं पाथेय ले कर किसी अन्य नगर के लिये प्रस्थित हुआ।

कुबेरदत्ता ने भी अपने घर पहुंच कर अपनी माता से अपने तथा उस अंगूठी के सम्बन्ध में शपथ दिला कर पूछा। श्रेष्ठिपत्नी ने भी यथाघटित सारी घटना उसे सुना दी।

सारी घटना सुन कर कुबेरदत्ता को संसार से विरक्ति हो गई। उसने प्रवर्तिनी साध्वी के पास प्रव्रज्या ग्रहण की और निरतिचार पंचमहाव्रतों का पालन करती हुई वह उनके साथ विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करने लगी। उसने प्रवर्तिनी से आज्ञा लेकर वह अंगूठी जिसके कारण कि उसे निर्वेद हुआ था, अपने पास रख ली। विशुद्ध-चारित्र के पालन और कठोर तपश्चरण से कुछ ही वर्षों पश्चात्

कुबेरदत्ता को अवधिज्ञान की उपलब्धि हो गई। जब कुबेरदत्ता को अवधिज्ञान से यह विदित हुआ कि उसका भाई कुबेरदत्त अपनी माता कुबेरसेना के साथ दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर रहा है तो उसे सांसारिक प्राणियों की गर्हणीय एवं दयनीय स्थिति पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने मन ही मन विचार किया— "अज्ञान के कारण मानव कितना घोर अनर्थ कर डालता है। कुबेरसेना और कुबेरदत्त को प्रतिबोध देने हेतु उसने प्रवर्तिनी की आज्ञा से कुछ आर्याओं के साथ मथुरा की ओर विहार किया। वहां पहुंच कर कुबेरसेना गणिका के घर में ही एक निवासयोग्य स्थान मांग कर कुबेरदत्ता ने वहां रहना प्रारम्भ किया। कुबेरदत्त से कुबेरसेना को एक बालक की प्राप्ति हुई थी। उस बालक को कुबेरसेना बार-बार साध्वी कुबेरदत्ता के पास लाने लगी।

कुबेरसेना और कुबेरदत्त को प्रतिबोध देने के लिये कुबेरदत्ता ने उस बालक को दूर से ही दुलारभरे स्वर में हुलराना प्रारम्भ किया— "अरे ओ नन्हें मुन्ने ! रो मत, तू मेरा भाई है, देवर भी है, पुत्र भी है, मेरी सौत (विपत्नी) का पुत्र भी है। एक तरह से तू मेरा भतीजा भी है। काका भी है। ओ मुन्ने ! जिसका तू पुत्र है वह मेरा भाई भी है, पति भी है, पिता भी, पितामह भी, श्वसुर भी और पुत्र भी है। अरे बालक ! और भी सुन ! मैं एक और निगूढ़ तथ्य का उद्घाटन तेरे समक्ष करती हूं - ओ बच्चे ! जिस स्त्री के गर्भ से तू उत्पन्न हुआ है, वह मेरी माता है। वह मेरी सास भी, विपत्नी भी, भ्रातृजाया भी, पितामही भी और बहू भी है।"

साध्वी कुबेरदत्ता द्वारा अपने पुत्र का इस प्रकार का हुलराना सुन कर कुबेरदत्त चौंका। उसने वन्दन करने के पश्चात् साध्वी से प्रश्न किया— "साध्वीजी ! आप इस प्रकार की परस्परविरोधी और असम्बद्ध बातें क्यों और किस कारण से कह रही हैं ? क्या आपकी बुद्धि में कोई भ्रान्ति हो गई है अथवा आप इस बालक के विनोद के लिये केवल क्रीडार्थ ऐसी अयोग्य बातें कह रही हैं ?"

साध्वी कुबेरदत्ता ने उत्तर में कहा— "श्रावक ! मैं जो बातें कह रही हूं वे सब सच्ची हैं। मैं तुम्हारी बहिन वही कुबेरदत्ता हूं जिसके साथ तुम्हारा पाणिग्रहण हो गया था और यह है हम दोनों की माता कुबेरसेना।"

कुबेरसेना और कुबेरदत्त आश्चर्य से अवाक् हो साध्वी की ओर निहारते ही रह गये।

तत्पश्चात् साध्वी कुबेरदत्ता ने अपने अवधिज्ञान द्वारा देखी हुई अनेक बातें उन दोनों को प्रमाणपुरस्सर सुनाई और नामांकित मुद्रिका की बात कही, जिन पर कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता के नाम अंकित थे।

साध्वी कुबेरदत्ता के मुख से समस्त यथातथ्य वृत्तान्त सुन कर कुबेरदत्त को संसार से तीव्र वैराग्य हो गया। उसने अत्यन्त विषादभरे स्वर में अपने

आपको धिक्कारते हुए कहा – "शोक ! महाशोक ! अज्ञानवश मैंने कैसा अकरणीय, अनर्थभरा घोर कुकृत्य कर डाला। आत्मग्लानि और शोक से अभिभूत हो कुवेरदत्त ने उस वालक को अपनी समस्त सम्पत्ति का स्वामी बना कर साध्वी कुवेरदत्ता को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नमन करते हुए कहा – "आपने मुझे प्रतिवोध दिया है। यह आपका मुझ पर वहुत वड़ा उपकार है। अब मैं अपना शेष जीवन आत्मसाधना में ही व्यतीत करूंगा।"

यह कह कर कुवेरदत्त घर से निकल गया। उसने एक स्थविर श्रमण के पास जा कर भागवती दीक्षा ग्रहण की और निश्चल-निर्वेद के साथ विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए अन्त में वह समाधिमरण द्वारा आयु पूर्ण कर देवरूप से उत्पन्न हुआ।

कुवेरसेना भी वोध पाकर श्राविका-धर्म का एवं गृहस्थ योग्य नियमों का पालन करती हुई अपने घर में रहने लगी और साध्वी कुवेरदत्ता अपनी प्रवर्तिनी की सेवा में लौट गई।"

उपर्युक्त आख्यान सुनाने के पश्चात् जम्बूकुमार ने प्रभव से प्रश्न किया – "प्रभव ! अब तुम ही वताओ कि उन तीनों को उपरिवर्णित वस्तुस्थिति का सही-सही वोध हो जाने के पश्चात् भी क्या कभी विषयभोगों के प्रति राग अथवा आसक्ति हो सकती है ?"

प्रभव ने कहा – "कभी नहीं।"

जम्बूकुमार ने त्यागमार्ग को अपनाने का अपना दृढ़ निश्चय दोहराते हुए कहा – "प्रभव ! कुवेरसेना आदि उन तीनों प्राणियों में से कदाचित् कोई मूढ़ता-वश प्रमत्त हो विषयसेवन की ओर प्रवृत्ति कर सकता है किन्तु मैंने अपने गुरु के पास प्रमाण पुरस्सर विषयभोगों से होने वाले महान् अनर्थों को अच्छी तरह से समझ लिया है अतः मेरे मन में विषय-भोगों के लिये कभी लेशमात्र भी अभि-लाषा उत्पन्न नहीं हो सकती।"

प्रभव का मस्तक श्रद्धा से अवनत हो गया। उसने कहा – "श्रद्धेय ! तथ्यों से ओतप्रोत अतिशय सम्पन्न आपके वचनों को सुनकर ऐसा कौनसा चेतनाशील प्राणी है, जिसे प्रतिवोध नहीं होगा। किन्तु एक बात मैं आपसे कहना चाहता हूं। वस्तुतः धन बड़े ही कठोर परिश्रम और प्रयत्नों से प्राप्त होता है। आपके पास अपार सम्पत्ति है। इस विपुल वैभव का उपभोग करने के लिये आप कम से कम एक वर्ष तक तो गृहवास में रहिये और षड्ऋतुओं के अनुकूल विषयभोगों का आनन्द लेते हुए दीन-दुःखियों की सेवा कर इस द्रव्य का सदुपयोग करिये। फिर मैं भी आपके साथ प्रव्रजित होने को तैयार हूं।"

पूर्ति में।" तत्पश्चात् जम्बूकुमार ने अर्थ के अनुचित उपयोग के सम्बन्ध में एक गोपयुवक का दृष्टांत सुनाया जो इस प्रकार है :–

गोपयुवक का दृष्टांत

"अंग जनपद के एक गोकुल में अनेक समृद्ध गोपालक रहते थे, जिनके पास अगणित गायें तथा भैंसें थीं। एक बार डाकुओं के एक सशक्त एवं सशस्त्र दल ने उस गोकुल पर आक्रमण किया। डाकू लूट में मिले धन के साथ साथ एक अत्यन्त सुन्दरी गोपयुवती को भी अपने साथ ले गये जो एक पुत्र की मां थी। जाते समय डाकू उस युवती के पुत्र को गोकुल में ही छोड़ गये और उस गोपवधू को डाकू बेचने के लिये चम्पा नगरी में ले गये, जहां एक वेश्या ने उसे खरीद लिया।

वेश्या ने उस गोपवधू को नृत्य एवं संगीत कला तथा गणिकाकर्म की उच्चकोटि की शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध किया। कुछ ही वर्षों के प्रयास से वह गोपयुवति संगीत और नृत्य कला में निष्णात एवं निपुण गणिका बन गई। वृद्धा गणिका ने गणिका-कार्य में निपुण उस गोपवधू के साथ एक रात्रि सहवास करने का एक लाख रुपया मूल्य रखा।

उधर गोकुल में रहे उस गोपवधू के पुत्र ने भी युवावस्था में प्रवेश किया। वह गोपयुवक घृतपात्रों से भरे अनेक गाडे लेकर बेचने के लिये एक दिन चम्पा नगरी में पहुंचा। घृत-विक्रय के पश्चात् उसने देखा कि अनेक युवक गणिकाओं के घरों में नृत्य संगीत का आनन्द लूटते हुए यथेप्सित क्रीड़ाएं कर रहे हैं। उसके मन में भी विचार उठा कि यदि सुन्दर से सुन्दर गणिका के साथ क्रीड़ा का आनन्द वह न ले सका तो फिर उसका सारा धन किस काम आयगा। यह विचार कर वह युवक अनेक गणिकाओं के सौन्दर्य को देखता हुआ गणिका बनी हुई उस गोपवधु के यहां जा पहुंचा। वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो, उसे मुंह-मांगा शुल्क दे और रात्रि के समय आने का कह कर अपने गाडों के पास चला आया।

संध्या के समय वह गोपयुवक स्नानादि से निवृत्त हो सुन्दर
पहन कर उस गणिका के घर की ओर चल पड़ा। एक देवी ने
युवक को उस घोर अनाचार से बचाने के लिये सवत्सा गौ का रूप
और मार्ग के बीचों-बीच बैठ गई। मार्ग में उस [illegible] का एक
मानव के मल से लिप्त हो गया। उस व्यक्ति ने [illegible] भरा
के बछड़े की पीठ पर पोंछ डाला। मनुष्य की
अपनी माता से पूछा – "मां! यह ऐसा कौन
पैर मेरे शरीर पर पोंछ रहा है?"

गौ ने भी मानव की बोली में [illegible] !
पर क्रोध मत करना, यह अभागा तो
है। इस प्रकार का दुष्कृत्य करने वाला
लिप्त पांव पोंछे, तो यह कोई आश्चर्य

यह कह कर गौ अपने बछड़े के साथ अन्तर्धान हो गई।

पशुओं के मुंह से अश्रुतपूर्व मानवभाषा सुन कर गोपयुवक को आश्चर्य के साथ-साथ उनकी बात की प्रामाणिकता पर भी विश्वास हुआ। उसने विचार किया कि डाकू लोगों ने उसकी माता का अपहरण किया था। बहुत संभव है कि वह गणिका बन गई हो। क्षणभर के ऊहापोह के पश्चात् उसने निश्चय किया कि वह उस गणिका के पास जाकर वास्तविकता का पता अवश्य लगायगा।

अपने निश्चय के अनुसार गोपयुवक उस गणिका के घर पहुंचा। चतुर गणिका ने उस युवक के समक्ष स्वादिष्ट अशन-पानादि प्रस्तुत कर नृत्य-संगीत आदि से उसका मनोरंजन करने का उपक्रम किया।

युवा गोप ने कहा – "यह सब कुछ रहने दो। सबसे पहले तुम मुझे यह बताओ कि तुम कौन हो और कहां की रहने वाली हो ?"

गणिका ने उत्तर दिया – "तरुण ! तुमने मेरे जिन गुणों पर मुग्ध होकर उनके शुल्क के रूप में विपुल धन दिया है, उन गुणों के सम्बन्ध में तुम अपने मतलब की बात करो। तुम्हें मेरी उत्पत्ति अथवा अन्य परिचय से क्या प्रयोजन है ?"

युवक ने कहा – "तुम विश्वास करो, वास्तव में मुझे तुम्हारी उत्पत्ति के परिचय से ही प्रयोजन है, अन्य बातों से नहीं। कृपा कर बिना छुपाये अपना सारा इतिवृत्त सच-सच सुना दो।"

युवक की बात सुन कर गणिका कुछ क्षणों के लिये ऊहापोहात्मक विचार-सागर में डूबी रही पर अन्ततोगत्वा उसने अपने श्वसुर-पक्ष एवं पितृपक्ष के मुख्य-मुख्य स्वजनों के नामोल्लेखपूर्वक अपने डाकुओं द्वारा अपहरण तथा गणिका द्वारा क्रय किये जाने आदि सभी घटनाओं का पूरा परिचय दे दिया।

युवा गोप लज्जित हो गणिका के चरणों पर गिर कर कहने लगा – "मां ! मैं ही तुम्हारा वह अभागा पुत्र हूं, जिससे विलग कर तुम्हें डाकू उठा लाये थे। देव-कृपा से आज हम दोनों माता और पुत्र घोर अनाचार से बच गये हैं।"

तदनन्तर गोपकुमार वृद्धा गणिका को उसके कहे अनुसार मूल्य चुका कर अपनी मां को अपने साथ गोकुल में ले गया।"

उपर्युक्त दृष्टान्त सुनाने के पश्चात् जम्बूकुमार ने प्रभव से पूछा – "प्रभव ! यदि देवता द्वारा उस गोपयुवक को प्रतिबोध नहीं दिया जाता, तो उस दशा में उस युवा गोप के धन का उपयोग कैसा होता ?"

प्रभव ने कहा "अत्यन्त गर्हणीय और नितान्त निन्दनीय।

जम्बूकुमार ने एक और प्रश्न किया – "प्रभव ! माता-पुत्र का सम्बन्ध ज्ञात हो जाने पर क्या वह युवक गणिका बनी अपनी उस माता के साथ कभी विषयोपभोग की अभिलाषा कर सकता है ?"

प्रभव ने तत्काल उत्तर दिया – "कभी नहीं, स्वप्न में भी नहीं।"

जम्बूकुमार ने कहा – "प्रतिबोध पाया हुआ प्रबुद्धचेता व्यक्ति ही सब प्रकार के अनाचारों से बच सकता है, न कि अज्ञाननिद्रा से विमूढ़ बना हुआ व्यक्ति। वस्तुतः ज्ञान द्वारा ही सब प्रकार के दुखों तथा दुष्कृत्यों से परित्राण हो सकता है।"

इस बार प्रभव ने जम्बूकुमार को श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर अनुनयपूर्ण स्वर में कहा – "स्वामिन्! आप लोकधर्म के अनुरूप सभी कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए पुत्र उत्पन्न कीजिये। पुत्र उत्पन्न करने से पितृगण परम प्रसन्न होते हैं, क्योंकि पुत्र द्वारा किये गये तर्पण के माध्यम से उनका महान् उपकार होता है। विचक्षण पुरुषों का यह कथन लोकविश्रुत है कि – पितृऋण से उन्मुक्त (पुत्र उत्पन्न करने वाला) व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग में निवास करता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि अपुत्र की गति नहीं होती, उसे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती।[1]

जम्बूकुमार ने प्रभव की युक्ति का उत्तर देते हुए कहा – "प्रभव! तुमने पितृ-ऋण से उन्मुक्त व्यक्ति के सम्बन्ध में स्वर्ग प्राप्ति की जो बात कही है, वह वस्तुतः सच नहीं है। मरने के पश्चात् अन्य भव में उत्पन्न पिता का उपकार करने की बुद्धि से किये गये अपने कार्य द्वारा पुत्र उसका कभी-कभी बड़ा अपकार भी कर डालता है, जबकि दूसरे भव में गये हुए पिता को पुत्र की ओर से वास्तव में किसी भी प्रकार की शान्ति नहीं मिलती। क्योंकि सभी प्राणियों को स्वयं द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मों का ही सुख एवं दुःख रूप फल प्राप्त होता है, न कि किसी दूसरे के द्वारा किये गये कर्म का। पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र द्वारा उसकी तृप्ति अथवा शान्ति के लिये किये गये कार्य से मृत प्राणी को तृप्ति अथवा शान्ति तो किसी भी दशा में नहीं मिल सकती। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि एक ग्रामान्तर में रहे हुए मित्र की भी श्राद्ध में ब्राह्मणों को खिलाये गये भोजन से तृप्ति नहीं होती, तो फिर लोकान्तर में स्थित जीव की इस प्रकार के तर्पण से कैसे तृप्ति हो सकती है? जलादि तर्पण से तृप्ति के विपरीत कभी कुंथू अथवा चींटी आदि जैसे छोटे-छोटे जन्तुओं के रूप में उत्पन्न हुए पिता को पुत्र द्वारा उनके तर्पण हेतु छींटे गये जल से मृत्यु आदि का कष्ट अवश्य हो सकता है।

लोकधर्म की असंगति के सम्बन्ध में मैं तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ, जो इस प्रकार है :–

महेश्वरदत्त का आख्यान

"किसी समय ताम्रलिप्ति नामक नगर में महेश्वरदत्त नामक एक सार्थवाह रहता था। उसका पिता समुद्रदत्त अत्यन्त छल-छद्म एवं लोभपूर्ण प्रवृत्ति के

---

[1] अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा, स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः॥ [वैदिक साहित्य]

कारण मर कर उसी नगर में महिष की योनि में उत्पन्न हुआ और महेश्वरदत्त की माता भी पतिवियोग के शोक से सन्तप्त हो चिन्तावस्था में काल कर उसी नगर में कुतिया के रूप में उत्पन्न हुई।

महेश्वरदत्त की युवा पत्नी गांगिला अपने घर में किसी वृद्धा का अंकुश न रहने के कारण स्वेच्छाचारिणी वन गई। एक दिन उसने एक सुन्दर युवक पर आसक्त हो उसे रात्रि के समय अपने घर आने का संकेत किया। संध्याकाल के पश्चात् गांगिला द्वार पर खड़ी हो अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करने लगी। कुछ ही क्षणों की प्रतीक्षा के अनन्तर सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत एवं शस्त्र धारण किये हुए वह जार पुरुष अपनी प्रतीक्षा में खड़ी गांगिला के पास पहुंचा। संयोगवश उसी समय महेश्वरदत्त भी उन दोनों–प्रेमी एवं प्रेमिका के मिलनस्थल पर जा पहुंचा। जारपुरुष ने अपने प्राणों को संकट में देख कर महेश्वरदत्त को मार डालने के उद्देश्य से उस पर तलवार का घातक वार किया। पर महेश्वरदत्त ने पटुतापूर्वक अपने आपको उसके प्रहार से वचाते हुए उस जारपुरुष को अपनी तलवार के प्रहार से आहत कर दिया। घातक प्रहार के कारण वह जारपुरुष कुछ ही कदम चल कर लड़खड़ाता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा। जारपुरुष ने अपने दुष्कृत्य के लिये पश्चात्ताप करते हुए विचार किया – "मेरे जैसे अभागे को अपने दुराचार का तात्कालिक फल प्राप्त हो गया।" सरल भाव से आत्मालोचन करते हुए उसकी मृत्यु हो गई और वह गांगिला के गर्भ में आया। गांगिला ने समय पर उसे पुत्र रूप में जन्म दिया। इस प्रकार महेश्वरदत्त का शत्रु वह जारपुरुष महेश्वरदत्त का लाडला लाल वन गया। महेश्वरदत्त उसे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करने लगा।

कालान्तर में महेश्वरदत्त ने अपने पिता का श्राद्ध करने का विचार किया और कुल परम्परानुसार उसने एक भैंसा खरीदा। संयोग की बात कि उसका पिता मर कर जिस भैंसे के रूप में उत्पन्न हुआ था वही भैंसा उसने खरीदा। उसने उस भैंसे को मार कर उसके मांस से तैयार की हुई भोज्य सामग्री से अपने पिता के श्राद्ध में आमन्त्रित लोगों को भोजन खिलाया। श्राद्ध के पश्चात् दूसरे दिन महेश्वरदत्त मद्यपान के साथ उस भैंसे के मांस को बड़ी रुचिपूर्वक खाने लगा। वह अपनी गोद में बैठे हुए उस जार के जीव–अपने पुत्र को महिष-मांस के टुकड़े खिला रहा था और पास ही में कुतिया के रूप में बैठी हुई अपनी मां को लाठी से मार रहा था। उसी समय एक मुनि भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए महेश्वरदत्त के घर में आये।

मुनि ने महेश्वरदत्त को अतिप्रसन्न मुद्रा में महिषमांस खाते, पुत्र को दुलार करते और कुतिया को मारते देखा। मुनि अपने अवधिज्ञान से वस्तुस्थिति को जान कर मन ही मन विचार करने लगे – "अहो! अज्ञान की कैसी विडम्वना है। अज्ञान के कारण इस मानव ने अपने शत्रु को तो गोद में ले रखा है, मां को पीट रहा है और अपने पिता के श्राद्ध में अपने पिता के जीव को ही मार कर

स्वयं खाता है और अन्य लोगों को भी खिलाता है।[1]" वे 'अहो अकार्य' कह कर घर के द्वार से ही लौट गये।

महेश्वरदत्त ने अपने मन में विचार किया कि मुनि बिना कुछ लिये ही "अहो अकार्य" कह कर घर के द्वार से ही लौट रहे हैं, क्या कारण है? मुनि से इसका कारण पूछना चाहिये, ऐसा सोच कर वह मुनि को खोजता हुआ उस स्थान पर पहुंचा जहां वे ठहरे हुए थे। महेश्वरदत्त ने मुनि को प्रणाम कर उनसे अपने घर से बिना भिक्षा लिये ही "अहो अकार्य" कह कर लौट आने का कारण पूछा।

साधु ने उत्तर दिया – "भव्य! मांसभोजियों के गृहों से, जहां मर्यादा का विचार न हो, भिक्षा ग्रहण करना हम श्रमणों के लिये कल्पनीय नहीं है।[1] मांसाशन नितान्त हिंसापूर्ण और जुगुप्सनीय है अतः मांसभोजी कुलों में मैं भिक्षा ग्रहण नहीं करता। फिर तुम्हारे घर में तो............।[2]

अपने अन्तिम वाक्य को अपूर्ण छोड़ कर ही मुनि मौनस्थ हो गये। महेश्वरदत्त ने मुनि के चरणों में अपना मस्तक रखते हुए बड़े अनुनय-विनय के साथ वास्तविक तथ्य बताने की प्रार्थना की। इस पर मुनि ने अपने अवधिज्ञान द्वारा जाना हुआ महेश्वरदत्त के पिता, माता, जारपुरुष, महिष, कुत्ती और पुत्र का सारा वृत्तान्त सुना दिया।

महेश्वरदत्त ने कहा – "भगवन्! आपने जो कुछ कहा, वह सत्य है पर क्या इन तथ्यों की पुष्टि में आप कोई प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं?" मुनि ने कहा – "कुतिया को तुम अपने भण्डार-कक्ष में ले जाओ, उसे वहां जातिस्मरण ज्ञान हो जायगा और वह अपने पंजों से आंगन खोद कर रत्नों से भरा कलश बता देगी।[3]

मुनि के कथनानुसार महेश्वरदत्त कुतिया को अपने घर के भण्डारकक्ष में ले गया। वहां जाते ही उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया और उसने अपने पंजों से कच्चा आंगन खोद कर रत्नों से भरा चरू बता दिया।

मुनि द्वारा अति निगूढ़ रहस्यों का प्रमाणपुरस्सर अनावरण हो जाने पर महेश्वरदत्त को संसार से विरक्ति हो गई। उसने उन्हीं अवधिज्ञानी मुनि के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर अपना उद्धार किया।

---

[1] किं न गृहीता भिक्षा भगवन्, मुनिराह कल्पतेऽस्माकं।
न खलु पिशिताशिवेश्मनि, महेश्वरः प्राह को हेतुः ॥२७८॥

[जम्बूचरियं, रत्नप्रभसूरिकृत]

[2] तेन न भिक्षे भिक्षां, मांसाशिकुलेष्वहं जुगुप्सावान्।
भवतो गृहे विशेषादित्युक्त्वा स स्थितस्तूष्णीम् ॥२८३॥ (वही)

अन्तर्गृहं शुनी नीता, जातजातिस्मृतिः सती।
रत्नजातं तदेषा तन्निखातं दर्शयिष्यति ॥ (वही)

दृष्टान्त के निष्कर्ष को समझाते हुए जम्बूकुमार ने कहा – "प्रभव ! लोकाचार की तो वस्तुतः इस प्रकार की स्थिति है। अज्ञानान्धतम से आवृत्त मन वाले प्राणी ही इसे प्रमाणभूत मान कर अकरणीय कार्यों में प्रवृत्ति और करने योग्य कार्यों में निवृत्ति रखते हैं। परन्तु जिनके हृदय में ज्ञान का विमल प्रकाश हो चुका है, वे लोग कभी ऐसे कार्यों में प्रवृत्त नहीं होते।

यह संसार दुःखों से ओत-प्रोत है, इस बात को जो प्राणी अनुभव करता है, उसे चाहिये कि वह संसार के समस्त प्रपंचों का परित्याग कर मोक्षप्राप्ति के लिये अपनी पूरी शक्ति लगा कर निरन्तर प्रयत्न करता रहे।"

सुख के वास्तविक स्वरूप को समझने की जिज्ञासा लिये प्रभव ने जम्बू कुमार से अन्तिम प्रश्न किया – "स्वामिन् ! विषयसुख में और मुक्तिसुख में क्या अन्तर है ?

जम्बूकुमार ने उत्तर दिया – "प्रभव ! मुक्ति का सुख अनिर्वचनीय और निरुपम है। उसमें क्षणमात्र के लिये भी कभी कोई बाधा व्यवधान नहीं आता इसलिये वह अव्याबाध है, उसका कोई छोर नहीं, उसकी कभी कहीं परिसमाप्ति नहीं अतः वह अनन्त है और देवताओं के सुख से भी वह अनन्तगुना अधिक है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता इसलिये वह अनिर्वचनीय है।

विषयजन्य तथाकथित सुख वस्तुतः सुख नहीं है, वह तो सुख की कल्पना और विडम्बनामात्र है। अशन, पान, विलेपन आदि का उपभोग करते समय सुख की कल्पना करता हुआ मानव वस्तुतः दुखों को ही निमन्त्रण देता है। अनुभवियों ने ठीक ही कहा है कि भोग में रोग का भय है।"

दुःख में सुख की कल्पना करने विषयक एक दृष्टान्त सुनाते हुए जम्बूकुमार ने कहा :–

वणिक् का दृष्टान्त

"एक समय एक व्यापारी माल से कई गाड़े भर कर सार्थ के साथ देशान्तर जाता हुआ एक विकट अटवी में पहुंचा। उस व्यापारी ने मार्ग में लेन-देन की सुविधा की दृष्टि से एक खच्चर पर खरीज (रेजगी, फुटकर सिक्के) से भरा एक बोरा लाद रखा था। जंगल में पहुंचते-पहुंचते फुटकर सिक्कों से भरा वह बोरा किसी तरह फट गया। परिणामतः बहुत से पैसे मार्ग में ही बिखर गये। ज्ञात होने पर उस व्यापारी ने अपने सभी गाडों को रोक दिया और राह में बिखरी हुई रेजगी को अपने आदमियों की सहायता से बीनने लगा। सार्थ के रक्षकों ने उस व्यापारी से कहा – "क्यों कौड़ियों के बदले में करोड़ों की सम्पत्ति को खतरे में डाल रहे हो ? यहां इस भयावह वन में चोरों का बड़ा आतंक है अतः गाड़ों को शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ने दो।"

रक्षकों की उचित सलाह को अस्वीकार करते हुए उस व्यापारी ने कहा – "भविष्य का लाभ संदिग्ध है, ऐसी दशा में जो पास में है, उसका परित्याग करना बुद्धिमानी नहीं" और वह उन फुटकर सिक्कों को बीनने में जुट गया।

साथ के अन्य लोग और सार्थ के रक्षक उस व्यापारी के माल से भरे गाड़ों को वहीं छोड़ कर आगे बढ़ गये। व्यापारी राह में बिखरे सिक्कों को बीनता रहा और शेष सार्थ रक्षकों के साथ-साथ उस घने जंगल से पार हो गया।

उस व्यापारी के साथ रक्षकों को न देख कर चोरों के एक दल ने आक्रमण किया और वे व्यापारी का सारा माल लूट कर ले गये।"

जम्बूकुमार ने दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिकरूप से घटित करते हुए कहा – "जो मनुष्य विषयों के तुच्छ और नाममात्र के तथाकथित सुख में आसक्त हो भावी मोक्षसुख की प्राप्ति का प्रयास छोड़ देते हैं, वे संसार में अनन्तकाल तक भ्रमण करते हुए उसी प्रकार शोक और दुःख से ग्रस्त रहते हैं, जैसे कौड़ियों के लोभ में करोड़ों की सम्पत्ति गंवा देने वाला यह व्यापारी।"

प्रभव का आत्मचिंतन

जम्बूकुमार द्वारा कही गई हित-मित-तथ्य-युक्ति और विरक्तिपूर्ण उपर्युक्त बातों को सुनने के पश्चात् प्रभव के अन्तर्चक्षु कुछ उन्मीलित हुए, उसके हृदय में एक प्रकार की हलचल सी प्रारम्भ हुई। उसके अन्तर्मन में विचारों का फव्वारा फूट पड़ा। उसने सोचा – "यह अतिशय कान्त, परम सुकुमार, सुधांशु से भी सौम्य, सर्वांगसुन्दर एवं मनमोहक अनुपम स्वरूप, कुबेरोपम अपरिमित वैभव, सुरबालाओं के समान अनिन्द्य सौन्दर्य एवं सर्वगुण सम्पन्न आठ पत्नियां, भव्य-भवन और सहज सुलभ प्रचुर भोग सामग्री – इन सब का तृणवत् परित्याग कर एक ओर जम्बूकुमार मुक्तिपथ के पथिक बन रहे हैं। इसके विपरीत दूसरी ओर मैं अपने पांच सौ साथियों के साथ दूसरे लोगों की उनके द्वारा कठोर परिश्रम से उपार्जित सम्पत्ति लूटने के जघन्य दुष्कृत्य में रात-दिन निरत हूँ। मैंने अगणित लोगों को उनकी प्रिय सम्पत्ति से वंचित करके रुलाया है, उनके सर्वस्व का अपहरण कर उनके जीवन को दुखमय बना डाला है। हाय ! मैंने लूट-मार और चोरी के अनैतिक, असामाजिक और घृणित कार्य को अपना कर घोरातिघोर पाप-पुंजों का उपार्जन कर लिया है। निश्चित रूप से मेरा भविष्य बड़ा ही भीषण, दुःखदायी और अन्धकारपूर्ण है।"

अपने कुकर्मों का फल कितना दारुण और भयावह होगा ! यह विचार आते ही प्रभव सिहर उठा। उसने तत्काल दृढ़ निश्चय किया कि अब वह सब प्रकार के पापपूर्ण कार्यों का परित्याग कर एवं समस्त विषयोपभोगों से विरक्त हो अपने बिगड़े भविष्य को सुधारने में और आत्मकल्याण में जुट जायगा।

मन ही मन यह निश्चय कर प्रभव ने अपना मस्तक जम्बूकुमार के चरणों पर रखते हुए हाथ जोड़ कर कहा – "स्वामिन् ! आप मेरे गुरु हैं और मैं आपका

शिष्य। आपने मुझे मोक्ष का मार्ग दिखा दिया है। मैंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मैं अब आपके साथ ही प्रव्रजित हो कर जीवनभर आपकी सेवा करूंगा। आप मुझे शिष्य रूप से स्वीकृत करें।"

जम्बूकुमार ने स्वीकृति सूचक स्वर में कहा – "अच्छा।" जम्बूकुमार द्वारा स्वीकृति सूचक शब्द के उच्चारण के साथ ही प्रभव के पांच सौ स्तंभित साथी स्तंभन से विमुक्त हो गये। प्रभव ने अपने सब साथियों को आदेश दे कर सब सम्पत्ति को जहां से हटाया था वहां यथास्थान रखवा दिया और वह जम्बूकुमार से अनुमति ले कर दीक्षार्थ अपने पिता की आज्ञा लेने हेतु तत्काल अपने साथियों सहित जयपुर नगर की ओर प्रस्थान कर गया।

प्रभव की दीक्षा और साधना

घर पहुंच कर प्रभव कुमार ने अपने कुटुम्बियों से आज्ञा प्राप्त की और दूसरे ही दिन अपने ५०० साथियों के साथ सुधर्मा स्वामी की सेवा में उपस्थित हो आर्य जम्बू के अनन्तर उनके २६ आत्मीयों एवं अपने ५०० साथियों के साथ भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार डाकुओं एवं लुटेरों के अग्रणी प्रभव साधकों के अग्रणी प्रभवस्वामी बन गये। जैसा कि जम्बूस्वामी के प्रकरण में पहले बताया जा चुका है, कुछ ग्रन्थकार जम्बू के पश्चात् कालान्तर में प्रभव का दीक्षित होना मानते हैं पर इस सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। दीक्षा ग्रहण के समय आर्य प्रभव की अवस्था ३० वर्ष की थी। आर्य प्रभव विवाहित थे अथवा अविवाहित, एतद्विषयक कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् आर्य प्रभव ने विनयपूर्वक आर्य जम्बूस्वामी के पास ११ अंगों एवं १४ पूर्वों का सम्यक् रूप से अध्ययन किया और अनेक प्रकार की कठोर तपश्चर्याएं कर के तपस्या की प्रचण्ड अग्नि में अपने कर्मसमूह को ईंधन की तरह जलाने लगे। दीक्षित होने के पश्चात् ६४ वर्ष तक उन्होंने जम्बूस्वामी की सेवा करते हुए साधक के रूप में श्रमण धर्म का पालन किया। तदनन्तर वीर निर्वाण संवत् ६४ में आर्य जम्बूस्वामी द्वारा आचार्यपद प्रदान किये जाने और आर्य जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् प्रभवस्वामी आचार्य बने। अपनी आत्मा के उद्धार के साथ-साथ प्रभवस्वामी ने युगप्रधान आचार्य के रूप में भगवान् महावीर के शासन की बड़ी निष्ठा और लगन के साथ महती सेवा एवं प्रभावना की।

उत्तराधिकारी के लिये चिन्तन

एकदा रात्रि के समय आचार्य प्रभवस्वामी योगसमाधि लगाये ध्यान में मग्न थे। शेष सभी साधु निद्रा में सो रहे थे। अर्द्धरात्रि के पश्चात् ध्यान की परिसमाप्ति पर उनके मन में विचार आया कि उनके पश्चात् भगवान् महावीर के सुविशाल धर्मसंघ का सम्यक् रूपेण संचालन करने वाला पट्टधर बनाने योग्य

कौन है ? उन्होंने श्रमणसंघ के अपने सभी साधुओं की ओर ध्यान दिया पर उनमें से एक भी साधु उन्हें अपनी अभिलाषा के अनुकूल नहीं जंचा। तत्पश्चात् उन्होंने अपने साधुसंघ से ध्यान हटा कर जब अन्य किसी योग्य व्यक्ति को खोजने के लिये श्रुतज्ञान का उपयोग लगाया, तो उन्होंने अपने ज्ञानबल से देखा कि राजगृह नगर में वत्स गोत्रीय ब्राह्मण सय्यंभव भट्ट, जो कि उन दिनों यज्ञानुष्ठान में निरत है, वह भगवान् महावीर के धर्मसंघ के संचालन के भार को वहन करने में पूर्णरूपेण समर्थ हो सकता है।

दूसरे ही दिन गणनायक प्रभवस्वामी अपने साधुओं के साथ विहार करते हुए राजगृह नगर पधारे। वहां पहुंचने पर उन्होंने अपने दो साधुओं को आदेश दिया – "श्रमणो! तुम दोनों सय्यंभव ब्राह्मण के यज्ञ में भिक्षार्थ जाओ। वहां जब ब्राह्मण लोग तुम्हें भिक्षा देने से इन्कार कर दें तो तुम उच्च स्वर से निम्न श्लोक उन लोगों को सुना कर पुनः यहां लौट आना –

"अहो कष्टमहो कष्टं, तत्वं विज्ञायते न हि।'

अर्थात् – अहो ! महान् दुःख की बात है, बड़े शोक का विषय है कि सही तत्व (परमार्थ) को नहीं समझा जा रहा है।

इस प्रकार आचार्य के संकेतानुसार तत्काल दो साधु भिक्षार्थ राजगृह नगर की ओर प्रस्थित हुए और सय्यंभव भट्ट के विशाल यज्ञ-मंडप में पहुंच कर भिक्षार्थ खड़े हुए। वहां यज्ञ में भाग लेने हेतु उपस्थित विद्वान् ब्राह्मणों ने उन दोनों साधुओं को यज्ञान्न की भिक्षा देने का निषेध कर दिया।

इस पर प्रभवस्वामी की आज्ञानुसार मुनि-युगल ने उच्च स्वर में उपरि-लिखित श्लोक का उच्चारण किया और वे अपने स्थान की ओर लौट पड़े।

मुनि-युगल द्वारा उच्चारण किये गये उपरोक्त श्लोक को जब यज्ञानुष्ठान में निरत, पास ही में बैठे हुए सय्यंभव भट्ट ने सुना तो वह इस पर ईहापोह करने लगा। वह इस बात को भलीभांति जानता था कि जैन श्रमण किसी दशा में असत्य-भाषण नहीं करते। अतः उसके मन में वास्तविक तत्वज्ञान के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की शंकाएं उठने लगीं। सय्यंभव के अन्तर्मन में उठे अनेक प्रकार के संशयों के तूफान ने जब उसे बुरी तरह झकझोरना प्रारम्भ किया, तो उसने यज्ञ का अनुष्ठान करवाने वाले अपने उपाध्याय से प्रश्न किया – "पुरोहितप्रवर ! वास्तव में तत्व का सही रूप क्या है ?"

उपाध्याय ने उत्तर में कहा – "यजमान ! सही ज्ञान का सार यही है कि वेद स्वर्ग और मोक्ष देने वाले हैं। जिन्होंने तत्वज्ञान को जान लिया है, वे कहते हैं कि वेदों के अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है।"

इस पर सय्यंभव भट्ट ने क्रुद्ध स्वर में कहा – "सच, सच बताओ कि तत्व क्या है, अन्यथा मैं तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर दूंगा।" यह कह कर सय्यंभव भट्ट ने अपनी तलवार म्यान से बाहर निकाल ली।

शिष्य। आपने मुझे मोक्ष का मार्ग दिखा दिया है। मैंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मैं अब आपके साथ ही प्रव्रजित हो कर जीवनभर आपकी सेवा करूंगा। आप मुझे शिष्य रूप से स्वीकृत करें।"

जम्बूकुमार ने स्वीकृति सूचक स्वर में कहा – "अच्छा।" जम्बूकुमार द्वारा स्वीकृति सूचक शब्द के उच्चारण के साथ ही प्रभव के पांच सौ स्तंभित साथी स्तंभन से विमुक्त हो गये। प्रभव ने अपने सब साथियों को आदेश दे कर सब सम्पत्ति को जहां से हटाया था वहां यथास्थान रखवा दिया और वह जम्बूकुमार से अनुमति ले कर दीक्षार्थ अपने पिता की आज्ञा लेने हेतु तत्काल अपने साथियों सहित जयपुर नगर की ओर प्रस्थान कर गया।

प्रभव की दीक्षा और साधना

घर पहुंच कर प्रभव कुमार ने अपने कुटुम्बियों से आज्ञा प्राप्त की और दूसरे ही दिन अपने ५०० साथियों के साथ सुधर्मा स्वामी की सेवा में उपस्थित हो आर्य जम्बू के अनन्तर उनके २६ आत्मीयों एवं अपने ५०० साथियों के साथ भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार डाकुओं एवं लुटेरों के अग्रणी प्रभव साधकों के अग्रणी प्रभवस्वामी बन गये। जैसा कि जम्बूस्वामी के प्रकरण में पहले बताया जा चुका है, कुछ ग्रन्थकार जम्बू के पश्चात् कालान्तर में प्रभव का दीक्षित होना मानते हैं पर इस सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। दीक्षा ग्रहण के समय आर्य प्रभव की अवस्था ३० वर्ष की थी। आर्य प्रभव विवाहित थे अथवा अविवाहित, एतद्विषयक कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् आर्य प्रभव ने विनयपूर्वक आर्य जम्बूस्वामी के पास ११ अंगों एवं १४ पूर्वों का सम्यक् रूप से अध्ययन किया और अनेक प्रकार की कठोर तपश्चर्याएं कर के तपस्या की प्रचण्ड अग्नि में अपने कर्मसमूह को ईंधन की तरह जलाने लगे। दीक्षित होने के पश्चात् ६४ वर्ष तक उन्होंने जम्बूस्वामी की सेवा करते हुए साधक के रूप में श्रमण धर्म का पालन किया। तदनन्तर वीर निर्वाण संवत् ६४ में आर्य जम्बूस्वामी द्वारा आचार्यपद प्रदान किये जाने और आर्य जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् प्रभवस्वामी आचार्य बने। अपनी आत्मा के उद्धार के साथ-साथ प्रभवस्वामी ने युगप्रधान आचार्य के रूप में भगवान् महावीर के शासन की बड़ी निष्ठा और लगन के साथ महती सेवा एवं प्रभावना की।

उत्तराधिकारी के लिये चिन्तन

एकदा रात्रि के समय आचार्य प्रभवस्वामी योगसमाधि लगाये ध्यान में मग्न थे। शेष सभी साधु निद्रा में सो रहे थे। अर्द्धरात्रि के पश्चात् ध्यान की परिसमाप्ति पर उनके मन में विचार आया कि उनके पश्चात् भगवान् महावीर के सुविशाल धर्मसंघ का सम्यक् रूपेण संचालन करने वाला पट्टधर बनाने योग्य

कौन है ? उन्होंने श्रमणसंघ के अपने सभी साधुओं की ओर ध्यान दिया पर उनमें से एक भी साधु उन्हें अपनी अभिलाषा के अनुकूल नहीं जंचा। तत्पश्चात् उन्होंने अपने साधुसंघ से ध्यान हटा कर जब अन्य किसी योग्य व्यक्ति को खोजने के लिये श्रुतज्ञान का उपयोग लगाया, तो उन्होंने अपने ज्ञानबल से देखा कि राजगृह नगर में वत्स गोत्रीय ब्राह्मण सय्यंभव भट्ट, जो कि उन दिनों यज्ञानुष्ठान में निरत है, वह भगवान् महावीर के धर्मसंघ के संचालन के भार को वहन करने में पूर्णरूपेण समर्थ हो सकता है।

दूसरे ही दिन गणनायक प्रभवस्वामी अपने साधुओं के साथ विहार करते हुए राजगृह नगर पधारे। वहां पहुंचने पर उन्होंने अपने दो साधुओं को आदेश दिया – "श्रमणो! तुम दोनों सय्यंभव ब्राह्मण के यज्ञ में भिक्षार्थ जाओ। वहां जब ब्राह्मण लोग तुम्हें भिक्षा देने से इन्कार कर दें तो तुम उच्च स्वर से निम्न श्लोक उन लोगों को सुना कर पुनः यहां लौट आना –

"अहो कष्टमहो कष्टं, तत्वं विज्ञायते न हि।'

अर्थात् – अहो ! महान् दुःख की बात है, बड़े शोक का विषय है कि सही तत्व (परमार्थ) को नहीं समझा जा रहा है।

इस प्रकार आचार्य के संकेतानुसार तत्काल दो साधु भिक्षार्थ राजगृह नगर की ओर प्रस्थित हुए और सय्यंभव भट्ट के विशाल यज्ञ-मंडप में पहुंच कर भिक्षार्थ खड़े हुए। वहां यज्ञ में भाग लेने हेतु उपस्थित विद्वान् ब्राह्मणों ने उन दोनों साधुओं को यज्ञान्न की भिक्षा देने का निषेध कर दिया।

इस पर प्रभवस्वामी की आज्ञानुसार मुनि-युगल ने उच्च स्वर में उपरिलिखित श्लोक का उच्चारण किया और वे अपने स्थान की ओर लौट पड़े।

मुनि-युगल द्वारा उच्चारण किये गये उपरोक्त श्लोक को जब यज्ञानुष्ठान में निरत, पास ही में बैठे हुए सय्यंभव भट्ट ने सुना तो वह इस पर ईहापोह करने लगा। वह इस बात को भलीभांति जानता था कि जैन श्रमण किसी दशा में असत्य-भाषण नहीं करते। अतः उसके मन में वास्तविक तत्वज्ञान के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की शंकाएं उठने लगीं। सय्यंभव के अन्तर्मन में उठे अनेक प्रकार के संशयों के तूफान ने जब उसे बुरी तरह झकझोरना प्रारम्भ किया, तो उसने यज्ञ का अनुष्ठान करवाने वाले अपने उपाध्याय से प्रश्न किया – "पुरोहितप्रवर ! वास्तव में तत्व का सही रूप क्या है ?"

उपाध्याय ने उत्तर में कहा – "यजमान ! सही ज्ञान का सार यही है कि वेद स्वर्ग और मोक्ष देने वाले हैं। जिन्होंने तत्वज्ञान को जान लिया है, वे कहते हैं कि वेदों के अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है।"

इस पर सय्यंभव भट्ट ने क्रुद्ध स्वर में कहा – "सच, सच बताओ कि तत्व क्या है, अन्यथा मैं तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर दूंगा।" यह कह कर सय्यंभव भट्ट ने अपनी तलवार म्यान से बाहर निकाल ली।

उपाध्याय ने काल के समान करवाल लिये अपने जजमान को सम्मुख देख कर सोचा कि अब सच्ची बात बताये बिना प्राणरक्षा असंभव है। यह विचार कर उसने कहा अर्हत् भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म ही वास्तविक तत्व और सही धर्म है। इसका सही उपदेश यहां विराजित आचार्य प्रभव से तुम्हें प्राप्त करना चाहिये।"

उपाध्याय के मुख से सच्ची बात सुन कर सय्यंभव बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने समस्त यज्ञोपकरण और यज्ञ के लिये एकत्रित पूरी की पूरी सामग्री उपाध्याय को प्रदान कर दी और स्वयं खोज करते हुए आचार्य प्रभव की सेवा में जा पहुंचा। सय्यंभव भट्ट ने आचार्य प्रभव के चरणों में प्रणाम करते हुए उनसे मोक्षदायक धर्म का उपदेश देने की प्रार्थना की।

आचार्य प्रभव ने सम्यक्त्व सहित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप धर्म की महिमा समझाते हुए सय्यंभव से कहा कि वस्तुतः यही वास्तविक तत्व, सही ज्ञान और सच्चा धर्म है। इस वीतराग मार्ग की साधना करने वाला जन्म, जरा, मरण के बन्धनों से सदा-सर्वदा के लिये छुटकारा पा कर अक्षय सुख की प्राप्ति कर लेने में सफल होता है।

आचार्य प्रभव के मुख से शुद्ध मार्ग का उपदेश सुन कर सय्यंभव भट्ट ने तत्काल ही प्रभवस्वामी के पास श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। आचार्य प्रभव द्वारा सय्यंभव भट्ट को प्रतिबोध दिये जाने का यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि हमारे महान् आचार्य अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ भविष्य में आने वाली भव्य प्राणियों की पीढ़ियों को कल्याण का मार्ग बताने वाली श्रमण परम्परा को सुदीर्घ काल तक स्थायी और सशक्त बनाने के लिये भी अहर्निश प्रयत्नशील रहते थे।

आर्य प्रभव का स्वर्गगमन

डाकुओं के अधिनायक प्रभव ने ३० वर्ष की भरपूर युवावस्था में दीक्षित हो कर ६४ वर्ष के सुदीर्घ काल तक अतिकठोर संयम का पालन किया और ११ वर्ष तक श्रमणसंघ के गौरव-गरिमापूर्ण आचार्य पद पर अधिष्ठित रह कर ७५ वर्ष तक स्व और पर का कल्याण किया। इस प्रकार के उदाहरण संसार के इतिहास में विरले ही उपलब्ध होते हैं। अन्त में १०५ वर्ष की आयु में महान् राजर्षि आचार्य प्रभव ने अपना अन्त समय सन्निकट समझ अपने शिष्य सय्यंभव को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और अनशनपूर्वक १०५ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर निर्वाण संवत् ७५ में स्वर्गगमन किया।

दिगम्बर परम्परा की मान्यता

दिगम्बर मान्यता के सभी ग्रन्थों और पट्टावलियों में भगवान् महावीर के धर्मसंघ के आचार्यों की परम्परा में आर्य जम्बू के पश्चात् आर्य प्रभव के स्थान पर विष्णु को आचार्य माना गया है।

यह पहले बताया जा चुका है कि दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ उत्तर-पुराण (पर्व ७६) में जम्बूस्वामी के शिष्य के रूप में भव नामक मुनि का और पं० राजमल्ल ने 'जम्बूचरितम्' में प्रभव का उल्लेख किया है। जम्बूचरितम् में यह भी बताया गया है कि जम्बूस्वामी के निर्वाण से कुछ दिन पश्चात् पिशाचादि द्वारा दिये गये घोर उपसर्गों के परिणामस्वरूप विद्युच्चर और उसके साथ दीक्षित हुए प्रभव आदि ५०० दस्यु राजकुमारों की मृत्यु हो गई और वे सब देव बने। उपरोक्त दोनों ग्रन्थों में इससे अधिक प्रभव का कोई परिचय नहीं दिया गया है।

जम्बूस्वामी के पश्चात् भगवान् महावीर के धर्मसंघ के आचार्य, आर्य प्रभव बने अथवा आर्य विष्णु – अपरनाम नन्दि बने – यह एक बड़ा ही जटिल, महत्त्वपूर्ण और नाजुक प्रश्न है। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् की आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में आर्य जम्बू तक सचेलक और अचेलक दोनों परम्पराओं में प्रायः मतैक्य ही दृष्टिगोचर होता है। इन्द्रभूति गौतम को प्रथम पट्टधर मानने न मानने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि उसमें विभेद की कोई गन्ध नहीं आती। अचेलक परम्परा इन्द्रभूति को प्रथम पट्टधर मानती है तो सचेलक परम्परा उन्हें पट्टधर पद से भी अधिक गरिमापूर्ण गौरव और सम्मान देती है। परन्तु जम्बूस्वामी का उत्तराधिकारी कौन बना इस प्रश्न को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के मतभेद का सूत्रपात होता है। यह मतभेद आचार्य विष्णु अपरनाम नन्दि से प्रारम्भ होकर नन्दिमित्र – अपरनाम नन्दि, अपराजित और आचार्य गोवर्धन तक चलता है। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु को दोनों परम्पराएं समान रूप से अपना अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आचार्य मानती हैं। आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् पुनः यह मतभेद प्रारम्भ होता है और उसके पश्चात् कहीं इन दोनों परम्पराओं में एतद्विषयक मतैक्य के दर्शन नहीं होते। कालान्तर में यतिवृषभ के गुरु आर्य मंक्षु और नागहस्ति का काल ही एक ऐसा काल कहा जा सकता है जिसमें ये दोनों परम्पराएं संभवतः एक दूसरी के निकट संपर्क में आई हों।

जम्बूस्वामी के उत्तराधिकारी के नामभेद को देखकर अनेक विद्वानों ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि संभवतः जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही भगवान् महावीर के धर्मसंघ में श्वेताम्बर और दिगम्बर – इस प्रकार के भेद के बीज का वपन हो चुका था। पर उन विद्वानों के इस अभिमत को दोनों परम्पराएं समान रूप से अस्वीकार करती हैं। जम्बूस्वामी के पश्चात् आचार्यों के नाम के सम्बन्ध में मतभेद होने के उपरान्त भी न श्वेताम्बर परम्परा इस बात को मानने के लिये तैयार है और न दिगम्बर परम्परा ही कि आर्य जम्बू के निर्वाण के पश्चात् ही श्वेताम्बर और दिगम्बर – इस प्रकार की दो शाखाओं में भगवान् महावीर का धर्मसंघ विभक्त हो गया।

इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका समाधान करना कोई साधारण

कार्य नहीं। इस सम्बन्ध में गहन शोध की आवश्यकता है। एतद्विषयक शोध-कार्य में जो कतिपय तथ्य सहायक सिद्ध हो सकते हैं, उन तथ्यों को यहां रखा जा रहा है :-

(१) दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में विष्णुनन्दि को जम्बूस्वामी का उत्तराधिकारी (पट्टधर) तो माना गया है पर कहीं पर यह स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया गया है कि वे जम्बूस्वामी के शिष्य थे अथवा और किसी के।

(२) जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में जम्बूस्वामी के पट्टधर प्रभवस्वामी का विस्तार के साथ परिचय दिया गया है, उस प्रकार दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आर्य विष्णु का कोई परिचय नहीं दिया गया है।

(३) दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में प्रभव का उल्लेख किया गया है पर श्वेताम्बर परम्परा के एक भी प्राचीन ग्रन्थ में जम्बूस्वामी के उत्तराधिकारी इन विष्णुनन्दि का कहीं नामोल्लेख तक उपलब्ध नहीं होता।

आशा है दोनों परम्पराओं के विद्वान् इस सम्बन्ध में गहन शोध के पश्चात् समुचित प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

४. आचार्य सय्यंभव

भगवान् महावीर के तृतीय पट्टधर आचार्य प्रभवस्वामी के पश्चात् वीर निर्वाण संवत् ७५ में चतुर्थ पट्टधर आचार्य सय्यंभव हुए। आप वत्स गोत्रीय ब्राह्मण कुल के विशिष्ट विद्वान् थे। २८ वर्ष की वय में आचार्य प्रभव स्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर, जिस समय सय्यंभव ने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की, उस समय उनके परिवार में केवल उनकी युवा पत्नी विद्यमान थी।

अपनी पत्नी को असहायावस्था में छोड़कर सय्यंभव के दीक्षित होने पर नगर के नागरिक बड़े खेद के साथ निश्वास छोड़ते हुए बोले – "भट्ट सय्यंभव जैसा संसार में अन्य कौन इतना वज्रहृदय होगा जो अपनी युवती, सुन्दरी, सती स्त्री को एकाकिनी छोड़कर संयम-मार्ग का पथिक बना हो। एक पुत्र भी यदि होता तो उस आशालता के सहारे इस युवती का जीवन इतना दूभर नहीं होता।"

बालर्षि मरणक

उसी दिन पास-पड़ौस की स्त्रियों ने सय्यंभव की पत्नीसे पूछा – "सरले! क्या तुम्हें आशा है कि तुम्हारी कुक्षि में भट्ट कुल का कुलप्रदीप आ चुका है?"

लज्जा से अरुणमुखी सय्यंभव की पत्नी ने अपने अंचल में मुंह छुपाने का उपक्रम करते हुए ईषत् स्मित के साथ उस समय की बोलचाल की भाषा में छोटा सा उत्तर दिया – "मरणगं" (मनाक्) जिसका अर्थ होता है – हां, कुछ है।

कर्ण-परम्परा से विद्युत् वेग की तरह यह समाचार सय्यंभव भट्ट के परिजनों तथा पुरजनों में फैल गया और सब ने परम हर्ष और संतोष का अनुभव किया।

समय पर माता के नीरस जीवन में आशा-सुधा का सिंचन करते हुए सय्यंभव के घर में पुत्र ने जन्म ग्रहण किया। माता के "मणगं" शब्द से उस शिशु के आगमन की पूर्व सूचना लोगों को प्राप्त हुई थी अतः सब ने उस शिशु का नाम "मणक" रखा। माता ने अपने पुत्र मणक के प्रति माता और पिता दोनों ही रूप में अपना कर्त्तव्य निभाते हुए बड़े स्नेहपूर्वक उसका लालन-पालन किया।

द्वितीया के चन्द्र की तरह क्रमशः बढ़ते हुए बालक मणक ने आठ वर्ष की वय में पदार्पण किया और अपने समवयस्क बालकों के संग खेलने के साथ ही साथ अध्ययन भी करने लगा। बालक मणक प्रारम्भ से ही बड़ा भावुक और विनयशील था। उसने एक दिन अपनी माता से प्रश्न किया - "मेरी अच्छी मां ! मैंने मेरे पिता को कभी नहीं देखा, बतलाओ मेरे पिता कौन और कहां हैं ?"

माता ने अपनी आंखों में उमड़ते हुए अश्रुसागर को बलपूर्वक रोकते हुए धैर्य के साथ कहा - "वत्स ! जिस समय तुम गर्भ में थे, उसी समय तुम्हारे पिता ने श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। एकाकिनी मैंने ही तुम्हारा लालन-पालन किया है। पुत्र ! जिस प्रकार तुमने अपने पिता को नहीं देखा, ठीक उसी प्रकार तुम्हारे पिता ने भी तुम्हें नहीं देखा है। तुम्हारे पिता का नाम सय्यंभव भट्ट है। जिस समय तुम गर्भ में आये थे, उस समय उन्होंने एक यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ किया था। उसी समय दो धूर्त जैन श्रमण आये और उनके धोखे में आकर तेरे पिता ने उनके पीछे-पीछे जा मेरा और अपने घर-द्वार का परित्याग कर जैन-श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली। यही कारण है कि तुम पिता-पुत्र परस्पर एक दूसरे को अभी तक नहीं देख सके हो।"

माता के मुख से अपने पिता का सारा वृत्तान्त सुनकर बालक मणक के हृदय में अपने पिता सय्यंभव आचार्य को देखने की उत्कट अभिलाषा जाग उठी और एक दिन अपनी माता को पूछ कर वह अपने पिता से मिलने के लिये घर से निकल पड़ा।

आचार्य सय्यंभव उन दिनों अपने शिष्य-समुदाय के साथ विविध ग्राम नगरों में विहार करते हुए चम्पापुरी पधारे हुए थे। सुयोग से बालक मणक भी पिता की खोज में घूमता-घामता चम्पा नगरी जा पहुंचा। वास्तव में जिसकी जो सच्ची लगन होती है वह अन्ततोगत्वा पूरी होकर ही रहती है। कहा भी है :-

"जिहि के जिहि पर सत्य सनेहू, सो तिहि मिलत न कछु सन्देहू।"

पुण्योदय से मणक की मनोकामना पूर्ण हो गई। उसने नगरी के बाहर शौच-निवृत्ति के लिये आये हुए एक मुनि को देखा। "अवश्य ही ये मेरे पिता के सहयोगी मुनि होंगे" - इस विचार के आते ही सहसा मणक के हृदय में भक्ति

प्रसन्नता हुई। उसने मुनि के पास पहुंच कर बड़े विनय से उन्हें वन्दन किया। मुनि भी कमल- नयन सुन्दर आकृति वाले बालक को देखकर सहज स्नेह भरी दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे। एक दूसरे को देखकर अनायास ही दोनों के हृदय में आनन्द की ऊर्मियां तरंगित होने लगीं।

बालक द्वारा वन्दन किये जाने के पश्चात् आचार्यश्री ने स्नेह-गद्गद् स्वर में बालक से पूछा – "वत्स ! तुम कौन हो, किसके पुत्र हो, कहां से आये हो और कहां जा रहे हो ?"

उत्तर में बालक मरणक ने मधुर स्वर में कहा – "देव ! मैं राजगृह नगर निवासी वत्स गोत्रीय ब्राह्मण सय्यंभव भट्ट का पुत्र हूं। मेरा नाम मरणक है। मैं जिस समय माता के गर्भ में था, उसी समय मेरे पिता घर-द्वार और मेरी माता के स्नेहसूत्र को तोड़कर श्रमण-धर्म में दीक्षित हो गये। मैं राजगृह नगर से उन्हें अनेक नगरों और ग्रामों में ढूंढता हुआ यहां आया हूं। भगवन् यदि ! आप मेरे पिताजी को जानते हों तो कृपा कर मुझे बताइये कि वे कहां हैं ? मुझे यदि वे एक बार मिल जायं तो मैं उनके पास प्रव्रज्या ग्रहण कर सदा के लिये उन्हीं के चरणों की सेवा में रहना चाहता हूं।"

बालक मरणक के मुंह से यह सुनकर आचार्य सय्यंभव की मनोदशा किस प्रकार की रही होगी, यह केवल अनुभवगम्य ही है।

समुद्र के समान गम्भीर आचार्य सय्यंभव ने अद्भुत धैर्य के साथ स्नेह सनी निगूढ़ भाषा में कहा – "आयुष्मन् वत्स ! मैं तुम्हारे पिता को जानता हूं। वे केवल मन से ही नहीं अपितु तन से भी मुझ से अभिन्न हैं। तुम मुझे उनके तुल्य ही समझ कर मेरे पास प्रव्रज्या ग्रहण कर लो।"

मरणक सय्यंभवसूरि के साथ हो लिया और सूरि उसे अपने साथ लेकर आश्रय-स्थान की ओर लौटे।

उपाश्रय में आने पर बालक मरणक को जब अन्य मुनियों से यह ज्ञात हुआ कि जिनके साथ वह जंगल से उपाश्रय में आया है, वे ही आचार्य सय्यंभव हैं, तो अपने आन्तरिक आनन्दातिरेक को बिना किसी पर प्रकट किये वह मन ही मन बड़ा प्रमुदित हुआ। भक्तिविह्वल एवं हर्षविभोर हो वह अपने पिता के चरणों पर गिर कर प्रार्थना करने लगा – "भगवन् ! मुझे शीघ्र ही श्रमण-दीक्षा प्रदान कीजिये, अब मैं आपसे पृथक् नहीं रहूंगा।"

बालक मरणक की प्रबल भावना देखकर आचार्य सय्यंभव ने भी उसे सम्पूर्ण सावद्य-विरतिरूप श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर दी। बालक मरणक जो कल तक खेलकूद में प्रमोद मान रहा था, आज एक बालर्षि के रूप में मुक्तिपथ का सच्चा पथिक बन गया। प्राक्तन संस्कारों का कितना जबरदस्त प्रभाव है कि उपदेश और प्रेरणा की भी आवश्यकता नहीं पड़ी ?

दशवैकालिक की रचना

मणक ने दीक्षित होकर जब आचार्य सय्यंभव को आत्मसमर्पण कर दिया तो वे मणक के आत्मकल्याण की दिशा में विचार करने लगे। श्रुतज्ञान में उपयोग लगा कर उन्होंने देखा कि इस बालर्षि की आयु केवल ६ मास की ही अवशिष्ट रह गई है। इस अति स्वल्प काल में बालक मुनि ज्ञान और क्रिया, दोनों ही का सम्यक्रूपेण आराधन कर के किस प्रकार अपना आत्मकल्याण साध सकता है इस पर चिन्तन करते हुए आचार्य सय्यंभव को ध्यान आया कि "चतुर्दश पूर्वों का पारगामी विद्वान् मुनि या १० पूर्वधर कभी विशेष कारण के उपस्थित होने की दशा में स्व-पर कल्याण की कामना से पूर्व-श्रुत में से आवश्यक ज्ञान का उद्धार कर सकते हैं। बालक मुनि मणक का अल्प समय में आत्मकल्याण सम्पन्न करने के लिये मेरे समक्ष भी यह कारण है इसलिये मुझे भी पूर्वों में से सार ग्रहण कर एक सूत्र की रचना करनी चाहिये।"

यह निश्चय कर आचार्य सय्यंभव ने विभिन्न पूर्वों से सार ले कर दश अध्ययनों वाले एक सूत्र की रचना की। सायंकाल के विकाल में पूर्ण किये जाने के कारण उस सूत्र का नाम दशवैकालिक रखा गया। आचार्य सय्यंभव ने स्वयं मणक मुनि को उसका अध्ययन और ध्यानादि का अभ्यास कराया। मुनि मणक अपनी विनयशीलता, आज्ञा- पालकता और ज्ञानरुचि के कारण आचार्यश्री की कृपा से अल्प समय में ही ज्ञान और क्रिया का सम्यक् आराधक बन गया।

आचार्य सय्यंभव ने जब मणक मुनि का अंतिम समय सन्निकट देखा, तो उन्होंने उसकी अन्तिम आराधना के लिये आलोचनादि आवश्यक क्रियाएं सम्यक् रीति से सम्पन्न करवाईं। मणक मुनि ने भी ६ मास के अत्यल्प काल के निर्मल श्रमणधर्म की आराधना के पश्चात् समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्गगति प्राप्त की। मणक मुनि के, इस स्वल्पकालीन साधना के पश्चात् सहसा देहत्याग पर आचार्य सय्यंभव को सहज ही मानसिक खेद हुआ और उनके नेत्रों से हठात् अश्रुकण निकल पड़े। जब यशोभद्र आदि मुनिमण्डल ने बालमुनि मणक की देहलीला-समाप्ति के साथ आचार्य सय्यंभव के मुखकमल को म्लान और उनके नयनों में अश्रुबिन्दुओं को देखा, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने विनयपूर्वक अपने गुरुदेव से पूछा – "भगवन् ! हमने आज तक कभी आपके मुखकमल पर किंचित्मात्र भी खिन्नता नहीं देखी पर आज सहसा आपके नयनों में अश्रु भर आने का क्या कारण है ? आप जैसे परमविरागी एवं शोकमुक्त महामुनि के मन में खेद होने का कोई खास कारण होना चाहिये। कृपया हमारी शंका दूर करने का कष्ट करें।"

मुनिसंघ की बात सुन कर आचार्य सय्यंभव ने मणक मुनि और अपने बीच के पिता-पुत्र रूप सम्बन्ध का रहस्य प्रकट करते हुए बताया – "इस बालमुनि ने इतनी छोटी वय में सम्यक्ज्ञान के साथ निर्मल चारित्र का पालन किया और साधना के मध्य में ही वह परलोकगमन कर गया, इसलिये मेरा हृदय भर आया। अच्छा होता, यह कुछ आयु बल पा कर साधना को पूर्ण कर पाता।"

आचार्य के मुख से यह जान कर कि बालक मुनि मरणक उनके गुरु का पुत्र था, मुनिमण्डल को बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने कहा – "भगवन् ! आपने इतने समय तक हमें इस बात से अज्ञात रखा कि आपका और बालक मुनि मरणक का परस्पर पिता-पुत्र का सम्बन्ध था। यदि हमें समय पर इस सम्बन्ध का पता चल जाता, तो हम लोग भी अपने गुरुपुत्र की सेवा का कुछ न कुछ लाभ अवश्य उठाते।"

आचार्य सय्यंभव ने कहा – "मुनियो ! यदि आप लोगों को बालमुनि का मेरे साथ पुत्ररूप सम्बन्ध ज्ञात हो जाता तो आप लोग मरणक ऋषि से सेवा नहीं करवाते और वह भी इस प्रकार आपके स्नेहपूर्ण व्यवहार के कारण ज्येष्ठ मुनियों की सेवा के महान् लाभ से वंचित रह जाता। अतः आपको इस बात का मन में खेद नहीं करना चाहिये। बालमुनि की अल्पकालीन आयु को देख कर मैंने, ज्ञान और क्रिया का वह सम्यक् आराधन कर सके, इस हेतु पूर्व-श्रुत से सार निकाल कर एक छोटे सूत्र की रचना की। कार्य सम्पन्न हो जाने से अब मैं उस दशवैकालिक सूत्र का पुनः पूर्वों में संवरण कर देना चाहता हूं।"

आचार्य सय्यंभव की बात सुन कर यशोभद्र आदि मुनियों ने और संघ ने आचार्यश्री की सेवा में विनयपूर्वक प्रार्थना की – "पूज्य ! मरणक मुनि के लिये आपने जिस शास्त्र की रचना की है, वह आज भी मन्दमती साधु-साध्वियों के लिये आचारमार्ग का ज्ञान-सम्पादन करने के लिये उपयोगी है और भविष्य में होने वाले अल्पबुद्धि साधु-साध्वी भी इसके द्वारा संयमधर्म का ज्ञान प्राप्त कर सरलता से साधना कर सकेंगे अतः कृपा कर आप इस सूत्र का पूर्वों में संवरण न कर इसे यथावत् रहने दें।"

संघ द्वारा की गई प्रार्थना को स्वीकार कर आचार्य सय्यंभव ने "दशवैकालिक सूत्र" को यथावत् स्थिति में रहने दिया। सय्यंभवस्वामी के इस कृपा-प्रसाद के फलस्वरूप आज भी साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ दशवैकालिक सूत्र से पूरा आध्यात्मिक लाभ उठा रहा है।

दशवैकालिक सूत्र के दश अध्ययन न केवल मुनियों के लिये अपितु प्रत्येक साधक के लिये अलौकिक ज्योतिर्मय प्रदीपस्तम्भ हैं। उन अध्ययनों में प्रतिपादित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक विषयों का सार रूप में विवरण इस प्रकार है :-

१. द्रुमपुष्पक नामक प्रथम अध्ययन में अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म का स्वरूप और महत्त्व बताया गया है। वस्तुतः आर्य संस्कृति के मूल सिद्धान्तों को पांच गाथाओं में सूत्र रूपेण ग्रथित कर समर्थ आचार्य सय्यंभव ने सागर को गागर में भर दिया है।

२. श्रामण्यपूर्वक नामक द्वितीय अध्ययन में संयम से विचलित मन को स्थिर करने के अंतरंग एवं बहिरंग उपाय बताये गये हैं।

३. क्षुल्लकाचार नामक तृतीय अध्ययन में साधु के लिये अनाचरणीय कार्यों की तालिका दी गई है।

४. षड्जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन में छः प्रकार के जीवनिकाय का संक्षिप्त स्वरूप और उनकी रक्षा हेतु यतना का निर्देश दिया गया है।

५. पिंडैषणा नामक पंचम अध्ययन में मुनियों की आहारविधि एवं भिक्षा-विषयक अन्य नियमों का विवेचन दो उद्देशकों द्वारा किया गया है।

६. धर्मार्थकाम नामक छठे अध्ययन में साधु के आचार धर्म का वर्णन करते हुए १८ स्थानों के वर्जन का उपदेश दिया गया है।

७. वचनशुद्धि नामक सातवें अध्ययन में वाणी और भाषा के भेदों का विशद् वर्णन कर असत्य एवं दोषपूर्ण भाषा से बचकर सत्य और निर्दोष वाणी बोले यह बताया गया है।

८. आचार प्रणिधान नामक अष्टम अध्ययन में मुनियों के आचारों का वर्गीकरण सन्निहित है।

९. विनयसमाधि नामक नवम अध्ययन में चार उद्देशकों से विनय धर्म की शिक्षा दी गई है तथा (१) विनयसमाधि, (२) श्रुतसमाधि, (३) तपसमाधि और (४) आचारसमाधि रूप से समाधि के चार कारण वतलाये हैं।

१०. "सः भिक्षु" नामक दशम अध्ययन में – साधु-जीवन का अधिकारी कौन है, किस प्रकार सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, इसका माध्यम क्या है आदि आदर्श साधु-जीवन का सुन्दर विश्लेषण सारगर्भित एवं सीमित शब्दावलि में प्रस्तुत किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र पर नैमित्तिक आचार्य भद्रबाहुस्वामी (श्रुतकेवली भद्र-बाहु से भिन्न) द्वारा रचित निर्युक्ति के अतिरिक्त अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाएं और वृत्तियां आज भी उपलब्ध हैं। आत्मधर्म का जितना सुन्दर, व्यवस्थित और सर्वांगपूर्ण विवेचन दशवैकालिक में उपलब्ध है, उतना अन्यत्र एक ही स्थान में उपलब्ध नहीं होता। समस्त श्रुतसागर के विलोडन के पश्चात् आचार्य सय्यंभव ने इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आगम का गुँफन किया। इस सूत्र के अध्ययन और मनन को अपने दैनिक जीवन में प्रमुख स्थान देकर मणक मुनि ने अतीव स्वल्पतर समय में दुस्साध्य मुनिधर्म का सम्यक् रीति से आराधन किया और आध्यात्मिक पथ पर अद्भुत प्रगति करते हुए स्वर्गगमन किया।

आचार्य सय्यंभव का स्वर्गगमन

आचार्य सय्यंभव ने २८ वर्ष की युवा अवस्था में (वी० नि० सं० ६४ में) दीक्षा ग्रहण की। वे ११ वर्ष तक सामान्य साधु रहे और २३ वर्ष तक युगप्रधान-आचार्य पद पर रहकर उन्होंने महावीर के धर्मशासन की बड़ी तत्परता से सेवा की। अन्त में अपना आयुकाल सन्निकट समझकर अपने प्रमुख शिष्य यशोभद्र को

अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और अनशन एवं समाधिपूर्वक वीर निर्वाण संवत् ९८ में ६२ वर्ष की आयु पूर्ण कर आपने स्वर्गगमन किया।

दिगम्बर मान्यता

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों एवं पट्टावलियों में सय्यंभव के स्थान पर नन्दिमित्र को आचार्य माना गया है। आचार्य नन्दिमित्र का भी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता।

५. आचार्य यशोभद्र स्वामी

आचार्य सय्यंभव के पश्चात् भगवान् महावीर के पंचम पट्टधर श्री यशोभद्र स्वामी हुए। आपका विस्तृत जीवन-परिचय उपलब्ध नहीं होता। नन्दी स्थविरावली और युग प्रधान पट्टावली आदि में जो थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त होता है, उसके आधार पर यहां भी संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है :—

आपका जन्म तुंगियायन गोत्रीय याज्ञिक ब्राह्मण परिवार में हुआ। आपने अपना अध्ययनकाल पूर्ण कर जब तरुण अवस्था में प्रवेश किया, तब सहसा आचार्य सय्यंभव के सत्संग का आपको सुयोग मिला। आचार्य सय्यंभव की त्याग-विराग भरी वाणी सुन कर यशोभद्र की सोई हुई आत्मा जग उठी। उनके मन का मोह दूर हुआ और वे २२ वर्ष की भर तरुण अवस्था में सांसारिक मोह-माया का परित्याग कर आचार्य सय्यंभव के पास दीक्षित हो मुनि बन गये। १४ वर्ष तक निरंतर गुरु-सेवा में ज्ञान-ध्यान की साधना करते हुए यशोभद्र ने चतुर्दश पूर्वों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया और गुरु-आज्ञा से अनेक प्रकार की तपस्या करते हुए वे विधिवत् संयम धर्म का पालन करते रहे।

वीर नि० सं० ९८ में आचार्य सय्यंभव के स्वर्गारोहण के पश्चात् आप युगप्रधान आचार्यपद पर आसीन हुए। ५० वर्ष तक आचार्य पद पर रह कर जिनशासन की अनुपम सेवा करते हुए आपने वीतराग मार्ग का प्रचार एवं प्रसार किया। वीर निर्वाण सं० १४८ में अपने पश्चात् श्री संभूतविजय तथा भद्रबाहु को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर आप समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्ग सिधारे।[1]

आचार्य यशोभद्र स्वामी ने अपने आचार्यकाल में अपने प्रभावशाली उपदेशों से बड़े-बड़े याज्ञिक विद्वानों को प्रतिबोध दे कर जैनधर्मानुरागी बनाया। यह

[1] मेधाविनौ भद्रबाहुसम्भूतविजयौ मुनी।
चतुर्दशपूर्वधरौ, तस्य शिष्यौ बभूवतु : ॥३॥
सूरि श्रीमान्यशोभद्रः, श्रुतनिध्योस्तयोद्वयोः।
स्वमाचार्यकमारोप्य, परलोकमसाधयत् ॥४॥ [परिशिष्टपर्व, सर्ग ६]

आप ही की विचक्षण प्रतिभा का फल था कि एक ही आचार्य के शासनकाल में संभूतविजय और भद्रबाहु जैसे दो समर्थ शिष्य चतुर्दश पूर्वधर-श्रुतकेवली बने।

आचार्य यशोभद्रस्वामी २२ वर्ष गृहस्थ पर्याय में रहे, १४ वर्ष सामान्य साधु-पर्याय में और ५० वर्ष तक युगप्रधान-आचार्यरूप से जिन शासन की सेवा में निरत रह ८६ वर्ष की कुल आयु पूर्ण कर वी० नि० सं० १४८ में स्वर्गवासी हुए।

भगवान् महावीर के पश्चात् सुधर्मा स्वामी से आचार्य यशोभद्र तक जैन श्रमणसंघ में एक ही आचार्य की परम्परा बनी रही। वाचनाचार्य आदि रूप से संघ में रहने वाले अन्य आचार्य भी एक ही शासन की व्यवस्था निभाते रहे। आचार्य यशोभद्र ने अपने शासनकाल तक इस परम्परा को सम्यक्रूपेण सुरक्षित रखा, यह आपकी खास विशेषता है।

गुरुपट्टावली में आचार्य यशोभद्र का जीवनकाल इस प्रकार बताया गया है :-

"तत्पट्टे ५ श्री यशोभद्र स्वामी। स च २२ वर्षाणि गृहे, १४ वर्षाणि व्रते, ५० वर्षाणि युगप्रधानत्वे, सर्वायुः षडषिति (८६) वर्षाणि प्रपाल्य श्री वीरात् १४८ वर्षान्ते स्वर्ययौ।" पट्टावली समुच्चय, पृ० १६४

दिगम्बर

दिगम्बर मान्यता के ग्रन्थों एवं पट्टावलियों में तीसरे श्रुतकेवली आचार्य यशोभद्र के स्थान पर अपराजित को तीसरा श्रुत-केवली आचार्य माना गया है। आपका भी कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता।

६. श्री सम्भूतविजय

आचार्य यशोभद्र स्वामी के पश्चात् भगवान् महावीर के छट्ठे पट्टधर आचार्य श्री सम्भूतविजय और भद्रबाहु स्वामी हुए।

आचार्य सम्भूतविजय का विशेष परिचय कहीं उपलब्ध नहीं होता। इनके सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात है कि वे माढ़र गोत्रीय ब्राह्मण थे। तपागच्छ पट्टावली में इनके नाम की व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा गया है – "पदसमुदायोपचारात् संभूतेति श्री संभूतविजयः भद्दत्ति।"

आचार्य संभूतविजय का जन्म वीर नि० सं० ६६ में हुआ। ४२ वर्ष तक गृहवास में रहने के पश्चात् आचार्य यशोभद्र के उपदेश से आपने वीर नि० सं० १०८ में श्रमण दीक्षा अंगीकार की। आपने विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए आचार्य यशोभद्र के पास द्वादशांगी का समीचीन रूप से अध्ययन कर श्रुतकेवली पद प्राप्त किया। ४० वर्ष तक आपने सामान्य साधु पर्याय में रहते हुए जिन-शासन की सेवा की और वीर निर्वाण संवत् १४८ से १५६ तक आचार्य पद पर

रहते हुए भगवान् महावीर के संघ का सुचारु रूप से संचालन किया। चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता और वाग्लब्धिसम्पन्न होने के कारण आपने अपने उपदेशों से अनेक भोगीजनों को त्यागी-विरागी बनाया। आर्य स्थूलभद्र जैसे परम भोगी गृहस्थ आपके ही शिष्य थे, जिनकी महान् योगियों में सर्वप्रथम गणना की जाती है। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आपके निम्नलिखित मुख्य स्थविर शिष्य और शिष्याएं थीं :–

शिष्य

१. नंदनभद्र, २. उपनंदनभद्र, ३. तीसभद्द, ४. जसभद्द, ५. सुमिणभद्द, ६. मणिभद्द, ७. पुण्यभद्द, ८. स्थूलभद्र, ९. उज्जुमई, १०. जम्बू, ११. दीहभद्द और १२. पंडुभद्द।[1]

शिष्याएं

१. जक्खा, २. जक्खदिण्णा, ३. भूया, ४. भूयदिण्णा, ५. सेणा, ६. वेणा और ७. रेणा। ये सातों ही आर्य स्थूलभद्र की बहिनें थीं।

वीर निर्वाण संवत् १५६ में आर्य संभूतविजय ने अपनी आयु का अन्तिम समय सन्निकट जानकर अनशन किया और समाधिपूर्वक स्वर्गगमन किया।

यह यहां उल्लेखनीय है कि भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा से लेकर आचार्य यशोभद्र स्वामी तक अर्थात् ५ पट्ट तक श्रमणसंघ में एक आचार्य परम्परा बनी रही। वाचनाचार्य आदि के रूप में रहने वाले अन्य आचार्य एक ही पट्टधर आचार्य के तत्वावधान में शासन-सेवा का कार्य करते आये थे पर आचार्य यशोभद्र ने संभूतविजय और भद्रबाहु नामक दो श्रुतकेवली शिष्यों को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। आचार्य यशोभद्र ने अपने पश्चात् दो आचार्यों की परम्परा किस कारण प्रारम्भ की, इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमणसंघ के अत्यधिक विस्तार को देखकर संघ का संचालन समीचीन रूप से हो सके, इसी दृष्टि से आभ्यंतर और बाह्य संचालन का कार्य दो अलग आचार्यों में विभक्त कर दो आचार्यों की परम्परा प्रचलित की हो।

इतना तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि आचार्य संभूतविजय वी० नि० सं० १४८ से १५६ तक भगवान् महावीर के शासन के सर्वेसर्वा आचार्य रहे और उनके स्वर्गगमन के पश्चात् ही आचार्य भद्रबाहु ने संघ की बागडोर सम्पूर्ण रूप से अपने हाथ में सम्भाली। संघ वस्तुतः दो आचार्यों की नियुक्ति के पश्चात् भी

---

[1] नंदणभद्दु १ वनंदण-भद्दे २ तह तीसभद्दे ३ जसभद्दे।
थेरे य सुमणभद्दे ५ मणिभद्दे (गणिभद्दे) ६ पुण्णभद्दे ७ य।
थेरे अ थूलभद्दे ८ उज्जुमई ९ जंबूनामधिज्जे १० य।
थेरे अ दीहभद्दे ११ थेरे तह पंडुभद्दे १२ य॥
[कल्पसूत्र स्थविरावली]

वी० नि० सं० १४८ से १५६ तक आचार्य संभूतविजय का आज्ञानुवर्ती और १५६ से १७० तक आचार्य भद्रबाहु की आज्ञा का अनुवर्ती रहा। ऐसी दशा में यह कल्पना करना कि उस समय जैन संघ में किसी प्रकार के मतभेद का बीजारोपण हो चुका था, नितान्त निराधार कल्पना मात्र ही कहा जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा

दिगम्बर परम्परा में चौथा श्रुतकेवली आचार्य गोवर्धन को माना गया है। इनका भी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता।

७. आचार्य श्री भद्रबाहु

भगवान् महावीर के सातवें पट्टधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी हुए। आपका जन्म प्रतिष्ठानपुर के प्राचीन गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में वी० नि० सं० ९४ में हुआ। ४५ वर्ष गृहस्थाश्रम में रहने के पश्चात् भद्रबाहु ने वीर नि० सं० १३९ में भगवान् महावीर के पांचवें पट्टधर आचार्य यशोभद्रस्वामी के पास निर्ग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। अपने महान् यशस्वी गुरु यशोभद्र की सेवा में रहते हुए आपने बड़ी लगन के साथ सम्पूर्ण द्वादशांगी का अध्ययन किया और आप श्रुत-केवली बन गये। वीर नि० सं० १४८ में आचार्य यशोभद्रस्वामी ने स्वर्गगमन के समय श्री सम्भूतविजय के साथ-साथ आपको भी आचार्य पद पर नियुक्त किया। वीर नि० सं० १४८ से १५६ तक अपने बड़े गुरुभाई आचार्य संभूतविजय के आचार्यकाल में आपने शिक्षार्थी श्रमणों को श्रुतशास्त्र का अध्यापन कराने के साथ-साथ भगवान् महावीर के शासन की महती सेवा की।

भगवान् महावीर के छठे पट्टधर आचार्य संभूतविजय के स्वर्गगमन के पश्चात् आपने वीर निर्वाण संवत् १५६ में संघ के संचालन की बागडोर पूर्ण-रूपेण अपने हाथ में संभाली। आचार्य भद्रबाहु ने दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार और निशीथ – इन चार छेद सूत्रों की रचना कर मुमुक्षु साधकों पर महान् उपकार किया। अनेक पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने इन अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को (१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) आवश्यक, (४) दशवैकालिक, (५) उत्तराध्ययन, (६) दशाश्रुतस्कन्ध, (७) कल्प (८) व्यवहार, (९) सूर्यप्रज्ञप्ति और (१०) ऋषिभाषित – इन दश सूत्रों का निर्युक्तिकार, महान् नैमित्तिक और उपसर्गहरस्तोत्र, भद्रबाहु संहिता तथा सवा लाख पद वाले "वसुदेव चरित्र" नामक ग्रन्थ का कर्त्ता भी माना है। इस संबंध में आगे यथास्थान प्रमाण पुरस्सर विचार किया जायगा। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आर्य स्थूलभद्र जैसे योग्य श्रमणश्रेष्ठ को दो वस्तु कम दश पूर्वों का सार्थ सम्पूर्ण ज्ञान और अन्तिम चार पूर्वों का मूल रूपेण वाचन देकर पूर्व-ज्ञान को नष्ट होने से बचाया।

आचार्य भद्रबाहु अपने समय के घोर तपस्वी, महान् धर्मोपदेशक, सकल श्रुतशास्त्र के पारदृश्वा और उद्भट विद्वान् होने के साथ-साथ महान् योगी भी थे। आपने निरन्तर १२ वर्ष तक महाप्राण-ध्यान के रूप में उत्कट योग की साधना की। इस प्रकार की दीर्घकालीन योगसाधना के उदाहरण भारतीय इतिहास में विरले ही उपलब्ध होते हैं। आपने वी० नि० सं० १५६ से १७० तक के १४ वर्ष के आचार्य-काल में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विचरण कर जिनशासन का प्रचार-प्रसार और उत्कर्ष किया।

जैन शासन में भद्रबाहु की महिमा

आपको श्वेताम्बर तथा दिगम्बर[1] दोनों परम्पराओं द्वारा पांचवें तथा अन्तिम श्रुतकेवली माना गया है। भद्रबाहु स्वामी द्वारा की गई संघ एवं श्रुत की उत्कट सेवा के कारण उनका स्थान जैन इतिहास में बहुत ऊंचा है। श्रुतशास्त्र विषयक आपके द्वारा निर्मित कृतियां लगभग २३ शताब्दियों से आज तक मुमुक्षु साधकों के लिये प्रकाशमान दीपस्तम्भों का काम कर रही हैं। शासन-सेवा और अपनी इन अमूल्य कृतियों के कारण आप भगवान् महावीर के शासन के एक महान् ज्योतिर्धर आचार्य के रूप में सदा से सर्वप्रिय और विख्यात रहे हैं। मुमुक्षु साधकों पर किये गये इस उपकार के प्रति अपनी निस्सीम कृतज्ञता प्रकट करते हुए अनेक आचार्यों और विद्वानों ने आपकी बड़े भावपूर्ण शब्दों में स्तुति की है।[2]

भद्रबाहु के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं

अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का जैन इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। दिगम्बर आम्नाय के कतिपय ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख किया गया है कि अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के जीवन के अन्तिम चरण में ही दिगम्बर तथा श्वेताम्बर–इस प्रकार के मतभेद का सूत्रपात हो चुका था। इस दृष्टि से भी आचार्य भद्रबाहु के जीवन-चरित्र का एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक

---

[1] सिरिगोदमेण दिण्णं सुहम्मणाहस्स तेण जंबुस्स।
विण्हु णंदीमित्तो तत्तो य पराजिदो य तत्तो ।।४३।।
गोवद्धणो य तत्तो भद्दभुओ अंतकेवली कहिओ ।।४४।। [अंगपण्णत्ती]

[2] वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसगलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।। [दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति]

येनैषा पिण्डनिर्युक्तिर्युक्तिरम्या विनिर्मिता।
द्वादशांगविदे तस्मै नमः श्री भद्रबाहवे ।। [मलयगिरि पिंडनिर्युक्ति टीका]

वंदामि भद्दबाहुं जेण य अईरसियं बहुकलाकलियं।
रइयं सवायलक्खं चरियं वसुदेवरायस्स ।। [शान्तिनाथ चरित्र–मंगलाचरण]

श्री कल्पसूत्रममृतं विबुधोपयोग–
योग्यं जरामरणदारुणदुःखहारि।
येनोद्धृतं मतिमता मथितात् श्रुताब्धेः,
श्री भद्रबाहुगुरवे प्रणतोऽस्मि तस्मै ।। [क्षेत्रकीर्ति–बृहत्कल्प टीका]

महत्व है। आचार्य भद्रबाहु के जीवनचरित्र के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों परम्पराओं में तो मान्यताभेद है ही पर भद्रबाहु के जीवनचरित्र विषयक दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों का समीचीनतया अध्ययन करने से एक बड़ा आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट होता है कि न श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आचार्य भद्रबाहु के जीवनचरित्र के सम्बन्ध में मतैक्य है और न दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में ही। भद्रबाहु के जीवन सम्बन्धी दोनों परम्पराओं के विभिन्न ग्रन्थों को पढ़ने से एक निष्पक्ष व्यक्ति को स्पष्ट रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः दोनों परम्पराओं के अनेक ग्रन्थों में भद्रबाहु नाम वाले दो-तीन आचार्यों के जीवन चरित्रों की घटनाओं को गड्ड-मड्ड कर के अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के जीवनचरित्र के साथ जोड़ दिया गया है। पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा लिखे गये कुछ ग्रन्थों का, उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्टरूपेण आभासित होता है कि भद्रबाहु के चरित्र में पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने अपनी कल्पनाओं के आधार पर कुछ घटनाओं को जोड़ा है। उन्होंने ऐसा अपनी मान्यताओं के अनुकूल वातावरण बनाने के अभिप्राय से किया अथवा और किसी दृष्टि से किया, यह निर्णय तो तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् पाठक स्वयं ही निष्पक्ष बुद्धि से कर सकते हैं।

इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन शोधार्थियों एवं इतिहास में रुचि रखने वाले विज्ञों के लिये लाभप्रद होने के साथ-साथ वास्तविकता को खोज निकालने में सहायक सिद्ध होगा, इस दृष्टि से श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में भद्रबाहु से सम्बन्धित जो सामग्री उपलब्ध है, उसमें से आवश्यक सामग्री यहां प्रस्तुत की जा रही है।

व्रत-पर्याय से पूर्व का जीवन

यों तो प्रव्रज्या ग्रहण से पूर्व का भद्रबाहु का जीवन-परिचय श्वेताम्बर और दिगम्बर – दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है किन्तु वह सम्बन्धित घटनाचक्र और तथ्यों की कसौटी पर कसने से खरा नहीं उतरता। ऐसी दशा में भद्रबाहु के गृहस्थ जीवन के परिचय के रूप में निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनका जन्म वीर नि० संवत् ९४ में हुआ। आप प्राचीन गोत्रीय ब्राह्मण थे और आपने ४४ वर्ष की अवस्था में आचार्य यशोभद्र स्वामी के उपदेश से प्रतिबोध पा कर भागवती दीक्षा ग्रहण की।

श्वेताम्बर परम्परागत परिचय

दीक्षा ग्रहण के पश्चात् का आचार्य भद्रबाहु का जीवन-परिचय तित्थोगालिय पइन्ना, आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थों में अति संक्षिप्त एवं अतिस्वल्प मात्रा में मिलता है। दीक्षा-ग्रहण से पूर्व का भद्रबाहु का जीवनवृत्त "गच्छाचार पइन्ना" की गाथा ८२ की टीका में, प्रबन्ध चिन्तामणि में तथा राजशेखरसूरि कृत प्रबन्धकोश आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जो क्रमशः इस प्रकार है :–

तित्थोगालियपइन्ना के अनुसार: – लगभग विक्रम की पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में रचित "तित्थोगालियपइण्णा" नामक प्राचीन ग्रन्थ में निम्नलिखित रूप से उल्लेख उपलब्ध होता है :–

"आचार्य श्री सय्यंभव के सर्वगुण सम्पन्न शिष्य जसभद्र हुए। जसभद्र के शिष्य यशस्वी कुल में उत्पन्न श्री संभूत हुए। तदनन्तर सातवें आचार्य श्री भद्रबाहु हुए, जिनका भाल प्रशस्त एवं उन्नत तथा भुजाएं आजानु थीं। वे धर्मभद्र के नाम से भी प्रख्यात थे। आचार्य भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर थे। उन्होंने बारह वर्ष तक योग की साधना की और (सुत्तत्थेण निबन्धइ अत्थं अज्झयणबन्धस्स) छेदसूत्रों की रचना की।

उस समय मध्यप्रदेश में भयंकर अनावृष्टि के कारण दुष्काल पड़ा। व्रत-पालन में कहीं किसी प्रकार का किंचित्मात्र भी दोष न लग जाय अथवा किसी प्रकार कर्मबन्ध न हो जाय – इस आशंका से अनेक धर्मभीरु साधुओं ने अत्यन्त दुष्कर आमरण अनशन की प्रतिज्ञाएं कीं और संलेखना कर समाधिपूर्वक प्राण-त्याग किये। अवशिष्ट साधुओं ने अन्यान्य प्रान्तों की ओर प्रस्थान कर समुद्र और नदियों के तटवर्ती क्षेत्रों में विरक्त भाव से विचरण करना प्रारम्भ किया। आ० भद्रबाहु नैपाल पधारे और वहां योग साधना में निरत हो गये।

दुर्भिक्ष के समाप्त होने पर अवशिष्ट साधु पुनः मध्यप्रदेश की ओर लौटे।

"तित्थोगालियपइण्णा" में उपर्युल्लिखित के पश्चात् पाटलीपुत्र में हुई प्रथम आगमवाचना, साधुओं को चौदह पूर्वों की वाचना देने की प्रार्थना के साथ संघ द्वारा साधुओं के एक संघाटक का भद्रबाहुस्वामी की सेवा में नैपाल भेजना, भद्रबाहुस्वामी द्वारा प्रथमतः संघ की प्रार्थना को अस्वीकार करना और अन्ततोगत्वा संभोगविच्छेद की संघाज्ञा के सम्मुख झुक कर स्थूलभद्र आदि साधुओं को वाचना देना, स्थूलभद्र द्वारा पाटलीपुत्र में यक्षा आदि आर्याओं के समक्ष अपने विद्या-प्रदर्शन के कारण आचार्य भद्रबाहु द्वारा उन्हें अन्तिम चार पूर्वों की वाचना न देने का संकल्प, संघ द्वारा स्थूलभद्र के अपराध को क्षमा कर वाचना देने की प्रार्थना, आचार्य भद्रबाहु द्वारा चार पूर्वों की वाचना न देने के कारणों पर प्रकाश और अन्ततोगत्वा केवल मूलरूप से अन्तिम चार पूर्वों की भद्रबाहु द्वारा आर्य स्थूलभद्र को वाचना देने आदि का उल्लेख किया गया है।[१] यह सब विवरण स्थूलभद्रस्वामी के प्रकरण में यथास्थान दिया जा रहा है।

आवश्यकचूर्णि

आवश्यकचूर्णि में भद्रबाहु विषयक तित्थोगालियपइण्णा में उल्लिखित उपरोक्त तथ्यों में से कुछ का अति संक्षेप में उल्लेख किया गया है।[२]

---

[१] तित्थोगालियपइण्णा, गाथासंख्या ७०० से ८०० के बीच की गाथाएं

[२] आवश्यकचूर्णि, भाग २, पृ० १८७

गच्छाचार पइन्ना, दोघट्टीवृत्ति

यों तो श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों में आचार्य भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं का थोड़ा बहुत उल्लेख उपलब्ध होता है पर गच्छाचार पइन्ना की गाथा संख्या ८२ की टीका में आचार्य भद्रबाहु का गृहस्थ जीवन से लेकर स्वर्गारोहण तक का थोड़े विस्तार के साथ जीवन-परिचय दिया हुआ है। उसका सारांश इस प्रकार है :-

"परम समृद्ध महाराष्ट्र प्रदेश में श्रीप्रतिष्ठान नामक एक नगर था। वहाँ चतुर्दश विद्याओं में पारंगत, षट्कर्ममर्मज्ञ और प्रकृति से भद्र एक भद्रबाहु नामक ब्राह्मण रहता था। उसके सहोदर का नाम वराहमिहिर था, जो उसे परमप्रिय था। एक दिन वहां चतुर्दशपूर्वधर एवं महान् तत्वज्ञ आचार्य श्रीयशोभद्रस्वामी का पधारना हुआ।

यशोभद्रस्वामी के परमवैराग्योत्पादक उपदेश को सुनकर पंडित भद्रबाहु को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने अपने अनुज वराहमिहिर से कहा - "वत्स ! मुझे भवभ्रमण से विरक्ति हो गई है अतः मैं इन गुरुदेव की चरण-शरण में दीक्षित हो निर्दोष संयम का पालन करना चाहता हूं। तुम घर लौट कर सावधानीपूर्वक अपने घर का कार्य सम्हालो।"

इस पर वराहमिहिर ने उत्तर दिया - "भैया ! आप यदि संसार सागर को तैर कर पार करना चाहते हैं, तो फिर मैं टूटी हुई नैया के नाविक की तरह भवाब्धि में क्यों डूबूंगा ? शर्करामिश्रित खीर यदि ब्राह्मण को मीठी लगती है, तो क्या वह ब्राह्मणेतर जनों को मीठी नहीं लगेगी ?"

भद्रबाहु ने यह सोच कर कि यह कहीं भवाटवी में भटकता ही न रह जाय, वराहमिहिर को अपने साथ प्रव्रजित होने की अनुमति प्रदान कर दी और दोनों भाई समर्थ आचार्य यशोभद्रस्वामी के पास प्रव्रजित हो गये। ज्ञान और चारित्र की शिक्षा ग्रहण कर भद्रबाहु ने अपने गुरु के पास क्रमशः मूल, अर्थ और रहस्य सहित द्वादशांगी का अध्ययन किया और वे चतुर्दशपूर्वधर हो समस्त श्रमण संघ में चूड़ामणि की तरह सुशोभित होने लगे।

आचार्य यशोभद्रसूरि के प्रमुख शिष्य का नाम आर्य संभूतविजय था, जो चतुर्दश पूर्वधर और अनुपम चारित्रवान् थे। अपने जीवन का अन्तिम समय सन्निकट समझ कर आचार्य यशोभद्रसूरि ने अपने दोनों सुयोग्य और श्रुतकेवली शिष्यों-संभूतविजय और भद्रबाहु को अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद पर प्रतिष्ठापित कर संलेखना की और कुछ दिनों पश्चात् समाधिपूर्वक स्वर्ग-गमन किया।

आचार्य यशोभद्र के स्वर्गारोहण के पश्चात् संभूतविजय और भद्रबाहु-ये दोनों आचार्य चन्द्र और सूर्य की तरह अपनी ज्ञानरश्मियों से अज्ञान-तिमिर का नाश करते हुए अनेक क्षेत्रों में विचरण करने लगे।

उधर वह अल्पमति वराहमिहिर मुनि चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि कुछ ग्रन्थों का अध्ययन कर अहंकार से अभिभूत हो आचार्य-पद प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगा। किन्तु आचार्यद्वय ने अपने ज्ञान बल से उसे इस पद के अयोग्य समझा और :–

> वूढो गणहरसद्दो, गोयममाईहिं धीरपुरिसेहिं।
> जो तं ठवइ अपत्ते, जाणंतो सो महापावो ॥

अर्थात् – गणधर जैसे गरिमामय पद को गौतम आदि धीर-गम्भीर महापुरुषों ने वहन किया है। ऐसे महान् पद पर यदि कोई जानबूझ कर किसी अपात्र को नियुक्त कर देता है, तो वह घोरातिघोर पाप का भागी होता है।

इस आप्तवचन को ध्यान में रखते हुए उन्होंने वराहमिहिर को गणधर पद का अधिकारी नहीं बनाया। इसके परिणामस्वरूप मुनि वराहमिहिर मन ही मन अपने ज्येष्ठ भ्राता आचार्य भद्रबाहु के प्रति घोर विद्वेष रखने लगा और उसने इसे अपना घोर अपमान समझ कर सदा के लिये उनका साथ छोड़ने का निश्चय कर लिया। तीव्र कषाय और मिथ्यात्व के उदय से उसने बारह वर्ष के साधु-जीवन का परित्याग कर पुनः गार्हस्थ्य जीवन स्वीकार कर लिया। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि आगमग्रन्थों से सार ग्रहण कर उसने वराहीसंहिता नामक सवालक्ष पद प्रमाण ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की। वह द्रव्यानुयोग एवं अन्य अंगोपांगों में से मंत्र ग्रहण कर, उनके प्रयोग से धनी-मानी लोगों का मनोरंजन करने लगा।

वराहमिहिर ने सर्वत्र सम्मान पाने की अभिलाषा से अपने भोले भक्त लोगों के माध्यम से इस प्रकार का मिथ्या प्रचार करना प्रारम्भ किया कि वह १२ वर्ष तक सूर्यमण्डल में रह कर आया है। वहां स्वयं सूर्य भगवान् ने समस्त ग्रहमण्डल के उदयास्त, गति, स्थिति, फल आदि को प्रत्यक्ष दिखा-दिखा कर उसे ज्योतिष-विद्या की सम्पूर्ण शिक्षा प्रदान की। ज्योतिष-विद्या में पारंगत बना कर सूर्य भगवान् ने उसे मर्त्यलोक में भेजा है। सूर्यमण्डल से पृथ्वी पर आकर उसने ज्योतिष-शास्त्र की रचना की है।

धूर्त भक्तों के माध्यम से यह कपोलकल्पित कथानक लोगों में शीघ्र ही फैल गया और इस प्रकार वराहमिहिर की सर्वत्र बड़ी प्रतिष्ठा होने लगी। इस प्रकार की लोकप्रसिद्धि से प्रभावित हो प्रतिष्ठानपुर के महाराजा ने वराहमिहिर को अपने राजपुरोहित के पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया। राज्य से प्रतिष्ठा पाने के अनन्तर तो वराहमिहिर की कीर्ति दिग्दिगन्तव्यापिनी हो गई।

उन्हीं दिनों विविध क्षेत्रों के भव्यजनों को जिन-वचनामृत से तृप्त करते हुए आचार्य भद्रबाहु प्रतिष्ठानपुर के बहिस्थ उद्यान में पधारे। उनके आगमन का समाचार सुनकर प्रतिष्ठानपुर के नरेन्द्र अपने पुरजन परिजन सहित उनका वन्दन एवं उपदेश श्रवण करने हेतु उद्यान में पहुंचे। राजपुरोहित वराहमिहिर

भी राजा के साथ था। उसी समय एक पुरुष ने वहां उपस्थित हो महाराज के समक्ष ही वराहमिहिर को हर्षभरा शुभ-संवाद सुनाया – "देव! अभी-अभी आपके यहां पुत्ररत्न का जन्म हुआ है।"

यह हर्षप्रद सन्देश सुन कर महाराज न प्रसन्न हो समाचार लाने वाले व्यक्ति को अच्छा पारितोषिक दिया और पुरोहित से प्रश्न किया – "पुरोहितजी! यह बताइये कि यह तुम्हारा पुत्र किन-किन विद्याओं में पारंगत और कितनी आयुष्य वाला होगा? इसके साथ ही साथ यह भी बताइये कि यह हमारे द्वारा सम्मानित होगा अथवा नहीं? आज तो परम सौभाग्य की बात है कि सर्वज्ञपुत्र एवं शत्रु तथा मित्र के प्रति समान व्यवहार रखने वाले श्री भद्रबाहु और समस्त ज्योतिष्चक्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म गति एवं उसके परिणाम के ज्ञाता तुम जैसे ज्योतिष-शास्त्र के पारगामी विद्वान् यहां विद्यमान हैं। अतः दोनों विद्वद्शिरोमणि विचार कर कहिये।"

निज चपल स्वभाववश वराहमिहिर ने अपने पाण्डित्य की उत्कृष्टता का प्रदर्शन करते हुए कहा – "महाराज! इस नवजात शिशु के जन्मकाल, लग्न, ग्रह आदि पर विचार करने के पश्चात् मैं यह कहने की स्थिति में हूं कि यह बालक शतायु, आपके द्वारा तथा आपके पुत्रों एवं पौत्रों द्वारा भी पूजित और अठारह विद्याओं का पारंगत विद्वान् होगा।"

जैन सिद्धान्त में निमित्त-कथन का निषेध है फिर भी राजा और उपस्थित अन्य पौरजनों के अनुरोध से, रोगनिवारणार्थ कटु औषध का पिलाना भी आवश्यक होता है, इस विचार से गीतार्थशिरोमणि आचार्य भद्रबाहु ने बताया कि सातवें दिन के अन्त में इस बालक की बिडाल से मृत्यु हो जायगी।

यह सुन कर वराहमिहिर बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने महाराज से प्रार्थना की कि यदि भद्रबाहु का कथन असत्य सिद्ध हो तो इनको कोई कठोर दण्ड दिया जाय। घर पहुंच कर वराहमिहिर ने अपने घर के चारों ओर सैनिकों का कड़ा पहरा लगा दिया। सूतिकागृह में सभी आवश्यक सामग्री का समुचित प्रबन्ध करने के पश्चात् पुत्र की रक्षार्थ धात्री को नियुक्त कर दिया। तदनन्तर बिडाल के संचार को रोकने हेतु सूतिकागृह के द्वार को अन्दर की ओर से बन्द करवाकर वराहमिहिर स्वयं सूतिकागृह पर अहर्निश पहरा देने लगा।

इस प्रकार के कड़े सुरक्षा प्रबन्धों के बीच सातवां दिन आ उपस्थित हुआ। ज्यों-ज्यों आशंकित संकट की घड़ी सन्निकट आती गई त्यों-त्यों सुरक्षा के प्रबन्ध और अधिक कड़े किये जाने लगे और अधिकाधिक सावधानी बरती जाने लगी। सातवें दिन के समाप्त होते-होते अकस्मात् सूतिकागृह के सुदृढ़ कपाटों की बिडालमुखी भारी अर्गला बालक के ऊपर गिरी और उसके प्रहार से वह नन्हा सा बालक तत्काल प्राणविहीन हो गया। सारे घर में कुहराम मच गया। वराहमिहिर करुण क्रन्दन करते हुए कहने लगा – "हा रे देव! तुम्हारी गति

परित्याग करने और भद्रबाहु द्वारा १० निर्युक्तियों की रचना करने का उल्लेख नहीं है, जबकि इसमें इन भद्रबाहु को चतुर्दश पूर्वधर बताया गया है।

प्रबन्धकोश के अनुसार

राजशेखरसूरिकृत प्रबन्धकोश में भद्रबाहु और वराहमिहिर के प्रतिष्ठानपुर निवासी निर्धन, निराश्रित पर विद्वान् ब्राह्मण होने, यशोभद्रसूरि के उपदेश से विरक्त एवं दैन्य-दुःख से प्रव्रजित होने, भद्रबाहु के चतुर्दश पूर्वधर बनने एवं उनके द्वारा १० निर्युक्तियों की रचना किये जाने का उल्लेख है। इसमें वराहमिहिर के रुष्ट हो प्रतिष्ठानपुर के राजा जितशत्रु का पौरोहित्य स्वीकार करने तक का सारा विवरण दोघट्टी वृत्ति में दिये गये विवरण से मिलता-जुलता है। इसमें विशेष बात यह बताई गई है कि राजपुरोहित का पद मिल जाने पर वराहमिहिर ने गर्वोन्मत्त हो श्वेताम्बरों की निन्दा और गर्हा करनी प्रारम्भ कर दी। वह प्रायः यही कहता कि ये बेचारे काक-तुल्य श्वेताम्बर कुछ नहीं जानते, केवल मक्खियों की तरह भिनभिनाते और मलीन वस्त्र धारण किये अपना जीवन नष्ट करते हैं। इससे क्रुद्ध हो श्रावकों ने भद्रबाहु से प्रतिष्ठानपुर आने की प्रार्थना की और उनके पधारने पर नगरप्रवेश का बड़ा भव्य महोत्सव किया। भद्रबाहु के आगमन पर वह उनका कुछ भी अपकार नहीं कर सका।

उन्हीं दिनों वराहमिहिर को पुत्र की प्राप्ति हुई। पुत्र-जन्म की खुशी में उसने प्रसन्न हो अपार धनराशि व्यय की। नागरिकों ने उसे बधाइयां दीं। जितशत्रु राजा व राजसभा के समक्ष उसने अपने ज्योतिष के ज्ञान-बल पर भविष्यवाणी की कि उसका पुत्र शतायु होगा। वराहमिहिर ने एक दिन राजसभा में कहा – "समस्त पौरजन पुत्रजन्म के उपलक्ष में मुझे बधाई देने आये पर भद्रबाहु मेरे सहोदर होते हुए भी मेरे यहां नहीं आये। श्रावकों ने आचार्य भद्रबाहु को इसकी सूचना दी और उनसे प्रार्थना की कि वे एक बार उसके घर पर अवश्य पधारें, व्यर्थ ही उसके क्रोध को न बढ़ावें। इस पर भद्रबाहु ने कहा कि दो बार कष्ट करने से क्या लाभ? क्योंकि सातवीं रात्रि में बिल्ली के द्वारा इस बालक की मृत्यु हो जायगी।

भद्रबाहु द्वारा कथित भावी अनिष्ट की सूचना पा, वराहमिहिर ने अपने पुत्र की सुरक्षा का बड़ा कड़ा प्रबन्ध किया पर सातवीं रात्रि में कपाट की अर्गला के गिर जाने से बालक की मृत्यु हो गई।

पुत्र की मृत्यु के शोक से संतप्त वराहमिहिर को भद्रबाहु ने "शोकोपनोदो धर्माचार्यः" – इस उक्ति के अनुसार सान्त्वना देना आवश्यक समझा और वे उसके घर गये। वराहमिहिर ने उठकर भद्रबाहु के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए कहा – "आचार्यजी! आपका ज्ञान और कथन सत्य सिद्ध हुआ पर बच्चे की मृत्यु आपके कथनानुसार बिल्ली से न होकर आगल से हुई है।"

इस पर भद्रबाहु ने कहा – "भद्र ! हम लोग कभी असत्य भाषण नहीं करते। अच्छी तरह से देखो, उस लोहे की अर्गला के अग्रभाग पर बिल्ली का रेखांकित चित्र है। वराहमिहिर ने देखा कि वस्तुतः आगल के अग्रभाग पर बिल्ली का चित्र खुदा हुआ है। तदनन्तर उसने कहा – "पुत्र की मृत्यु के शोक से मुझे उतना कष्ट नहीं हो रहा है, जितना कि राजा के समक्ष मेरे द्वारा की गई अपने पुत्र के शतायु होने की भविष्यवाणी के असत्य सिद्ध होने से। धिक्कार है इन मेरी सब पुस्तकों को, जिन पर विश्वास करके मैंने भविष्यवाणी की। ये सब पुस्तकें असत्य हैं। मैं इन सब को अभी नष्ट किये देता हूं।" यह कहते हुए वराहमिहिर अपनी सब पुस्तकों को जल से भरे कुंडों में डालने के लिये उद्यत हुआ। भद्रबाहु ने उसे रोकते हुए कहा – "तुमने अपने प्रमाद के कारण ज्ञान को कलुषित किया है, इन पुस्तकों पर तुम व्यर्थ ही कुपित होते हो। ये पुस्तकें तो सर्वज्ञभाषित बातों को ही प्रकट करती हैं। वस्तुतः इनके ज्ञाता लोग ही दुर्लभ हैं। देखो तुमने भविष्य-कथन के समय अमुक-अमुक स्थान पर मतिविभ्रम के कारण त्रुटि की है। अतः तुम इन पुस्तकों की नहीं प्रत्युत अपनी स्वयं की निन्दा करो। तुम अपने पाण्डित्य के मद में मदोन्मत्त हो गये हो। प्रमत्त पुरुष में सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने की क्षमता नहीं रहती। अपराध तुम्हारा ही है, न कि इन पुस्तकों का अतः इन पुस्तकों को विनष्ट मत करो।"

भद्रबाहु की बात सुनकर वराहमिहिर किंकर्त्तव्यविमूढ़ की तरह शोकमग्न मुद्रा में एक ओर बैठ गया। वराहमिहिर की यह स्थिति देखकर एक श्रावक बोला – "वह रात्रि व्यतीत हो चुकी जिसमें तुम्हारे जैसे खद्योत भी टिमटिमा कर प्रकाश करने का दम भरते थे। अब तो सूर्य की प्रखर किरणों से दशों दिशाओं को प्रकाशमान करता हुआ दिवस आ गया है। इस दिवस में तुम्हारे जैसे खद्योतों की तो सामर्थ्य ही क्या स्वयं निशानाथ चन्द्रमा का भी कहीं पता नहीं है।" यह कहकर वह श्रावक तत्काल वहां से चल दिया। वराहमिहिर को मन ही मन असह्य पीड़ा का अनुभव हुआ।

उसी समय प्रतिष्ठानपुर के महाराज वराहमिहिर के घर पर आये और शोकसन्तप्त वराहमिहिर को सान्त्वना देते हुए उन्होंने कहा – "पुरोहितराज ! इस प्रकार शोकसागर में निमग्न न होओ, यह तो संसार का अटल नियम है कि एक आता है और चला जाता है।"

उसी समय एक मन्त्री ने राजा से निवेदन किया – "महाराज ! ये आचार्यश्री इन्हीं दिनों यहां पधारे हैं। इन्होंने ही वराहमिहिर के नवजात शिशु की आयु सात दिन की बताई थी। आपका नाम आचार्य भद्रबाहु है। आपकी भविष्यवाणी वस्तुतः सत्य सिद्ध हुई।"

यह सुनकर दुःखी वराहमिहिर और अधिक दुःखी हुआ। राजा ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया और तदनन्तर सब अपने-अपने स्थान को लौट गये।

अपने साधु-संघ के साथ आचार्य शान्ति के वल्लभी पहुंचने के पश्चात् वहां पर भी बड़ा भीषरण दुष्काल पड़ा। वहां घोर दुष्काल के कारण ऐसी बीभत्स स्थिति उत्पन्न हो गई कि भूख से पीड़ित रंक लोग अन्य लोगों के पेट चीर-चीर कर और उनकी आंतों एवं ओझरियों में से सद्यभुक्त अन्न निकाल-निकाल कर खाने लगे ।।५७।।

इस भयावह स्थिति से मजबूर हो कर आचार्य शान्ति के संघ के सभी साधुओं ने कम्बल, दण्ड, तूंबा, पात्र और आवरण हेतु श्वेत वस्त्र धारण कर लिये ।।५८।।

उन्होंने साधुओं के योग्य आचरण का परित्याग कर दीनवृत्ति से मांगना और बस्तियों में अपनी इच्छानुसार जा जा कर और बैठ-बैठ कर भोजन करना प्रारम्भ कर दिया ।।५९।।

इस प्रकार का आचरण करते हुए उनका बहुत सा काल व्यतीत हो गया। अंततोगत्वा दुष्काल का अन्त और सुभिक्ष का प्रादुर्भाव हुआ। तब आचार्य शान्ति ने अपने संघ के सभी साधुओं को संबोधित करते हुए कहा कि अब इस कुत्सित आचरण को छोड़ दो और अपने इस आचरण की गर्हा निन्दा कर के (प्रायश्चित कर के) पुनः महर्षियों के श्रेष्ठ आचरण को ग्रहण करो ।।६०-६१।।

आचार्य शान्ति[1] की इस बात को सुन कर उनके प्रथम शिष्य ने कहा – "अब इस प्रकार के अति कठोर आचरण का कौन पालन कर सकता है? उपवास, भोजन का प्राप्त न होना, असह्य अनेक अन्य अन्तराय, एक स्थान, नग्नत्व, मौन, ब्रह्मचर्य, भूमिशय्या, दो-दो मासों के अन्तर से केशों का असह्य कष्टप्रद लुंचन,

---

तत्थ वि गयस्स जायं दुब्भिक्खं दारुणं महाघोरं ।
जत्थ वियारिय उयरं खद्दो रंकेहिं कुरुत्ति ।।५७।।
तं लहिऊण णिमित्तं गहियं सव्वेहिं कम्वलि दंडं ।
दुद्दियपत्तं च तहा पावत्थं सेयवत्थं च ।।५८।।
चत्तं रिसि आयरणं गहिया भिक्खा य दीणवित्तीए ।
उवविसिय जाइऊणं भुत्तं वसहीसु इच्छाए ।।५९।।
एवं वट्टंताणं कित्तिय कालम्मि चावि परियलिए ।
संजायं सुब्भिक्खं जंपइ ता संति आयरिओ ।।६०।।
आवाहिऊण संघं भणियं छंडेह कुत्थियायरणं ।
णिंदिय गरहिय गिण्हह पुणरवि चरियं मुणिंदाणं ।।६१।।

[1] विक्रम सं० १३६ (वीर नि० सं० ३०६) से १२ वर्ष पूर्व निमित्तज्ञ आ० भद्रबाहु द्वारा द्वादशवार्षिक दुष्काल की सूचना मिलने पर शान्ति नामक संघपति के अपने शिष्यों सहित वल्लभी जाने का जो उल्लेख आ० देवसेन ने किया है उसमें रामिल्ल, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र का कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया है। —सम्पादक

नित्य ही घोर बावीस परीषहों का सहन करना आदि ये तो बड़े ही कठोर आचरण हैं ।। ६२, ६३, ६४ ।।

इस समय हम लोगों ने जो यह आचरण ग्रहण कर रखा है, वह वस्तुतः इस लोक में सुखकर है अतः इसे इस दुःषम नामक पांचवें आरक में हम नहीं छोड़ सकते ।।६५।।

इस पर शान्त्याचार्य ने कहा कि इस प्रकार का चरित्रभ्रष्ट जीवन अच्छा नहीं । यह तो जिनप्ररूपित धर्ममार्ग को दूपित करने वाला है ।।६६।।

जिनेन्द्रप्रभु ने निर्ग्रन्थ प्रवचन को ही परमोत्कृष्ट बताया है, उसका त्याग कर अन्य मार्ग की प्रवृत्ति करना मिथ्यात्व है ।।६७।।

शान्त्याचार्य के इस कथन से रुष्ट हो कर उनके उस प्रधान शिष्य ने लम्बे डण्डे से गुरु के सिर पर प्रहार किया जिसके आघात से स्थविर आचार्य शान्ति का प्राणान्त हो गया और वे मर कर व्यन्तर जाति के देव हुए ।।६८।।

शान्त्याचार्य के मरने पर उनका वह प्रमुख शिष्य संघाधिपति बन बैठा और प्रकट में पाषंड-श्वेताम्बर हो गया । वह लोगों को इस प्रकार के धर्म का उपदेश देने लगा कि सग्रन्थ (वस्त्र-पात्रादि के परिग्रहधारक) को भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।।६९।।

उसने (जिनचन्द्र ने) तथा उसके अनुयायियों ने स्वयं द्वारा ग्रहण किये गये पाषण्डों के अनुरूप शास्त्रों की रचना की और उन शास्त्रों का उपदेश दे कर लोगों में उस प्रकार के आचरण को प्रचलित कर दिया ।।७०।।

तं वयणं सोऊणं उत्तं सीसेण तत्थ पढमेण ।
को सक्कइ धारेउं एयं अइ दुद्धरायरणं ।।६२।।

उववासो य अलाभो अण्णे दुस्सहाइं अंतरायाइं ।
एकट्ठाणमचेलं अज्जायणं बम्भचेरं च ।।६३।।

भूमीसयणं लोच्चं वे वे मासेहिं असहिणिज्जो हु ।
बावीस परिसहाइं असहिणिज्जाइं निच्चं पि ।।६४।।

जं पुण संपइ गहियं एयं अम्हेहिं किं पि आयरणं ।
इह लोय सुक्खयरणं ण छंडिमो हु दुस्समे काले ।।६५।।

ता संतिणा पउत्तं चरियपभट्ठेहिं जीवियं लोए ।
एयं ण हु सुन्दरयं दूसणयं जइण मग्गस्स ।।६६।।

णिग्गंथं पव्वयणं जिणवरणाहेण अक्खियं परमं ।
तं छंडिऊण अण्णं पवत्तमाणेण मिच्छत्तं ।।६७।।

ता रुसिऊण पहओ सीसे सीसेण दीह दंडेण ।
थविरो घाएण मुओ जाओ सो वितरो देवो ।।६८।।

इयरो संघाहिवइ पयडिय पासंड सेवडो जाओ ।
अक्खइ लोए धम्मं सग्गंथं अत्थि णिव्वाणं ।।६९।।

सत्थाइं विरइयाइं णिय णिय पासंड गहियसरिसाइं ।
वक्खाणिऊण लोए पवत्तिओ तारिसायरणो ।।७०।।

उन लोगों ने निर्ग्रन्थ मार्ग की निन्दा और अपने मार्ग की प्रशंसा करते हुए अनेक प्रकार की मायाओं के प्रदर्शन से लोगों को मूढ़ बना कर बहुत सा द्रव्य ग्रहण किया ।।७१।।

आचार्य शान्ति व्यन्तर बन कर अनेक प्रकार के उपद्रव करने लगा और उन लोगों (श्वेताम्बरों) को कहने लगा कि तुम लोग जैन धर्म को पाकर मिथ्यात्व मार्ग पर मत चलो ।।७२।।

व्यंतर द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों से डर कर उन लोगों ने उस व्यन्तर की सकल द्रव्यों से संयुक्त आठ प्रकार की पूजा की । उस व्यन्तर की उस समय जो पूजा जिनचन्द्र द्वारा विरचित की गई वह आज दिन तक प्रचलित है ।।७३।।

आज भी सबसे पहले वह बलिपूजा उस व्यन्तर के नाम से दी जाती है और वह व्यन्तर श्वेताम्बर संघ का पूज्य कुलदेव कहा जाता है ।।७४।।

यह पथभ्रष्ट श्वेताम्बरों की उत्पत्ति बताई गई है । अब मैं आगे अज्ञान मिथ्यात्व के विषय में कहूंगा उसे सुनो ।।७५।।

इन गाथाओं द्वारा आचार्य देवसेन ने स्पष्ट रूप से अपनी यह मान्यता प्रकट की है कि विक्रम संवत् १२४ तदनुसार वीर निर्वाण संवत् ५९४ में आचार्य भद्रबाहु ने श्रमणसंघ को भावी द्वादश वार्षिक दुष्काल की पूर्वसूचना देते हुए सलाह दी कि सब साधु उज्जयिनी (अवन्ती) राज्य को छोड़ कर दूर के प्रान्तों में चले जायं । तदनुसार शान्ति नामक एक आचार्य भी सोरठ देश की वल्लभीपुरी में जाकर अपने विशाल शिष्य परिवार के साथ रहने लगा । वहां शान्त्याचार्य एवं उनके शिष्यों ने दुष्कालजन्य विकट परिस्थितियों से मजबूर हो कर कम्बल, दण्ड, वस्त्र, पात्रादि धारण किये और गृहस्थों के यहां बैठ कर भोजन करना प्रारम्भ किया । सुभिक्ष होने पर शान्त्याचार्य ने अपने शिष्यों को पुनः निरवद्य दिगम्बर श्रमणाचार ग्रहण करने की सलाह दी । शान्त्याचार्य के शिष्यों ने उनकी आज्ञा का पालन करने से स्पष्टतः इन्कार कर दिया । शान्त्याचार्य ने अपने शिष्यों के जिनप्ररूपित धर्म से विपरीत आचरण की कटु शब्दों में भर्त्सना की । इससे क्रुद्ध हो शान्त्याचार्य के प्रमुख शिष्य ने उनके कपाल पर दण्ड का प्रहार किया ।

णिग्गंथं दूसित्ता णिंदित्ता अप्पणं पसंसित्ता ।
जीवे मूढए लोए कयमाए गेहियं बहु दव्वं ।।७१।।

इयरो वितर देवो संति लग्गो उवद्दवं काउं ।
जंपइ मा मिच्छत्तं गच्छह लहिऊण जिणधम्मं ।।७२।।

भीएहिं तस्स पूआ अट्ठविहा सयलदव्वसंपुण्णा ।
जा जिणचन्द रइया सो अज्जवि दिण्णिया तस्स ।।७३।।

अज्ज वि सा बलि पूया पढमयरं दिंति तस्स णामेण ।
सो कुलदेवो उत्तो सेवड संघस्स पुज्जो सो ।।७४।।

इय उप्पत्ती कहिया सेवडयाणं च मग्गभट्ठाणं ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं णिसुणह अण्णाणमिच्छत्तं ।।७५।।

परिणामतः शान्त्याचार्य की मृत्यु हो गई और उनकी मृत्यु के पश्चात् विक्रम संवत् १३६ तदनुसार वीर निर्वाण संवत् ६०६ में उनके शिष्यों ने अपने शिथिलाचार के अनुसार नवीन शास्त्रों की रचना कर श्वेताम्बर संघ की स्थापना की।

वीर निर्वाण संवत् ६०६ में दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद प्रारम्भ हुआ, यह दिगम्बर सम्प्रदाय को सर्वसम्मत मान्यता है अतः उसके आधार पर देवसेन द्वारा प्रस्तुत की गई उपर्युक्त मान्यता को दिगम्बर परम्परा की मान्यता संख्या १ के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

आचार्य हरिषेण इससे कुछ आगे बढ़े,

वृहत्कथाकोश

पुन्नाट संघ के श्री मौनि भट्टारक के प्रशिष्य तथा श्री भरतसेन के शिष्य आचार्य श्री हरिषेण ने विक्रम संवत् ९८९ में निर्मित वृहत् कथाकोश में जो आचार्य भद्रबाहु का कथानक (कथानक संख्या १३१) दिया है, उसका सारांश यहां दिया जा रहा है :-

प्राचीनकाल में पुण्ड्रवर्धन राज्य में कोटिपुर नामक एक नगर था जो आज कल देवकोट्ट के नाम से प्रसिद्ध है। वहां के राजा पद्मरथ के राज-पुरोहित सोमशर्मा की धर्मपत्नी सोमश्री की कुक्षि से भद्रवाहु का जन्म हुआ। वालक भद्रवाहु जव कुछ वड़ा हुआ तो वह अपने समवयस्क वालकों के साथ खेलने लगा। एक दिन नगर के वाहर अपने साथियों के साथ खेलते हुए भद्रवाहु ने वात ही वात में गोली पर गोली चढ़ाते हुए चौदह गोलियों को एक दूसरी पर चढ़ा कर सव खिलाड़ियों को आश्चर्य में डाल दिया।

उसी समय भगवान् नेमिनाथ की स्तुति करने हेतु उर्जयन्त (गिरनार) पर्वत की ओर जाते हुए चौथे चतुर्दश पूर्वधर आचार्य गोवर्धन उस स्थान पर पधारे। उन्होंने वालक भद्रवाहु द्वारा चौदह गोलियों को एक दूसरी पर चढ़ा देने के अद्भुत कौशल को देख कर अपने ज्ञान से जान लिया कि यही प्रतिभाशाली वालक आगे चल कर अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर होगा। गोवर्द्धनाचार्य ने भद्रवाहु के पिता को सारा हाल सुना कर उनकी अनुमति से वालक भद्रवाहु को अध्ययन कराने हेतु अपने पास रख लिया और स्वल्प समय में ही सव विद्याओं एवं शास्त्रों में उसे पारंगत वना दिया।

सव विद्याओं में निष्णात होने पर भद्रवाहु गुरु-आज्ञा से अपने माता-पिता के पास गये परन्तु कुछ ही दिनों पश्चात् वे अपने माता-पिता से दीक्षित होने की आज्ञा प्राप्त कर आचार्य गोवर्द्धन के पास लौट आये और उनके पास निर्ग्रन्थ-धर्म में दीक्षित हो गये। गुरु की कृपा से भद्रवाहु कुछ ही काल में द्वादशांगी के पारगामी विशेषज्ञ-श्रुतकेवली वन गये। अपने अन्तिम समय में आचार्य गोवर्द्धन ने भद्रवाहु को आचार्य पद प्रदान कर दिया और स्वयं कठोर तपश्चरण करते हुए अन्त में अनशन-पूर्वक स्वर्गगमन किया।

आचार्य भद्रबाहु विविध क्षेत्रों में धर्म का प्रचार करते हुए एक समय अवन्ती राज्य की राजधानी उज्जयिनी पुरी के बाहर क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित उपवन में पधारे।

उस समय अवन्ती राज्य पर महाराज चन्द्रगुप्त का शासन था। वे उज्जयिनी में रहते थे। महाराज चन्द्रगुप्त एक दृढ़ सम्यक्त्वी और जिनशासन के श्रद्धालु श्रावक थे। उनकी महारानी का नाम सुप्रभा था।

एक दिन आचार्य भद्रबाहु उज्जयिनी में घर-घर भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए एक ऐसे घर में प्रविष्ट हुए जिसके अन्दर झोली में लेटे हुए एक शिशु के अतिरिक्त और कोई नहीं था। भद्रबाहु को देखते ही वह नन्हा सा शिशु बोल उठा – भगवन् ! आप यहां से शीघ्र ही चले जाइये।

दिव्यज्ञानी भद्रबाहु ने उस शिशु के अत्यन्त आश्चर्योत्पादक वचन सुनकर तत्काल ही समझ लिया कि इस प्रकार के अति स्वल्पायुष्क शिशु के मुख से इस प्रकार के वचन प्रकट होने का परिणाम यह होने वाला है कि इस समस्त प्रदेश में निरन्तर १२ वर्ष तक भयंकर अनावृष्टि होगी। वे तत्क्षण विना भिक्षा ग्रहण किये ही उपवन की ओर लौट गये। अपराह्न वेला में उन्होंने श्रमण संघ को एकत्रित कर उसे भावी द्वादशवार्षिक दुर्भिक्ष के महान् संकट से अवगत कराते हुए कहा – "श्रमणो ! जन-धन और अन्न से परिपूर्ण यह सुरम्य प्रदेश बारह वर्ष तक अनावृष्टि और दुष्काल के कारण शून्यप्रायः होने वाला है। मेरी तो बहुत ही कम आयु अवशिष्ट रह गई है अतः मैं तो यहीं रहूंगा पर आप सब लोग लवण समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों की ओर चले जाओ।"

आचार्य भद्रबाहु के उपरोक्त वचन सुनकर महाराज चन्द्रगुप्त ने उनके पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि बनने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने अपने गुरु से १० पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया और वे विषाखाचार्य के नाम से विख्यात हो श्रमण संघ के अधिपति बन गये। आचार्य भद्रबाहु की आज्ञानुसार श्रमण संघ इन विषाखाचार्य के साथ दक्षिणापथ के पुन्नाट प्रदेश में चला गया तथा रामिल्ल स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र – ये तीनों अपने संघ के साथ सिन्धु प्रदेश में चले गये।

आचार्य भद्रबाहु उज्जयिनी के अन्तर्गत भाद्रपद नामक स्थान में आकर ठहरे और वहां कई दिनों के अनशन के पश्चात् समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग सिधारे।

रामिल्ल, स्थूलवृद्ध (स्थूलाचार्य) और स्थूलभद्र जिस समय सिन्धु प्रदेश में पहुंचे, उस समय वहां पर भी दुष्काल का प्रभाव व्याप्त हो चुका था। सिन्धु प्रदेश के श्रद्धालु श्रावकों ने उनके सम्मुख उपस्थित होकर निवेदन किया – "महात्मन् ! भूखे लोगों की अपार भीड़ के डर से हमारे घरों में रात्रि के समय ही भोजन बनाया जाता है, अतः जब तक यह संकटकाल समाप्त न हो जाय तब तक

आप लोग भिक्षापात्र लेकर भिक्षा लेने हेतु रात्रि के समय ही हमारे घरों में आया करें। रात्रि में लाया हुआ आहार दूसरे दिन खा लिया करें।"

श्रावकों के आग्रहपूर्ण निवेदन को स्वीकार करते हुए उन श्रमणों ने रात्रि के समय पात्रों में भिक्षा लाने तथा दूसरे दिन आहार करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी और इस प्रकार उस भयावह दुर्भिक्ष का समय व्यतीत होने लगा।

कुछ समय पश्चात् उन श्रमणों में से एक अत्यंत कृषकाय श्रमण अर्द्धरात्रि के समय भिक्षापात्र लिये गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट हुआ। रात्रि के घनान्धकार में उस नग्न साधु के कंकालावशिष्ट वीभत्स स्वरूप को देखकर उस घर की गर्भिणी गृहणी इतनी अधिक भयभीत हुई कि तत्काल उसका गर्भ गिर गया।

इस दुर्भाग्यपूर्ण काण्ड से श्रमणों एवं श्रावकों को बड़ा दुःख हुआ। श्रावकों ने श्रमणों से प्रार्थना की कि वे अपने बांये स्कन्ध पर कपड़ा (अर्द्धफालक) रखें। भिक्षा ग्रहण करते समय बायें हाथ से कपड़े को आगे की ओर कर दें और दक्षिण हाथ में ग्रहण किये हुए पात्र में भिक्षा ग्रहण करें। सुभिक्ष हो जाने पर इस प्रकार के आचरण के लिये प्रायश्चित्त कर लें। श्रावकों की प्रार्थना को समयोचित समझ कर श्रमणों ने स्वीकार कर लिया और अर्द्धफालक एवं दण्ड आदि रखना प्रारम्भ कर किया।

उधर विशाखाचार्य के साथ गये हुए श्रमणों के संघ ने दक्षिण देश में सुभिक्ष होने के कारण ज्ञान, दर्शन, चारित्र का सम्यक् रूप से परिपालन करते हुए बारह वर्ष का संक्रान्तिकाल दक्षिणापथ में सुखपूर्वक व्यतीत किया।

उस द्वादशवार्षिक दुर्भिक्ष की समाप्ति पर सुभिक्ष होते ही विशाखाचार्य ने अपने श्रमण संघ के साथ दक्षिणापथ से मध्यप्रदेश की ओर विहार कर दिया और अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुए वे मध्यप्रदेश में आ पहुंचे।

उधर रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य ने दुर्भिक्ष की समाप्ति पर समस्त श्रमण संघ को एकत्रित कर कहा कि दुर्भिक्ष के दिन व्यतीत हो गये हैं। अतः अब सब मुमुक्षु श्रमणों को अर्द्धफालक का परित्याग कर निर्ग्रन्थता स्वीकार कर लेनी चाहिये। उनके वचन सुनकर मुक्ति के अभिलाषी कुछ साधुओं ने पुनः निर्ग्रन्थता ग्रहण कर ली। परम वैराग्यशाली रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य– ये तीनों विशाखाचार्य के पास आये और भवभ्रमण के भय से संत्रस्त उन तीनों ने दुष्काल के समय ग्रहण किये गये अर्द्धफालक (आधे कपड़े) का तत्काल परित्याग कर निर्ग्रन्थ मुनियों का वेष धारण कर लिया।[1] जो साधु कष्टसहन से कतराते थे और जिनका मनोबल दृढ़ नहीं था, उन्होंने जिनकल्प और स्थविर

---

[1] रामिल्लः स्थविरः स्थूलभद्राचार्यस्त्रयोऽप्यमी।
महावैराग्यसम्पन्ना विशाखाचार्यमाययुः ॥६५॥
त्यक्त्वार्द्धकर्पटं सद्यः संसाराद्भयतमानसाः।
नैर्ग्रन्थ्यं हि तपः कृत्वा मुनिरूपं दधुस्त्रयः ॥६६॥

कल्प के विधान की कल्पना कर निर्ग्रन्थ (नग्न) परम्परा से विपरीत स्थविरकल्प परम्परा को प्रचलित किया।"[1]

इस प्रकार आचार्य देवसेन ने अपने ग्रन्थ 'भावसंग्रह' में वीर निर्वाण संवत् ६०६ में हुए आचार्य भद्रबाहु (निमित्तज्ञ) के समय में जिस घटना के घटित होने का उल्लेख किया है उसे आचार्य हरिषेण ने अपने ग्रन्थ 'वृहत् कथाकोश' में श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया है, जो कि दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० १६३ में और श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वी० नि० सं० १७० में स्वर्ग सिधारे। आचार्य हरिषेण ने रामिल्ल, स्थूलवृद्ध और स्थूलभद्राचार्य – इन तीनों के सम्बन्ध में लिखा है कि उन तीनों ने पुनः निर्ग्रन्थ आचार स्वीकार कर लिया।

पर भट्टारक रत्ननन्दी इनसे बहुत आगे बढ़ गये ....

इस प्रकार विमलसेनगणि के शिष्य देवसेन[2] (जो कि दर्शनसार के रचयिता देवसेन से भिन्न हैं) ने अपने ग्रन्थ "भावसंग्रह" में वीर निर्वाण सं० ६०६ में हुए भद्रबाहु के समय में श्वेताम्बर दिगम्बर भेद होने का उल्लेख किया है, उसे हरिषेण[3] ने वी० नि० सं० १६३ अथवा १७० में स्वर्गस्थ होने वाले श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया।

घटनाचक्र के पर्यवेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि हरिषेण ने श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद उत्पन्न होने की घटना को श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय से जोड़ने का जो प्रयास किया, वह उनके अनुयायियों के भी गले नहीं उतरा। हरिषेण के इस प्रयास का अनौचित्य कुछ विद्वानों के मन में खटकता रहा और इसके परिणामस्वरूप ईसा की १५वीं शताब्दी में एक नई मान्यता का प्रचार एवं प्रसार दिगम्बर परम्परा में हुआ।

---

[1] इष्टं नयैर्गुरोर्वाक्यं संसारार्णवतारकम्।
जिनस्थविरकल्पं च विधाय द्विविधं भुवि ॥६७॥
अर्द्धफालकसंयुक्तमज्ञात परमार्थकैः।
तैरिदं कल्पितं तीर्थं कातरैः शक्तिवर्जितैः ॥६८॥
[वृहत् कथाकोश, कथानक १३१, पृ० ३१८, ३१६]

[2] सिरिविमलसेणगणहरसिस्सो णामेण देवसेणो ति।
अबुहजणवोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥
"भावसंग्रह" के अन्त में दी हुई इस गाथा के आधार पर परमानन्द शास्त्री ने यह अभिमत जाहिर किया है कि भावसंग्रह के कर्त्ता देवसेन दर्शनसार के कर्त्ता देवसेन से भिन्न हैं। देवसेन ने दर्शनसार में यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि प्राचीन आचार्यों की गाथाओं का संकलन कर वे दर्शनसार की रचना कर रहे हैं। दर्शनसार में दी हुई गाथाओं में से कुछ गाथाएं भावसंग्रह में उपलब्ध हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन गाथाओं के कर्त्ता ये देवसेन हों और इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्य हों।
– सम्पादक

[3] हरिषेण का समय ई० सन् ८३१ है।

वि० सं० १४९५ तदनुसार ई० सन् १४३९ में हुए रयधू नामक अपभ्रंश भाषा के महाकवि ने अपने ग्रन्थ "महावीर चरित्" में मौर्य राजाओं का उल्लेख करते हुए कुणाल के पुत्र का नाम सम्प्रति के स्थान पर चन्द्रगुप्ति दिया है। रयधू ने लिखा है कि कुणाल के पुत्र चन्द्रगुप्ति ने एक रात्रि में १६ स्वप्न देखे। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु से अपने स्वप्नों के फल को सुनकर उसे संसार से विरक्ति हुई और उसने आचार्य भद्रबाहु के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। इन आचार्य भद्रबाहु ने अपने निमित्तज्ञान से भावी बारह वर्ष तक दुष्काल पड़ने की सूचना श्रमणसंघों को दी और उन्हें दक्षिण में विचरण करने की सलाह दी। इसी द्वादशवार्षिक काल के पश्चात् श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद उत्पन्न होने का उल्लेख करते हुए रयधू ने आचार्य भद्रबाहु के साथ-साथ श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद की घटना को भी वीर निर्वाण संवत् ३३० के आसपास ला रखा है।

रयधू ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उसका स्थान दिगम्बर परम्परा के महाकवियों में माना जाता है। अतः रयधू की एतद्विषयक मान्यता को यहां संक्षेप में दिया जा रहा है।

"चाणक्य ने चन्द्रगुप्ति को राजराजेश्वर के पद पर अभिषिक्त किया। वह चन्द्रगुप्ति बड़ा ही विख्यात राजा हुआ। उसके बिन्दुसार नामक पुत्र हुआ। बिन्दुसार का पुत्र हुआ अशोक और अशोक के णउलु (कुणाल) नाम का पुत्र हुआ। एक समय राजा अशोक अश्वों और हाथियों की सेना से सुसज्जित हो एक शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये गया। अशोक ने युद्धस्थल से अपने नगर में एक आज्ञापत्र भेजा, जिसमें लिखा था कि "अधीयतु कुमारः" – अर्थात् कुमार को अब पढ़ाया जाय। णउलु (कुणाल) की सौतेली माता ने अपने नेत्रों के अंजन की मसी से 'अधीयतु' शब्द के प्रथमाक्षर पर अनुस्वार लगाकर "अंधीयतु कुमारः" बना दिया। आज्ञापत्र पढ़कर अधिकारियों ने राजकुमार (कुणाल) को नेत्रविहीन कर दिया।

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अशोक पुनः अपने घर लौटा तब अपने पुत्र को लोचनविहीन देखकर उसे बड़ा संताप हुआ। समय आने पर अशोक ने अपने अंधे पुत्र का विवाह कर दिया। उस अंधे राजकुमार के चन्द्रगुप्ति नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो कि सज्जनों को बड़ा आनन्द देने वाला था। अशोक ने अन्ततोगत्वा अपने पौत्र चन्द्रगुप्ति को राज्यपद दिया। राजा बनने के पश्चात् चन्द्रगुप्ति बड़े उत्साह के साथ जैनधर्म का प्रचार-प्रसार और पालन करने लगा। चन्द्रगुप्ति बड़ी श्रद्धा व भक्ति के साथ मुनियों को दान दिया करता था। एक समय रात्रि में सुषुप्तावस्था में चन्द्रगुप्ति ने १६ स्वप्न देखे।[1]

---

[1] चन्दगुत्ति ते पविहिउ रज्जउ, किउ चाणक्कें गउ जि पहाणउं ।
चन्दगुत्ति रायहो विक्खायउ बिंदुसारु णंदणु संजायउं ।
तहो पुत्तु वि असोउ उप्पण्णउं, णउलु णाम तहु सुउ उप्पण्णउं ।
णिउ असोउ गउ चडविउ उप्परि, पच्चंतियहुं णिग्गउ हरि करि ।

नगण्य भेद के अतिरिक्त रयधू वर्णित चन्द्रगुप्ति द्वारा देखे गये १६ स्वप्न वही हैं जो दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्नों के नाम से उपलब्ध होते हैं।[1]

इन सोलह स्वप्नों को देखने के पश्चात् चन्द्रगुप्ति की निन्द्रा भंग हुई। वे अद्भुत स्वप्नदर्शन से चिन्तातुर हुए। उन्हीं दिनों उस नगर में श्रुतकेवली भद्रबाहु का पधारना हुआ। राजा चन्द्रगुप्ति ने भद्रबाहु की सेवा में पहुंच कर उनके समक्ष अपने सोलह स्वप्न सुनाये और उनसे स्वप्नफल बताने की प्रार्थना की। भद्रबाहु से अपने स्वप्नों का फल सुनकर चन्द्रगुप्ति को विश्वास हो गया कि निकट भविष्य में सभी दृष्टियों से बड़ी गम्भीर और हीन स्थिति पैदा होने वाली है। चन्द्रगुप्ति को संसार से विरक्ति हो गई और उसने अपने पुत्र को राज्यभार सौंप कर भद्रबाहु के पास श्रमणदीक्षा ग्रहण कर ली।

इसके पश्चात् रयधू ने भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए भद्रबाहुस्वामी द्वारा एक घर में शिशु के मुख से 'जा, जा' शब्द सुनना, उनके द्वारा उस शिशु से पूछना कि कितने वर्ष के लिये, शिशु द्वारा उत्तर देना कि १२ वर्ष के लिये, भद्रबाहु द्वारा भावी द्वादशवार्षिक काल के सम्बन्ध में श्रमण संघ को सूचित करना, श्रावकों की प्रार्थना पर भी भद्रबाहु का न रुकना तथा स्थूलभद्र, रामिल्ल, और स्थूलाचार्य का अपने-अपने श्रमण संघ सहित उज्जयिनी में ही रहना, भद्रबाहु का बारह हजार

तेण जि सणयरहु, लेहु जु पेरिउ, सालिकूरूमति देविअ दूसिउ।
उज्झायहो णंदणु पाढेव्वउ, अयरें एहु वयणु महु किव्वउ।
तं जि लेहु वंचिउ विवरेरउ, णयणजुयलु हरियउ सुयकेरउ।
अरि जित्ति विजापहु आउ घरि, पुत्तु णियजि विगय णयणे।
वहु सोउ पउंजिवि तेण तहिं, विहिउ सुयहो पुणु परिणयणु ॥९॥
णामें चंदगुत्ति तहो णंदणु संजायउ सज्जण आणंदणु।
पोडत्तणि सो राजि परिट्ठिउ, णियपउ पालणि सो उक्कंठिउ।
जिणधम्मामय तित्तिउ अछइ, मुणिणाहं णिरुदाणु पयछइ।
अण्णहि दिणि वि रयणि सुपसुत्तइं, सिविणइं दिट्ठइं सोलहमत्तइं।
[रयघू कृत महावीर चरित् (अप्रकाशित]

[1] दिट्ठउ अत्थंगउ दिवसेसरु, साहाभंग कप्परुक्खहु परु।
उंतु विमाण वि वाहुरि जंतउ, अहि बारहफण फुफ्फ्वंतउ।
ससिमंडलहु भेउ तहं दिट्ठउ, हत्थि किण्ह जुज्झंत अहिट्ठउ।
खज्जोउ वि दिट्ठउ पहवंतउ, मज्झि सुक्क सरवरु वि महंतउ।
धूम हु पूरे गयणु वि छण्णउं, वणयरगणु विड्डरिहि णिसण्णउं।
कणय थालि वायसु भुंजंतउ, साणणि हालिय तेय फुरंत।
करिकर खंधारुढा वाणर, दिट्ठ कयार मज्जि कमलयंवर।
मज्जा यंचतउ पुणु सायरु, बाल वसह धुरजोत्तिय रहवर।
तरुण वसह आरुढा खत्तिय दिट्ठा तेण अतुल बलसत्तिय।

श्रमणों के साथ दक्षिण की ओर विहार करना, एक वन में पहुंचने के पश्चात् अदृश्य वाणी से अपना अन्तिम समय निकट समझ विशाख मुनि को आचार्य पद प्रदान कर उन्हें बारह वर्ष तक दक्षिणापथ में विचरते रहने का आदेश देना, चन्द्रगुप्ति का भद्रबाहु की सेवा में रहना, भद्रबाहु द्वारा अनशन ग्रहण, चन्द्रगुप्ति को वन में देवनिर्मित नगर से भिक्षा मिलना, भद्रबाहु का स्वर्गारोहण करना, स्थूलाचार्य आदि श्रमणों द्वारा पात्र, दण्ड वस्त्रादि ग्रहण करना, सुभिक्ष के पश्चात् श्वेताम्बर दिगम्बर भेद उत्पन्न होना आदि घटनाओं का उसी रूप में वर्णन किया है, जिस प्रकार कि दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में आमतौर से उपलब्ध होता है।

आचार्य रत्ननन्दी के अनुसार

आज दिगम्बर परम्परा में आमतौर पर वि० सं० १६२५ के आसपास हुए दिगम्बर आचार्य रत्ननन्दी, अपर नाम रत्नकीर्ति द्वारा रचित "भद्रबाहु चरित्र" सर्वाधिक मान्य गिना जाता है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा वर्णित भद्रबाहु चरित्र में रत्ननन्दी ने किस प्रकार की नवीन अभिवृद्धियां कीं, इस तथ्य से पाठक भली-भांति अवगत हो जायं, इस दृष्टि से उनके द्वारा रचित ग्रन्थ "भद्रबाहु चरित्र" में उल्लिखित भद्रबाहु का जीवन-परिचय यहां संक्षेप में दिया जा रहा है :–

"भारतवर्ष के पुण्ड्रवर्द्धन राज्य की राजधानी कोट्टपुर नगर में पद्मधर नामक राजा राज्य करता था। उसके राजपुरोहित सोमशर्मा की पत्नी सोमश्री की कुक्षि से भद्रबाहु का जन्म हुआ। पौगण्डावस्था में एक दिन कुमार भद्रबाहु ने नगर के बाहर अपने सखाओं के साथ गोलियों का खेल खेलते हुए बड़ी कुशलता के साथ चौदह गोलियों को एक दूसरी पर चढ़ा दिया। उस समय गिरनार की यात्रा के लिये जाते हुए श्री गोवर्द्धनाचार्य वहां पहुंचे। नग्न साधुओं को देखकर अन्य सब बालक तो भाग खड़े हुए पर निर्भीक कुमार भद्रबाहु वहीं खड़े रहे। गोली पर गोली, इस तरह चौदह गोलियों को एक दूसरी पर चढ़ी देख कर चतुर्दश पूर्वधर आचार्य गोवर्द्धन ने निमित्तज्ञान से पहिचान लिया कि यह बालक भविष्य में पंचम श्रुतकेवली होगा। बालक का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् आचार्य गोवर्द्धन बालक भद्रबाहु के साथ उसके घर पहुंचे। द्विज-दम्पती ने हर्ष विभोर हो बड़ी श्रद्धा से आचार्यश्री को सविधि वन्दन किया। तदनन्तर सोमशर्मा ने विनयपूर्वक निवेदन किया – "करुणासिन्धो ! आपके दर्शन से हम कृत-कृत्य हुए। आपके चरणसरोज से हमारा घर पवित्र हो गया। प्रभो ! इस दास के योग्य कोई सेवा कार्य फरमाकर इसे अनुगृहीत कीजिये।"

गोवर्द्धनाचार्य ने कहा – "भद्र ! तुम्हारा यह पुत्र बालक भद्रबाहु महान् प्रतिभा सम्पन्न और महान् भाग्यशाली है। भविष्य में यह बहुत उच्चकोटि का विद्वान् होगा। मैं इसे समस्त विद्याओं में पारंगत करना चाहता हूं, अतः इसे पढ़ाने के लिये हमारे सुपुर्द करो।"

द्विजदम्पती ने कहा – "अकारण करुणाकर ! यह तो आप हम लोगों पर महान् उपकार करने जा रहे हैं। इसके लिये हमसे पूछने की क्या आवश्यकता है? यह बच्चा आप ही का है। आप इसे ले जाइये और अपनी इच्छानुसार इसे सब शास्त्र पढ़ाइये।"

माता-पिता की अनुमति मिल जाने पर गोवर्द्धनाचार्य बालक भद्रबाहु को अपने साथ ले गये और उसे व्याकरण, न्याय, साहित्य, दर्शन आदि सभी विषय पढ़ाने लगे। कुशाग्रबुद्धि भद्रबाहु ने अप्रतिम विनय, भक्ति, निष्ठा एवं परिश्रम से अध्ययन करते हुए स्वल्प समय में ही गुरू गोवर्द्धनाचार्य से समस्त विद्याओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। अध्ययन समाप्त कर चुकने के पश्चात् भद्रबाहु अपने गुरू से आज्ञा प्राप्त कर अपने माता-पिता की सेवा में कोट्टपुर लौटे। समस्त विद्याओं में निष्णात अपने पुत्र को देख कर सोमशर्मा और सोमश्री के हर्ष का पारावार न रहा। दृढ़ सम्यक्त्वधारी विद्वान् भद्रबाहु के अन्तर में दिन प्रतिदिन जैन धर्म का उद्योत करने की भावना बल पकड़ने लगी। एक दिन भद्रबाहु कोट्टपुर नरेश पद्मधर की राज्यसभा में पहुंचे। महाराज पद्मधर ने अपने पुरोहित के तेजस्वी और विद्वान् पुत्र भद्रबाहु का बड़ी प्रसन्नतापूर्वक आदर-सत्कार किया।

राज्यसभा में उस समय एकत्रित विद्वान् इस प्रश्न पर चर्चा कर रहे थे कि सब धर्मों में कौनसा धर्म श्रेष्ठ है। कोई भी विद्वान् अपनी युक्तियों से महाराज पद्मधर को संतुष्ट नहीं कर सका। अतः उन्होंने भद्रबाहु से अनुरोध किया कि वे इस विषय में अपना मन्तव्य रखें।

भद्रबाहु ने शान्त, गम्भीर और युक्तिपूर्ण शब्दों में धर्म के आधारभूत गूढ़ तथ्यों को रखते हुए सम्यक्त्व, सत्य, अहिंसा आदि जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों का ऐसी कुशलता से और सरलता के साथ प्रतिपादन किया कि सारी राजसभा मन्त्रमुग्ध सी हो निर्निमेष दृष्टि से भद्रबाहु की ओर देखती रह गई।

वर्षों के प्रयास से अर्जित अपनी यशस्कीर्त्ति एवं विद्वत्ता की धाक को इस प्रकार एक अल्पवयस्क कुमार के हाथों अनायास ही धूलिधूसरित होते देख राज-सभा के अनेक पण्डितमानी विद्वानों ने विविध प्रकार की जटिल से जटिलतर समस्याएं भद्रबाहु के समक्ष रखीं। पर प्रखरबुद्धि भद्रबाहु ने अपनी अकाट्य युक्तियों और प्रबल प्रमाणों से उन सब का तत्क्षण समाधान कर दिया। राज्य-सभा में हुआ वह वादविवाद कुछ ही क्षणों में एक निर्णायक शास्त्रार्थ का रूप धारण कर गया। राज्य सभा के सभी विद्वानों ने संगठित हो भद्रबाहु को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिये प्राणपण से पूरा बल लगा कर प्रयास किया किन्तु स्याद्वाद-सिद्धान्त रूपी सात धार वाले अमोघास्त्र से भद्रबाहु ने उन विद्वानों के युक्तिजाल को छिन्न-भिन्न कर डाला। अन्ततोगत्वा उस शास्त्रार्थ में भद्रबाहु को समस्त विद्वद्वृन्द का विजेता घोषित किया गया। महाराज पद्मधर और सभासद् भद्रबाहु द्वारा प्रस्तुत किये गये जैनधर्म के स्वरूप से ऐसे प्रभावित हुए

कि उन्होंने उसी समय जैनधर्म अंगीकार कर लिया। महाराज पद्मधर ने वस्त्राभूषणादि से भद्रबाहु को सम्मानित किया और भद्रबाहु की कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई।

कुछ ही समय पश्चात् भद्रबाहु ने अपने माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर गोवर्द्धनाचार्य के पास निर्ग्रन्थ-श्रमणदीक्षा ग्रहण की। श्रमणोचित सभी आचारों का सम्यग्रूपेण पालन करते हुए भद्रबाहु ने अपने गुरू गोवर्द्धनाचार्य के पास क्रमशः सभी अंग शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ किया और वे गुरू के अनुग्रह से शीघ्र ही सम्पूर्ण द्वादशांगी के पारगामी चतुर्दश पूर्वधर विद्वान् बन गये।

कालान्तर में गोवर्द्धनाचार्य ने अपना अन्तिम समय निकट समझ कर भद्रबाहु को अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद पर नियुक्त किया और घोर तपश्चरण करते हुए अन्त में चतुर्विध आहार का परित्याग कर समाधिपूर्वक स्वर्गमगन किया।

आचार्य-पद पर आसीन होने के पश्चात् भद्रबाहु संघ का संचालन करते हुए विभिन्न क्षेत्रों में जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार करने लगे।

उस समय धन-धान्यादिक से सम्पन्न अवन्ती राज्य में चन्द्रगुप्ति नामक राजा का राज्य था, जो उस राज्य की राजधानी उज्जयिनी में निवास करता था। महाराज चन्द्रगुप्ति ने एक समय रात्रि के पिछले प्रहर में बड़े आश्चर्यजनक १६ स्वप्न देखे। उन स्वप्नों का फल जानने की राजा के मन में तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई।

प्रातःकाल वनपाल ने राजा चन्द्रगुप्ति को सूचित किया कि नगर के बाहर राजकीय उपवन में आचार्य भद्रबाहु अपने १२,००० मुनियों के साथ पधारे हुए हैं। यह शुभसंवाद सुन कर राजा चन्द्रगुप्ति अपने मन्त्रियों, सामन्तों, परिजनों और प्रतिष्ठित पौरजनों के साथ आचार्यश्री की सेवा में पहुंचा। दर्शन, वन्दन एवं उपदेशश्रवण के पश्चात् चन्द्रगुप्ति ने आचार्य भद्रबाहु के समक्ष अपने सोलह स्वप्न सुनाते हुए उनसे उनका फल पूछा।

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने अपने ज्ञानबल से राजा चन्द्रगुप्ति के स्वप्नों का फल बताते हुए कहा – "राजन्! ये स्वप्न भावी घोर अनिष्ट के सूचक हैं, जो इस प्रकार हैं :–

(१) अस्तमान रविदर्शन का प्रथम स्वप्न इस बात का द्योतक है कि इस पंचम काल में द्वादशांगादि का श्रुतज्ञान न्यून हो जायगा।

(२) दूसरे स्वप्न में कल्पवृक्ष की शाखा के भंग होने का फल यह है कि अब भविष्य में कोई राजा श्रमणदीक्षा ग्रहण नहीं करेगा।

(३) तीसरे स्वप्न में चलनीतुल्य सछिद्र चन्द्र के दर्शन का फल यह है कि इस दुषमा नामक पंचम काल में जैन धर्म में से अनेक मतों का प्रादुर्भाव होगा।

(४) चौथा स्वप्न, जिसमें तुमने बारह फणों वाला सर्प देखा, उसका फल यह है कि निरन्तर बारह वर्ष पर्यन्त अत्यन्त भीषण दुष्काल पड़ेगा।

(५) पांचवें स्वप्न में उल्टे लौटते हुए देवविमान के दर्शन का यह फल है कि पंचम काल में देवता, विद्याधर, तथा चारण मुनि भरतक्षेत्र में नहीं आवेंगे।

(६) छठे स्वप्न में तुमने जो अशुचि स्थान में उगे हुए कमल को देखा है, उसका फल यह है कि भविष्य में क्षत्रियादि उत्तम कुलोत्पन्न पुरुषों के स्थान पर हीन जाति के लोग जैन धर्म के अनुयायी होंगे।

(७) सातवें स्वप्न में भूतों का नृत्य देखने का फल यह है कि अब भविष्य में मनुष्यों की अधोजाति के देवों के प्रति अधिक श्रद्धा होगी।

(८) खद्योत का उद्योत जिसमें देखा गया, उस आठवें स्वप्न का फल यह है कि जैनागमों का उपदेश करने वाले मनुष्य भी मिथ्यात्त्व से ग्रस्त होंगे और जैन धर्म कहीं-कहीं रहेगा।

(९) बीच में सूखा हुआ पर छिछले जल से युक्त किनारों वाला सरोवर जो तुमने ९वें स्वप्न में देखा है, उसका फल यह होने वाला है कि जिन पवित्र स्थानों पर तीर्थंकरों के पंचकल्याणक हुए हैं, उन स्थानों में जैन धर्म विनष्ट होगा और दक्षिणादि देशों में कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत धर्म रहेगा।

(१०) दशवें स्वप्न में तुमने कुत्ते को स्वर्ण की थाली में खीर खाते देखा, वह इस भावी का द्योतक है कि लक्ष्मी का उपभोग प्रायः नीच पुरुष ही करेंगे। लक्ष्मी कुलीनों को दुष्प्राप्य होगी।

(११) ग्यारहवें स्वप्न में तुमने बन्दर को हाथी पर बैठे देखा, उसका फल यह है कि क्षत्रिय लोग राज्यरहित होंगे और नीच कुल के अनार्य लोग राज्य करेंगे।

(१२) बारहवें स्वप्न में तुमने समुद्र को वेलाओं (तटों) का उल्लंघन करते देखा है, इसका फल यह है कि राजा लोग न्यायमार्ग का उल्लंघन करने वाले और प्रजा की समस्त लक्ष्मी को लूटने वाले होंगे।

(१३) तेरहवें स्वप्न में तुमने बछड़ों द्वारा वहन किया जा रहा अति भारयुक्त रथ देखा, उसका फल यह है कि अब भविष्य में बहुधा लोग युवावस्था (बाल अवस्था) में ही संयम ग्रहण करेंगे और वृद्धावस्था में शक्ति क्षीण हो जाने के कारण संयम धारण नहीं कर सकेंगे।

(१४) चौदहवें स्वप्न में तुमने राजकुमार को ऊंट पर चढ़े देखा, उसका फल यह है कि अब भविष्य में राजा लोग निर्मल सत्य धर्म का परित्याग कर हिंसा-मार्ग स्वीकार करेंगे।

(१५) पन्द्रहवें स्वप्न में तुमने धूलि से आच्छादित रत्नराशि के दर्शन किये, उसका यह फल होने वाला है कि भविष्य में निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्पर एक-दूसरे की निन्दा करने लगेंगे।

(१६) सोलहवें (अंतिम) स्वप्न में तुमने दो काले हाथियों को लड़ते देखा है, वह स्वप्न इस दुःखद भविष्य का द्योतक है कि अब आगे के समय में बादल समय पर और मनुष्यों की अभिलाषा के अनुसार नहीं बरसेंगे।

श्रुतकेवली भद्रबाहु से अपने १६ स्वप्नों का फल सुन कर महाराज चन्द्रगुप्ति को दृढ़ विश्वास हो गया कि भविष्य में पग-पग पर भीषण संकटों से आकीर्ण विकट समय आने वाला है। भवभ्रमण की भयावहता पर विचार करते-करते उन्हें संसार से विरक्ति हो गई और उन्होंने अपने पुत्र को अवन्ती का राज्य सौंप कर आचार्य भद्रबाहु के पास निर्ग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली।

कुछ समय पश्चात् एक दिन आचार्य भद्रबाहु जिनदास सेठ के घर पर आहार के लिये गये। उस सुनसान घर में पालने में झूलते हुए दो मास के शिशु ने चिल्ला कर भद्रबाहु को कहा – "चले जाओ! चले जाओ!" यह अद्भुत एवं अभूतपूर्व दृश्य देख कर आचार्य भद्रबाहु ने शान्त स्वर में उस शिशु से पूछा – "बोलो वत्स! कितने वर्ष के लिये चले जायें?"

उत्तर में उस शिशु ने कहा – "बारह वर्ष के लिये।"

निमित्तज्ञान में निष्णात श्रुतकेवली भद्रबाहु को यह समझने में निमेषमात्र समय भी नहीं लगा कि समस्त मालव प्रदेश में १२ वर्ष के लिये भीषण दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। वे तत्काल अपने स्थान की ओर लौट गये। अपने स्थान पर आकर भद्रबाहु ने समस्त मुनिसंघ को बुलाया और भावी भीषण संकट की सूचना देते हुए उन्होंने कहा कि धनधान्यादिक से सुसम्पन्न यह मालव प्रदेश आगामी बारह वर्षों के लिये अभाव-अभियोग, लूट-खसोट, एवं भुखमरी का बीभत्स क्रीडांगण बनने वाला है। अब आगे चल कर यहां संयम का पालन दुरूह ही नहीं अपितु असंभव सा बन जायगा अतः समस्त श्रमणसंघ को सुदूर दक्षिण की ओर विहार कर देना चाहिये।"

अपने दूरदर्शी एवं श्रुतकेवली आचार्य का आदेश सुन कर समस्त मुनिसंघ दक्षिण की ओर विहार करने के लिये उद्यत हो गया। श्रावकसंघ को ज्यों ही आचार्यश्री के इस निर्णय की सूचना मिली तो समस्त श्रावकसंघ भद्रबाहु स्वामी की सेवा में उपस्थित हो प्रार्थना करने लगा कि समस्त श्रमणसंघ अवन्ती देश में ही रहे, अन्यत्र विहार न करे। अनेक कोटिपति श्रावकों ने कहा कि उनमें से एक-एक के पास धन-धान्यादिक का इतना अपार संग्रह है कि उससे वे बारह वर्ष ही नहीं बल्कि सौ वर्ष तक उज्जयिनी के अकालग्रस्त लोगों का परिपालन कर सकते हैं। ऐसी दशा में भीषण से भीषण और लम्बे से लम्बे दुष्काल में भी श्रमणसंघ को किसी भी प्रकार की असुविधा नहीं होगी।

श्रावकसंघ द्वारा अनेक बार प्रार्थना किये जाने पर भी भद्रबाहु स्वामी ने अपने निर्णय पर स्थिर रहते हुए कहा – "श्रद्धालु उपासकवृन्द! यहां जो

निरंतर बारह वर्ष का दुष्काल पड़ने वाला है, वह इतना भयावह होगा कि यहां पर रहने वाले साधुओं के लिये व्रत-संयम का पालन असंभव हो जायगा।"

श्रावकसंघ द्वारा वारम्बार की गई आग्रहपूर्ण प्रार्थना सुन कर रामल्य, स्थूलाचार्य एवं स्थूलभद्र आदि साधुओं ने उज्जयिनी के बाहर उपवनों में रहना स्वीकार कर लिया पर शेष १२,००० साधुओं को साथ ले कर आचार्य भद्रवाहु ने दक्षिण की ओर विहार कर दिया। शनै-शनै विहार करते हुए आचार्य भद्रवाहु अपने साधुसमूह सहित एक गहन एवं विस्तीर्ण वन में पहुंचे। वहां एक अद्भुत गगनघोष को सुन कर निमित्त-ज्ञान से भद्रबाहु को ज्ञात हो गया कि अब उनका अन्तिम समय सन्निकट ही है। उन्होंने तत्क्षण दशपूर्वधर विशाखाचार्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और श्रमणसंघ से कहा कि अब उनकी आयु का अति स्वल्प समय अवशिष्ट रहा है अतः वे उसी वन की किसी गिरिकन्दरा में रहेंगे। उन्होंने विशाखाचार्य के नेतृत्व में श्रमणसंघ को बारह वर्ष पर्यन्त दक्षिण देश में ही विचरण करते रहने का आदेश दिया।

विशाखाचार्य और अन्य श्रमणों ने यह सब कुछ सुन कर शोकसंतप्त हो अत्यन्त आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि समग्र श्रमणसंघ को अपने आचार्य की अन्तिम सेवा का लाभ लेने दिया जाय। पर अन्ततोगत्वा गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर विशाखाचार्य को श्रमणसंघ के साथ दक्षिण की ओर विहार करना पड़ा। चन्द्रगुप्ति मुनि, भद्रवाहु द्वारा वार-बार श्रमणसंघ के साथ चले जाने का आग्रह किये जाने के उपरान्त भी भद्रवाहु की सेवा में ही रहे।

आचार्य भद्रवाहु ने यौगिक विधि से अपने मन, वचन, काय के समस्त योगों की वृत्तियों का निरोध कर एक गिरिगुहा में संलेखना की। उस निर्जन वीहड़ वन में आहार-पानी का मिलना नितान्त असंभव समझ कर चन्द्रगुप्ति मुनि कई दिन तक उपवास पर उपवास करते हुए रात दिन निरन्तर गुरु-सेवा में रहने लगे। कुछ दिनों पश्चात् मुनि चन्द्रगुप्ति को गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर वन में भिक्षार्थ जाना पड़ा। प्रथम दो दिन तक तो दैवी माया से विना किसी दानदाता की उपस्थिति के निर्दोप भोजन उनके समक्ष प्रस्तुत होता रहा पर आचारनिष्ठ मुनि ने उसे ग्रहण नहीं किया और वन से लौट कर सारा वृत्तान्त अपने गुरु को निवेदन कर दिया। योगी भद्रवाहु ने चन्द्रगुप्ति के आचार की प्रशंसा की। तीसरे दिन भिक्षार्थ वन में घूमते हुए चन्द्रगुप्ति मुनि ने देखा कि एकाकिनी स्त्री उन्हें भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना कर रही है पर इसे भी साधु आचार के प्रतिकूल समझ कर मुनि चन्द्रगुप्ति विना भिक्षा ग्रहण किये ही लौट आये। भद्रवाहु ने अपने शिष्य के मुख से उपरोक्त विवरण सुन कर उनकी आचारनिष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

चौथे दिन गुरु-आज्ञा से मुनि चन्द्रगुप्ति उस वन में भिक्षार्थ एक ओर निकले तो उन्होंने समीप ही एक सुन्दर नगर देखा। मुनि ने उस नगर में प्रवेश

किया तो पग-पग पर श्रद्धालु भक्तों ने उनका हार्दिक स्वागत करते हुए सात्विक परमान्न से उन्हें पारणा करवाया ।

मुनि चन्द्रगुप्ति ने गिरिगुहा में लौट कर अपने गुरु भद्रबाहु की सेवा में सारा वृत्तान्त यथावत् निवेदित किया और वे अहर्निश गुरु-सेवा में निरत रहने लगे ।

अनेक दिनों के अनशन के पश्चात् चार प्रकार की आराधना एवं निर्मल ध्यान करते हुए कामनाशून्य हो भद्रबाहु ने समाधिपूर्वक प्राणत्याग कर स्वर्गगमन किया ।

आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगमन के पश्चात् भी मुनि चन्द्रगुप्ति उसी पर्वत की गुफा में अपने गुरु के चरण अंकित कर उन चरणों की सेवा एवं श्रमणधर्म का पालन करते हुए रहने लगे ।

उधर अवन्ती राज्य में रामल्य, स्थूलाचार्य, और स्थूलभद्र आदि जो मुनि आचार्य भद्रबाहु के आदेश का उल्लंघन कर उज्जयिनी में रहे थे, उनको भीषण दुर्भिक्ष के कारण अनेक प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ा । दुर्भिक्ष के प्रारम्भ में कोटिपति कुबेरमित्र आदि दानी एवं धर्मात्मा श्रेष्ठियों ने मुक्तहस्त हो अकाल पीड़ितों को धन-धान्यादिक का दान दिया पर ज्यों ही अकालग्रस्त अन्य क्षेत्रों के लोगों को उन श्रेष्ठियों द्वारा दिये जाने वाले दान का पता चला तो सभी दुर्भिक्षग्रस्त क्षेत्रों की दुष्कालपीड़ित भूखी प्रजा बाढ़ की तरह उज्जयिनी की ओर उमड़ पड़ी । उस भूखे जनसमुद्र के कारण उज्जयिनी की स्थिति भी बड़ी करुण, वीभत्स, क्षुब्ध, अस्तव्यस्त, निरंकुश और बड़ी हृदयद्रावक बन गई । नगर के सभी पथ, वीथियां, बाजार, चौगान आदि का चप्पा-चप्पा नरकंकालों से ठसाठस व्याप्त हो गया । सारी उज्जयिनी रंकमयी दिखने लगी ।[1]

उज्जयिनी में रामल्य आदि साधुओं के समक्ष भिक्षार्थ शहर में जाते समय अनेक प्रकार की बाधाएं और विषम परिस्थितियां आने लगीं । एक दिन नगर में श्रावकों के घर आहार करने के पश्चात् जब श्रमणसमूह नगर के बाहर उपवन की ओर जा रहा था तो उस समय एक मुनि किसी तरह उन साधुओं से पीछे रह गया । उसी समय भोजन कर के आये हुए उन एकाकी मुनि का उदर भरा हुआ देख कर कुछ भूखे लोगों ने मुनि को घेर लिया । उन बुभुक्षित लोगों ने तत्क्षण बड़ी निर्दयतापूर्वक उस मुनि का पेट चीर डाला और उसमें से सद्य:भुक्त भोजन निकाल कर खा लिया । इस अमानवीय हृदयद्रावक घटना से सारे नगर में हाहाकार व्याप्त हो गया ।[2]

श्रावकसंघ ने एकत्रित हो साधुओं की सुरक्षा हेतु विचारविनिमय किया और अच्छी तरह सोच विचार के पश्चात् मुनिसंघ से प्रार्थना की कि जब तक

---

[1] भद्रबाहु चरित्र, (रत्ननंदी) परिच्छेद ३, श्लोक ४७ से ५३

[2] वही, श्लोक ५४ से ५६

यह संकटकाल है, तब तक वे नगर के मध्यभाग में रहें, जिससे कि समस्त श्रावक संघ को अपने पूज्य श्रमणों की सुरक्षा व भोजन आदि की व्यवस्था के सम्बन्ध में निश्चिन्तता एवं संतोष रहे। साधुसंघ श्रावकों के आग्रह को न टाल सका और श्रावकसंघ बड़े उत्सव के साथ मुनिसंघ को उसी समय नगर में ले आया।[१]

रामल्य, स्थूलाचार्य, स्थूलभद्र आदि मुनियों को आहारार्थ जाते देख कर हजारों भूखे मानवों की भीड़ उनको घेर लेती और बड़े करुण स्वर में खाने के लिये कुछ दिलाने की उनसे प्रार्थना करती। उन भूखे लोगों की रुकावट के कारण साधुओं को बिना भोजन लिये ही पुनः अपने स्थान पर लौट जाना पड़ता। आहारार्थ निकलने पर मुनि लोग उन भूखे लोगों की अपार भीड़ के कारण किसी श्रावक के घर पर पहुंच तक नहीं पाते थे। उन भूखे कृपकाय नरकंकालों को मुनियों के मार्ग में से हटाने हेतु यदि कोई श्रद्धालु श्रावक उन्हें लकड़ी आदि से डराने का प्रयास करते तो वे बड़ी करुण पुकार कर रोने लगते। करुण, कोमल चित्तवाले दयालु मुनिगण उन अस्थिपंजरावशेष दुष्कालपीड़ित लोगों की हृदयद्रावक करुण पुकार से द्रवित हो बिना आहार किये ही अपने स्थान को लौट जाते।

इस प्रकार की संकटापन्न स्थिति से दुखित हो श्रावक लोग मुनिगण के पास जाकर प्रार्थना करने लगे – "पूज्यवर ! नगर की सम्पूर्ण भूमि दीन-हीन दुखी और भूखे लोगों से पूर्णरूपेण संकुल है। इन लोगों के भय से कोई गृहस्थ क्षण भर के लिये भी अपने घर के कपाट नहीं खोल पाता। इसी कारण हम लोग दिन में भोजन न बना कर रात्रि में बनाते हैं। येन केन प्रकारेण इस अति विकट बुरे समय को निकालना होगा। जब तक यह संकटकाल है तब तक आप मुनिगण रात्रि के समय पात्रों में हम लोगों के घरों से आहार ले आया करें और दिन के समय भोजन कर लिया करें। अब दूसरा और कोई रास्ता नहीं है। अतः आप हमारी प्रार्थना स्वीकार करें।

श्रावकों की बात सुनकर उन मार्गभ्रष्ट कुमार्गगामी साधुओं ने यह कहते हुए कि – "जब तक अच्छा काल नहीं आवेगा तब तक ऐसा ही किया जायगा" तुम्बी के पात्र स्वीकार कर लिये। भिक्षुक तथा कुत्ते आदि के भय से वे लोग हाथ में दण्ड धारण कर गृहस्थों के घरों से तथा घरों के द्वार बन्द रहने की दशा में उन बन्द गृहों के गवाक्षों से आहार ले कर अपने स्थान पर लाने लगे और वे कुपथगामी साधु निरन्तर इसी प्रकार आहार ला कर अपना उदरपोषण करने लगे।[२]

---

[१] श्राद्धैरभ्यर्थिता भूयोऽङ्गी चक्रुस्तद्वचोवरम्।
संयतास्तैः समानीता, मध्ये द्रंगं महोत्सवात् ॥६१॥ [भद्रबाहु चरित्र]

[२] भद्रबाहु चरित्र, परिच्छेद ३, श्लोक ७२ से ७५

एक समय एक क्षीणकाय नग्न साधु रात्रि के समय लाठी व पात्र हाथ में लिये आहार लेने हेतु यशोभद्र श्रेष्ठी के घर पहुंचा। गर्भवती गृहस्वामिनी अन्धेरे में मुनि की बीभत्स आकृति को देखकर इतनी भयविह्वल हुई कि तत्क्षण उसका गर्भ गिर गया।[1] इस अकाण्ड काण्ड को देखकर मुनि उन्हीं पैरों अपने स्थान को लौट गये। यशोभद्र श्रेष्ठी के घर में कुहराम मच गया। इस दुःखद घटना पर श्रावकों ने मिल कर विचारविमर्श किया और उन्होंने मुनियों के समक्ष जाकर पुनः प्रार्थना की कि वस्तुतः उनका वह विषम स्वरूप भयोत्पादक है अतः जब तक सुभिक्ष न हो जाय तब तक कन्धे पर कम्बल धारण कर के गृहस्थों के घरों में रात्रि के समय भिक्षार्थ जाया करें। मुनियों ने श्रावकों की उस प्रार्थना को भी स्वीकार कर लिया और वे धीरे-धीरे शिथिलाचारी बनकर व्रतादि में दोष लगाने लगे।[2]

इस प्रकार उस बारह वर्ष के महाविनाशकारी भीषण दुर्भिक्ष में गृहस्थों और मुनियों को अनेक प्रकार के दारुण दुःख सहने पड़े। बारह वर्ष बीत जाने पर अच्छी वर्षा होने के कारण जब पुनः सुभिक्ष हुआ तो दैवी प्रकोप से पीड़ित प्रजा ने सुख की सांस ली।

अवन्ती प्रदेश में सुभिक्ष होने की सूचना मिलने पर विशाखाचार्य ने भी अपने मुनिमण्डल सहित दक्षिण से उत्तरी क्षेत्रों की ओर विहार किया। क्रमशः अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए वे उस विकट वन में आये जहां भद्रबाहु ने समाधि ली थी। मुनि चन्द्रगुप्ति द्वारा अंकित भद्रबाहु के चरणयुगल में उन सब ने प्रणाम किया।

मुनि चन्द्रगुप्ति ने विशाखाचार्य को प्रणाम किया पर विशाखाचार्य ने यह विचारते हुए प्रतिवन्दन नहीं किया कि श्रावकों से विहीन उस विकट वन में वह मुनि १२ वर्ष तक किस प्रकार श्रमणाचार का पालन कर सका होगा। उस वन में कहीं भोजन नहीं मिलेगा, इस विचार से उस दिन विशाखाचार्य एवं उनके साथ आये हुए सब मुनियों ने उपवास रखा।

दूसरे दिन मुनि चन्द्रगुप्ति ने विशाखाचार्य से निवेदन किया कि पास में एक बड़ा नगर है, उसमें श्रद्धालु श्रावक निवास करते हैं अतः वहां जाकर समस्त मुनिमण्डल आहार ग्रहण करे। उस वन में कोई बड़ा नगर भी है, यह सुनकर सब मुनियों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे वहां भिक्षार्थ गये। उस नगर में श्रद्धालु श्रावकों ने पग-पग पर मुनियों का वन्दन-सत्कार किया और उन्हें भोजन कराया। पारणा करने के पश्चात् श्रमण संघ आचार्य भद्रबाहु के समाधिस्थल पर लौट आया। मुनिमण्डल के साथ का एक ब्रह्मचारी उस नगर में भोजनोपरान्त अपना कमण्डलु भूल आया था अतः वह अपना कमण्डलु लेने के लिये पुनः

---

[1] वही, श्लोक ७८, ७६

[2] वही, श्लोक ८१, ८२, ८४।

यह संकटकाल है, तब तक वे नगर के मध्यभाग में रहें, जिससे कि समस्त श्रावक संघ को अपने पूज्य श्रमणों की सुरक्षा व भोजन आदि की व्यवस्था के सम्बन्ध में निश्चिन्तता एवं संतोष रहे। साधुसंघ श्रावकों के आग्रह को न टाल सका और श्रावकसंघ बड़े उत्सव के साथ मुनिसंघ को उसी समय नगर में ले आया।[1]

रामल्य, स्थूलाचार्य, स्थूलभद्र आदि मुनियों को आहारार्थ जाते देख कर हजारों भूखे मानवों की भीड़ उनको घेर लेती और बड़े करुण स्वर में खाने के लिये कुछ दिलाने की उनसे प्रार्थना करती। उन भूखे लोगों की रुकावट के कारण साधुओं को बिना भोजन लिये ही पुनः अपने स्थान पर लौट जाना पड़ता। आहारार्थ निकलने पर मुनि लोग उन भूखे लोगों की अपार भीड़ के कारण किसी श्रावक के घर पर पहुंच तक नहीं पाते थे। उन भूखे कृषकाय नरकंकालों को मुनियों के मार्ग में से हटाने हेतु यदि कोई श्रद्धालु श्रावक उन्हें लकड़ी आदि से डराने का प्रयास करते तो वे बड़ी करुण पुकार कर रोने लगते। करुण, कोमल चित्तवाले दयालु मुनिगण उन अस्थिपंजरावशेष दुष्कालपीड़ित लोगों की हृदयद्रावक करुण पुकार से द्रवित हो बिना आहार किये ही अपने स्थान को लौट जाते।

इस प्रकार की संकटापन्न स्थिति से दुखित हो श्रावक लोग मुनिगण के पास जाकर प्रार्थना करने लगे—"पूज्यवर! नगर की सम्पूर्ण भूमि दीन-हीन दुखी और भूखे लोगों से पूर्णरूपेण संकुल है। इन लोगों के भय से कोई गृहस्थ क्षण भर के लिये भी अपने घर के कपाट नहीं खोल पाता। इसी कारण हम लोग दिन में भोजन न बना कर रात्रि में बनाते हैं। येन केन प्रकारेण इस अति विकट बुरे समय को निकालना होगा। जब तक यह संकटकाल है तब तक आप मुनिगण रात्रि के समय पात्रों में हम लोगों के घरों से आहार ले आया करें और दिन के समय भोजन कर लिया करें। अब दूसरा और कोई रास्ता नहीं है। अतः आप हमारी प्रार्थना स्वीकार करें।

श्रावकों की बात सुनकर उन मार्गभ्रष्ट कुमार्गगामी साधुओं ने यह कहते हुए कि—"जब तक अच्छा काल नहीं आवेगा तब तक ऐसा ही किया जायगा" तुम्बी के पात्र स्वीकार कर लिये। भिक्षुक तथा कुत्ते आदि के भय से वे लोग हाथ में दण्ड धारण कर गृहस्थों के घरों से तथा घरों के द्वार बन्द रहने की दशा में उन बन्द गृहों के गवाक्षों से आहार ले कर अपने स्थान पर लाने लगे और वे कुपथगामी साधु निरन्तर इसी प्रकार आहार ला कर अपना उदरपोषण करने लगे।[2]

---

[1] श्राद्धैरभ्यर्थिता भूयोऽङ्गी चक्रुस्तद्वचोवरम्।
संयतास्तैः समानीता, मध्ये द्रंगं महोत्सवात् ॥६१॥ [भद्रबाहु चरित्र]

[2] भद्रबाहु चरित्र, परिच्छेद ३, श्लोक ७२ से ७५

एक समय एक क्षीणकाय नग्न साधु रात्रि के समय लाठी व पात्र हाथ में लिये आहार लेने हेतु यशोभद्र श्रेष्ठी के घर पहुंचा। गर्भवती गृहस्वामिनी अन्धेरे में मुनि की बीभत्स आकृति को देखकर इतनी भयविह्वल हुई कि तत्क्षण उसका गर्भ गिर गया।[1] इस अकाण्ड काण्ड को देखकर मुनि उन्हीं पैरों अपने स्थान को लौट गये। यशोभद्र श्रेष्ठी के घर में कुहराम मच गया। इस दुःखद घटना पर श्रावकों ने मिल कर विचारविमर्श किया और उन्होंने मुनियों के समक्ष जाकर पुनः प्रार्थना की कि वस्तुतः उनका वह विषम स्वरूप भयोत्पादक है अतः जव तक सुभिक्ष न हो जाय तव तक कन्धे पर कम्वल धारण कर के गृहस्थों के घरों में रात्रि के समय भिक्षार्थ जाया करें। मुनियों ने श्रावकों की उस प्रार्थना को भी स्वीकार कर लिया और वे धीरे-धीरे शिथिलाचारी वनकर व्रतादि में दोष लगाने लगे।[2]

इस प्रकार उस वारह वर्ष के महाविनाशकारी भीषण दुर्भिक्ष में गृहस्थों और मुनियों को अनेक प्रकार के दारुण दुःख सहने पड़े। वारह वर्ष वीत जाने पर अच्छी वर्षा होने के कारण जव पुनः सुभिक्ष हुआ तो दैवी प्रकोप से पीड़ित प्रजा ने सुख की सांस लीं।

अवन्ती प्रदेश में सुभिक्ष होने की सूचना मिलने पर विशाखाचार्य ने भी अपने मुनिमण्डल सहित दक्षिण से उत्तरी क्षेत्रों की ओर विहार किया। क्रमशः अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए वे उस विकट वन में आये जहां भद्रवाहु ने समाधि ली थी। मुनि चन्द्रगुप्ति द्वारा अंकित भद्रवाहु के चरणयुगल में उन सव ने प्रणाम किया।

मुनि चन्द्रगुप्ति ने विशाखाचार्य को प्रणाम किया पर विशाखाचार्य ने यह विचारते हुए प्रतिवन्दन नहीं किया कि श्रावकों से विहीन उस विकट वन में वह मुनि १२ वर्ष तक किस प्रकार श्रमणाचार का पालन कर सका होगा। उस वन में कहीं भोजन नहीं मिलेगा, इस विचार से उस दिन विशाखाचार्य एवं उनके साथ आये हुए सव मुनियों ने उपवास रखा।

दूसरे दिन मुनि चन्द्रगुप्ति ने विशाखाचार्य से निवेदन किया कि पास में एक वड़ा नगर है, उसमें श्रद्धालु श्रावक निवास करते हैं अतः वहां जाकर समस्त मुनिमण्डल आहार ग्रहण करे। उस वन में कोई वड़ा नगर भी है, यह सुनकर सव मुनियों को वड़ा आश्चर्य हुआ और वे वहां भिक्षार्थ गये। उस नगर में श्रद्धालु श्रावकों ने पग-पग पर मुनियों का वन्दन-सत्कार किया और उन्हें भोजन कराया। पारणा करने के पश्चात् श्रमण संघ आचार्य भद्रवाहु के समाधिस्थल पर लौट आया। मुनिमण्डल के साथ का एक ब्रह्मचारी उस नगर में भोजनोपरान्त अपना कमण्डलु भूल आया था अतः वह अपना कमण्डलु लेने के लिये पुनः

---

[1] वही, श्लोक ७८, ७६

[2] वही, श्लोक ८१, ८२, ८४।

नगर की ओर गया। पर यह देखकर उसके आश्चर्य का पारावार न रहा कि उस स्थान पर नगर का नामोनिशां तक नहीं। केवल उसका कमण्डलु एक वृक्ष की टहनी पर टंगा हुआ है। ब्रह्मचारी अपना कमण्डलु लिये मुनिमण्डल के पास लौटा और विशाखाचार्य आदि समस्त मुनियों को आश्चर्य में डालते हुए उस नगर के अन्तर्धान होने और वृक्ष की टहनी पर अपने कमण्डलु के मिलने का सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

विशाखाचार्य ने कहा कि निश्चित रूप से यह सब कुछ मुनि चन्द्रगुप्ति के विशुद्ध चारित्र का चमत्कार था। इन्हीं के पुण्य प्रताप से देवताओं ने उस माया-नगरी की रचना की थी। विशाखाचार्य ने मुनि चन्द्रगुप्ति की उत्कट चारित्रनिष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उन्हें प्रतिवन्दना कर कहा – "मुनिश्रेष्ठ! देवताओं द्वारा कल्पित आहार मुनि को लेना उचित नहीं अतः सब को इसका प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये।"

विशाखाचार्य के आदेशानुसार मुनि चन्द्रगुप्ति और सभी मुनिमण्डल ने देवपिण्ड-ग्रहण का प्रायश्चित्त किया। तदनन्तर विशाखाचार्य ने अपने मुनियों के साथ उज्जयिनी की ओर विहार किया। अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए वे उज्जयिनी आये और नगर के वाहर एक सुन्दर उपवन में ठहरे।

स्थूलाचार्य ने समस्त मुनिसंघ सहित विशाखाचार्य के लौटने का समाचार सुन कर अपने शिष्यों को उन्हें देखने के लिये भेजा। स्थूलाचार्य के शिष्यों ने विशाखाचार्य के पास पहुंच कर उन्हें भक्तिपूर्वक वन्दना की। विशाखाचार्य ने विना प्रतिवन्दन किये ही उनसे पूछा – "अरे! मेरी अनुपस्थिति में तुम लोगों ने यह कौनसा दर्शन (मत) अपना लिया है?"

इस पर स्थूलाचार्य के शिष्य लज्जित हो विना कुछ उत्तर दिये ही अपने गुरु के पास लौट गये और उन्हें पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। इस पर रामल्य, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र ने अपने सव मुनियों को एकत्रित कर मन्त्रणा की कि अव उन्हें किस स्थिति को अपनाना चाहिये? वृद्ध स्थूलाचार्य ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया कि अव उन्हें कुमार्ग का परित्याग कर जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित, मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले छेदोपस्थापनीय चारित्र को ही अपनाना चाहिये।

स्थूलाचार्य के उपरोक्त वचन सुन कर वे मुनि लोग क्रुद्ध हो स्थूलाचार्य को कोसते हुए कहने लगे – "इस विषम पंचम आरक में ऐसे सुसाध्य मार्ग का परित्याग कर कौन इतने कष्टकर दुस्साध्य, वावीस परीषहों और अन्तरायादि से कण्टकाकीर्ण दुरूह पथ को अपनायेगा?"

स्थूलाचार्य ने उन साधुओं को समझाने का प्रयास करते हुए कहा – "अभी तो यह पथ तुम्हें किम्पाक फल के समान मनोहर प्रतीत होता है किन्तु अन्त में इसका परिणाम अत्यन्त दुखदायक होगा। यह मार्ग मुक्तिप्रद नहीं अपितु अनन्त-काल तक भवभ्रमण कराने वाला है।"

स्थूलाचार्य की वात सुन कर कतिपय साधुओं ने तो उसी समय मूलमार्ग अपना लिया किन्तु बहुत से मुनि क्रुद्ध हो स्थूलाचार्य को डण्डों से पीटने लगे। उन मुनियों ने स्थूलाचार्य को बड़ी निर्दयतापूर्वक मार कर वहीं एक गहरे गड्ढे में डाल दिया । आर्तध्यान के साथ मर कर स्थूलाचार्य व्यन्तर देव हुए। अवधिज्ञान से अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त जान कर स्थूलाचार्य के जीव व्यन्तर देव ने अग्नि, धूलि और पत्थर आदि की वृष्टि कर उन साधुओं को तरह-तरह के घोर कष्ट देने प्रारम्भ किये ।

व्यन्तर द्वारा दिये गये घोर कष्टों से पीड़ित हो उन साधुओं ने व्यन्तर से क्षमायाचना करते हुए स्थूलाचार्य की हड्डी तथा चार अंगुल चौड़ी, आठ अंगुल लम्बी लकड़ी की पट्टी में स्थूलाचार्य की कल्पना कर उनकी पूजा करना प्रारम्भ किया। कालान्तर में वह व्यन्तर देव इन लोगों का पर्युपासन नामक कुलदेवता कहलाने लगा, जो आज भी गन्धादि द्रव्यों से पूजा जाता है। वही आश्चर्यजनक अर्द्धफालक मत कलियुग का बल पाकर आज सब लोगों में फैल गया।"

यह है, विभिन्न काल में हुए भद्रवाहु नामक आचार्यों के साथ श्वेताम्वर-दिगम्वर मतभेद की उत्पत्ति को जोड़ने का एक प्रकार से क्रमिक इतिहास।

दिगम्वर परम्परा के विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि विभिन्नकाल में भद्रवाहु नाम के निम्नलिखित ५ आचार्य हुए हैं :-

(१) अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रवाहु, जिनका स्वर्गवास वी०नि० सं० १६२ में हुआ और जो भगवान् महावीर के ८वें पट्टधर थे।

(२) २६वें पट्टधर आचार्य भद्रवाहु अपर नाम यशोवाहु जो आठ अंगों के धारक थे और जिनका काल वीर नि० सं० ४६२ से ५१५ तक का माना गया है।

(३) प्रथम अंगधर आचार्य भद्रवाहु, जिनका काल वी० नि०सं० १००० के आस-पास का अनुमानित किया जाता है। यथा :-

अग्गिम अंगी सुभद्दो, जसभद्दो भद्दवाहु परमगणी ।
आयरियपरंपराइ, एवं सुदणाणमावहदि ॥४७॥

[अंग पन्नत्ति, चूलिका प्रकीर्णक प्रज्ञप्ति]

(४) नन्दीसंघ, वलात्कार गण की पट्टावली के अनुसार आचार्य भद्रवाहु जिनका आचार्यकाल वी० नि० सं० ६०६ से ६३१ माना गया है। इन्हीं के शिष्य का नाम गुप्तिगुप्त था।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं भद्रवाहु और गुप्तिगुप्त के कथानक को थोड़ा अतिरंजित करके कहीं श्रुतकेवली भद्रवाहु की जीवनी के साथ जोड़ दिया गया हो। गुरु-शिष्य के नाम और उनका काल भी करीव-करीव वही है।

(५) निमित्तज्ञ भद्रवाहु जो एकादशांगी के विच्छेद के पश्चात् हुए। श्रुतस्कन्ध के कर्त्ता के अनुसार इनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी देखता

[1] जैन सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० ३३३

है।[1] क्योंकि वी० नि० सं० ६८३ में एकादशांगी का विच्छेद हो जाने के अनन्तर इनका उल्लेख दिया है।

उपरिवर्णित उल्लेखों पर गम्भीरता से विचार करने के पश्चात् केवल इतिहास का विद्वान् ही नहीं अपितु साधारण विद्यार्थी भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि ये सभी उल्लेख सम्भवतः किंवदन्तियों, दन्तकथाओं और लोककथाओं के आधार पर किये गये हैं। वस्तुतः इनके पीछे कोई ठोस आधार अथवा पुष्ट प्रमाण नहीं है। ऊपर उद्धृत की गई सभी मान्यताओं के निरसन करने वाले अनेक प्रमाण स्वयं दिगम्बर परम्परा में विद्यमान हैं। उनमें से एक प्रबल और ठोस प्रमाण है पार्श्वनाथ बस्ती का शिलालेख, जिसका अभिलेखनकाल शक संवत् ५२२ तदनुसार विक्रम संवत् ६५७ और वीर निर्वाण संवत् ११२७ है। उस शिलालेख में क्रमशः गौतम, लोहार्य, जम्बू, विष्णु, देव, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, कृत्तिकाय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण और बुद्धिल इन १६ आचार्यों के नाम देने के पश्चात् इनकी उत्तरवर्ती आचार्यपरम्परा में हुए आचार्य भद्रबाहु को निमित्तज्ञ बताते हुए यह उल्लेख किया गया है कि उन भद्रबाहु स्वामी ने अपने निमित्तज्ञान से भावी द्वादशवार्षिक दुष्काल की संघ को सूचना दी। तदनन्तर समस्त संघ ने दक्षिणापथ की ओर प्रस्थान किया।[2]

नामसाम्य से हुई भ्रान्ति

जिस प्रकार गणधर मंडित और मौर्यपुत्र की माताओं के केवल नामसाम्य के आधार पर कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य, आवश्यकचूर्णिकार आदि अनेक प्राचीन विद्वान् आचार्यों ने मौर्यपुत्र को मंडित का लघु सहोदर बता कर यह मान्यता अभिव्यक्त कर दी कि भगवान् महावीर के जन्म से पूर्व भरतक्षेत्र के कतिपय प्रान्तों के उच्चकुलीन ब्राह्मणों तक में विधवाविवाह की प्रथा प्रचलित थी। किसी ने आगमों तथा इतर साहित्य में बार-बार दोहराये गये इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया कि जिन्हें छोटा भाई बताने का प्रयास किया जा रहा है, वह मौर्यपुत्र वस्तुतः मंडित से वय में छोटे नहीं अपितु तेरह वर्ष बड़े थे। ठीक उसी प्रकार वीर नि० सं० १५६ से १७० तक आचार्य पद पर रहे हुए छेदसूत्रकार-चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को और वीर नि० सं० १०३२ (शक सं० ४२७) के आसपास विद्यमान वराहमिहिर के सहोदर भद्रबाहु को एक

---

[1] आयरिओ भद्दबाहु, अट्ठंगमहणिमित्तजाणयरो
णिण्णासइ कालवसं, स चरिमो हु णिमित्तियो होदि ॥८०॥ [श्रुतस्कन्ध]

[2] ....महावीरसवितरि परिनिर्वृत्ते भगवत्परमर्षिगौतमगण – धरसाक्षाच्छिष्यलोहार्य-जम्बु – विष्णुदेवापराजित – गोवर्द्धन – भद्रबाहु – विशाख – प्रोष्ठिल – कृत्तिकाय – जयनाग – सिद्धार्थ – धृतिषेण – बुद्धिलादि गुरु – परम्परीण वक्र (क) माभ्यागतमहापुरुषसंततिसमवद्योतितान्वय – भद्रबाहुस्वामिना उज्जयन्यामष्टांगमहानिमित्ततत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सरकालवैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वसंघ उत्तरापथाद्दक्षिणापथं प्रस्थितः। [पार्श्वनाथ बस्ति का शिलालेख]

ही व्यक्ति मानने का भ्रम भी काफी प्राचीन समय से विद्वानों में चला आ रहा है। इस प्रकार की भ्रान्त धारणा का जन्म सर्वप्रथम किस समय और किस विद्वान् के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

बहुत प्राचीन समय से श्वेताम्बर परम्परा में यह मान्यता चली आ रही है कि चतुर्दश पूर्वधर आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी के द्वारा ही छेदसूत्रों की तथा निर्युक्तियों की भी रचना की गई थी। सर्वप्रथम संभवतः डा० हर्मन जैकोबी ने ई० सं० १६३१ में इस मान्यता की समीक्षा करते हुए आचार्य हेमचन्द्रकृत "परिशिष्ट पर्व" के इन्ट्रोडक्शन में लिखा :-

"There are ten Sutras to which Bhadra Bahu, a late namesake of the sixth patriarch, has written Niryukties, i.e., systematic expositions of the subject of Sutra to which they belong."

[Parisista Parva, Introductory, page 6]

डा० हर्मन जैकोबी ने इससे आगे पृ० ७ पर और लिखा है :-

The author of the Niryukties Bhadrabahu is identified by the Jains with the patriarch of that name who died 170 A. V.[1] There can be no doubt that they are mistaken. For the account of seven schisms (Ninhaga) in the Avashyaka Niryukti VIII 56-100 must have been written 584 and 609 of the Vira Era. There are the dates of the 7th and 8th schisms of which only the former is mentioned in the Niryukti. It is therefore, certain that the Niryukti was composed before the 8th schism 609 A.V.

डा० हर्मन जैकोबी द्वारा इस तथ्य के प्रकाश में लाये जाने के पश्चात् अनेक अन्य विद्वानों ने भी इस दिशा में अनुसन्धान और छानबीन करना प्रारम्भ किया, जिसके परिणामस्वरूप अनेक विचारणीय तथ्य विद्वानों के सामने आये।

छेदसूत्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहु

इस तथ्य को सभी विद्वान् एक मत से स्वीकार करने लगे हैं कि छेदसूत्रों के कर्त्ता असंदिग्ध रूप से चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ही हैं। यद्यपि छेद सूत्रों के आदि, मध्य अथवा अन्त में कहीं पर भी ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख नहीं है, फिर भी इनके पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकारों ने अपनी कृतियों में जो उल्लेख किये हैं, उनके आधार पर यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि छेदसूत्रों के कर्त्ता चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी ही हैं।

---

[1] वीरमोक्षाद्वर्षशते, सप्तत्यग्रे गते सति ।
भद्रबाहुरपि स्वामी, ययौ स्वर्गं समाधिना ॥११२॥

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति के प्रारम्भ में लिखा है :–

वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिम सगलसुयनाणिं ।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।।

अर्थात् मैं दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प और व्यवहार सूत्र के प्रणेता प्राचीन गोत्रीय एवं अन्तिम श्रुतकेवली महर्षि भद्रबाहु को नमस्कार करता हूं ।

यह एक अद्भुत संयोग की बात है कि दशाश्रुतस्कन्ध के निर्युक्तिकार का नाम भी भद्रबाहु है और वे भद्रबाहु नमस्कार कर रहे हैं प्राचीन गोत्रीय श्रुतकेवली भद्रबाहु को । वस्तुतः यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण और निर्णायक तथ्य है जिस पर आगे विचार किया जायगा । पंचकल्प महाभाष्यकार ने उपरिलिखित गाथा में वर्णित तथ्यों की पुष्टि निम्नलिखित रूप में की है :–

भद्दंति सुंदरं ति य, तुल्लत्थो जत्थ सुंदरा बाहू ।
सो होति भद्दबाहु, गोण्णं जेण्णं तु वालत्ते ।।६।।
पाएण ण लक्खिज्जइ, पेसलभावो तु बाहुजुयलस्स ।
उववण्णमतो णामं, तस्से यं भद्दबाहुत्ति ।।७।।
अण्णे वि भद्दबाहू, विसेसणं गोण्णगहण पाईणं ।
अण्णेसिं पविसिट्ठे, विसेसणं चरिमसगलसुतं ।।८।।
चरिमो अपच्छिमो खलु, चोद्दसपुव्वा तु होति सगलसुतं ।
सेसाण वुदा सट्ठा, सुत्तकरज्झयणमेयस्स ।।९।।
किं तेण कयं तं तू, जं भण्णति तस्स कारतो सोउ ।
भण्णति गणधारीहिं सव्वसुयं चेव पुव्वकयं ।।१०।।
तत्तोच्चिय णिज्जूढं, अणुगहणट्ठाए संपयजतीणं ।
तो सुत्तकारतो खलु, स भवति दसकप्प ववहारे ।।११।।

इन गाथाओं में सुन्दर भुजाओं वाले प्राचीन गोत्रीय एवं अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की छेदसूत्रकार के रूप में स्तुति करते हुए भाष्यकार ने इस बात का संकेत किया है कि भद्रबाहु नाम के अन्य भी आचार्य हुए हैं । अतः पेशल-सुन्दरभुज, प्राचीन गोत्रीय और अन्तिम श्रुतकेवली ये विशेषण छेद सूत्रकार भद्रबाहु के लिये प्रयुक्त किये हैं । यह ध्यान में रहे कि इन गाथाओं में उपर्युक्त तीन विशेषणों से युक्त भद्रबाहु के निर्युक्तिकार होने का कोई उल्लेख नहीं किया गया है । निर्युक्तिकार और भाष्यकार दोनों ने ही आचार्य भद्रबाहु को दशाश्रुत, कल्प और व्यवहार इन तीन छेदसूत्रों का कर्त्ता माना है । पंचकल्प भाष्य की चूर्णि में इन्हें आचारकल्प अर्थात् निशीथ सूत्र का प्रणेता[1] भी बताया गया है । विक्रम की पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रणीत "तित्थोगालिय पइण्णा" नामक ग्रन्थ में

[1] तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा ।
[पंचकप्पचूर्णि, पत्र १]

भी आचार्य भद्रबाहु का चतुर्दशपूर्वधर और छेदसूत्रकार के रूप में परिचय दिया गया है ।[1]

इस प्रकार इन उपरिलिखित प्रमाणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि अंतिम श्रुतकेवली प्राचीन गोत्रीय आचार्य भद्रबाहु छेदसूत्रों के निर्माता थे ।

अब सबसे बड़ा यह प्रश्न सामने आता है कि दश निर्युक्तियों के कर्त्ता अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु थे अथवा भद्रबाहु नाम के अन्य कोई आचार्य ।

भगवान् महावीर के शासन के सातवें पट्टधर चतुर्दश पूर्वधर आचार्य-भद्रबाहु वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियों के रचनाकार नैमित्तिक भद्रबाहु से भिन्न हैं । दोनों समान नाम वाले महापुरुषों को एक ही व्यक्ति ठहराने के पक्ष में जो प्राचीन आचार्यों के उल्लेख कतिपय विद्वानों द्वारा प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं उनकी औचित्यानौचित्यता पर विचार करने से पहले उन्हें यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :–

१. ओघ निर्युक्ति की द्रोणाचार्य कृत टीका में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु स्वामी को ही निर्यूक्तिकार बताते हुए लिखा है :–

"गुणाधिकस्य वन्दनं कर्त्तव्यं न त्वधमस्य, यत उक्तम्– "गुणाहिए वंदणयं ।" भद्रबाहु स्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वाद् दशपूर्वधरादीनां च न्यूनत्वात् किं तेषां नमस्कारमसौ करोति ? इति । अत्रोच्यते गुणाधिका एव ते,अव्यवच्छित्ति गुणाधिक्यात्, अतो न दोष इति ।" (पत्र ३)

२. शीलांकाचार्यकृत आचारांग की टीका पत्र ४ पर –

"अनुयोगदायिनः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्यो अतस्तान् सर्वानिति ।" ऐसा उल्लेख है ।

३. उत्तराध्ययन सूत्र की शान्तिसूरि द्वारा कृत पाइय टीका के पत्र १३६ पर भी लिखा है :–

"न च केषांचिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालादर्वाक्कालभाविता इत्यन्योक्तत्वमाशंकनीयम्, स हि भगवांश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाशंका ? इति ।"

४. विशेषावश्यक टीका, पत्र १ पर मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने लिखा है :–

---

[1] सत्तमतो थिरबाहू जाणुयसीसुपडिच्छय सुबाहू ।

"अस्य चातीव गम्भीरार्थतां सकल साधु-श्रावकवर्गस्य नित्योपयोगितां च विज्ञाय चतुर्दश-पूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुनैतद्व्याख्यानरूपा "अभिनिबोहियनाणं" इत्यादि प्रसिद्धग्रन्थरूपा निर्युक्तिकृता ।"

५. मलयगिरि ने बृहत्कल्पपीठिका की टीका, पत्र २ पर लिखा है :—

साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं, व्यवहारसूत्रं चकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिक निर्युक्तिः ।"

६. वृहत्कल्पपीठिका की श्री क्षेमकीर्त्तिसूरि कृत टीका के पत्र १७७ पर उल्लेख है कि —

"श्रीमदावश्यकादिसिद्धान्तप्रतिबद्धनिर्युक्तिशास्त्र संसूत्रणसूत्रधार.......... श्री भद्रबाहुस्वामी........कल्पधेयनामाध्ययनं निर्युक्तियुक्तं निर्यूढ़वान् ।"

७. मुनि सुन्दरसूरि ने 'गुर्वावली' में चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रवाहु स्वामी और 'उपसर्गहरस्तोत्र' के रचयिता भद्रबाहु को एक ही महापुरुष वताते हुए लिखा है : —

अपश्चिमः पूर्वभृतां द्वितीयः, श्री भद्रवाहुश्च गुरूः शिवाय ।
कृत्वोपसर्गादिहरस्तवं यो, ररक्ष संघं धरणार्चितांह्रिः ॥१३॥
निर्यूढ़सिद्धान्तपयोधिराप, स्वर्यश्च वीरात् खनगेन्दुवर्षे ।

८. गच्छाचार पइन्ना की वृत्ति में श्रुतकेवली भद्रवाहु और निर्यूक्तिकार भद्रवाहु को एक ही व्यक्ति बताते हुए लिखा है :—

"अत्थि सिरिभरवरिट्ठे.........अह जुगप्पहाणागमो सिरिभद्दवाहुसामी. आयारांग १. सूयगडांग २. आवस्सय ३. दसवैयालिय ४, उत्तरज्झयण ५, दसा ६, कप्प ७, ववहार ८, सूरियपन्नत्ति उवंग ९, रिसिभासियाणं १० दस निज्जुत्तिओ काऊण जिणसासणं पभावेऊणं पंचमसुयकेवलिपयमणुहविऊण य समए अणसणविहाणेण तिदसावासं पत्तोत्ति ।"

उपरोक्त सभी उल्लेख प्रामाणिक आचार्यों द्वारा किये गये हैं। इनमें आचार्य शीलांक का उल्लेख सवसे प्राचीन-अर्थात् विक्रम की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा नौवीं शताब्दी के प्रारम्भ का है। उपरोक्त उल्लेखों में सभी आचार्यों ने चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रवाहुस्वामी को ही निर्युक्तिकार माना है पर अपनी इस मान्यता के समर्थन में शान्त्याचार्य के अतिरिक्त किसी भी विद्वान् आचार्य ने कोई युक्ति प्रस्तुत नहीं की है। साधारण तौर पर केवल यह उल्लेख मात्र किया है कि चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रवाहु स्वामी निर्युक्तिकार थे ।

शान्त्याचार्य ने चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रवाहु स्वामी को ही निर्युक्तिकार ठहराने की अपनी मान्यता के पक्ष में यह युक्ति दी है कि उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में निर्युक्तिकार भद्रवाहु स्वामी ने अपने से वहुत काल पश्चात् हुए महापुरुषों के व उनसे सम्बन्धित उदाहरण दिये हैं — उनके आधार पर कोई यह शंका न कर

वैठे कि उत्तराध्ययन की निर्युक्ति चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित नहीं अपितु किसी अन्य द्वारा रचित है अथवा ये उदाहरण किसी अन्य आचार्य द्वारा इसमें जोड़े गये हैं । क्योंकि आचार्य भद्रबाहु स्वामी श्रुतकेवली होने के कारण त्रिकालदर्शी थे और अपने पश्चाद्वर्ती अर्वाचीन महापुरुषों के सम्बन्ध में भी विवरण लिखने में समर्थ थे ।"

श्रुतकेवली भद्रबाहु निर्युक्तिकार नहीं

चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु निर्युक्तिकार नही हो सकते, इस तथ्य की पुष्टि में निम्न लिखित प्रमाण द्रष्टव्य हैं :–

१. चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु निर्युक्तियोंके कर्त्ता नहीं हैं । यदि वे निर्युक्तिकार होते तो वे अपने आपकी स्तुति करते हुए स्वयं को नमस्कार नहीं करते और न अपने शिष्य आर्य स्थूलभद्र का 'भगवान् स्थूलभद्र' इन स्तुत्यात्मक शब्दों में गुणगान ही करते । पर निर्युक्तियों में इस प्रकार के लोकव्यवहार विरुद्ध उदाहरण विद्यमान हैं । दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति की पहली गाथा में निर्युक्तिकार द्वारा भद्रबाहु स्वामी को निम्नलिलित शब्दों में नमस्कार किया गया है :–

वंदामि भद्दबाहुं, पाइणं चरिमसगलसुयनाणिं ।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।।

यदि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु निर्युक्तिकार होते तो क्या वे अपने आपको इस प्रकार वन्दन करते ? कदापि नहीं । सभ्य संसार के साहित्य में एक भी इस प्रकार का उदाहरण उपलब्ध नहीं होता, जिसमें किसी साधारण से साधारण अथवा महान् से महान् व्यक्ति ने अपने आपको नमस्कार किया हो । लोकगुरु तीर्थंकर भी "नमो तित्थस्स" कह कर तीर्थ को नमस्कार करते हैं न कि स्वयं को ।

यहां यह शंका उठाई जा सकती है कि यह गाथा निर्युक्तिकार की नहीं अपितु भाष्यकार की है अथवा प्रक्षिप्त है । पर चुर्णिकार के निम्नलिखित स्पष्टीकरण के पश्चात् इस प्रकार की शंका के लिये कोई अवकाश नहीं रह जाता । चूर्णिकार ने इस गाथा को भावमंगल की संज्ञा देते हुए निर्युक्ति की मूल गाथा बताया है :–

चूर्णि :– तं पुण मंगलं नामादि चतुर्विधं आवस्सगाणुक्कमेण परूवेयव्वं । तत्थ भावमंगलं निज्जुत्तिकारो आह – "वंदामि, भद्दबाहुं……इत्यादि । भद्दबाहू नामेणं । पाईणो गोत्तेणं । चरिमो अपच्छिमो । सगलाइं चोद्दसपुव्वाइं । किं निमित्तं नमोक्कारो तस्स कज्जति ? उच्यते जेण सुत्तस्स कारओ ण अत्थस्स, अत्थो तित्थगरातो पसूतो । जेण भण्णति – "अत्थं भासति अरहा० गाथा । कतरं सुत्तं ? दसाओ कप्पो ववहारो य । कतरातो उद्धृतम् । उच्यते पच्चक्खाणपुव्वातो । अहवा भावमंगलं नंदी सा तहेव चउव्विहा ।

छेदसूत्रों में दशाश्रुतस्कन्ध श्रुतकेवली भद्रबाहु की सर्वप्रथम कृति के रूप में प्रसिद्ध है, इसी लिये निर्युक्तिकार ने दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति में श्रुतकेवली भद्रबाहु को नमस्कार किया है ।

उत्पत्ति आदि का वर्णन किया गया है।[1] इन गाथाओं में उल्लिखित विवरण श्रुतकेवली भद्रबाहु से बहुत काल पश्चात् हुए आचार्यों तथा उन आचार्यों के समय में घटित हुई घटनाओं से सम्बन्ध रखते हैं।

५. उत्तराध्ययनसूत्र की निर्युक्ति की गाथा संख्या १२० में श्रुतकेवली भद्रबाहु से बहुत समय पश्चात् हुए कालिकाचार्य के जीवन की घटनाओं का विवरण दिया गया है। यथा :–

उज्जेणि कालखमणा, सागरखमणा सुवण्णभूमीए।
इंदो आउयसेसं, पुच्छइ सादिव्वकरणं च ॥१२०॥

६. वर्तमान काल में उपलब्ध निर्युक्तियां चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृतियां नहीं, इस तथ्य को सिद्ध करने वाला एक प्रबल प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययनसूत्र की निर्युक्ति (अकाममरणीय) की निम्नलिखित गाथा में निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट संकेत किया है कि वह चतुर्दश पूर्वधर नहीं है :–

सव्वे एए दारा, मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो।
सगलणिउणे पयत्थे, जिण चउद्दसपुव्वि भासंति ॥२३३॥

अर्थात् – मैंने मरणविभक्ति से सम्बन्धित समस्त द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया है। वस्तुतः पदार्थों का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन तो केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वधर ही करने में समर्थ हैं। समस्त आगमों और जैन साहित्य में एक भी इस प्रकार का उदाहरण उपलब्ध नहीं होता जिसमें किसी केवलज्ञानी ने किसी तत्व का विवेचन करने के पश्चात् यह कहा हो कि इसका पूर्णरूपेण विवेचन तो केवली ही कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार यदि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर होते तो वे यह कभी नहीं कहते कि वस्तुतः पदार्थों का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन तो केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वधर ही करने में समर्थ हैं। यह निर्युक्ति-गाथा ही इस बात का स्वतःसिद्ध प्रमाण है कि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु नहीं कोई अन्य ही आचार्य हैं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है शान्त्याचार्य ने "चतुर्दश पूर्वधर आ० भद्रबाहु ही निर्युक्तिकार हैं – इस पक्ष का समर्थन करते हुए उपरोक्त निर्युक्ति-

---

[1] जइ जह पइसिणी जायागुम्मि पालित्तओ भमाडेइ।
तह तह सीसे वियणा, पणस्सइ मुरुंडरायस्स ॥४६८॥
नइ कण्ह-विन्न दीवे, पंचसया तावसाण णिवसंति।
पव्वदिवसेसु कुलवइ पालेवुत्तार सक्कारे ॥५०३॥
जण सावगाण खिसण, समियक्खण माइठाण लेवेण।
सावय पयत्तकरणं, अविणयलोए चलण धोए ॥५०४॥
पडिलाभिय वच्चंता निवुड्ड नइकूलमिलण समियाओ।
विम्हिय पंचसया, तावसाण पव्वज्ज साहा य ॥५०५॥

[शिष्य निर्युक्ति]

गाथा की टीका में यह युक्ति दी है – "आचार्य भद्रबाहु चतुर्दशपूर्वधर अर्थात् श्रुतकेवली थे अतः वे त्रिकाल के पदार्थों को जानने में समर्थ थे ऐसी दशा में निर्युक्तियों के अन्तर्गत अर्वाचीन घटनाओं एवं आचार्यों के विवरण देख कर इस प्रकार की कतई शंका नहीं करनी चाहिये कि निर्युक्तियों के कर्त्ता चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के अतिरिक्त अन्य कोई आचार्य हैं।' पर इस गाथा की टीका करते समय उन्हें अपने स्वयं के अन्तर से कितना जूझना पड़ा इसकी झलक टीका में स्पष्टतः प्रकट होती है :–

"सम्प्रत्यतिगम्भीरतामागमस्य दर्शयन्नात्मौद्धत्यपरिहारायाह भगवान् निर्युक्तिकार :–

सव्वे एए दारा गाथा व्याख्या – 'सर्वाणि' अशेषाणि 'एतानि' अनन्तरमुपदर्शितानि 'द्वाराणि', अर्थप्रतिपादनमुखानि 'मरणविभक्तेः' मरणविभक्त्-यपरनाम्नोऽस्यैवाध्ययनस्य 'वर्णितानि' प्ररूपितानि, मयेति शेषः, 'कमसो' त्ति प्राग्वत् क्रमशः। आह एवं सकलापि मरणवक्तव्यता उक्ता उत न? इत्याह-सकलाश्च- समस्ता निपुणाश्च-अशेषविशेष-कलिताः सकलनिपुणाः तान् पदार्थान् इह मरणप्रशस्तादीन् जिनाश्च केवलिनः चतुर्दशपूर्विणश्च-प्रभवादयो जिनचतुर्दश-पूर्विणो 'भाषन्ते' व्यक्तमभिदधति, अहं तु मन्दमतित्वान्न तथा वर्णयितुं क्षम इत्यभिप्रायः। स्वयं चतुर्दशपूर्वित्वेऽपि यच्चतुर्दशपूर्व्युपादानं तत् तेपामपि षट्स्थानपतितत्वेन शेषमाहात्म्यख्यापनपरमदुष्टमेव, भाष्यगाथा वा द्वारगाथा-द्वयादारभ्य लक्ष्यन्त इति प्रेर्यानवकाश एवेति गाथार्थः ।।२३३।।

[उत्तराध्ययन पाइय टीका, पत्र २४०]

निर्युक्तिकार ने इस गाथा में यह कह कर कि – यद्यपि उन्होंने मरण-विभक्ति विषयक सभी द्वारों का अनुक्रम से वर्णन करने का प्रयास किया है, तथापि इनका सम्पूर्णरूपेण विशदवर्णन तो केवली या चतुर्दश पूर्वधर ही कर सकते हैं– यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि न तो वे केवली हैं और न चतुर्दश पूर्वधर हो।

शान्त्याचार्य ने निर्युक्तिकार की इस सरल और स्पष्ट स्वीकारोक्ति को अपने पक्ष के साथ संगति बैठाने हेतु क्लिष्ट कल्पना करते हुए टीका में दो युक्तियां दी हैं। पहली युक्ति यह कि निर्युक्तिकार ने स्वयं चतुर्दश पूर्वधर होते हुए भी अर्थज्ञान की अपेक्षा से चतुर्दश पूर्वधर भी परस्पर एक दूसरे से न्यूनाधिक समझने वाले होते हैं, इस दृष्टि से अपने से पूर्व के पूर्वधरों की अपनी अपेक्षा अधिक महत्ता प्रकट करने हेतु ही लिखा है कि केवली या चतुर्दश पूर्वधर ही इन पदार्थों का सम्पूर्ण रूप से विशद वर्णन कर सकते हैं।

प्रत्येक चतुर्दश पूर्वधर को, चाहे वह पूर्ववर्ती हो अथवा पश्चाद्वर्ती – उसे आगमों में श्रुतकेवली के विरुद से विभूषित कर केवलीतुल्य प्ररूपणा करने वाला माना गया है। एक श्रुतकेवली चाहे वह कितना ही अवान्तरकालवर्ती क्यों न हो, वह पदार्थों के निरूपण में केवलीतुल्य है अतः वह यह कह कर कि अमुक-अमुक विषयों का विवेचन वह नहीं कर सकता है, चौदह पूर्वों के ज्ञान की हीनता अपने

उत्पत्ति आदि का वर्णन किया गया है ।[१] इन गाथाओं में उल्लिखित विवरण श्रुतकेवली भद्रबाहु से बहुत काल पश्चात् हुए आचार्यों तथा उन आचार्यों के समय में घटित हुई घटनाओं से सम्बन्ध रखते हैं ।

५. उत्तराध्ययनसूत्र की निर्युक्ति की गाथा संख्या १२० में श्रुतकेवली भद्रबाहु से बहुत समय पश्चात् हुए कालिकाचार्य के जीवन की घटनाओं का विवरण दिया गया है । यथा :–

उज्जेणि कालखमणा, सागरखमणा सुवण्णभूमीए ।
इंदो आउयसेसं, पुच्छइ सादिव्वकरणं च ।।१२०।।

६. वर्तमान काल में उपलब्ध निर्युक्तियां चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृतियां नहीं, इस तथ्य को सिद्ध करने वाला एक प्रबल प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययनसूत्र की निर्युक्ति (अकाममरणीय) की निम्नलिखित गाथा में निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट संकेत किया है कि वह चतुर्दश पूर्वधर नहीं है :–

सव्वे एए दारा, मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो ।
सगलणिउणे पयत्थे, जिण चउद्दसपुव्वि भासंति ।।२३३।।

अर्थात् – मैंने मरणविभक्ति से सम्बन्धित समस्त द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया है । वस्तुतः पदार्थों का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन तो केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वधर ही करने में समर्थ हैं । समस्त आगमों और जैन साहित्य में एक भी इस प्रकार का उदाहरण उपलब्ध नहीं होता जिसमें किसी केवलज्ञानी ने किसी तत्व का विवेचन करने के पश्चात् यह कहा हो कि इसका पूर्णरूपेण विवेचन तो केवली ही कर सकते हैं । ठीक इसी प्रकार यदि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर होते तो वे यह कभी नहीं कहते कि वस्तुतः पदार्थों का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन तो केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वधर ही करने में समर्थ हैं । यह निर्युक्ति-गाथा ही इस बात का स्वतःसिद्ध प्रमाण है कि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु नहीं कोई अन्य ही आचार्य हैं ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है शान्त्याचार्य ने "चतुर्दश पूर्वधर आ० भद्रबाहु ही निर्युक्तिकार हैं – इस पक्ष का समर्थन करते हुए उपरोक्त निर्युक्ति-

---

[१] जइ जह पइसिणी जायागुम्मि पालित्तओ भमाडेइ ।
तह तह सीसे वियणा, पणस्सइ मुरुंडरायस्स ।।४९८।।
नइ कण्ह-बिन्न दीवे, पंचसया तावसाण णिवसंति ।
पव्वदिवसेसु कुलवइ पालेवुत्तार सक्कारे ।।५०३।।
जण सावगाण खिंसण, समियक्खण माइठाण लेवेण ।
सावय पयत्तकरणं, अविणयलोए चलण धोए ।।५०४।।
पडिलाभिय वच्चंता निवुड्ड नइकूलमिलण समियाओ ।
विम्हिय पंचसया, तावसाण पव्वज्ज साहा य ।।५०५।।
[पिंड निर्युक्ति]

कालिकसूत्र और ओघ – इन दोनों का समावेश चरणकरणानुयोग में किया गया है। अनुयोगों के रूप में सूत्रों का पृथक्करण वीर नि० सं० ५६० से ५६७ के बीच के समय में, तदनुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् ४२० से ४२७ वर्ष के मध्यवर्तीकाल में आर्य रक्षित द्वारा किया गया है।

१०. श्रुतकेवली भद्रबाहु निर्युक्तिकार नहीं, इस पक्ष की पुष्टि में दशाश्रुत-स्कन्ध-निर्युक्ति की एक और गाथा प्रमाण रूप से प्रस्तुत की जाती है :–

एगभविए य बद्धाउए य, अभिमुहियनामगोए य।
एते तिन्नि वि देसा, दव्वम्मि य पोंडरीयस्स ।।१४६।।

इस गाथा में द्रव्य निक्षेप के तीन आदेशों का विवेचन किया गया है। इसकी वृत्ति इस प्रकार है :–

एगेत्यादि एकेन भवेन गतेन अनन्तरभव एक यः पौण्डरीकेषु उत्पत्स्यते स एकभविकः। तथा तदासन्नतरः पौण्डरीकेषु बद्धायुष्कः ततोऽप्यासन्नतमः।

अभिमुखनामगोत्रः 'अनन्तर समयेषु यः पौण्डरीकेषु उत्पद्यते। एते अनन्त-रोक्ता त्रयोप्यादेशविशेषा द्रव्यपौण्डरीकेऽवगन्तव्या इति।

[सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, श्रुत० २, अध्ययन १, पत्र २६७–६८]

बृहत्कल्पसूत्र के चूर्णिकार के कथनानुसार ये तीनों ही स्थविर आर्य मंगू, स्थविर आर्य समुद्र और स्थविर आर्य सुहस्ती की पृथक्-पृथक् तीन मान्यताएं हैं। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है कल्पभाष्य की हस्तलिखित प्रति की अधोलिखित गाथा और उसकी चूर्णि :–

गणहरथेरकयं वा, आएसा मुक्कवागरणतो वा।
धुवचल विसेसतो वा, अंगाऽणंगेसु णाणत्तं ।।१४४।।

चूर्णिः – किं च आएसा जहा अज्ज मंगू तिविहं संखं इच्छति – एगभवियं, बद्धाउयं, अभिमुहनामगोत्तं च। अज्ज समुद्दा दुविहं-बद्धाउयं अभिमुहनामगोत्तं च। अज्ज सुहत्थी एगं-अभिमुहनामगोयं इच्छति।

[स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी, बृहत्कल्पसूत्र नी प्रस्तावना, पृष्ठ १३]

इस प्रकार चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के बहुत पश्चात् हुए आर्य मंगू, आर्य समुद्र और आर्य सुहस्ती की मान्यताओं का आकलन एवं उल्लेख जिस निर्युक्त में हो, उसे किसी भी स्थिति में श्रुतकेवली भद्रबाहु की कृति नहीं माना जा सकता। निर्युक्तिकार भद्रबाहु और चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के एक होने न होने का विवादास्पद प्रश्न कल्पभाष्य के चूर्णिकार के समक्ष कभी रहा हो, इस प्रकार का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, अतः चूर्णिकार के इस कथन को निष्पक्ष अभिमत के रूप में गणना की जाकर प्रामाणिक और सत्य मानने में किसी प्रकार की शंका के लिये कोई अवकाश नहीं रहता।

मुख से किसी भी दशा में प्रकट नहीं कर सकता। शान्त्याचार्य इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे अतः अपनी इस प्रथम युक्ति की औचित्यता और सबलता के सम्बन्ध में सशंक होने के कारण उन्होंने दूसरी युक्ति यह दी – "यह भी अधिक संभव है कि द्वारगाथा से इस गाथा तक की सभी गाथाएं मूल निर्युक्ति की गाथाएं न होकर भाष्य की गाथाएं हों। इनकी यह युक्ति तो वस्तुतः एक प्रकार से इस पक्ष को ही बल देती है कि निर्युक्तियां चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की कृतियां नहीं। वैसे इनकी इस युक्ति को चूर्णिकार का समर्थन भी प्राप्त नहीं है। शान्त्याचार्य स्वयं भी अपने अभिमत की सत्यता के सम्बन्ध में सशंक हैं।

ऐसी दशा में शान्त्याचार्य का यह अभिमत कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु ही निर्युक्तिकार हैं, कैसे मान्य हो सकता है ?

७. श्रुकेवली भद्रबाहु निर्युक्तिकार नहीं, इस पक्ष की पुष्टि हेतु सातवें प्रमाण के रूप में आवश्यक निर्युक्ति की ७७८ से ७८३ तक की गाथाओं[1] को प्रस्तुत किया जाता है। इन गाथाओं में भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ प्रवर्तन के चौदहवें वर्ष से लेकर भगवान् महावीर के निर्वाण से ५८४ वर्ष पश्चात् हुए सात निन्हवों का तथा वीर नि० सं० ६०९ में हुई दिगम्बर मतोत्पत्ति तक का वर्णन किया गया है। वीर नि० सं० १७० में स्वर्गस्थ होने वाले भद्रबाहु द्वारा यदि निर्युक्तियों की रचना की गई होती तो वी० नि० सं० ६०९ में हुई घटनाओं का उनमें उल्लेख कदापि नहीं होता।

८. इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र की निर्युक्ति (चतुरंगीय अध्ययन) की गाथा संख्या १६४ से १७८ में सात निन्हवों तथा दिगम्बर मत की उत्पत्ति का आवश्यक निर्यूक्ति से भी विस्तृत विवरण दिया हुआ है।

९. दशवैकालिक निर्युक्ति[2] और ओघ निर्युक्ति[3] की गाथाओं में दशवै-

---

[1] बहुरय पएस अव्वत्त समुच्छ दुग तिग अवद्धिगा चेव।
सत्तेए णिण्हगा खलु तित्थम्मि उ वद्धमाणस्स ॥७७८॥
बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।
अव्वत्तासाढाओ समुच्छेयासमित्ताओ ॥७७९॥
गंगाओ दो किरिया, छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती।
थेरा य गोट्ठमाहिल, पुट्ठमबद्धं परूविंति ॥७८०॥
सावत्थी उसभपुरं सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं।
पुरिमंतरंजि रहवीरपुरं च णयराइं ॥७८१॥
चोद्दस सोलस वासा, चोद्दस वीसुत्तरा य दोण्णिसया।
अट्ठावीसा य दुवे, पंचेव सया उ चोयाला ॥७८२॥
पंचसया चुलसीया, छच्चेव सया णवोत्तरा हुंति।
णाणुप्पत्ती य दुवे उप्पण्णा निव्वुए सेसा ॥७८३॥ [आव. नि०]

[2] अपुहुत्त – पुहुत्ताइं निद्दिसिउं एत्थ होइ अहिगारो।
चरणकरणाणुओगेण, तस्स दारा इमे हुंति ॥ [दशवैकालिक नि०]

[3] ओहेण उ निज्जुत्तिं, वुच्छं चरणकरणाणुओगाओ।
अप्पक्खरं महत्थं, अणुग्गहत्थं सुविहियाणं ॥ [ओघ-निर्युक्ति]

कालिकसूत्र और ओघ – इन दोनों का समावेश चरणकरणानुयोग में किया गया है। अनुयोगों के रूप में सूत्रों का पृथक्करण वीर नि० सं० ५६० से ५६७ के बीच के समय में, तदनुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् ४२० से ४२७ वर्ष के मध्यवर्तीकाल में आर्य रक्षित द्वारा किया गया है।

१०. श्रुतकेवली भद्रबाहु निर्युक्तिकार नहीं, इस पक्ष की पुष्टि में दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति की एक और गाथा प्रमाण रूप से प्रस्तुत की जाती है :–

एगभविए य बद्धाउए य, अभिमुहियनामगोए य ।
एते तिन्नि वि देसा, दव्वम्मि य पोंडरीयस्स ।।१४६।।

इस गाथा में द्रव्य निक्षेप के तीन आदेशों का विवेचन किया गया है। इसकी वृत्ति इस प्रकार है :–

एगेत्यादि एकेन भवेन गतेन अनन्तरभव एक यः पौण्डरीकेषु उत्पत्स्यते स एकभविकः। तथा तदासन्नतरः पौण्डरीकेषु बद्धायुष्कः ततोऽप्यासन्नतमः।

अभिमुखनामगोत्रः 'अनन्तर समयेषु यः पौण्डरीकेषु उत्पद्यते। एते अनन्तरोक्ता त्रयोप्यादेशविशेषा द्रव्यपौण्डरीकेऽवगन्तव्या इति।

[सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, श्रुत० २, अध्ययन १, पत्र २६७–६८]

बृहत्कल्पसूत्र के चूर्णिकार के कथनानुसार ये तीनों ही स्थविर आर्य मंगू, स्थविर आर्य समुद्र और स्थविर आर्य सुहस्ती की पृथक्-पृथक् तीन मान्यताएं हैं। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है कल्पभाष्य की हस्तलिखित प्रति की अधोलिखित गाथा और उसकी चूर्णि :–

गणहरथेरकयं वा, आएसा मुक्कवागरणतो वा ।
धुवचल विसेसतो वा, अंगाऽणंगेसु णाणत्तं ।।१४४।।

चूर्णिः – किं च आएसा जहा अज्ज मंगू तिविहं संखं इच्छति – एगभवियं, बद्धाउयं, अभिमुहनामगोत्तं च। अज्ज समुद्दा दुविहं-बद्धाउयं अभिमुहनामगोत्तं च। अज्ज सुहत्थी एगं-अभिमुहनामगोयं इच्छति।

[स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी, बृहत्कल्पसूत्र नी प्रस्तावना, पृष्ठ १३]

इस प्रकार चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के बहुत पश्चात् हुए आर्य मंगू, आर्य समुद्र और आर्य सुहस्ती की मान्यताओं का आकलन एवं उल्लेख जिस निर्युक्त में हो, उसे किसी भी स्थिति में श्रुतकेवली भद्रबाहु की कृति नहीं माना जा सकता। निर्युक्तिकार भद्रबाहु और चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के एक होने न होने का विवादास्पद प्रश्न कल्पभाष्य के चूर्णिकार के समक्ष कभी रहा हो, इस प्रकार का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, अतः चूर्णिकार के इस कथन को निष्पक्ष अभिमत के रूप में गणना की जाकर प्रामाणिक और तथ्य मानने में किसी प्रकार की शंका के लिये कोई अवकाश नहीं रहता।

११. वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियां श्रुतकेवली भद्रबाहु की कृतियां नहीं, इस पक्ष की पुष्टि करने वाला एक और प्रबल प्रमाण है स्वयं–इन निर्युक्तियों का वर्तमान आकार-प्रकार। आवश्यक निर्युक्ति में जिन-जिन सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचनाएं करने का उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है –

आयारस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूयगडे निज्जुत्तिं, वोच्छामि तहा दसाणं च ॥६४॥
कप्पस्स य णिज्जुत्तिं, ववहारस्सेस परमनिउणस्स।
सूरियपण्णत्तीए, वुच्छं इसिभासियाणं च ॥६५॥

इन दश सूत्रों में से आचारांग और सूत्रकृतांग ये दोनों आगम आचार्य भद्रबाहु के समय में सर्वसम्मत मान्यतानुसार अति वृहदाकार एवं परिपूर्ण रूप में विद्यमान थे और प्रत्येक सूत्र पर चार-चार अनुयोग प्रवृत्त थे। ऐसी स्थिति में यदि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी द्वारा इन पर निर्युक्तियों की रचना की गई होती तो वे उनके अनुरूप ही चार-चार अनुयोगों से युक्त अति विस्तीर्ण एवं अति विशाल आकार वाली होतीं। पर वस्तुस्थिति उससे नितान्त भिन्न दृष्टिगोचर होती है। आज के इनके अन्तरंग और वहिरंग स्वरूप को देखने से यही मानना उचित प्रतीत होता है कि माथुरी आदि विभिन्न वाचनाओं द्वारा अंतिमरूपेण सुसंस्कृत एवं संकलित आगम जिस रूप में आज हमारे समक्ष हैं, उन्हीं को आधार मानकर इनके अनुरूप निर्युक्तियों की रचनाएं उपर्युक्त वाचनाओं के पश्चात् की गई हैं।

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि आर्य रक्षित ने अपने विद्वान् शिष्य दुर्वलिका पुष्यमित्र की विस्मृति और भावी शिष्य-प्रशिष्यों की क्रमशः मन्द से मन्दतर बुद्धि को ध्यान में रखते हुए जिस समय अनुयोगों को पृथक् किया उसी समय चार अनुयोगमय निर्युक्तियों को अनुयोग से पृथक् कर व्यवस्थित कर लिया गया था। पर इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति पर सम्यग्रूपेण विचार करने पर स्वतः ही इस कथन की अवास्तविकता और अनौचित्यता प्रकट हो जायगी। इस कथन की अवास्तविकता को प्रकट करने वाला प्रथम तथ्य तो यह है कि जिस प्रकार आगमों की विविध वाचनाओं के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, उस प्रकार का एक भी उल्लेख निर्युक्तियों को व्यवस्थित करने के सम्बन्ध में नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त दूसरा सबल तथ्य यह है कि आचारांग और सूत्रकृतांग का जो पूर्ण स्वरूप चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के समय में था, ठीक उसी प्रकार का इनका स्वरूप आर्य रक्षित के समय में भी था। ऐसी स्थिति में आर्य रक्षित द्वारा अनुयोगों के पृथक्करण के समय ही इन दो सूत्रों की निर्युक्तियों को उनके अनुयोगमय स्वरूप से पृथक् कर व्यवस्था की जाती तो इन दोनों सूत्रों की वृहदाकारता और विशालता के अनुरूप ही इन दोनों सूत्रों की निर्युक्तियों का आकार एवं विस्तार भी वृहत् तथा विशाल होना चाहिये था और इन सूत्रों के जो वृहत्

से अंश तत्पश्चादवर्ती काल में विलुप्त हो गये उनमें से सबके सम्बन्ध में न सही पर कम से कम दो-चार अंशों के सम्बन्ध में तो थोड़े बहुत तथ्य इन निर्युक्तियों में हमें आज भी अवश्य देखने को मिलते। पर वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल विपरीत ही दृष्टिगोचर हो रही है।

इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त एक बड़ा महत्त्वपूर्ण और विचारणीय प्रश्न इस सन्दर्भ में हमारे समक्ष एक पेचीदा पहेली के रूप में यह उपस्थित होता है कि भीषण दुष्कालों एवं अनवरत गति से चले आ रहे क्रमिक स्मृतिह्रास के परिणामस्वरूप श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में जो एकादशांगी का वृहत्स्वरूप विद्यमान था उसको तो श्रमण-पीढ़ियां यथावत् स्वरूप में सुरक्षित नहीं रख सकीं और उनके द्वारा (श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा) निर्मित निर्युक्तियों को आज तक सुरक्षित रख सकीं, क्या यह बात किसी निष्पक्ष विचारक के गले उतर सकती है? कदापि नहीं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन में प्रमाण पुरस्सर जो विपुल सामग्री प्रस्तुत की गई है उससे भली-भांति निर्विवादरूप से यह सिद्ध होता है कि ये निर्युक्तियां अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृतियां नहीं, किन्तु भद्रबाहु नाम के किसी अन्य आचार्य की हैं। यदि ये उनकी कृतियां होतीं तो वे न स्वयं को (चतुर्दश पूर्वधर प्राचीन गोत्रीय आ० भद्रबाहु को) ही नमस्कार करते और न अपने शिष्य आर्य स्थूलभद्र के लिये "भगवं पि थूलभद्दो" – जैसे अपने पूज्य के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों का प्रयोग कर उनका गुणगान ही करते। इसके अतिरिक्त इन निर्युक्तियों में श्रुतकेवली भद्रबाहु से ४२० वर्ष पश्चात् हुए अनुयोगों के पृथक्करण का, वीर नि० संवत् ६०९ तक की मुख्य घटनाओं का एवं पश्चाद्वर्ती आचार्यों का उल्लेख है, तथा आर्य वज्रस्वामी को निर्युक्तिकार द्वारा नमस्कार किया गया है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियां श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु द्वारा नहीं अपितु उनके पश्चाद्वर्ती भद्रबाहु नामक अन्य किसी आचार्य द्वारा निर्मित्त की गई हैं।

निर्युक्तिकार कौन

चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु उपलब्ध निर्युक्तियों के कर्त्ता नहीं हैं, यह सिद्ध कर दिये जाने के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर ये निर्युक्तियां किसकी कृतियां हैं? प्रश्न वस्तुतः बड़ा जटिल है। इसको सुलझाने का प्रयास करने से पहले हमें यह देखना होगा कि भद्रबाहु नाम के कितने आचार्य हुए हैं और वे किस-किस समय में हुए हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों एवं शिलालेखों को देखने से ज्ञात होता है कि भद्रबाहु कई हुए हैं। दिगम्बर परम्परा में तो विभिन्न समय में भद्रबाहु नाम के ६ आचार्य हुए हैं, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में भद्रबाहु नाम के दो आचार्यों के होने का ही उल्लेख उपलब्ध होता है। एक तो

११. वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियां श्रुतकेवली भद्रबाहु की कृतियां नहीं, इस पक्ष की पुष्टि करने वाला एक और प्रबल प्रमाण है स्वयं–इन निर्युक्तियों का वर्तमान आकार-प्रकार। आवश्यक निर्युक्ति में जिन-जिन सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचनाएं करने का उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है –

> आयारस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे।
> सूयगडे निज्जुत्तिं, वोच्छामि तहा दसाणं च ।।९४।।
> कप्पस्स य णिज्जुत्तिं, ववहारस्सेस परमनिउणस्स।
> सूरियपण्णत्तीए, वुच्छं इसिभासियाणं च ।।९५।।

इन दश सूत्रों में से आचारांग और सूत्रकृतांग ये दोनों आगम आचार्य भद्रबाहु के समय में सर्वसम्मत मान्यतानुसार अति वृहदाकार एवं परिपूर्ण रूप में विद्यमान थे और प्रत्येक सूत्र पर चार-चार अनुयोग प्रवृत्त थे। ऐसी स्थिति में यदि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी द्वारा इन पर निर्युक्तियों की रचना की गई होती तो वे उनके अनुरूप ही चार-चार अनुयोगों से युक्त अति विस्तीर्ण एवं अति विशाल आकार वाली होतीं। पर वस्तुस्थिति उससे नितान्त भिन्न दृष्टिगोचर होती है। आज के इनके अन्तरंग और बहिरंग स्वरूप को देखने से यही मानना उचित प्रतीत होता है कि माथुरी आदि विभिन्न वाचनाओं द्वारा अंतिमरूपेण सुसंस्कृत एवं संकलित आगम जिस रूप में आज हमारे समक्ष हैं, उन्हीं को आधार मानकर इनके अनुरूप निर्युक्तियों की रचनाएं उपर्युक्त वाचनाओं के पश्चात् की गई हैं।

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि आर्य रक्षित ने अपने विद्वान् शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की विस्मृति और भावी शिष्य-प्रशिष्यों की क्रमशः मन्द से मन्दतर बुद्धि को ध्यान में रखते हुए जिस समय अनुयोगों को पृथक् किया उसी समय चार अनुयोगमय निर्युक्तियों को अनुयोग से पृथक् कर व्यवस्थित कर लिया गया था। पर इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति पर सम्यग्रूपेण विचार करने पर स्वतः ही इस कथन की अवास्तविकता और अनौचित्यता प्रकट हो जायगी। इस कथन की अवास्तविकता को प्रकट करने वाला प्रथम तथ्य तो यह है कि जिस प्रकार आगमों की विविध वाचनाओं के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, उस प्रकार का एक भी उल्लेख निर्युक्तियों को व्यवस्थित करने के सम्बन्ध में नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त दूसरा सबल तथ्य यह है कि आचारांग और सूत्रकृतांग का जो पूर्ण स्वरूप चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के समय में था, ठीक उसी प्रकार का इनका स्वरूप आर्य रक्षित के समय में भी था। ऐसी स्थिति में आर्य रक्षित द्वारा अनुयोगों के पृथक्करण के समय ही इन दो सूत्रों की निर्युक्तियों की इनके अनुयोगमय स्वरूप से पृथक् कर व्यवस्था की जाती तो इन दोनों सूत्रों की वृहदा-कारता और विशालता के अनुरूप ही इन दोनों सूत्रों की निर्युक्तियों का आकार एवं विस्तार भी वृहद् तथा विशाल होना चाहिये था और इन सूत्रों के जो वृहद्

इन सब बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि वीर निर्वाण सं० १५६ से १७० तक आचार्यपद पर रहने वाले श्रुतकेवली भद्रबाहु और वीर नि० सं० १०३२ के आसपास होने वाले महान् प्रभावक नैमित्तिक भद्रबाहु की जीवनियों को कालान्तर में एक दूसरे के साथ जोड़ कर प्रथम भद्रबाहु को ही स्मृतिपटल पर अंकित रखा गया और द्वितीय भद्रबाहु को एक दम भुला दिया गया। दो आचार्यों के जीवन-परिचय के इस सम्मिश्रण के फलस्वरूप इस भ्रान्त धारणा ने जन्म लिया कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु ही निर्युक्तिकार, उपसर्गहरस्तोत्रकार और भद्रबाहुसंहिताकार थे। इस प्रकार के भ्रम का निराकरण हो जाने के पश्चात् स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु छेदसूत्रकार थे और नैमित्तिक भद्रबाहु द्वितीय, निर्युक्तियों, उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहुसंहिता के रचयिता थे।

निर्युक्तियों के रचनाकार वस्तुतः ज्योतिष विद्या के प्रेमी और नैमित्तिक थे इस तथ्य की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण निर्युक्तियों में उपलब्ध होते हैं। उनमें से कुछ प्रमाण यहां दिये जा रहे हैं :-

१. आवश्यक निर्युक्ति में गन्धर्व नागदत्त का कथानक दिया हुआ है। उसमें १२५२ से १२७० तक की गाथाओं के मननपूर्वक अध्ययन से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि आवश्यक निर्युक्तिकार अष्टांगनिमित्त और मंत्रविद्या के एक चोटी के विद्वान् थे। गन्धर्व नागदत्त के उक्त कथानक में निर्युक्तिकार का नैमित्तिक ज्ञान सहजरूप से स्वतः ही परिस्फुटित हो गया है और उन्होंने नाग के विष को उतारने के व्याज से काम, क्रोध, मद, मोह आदि नागों से डसे हुए प्राणियों के विष को उतारने की प्रक्रिया का उल्लेख किया है।[1] "उपसर्गहर स्तोत्र" में प्रयुक्त 'विसहर फुलिंगमंतं', इस पद का आवश्यक निर्युक्ति में वर्णित विषनिवारक प्रक्रिया से तालमेल भी यह मानने के लिये बाध्य करता है कि ये दोनों कृतियां एक ही महापुरुष की हैं।

आवश्यक निर्युक्ति की गाथा १२७० में सामान्यतया मन्त्रतन्त्रादि क्रियाओं में सर्वत्र प्रयुक्त किये जाने वाले रूढ़ शब्द "स्वाहा" का प्रयोग भी इस बात का

---

[1] गन्धव्व नागदत्तो, इच्छइ सप्पेहिं खिल्लिउं इहयं।
तं जइ कहं चि खज्जइ, इत्थ हु दोसो न कायव्वो ॥१२५२॥
एए ते पावाही, चत्तारि वि कोहमाणमयलोभा।
जेहि सया संसत्तं, जरियमिव जयं कलकलेइ ॥१२६२॥
एएहिं अह खइयो, चउहिं वि आसीविसेहिं पावेहिं।
विसनिग्घायण हेउं, चरामि विविहं तवोकम्मं ॥१२६४॥
सिद्धे नमंसिऊणं, संसारत्था य जे महाविज्जा।
वोच्छामि दण्डकिरियं, सव्वविसनिवारणिं विज्जं ॥१२६६॥
सव्वं पाणाइवायं, पच्चक्खाई मि अलियवयणं च।
सव्वमदत्तादाणं, अबंभ परिग्गहं स्वाहा ॥१२७०॥ [आवश्यक निर्युक्ति]

चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु और दूसरे नैमित्तिक भद्रबाहु । नैमित्तिक भद्रबाहु के सम्बन्ध में निम्नलिखित जनप्रिय गाथा प्रसिद्ध है :—

पावयणी १ धम्मकही २ वाई ३, णेमित्तिओ ४ तवस्सी ५ य ।
विज्जा ६ सिद्धो ७ य कई ८ अट्ठेव पभावगा भणिया ।।१।।
अज्जरक्ख १ नन्दिसेणो २ सिरिगुत्त विणेय ३ भद्दबाहु ४ य ।
खवग-५ ज्जखवुड ६ समिया ७ दिवायरो ८ वा इहाहरणा ।।२।।

आठ प्रभावकों में नैमित्तिक भद्रबाहु को चौथा प्रभावक माना गया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है—श्वेताम्बर परम्परा में काफी प्राचीन समय से यह मान्यता सर्वसम्मतरूपेण प्रसिद्ध है कि दशाश्रुतस्कन्ध कल्पसूत्र व्यवहार-सूत्र और निशीथ सूत्र—ये चार छेदसूत्र आवश्यक निर्युक्ति आदि १० निर्युक्तियां 'उवसग्गहरस्तोत्र' और 'भद्रबाहु संहिता' ये १६ ग्रन्थ भद्रबाहु स्वामी की कृतियां हैं। इन १६ कृतियों में से ४ छेदसूत्र श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा निर्मित हैं, यह प्रमाणपुरस्सर सिद्ध किया जा चुका है। ऐसी स्थिति में अनुमानतः शेष १२ कृतियां नैमित्तिक भद्रबाहु की हो सकती हैं क्योंकि इन दो भद्रबाहु के अतिरिक्त अन्य तीसरे भद्रबाहु के होने का श्वेताम्बर वाङ्मय में कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इस अनुमान को पुष्ट करने वाला प्रमाण भी उपलब्ध है। वह यह है कि चौदहवीं शताब्दी की नोंध-पुस्तिका में उपसर्गहरस्तोत्रकार एवं ज्योतिर्विद् भद्रबाहु की कथा उट्टंकित है। इसके साथ ही साथ जैसा कि भद्रबाहु के परिचय में पहले बताया जा चुका है—श्वेताम्बर परम्परा के अनेक प्राचीन ग्रन्थों में भद्रबाहु और वराहमिहिर को सहोदर मानकर उनका विस्तृत परिचय संयुक्त रूप से दिया गया है। ऐसी दशा में वराहमिहिर का समय निश्चित हो जाने पर भद्रबाहु का समय भी स्वतः ही निश्चित हो जाता है।

वराहमिहिर ने अपने "पंचसिद्धान्तिका" नामक ग्रन्थ के अन्त में निम्न-लिखित श्लोक से ग्रन्थ रचना का समय शक सं० ४२७ दिया है :—

सप्ताश्विवेदसंख्यं, शककालमपास्य चैत्र शुक्लादौ ।
अर्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्य-दिवसाद्ये ।।

इस श्लोक के आधार पर वराहमिहिर के साथ-साथ नैमित्तिक आचार्य भद्रबाहु का समय भी शक सं० ४२७, तदनुसार वि० सं० ५६२ और वीर निर्वाण संवत् १०३२ के आसपास का निश्चित हो जाता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि बारह वर्ष तक श्रमणपर्याय की पालना के पश्चात् वराहमिहिर अपने बड़े भाई भद्रबाहु से विद्वेष रखने लगा। दोनों भाइयों की इस प्रतिस्पर्धा ने

गोत्रीय भद्रबाहु को तथा वराहमिहिर के भ्राता भद्रबाहु को एक ही महापुरुष मानने की भ्रान्त धारणा प्रचलित हो गई हो।

वस्तुतः 'तित्थोगालिय पइन्ना', 'आवश्यकचूर्णि', आवश्यक हारिभद्रीया टीका और परिशिष्टपर्व आदि प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन का जो थोड़ा बहुत परिचय उपलब्ध होता है, उनमें द्वादश-वार्षिक दुष्काल, भद्रबाहु द्वारा छेदसूत्रों की रचना, उनके नेपालगमन, महाप्राण-ध्यान की साधना और आर्य स्थूलभद्र को पूर्वों की वाचना देना आदि घटनाओं का विवरण दिया गया है। इन ग्रन्थों में इनके वराहमिहिर का सहोदर होने, निर्युक्तियों, उपसर्गहरस्तोत्र तथा भद्रबाहु संहिता की रचना करने का कहीं किंचित्मात्र भी उल्लेख नहीं किया गया है।

एक महत्वपूर्ण तथ्य

उपरोक्त उल्लेखों से यह जो प्रमाणित किया गया है कि वर्तमान में उपलब्ध आवश्यकनिर्युक्ति आदि निर्युक्तियों के रचयिता नैमित्तिक भद्रबाहु हैं, इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि निर्युक्तियों के सर्वप्रथम कर्त्ता नैमित्तिक भद्रबाहु ही हैं। समवायांगसूत्र, स्थानांग सूत्र और नन्दीसूत्र में जहां द्वादशांगी का परिचय दिया गया है, वहाँ प्रायः प्रत्येक सूत्र के सम्बन्ध में "संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ" इस प्रकार का उल्लेख है। मूल आगमों में इस प्रकार के उल्लेख से यह प्रकट होता है कि निर्युक्तियों की परम्परा आगमकाल से ही प्रचलित रही है। "संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ" – आगम के इस पाठ पर ध्यानपूर्वक विचार करने से प्रतीत होता है कि प्रत्येक आचार्य, प्रत्येक उपाध्याय अपने शिष्यों को आगमों की वाचना देते समय अपने शिष्यों के हृत्पटल पर आगमों के अर्थ को सदा के लिये अंकित कर देने के अभिप्राय से अपने-अपने समय में अपने-अपने ढंग से निर्युक्तियों की रचना करते रहे हों। वस्तुतः आज की शिक्षा प्रणाली में व्याख्याता प्राध्यापकों द्वारा अपने छात्रों को "नोट्स" लिखाने की परम्परा प्रचलित है, उसी प्रकार आज की इस परम्परा से और अधिक परिष्कृत रूप में शिक्षार्थी श्रमणों के हित को दृष्टि में रखते हुए आचार्यों द्वारा निर्युक्तियों की रचनाएं परम्परा से की जाती रहीं हैं।

निशीथ चूर्णि, कल्पचूर्णि आदि में आर्य गोविन्द की निर्युक्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है। ये आर्य गोविन्द युगप्रधान पट्टावली के अनुसार २८ वें युग-प्रधान थे। इनका समय विक्रम की पांचवीं शताब्दी के अंतिम चरण से छठी शताब्दी के प्रथम चरण के बीच का बैठता है। अतः ये निर्युक्तिकार भद्रबाहु से पूर्व के हैं।

प्रत्येक सूत्र के साथ "संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ" यह पाठ देख कर यह भी संभव प्रतीत होता है कि समय-समय पर प्रायः सभी आचार्यों द्वारा निर्युक्तियों की रचनाएं की गई। उन निर्युक्तियों की अनेक उत्तम एवं लोकप्रिय गाथाएं भद्रबाहु

प्रमाण है कि निर्युक्तिकार अष्टांग निमित्त तथा मंत्र-विद्या के पारंगत विद्वान् थे। आध्यात्मिक साधना पर इस प्रकार की मंत्र-विद्या की छाप वस्तुतः निर्युक्तिकार के अतिशय निमित्त प्रेम का ही द्योतक है।

ज्योतिष विद्या के मान्य शास्त्र "सूर्य प्रज्ञप्ति" पर भी भद्रबाहु ने निर्युक्ति की रचना की। यह भी इस तथ्य को प्रकट करता है कि वे एक महान् नैमित्तिक थे और ज्योतिष शास्त्र के प्रति उनके अगाध प्रेम एवं अगाध ज्ञान ने ही उन्हें इस ज्योतिष शास्त्र के भण्डार "सूर्यप्रज्ञप्ति" शास्त्र पर निर्युक्ति की रचना करने को प्रेरित किया।

वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियों के कर्त्ता आचार्य भद्रबाहु एक महान् नैमित्तिक थे, इस बात का एक और प्रबल प्रमाण यह है कि आचारांग जैसे चरणकरणानुयोग के तात्विक शास्त्र पर निर्युक्ति की रचना करते समय भी निमित्त शास्त्र के प्रति उनका अगाध प्रेम-पयोधि उद्वेलित हो उठा है और वे तात्विक निर्देश के समय भी निम्नलिखित गाथा में निमित्त का वर्णन कर देते हैं :-

जत्थ य जो पण्णवओ, कस्स वि साहइ दिसासु य णिमित्तं।
जत्तो मुहो य ठाई, सा पुव्वा पच्छओ अवरा ॥५१॥

अर्थात् जो व्याख्याता जिस जगह पर जिस ओर मुँह किये हुए किसी को निमित्त का निरूपण करता है, उस स्थिति में जिस ओर उसका मुँह है वह पूर्व दिशा और जिस ओर उसकी पीठ है वह पश्चिम दिशा समझनी चाहिये।

दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति की मंगलगाथा "वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसगलसुयनाणिं" में प्रयुक्त 'पाईणं' प्राचीनं-शब्द हमें यह सोचने के लिये अवसर प्रदान करता है कि भद्रबाहु नामक निमित्तशास्त्र के विद्वान् महापुरुष ने निर्युक्ति की रचना करते समय दशाश्रुतस्कन्धकार चतुर्दश पूर्वधर आ० भद्रबाहु को अपने से प्राचीन मानकर वन्दन किया है। हो सकता है कि प्राचीनता के बोधक इस "पाईणं" शब्द का आगे चल कर प्राचीन गोत्रीय-ऐसा अर्थ कर लिया गया हो। इस प्रकार का विचार करने के लिये इस कारण अवसर मिलता है कि प्राचीन ग्रन्थ तित्थोगालिय पइन्ना में श्रुतकेवली भद्रबाहु के नाम के साथ "पाईणं" विशेषण किसी भी स्थान पर नहीं लगाया गया है।

इस अनुमान से भी वीर नि० संवत् १०३२ के आसपास होने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु ही निर्युक्तियों के रचनाकार हैं, इस प्रकार के विश्वास को बल मिलता है।

नगर के बहिर्मार्ग में ध्यानस्थ मुनि रात्रि के चतुर्थ प्रहर में शरीर त्याग कर देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए।

साधना-पथ के पथिक श्रमणों के हृदय में उस समय श्रमणाचार के प्रति कितनी प्रगाढ़ निष्ठा और शरीर के प्रति कितनी निर्ममत्व भावना थी, इसका अनुमान भद्रबाहु के इन चार शिष्यों की अंतिम चर्या से सहज ही लगाया जा सकता है।

भद्रबाहु विषयक श्वेताम्बर मान्यताओं का निष्कर्ष

तित्थोगालियपइन्ना, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति और आ० हेमचन्द्र का परिशिष्ट पर्व – इन श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के सम्बन्ध में केवल इतना ही परिचय उपलब्ध होता है कि वे अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर थे, उनके समय में द्वादश वार्षिक दुष्काल पड़ा, वे लगभग १२ वर्ष तक नेपाल प्रदेश में रहे, वहाँ उन्होंने बारह वर्ष तक योगारूढ़ रहकर महाप्राण ध्यान की साधना की, उनके समय में पर उनकी अनुपस्थिति में आगमों की वाचना वीर नि० सं० १६० के आसपास पाटलिपुत्र नगर में हुई, उन्होंने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम १० पूर्वों का सार्थ और शेष पूर्वों का केवल मूल वाचन दिया, उन्होंने ४ छेदसूत्रों की रचना की और जिन-शासन का महान् उद्योत कर वे वी० नि० सं० १७० में स्वर्ग पधारे।

उपरोक्त चार ग्रन्थों के पश्चाद्वर्ती काल में बने श्वेताम्बर परम्परा के कतिपय ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवनचरित्र के साथ वीर नि० सं० १०३२ के आसपास हुए नैमित्तिक भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं को जोड़कर जो उन्हें वराहमिहिर का सहोदर बताया गया है, उस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण कर दिया गया है। उसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं।

ऐसी स्थिति में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन का जो परिचय तित्थोगाली पइन्ना आदि उपरोक्त चार ग्रन्थों में दिया गया है वही वास्तव में प्रामाणिक है। अन्य ग्रन्थों में उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त जिन घटनाओं को श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन के साथ जोड़ा गया है उन्हें वी० नि० सं० १०३२ के आसपास हुए नैमित्तिक भद्रबाहु के जीवन से सम्बन्धित समझना चाहिए।

श्रुतकेवलिकाल की राजनैतिक एवं अन्य प्रमुख ऐतिहासिक घटनाएं

प्रमुख राजवंश :– यह पहले बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ६० में शिशुनागवंशी राजा उदायी के पश्चात् नन्दिवर्धन पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। नन्दिवर्धन से लेकर अन्तिम नंद धननंद तक पाटलिपुत्र के राजाओं को जैन एवं जैनेतर साहित्य में नव नन्दों के नाम से अभिहित किया गया है।

(प्रथम) के काल से प्रचलित रही हों और उनमें से कतिपय गाथाओं का संकलन कर उन्हें निर्युक्तिकार नैमित्तिक भद्रबाहु ने अपनी निर्युक्तियों में स्थान दिया हो।

तत्कालीन उत्कट चारित्रनिष्ठा

अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के समय के आत्मार्थी श्रमणवर्ग के मानस में किस प्रकार की उत्कृष्ट कोटि की चारित्रनिष्ठा थी, इसकी कल्पना भद्रबाहु के चार शिष्यों के निम्नलिखित उदाहरण से की जा सकती है :–

आचार्य भद्रबाहु विविध क्षेत्रों में अनेक भव्य – प्राणियों का उद्धार करते हुए एक समय राजगृह नगर पधारे। अनन्तकाल से मोह की प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए प्राणियों को जगाकर उनके अन्तर में आत्मोद्धार की उत्कट अभिलाषा जागृत कर देने वाले भद्रबाहु के उपदेश को सुनकर अनेक व्यक्ति अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर हुए। बाल्यकाल से ही साथ-साथ रहने वाले चार सम्पन्न श्रेष्ठी भद्रबाहु के उपदेश से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन चारों ने अपनी अपार धनसम्पत्ति का तत्काल परित्याग कर भद्रबाहु के पास श्रमण – दीक्षा ग्रहण कर ली। उन चारों ने कठोर तपश्चरण के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन किया। वे चारों ही श्रमण बड़े शान्त, दान्त, निरीह, वैराग्य रंग में पूर्णरूपेण रंजित, मित, मधुर एवं सत्यभाषी, विनीत और सेवाभावी थे।

आचार्य भद्रबाहु से आज्ञा प्राप्त कर वे चारों श्रमण एकलविहारी प्रतिमाधारी बन गये। अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुए कालान्तर में वे चारों एकलविहारी श्रमण पुनः राजगृह नगर के वैभार पर्वत पर आये। उस समय शीतकाल की अति शीत लहरों के कारण राजगृह में अंग – प्रत्यंग को ठिठुरा देने वाली ठंड पड़ रही थी। दिन के तीसरे प्रहर में वे चारों एकलविहारी श्रमण राजगृह नगर में भिक्षार्थ आये। भिक्षा ग्रहण कर उनके लौटते-लौटते चतुर्थ प्रहर आ उपस्थित हुआ। एक साधु पर्वत की गुफा के द्वार पर, दूसरा उद्यान में, तीसरा उद्यान के बाहर और चौथा नगर के बहिर्मार्ग में ही पहुंच पाया था कि चतुर्थ प्रहर का समय हो गया। "साधु तृतीय प्रहर में ही भिक्षाटन एवं गमनागमनादि करे" – इस श्रमण – नियम के सच्चे परिपालक वे चारों साधु जहां थे वहीं ध्यानमग्न हो गये। रात्रि की निस्तब्धता के साथ-साथ प्राणहारी शीत की भीषणता भी बढ़ती गई। भीषण शीत लहर के कारण उन चारों मुनियों के अंग-प्रत्यंग पूर्णरूपेण ठिठुर गये। उनकी धमनियों में खून ठंड के मारे बरफ की तरह जमने लगा। किन्तु इस प्रकार की असह्य मारणान्तिक वेदना से भी वे चारों मुनि किंचित्मात्र भी विचलित नहीं हुए। वे अत्यंत उज्वल परिणामों के साथ शुभध्यान में मग्न रहे।

नगर के बहिर्मार्ग में ध्यानस्थ मुनि रात्रि के चतुर्थ प्रहर में शरीर त्याग कर देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए।

साधना-पथ के पथिक श्रमणों के हृदय में उस समय श्रमणाचार के प्रति कितनी प्रगाढ़ निष्ठा और शरीर के प्रति कितनी निर्ममत्व भावना थी, इसका अनुमान भद्रबाहु के इन चार शिष्यों की अंतिम चर्या से सहज ही लगाया जा सकता है।

भद्रबाहु विषयक श्वेताम्बर मान्यताओं का निष्कर्ष

तित्थोगालियपइन्ना, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति और आ० हेमचन्द्र का परिशिष्ट पर्व – इन श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के सम्बन्ध में केवल इतना ही परिचय उपलब्ध होता है कि वे अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर थे, उनके समय में द्वादश वार्षिक दुष्काल पड़ा, वे लगभग १२ वर्ष तक नेपाल प्रदेश में रहे, वहाँ उन्होंने बारह वर्ष तक योगारूढ़ रहकर महाप्राण ध्यान की साधना की, उनके समय में पर उनकी अनुपस्थिति में आगमों की वाचना वीर नि० सं० १६० के आसपास पाटलिपुत्र नगर में हुई, उन्होंने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम १० पूर्वों का सार्थ और शेष पूर्वों का केवल मूल वाचन दिया, उन्होंने ४ छेदसूत्रों की रचना की और जिन-शासन का महान् उद्योत कर वे वी० नि० सं० १७० में स्वर्ग पधारे।

उपरोक्त चार ग्रन्थों के पश्चाद्वर्ती काल में बने श्वेताम्बर परम्परा के कतिपय ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवनचरित्र के साथ वीर नि० सं० १०३२ के आसपास हुए नैमित्तिक भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं को जोड़कर जो उन्हें वराहमिहिर का सहोदर बताया गया है, उस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण कर दिया गया है। उसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं।

ऐसी स्थिति में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन का जो परिचय तित्थोगाली पइन्ना आदि उपरोक्त चार ग्रन्थों में दिया गया है वही वास्तव में प्रामाणिक है। अन्य ग्रन्थों में उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त जिन घटनाओं को श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन के साथ जोड़ा गया है उन्हें वी० नि० सं० १०३२ के आसपास हुए नैमित्तिक भद्रबाहु के जीवन से सम्बन्धित समझना चाहिए।

श्रुतकेवलिकाल की राजनैतिक एवं अन्य प्रमुख ऐतिहासिक घटनाएं

प्रमुख राजवंश :– यह पहले बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ६० में शिशुनागवंशी राजा उदायी के पश्चात् नन्दिवर्धन पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। नन्दिवर्धन से लेकर अन्तिम नंद धननंद तक पाटलिपुत्र के राजाओं को जैन एवं जैनेतर साहित्य में नव नन्दों के नाम से अभिहित किया गया है।

श्रुतकेवलिकाल प्रारम्भ हुआ उस समय प्रथम नन्द को पाटलिपुत्र के शासन की बागडोर सम्भाले ४ वर्ष बीत चुके थे। उन ९ नन्दों में से किस-किस का कितने-कितने वर्षों तक शासन रहा, इस सम्बन्ध में "दुष्षमा श्रमणसंघ स्तोत्र" की अवचूरि में[1] निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है :—

शासक	शासनकाल	शासनकाल में आचार्य एवं आ० काल
१. नन्द प्रथम	११ वर्ष	आर्य जम्बू ४ वर्ष, प्रभव ७ वर्ष
२. नन्द द्वितीय	१० वर्ष	प्रभव ४ वर्ष, सय्यंभव ६ वर्ष
३. नन्द तृतीय	१३ वर्ष	सय्यंभव १३ वर्ष
४. नन्द चतुर्थ	२५ वर्ष	सय्यंभव ४ वर्ष, यशोभद्र २१ वर्ष
५. नन्द पंचम	२५ वर्ष	यशोभद्र २५ वर्ष
६. नन्द षष्ठ	६ वर्ष	यशोभद्र ४ वर्ष संभूतविजय २ वर्ष
७. नन्द सप्तम	६ वर्ष	संभूतविजय ६ वर्ष
८. नन्द अष्टम	४ वर्ष	भद्रबाहु ४ वर्ष
९. नवम नन्द धननंद	५५ वर्ष	भद्रबाहु १० वर्ष स्थूलभद्र ४५ वर्ष

दुष्षमा श्रमणसंघ स्तोत्र में उल्लिखित उपरिवर्णित विवरण से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि श्रुतकेवलिकाल के प्रारम्भ होने से ४ वर्ष पूर्व प्रथम नन्द नन्दिवर्धन पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ और श्रुतकेवलिकाल की समाप्ति के समय वीर निर्वाण संवत् १७० में अन्तिम एवं नवम नंद धननन्द के शासनकाल के १० वर्ष व्यतीत हो चुके थे तथा श्रुतकेवलिकाल की समाप्ति के ४५ वर्ष पश्चात् १५५ वर्ष के नन्दों के शासनकाल की समाप्ति के साथ पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त आसीन हुआ।

उपरोक्त ९ नन्दों में से केवल प्रथम, अष्टम और नवम नंद के अतिरिक्त अन्य ६ राजाओं के नाम उपलब्ध नहीं होते। इन ९ नन्द राजाओं के कुल मिला कर १५५ वर्ष के राज्यकाल में किस-किस नन्द का कितने-कितने वर्ष तक राज्य रहा, इस सम्बन्ध में भी दुष्षमाश्रमणसंघस्तोत्र-अवचूरि को छोड़ कर अन्यत्र प्राचीन ग्रन्थों में कोई विश्वसनीय और सुव्यवस्थित उल्लेख नहीं मिलता। दुष्षमाश्रमणसंघ स्तोत्र में नव नन्दों का राज्यकाल दिया गया है, उसे तब तक अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता जब तक कि इससे भिन्न कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं हो जाता।

प्राचीन ऐतिहासिक घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि वीर नि० सं० ६४ से १७० तक के १०६ वर्ष के श्रुतकेवलिकाल में इस प्रकार

से प्रायः नन्द राजाओं का ही प्रभुत्व रहा। प्रथम नन्द नन्दिवर्धन ने अनेक राज्यों को विजित कर मगधराज्य की सीमाओं और शक्ति में अभिवृद्धि की। नन्दिवर्धन के राज्यकाल से ही अवन्ती, कौशाम्वी और कलिंग के राजा मगध राज्य के आज्ञावर्ती शासक बन चुके थे।

उपकेशगच्छ

उपकेशगच्छ पट्टावली आदि के अनुसार वी० नि० सं० ७० में आचार्य रत्नप्रभसूरि द्वारा उपकेश नगर (ओसियां) में चातुर्मास किये जाने और वहां के क्षत्रियों को ओसवाल बनाने का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि पार्श्व-परम्परा के आचार्य स्वयंप्रभसूरि के पास विद्याधर राजा 'मणिरत्न' भिन्नमाल में वन्दन करने आया और उनका उपदेश सुन कर अपने पुत्र को राज्य सम्हला आचार्यश्री के पास दीक्षित हो गया। उस समय विद्याधरराज मणिरत्न के साथ अन्य ५०० विद्याधर भी दीक्षित हो गये। दीक्षा के पश्चात् आचार्य स्वयंप्रभ ने उनका नाम 'रत्नप्रभ' रखा।

वीर नि० सं० ५२ में मुनि रत्नप्रभ को आचार्य पद प्रदान किया गया। आचार्य रत्नप्रभ अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए एक समय उपकेशनगर में पधारे।

उपकेश नगर के सम्बन्ध में उपकेशगच्छ पट्टावली में उल्लेख है कि भिन्नमाल के राजा भीमसेन के पुत्र पुंज का राजकुमार उत्पलकुमार किसी कारण-वश अपने पिता से रुष्ट हो कर क्षत्रिय मंत्री के पुत्र ऊहड़ के साथ 'भिन्नमाल' से निकल पड़ा। राजकुमार और मन्त्रिपुत्र ने एक नवीन नगर बसाने का विचार किया और अन्ततोगत्वा १२ योजन लम्बे-चौड़े क्षेत्र में उपकेशनगर बसाया। नये बसाये गये उपकेश नगर में भिन्नमाल के १८०० व्यापारी, ९०० ब्राह्मण तथा अनेक अन्य लोग भी आकर बस गये।

आचार्य रत्नप्रभसूरि जिस समय अपने शिष्यसमूह के साथ उपकेशनगर में पधारे उस समय सारे नगर में एक भी जैन धर्मावलम्बी गृहस्थ के न होने के कारण उन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। भिक्षा न मिलने के कारण उन्हें और उनके शिष्यों को उपवास पर उपवास करने पड़े फिर भी उन्होंने ३५ साधुओं के साथ उपकेश नगर में चातुर्मास करने का निश्चय किया और अपने शेष सब शिष्यों को कोरंटा आदि अन्य नगरों और ग्रामों में चातुर्मास करने के लिये उपकेशनगर से विहार करवा दिया।

उपकेशनगर में चातुर्मास करने के पश्चात् रत्नप्रभसूरि आहार-पानी की अनुपलब्धि आदि अनेक घोर परीषहों को समभाव से सहते हुए आत्मसाधना में तल्लीन रहने लगे। इस प्रकार चातुर्मास का कुछ समय निकलने के पश्चात् एक दिन उपकेश नगर के राजा उत्पल के दामाद त्रैलोक्यसिंह को, जो मंत्री ऊहड़ का पुत्र था एक भयंकर विषधर ने डस लिया। उपचार के रूप में किये गये सभी

दशपूर्वधर-काल

अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगमन के साथ ही वीर नि० सं० १७० में श्रुतकेवलिकाल की समाप्ति और दशपूर्वधरों के काल का प्रारम्भ होता है। श्वेताम्बर परम्परा वीर नि० सं० १७० से ५८४ तक कुल मिला कर ४१४ वर्ष का और दिगम्बर परम्परा वी० नि० सं० १६२ से ३४५ तक कुल १८३ वर्ष का दशपूर्वधरकाल मानती है।

८. आर्य स्थूलभद्र

अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् भगवान् महावीर के आठवें पट्टधर आचार्य आर्य स्थूलभद्र हुए। कामविजयी आर्य स्थूलभद्र की गणना उन विरले नरपुंगवों में सर्वप्रथम की जा सकती है जिनका उल्लेख भर्तृहरि ने निम्नलिखित पंक्तियों के माध्यम से किया है :–

> मत्तेभकुंभदलने भुवि सन्ति शूराः,
> केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
> किन्तु ब्रवीमि वलिनां पुरतः प्रसह्य,
> कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

आर्य स्थूलभद्र द्वारा काम पर प्राप्त की गई अद्भुत विजय से उत्प्रेरित हो अनेक कवियों ने इनके जीवनचरित्र पर अनेक भाषाओं में अनेक काव्य लिखे हैं। शृंगार और वैराग्य दोनों ही की पराकाष्ठा का अपूर्व एवं अद्भुत समन्वय आर्य स्थूलभद्र के जीवन में पाया जाता है। कज्जल से भरी कोटरी में रह कर भी कोई व्यक्ति अपने शरीर पर किंचित् मात्र भी कालिख न लगने दे, यह असंभव है। परन्तु आर्य स्थूलभद्र ने निरन्तर चार मास तक अपने समय की सर्वाधिक सुन्दरी कामिनी कोशा वेश्या के गृह में रहते हुए भी पूर्ण निष्काम रह कर इस असंभव को संभव कर बताया।

जन्म, माता-पिता

आचार्य स्थूलभद्र का जन्म वीर निर्वाण सं० ११६ में एक ऐसे संस्कार-सम्पन्न ब्राह्मण परिवार में हुआ जो जैन धर्म पर दृढ़ आस्था रखने वाला और राजमान्य था। मगधसम्राट् उदायी की मृत्यु के पश्चात् इस परिवार का पूर्व पुरुष कल्पक प्रथम नन्द द्वारा मगध साम्राज्य का महामात्य नियुक्त किया गया। तब ही से अर्थात् प्रथम नन्द के समय से नवम नन्द के समय तक निरन्तर इसी ब्राह्मण परिवार का मुखिया मगध के महामात्य पद को सुशोभित करता रहा। नवम नन्द के महामात्य का नाम शकटार अथवा शकडाल था।

आर्य स्थूलभद्र इन्हीं गौतम गोत्रीय ब्राह्मण शकडाल के पुत्र थे। स्थूलभद्र की माता का नाम लक्ष्मीदेवी था।

मन्त्रीश्वर शकडाल अपने समय के सर्वोच्च कोटि के राजनीतिज्ञ, शिक्षा विशारद और कुशल प्रशासक थे। शकटार के महामात्य काल में मगधराज्य की उल्लेखनीय सीमावृद्धि के साथ-साथ राजस्व खाते में अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई। अनेक प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि नवम नन्द के कोश में इतनी वृद्धि हुई कि स्वर्ण की ६ पहाड़ियां बना कर उसे अपने धन की रक्षा करने की स्थिति उत्पन्न हो गई।

शकटार के महामन्त्रित्वकाल में शिक्षा के क्षेत्र में अभ्युन्नति हेतु अपार धनराशि व्यय की जाती रही। उन दिनों नालन्दा विश्वविद्यालय चरम उत्कर्ष पर पहुंच चुका था और उसकी ख्याति समुद्र के पारवर्ती देशों तक फैल गई थी।

इस प्रकार के विख्यात महामात्य के घर में स्थूलभद्र का जन्म हुआ। स्थूलभद्र के छोटे सहोदर का नाम श्रीयक था। यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सैणा, मैणा तथा रैणा नाम की स्थूलभद्र और श्रीयक की सात बहिनें थीं। मन्त्रीश्वर शकटार ने अपने दोनों पुत्रों और सातों पुत्रियों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया और उन सबको सभी प्रकार की विद्याओं की उच्च कोटि की शिक्षा दिलवाई।

कोशा के यहां

सकल विद्याओं में निष्णात होने के उपरान्त भी युवक स्थूलभद्र भोगमार्ग से नितान्त अनभिज्ञ रहे अतः संसार से विरक्त स्थूलभद्र को व्यावहारिक शिक्षा दिलाने एवं गृहस्थ जीवन की ओर आकृष्ट करने की दृष्टि से मन्त्रीश्वर शकटार ने उन्हें कोशा नाम की एक बड़ी चतुर वेश्या के यहां रखा, जो अपनी वाक्पटुता, अवसरज्ञता एवं अवसरानुकूल नैसर्गिक अभिनयकला के लिये विख्यात थी। कुछ ही दिनों के संसर्ग से शिक्षिका कोशा और शिक्षार्थी स्थूलभद्र एक दूसरे के गुणों पर इतने अधिक मुग्ध हो गये कि क्षण भर के लिये भी एक दूसरे की दृष्टि से दूर रहना उन दोनों के लिये प्राणापहरण के समान असह्य हो गया। यह पारस्परिक आकर्षण अन्ततोगत्वा उस चरम सीमा तक पहुंच गया कि बारह वर्ष पर्यन्त उन दोनों ने एक दूसरे में अत्यन्त अनुरक्त रहते हुए अपनी दासियों के अतिरिक्त किसी अन्य का मुख तक नहीं देखा।

संभवतः अपने इस कटु अनुभव से शिक्षा लेकर मन्त्रीश्वर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र की तरह कनिष्ठ पुत्र को शिक्षण प्राप्त कर लेने पर किसी वेश्या के यहां व्यावहारिक शिक्षा दिलाना आवश्यक नहीं समझा। अतः श्रीयक अपने पिता के साथ नवम नन्द के राज-दरबार में जाने और राज्यकार्य में अपने पिता की सहायता करने लगा।

वररुचि की प्रतिस्पर्धा

यथार्थतः राज्यतन्त्र का व्यवस्थित रूप से संचालन बड़ा कठिन कार्य है क्योंकि राज्यतन्त्र अथवा राजनीति स्वयं एक अस्थाई तत्व है। शकटार के जीवन का अन्तिम समय वस्तुतः राजनैतिक दृष्टि से बड़ा ही विषम और विकट था। चरमोत्कर्ष के पश्चात् नन्द का राज्य संभवतः प्रकृति के नियम के अनुसार अपने पतन की प्रतीक्षा में पतन के गहन गर्त की कगार की ओर अग्रसर होना चाहता था।

शकटार के बुद्धिकौशल द्वारा संचालित नन्द का राज्यतन्त्र स्वचालित यन्त्र की तरह सुनियोजित ढंग से स्वतः ही चलता हुआ प्रतीत हो रहा था। राज्य के छोटे से छोटे कार्य से लेकर बड़े से बड़े कार्य में सर्वत्र शकटार का वर्चस्व था। प्रचण्ड मार्तण्ड के प्रबल प्रताप से उलूक के मन में ईर्ष्या का उत्पन्न होना नैसर्गिक है। शकटार के प्रबल प्रताप को देखकर वररुचि नामक विद्वान् के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और शनैः शनैः विद्वान् वररुचि मन्त्रीश्वर शकटार का प्रबल प्रतिस्पर्धी बन गया। अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के माध्यम से राजा और प्रजा के मन में अपने लिये स्थान बनाने की दृष्टि से वररुचि राजा की प्रशंसा में प्रतिदिन नवीनतम काव्य-रचना सुनाकर राजा से प्रतिष्ठा के साथ-साथ अर्थप्राप्ति का प्रयत्न करने लगा। महाराजा नन्द अपने महामात्य शकटार की मर्मज्ञता से पूर्णरूपेण प्रभावित था। शकटार के मुख से वररुचि की काव्यरचना की श्लाघा में एक भी शब्द न सुनकर नन्द ने न तो वररुचि के अभिनव एवं सुन्दर काव्यों की कभी सराहना ही की और न कभी प्रसन्न हो उसे उसकी काव्यरचना के उपलक्ष में अर्थ ही प्रदान किया। अथक प्रयास से तैयार की गई सुन्दर से सुन्दरतम काव्य-रचना पर भी जब वररुचि को राजा की ओर से किसी प्रकार का पारितोषिक प्राप्त नहीं हुआ तो वररुचि वस्तुस्थिति को समझ गया। बहुत सोच विचार के पश्चात् वररुचि ने साहित्य की मर्मज्ञा शकटार-पत्नी लक्ष्मीदेवी को अपनी काव्य-रचनाओं से प्रसन्न करने का प्रयास प्रारम्भ किया। वह प्रतिदिन विदुषी लक्ष्मी-देवी की सेवा में उपस्थित हो अपनी नवीनतम रचनाएं सुनाने लगा। अपने पदलालित्य से लक्ष्मीदेवी को प्रसन्न कर वररुचि ने उससे प्रार्थना की कि मन्त्रीश्वर शकटार को कह कर वह नन्द की राज्यसभा में उसकी काव्यकृतियों की प्रशंसा करवाये। वररुचि द्वारा की गई चाटुकारिता से प्रसन्न हो लक्ष्मीदेवी ने अपने पति से प्रार्थना की कि अर्थार्थी ब्राह्मण वररुचि को लाभ पहुँचाने के लिये वे उसके काव्यों की राज्यसभा में प्रशंसा करें। अपनी विदुषी गृहिणी के आग्रह से दूसरे दिन शकटार ने वररुचि के काव्य की राज्यसभा में प्रशंसा की। फलतः नन्द ने प्रसन्न हो वररुचि को उसके काव्यपाठ के उपलक्ष में १०८ स्वर्णमुद्राएं प्रदान कीं।

वररुचि नित्यप्रति अपनी नवीन काव्य रचनाएं नन्द के दरबार में सुनाता और उसे तत्काल १०८ स्वर्णमुद्राएं मगधाधिप महाराज नन्द के कोश से मिल जातीं। यह क्रम निरन्तर अनेक दिनों तक चलता रहा।

राज्यकोश से प्रतिदिन इतनी बड़ी धनराशि के व्यय को रोकना आवश्यक समझ महामन्त्री शकटार ने एक दिन नन्द से कहा – "राजन् ! प्रतिदिन १०८ स्वर्णमुद्राएं वररुचि को किस अभिप्राय से दी जा रही हैं ?"

अपने महामात्य के प्रति गहरी आस्था प्रकट करते हुए जिज्ञासा भरे स्वर में नन्द ने कहा – "महामन्त्रिन् ! हम तो अपने महामात्य के इंगित के अनुसार ही वररुचि को प्रतिदिन १०८ स्वर्णमुद्राएं प्रदान कर रहे हैं। हम यदि स्वेच्छा से ही देते तो अपने प्रधानमन्त्री के मुख से काव्य की प्रशंसा सुनने से पहले ही दे देते।"

शकटार ने गम्भीर स्वर में कहा – "एकराट् मगधेश्वर का महामात्य किसी अन्य कवि द्वारा कृत-काव्य का पाठ वररुचि के मुख से सुनकर कैसे प्रशंसा कर सकता है ? वस्तुतः मैंने उस दिन किसी अज्ञात कवि द्वारा निर्मित पदों के लालित्य की प्रशंसा की थी न कि वररुचि की। वह तो दूसरे कवियों की रचनाओं को हमारे समक्ष पढ़ता है। उसके द्वारा सुनाई गई काव्य रचना को यक्षा, यक्षदिन्ना आदि आपकी सातों बच्चियां सुना सकती हैं, कल प्रातःकाल ही इसको प्रत्यक्ष देख लिया जाय।"

महाराज नन्द को इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल राज्यसभा में यवनिका के पीछे महामात्य शकटार की यक्षा आदि सातों पुत्रियों को बैठा दिया गया। वररुचि ने महाराज नन्द की प्रशंसा में अपने नवीनतम १०८ श्लोक राज्य-सभा में सुनाये।

मंत्री-पुत्रियों की स्मरण शक्ति

वररुचि और समस्त राज्यसभा को आश्चर्य में डालते हुए महामात्य की बड़ी पुत्री यक्षा ने वररुचि द्वारा पढ़े गये १०८ श्लोकों को यथावत् सुना दिया। तदनन्तर यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, एणा, वेणा और रेणा ने भी एक-एक के पश्चात् अनुक्रम से खड़े होकर उन श्लोकों को राज्यसभा के समक्ष सुना दिया। वस्तुतः वे कन्याएं क्रमशः एक पाठी (एक बार सुनने मात्र से बड़े से बड़े गद्य अथवा पद्य को कण्ठस्थ कर लेने वाली), द्विपाठी, त्रिपाठी, चतुष्पाठी, पंचपाठी, षड्पाठी एवं सप्तपाठी थीं। समस्त राज्य परिषद स्तब्ध रह गई। सब के वक्र नेत्रों से वररुचि की ओर घृणा की वर्षा होने लगी। उसके पाण्डित्य की प्रतिष्ठा क्षण भर में ही धूलि में मिल गई। काव्यों की चोरी के कलंक का टीका अपने मस्तक पर लगा देख वररुचि हतप्रभ एवं लज्जित हो राज्यसभा से उठकर चला गया।

महामात्य की एक ही चाल से अपनी बड़े परिश्रम से अर्जित प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिली देख कर वररुचि के हृदय में शकटार के प्रति प्रतिशोध की ज्वाला भड़क उठी। उसने येन-केन प्रकारेण अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर

शकटार से बदला लेने का निश्चय किया। बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसने एक उपाय खोज निकाला।

रहस्यपूर्ण चमत्कार

कार्यसिद्धि हेतु समुचित प्रबन्ध करने के पश्चात् वररुचि ने अपने शिष्यों के माध्यम से पाटलिपुत्र के निवासियों में इस प्रकार का प्रचार करवाया कि अमुक तिथि को प्रातः सूर्योदय के समय वररुचि स्वनिर्मित काव्यपाठ से गंगा को प्रसन्न करेगा और गंगा स्वयं अपने हाथ से उसे १०८ स्वर्णमुद्राएं प्रदान करेगी। निश्चित तिथि को सूर्योदय से पूर्व ही अपार जनसमूह गंगा के तट पर उपस्थित हो गया। वररुचि गंगा में स्नान करने के पश्चात् उच्चस्वर में गंगा की स्तुति करने लगा। स्तुतिपाठ की समाप्ति के साथ ही प्राची में अरुण अंशुमालि उदित हुए। सहस्रों नरनारियों ने देखा कि सहसा गंगा के प्रवाह में से एक नारी का हाथ उठा और गंगा के जानुदघ्न जल में खड़े वररुचि के हाथ में एक थैली रख कर पुनः गंगा के वारिप्रवाह में विलीन हो गया। थैली खोल कर सबके समक्ष स्वर्णमुद्राएं गिनी गईं तो वे पूरी १०८ निकलीं। सहस्रों कंठों से उद्घोषित गंगामैया और वररुचि के जयघोषों से गगन गूंज उठा। विद्युत्वेग से यह संवाद सर्वत्र फैल गया कि राजा ने वररुचि को स्वर्णमुद्राएं देना बन्द कर दिया तो क्या हुआ, उसे तो स्वयं गंगामाता प्रसन्न हो कर स्वर्णमुद्राएं देती है।

इस अद्भुत दृश्य को देखने के लिये प्रतिदिन प्रातःकाल गंगानदी के तट पर लोगों का जमघट लगा रहता। प्रतिदिन सबके समक्ष एक हाथ गंगधारा से बाहर निकलता और वररुचि के हाथ में १०८ स्वर्णमुद्राओं से भरी थैली रख कर पुनः जलप्रवाह में तिरोहित हो जाता। कुछ ही दिनों में वररुचि का यश दूर-दूर तक व्याप्त हो गया।

एक दिन राजा नन्द ने शकटार से कहा – "महामात्य! हम कई दिनों से यह सुन रहे हैं कि गंगा स्वयं अपने हाथ से वररुचि को प्रतिदिन १०८ स्वर्णमुद्राएं प्रदान करती है।"

शकटार ने कहा – "नरनाथ! सुन तो मैं भी यही रहा हूं, अच्छा हो कल गंगातट पर चल कर प्रत्यक्ष यह चमत्कार देख लिया जाय।"

दूसरे दिन प्रातःकाल महाराज नन्द और महामन्त्री शकटार के गंगातट पर जाने की बात पाटलीपुत्र के प्रत्येक नागरिक के पास पहुंच गई।

महामात्य शकटार ने अपने गुप्तचर विभाग के एक अत्यन्त चतुर चरकार्य-प्रवीण अधिकारी को वास्तविकता का पता लगाने का आदेश दिया। सूर्यास्त से पहले ही गुप्तचर विभाग का वह अधिकारी गंगातट के घने एवं ऊंचे सरकंडों की ओट में छुप कर बैठ गया। चारों ओर अन्धकार का साम्राज्य हो चुकने के पश्चात् उसने देखा कि एक व्यक्ति दबे पांवों गंगातट की ओर बढ़ रहा है। अधिकारी ने सावधान हो बड़े ध्यान से उस व्यक्ति की ओर देखा। शरीर की ऊंचाई एवं आकार-प्रकार से उसने तत्काल पहचान लिया कि वह वररुचि है।

है। वह श्वासोच्छ्वास को रोके अपलक दृष्टि से वररुचि की ओर देखने लगा। उसने देखा कि वररुचि गंगा के जल में घुस रहा है। वह गुप्तचर अपने स्थान से बड़ी सावधानी के साथ उठा और ध्यानपूर्वक वररुचि की ओर देखने लगा। उसे ऐसा लगा मानो वररुचि ने एक जगह पर पानी में अपने पैर से किसी वस्तु को टटोला है और फिर उसे अपने पैरों से दवा दिया है। अन्धेरा होने पर भी तारों की टिमटिमाहट में चमकते हुए गंगाजल में उसने देखा कि कोई वस्तु पानी से ऊपर उठी है और वररुचि ने अपनी वगल में से कुछ निकाल कर उसमें रख दिया है। इसके पश्चात् उसने देखा कि वररुचि शीघ्रतापूर्वक गंगा से वाहर निकला और पाटलीपुत्र नगर की ओर लौट गया।

वररुचि के लौट जाने के अनन्तर शकटार द्वारा नियुक्त गुप्तचर विभाग का वह अधिकारी गंगा के जल में ठीक उस ही जगह पहुंचा जहां थोड़ी देर पहले वररुचि को उसने देखा था। पानी में उस अधिकारी ने अपने पैरों से टटोलना प्रारम्भ किया। कुछ ही क्षणों के प्रयास के पश्चात् पानी की निचली सतह में उसके पैर ने किसी कठोर वस्तु के स्पर्श का अनुभव किया। पैर से अच्छी तरह टटोल कर उस गुप्तचर ने उस वस्तु पर पैर रखा और धीरे-धीरे उसे अपने पैर से दवाना प्रारम्भ किया। उसने देखा कि गंगाजल में से एक वस्तु ऊपर उठी और उसके पास आ कर रुक गई। उसने पानी की सतह में अपने पैर के नीचे की वस्तु को यथापूर्व दबाये ही रखा और अपना हाथ बढ़ा कर पानी से ऊपर उठी हाथ के आकार की वस्तु से लटकी हुई थैली को ले लिया। बायें हाथ से उस थैली को थामे उस गुप्तचर ने पानी से ऊपर उठी वस्तु को अपने दाहिने हाथ से अच्छी तरह टटोल कर देखा। उसे विश्वास हो गया कि वह किसी कुशल शिल्पी द्वारा निर्मित काष्ठ का नारी-कर है। तत्काल सारा रहस्य उस गुप्तचर की समझ में आ गया कि वस्तुतः पानी में यंत्र रखा हुआ है, जिसको दवाने से काष्ठ-निर्मित हाथ ऊपर उठ आता है। उसने अपने दाहिने पैर को ऊपर उठाया। पैर के उठाते ही वह काष्ठनिर्मित हाथ पानी में चला गया।

अपने अनुमान को दृढ़ विश्वास में परिणत करने और अपने आपको आश्वस्त करने की दृष्टि से उस गुप्तचर ने पानी के अन्दर स्थित उस यन्त्र को वार-बार दबाकर देखा। जितनी बार उस यन्त्र को पैर से दबाया गया उतनी ही बार वह दारुमय हाथ पानी से ऊपर उठा पर अब वह रिक्त था, उसमें कोई थैली नहीं थी। पूर्णरूपेण आश्वस्त हो चुकने के पश्चात् वह गुप्तचर गंगा से वाहर निकला। उसने थैली को खोलकर उसमें रखी स्वर्णमुद्राओं को गिना और पाया कि वे संख्या में पूरी १०८ हैं। स्वर्णमुद्राओं को पुनः थैली में रखकर वह तत्काल नगर की ओर लौट पड़ा और महामात्य के गुप्त मंत्रणाकक्ष में पहुंचकर उसने उन्हें प्रणाम किया।

महामात्य शकटार ने अन्तर्वेधी दृष्टि से उस अधिकारी की ओर देखते हुए कहा – "आ गये सौम्य ! मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था। तुम्हारी प्रसन्न

मुखमुद्रा से प्रतीत हो रहा है कि तुमने उस धूर्त की धूर्तता का पूरा रहस्य जान लिया है। तुम्हारे हाथ में वही स्वर्ण-मुद्राओं से भरी थैली है ? अब और कोई थैली उस यंत्र में नहीं है ?"

"मन्त्रीश्वर का अनुमान शतप्रतिशत ठीक निकला। यह है वह १०८ स्वर्णमुद्राओं से भरी थैली, जो वररुचि को कल प्रातःकाल गंगामाता के हाथ से नहीं अपितु मगध के महाप्रतापी महामात्य के हाथ से ही प्राप्त हो सकेगी। मैंने समीचीन रूप से देख लिया है कि अब उस यन्त्र में और कोई थैली नहीं है।"

उस थैली को अपने आसन के पास रखने का संकेत करते हुए शकटार ने "बहुत सुन्दर" इन दो शब्दों से अपने अधिकारी का उत्साह बढ़ाने के पश्चात् कहा – "सौम्य अब तुम विश्राम करो। अपने चरों को नियुक्त कर उस स्थान पर कड़ी दृष्टि रखना।"

महामात्य को अभिवादन करने के पश्चात् गुप्तचर विभाग का अधिकारी वहां से चला गया।

रहस्योद्घाटन

दूसरे दिन सूर्योदय से पूर्व ही विशाल जनसमूह गंगा के तट पर एकत्रित हो गया। यथासमय मगधेश्वर महाराज नन्द अपने महामात्य एवं अन्य अधिकारियों के साथ गंगातट पर पहुंचे। वररुचि ने गंगा में स्नान करने के पश्चात् उच्च एवं मधुर स्वर में गंगा की स्तुति करना प्रारम्भ किया। स्तुतिपाठ के अनन्तर वररुचि ने प्रतिदिन की भांति यन्त्र पर पैर रखकर दबाया। सहसा गंगा की धारा में से एक हाथ ऊपर उठा पर वह हाथ पूर्णतः रिक्त था। उसमें स्वर्णमुद्राओं से भरी थैली नहीं थी। वररुचि ने गंगा में डुबकी लगाकर पानी में उस स्वर्णमुद्रापूर्ण थैली को इधर-उधर बहुत ढूंढा पर उसका सारा प्रयास व्यर्थ गया। अन्ततोगत्वा वह आकस्मिक अनभ्रवज्रपात से प्रताड़ित की तरह अधोमुख किये हुए चुपचाप खड़ा हो गया।

वररुचि के पास पहुंच कर महामात्य शकटार ने घनगम्भीर स्वर में उसे सम्बोधित करते हुए कहा – "वररुचे ! क्या यह गंगा नदी तुम्हारे द्वारा धरोहर के रूप में इसके पास रखा हुआ द्रव्य भी तुम्हें नहीं लौटा रही है, जिससे कि तुम वार-वार उस द्रव्य को खोज रहे हो ? शोक न करो ब्रह्मन् ! महाराज नन्द के राज्य में कोई भी व्यक्ति अपने स्वत्व से वंचित नहीं किया जा सकता। यह लो तुम्हारी वह १०८ स्वर्णमुद्राओं से पूरित थैली जिसे तुमने रात्रि के समय गंगा के पास धरोहर (अमानत) के रूप में रखा था।"

यह कहते हुए महामात्य शकटार ने स्वर्णमुद्राओं से भरी थैली वररुचि के हाथ पर रख दी। वररुचि ने अनुभव किया कि विगत कतिपय दिनों से जो विशाल जनसमूह उसे गंगामाता का परमप्रीतिपात्र समझकर सम्मान की दृष्टि से देखता आ रहा था वह अब उसे महाधूर्ताधिराज समझकर घृणा और

तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देख रहा है। उसे अपने प्राणापहरण से भी अत्यधिक दुस्सह पीड़ा का अनुभव हुआ।

महामात्य ने प्रणतिपूर्वक महाराज नन्द से निवेदन किया – "महाराज ! यह वररुचि रात्रि के समय यहां आकर स्वर्णमुद्राओं की थैली गंगा के अन्दर लगाये गये यन्त्र में रख देता है और प्रातःकाल पैर से उस यन्त्र को दबाकर उस थैली को प्राप्त कर जनसाधारण की आंखों में धूल झोंकता है।"

नन्द ने सस्मित आश्चर्य भरे स्वर में कहा – "महामात्य ! आपने इस छलछद्म को सर्वसाधारण पर प्रकट कर एक बहुत बड़ी भ्रान्ति का निराकरण कर दिया।"

तदनन्तर गंगातट पर एकत्रित समस्त जनसमूह अपने-अपने निवास-स्थान को लौट गया। वररुचि अपने इस छलप्रपंच के प्रकट हो जाने से इतना अधिक लज्जित हुआ कि वह कई दिनों तक अपने निवास-स्थान से बाहर तक नहीं निकला। अपने इस सार्वजनिक अपमान का कारण महामात्य शकटार को मानकर वररुचि अहर्निश इसका प्रतिशोध लेने हेतु शकटार के दास-दासी के माध्यम से शकटार के किसी छिद्र को ढूँढने के प्रयास में रहने लगा। एक दिन वररुचि को शकटार की एक दासी से यह सूचना मिली कि अपने पुत्र श्रीयक के विवाह के अवसर पर महामात्य शकटार महाराज नन्द को अपने निवास-स्थान पर भोजनार्थ निमन्त्रित करने वाले हैं। उस समय महाराज नन्द को भेंट करने हेतु सुन्दरतम एवं बहुमूल्य छत्र-चंवरादि समस्त राज्यचिन्ह और आधुनिकतम विशिष्ट प्रकार के संहारक शस्त्रास्त्र मन्त्रीश्वर द्वारा निर्मित करवाये जा रहे हैं।

वररुचि का शकटार के विरुद्ध षड्यन्त्र

शकटार से प्रतिशोध लेने हेतु वररुचि ने उपर्युक्त सूचना को अपने भावी षड्यन्त्र की उपयुक्त पृष्ठभूमि समझ कर निम्नलिखित श्लोक की रचना की :–

न वेत्ति राजा यदसौ शकटालः करिष्यति।
व्यापाद्य नन्दं तद्राज्ये, श्रीयकं स्थापयिष्यति ॥

अर्थात् – महामन्त्री शकटार जो कुछ करना चाहता है, उसे महाराज नन्द नहीं जानते। नन्द को मार कर शकटार अपने पुत्र श्रीयक को एक दिन मगध के राज्यसिंहासन पर बैठा देगा।

अभीष्ट कार्यसाधक श्लोक अनायास ही बन पड़ा है, यह देख कर उसे कार्यनिष्पत्ति का विश्वास हुआ। उसने पौगण्डावस्था के बहुत से बालकों को मिष्टान्नादि दे एकत्रित किया, उन्हें यह श्लोक कण्ठस्थ करवा कर और अधिक प्रलोभन देते हुए कहा कि वे लोग इस श्लोक को गलियों, बाजारों, चौहटों, क्रीड़ास्थलों एवं उद्यानों आदि में बारम्बार उच्च स्वर से बोलें।

वररुचि का तीर ठीक निशाने पर लगा। पाटलिपुत्र के सभी सार्वजनिक स्थानों पर उस रहस्यपूर्ण श्लोक की ध्वनि गुँजरित होने लगी। चरों के माध्यम

से जन-जन में प्रसृत वह श्लोक राजा नन्द के पास पहुंचा। नन्द चौंक पड़ा। उसने मन ही मन शकटार के व्यक्तित्व के साथ अपने व्यक्तित्व की तुलना की। उसे अनुभव हुआ कि शकटार वस्तुतः सारे साम्राज्य पर छाया हुआ है। शकटार का प्रभाव, प्रताप, वर्चस्व और सभी कुछ अपनी तुलना में नन्द को विराट, सर्वतोमुखी एवं सर्वव्यापी प्रतीत होने लगा। उसने सोचा सामूहिक स्वरों में प्रकट हुई बात निश्चित रूप से सत्य ही होगी। इसके अतिरिक्त श्लोक द्वारा इंगित कार्य शकटार के लिये दुस्साध्य नहीं। नन्द की विचारधारा ने नया मोड़ लिया। शकटार द्वारा अतीत में राजा और राज्य दोनों के हित में किये गये स्वामिभक्ति के अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्यों का विहंगमावलोकन करते हुए नन्द को दृढ़ विश्वास हो गया कि शकटार किसी भी दशा में उस प्रकार का घृणित कार्य नहीं कर सकता।

"प्रत्येक परिस्थिति में वस्तुस्थिति से अवगत हो जाना तो सर्वथा हितप्रद है" इस विचार के अन्तर्मन में उद्भूत होते ही नन्द ने अपने एक विश्वासपात्र व्यक्ति को महामात्य के निवासस्थान पर किये जा रहे कार्यों का विस्तृत विवरण प्राप्त करने हेतु आदेश दिया। नन्द की आज्ञा को शिरोधार्य कर वह व्यक्ति तत्काल महामात्य शकटार के निवासस्थान पर पहुंचा। उस समय संयोगवश महाराज नन्द को भेंट करने हेतु छत्र, चँवर, खड्ग व नवाविष्कृत शस्त्रास्त्र भण्डार में रखवाये जा रहे थे। नन्द के विश्वासपात्र व्यक्ति ने तत्काल नन्द के पास लौट कर जो कुछ उसने अपनी आंखों से देखा था वह सारा विवरण नन्द के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। नन्द को उक्त श्लोक में किये गये इंगित पर कुछ विश्वास हुआ। पर नन्द बड़ा चतुर नीतिज्ञ था। "कभी-कभी आंखों से देखी हुई बात भी असत्य सिद्ध हो सकती है" इस नीतिवाक्य को उसने अपने आचरण में ढाल रखा था। उसने सहसा कोई साहसपूर्ण कार्य करना उचित नहीं समझा। राजसेवा में महामात्य के समुपस्थित होने का नियत समय सन्निकट आ रहा था। नन्द उस समय की प्रतीक्षा में अपने सिंहासन पर बैठा रहा।

निश्चित समय पर महामात्य शकटार नन्द की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने राजा को प्रणाम किया। बहुत प्रयास करने पर भी नन्द अपने क्रोध को छुपा नहीं सका और उसने वक्र एवं क्रुद्ध दृष्टि से शकटार की ओर देखते हुए अपना मुख शकटार की ओर से दूसरी ओर मोड़ लिया।

प्राण देकर भी परिवार-रक्षा

नन्द की तनी हुई भौंहों और वक्रदृष्टि को देख कर शकटार समझ गया कि उसके विरुद्ध किया गया कोई भीषण गुप्त षड्यन्त्र सफल हो चुका है। तत्काल अपने घर लौट कर शकटार ने श्रीयक से कहा—"वत्स ! महाराज नन्द को किसी षड्यन्त्रकारी ने विश्वास दिला दिया है कि अब मैं उनके प्रति स्वामिभक्त नहीं रहा हूं। ऐसी स्थिति में किसी भी समय हमारे समस्त परिवार का सर्वनाश हो सकता है अतः अपने कुल की रक्षार्थ मैं तुम्हें आदेश देता हूं कि

जिस समय में नन्द के समक्ष प्रणाम करते हुए अपना सिर झुकाऊं उस ही समय तुम बिना किसी प्रकार का सोच-विचार किये अपनी तलवार से मेरा शिर काट कर धड़ से पृथक् कर देना और राजा के प्रति पूर्ण स्वामिभक्ति प्रकट करते हुए कहना, "स्वामिद्रोही चाहे पिता ही क्यों न हो, उसका तत्काल वध कर डालना चाहिये। केवल इस उपाय से ही हमारे परिवार की रक्षा हो सकती है अन्यथा सर्वनाश समुपस्थित है।"

श्रीयक ने आंसू बहाते हुए प्रकम्पित स्वर में कहा – "तात ! जिस जघन्य कृत्य को करने के लिये आप आदेश दे रहे हैं वैसा कुकृत्य तो संभवतः कोई चाण्डाल भी नहीं करेगा।"

शकटार ने श्रीयक को सान्त्वना देते हुए कहा – "आसन्नसंकट की घड़ियों में इस प्रकार के विचार मन में ला कर तो तुम शत्रुओं के मनोरथों की पूर्त्ति में सहायता ही करोगे। राजा को प्रणाम करते समय मैं अपने मुख में कालकूट विष रख लूँगा। ऐसी दशा में मेरा शिर काटने से तुम्हें पितृहत्या का दोष भी नहीं लगेगा। काल के समान विकराल राजा नन्द हमारे समस्त परिवार को मौत के घाट उतारे, उससे पहले ही तुम अपने वंश को विनाश से बचाने हेतु मेरा शिर काट डालो। तुम अब मेरी चिन्ता न करो, मैं तो अब जराजीर्ण होने के कारण कुछ ही समय में मृत्यु के मुख में जाने वाला था। बेटा ! चलो, मेरी आज्ञा का पालन कर अपने वंश की रक्षा करो।"

श्रीयक को साथ लिये शकटार राजभवन में नन्द के समक्ष उपस्थित हुआ और उसे प्रणाम करने के लिये उसने शिर झुकाया। श्रीयक ने तत्काल खड्ग के प्रहार से शकटार का शिर काट डाला। यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना वीर निर्वाण सं० १४६ में घटित हुई।

नन्द ने हड़बड़ा कर आश्चर्य भरे स्वर में कहा – "बेटा श्रीयक ! तुमने यह क्या कर डाला ?"

श्रीयक ने अति गम्भीर मुद्रा में कहा – "स्वामिन् ! जब आपको यह विदित हो गया कि महामात्य स्वामिद्रोही हैं तो उस दशा में मैंने इनको मार कर सेवक के योग्य ही कार्य किया है। प्रत्येक सेवक का यह कर्त्तव्य है कि यदि स्वयं उसको किसी के द्वारा स्वामिद्रोह किये जाने की बात विदित हो तो उस पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार करे किन्तु यदि उसके स्वामी को स्वयं को ही ज्ञात हो जाय कि अमुक व्यक्ति स्वामीद्रोही है, तो उस दशा में सेवक का यह कर्त्तव्य नहीं कि वह विचार करे अपितु उसका तो उस दशा में यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि तत्काल उस स्वामिद्रोही के अस्तित्व को ही मिटा दे।"

नन्द अवाक् हो श्रीयक की ओर देखता ही रह गया। उसनें पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ अपने स्वर्गस्थ महामात्य का अन्तिम संस्कार सम्पन्न करवाया।

मृतक की औध्र्वदैहिक क्रियाओं की समाप्ति के अनन्तर नन्द ने श्रीयक से मगध-राज्य के महामात्य पद को स्वीकार करने की अभ्यर्थना की।

श्रीयक ने विनम्र स्वर में कहा – "मगधेश्वर ! मेरे ज्येष्ठ भ्राता स्थूलभद्र मेरे पिता के समान ही योग्य हैं। अतः आप महामात्य का पद उन्हें ही प्रदान करें। मेरे पितृश्री के निस्सीम स्नेह के प्रसाद से वे विगत बारह वर्षों से कोशा वेश्या के निवासस्थान पर ही रहते आ रहे हैं।"

महामात्य पद

महाराज नन्द ने तत्काल अपने उच्चाधिकारियों को आदेश दिया कि वे पूर्ण सम्मान के साथ स्थूलभद्र से निवेदन करें कि मगधाधिराज उनसे मिलने के लिये बड़े उत्सुक हैं।

पर्याप्त प्रतीक्षा के पश्चात् प्रोन्नतभाल, व्यूढोरष्क, वृषस्कन्ध, प्रलम्बबाहु, सुगौरवर्ण अत्यन्त सम्मोहक व्यक्तित्व वाले एक तेजस्वी युवक ने धीर-मन्थर गति से मगधपति के राजभवन में प्रवेश कर महाराज नन्द को प्रणाम करते हुए कहा – "मगधराज्य के स्वर्गीय महामात्य श्री शकटार का पुत्र स्थूलभद्र मगध के महामहिम सम्राट् महाराज नन्द को सादर प्रणाम करता है।"

नन्द ने अपने समीपस्थ आसन पर बैठने का संकेत करते हुए स्थूलभद्र से कहा – "सौम्य स्थूलभद्र ! अपने पिता के स्वर्गगमन के कारण रिक्त हुए मगध के महामात्य पद को अब तुम स्वीकार करो।"

"महाराज मैं सोच-विचार के पश्चात् ही इस सम्बन्ध में निवेदन कर सकता हूं।" स्थूलभद्र ने यह छोटा-सा उत्तर दिया।

नन्द ने कहा – "स्थूलभद्र ! राजभवन के अशोकोद्यान में बैठकर तुम यहीं विचार करलो और शीघ्र मुझे उत्तर दो।"

"यथाज्ञापयति देव !" कह कर स्थूलभद्र ने महाराज नन्द को प्रणाम किया और वे अशोकोद्यान में एक वृक्ष के नीचे बैठकर अपने सम्मुख उपस्थित प्रश्न पर विचार करने लगे। यों तो स्थूलभद्र कोशा वेश्या के यहां रहकर शारीरिक वासनापूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे पर उनका विवेकशील अन्तर्मन वस्तुतः पूर्णरूपेण जागरूक था। जिन परिस्थितियों में उनके पिता मगध के महामात्य शकटार की मृत्यु हुई, उन सब पर विचार करने के पश्चात् स्थूलभद्र के मन में एक विचित्र प्रकार का विचारमन्थन प्रारम्भ हो चुका था। स्थूलभद्र ने सोचा – "जिस राजसत्ता और राज-वैभव ने मेरे देवतुल्य पिता को अकारण ही अकालमृत्यु के गाल में ढकेल दिया, उस प्रभुत्व एवं सत्तासम्पन्न महामात्य पद को पाकर वस्तुतः मैं सुखी नहीं हो सकता। मेरी भी एक न एक दिन वैसी ही दुर्गति हो सकती है। ऐसी संशयास्पद स्थिति में मेरे लिये यही श्रेयस्कर है कि मैं इस प्रकार की सम्पदा और सत्ता का वरण करूं जो सदा के लिये मुझे सुखी बना कर मेरी चिरसंगिनी बनी रहे।"

इस प्रकार के विचारमन्थन ने स्थूलभद्र को सांसारिक वैभवों, प्रपंचों और बन्धनों से विरक्त बना दिया। वस्तुस्थिति के इस वास्तविक बोध ने स्थूलभद्र के जीवन की दशा ही बदल डाली। उन्होंने मन ही मन विचार किया – "महामात्य का पद निस्संदेह बड़ा उच्च पद है पर वह भी अन्ततोगत्वा है तो भृत्यकर्म, दासत्व और पारतन्त्र्य ही। पराधीन व्यक्ति स्वप्न तक में सुख की अनुभूति नहीं कर सकता। राजा, राज्य और राष्ट्र की चिन्ताओं से पूर्णरूपेण आच्छादित एक भृत्य के चित्त में स्वयं के सुख-दुःख के लिये सोचने का कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। राजा और राज्य के हित में अपनी बौद्धिक एवं शारीरिक शक्ति का निश्शेष व्यय करने के पश्चात् भी भृत्य के लिये प्रत्येक पद पर सर्वस्वापहरण और प्राणापहार तक का भय सदा बना रहता है। उस समस्त शक्तिव्यय का प्रतिफल शून्य के तुल्य है। कहा भी है :–

मुद्रेयं खलु पारवश्य जननी सौख्यच्छिदे देहिनां,
नित्यं कर्कशकर्मबन्धनकरी, धर्मान्तरायावहा।
राजार्थैकपरैव संप्रति पुनः स्वार्थप्रजार्थापहृत्,
तद्ब्रूमः किमतः परं मतिमतां, लोकद्वयापायकृत् ॥

अर्थात् – यह राजमुद्रा परवशता उत्पन्न करने वाली और मनुष्यों के सुख का विनाश करने वाली है। सदा कठोर कर्मबन्ध की कारण और धर्मसाधन में विघ्न रूप है। एक मात्र राजा के हित को ही दृष्टि में रखने वाली यह (प्रधानामात्य की) प्रभुता स्वयं के तथा प्रजा के हित का हरण करने वाली है। वस्तुतः इहलोक और परलोक – दोनों ही लोकों को बिगाड़ने वाली इससे (प्रधानामान्य की मुद्रा अथवा सत्ता से) बढ़कर संसार में और कौनसी वस्तु हो सकती है ?

ऐसी दशा में बुद्धिमान् व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह केवल राजा के हित में अपनी शक्ति का अपव्यय न कर आत्मकल्याण के लिये शक्ति का सद्-व्यय करे।

इस प्रकार विचार करते-करते स्थूलभद्र शीघ्र ही एक निर्णय पर पहुँच गये। उन्होंने संसार के सम्पूर्ण प्रपंचों का परित्याग कर आत्मकल्याण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उन्होंने तत्क्षण पंचमुष्टि-लुंचन कर अपने रत्नकंबल की फलियों का ओघा (रजोहरण) बनाकर साधु वेष धारण कर लिया। तदनन्तर वे साधु वेष में ही महाराज नन्द के सम्मुख राज्यसभा में उपस्थित हो बोले – "राजन् ! मैंने बहुत सोच-विचार के पश्चात् यह निर्णय किया है कि मुझे भवप्रपंच बढ़ाने वाला महामात्यासन नहीं अपितु अपरोपतापी वैराग्यसाधक दर्भासन चाहिए। मैं राग का नहीं किन्तु त्याग का उपासक बनना चाहता हूँ।

यह कहकर आर्य स्थूलभद्र ने राज्यप्रासादों से बाहर की ओर प्रस्थान कर दिया। महाराज नन्द सहित समस्त राज्यपरिपद स्थूलभद्र द्वारा किये गये इस अप्रत्याशित निर्णय से स्तब्ध रह गई।

कहीं आर्य स्थूलभद्र पुनः कोशा वेश्या के गृह की ओर तो नहीं लौट रहे हैं इस आशंका से राजा नन्द अपने प्रासाद के गवाक्ष से राजपथ पर जाते हुए आर्य स्थूलभद्र की ओर देखने लगे। जब महाराज नन्द ने देखा कि आर्य स्थूलभद्र नगर की घनी वस्ती वाले मुहल्लों से मुख मोड़कर सुनसान श्मशानों और निर्जन एकान्त स्थलों को भी पार करते जा रहे हैं तो नन्द का मस्तक सहसा श्रद्धा से झुक गया। उसने पश्चात्तापपूर्ण स्वर में कहा—"मुझे खेद है कि मैंने ऐसे महान् त्यागी महात्मा के लिये भी अपने मन में कुविचार को स्थान दिया।"

स्थूलभद्र की दीक्षा और वररुचि का मरण

स्थूलभद्र ने भव्य भवन, सुर सुन्दरी-सी कोशा और नव्य-भव्य भोगों का तत्क्षण उसी प्रकार परित्याग कर दिया, जिस प्रकार कि सर्प कंचुकी को छोड़ता है। वे तन, धन, परिजन का मोह छोड़कर पूर्ण वैराग्यभाव से नगर के बाहर विराजमान् आचार्य संभूतविजय के पास पहुँचे और सविनय वन्दन के पश्चात् उनकी चरणशरण ग्रहण कर वीर नि० सं० १४६ में उन्होंने श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली।

समस्त श्रमणचर्या का निर्दोषरूप से पालन करने के साथ-साथ, सविनय गुरुपरिचर्या, दीक्षावृद्ध श्रमणों की सेवा-सुश्रूषा एवं तपश्चरण द्वारा अपने कर्मेन्धन को भस्मसात् करते हुए मुनि स्थूलभद्र अपने गुरू आचार्य सम्भूतविजयजी के पास वड़ी तन्मयता से शास्त्रों का अध्ययन करने लगे।

आर्य स्थूलभद्र के चले जाने के अनन्तर महाराज नन्द ने श्रीयक को मगध का महामात्य बनाया। कुशल राजनीतिज्ञ श्रीयक ने अपने पिता शकटार की तरह बड़ी निपुणता के साथ राज्य का संचालन करते हुए मगध की श्री में अभिवृद्धि करना प्रारम्भ किया। महाराज नन्द अपने स्वर्गीय महामात्य शकटार के समान ही अपने युवा महामात्य श्रीयक का समादर करते थे। महामन्त्री शकटार की मृत्यु के पश्चात् वररुचि भी नित्यप्रति नियमित रूप से महाराज नन्द की सेवा में उपस्थित होने लगा। वह पुनः राजा और प्रजा का शनैः शनैः सम्मानपात्र बन गया।

श्रीयक समय निकालकर अपने ज्येष्ठ सहोदर स्थूलभद्र के प्रव्रजित होने के कारण दुखित कोशा वेश्या को सान्त्वना देने हेतु उसके घर पर जाते रहते थे। श्रीयक को देखकर अपने प्राणाधिक प्रिय स्थूलभद्र के विरह-जन्य दुःख से विह्वल हो कोशा फूट-फूटकर रोने लगती। अपने सहोदर के प्रति कोशा का निस्सीम प्रेम देखकर श्रीयक के मन में कोशा के प्रति आदर एवं आत्मीयता के भाव दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही गये।

शकडाल की मृत्यु के पश्चात् वररुचि निर्भय होकर रहने लगा। राज्य द्वारा प्राप्त सम्मान के मद में मदान्ध हो वररुचि पथभ्रष्ट एवं वेश्यागामी बन गया। अहर्निश उपकोशा के संसर्ग में रहते-रहते वह शीघ्र ही मद्यपायी बन गया।

इस प्रकार के विचारमन्थन ने स्थूलभद्र को सांसारिक वैभवों, प्रपंचों और बन्धनों से विरक्त बना दिया। वस्तुस्थिति के इस वास्तविक बोध ने स्थूलभद्र के जीवन की दशा ही बदल डाली। उन्होंने मन ही मन विचार किया – "महामात्य का पद निस्संदेह बड़ा उच्च पद है पर वह भी अन्ततोगत्वा है तो भृत्यकर्म, दासत्व और पारतन्त्र्य ही। पराधीन व्यक्ति स्वप्न तक में सुख की अनुभूति नहीं कर सकता। राजा, राज्य और राष्ट्र की चिन्ताओं से पूर्णरूपेण आच्छादित एक भृत्य के चित्त में स्वयं के सुख-दुःख के लिये सोचने का कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। राजा और राज्य के हित में अपनी बौद्धिक एवं शारीरिक शक्ति का निश्शेष व्यय करने के पश्चात् भी भृत्य के लिये प्रत्येक पद पर सर्वस्वापहरण और प्राणापहार तक का भय सदा बना रहता है। उस समस्त शक्तिव्यय का प्रतिफल शून्य के तुल्य है। कहा भी है :–

> मुद्रेयं खलु पारवश्य जननी सौख्यच्छिदे देहिनां,
> नित्यं कर्कशकर्मबन्धनकरी, धर्मान्तरायावहा।
> राजार्थैकपरैव संप्रति पुनः स्वार्थप्रजार्थापहृत्,
> तद्ब्रूमः किमतः परं मतिमतां, लोकद्वयापायकृत्॥

अर्थात् – यह राजमुद्रा परवशता उत्पन्न करने वाली और मनुष्यों के सुख का विनाश करने वाली है। सदा कठोर कर्मबन्ध की कारण और धर्मसाधन में विघ्न रूप है। एक मात्र राजा के हित को ही दृष्टि में रखने वाली यह (प्रधानामात्य की) प्रभुता स्वयं के तथा प्रजा के हित का हरण करने वाली है। वस्तुतः इहलोक और परलोक – दोनों ही लोकों को बिगाड़ने वाली इससे (प्रधानामान्य की मुद्रा अथवा सत्ता से) बढ़कर संसार में और कौनसी वस्तु हो सकती है?

ऐसी दशा में बुद्धिमान् व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह केवल राजा के हित में अपनी शक्ति का अपव्यय न कर आत्मकल्याण के लिये शक्ति का सद्-व्यय करे।

इस प्रकार विचार करते-करते स्थूलभद्र शीघ्र ही एक निर्णय पर पहुँच गये। उन्होंने संसार के सम्पूर्ण प्रपंचों का परित्याग कर आत्मकल्याण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उन्होंने तत्क्षण पंचमुष्टि-लुंचन कर अपने रत्नकंबल की फलियों का ओघा (रजोहरण) बनाकर साधु वेष धारण कर लिया। तदनन्तर वे साधु वेष में ही महाराज नन्द के सम्मुख राज्यसभा में उपस्थित हो बोले – "राजन्! मैंने बहुत सोच-विचार के पश्चात् यह निर्णय किया है कि मुझे भवप्रपंच बढ़ाने वाला महामात्यासन नहीं अपितु अपरोपतापी वैराग्यसाधक दर्भासन चाहिए। मैं राग का नहीं किन्तु त्याग का उपासक बनना चाहता हूँ।

यह कहकर आर्य स्थूलभद्र ने राज्यप्रासादों से बाहर की ओर प्रस्थान कर दिया। महाराज नन्द सहित समस्त राज्यपरिषद स्थूलभद्र द्वारा किये गये इस अप्रत्याशित निर्णय से स्तब्ध रह गई।

कहीं आर्य स्थूलभद्र पुनः कोशा वेश्या के गृह की ओर तो नहीं लौट रहे हैं इस आशंका से राजा नन्द अपने प्रासाद के गवाक्ष से राजपथ पर जाते हुए आर्य स्थूलभद्र की ओर देखने लगे। जब महाराज नन्द ने देखा कि आर्य स्थूलभद्र नगर की घनी बस्ती वाले मुहल्लों से मुख मोड़कर सुनसान श्मशानों और निर्जन एकान्त स्थलों को भी पार करते जा रहे हैं तो नन्द का मस्तक सहसा श्रद्धा से झुक गया। उसने पश्चात्तापपूर्ण स्वर में कहा—"मुझे खेद है कि मैंने ऐसे महान् त्यागी महात्मा के लिये भी अपने मन में कुविचार को स्थान दिया।"

स्थूलभद्र की दीक्षा और वररुचि का मरण

स्थूलभद्र ने भव्य भवन, सुर सुन्दरी-सी कोशा और नव्य-भव्य भोगों का तत्क्षण उसी प्रकार परित्याग कर दिया, जिस प्रकार कि सर्प कंचुकी को छोड़ता है। वे तन, धन, परिजन का मोह छोड़कर पूर्ण वैराग्यभाव से नगर के बाहर विराजमान् आचार्य संभूतविजय के पास पहुँचे और सविनय वन्दन के पश्चात् उनकी चरणशरण ग्रहण कर वीर नि० सं० १४६ में उन्होंने श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली।

समस्त श्रमणचर्या का निर्दोषरूप से पालन करने के साथ-साथ, सविनय गुरुपरिचर्या, दीक्षावृद्ध श्रमणों की सेवा-सुश्रूषा एवं तपश्चरण द्वारा अपने कर्मेन्धन को भस्मसात् करते हुए मुनि स्थूलभद्र अपने गुरू आचार्य सम्भूतविजयजी के पास बड़ी तन्मयता से शास्त्रों का अध्ययन करने लगे।

आर्य स्थूलभद्र के चले जाने के अनन्तर महाराज नन्द ने श्रीयक को मगध का महामात्य बनाया। कुशल राजनीतिज्ञ श्रीयक ने अपने पिता शकटार की तरह बड़ी निपुणता के साथ राज्य का संचालन करते हुए मगध की श्री में अभिवृद्धि करना प्रारम्भ किया। महाराज नन्द अपने स्वर्गीय महामात्य शकटार के समान ही अपने युवा महामात्य श्रीयक का समादर करते थे। महामन्त्री शकटार की मृत्यु के पश्चात् वररुचि भी नित्यप्रति नियमित रूप से महाराज नन्द की सेवा में उपस्थित होने लगा। वह पुनः राजा और प्रजा का शनैः शनैः सम्मानपात्र बन गया।

श्रीयक समय निकालकर अपने ज्येष्ठ सहोदर स्थूलभद्र के प्रव्रजित होने के कारण दुखित कोशा वेश्या को सान्त्वना देने हेतु उसके घर पर जाते रहते थे। श्रीयक को देखकर अपने प्राणाधिक प्रिय स्थूलभद्र के विरह-जन्य दुःख से विह्वल हो कोशा फूट-फूटकर रोने लगती। अपने सहोदर के प्रति कोशा का निस्सीम प्रेम देखकर श्रीयक के मन में कोशा के प्रति आदर एवं आत्मीयता के भाव दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही गये।

शकडाल की मृत्यु के पश्चात् वररुचि निर्भय होकर रहने लगा। राज्य द्वारा प्राप्त सम्मान के मद में मदान्ध हो वररुचि पथभ्रष्ट एवं वेश्यागामी बन गया। अहर्निश उपकोशा के संसर्ग में रहते-रहते वह शीघ्र ही मद्यपायी बन गया।

वररुचि के मद्यपी होने की सूचना प्राप्त होते ही महाराज नन्द बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने उसके मद्यपी होने अथवा न होने का निर्णय करने के लिये परीक्षा करना आवश्यक समझा। एक दिन जब वररुचि राज्य सभा में आये तो उन्हें मदनफल के चूर्ण से युक्त कमल पुष्प सूंघने हेतु दिया गया। उसके सूंघते ही वररुचि को वमन हुआ और चन्द्रहास सुरा की तीव्र गन्ध राज्य सभा में तत्काल व्याप्त हो गई।

फलतः वररुचि का राजा, राजसभा, समाज और प्रजाजनों द्वारा बड़ा तिरस्कार हुआ एवं वह बड़ी दुर्लक्ष्यपूर्ण स्थिति में अकाल में ही काल का कवल बन गया।

अपने पिता की हत्या करवाने वाले वररुचि की मृत्यु के पश्चात् श्रीयक कतिपय वर्षों तक बड़ी कुशलता के साथ मगध साम्राज्य के महामात्य पद के कार्यभार का निर्वहन करता रहा किन्तु उसके अन्तर में केवल राजनयिक प्रपंचों के प्रति ही नहीं अपितु समस्त सांसारिक कार्यकलापों के प्रति विरक्ति के बीज अंकुरित हो शनैः शनैः पल्लवित एवं पुष्पित होने लगे।

आर्य स्थूलभद्र द्वारा अतिदुष्कर अभिग्रह

उधर अहर्निश अपने आराध्य गुरुदेव के सान्निध्य में रहते हुए सुतीक्ष्ण बुद्धि स्थूलभद्र मुनि ने अनवरत परिश्रम करते हुए सम्पूर्ण एकादशांगी पर आधिकारिक रूप से निष्णातता प्राप्त कर ली।

वर्षाकाल समुपस्थित होने पर आचार्य सम्भूतविजय के सम्मुख उपस्थित होकर उनके तीन शिष्यों ने घोर अभिग्रहों को धारण करने की इच्छा प्रकट करते हुए क्रमशः प्रार्थना की। प्रथम शिष्य ने सांजलि शीश झुका कर कहा – "प्रभो! मैं निरन्तर चार मास तक उपवास के साथ सिंह की गुफा के द्वार पर ध्यानमग्न रहना चाहता हूं।" दूसरे शिष्य ने निवेदन किया – "भगवन्! मैं चार मास तक निर्जल एवं निराहार रहते हुए दृष्टिविष सर्प की वांबी के पास खड़े रह कर कायोत्सर्ग करना चाहता हूं।"

तीसरे शिष्य ने कहा – "आराध्य गुरुवर! यह आपका अकिंचन शिष्य कूएं के मांडके पर अपना आसन जमा कर उपवास पूर्वक निरन्तर चार मास तक ध्यानमग्न रहने की आपसे आज्ञा चाहता है।"

आचार्य सम्भूतविजय ने अपने उन तीनों शिष्यों को उनके द्वारा अभिग्रहीत दुष्कर कार्यों के निष्पादन के योग्य समझ कर उन्हें उनकी इच्छानुसार दुष्कर तपस्या करने की अनुमति प्रदान कर दी।

उस ही समय आर्य स्थूलभद्र मुनि ने अपने गुरु के चरणों में मस्तक झुकाते हुए हाथ जोड़ कर प्रार्थना की – "करुणासिन्धो! आपका यह अनन्य सेवक कोशा वेश्या के भवन की, कामोद्दीपक अनेक आकर्षक चित्रों से मण्डित चित्रशाला में षड्रस व्यंजनों का आहार करते हुए चार मास तक रह कर समस्त विकारों से दूर रहने की साधना करना चाहता है।"

आचार्य सम्भूतविजय ने अपने विशिष्ट ज्ञानोपयोग से क्षण भर विचार कर आर्य स्थूलभद्र को उस कठोर साधना में समुत्तीर्ण होने के योग्य समझा और उन्हें कोशा वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा प्रदान कर दी।

आचार्य सम्भूतविजय की आज्ञा प्राप्त कर चारों शिष्य अपने-अपने अभीष्ट स्थान की ओर प्रस्थित हुए। प्रथम तीनों शिष्य अपने-अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुंच कर ध्यानमग्न हो गये। उनके तपोपूत शान्त आत्मतेज के प्रभाव से सिंह, सर्प और कूएं का माण्डका ये तीनों ही क्रमशः उन तीनों मुनियों के समक्ष शान्त एवं निरापद हो गये। उन तीनों मुनियों ने पृथक्-पृथक् उन तीन स्थानों पर चार मास के लिये अशन-पानादि का परित्याग कर ध्यान करना प्रारम्भ कर दिया।

आर्य स्थूलभद्र भी कोशा वेश्या के भव्य भवन के प्रांगण में पहुंचे। चिरप्रोषित अपने जीवनधन को देखते ही कोषा हर्षोत्फुल्ल हो हाथ जोड़े शीघ्रतापूर्वक मुनि स्थूलभद्र के सम्मुख उपस्थित हुई। उसने मन ही मन सोचा कि जन्मजात सुकुमार स्थूलभद्र संयम के दुर्वह विपुल भार से अभिभूत होकर सदा-सर्वदा उसके पास रहने के लिये ही आये हैं। सस्मित सुमधुर स्वर में कोशा ने कहा – "स्वामिन् आपकी जन्म-जन्म की यह दासी आपका स्वागत करती है। अपने अभीष्ट की अभिनिष्पत्ति हेतु आज्ञा प्रदान कर इसे कृतार्थ कीजिये। जीवनधन ! यह तन, मन, धन, जीवन और सर्वस्व आपके चरणों पर समर्पित है।"

मुनि स्थूलभद्र ने कहा – "श्राविके ! चार मास तक तुम्हारी चित्रशाला में निवास करने की स्वीकृति दो।"

"स्वामिन् ! चित्रशाला प्रस्तुत है, इसमें विराजिये और सेविका को कृतार्थ कीजिये।" हर्ष से पुलकितांगी कोशा ने कहा।

अपने आत्मवल पर पूर्णरूपेण आश्वस्त आर्य स्थूलभद्र ने रती की रंगस्थली के समान सहज ही कामोद्दीपिनी उस चित्रशाला में प्रवेश कर वहां अपना आसन जमाया। मधुकरी के समय कोशा ने मुनि स्थूलभद्र को स्वादुतम षड्रस भोजन करवाया। आहार आदि से मुनि के निवृत्त हो जाने के उपरान्त सोलह शृंगारों से विशिष्ट रूपेण सुसज्जित कोशा ने चित्रशाला के समस्त वायुमण्डल को अनेक प्रकार की सुगन्धियों से मादक और अपने नूपुरों की झंकार से चित्रशाला को मुखरित करते हुए मुनि स्थूलभद्र के समक्ष उपस्थित हो उन्हें प्रणाम किया। अलौकिक रूपसुधा के उद्वेलित सागर के समान उस कोशा की मुखमुद्रा से उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो कोई अनुपम सुन्दरी सुरवाला अपने अप्रतिम सौन्दर्य से त्रिभुवन पर अपनी विजयवैजयन्ती फहराने के लिये कृतसंकल्प हो। उस अतिकमनीय कान्तारत्न कोशा ने कतिपय वीणाओं के कसे हुए पतील तारों की लययुक्त अति कोमल एवं कर्णप्रिय युगपद् झंकार के समान अति सम्मोहक

स्वर में कहा – "मेरे जीवनधन ! आपकी विरहाग्नि में विदग्धप्राया आपकी इस कामवल्लरी को अपनी मधुर मुस्कान के अमृत से पुनरुज्जीवित कीजिये ।"

मुनि स्थूलभद्र पूर्णतः निर्विकार और मौन रहे ।

अपनी कारुण्यपूर्ण कामाभ्यर्थना का आर्य स्थूलभद्र पर कोई प्रभाव न होते देख कर कोशा के अन्तर में प्रसुप्त नारीत्व का अहं पूर्ण रूपेण जागृत हो उठा । उसने त्रियाचरित्र के समस्त अध्यायों को खोलते हुए आर्य स्थूलभद्र पर क्रमशः अपने अमोघ कटाक्ष-बाणों, विविध हावभावों के सम्मोहनास्त्रों और हृदय को हठात् आवद्ध करने वाले करुणक्रन्दन, मूर्छा, प्रलाप, विविध व्याज आदि नागपाशों का, पुनः पुनः प्रयोग करना प्रारम्भ किया । पर जिस प्रकार वज्र पर किया गया नखों का प्रहार नितान्त निरर्थक और निष्प्रभाव होता है, ठीक उसी प्रकार एकान्ततः आत्मनिष्ठ महामुनि स्थूलभद्र पर कोशा द्वारा किये गये समस्त कामोद्दीपक कटाक्ष-प्रहार पूर्णरूपेण व्यर्थ ही गये । ज्यों-ज्यों स्थूलभद्र को साधनापथ से विचलित करने के अभिप्राय से कोशा द्वारा कामोत्तेजक प्रहारों में क्रमशः तीव्रता लाई गई त्यों-त्यों मुनि स्थूलभद्र के ध्यान की एकाग्रता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई । कोशा ने निरन्तर बारह वर्ष तक अपने साथ स्थूलभद्र द्वारा पूर्व में की गई कामकेलियों का स्थूलभद्र को स्मरण दिलाते हुए उस ही प्रकार की कामकेलियां पुनः करने के लिये वारम्बार असीम प्रेम के साथ आमन्त्रित किया, उत्तेजित किया पर सब व्यर्थ । कोशा प्रतिदिन मुनि स्थूलभद्र को षड्रसमय अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन कराती और उन्हें विषय सुखों के उपभोग के लिये आमन्त्रित करती हुई नित्यप्रति नवीनतम उपायों का आश्रय ले उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का अहर्निश प्रयास करती रहती किन्तु स्थूलभद्र मुनि किंचित्मात्र भी विचलित हुए बिना निरन्तर इन्द्रियदमन करते हुए साधनापथ पर उत्तरोत्तर आगे की ओर बढ़ते रहे । अन्ततोगत्वा चातुर्मास का अवसान होते-होते कोशा ने अपनी हार स्वीकार करते हुए हताश हो मुनि स्थूलभद्र को अपनी ओर आकर्षित करने के सभी प्रयास समाप्त कर दिये । महायोगी स्थूलभद्र का इन्द्रियदमन में अदृष्टपूर्व अलौकिक सामर्थ्य देख कर कोशा स्थूलभद्र के समक्ष अपना मस्तक झुकाते हुए पश्चात्ताप भरे स्वर में कहने लगी – "क्षमासागर महामुने ! मेरे सब अपराध क्षमा कर दीजिये । मुझ मूर्खा को अनेकशः धिक्कार है कि मैंने अज्ञानवश पहले की तरह आपको विषयोपभोगों की ओर आकर्षित करने का विफल प्रयास किया । कज्जलगिरि की गुफा में रह कर कोई अपने आपको कालिमा से नहीं बचा सकता पर आपने इस असंभव कार्य को सम्भव कर बताया है । असाध्य को सिद्ध करने वाले योगिराज ! आपको सहस्रशः नमस्कार है ।"

मुनि स्थूलभद्र के उपदेश से कोशा ने धर्म में अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए मुनि स्थूलभद्र से श्राविका-धर्म अंगीकार किया और वह पूर्ण विशुद्ध मनोभावों के साथ उनकी सेवा करने लगी ।

चातुर्मास की समाप्ति पर सिंहगुहा, दृष्टिविष-विषधर-वल्मीक और कूप-माण्डक पर चातुर्मास करने वाले तीनों मुनि निरतिचार रूपेण अपने-अपने अभिग्रहों का पालन करने के पश्चात् आचार्य सम्भूतविजय की सेवा में उपस्थित हुए। क्रमशः उन तीनों मुनियों के आगमन पर आचार्य सम्भूतविजय ने अपने आसन से कुछ ऊपर उठ कर उन घोर तपस्वियों का स्वागत करते हुए कहा – "दुष्कर साधना करने वाले तपस्वियो ! तुम्हारा स्वागत है।"

कोशा वेश्या के घर से आते हुए दैदीप्यमान शुभ्र ललाट वाले अपने शिष्य स्थूलभद्र को देख कर आचार्य संभूतविजय सहसा अपने आसन से उठ खड़े हुए और उन्होंने मुनि स्थूलभद्र का स्वागत करते हुए कहा – "दुष्कर से भी अतिदुष्कर कार्य को करने वाले साधकशिरोमणे ! तुम्हारा स्वागत है।"

स्थूलभद्र ने आभार प्रदर्शित करते हुए विनयावनत हो कहा – "गुरुदेव ! यह सब आपका ही प्रताप है। मेरी क्या शक्ति है ?" मुनि स्थूलभद्र को गुरु द्वारा अपने से अधिक सम्मानित हुआ देख उन तीनों साधुओं के मन में ईर्ष्या अंकुरित हो उठी। वे तीनों मुनि आर्य स्थूलभद्र के प्रति अपने ईर्ष्या के भाव अभिव्यक्त करते हुए परस्पर बात करने लगे – "आर्य स्थूलभद्र मन्त्रिपुत्र हैं, इस ही कारण गुरुदेव ने उनके साथ पक्षपात करते हुए उन्हें "दुष्करदुष्करकारिन्" के सम्बोधन से सर्वाधिक सम्मान दिया है। भव्य भवन में रह कर षड्रस भोजन करते हुए भी यदि "दुष्करदुष्करकारी" की उपाधि प्राप्त की जा सकती है तो आगामी चातुर्मास में हम लोग भी अवश्यमेव यह सुकर कार्य कर "दुष्करदुष्करकारी" की दुर्लभ उपाधि प्राप्त करेंगे।"

तदनंतर आचार्य सम्भूतविजय ने अपने शिष्यसमूह सहित अन्यत्र विहार कर दिया। आठ मास तक अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए उन्होंने अनेक भव्य जीवों का कल्याण किया। इस प्रकार पुनः चातुर्मास का समय आ समुपस्थित हुआ।

स्थूलभद्र से होड़

सिंह की गुफा के द्वार पर विगत चातुर्मास व्यतीत करने वाले मुनि ने आचार्यप्रवर के सम्मुख उपस्थित हो सविधि वन्दन के पश्चात् उनकी सेवा में प्रार्थना की – "गुरुदेव ! मैं यह चातुर्मास कोशा वेश्या की चित्रशाला में रह कर षड्रस भोजन करते हुए व्यतीत करना चाहता हूं। कृपा कर मुझे इसके लिये आज्ञा प्रदान कीजिये।"

आचार्य सम्भूतविजय से यह छुपा न रह सका कि वह मुनि आर्य स्थूलभद्र के प्रति मात्सर्यवश उस प्रकार का अभिग्रह धारण कर रहा है। अपने विशिष्ट ज्ञान से उपयोग लगाने के पश्चात् आचार्यश्री ने कहा – "वत्स ! तुम इस प्रकार के अतिदुष्करदुष्कर अभिग्रह को धारण करने का विचार त्याग दो, इस प्रकार के अभिग्रह को धारण करने में सुमेरु के समान अचल और दृढ़ मनोबल वाला स्थूलभद्र मुनि ही समर्थ है।"

शिष्य ने हठपूर्वक उत्तर दिया – "गुरुदेव ! यह कार्य मेरे लिये दुष्कर-दुष्कर नहीं अपितु सहज सुकर है। मैं इस अभिग्रह को अवश्यमेव धारण करूंगा।"

घोर गर्त में जानबूझ कर गिरने के इच्छुक अपने शिष्य की दयनीय दशा पर दया से द्रवित हो आचार्य सम्भूतविजय ने उसे समझाते हुए शान्त और मधुर स्वर में कहा – "वत्स ! ऐसा दुस्साहस न करो। अपनी इस अविचारकारिता के कारण तुम अपने पूर्वोपार्जित तप-संयम को भी खो बैठोगे। अपनी शक्ति से अधिक भार को अपने सिर पर उठाने पर प्रत्येक व्यक्ति के अंगभंग का भय रहता है। कहा भी है :–

"देखा-देखी साधे जोग, छीजे काया बाढ़े रोग"

ईर्ष्या से अभिभूत उस मुनि को अपने गुरु के हितकर वचन किंचितमात्र भी रुचिकर नहीं लगे। वह गुरुआज्ञा की अवहेलना कर कोशा वेश्या के भवन की ओर प्रस्थित हुआ। अपने प्रांगण में उस मुनि को आया हुआ देख कर कोशा तत्काल समझ गई कि आर्य स्थूलभद्र के साथ प्रतिस्पर्धा की भावना से प्रेरित हो यह मुनि यहां चातुर्मास व्यतीत करने आया है। यह कहीं भवसागर के भंवर में फंस कर अनन्तकाल तक भववीचियों की भयावह थपेड़ों के असह्य कष्ट का भागी न हो जाय इस आशंका को ध्यान में रखते हुए उसकी रक्षा का उपाय करना आवश्यक है।

यह विचार कर कोशा उस मुनि के समक्ष उपस्थित हुई और उसने मुनि को प्रणाम करते हुए पूछा – "महामुने ! आज्ञा दीजिये, मैं आपके किस अभीष्ट का निष्पादन करूं ?"

"भद्रे ! मैं आर्य स्थूलभद्र की तरह तुम्हारी चित्रशाला में चातुर्मास व्यतीत करना चाहता हूं, अतः तुम मुझे अपनी चित्रशाला रहने के लिये दो।"

कोशा द्वारा मुनि को प्रतिबोध

कोशा ने मुनि को चित्रशाला में रहने की अनुमति देकर पड्रस भोजन कराया। मध्याह्नवेला में मुनि की परीक्षा हेतु कोशा ने अति मनोरम एवं आकर्षक वेषभूषा से अपने आपको सुसज्जित कर चित्रशाला में प्रवेश किया। कोशा को एक भी कटाक्षनिक्षेप की आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि आकर्षक वस्त्राभूषणों से अलंकृत उस रूपराशि को देखते ही मुनि कामविह्वल हो अभ्यस्त याचक की तरह उससे अभ्यर्थना करने लगे। पड्रस भोजन के पश्चात् सुन्दर नारी के दर्शनमात्र से कामान्ध हो उस मुनि ने भर्तृहरि की निम्नलिखित उक्ति को तत्काल चरितार्थ कर दिखाया :–

विश्वामित्र परासरः प्रभृतयो वाताम्बुपर्णासना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुंजन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत्सागरम् ॥

मुनि को विषय-वासनाओं के घोर अन्धकूप में गिरने से बचाने हेतु कोशा ने कहा – "महात्मन् ! साधारण से साधारण व्यक्ति भी इस बात को भलीभांति समझता है कि हम वारांगनाएं केवल द्रव्य की ही दासियां हैं ।"

"भद्रे ! मुझ जैसे व्यक्ति से द्रव्य की आशा करना बालू से तेल निकालने जैसी दुराशा मात्र है । सुमुखि ! तुम मेरी दयनीय दशा पर दया कर मेरी मनोकामना पूर्ण करो ।" स्मरार्त मुनि ने याचनाभरे करुण स्वर में अभ्यर्थना की।

चतुर कोशा ने दृढ़ता भरे स्वर में कहा – "महात्मन् ! मुनि भले ही अपना नियम तोड़ दें पर वेश्या अपने परम्परागत नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकती । आप अपनी मनोकामना पूर्ण करना ही चाहते हैं तो आपको एक उपाय मैं बता सकती हूं । वह यह है कि नेपाल देश के क्षितिपाल नवागत साधुओं को रत्नकम्बलों का दान करते हैं । आप वहां जाइये और रत्नकम्वल ले आइये ।"

विषयान्ध व्यक्ति को औचित्यानौचित्य का कोई ध्यान नहीं रहता । वह अपनी वासनापूर्त्ति के लिये नहीं करने योग्य कार्य को भी करने में नहीं हिचकिचाता । वह मुनि रत्नकम्बल की प्राप्ति के लिये तत्काल नेपाल की ओर चल पड़े । उन्होंने कामान्ध होने के कारण यह तक नहीं सोचा कि चातुर्मास के समय में विहार करना श्रमणकल्प के प्रतिकूल है । विषयोपभोग के अनन्तर और भी प्रचण्ड वेग से भड़कने वाली और कभी न बुझने वाली कामाग्नि को शान्त करने की अभिलाषा लिये वह मुनि हिंसक पशुओं से व्याप्त सघन वनों और दुर्लंघ्य गगनचुम्बी पर्वतों को पार करते हुए नेपाल प्रदेश में पहुंचे । वहां के राजा से उन्हें रत्नकम्वल की प्राप्ति हुई । रत्नकम्बल को मुनि ने बांस के एक आकर्णान्त डंडे में छुपा कर रख लिया और वे प्रसन्न मुद्रा में पुनः पाटलिपुत्र नगर की ओर लौट पड़े । कोशा के आवास में पहुंचते ही उनकी इच्छापूर्त्ति हो जायगी, इस मधुर आशा को अपने अन्तर में छुपाये वे बिना विश्राम किये द्रुततर गति से मंजिलों पर मंजिलें पार करते हुए एक विकट अटवी के मध्यभाग में पहुंचे । वहां चोरों के शकुनी तोते ने कहा – "एक लाख रौप्यक के मूल्य का माल आ रहा है ।"

चोरों के अधिपति ने वृक्ष पर चढ़े अपने एक चोर साथी से पूछा – "सावधानी से देखो, कौन आ रहा है ?"

वृक्ष पर चढ़े चोर ने कहा – "एक साधु आ रहा है ।" उस मुनि के समीप आने पर चोरों ने उसे पकड़ा पर उसके पास किसी प्रकार का द्रव्य न पा कर उन्होंने उसे जाने की अनुमति दे दी । मुनि के पथ पर अग्रसर होते ही उस शकुनी ने पुनः कहा – "एक लाख रुपयों के मूल्य का माल जा रहा है ।"

चोरों के नायक ने उस मुनि से कहा कि वह सच-सच बता दे, वस्तुतः उसके पास क्या है ?

मुनि ने वांस के दीर्घ दण्ड में छुपाये हुए रत्नकम्वल की ओर इंगित करते हुए कहा कि वह एक वेश्या को प्रसन्न करने के लिये नेपाल के महाराजा से एक

रत्नकम्बल मांग कर लाया है और उसे वेश्या को देने के लिये ले जा रहा है। चोरराट् ने साश्चर्य एक अट्टहास किया और मुनि को अपनी अभीष्टसिद्ध्यर्थ जाने की अनुमति प्रदान कर दी।

रत्नकम्बल लिये वह मुनि कोशा वेश्या के सम्मुख उपस्थित हुआ और ललचाई हुई आंखों से अपनी आन्तरिक अभिलाषा अभिव्यक्त करते हुए उसने कठोर परिश्रम से प्राप्त वह रत्नकम्बल कोशा के हाथों में रख दिया। कोशा ने उस रत्नकम्बल से अपने पैरों को पोंछ कर उसे गन्दी नाली के कीचड़ में फैंक दिया।

अथक प्रयास और अनेक कष्टों को झेलने के पश्चात् लाये गये उस रत्न-कम्बल की इस प्रकार की दुर्दशा देखकर मुनि ने अति खिन्न एवं आश्चर्यपूर्ण स्वर में कहा – "मीनाक्षि! इतने महार्घ्य रत्नकम्बल को तुमने इस अशुचिपूर्ण कीचड़ में फैंक दिया, तुम बड़ी मूर्खा हो।"

कोशा ने तत्क्षण उत्तर दिया – "तपस्विन्! आप एक महामूढ़ व्यक्ति की तरह इस कम्बल की तो चिन्ता कर रहे हैं पर आपको इस बात का स्वल्पमात्र भी शोक नहीं है कि आप अपने चारित्र-रत्न को अत्यन्त अशुचिपूर्ण पंकिल गहन गर्त में गिरा रहे हैं।"

कोशा की बोधप्रद कटूक्ति को सुनते ही मुनि के मन पर छाया हुआ काम-सम्मोह तत्क्षण विनष्ट हो गया। उन्हें अपने पतन पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण स्वर में कोशा से कहा – "श्राविके! तुमने मुझे समुचित शिक्षा देकर भवसागर में निमज्जित होने से बचा लिया है। गुरुआज्ञा की अवहेलना कर मैंने जो यह पापाचरण किया है, उसकी शुद्धि हेतु मैं अभी गुरुदेव की शरण में जाकर कठोर प्रायश्चित्त ग्रहण करूंगा।"

यह कहकर मुनि तत्काल कोशा के घर से निकलकर आचार्य सम्भूतविजय की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने अपने पतन का सच्चा विवरण उनके समक्ष प्रस्तुत करते हुए क्षमायाचना के साथ-साथ समुचित प्रायश्चित्त ग्रहण कर अपनी शुद्धि की।

उन्होंने मुक्तकण्ठ से मुनि स्थूलभद्र की प्रशंसा करते हुए कहा – "आर्य स्थूलभद्र वस्तुतः महान् हैं। सच्चे कामविजयी होने के कारण वे ही 'दुष्कर-दुष्करकारक" की सर्वोत्कृष्ट महती उपाधि से विभूषित किये जाने योग्य हैं।"

तदनन्तर वे मुनि निर्मल भाव से कठोर तपश्चरण और निरतिचार संयम साधना से अपने कर्मसमूह को विध्वस्त करने में प्रवृत्त हो गये।

श्रीयक को विरक्ति

शकडाल पुत्र स्थूलभद्र की तरह शकडाल की यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूत-दिन्ना, सेरणा, वेरणा और रेरणा नामक सातों पुत्रियों ने भी अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् संसार से विरक्त हो दीक्षा ग्रहण कर ली थी। वररुचि को भी उसके

दुष्कर्म के अनुरूप प्रतप्त शीशा पीकर मरना पड़ा। उसे उसके पाप का फल मिल चुका था। कर्म-रज्जु के निबिड़तम पाश में आबद्ध प्राणियों की मदारी के मर्कट के समान विचित्र लीलाएं देखकर श्रीयक को भी संसार के प्रपंचों से विरक्ति हो गई और उसने भी लगभग ७ वर्ष तक मगध के महामात्य पद का कार्यभार सम्भालने के पश्चात् अन्ततोगत्वा वीर नि० सं० १५३ में आचार्य संभूतविजय के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण करली। तत्कालीन संस्कृति में त्याग, तप की ओर इतना आकर्षण था कि महामात्य पद और लक्ष्मीदेवी को छोड़कर शकडाल के दोनों पुत्र और सातों कन्याएं दीक्षित हो गईं। कितना बड़ा त्यागानुराग !

आचार्य संभूतविजय और आचार्य भद्रबाहु के सम्मिलित आचार्य काल में भी एक सुदीर्घकाल का भीषण दुष्काल पड़ा। उस भीषण दुष्काल की भयावह स्थिति के समय आचार्य संभूतविजय का वीर निर्वाण संवत् १५६ में स्वर्गवास हुआ। अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता आचार्य संभूतविजय के स्वर्गगमन के पश्चात् आचार्य भद्रबाहु ने संघ के संचालन की बागडोर पूर्णरूपेण अपने हाथ में सम्भाली। आर्य स्थूलभद्र आचार्य भद्रबाहु की आज्ञानुसार विविध क्षेत्रों में धर्म-प्रसार करते हुए विचरण करने लगे।

उन्हीं दिनों मगधपति नन्द ने अपने एक सारथी के रथसंचालन-कौशल पर प्रसन्न हो उसे पारितोषिक के रूप में कोशा-वेश्या प्रदान कर दी। अपने अन्तर्मन से अभिग्रहीत श्राविकाव्रत पर संकटपूर्ण स्थिति आई समझकर कोशा ने बड़ी चतुराई से काम लिया। वह एक विरागिन की भांति हास-परिहास, शृंगारालंकारादि प्रसाधनों का परित्याग कर सादे वेष में उदास मुखमुद्रा बनाये उस सारथी के समक्ष उपस्थित होती और प्रत्येक बार आर्य स्थूलभद्र की प्रशंसा करते हुए कहती – "इस संसार में वस्तुतः यदि कोई पुरुष है, तो वह आर्य स्थूलभद्र ही हैं। उनके अतिरिक्त मुझे अन्य कोई पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होता।"

अद्भुत कला-कौशल

अपने प्रति विरक्ता कोषा को आकर्षित करने की दृष्टि से उस रथिक ने अपनी धनुर्विद्या का अद्भुत कौशल प्रदर्शित किया। उसने अपने धनुष की प्रत्यंचा पर सर-संधान कर पके हुए आमों के गुच्छे में एक तीर मारा। तदनन्तर अति त्वरित् वेग से हस्तलाघव प्रकट करते हुए उसने तीर पर तीर मारना प्रारम्भ किया। कुछ ही क्षणों में तीरों की एक लम्बी पंक्ति बन गई और उस बाणावली का अन्तिम छोर उस रथिक से एक हाथ की दूरी पर रह गया। अब उसने एक अर्द्धचन्द्राकार बाण के प्रहार से उस टहनी को काट डाला, जिस पर कि वह आमों का झुमका लटक रहा था। इसके पश्चात् उसने उस तीरों की पंक्ति के अन्तिम तीर को अपने हाथ से पकड़ कर अपनी ओर खींचते हुए आमों के उस गुच्छे को अपने एक हाथ से पकड़कर कोशा को भेंट किया। रथिक अपने शस्त्र-कौशल पर फूला नहीं समा रहा था।

पर कोशा को किंचित्मात्र भी आश्चर्य नहीं हुआ। वह रथिक के गर्व को चूर्ण करने की इच्छा से यह कहते हुए उठी – "अब तुम मेरी कला का चमत्कार देखो।" कोशा ने अपनी दासियों को कह कर उस विशाल कक्ष के प्रांगण के वीचोंबीच सरसों का एक ढेर लगवाया। गुलाब के फूल की कतिपय पंखुड़ियों को सुई से वेध कर कोशा ने उस सर्षपराशि पर डाल दिया। तदनन्तर कोशा ने सर्षपराशि पर नृत्य प्रारम्भ किया। अपनी सधी हुई सुकोमल देहयष्टि को यथेप्सित रूप से झुकाती, झुमाती हुई वह भूरे बादलों पर चपला की अनवरत चमक की तरह सर्षपराशि पर एक घटिका पर्यन्त नृत्य करती रही। अत्यद्भुत, परम मनोहारि होने के साथ-साथ कोशा के नृत्य- कौशल की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इतने लम्बे समय के नृत्य से भी न कहीं से वह सर्षपराशि खण्डित हुई और न सूई ही उसके पैर में कहीं चुभी।

कोशा के नृत्य की समाप्ति पर भी रथिक चित्रलिखित सा अवाक् कोशा की ओर देखता ही रह गया। कतिपय क्षणों के पश्चात् थोड़ा प्रकृतिस्थ होने पर रथिक ने कोशा को सम्बोधित करते हुए कहा – "भद्रे ! किसी भी मानवी द्वारा दुस्साध्य तुम्हारे इस चमत्कारपूर्ण अत्यद्भुत, अतिसुन्दर नृत्य को देख कर मुझे अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव हो रहा है। तुम जो कुछ मांगना चाहती हो वह मुझसे मांग लो, मैं इसी समय तुम्हारी वह अभिप्सित वस्तु तुम्हें दूंगा।"

कोशा ने कहा – "भद्र ! न तुम्हारा यह लुम्विच्छेदन ही दुष्कर है और न मेरा सर्षप-सूची पर नृत्य ही। निरन्तर अभ्यास करने पर इनसे भी अत्यधिक कठिन कार्य किये जा सकते हैं। वस्तुतः दुष्करातिदुष्कर कार्य तो आर्य स्थूलभद्र ने किया है कि वारह वर्षों तक मेरे साथ यहां विविध कामोपभोगों का उपभोग करते रहे किन्तु दीक्षित होने के पश्चात् चार मास तक षड्रस भोजन करते हुए मेरे साथ इस चित्रशाला में संयमपूर्वक रह कर उन्होंने अजेय कामदेव पर विजय प्राप्त की। उन कामविजयी महान् योगी स्थूलभद्र के चरित्र से प्रेरणा लेकर मैंने भी श्राविका-व्रत अंगीकार किया है। संसार का प्रत्येक पुरुष अव मेरे लिये सहोदर के समान है।"

कोशा की वात सुन कर रथिक निषण्ण रह गया। कोशा से मुनि स्थूलभद्र का परिचय प्राप्त कर वह संसार से विरक्त हो गया और उनके पास दीक्षित हो श्रमणाचार का पालन करने लगा। आर्य स्थूलभद्र के इस प्रेरणाप्रद चरित्र ने न मालूम ऐसे कितने ही पतनोन्मुख प्राणियों का उद्धार किया होगा।

पाटलीपुत्र में हुई प्रथम आगम-वाचना
(वीर नि० सं० १६०)

आचार्य सम्भूतविजय के स्वर्गगमन से पूर्व मध्य देश में अनावृष्टिजन्य जो भीषण दुष्काल पड़ा था, उसकी विभीषिका से वचने के लिये वहुत से श्रमण दुष्काल से प्रभावित क्षेत्र का परित्याग कर सुदूरवर्ती क्षेत्रों की ओर चले गये।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी भी कुछ श्रमणों के साथ नेपाल की ओर विहार कर गये । दुष्कालजन्य अन्नाभाव के कारण अनेक आत्मार्थी मुनियों ने संयम विराधना के भय से अनशन एवं समाधिपूर्वक भक्त-प्रत्याख्यान द्वारा देहत्याग कर अपना जीवन सफल किया ।[1] उन्होंने अपवाद की स्थिति में भी अपने संयम में शैथिल्य नहीं आने दिया ।

दुर्भिक्ष की समाप्ति और सुभिक्ष हो जाने पर विभिन्न क्षेत्रों में गये हुए श्रमण-श्रमणी-समूह पुनः पाटलीपुत्र लौटे । भीषण दुष्काल के दुस्सह परीषहों के भुक्तभोगी वे सब श्रमण परस्पर एक-दूसरे को देख कर ऐसा अनुभव करने लगे मानो वे परलोक में जा कर पुनः लौटे हों । [2] सुदीर्घकाल की भूख-प्यास और पग-पग पर अनुभूत विविध मारणान्तिक संकटों के कारण श्रुत का परावर्तन न हो सकने के फलस्वरूप बहुत सा श्रुत विस्मृत हो गया । वे एक-दूसरे से पूछने लगे कि किस-किस को कितना-कितना श्रुत याद है ? [3] जब सभी श्रमणों ने देखा कि दीर्घकाल के दैवो प्रकोप के कारण श्रमण वर्ग समय पर एकादशांगी के पाठों का स्मरण, चिन्तन, मनन, पुनरावर्तन आदि नहीं कर सका है, जिसके परिणामस्वरूप सूत्रों के अनेक पाठ अधिकांश श्रमणों के स्मृतिपटल से तिरोहित हो चुके हैं । तब अंग शास्त्रों की रक्षा हेतु उन्होंने यह आवश्यक समझा कि वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध एकादशांगी के पारगामी स्थविर एक जगह एकत्रित हो समस्त अंगों की वाचना करें और द्वादशांगी को क्षीण एवं विनष्ट होने से बचायें ।

इस प्रकार के निश्चय के पश्चात् आगमों की पहली वृहद्वाचना पाटलीपुत्र में लगभग वीर निर्वाण संवत् १६० में की गई । वहां उपस्थित समस्त श्रमण उस वाचना में सम्मिलित हुए । श्रमण-संघ के आचार्य भद्रवाहु उस समय नेपाल प्रदेश में महाप्राण ध्यान की साधना प्रारम्भ करने गये हुए थे अतः स्वर्गस्थ आचार्य सम्भूतविजय के शिष्य आर्य स्थूलभद्र के तत्वावधान में यह वाचना हुई ।

---

[1] केहि वि विराहणा-भीरुएहिं अइभीरुएहिं कम्माणं ।
समरोहिं संकिलिट्ठं, पच्चक्खायाइं भत्ताइं ।।६।। [तित्थोगालियपइण्णा]

[2] (क) ते दाइं एक्कमेक्कं, गयसेसा विरस दट्ठूण ।
परलोगगमणपच्चागयं व मण्णंति अप्पाणं ।।१२।। [तित्थोगालिय प०]

(ख) जाओ अ तम्मि समए दुक्कालो दोय दस य वरिसाणि ।
सव्वो साहुसमूहो गओ तओ जलहितीरेसु ।।
तदुवरमे सो पुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया ।
संघेण सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थेति ।।
जं जस्स आसि पासे उद्देसज्झयणमाइ संघडिउं ।
तं सव्वं एक्कारय अंगाइं तहेव ठवियाइं ।। [उपदेशपद, हरिभद्रसूरिकृत]

[3] ते विंति एक्कमिक्कं, सज्भाओ कस्स कित्तिओ धरंति ।
हंति दुट्ठुकालेणं, अम्हं नट्ठो हु सज्भावो ।।१३।।
[तित्थोगालियपइन्ना (अप्रकाशित)]

द्वादशांगी के अनुक्रम से एक-एक अंग की समीचीनरूपेण वाचना में श्रमणों के पारस्परिक आत्यन्तिक सहयोग से विस्मृत पाठों को यथातथ्यरूपेण संकलित कर लिया गया। कतिपय मासों के अनवरत एवं अथक प्रयास से सम्पूर्ण एकादशांगी की वाचना संपन्न हुई। सब साधुओं ने अपने विस्मृत पाठों को उन साधुओं से सुन-सुन कर कण्ठस्थ किया जिनको कि वे कण्ठस्थ थे। इस प्रकार श्रमणसंघ की दूरदर्शिता और परस्पर सहयोग एवं आदान-प्रदान की वृत्ति ने एकादशांगी को विनष्ट होने से बचा लिया। दुष्काल के दुस्सह ताप से शुष्क श्रुतसागर पुनः श्रमणसंघ के मानस में अपनी पूर्ववत् अथाह ज्ञान-जलराशि और उत्ताल तरंगों के साथ कल्लोलित हो उठा।

एक विकट समस्या

एकादशांगी की वाचना के समीचीनतया सम्पूर्ण होते ही श्रमणसंघ के समक्ष श्रुत की रक्षा के विषय में एक विकट समस्या उपस्थित हो गई। वह यह कि उपस्थित श्रमणों में दृष्टिवाद का ज्ञाता एक भी श्रमण विद्यमान नहीं था। श्रमणसंघ के प्रत्येक साधु को पूछा गया कि क्या उनमें कोई चतुर्दश पूर्वधर है? पर सब का उत्तर नकारात्मक था। इस पर श्रमणसंघ को बड़ी चिन्ता हुई कि बिना दृष्टिवाद के भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित प्रवचनों के सार को किस प्रकार धारण किया जा सकता है?[1] गम्भीर मन्त्रणा के पश्चात् श्रमणसंघ को आशा की एक किरण दृष्टिगोचर हुई। संघ के समक्ष कतिपय श्रमणों ने यह बात रखी कि समस्त श्रमणसंघ में केवल आचार्य भद्रबाहु ही चतुर्दशपूर्वधर हैं। वे इस समय नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे हैं। केवल वे ही चतुर्दश पूर्वों की सम्पूर्ण वाचनाएं श्रमणों को दे कर दृष्टिवाद को नष्ट होने से बचा सकते हैं। संघ के समक्ष यह विचार भी रखा गया कि इस प्रकार की उच्च-कोटि की आध्यात्मिक साधना में निरत आचार्य भद्रबाहु श्रमणों को पूर्वों की वाचना देना स्वीकार न करें तो उस दशा में क्या उपाय किया जाय।

अन्ततोगत्वा श्रमणसंघ द्वारा यही निश्चय किया गया कि श्रमणों के एक विशाल संघाटक को भद्रबाहु के पास नेपाल भेज कर संघ की ओर से प्रार्थना की जाय कि वे साधुओं को चतुर्दश पूर्वों की वाचनाएं दे कर श्रुतसागर की रक्षा करें। श्रमणसंघ के इस निर्णय के अनुसार स्थविरों के तत्वावधान में श्रमणों का एक बड़ा संघाटक पाटलीपुत्र से नेपाल की ओर प्रस्थित हुआ। श्रुतरक्षा की पावन एवं अमिट अभिलाषा लिये हुए उग्र विहार करता हुआ वह श्रमणों का संघाटक कुछ ही दिनों में आचार्य भद्रबाहु की सेवा में नेपाल पहुंचा। सविधि वंदन के पश्चात् उस संघाटक के मुखिया स्थविरों ने उस समय के सर्वसत्तासम्पन्न आचार्य भद्रबाहु की सेवा में संघ की ओर से निवेदन किया—"केवली तुल्य भगवन्! पाटलीपुत्र में एकत्रित श्रमणसंघ ने एकादशांगी वाचना के अनन्तर

---

[1] ते विंति सव्व सारस्स दिट्ठिवायस्स नत्थि पडिसारो।
कह पुव्वगएण विणा, पवयणसारं धरेहामो ॥१५॥ [तित्थोगालियपइण्णा (अप्रकाशित)]

आपकी सेवा में प्रार्थना के रूप में यह संदेश भेजा है कि आज श्रमणसंघ में आपके अतिरिक्त चतुर्दश पूर्वों का ज्ञाता और कोई अन्य श्रमण अवशिष्ट नहीं रहा है अतः श्रुतरक्षा हेतु आप योग्य श्रमणों को चौदह पूर्वों का ज्ञान प्रदान करें।"

आवश्यक चूर्णि और धर्मसागरकृत तपागच्छ पट्टावली के अनुसार पाटलिपुत्र से एक साधुओं का संघाटक भद्रबाहु को लाने के लिये नैपाल भेजा गया। महाप्राण ध्यान में संलग्न होने के कारण भद्रबाहु द्वारा संघाज्ञा के अस्वीकार किये जाने पर संघ ने दूसरा संघाटक भेजा। उस संघाटक ने भद्रबाहु से पूछा — संघ की आज्ञा न मानने वालों के लिये किस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है ? भद्रबाहु ने कहा — "बहिष्कार। पर मैं महाप्राण ध्यान की साधना प्रारम्भ कर चुका हूँ, संघ मेरे ऊपर अनुग्रह करे और सुयोग्य शिक्षार्थी श्रमणों को यहां भेज दे। मैं उन्हें प्रतिदिन ७ वाचनाएं देता रहूंगा।" तदनन्तर संघ ने स्थूलभद्र आदि ५०० श्रमणों को भद्रबाहु के पास पूर्वज्ञान के अभ्यासार्थ भेजा, इस प्रकार का उल्लेख उपरोक्त ग्रन्थों में किया गया है।

पर तित्थोगालिय पइन्ना के अनुसार एक ही बार भेजे गए संघाटक द्वारा ही उपरिलिखित पूरी बातचीत व व्यवस्था की गई। संभव है संघाटक द्वारा भद्रबाहु की ओर से स्वीकृति सूचक उत्तर पाने पर ही पाटलीपुत्र से साधु-समुदाय को नैपाल भेजा गया हो। तित्थोगाली का उल्लेख इस प्रकार है :—

आगत श्रमणों से श्रमणसंघ का संदेश सुन कर आचार्य भद्रबाहु ने कहा — "पूर्वों के पाठ अति क्लिष्ट हैं, उनकी वाचना देने के लिये पर्याप्त समय की अपेक्षा है। परन्तु मेरे जीवन का संध्याकाल समुपस्थित हो जाने के फलस्वरूप पर्याप्त समयाभाव के कारण मैं श्रमणों को पूर्वों की वाचनाएं देने में असमर्थ हूं। मेरी अब थोड़ी ही आयु अवशिष्ट है. मैं आत्मकल्याण में व्यस्त हूं, ऐसी दशा में इन वाचनाओं के देने से मेरा कौन सा आत्म-प्रयोजन सिद्ध होगा ?"

संघ की विनति को आचार्य भद्रबाहु द्वारा इस प्रकार ठुकराये जाने पर संघ की ओर से नियुक्त श्रमणों ने कुछ आवेशपूर्ण स्वर में भद्रवाहु से कहा "आचार्यप्रवर ! हमें वड़े दुःख के साथ आपसे यह पूछने को वाध्य होना पड़ रहा है कि संघाज्ञा के न मानने के परिणामस्वरूप क्या दण्ड प्राप्त होता है ?"[1]

आचार्य भद्रवाहु ने गम्भीरतापूर्ण स्वर में उत्तर दिया — "वीरशासन के नियमानुसार इस प्रकार का उत्तर देने वाला साधु श्रुतनिन्हव समझा जाकर संघ से वहिष्कृत कर दिया जाना चाहिये।"

इस पर साधु — संघाटक के मुखियों ने कहा — "आप संघ के सर्वोच्च नायक हैं। ऐसी दशा में वारह प्रकार के संभोगविच्छेद के नियम को जानते हुए भी आप पूर्वों की वाचना देना अस्वीकार किस प्रकार कर रहे हैं ?"

---

[1] सो भणति एव भणिए अविसन्नो वीरवयणनियमेण।
वज्जेयव्वो सुयनिण्हवो त्ति,......॥२५॥　　[तित्थोगालियपइन्ना]

आचार्य भद्रबाहु ने निर्णयात्मक स्वर में कहा – "एक शर्त पर मैं वाचना देने को तैयार हूं। वह यह है कि जिस समय मैं महाप्राण ध्यान द्वारा आत्म-साधना में लगा रहूं उस समय मैं किसी से बात नहीं करूंगा और न उस समय और कोई मुझसे बात करे। ध्यान के पारण के पश्चात् मैं साधुओं को पूर्वों की प्रतिदिन ७ वाचनाएं दूंगा। एक वाचना गोचरी से लौटने के पश्चात्, तीन वाचनाएं तीनों कालवेलाओं में और तीन वाचनाएं सायंकाल के प्रतिक्रमण के पश्चात् दूंगा। इस प्रकार "मेरे ध्यान में भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होगी और संघ के आदेश की पूर्ति भी हो जायगी।"[१]

श्रमण-संघाटक के मुखियों ने भद्रबाहु की इस शर्त को स्वीकार कर लिया और आर्य स्थूलभद्र आदि ५०० मेधावी श्रमणों को आचार्य भद्रबाहु ने अपनी प्रतिज्ञानुसार पूर्वों की वाचना देना प्रारम्भ किया। विषय की जटिलता, दुरूहता अथवा यथेप्सित वाचनाएं न मिलने के कारण शनैः शनैः ४९९ पूर्व-ज्ञान के शिक्षार्थी-श्रमण हताश हो पढ़ना बन्द कर वहां से पाटलिपुत्र लौट गये पर आर्य स्थूलभद्र धैर्य, लगन एवं बड़े परिश्रम के साथ निरन्तर आचार्य भद्रबाहु के पास पूर्वों का अध्ययन करते रहे। इस प्रकार अपने द्वादशवार्षिक महाप्राण ध्यान के अवशिष्ट काल में आचार्य भद्रबाहु ने ध्यान की साधना के साथ-साथ आर्य स्थूलभद्र को निरन्तर आठ वर्ष तक वाचनाएं दीं और उस आठ वर्ष की अवधि में आर्य स्थूलभद्र आठ पूर्वों के ज्ञाता बन गये। आर्य स्थूलभद्र के धैर्य और ज्ञान-पिपासा आदि गुणों से प्रसन्न हो कर आचार्य भद्रबाहु ने एक दिन उनसे कहा– "वत्स ! अब मेरे ध्यान की समाप्ति का समय सन्निकट आ पहुंचा है। ध्यान के समाप्त हो जाने पर मैं तुम्हें यथेप्सित वाचनाएं देता रहूँगा।"

गुरुचरणों में मस्तक झुकाते हुए स्थूलभद्र ने पूछा – "भगवन् ! अब मुझे और कितना अध्ययन करना अवशिष्ट है ?"

आचार्य भद्रबाहु ने उत्तर में कहा – "सौम्य ! सिन्धु की अगाध जलराशि में से एक बूंद के तुल्य तुम्हारा अध्ययन सम्पन्न हुआ है। एक बिन्दु के अतिरिक्त अभी सिन्धु सम ज्ञान का अध्ययन अवशिष्ट है।"

---

१ "तम्मि य काले बारसवरिसो दुक्कालो उवट्ठितो। संजता इतो-इतो य समुद्दतीरे गच्छित्ता पुणरवि 'पाडलिपुत्ते' मिलिता। तेसिं अण्णस्स उद्देसो, अण्णस्स खंड, एवं संघाडितेहिं एक्कारस अंगाणि संघातिताणि दिट्ठिवादो नत्थि। 'नेपाल' वत्तिणीए य भद्दबाहुसामी अच्छंति चोद्दसपुव्वी, तेसिं संघेणं पत्थवितो संघाडओ 'दिट्ठिवाद' वाएहि त्ति। गतो, निवेदितं संघकज्जं। तं ते भणंति-दुक्कालनिमित्तं महापाणं न पविट्ठो मि तो न जाति वायणं दातुं। पडिनियत्तेहिं संघस्स अक्खातं। तेहिं अण्णो वि संघाडओ विसज्जितो, जो संघस्स आणं अतिक्कमति तस्स को दंडो ? तो अक्खाई-उग्घाडिज्जइ। ते भणंति मा उग्घाडेह, पेसह मेहावी, सत्त पडिपुच्छगाणि देमि।"

[आवश्यकचूर्णि, भा० २, पृ० १८७]

अपने शिष्य के शुभ्र मुखमण्डल पर निराशा की हल्की सी काली छाया देख कर आचार्य भद्रबाहु ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा – "हताश न हो सौम्य ! मैं तुम्हें शेष पूर्वों का अध्ययन बहुत शीघ्र ही करवा दूंगा ।"

महाप्राण ध्यान की परिसमाप्ति होते-होते आचार्य भद्रबाहु ने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम दश पूर्वों का ज्ञान करवा दिया । ध्यान के समाप्त होते ही आचार्य भद्रबाहु ने अपने शिष्यसंघ सहित नेपाल से पाटलिपुत्र की ओर विहार किया । महान् आचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु के शुभागमन का समाचार सुन कर पाटलिपुत्र के नागरिक हर्ष से फूले नहीं समाये । हजारों नागरिकों, सामन्तों और श्रेष्ठियों ने सम्मुख जाकर उस महान् योगी के भावपूर्ण स्वागत एवं दर्शन, वन्दन तथा उपदेश श्रवण से अपने आपको कृतकृत्य किया । नगर के बाहर उद्यान में पहुंच कर आचार्य भद्रबाहु ने उद्वेलित सागर की तरह उमड़े हुए सुविशाल जनसमूह के समक्ष अध्यात्म ज्ञान से ओतःप्रोत धर्मोपदेश दिया । आचार्यश्री की पातकप्रक्षालिनी जगद्धितकारिणी अमृत-वाणी को सुन कर अनेक भव्यों ने यथाशक्ति सर्वविरति और देशविरति व्रत ग्रहण किये ।

आचार्य भद्रबाहु और आर्य स्थूलभद्र आदि महर्षियों के दर्शन हेतु स्थूलभद्र की यक्षा आदि सातों बहनें साध्वियां भी नगर के बाहर उस उद्यान में पहुंचीं । आचार्यश्री को प्रगाढ़ श्रद्धा से वन्दन करने के पश्चात् महासती यक्षा ने हाथ जोड़ कर अति विनीत स्वर में आचार्यश्री से पूछा – "भगवन् ! हमारे ज्येष्ठ बन्धु आर्य स्थूलभद्र कहां विराजते हैं ?"

आचार्यश्री ने फरमाया – "आर्य स्थूलभद्र उस ओर के जीर्ण-शीर्ण खण्डहर-प्राय चैत्य में स्वाध्याय कर रहे होंगे ।"

आर्या यक्षा आदि सातों बहनें अनेक पूर्वों का ज्ञान उपार्जित कर वर्षों पश्चात् आये हुए अपने ज्येष्ठ बन्धु को देखने की तीव्र उत्कण्ठा लिये आचार्यश्री द्वारा इंगित खण्डहर की ओर बढ़ीं । दूर से ही अपनी बहनों को आती हुई देख कर आर्य स्थूलभद्र के मन में अपनी बहिनों को अपनी विद्या का चमत्कार दिखाने का कुतूहल उत्पन्न हुआ । उन्होंने तत्क्षण विद्या के प्रभाव से घनी और लम्बी केसर युक्त अति विशालकाय सिंह का स्वरूप बना लिया । उस जीर्ण चैत्य के अन्दर पहुंच कर साध्वियों ने देखा कि वहां एक भयावह सिंह बैठा हुआ है और उनके अग्रज आर्य स्थूलभद्र वहां कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं, तो वे तत्क्षण आचार्यश्री के पास लौट कर कहने लगीं – "भगवन् वहां तो एक केसरी बैठा हुआ है, आर्य स्थूलभद्र वहां कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं । हम इस आशंका से आकुल-व्याकुल हो रही हैं कि कहीं उन होनहार विद्वान् श्रमण को सिंह ने तो नहीं खा डाला है ?"

आचार्यश्री ने ज्ञानोपयोग से तत्क्षण वस्तुस्थिति को समझ कर आश्वासन भरे स्वर कहा – "वत्साओ ! लौट कर देखो, अब वहां कोई सिंह नहीं अपितु

तुम्हारा बड़ा भाई ही बैठा हुआ है। जिसे तुम सिंह समझ रही हो वह सिंह नहीं तुम्हारा भाई ही था।"

यक्षा आदि साध्वियां जब चैत्य में लौटीं तो वहां सिंह के स्थान पर अपने भाई को देख कर वे बड़ी प्रसन्न हुईं। वन्दन-नमन के पश्चात् उन्होंने उत्सुकता भरे स्वर में पूछा – "ज्येष्ठार्य ! अभी कुछ ही क्षणों पहले तो आपके स्थान पर सिंह बैठा हुआ था, वह सिंह कहां गया ?"

आर्य स्थूलभद्र ने हँसते हुए कहा – "यहां कोई सिंह नहीं था, वह तो मैंने अपनी विद्या का परीक्षण किया था।"

अपने अग्रज को अद्भुत विद्याओं का आगार समझ कर यक्षा आदि सातों साध्वियों ने असीम आनन्द का अनुभव किया।

तदनन्तर साध्वी यक्षा ने अपने अनुज मुनि श्रीयक को एकाशन और तत्पश्चात् उपवास करने की प्रेरणा देने व उपवास के फलस्वरूप परम सुकुमार श्रीयक के दिवंगत होने की दुखद घटना मुनि स्थूलभद्र को सुनाई।

मुनि श्रीयक का उपवास में मरण होने के कारण साध्वी यक्षा को बड़ा दुःख हुआ। कहा जाता है कि यक्षा ने मुनि श्रीयक की मृत्यु के लिये अपने आपको दोषी मानते हुए उग्र तपस्या करना प्रारम्भ किया। अनेक पूर्वाचार्यों ने यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि यक्षा की कठोर तपस्या से चिन्तित हो संघ ने शासनदेवी की साधना की। दैवी सहायता से साध्वी यक्षा महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर स्वामी की सेवा में पहुँची। श्री सीमंधर प्रभु ने साध्वी यक्षा को निर्दोष वताते हुए उसे चार अध्ययन चूलिका रूप में प्रदान किये।

आचार्य भद्रवाहु के समय में साध्वी समुदाय का नेतृत्व किस आर्या द्वारा किया जाता रहा, इसका तो कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता पर परम विदुषी साध्वियां यक्षा आदि आर्य स्थूलभद्र की ७ वहिनों के नाम प्रमुख रूप से आते हैं।[1] इससे यह अनुमान होना सहज है कि आर्या यक्षा का तत्कालीन साध्वीसंघ में अवश्य ही कोई विशिष्ट स्थान रहा होगा।

ज्ञानाराधन सम्वन्धी कुछ प्रश्नोत्तरों के पश्चात् वे सातों साध्वियां अपने स्थान को लौट गईं।

साध्वियों के लौट जाने के पश्चात् वाचना का समय आने पर जव आर्य स्थूलभद्र आचार्यश्री की सेवा में पहुंचे तो आचार्य भद्रवाहु ने स्पष्ट शब्दों में कहा – "वत्स ! ज्ञानोपार्जन करना वड़ा कठिन कार्य है पर वस्तुतः उपार्जित किये हुए ज्ञान को पचा जाना उससे भी अति दुष्कर है। तुम गोपनीय विद्या को पचा नहीं सके। तुम अपने शक्तिप्रदर्शन के लोभ का संवरण नहीं कर सके।

---

[1] थेरस्स णं अज्ज संभूइविजयस्स माढरगुत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ, अभिन्नायाओ होत्था तं जहा – जक्खा य जक्खदिन्ना...... [कल्पसूत्र]

तुमने अपनी बहनों के समक्ष अपनी गुरुता और अपनी विद्या का चमत्कार प्रकट कर ही दिया। ऐसी दशा में तुम अब आगे के पूर्वों की वाचना के योग्य पात्र नहीं हो। जितना तुमने प्राप्त कर लिया है, उसी में सन्तोष करो। यह याद रखो, साधना के अति विकट पथ पर विचरण करने वाला केवल वही साधक अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है, जो पूर्णरूपेण स्व को विस्मृत कर देता है। प्रदर्शन स्व की विस्मृति नहीं अपितु स्व की ओर आकर्षण है। साधक को एक क्षण के लिये भी यह नहीं भूलना चाहिये कि आत्मानन्द की अवाप्ति ही उसका एकमात्र ध्येय है। आत्मानन्द की अनुभूति के समक्ष अष्ट सिद्धि, नवनिधि तुल्य उच्च से उच्च कोटि के वैभव का न कभी कोई मूल्य रहा है और न होना ही चाहिए। समस्त भौतिक सम्पदाएं आत्मानन्द की तुलना में नगण्य, तुच्छ और नश्वर हैं।"

आचार्य श्री की बात सुन कर आर्य स्थूलभद्र को अपनी भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने गुरुचरणों पर अपना मस्तक रखते हुए अनेक वार क्षमायाचनाएं कीं और बार-बार इस प्रतिज्ञा को दोहरा गये कि वे भविष्य में इस प्रकार की भूल कभी नहीं करेंगे। किन्तु आचार्य भद्रबाहु ने यह कहते हुए वाचना देने से इन्कार कर दिया कि अन्तिम चार पूर्वों के अनेक दिव्य विद्याओं एवं चमत्कारपूर्ण लब्धियों से ओत-प्रोत ज्ञान को धारण करने के लिये वह योग्य पात्र नहीं है।

वस्तुस्थिति का वोध होते ही समस्त श्रीसंघ भी आचार्य भद्रवाहु की सेवा में उपस्थित हुआ और आचार्य श्री से बड़ी अनुनय-विनय के साथ प्रार्थना करने लगा कि आर्य स्थूलभद्र के अपराध को क्षमा कर के अथवा उसका उचित दण्ड दे कर उन्हें आगे के पूर्वों की वाचनाएं दी जायं।

संघ की प्रार्थना को ध्यानपूर्वक सुनने के पश्चात् आचार्य भद्रवाहु ने कहा– "वस्तुतः पूर्वज्ञान का योग्य पात्र समझ कर मैंने आर्य स्थूलभद्र को दो वस्तु कम १० पूर्व का अर्थ और पूर्ण विवेचन सहित ज्ञान दिया है। मैं यह भलीभांति जानता हूं कि बुद्धिवल, अध्यवसाय, धैर्य, गाम्भीर्य, वैराग्य, त्याग और विनय आदि जो गुण स्थूलभद्र में हैं, उस दृष्टि से इनकी तुलना करने वाला अन्य कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। आप लोगों को चिन्तित अथवा दुःखित होने की आवश्यकता नहीं। मैं जो आगे के चार पूर्वों की वाचनाएं इन्हें नहीं दे रहा हूं उसके पीछे एक वहुत वड़ा कारण है। यह तो सर्वविदित ही है कि आर्य स्थूलभद्र का जन्म महामन्त्री शकडाल के यहां हुआ है। इन्होंने कुमारावस्था में समस्त विद्याओं का अध्ययन कर उनमें निपुणता प्राप्त की। रूप-लावण्यादि स्त्रियोचित सभी गुणों में सुरवाला के समान कोशा के लक्ष्मीगृह तुल्य सभी सामग्रियों से सम्पन्न एवं समृद्ध सुरम्य भवन में रहते हुए इन्होंने सुरोपम कामादि सभी सुखों का कोशा के साथ जी भर वारह वर्षों तक उपभोग किया। पितृमरण के पश्चात् मगधाधिपति नन्द द्वारा महामात्य पदग्रहण करने की प्रार्थना पर विचार करते

हुए इन्होंने समस्त सांसारिक वैभव एवं सुखोपभोगादि को तुच्छ समझा। इन्हें तत्क्षण संसार से उत्कट विरक्ति हो गई और तत्काल मगध के महामात्य पद को, अपने घर की तथा कोशा की अपार सम्पत्ति को और अपनी प्रेयसी कोशा तक को युवावस्था में त्याग कर संयम ग्रहण कर लिया। गुरू की आज्ञा ले कर चार मास तक षड्रस भोजन करते हुए निरन्तर कोशा के एकान्त संसर्ग में रह कर भी संयम-मार्ग पर मेरू गिरी की तरह स्थिर रहे। अजेय कामदेव पर इनकी इस महान् विजय के उपलक्ष में आचार्य संभूतविजय ने इन्हें 'दुष्कर-दुष्करकारकः' की उपाधि से विभूषित किया।[1]

इस प्रकार का महान् त्यागी, उच्चकोटि का मनोविजयी, दश पूर्वों के ज्ञान का धारक यह कुल-सम्पन्न व्यक्ति भी अपने शक्ति-प्रदर्शन के लोभ का संवरण नहीं कर सका[2] तो अन्य साधारण लोग तो उन दिव्य विद्याओं, शक्तियों और लब्धियों को प्राप्त कर किस प्रकार पचा सकेंगे, इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती।

अब भविष्य में ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होता जायगा त्यों-त्यों क्षण-क्षण में रुष्ट हो जाने वाले, अविनीत और गुरू की अवज्ञा करने वाले स्वल्पसत्वधारी श्रमण होंगे। उन मुनियों के पास यदि इस प्रकार की महाशक्तिशालिनी विद्याएं चली गईं तो वे क्षुद्रबुद्धि वाले श्रमण साधारण से साधारण बात पर किसी से क्रुद्ध हो कर चार प्रकार की विद्याओं के बल से लोगों का अनिष्ट कर अपने संयम से पतित हो सर्वनाश तक करने पर उतारू हो जायेंगे और इस प्रकार के उन दुष्ट कर्मों के फलस्वरूप अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करते रहेंगे।[3]

ऐसी दशा में सभी दृष्टियों से श्रेयस्कार यही है कि शेष चार पूर्वों का ज्ञान अब भविष्य में लोगों को न दिया जाय।"

इस पर आर्य स्थूलभद्र ने कहा – "आप जो फरमा रहे हैं, वह ठीक है परन्तु आने वाली पीढ़ियां यही कहेंगी कि स्थूलभद्र की भूल के कारण अंतिम

---

[1] रायकुलसरिसभूते, सगडालकुलम्मि एस संभूतो।
गेहगओ चेव पुणो, विसारओ सव्वसत्थेसु ॥६६॥
सो कुलघरस्स सिद्धि, गणियावरसंतियं च सामिद्धि।
पाएण पुणो वेउं, णातिणगरा अणवयक्खा ॥८७॥ [तित्थोगालियपइन्ना]

[2] जो एवं पुव्वविऊ, एवं सज्झायझाणउज्जुत्तो,
गारवकरणेण हिओ, सीलभरूव्वहणधारणया ॥८८॥ [वही]

[3] जह जह एही काले, तह तह अप्पावराहसंरद्धा।
अणगारा पडणीए, निसंसयउ वट्टवेहिंति ॥८९॥
उप्पायणीहि अवरे, केई विज्जाए इत्तरणं।
उ व्विहविज्जाहि, इट्ठाहि काहि उड्डाहं ॥९०॥
मंतेहि य चुण्णेहि य कुच्छियविज्जाहि तेण निमित्तेणं।
काऊण उवज्झायं, भमिही सो णंतसंसारे। [वही]

चार पूर्व विनष्ट हो गये । इस अपयश की कल्पनामात्र से मैं सिहर उठता हूं अतः आप मुझे भले ही शेष पूर्वों का अर्थ और विशिष्ट विवेचन न बताइये पर मूल रूप से तो उनकी वाचना मुझे देने की कृपा करिये ।"

चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ने यह निश्चित तौर पर समझ लिया था कि सम्पूर्ण चतुर्दश पूर्वों के ज्ञान में से अंतिम चार पूर्वों का ज्ञान उनकी आयु की समाप्ति के साथ ही विछिन्न हो जायगा; उन्होंने आर्य स्थूलभद्र को अंतिम चार पूर्वों की मूल मात्र वाचनाएं दीं ।

वीर निर्वाण संवत् १७० में, तदनुसार ईसा से ३५७ वर्ष पूर्व आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गारोहण के पश्चात् आर्य स्थूलभद्र भगवान् महावीर के आठवें पट्टधर आचार्य बने ।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं का इस विषय में मतैक्य है कि आचार्य भद्रबाहु भगवान् महावीर के शासन में अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर अथवा श्रुतकेवली हुए ।[1]

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने स्थूलभद्र को भी चतुर्दशपूर्वधर माना है । उनके अनुसार भद्रबाहु ने इस आदेश के साथ शेष पूर्वों का ज्ञान दिया कि अन्य किसी को इन पूर्वों का ज्ञान नहीं दिया जाय । जैसा कि उन्होंने परिशिष्ट पर्व में लिखा है :–

स संघेनाग्रहादुक्तो, विवेदेत्युपयोगतः ।
न मत्तः शेषपूर्वाणामुच्छेदो भाव्यतस्तु सः ॥१०९॥
अन्यस्य शेषपूर्वाणि प्रदेयानि त्वया न हि ।
इत्यभिग्राह्य भगवान् स्थूलभद्रमवाचयत् ॥११०॥
सर्वपूर्वधरोऽथासीत् स्थूलभद्रो महामुनिः ॥१११॥

कल्प किरणावली में भी आचार्य स्थूलभद्र को चौदह पूर्वधर माना है । यहां अन्तिम चार पूर्वों की मूल वाचना आचार्य भद्रबाहु ने आर्य स्थूलभद्र को दी थी इसी दृष्टि से उन्हें चतुर्दश पूर्वधर मान लिया गया है । वस्तुतः आर्य स्थूलभद्र दो वस्तु कम १० पूर्वों के ही पूर्ण रूप से ज्ञाता थे । अन्तिम चार पूर्वों का तो उन्हें बिना अर्थ के मूल पाठ ही पढ़ाया गया था ।

संघाधिनायक बनने के पश्चात् आचार्य स्थूलभद्र ने विभिन्न क्षेत्रों में विहार कर ४५ वर्ष तक अनेक भव्यों का उद्धार करते हुए जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की ।

---

[1] पढमो दसपुव्वीणं, सगडालकुलस्स जसकरो धीरो ।
नामेण थूलभद्दो, अवहिं साधम्मभद्दो त्ति ॥९७॥　　[तित्थोगालीपइन्ना]

(ख) सिरिगोदमेण दिण्णं सुहम्मणाहस्स तेण जंबुस्स ।
विण्हु णंदीमित्तो तत्तो य पराजिदो य तत्तो ॥४३॥
गोवद्धणो य तत्तो भद्दभुओ अंतकेवली कहिओ ।
[अंगपण्णत्ती (दिगम्बरमान्यता का ग्रन्थ)]

मित्रं धर्मेण योजयेत्

आचार्य स्थूलभद्र अनेक क्षेत्रों के भव्यों का उद्धार करते हुए विहारानुक्रम से एक दिन श्रावस्ती पधारे । दर्शन-वन्दन-उपदेशश्रवण की उमंगों से उद्वेलित जनसमुद्र आचार्यश्री की सेवा में उमड़ पड़ा । समस्त संसार के प्राणियों की कल्याणकामना करने वाले आचार्य भद्रबाहु के भवरोग निवारक भावपूर्ण उपदेशामृत का पान कर श्रावस्ती के आबालवृद्ध नागरिकों ने परमानन्द का अनुभव करते हुए सच्चे धर्म का स्वरूप समझा ।

देशनानन्तर श्रोताओं में अपने बालसखा धनदेव को न देख कर आचार्य स्थूलभद्र ने विचार किया कि श्रावस्ती के प्रायः सभी श्रद्धालु जन वहां आये हैं पर धनदेव नहीं आया । हो सकता है वह कहीं अन्यत्र गया हुआ हो अथवा रुग्ण हो । उसके न आने के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य है अन्यथा वह उनका नाम सुनते ही अवश्य उपस्थित होता । ऐसी दशा में उन्हें स्वयं उसके घर जा कर देखना चाहिये कि आत्मकल्याण की ओर भी उसका ध्यान है अथवा नहीं ।

इस प्रकार विचार कर आचार्य स्थूलभद्र धनदेव पर विशेष अनुग्रह कर मार्ग में साथ हुए जनसमूह सहित उसके घर पहुंचे । धनदेव की पत्नी कल्पवृक्ष के समान महान् आचार्य को अपने घर के प्रांगण में देख कर हर्षविभोर हो उठी । उसने भक्तिपूर्वक आचार्यश्री को वन्दन किया और एक काष्टासन प्रस्तुत करते हुए उस पर विराजमान होने की उनसे प्रार्थना की ।

आसन पर बैठने के पश्चात् आचार्य स्थूलभद्र ने धनदेव की पत्नी से धनदेव के सम्बन्ध में पूछा कि क्या वह कहीं बाहर गया हुआ है ?

धनदेव की पत्नी ने उत्तर दिया – "भगवन् ! वे अपनी समस्त सम्पत्ति का व्यय कर चुकने के पश्चात् दैन्य के दारुण दुःख से पीड़ित हो अर्थोपार्जन हेतु देशान्तर में गये हुए हैं ।"

अपने बालसखा की दैन्यावस्था पर विचार करते हुए स्थूलभद्र ने अपने ज्ञानबल से देखा कि धनदेव के घर में एक स्तम्भ के नीचे अपार निधि रखी हुई है । उन्होंने उस स्तम्भ की ओर देखते हुए धनदेव की गृहिणी से कहा – "श्राविके ! देख, संसार का वास्तविक स्वरूप यही है । कितनी विपुल सम्पत्ति थी तुम्हारे घर में, कितना बड़ा व्यवसाय था धनदेव का और आज यह दशा हो गई है ।"

तदनन्तर थोड़े समय तक सारभूत धर्मोपदेश दे कर आचार्य भद्रबाहु अपने स्थान की ओर लौट गये और दूसरे दिन वहां से विहार कर धर्म का दिव्य सन्देश जन-जन तक पहुंचाते हुए अनेक क्षेत्रों में विचरण करने लगे ।

धनदेव को बहुत कुछ प्रयास करने पर भी अर्थप्राप्ति नहीं हुई और जिस दशा में, जिन वस्त्रों को पहने हुए वह घर से निकला था, उसी दशा में और उन्हीं वस्त्रों को धारण किये हुए कुछ दिनों पश्चात् वह पुनः अपने घर लौटा । अपनी

पत्नी के मुख से आचार्य स्थूलभद्र के आगमन का समाचार सुन कर उसने उससे पूछा –"क्या आचार्यदेव ने तुम्हें कुछ कहा था ?"

धनदेव की पत्नी ने उत्तर दिया – "संसार की विचित्र गति और धर्मोपदेश के अतिरिक्त उन्होंने कोई विशेष बात तो नहीं कही पर वे वार-बार अपने घर के इस स्तम्भ की ओर देख रहे थे।"

धनदेव समझ गया कि महापुरुषों की कोई भी चेष्टा निरर्थक नहीं होती। उन ज्ञानी महात्मा की दृष्टि इस स्तम्भ पर अटकी तो निश्चित रूप से इसके नीचे विपुल धन होना चाहिये। इस प्रकार विचार कर धनदेव ने उस स्तम्भ के आसपास की भूमि को खोदना प्रारम्भ किया। थोड़े से परिश्रम के पश्चात् ही धनदेव ने देखा कि उस थम्भे के नीचे अपार सम्पत्ति गडी पड़ी है। धनदेव ने भूमि में दबी पड़ी उस सम्पत्ति को निकाला और पुनः कुबेर के समान सम्पत्तिशाली श्रीमन्तों में उसकी गणना होने लगी।

धनदेव को ज्यों ही विदित हुआ कि आचार्य स्थूलभद्र पाटलिपुत्र में विराजमान हैं, तो वह उनकी सेवा में पाटलिपुत्र पहुंचा। आचार्यश्री और समस्त मुनिवृन्द को भक्ति सहित वन्दन-नमन करने के पश्चात् धनदेव ने आचार्यश्री की सेवा में निवेदन किया – "भगवन्! मेरी अनुपस्थिति में मेरे घर में आपके पावन पदार्पण एवं कृपा-कटाक्षनिक्षेप से मेरा दारिद्रय-दुःख दूर हुआ। आप ही मेरे स्वामी, गुरु और सर्वस्व हैं। कृपा कर आदेश दीजिये कि मैं क्या सेवा करूं ?"

आचार्य स्थूलभद्र ने कहा – "धनदेव! भगवान् जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित धर्म ही अक्षय एवं अव्यावाध सुख का देने वाला है अतः तुम अन्तर्मन से उसका यथाशक्ति पालन करो। वस तुम्हारे लिये सबसे वड़ा और परमावश्यक यही कार्य है।"

आचार्य स्थूलभद्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर धनदेव भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित दया-धर्म का व्रतधारी श्रद्धालु उपासक वना और कतिपय दिनों तक आर्य स्थूलभद्र की सेवा में रह कर अपने घर लौट गया।

इस प्रकार प्राणिमात्र का कल्याण चाहने वाले करुणासागर आचार्य स्थूलभद्र ने अपने वालवय के मित्र धनदेव को सच्चे धर्म का अनुयायी और उपासक वना कर उसे भवभ्रमण से वचने का प्रशस्त मार्ग वताया।

तृतीय निन्हव अव्यक्तवादी की उत्पत्ति
(वीर निर्वाण संवत् २१४)

आचार्य स्थूलभद्र के आचार्यत्वकाल के ४४ वर्ष वीत जाने पर वीर निर्वाण संवत् २१४ में श्वेताम्विका नगरी में आपाढ़ाचार्य के शिष्यों से तीसरे निन्हव-अव्यक्तवादी की उत्पत्ति हुई। उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :–

एक दिन श्वेताम्विका नगरी में आर्य आपाढ़ नामक आचार्य अपने अनेक शिष्यों के साथ पउलापाढ़ नामक चैत्य में विराज रहे थे। वे अपने शिष्य समुदाय को वाचना प्रदान कर रहे थे। संयोगवश वाचनाकाल में ही आपाढ़ाचार्य एक

समय रात्रि में हृदयशूल की व्यथा से पीड़ित हो काल कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए। उस समय उनके सभी श्रमण निद्राधीन थे अतः गच्छ के किसी साधु को उनकी मृत्यु हो जाने के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका।

उधर सौधर्म देवलोक में तत्काल उत्पन्न हुए आचार्य आषाढ़ के जीव ने देवभव में अवधिज्ञान लगाकर जब वस्तुस्थिति को जाना तो अपने शिष्यों के प्रति अनुकम्पा से प्रेरित हो वे अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो गये। उन्होंने साधुओं को उठा कर वैरात्रिक काल के कार्यक्रम करने की उन्हें प्रेरणा दी और अवशिष्ट वाचनाएं यथासमय पूर्ण कीं। वाचनाएं पूरी होने के पश्चात् अपने शरीर को छोड़कर सौधर्म देवलोक में जाते समय उन्होंने साधुओं से कहा – "मुनियो! असंयत होते हुए भी मैंने आपको मुझे वन्दन करने से नहीं रोका, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें। आप लोग सर्वविरति साधु हैं और मैं अमुक रात्रि में काल कर देव बन चुका हूं पर तुम लोगों पर अनुकम्पा वश पुनः देवलोक से अपने इस शरीर में आकर मैंने वाचना-कार्य पूर्ण कराया है।"

इस प्रकार कहकर जब देव चला गया तब वे साधु मृत शरीर की परिस्थापनक्रिया करने के पश्चात् सोचने लगे – "अहो! हमने बहुत समय तक असंयती की वंदना की। न मालूम इस तरह अन्यत्र भी कौन वास्तव में संयमी और कौन देव है, यह मालूम करना कठिन है, अतः सबको वन्दन न करना ही समुचित है अन्यथा असंयमी-वंदन और मृषावाद का दोष लग सकता है।"

इस प्रकार तीव्र कर्म के उदय से वे अपरिणत बुद्धि साधु अव्यक्तवादी बन गये और उन्होंने परस्पर वन्दन-व्यवहार पूर्णतः बन्द कर दिया। स्थविरों ने उन्हें अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा – "साधुओ! यदि तुम्हें अन्य सब में सन्देह ही करना है तो देव की बात पर सन्देह क्यों नहीं किया? अपने इस अव्यक्तवादी सिद्धान्त के अनुसार तुम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि वह वस्तुतः कोई देव था या कोई मायावी। जिस प्रकार तुम्हें उसने अपने आपको देव बताया और बाहर से भी उसके दिव्य तेज को देखकर उसकी बात को सच मानते हुए उसे देव माना, उसी प्रकार साधु को भी उसके वचन और व्यवहार से सच मानना चाहिये।"

इस प्रकार अनेक तरह से समझाने पर भी जब वे साधु नहीं समझे तो उन्हें श्रमणसंघ द्वारा संघबाह्य घोषित कर दिया गया।

संघ से निष्कासित किये जाने के कुछ ही समय पश्चात् वे अव्यक्तवादी निन्हव साधु घूमते-घामते राजगृह नगर में आये। उस समय वहां मौर्यवंश में उत्पन्न बलभद्र[1] नामक राजा शासन करता था जो कि जैन धर्म का श्रद्धालु श्रावक था।

---

[1] नन्दवंश का अन्त और पाटलीपुत्र में मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य का अभ्युदय वीर नि० संवत् २१५ में हुआ अतः अनुमान किया जाता है कि वीर नि० सं० २१४ में निन्हव बनने के कतिपय वर्षों पश्चात् वे लोग अपने मत का प्रचार करते हुए राजगृह में आये हों और मौर्यवंशी सामन्त बलभद्र ने उन्हें प्रतिबोध दिया हो। – सम्पादक

राजा बलभद्र को जब यह विदित हुआ कि अव्यक्तवादी निन्हव राजगृह नगर के वाहर गुणशील उद्यान में आये हुए हैं तो उसने अपने सेवकों को भेजकर साधुओं को आमन्त्रित किया और उनको हाथियों द्वारा कटक-मर्दन से मारने की आज्ञा दी। जव साधुओं का मर्दन करने हेतु हाथी पास में लाये गये तो उन निन्हवों ने राजा से पूछा – "राजन्! हम तो जानते हैं कि तुम श्रावक हो, तव फिर तुम हम श्रमणों की हिंसा क्यों कर रहे हो ?"

राजा ने कहा – "महाराज ! आपके सिद्धान्तानुसार कौन जानता है कि मैं श्रावक हूं, अथवा नहीं। तुम सव भी चोर, गुप्तचर हत्यारे हो या साधु हो यह कोई नहीं जानता।"

साधुओं ने कहा – "हम साधु हैं।"

राजा ने कहा – "यदि ऐसा निश्चित है तो अव्यक्तवादी होकर परस्पर बड़ों को वन्दनादि क्यों नहीं करते ?" वर्षों से साथ-साथ रहने वाले आप लोगों को परस्पर एक-दूसरे पर यदि भरोसा नहीं है तो मुझे आप लोगों पर किस प्रकार विश्वास हो सकता है ?"

राजा की युक्तिसंगत बात सुनकर वे बड़े लज्जित हुए और उन निन्हव साधुओं की शंका का पूर्णतः समाधान हो गया। उन्होंने अव्यक्तवाद का परित्याग कर दिया और गुरू-चरणों में जाकर उन्होंने पूर्ववत् वन्दनादि करना प्रारम्भ कर दिया।

आर्य स्थूलभद्र ३० वर्ष तक गृहस्थ-पर्याय में रहे। वीर निर्वाण संवत् १४६ में आपने आर्य संभूतिविजय के पास दीक्षा ग्रहण की। २४ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय में रहे। वीर नि० सं० १७० से २१५ तक आपने आचार्यपद पर रहते हुए वीरशासन की सेवाएं कीं। अन्त में ९९ वर्ष की आयुष्य पूर्ण कर वीर निर्वाण सं० २१५ में राजगृह नगर के समीप वैभारगिरि पर १५ दिन के अनशन व संथारे के बाद आपने स्वर्गगमन किया।

जैसा कि आगे वताया जायगा, भारतीय इतिहास की दृष्टि से आर्य स्थूलभद्र का युग राज्य-परिवर्तन अथवा राज्य-विप्लव का युग रहा। भारत पर यूनानियों का आक्रमण, महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य का अभ्युदय, नन्दराज्य का पतन और मौर्य-राज्य का उदय – ये उनके काल की प्रमुख राजनैतिक घटनाएं हैं।

आर्य स्थूलभद्र के प्रारम्भिक जीवन-वृत्त से यह भी भलीभांति प्रकट होता है कि उन दिनों की राजनीति में जैनों का कितना व्यापक प्रभाव रहा। यह इसी से स्पष्ट है कि शकडाल और श्रीयक आदि नन्द-साम्राज्य के परम राजभक्त महामात्य रहे।

तात्कालिक जनजीवन का भी एक स्पष्ट चित्र आर्य स्थूलभद्र के समय के घटनाक्रम के चित्रण में उभर आता है। अहिंसा-संयम और तपोमय जीवन द्वारा श्रमण-संस्कृति के सिद्धान्त उस समय के प्रजाजीवन में साकार थे।

भारत पर सिकन्दर द्वारा आक्रमण

आचार्य स्थूलभद्र के आचार्यत्वकाल में लगभग वीर निर्वाण सं० २०० तदनुसार ईसा पूर्व ३२७ में भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर यूनान के शाह सिकन्दर (एलेक्जेन्डर दी ग्रेट) ने एक प्रबल सेना लेकर आक्रमण किया। उस समय भारत के उत्तर-पश्चिमी भागों में छोटे-छोटे राज्य तथा पंजाब में विभिन्न जातियों के गणराज्य थे। मगध सम्राट् धननन्द (नवम नन्द) अपनी अत्यन्त लुब्ध प्रकृति और जनता पर अधिकाधिक करभार बढ़ाते रहने की प्रवृत्ति के कारण अपने प्रति जनता का प्रेम और विश्वास खो चुका था। उसके अधीनस्थ अनेक राजाओं और सामन्तों ने उसके प्रति विद्रोह का झण्डा उठा अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। गृह-कलह के कारण राजा गण एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयास में लगे हुए थे।

देश में सार्वभौम सत्तासम्पन्न एक शक्तिशाली राज्य के अभाव में सिकन्दर को प्रारम्भ में अपने सैनिक अभियान में सफलता मिली। उसने हिन्दुकुश, काबुल की घाटी से लेकर सिन्धु नदी के पूर्व का इलाका तथा काश्मीर और तक्षशिला आदि भारतीय प्रदेशों पर विजयश्री प्राप्त की। छोटे-छोटे भारतीय राजाओं ने सिकन्दर के आक्रमण को निष्फल करने के लिये बड़ी वीरता के साथ प्राणों की बाजी लगा कर युद्ध किया किन्तु सिकन्दर की विशाल विजयवाहिनी के समक्ष वे बहुत अधिक समय तक नहीं टिक सके। अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये बहुत बड़ा बलिदान करने और शत्रुपक्ष को भारी क्षति पहुंचाने के पश्चात् भी अन्त में उन्हें आत्मसमर्पण करना ही पड़ा। पंजाब की हस्तिनायन, अश्वकायन आदि जातियों के गणतन्त्रों ने अपने-अपने राज्यों की शक्ति से कहीं अधिक सेनाएं संगठित कर सिकन्दर की सेना के साथ भयंकर युद्ध किये।

यों तो सभी राजाओं और गणराज्यों ने सिकन्दर की सेना के साथ बड़ी वीरता के साथ युद्ध किया पर उनमें राजा पौरव द्वारा किया गया युद्ध भारत के इतिहास में सदा विशेष उल्लेखनीय रहेगा। राजा पौरव ने अपने तीस हजार पैदल सैनिकों, चार हजार घुड़सवारों, तीन सौ रथों और २०० हाथियों की सशक्त सेना लेकर आगे बढ़ती हुई सिकन्दर की सेना को रोका। राजा पौरव की सेना प्राणों की बाजी लगा कर बड़ी वीरता के साथ सिकन्दर की सेना के साथ लड़ी। यूनानी सेना को इस युद्ध में बड़ी भारी क्षति उठानी पड़ी किन्तु सहसा यूनानी सैनिकों के तीक्ष्ण तीरों की बौछारों से पौरव की हस्ति-सेना संत्रस्त होकर बिगड़ खड़ी हुई और उसने पीछे की ओर तथा इधर-उधर भागते हुए, बेकाबू हो स्वयं राजा पौरव की सेना को ही बड़ी क्षति पहुंचाई और इस प्रकार दुर्भाग्य से युद्ध का पासा ही पलट गया। राजा पौरव को पराजय का मुंह देखना पड़ा। जयश्री प्राप्त हो जाने पर भी सिकन्दर ने राजा पौरव की शक्ति और वीरता देखते हुए उसके साथ मैत्री करना आवश्यक समझा और उसका जीता हुआ राज्य उसे पुनः लौटा कर वह विजय-अभियान में आगे बढ़ गया। पग-पग

पर भारतीयों द्वारा किये गये भीषण प्रतिरोध और उससे हुई अपनी गहरी क्षति को देख कर यूनानी सेना हतोत्साहित हो गई। किन्तु सिकन्दर समस्त भारतवर्ष पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराने का दृढ़ संकल्प ले कर अपने देश से निकला था। उसने निरुत्साहित सैनिकों को तूफान की तरह आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित किया। सिकन्दर की सेना ने आगे बढ़ना चाहा पर क्षुद्रक और मालव गणतन्त्रों की संयुक्त सेना ने उसे सिन्धु और चिनाव के संगम के रणांगण में ललकारा। यहां यूनानी सेना को बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ी। इस युद्ध में मालवों से लड़ते हुए सिकन्दर स्वयं आहत हो गया था। उसके घाव लगने के कारण सिकन्दर की मृत्यु की अफवाह फैल गई और भारत के विजित क्षेत्रों में भारतीयों के विद्रोह को दबाये रखने की दृष्टि से जो क्षत्रपियां स्थापित की गई थीं व यूनानी सैनिकों की वस्तियां बसाई गई थीं, उनमें से बहुत से यूनानी सैनिक सामूहिक रूप से यूनान की ओर भाग खड़े हुए। सिकन्दर के सैनिकों का मनोबल भी टूट गया। उसके सैनिक अधिकारियों ने स्पष्ट शब्दों में सूचित कर दिया कि उसकी सैनिक शक्ति बहुत क्षीण हो चुकी है। बहुत बड़ी संख्या में उसके सैनिक युद्ध में मारे गये हैं तथा अनेक सैनिक रोगग्रस्त हो मर चुके हैं। अवशिष्ट सैनिकों में न पहले के समान शारीरिक शक्ति ही रही है और न मनोबल ही।

अपनी और अपने सैनिकों की वास्तविक स्थिति को देखते हुए सिकन्दर अपनी सेना के साथ विजय अभियान को बन्द कर पुनः अपने देश की ओर लौट पड़ा।

भारतीय विद्रोही अश्वकायनों ने सिकन्दर द्वारा नियुक्त सिन्धु के पश्चिमी प्रदेश के क्षत्रप (शासक-गवर्नर) निकानोर की हत्या कर डाली। तत्पश्चात् जिस समय सिकन्दर झेलम नदी के रास्ते से लौट रहा था, उस समय उसका एक अति कुशल और अनुभवी क्षत्रप फिलिप उसे यूनान के लिये विदा करने पहुंचा। सिकन्दर को विदा करने के पश्चात् जिस समय फिलिप अपनी क्षत्रपी की ओर लौट रहा था उस समय उसकी हत्या कर दी गई। जिस समय सिकन्दर के पास यह सूचना पहुंची तो उसे बड़ा गहरा आघात पहुंचा। सिकन्दर चूंकि उस समय तक बहुत दूर नहीं निकला था अतः वह अगर चाहता तो विद्रोह को दबाने के लिये उस क्षेत्र में लौट सकता था पर अब वह उस स्थिति में नहीं रह गया था। तक्षशिला तथा सिन्धु एवं झेलम के संगम वाले प्रदेश का शासन जब तक कि दूसरा प्रबन्ध नहीं कर दिया जाय तब तक के लिये वह तक्षशिला के राजा को सुपुर्द कर चला गया। ज्यों-ज्यों यूनान की ओर लौटता हुआ सिकन्दर भारतीय प्रदेश को अपने पीछे छोड़ता गया त्यों-त्यों वे भारतीय प्रदेश विदेशी शासन के जूए को दूर फैंक कर स्वतन्त्र होते चले गये। बैबिलौन पहुंचते-पहुंचते सिकन्दर की ई० पूर्व जून ३२३ में मृत्यु हो गई।[1]

---

1 In June 323 B. C. Alaxender died at Babylon and no permanent incumbent in Philip's place could ever be appointed.
[V. A. Smith's Ashoka P. I. Cambridge History, P. 428 – 1.23-8.

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके साम्राज्य में सर्वत्र अराजकता व्याप्त हो गई। सिकन्दर के कोई सन्तान नहीं थी अतः उसके सेनापतियों ने सिकन्दर के राज्य का परस्पर बंटवारा किया। पहला बंटवारा सिकन्दर की मृत्यु के तत्काल पश्चात् ईसा पूर्व ३२३ में और दूसरा बंटवारा त्रिपाशडिसस नामक स्थान पर ईसा पूर्व ३२१ में हुआ। पर इन दोनों बंटवारों के समय सिकन्दर द्वारा विजित सिन्धु नदी के पूर्वीय प्रदेशों को यूनानी साम्राज्य की गणना में नहीं लिया गया। इससे सिद्ध होता है कि सिकन्दर की भारत में विद्यमानता के समय में ही भारतीयों द्वारा यूनानी शासन के विरुद्ध खड़ा किया गया विद्रोह बल पकड़ता गया और सिकन्दर के आहत होकर यूनान की ओर मुंह करते ही उन प्रदेशों के निवासियों ने यूनानी गुलामी के जुए को तत्काल झटक कर सदा के लिये उतार फेंका।

इस सव घटनाचक्र पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह तथ्य स्पष्टरूपेण प्रकट हो जाता है कि जो सिकन्दर एक अजेय विशालवाहिनी के साथ विश्वविजय की महत्वाकांक्षा लिये यूनान से भारत की पश्चिमोत्तर सीमा तक के प्रदेशों की अनेक शक्तिशाली राज्यसत्ताओं को भूलुण्ठित करता हुआ एक तीव्रगामी प्रचण्ड तूफान की तरह आगे वढ़ता ही गया, उसे भारतीय रणवांकुरे देशभक्तों ने पग-पग पर अपने प्रतिरोध की फौलादी दीवार वनकर रोका। यह भी तथ्य है कि सार्वभौम सत्तासम्पन्न एक सशक्त और विशाल राज्य के रूप में सुसंगठित न होने के कारण पश्चिमोत्तर सीमावर्ती छोटे-छोटे राजाओं और गणराज्यों की विखरी हुई शक्ति अधिक समय तक सिकन्दर की सशक्त एवं सुविशाल वाहिनी के प्रवल प्रहारों के सम्मुख नहीं टिक सकी। इतना होने पर भी यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उस विखरी हुई भारतीय शक्ति ने भी अपने दृढ़ संकल्प, तीव्र प्रतिरोध और प्रवल प्रहारों से सिकन्दर की सेना को वहुत वड़ी क्षति पहुँचा कर तथा उसके मनोवल एवं ओज-तेज को समाप्तप्राय वनाकर सिकन्दर की सव महत्वाकांक्षाओं पर पानी फेर दिया।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक ही है कि भारतीय छोटे-छोटे राजा तथा गणराज्य विना संगठित हुए अलग-अलग रूप से सिकन्दर की वड़ी सेना के साथ लड़ने के कारण अन्ततोगत्वा परास्त होते गये तो उसके पश्चात् सर्वव्यापी सामूहिक विद्रोह संगठित करने वाला कोई न कोई सूत्रधार तो अवश्य होना चाहिये अन्यथा पराजित भारतीयों द्वारा एक के पश्चात् दूसरे यूनानी क्षत्रपों की हत्या करना एवं यूनानी साम्राज्य की जड़ों को भारत से उखाड़ फेंकना भारतीयों के लिये कभी संभव नहीं होता।

इस प्रश्न का हमें भारतीय वाङ्मय में तो खोजने पर भी कोई उत्तर नहीं मिलता किन्तु सिकन्दर के निआर्कस, ओनेसिक्रिटस और अरिस्टोवुलस नामक तीन अधिकारियों द्वारा भारत की स्थिति के सम्बन्ध में लिखे गये विवरणों और उनके पश्चात् भारत में यूनानी राजदूत मेगास्थनीज द्वारा लिखे गये विवरणों के आधार पर लिखी गई विदेशी विद्वानों की रचनाओं से पर्याप्त संतोषजनक उत्तर

मिल जाता है। ईसा की दूसरी शताब्दी में जस्टिन नामक एक लेखक ने उपर्युक्त, सिकन्दर और सेल्यूकस के समकालीन अधिकारियों द्वारा लिखे गये विवरणों के आधार पर एपिटोम अर्थात् 'सारसंग्रह' की रचना की। उसके बारहवें खण्ड में उसने सिकंदर के विजय अभियानों का विवरण देते हुए लिखा है :-

"सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् भारत ने मानो अपने गले से यूनानी दासता का जूआ उतार फैंका और उसके अनेक क्षत्रपों को मार डाला। इस मुक्ति-अभियान का सूत्रधार सैंड्रोकोट्टस था। उसका जन्म एक साधारण कुल में हुआ था पर कुछ दैवी प्रोत्साहनों से उसे राजा का पद प्राप्त करने की प्रेरणा मिली। हुआ यह कि उसकी धृष्टता पर 'नैड्रम'[1] (नन्द) को क्रोध आ गया और उसने उसे मरवा डालने की आज्ञा दी, पर वह अपने प्राण बचा कर वहां से भाग निकला। सैंड्रोकोट्टस-चन्द्रगुप्त जब थक कर सो रहा था उस समय एक सिंह उसके पास आया और उसके शरीर से बहता हुआ पसीना चाट कर धीरे से उसे जगाया और चला गया। इस अनहोनी घटना से पहले-पहल चन्द्रगुप्त के मन में एक राजा का सम्मान प्राप्त करने की अभिलाषा जागृत हुई और उसने अपने चारों ओर लुटेरों का एक गिरोह जमा करके भारतवासियों को तत्कालीन (यूनानी) शासन का तख्ता उलट देने के लिये भड़काया। इसके कुछ समय पश्चात् जब वह सिकन्दर के सेनापतियों से लड़ने जा रहा था, तो एक विशालकाय जंगली हाथी अपने-आप उसके सामने आकर खड़ा हो गया और सहसा पालतू हाथी की तरह शीलस्वभाव का होकर उसने चन्द्रगुप्त को अपने ऊपर बिठा लिया। वह हाथी चन्द्रगुप्त का पथप्रदर्शक बन गया और रणक्षेत्र में बहुत आगे-आगे रहा। इस प्रकार राजसिंहासन पर अधिकार कर के सैंड्रोकोट्टस ने भारत को अपने अधीन कर लिया। इसी समय सेल्यूकस अपनी भावी महानता की नींव डाल रहा था।"[2]

जस्टिन द्वारा दिये गये इस विवरण से इस प्रश्न के हल के साथ-साथ भारतीय इतिहास के अनेक धुन्धले तथ्य स्पष्ट रूप से किस प्रकार उभर आते हैं, यह चन्द्रगुप्त के जीवन वृत्त में आगे दिया जायगा।

यहां यही बताना अभीष्ट है कि सिकन्दर के इस आक्रमण ने भारतीयों में एक नवीन चेतना जागृत करदी और भारत में एक महान् शक्तिशाली बड़ी राजसत्ता को जन्म देने की पूर्वपीठिका का निर्माण किया। वस्तुतः सिकन्दर के इस सैनिक अभियान ने भारतीयों की रणक्षमता और वीरता को संसार के समक्ष प्रकट कर दिया क्योंकि सिकन्दर की विजय की कहानियों से भी उसके विरुद्ध भारतीयों द्वारा किये गये प्रतिरोध की कहानियां अधिक वीरताभरी,

---

[1] आम तौर पर इस स्थान पर 'अलेक्जेंड्स' शब्द मिलता है, जिसके बारे में टुडि ने सिद्ध कर दिया है कि वह गलत है अतः उसके स्थान पर 'नैंड्रम' शब्द रख दिया है।
[मैकक्रिंडिल की इन्वेजन आफ इन्डिया बाई अलेक्जेंडर पृ० ३२७]

[2] [वही]

रोचक और प्रेरणाप्रदायिनी हैं। केवल पुरुषों ने ही नहीं यहां की वीरांगनाओं ने भी युद्ध के मैदानों में रणचण्डी के रूप में डट कर यूनानियों के आक्रमण से मातृभूमि की रक्षा करते हुए प्राणाहूतियां दीं। ३६ ई० पूर्व तक जीवित यूनानी लेखक डियोडोरस ने लिखा है :—

"अश्वकायनों ने अपनी वीरांगना रानी क्लियोफिस (संभवतः कृपा देवी) के नेतृत्व में अन्त तक अपने देश की रक्षा करने का दृढ़ निश्चय किया। रानी के साथ ही वहां की स्त्रियों ने भी प्रतिरक्षा में भाग लिया। वेतनभोगी सैनिक प्रारम्भ में बड़े निरुत्साहित हो कर लड़े परन्तु बाद में उन्हें भी जोश आ गया और उन्होंने अपमान के जीवन की अपेक्षा गौरव के साथ मर जाना ही श्रेष्ठ समझा।"[1]

३२७ ई० पूर्व सिकन्दर द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण के दौरान, ई० पूर्व ३२३ में सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात्, ३०४ ई० पूर्व में यूनानी शासक सेल्यूकस द्वारा पुनः भारत पर किये गये आक्रमण के समय तथा ३२७ ई० पूर्व से ३०४ ई० पूर्व तक विदेशी आक्रमणों को विफल करने तथा भारत को एक सशक्त राष्ट्र बनाने में चन्द्रगुप्त मौर्य ने क्या-क्या महत्वपूर्ण भूमिकाएं अदा कीं इस सन्दर्भ में संक्षेपतः उसका जीवनवृत्त यहां दिया जा रहा है।

मौर्य राजवंश का अभ्युदय

वीर निर्वाण संवत् २१५ और तदनुसार ईसा पूर्व ३१२ में नन्द राज्यवंश की समाप्ति के साथ भारत में मौर्य-वंश के नाम से एक शक्तिशाली राज्यवंश का अभ्युदय हुआ। इस राज्यवंश ने अपनी मातृभूमि आर्यधरा पर से यूनानियों के शासन का नामोनिशान मिटा न केवल सम्पूर्ण भारत पर ही अपितु भारत के बाहर के अनेक प्रान्तों पर भी अपनी विजयवैजयन्ती फहरा कर एक सशक्त और विशाल राजसत्ता के रूप में १०८ वर्ष तक शासन किया। इस राजवंश के शासनकाल में भारतवर्ष में चहुंमुखी प्रगति हुई।

इस राज्यवंश के संस्थापक मौर्य-सम्राट चन्द्रगुप्त के जीवन के साथ उस समय के महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य का संपृक्त सम्बन्ध है, जिसे वस्तुतः इस शक्तिशाली राज्यवंश का संस्थापक एवं अभिभावक कहा जा सकता है। विद्वान् ब्राह्मण चाणक्य के बुद्धिकौशल के बल पर ही इस महान् राज्यवंश की स्थापना हुई अतः इस राज्यवंश का परिचय देने से पूर्व महान् राजनैतिक, उच्चकोटि के अर्थशास्त्री एवं अद्वितीय कूटनीतिज्ञ चाणक्य का परिचय देना परमावश्यक है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त — दोनों का जीवन एक दूसरे से पूर्णतः सम्बद्ध है अतः इन दोनों का संक्षिप्त परिचय यहां साथ-साथ दिया जा रहा है।

---

[1] मैकक्रिंडिल-कृत 'इन्वेजन आफ इण्डिया बाई अलेक्जेंडर', पृ० २३०

मौर्य राजवंश का संस्थापक चाणक्य

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में चाणक्य के जीवन का परिचय देते हुए लिखा है कि गोल्ल-प्रदेश के चणक नामक ग्राम में चणी नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम चणकेश्वरी था। यह ब्राह्मण दम्पति जैनधर्म का अनन्य अनुयायी था और श्रावक व्रत का पालन करते हुए श्रमणों की सेवा किया करता था। विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए जैन-श्रमण, ब्राह्मण चणी के गृह में प्रायः ठहरा करते थे।

ब्राह्मणी चणकेश्वरी ने कालान्तर में एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु के जन्म के समय चणी ब्राह्मण के घर के एक एकान्त कक्ष में कुछ स्थविर श्रमण ठहरे हुए थे। चणी ने अपने नवजात पुत्र को उन स्थविरों के समक्ष लाकर दिखाया और कहा – "भगवन् ! आज जो मेरे यहां पुत्र का जन्म हुआ है, इसके जन्म से ही मुंह में दांत हैं। वस्तुतः यह अदृष्टपूर्व घटना है, आज तक दांतों सहित बालक का जन्म न कहीं देखा गया है और न सुना ही।"

नवजात शिशु के मुंह में दांतों को देख कर स्थविर श्रमण ने कहा – "सुश्रावक ! तुम्हारा यह पुत्र एक महान् प्रतापी राजा होगा।"

"मेरा पुत्र राज्यसत्ता का स्वामी होकर कहीं नरक का अधिकारी न बन जाय", यह विचार कर चणी ने शिशु को घर ले जाकर रेती से उसके दांत घिसना प्रारम्भ कर दिया। नवजात शिशु दन्तघर्षण की पीड़ा से रोया-चिल्लाया और छटपटाया पर चणी ने कठोर हृदय कर के उसके दांतों को घिस डाला। जब चणी ने अपने पुत्र के दांतों को घिस दिये जाने की बात मुनियों से कही तो स्थविर मुनि ने कहा कि दांतों के घिस दिये जाने पर अब वह बालक कालान्तर में सम्राट् नहीं पर सम्राट् तुल्य (अन्य व्यक्ति को राजा बना कर उसके माध्यम से राज्यसत्ता का संचालन करने वाला) होगा। ब्राह्मण चणी ने यह विचार कर कि 'यदभावी न च तद्भावी, भावी चेन्न तदन्यथा' दांतों को और अधिक नहीं घिसा और अपने उस पुत्र का नाम चाणक्य रखा तथा यथासमय उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। बड़ी लगन के साथ अध्ययन करते हुए कुशाग्रबुद्धि चाणक्य ने अनेक प्रकार की विद्याओं में निष्णातता प्राप्त की। विद्वान् चाणक्य संतोष को ही सबसे बड़ा धन समझ कर श्रावक के व्रतों का सम्यक्रूपेण पालन करता था।

जब चाणक्य युवा हुआ तो एक कुलीन ब्राह्मणकन्या के साथ उसका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। अपने माता-पिता के देहावसान पर चाणक्य ने अपनी छोटी सी गृहस्थी का कार्यभार सम्हाला पर स्वल्पसंतोषी होने के कारण धनसंग्रह की ओर उसने कभी ध्यान नहीं दिया। अपने सहोदर के विवाह के अवसर पर एक दिन चाणक्य की पत्नी अपने मातृगृह गई। उसकी बहिनें पहले ही वहाँ पहुंच चुकी थीं। चाणक्य की सभी सालियों का विवाह महासम्पत्तिशाली सम्पन्न घरों में हुआ था अतः वे सभी बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत, षोडश शृंगारों

से सुशोभित और दासिवृन्दों से सदा परिवृत्त रहती थीं। चाणक्य की पत्नी के पास आभूषण के नाम पर कुछ भी नहीं था। वह रातदिन एक ही पुरानी साड़ी एवं कंचुकी पहने रहती थी। उसकी इस दरिद्रावस्था को देख कर उसकी लक्ष्मी के समान वैभवशालिनी बहनों तथा विवाहोत्सव में सम्मिलित हुई अन्य प्रायः सभी स्त्रियों ने विविध व्यंगोक्तियों से बड़ी हँसी उड़ाना प्रारम्भ कर दिया। स्वाभिमानिनी चाणक्यपत्नी मारे लज्जा के गृह के एकान्त कक्ष के एक कोने में सबकी निगाहों से अपने आपको छुपाये हुए बैठी रहती। विवाह के उस मांगलिक महोत्सव में उसने लज्जावश कोई भाग नहीं लिया और विवाह के सम्पन्न होते ही वह अपने पतिगृह को लौट आई। दरिद्रता के कारण हुए अपने अपमान का उसे इतना गहरा दुःख हुआ कि वह अपने पतिगृह में आकर रात भर रोती रही। चाणक्य को अपनी पत्नी की आंखों में आंसू देख कर बड़ा दुःख हुआ। चाणक्य ने अपनी पत्नी से उसके शोक का कारण जानना चाहा। अनेक वार आग्रहपूर्वक पूछने पर नहीं चाहते हुए भी पत्नी को अपने पति के सम्मुख अपनी अन्तर्वेदना को प्रकट करना ही पड़ा। चाणक्य को जब यह विदित हुआ कि उसकी दारिद्र्यावस्था के कारण उसकी पत्नी का परिहास हुआ है, तो उसने धन उपार्जित करने का दृढ़ संकल्प किया। उसे यह विदित ही था कि मगधपति नन्द ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में पर्याप्त धन देता है अतः वह धन-प्राप्ति की आशा लिये पाटलिपुत्र पहुंचा। अन्य दक्षिणार्थियों के आगमन से पूर्व ही राजप्रासाद में प्रवेश कर चाणक्य सबसे आगे रखे हुए एक उच्चासन पर बैठ गया। वस्तुतः नन्द सदा उस आसन पर बैठ कर ही दक्षिणाएं दिया करता था। नन्द के साथ आये हुए नन्द के पुत्र ने तिरस्कारपूर्ण स्वर में एक दासी से कहा – "देखना इस ब्राह्मण की धृष्ठता कि यह मगधसम्राट् के आसन पर आ कर बैठ गया है।"

दासी ने चाणक्य के पास पहुंच कर शान्त स्वर में कहा – "ब्रह्मन्! आप इस दूसरे आसन पर बैठ जाइये।"

"इस पर तो मेरा कमण्डलु रहेगा"–यह कहते हुए चाणक्य ने दूसरे आसन पर अपना कमण्डलु रख दिया।

दासी ने क्रमशः तीसरे, चौथे और पांचवें आसन पर बैठने की चाणक्य से प्रार्थना की पर चाणक्य ने उन तीनों आसनों पर क्रमशः अपना दण्ड, जपमाला और यज्ञोपवीत रखते हुए कहा इस पर मेरा दण्ड, इस आसन पर मेरी जपमाला, और इस पर मेरा यज्ञोपवीत रहेगा।

चाणक्य के न उठने एवं अन्यान्य आसनों को रोकते रहने से क्षुब्ध हो, यह कहते हुए कि कितना धृष्ठ है यह ब्राह्मण जो बार-बार कहने पर भी आसन से उठता नहीं है और दूसरे आसनों को रोकता ही चला जा रहा है, दासी ने पाष्णिप्रहार कर चाणक्य को उस आसन से उठा दिया।

दासी द्वारा किये गये इस अपमान से चाणक्य की क्रोधाग्नि प्रबल वेग से भड़क उठी। उसने उपस्थित विशाल जनसमूह के समक्ष हठ और अनुल्लं

स्वर में यह प्रतिज्ञा की – "मैं इस नन्द का इसके सैन्य, पुत्र, मित्र और कोश के साथ सर्वनाश करके ही विश्राम लूंगा।"

उपर्युक्त कठोर प्रतिज्ञा करने के पश्चात् भ्रूविक्षेप और लाल-लाल आंखों से नन्द की ओर दृष्टिनिक्षेप करते हुए मारे क्रोध के कांपता हुआ चाणक्य राज-प्रासाद से निकल कर नगर से बाहर चला गया। चाणक्य को अपने माता-पिता से सुनी हुई स्थविरों की उस भविष्यवाणी का स्मरण हो आया जिसमें उन्होंने कहा था कि यह आगे चलकर सम्राट् नहीं पर सम्राट् के समान "विम्बान्तरित"– यवनिका के पीछे रहते हुए, सम्राट् बनेगा। 'निस्पृह श्रमणश्रेष्ठ द्वारा कही गई बात कभी असत्य नहीं होती' यह विचार कर चाणक्य ने राजा बनने योग्य किसी व्यक्ति को ढूंढ कर उसके माध्यम से नन्द, उसके वंश और राज्य का नाश करने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

चन्द्रगुप्त का परिचय

किसी सुयोग्य व्यक्ति की तलाश में सन्यासी का वेष धारण किये हुए घूमता हुआ चाणक्य एक दिन एक ऐसे ग्राम में भिक्षार्थ पहुंचा, जहां राजा नन्द के मयूरों का पालन-पोषण करने वाले लोग निवास करते थे। मयूरपोषकों के मुखिया ने परिव्राजक वेषधारी चाणक्य को देख कर कहा – "महात्मन्! मेरी पुत्री को चन्द्रपान का एक बड़ा ही अद्भुत् दोहद उत्पन्न हुआ है। उसको चन्द्रमा के पीने की अत्युत्कट अभिलाषा बनी हुई है। इस असंभव कृत्य को कैसे किया जा सकता है? गर्भिणी के दोहद की पूर्ति न होने की दशा में गर्भस्थ शिशु के साथ-साथ मेरी पुत्री का प्राणान्त होना भी अवश्यम्भावी है, यह चिन्ता मुझे अहर्निश पीड़ित कर रही है। यदि आप इस अद्भुत दोहद की पूर्ति का कोई उपाय कर सकें तो हम पर बड़ा उपकार होगा।"

विद्वान् चाणक्य ने समझ लिया कि जिस सुयोग्य पात्र की खोज में वह प्रयत्नशील है, वह पात्र तो मयूरपोषक की पुत्री के गर्भ में है। चाणक्य ने मयूर-पोषकों के मुखिया से कहा – "गर्भस्थ बालक को बड़ा होने पर यदि तुम मुझे दे देने की प्रतिज्ञा करो तो मैं तुम्हारी पुत्री के दोहद की पूर्ति कर सकता हूं।"

मयूरपोषकों के स्वामी ने चाणक्य की शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लिया। तदनन्तर बुद्धिमान चाणक्य ने घास-फूंस की एक झोंपड़ी तैयार करवाई। उस झोंपड़ी के ऊपरी भाग में एक बड़ा-सा छिद्र रखवाया। उस झोंपड़ी में रात्रि के समय छिद्र में से पूर्णचन्द्र का प्रतिविम्ब पड़ने लगा। चाणक्य ने गुप्तरूप से एक आदमी को झोंपड़ी पर यह कह कर चढ़ा दिया कि उसके संकेत करते ही वह धीरे-धीरे उस छिद्र को तृणों से ढंकना प्रारम्भ कर दे।

यह सब व्यवस्था करने के पश्चात् चाणक्य ने गर्भिणी को बुलाकर उस झोंपड़ी में एक पीढ़े पर बैठाया और उसके हाथ में पानी से भरी हुई एक थाली

रख दी। उस थाली में पूर्णचन्द्र का प्रतिविम्ब पड़ रहा था। चाणक्य ने गर्भिणी को सम्बोधित करते हुए कहा – "वेटी! इस चन्द्रमा को पी जाओ।"

गर्भिणी ने थाली का पानी पीना प्रारम्भ किया। ज्यों-ज्यों वह पानी पीती जा रही थी त्यों-त्यों झोंपड़ी के ऊपर बैठा हुआ पुरुष झोंपड़ी में रखे हुए छेद को तृणों से ढांपता जा रहा था। इस प्रकार थाली का पूरा पानी पी लेने पर गर्भिणी को चन्द्र दिखना बन्द हो गया और उसके यह समझ लेने पर कि उसने चन्द्रपान कर लिया है, उसका दोहद पूर्ण हो गया। दोहद की पूर्ति हो जाने पर गर्भ निर्विघ्न रूप से बढ़ने लगा और समय पर मयूरपोषक की पुत्री ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। दोहद की बात को ध्यान में रखते हुए उस बालक का नाम चन्द्रगुप्त रखा गया।

दूरदर्शी चाणक्य भावी राजा की सेना के लिये स्वर्ण एकत्रित करने की धुन में धातु-विशारदों की खोज करता हुआ इधर-उधर घूमने लगा।

इधर कुछ वड़ा होने पर वालक चन्द्रगुप्त अपने समवयस्क वालकों के साथ खेलते समय राजाओं जैसी चेष्टाएं करने लगा। वह कभी किसी बालक को हाथी वनाकर उस पर बैठता, तो कभी दूसरे वालक को घोड़ा वनाकर उस पर सवार होता। वह खेल ही खेल में मिट्टी के घरोंदे वनाकर उन्हें गांव की संज्ञा देता और हाथी वनाये हुए किसी बालक पर वैठकर अपने साथियों की सेना ले उस गांव पर आक्रमण करता। वह उन कृत्रिम गांवों को जीत कर वड़े आनन्द का अनुभव करता। वह अपने साथी बालकों को अनेक प्रकार की आज्ञाएं देता और वे वालक स्वामिभक्त सेवक की तरह चन्द्रगुप्त की आज्ञाओं का पालन करते।

अनेक स्थानों पर घूमता हुआ चाणक्य एक दिन मयूरपोपकों के उस गांव में पहुंचा। उस समय चन्द्रगुप्त वालकों के साथ क्रीड़ा करते हुए अनेक प्रकार की राज-लीलाएं कर रहा था। चाणक्य उस तेजस्वी वालक की राजलीला देखकर मन ही मन वड़ा प्रसन्न हुआ। वालक की वुद्धि और वहादुरी की परीक्षा करने की दृष्टि से चाणक्य ने उससे कहा – "महाराज! मुझे भी आप कुछ दान दीजिये।"

वालक चन्द्रगुप्त ने तत्काल उत्तर दिया – "गांव की ये इतनी गायें हैं उनमें से छांट-छांट कर आपको जो-जो अच्छी लगें, वे सब मैंने आपको दीं, आप उन्हें ले जाइये।"

चाणक्य ने हँसते हुए उत्तर दिया – "राजन्! इन औरों की गायों को मैं कैसे ले जाऊं, इनके स्वामी मुझे मारेंगे नहीं?"

वालक चन्द्रगुप्त ने भी दृढ़ता के साथ कहा – "ब्रह्मदेव! आपको किसी से डरने की आवश्यकता नहीं। मैंने ये गायें आपको दे दी हैं। मैं राजा हूं, मेरी आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। क्या आपको ज्ञात नहीं है कि "वीर-भोग्या वसुंधरा", यह पृथ्वी वीर पुरुषों के ही उपभोग की वस्तु है।

चाणक्य उस बालक के उत्तर को सुन कर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने बड़े ध्यान से बालक के शारीरिक लक्षणों को और आकृति को देखा तो उसे ऐसा अनुभव हुआ कि वह बालक वस्तुतः राजा बनाये जाने के योग्य है। बालक के दृढ़ आत्मविश्वास और सहज निर्भय स्वभाव से चाणक्य बड़ा प्रभावित हुआ। उसके कुल-शील और माता-पिता के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने की इच्छा से चाणक्य ने एक बालक से पूछा – "यह बालक-राजा किसका पुत्र है ?"

अनेक बालकों ने एक साथ उत्तर दिया – "महाराज ! यह एक संन्यासीजी महाराज का दत्तक पुत्र है। इसका नाम चन्द्रगुप्त है। जिस समय यह गर्भ में था उस समय इसकी माता को यह तीव्र चाह हुई कि वह चन्द्रमा को पी जाये। उसकी चाह पूरी न होने के कारण माता और गर्भ दोनों ही दिन-प्रतिदिन क्षीण होते चले गये। इसके नाना ने अपना दुःख उन संन्यासीजी महाराज के समक्ष प्रकट किया। संन्यासीजी ने इस शर्त पर इसकी माता की चन्द्रपान की इच्छा पूर्ण करने का विश्वास दिलाया कि जिस पुत्र को यह जन्म दे उसे बड़ा होने पर उन्हें दे दिया जाय। इसके नाना ने संन्यासीजी की वह शर्त स्वीकार कर ली और उन महात्मा ने इसकी माता को न मालूम किस विद्या के प्रभाव से चांद पिला ही दिया। इसकी माता की चन्द्रमा को पीने की इच्छा पूर्ण होने से वह पूरी तरह स्वस्थ हो गई और उसने समय पर इस बालक को जन्म दिया। इसकी माता द्वारा चन्द्रमा के पिये जाने के कारण इस बालक की रक्षा हुई इसलिये इसके नाना-नानी ने इसका नाम चन्द्रगुप्त रखा। "महाराज ! यह बड़ा बहादुर तथा बहुत ही अच्छा लड़का है पर क्या करें एक न एक दिन वे संन्यासीजी महाराज आयेंगे और इसको अपने साथ ले जायेंगे। हमारा यह प्यारा और अच्छा राजा एक दिन हम लोगों को छोड़ कर चला जायगा इस बात का हमें बड़ा दुःख है।"

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के मुख और मस्तक पर दुलार से हाथ फेरते हुए कहा – "मेरे बच्चे !" मैं ही तो वह सन्यासी हूं। मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें राजा बना दूंगा।"

महत्वाकांक्षी बालक चन्द्रगुप्त ने तत्काल चाणक्य के वामहस्त की कनिष्ठिका पकड़ ली और वह आशा के अनन्त नीलगगन में अपने भावी साम्राज्य के सुन्दर-सुनहले चित्र बनाता हुआ चाणक्य के साथ हो लिया। अब तो वह राजा बन कर ही अपने नाना-नानी, माता-पिता और बाल-सखाओं से मिलेगा इस प्रकार का मन ही मन दृढ़ निश्चय कर चुकने के कारण बालक चन्द्रगुप्त ने अपने साथी बालकों और अपने ग्राम की ओर मुड़ कर भी नहीं देखा। अपने स्वप्नों को साकार करने वाले उस स्वर्णिम सुयोग में कहीं किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं हो जाय, इस आशंका से चाणक्य ने बालक के माता-पिता आदि अभिभावकों को बिना पूछे ही उस गांव से अनिश्चित स्थान के लिये तत्काल प्रस्थान कर दिया।

बालक चन्द्रगुप्त को चाणक्य अपने साथ बिना उसके अभिभावकों को पूछे ले गया, इस घटना के उल्लेख के तत्काल पश्चात् ही आचार्य हेमचन्द्र ने अपने परिशिष्ट पर्व में नन्द के साथ चाणक्य के संघर्षरत हो जाने का उल्लेख करते हुए बताया है कि चाणक्य ने धातुविज्ञान के माध्यम से उपार्जित स्वर्ण से एक सेना संगठित की और चन्द्रगुप्त ने उस सेना के साथ पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर दिया। परिशिष्ट पर्व में किया गया यह उल्लेख नितांत असंगत और अव्यवहार्य प्रतीत होता है। बालक्रीड़ाओं में निरत एक ग्रामीण बालक को बिना किसी प्रकार की सैनिक शिक्षा दिये सहसा सेनापति बना कर उस समय के भारतवर्ष की सबसे शक्तिशाली राज्यसत्ता के विरुद्ध सैनिक अभियान करने के लिये झौंक देने जैसी अदूरदर्शिता चाणक्य जैसा उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ और दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ नहीं कर सकता। विस्तारभय अथवा अन्य किन्हीं कारणों से आचार्य हेमचन्द्र ने इन दोनों घटनाओं के मध्यवर्ती काल में चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त को एक कुशल सेनानी और सुयोग्य शासक बनाने के लिये उसे समुचित शिक्षा दिलाने का उल्लेख नहीं किया है।

चाणक्य ने जिस कार्य को निस्पन्न करने का बीड़ा उठाया था वह वस्तुतः बड़ा गुरुतर और दुस्साध्य कार्य था। चाणक्य के कार्य का मूल्यांकन करने पर स्पष्ट-रूपेण यह विदित हो जायगा कि केवल अपने अपमान के प्रतिकार के लिये बदले की भावना से प्रेरित हो कर ही उसने इतना बड़ा संघर्ष नहीं किया था। वस्तुतः इस महान् संघर्ष के पीछे उसके अन्तर में अनेक उद्देश्य थे। तात्कालिक देशव्यापी विघटनकारी प्रवृत्तियों ने उसके मानस में तीव्र असंतोष को जन्म दिया। करभार से दबी हुई और कुशासन से प्रपीड़ित जनता को वह एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न सशक्त सुशासन देना चाहता था। हो सकता है कि नन्द के राजप्रासाद में हुए अपमान ने उसके अन्तर में छुपे उन विचारों को प्रचण्ड रूप दे कर उसे राज्य-क्रान्ति के लिये तीव्रतम प्रेरणा दी हो। अजस्र श्रम, शक्ति, शौर्य, साहस और मेधा से भी कष्टसाध्य इस महान् कार्य का श्रीगणेश करने से पहले महान् कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को किसी न किसी आदर्श विद्यालय में उच्चशिक्षा अवश्यमेव दिलाई होगी, यह तो निश्चित रूप से मानना ही पड़ेगा। उस समय भारतवर्ष में दो महान् विश्वविद्यालय थे, एक तो तक्षशिला का और दूसरा नालन्दा का। नन्द के नाक के नीचे रहे हुए नालन्दा विश्वविद्यालय में चन्द्रगुप्त को शिक्षा दिलाने का खतरा मोल न ले कर चाणक्य ने अवश्यमेव तक्षशिला विश्व-विद्यालय में उसके लिये शिक्षा की व्यवस्था की होगी, यह अनुमान युक्ति संगत ठहराया जा सकता है।

जातक कथाओं से पता चलता है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय में राजकुमारों के लिये उच्चकोटि के सैनिक प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था थी, जिसमें सिद्धान्त तथा व्यवहार के साथ-साथ जातक के शब्दों में 'इस्सत्थ सिप्प' अर्थात् धनुर्विद्या एवं 'हत्थिसुत्त' हाथियों से सम्बन्ध रखने वाली विद्या आदि की

शिक्षा दी जाती थी। विश्वविद्यालय के अतिरिक्त वहां एक शिक्षाशास्त्री द्वारा स्वतन्त्र-रूप से भी राजकुमारों को इस प्रकार का सैनिक प्रशिक्षण दिये जाने का जातक कथाओं में विवरण उपलब्ध होता है। नालन्दा विश्वविद्यालय की सैनिक एकेडेमी में १०१ राजकुमार और स्वतन्त्र प्राध्यापक की शिक्षणशाला में १०३ राजकुमार उच्च सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करते रहते थे इस प्रकार का उल्लेख जातकों में है।

चाणक्य के समान उस समय के चोटी के विद्वान् के लिये चन्द्रगुप्त को उपरिवर्णित दोनों शिक्षण संस्थाओं में से किसी एक में प्रवेश दिला कर उच्च सैनिक प्रशिक्षण दिलवाना कोई कठिन कार्य नहीं था। ऐसी दशा में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चाणक्य को मयूरपालकों के ग्राम में ज्यों ही प्रतिभाशाली बालक चन्द्रगुप्त मिला, त्यों ही वह उसे ले कर सीधा नालन्दा पहुंचा और वहां उसने उसकी शिक्षा के लिये समुचित व्यवस्था की। हमारे इस अनुमान को ईसा की दूसरी शताब्दी में हुए पाश्चात्य लेखक जस्टिन द्वारा लिखित 'एपिटोम' (सारसंग्रह) के उस विवरण से बल मिलता है, जिसमें यह बताया गया है कि तत्कालीन यूनानियों के शासन का तख्ता उलट देने के लिये सैंडोकोट्टस (चन्द्रगुप्त) ने डाकुओं का दल एकत्रित कर के भारतवासियों को भड़काया। इसके कुछ समय पश्चात् जब वह सिकन्दर के सेनापतियों से लड़ने जा रहा था तो एक विशालकाय जंगली हाथी ने उसको पालतू हाथी की तरह अपनी पीठ पर बैठा लिया। वह हाथी युद्ध में चन्द्रगुप्त का पथप्रदर्शक बन गया और रणक्षेत्र में सदा बहुत आगे-आगे रहा।[1]

---

1 ....He then passed over to India, which after Alexender's death, as if the yoke of servitude had been shaken off from its neck, had put his prefects to death. Sandrocottus had been the leader, who achieved their freedom, but after his victory he had forfeited by his tyranny, all little to the name of liberator : for having ascended the throne, he oppressed with servitude the very people whom he had emancipated from foreign thraldom. He was born in humble life, but was prompted to aspire to royalty by an omen, significant of an august destiny. For, when by insolent behaviour he had offended king Nandrus, and was ordered by that king to be put to death, he had sought safety by a speedy flight. When he lay down, overcome with fatigue and had fallen into a deep sleep, a lion of enormous size, approaching the slumberer, liked with its tongue, the sweat, which oozed profusely from his body, and when he awoke, quietly took its departure. It was this prodigy, which first inspired him, with the hope of winning the throne, and so having collected a band of robbers, he instigated the Indians to overthrow the existing government. When he was there, after preparing to attack. Alexander's prefects, a wild elephant of monstrous size approached him and kneeling submissively like tame elephant, received him on to its neck and fought vigorously in front of the army. Sandrocottus having thus won the throne, was reigning over India when Seluecus was laying the foundation of his future greatness. Seleucus having made a treaty with him and otherwise settled his affairs in the east, returned home to prosecute the war with Antigonous.

—From Pompei Trogi XV. 4 : as translated by Mr. Crendle, Principal, Patna College (See Prof. Hultzsch. Corp. Inscr. Indic. Pt. 1. Pref xxxiii.

ईसा की दूसरी शती में हुए विदेशी विद्वान् जस्टिन ने सिकन्दर के अधिकारियों द्वारा तथा मेगस्थनीज द्वारा लिखे गये संस्मरणों के आधार पर अपने "सारसंग्रह" में ये पंक्तियां लिखीं। इनसे हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचते हैं–

सिकन्दर ने एक बड़ी सेना के साथ यूनान से लेकर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा तक के देशों को विजित करने के पश्चात् ईसा पूर्व ५२७ में भारत पर आक्रमण किया। अनेक बड़ी-बड़ी राज्यसत्ताओं को पददलित एवं पराजित कर देने के कारण सिकन्दर की सेना का मनोबल बढ़ा हुआ था। नवीनतम शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सिकन्दर की शक्तिशाली विशाल सेना के समक्ष भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती छोटे-छोटे राज्यों तथा गणराज्यों की सेनाएं कड़े संघर्ष के पश्चात् एक के बाद एक पराजित होती ही गईं। इस दयनीय स्थिति को देखकर देश के आबाल वृद्ध के अन्तर्मन में उत्पन्न हुए क्षोभ ने प्रत्येक भारतवासी को अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये कुछ न कुछ कर गुजरने की प्रेरणा दी। प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों ने विदेशी शक्ति से लोहा लेने के लिये जनमानस को उभारा। नवयुवक अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये प्राणाहुति देने को तत्पर हुए। चाणक्य जैसे कूटनीतिज्ञ और रणनीति विशारदों की निगाह तक्षशिला में "उच्च सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले शिक्षार्थियों की ओर गई और उनमें से सुयोग्य युवकों का चयन कर उनके द्वारा युवावर्ग को आवश्यक सैनिक प्रशिक्षण दिलवाया तथा इस प्रकार तक्षशिला की सैनिक एकेडमी से शिक्षा प्राप्त स्नातकों के सेनापतित्व में तत्काल खड़ी की गई सैनिक टुकड़ियों में से कुछ को विदेशी शासन की समाप्ति के लिये युद्ध के मैदानों में भेजकर तथा कुछ को गुरिल्ला युद्ध से शत्रु की शक्ति क्षीण करने का कार्य सौंप कर सामूहिक विद्रोह का झण्डा फहराया गया। चन्द्रगुप्त जैसा महत्वाकांक्षी युवक, जो उस समय तक तक्षशिला में पर्याप्त सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कर चुका था, देश पर आई हुई संकट की घड़ियों में चुपचाप नहीं बैठ सकता था। अतः चन्द्रगुप्त ने भी एक सैनिक टुकड़ी का सेनापतित्व करते हुए सिकन्दर की सेना के सम्मुख डटकर लोहा लिया।

एक विदेशी लेखक, तूफान की तरह निरन्तर आगे बढ़ती हुई अपने देश की बहादुर सेना की राह में डटकर उसकी प्रगति को रोकने वाले भारतीय सेनापति के लिये यह लिखे कि – चन्द्रगुप्त ने डाकुओं का दल एकत्रित करके भारतवासियों को भड़काया – तो इसके लिये उसे दोष नहीं दिया जा सकता। संसार का इतिहास साक्षी है कि अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये प्राणाहुति देने वाले रणबांकुरे देशभक्तों को आततायी सदा से ही चोर, डाकू, लुटेरे, गुण्डे आदि सम्बोधनों से सम्बोधित करते आये हैं।

अपने समय के अप्रतिम कूटनीतिज्ञ और राजनीति-विशारद चाणक्य के दूरदर्शितापूर्ण निर्देशन में साहसी नवयुवक चन्द्रगुप्त ने अपनी मातृभूमि भारत को विदेशी यूनानियों की दासता से उन्मुक्त कराने का बीड़ा उठाया और अद्भुत धैर्य, साहस एवं पराक्रम से उसने यूनानियों को भारतवर्ष की सीमाओं से बाहर

खदेड़ने में सफलता प्राप्त की। चन्द्रगुप्त उस राजनैतिक विप्लव के समय न तो किसी राज्य का शासक ही था और न उसके पास कोई नियमित सेना ही थी। उसने देश की आन-बान पर मर मिटने की साध रखने वाले युवकों को संगठित कर इस अति दुष्कर कार्य को सम्भव बनाया।

अपने देश में विदेशी शासन का अन्त करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने अपने अभिभावक अथवा भाग्यविधाता चाणक्य के आदेशानुसार पाटलिपुत्र पर अधिकार करने हेतु अनवरत परिश्रम द्वारा एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मगध जैसे उस समय के सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य की सुसंगठित सेनाओं से लोहा लेने के लिये एक सशक्त सेना तैयार करने में चन्द्रगुप्त और चाणक्य को पर्याप्त समय लगा होगा। पर्याप्त शक्तिशाली सेना के संगठित हो जाने और सभी प्रकार की सैनिक तैयारियां सम्पन्न हो जाने पर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र पर प्रबल वेग के साथ आक्रमण करने का आदेश दिया। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य के आदेश का पालन करते हुए तत्काल अपनी सेना के साथ पाटलिपुत्र की ओर रणप्रयाण किया। भारत पर विदेशी आक्रमण के समय से ही धननन्द सावधान हो चुका था। कहीं सिकन्दर उसके राज्य पर भी आक्रमण न कर दे, इस आशंका से उसने अपनी फौजों को सुसंगठित कर रखा था। चन्द्रगुप्त द्वारा किये जाने वाले इस अप्रत्याशित आक्रमण की सूचना मिलते ही धननन्द अपनी विशाल वाहिनी के साथ चन्द्रगुप्त से युद्ध करने के लिये युद्धस्थल में आ डटा। इस सैनिक अभियान में चाणक्य भी चन्द्रगुप्त के साथ था। दोनों सेनाएं बड़ी वीरता के साथ लड़ीं किन्तु मगध की सुसंगठित और विशाल सेना के सम्मुख चन्द्रगुप्त की सेना के पैर उखड़ गये। चन्द्रगुप्त की सेना में भगदड़ मचते ही धननन्द की सेना ने द्विगुणित वेग से उस पर प्रबल आक्रमण किया। परिणाम यह हुआ कि चन्द्रगुप्त की सेना के सिपाही बहुत बड़ी संख्या में मगध की सेना द्वारा मौत के घाट उतार दिये गये और अन्ततोगत्वा चन्द्रगुप्त और चाणक्य को अपने प्राणों की रक्षा के लिये युद्धस्थल छोड़ कर भागना पड़ा। धननन्द के आदेश से मगध के सैनिकों द्वारा चन्द्रगुप्त और चाणक्य का पीछा किया गया। उस संकटापन्न भयानक स्थिति में भी प्रत्युत्पन्नमती चाणक्य ने चन्द्रगुप्त एवं स्वयं के प्राणों की बड़ी ही दक्षता से रक्षा की।

धननन्द ने अपने राज्य में घोषणा करवा दी कि जो कोई व्यक्ति चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य को जीवित अथवा मृत अवस्था में उसके समक्ष प्रस्तुत करेगा उसे बहुत बड़ा पारितोषिक तथा राजकीय सम्मान दिया जायगा। ऐसी स्थिति में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के लिये पग-पग पर प्राणों का संकट था। उधर मगध का समस्त गुप्तचर विभाग एवं सैन्य संगठन चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त को पकड़ने के लिये धननन्द के समस्त साम्राज्य में सक्रिय था पर चतुर चाणक्य चन्द्रगुप्त को साथ लिये विकट वनों, दुर्लंध्य पर्वतों और वेगवती नदियों को छद्मवेष में पार करता चला जा रहा था।

ग्रामीण महिला से चाणक्य को शिक्षा

नन्दवंश को समाप्त करने की अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने हेतु जीवित रहने का दृढ़ संकल्प हृदय में छुपाये हुए चाणक्य एक रात्रि में विश्राम के लिये चन्द्रगुप्त के साथ एक एकांत झौंपड़ी में ठहरा। उस वृद्ध महिला ने एक थाली में गरम-गरम राव डाल कर अपने बालकों के सम्मुख रख दी। उन बालकों में से एक ने राव खाने के लिये थाली के बीच में हाथ डाला और हाथ जल जाने के कारण कराह उठा। उस वृद्धा ने खीझ भरा उपालम्भ देते हुए उस बालक से कहा—"मेरे बच्चे ! तू भी चाणक्य की तरह नितांत मूढ़ ही नजर आता है।"

वृद्धा की बात सुन कर चाणक्य चौंक उठा। उसने वृद्धा से पूछा—"चाणक्य ने ऐसी कौनसी मूर्खता की है, जिसके कारण तुम इस बालक को उसके समान मूर्ख बता रही हो ?"

वृद्धा ने उत्तर दिया—"पान्थ ! जिस प्रकार चाणक्य ने मगध के सीमावर्ती क्षेत्रों को विजित किये बिना सहसा विशाल साम्राज्य के मध्यभाग में स्थित पाटलीपुत्र नगर पर आक्रमण कर के भयंकर पराजय के साथ प्राणसंकट मोल लेने की मूर्खता की उसी प्रकार यह मूर्ख बालक भी थाली के किनारों के आस-पास की राव न खा कर गरमागरम राव के बीच में हाथ डाल कर अपना हाथ जला चुका है।"

चाणक्य ने उस ग्रामीण वृद्धा द्वारा दिये गये ताने से शिक्षा ग्रहण की। मन ही मन वृद्धा का उपकार मानते हुए उसने रात भर जागते रह कर अपना भावी कार्यक्रम निर्धारित किया और सूर्योदय से पूर्व ही अज्ञात स्थान के लिये वहां से प्रस्थान कर दिया।

अपने बुद्धि-कौशल से चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की ओर सरपट दौड़ से आते हुए नन्द के घुड़ सवारों को मौत के घाट उतार कर अपने तथा चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा की। अनेक संकटों का सामना करने के पश्चात् चाणक्य चन्द्रगुप्त के साथ मगध की सीमाओं से सकुशल बाहर निकलने में सफल हुआ। निरापद स्थान पर पहुंचने के पश्चात् चाणक्य ने पुनः सैन्य-संगठन का कार्य प्रारम्भ किया। अब की बार चाणक्य ने हिमालय की तलहटी के राजा पर्वतक के साथ मित्रता की और उसे नन्द का आधा राज्य देने का विश्वास दिला कर धननन्द के राज्य पर आक्रमण करने के लिये राजी कर लिया। कुछ ही समय में चन्द्रगुप्त ने भी एक सशक्त सेना सुगठित कर ली। चाणक्य के निर्देश के अनुसार चन्द्रगुप्त और पर्वतक की सेनाओं ने सम्मिलित रूप से मगध राज्य पर आक्रमण किया और मगध के एक के पश्चात् दूसरे सीमावर्ती क्षेत्रों एवं नगरों पर अधिकार करते हुए अन्ततोगत्वा पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया। चाणक्य की इस नवीन रणनीति के कारण इस बार के युद्ध में शीघ्र ही मगध का बहुत बड़ा भाग चन्द्रगुप्त तथा पर्वतक के अधिकार में आ जाने के कारण धन, जन, रसद आदि की दृष्टि से

चन्द्रगुप्त और पर्वतक की सम्मिलित सैन्य शक्ति धननन्द के लिये अजेय बन गई। अन्ततोगत्वा तुमुल युद्ध के पश्चात् मगध की सेना युद्धस्थल छोड़ कर भाग खड़ी हुई। पाटलीपुत्र का पतन होते ही चन्द्रगुप्त ने धननन्द को जीवितावस्था में पकड़ लिया। इस सैनिक अभियान की सफलता का सारा श्रेय चाणक्य को दिया जा सकता है, जिसकी गूढ़ कूटनीतिक चालों के कारण चन्द्रगुप्त और पर्वतक की सेनाओं को निरन्तर सफलताएं प्राप्त होती रहीं।

नन्दवंश का अन्त : मौर्यवंश का अभ्युदय

चन्द्रगुप्त ने अपने गुरु चाणक्य के समक्ष बन्दी-वेष में धननन्द को उपस्थित किया। धननन्द ने चाणक्य के सम्मुख प्राणभिक्षा मांगते हुए कहा कि वह अब एकान्त में धर्म-साधना करना चाहता है। चाणक्य ने धननन्द की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए कहा कि वह अपनी दोनों रानियों, एक पुत्री और यथेप्सित धन-सम्पत्ति के साथ एक रथ में बैठ कर जहां चाहे वहां जा सकता है।

चाणक्य के आदेशानुसार धननन्द ने अपनी दोनों पत्नियों और एक पुत्री को रथ में बिठाया और जीवनयापन योग्य पर्याप्त सम्पत्ति ले कर रथारूढ़ हो रथ को हांक दिया। जिस समय नन्द ने अपने रथ को हांका दैवयोग से उसी समय चन्द्रगुप्त का रथ उसके सामने की ओर से आया। रथारूढ़ तेजस्वी युवक चन्द्रगुप्त पर दृष्टि पड़ते ही धननन्द की राजकुमारी अपना समस्त भान-कुल-कान आदि विस्मृत कर बैठी। जिस प्रकार चकोरी चन्द्र की ओर विस्फारित नेत्रों से देखती रहती है उसी प्रकार धननन्द की कन्या अपनी सुध-बुध भूले अपलक दृष्टि से चन्द्रगुप्त की ओर निहारती ही रह गई! अनुभवी वृद्ध धननन्द से यह छुपा न रहा कि उसकी पुत्री चन्द्रगुप्त पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर चुकी है। उसने रथ रोक कर अपनी पुत्री से कहा – "वत्से! क्षत्रिय कन्याओं के लिये स्वयंवर ही वर-चयन का श्रेष्ठ माध्यम माना गया है। तुम अपनी इच्छानुसार प्रसन्नता-पूर्वक चन्द्रगुप्त का वरण करो। अब तुम मेरे रथ से उतर कर चन्द्रगुप्त के रथ पर आरूढ़ हो जाओ और इस तरह मुझे तुम्हारे लिये सुयोग्य वर ढूंढने की चिन्ता से सदा के लिये मुक्त कर दो।"

अपने पिता की बात सुनते ही वह राजकन्या मन्त्रमुग्धा सी तत्काल धननन्द के रथ से उतर कर चन्द्रगुप्त के रथ पर चढ़ने लगी। चन्द्रगुप्त के रथ पर नन्दराज की कन्या द्वारा एक पैर ही रखा गया था कि उसके पहियों के ६ आरे चर्र-चर्र शब्द करते हुए तत्काल टूट गये।

यह देखते ही – "अरे! मेरे रथ पर यह महा अमंगलकारिणी कौन आरूढ़ हो रही है, जिसके द्वारा रथ में एक पैर के रखने मात्र से मेरे रथ के आरे टूट गये। यदि यह पूरी तरह से रथ में बैठ गई तो मेरे रथ का ही नहीं संभवतः मेरा स्वयं का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जायगा" – यह कहते हुए चन्द्रगुप्त ने नन्ददुलारी को अपने रथ में बैठने से रोका।

चारणक्य ने चन्द्रगुप्त को बीच में ही टोकते हुए कहा – "नहीं, नहीं चन्द्रगुप्त ! ऐसा न करो। तुम निस्संकोच होकर राजकुमारी को अपने रथ में बैठने दो। रथ के पहिये के ९ आरों के टूटने का यह तुम्हारे लिये और तुम्हारी भावी पीढ़ियों के लिये महान् शुभ शकुन है। तुम्हारी ९ पीढ़ियां अक्षुण्णरूप से राज्य करती रहेंगी।"

"यथाज्ञापयति देव !" कहते हुए चन्द्रगुप्त ने चारणक्य की आज्ञा को शिरोधार्य किया और धननन्द की राजपुत्री को अपने रथ में बिठा लिया।

तदनन्तर चन्द्रगुप्त और राजा पर्वतक ने धननन्द की अतुल धन-सम्पत्ति का परस्पर विभाजन करना प्रारम्भ किया।

धननन्द की सम्पत्ति का बंटवारा करते समय धननन्द के रनिवास की एक अद्भुत रूप – लावण्यसम्पन्न कन्या चन्द्रगुप्त और पर्वतक के समक्ष प्रस्तुत की गई। राजा पर्वतक उस कन्या को देखते ही उस पर मुग्ध हो गया। वह कन्यारत्न किसके पास रहे, इस प्रकार का प्रश्न उठने से पहले ही दूरदर्शी चारणक्य ने कहा – "चन्द्रगुप्त ! धननन्द की राजपुत्री तुम्हारा वरण कर चुकी है, अब यह अनुपम सुन्दरी कन्या महाराज पर्वतक की पत्नी बने, यही न्यायसंगत है।"

चन्द्रगुप्त ने बिना किसी प्रकार की नन्नो-नच्च के अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। महार्घ्य वस्तुओं का बंटवारा होते ही पर्वतक की इच्छानुसार उस रूपवती कन्या के साथ पर्वतक का विवाह बड़ी धूमधाम के साथ सम्पन्न किया जाने लगा। सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित वर-वधू को हवन-वेदी के पास बिठाया गया और वर-वधू का परस्पर करग्रहण करवाने के पश्चात् विवाह की मांगलिक क्रियाएं की जाने लगीं। विवाह-वेदी की अग्नि के ताप से वर-वधू के हाथों में स्वेद उत्पन्न हुआ। वधू के हाथ का स्वेद लगते ही पर्वतक पर अति वेग से विष का प्रभाव होने लगा। वस्तुतः वह कन्या विषकन्या थी, जिसे धननन्द ने अपनी राह के कांटों को गुप्त रूप से साफ करने हेतु अनुपात से उत्तरोत्तर अधिकाधिक विष खिला कर पाला-पोसा था। उस विषकन्या के स्वेद के प्रभाव से पर्वतक के समस्त अंगोपांग शिथिल होने लगे। उसके अन्तर में विषजन्य तीव्र जलन होने लगी। उसने करुणापूर्ण याचनाभरे स्वर में चन्द्रगुप्त को सम्बोधित करते हुए कहा – "मित्र ! मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो मुझे विष पिला दिया गया हो। मेरे कण्ठ अवरुद्ध हो रहे हैं। अब मुझ में बोलने का भी साहस नहीं रहा है। मेरे प्राण निकलने ही वाले हैं। कृपा कर मेरा शीघ्रतापूर्वक कुशल वैद्यों से उपचार करवाओ।"

चन्द्रगुप्त को सहसा ऐसा अनुभव हुआ मानो उस पर अनभ्र-वज्रपात हुआ हो। वह हड़बड़ा कर अपने स्थान से उठा और – "कहां है मान्त्रिक ! कहां है वैद्य !" कहता हुआ स्वयं द्वार की ओर भागा। चाणक्य ने इस प्रकार हड़बड़ा

कर दौड़ते हुए चन्द्रगुप्त को एकान्त में रोका और उसके कान में कहने लगा – "चन्द्रगुप्त ! तुम महान् भाग्यशाली हो, बिना उपचार के ही तुम्हारा प्राणहारी रोग स्वतः शान्त हो रहा है। पर्वतक की मृत्यु तुम्हारे लिये वरदान सिद्ध होगी। आगे चल कर एक न एक दिन तुम्हें इस पर्वतक को मार डालने के लिये बड़ा प्रयास करना पड़ता। यह राजनीति का अटल सिद्धान्त है कि अपने आधे राज्य के अधिकारी को जो मारने में पहल नहीं करता वह एक न एक दिन स्वयं ही मृत्यु का ग्रास वन जाता है। तुम्हें तो इसे एक न एक दिन मारना ही था। आज यह तुम्हारे द्वारा बिना किसी प्रकार का प्रयास किये ही स्वयं मर रहा है, तो इसे मरने दो। अपने इस भाग्योदय को मौन धारण कर चुपचाप देखते रहो।"

अपने भाग्यविधाता चाणक्य की आज्ञा का उल्लंघन करने का साहस चन्द्रगुप्त में नहीं था। अन्ततोगत्वा विषकन्या के विषाक्त प्राणहारी पसीने के प्रभाव से पर्वतक पंचत्व को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार वीर निर्वाण संवत् २१५ में जिस वर्ष कि आचार्य स्थूलभद्र का स्वर्गवास हुआ, उसी वर्ष नन्दवंश का अन्त, पर्वतक का प्राणान्त और पाटलिपुत्र के विशाल साम्राज्य तथा पर्वतक के राज्य पर चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याभिषेक हुआ।

चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण-काल के सम्बन्ध में मतभेद

चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की सहायता से वीर निर्वाण संवत् २१५ में नन्द राजवंश का अन्त कर पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर अधिकार किया, यह जैनों की प्राचीन काल से मान्यता चली आ रही है। इस मान्यता की पुष्टि जैन परम्परा के अति प्राचीन ग्रन्थ 'तित्थोगालियपइण्णा' के निम्नलिखित उल्लेख से होती है :–

> जं रयणिं कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
> तं रयणिमवंतीए अभिसित्तो पालओ राया॥
> पालग रण्णो सट्ठी, पणपणसयं वियाणि णंदाणं।
> मुरियाणमट्ठिसयं तीसा पुण पूसमित्ताणं॥

अर्थात् जिस रात्रि में तीर्थंकर भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया, उसी रात्रि में पालक राजा का अवन्ती के राज्य सिंहासन पर अभिषेक हुआ। पालक का ६० वर्ष तक, तदनन्तर नन्दों का १५५ वर्ष तक, नन्दों के पश्चात् मौर्यों का १०८ वर्ष तक और तदनन्तर पुष्यमित्र का ३० वर्ष तक राज्य रहा।

कालान्तर में :–

> एवं च श्री महावीर मुक्तेर्वर्षशते गते।
> पंचपंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः॥३३९॥

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा अपने परिशिष्ट पर्व में उल्लिखित इस श्लोक के आधार पर दूसरी नवीन मान्यता प्रचलित हुई कि वीर नि० सं० १५५ में नन्द

वंश का अन्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अधिकार किया। पर तथ्यों की कसौटी पर कसे जाने के पश्चात् यह नवीन मान्यता खरी नहीं उतरी और इतिहास के विद्वानों ने स्पष्ट रूप से यह कह दिया कि हेमचन्द्राचार्य की गणना में असावधानी से पालक के राज्य के ६० वर्ष छूट गये हैं।[1]

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा राजत्वकाल गणना में हुई इस भूल के कारण भगवान् महावीर के निर्वाण काल में भी ६० वर्ष का अन्तर आता था अतः विद्वानों द्वारा इस सम्बन्ध में गहन खोज की गई और उस खोज के परिणामस्वरूप यह तथ्य विद्वानों के समक्ष आया कि महाराजा कुमारपाल का काल देते समय आचार्य हेमचन्द्र ने पालक के राज्यकाल के ६० वर्षों को कालगणना में सम्मिलित कर लिया है। यथा :-

> अस्मिन्निर्वाणतो वर्षशतान्यमय षोडश।
> नवषष्टिश्च यास्यन्ति, यदा तत्र पुरे तदा ।।४५।।
> कुमारपालभूपालो चौलुक्यकुलचन्द्रमाः।
> भविष्यति महाबाहुः, प्रचण्डाखण्डशासनः ।।४६।।
> [त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व १०, सर्ग १२]

आचार्य हेमचन्द्र के इस कथन के अनुसार कुमारपाल वी० नि० सं० १६६६ में हुआ और यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि राजा कुमारपाल ई० सन् ११४२-४३ में हुआ। इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने भी महावीर निर्वाणकाल (वी० नि० सं० १६६६-११४२) ई० पूर्व ५२७ मान कर तित्थोगालियपइण्णा में दी गई कालगणना को तथ्यपूर्ण माना है।

इस प्रकार के पुष्ट प्रमाणों के उपरान्त भी कुछ विद्वान् "पण पण सयं वियाणि णंदाणं" इस गाथापद का यह असंगत अर्थ लगा कर कि वीर निर्वाण संवत् १५५ में नन्दवंश का अन्त हुआ – यह मान्यता अभिव्यक्त करते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीर नि० सं० १५५ में राजसिंहासन पर आसीन हुआ।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने वीर निर्वाण संवत् २१५ में नन्द राज्यवंश का अन्त कर राज्यारोहण किया अथवा वी० नि० सं० १५५ में, यह एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक प्रश्न है। इससे न केवल जैन इतिहास पर अपितु आज से लगभग २३०० वर्ष पहले के भारतवर्ष के इतिहास पर भी प्रभाव पड़ता है अतः यहां नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है।

ईसा पूर्व मई ३२७ से ईसा पूर्व मई ३२४ तक लगातार तीन वर्ष तक भारतवर्ष पर अलेक्जेण्डर का आक्रमण रहा। अलेक्जेण्डर द्वारा भारत में नियुक्त अधिकारियों द्वारा लिखे गये युद्ध के संस्मरणों एवं विभिन्न अन्य तथ्यों के आधार

---

1 Hemchandra must have omitted by oversight to count the period of 60 years of king Palaka after Mahaveera, [Epitome of Jainism Appendix A, P IV]

पर यूरोपीय लेखकों ने भारत पर अलेक्जेण्डर के आक्रमणकाल की घटनाओं के विवरण समय-समय पर अपनी कृतियों में दिये हैं। उनसे यह निर्विवाद रूपेण सिद्ध होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त विदेशी आक्रान्ता से देश की रक्षार्थ लड़ा था और उस समय तक मगध पर नन्द का राज्य था। उन यूरोपीय लेखकों में से चार लेखकों की रचनाओं में से एतद्विषयक कुछ उद्धरण यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं :–

(१) ईसा से ३६ वर्ष पूर्व तक जीवित डिओडोरस ने मेगस्थनीज की रचनाओं के आधार पर लिखा है :–

"पोरस ने सिकन्दर को सूचना दी कि गंगादिराई का राजा (नन्द) बिल्कुल दुश्चरित्र शासक है, जिसका कोई सम्मान नहीं करता और उसे लोग नाई की संतान समझते हैं।"

(२) ईसा की पहली शताब्दी के यूरोपीय लेखक कर्टियस ने लिखा है :–

"पोरस (भारतीय राजा जिसे सिकन्दर ने झेलम की लड़ाई में पराजित किया और जो उस समय उस प्रदेश का सबसे महान् व्यक्ति था) ने सिकन्दर को बताया कि वर्तमान राजा (नन्द) न केवल ऐसा आदमी है जिसकी मूलतः कोई प्रतिष्ठा नहीं थी बल्कि उसकी स्थिति नीचतम थी। उसका पिता वास्तव में नाई था, जो चोरी छिपे रानी का प्रेमी बन गया और उसने छल से राजा का वध करवा दिया। फिर राजकुमारों के अभिभावक के रूप में काम करने के बहाने उसने सारी सत्ता अपने हाथ में कर ली और सारे अल्पवयस्क राजकुमारों की हत्या करवा दी, उसके बाद उसके संतान हुई जो वर्तमान राजा है। जिससे उसकी प्रजा घृणा करती है या उसे शूद्र समझती है।"

(३) लगभग ४५ से १२५ ई० सन् में हुए प्लूटार्क नामक लेखक ने अपनी "लाइव्स" (जीवनियां) नामक रचना के ५७वें से ६७वें अध्यायों में सिकन्दर के जीवन की घटनाओं को देते हुए लिखा है :–

"सैंड्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त) जो उस समय नवयुवक ही था, स्वयं सिकन्दर से मिला था और बाद में वह कहा करता था कि सिकन्दर बड़ी आसानी से पूरे देश पर (गंगादिराई तथा प्रासाई देश पर, जिस पर नन्द राजा का शासन था) अधिकार कर सकता था क्योंकि वहां का राजा स्वभावतः दुष्ट था और उसका जन्म नीच कुल में हुआ था और इसीलिये उसकी प्रजा उसे घृणा तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखती थी।"

(४) ईसा की दूसरी शती में हुए यूरोपीय लेखक जस्टिन की रचना "एपिटोम" (सारसंग्रह) का एतद्विषयक उद्धरण अविकल रूप से पहले दिया जा चुका है, जिसमें उसने स्पष्ट रूप से लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने डाकुओं का दल संगठित कर के भारतवासियों में यूनानी शासन के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़काई तथा वह युद्ध के मैदानों में एक जंगली हाथी पर सवार हो कर यूनानियों

से लड़ता रहा। उसने यूनानी शासन को भारत से समाप्त कर दिया और वह स्वयं राजा बन बैठा।

इस प्रकार आज से क्रमशः दो हजार, १६ सौ, १८ सौ और १७ सौ वर्ष पूर्व हुए विदेशी लेखकों की कृतियों के उपरिउद्धृत उद्धरणों से यह पूर्णरूपेण स्पष्टतः सिद्ध होता है कि ईसा पूर्व ३२७ से ३२४ अर्थात् वीर नि० सं० २०० से २०३ तक केवल चन्द्रगुप्त ही नहीं नन्द भी विद्यमान था और गंगा दरिया तथा भारत के पूर्वी क्षेत्रों पर नन्द का शासन था।

विदेशी लेखकों की कृतियों में इन महत्वपूर्ण विवरणों के पश्चात् और भी अनेक महत्वपूर्ण प्रमाण मिलते हैं, जिनमें चन्द्रगुप्त को भारत का सार्वभौम सत्तासम्पन्न शासक बताया गया है।

यह तो एक निर्विवाद तथ्य है कि सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् सिकन्दर के साम्राज्य का उसके सेनापतियों ने परस्पर बंटवारा किया और उनमें संघर्ष चलता रहा। सिकन्दर के उन सेनापतियों में से सेल्यूकस ने सिकन्दर की मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात् ईरान तक अपने राज्य का विस्तार किया। इसके पश्चात् सेल्यूकस भारत की ओर बढ़ा और सिकन्दर द्वारा विजित भारतीय प्रदेशों पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास करने लगा। उसने अनेक बार बड़ी शक्तिशाली सेना ले कर भारत के उत्तरपश्चिमी भाग पर आक्रमण किये, किन्तु उस समय तक चन्द्रगुप्त मौर्य भारत में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर चुका था, अतः चन्द्रगुप्त के समक्ष यूनानी सेना एक बार भी नहीं टिक सकी और सेल्यूकस को भारत के विरुद्ध किये गये अपने सभी सैनिक अभियानों में हर बार पराजय का मुंह देखना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने ई० पू० ३०४ में (नन्दवंश का अन्त कर राजा बनने के ८ वर्ष पश्चात् वीर निर्वाण सं० २२३ में) सेल्यूकस को करारी हार दी जिसके परिणामस्वरूप सेल्यूकस को चन्द्रगुप्त के साथ संधि करनी पड़ी। विदेशी लेखक प्लूटार्क अपनी कृति "लाइव्स" के ४२वें अध्याय में इस संधि का उल्लेख अपने ढंग से इस प्रकार करता है:–

"इसके कुछ ही समय पश्चात् सेन्ड्रोकोट्टस ने जो उसी समय राजसिंहासन पर बैठा था, सेल्यूकस को ५०० हाथी भेंट किये और ६,००,००० की सेना ले कर सारे भारत को अपने अधीन कर लिया।"

इन सब ऐतिहासिक घटनाओं के पर्यालोचन से यह तथ्य प्रकट होता है कि वीर निर्वाण संवत् २०० में जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तो उस समय देश की रक्षार्थ चन्द्रगुप्त ने यूनानियों से नि० सं० २०४-५ तक लोहा लिया। यूनानी शासन को भारत से समाप्त करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने चाणक्य के तत्वावधान में शक्तिशाली सेना का संगठन करना प्रारम्भ किया। धननन्द जैसे शक्तिशाली राजा से युद्ध करने के लिये एक सशक्त सेना सुगठित करने में पर्याप्त समय लगा होगा। सैन्यसंगठन के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण

किया, पर उस प्रथम युद्ध में नन्द ने उसकी सेना को नष्ट कर दिया। अपनी भयंकर पराजय के पश्चात् चन्द्रगुप्त और चाणक्य को जंगलों और पहाड़ों में छुप-छुप कर अपने प्राणों की रक्षा करते हुए काफी समय तक इधर से उधर भटकना पड़ा। तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने नये सिरे से पुनः सेना संगठित की। सैन्य संगठन के पश्चात् चाणक्य ने राजा पर्वतक से मित्रता की और उसे नन्द के राज्य पर आक्रमण करने को येन-केन-प्रकारेण सहमत किया। पर्वतक की सहायता प्राप्त करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने दूसरी बार नन्द पर आक्रमण किया और इस युद्ध में चन्द्रगुप्त ने नन्द राजवंश का अन्त कर पाटलीपुत्र के राज्यसिंहासन पर अधिकार किया। इन सब अति दुष्कर कार्यों को सम्पन्न करने में चन्द्रगुप्त को निश्चित रूप से १० वर्ष अवश्य लगे होंगे।

इस प्रकार वीर निर्वाण संवत् २१५ में नन्दवंश के अन्त और मौर्य साम्राज्य के प्रारम्भ के जो उल्लेख जैन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं, वे उपरिलिखित ऐतिहासिक तथ्यों की कसौटी पर शतप्रतिशत खरे उतरते हैं।

चन्द्रगुप्त ने वीर निर्वाण संवत् २१५ में नन्द राजवंश को समाप्त कर मौर्य राजवंश की स्थापना की; इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि अशोक के १३वें शिलालेख से भी होती है। अशोक के सभी अभिलेखों पर उसके राज्याभिषेक के पश्चात् बीते हुए वर्षों के अनुक्रम से तिथियां डाली गई हैं। उदाहरण के तौर पर अशोक के राज्याभिषेक के दो वर्ष पश्चात् लिखे गये अभिलेख पर दो, पांच वर्ष पश्चात् लिखे गये अभिलेख पर ५ और १३ वर्ष पश्चात् लिखे गये अभिलेख पर १३ की संख्या लिखी गई है। इस प्रकार अशोक के जिस अभिलेख पर जो संख्या लिखी गई है, वह उसके राज्याभिषेक के उसी संख्या वाले वर्ष में लिखा गया है।

अशोक के १३वें राज्यवर्ष में जो तेरहवां शिलालेख लिखा गया उसका भारतीय इतिहास में तिथिक्रम की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। इस १३वें शिलालेख में अशोक ने यूनान के उन पांच सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजाओं का उल्लेख किया है, जिनके साथ अशोक ने अपने शिष्टमंडलों के माध्यम से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर रखे थे। उन पांचों यूनानी राजाओं के नाम उनके इतिहास-सम्मत राज्यकाल के साथ यहां दिये जा रहे हैं :-

१. अंतियोक – बैबिलोन तथा ईरान का राजा ऐंटियोकस, द्वितीय थियोस, २६१–२४६ ई० पू०
२. तुरमय – मिस्र का राजा तोलेमाइयस, द्वितीय फिलाडेल्फोस, २८५–२४७ ई० पू०
३. अंतिकिनि – मकदूनियां का राजा ऐंटिगोनस गोनाटस, २७७–२४० ई० पू०
४. मक – साइरीन का राजा मगस, ३००–२५० ई० पू० (बैलोच तथा गैयेर के अनुसार)

५. अलिकसुन्दर – एपिरस का अलेक्जेण्डर, (ई० पू० २५५ तक जीवित)।[1]

अशोक के राज्याभिषेक के समय के सम्बन्ध में इस ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में बताया जा चुका है कि उसका राज्याभिषेक ई० पू० २६९ में हुआ। इस हिसाब से अशोक का यह तेरहवां अभिलेख ई० पूर्व २५६ में लिखा गया। ऊपर बताये हुए पांचों यूनानी राजा इस अभिलेख के लेखन-समय में जीवित थे यह उनके सामने दी हुई तिथियों से स्पष्ट हो जाता है।

वीर निर्वाण संवत् २१५ अर्थात् ई० पू० ३१२ में चन्द्रगुप्त ने नन्दवंश को समाप्त कर उसके राज्य पर अधिकार किया। ३१२ ई० पूर्व चन्द्रगुप्त के राज्यासीन होने के काल और २६९ ई० पू० अशोक के राज्याभिषेक काल में ४३ वर्ष का अन्तर रहा। इसमें से १८ वर्ष चन्द्रगुप्त का और २५ वर्ष बिन्दुसार का मिलाकर कुल ४३ वर्ष का इन दोनों का शासनकाल हो गया।

इन सब प्रबल प्रमाणों से पूर्णरूपेण यह सिद्ध हो जाता है कि जैन मान्यतानुसार चन्द्रगुप्त ने वीर निर्वाण संवत् २१५ तदनुसार ई० पू० ३१२ में नन्द राजवंश को समाप्त कर पाटलीपुत्र में मौर्य राजवंश की स्थापना की।

आर्य स्थूलभद्र का शिष्य-परिवार

आर्य स्थूलभद्र का शिष्य-परिवार यों तो बड़ा विशाल था पर उन शिष्यों में अतिशय प्रतिभासम्पन्न निम्नलिखित दो शिष्य थे :–

१. आर्य महागिरी एलापत्यगोत्रीय और
२. आर्य सुहस्ती, वाशिष्ठगोत्रीय

आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती

भगवान् महावीर के सातवें पट्टधर एवं आठवें आचार्य स्थूलभद्र के पश्चात् ९वें आचार्य आर्य महागिरि और १०वें आचार्य सुहस्ती हुए।

९. आर्य महागिरि

आर्य महागिरि का गोत्र एलापत्य था। आप ३० वर्ष गृहस्थ पर्याय में रहे। आपकी सामान्य व्रतपर्याय ४० वर्ष, आचार्यकाल ३० वर्ष, सम्पूर्ण चारित्र पर्याय ७० वर्ष और पूर्ण आयु १०० वर्ष थी। वीर निर्वाण सं० २४५ में आपका स्वर्गवास हुआ।

गृहस्थ जीवन

आर्य महागिरि और सुहस्ती के माता-पिता कौन थे और कहां के रहने वाले थे, एतद्विषयक कोई उल्लेख जैन साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। इन दोनों के दीक्षित होने से पहले के जीवन का केवल इतना ही उल्लेख मिलता है कि इन दोनों को शैशवावस्था से ही आर्या यक्षा की देखरेख में रखा गया। इन दोनों का लालन-पालन-शिक्षण आदि आर्या यक्षा के तत्वावधान में हुआ। कहा जाता है कि इसी की स्मृति के रूप में इन दोनों के नाम से पहले आर्य विशेषण रखा गया पर यह संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि "आर्य" इस विशेषण का प्रयोग शास्त्रों में सुधर्मा और जम्बू के लिये भी प्रयुक्त किया गया है। इन दोनों ने क्रमशः ३०-३० वर्ष की वय में आचार्य स्थूलभद्र के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। आर्य महागिरि का जन्म वीर निर्वाण संवत् १४५ में और आर्य सुहस्ती का जन्म वीर निर्वाण संवत् १९१ में हुआ।

श्रमण-दीक्षा

ऊपर दिये गये इन दोनों आचार्यों के जन्म, दीक्षा, आचार्यकाल और स्वर्गारोहण के आँकड़ों के अनुसार आर्य महागिरि का दीक्षाकाल वी० नि० सं० १७५ और आर्य सुहस्ती का दीक्षाकाल वी० नि० सं० २२१ माना गया है। दुःषमा श्र० संघस्तोत्रयंत्र के अनुसार इन दोनों आचार्यों की पूर्णायु सौ-सौ वर्ष मानी गई है तथा युगप्रधान पट्टावली में आचार्य स्थूलभद्र के पश्चात् इन दोनों आचार्यों का आचार्यकाल क्रमशः ३० और ४६ वर्ष का माना गया है[1], इससे उपरिवर्णित काल की पुष्टि होती है।

जहां तक आर्य महागिरि का सम्बन्ध है, उपरोक्त कालगणना में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती किन्तु ऊपर बताये हुए आंकड़ों के अनुसार आर्य सुहस्ती की दीक्षा का काल वी० नि० सं० २२१ में आता है; उसमें सबसे बड़ी आपत्ति यह आती है कि आर्य सुहस्ती को आचार्य स्थूलभद्र का हस्तदीक्षित शिष्य माना गया है और आचार्य स्थूलभद्र वीर नि० सं० २१५ में ही स्वर्गवासी हो गये थे। ऐसी स्थिति में आचार्य स्थूलभद्र के पास वीर नि० सं० २२१ में उनके दीक्षित होने की बात संगत और सत्य नहीं बैठती। आचार्य स्थूलभद्र के स्वर्गगमनकाल को १० वर्ष आगे सरका कर इसकी संगति बैठाने का कुछ विद्वानों की ओर से प्रयास किया गया है पर इस प्रकार की पद्धति को अपनाने से तो अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं की प्रमाणिकता ही समाप्त हो जायगी। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य सुहस्ती २३ वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए हों और किसी लिपिकार के प्रमाद से तेवीस के स्थान पर तीस की संख्या प्रचलित हो गई हो। तेवीस वर्ष की अवस्था में इनके दीक्षित होने की बात को स्वीकार कर

---

[1] (वीर निर्वाण सं० २१५ में आ० स्थूलभद्र के स्वर्गगमन के पश्चात्)
अज्ज महागिरि तीसं, अज्ज सुहत्थीण वरिस छायाला। [स्थविरावली]

लेने से आचार्य स्थूलभद्र के पास वी० नि० सं० २१४-१५ में इनके दीक्षित होने की संगति भी बैठ जाती है और किसी महान् आचार्य के आयुष्य को इच्छानुसार कम या ज्यादा करने का प्रयास भी नहीं करना पड़ता। आर्य सुहस्ती तो शैशवावस्था से ही श्रमणोचित संस्कारों में ढाले गये थे। ऐसी स्थिति में उनकी औपचारिक दीक्षा ७ वर्ष पहले हो अथवा पश्चात्, उससे उनके महान् संत जीवन में कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं पड़ता।

श्रमण-जीवन

वीर निर्वाण सं० १७५ में दीक्षित होने के पश्चात् आर्य महागिरि ने अपने गुरु आचार्य स्थूलभद्र की सेवा में रहते हुए दश पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। ऐसा प्रतीत होता है कि क्रमशः ३० और अनुमानतः २३ वर्ष की अवस्था तक विदुषी आर्या यक्षा के सान्निध्य में रह कर उन दोनों ने निश्चित रूप से एकादशांगी का समीचीनरूपेण अध्ययन कर लिया होगा। तदनन्तर दीक्षित होने के पश्चात् आर्य महागिरि ने आचार्य स्थूलभद्र से १० पूर्वों का अध्ययन किया। आर्य सुहस्ती की दीक्षा के पश्चात् आचार्य स्थूलभद्र लगभग एक वर्ष तक जीवित रहे, अतः उन्होंने आर्य सुहस्ती को पूर्वों का अध्यापन प्रारम्भ तो कर दिया होगा पर उनके स्वर्गगमन के पश्चात् उन्हें दश पूर्वों का पूर्ण अध्यापन आर्य महागिरि ने ही किया होगा। सम्भवतः यही एक बहुत बड़ा कारण था कि आर्य सुहस्ती ने जीवन पर्यन्त आर्य महागिरि का अपने गुरु की तरह पूर्ण सम्मान किया।

इन दोनों महापुरुषों ने क्रमशः ४० और ३१ वर्ष के अपने सामान्य व्रत-पर्याय के समय में कठोर तपश्चरण, निरतिचार विशुद्ध संयमपालन एवं स्थविर श्रमणों की सेवा शुश्रूषा के साथ-साथ अनवरत अभ्यास और पूर्ण निष्ठा के साथ ज्ञानार्जन किया। ये दोनों महाश्रमण दो वस्तु कम १० पूर्वों के पूर्ण ज्ञाता थे।

आचार्य-पद

वीर निर्वाण संवत् २१५ में अपने स्वर्गगमन के समय आचार्य स्थूलभद्र ने अपने इन दोनों सुयोग्य शिष्यों – आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती – को अपने उत्तराधिकारी के रूप में भगवान् महावीर के आठवें पट्टधर-पद पर आचार्य नियुक्त किया।

प्रायः कल्पसूत्र स्थविरावळी, परिशिष्ट पर्व, विभिन्न पट्टावलियाँ आदि सभी उपलब्ध प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों में आचार्य स्थूलभद्र द्वारा आर्य महा-गिरि और सुहस्ती – इन दोनों को साथ-साथ आचार्य पद प्रदान किये जाने का उल्लेख किया गया है; पर यह वस्तुतः विचारणीय है। इसका कारण यह है कि आर्य सुहस्ती आचार्य स्थूलभद्र के पास दीक्षित होकर संभवतः एकादशांगी का अभ्यास भी पूर्ण नहीं कर पाये होंगे कि स्थूलभद्र स्वामी स्वर्गस्थ हो गये। आर्य सुहस्ती का पूर्व श्रुत का अभ्यास आर्य महागिरि के सान्निध्य में उन्हीं की कृपा से पूर्ण हुआ, जैसा कि परिशिष्ट पर्वकार ने स्वयं आर्य सुहस्ती के

मुख से आर्य महागिरि के लिये कहलवाया है – "ममैते गुरवः खलु" – 'ये मेरे गुरु हैं।' ऐसी स्थिति में वीर नि० सं० २१५ में स्वल्प दीक्षाकाल वाले आर्य सुहस्ती को आचार्य स्थूलभद्र द्वारा महागिरि के साथ आचार्य पद पर नियुक्त किये जाने की बात पूर्ण संगत प्रतीत नहीं होती।

इन सब तथ्यों के संदर्भ में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों को एक साथ आचार्यपद पर नियुक्त किये जाने के उल्लेख के पीछे कोई न कोई विशिष्ट स्थिति अथवा कारण अवश्य होना चाहिए।

एतद्विषयक सभी तथ्यों के सम्यक् पर्यालोचन से यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि आर्य महागिरि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते समय आचार्य स्थूलभद्र ने अपने विशिष्ट ज्ञान से आर्य सुहस्ती को शासन संचालन में विशेष कुशल एवं प्रतिभाशाली समझकर आर्य सुहस्ती को कालान्तर में आचार्यपद प्रदान करने का उन्हें (महागिरि को) आदेश दिया हो। संभवतः इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती – इन दोनों की शिष्य-परम्पराओं का गुरु-परम्परा के रूप में स्थूलभद्रस्वामी के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ने की दृष्टि से इन दोनों को एक साथ आचार्य स्थूलभद्र का पट्टधर बताया गया हो।

इसके अतिरिक्त दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि विशिष्ट श्रुतधर और शिष्यसम्पदा सम्पन्न होने पर भी इन दोनों आचार्यों की साधु परम्पराएं वात्सल्य भाव से एक ही व्यवस्था में रहीं हों और वीर नि० सं० २१५ से २४५ तक जब कि आर्य महागिरि युगप्रधान आचार्य रहे, उस काल में भी पीछे चल कर आर्य महागिरि ने वाचना के अतिरिक्त व्यवस्थाकार्य आर्य सुहस्ती को संभला रखा हो। संभव है इस कारण से भी आर्य सुहस्ती को आर्य महागिरि के साथ आचार्यपद पर नियुक्त किये जाने का उल्लेख किया गया हो।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्रायः सभी ग्रन्थों में आचार्य स्थूलभद्र के पश्चात् आचार्य महागिरि और आर्य सुहस्ती के आचार्य होने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है तथापि यह देख कर बड़ा आश्चर्य होता हैं कि चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने निशीथ चूर्णि में प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों, पट्टावलियों एवं परम्परागत मान्यता से पूर्णरूपेण भिन्न उल्लेख किया है। चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने आर्य महागिरि और सुहस्ती दोनों को आचार्य स्थूलभद्र के युगप्रधान शिष्य एवं आर्य महागिरि को ज्येष्ठ मानते हुए भी स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है कि आचार्य स्थूलभद्र ने आर्य महागिरि को अपना गण न देकर आर्य सुहस्ती को दिया। ऐसा होने पर भी आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती एक साथ ही विचरण करते रहे।[1]

---

[1] थूलभद्दस्स जुगप्पहाणा दो सीसा – अज्ज महागिरि अज्ज सुहत्थी य। अज्ज महागिरी जेट्ठो। अज्ज सुहत्थी तस्स सद्धियरो।
थूलभद्दसामिणा अज्ज सुहत्थिस्स नियओ गणो दिण्णो। तहावि अज्ज महागिरि अज्ज सुहत्थी य पीतिवसेण एक्कओ विहरंति।
[निशीथ सूत्र भाष्य चूर्णि सहित, २ विभाग, उ० ५, पृ० ३६१]

नन्दी सूत्र की चूर्णि[1] में आर्य महागिरि और सुहस्ती की आचार्य-परम्पराओं के पृथक्-पृथक् रूप में अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख किया गया है फिर भी निशीथ चूर्णिकार ने आर्य महागिरि को आचार्य न मानकर केवल आर्य सुहस्ती को ही स्थूलभद्र स्वामी द्वारा गरण सम्हलाये जाने की मान्यता अभिव्यक्त की है, इसके पीछे उनका क्या उद्देश्य है – यह नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार की स्थिति में सहज ही अनेक प्रश्न उठ सकते हैं। क्या आर्य महागिरि आचार्य नहीं थे? यदि थे तो किस गरण के, स्थूलभद्र स्वामी द्वारा गरण दिये जाने के समय तक आर्य सुहस्ती १० पूर्वों के ज्ञाता हो चुके थे अथवा उसके पश्चात् हुए? यदि उसके पश्चात् हुए तो उन्होंने १० पूर्वों का ज्ञान किन से प्राप्त किया और तब तक गरण के आचार्य कौन रहे आदि अनेक प्रश्न स्पष्ट निर्णय की अपेक्षा रखते हैं। इन सब प्रश्नों का समुचित समाधान आर्य महागिरि को आचार्य मानने पर ही हो सकता है।

ऐसी स्थिति में यह संभव है कि चूर्णिकार ने पश्चाद्वर्ती किसी मतभेद से प्रभावित होकर निशीथचूर्णि में इस प्रकार का उल्लेख किया हो।

इन दोनों आचार्यों के आचार्यकाल में जैन धर्म का भारतवर्ष के सुदूर प्रदेशों में प्रचार एवं प्रसार हुआ। यों तो आचार्य भद्रबाहु के शिष्य गोदास से निकले हुए गोदासगरण की ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका, पुण्ड्रवर्द्धनिका आदि शाखाएं क्रमशः दक्षिरण बंगाल के तत्कालीन प्रसिद्ध बन्दर ताम्रलिप्ति, पश्चिमी बंगाल के कोटिवर्ष नगर और उत्तरी बंगाल की तत्कालीन राजधानी पुण्ड्रवर्द्धन में फैल चुकी थीं किन्तु फिर भी जैन परम्परा का प्रधान केन्द्र मुख्यतः मगध प्रदेश ही रहा। इन दोनों आचार्यों के समय में अवन्ती प्रदेश का भी जैन परम्परा के एक सुदृढ़ केन्द्र के रूप में आविर्भाव हुआ। ११ अंग और १० पूर्वों के विशिष्ट अभ्यासी इन दोनों आचार्यों ने जैन परम्परा को उत्कर्ष की एक उल्लेखनीय सीमा तक पहुंचा दिया।

इन महान् आचार्यों के शान्त, दान्त, तपःस्वाध्यायपूत आदर्श श्रमरण-जीवन से श्रमरणों तथा अन्य साधकों ने महती प्रेररणा प्राप्त की और अपने जीवन को उज्ज्वल और आदर्श बनाये रखा।

आर्य महागिरि की विशिष्ट साधना

आर्य महागिरि ने अपने अनेक शिष्यों को आगमों की वाचनाएं देकर उन्हें एकादशांगी का निष्णात विद्वान् बनाया। तदनन्तर उन्होंने अपना गच्छ भी आर्य सुहस्ती को संभला दिया और गच्छ की नेश्राय में रहते हुए उच्छिन्न जिन-

---

[1] सुहत्यिस्स सुट्ठित – सुपडिवुद्धादओ आवलीते जहा दसासु तहा भारिणतव्वा, इहं तेहिं अहिगारो रणत्थि, महागिरिस्स आवलीए अविकारो।

[नंदी चूर्णि, पृ० ८ पुण्यविजयजी द्वारा संपादित]

कल्प का श्रमणाचार पालन करना प्रारम्भ किया।[1] आर्य महागिरि ने जिनकल्पी आचार स्वीकार करने के पश्चात् भी गच्छवास नहीं छोड़ा। उनका विचरण तो आर्य सुहस्ती और अपने श्रमणों के साथ ही होता था। किन्तु वे भिक्षाटन एकाकी ही करते और निर्जन एकान्त स्थान में एकाकी ही ध्यानमग्न रहते। उन्होंने यह घोर अभिग्रह किया कि जो रूखा-सूखा-वासी अन्न गृहस्थों द्वारा बाहर फैंकने योग्य होगा, भिक्षा में उसी अन्न को वे ग्रहण करेंगे।

विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती एक समय अपने श्रमणसमूह के साथ पाटलिपुत्र पधारे। वहां पर वसुभूति नामक एक अति समृद्ध श्रेष्ठी ने आर्य सुहस्ती के उपदेश से प्रबुद्ध हो श्रावकधर्म अंगीकार किया। श्रेष्ठी वसुभूति ने अपने परिवार के सब सदस्यों को जिनप्ररूपित धर्म की महत्ता समझाते हुए जैन धर्मावलम्बी बनाने का बहुत प्रयास किया। जब वसुभूति ने देखा कि वह उन्हें धर्म के गूढ़ तत्व को संतोषजनक ढंग से नहीं समझा पा रहा है तो उसने आर्य सुहस्ती से प्रार्थना की कि वे उसके घर पधार कर उसके परिवार के लोगों को धर्म का सही स्वरूप समझावें।

श्रेष्ठी वसुभूति की प्रार्थना स्वीकार कर आर्य सुहस्ती वसुभूति के घर जाकर उसके परिवार के सदस्यों को धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाकर उन्हें जिनधर्मानुरागी बनाने लगे। जिस समय आर्य सुहस्ती उपदेश दे रहे थे उसी समय आर्य महागिरि भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए श्रेष्ठी वसुभूति के निवासस्थान पर पधारे। आर्य महागिरि को देखते ही आर्य सुहस्ती ने आसन से उठकर बड़े विनय के साथ उन्हें वन्दन-नमन किया।

महागिरि के लौट जाने पर श्रेष्ठी वसुभूति ने आर्य सुहस्ती से पूछा – "गुरुवर! आप तो विश्ववंद्य हैं। क्या आपके भी कोई गुरु हैं जो आपने अभी यहां आये हुए मुनिराज को वन्दन किया?"

आर्य सुहस्ती ने कहा – "श्रेष्ठिमुख्य! वे महान् तपस्वी मेरे गुरु हैं। गृहस्थों द्वारा बाहर फैंके जाने योग्य अन्न को ही वे भिक्षा में ग्रहण करते हैं। यदि इस प्रकार का त्याज्य अन्न भिक्षा में न मिले तो वे उपवास पर उपवास करते रहते हैं। वस्तुतः उनका नाम निरन्तर रटने योग्य और चरणरज मस्तक पर चढ़ाने योग्य है।"[2]

---

[1] महागिरिर्निजं गच्छमन्यदादात्सुहस्तिने।
विहर्तुं जिनकल्पेन त्वेकोऽभून्मनसा स्वयम् ॥३॥
व्युच्छेदाज्जिनकल्पस्य गच्छनिश्रास्थितोऽपि हि।
जिनकल्पार्हया वृत्या विजहार महागिरिः ॥४॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११]

[2] सुहस्ती स्माह भो! श्रेष्ठिन्ममैते गुरवः खलु।
त्यागार्हभक्तपानादिभिक्षामाददते सदा ॥१३॥
ईदृग्भिक्षाशना ह्येतेऽपरथा स्युरुपोषिताः।
सुगृहीतं च नामैषां वन्द्यं पादरजोऽपि हि ॥१४॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११]

तदनन्तर श्रेष्ठिपरिवार को प्रतिबोध देकर आर्य सुहस्ती अपने स्थान पर लौट गये। श्रेष्ठी वसूभूति ने अपने घर के सब लोगों को समझा दिया कि वे मुनि जब कभी इस घर में भिक्षार्थ आयें तो उन्हें यह अभिव्यक्त करते हुए भिक्षा में समुचित भोज्य सामग्री दें कि भगवन् ! यह सब कुछ हम बाहर डाल रहे थे।

दूसरे दिन आर्य महागिरि भिक्षार्थ श्रेष्ठी वसुभूति के घर पधारे तो श्रेष्ठी के भृत्यों एवं परिजनों ने विपुल भोजन सामग्री को त्याज्य बताते हुए उन्हें भिक्षा में देना चाहा। महातपस्वी महागिरि ने ज्ञानोपयोग से समझ लिया कि वह भिक्षा उनके अभिग्रह के अनुसार विशुद्ध और निर्दोष नहीं है अतः वे बिना भिक्षा ग्रहण किये ही श्रेष्ठी के घर से लौट गये।

तत्कालीन श्रमणसंघ में आचार्य महागिरि का स्थान सर्वोच्च माना जाता रहा है। वे पूर्वज्ञान के विशिष्ट अभ्यासी होने के साथ-साथ विशुद्ध आचार के भी सबल समर्थक एवं पोषक थे। उन्हें आहार, विहार एवं संयम में स्वल्पमात्र भी शिथिलता सह्य नहीं थी। जब उन्होंने श्रेष्ठी वसुभूति की धर्मभक्ति और रागवश सदोष आहार देने की प्रवृत्ति देखी तो उन्होंने एक दिन आर्य सुहस्ती से कहा – "सुहस्तिन् ! कल तुमने श्रेष्ठिपरिवार के समक्ष मेरे प्रति विनय प्रदर्शित कर वहां मेरे लिये अनेषणा की स्थिति पैदा कर दी। तुम्हारे मुख से प्रशंसा सुनकर उन लोगों ने आज मुझे भिक्षा में देने हेतु भोजन परित्यक्त के रूप में सजा रखा था।"

आर्य सुहस्ती ने आर्य महागिरि के चरणों पर अपना मस्तक रखते हुए क्षमायाचना की और कहा – "भगवन् ! भविष्य में मैं ऐसा कभी नहीं करूंगा।"

इस प्रकार उच्छिन्न जिनकल्प के अनुसार साधुचर्या का पालन करते हुए आर्यगिरि ने अनेक वर्षों तक बड़ी उग्र तपस्याएं करके अपने समय में एक उच्च कोटि के श्रमणजीवन का मापदण्ड स्थापित किया। वे अपने समय के अद्वितीय चारित्रनिष्ठ और उच्चकोटि के श्रमणश्रेष्ठ थे। अन्त में वे एलकच्छ (दशार्ण-पुर) के पास गजाग्रपद नामक स्थान पर पधारे और वहां उन्होंने अनशन कर वीर निर्वाण सं० २४५ में १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

आर्य महागिरिकालीन राजवंश

यह पहले बताया जा चुका है कि आर्य स्थूलभद्र के आचार्यकाल के अन्तिम दिनों में (वीर नि० सं० २१५ में) मौर्य राजवंश का अभ्युदय हुआ। आर्य महा-गिरि के आचार्यत्वकाल में इस राजवंश के प्रथम राजा चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने प्रेरणास्रोत महामात्य चाणक्य के परामर्शानुसार अनेक वर्षों तक विदेशी और आन्तरिक राजसत्ताओं के साथ संघर्षरत रहते हुए समस्त भारत को अपने सुदृढ़ शासनसूत्र में बांध कर एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न, सशक्त एवं विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उसने काबुल और कन्धार से भी यूनानी विजेता सेल्यूकस को खदेड़ कर उन प्रदेशों को वृहत्तर भारत की राज्यसीमा में सम्मिलित किया।

अनेक प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि जिस समय चन्द्रगुप्त मौर्य पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ उस समय वह जैन धर्मावलम्बी नहीं था। पर चाणक्य ने अनेक युक्तियों से जैन धर्म और जैन श्रमणों की महत्ता सिद्ध कर चन्द्रगुप्त को जैन धर्मावलम्बी बनाया। इसके परिणामस्वरूप आगे चल कर चन्द्रगुप्त जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था रखने वाला परम श्रद्धालु श्रावक बन गया और उसने जिन-शासन की उल्लेखनीय सेवाएं कीं।

कहीं कोई षड्यन्त्रकारी धोखे से विष आदि के प्रयोग द्वारा चन्द्रगुप्त की हत्या न कर दे, इस दृष्टि से दूरदर्शी चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर आसीन करने के पश्चात् शनैः शनैः भोज्य पदार्थों के साथ अति स्वल्प मात्रा में विष खिलाना प्रारम्भ कर दिया था। अनुपात से बढ़ाया गया वह प्राणहारी विष चन्द्रगुप्त के लिये अमृततुल्य परमावश्यक पौष्टिक औषध का काम करने लगा। अनुक्रमशः इस प्रकार चन्द्रगुप्त के प्रतिदिन के भोजन में विष की मात्रा इतनी अधिक बढ़ा दी गई कि यदि चन्द्रगुप्त के लिये बने उस भोजन में से कोई दूसरा व्यक्ति थोड़ा सा अंश भी खा लेता तो उसके लिये वह विषमिश्रित भोजन तत्काल प्राणापहारी सिद्ध हो जाता था।

बिन्दुसार का जन्म

एक दिन मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त जिस समय भोजन कर रहे थे, उसी समय गर्भिणी राजमहिषी वहाँ उपस्थित हुईं। महारानी ने चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करने की इच्छा अभिव्यक्त की। चन्द्रगुप्त ने ज्यों-ज्यों निषेध किया, त्यों-त्यों राजमहिषी का हठाग्रह बढ़ता ही गया और अन्ततोगत्वा महारानी ने चन्द्रगुप्त के थाल में से थोड़ी सी भोज्य सामग्री झपट कर अपने मुंह में रख ही ली। विषाक्त भोजन ने तत्काल अपना प्रभाव दिखाया और देखते ही देखते महारानी मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ी। तत्क्षण राजप्रासाद में सर्वत्र हाहाकार व्याप्त हो गया। उसी समय महामात्य चाणक्य घटनास्थल पर उपस्थित हुए।

"अब महारानी के प्राण किसी भी उपाय से नहीं बचाये जा सकते"- यह कहते हुए चाणक्य ने शल्यचिकित्सकाओं को आदेश दिया कि वे यथाशीघ्र महारानी के पेट को चीर कर गर्भस्थ शिशु के प्राणों की रक्षा करें। तत्काल शल्य क्रिया द्वारा गर्भस्थ शिशु को गर्भ से बाहर निकाल लिया गया। माता द्वारा खाये गये विषाक्त भोजन का बालक पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ था, केवल उसके ललाट पर नीले रंग की बिन्दी का चिन्ह ही बन पाया था। विषजन्य बिन्दी के कारण राजकुमार का नाम बिन्दुसार रखा गया।

वीर निर्वाण सं० २१५ से १८ वर्ष तक भारत के बहुत बड़े भूभाग पर शासन करने के पश्चात् मौर्यसाम्राज्य का संस्थापक मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त वीर नि० सं० २३३ में इहलीला समाप्त कर परलोकगामी बना।

मौर्य सम्राट् बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार भारत के विशाल साम्राज्य का स्वामी बना। विभिन्न ग्रन्थों में बिन्दुसार के विभिन्न नाम उपलब्ध होते हैं। वायुपुराण आदि पुराणग्रन्थों में उसे भद्रसार एवं वारिसार के नाम से, महावंश तथा दीपवंश नामक बौद्ध ग्रन्थों में बिन्दुसार के नाम से और यूनानी अभिलेखों एवं पुस्तकों में अमित्रचेटस और अमित्रघात के नाम से अभिहित किया गया है।

बृहत्कल्पभाष्य के उल्लेखानुसार[1] सम्राट् बनने के पश्चात् बिन्दुसार ने अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य की सीमाओं में अभिवृद्धि की। वह बड़ा न्यायप्रिय, दयालु और जैन धर्म में आस्था रखने वाला प्रजावत्सल सम्राट् था। अपने शासनकाल में पड़े दुष्काल के समय में उसने दानशालाएँ एवं सार्वजनिक भोजनशालाएँ खोल कर अपनी दुष्कालपीड़ित प्रजा की मुक्तहस्त हो सहायता की। बिन्दुसार के दरबार में सेल्यूकस के पुत्र ऐंटिओकोस प्रथम की ओर से डाइमैकस नामक यूनान का एक राजदूत रहता था।

बिन्दुसार का अपर नाम अमित्रघात (शत्रुओं का संहारक) उपलब्ध होता है, इससे विद्वानों द्वारा अनुमान लगाया जाता है कि उसे काफी समय तक युद्धरत रहना पड़ा होगा और शत्रुओं पर विजय के उपलक्ष में उसने "अमित्रघात" की उपाधि धारण की होगी। बिन्दुसार के शासनकाल के अन्तिम चरण में उसके साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त तक्षशिला में विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। उस विद्रोह को दबाने के लिये उसे एक बहुत बड़ी सेना के साथ राजकुमार अशोक को भेजना पड़ा।

चाणक्य की मृत्यु

छाया की तरह अपने अनन्य अनुगामी मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् चाणक्य ने श्रमणधर्म में दीक्षित हो आत्मकल्याण करने का निश्चय किया था किन्तु बिन्दुसार द्वारा बारम्बार आग्रह एवं अनुनय-विनय किये जाने पर उसने कुछ समय तक महामात्य पद पर कार्य करना स्वीकार किया।

अहर्निश मगध साम्राज्य के महामात्य पद की प्राप्ति के स्वप्न देखने वाला सुबन्धु नामक एक अमात्य राजा, राज्य और प्रजा पर चाणक्य के वर्चस्व एवं सर्वतोमुखी प्रभाव को देख कर मन ही मन चाणक्य से जलने लगा। उसने यथावसर येन-केन-प्रकारेण बिन्दुसार को चाणक्य के विरुद्ध भड़काना प्रारम्भ किया। एक दिन सुबन्धु ने बिन्दुसार के समक्ष उसकी माता की मृत्यु की घटना का अतिरंजित रूप में इस ढंग से चित्रण किया कि मानो चाणक्य ने ही उसकी (बिन्दुसार की माता की) हत्या की हो। इस प्रकार बिन्दुसार के मस्तिष्क में चाणक्य के प्रति मनोमालिन्य उत्पन्न करने में अन्ततोगत्वा सुबन्धु को सफलता

---

[1] बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ११२७। निशीथ भाष्य चूर्णि, भा० ४ पृ० १२६

मिल गई। बिन्दुसार के मनोगत भावों को दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने तत्काल ताड़ लिया और वह संसार से विरक्त हो अशन-पानादि का परित्याग कर नगर के बाहर एकान्त स्थान में ध्यानस्थ हो गया। अपनी धाय मां से वास्तविकता का बोध होते ही बिन्दुसार को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने चाणक्य के समक्ष उपस्थित हो बार-बार क्षमायाचना करते हुए उन्हें यथावत् महामात्य पद का कार्यभार सम्हालने की प्रार्थना की, पर चाणक्य समग्र ऐहिक आकांक्षाओं का परित्याग कर आत्मचिन्तन में लीन हो चुके थे; अतः बिन्दुसार को हताश हो खाली हाथों लौटना पड़ा। जैन वाङ्मय में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि सुबन्धु सेवा करने के बहाने से चाणक्य के पास रहने लगा और रात्रि में उसने उस कण्डों के ढेर में आग लगा दी जिस पर कि चाणक्य ध्यानस्थ बैठे थे। चाणक्य ने आग से बचने का कोई प्रयास नहीं किया और समाधिस्थ अवस्था में ही स्वर्गारोहण किया।

दिगम्बर परम्परा के "आराधना"[1], "हरिषेण कथाकोष"[2] और "आराधना कथाकोष"[3] आदि ग्रन्थों में चाणक्य के दीक्षित होने, ५०० शिष्यों के साथ पादपोपगमन संथारा करने और सुबन्धु द्वारा उन्हें कण्डों की आग में जला डालने तथा समाधि मरण द्वारा चाणक्य के स्वर्गस्थ होने का उल्लेख उपलब्ध होता है। "आराधना-कथाकोष" में चाणक्य के सिद्ध होने का उल्लेख किया गया है, वह नितान्त भ्रान्त धारणा का ही प्रतिफल प्रतीत होता है।

सुबन्धु द्वारा किया गया यह घृणित एवं जघन्य अपराध जनसाधारण और बिन्दुसार से छुपा न रह सका। राजा एवं प्रजा द्वारा क्रमशः अपदस्थ एवं अपमानित किये जाने के पश्चात् सुबन्धु विक्षिप्त हो गया। उसकी बड़ी दुर्दशा हुई और अनेक प्रकार के घोर कष्टों से पीड़ित हो वह अन्त में पंचत्व को प्राप्त हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में उल्लेख किया है कि गृहत्याग से पहले कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने सुबन्धु को उसकी कृतघ्नता का दण्ड देने के लिये एक बहुत बड़े सन्दूक को अनेक तालों से बन्द कर अपने कोशागार में रख दिया।

कण्डों के ढेर में आग लगा कर चाणक्य को उसमें जलता छोड़ सुबन्धु चाणक्य के निवास स्थान पर पहुंचा और उस सन्दूक को देखते ही हर्षविभोर

---

[1] गोट्ठे पयोगदो सुबंधुणा गोव्वरे पलिविदम्मि।
उज्झन्तो चाणक्को पड़िवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५५६॥ [आराधना]

[2] चाणक्याख्यो मुनिस्तत्र, शिष्यपंचशतैः सह।
पादोपगमनं कृत्वा, शुक्लध्यानमुपेयिवान् ॥
उपसर्गं सहित्वेमं सुबन्धुविहितं तदा।
समाधिमरणं प्राप्य, चाणक्यः सिद्धिमीयिवान् ॥ [हरिषेण कथाकोष]

[3] आराधना कथाकोष, श्लोक ४१-४२, पृ० ३१०।

हो गया उसने यह सोच कर उसे खोला कि उसमें अपार सम्पत्ति भरी पड़ी होगी। पर सन्दूक के खुलते ही उसमें से एक तीव्र गन्ध निकली और उसके प्रभाव से सुबन्धु तत्काल नितान्त अस्थिर प्रकृति का एवं अर्द्धविक्षिप्त बन गया। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इस उक्ति का अनुसरण करते हुए चाणक्य ने उस सन्दूक में इस प्रकार की औषधियां रख दी थीं, जिनकी तीव्र गन्ध से मस्तिष्क की शिराएं सदा के लिए सिकुड़ जायं। चाणक्य भली-भांति जानता था कि उसकी मृत्यु के पश्चात् सुबन्धु उसकी सम्पत्ति पर येन-केन-प्रकारेण अवश्य अधिकार करेगा।

चाणक्य द्वारा चलाया गया युक्ति का तीर ठीक लक्ष्य पर लगा और सुबन्धु अनेक प्रकार के कष्टों से पीडित हो बड़ी दुर्दशापूर्ण स्थिति में काल का कवल बना।

आर्य सुहस्ती के आचार्यकाल का राजवंश

वीर नि० सं० २४५ में आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् जिस समय आर्य सुहस्ती आचार्य बने उस समय मौर्य सम्राट् बिन्दुसार के शासनकाल का अनुमानतः बारहवां वर्ष चल रहा था। आर्य सुहस्ती के आचार्यकाल में लगभग १३ वर्ष तक बिन्दुसार का सत्ताकाल रहा। २५ वर्ष तक शासन करने के पश्चात् वीर नि० सं० २५८ में बिन्दुसार परलोकवासी हुआ।

मौर्यसम्राट् अशोक

आर्य सुहस्ती के आचार्यत्वकाल में बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अशोक (वीर नि० सं० २५८ में)[1] मगध के विशाल साम्राज्य का अधिपति बना। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर अनेक इतिहासविदों की मान्यता है कि अशोक का पिता बिन्दुसार तथा पितामह चन्द्रगुप्त दोनों ही जैनधर्मावलम्बी थे, अतः अशोक भी प्रारम्भ में जैनधर्मावलम्बी ही था।[2] अपने राज्य के ८वें वर्ष (वीर नि० सं० २६६) में अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया। कलिंगपति क्षेमराज अपनी सशक्त विशाल सेना ले कर रणांगण में आ डटा। दोनों ओर से बड़ा भीषण युद्ध हुआ। क्षेमराज के वीर सैनिकों ने कलिंग की रक्षा के लिये बड़ी वीरता पूर्वक युद्ध किया किन्तु मगध साम्राज्य की अतिप्रबल अगणित सेना के सम्मुख भीषण रक्तपात के पश्चात् अन्ततोगत्वा उन्हें पराजय का मुख देखना पड़ा। कलिंग के उस युद्ध में डेढ़ लाख सैनिक बन्दी बनाये गये, एक लाख योद्धा मारे गये तथा इससे कहीं अधिक योद्धा युद्ध में लगे घावों के फलस्वरूप युद्ध-समाप्ति के पश्चात् मर गये। इस भीषण नरमेध से अशोक के हृदय पर बड़ा

---

[1] गुर्जरा, रूपनाथ, सहसराम ब्रह्मगिरि, सिंहपुर, गोविमठ और अहरोरा के शिलालेखों पर २५६ का अंक उल्लिखित है। इसे इतिहासज्ञ वीर नि० सं० २५६ मानने लगे हैं।

[2] मौर्य साम्राज्य का इतिहास की के० पी० जायसवाल द्वारा लिखित भूमिका। [सम्पादक]

गहरा आघात पहुंचा। उसने अपने १३वें शिलालेख में इसके लिये स्वयं को दोषी बताते हुए गहरा दुःख प्रकट किया है। अशोक ने धर्म विजय को अपने साम्राज्य की नीति बताते हुए घोषणा करवा दी कि अब भविष्य में वह कभी इस प्रकार के नरसंहार एवं रक्तपात द्वारा किसी भी देश पर विजय अभियान नहीं करेगा।

जिस समय अशोक अनुताप की अग्नि में जल रहा था उस समय संभवतः वह बौद्ध भिक्षुसंघ के आचार्य के सम्पर्क में आया और उनसे प्रभावित हो कर बौद्धधर्मावलम्बी बन गया। बौद्ध धर्म स्वीकार करने के पश्चात् अशोक ने अपना शेष जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार, प्रसार और अभ्युत्थान में लगा दिया। उसने भारत के पड़ौसी देशों में धर्मप्रचारकों को भेज कर बौद्ध धर्म का प्रचार किया; यही नहीं अपितु अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये बौद्ध श्रमण और श्रमणी के रूप में दीक्षित करवा कर लंका में भेजा। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ प्रजा के हित के लिये भी अनेक लोककल्याणकारी कार्य किये और अनेक शिलालेख उत्कीर्ण करवाये, जिनमें जनहित की दृष्टि से अनेक प्रकार की धार्मिक एवं सांस्कृतिक आज्ञाएं प्रसारित की गई थीं।[1]

गहन शोध से पहले अधिकांश इतिहासज्ञों की यह धारणा थी कि मौर्य-कालीन जितने भी शिलालेख उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः सब के सब मौर्य सम्राट् अशोक द्वारा उत्कीर्ण करवाये हुए और बौद्ध धर्म से ही सम्बन्धित हैं किन्तु अब ज्यों-ज्यों विद्वान् शोधार्थियों द्वारा इस विषय में और अधिक गम्भीर शोध की जा रही है त्यों-त्यों यह तथ्य प्रकाश में आता जा रहा है कि वस्तुतः मौर्यकालीन शिलालेखों में चन्द्रगुप्त से ले कर सम्प्रति तक के सभी मौर्य सम्राटों के शिलालेख सम्मिलित हैं और जिन शिलालेखों को आज तक अशोक के शिलालेखों के नाम से केवल बौद्ध धर्म से सम्बन्धित शिलालेख समझा जाता रहा था, उनमें से कतिपय शिलालेख सम्प्रति, बिन्दुसार और चन्द्रगुप्त के एवं जैन धर्म से सम्बन्धित भी हैं। सारनाथ के स्तम्भ के शीर्ष भाग में ४ सिंह और उन चारों सिंहों के ऊपर धर्मचक्र उत्खनित है। इसे भ० बुद्ध द्वारा सारनाथ में बौद्ध धर्म के प्रवर्तन का प्रतीक माना जाता रहा है। भ० बुद्ध को गिरनार के १३वें अभिलेख में उत्तम हस्ति के रूप में स्मरण किया गया है। सिंह के चिह्न का सम्बन्ध बुद्ध के साथ उतना संगत नहीं बैठता जितना कि भगवान् महावीर के साथ। भगवान् महावीर का चिह्न (लांछन) सिंह था और केवलज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् भगवान् महावीर के साथ-साथ सिंह का चिह्न भी चतुर्मुखी दृष्टिगोचर होने लगा था। सिंहचतुष्टय पर धर्मचक्र इस बात का प्रतीक है कि जिस समय तीर्थंकर विहार करते हैं, उस समय धर्मचक्र नभमण्डल में उनके आगे-आगे चलता है। इस

---

[1] अब इतिहास के अनेक विद्वान् यह मानने लगे हैं कि ये सभी शिलालेख केवल अशोक के ही नहीं अपितु चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, सम्प्रति आदि सभी मौर्य सम्राटों के हैं। इन पर गहन शोध की आवश्यकता है। [सम्पादक]

प्रकार के अनेक तथ्य हैं, जिनके सम्बन्ध में गहन शोध की आवश्यकता है। मौर्य-कालीन शिलालेखों में उपलब्ध प्रियदर्शी और देवानांप्रिय शब्द जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से व्यवहृत होते रहे हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वानों द्वारा देवानांप्रिय शब्द को बौद्ध परम्परा का शब्द तथा प्रियदर्शी शब्द को अशोक का उपनाम माना जाता रहा है, इस कारण भी अनेक भ्रान्तियां हुई हैं। इन सब तथ्यों के सम्बन्ध में भी नये सिरे से शोधकार्य अपेक्षित है।

यों तो मौर्यवंशी सभी मगध के सम्राट् बड़े प्रतापी, प्रजावत्सल, न्यायप्रिय और धर्मनिष्ठ हुए हैं पर प्रेम, सौहार्द और सौजन्य से अपने देश के ही नहीं अपितु विदेशी एवं विजातीय कोटि-कोटि लोगों के हृदयों को सामूहिक रूप से जीतने का भारतीय संस्कृति का जो अनुपम उदाहरण मौर्य सम्राट् अशोक ने विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया, उस प्रकार का उदाहरण विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होगा।

बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार में मौर्य सम्राट् अशोक ने जो उल्लेखनीय कार्य किये हैं, उनके कारण बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक का नाम चिरकाल तक आदर के साथ स्मरण किया जाता रहेगा। २४ वर्ष तक मगध के साम्राज्य का संचालन करने के पश्चात् वीर नि० सं० २८२ में मौर्य सम्राट् अशोक का देहावसान हुआ।

बौद्ध ग्रन्थों में अशोक का राज्यकाल ४१ वर्ष बताया गया है। उसकी विद्वानों द्वारा इस प्रकार संगति बैठाई जाती है कि बिन्दुसार की मृत्यु के ४ वर्ष पश्चात् अशोक का राज्याभिषेक हुआ। तदनन्तर अशोक ने २४ वर्ष तक सम्राट् बने रह कर शासन किया और उसके पश्चात् अपने अल्पवयस्क पौत्र सम्प्रति को मगध का सम्राट् बना कर उसके अभिभावक (Regent) के रूप में १३ वर्ष तक साम्राज्य की बागडोर को सम्हाले रखा। तदनन्तर अशोक ने अपना शेष जीवन सब प्रपंचों का परित्याग कर आत्मकल्याण में व्यतीत किया। कतिपय इतिहासज्ञों की मान्यता है कि अशोक अपने जीवन के अन्तिम चार वर्षों में पुनः जैन धर्मावलम्बी बन गया था।

मौर्य सम्राटों के सत्ताकाल के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताओं के ग्रंथों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। "जैन ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएं अभिव्यक्त की गई हैं। पहली मान्यता के अनुसार वीर निर्वाण सं० २१५ में नन्दवंश के अंत के साथ मौर्य राजवंश का अभ्युदय माना गया है। दूसरी मान्यता के अनुसार वीर निर्वाण सं० १५५ में नन्द वंश के अन्त के साथ मौर्यवंश के उदित होने का अभिमत प्रकट किया गया है।

वस्तुतः द्वितीय भद्रबाहु के पास दीक्षित हुए चन्द्रगुप्ति नामक अवन्ती के किसी राजा के दीक्षित होने की घटना को श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त से सम्बद्ध करने के प्रयास में ही उपरोक्त दूसरी मान्यता प्रचलित की

गई है। उस सम्बन्ध में पहले विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा चुका है और मौर्यकालीन अभिलेखों एवं सिकन्दरकालीन लेखकों के अभिलेखों के आधार पर पाश्चात्य लेखकों के ग्रन्थों के उद्धरण दे कर प्रमाणपुरस्सर यह सिद्ध कर दिया गया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीर नि० सं० २१५ में नन्द वंश के प्रभुत्व को समाप्त कर पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उन सब तथ्यों को यहां पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं।

पुराणों एवं अन्य ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल २४ वर्ष वताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्द को युद्ध में पराजित करने के दृढ़ निश्चय के साथ जब चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर प्रथम वार आक्रमण किया, उस समय से कुछ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त पंजाब के किसी छोटे मोटे राज्य का स्वामी अवश्य वन गया होगा। बिना किसी राज्य का अधिपति हुए चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र जैसे सशक्त साम्राज्य से युद्ध करने की किसी भी दशा में न क्षमता ही प्राप्त कर सकता था और न साहस ही कर सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्द वंश का अन्त कर पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर आसीन होने से पूर्व का जो चन्द्रगुप्त का किसी छोटे-मोटे राज्य पर सत्ताकाल रहा उस काल को भी चन्द्रगुप्त के शासन काल में सम्मिलित कर गिना गया है।

अशोक के पश्चात् उसका पौत्र सम्प्रति मगध साम्राज्य का अधिपति वना।

सुहस्ती द्वारा सम्प्रति को प्रतिबोध

कल्पचूर्णि में इस प्रकार का उल्लेख है कि आर्य सुहस्ती जीवित स्वामी को वंदन करने के लिये एक बार उज्जयिनी गए और रथ-यात्रा के साथ चलते हुए वे राजप्रासाद के आंगन में पहुंचे। राजप्रासाद के गवाक्ष में वैठे हुए राजा सम्प्रति ने जब उन्हें देखा तो उसे ऐसा अनुभव हुआ कि उन्हें उसने कहीं न कहीं देखा है। ईहापोह करते हुए राजा सम्प्रति को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपने सेवकों को आचार्य सुहस्ती के सम्वन्ध में मालूम करने का आदेश दिया कि वे कहां ठहरे हुए हैं। अपने अनुचरों से आचार्यश्री के ठहरने के स्थान का पता चलने पर राजा सम्प्रति उनकी सेवा में पहुंचा और उपदेश-श्रवण के पश्चात् उसने आचार्यश्री से प्रश्न किया – "भगवन् ! धर्म का फल क्या है ?"

आचार्यश्री ने उत्तर दिया – "राजन् ! अव्यक्त सामायिक-धर्म का फल राज्यपद प्राप्ति आदि है।"

"सत्य कहते हैं भगवन् !" यह कहते हुए सम्प्रति ने आर्य सुहस्ती से प्रश्न किया – "महाराज ! क्या आप मुझे पहिचानते हैं ?"

ज्ञानोपयोग से सम्प्रति के पूर्वजन्म के वृत्तान्त को जान कर आचार्यश्री ने उत्तर दिया – "तुम मेरे परिचित हो। इससे पूर्व के अपने भव में तुम मेरे शिष्य

थे।" तदनन्तर राजा सम्प्रति पांच अणुव्रतधारी, त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी और श्रमणसंघ की उन्नति करने वाला महान् प्रभावक हो गया।[1]

निशीथ चूर्णि में उपरोक्त घटना के विदिशा नगरी में घटित होने का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि विदिशा में जीवित स्वामी की रथयात्रा में आर्य सुहस्तीस्वामी को देख कर राजा सम्प्रति को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वह तत्काल महलों से नीचे आया और आचार्य सुहस्ती के चरणों में गिर कर उसने प्रश्न किया – "भगवन्! क्या आप मुझे जानते हैं?"

आचार्य सुहस्ती ने कुछ क्षण के लिये ज्ञानोपयोग लगा कर सोचने के पश्चात् कहा – "हां! मैं तुम्हें जानता हूं, तुम मेरे पूर्व भव के शिष्य हो।" तदनन्तर आर्य सुहस्ती ने सम्प्रति को उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाया। सम्प्रति ने श्रावकधर्म स्वीकार किया और आर्य सुहस्ती एवं राजा सम्प्रति में परस्पर घनिष्ट धर्मस्नेह हो गया।[2]

इसी संदर्भ में आगे विदिशा के स्थान पर उज्जयिनी में आर्य सुहस्ती के साथ सम्प्रति के मिलन का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि वह आचार्य सुहस्ती का उपदेश सुन कर प्रवचन का भक्त और परम श्रावक बन गया।[3]

सम्प्रति का पूर्वभव

राजा सम्प्रति के प्रश्न के उत्तर में उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाते हुए आर्य सुहस्ती ने कहा – "राजन्! तुम्हारे इस जन्म से पूर्व की बात है, एकदा विचरण करते हुए मैं अपने श्रमणशिष्यों सहित कोशाम्बी नामक नगर में पहुंचा। उस समय वहां दुष्काल का प्रकोप चल रहा था अतः सामान्य लोगों को अन्न का दर्शन तक दुर्लभ हो गया था। श्रमणों के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा एवं भक्ति के कारण

---

[1] इतो य अज्जसुहत्थी उज्जेणिं वंदओ आगओ रहाणुज्जाणे य हिंडंतो राउलंगणपदेसे रन्ना आलोयणगतेण दिट्ठो, ताहे रन्नो ईहापोहं करेंतस्स जाइसरणं जातं तह तेण मणुस्सा भणिता पडिचरह आयरिए कहिं ठितत्ति तेहिं पडिचरिउं कहितं सिरिघरे ठिता। ताहे तत्थ गंतुं धम्मो णेण सुओ, पुच्छितं धम्मस्स किं फलं? भणितं अव्यक्तस्य तु सामाइयस्स राजाति फलं, सो संमंतो होति, सच्चं भणसि अहं भे कहिं दिट्ठेल्लओ आयरियेहिं उवउज्जितं दिट्ठेलओ त्ति ताहे सो सावओ जाओ पंचाणुवयधारी तसजीवपडिक्कमओ पभावओ समणसंघस्स।" [कल्पचूर्णि]

[2] अण्णया आयरिया पीतीदिसं (?) जियपडिमं वंदियं गताओ। तत्थ रहाणुज्जाणे रण्णो घरे रहोवरि अंचति। संपतिरण्णा ओलोयणगएण अज्जसुहत्थी दिट्ठो। जातीसरणं जातं। [निशीथ चूर्णि, भा० २, पृ० ३६२]

[3] उज्जेणीए समोसरणे अणुजाणे रहपुरतो रायंगणे बहुसिस्स परिवारो आलोयणा ठितेण रण्णा अज्ज सुहत्थी आलोइयो, तं दट्ठूण जाति संभरिया।......ताहे सो पवयणभत्तो परम सावगो जातो। [निशीथचूर्णि, भाग ४, पृ० १२६]

श्रद्धालु गृहस्थ उन्हें भिक्षाटन के समय पर्याप्त मात्रा में अशनपानादि प्रदान करते थे। एक समय कोशाम्बी में भिक्षाटन करते हुए मेरे शिष्य एक गृहस्थ के घर में पहुंचे। उनके पीछे-पीछे एक दीन, हीन, दरिद्र और भूखे भिक्षुक ने उस गृहस्थ के घर में प्रवेश किया। उस गृहस्थ ने साधुओं को तो पर्याप्त रूपेण भोजन-पानादि का दान किया किन्तु उस भिक्षुक को उसने कुछ भी नहीं दिया। वह भूखा भिक्षुक साधुओं के पीछे हो लिया और उनसे भोजन की याचना करने लगा। साधुओं ने उससे कहा कि वे लोग तो अपने साधु आचार के अनुसार किसी गृहस्थ को कुछ भी नहीं दे सकते। भूख से पीड़ित वह भिक्षुक मेरे शिष्यों का अनुसरण करता हुआ मेरे स्थान पर पहुंच गया। उसने मुझसे भी भोजन की याचना की। मुझे ज्ञानोपयोग से ऐसा विदित हुआ कि अगले जन्म में यह भिक्षुक जिनशासन का प्रचार एवं प्रसार करने वाला होगा। मैंने उससे कहा कि यदि तुम श्रमणधर्म में दीक्षित हो जाओ तो तुम्हें हम तुम्हारी इच्छानुसार पर्याप्त भोजन दे सकते हैं। भिक्षुक ने यह सोच कर कि उसकी इस दीन-हीन दुखद अवस्था की तुलना में तो श्रमण-जीवन के कष्ट सहना कठिन नहीं है, तत्काल मेरे पास श्रमणदीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षित हो जाने पर वह हमारे द्वारा भिक्षा में प्राप्त भोजन का अधिकारी हो गया अतः उसे उसकी इच्छानुसार भोजन खिलाया गया। वस्तुतः वह कई दिनों का भूखा था अतः उसने जी भर कर स्वादिष्ट भोजन खाया। रात्रि में उस नवदीक्षित भिक्षुक की उदरपीड़ा के कारण मृत्यु हो गई और वह अशोक के अन्ध राजकुमार कुणाल के यहां पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। राजन् ! तुम वही भिक्षुक हो जो अपने इस सम्प्रति के भव से पहले के भव में मेरे पास दीक्षित हुए थे। यह सब तुम्हारे एक दिवस के श्रमणजीवन का फल है कि तुम बड़े राजा बने हो।"[1]

श्रमणसंघ में विसंभोग का प्रारम्भ

निशीथ भाष्य, चूर्णि आदि ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर के शासन में आचार्य सुधर्मा से स्थूलभद्र तक श्रमणसंघ का परस्पर सांभोगिक व्यवहार अक्षुण्ण बना रहा।[2] श्रमणसंघ में संभोगविच्छेद की सर्वप्रथम घटना आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती के आचार्यकाल में घटित हुई। संभोग-विच्छेद का प्रारम्भ कब, क्यों और किसके समय में प्रारम्भ हुआ, इसका विशद परिचय देते हुए निशीथ एवं बृहत्कल्प-चूर्णि में उल्लेख किया गया है कि राजा सम्प्रति द्वारा दुष्काल के समय खोली गई दानशालाओं तथा प्रसारित किये गये उदारता-पूर्ण आदेशों के कारण कर्मचारी वर्ग एवं प्रजाजनों के माध्यम से श्रमणों को भिक्षा में पर्याप्त एवं विशिष्ट भोजन मिलता देख कर आर्य महागिरि को

---

[1] परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११

[2] संभूयस्स थूलभद्दो, थूलभद्दं जाव सव्वेसिं एक्कसंभोगो आसी।
[निशीथ चूर्णि, भा० २ पृ० ३६०]

उसके राजपिण्ड होने की शंका हुई और उन्होंने आर्य सुहस्ती से यह जाँच करने के लिये कहा कि कहीं साधुओं को सदोष आहार तो भिक्षा में नहीं मिल रहा है।

आर्य सुहस्ती ने बिना किसी प्रकार की जांच किये ही कह दिया – "यथा राजा तथा प्रजा, महाराज ! यह राजपिण्ड नहीं है। कारण कि तैली तैल, घृत वाले घी, कपड़े वाले वस्त्र और हलवाई भोज्य मिष्टान्न स्वयं ही देते हैं।"

आर्य सुहस्ती का उत्तर सुन कर आर्य महागिरि ने विचार किया – यह मायावी है, शिष्यानुराग के कारण सदोष आहार-ग्रहण से साधुओं को रोक नहीं रहा है। उन्हें आर्य सुहस्ती पर क्षोभ हुआ और उन्होंने आर्य सुहस्ती से कहा – "आर्य ! तुम्हारे समान दोषादोष के ज्ञाता भी अपने शिष्यों के प्रति राग के कारण राजपिण्ड का उपभोग करते हैं, तो ऐसी दशा में मैं आज से तुम्हारे साथ साध्वोचित भोजनादि व्यवहार विषयक सम्बन्धों का विच्छेद करता हूं।"

यह कह कर आर्य महागिरि ने आर्य सुहस्ती के साथ तत्काल साम्भोगिक सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। इस प्रकार संयममार्ग की शिथिलता दूर करने हेतु आर्य महागिरि को सुहस्ती के प्रति उपालम्भ देते समय तीक्ष्ण एवं कटु शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ा। तदनन्तर आर्य सुहस्ती ने अपना मोड़ (रुख) बदल कर इसके लिये पश्चात्ताप किया और बोले – "भगवन् ! भविष्य में सदोष आहार नहीं लिया जायगा।"

इस पर आर्य महागिरि ने उस समय तो आर्य सुहस्ती के साथ सांभोगिक व्यवहार प्रारम्भ कर दिया पर कालान्तर में यह सोचते हुए कि 'प्रायः मानव-स्वभाव में माया का बाहुल्य है" – उन्होंने आर्य सुहस्ती के साथ सांभोगिक व्यवहार बन्द ही रखा।[1]

संभोगविच्छेद के सन्दर्भ में प्रस्तुत की गई घटना में यह बताया गया है कि सम्प्रति के राज्यकाल में आर्य महागिरि ने सुहस्ती द्वारा सदोष आहार आदि ग्रहण की प्रवृत्ति को देख कर उनके साथ संभोगविच्छेद कर दिया। यहां पर आर्य महागिरि का सम्प्रति के राज्यकाल में विद्यमान रहना बताया गया है पर ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में देखने पर सम्प्रति का महागिरि के समय में विद्यमान होना प्रमाणित नहीं होता।

महागिरि के समय में सम्प्रति के विद्यमान न होने के निम्नलिखित ऐतिहासिक प्रमाण गहराई से विचारने योग्य हैं :–

१. श्वेताम्बर परम्परानुसार वी० नि० सं० २४५ में आर्य महागिरि का स्वर्गवास माना गया है।

२. आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के समय में बिन्दुसार का राज्यकाल था जो वीर नि० सं० २५८ तक रहा।

---

[1] अज्ज महागिरी उवउत्तो, पायेण मायावहुला मणुय 'त्ति काउ विसंभोगं ठवेति।
[निशीथभाष्य, भा० २, पृ० ३६२ (गा० २१५४ की चूर्णि)]

३. वीर नि० सं० २५८ से २८३ तक मौर्य सम्राट् अशोक का शासनकाल रहा और इसके पश्चात् संप्रति का शासनकाल प्रारम्भ हुआ।

इन ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में विचार करने पर यही प्रकट होता है कि मौर्य सम्राट् सम्प्रति का शासनकाल वीर नि० सं० २८३ से पूर्व किसी भी दशा में नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में वीर नि० सं० २४५ में स्वर्गस्थ हुए आर्य महागिरि द्वारा वीर नि० सं० २८३ के पश्चाद्वर्ती सम्प्रति के शासनकाल में सुहस्ती के साथ संभोगविच्छेद की घटना का जो निशीथ चूर्णि आदि में उल्लेख किया गया है वह संगत प्रतीत नहीं होता। संभव है इस प्रकार की घटना बिन्दुसार के शासन काल में वीर नि० सं० २३३ से २४५ के बीच में घटित हुई हो और उसे सम्प्रति के विशिष्ट औदार्य को देख कर अनुमानवल से सम्प्रति के साथ जोड़ दिया गया हो। तत्कालीन घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से स्पष्टतः प्रकट होता है कि साधारणतया अपने समस्त शासनकाल में और विशेषतः दुर्भिक्ष आदि जैसी संकटापन्न स्थिति में प्रजावात्सल्य की प्रवृत्ति मौर्यवंशीय राजाओं की विशेषता रही है। बौद्ध ग्रन्थों में उह उल्लेख उपलब्ध होता है कि बिन्दुसार अपने शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में प्रतिदिन ६० हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया करता था।[1] ऐसी स्थिति में कोई आश्चर्य की बात नहीं कि बिन्दुसार के शासनकाल की घटना का श्रुति अथवा स्मृति में कहीं स्खलना के कारण सम्प्रति के शासन में घटित हुई घटना के रूप में उल्लेख कर दिया गया हो। एक के जीवन की घटना को दूसरे के जीवन की घटना से जोड़ने के अन्य भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व के ११वें सर्ग में सम्प्रति के जातिस्मरण ज्ञान होने में आर्य सुहस्ती के दर्शन को निमित्त माना है और उन्हें ही सम्प्रति के पूर्वभव सम्बन्धी गुरु मानने का उल्लेख किया है। किन्तु आगे चल कर इन्हीं आचार्य ने परिशिष्टपर्व में राजा सम्प्रति के राज्यकाल में ही महागिरि द्वारा सुहस्ती के साथ सांभोगिक सम्बन्धविच्छेद का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने आर्य महागिरि के जीवनकाल आदि तथ्यों की गहराई में न जा कर सरसरी तौर पर आर्य सुहस्ती के साथ आर्य महागिरि के उज्जयिनी जाने का और सम्प्रति के राज्यकाल में ही सांभोगिकविच्छेद का उल्लेख कर दिया है।

जहाँ तक राजा सम्प्रति को प्रतिवोध दिये जाने का प्रश्न है, प्रायः सर्वत्र यही उल्लेख मिलता है कि आर्य सुहस्ती ने सम्प्रति को प्रतिवोध दिया। महागिरि द्वारा सम्प्रति को प्रतिवोध दिये जाने का कहीं भी कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

---

[1] पिता सट्ठिसहस्सानि, ब्राह्मणे ब्रह्मपक्खिके।
भोजेसि सो पिते येव, तीणि वस्सानि भोजयि ॥२३॥ [महावंसो, परिच्छेद ५]

ऐतिहासिक घटनाक्रम और प्राचीन उल्लेखों से यह निर्विवाद रूप से ज्ञात होता है कि अशोक के राज्याभिषेक के कतिपय वर्ष पश्चात् राजकुमार कुणाल को चक्षुविहीन कर दिया गया और अन्धा हो जाने के कारण कुमारभुक्ति में मिला हुआ उज्जयिनी का राज्य उससे ले कर दूसरे राजकुमार को दे दिया गया। सम्प्रति का जन्म होने पर अन्ध कुमार कुणाल ने गन्धर्व कला से अशोक को प्रसन्न कर काकिणी–राज्य की अपने सद्यःजात पुत्र के लिये याचना की। वस्तु-स्थिति से अवगत होते ही अशोक ने तत्काल सम्प्रति को युवराज पद प्रदान कर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और तत्कालीन राज्यपरम्परा के अनुसार उज्जयिनी का राज्य शिशु सम्प्रति को कुमारभुक्ति के रूप में प्राप्त हुआ। ये सब घटनाएं अशोक के राज्यकाल की हैं और अशोक का राज्याभिषेक वीर निर्वाण संवत् २५८ में होने के कारण द्रमक के दीक्षित होने से लेकर सम्प्रति के जन्म तक की सभी घटनाएं आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के अनन्तर कम से कम १३ वर्ष से पहले की तो किसी भी दशा में नहीं हो सकतीं।

ऐसी स्थिति में आर्य महागिरि का सम्प्रति के जन्म समय अथवा उसके राज्यकाल में विद्यमान होना तो दूर द्रमक की दीक्षा के समय भी आर्य महागिरि का अस्तित्व संभव नहीं होता। कारण कि आर्य महागिरि का स्वर्गवास अशोक के राज्याभिषेक से १३ वर्ष पहले वीर नि० सं० २४५, तदनुसार विन्दुसार के राज्यकाल में ही हो चुका था।

राजा सम्प्रति द्वारा जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार

जैन साहित्य में मौर्य सम्राट् सम्प्रति को वही स्थान प्राप्त है जो कि मौर्य सम्राट् अशोक को वौद्ध साहित्य में। अनेक जैन ग्रंथों में इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि राजा संप्रति ने आर्य सुहस्ती से प्रतिवोध पाने के पश्चात् समस्त भारतवर्ष ही नहीं अनेक अनार्य प्रदेशों में भी अपने अधिकारियों, कर्मचारियों और सैनिकों को जैन साधुओं के वेश में भेज कर जैन धर्म का सर्वत्र प्रचार एवं प्रसार किया तथा उसने अपने समस्त सामन्तों को दृढ़ जैनधर्मावलम्वी वनाया। साधु के वेश में सम्प्रति के कर्मचारियों ने अनार्य देशों में विचरण कर वहां की अनार्य जनता को श्रावक के कर्त्तव्यों एवं श्रमणाचार से परिचित कराते हुए उन अनार्य देशों को श्रमणों के विहार के योग्य वना डाला। राजा सम्प्रति की प्रार्थना पर आर्य सुहस्ती ने अपने कतिपय श्रमणों को अनार्य भूमि में धर्म का प्रचार करने के लिये भेजा और उन्होंने वहां के लोगों की जैनधर्म के प्रति अपूर्व श्रद्धा देख कर हर्ष का अनुभव किया। साधुओं ने आर्य देश की तरह वड़ी सुगमता से अनार्य प्रदेशों में विहार करते हुए वहां जैन धर्म का अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार किया। त्यागी, तपस्वी और ज्ञानधनी सन्तों के उपदेशों का अनार्य प्रदेशों की जनता पर वड़ा प्रभाव पड़ा और उन लोगों के आचार-विचार में एक प्रकार की क्रान्ति सी आ गई। अनार्य प्रदेश के निवासियों ने वड़ी संख्या में श्रावकधर्म अंगीकार किया। अनार्य प्रदेशों में धर्म-प्रचार करने के पश्चात् लौटे हुए साधुओं

ने आर्य सुहस्ती की सेवा में पहुंच कर अनार्य प्रदेशों के निवासियों की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा का विवरण सुनाया, जिसे सुन कर आर्य सुहस्ती बड़े प्रसन्न हुए।[1]

सम्प्रति के सम्बन्ध में कतिपय जैन ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि उसने भारत के आर्य एवं अनार्य प्रदेशों में इतने जिनमन्दिरों का निर्माण करवाया कि वे सारे प्रदेश जिन-मन्दिरों से सुशोभित हो गये।[2]

राजा सम्प्रति द्वारा किये गये कार्यों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध जैन इतिहास-वेत्ता स्व० मुनि श्री कान्ति सागरजी ने कुछ अंशों की जो पाण्डुलिपि तैयार की, उसके एतद्विषयक अंश को यहां अविकल रूप से दिया जा रहा है :–

"यह एक आश्चर्य की बात है कि मौर्य साम्राज्य के इतिहास में सम्प्रति के संबंध में जो कुछ भी उल्लेख मिलता है, वह उसके कृतित्व पर वास्तविक प्रकाश नहीं डालता। जैन साहित्य में सम्प्रति के सम्बन्ध में विशद विवेचन उपलब्ध है। उस विवेचन के अनुसार सम्प्रति ने जैन संस्कृति के प्रचार व प्रसार के लिये अपने पुत्रों तथा असूर्यपश्या कहलाने वाली अपनी पुत्रियों तक को कृत्रिम मुनियों का व साध्वियों का वेष धारण करवा कर अपने अनेकों सामन्तों के साथ दूर-दूर प्रदेशों में भिजवाया और इस तरह अशोक के आदर्श को सम्प्रति ने अपने जीवन में भी मूर्त रूप दिया।

चूर्णि और निर्युक्तियों में यह भी सूचित किया गया है कि सम्प्रति ने प्रचुर मात्रा में जिन-मूर्त्तियों की, मन्दिरों एवं देवशालाओं में स्थापना करवा कर जैन संस्कृति और सभ्यता को स्थान-स्थान पर फैलाया था।

जहां तक जैन मूर्ति-विधान एवं उपलब्ध पुरातन अवशेषों का प्रश्न है, यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि राजा सम्प्रति द्वारा निर्मित मन्दिर या मूर्तियां भारतवर्ष के किसी भी भाग में आज तक उपलब्ध नहीं हो पाई हैं। श्वेत पाषाण की कोहनी के समीप गांठ के आकार के चिह्न वाली प्रतिमाएं जैन समाज में प्रसिद्ध रही हैं और उन सभी का सम्बन्ध राजा सम्प्रति से स्थापित किया जाता है। ऐसी प्रतिमाओं के अनेक स्थानों पर प्रतिष्ठापित होने का भी उल्लेख किया गया है। मेरी विनम्र सम्मति के अनुसार ये श्वेत पाषाण की प्रतिमाएं सम्प्रति अथवा मौर्य काल की तो क्या तदुत्तरवर्ती काल की भी नहीं कही जा सकतीं।

---

[1] एवं राज्ञोऽतिनिर्बन्धादाचार्यैः केऽपि साधवः।
विहर्तुमादिदिशिरे ततोऽन्ध्रद्रमिलादिषु ॥९९॥
निरवद्यं श्रावकत्वमनार्येष्वपि साधवः।
दृष्ट्वा गत्वा स्वगुरवे पुनराख्यन्सविस्मयाः ॥१०१॥ परि० पर्व, स० ११

[2] येन सम्प्रतिना त्रिखंडमितापि मही जिनप्रासादमंडिता विहिता, साधुवेश-धारिनिजभट-पुरुषप्रेषणेनानार्यदेशेऽपि साधुविहारः कारितः। [तपागच्छ पट्टावली]

दशम सदी से पूर्व के बहुत कम ऐसे शिल्पावशेष मिले हैं जो श्वेत प्रस्तरों पर उत्कीर्णित हों। मौर्यकाल में अधिकतर प्रादेशिक पत्थर ही शिल्पकला में व्यवहृत होते थे। मौर्यकाल की मूर्तियां जितनी भी उपलब्ध हैं, लगभग सभी सचिक्वरण हैं। ये प्रतिमाएं अपनी शैली के कारण दूर से ही पहिचानी जा सकती हैं। पाटन-लोहानीपुरा मोहल्ले से निकलीं कुछ खण्डित प्रतिमाएं पटना-म्यूजियम में सुरक्षित हैं। एक बात और भी है कि मन्दिर बनवाने के सम्बन्ध में भी यदि स्पष्ट कहा जावे तो स्थिति सन्देहात्मक ही है, कारण कि मौर्य-शासित प्रदेशों में जहां कहीं भी उत्खतन हुआ है वहां इनके अवशेष या चिह्न कहीं नहीं मिले हैं। यदि संप्रति राजा ने इतना विशद् शैल्पिक निर्माण करवाया होता तो कम से कम कहीं न कहीं तो इनके अवशेषों एवं चिह्नों की प्राप्ति होनी ही चाहिये थी। इन बातों के बावजूद भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जैनत्व के प्रति राजा सम्प्रति के हृदय में अगाध श्रद्धा और आस्था थी।

विदेशों में समनीया जाति कही जाती है। वह असम्भव नहीं, सम्प्रति-कालिक प्रचार एवं पुरुषार्थ का ही प्रतिफल हो। श्रमण और समनीया का साम्य स्पष्ट है। कालान्तर में उचित जैन संस्कारों के अभाव में समनीया जाति में से जैनत्व के संस्कार विलुप्त हो गये हों, पर नाम समणीया आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है।"

उपरोक्त विचारों पर पाठक तटस्थता से चिन्तन कर तथ्य पर पहुंचने का प्रयास करें।

उत्कट साधना का अनुपम प्रतीक अवन्तिसुकुमाल

आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए आर्य सुहस्ती एकदा पुनः उज्जयिनी पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरे। उन्होंने अपने दो साधुओं को भद्रा नाम की एक अति समृद्ध श्रेष्ठिमहिला के पास भेजा और उससे किसी स्थान में ठहरने की आज्ञा चाही। भद्रा ने बड़ी श्रद्धापूर्वक श्रमणद्वय को वन्दन किया और उनसे उनके आने का प्रयोजन ज्ञात होने पर उसने अपनी वाहनकुटी में साधुओं को ठहरने की अनुमति प्रदान की। तदनन्तर आर्य सुहस्ती अपने शिष्य परिवार सहित भद्रा की वाहनकुटी में ठहरे।

दूसरे दिन प्रदोपवेला में आचार्य सुहस्ती नलिनीगुल्म नामक अध्ययन का सस्वर पाठ कर रहे थे। उस समय भवन की सातवीं मंजिल पर अपनी ३२ सुकुमार पत्नियों के साथ सोये हुए भद्रा के पुत्र अवन्तिसुकुमाल के कर्णरन्ध्रों में आचार्यश्री का सुमधुर स्वर प्रतिध्वनित होने लगा। अवन्तिसुकुमाल आचार्य सुहस्ती के स्वर को दत्तचित हो सुनने लगा। वह पाठ उसे इतना कर्णप्रिय लगा कि वह उसे और अधिक स्पष्ट रूप से सुनने और समझने की उत्कण्ठा से प्रेरित हो मन्त्रमुग्ध की तरह अपने महलों से उतरा और आचार्यश्री के पास आकर बड़े ध्यान से सुनने लगा। पाठ को सुन कर अवन्तिसुकुमाल के मन में उथल-पुथल सी

मच गई और उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि पाठ में वर्णित सुखों का उसने कहीं न कहीं अनुभव किया है। ईहापोह करते हुए उसने स्मृति पर जोर दिया और उसे तत्काल जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अवन्तिसुकुमाल ने आचार्यश्री के समीप उपस्थित हो उन्हें भक्ति सहित वन्दन किया और कहने लगा – "भगवन् ! मैं गृहस्वामिनी भद्रा का पुत्र हूं। आपके इस पाठ को सुनकर मुझे जातिस्मरण ज्ञान हो गया है। मैं अपने इस जन्म से पहले नलिनीगुल्म नामक विमान में देवता था। अब पुनः वहीं जाने के लिये मेरे मन में तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न हो चुकी है। आपके पास श्रमणत्व स्वीकार कर मैं पुनः वहीं नलिनीगुल्म विमान में जाना चाहता हूं। कृपा कर मुझे प्रव्रज्या प्रदान कीजिये।"

आचार्य सुहस्ती ने उसे श्रमणजीवन की दुष्करता से अवगत कराते हुए कहा – "सौम्य ! तुम अत्यन्त सुकुमार हो। लोहे के चने चबाना और अग्नि में खड़े रहना किसी के लिये साध्य हो सकता है पर जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित श्रमणाचार का पालन करना बड़ा ही कठिन और दुस्साध्य कार्य है।"

अवन्तिसुकुमाल ने कहा – "भगवन् ! प्रव्रज्या ग्रहण करने की मेरे मन में तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न हो चुकी है। मैं प्रव्रज्या तो अवश्य ही ग्रहण करूंगा। साधु समाचारी के अनुसार चिरकाल तक तो मैं निरतिचार श्रामण्य का परि-पालन नहीं कर सकूंगा अतः मैं प्रारम्भ में ही अनशन सहित श्रमणत्व ग्रहण करूंगा और थोड़े समय के लिये घोरातिघोर कष्ट को भी साहसपूर्वक सहन कर लूंगा।"

अवन्तिसुकुमाल को अपने निश्चय पर अटल देखकर आर्य सुहस्ती ने कहा – "भद्रानन्दन ! यदि तुम दीक्षित होने के लिये कृतसंकल्प हो तो इसके लिये तुम अपने स्वजनों की अनुमति प्राप्त करो।"

तदनन्तर अवन्तिसुकुमाल ने अपनी माता और पत्नियों से उसे दीक्षार्थ अनुमति देने के लिये कहा किन्तु पूरी तरह प्रयास कर चुकने पर भी उसको स्वजनों से दीक्षा लेने की अनुमति नहीं मिली। अवन्तिसुकुमाल तो नलिनीगुल्म विमान में यथाशीघ्र जाने के लिये आतुर हो रहा था। उसने स्वयं ही केशलुंचन कर श्रमणवेष धारण कर लिया और वह आर्य सुहस्ती की सेवा में उपस्थित हुआ।

आर्य सुहस्ती ने अपने शरीर से भी निर्ममत्व और संसार से पूर्णरूपेण विरक्त अवन्तिसुकुमाल को स्वयंगृहीत साधुवेष में देखकर विधिपूर्वक श्रमण दीक्षा प्रदान की। तदनन्तर अवन्तिसुकुमाल ने आर्य सुहस्ती से निवेदन किया "प्रभो ! मैं लम्बे समय तक श्रमणजीवन के कष्टों को सहन नहीं कर पाऊंगा अतः मुझे आमरण अनशनपूर्वक साधना करने की आज्ञा प्रदान कीजिये।"

आर्य सुहस्ती से आज्ञा प्राप्त कर अवन्तिसुकुमाल नगर से बाहर निर्जन श्मशान भूमि में पहुंचा और कायोत्सर्ग कर खड़ा हो गया। अत्यन्त सुकुमार अवन्तिसुकुमाल प्रथम बार ही नंगे पांवों इतनी दूर तक चला था अतः कंकरों

तथा कंटकों से उसके पादतल विंध गये और उन व्रणों से खून टपकने लगा। बड़े धैर्य के साथ इस पीड़ा को तथा भूख-प्यास के कष्टों को सहन करते हुए वह आत्मचिन्तन में तल्लीन हो गया। सूर्य की प्रखर किरणों से श्मशानभूमि आग की तरह तपने लगी पर अवन्तिसुकुमाल ने बड़ी शान्ति के साथ उसे सहन किया। दिन ढलने लगा, सूर्यास्त हुआ, शनैः शनैः अन्धकार ने अपना साम्राज्य जमा लिया। यत्र-तत्र वनैले हिंस्र जन्तुओं के दिल दहला देने वाले आक्रन्दारावों से वह भीषण रात्रि साक्षात् कालरात्रि के समान भयावह वन गई थी। किन्तु सद्यः प्रव्रजित सुकुमार श्रमण अवन्तिसुकुमाल उस श्मशानभूमि में परम शान्त, दान्त एवं विरक्त अवस्था में एकाग्र चित्त हो ध्यानमग्न खड़े रहे। उनके पदचिह्नों पर लहूमिश्रित धूलिकणों की गन्ध का अनुसरण करती हुई एक श्रृगालिनी अपने कतिपय वच्चों के साथ अवन्तिसुकुमाल मुनि के पास आ पहुंची। मुनि के पैरों से टपके हुए लहूकणों की गन्ध पा कर उसने मुनि के पैरों को चाटना प्रारम्भ किया। आध्यात्मिक ध्यान में रमण करते हुए मुनि निश्चल खड़े रहे। मुनि की ओर से किसी भी प्रकार का प्रतिरोध न होता देख कर श्रृगालिनी का साहस बढ़ा। उसने मुनि के पैर की मांसल पिण्डुली में दांत गडा दिये। गरम-गरम खून की धाराएँ वह निकलीं। अपने वच्चों सहित श्रृगालिनी लहूपान के साथ-साथ मुनि के पैर को काट-काट कर खाने लगी। क्रमशः मुनि का ध्यान चिन्तन की मनोभूमि के उच्च से उच्चतर सोपान पर चढ़ने लगा। विना किसी प्रकार का प्रतिरोध किये मुनि शान्त चित्त हो सोचने लगे – "यह श्रृगालिनी मेरे कर्मकलुष को काट-काट कर मेरे लिये नलिनीगुल्म विमान के कपाट खोल रही है।" श्रृगालिनी और उसके वच्चों ने मुनि का दूसरा पैर भी काट-काट कर खाना प्रारम्भ कर दिया। मुनि का शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ा किन्तु उनका ध्यान अधिकाधिक ऊंचाई पर चढ़ता गया। मुनि की दोनों जंघाओं और भुजदण्डों को खा चुकने के पश्चात् श्रृगाल-परिवार ने उनके पेट को चीर फाड़ कर खाना प्रारम्भ किया। मुनि ने भी अपने आत्मचिन्तन को शुभ से शुभतर वनाना प्रारम्भ किया और अन्ततोगत्वा समाधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग कर मुनि अवन्ति सुकुमाल अपने प्रिय लक्ष्यस्थान नलिनीगुल्म विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए।

दूसरे दिन आर्य सुहस्ती से सव वृत्तान्त ज्ञात होने पर अवन्तिसुकुमाल की माता भद्रा ने अपनी एक गर्भिणी पुत्रवधु को छोड़ कर शेष ३१ पुत्रवधुओं के साथ श्रमणीधर्म की दीक्षा ग्रहण की। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा परिशिष्ट पर्व में किये गये उल्लेख के अनुसार अवन्तिसुकुमाल के पुत्र ने अपने पिता की स्मृति में उनके मरणस्थल पर एक विशाल देवकुल का निर्माण करवाया जो आगे चल कर महाकाल के नाम से विख्यात हुआ।[1]

---

[1] गुर्व्यां जातेन पुत्रेण चक्रे देवकुलं महत्।
अवन्तिसुकुमालस्य मरणस्थानभूतले ॥१७६॥
तद्देवकुलमद्यापि विद्यतेऽवन्तिभूषणम्।
महाकालाभिधानेन लोके प्रथितमुच्चकैः ॥१७७॥ [परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११.]

आर्य सुहस्ती के शिष्य अवन्तिसुकुमाल के इस प्रकार के अलौकिक साहस, अद्भुत त्याग और वैराग्य से उस समय का जनमानस कितना प्रभावित हुआ होगा, इसको कल्पना से भी नहीं आंका जा सकता।

आर्य महागिरि की शिष्य-परम्परा

कल्पसूत्रानुसार[1] आर्य महागिरि की शिष्य परम्परा क्रमशः इस प्रकार है :-

१. स्थविर उत्तर (बहुल)
२. स्थविर बलिस्सह
३. स्थविर धनाढ्य
४. स्थविर श्री आढ्य
५. स्थविर कौडिन्य
६. स्थविर नाग
७. स्थविर नागमित्र
८. कौशिक गोत्रीय षडुल्लूक रोहगुप्त

इन्हें प्रत्यक्ष शिष्यों की अपेक्षा पारम्परिक शिष्य मानना अधिक उपयुक्त होगा।

आठवें शिष्य कौशिक गोत्रीय स्थविर षडुल्लूक रोहगुप्त से त्रैराशिक (निन्हवों) की उत्पत्ति हुई।

स्थविर उत्तर और स्थविर बलिस्सह से उत्तरबलिस्सह नामक गण निकला जिसकी ये निम्नलिखित ४ शाखाएं हैं :-

१. कौशाम्बिका, २. शुक्तिवतिका, ३. कोडंवाणी और ४. चन्दनागरी।

आचार्य सुहस्ती की शिष्य-परम्परा

आचार्य आर्य सुहस्ती का शिष्यपरिवार बड़ा विशाल था। उनके १२ प्रमुख शिष्य थे[2], जिनके नाम, उनसे निकली हुई शाखाओं एवं कुलों के नाम सहित इस प्रकार हैं :-

---

[1] थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावचगुत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अन्तेवासी अहावच्चा अभिण्णाया हुत्था, तंजहा - १. थेरे उत्तरे, २. थेरे बलिस्सहे, ३. थेरे धणड्ढे, ४. थेरे सिरिड्ढे, ५. थेरे कोडिन्ने, ६. थेरे नागे, ७. थेरे नागमित्ते, ८. थेरे छलूए रोहगुत्ते कोसियगुत्तेणं।

थेरेहिन्तो णं छलूएहिंतो रोहगुत्तेहिंतो कोसियगुत्तेहिंतो तत्थ णं तेरासिया निग्गया। थेरेहिन्तो णं उत्तर बलिस्सहेहिन्तो तत्थ णं उत्तर बलिस्सहे नामं गणे निग्गये। तस्सणं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति; तंजहा :-
१. कोसंबिया, २. सोइत्तिया (सुत्तिवत्तिआ) ३. कोडंवाणी, ४. चन्दनागरी।

[2] थेरे अज्जरोहण, जसभद्दे मेहगणी, य कामिड्ढी।
सुट्ठिय, सुप्पडिबुद्धे, रक्खिय तह रोहगुत्ते अ ।।१।।
इसिगुत्ते सिरिगुत्ते गणी अ वम्भे गणी य तह सोमे।
दस दो अ गणहरा खलु, एए सीसा सुहत्थिस्स ।।२।।

[कल्पसूत्र स्थविरावली]

१. स्थविर आर्य रोहण। इनसे उद्देहगण निकला। उद्देहगण से निम्नलिखित ४ शाखाएं निकलीं :–

(१) उदुंबरिज्जिया, (२) मासपूरिया, (३) मइपत्तिआ और (४) पुण्यपत्तिका।

उद्देहगण के निम्नलिखित ६ कुल थे :–

(१) नागभूय, (२) सोमभूय, (३) उल्लगच्छ, (४) हत्थलिज्ज, (५) नन्दिज्ज और (६) परिहासय।

२. आचार्य यशोभद्र – इनसे उडुवाडिय गण निकला। इस गण से निम्नलिखित ४ शाखाएं निकलीं :–

(१) चंपिज्जिया, (२) भद्दिज्जिया, (३) काकन्दिया, और (४) मेहलिज्जिया।

इस उडुवाडिय गण के निम्नलिखित ३ कुल हुए :–

(१) भद्रयश, (२) भद्रगुप्त और (३) यशोभद्र।

३. मेघगणी – कल्पसूत्र स्थविरावली में इनके सम्बन्ध में कोई परिचय नहीं दिया गया है। इनसे कोई पृथक् गण नहीं निकला। ये गुणसुन्दर, गुणाकर और घनसुन्दर के नाम से भी पहिचाने जाते थे। श्यामाचार्य इन्हीं के शिष्य माने जाते हैं।

४. आचार्य कामर्धिगणी – इनसे वेसवाड़िय गण निकला जिसकी (१) सावत्थिया, (२) रज्जपालिया, (३) अन्तरिज्जिया और (४) खेमिलज्जिया नाम की चार शाखाएं तथा (१) गणिय, (२) मेहिय, (३) कामड्ढिय एवं (४) इन्द्रपुरग नाम के चार कुल थे।

५. आचार्य सुस्थितसूरि और }
६. आचार्य सुप्रतिवद्धसूरि } इन दोनों आचार्यों के गण, शाखाएं और कुल सम्मिलित थे।

इन आचार्य सुस्थित से कोडिय-काकंदिय नामक गच्छ निकला। इस गच्छ की निम्नलिखित ४ शाखाएं और चार ही कुल थे :–

शाखाएं :–

(१) उच्चानागरी, (२) विद्याधरी, (३) वज्री और (४) मज्झिमिल्ला।

कुल :–

(१) वम्भलिज्ज, (२) वत्थलिज्ज, (३) वाणिज्य और (४) पण्हवाहणय।

उपरिलिखित ४ शाखाएं वस्तुतः कोटिकगण की मूल एवं मुख्य शाखाएं हैं। इनका प्रारम्भ आ. सुस्थित और सुप्रतिबद्ध के संतानीय क्रमशः स्थविर

शान्ति श्रेणिक, स्थविर विद्याधर गोपाल, स्थविर आर्य वज्र और स्थविर प्रियग्रंथ से होना बताया गया है। इनके अतिरिक्त कोटिकगण की अज्जसेणिया, अज्जतावसी, अज्जकुबेरा, अज्जइसिपालिआ, अज्जनाइली, अज्ज पोमिला, अज्ज जयन्ती, एवं ब्रह्मद्वीपिका ये उप-शाखाएं और नागेन्द्रकुल, चन्द्रकुल आदि उपकुल थे।

७. आ० रक्षित } इनसे किसी शाखा या गण के प्रकट
८. आ० रोहगुप्त } होने का उल्लेख नहीं मिलता।

९. आचार्य ऋषिगुप्त – इनसे मानवगण निकला। इस गण की निम्न-लिखित ४ शाखाएं :–

(१) कासवज्जिया, (२) गोयमज्जिया, (३) वासिट्ठिया तथा (४) सोरट्ठिया। और
(१) ईसिगुत्तिय, (२) ईसिदत्तिय तथा (३) अभिजयन्त-ये ३ कुल थे।

१०. आ० श्रीगुप्त (हारितगोत्रीय) – इनसे चारण गण निकला, जिसकी निम्नलिखित ४ शाखाएं और ७ कुल थे :–

शाखाएं :–

(१) हारियमालागारी, (२) संकासिया, (३) गवेधुया और (४) वज्जनागरी।

कुल :–

(१) वत्थलिज्ज, (२) पीइधम्मिय, (३) हालिज्ज, (४) पूसमित्तिज्ज, (५) मालिज्ज, (६) अज्जवेडय और (७) कण्हसह (कृष्णसख)।

११. आ० ब्रह्मगणी } इनसे भी किसी गण या शाखा के प्रकट
१२. आ० सोमगणी } होने का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

आचार्य सुहस्ती का शिष्य-समुदाय वस्तुतः सुविशाल था। उसमें अनेक उच्चकोटि के विद्वान् साधक-श्रमण थे पर उन सब का परिचय उपलब्ध नहीं होता।

समुच्छेदवादी चौथा निन्हव-अश्वमित्र

(वीर-निर्वाण संवत् २२०)

आर्य महागिरि के आचार्यकाल के पांचवें वर्ष में अर्थात् वी० नि० संवत् २२० में समुच्छेदवादी (क्षणिकवादी) अश्वमित्र नाम का चौथा निह्नव हुआ। निह्नव अश्वमित्र आर्य महागिरि के कोडिन्न नामक शिष्य का शिष्य था। एक समय वह मथुरा नगरी में शास्त्राभ्यास कर रहा था। उस समय दशवें अनुप्रवाद पूर्व की नेउणिया नामक वस्तु के छिन्नछेद नय की वक्तव्यता के निम्नलिखित पाठ पर वह विचार करने लगा :–

"सव्वे पडुपण्णसमय नेरइया वोच्छिज्जिस्संति एवं जाव वेमाणियत्ति ।"

इस पाठ का अर्थ यह है कि जो वर्तमान काल के नारकीय हैं, वे दूसरे समय में विनाश को प्राप्त होते हैं। ऐसी अवस्था में पहले समय के नारकीय की जो पर्याय थी, वह विनष्ट हो जाती है और दूसरे समय में विशिष्ट दूसरी पर्याय हो जाती है ।

वस्तुतः यह पाठ पर्याय पलटने के सम्बन्ध में है पर ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण, अश्वमित्र ने इसके वास्तविक अर्थ को नहीं समझते हुए अपनी भ्रान्त धारणा बना ली कि संसार की समस्त वस्तुएं, पाप, पुण्य और यहां तक कि आत्मा भी क्षण-क्षण के अन्तर से नष्ट होने वाला है । अश्वमित्र के गुरु ने उसे अनेक प्रकार से उपरोक्त पाठ का सही अर्थ समझाने का प्रयास किया पर उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और वह अपनी क्षणिकवाद की मान्यता पर दुराग्रहपूर्वक डटा ही रहा। समझाने के सभी प्रकार के प्रयास निष्फल हो जाने पर गुरु द्वारा उसे संघ से वहिष्कृत कर दिया गया।

संघ से वहिष्कृत किये जाने के पश्चात् अश्वमित्र अपने नये सामुच्छेदिक मत का घूम-घूम कर प्रचार करने लगा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि समुच्छेदवादी चौथे निह्नव अश्वमित्र के समय तक बौद्ध धर्म के क्षणिकवाद का काफी प्रचार हो चुका होगा। सम्भव है अश्वमित्र पर भी वौद्धों के क्षणिकवाद का प्रभाव पड़ा हो। वह अपने अनेक साथियों के साथ विभिन्न क्षेत्रोंमें घूम-घूम कर अपने इस नये मत का प्रचार करने लगा और लोगों को उपदेश देने लगा कि जो जीव पहले समय में पाप करता है, वह दूसरे समय में नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार प्रथम समय में किया हुआ पुण्य दूसरे समय में नष्ट हो जाता है।

अश्वमित्र अपने मत का प्रचार करता हुआ एक दिन अपने साथियों सहित राजगृह नगर पहुंचा। वहां उस समय नगर के चौकी-चुंगी विभाग का उच्चाधिकारी सच्चा श्रमणोपासक था। उसने अश्वमित्र को सही मार्ग पर लाने के उद्देश्य से अपने कर्मचारियों द्वारा पकड़वा कर पिटवाना प्रारम्भ किया। पीड़ा से कराहते हुए अश्वमित्र ने उस अधिकारी से पूछा – "मैं साधु हूं और तुम श्रमणोपासक हो। मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि तुम मुझे क्यों पीट रहे हो ?" उस चुंगी अधिकारी ने उत्तर में कहा – "तुम्हारे समुच्छेदवाद की मान्यता के अनुसार तुम्हारे शरीर में साधु के रूप में आत्मदेव विराजमान था वह तो कभी का विनष्ट हो गया। उसी प्रकार मेरे अन्तर में श्रमणोपासक के रूप में जो आत्मा थोड़ी देर पहले विद्यमान था, वह भी समाप्त हो चुका। इस दृष्टि से अब न तुम साधु हो और न मैं श्रमणोपासक।"

इस प्रत्यक्ष अनुभव और प्रमाण से अश्वमित्र की बुद्धि तत्काल ठिकाने पर आ गई। उसे अपनी त्रुटि समझ में आ गई कि वस्तुतः वह अमवश बिल्कुल मिथ्या धारणा बना बैठा था। चुंगी अधिकारी की बुद्धिमत्ता ने भटके हुए

विपथगामी अश्वमित्र को प्रतिबोध देकर पुनः सही पथ पर लगा दिया । अश्वमित्र तत्काल अपने गुरु के पास पहुंचा और उनसे क्षमा मांग कर एवं अपने मिथ्यात्त्व के लिये प्रायश्चित्त ले कर पुनः श्रमणसंघ में सम्मिलित हो गया ।

द्विक्रियावादी पाँचवाँ निह्नव-गंग
(वीर-निर्वाण संवत् २२८)

वीर नि० सं० २२८ में भगवान् महावीर के शासन का पांचवां निह्नव द्विक्रियावादी गंग नामक अणगार हुआ । निह्नव गंग अथवा गंगदेव आचार्य महागिरि के शिष्य धनगुप्त का शिष्य था । गंग अणगार एक दिन दुपहर की कड़ी धूप में उलूगातीर नामक नदी को पार कर रहा था । उक्त नदी को पार करते समय अणगार गंग को अपने पैरों से ठंड का और ऊपर से चिलचिलाती धूप की गर्मी का अनुभव हुआ । एक ही साथ ठंड और गर्मी का अनुभव होने के कारण उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ – "भगवान् महावीर ने तो फरमाया है कि एक समय में दो क्रियाएं नहीं होतीं, दो प्रकार का उपयोग नहीं होता । एक समय में एक ही क्रिया की जाती और एक ही प्रकार का उपयोग होता है । पर वह तो प्रत्यक्ष ही ठंड और गर्मी दोनों का अनुभव एक साथ, एक ही समय में कर रहा है । तो, इससे स्पष्टतः यह सिद्ध होता है कि एक ही समय में दो प्रकार की क्रियाएं और दो प्रकार का उपयोग हो सकता है । भगवान् महावीर का यह फरमाना कि एक समय में एक ही क्रिया और एक ही उपयोग होता है – वस्तुतः असत्य है ।"

अपने गुरु धनगुप्त के पास पहुंच कर गंग अणगार ने द्विक्रियावाद की नवीन मान्यता रखी । आर्य धनगुप्त ने गंग के मन में उत्पन्न हुई शंका को मिटाने का प्रयास करते हुए कहा – "वत्स ! तुम्हें इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिये कि एक क्षण के अन्दर असंख्य समय होते हैं । तुम जिसे समय की संज्ञा दे रहे हो वह समय नहीं, क्षण है । समय तो क्षण का असंख्यातवां भाग है । समय वस्तुतः क्षण का वह असंख्यातवां सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग है, जिसका और कोई टुकड़ा या भाग नहीं किया जा सकता । एक क्षण में अनेक क्रियाओं का अनुभव हो सकता है, पर एक समय में कभी नहीं । तुम्हें नदी में जो गरमी और सर्दी का अनुभव हुआ, वह एक समय में नहीं हुआ । गर्मी का अनुभव होने के पश्चात् जो सर्दी का अनुभव हुआ, वह वस्तुतः असंख्यात समय पश्चात् हुआ । इन दोनों प्रकार के उपयोगों के बीच में असंख्यात समय का व्यवधान है, अन्तर है । समय वस्तुतः काल का वह सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग है जिसका और कोई दूसरा विभाग नहीं हो सकता, जबकि क्षण, काल का वह भाग है, जिसमें असंख्यात समय समाविष्ट होते हैं । इस प्रकार असंख्यात समयों के पुंज 'क्षण' नामक काल विभाग में जो तुम्हें दो प्रकार के अनुभव हुए, दो प्रकार के उपयोग हुए हैं, वे एक समय में हुए दो उपयोग नहीं, अपितु एक क्षण में हुए दो उपयोग हैं । जिस प्रकार, एक पुद्गल के उस छोटे से छोटे, सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग को परमाणु कहते हैं, जिसका कि और कोई विभाग

नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार समय भी काल का सबसे छोटा, सबसे सूक्ष्म भाग है, जिसका और कोई विभाग नहीं किया जा सकता। काल के इतने छोटे अन्तिम विभाग 'समय' में दो क्रियाएं अथवा दो उपयोगों के उत्पन्न होने की कोई गुंजायश ही नहीं रह जाती क्योंकि वह काल का ऐसा सूक्ष्म भाग है जिसके दो विभाग किये ही नहीं जा सकते। ऐसी स्थिति में एक समय के अन्दर दो क्रियाओं अथवा दो प्रकार के उपयोगों के उत्पन्न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व को प्रत्यक्ष की तरह देखने वाले सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् ने जो फरमाया है, वह पूर्णरूपेण सत्य है। उसमें तुम्हें शंका नहीं करनी चाहिये।"

अपने गुरु के मुख से इस प्रकार के हृदयग्राही, तर्कसंगत सूक्ष्म विवेचन को सुनने के उपरान्त भी अरणगार गंग ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा, तो अन्ततोगत्वा उसे संघ से बहिष्कृत घोषित कर दिया गया।

संघ से बहिष्कृत किये जाने के पश्चात् गंग ने 'द्विक्रिय' नामक एक नया मत चलाया। यह मत थोड़े समय तक ही चल पाया था कि गंग को अपनी त्रुटि का अनुभव हो गया। उसने अपने गुरु के पास आकर क्षमा मांगी और प्रायश्चित्त लेकर पुनः संयममार्ग पर आरूढ़ हो गया।

आचार्य सुहस्ती के बाद की संघ-व्यवस्था

संघ-व्यवस्था में आचार्य का बड़ा महत्वपूर्ण और सभी दृष्टियों से सर्वोपरि स्थान माना जाता रहा है। आर्य सुधर्मा से आर्य महागिरि एवं आर्य सुहस्ती तक लगभग ३०० वर्ष पर्यन्त जिनशासन का सम्यक् रूपेण संचालन संरक्षण आचार्यों ने ही किया।

आचार्य के अतिरिक्त उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, स्थविर, प्रवर्तक आदि पदों के भी शास्त्र में नाम उपलब्ध होते हैं। पर आचार्य, गणधर और थेर–स्थविर के अतिरिक्त तीर्थंकर काल से महागिरि तक के काल में किसी अन्य पद या उसके कार्य का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। जहां-तहां स्थविर का उल्लेख मिलता है। वे ही आचार्य के प्रमुख सहायक रूप से नवदीक्षितों को संयमधर्म की शिक्षा और शास्त्रवाचना प्रदान करते रहे। इसके लिये शास्त्रों में जगह-जगह उल्लेख मिलते हैं – 'थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जई'। संभव है स्थिर शील स्वभाव के कारण उपाध्याय के लिये स्थविर शब्द का भी प्रयोग किया गया हो। अथवा अधिकांश आचार्य ही अपने समाश्रित श्रमणवर्ग को आचारमार्ग में जोड़ने एवं स्थिर रखने के साथ-साथ श्रुतवाचना का कार्य भी सम्पन्न करते रहे हों और आत्मार्थी मेधावी शिष्य एक बार कहने से ही सरलता के साथ मर्यादा में चलते रहे हों। इस कारण प्रवर्तक, उपाध्याय, गणी आदि पदों का पृथक्तः उल्लेख नहीं किया गया हो। किन्तु कुछ भी रहा हो, उपलब्ध उल्लेखों से तो यही प्रकट होता है कि हजारों साधुओं की संख्या

वाले विशाल साधुसमुदाय एक आचार्य के शासन में पूर्णतः व्यवस्थित रूप से चलते रहे। विभिन्न प्रान्तों में विचरने वाले विशाल साधुसमुदाय की व्यवस्था के लिये अनेक आचार्यों की सत्ता में भी संघ का प्रमुख नेतृत्व एक ही आचार्य के हाथ में रहा।

आर्य यशोभद्र के समय से कुल, गरण और शाखाओं का उद्भव होने लगा पर भद्रबाहु और स्थूलभद्र जैसे प्रतिभाशाली आचार्यों के प्रभाव से श्रमणसंघ में कोई मतभेद उभर न सका। आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती ने भी मतभेद की दरारों को उत्पन्न होते ही पाटते हुए अपने अस्तित्वकाल में जिनशासन का ऐक्य बनाये रखा।

भावी संतति में यत्किंचित् परम्परा-भेद भी कहीं उग्र रूप धारण न कर ल तथा श्रुतधर्म एवं चारित्रधर्म की विशुद्ध परम्परा कहीं विनष्ट अथवा अपने स्वरूप से स्खलित न हो जाय, इस दृष्टि से उन्होंने आचार्य पद के आवश्यक कर्त्तव्यों एवं अधिकारों को (१) गणाचार्य, (२) वाचनाचार्य और (३) युग-प्रधानाचार्य - इन तीन भागों में बांट दिया। इस व्यवस्था के फलस्वरूप निम्न-लिखित तीन परम्पराएं प्रचलित हुईं :-

(१) गणधरवंश - इसमें गण के अधिनायक उन आचार्यों की प्रतिष्ठापना की गई, जो गुरु-शिष्य क्रम से उस गण की परम्परा का संचालन करते रहे। इनकी परम्परा दीर्घकाल तक चलती रही। वर्तमान के गणपति उसी के अवशेष कहे जा सकते हैं।

(२) वाचकवंश - वाचकवंश के आचार्य वे कहलाते थे, जो आगमज्ञान की विशुद्ध परम्परा के पूर्ण मर्मज्ञ और वाचना-प्रदान में कुशल होते थे। इनकी सीमा अपने गण तक ही सीमित न हो कर पूरे संघ में मान्य होती थी।

(३) युगप्रधान परम्परा - इस परम्परा के अन्तर्गत युगप्रधानाचार्य उसे ही बनाया जाता था जो विशिष्ट प्रतिभा एवं योग्यता के कारण जैनधर्म ही नहीं, उससे बाहर भी प्रभावोत्पादक होता। वाचनाचार्य या युगप्रधानार्य के लिये किसी गण अथवा परम्परा का नियमन नहीं होता था कि वह किसी निश्चित गण अथवा परम्परा का ही हो। एक युगप्रधान के पश्चात् उससे भिन्न गण अथवा परम्परा का सुयोग्य श्रमण भी उस पद का अधिकारी हो सकता था।

उपरोक्त परिवर्तन की स्थिति विचारणीय है कि भगवान् महावीर के पश्चात् लगभग ढाई-पौने तीन सौ वर्ष तक जो संघ व्यवस्था संघसंचालन एवं वाचनाप्रदान - इन दोनों कार्यों के एक ही गणाचार्य द्वारा निष्पादित किये जाने के रूप में सुव्यवस्थित रीति से चलाई जाती रही, वहां आर्य सुहस्ती के समय में ऐसी कौनसी आवश्यकता उत्पन्न हो गई कि सुदीर्घकाल से चली आ रही उस सुव्यवस्था को बदल कर संघसंचालन के लिये गणाचार्य तथा आगमवाचना के लिये वाचनाचार्य की नियुक्ति कर एक के स्थान पर दो आचार्यों की और तद-नन्तर युगप्रधानाचार्य की परम्परा को प्रचलित करना पड़ा ?

चूंकि इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता अतः निश्चित रूप से तो इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी तत्कालीन कतिपय घटनाओं और पश्चाद्वर्ती आचार्यों एवं लेखकों द्वारा उल्लिखित कुछ विवरणों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि दूरदर्शी आचार्यों ने कालप्रभाव से होने वाले गणभेद, सम्प्रदायभेद एवं मान्यताभेद आदि विभिन्न भेदों को दृष्टि में रखते हुए भेद में अभेद को चिरस्थायी बनाने का यह मार्ग ढूंढ निकाला हो।

आर्य महागिरि और सुहस्ती के जीवनपरिचय से यह तथ्य स्पष्टतः प्रकट होता है कि उनके समय में मतभेद का बीजारोपण तो नहीं हो पाया था पर श्रमणवर्ग में कतिपय श्रमण कठोर श्रमणाचार के पक्षपाती और अधिकांश श्रमण समय, सामर्थ्य आदि को दृष्टिगत रखते हुए अपवादमार्ग के समर्थक हो चले थे। "वर्तमान का यह थोड़ा सा भी आचारभेद आगे चल कर पारस्परिक संपर्क के अभाव में कहीं अधिक उग्र रूप धारण न कर ले" – इस दृष्टि से आचार्य सुहस्ती ने आर्य महागिरि के पश्चात् शास्त्रीय परम्परा में एकवाक्यता एवं एकरूपता बनाये रखने की शासनहित की भावना से दोनों गणों द्वारा मान्य उनके शिष्य बलिस्सह को वाचनाचार्य पद पर नियुक्त कर एक नवीन परम्परा का सूत्रपात किया।

गणाचार्य के साथ वाचनाचार्य की स्वतन्त्र नियुक्ति से दोनों विचारधाराओं के श्रमणों का सदा निकटतम सम्पर्क बने रहने से श्रमणसंघ में यथावत् ऐक्य बना रहा।

जहां तक युगप्रधानाचार्य परम्परा का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य सुहस्ती के समय में मौर्य सम्राट् सम्प्रति द्वारा उत्कट निष्ठा और लगनपूर्वक किये गये शासनसेवा के कार्यों से जैनधर्म के उल्लेखनीय प्रचार-प्रसार के साथ-साथ श्रमणसंघ भी खूब फलाफूला। श्रमणों के समुदाय देश और विदेशों के दूर-वर्ती प्रदेशों में पहुंच कर धर्म का प्रचार करने लगे। फलस्वरूप आर्य सुहस्ती की सर्वतोमुखी प्रतिभा बहुगुणित हो चमक उठी और महान् प्रभावक होने के कारण वे समस्त संघ में युगप्रधानाचार्य के रूप में विख्यात हो गये। तभी से युग-प्रधानाचार्य की तीसरी परम्परा भी अधिक स्पष्ट रूप में उभर आई। वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य ये दोनों पद किसी गणविशेष में सीमित न रह कर योग्यता विशेष से सम्बन्धित रहे।

यह भी संभव प्रतीत होता है कि आर्य सुहस्ती के समय में उनके विशाल साधुसंघ के श्रमण तथा अन्य गणों के श्रमण कालान्तर में स्वतन्त्र आचार्य के अधीन स्वतन्त्र गण के रूप में विचरण करने लगे हों और उन्हें उसी रूप में रहने की अनुमति के साथ-साथ एकता के सूत्र में बांधे रखने की दृष्टि से स्थविरों ने सोच-विचार के पश्चात् युगप्रधानाचार्य की परम्परा को सर्वमान्य एवं सर्वोपरि स्थान प्रदान किया हो।

वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य के पद किसी गणविशेष में सीमित न रख कर विशिष्ट योग्यता से सम्बन्धित रखे गये, इसलिये ये दोनों पद उभय परम्पराओं एवं कालान्तर में सभी गणों के लिये मान्य रहे।

युगप्रधानाचार्य का प्रमुख कर्त्तव्य समस्त गणों को एक सूत्र में संगठित रख कर मूल रीति-नीति पर चलाना, कठिन समय में शासन-संरक्षण के साथ-साथ जैनधर्म की गौरवगरिमाभिवृद्धि में अपनी योग्यता और प्रतिभा का परिचय देना था। उनका निर्णय जैनेतर समाज में भी प्रमाणभूत माना जाता था।

दुष्षमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार भगवान् महावीर के धर्मशासन में दुष्षमाकाल के अन्त तक सुधर्मा आदि २००४ आचार्यो को युगप्रधान माना गया है।

वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य की नयी व्यवस्था का तात्कालिक लाभ यह हुआ कि गण, कुल आदि के प्रादुर्भाव के उपरान्त भी संघ एकता के सूत्र में बंधा रहने के कारण छिन्न-भिन्न होने से बचता रहा।

ऊपर लिखित तीनों परम्पराओं के आचार्यों के काल की ऐतिहासिक घटनाओं का देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक का परिचय देने से पूर्व यहां पर तीनों परम्पराओं के आचार्यों की नामावली प्रस्तुत की जा रही है :-

पट्टधरों के क्रम में आर्य स्थूलभद्र के दो प्रमुख एवं पट्टधर शिष्यों – आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती – में आर्य महागिरि बड़े थे। इस दृष्टि से आर्य महागिरि की शाखा सभी तरह से प्रमुख शाखा मानी जानी चाहिये। तदनुसार प्राचीन आचार्यों द्वारा आर्य महागिरि की शाखा को ही प्रमुख माना भी गया है।[1] अतः यहां सर्वप्रथम, वाचकवंश-परम्परा के नाम से प्रसिद्ध आर्य महागिरि की आचार्य परम्परा की नामावली प्रस्तुत की जा रही है :-

वाचकवंश-परम्परा

१. आर्य सुधर्मा
२. आर्य जम्बू
३. आर्य प्रभव
४. आर्य शय्यंभव
५. आर्य यशोभद्र
६. आर्य संभूत विजय
७. आर्य भद्रबाहु
८. आर्य स्थूलभद्र
९. आर्य महागिरि
१०. आर्य सुहस्ती
११. आर्य बलिस्सह
१२. आर्य स्वाति
१३. आर्य श्याम
१४. आर्य सांडिल्य
१५. आर्य समुद्र
१६. आर्य मंगु
१७. आर्य धर्म
१८. आर्य भद्रगुप्त

[1] अत्र चायं वृद्धसंप्रदायः – स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वयम् – आर्यमहागिरिः आर्य सुहस्ती च। तत्र आर्यमहागिरेर्या शाखा सा मुख्या। [मेरुतुंगीया स्थविरावली]

१९. आर्य वज्र
२०. आर्य रक्षित
२१. आर्य आनन्दिल
२२. आर्य नागहस्ती
२३. आर्य रेवतिनक्षत्र
२४. आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह
२५. आर्य स्कंदिलाचार्य
२६. आर्य हिमवन्त
२७. आर्य नागार्जुन
२८. आर्य गोविन्द
२९. आर्य भूतदिन्न
३०. आर्य लौहित्य
३१. आर्य दूष्यगरिण
३२. आर्य देवर्द्धिगरिण [1]

आचार्य मेरुतुंग ने आर्य महागिरि की शाखा को मुख्य मानते हुए इसके आचार्यों की, आर्य बलिस्सह से आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमरण तक की नामावली दो गाथाओं में दी है। वे गाथाएं इस प्रकार हैं :—

सूरि बलिस्सह, साई, सामज्जो, सँडिलो य जीयधरो ।
अज्ज समुद्दो, मँगू, नंदिल्लो, नागहत्थी य ।।
रेवईसिंहो, खंदिल, हिमवं, नागज्जुरणा य गोविन्दा ।
सिरि भूइदिन्न-लोहिच्च-दूसगरिणरणो य देवड्ढी ।।

इन गाथाओं में, ऊपर दी गई नामावली में उल्लिखित आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त, आर्य वज्र और आर्य रक्षित-इन चार आचार्यों के नामों को सम्मिलित नहीं किया गया है। नन्दी के वृत्तिकार एवं चूर्णिकार ने भी स्थविरावली की गाथा सं० ३१, ३२ और ४१ को प्रक्षिप्त मानते हुए इन चारों आचार्यों के साथ साथ आर्य गोविन्द का नाम भी नंदी स्थविरावली में सम्मिलित नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मेरुतुंग स्थविरावली की उपरोक्त दो गाथाओं तथा नन्दी स्थविरावली में आर्य महागिरि की परम्परा अर्थात् वाचकवंश परम्परा के आचार्यों का पट्टक्रम से उल्लेख है और प्रक्षिप्त गाथाओं में वाचकवंश परम्परा के आचार्यों के समकालीन युगप्रधानाचार्यों के नाम दे दिये गये हैं। वस्तुतः अधोलिखित युगप्रधानाचार्य-पट्टावली में इन चारों आचार्यों के नाम विद्यमान हैं।

युगप्रधानाचार्य परम्परा की नामावली

१. आर्य सुधर्मास्वामी
२. आर्य जम्बूस्वामी
३. आर्य प्रभवस्वामी
४. आर्य शय्यंभवस्वामी
५. आर्य यशोभद्रस्वामी
६. आर्य संभूतिविजय
७. आर्य भद्रबाहुस्वामी
८. आर्य स्थूलभद्रस्वामी
९. आर्य महागिरि
१०. आर्य सुहस्ती

---

[1] नन्दी-स्थविरावली की गाथा सं० ३१, ३२ और ४१ जिन्हें कि प्रक्षिप्त माना गया है, उनके अनुसार आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र, रक्षित और आर्य गोविन्द इन पांच आचार्यों के नाम जोड़ने पर ही आर्य देवर्द्धि तक इस परम्परा के आचार्यों की संख्या ३२ होती है। नन्दी स्थविरावली की मूल गाथाओं के अनुसार आर्य देवर्द्धिगणी २७ वें आचार्य हैं।
[सम्पादक]

११. आर्य गुणसुन्दर
१२. आर्य श्यामाचार्य (कालकाचार्य प्रथम)
१३. आर्य स्कंदिलाचार्य
१४. आर्य रेवतीमित्र
१५. आर्य धर्म
१६. आर्य भद्रगुप्त
१७. आर्य श्रीगुप्त
१८. आर्य वज्रस्वामी
१९. आर्य रक्षित
२०. आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र
२१. आर्य वज्रसेन
२२. आर्य नागहस्ती
२३. आर्य रेवतीमित्र
२४. आर्य सिंह
२५. आर्य नागार्जुन
२६. आर्य भूतदिन्न
२७. आर्य कालकाचार्य (चतुर्थ)

गणाचार्य-परम्परा

आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती, इन दोनों आचार्यों के पृथक्-पृथक् दो गण थे और उन दोनों गणों के अनुक्रमशः अलग-अलग आचार्य हुए हैं। इन दो गणों के अतिरिक्त कालान्तर में स्वतन्त्र रूप से जो अनेक गण हुए, उन सब गणों के भी भिन्न-भिन्न आचार्य पट्टानुक्रम से हुए हैं। इसके साथ ही साथ अनेक वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य ऐसे भी हुए हैं, जो अपने-अपने गणों के गणाचार्य रहते हुए वाचनाचार्य अथवा युगप्रधानाचार्य भी रहे हैं। ऐसी स्थिति में सभी गणों के गणाचार्यों की नामावली का दिया जाना संभव प्रतीत नहीं होता। विभिन्न गणों की पट्टावलियों से ही उनके सम्बन्ध में परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

उन गणों में आर्य सुहस्ती का गण प्रारम्भ से ही अति विशाल और प्रसिद्ध रहा। कल्पसूत्र-स्थविरावली को आर्य सुहस्ती की आचार्य परम्परा माना गया है[1] अतः उसे यहां दिया जा रहा है :-

कल्पसूत्रस्थ स्थविरावली

१. आर्य सुधर्मा
२. ,, जम्बू
३. ,, प्रभव
४. ,, शय्यंभव
५. ,, यशोभद्र
६. ,, संभूतविजय-भद्रबाहु
७. ,, स्थूलभद्र
८. ,, सुहस्ती
९. आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध
१०. ,, इन्द्रदिन्न
११. ,, दिन्न
१२. ,, सिंहगिरि
१३. ,, वज्र
१४. ,, रथ
१५. ,, पुष्यगिरि
१६. ,, फल्गुमित्र

[1] तत्र सुहस्तिनः सुस्थित – सुप्रतिबुद्धादिक्रमेणावलिका यथा 'दसासु' तथैव द्रष्टव्या, न तयेहाधिकारः, महागिर्यावलिकयेहाधिकारः।
[नंदी वृत्ति (श्री पुण्यविजयजी द्वारा संपादित), पृ० ११]

१७. आर्य धनगिरि
१८. ,, शिवभूति
१९. ,, भद्र
२०. ,, नक्षत्र
२१. ,, दक्ष
२२. ,, नाग
२३. ,, जेहिल
२४. ,, विष्णु
२५. ,, कालक
२६. आर्य संपलितभद्र
२७. ,, वृद्ध
२८. ,, संघपालित
२९. ,, हस्ती
३०. , धर्म
३१. ,, सिंह
३२. ,, धर्म
३३. ,, सांडिल्य[1]

महागिरि की परम्परा मुख्य होने के कारण यहाँ पर सर्व प्रथम नन्दी सूत्र की स्थविरावली के अनुसार महागिरि की परम्परा के आचार्यों का तथा उनके साथ ही उपरोक्त दोनों परम्पराओं के आचार्यों का परिचय अनुक्रमशः दिया जा रहा है।

११. आर्य बलिस्सह

वीर नि० सं० २४५ में आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् उनके ८ प्रमुख स्थविरों (शिष्यों) में से आर्य बलिस्सह गणाचार्य नियुक्त हुए। उनके गण का नाम उत्तर बलिस्सह रखा गया।

यहाँ शंका हो सकती है कि बहुल और बलिस्सह इन दोनों स्थविरों में ज्येष्ठ होने पर भी बहुल का नाम गणाचार्य में न देकर बलिस्सह को गणनायक बताने का क्या विशिष्ट कारण है, जब कि गण के नाम में उत्तर-बलिस्सह इस नामान्तर से बहुल को भी जोड़ा गया है? ऐसा प्रतीत होता है कि बहुल ने बलिस्सह से ज्येष्ठ और बहुश्रुत होने पर भी अपनी अल्पायु आदि कारणों से स्वयं आचार्य न बन कर अधिक प्रतिभाशाली बलिस्सह को ही आचार्य बनाना उचित समझा हो और इसीलिये बलिस्सह ने भी ज्येष्ठ के आदरार्थ गण का नाम उत्तर बलिस्सह मान्य किया हो।

बलिस्सह के जन्म, दीक्षा, माता-पिता आदि का परिचय उपलब्ध नहीं होने के कारण इतना ही लिखा जा सकता है कि बलिस्सह कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण थे। आर्य महागिरि के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर उन्होंने १० पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया। आर्य महागिरि के समान आर्य बलिस्सह आचार-साधना में भी विशेष निष्ठा रखने वाले थे। यही कारण है कि आर्य महागिरि के पश्चात् वे इस परम्परा में प्रमुख गणाचार्य माने गये।

महागिरि परम्परा के अन्य स्थविरों ने भी इनका गणनायकत्व स्वीकार

किया। फलस्वरूप आठ स्थविरों में से रोहगुप्त के अतिरिक्त किसी ने भी अलग गण स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया।

पहले बताया जा चुका है कि आर्य सुहस्ती ने संघ की ऐक्यता बनाये रखने के लिये गणाचार्य के अतिरिक्त वाचनाचार्य एवं युगप्रधानाचार्य की नई परम्परा प्रचलित की। तदनुसार उन्होंने दोनों परम्पराओं में सामंजस्य एवं सहयोग बनाये रखने की दृष्टि से आगम के विशिष्ट ज्ञाता बलिस्सह को सम्पूर्ण संघ का वाचनाचार्य नियुक्त किया।

आर्य बलिस्सह ने श्रमण-समुदाय में आगमज्ञान का प्रचार-प्रसार करते हुए जिन-शासन की प्रशंसनीय सेवा की और अपने समय में हुई श्रमणसंघ की वाचना में ११ अंगों एवं १० पूर्वों के पाठों को व्यवस्थित करने में भी अपना पूर्ण योगदान दिया, जैसा कि हिमवन्त स्थविरावली में बताया गया है :–

"पहले जो १२ वर्ष तक दुष्काल पड़ा था उसमें आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती के बहुत से शिष्य शुद्ध आहार न मिलने के कारण कुमारगिरि नामक पर्वत पर अनशन कर के शरीर छोड़ चुके थे। उसी दुष्काल के प्रभाव से तीर्थंकर महावीर द्वारा प्ररूपित बहुत से सिद्धान्त भी नष्टप्राय हो गये थे। यह जान कर भिक्खुराय ने जैन सिद्धान्तों का संग्रह और जैन धर्म का विस्तार करने के लिये सम्प्रति राजा की तरह श्रमण-निग्रन्थ तथा निग्रन्थियों की एक सभा कुमारगिरि पर आयोजित की, जिसमें आर्य महागिरि की परम्परा के आर्य बलिस्सह, बोधिलिंग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदि २०० जिनकल्प की तुलना करने वाले साधु, तथा आर्य सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति, श्यामाचार्य प्रभृति ३०० स्थविरकल्पी साधु सम्मिलित हुए। आर्या पोइणी आदि ३०० साध्वियां भी वहां उपस्थित हुई थीं। भिक्खुराय एवं सीवंद, चूर्णक, सेलक आदि ७०० श्रमणोपासक और भिक्खुराय की महारानी पूर्णमित्रा आदि ७०० श्राविकाएँ भी उस सभा में उपस्थित थीं।"

कहा जाता है कि बलिस्सह ने वाचना के प्रसंग पर विद्यानुप्रवाद पूर्व से अंग-विद्या जैसे शास्त्र की भी रचना की। बलिस्सह के गण में सैंकड़ों साधु एवं साध्वियां होने पर भी उनका कहीं उल्लेख नहीं होने के कारण यहाँ परिचय नहीं दिया जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि इनके ४ शिष्यों से उत्तर बलिस्सह गण की ४ शाखाएँ प्रकट हुईं, जिनका कल्पसूत्रीय स्थविरावली में भी उल्लेख मिलता है। उन शाखाओं के नाम इस प्रकार हैं :–

१. कोसंबिया २. सोतित्तिया ३. कोडंवाणी और ४. चन्दनागरी।[1]

---

[1] थेरेहिंतो णं उत्तरबलिस्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सह गणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तं जहा - कोसंबिया, सोतित्तिया, कोडंबाणी, चंदनागरी ॥२०६॥ [कल्पसूत्र स्थविरावली]

इस प्रकार आर्य बलिस्सह महागिरि की परम्परा के गणाचार्य और समस्त संघ के वाचनाचार्य – इन दोनों पदों को चिरकाल तक सुशोभित करते रहे। इनके आचार्य काल आदि का परिचय उपलब्ध नहीं होता। अनुमानतः वीर नि० सं० २४५ से ३२९ तक इनका सत्ताकाल हो सकता है।

११. गुणसुन्दर–युगप्रधानाचार्य

युगप्रधान–परम्परानुसार आर्य बलिस्सह के समय में आर्य गुणसुन्दर (गुणाकर) युगप्रधानाचार्य बताये गये हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :–

आचार्य सुहस्ती के पश्चात् वीर नि० सं० २९१ में गुणसुन्दर युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त किये गये। इनका जन्मकाल वीर नि० सं० २३५, दीक्षाकाल २५९ और युगप्रधान-पदारोहण २९१ में माना गया है। ४४ वर्ष तक युगप्रधान रूप से जिनशासन की सेवा कर वीर नि० सं० ३३५ में आपने १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

आचार्य सुहस्ती के शिष्यसमूह में आर्य गुणसुन्दर का मेघगणी के नाम से उल्लेख किया गया है। यह पहले बताया जा चुका है कि मेघगणी, गुणसुन्दर, गुणाकर एवं घनसुन्दर – ये चारों इन्हीं युगप्रधानाचार्य के नाम माने गये हैं। इनके शिष्य-समुदाय एवं कार्यकलापों का विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता।

११. सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध–गणाचार्य

आर्य सुहस्ती के पश्चात् जिस प्रकार गुणसुन्दर युगप्रधानाचार्य हुए उसी प्रकार आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध गणाचार्य नियुक्त किये गये।

आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध – ये दोनों सहोदर थे। इनका जन्म काकंदी नगर के व्याघ्रापत्य गोत्रीय राजकुल में हुआ था। ऐसा उल्लेख उपलब्ध होता है कि इन दोनों आचार्यों ने सूरिमंत्र का एक करोड़ बार जाप किया। इस कारण इनका गच्छ, कौटिक गच्छ के नाम से विख्यात हुआ। इससे पहले आर्य सुधर्मा से आर्य सुहस्ती तक भगवान् महावीर का धर्मसंघ निर्ग्रन्थ गच्छ के नाम से विख्यात था।

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार कुमारगिरि पर्वत पर कलिंगपति महामेघवाहन द्वारा आगमवाचनार्थ जो चतुर्विधसंघ एकत्रित किया गया था, उसमें ये दोनों आचार्य भी उपस्थित थे।[1]

आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के निम्नलिखित ५ शिष्य थे :-

१. आर्य इन्द्रदिन्न
२. आर्य प्रियग्रन्थ
३. आर्य विद्याधर गोपाल
४. आर्य ऋषिदत्त और
५. आर्य अर्हद्दत्त

इनमें से प्रथम शिष्य आर्य इन्द्रदिन्न आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के पश्चात् गणाचार्य और द्वितीय शिष्य आर्य प्रियग्रन्थ बड़े मन्त्रवादी प्रभावक हुए। इन दोनों का परिचय आगे यथास्थान दिया जा रहा है।

आर्य सुस्थित का जन्म वीर नि० सं० २४३ में हुआ। ३१ वर्ष तक गृहस्थ पर्याय में रहने के पश्चात् उन्होंने वीर नि० सं० २७४ में आर्य सुहस्ती के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। आर्य सुहस्ती के १२ प्रमुख शिष्यों में आपका पांचवां स्थान था। वे १७ वर्ष तक सामान्य श्रमणपर्याय में रहे। वीर नि० सं० २९१ में आर्य सुहस्ती के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आपको गणाचार्य नियुक्त किया गया। ४८ वर्ष तक गणाचार्य पद पर रहते हुए आपने भगवान् महावीर के शासन की उल्लेखनीय सेवाएं कीं और वीर नि० सं० ३३९ में ९६ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

आर्य बलिस्सह कालीन राजवंश

पहले किये गये उल्लेखानुसार यह तो निश्चित है कि आर्य महागिरि के स्वर्गगमन के पश्चात् आर्य बलिस्सह वीर नि० सं० २४५ में आर्य महागिरि के गण के गणाचार्य बने। इसके पश्चात् आर्य बलिस्सह को संघ का वाचनाचार्य बनाया गया। परन्तु इस प्रकार का उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता कि वीर नि० २४५ से प्रारम्भ हुआ आर्य बलिस्सह का आचार्यकाल कब तक रहा। इस सम्बन्ध में बलिस्सह विषयक जो-जो उल्लेख विभिन्न पुस्तकों में उपलब्ध हैं, उन्हीं के आधार पर अनुमान का सहारा लेना होगा।

हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेखानुसार कलिंगपति महामेघवाहन भिक्खुराय ने पूर्वज्ञान और एकादशांगी का पुनरुद्धार करने हेतु, जो कुमारगिरि पर चतुर्विध संघ को एकत्रित किया था, उसमें आर्य बलिस्सह विद्यमान थे।[1] यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वीर निर्वाण सं० ३२३ में मौर्यवंश के अन्तिम राजा वृहद्रथ को मार कर उसका सेनापति पुष्यमित्र शुंग मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पुष्यमित्र के अत्याचारों से संत्रस्त मगध की जैनधर्मावलम्बी जनता की

---

[1] पुव्विं तित्थयरगणहरपरूवियं पवयणं वि बहुसो विणट्ठपायं णाऊण तेणं भिक्खुरायणिवेणं जिणपवयण संगहट्ठं जिणधम्मवित्थरट्ठं संपइणिवुव्व समणाणं णिग्गंठाणं णिग्गंठीणं य एगा परिसा तत्थ कुमरीपव्वयतित्थम्मि मेलिया। तत्थ णं थेराणं अज्जमहागिरी-णमणुपत्ताणं बलिस्सह बोहिलिंग, देवायरि धम्मसेण नक्खत्तायरियाइ जिणकप्पितुल्लं कुणमाणाणं दुन्नि सया णिग्गंठाणं समागया। [हिमवंत स्थविरावली, हस्तलिखित]

पुकार सुन, भिक्खुराय ने मगध पर आक्रमण कर पुष्यमित्र को दो वार पराजित किया। इसके पश्चात् भिक्खुराय ने कुमारगिरि पर आगमों के उद्धार हेतु श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों एवं श्राविकाओं को एकत्रित किया और अंग-शास्त्रों तथा पूर्वज्ञान का संकलन, संग्रह अथवा पुनरुद्धार करवाया।

अंगशास्त्रों के संकलन, संग्रह अथवा संरक्षण हेतु खारवेल द्वारा किये गये उपरोक्त संघसम्मिलन का समय वीर नि० सं० ३२३ के पश्चात् का ३२७ से ३२६ के वीच का ठहरता है। क्योंकि वीर नि० के पश्चात् ६० वर्ष तक पालक का, तदनन्तर १५५ वर्ष तक नन्दवंश का, तत्पश्चात् १०८ वर्ष तक मौर्यवंश का राज्य रहा। इस प्रकार वीर नि० सं० ३२३ में पुष्यमित्र पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आसीन होते ही पुष्यमित्र ने बोद्धों और जैनों पर घोर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। जैन धर्म के परम पोपक कलिंगराज महामेघवाहन भिक्खुराय खारवेल को जव पुष्यमित्र द्वारा जैनों पर किये जाने वाले अत्याचार की सूचना मिली तो उसने अपने राज्यकाल के ८ वें वर्ष में पाटलिपुत्र पर एक वड़ी सेना लेकर आक्रमण कर दिया।[1] संभव है पुष्यमित्र ने कलिंगराज की अजेय शक्ति के समक्ष झुक कर भविष्य में जैनों पर किसी प्रकार के अत्याचार न करने की प्रतिज्ञा कर खारवेल के साथ संधि कर ली होगी। संधि के पश्चात् खारवेल के लौट जाने पर जव जैन धर्म के परम विद्वेपी पुष्यमित्र ने पुनः जैनों पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया तो पहले आक्रमण के चार वर्ष पश्चात् खारवेल ने अपने राज्य के १२वें वर्ष में एक विशाल सेना ले कर पाटलि-पुत्र पर आक्रमण किया। उसने पुष्यमित्र के सुगांगेय नामक राजप्रासाद में अपने हाथियों को पानी पिलाया। पुष्यमित्र को अपने पैरों पर गिरा कर नंदराजनीत कालिंगजिन संनिवेस……और रत्नादि को ले कर खारवेल पुनः कलिंग लौट गया।[2]

इस प्रकार जैनों के उस समय के भयंकर शत्रु पुष्यमित्र से अच्छी तरह निवट चुकने के पश्चात् वीर नि० सं० ३२७ से ३२६ के वीच के किसी समय में

---

[1] अठमे च वसे महता सेना……गोरधगिरिं घातापयिता राजगहं उपपीडापयति (।) एतिनं च कंमापदान-संनादेन संवितसेन-वाहनो विपमुंचितु मधुरं अपयातो यवनराज डिमित।
[कलिंग च. म. खारवेल के शिलालेख का वि. पृ. १५]

[2] बारसमे च वसे……हस के ज. सवनेहि……वितासयति उतरापध–राजानो……मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हथी सुगंगीय (.) पाययति (।) मागधं च राजानं वसहतिमितं पादे वंदापयति (।) नंदराजनीतं च कालिंगजिनं संनिवेसं…… गह-रतनान पडिहारेहि अंगमागधवसुं च नेयाति (।)
(कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण श्री जे. पी. जायसवाल [?] पृ. १६)

खारवेल ने कुमारगिरि पर श्रमणसंघ आदि चतुर्विध संघ को एकत्रित कर द्वादशांगी के पाठों को सुव्यवस्थित करवाया होगा।

आगम-वाचनार्थ आयोजित उपरोक्त सम्मेलन में 'हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेखानुसार वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह भी सम्मिलित थे। इस प्रकार के उल्लेख से यह प्रकट होता है कि आर्य बलिस्सह का वाचनाचार्यकाल वीर नि० सं० २४५ से ३२७-३२९ तक रहा। जब तक अन्य प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध न हो तब तक हिमवन्त स्थविरावली के उपरिउद्धृत उल्लेख को अप्रामाणिक मानने का कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी स्थिति में आर्य बलिस्सह की पूर्ण आयु कम से कम १०५ वर्ष होना अनुमानित किया जा सकता है।

उपरोक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए विचार किया जाय तो आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्यकाल में निम्नलिखित प्रमुख राजाओं का राज्यकाल होना अनुमानित किया जाता है :-

१. मौर्यसम्राट् बिन्दुसार के वीर नि० सं० २३३ से २५८ तक के २५ वर्ष के राज्यकाल में से १३ वर्ष (वीर नि० सं० २४५ से २५८ तक) का राज्यकाल।

२. मौर्यसम्राट् अशोक का वीर नि० सं० २५८ से २८३ तक राज्यकाल।

३. मौर्यसम्राट् सम्प्रति का वीर नि० सं० २८३ से २९३ तक का शासनकाल। उसमें से प्रथम दो वर्ष पाटलिपुत्र में और शेष ९ वर्ष उज्जयिनी में।

४. जैन परम्परानुसार पुण्यरथ और वृहद्रथ तथा हिन्दू पौराणिक परम्परानुसार शालिशूक, देववर्मा, शतधनुष और वृहद्रथ का अनुमानतः वीर निर्वाण सं० २९३ से ३२३ तक राज्यकाल। मौर्य सम्राट् सम्प्रति के पश्चात् इन राजाओं का उज्जयिनी पर भी अधिकार रहा।

५. कलिंग में भिक्खुराय अपरनाम महामेघवाहन तथा खारवेल[1] का जैसा कि आगे बताया जायगा, अनुमानतः वीर नि० सं० ३१६ से ३२९ तक का शासनकाल।

६. पुष्यमित्र के वीर नि० सं० ३२२ से ३५२ तक के ३० वर्ष के शासनकाल में से वीर नि० सं० ३२७-३२९ के बीच तक का काल। पुष्यमित्र की राजधानी भी पाटलिपुत्र में रही और उज्जयिनी का राज्य भी इसके अधीन रहा।

---

[1] तस्स णं भिक्खुरायणिवस्स तिण्णि णामधिज्जे एवमाहिज्जंति। एगं णं णिग्गंठाणं भिक्खुणं भत्तिं कुणमाणो भिक्खुरायत्ति। दुच्चं णं णिय पुव्वयाणुगय महामेहणामधिज्ज गयवाहणत्ताए महामेहवाहणत्ति। तीयं णं तस्स सायरतडरायहाणीत्ताए खारवेलाहिवत्ति।

[हिमवन्त-स्थविरावली]

उपर्युल्लिखित राजाओं में से बिन्दुसार, अशोक और सम्प्रति के राज्यकाल की प्रमुख घटनाओं का विवरण ऊपर यथास्थान दे दिया गया है। हां, सम्प्रति के राज्यकाल के सम्बन्ध में विभिन्न उल्लेख उपलब्ध होते हैं। जिनसुन्दरकृत दीपालिकाकल्प में उल्लेख है कि भगवान् महावीर के निर्वाणानन्तर ३०० वर्ष व्यतीत हो जाने पर सम्प्रति हुआ।[1] किन्तु हिमवन्त स्थविरावली में उल्लेख किया गया है कि वीर नि० सं० २४४ में सम्प्रति को पाटलिपुत्र के सिंहासन पर विठला कर अशोक निधन को प्राप्त हुआ।[2] सम्प्रति केवल दो वर्ष ही पाटलिपुत्र में रहने के पश्चात् अपनी राजधानी उज्जयिनी ले गया और शेष ६ वर्ष तक वहीं राज्य करता रहा।[3] जिन शासन की अनेक प्रकार से महती प्रभावनाएं कर सम्प्रति वीर नि० सं० २६३ में दिवंगत हुआ।[4]

हिमवन्त स्थविरावली में सम्प्रति का शासनकाल ४६ वर्ष बताया गया है। वस्तुतः वीर नि० सं० १५५ में नन्दवंश के अंत और मौर्यवंश के अभ्युदय की मान्यता के आधार पर मौर्यशासन की संगति बैठाने के लिये ही इस प्रकार का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिमवन्त स्थविरावलीकार ने सम्प्रति के निधन का समय तो ठीक दिया है, पर उसके राज्यासीन होने का समय उल्लिखित करते समय उपरोक्त मान्यता के अनुसार मौर्यशासनकाल की संगति बैठाने में सम्प्रति का शासनकाल ११ वर्ष के स्थान पर बढ़ा कर ४६ वर्ष कर दिया है। वस्तुतः चन्द्रगुप्त मौर्य ने वीर नि० सं० २१५ में नन्दवंश का अन्त कर मौर्यशासन का सूत्रपात्र किया था। इस सम्बन्ध में पहले विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा चुका है। मौर्यशासन के समीचीनतया पर्यवेक्षण से सम्प्रति का शासनकाल वीर नि० सं० २८२-८३ से २६३ तक का ही ठीक बैठता है।

सम्प्रति के निधन के अनन्तर जैनाचार्यों ने पुण्यरथ और उसके पश्चात् वृहद्रथ – केवल इन दो मौर्यवंशी राजाओं का पाटलिपुत्र में शासन होने का उल्लेख किया है। घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से यहां ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् गृहकलह के कारण सम्प्रति को अपनी राजधानी

---

[1] दिनतो मम मोक्षस्य, गते वर्षशतत्रये।
उज्जयिन्यां महापुर्यां, भावी सम्प्रतिभूपतिः ॥१०७॥ [दीपालिकाकल्प]

[2] तमट्ठं सोच्चा असोअ णिवेणं कोहाक्कंतेणं तां णियभज्जं मारित्ता दोगच्चावरे वि अणेगे राजकुमारा मारिया। पच्छा कुणालपुत्तं संपइणामधिज्जं रज्जे ठावित्ता से णं असोअ णिवो वीराओ चत्तालीसाहिय दो सय वासेसु विइक्कंतेसु परलोअं पत्तो।
[हिमवन्त स्थविरावली]

[3] संपइ णिवोवि पाडलिपुत्तंमि णियाणुगमत्तुभयं मुणित्ता वासदुगंमि तत्था पुव्विं णिवसित्ता पुत्तिनद्धावंतीजणवयंमि ठिच्चो मुहंमुहेणं रज्जं कुणइ। [वही]

[4] अह वीराओ दोसयतेणउइ वासेसु विइक्कंतेसु जिणधम्माराहणपरो संपइ णिवो सग्गं पत्तो।
[वही]

पाटलिपुत्र से हटाकर अवन्ती (उज्जयिनी) स्थानान्तरित करनी पड़ी। अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र बौद्धों का सुदृढ़ केन्द्र बन चुका था। बहुत सम्भव है कि बौद्धधर्मावलम्बियों ने अशोक के द्वितीय पुत्र दशरथ को – जो कि बौद्ध-धर्मावलम्बी था – मगध के सिंहासन पर बिठाने का प्रबल प्रयत्न किया हो। और बौद्धों के प्राबल्य अथवा अन्य कारणों से सम्प्रति को अपने शासन के दो वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र का परित्याग कर कुणाल को कुमारभुक्ति में प्राप्त अवन्ती-राज्य की नगरी उज्जयिनी में अपनी राजधानी स्थापित करनी पड़ी हो।

पाटलिपुत्र से अवन्ती की ओर सम्प्रति के प्रस्थित होते ही अशोक के दूसरे पुत्र दशरथ ने पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर अधिकार कर लिया। और इस प्रकार मौर्य-राज्य दो भागों में विभक्त हो गया। पाटलिपुत्र में दशरथ का राज्य रहा और अवन्ति में सम्प्रति का। "संपइ णिवोवि पाडलिपुत्तंमि णियाणेगसत्तुभयं मुणित्ता, रायहाणिं तच्चा .... अवंतीणयरिम्मि ठिओ सुहंसुहेणं रज्जं कुणइ।" हिमवन्तस्थविरावली के इस पाठ से भी इस घटना की सत्यता सिद्ध होती है।

वीर नि० सं० २९३ में सम्प्रति की मृत्यु के पश्चात् संभव है पाटलिपुत्र के मौर्यवंशीय राजा दशरथ के पुत्र ने अवन्तिराज्य पर भी अधिकार कर लिया। संप्रति के निधन के पश्चात् जैन ग्रन्थों में पुण्यरथ और वृहद्रथ – इन दो मौर्य राजाओं का ही उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार जैन ग्रन्थों के उल्लेखानुसार चन्द्रगुप्त द्वारा प्राप्त की गई राजसत्ता (१) चन्द्रगुप्त, (२) बिन्दुसार, (३) अशोक, (४) कुणाल, (५) सम्प्रति, (६) पुण्यरथ और (७) वृहद्रथ इन सात पीढ़ियों तक ही रही। जबकि नन्द की राजकुमारी द्वारा चन्द्रगुप्त के रथ में एक पैर रखने के समय चन्द्रगुप्त के रथ के ९ आरों के टूटने पर चाणक्य के कथनानुसार चन्द्रगुप्त की ९ पीढ़ियों तक मौर्यवंश का राज्य रहना चाहिये। इससे यह प्रकट होता है कि सम्प्रति और वृहद्रथ के शासनकाल के बीच की अवधि में मौर्यसत्ता के पाटलिपुत्र और उज्जयिनी इन दो पृथक् स्थानों में, दो भागों में विभक्त होने तथा पुनः एक होने के कारण कहीं कुछ भ्रान्ति हो जाने के फलस्वरूप दो मौर्य राजाओं का उल्लेख करने में कहीं कोई त्रुटि रह गई हो।

सनातन परम्परा के पुराणग्रन्थों में चन्द्रगुप्त से लेकर वृहद्रथ तक ९ मौर्य राजाओं का उल्लेख किया गया है। भागवत्कार का एतद्विषयक उल्लेख सर्वाधिक स्पष्ट है। भागवत्कार ने एक के पश्चात् होने वाले निम्नलिखित ९ मौर्यवंशी राजाओं के नाम दिये हैं –

१. चन्द्रगुप्त, २. वारिसार, ३. अशोकवर्द्धन, ४. सुयशा, ५. संगत, ६. शालिशूक, ७. सोमशर्मा (सोमवर्मा), ८. शतधन्वा और ९. वृहद्रथ।[1]

---

[1] स एव चन्द्रगुप्तं वै, द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति।
तत्सुतो वारिसारस्तु, ततश्चाशोकवर्द्धनः ॥१३॥

भागवतकार ने उपरोक्त ९ नाम देने के पश्चात् लिखा है –

"मौर्या ह्येते दश नृपाः" ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णुपुराण में पांचवें मौर्य राजा का नाम दशरथ दिया है, जो कि सम्प्रति के उज्जयिनी चले जाने के अनन्तर पाटलिपुत्र का अधिपति बना। मत्स्यपुराण[1] में भी दशरथ के नाम सहित १० मौर्य राजाओं का उल्लेख है। संभव है उसी मान्यता को ध्यान में रखते हुए भागवतकार ने दश नाम न देकर भी १० की संख्या उल्लिखित कर दी हो। वायु पुराण में ९ मौर्य राजाओं के नाम दिये गये हैं।[2]

"९ पीढ़ियों तक तुम्हारा राज्य चलता रहेगा" – परिशिष्ट पर्वकार आचार्य हेमचन्द्र द्वारा चाणक्य के मुख से कहलवाये गये इस वाक्य की संगति तभी बैठती है, जबकि चन्द्रगुप्त से लेकर बृहद्रथ तक मौर्य राजाओं की संख्या ९ मानी जाय।

उपरिलिखित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर, पुराणकारों द्वारा उपरोक्त क्रम से दी गई मौर्य राजाओं की संख्या ९ ही उचित प्रतीत होती है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों द्वारा, इनमें से कतिपय राजाओं का नामभेद के साथ उल्लेख किया गया है, इसके पीछे यह कारण हो सकता है कि उन राजाओं को अपरनाम से भी सम्बोधित किया जाता रहा हो। उदाहरणस्वरूप 'कुणाल' और 'सम्प्रति', कम से कम ये दो नाम तो उन राजाओं के वास्तविक नाम न होकर प्यार के नाम ही हो सकते हैं।

इस प्रकार यदि आर्य बलिस्सह का वाचनाचार्यकाल वीर नि० सं० २४५ से ३२९ तक का अर्थात् ८४ वर्ष का माना जाय तो यह कहना होगा कि उनके आचार्यकाल में बिन्दुसार का १३ वर्ष और शेष ७ मौर्य राजाओं का ६५ वर्ष तक शासन रहा।

कलिंगपति महामेघवाहन खारवेल

कालिंगाधिपति महाराजा भिक्खुराय खारवेल का स्थान कलिंग के इतिहास में तो अनन्यतम है ही पर जैन इतिहास में भी उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जाता रहकर अमर रहेगा। अपने राज्य की अभिवृद्धि के लिये

सैनिक अभियान करने वाले राजाओं की गणना नहीं की जा सकती। ऐसे उदाहरणों से विश्व के इतिहास भरे पड़े हैं। किन्तु दूसरे राज्य के शक्तिशाली राजा द्वारा किये गये अत्याचारों से संत्रस्त स्वधर्मी प्रजा के त्राण के लिये युद्ध का खतरा उठाने के उदाहरण विरले ही दृष्टिगोचर होते हैं।

महाराजा खारवेल ने न केवल जैनधर्म और जैन संस्कृति के विकास के लिये अपना अमूल्य योगदान देकर कलिंग की कीर्ति में अभिवृद्धि की अपितु उन्होंने मगध राज्य की जैन प्रजा और निर्ग्रंथ श्रमणों पर पाशविक अत्याचार करने वाले मगधपति पुष्यमित्र शुंग (अपरनाम बृहस्पतिमित्र) पर दो बार आक्रमण कर उसे दण्डित एवं पराजित किया।[1]

विगत अनेकों सहस्राब्दियों के इतिहास में इस प्रकार का अन्य कोई उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे खारवेल के जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ प्रेम, अनुपम स्वधर्मीवात्सल्य, अद्भुत साहस और अप्रतिम वीरता, महानता आदि का स्पष्टतः परिचय प्राप्त होता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि धार्मिक, राजनैतिक एवं ऐतिहासिक आदि सभी दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण खारवेल जैसे महान् राजा का भारतीय ग्रन्थराशि में और विशेषतः जैन साहित्य में कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। कलिंग चक्रवर्ती खारवेल का यत्किंचित् परिचय हाथीगुंफा के शिलालेख एवं 'हिमवन्त-स्थविरावली' नामक एक छोटी सी हस्त-लिखित पुस्तिका से प्राप्त हुआ है।

हाथिगुंफा वाला खारवेल का शिलालेख उड़िसा प्रदेशान्तर्गत भुवनेश्वर तीर्थ के निकटस्थ कुमारगिरि (खण्डगिरि अथवा उदयगिरी) की एक चौड़ी गुफा के ऊपर खुदा हुआ है। हिमवन्त स्थविरावली में कलिंगपति खारवेल के सम्बन्ध में जो उल्लेख हैं, उनसे हाथीगुंफा के शिलालेख में उपलब्ध कतिपय विवरणों की न केवल पुष्टि ही होती है अपितु शिलालेख में उट्टंकित दो-तीन तथ्यों पर विशिष्ट प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के रूप में उपरोक्त शिलालेख और हिमवन्त स्थविरावली में उल्लिखित निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य हैं :-

(१) हाथीगुंफा के शिलालेख में खारवेल के वंश का परिचय देते हुए लिखा है :-

"चेतराजवसवधनेन" – अर्थात् चेत वंश का वर्धन करने वाले ने। शिलालेख के इस वाक्य के आधार पर कतिपय विद्वान् कलिंगपति खारवेल को चेदि वंश का, तो कतिपय विद्वान् चैत्रवंश का मानते हैं।

(२) हिमवन्त स्थविरावली में खारवेल को चेटवंशीय बताते हुए लिखा है कि कूणिक के साथ युद्ध में पराजित हो वैशाली गणराज्य के अधिपति महाराज चेटक के स्वर्गगमन के पश्चात् उनका शोभनराय नामक पुत्र अपने श्वसुर कलिंग-

---

[1] देखिये खारवेल के हाथीगुंफा वाले शिलालेख की पंक्ति संख्या ८ और १२। [सम्पादक]

पति सुलोचन के पास चला गया। सुलोचन के कोई पुत्र नहीं था अतः उसने अपने जामाता शोभनराय को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। तदनुसार सुलोचन की मृत्यु के पश्चात् शोभनराय कलिंग के सिंहासन पर बैठा। चेटक के पुत्र शोभनराय की दशवीं पीढ़ी में खारवेल हुआ।

इस प्रकार खारवेल के शिलालेख में विद्यमान 'चेतराजवसवधनेन' इस संदिग्ध वाक्यांश को हिमवन्त स्थविरावली में पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया है।

(३) हाथीगुंफा के शिलालेख में जायसवालजी के वाचन के अनुसार अंग-शास्त्रों के उद्धार से सम्बन्धित केवल इतना ही उल्लेख है कि – मौर्यकाल में विच्छिन्न हुए ६४ अध्याय वाले अंगसप्तिक का चौथा भाग फिर से तैयार करवाया।[1]

(४) हिमवन्त स्थविरावली में अंग-शास्त्रों के उद्धार के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख के साथ-साथ यह भी बताया गया है कि कुमारगिरि पर खारवेल द्वारा आयोजित उस चतुर्विध संघ के सम्मेलन में किन-किन श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों और श्राविकाओं ने भाग लिया। इसमें बताया गया है कि आर्य बलिस्सह आदि जिनकल्पियों की तुलना करने वाले २०० श्रमणों, आर्यसुस्थित आदि ३०० स्थविर-कल्पी साधुओं, आर्या पोइणी आदि ३०० श्रमणियों, भिक्षुराज, सीवंद, चूर्णक, सेलक आदि ७०० श्रावकों और पुर्णमित्रा (खारवेल की अग्रमहिषी) आदि ७०० श्राविकाओं ने कुमारगिरि पर हुए उस सम्मेलन में भाग लिया। भिक्खुराय की प्रार्थना पर उन स्थविर श्रमणों एवं श्रमणियों ने अवशिष्ट जिनप्रवचन को सर्वसम्मत स्वरूप में भोजपत्र, ताड़पत्र वल्कल आदि पर लिखा और इस प्रकार वे सुधर्मा द्वारा उपदिष्ट द्वादशांगी के रक्षक बने।[2]

हाथीगुंफा वाले खारवेल के शिलालेख में ऐसे किसी निश्चित संवत् का उल्लेख नहीं किया गया है जिससे कि खारवेल के सत्ताकाल का असंदिग्ध रूप से निर्णय किया जा सके। फिर भी उसमें कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया गया है, जिनसे खारवेल का सत्ताकाल निश्चित करने में बड़ी सहायता मिलती है।

खारवेल के उपरिचर्चित हाथीगुंफा वाले शिलालेख की सातवीं पंक्ति के अंत में तथा आठवीं पंक्ति में लिखा है कि खारवेल ने अपने राज्य के आठवें वर्ष में एक बहुत बड़ी सेना ले गोरथ गिरि को तोड़कर राजगृह नगर को घेर लिया। खारवेल की शौर्यगाथाओं के शंखनाद को सुनकर यवनराज डिमित-डिमिट्रियस

मथुरा का घेरा उठाकर अपने दल-बल सहित वापिस (अपने देश की ओर) लौट गया।[1]

शिलालेख की ये दोनों पंक्तियां ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं। यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि पुष्यमित्र वीर नि० सं० ३२३ में मौर्यवंश के अन्तिम राजा वृहद्रथ को मारकर मगध के राजसिंहासन पर बैठा। राज्यारोहण करते ही उसने बौद्धों और जैनों पर भयंकर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। बौद्धों की महायान शाखा के ग्रंथ 'दिव्यावदान' में पुष्यमित्र द्वारा किये गए अत्याचारों का बड़ा ही रोमांचक विवरण दिया गया है। उसमें लिखा है :–

'पुष्यमित्र ने राज्यासीन होते ही अपने मंत्रियों से पूछा कि किन कार्यों को करने से उसका नाम चिरस्थायी रह सकता है ? जब मंत्रियों ने उसे अशोक की तरह धर्मकार्य करने की सलाह दी, तो वह उसे रुचिकर नहीं लगी। एक ब्राह्मण द्वारा सुझाये गये उपाय के अनुसार उसने संघारामों, स्तूपों आदि को नष्ट करने का संकल्प किया और उसने अपने राज्य में यह घोषणा करवा दी कि जो कोई व्यक्ति उसे श्रमण का शिर लाकर देगा उसे वह प्रत्येक शिर के बदले में १०० स्वर्णमुद्राएं देगा।"[2]

तदनुसार पुष्यमित्र के राज्य में श्रमणों की हत्याएं की जाने लगीं। पुष्यमित्र ने स्वयं एक बड़ी सेना लेकर पाटलिपुत्र से श्यालकोट तक के संघारामों और बौद्ध स्तूपों को विध्वस्त कर दिया।

जैन ग्रन्थों में कल्कि द्वारा जैन श्रमणों पर किये गए अत्याचारों का जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह वस्तुतः पुष्यमित्र द्वारा किये गए अत्याचारों का ही विवरण प्रतीत होता है।

दिव्यावदान में पुष्यमित्र सम्बन्धी उल्लेखों के अध्ययन से यह अनायास ही प्रकट हो जाता है कि पुष्यमित्र को अपना नाम चिरस्थाई बनाने की बड़ी तीव्र उत्कण्ठा थी। अतः उसने मगध के सिंहासन पर आरूढ़ होते ही, अपने विश्वस्त परामर्शदाताओं के परामर्शानुसार बौद्धधर्म और जैन धर्म को जड़ से उखाड़ फैंकने के दृढ़ संकल्प के साथ जैनों और बौद्धों पर घोर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। जो अन्य धर्मावलम्बी पिछली कई शताब्दियों से राज्याश्रय से वंचित रहे, उन लोगों का निश्चित रूप से पुष्यमित्र को अपने धर्मान्धता के उस अभियान में पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ होगा। इस अनुमान को पतंजलि व्याकरण भाष्यकार के – 'पुष्यमित्रं याजयामः', इस वाक्य से पर्याप्त बल मिलता है। इतिहासकारों ने

---

[1] खारवेल का शिलालेख, पंक्ति ८

[2] यावत् पुष्यमित्रो यावत् संघारामं भिक्षूंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः स यावत् शाकलमनुप्राप्तः। तेनाभिहितं – यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।

[दिव्यावदान, अवदान २९]

पतंजलि का समय भी ईसा से २००–१७५ वर्ष पूर्व का तदनुसार वीर नि० सं० ३२७ – ३५२ के आसपास का माना है। यह समय पुष्यमित्र के राज्यकाल और बाद तक का है।

तदनुसार वीर नि० सं० ३२३ में पाटलिपुत्र के राजसिंहासन को हथियाते ही पुष्यमित्र ने बौद्धों और जैनों पर अत्याचार करने प्रारम्भ किये और इसकी सूचना प्राप्त होते ही खारवेल ने (अपने राज्य के ८वें वर्ष में) वीर नि० सं० ३२४ में पुष्यमित्र पर पहला आक्रमण किया। खारवेल ने अपने राज्य के बारहवें वर्ष में तदनुसार वीर नि० सं० ३२८ में दूसरी बार पुष्यमित्र को पराजित किया। इससे यह सिद्ध होता है कि खारवेल वीर नि० सं० ३१६ में कलिंग के राज्यसिंहासन पर बैठा।

हाथीगुंफा के शिलालेख में खारवेल के राज्यकाल के १३ वर्षों का ही विवरण दिया गया है। इस पर इतिहासज्ञों का यह अनुमान है कि संभवतः १३ वर्ष राज्य करने के पश्चात् खारवेल की मृत्यु हो गई हो।

इस प्रकार शिलालेख पर दिये गये विवरणों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वीर नि० सं० ३१६ से ३२९ तक खारवेल का सत्ताकाल सुनिश्चित रूप से रहा। हिमवन्त स्थविरावली में भी खारवेल के दिवंगत होने का समय वीर नि० सं० ३३० दिया हुआ है।[1]

हिमवन्तस्थविरावली में उल्लेख किया गया है कि खारवेल वीर नि० सं० ३०० में कलिंग के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। स्थविरावलीकार का यह कथन तथ्यों की कसौटी पर कसे जाने के अनन्तर खारवेल के हाथीगुंफा वाले शिलालेख के एतद्विषयक उल्लेख की तुलना में प्रामाणिक नहीं ठहरता। शिलालेख में उट्टंकित इस तथ्य से कि खारवेल ने अपने राज्य के ८ वें वर्ष में पुष्यमित्र पर पहला और १२ वें वर्ष में दूसरा आक्रमण किया – यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि वह वीर नि० सं० ३१६ में कलिंग के राजयसिंहासन पर बैठा। पुष्यमित्र ने ३२३ में मौर्यराज्य का अन्त कर पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन पर बैठते ही जब जैनों पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया तो खारवेल ने उसे राह पर लाने के लिए मगध पर अपने राज्य के ८ वें वर्ष में तदनुसार वीर नि० सं० ३२४ में पहला आक्रमण और वीर नि० सं० ३२८ में दूसरा आक्रमण किया, यह ऊपर बताया जा चुका है।

इतिहासविदों के अनुमान के अनुसार यदि इस बात को ठीक मान लिया जाय कि हाथीगुंफा के शिलालेख में खारवेल के राज्य के केवल तेरह वर्षों का ही विवरण दिया हुआ है, यह इस बात का द्योतक है कि उसके पश्चात् खारवेल की मृत्यु हो गई, तो उस दशा में हिमवन्त स्थविरावली में खारवेल के वीर नि० सं० ३३० में निधन को प्राप्त होने का उल्लेख करीब-करीब सही सिद्ध होता है।

---

[1] एसो णं जिणसासणपभावगो भिक्खुराय णिवो णेगे धम्मकयाणि किच्चा मुज्झाणोववेओ वीराओ णं तीसाहिय तिसय वासेसु विइक्कंतेसु सग्गं पत्तो। [हिमवन्त स्थविरावली]

तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं के साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि वस्तुत: खारवेल का जन्म वीर नि० सं० २९२ में, युवराजपद ३०७ में, राज्याभिषेक ३१६ में और निधन वीर नि० सं० ३२९ में हुआ था।

भिक्खुराय खारवेल का वंश

कलिंगपति भिक्खुराय खारवेल के सम्बन्ध में यद्यपि हाथीगुंफा के शिलालेख तथा हिमवन्त स्थविरावली में पर्याप्त उल्लेख विद्यमान हैं तथापि इस सम्बन्ध में विद्वान् अद्यावधि किसी निश्चित एवं सर्वमान्य निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। अतः खारवेल के वंश के सम्बन्ध में यहां थोड़ा प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

हिमवन्त स्थविरावली में भिक्खुराय को वैशाली गणराज्य के प्रमुख महाराजा चेटक के पुत्र शोभनराय का वंशज बताया गया है। हाथीगुंफा के शिलालेख में भिक्खुराय के वंश के सम्बन्ध में दो बार उल्लेख किया गया है। अर्हंतों एवं सिद्धों को नमस्कार के पश्चात् इस शिलालेख का पहला शब्द ऐरेन वस्तुतः भिक्खुराय के वंश के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाल देता है। इससे दो शब्द पश्चात् ही "चेतराजवसवधनेन" यह एक और शब्द देकर लेख की पहली पंक्ति में ही खारवेल के वंश का पूर्ण परिचय दे दिया गया है।

> रलयोः डलयोश्चैव, शषयोः ववयोस्तथा।
> वदन्त्येषां तु सावर्ण्यमलंकारविदो जनाः ॥

इस सर्वजनसुविदित सूक्ति के अनुसार ऐलेन शब्द को उपरोक्त प्रथम पंक्ति में 'ऐरेन' लिखा गया है जिसका सीधा सा अर्थ है – चन्द्रवंशी ने। पुराण-इतिहास के विज्ञ इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि चन्द्रपुत्र बुध और इला के संयोग से उत्पन्न हुए पुरुरवा से चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई।[1] पुराणों में चन्द्रवंश को सोमवंश और ऐलवंश के नाम से भी अभिहित किया गया है। इला का पुत्र होने के कारण पुरुरवा की ऐल नाम से भी प्रसिद्धि हुई। चन्द्रवंश की आगे चल कर अनेक शाखा-प्रशाखएं प्रसृत हुईं।

पुरुरवा के प्रतापी पुत्र का नाम ययाति था। ययाति के छोटे पुत्र यदु से यादव वंश चला, आगे चल कर यादव वंश की भी अनेक शाखाएं हुई। यदु के बड़े पुत्र सहस्रजित् के एक ही पुत्र था जिसका नाम था शतजित्। शतजित् के तीसरे और सबसे छोटे पुत्र हैहय से हैहयवंशी यादव क्षत्रियों की शाखा प्रचलित हुई। महाराज चेटक इसी हैहयवंशी शाखा के चन्द्रवंशी, सोमवंशी अथवा ऐलवंशी क्षत्रिय थे। उनके पुत्र शोभनराय ने कलिंग में अपने श्वसुर के पास शरण ली और उसकी मृत्यु के पश्चात् वे कलिंगपति बने। उन शोभनराय की वंशपरम्परा में ही भिक्खुराय हुआ, इसी कारण इसे शिलालेख में ऐल लिखा गया है।

---

[1] श्रीमद्भागवत, स्कंध ९, अ० १

ययाति के बड़े पुत्र अनु की वंश परम्परा में आगे चल कर हुए कलिंग नामक राजकुमार के नाम पर कलिंग का राजवंश और कलिंग राज्य चला।[१] इस दृष्टि से शोभनराय से पहले के राजा भी चन्द्रवंशी ही थे पर वे हैहय शाखा के नहीं, अपितु कलिंग शाखा के थे।

बार्हद्रथों के नाम से विख्यात चेदिवंश भी मूलतः चन्द्रवंश की ही शाखा होने के कारण क्षत्रियों की चेदि शाखा में उत्पन्न हुआ प्रत्येक व्यक्ति भी 'ऐल' के विशेषण से अभिहित किया जा सकता है। वस्तुतः चन्द्रवंशी राजा ययाति के परम पितृभक्त पुत्र पुरु से जो पौरवों का वंश चला, उसी से क्षत्रियों की चेदी शाखा निकली थी।[२] चेदि देश के अधिपति उपरिचर वसु की गणना पुरुवंश के पूर्व-पुरुषों में की गई है। वैदिक परम्परा के पुराणों तथा जैन परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में उपरिचर वसु को हरिवंश (चन्द्रवंश) का राजा बताया गया है।[३]

इस प्रकार कलिंग का राजवंश, चेदि राजवंश और हैहय-क्षत्रिय चेटक का वंश – ये तीनों ही राजवंश चन्द्रवंशी माने गये हैं, अतः इन्हें सोमवंशी और ऐलवंशी तथा हरिवंशी – इन नामों से भी अभिहित किया जा सकता है।

हाथीगुंफा के शिलालेख में प्रयुक्त 'ऐलेन' एवं 'चेतराजवसवधनेन' इन शब्दों के आधार पर निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि खारवेल उपरोक्त तीन राजवंशों में से किस वंश के थे। हिमवन्त स्थविरावली में इस गुत्थी को सुलझाते हुए स्पष्ट कर दिया गया है कि भिक्खुराय खारवेल चन्द्रवंशी हैहय क्षत्रिय चेटक के वंशधर थे।

इस शिलालेख की दूसरी पंक्ति में 'वेनाभिविजयो' शब्द को देख कर कुछ विद्वानों ने उत्तानपाद के वंश में उत्पन्न वेन के साथ खारवेल का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है, जो निराधार होने के कारण किसी भी दशा में मान्य नहीं हो सकता। शिलालेख में प्रयुक्त 'वेनाभिविजयो' शब्द के प्रयोग से भिक्खुराय खारवेल को गरुड़ की तरह प्रबल वेग से शत्रुओं पर आक्रमण कर विजय प्राप्त करने वाला बताया गया है।

खारवेल के शिलालेख का लेखनकाल

हाथीगुंफा वाले खारवेल के शिलालेख के सम्बन्ध में जहां तक हमारा खयाल है प्रायः सभी विद्वानों का यही अभिमत रहा है कि यह शिलालेख स्वयं खारवेल ने अपने जीवन-काल में ही उट्टंकित करवाया था पर वास्तविकता इससे कुछ भिन्न प्रतीत होती है।

इस लेख में प्रयुक्त शब्दों पर भाषाविज्ञान की दृष्टि से तथा इसमें चर्चित घटना पर ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह सिद्ध

---

१ श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० ३०, श्लोक ५

२ श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० २२, श्लोक ६

३ जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भा० १, पृ० १४८, १५०

हो जाता है कि यह शिलालेख खारवेल की मृत्यु के पचास वर्ष पश्चात् वीर नि० सं० ३७९, तदनुसार ई० पूर्व १४८ में लिखवाया गया। निम्नलिखित तथ्यों से इस बात की पुष्टि होती है :–

१. शिलालेख की १६वीं पंक्ति में लिखा है – "खेमराजा स वढराजा स भिखुराजा पसंतो अनुभवंतो कलाणानि" इस पंक्ति में खारवेल के लिये स शब्द का प्रयोग किया गया है, जो तत् शब्द का प्रथमा विभक्ति का एक वचन का रूप है। यह सर्वजनविदित है कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से तत् शब्द का प्रयोग देश अथवा काल से अन्तरित – दूरदर्शी व्यक्ति के लिये ही किया जाता है। भिक्खुराय के लिये यह 'स' शब्द का प्रयोग इस बात का संकेत करता है कि यह शिलालेख भिक्खुराय की विद्यमानता में अथवा जीवनकाल में नहीं लिखवाया गया। यदि यह शिलालेख भिक्खुराय के जीवनकाल में लिखवाया गया होता तो निश्चित रूप से उनके लिये 'स' के स्थान पर 'एष:' शब्द का प्रयोग किया जाता।

२. शिलालेख की १६वीं पंक्ति में ऊपर उद्धृत किये गये वाक्य से पहले निम्नलिखित वाक्य दिया हुआ है :–

"मुरियकाले वोछिने च चोयठिसतिकंतरिये उपादयति।"

इस वाक्य की संस्कृत छाया होगी – "मौर्यकाले व्युत्छिन्ने च चतुष्पष्टि-अग्रशतकांतरिते उत्पादयति।" इसका सीधा-सा अर्थ होता है – मौर्यकाल की समाप्ति के पश्चात् अर्थात् मौर्य सं० १६४ में उट्टंकित करवाया गया है।

जैसा कि प्रमाणपुरस्कार सिद्ध किया जा चुका है मौर्यकाल वीर नि० सं० २१५ में प्रारम्भ होकर १०८ वर्ष पश्चात् वीर नि० सं० ३२३, तदनुसार ई० पूर्व २०४ में समाप्त हो गया था। इस प्रकार मौर्य सं० १६४ अंतिम मौर्य राजा वृहद्रथ की मृत्यु के ५६ वर्ष पश्चात् वीर नि० सं० ३७९ तदनुसार ई० पूर्व १४८ में आता है। ऊपर यह बताया जा चुका है कि भिक्खुराय खारवेल का सत्ताकाल वीर नि० सं० ३१६ से ३२९ तदनुसार २११ से १९८ ई० पूर्व तक रहा।

शिलालेख की १६वीं पंक्ति के उपर्युल्लिखित वाक्य को श्री के. पी. जायसवालजी ने निम्नलिखित रूप में पढ़ा है –

"मुरियकालवोछिनं च चोयठि–अंग–सतिकं तुरियं उपादयति।"

उन्होंने इसका अर्थ किया है – "मौर्यकाल में नष्ट हुए ६४ अध्याय वाले "अंगसप्तिक" के चौथे भाग को संकलित करवाया।

किन्तु उपरोक्त पंक्ति में वैडूर्य के स्तंभों के प्रतिस्थापित किये जाने के उल्लेख के साथ-साथ 'उपादयति' का पाठ स्पष्टतः यही प्रकट करता है कि अमुक समय में हाथीगुंफा के इस लेख को उत्कीर्ण करवाया गया। यदि अंगशास्त्रों अथवा अंगतुल्य किसी ग्रन्थ के उद्धार का उल्लेख इस पंक्ति के द्वारा अभिहित होता तो निश्चित रूप से स्तंभ आदि की प्रतिष्ठापना की तुलना में इस महान् कार्य को अत्यधिक महत्व दिया जाकर उल्लेख में प्राथमिकता दी जाती।

३. खारवेल के उपरोक्त शिलालेख में एक ऐसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख विद्यमान है, जो खारवेल की मृत्यु के २८ वर्ष पश्चात् घटित हुई। इस शिलालेख की आठवीं पंक्ति में यूनानी आक्रामक यवनराज डिमित के दलबल सहित पलायन करने (संभवतः बैक्ट्रिया लौट जाने) का उल्लेख किया गया है। वह पंक्ति इस प्रकार है :–

....। अठमे च वसे महता सेना .... गोरथगिरिं (७वीं पंक्ति) घातापयिता राजगहं उपपीड़ापयति (।) एतिनं च कंमापदान – संनादेन संवित सेन – वाहनो विपमुंचितु मधुरं अपयातो यवनराज डिमित...... (पंक्ति ८)

इस पंक्ति में स्पष्ट रूप से यही दर्शाया गया है कि कलिंगपति खारवेल द्वारा राजगृह पर किये गये प्रचण्ड आक्रमण की बात सुनकर यवनपति डिमित (डिमिट्रियस) हिन्दुस्तान छोड़कर अपने देश बैक्ट्रिया की ओर लौट गया।

यूनानी आक्रान्ता डिमिट्रियस द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण का उल्लेख पुष्यमित्र के पुरोहित एवं अग्निमित्र के राज्यकाल में भी विद्यमान व्याकरण भाष्यकार पतंजलि ने पाणिनी व्याकरण के सूत्र "अनद्यतने लङ्" के उदाहरण में "अरुणद्यवनः साकेतम्," "अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्" – इन दो वाक्यों के द्वारा किया है।

गार्गी संहिता के युगपुराण प्रकरण में पांचाल, मथुरा, पाटलिपुत्र एवं मध्यदेश पर यवन आक्रमण का उल्लेख किया गया है।[1] भीषण गृह कलह के कारण उस यवन आक्रान्ता के स्वदेश लौटने का भी गार्गीसंहिता में उल्लेख किया गया है।[2] यूनानी इतिहासकारों ने भी मिडिट्रियस के सम्बन्ध में लिखा है कि जिस समय वह भारतविजय के अपने अभियान में उलझा हुआ था, उस समय उसके प्रतिद्वन्द्वी ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया और इस सूचना के मिलते ही डिमिट्रियस भारत से दलबल सहित स्वदेश – वैक्ट्रिया लौट गया। गार्गी-संहिता और ग्रीक इतिहासकारों के उल्लेख एक दूसरे की पुष्टि करते हैं।

यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि पुष्यमित्र का शासन ईसा पूर्व २०४ से ईसा पूर्व १७४ तक अर्थात् वीर नि० सं० ३२३ से ३५३ तक रहा। यूनानी इतिहासकार डिमिट्रियस के वैक्ट्रिया लौटने की घटना को ईसा पूर्व १७५ की मानते हैं। खारवेल का समय २११ से १९८ ईसा पूर्व का तदनुसार वीर नि० सं० ३१६ से ३२९ का रहा है। इस प्रकार डिमिट्रियस के भारत से स्वदेश लौटने की घटना खारवेल की मृत्यु के २३ वर्ष पश्चात् घटित हुई। यह एक ही तथ्य इस

---

[1] ततः साकेतमाक्राम्य, पांचालान्मथुरां तथा।
यवनाः दुष्टविक्रान्ताः, प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्॥
[गार्गीसंहिता, युगपुराण प्रकरण]

[2] मध्यदेशे न स्थास्यन्ति, यवनाः युद्धदुर्मदाः।
आत्मचक्रोत्थितं घोरं, युद्धं परमदारुणम्॥ [वही]

वात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि हाथीगुंफा का शिलालेख खारवेल के जीवनकाल में नहीं अपितु काफी समय पश्चात् लिखा गया है।

पुष्यमित्र शुंग

भिक्खुराय खारवेल द्वारा आयोजित संघ-सम्मेलन में आर्य बलिस्सह की उपस्थिति विषयक हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेख को दृष्टिगत रखते हुए विचार किया जाय तो आर्य बलिस्सह के आचार्यकाल में पुष्यमित्र शुंग का भी राज्यकाल रहा।

खारवेल के परिचय में यह तो बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ३२३ में अन्तिम मौर्य-राजा वृहद्रथ की हत्या कर पुष्यमित्र पाटलिपुत्र के राज-सिंहासन पर बैठा। पुष्यमित्र ब्राह्मण था, क्षत्रिय था अथवा किसी इतर जाति का इस सम्बन्ध में विभिन्न अभिमत उपलब्ध होते हैं।

बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान में पुष्यमित्र को केवल क्षत्रिय ही नहीं अपितु अशोक का, वंशज बताया गया है।[1] श्रीमद्भागवत,[2] वायुपुराण[3], मत्स्यपुराण[4] और हिमवन्त स्थविरावली[5] में पुष्यमित्र को वृहद्रथ का सेनापति बताया गया है। पर इनमें से किसी ग्रंथ में पुष्यमित्र की जाति के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इतिहास और पुरातत्व के प्रसिद्ध विद्वान् श्री के० पी० जायसवाल ने पुष्यमित्र को ब्राह्मण जाति का बताते हुए अपनी "कलिंग-चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण" – नामक पुस्तिका में लिखा है – "वहसतिमित्त की रिश्तेदारी अहिच्छत्र के राजाओं से थी, जो ब्राह्मण थे, यह कोसम-पभोसा के शिलालेख से साबित है।"

पतंजलि के व्याकरण भाष्य, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों, बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान और हिमवन्त स्थविरावली आदि में अन्तिम मौर्य राजा वृहद्रथ को मार कर मगध के सिंहासन पर आसीन होने वाले इस शुंगराज का नाम पुष्यमित्र लिखा है पर खारवेल के हाथीगुंफा वाले शिलालेख में मगधपति का

---

[1] पुण्यधर्मणः पुष्यमित्रः, सोऽमात्यानामंत्रयते कः उपायः स्याद् यदस्माकं नाम चिरं तिष्ठते। तैरभिहितं देवस्य च वंशादशोको नाम्ना राजा वभूवेति, तेन चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्रं प्रतिष्ठापितं.........देवोऽपि चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्रं प्रतिष्ठापयतु।
[दिव्यावदान, अवदान २९]

[2] हत्वा वृहद्रथं मौर्य, तस्य सेनापतिः कलौ।
पुष्यमित्रस्तु शुंगाह्वः, स्वयं राज्यं करिष्यति॥ [श्रीमद्भागवत, स्कंध १२, अ० १]

[3] पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स वृहद्रथम्। [वायु पु०, अनुषंगपादसमाप्ति]

[4] पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स वृहद्रथान्।
कारयिष्यति वै राज्यं, षट्त्रिंशति समा नृपः। [मत्स्य पु०, अ० २७१]

[5] तं वि सुगय धम्माणुगं वुड्ढरहं णिवं मारित्ता तस्स सेणाहिवइ पुप्फमित्तो......पाडलिपुत्त रज्जे ठिओ। [हिमवन्त स्थविरावली अप्रकाशित]

३. खारवेल के उपरोक्त शिलालेख में एक ऐसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख विद्यमान है, जो खारवेल की मृत्यु के २८ वर्ष पश्चात् घटित हुई। इस शिलालेख की आठवीं पंक्ति में यूनानी आक्रामक यवनराज डिमित के दलबल सहित पलायन करने (संभवतः वैक्ट्रिया लौट जाने) का उल्लेख किया गया है। वह पंक्ति इस प्रकार है :–

....। अठमे च वसे महता सेना .... गोरथगिरिं (७वीं पंक्ति) घातापयिता राजगहं उपपीड़ापयति (।) एतिनं च कंमापदान – संनादेन संवित सेन – वाहनो विपमुंचितु मधुरं अपयातो यवनराज डिमित...... (पंक्ति ८)

इस पंक्ति में स्पष्ट रूप से यही दर्शाया गया है कि कलिंगपति खारवेल द्वारा राजगृह पर किये गये प्रचण्ड आक्रमण की बात सुनकर यवनपति डिमित (डिमिट्रियस) हिन्दुस्तान छोड़कर अपने देश बैक्ट्रिया की ओर लौट गया।

यूनानी आक्रान्ता डिमिट्रियस द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण का उल्लेख पुष्यमित्र के पुरोहित एवं अग्निमित्र के राज्यकाल में भी विद्यमान व्याकरण भाष्यकार पतंजलि ने पाणिनी व्याकरण के सूत्र "अनद्यतने लङ्" के उदाहरण में "अरुणद्यवनः साकेतम्," "अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्" – इन दो वाक्यों के द्वारा किया है।

गार्गी संहिता के युगपुराण प्रकरण में पांचाल, मथुरा, पाटलिपुत्र एवं मध्यदेश पर यवन आक्रमण का उल्लेख किया गया है।[1] भीषण गृह कलह के कारण उस यवन आक्रान्ता के स्वदेश लौटने का भी गार्गीसंहिता में उल्लेख किया गया है।[2] यूनानी इतिहासकारों ने भी मिडिट्रियस के सम्बन्ध में लिखा है कि जिस समय वह भारतविजय के अपने अभियान में उलझा हुआ था, उस समय उसके प्रतिद्वन्द्वी ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया और इस सूचना के मिलते ही डिमिट्रियस भारत से दलबल सहित स्वदेश – बैक्ट्रिया लौट गया। गार्गी-संहिता और ग्रीक इतिहासकारों के उल्लेख एक दूसरे की पुष्टि करते हैं।

यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि पुष्यमित्र का शासन ईसा पूर्व २०४ से ईसा पूर्व १७४ तक अर्थात् वीर नि० सं० ३२३ से ३५३ तक रहा। यूनानी इतिहासकार डिमिट्रियस के वैक्ट्रिया लौटने की घटना को ईसा पूर्व १७५ की मानते हैं। खारवेल का समय २११ से १६८ ईसा पूर्व का तदनुसार वीर नि० सं० ३१६ से ३२६ का रहा है। इस प्रकार डिमिट्रियस के भारत से स्वदेश लौटने की घटना खारवेल की मृत्यु के २३ वर्ष पश्चात् घटित हुई। यह एक ही तथ्य इस

---

[1] ततः साकेतमाक्राम्य, पांचालान्मथुरां तथा।
यवनाः दुष्टविक्रान्ताः, प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्॥
[गार्गीसंहिता, युगपुराण प्रकरण]

[2] मध्यदेशे न स्थास्यन्ति, यवनाः युद्धदुर्मदाः।
आत्मचक्रोत्थितं घोरं, युद्धं परमदारुणम्॥ [वही]

बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि हाथीगुंफा का शिलालेख खारवेल के जीवनकाल में नहीं अपितु काफी समय पश्चात् लिखा गया है।

पुष्यमित्र शुंग

भिक्खुराय खारवेल द्वारा आयोजित संघ-सम्मेलन में आर्य बलिस्सह की उपस्थिति विषयक हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेख को दृष्टिगत रखते हुए विचार किया जाय तो आर्य बलिस्सह के आचार्यकाल में पुष्यमित्र शुंग का भी राज्यकाल रहा।

खारवेल के परिचय में यह तो बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ३२३ में अन्तिम मौर्य-राजा वृहद्रथ की हत्या कर पुष्यमित्र पाटलिपुत्र के राज-सिंहासन पर बैठा। पुष्यमित्र ब्राह्मण था, क्षत्रिय था अथवा किसी इतर जाति का इस सम्बन्ध में विभिन्न अभिमत उपलब्ध होते हैं।

बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान में पुष्यमित्र को केवल क्षत्रिय ही नहीं अपितु अशोक का, वंशज बताया गया है।[१] श्रीमद्भागवत,[२] वायुपुराण[३], मत्स्यपुराण[४] और हिमवन्त स्थविरावली[५] में पुष्यमित्र को वृहद्रथ का सेनापति बताया गया है। पर इनमें से किसी ग्रंथ में पुष्यमित्र की जाति के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इतिहास और पुरातत्व के प्रसिद्ध विद्वान् श्री के० पी० जायसवाल ने पुष्यमित्र को ब्राह्मण जाति का बताते हुए अपनी "कलिंग-चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण"—नामक पुस्तिका में लिखा है—"बहसतिमित्त की रिश्तेदारी अहिच्छत्र के राजाओं से थी, जो ब्राह्मण थे, यह कोसम-पभोसा के शिलालेख से साबित है।"

पतंजलि के व्याकरण भाष्य, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों, बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान और हिमवन्त स्थविरावली आदि में अन्तिम मौर्य राजा वृहद्रथ को मार कर मगध के सिंहासन पर आसीन होने वाले इस शुंगराज का नाम पुष्यमित्र लिखा है पर खारवेल के हाथीगुंफा वाले शिलालेख में मगधपति का

---

[१] पुण्यधर्मणः पुष्यमित्रः, सोऽमात्यानामंत्रयते कः उपायः स्याद् यदस्माकं नाम चिरं तिष्ठते। तैरभिहितं देवस्य च वंशादशोको नाम्ना राजा बभूवेति, तेन चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्रं प्रतिष्ठापितं..........देवोऽपि चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्रं प्रतिष्ठापयतु।
[दिव्यावदान, अवदान २९]

[२] हत्वा वृहद्रथं मौर्यं, तस्य सेनापतिः कलौ।
पुष्यमित्रस्तु शुंगाह्वः, स्वयं राज्यं करिष्यति॥ [श्रीमद्भागवत, स्कंध १२, अ० १]

[३] पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स वृहद्रथम्। [वायु पु०, अनुषंगपादसमाप्ति]

[४] पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स वृहद्रथान्।
कारयिष्यति वै राज्यं, षट्त्रिंशति समा नृपः। [मत्स्य पु०, अ० २७१]

[५] तं वि सुगय धम्माणुगं वुड्डरहं णिवं मारित्ता तस्स सेणाहिवइ पुप्फमित्तो......पाडलिपुत्त रज्जे ठिओ। [हिमवन्त स्थविरावली अप्रकाशित]

नाम वहसतिमित्त (बृहस्पतिमित्र) दिया हुआ है। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् श्री जायसवाल ने अपनी उपर्युल्लिखित पुस्तक में लिखा है – "मैंने पुष्यमित्र (जो शुंग वंश के ब्राह्मण थे) और बृहस्पतिमित्र का एक होना बतलाया है। पुष्य नक्षत्र का बृहस्पति मालिक है। इस एकता को योरप के नामी ऐतिहासिकों ने मान लिया है।"

हिमवन्त स्थविरावली में भी स्पष्ट उल्लेख है कि खारवेल ने मगधपति पुष्यमित्र को युद्ध में पराजित कर अपना आज्ञानुवर्ती बनाया।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि पुष्यमित्र और बृहस्पतिमित्र ये दोनों नाम एक ही राजा के नाम हैं।

पुष्यमित्र का ही अपर नाम बृहस्पतिमित्र था, इस तथ्य की पुष्टि पुराणों के उल्लेखों एवं प्राचीन सिक्कों से भी होती है। श्रीमद्भागवत में पुष्यमित्र के पुत्र का नाम अग्निमित्र बताया गया है, जो कि भारत का एक बड़ा ही शक्तिशाली राजा हुआ है। इन दोनों पिता-पुत्र के जो सिक्के उपलब्ध हुए हैं, वे परस्पर एक दूसरे से पर्याप्त साम्यता रखते हैं। बृहस्पतिमित्र के सिक्के की तरह ठीक उसी आकार-प्रकार तथा कोटि का अग्निमित्र का भी सिक्का मिलता है। पुरातत्वविदों का अभिमत है कि अग्निमित्र के सिक्के बृहस्पतिमित्र के सिक्कों की अपेक्षा कुछ पश्चाद्वर्ती काल के हैं। पुराणों द्वारा पुष्यमित्र के पुत्र का नाम अग्निमित्र उल्लिखित किया जाना और बहसतिमित्त (बृहस्पतिमित्र) तथा अग्निमित्र के सिक्कों में पर्याप्त साम्य होना इस बात का प्रमाण है कि पुष्यमित्र का अपर नाम बृहस्पतिमित्र भी था।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि पुष्यमित्र का शासनकाल मगधराज्य में जैनों तथा बौद्धों के अपकर्ष का और वैदिक कर्मकाण्ड के उत्कर्ष का काल रहा। सम्भवतः कलिंगपति खारवेल की मृत्यु के पश्चात् पुष्यमित्र ने जैनों और बौद्धों के प्रति अपना कड़ा रुख और कड़ा कर लिया होगा। दक्षिण में जैन धर्म के प्रबल प्रचार-प्रसार के पीछे पुष्यमित्र का जैनों के प्रति कड़ा रुख भी प्रमुख कारण अनुमानित किया जा सकता है। संभव है पुष्यमित्र द्वारा किये गये अत्याचारों ने उन्हें मगध छोड़ने के लिये बाध्य किया हो और फलतः उन्होंने दक्षिण को अपना कार्य-क्षेत्र चुना हो।

उपरोक्त घटनाक्रम के सन्दर्भ में विचार करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्य-काल में जहां जैन धर्म को सम्प्रति जैसे धर्मनिष्ठ एवं परम भक्त प्रभावक राजा के राज्यकाल में प्रचार-प्रसार की पूर्ण सुविधा प्राप्त हुई, वहां पुष्यमित्र जैसे जैनों से विद्वेष रखने वाले राजा के राज्य में घोर संकटापन्न दौर में से गुजरना पड़ा।

---

[1] एसो णं भिक्खुरायो अईव परक्कमजुओ गयाइसेणाक्कंतमहियलमंडलो मगहाहिवं पुप्फमित्तं णिवं अहिणिक्खित्ता णियाणम्मि ठाइत्ता.......... [हिमवन्त स्थविरावली]

वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह के समसामयिक युगप्रधानाचार्य आर्य गुण-सुन्दर का युगप्रधानाचार्यकाल वीर नि० सं० २९१ से ३३५ तक और आर्य सुहस्ती की परम्परा के गणाचार्य आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध का गणाचार्यकाल वीर नि० सं० २९१ से ३३९ तक रहा, यह ऊपर बताया जा चुका है। आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्यकाल में ही इन दोनों आचार्यों के अधिकांश आचार्यकाल का समावेश हो जाता है अतः इनके समय के राजवंशों के सम्बन्ध में पृथकतः उल्लेख करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इनके आचार्यकाल के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना अवशिष्ट रह जाता है कि आर्य बलिस्सह एवं कलिंगाधिपति खारवेल के दिवंगत होने के पश्चात् इन दोनों आचार्यों के आचार्य-काल में मगध के जैनधर्मावलम्बियों को जैनों के प्रवल विरोधी पुष्यमित्र के राज्यकाल में अनेकों बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

१२. आर्य स्वाति

आचार्य बलिस्सह के पश्चात् आर्य स्वाति आचार्य हुए। नंदीसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य स्वाति का जन्म हारीत गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था।[१] आर्य बलिस्सह के त्यागपूर्ण उपदेश सुन कर आपको संसार से विरक्ति हो गई और आपने तरुण वय में संसार के सब प्रपंचों का परित्याग कर आचार्य श्री के चरणों में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होने के पश्चात् आर्य स्वाति ने गुरु की सेवा में रहते हुए बड़ी निष्ठा एवं लगन के साथ क्रमशः एकादशांगी और १० पूर्वों का सम्यक्रूपेण अध्ययन किया। विशेष परिचय के अभाव में आप द्वारा किये गये शासन-सेवा के कार्यों का परिचय नहीं दिया जा सकता।

तपागच्छ पट्टावली में यह संभावना अभिव्यक्त की गई है कि इन्हीं आर्य स्वाति के द्वारा तत्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों की रचना की गई[२] परन्तु इतिहासज्ञ विद्वानों का इस विषय में मतभेद है।

इतिहास लेखकों ने आर्य स्वाति से वाचक उमास्वाति को भिन्न माना है। उनके अनुसार उमास्वाति उच्चनागर शाखा के विद्वान् आचार्य माने गये हैं। इसके अतिरिक्त उमास्वाति का काल विक्रमीय तीसरी शताब्दी माना गया है। संभव है नामसाम्य के कारण पट्टावलीकार ने दोनों को एक मान लिया हो।

वीर नि० सं० ३३६ (३३५) में आप स्वर्गस्थ हुए।

हिमवन्त स्थविरावली आदि प्राचीन गिने जाने वाले ग्रन्थों में इन आर्य स्वाति के द्वारा तत्वार्थसूत्र के प्रणयन का उल्लेख नितान्त निराधार तो नहीं माना जा सकता। ऐसा अनुमान किया जाता है कि संभवतः इन आर्य स्वाति के

---

[१] हारियगोत्तं साइं च······　　[नंदीसूत्र]

[२] वलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः तत्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव संभाव्यन्ते।
[पट्टावली समुच्चय, पृ० ४६]

द्वारा प्राकृत भाषा में सर्वप्रथम तत्वार्थसूत्र के संक्षिप्त मूलस्वरूप का प्रणयन किया गया हो। हिमवन्तस्थविरावली के उल्लेखों से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि आर्य बलिस्सह के समय से अंगविद्या के ग्रंथों के पृथकतः प्रणयन की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति तत्वजिज्ञासुओं में काफी लोकप्रिय रही और उनकी प्रार्थना पर अथवा स्वतः भव्यजनहितार्थ आगमों से तत्वज्ञान को उद्धृत कर सरल एवं सुबोध्य प्राकृत शैली में तत्वार्थसूत्र की रचना की हो। कालान्तर में उसी तत्वार्थसूत्र को उमास्वाति ने परिवर्द्धित कर संस्कृत भाषा में प्रस्तुत किया हो। वस्तुतः तत्वार्थसूत्र की रचना आर्यस्वाति ने की अथवा उमास्वाति ने, यह प्रश्न पर्याप्त शोध की अपेक्षा रखता है। केवल नामसाम्य की युक्ति देकर इसे टाल देना उचित नहीं।

आर्य स्वाति का आचार्यकाल कब प्रारम्भ हुआ, इस सम्बन्ध में किसी निश्चित काल का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। फिर भी आर्य बलिस्सह के परिचय में दिये गये उनके स्वर्गारोहण के अनुमानित काल के आधार पर यह खयाल किया जाता है कि वीर नि० सं० ३२९ में आर्य स्वाति वाचनाचार्य पद पर नियुक्त किये गये।

इस प्रकार आर्य स्वाति का वाचनाचार्यकाल वीर नि० सं० ३२९ से ३३५ तक रहा। आपके वाचनाचार्य काल में आर्य गुणसुन्दर युगप्रधानाचार्य और सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध गणाचार्य रहे।

१३. श्यामाचार्य (कालकाचार्य) वाचनाचार्य

नन्दी सूत्र की स्थविरावली में वाचनाचार्य स्वाति के पश्चात् उन्हीं के शिष्य आर्य श्यामाचार्य को वाचनाचार्य माना गया है। प्रभावक चरित्र तथा कालकाचार्य-प्रबन्ध में श्यामाचार्य को आचार्य गुणाकर के पश्चात् युगप्रधानाचार्य बताया गया है। यही पहले कालकाचार्य हैं। इस प्रकार आर्य श्यामाचार्य वाचक-वंश और युगप्रधान-परम्परा – दोनों के आचार्य माने गये हैं।

श्यामाचार्य का जन्म वीर नि० सं० २८० में हुआ। आपने वीर नि० सं० ३०० में २० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। ३५ वर्ष तक श्रमणधर्म की साधना के पश्चात् वीर नि० सं० ३३५ में आपको वाचनाचार्य और युगप्रधान पद प्रदान किया गया। ४१ वर्ष तक वाचनाचार्य एवं युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए आपने जिनशासन की महती सेवा और प्रभावना की। वीर नि० सं० ३७६ में आपने ९६ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

श्यामाचार्य अपने समय के, द्रव्यानुयोग के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्हीं श्यामाचार्य को निगोदव्याख्याता प्रथम कालकाचार्य माना गया है। इस सम्बन्ध

---

[1] बलिस्सह शिष्याः स्वात्याचार्याः श्रुतसागरपारगास्तत्वार्थसूत्राख्यं शास्त्रं विहितवन्तः। तेषां शिष्यैरार्यश्यामैः प्रज्ञापना प्ररूपिता। [हिमवन्त स्थविरावली]

में विचारश्रेणी में एक उल्लेख मिलता है—"एक समय महाविदेह क्षेत्र में सीमंधरस्वामी निगोद की व्याख्या फरमा रहे थे। उसे सुनने के पश्चात् सौधर्मेन्द्र ने सीमंधर प्रभु से प्रश्न किया—"भवगन्! क्या भरतक्षेत्र में भी इस प्रकार निगोद का वर्णन करने वाला कोई श्रुतधर आचार्य आज विद्यमान है?"

उत्तर में भगवान् ने फरमाया—"हां, भरतक्षेत्र में आर्य श्यामाचार्य द्रव्यानुयोग के विशिष्ट ज्ञाता हैं। वे श्रुतबल से निगोद का भी यथार्थ स्वरूप बता सकते हैं।"

सौधर्मेन्द्र को यह सुन कर तीव्र उत्कण्ठा हुई और वह भरतक्षेत्र में श्यामाचार्य को वन्दन करने पहुँचा। उसने आचार्यश्री से निगोद का स्वरूप पूछा और उनके मुख से यथार्थ स्वरूप सुनकर सौधर्मेन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ। आचार्य को वन्दन करने के पश्चात् लौटते समय सौधर्मेन्द्र ने आर्य श्याम के शिष्यों को अपने आगमन से अवगत कराने के लिए चिन्हस्वरूप उपाश्रय का द्वार दूसरी दिशा की ओर मोड़ दिया।[1]

यही श्यामाचार्य पन्नवणा सूत्र के रचयिता भी हैं। यह सूत्र आज भी ३६ पदों अर्थात् प्रकरणों में विद्यमान है। जीवाजीवादि समस्त पदार्थों के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से इस शास्त्र को तत्वज्ञान का अनुपम भण्डार कहा जा सकता है। जैनदर्शन के गहन तत्वज्ञान को समझने में इस सूत्र का अध्ययन बड़ा सहायक माना गया है।

प्रज्ञापना सूत्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण के पश्चात् दो वन्दनपरक गाथाओं द्वारा आर्य श्याम को वन्दन किया गया है। टीकाकार द्वारा इन्हें अन्यकर्तृक बताया गया है। वस्तुतः ये हैं भी अन्यकर्तृक ही। उन गाथाओं में श्यामाचार्य की स्तुति करते हुए कहा गया है—"वाचकवंश के २३ वें धीरपुरुष, जो दुर्धर पूर्वश्रुत को धारण करने वाले हैं तथा जिन्होंने शिष्यगण के हितार्थ अथाह श्रुतसागर से उद्धरण कर उत्तम श्रुतरत्न प्रदान किया है, उन आर्य श्यामाचार्य को प्रणाम हो।"[2]

आर्य श्याम को कालकाचार्य (प्रथम) के नाम से भी अभिहित किया जाता है। ऐतिहासिक घटनाओं के पर्यवेक्षण से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि पृथक्-पृथक् समय में कालकाचार्य नाम वाले ४ आचार्य हुए हैं। शेष तीनों कालकाचार्यों का परिचय यथास्थान आगे दिया जायगा।

---

[1] सिरिवीरजिणिंदाओ वरिससया तिन्नि वीस (३२०) अहियाओ।
कालयसूरी जाओ, सक्को पडिबोहिओ जेण॥ [विचारश्रेणिपरिशिष्टम्]

[2] वायगवरवंसाओ, तेवीसइमेण धीरपुरिसेणं।
दुद्धरधरेण मुणिणा, पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीणं॥३॥
सुयसागरा विणेऊण, जेणं सुयरयणमुत्तमं दिन्नं।
सीसगणस्स भगवओ, तस्स नमो अज्ज सामस्स॥४॥
[पन्नवणा, (रायधनपतसिंह) पत्र ४ (?)]

इतिहास के विशेषज्ञ मुनि कल्याणविजयजी ने भी आर्य श्याम को ही प्रथम कालकाचार्य माना है। "रत्नसंचयप्रकरण" के एतद्विषयक उल्लेख पर टिप्पण करते हुए मुनिजी ने लिखा है – "जहां तक हमने देखा है श्यामाचार्य नामक प्रथम कालकाचार्य का सत्ताकाल सर्वत्र, निर्वाण सं० २८० में जन्म, ३०० में दीक्षा, ३३५ में युगप्रधानपद और ३७६ में स्वर्गगमन लिखा है।"

पन्नवणा सूत्र के प्रारम्भ में आर्य श्याम की स्तुतिपरक उपरोक्त दो गाथाओं में श्यामाचार्य को वाचकवंश का २३ वां पुरुष बताया गया है पर पट्टक्रमानुसार यह संख्या मेल नहीं खाती। क्योंकि आर्य सुधर्मा से आर्य श्याम पट्टपरम्परा में १३ वें आचार्य होते हैं।

विचारश्रेणी में इस समस्या का समाधान करते हुए बताया गया है कि वाचकवंश में गणधरों को सम्मिलित कर आर्य श्याम को तेबीसवां वाचक समझना चाहिए। टीकाकार ने भी – "वाचकाः पूर्वविदः" इस पद से वाचक का अर्थ पूर्वविद् किया है। उन गाथाओं में स्तुतिकार ने गणधरों की भी वाचकों में गणना करते हुए श्यामार्य को २३ वां वाचक बताया है।[1] आचार्य मेरुतुंग का यह कथन शतप्रतिशत युक्तिसंगत है। वस्तुतः गणधरों की जीवनचर्या में एक तरह से आगमवाचना देने का प्राधान्य रहता है। इस दृष्टि से यदि इन्द्रभूति आदि गणधरों को वाचक कहा जाय तो इसमें अनौचित्य के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। इस दृष्टिकोण से पन्नवणा के प्रारम्भ में मंगलाचरण के पश्चात् दो गाथाओं में स्तुतिकार द्वारा आर्य श्याम को वाचकवंश का २३ वां धीर पुरुष बताना संगत ही है।

१२ वें युगप्रधानाचार्य आर्य श्याम

वाचनाचार्य आर्य श्याम के परिचय में ऊपर यह बताया जा चुका है कि कि आर्य स्वाति के पश्चात् १३ वें वाचनाचार्य के पद पर तथा आर्य गुणसुन्दर के पश्चात् १२ वें युगप्रधानाचार्य के पद पर आर्य श्याम को नियुक्त किया गया। वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ तक इन दोनों महत्वपूर्ण पदों पर निरन्तर ४१ वर्ष तक रह कर आर्य श्याम ने शासन की महती सेवा की।

आर्य श्याम के आचार्यकाल की राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति

१३ वें वाचनाचार्य तथा १२ वें युगप्रधानाचार्य – इन दोनों पदों को विभूषित करने वाले आर्य श्याम के आचार्यकाल में पुष्यमित्र ने वैदिक धर्म को राज्याश्रय दिया। इसके परिणामस्वरूप यज्ञ-यागादि वैदिक कर्मकाण्ड का प्रचार-प्रसार बढ़ने लगा। पुष्यमित्र ने अनुमानतः वीर नि० सं० ३३० से ३४० के बीच के किसी समय में अश्वमेध यज्ञ किया। हरिवंश पुराण में इस घटना की ओर

---

[1] सिद्धान्ते श्री वीरादन्वेकादशगणभृद्भिः सह त्रयोविंशतितमः पुरुषः श्यामार्य इति व्याख्यातः। [विचारश्रेणी]

स्पष्ट संकेत किया गया है। उसमें बताया गया है कि राजा जन्मेजय द्वारा किये गये वाजिमेध की परिसमाप्ति पर कृष्ण द्वैपायन ने राजा से कहा – राजन् तुमने जो यह अश्वमेध यज्ञ किया है, इसे अब प्रलय काल तक कोई क्षत्रिय नहीं करेगा।"[1] यह सुनकर जन्मेजय को बड़ी निराशा हुई। उसने व्यास से प्रश्न किया – "भगवन्! भविष्य में यदि और भी कोई इस यज्ञ को करने वाला हो तो उसके सम्बन्ध में मुझे बताइये।"[2]

व्यासजी ने कहा – "कलियुग में एक काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण सेनापति होगा, वही तुम्हारे पश्चात् इस यज्ञ को पुनः करेगा।"[3]

हाथीगुंफा के शिलालेख पर विचार करते समय पहले यह बताया जा चुका है कि यूनानी आक्रान्ता डिमिट्रियस ने भिक्खुराय खारवेल की मृत्यु के पश्चात् पुष्यमित्र के राज्यकाल में पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर उस पर अधिकार भी कर लिया था। इससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि डिमिट्रियस के आक्रमण से पूर्व ही पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कर लिया हो। ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार डिमिट्रियस के – भारत छोड़कर बैक्ट्रिया लौटने का समय यदि वीर नि० सं० ३५२, तदनुसार ईसा से १७५ वर्ष पूर्व माना जाय तो पुष्यमित्र द्वारा किए गये इस यज्ञ का समय वीर नि० सं० ३४७ और उसके अनुसार ईसा पूर्व १७० के आसपास का ठहरता है।

पुष्यमित्र द्वारा किये गए अश्वमेध यज्ञ के साथ ही देश में यज्ञों की एक तरह से लहर सी दौड़ गई। देश के विभिन्न भागों में छोटे-बड़े अनेक यज्ञ होने लगे। यही कारण है कि शुँगों के राज्यकाल में यत्र-तत्र अनेक यज्ञों के किए जाने के शिलालेख उपलब्ध होते हैं।

यह पहले बताया जा चुका है कि आर्य बलिस्सह के वाचनाचार्यकाल में शुंगों का राज्यकाल वीर नि० सं० ३२३ में प्रारम्भ हुआ। वीर नि० सं० ३५३ में पुष्यमित्र शुँग की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अग्निमित्र शुँग मगध के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ। शुँग वंश के संस्थापक पुष्यमित्र शुंग के अतिरिक्त इस वंश के अन्य राजाओं एवं उनके राज्यकाल का जैन साहित्य में विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता। पौराणिक (हिन्दू) ग्रन्थों में शुंगवंश के राजाओं एवं उनके राज्यकाल का उल्लेख निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है:–

१. पुष्यमित्र	३६ वर्ष
२. अग्निमित्र	८ ,,
३. वसु ज्येष्ठ	७ ,,

---

[1] त्वया वृत्तं क्रतुं चैव, वाजिमेधं परंतपः।
क्षत्रिया नाहरिष्यन्ति, यावद्भूमि धरिष्यति॥ [हरिवंश पु० ३।२।३५]

[2] यद्यस्ति पुनरावृत्तिर्यज्ञस्याश्वासयस्व माम्। [वही]

[3] औद्भिज्जो भविता कश्चित् सेनानी काश्यपो द्विजः।
अश्वमेधं कलियुगे, पुनः प्रत्याहरिष्यति॥ [वही]

४. वसुमित्र	१० वर्ष
५. भद	२ ,,
६. पुलिन्दक	३ ,,
७. घोष	३ ,,
८. वज्रमित्र	१ ,,
९. भागवत	३२ ,,
१०. देवभूति	१० ,,

शुंगवंशी पुष्यमित्र और अग्निमित्र के सिक्के उपलब्ध होते हैं। मालविकाग्निमित्र में काली सिन्धु के तट पर राजकुमार वसुमित्र शुंग का यवनों के साथ युद्ध होने का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। अनुमान किया जाता है कि वसुमित्र का यह युद्ध डिमिट्रियस के जामाता मीनाण्डर के साथ हुआ।

यह पहले बताया जा चुका है कि डिमिट्रियस के प्रतिद्वन्द्वी यूक्रेडाइटीज ने डिमिट्रियस की अनुपस्थिति में उसके बैक्ट्रिया (बाल्हीक) के राज्य पर अधिकार कर लिया था; इस कारण डिमिट्रियस को अपनी सेनाओं के साथ भारत छोड़कर स्वदेश लौटना पड़ा। डिमिट्रियस बाल्हीक पहुंचा, उससे पहले ही यूक्रेटाइडीज बाल्हीक में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर चुका था अतः डिमिट्रियस को अपने बाल्हीक के राज्य से हाथ धोना पड़ा और वह केवल गान्धार और उसके आसपास के राज्य का ही अधिपति रह गया। वह गृहयुद्ध में मारा गया।

डिमिट्रियस की मृत्यु के पश्चात् मीनाण्डर और यूक्रेटाइडीज के वंशजों ने लगभग एक शताब्दी से भी अधिक वर्षों तक पंजाब पर शासन किया। मीनाण्डर इन सभी यवन शासकों में प्रतापी माना गया है।

प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्द पह्नो' की रचना ही मिलिन्द नामक राजा द्वारा बौद्धभिक्षु नागसेन से किये गए प्रश्नों के आधार पर की गई है। इसमें बताया गया है कि नागसेन से अपने प्रश्नों का पूर्ण सन्तोषप्रद उत्तर सुनकर राजा मिलिन्द बौद्धधर्मावलम्बी बन गया। इतिहासविदों का अभिमत है कि 'मिलिन्द पह्नो' का प्रमुख पात्र मिलिन्द वस्तुतः यवन शासक मीनाण्डर ही था। भारतीय राजवंशों की नामावलियों के पर्यवेक्षण से उस समय में मिलिन्द नामक किसी भारतीय राजा का नाम कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

शुंगवंशी राजाओं के राज्यकाल पर ध्यानपूर्वक दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस वंश के ९वें राजा भागवत के अतिरिक्त अन्य किसी राजा का शासन सुदृढ़ एवं शान्तिपूर्ण नहीं रहा। पांचवें से आठवें – इन चार शुंगवंशी राजाओं का राज्यकाल तो एक प्रकार से नगण्य ही रहा।

शुंगवंश के राज्यकाल की घटनाओं के विहंगमावलोकन से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि इस वंश के शासनकाल में पारस्परिक धार्मिक सद्भावना का केवल अभाव ही नहीं रहा अपितु धार्मिक असहिष्णुता अपनी चरम सीमा तक

पहुंच चुकी थी। पुष्यमित्र द्वारा किया गया बौद्धभिक्षुओं का कत्लेआम इसका प्रमाण है।

भ्रम का निराकरण

अहिंसा के महान् सिद्धान्तों, प्राचीन भारतीय एवं विश्व-इतिहास की ऐतिहासिक घटनाओं का पूरी तरह मूल्यांकन न कर पाने तथा यत्किंचित् साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण कतिपय आधुनिक इतिहासकारों ने इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न करने का प्रयास किया है कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म द्वारा किये गये अहिंसा के व्यापक प्रचार-प्रसार के कारण विदेशियों ने भारत पर आक्रमण करने का दुस्साहस किया। उनका कहना है कि विदेशियों के आक्रमण के समय मौर्यवंश का अन्तिम राजा वृहद्रथ मुण्डित हो बौद्ध भिक्षुओं के पास धर्मश्रवण करता रहता। इसके कारण विदेशी आक्रान्ताओं को अपने भारतविजय अभियान में सफलताएं मिलीं। और इससे जनमानस में अहिंसा के प्रति क्षोभ उत्पन्न हुआ। अहिंसा से ऊब कर सेना और जनता ने वृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र का साथ दिया। परिणामतः पुष्यमित्र शुंग ने मगध साम्राज्य की प्रजा और सेना के समक्ष अंतिम मौर्यवंशी राजा वृहद्रथ की हत्या कर दी।

ऐतिहासिक घटनाक्रम के पर्यवेक्षण से इस प्रकार का प्रचार वस्तुतः भ्रान्त और निराधार सिद्ध होता है। इतिहास और पुराण साक्षी हैं कि पुष्यमित्र ने अपनी वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये अपने स्वामी के साथ विश्वासघात कर धोखे से उसकी हत्या की। यवन आक्रान्ता डिमिट्रियस ने वृहद्रथ के शासनकाल में नहीं, अपितु पुष्यमित्र के शासनकाल में भारत पर आक्रमण किया। पुष्यमित्र द्वारा पहला अश्वमेध सम्पन्न किये जाने के पश्चात् ही डिमिट्रियस द्वारा पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया गया। पाटलिपुत्र की प्राचीरों को धूलिसात् कर डिमिट्रियस ने पाटलिपुत्र में भीषण नरसंहार किया।[1] उस युद्ध में पुष्यमित्र डिमिट्रियस से पराजित हुआ। गृहकलह के कारण डिमिट्रियस को अपनी विशाल वाहिनी के साथ स्वदेश लौटना पड़ा। वैक्ट्रिया के गृहयुद्ध में डिमिट्रियस अपने अनेक योद्धाओं के साथ मारा गया। अन्यथा पुष्यमित्र के शासनकाल में ही देश विदेशी आक्रान्ता की दासता में आ चुका होता। एक अश्वमेध यज्ञ के पश्चात् डिमिट्रियस से पराजय के कारण ही पुष्यमित्र को दूसरा अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा। उस द्वितीय अश्वमेध के घोड़े की रक्षा के लिये पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र को काली सिन्धु के तट पर संभवतः यवन आक्रान्ता मीनाण्डर से युद्ध करना पड़ा, जिसका कि उल्लेख मालविकाग्निमित्र में उपलब्ध होता है।

ऐसी स्थिति में इस प्रकार का आरोप लगाना नितान्त निराधार और तथ्यहीन है कि बौद्धों और जैनों द्वारा किये गये अहिंसा-प्रचार के प्रभाव में

---

[1] यवनाः दुष्टविक्रान्ताः, प्राप्स्यंति कुसुमध्वजं।
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते, कर्दमे प्रथिते हि ते।। [गार्गी संहिता, युगपुराण]

राजाओं के आ जाने के कारण विदेशी आक्रान्ताओं को भारत पर आक्रमण करने का अवसर मिला।

भारत पर विदेशी आक्रमणों के इतिहास का निष्पक्ष दृष्टि से पर्यालोचन किया जाय तो यह स्पष्टतः प्रकट हो जायगा कि गृहकलह, धार्मिक असहिष्णुता, विशृंखल शासन और विकृत आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था आदि कारणों में से ही कोई न कोई कारण विदेशी आक्रमण के मूल में रहा है।

भारत पर विदेशियों के आक्रमण का सबसे प्राचीन उल्लेख श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि पौराणिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उसमें बताया गया है कि हैहयों एवं तालजंघों ने यवनों, शकों और बर्बर जाति के विदेशियों की सहायता से अयोध्या के सूर्यवंशी राजा बाहुक पर आक्रमण कर उसे पराजित किया। बाहुक अपनी रानियों के साथ अयोध्या से निकल कर जंगलों में चला गया और वहां रहने लगा। अयोध्या के राज्यसिंहासन से सूर्यवंशी राजा को पदच्युत करने की पुराणकारों द्वारा यह सर्वप्रथम घटना बताई गई है।

तदनन्तर बाहुक के पुत्र सगर ने युवावस्था में प्रवेश करते ही अयोध्या के अपने पैतृक राज्य पर पुनः अधिकार किया। अयोध्या के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होते ही सगर ने हैहयों तथा तालजंघों के साथ-साथ विदेशी यवनों, शकों और बर्बरों को इतनी बुरी तरह से कुचला[1] कि फिर शताब्दियों ही नहीं अनेक सहस्राब्दियों तक विदेशी आततायियों ने भारत की ओर मुंह तक नहीं किया।

तत्पश्चात् भारत पर दूसरा बड़ा विदेशी आक्रमण महाभारत के महान् संहारक युद्ध से कुछ वर्ष पूर्व काल-यवन द्वारा किया गया, जिसमें योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा काल-यवन कराल काल के गाल का कवल बना दिया गया। पुराणवेत्ता इस तथ्य से भलीभांति परिचित हैं कि उक्त दोनों विदेशी आक्रमण भारत के गृह-कलह के ही परिणामस्वरूप हुए थे।

भारत पर तीसरा बड़ा विदेशी आक्रमण ईसा से ३२७ वर्ष पूर्व यूनान के महत्त्वाकांक्षी योद्धा सिकन्दर ने किया।

भारत पर सिकन्दर के आक्रमण का कारण ज्ञात करने से पहले ईरान और यूनान के तात्कालिक पारस्परिक सम्बन्धों पर सरसरी तौर से दृष्टिपात करना होगा। भारतीयों की तरह ईरानी और यूनानी भी आर्य हैं। यूनानी लोग गणतन्त्र व्यवस्था में विश्वास करते थे। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में यूनान में अधिकांशतः नगरों के रूप में गणराज्य थे। ईरान के विशाल साम्राज्य की

---

[1] सगरश्चक्रवर्त्यासीत्, सागरो यत्सुतैः कृतः।
यस्तालजंघान् यवनाञ्छकान् हैहयबर्बरान् ॥५॥
नावधीद् गुरुवाक्येन, चक्रे विकृतवेषिणः।
मुंडाञ्छ्मश्रुधरान्कांश्चिन्मुक्तकेशार्धमुण्डितान् ॥६॥
[श्रीमद्भागवत, ९ स्कंध, ८ अ०]

उत्तरी सीमा पर सीथियन लोग आये दिन उत्पात एवं लूटपाट करते रहते थे। कास्पियन सागर का निकटवर्ती प्रदेश उन लोगों का शरणस्थल था, जो बड़ा ही विकट तथा अगम्य था।

ईरान के तत्कालीन सम्राट् डेरियस ने सीथियनों का दमन करने के लिये उनके गढ़ पर ही आक्रमण की योजना तैयार की। डेरियस की सेना ने ज्योंही केस्पियन सागर के निकटवर्ती क्षेत्र की ओर बढ़ने के लिये यूनान की सीमा में प्रवेश किया तो यूनानियों ने इसे अपनी प्रभुसत्ता पर भयंकर आघात मानते हुए डेरियस की सेनाओं का प्रतिरोध किया। डेरियस की सेनाएं प्रतिरोध को कुचल कर आगे बढ़ गईं। सीथियनों ने डेरियस की सेनाओं को अपनी गुरिल्ला रणनीति से बुरी तरह परेशान किया। अन्ततोगत्वा ईरान की सेनाओं को वाध्य होकर लौटना पड़ा। डेरियस ने और उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र क्षहयार्ष ने क्रमशः दो बार यूनान पर भीषण आक्रमण किये पर उन दोनों युद्धों में ईरानी सेनाओं को बड़ी भारी हानि के साथ पराजय का मुंह देखना पड़ा।

इन दो बड़े युद्धों के कारण यूनानियों के मनों में ईरानियों के प्रति प्रगाढ़ शत्रुता के भाव प्रवृद्ध हो चुके थे। प्रत्येक यूनानी ईरान से प्रतिशोध लेने के लिये आतुर हो रहा था। मैसीडोनियां के शासक फिलिप ने ईरान से प्रतिशोध लेने का बीड़ा उठाया। यूनानियों ने प्रारम्भिक प्रतिरोध के पश्चात् अन्ततोगत्वा फिलिप का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। फिलिप ईरान पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी कर चुका था, उस समय उसकी हत्या कर दी गई। फिलिप का पुत्र सिकन्दर उसका उत्तराधिकारी बना। राज्यासीन होने के दो वर्ष पश्चात् ईसा पूर्व ३३४ में सिकन्दर ने ईरान पर आक्रमण कर दिया। उस समय सिकन्दर की आयु २२ वर्ष थी। ईरान के ईसस क्षेत्र में ईरानी सेनाओं ने सिकन्दर की सेना के साथ तुमुल युद्ध किया। ईरान का सम्राट् डेरियस तृतीय, जो कि बड़ा ही विलासप्रिय सम्राट् था, अपनी माता तथा स्त्रियों को रणक्षेत्र में ही छोड़ कर भाग खड़ा हुआ। सिकन्दर के भाग्य ने उसका साथ दिया और ईरानियों के साथ इस प्रथम युद्ध में उसे आशातीत सफलता के साथ विजयश्री ने वरण किया। सिकन्दर ने ईसस विजय के पश्चात् मिस्र पर आक्रमण किया। मिस्री जनता ईरानियों की दीर्घकालीन दासता से मुक्त होना चाहती थी, अतः मिस्र में सिकन्दर को प्रतिरोध के स्थान पर सर्वतोमुखी स्वागत प्राप्त हुआ।

मिस्र विजय से सिकन्दर की महात्वाकांक्षाएं जागृत हुईं। मिस्र के धर्माध्यक्षों ने सिकन्दर को यूनानी देवता ज्यूस का पुत्र वता कर उसे अलौकिक सम्मान से विभूषित किया। मिस्रवासियों द्वारा प्रदत्त इस सम्मान से सिकन्दर वास्तव में अपने आपको महान् देवता ज्यूस का पुत्र समझने लगा। उसने तत्काल पुनः ईरान पर आक्रमण किया। डरपोक ईरानी सम्राट् डेरियस के नेतृत्व में ईरानी सेना ने अरवेला में यूनानी सेना के साथ युद्ध किया पर ईरानियों को भीषण पराजय का मुंह देखना पड़ा। डेरियस अरवेला के युद्ध में भी रणभूमि से

भाग खड़ा हुआ और उसी के एक अधिकारी द्वारा उसकी हत्या कर दी गई। इस प्रकार ईसा पूर्व ३३१ में सिकन्दर २६ वर्ष की वय में सम्पूर्ण यूनान, पूरे मिस्र और समस्त ईरान के विशाल साम्राज्य का सम्राट् बन गया।

अतिस्वल्प काल में ही प्राप्त हुई इतनी बड़ी सफलताओं ने सिकन्दर के मन में विश्वविजय की भावना को बड़े प्रबल वेग से जागृत किया। उसने अपने सेनापतियों के समक्ष भारत पर आक्रमण करने की अपनी योजना रखी। जिन-जिन लोगों ने भारत पर आक्रमण करने का विरोध किया उन्हें चुन-चुन कर सिकन्दर ने मौत के घाट उतार दिया। अन्ततोगत्वा ईसा पूर्व ३२७ में सिकन्दर ने महज विश्वविजय की अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये भारत पर आक्रमण कर दिया।

यद्यपि शशि गुप्त और तक्षशिला के शासक आंभी जैसे घर के भेदी देश-द्रोहियों का सिकन्दर को पूर्ण सहयोग प्राप्त था और भारत का उत्तरी सीमान्त प्रदेश छोटे-छोटे गणराज्यों में विभक्त था तथापि देश की आन-बान की रक्षा के लिये हंस-हंस कर प्राण देने वाले रणबांकुरे अश्वकों, अश्वाहकों, गौरों, गान्धार-पति हस्ति, केकयराज पुरू, ग्लुचकायनों, कठों, आद्रिजों आदि ने प्राणपण से पग-पग पर सिकन्दर की सेनाओं के साथ क्रमशः बड़े ही लोमहर्षक युद्ध किये। भारत के उत्तरी सीमान्त के उन छोटे-छोटे गणराज्यों और राजाओं ने संगठन के एक सूत्र में बंधे न होने के कारण अन्ततोगत्वा यद्यपि सिकन्दर की विशाल सेना के साथ युद्ध में पराजय का मुख देखा, पर इनके भीषण प्रहारों से सिकन्दर की सेना को बड़ी भारी क्षति उठानी पड़ी। यूनानियों के हौंसले पस्त हो गये। सिकन्दर के सेनापतियों एवं सेनाओं ने स्पष्ट शब्दों में आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। इससे सिकन्दर की विश्वविजय की महत्वाकांक्षा मिट्टी में मिल गई। उसके हृदय पर इससे ऐसा आघात पहुँचा कि वह कई दिनों तक अपने शिविर में तम्बू से बाहर तक नहीं निकला।

यह पहले बताया जा चुका है कि भारतीयों के भीषण प्रतिरोध, अपनी सेनाओं के आगे बढ़ने से इन्कार करने तथा अपने विजित क्षेत्रों में विद्रोह की भीषण आग भड़क उठने के कारण सिकन्दर को स्वदेश लौटने के लिये बाध्य होना पड़ा। स्वदेश लौटते समय रावी के तटों पर बसे मालवों ने सिकन्दर की सेनाओं के साथ बड़ा भीषण युद्ध किया। मालवों के साथ युद्ध करते समय सिकन्दर के सीने में एक गहरा घाव लगा। इसी घाव के कारण ईरान पहुँचने पर ईसापूर्व ३२४ में केवल ३२ वर्ष की युवावस्था में ही सिकन्दर संसार से चल बसा।

भारत पर किये गये अपने दुस्साहसपूर्ण आक्रमण के प्रतिफल रूप में सिकन्दर को धन-जन-क्षय और अपनी मौत के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। भीषण नरसंहारक तुमुल युद्धों के उपरान्त भी सिकन्दर को वृहत्तर भारत का केवल थोड़ा सा पश्चिमोत्तरी भाग ही हाथ लगा और वह भी सिकन्दर के ईरान की ओर मुंह करते ही पुनः पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। छोटे-छोटे गणतन्त्रों और

छोटे-छोटे राजाओं के राज्यों की पृथक्-पृथक् और असंगठित सेनाओं ने मिस्र, ईरान और यूनान के सुविशाल साम्राज्य के स्वामी सिकन्दर की सेनाओं को नाकों चने चबवा दिये। यदि वे छोटे-छोटे राज्यों की सेनाएं सम्मिलित रूप से सिकन्दर के साथ युद्ध करतीं तो क्या परिणाम होता, इसका रणनीतिविशारद सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

भारत पर किये गये उपरिचर्चित तीनों आक्रमणों के कारणों के सम्बन्ध में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले दो आक्रमण भारत के गृहकलह के कारण हुए और तीसरे आक्रमण का मूल कारण था एक अहम्मानी आक्रान्ता की महज महत्वाकांक्षा। इन तीनों में से एक भी आक्रमण ऐसा नहीं, जिसके लिये कहा जा सके कि वह अहिंसा के सिद्धान्तों का पालन करने के फल स्वरूप अथवा अहिंसा के पुजारी किसी राजा की अहिंसाप्रधान नीति के परिणाम स्वरूप हुआ हो।

भारत के आद्योपान्त इतिहास का सिंहावलोकन करने से यही तथ्य प्रकट होता है कि जब तक भारत में अहिंसा के महान् सिद्धान्तों का प्राधान्य, प्राबल्य अथवा प्रभुत्व रहा तब तक सम्पूर्ण देश में सहअस्तित्व, समानता, सौहार्द सहिष्णुता और सर्वतोमुखी सद्भावना का साम्राज्य रहा। अहिंसा के आधारभूत-मूलभूत इन सहअस्तित्व आदि मानवीय गुणों का जब तक भारतीयों के जीवन में प्राचुर्य रहा तब तक भारत समृद्ध-सम्पन्न, सशक्त एवं समुन्नत बना रहा। अहिंसा के अनन्य उपासक शिशुनागवंशी उदायी, नन्दीवर्द्धन, मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक एवं सम्प्रति के शासनकाल में किसी विदेशी शक्ति को भारत की ओर आंख उठा कर देखने का भी साहस नहीं होता था। देश धन-धान्य से सम्पन्न और देशवासी सब तरह से सुखी थे।

नगरों का प्रबन्ध नगरपरिषदों, एवं ग्रामों का प्रबन्ध ग्राम – सभाओं के माध्यम से किया जाता था। उद्योगधन्धों को संस्थापित कर समुन्नत बनाना, क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण, अतिथियों का स्वागतसत्कार के पश्चात् अतिथिगृहों में ठहराने का प्रबन्ध करना, जन-चिकित्सा और पशुचिकित्सा का समुचित प्रबन्ध करना, कर एकत्रित करना आदि जनहित के सभी कार्य समुचित रूप से नगर-परिषदों और ग्रामसभाओं की देखरेख में सम्पन्न किये जाते थे। कृषि उन्नति के लिये राज्य की ओर से विशिष्ट प्रबन्ध किये जाते थे। सिंचाई की यथासंभव पूरे देश में समुचित व्यवस्था की जाती थी। कृषि कार्यों को उत्तरोत्तर समुन्नत बनाने तथा बांधों के निर्माण के लिये एक परिषद का निर्माण किया जाता था। नई सड़कों के निर्माण, पुरानी सड़कों के सुधार एवं मार्गों में यात्रियों की सुरक्षा की देख-रेख आदि कार्य एक विभाग किया करता था।

देश की सुरक्षा के लिये नवीनतम शस्त्रास्त्रों से लैस-तैस सशक्त एवं विशाल सेना सदा सन्नद्ध रखी जाती थी। सेना की देख-रेख का कार्य एक समरपरिषद सम्हालती थी। पदातिसेना, अश्वारोही सेना, रथ-सेना, हस्ति-सेना और नौसेना–

सेना के इन पांचों विभागों की देखरेख, समुन्नति एवं अभिवृद्धि के लिये सामरिक परिषद द्वारा पृथक्-पृथक् एक-एक समिति नियुक्त की जाती थी। सामरिक परिषद द्वारा नियुक्त एक पांच सदस्यीय समिति सेना के लिये आवश्यक साज-सामान, नवीनतम शस्त्रास्त्रों के निर्माण आदि की व्यवस्था करती थी।

कोई आभ्यन्तरिक अथवा बाहरी शत्रु देश की प्रभुसत्ता अथवा सुरक्षा पर किसी भी प्रकार का आघात पहुँचाने का प्रयास करता तो उसे तत्काल सैन्य-शक्ति के माध्यम से सदा के लिये कुचल दिया जाता।

इसी प्रकार असामाजिक तत्वों के लिये, अपराधियों के लिये कड़े से कड़े दण्ड की व्यवस्था थी। कठोर दण्ड व्यवस्था के कारण कोई अपराध करने का दुस्साहस ही नहीं करता था। यह भी एक कारण था कि उस समय अपराधों की संख्या नगण्य थी। उच्च शिक्षा के साथ-साथ सदाचार की शिक्षा का भी उस समय में समुचित प्रबन्ध किया जाता था। अपराधी मनोवृत्ति के उन्मूलन में सदाचार की शिक्षा का भी बहुत बड़ा महत्वपूर्ण योगदान माना गया है।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल में यूनानी राजदूत मैगस्थनीज बहुत वर्षों तक भारत में राजदूत रहा। उसने भारत विषयक अपने संस्मरणों में लिखा है – "भारतीय सम्राट् चन्द्रगुप्त का शासन बहुत ही सुसंगठित और सुदृढ़ है। सम्राट् चन्द्रगुप्त की सेना में ६ लाख पैदल सेना, ३० हजार अश्वारोही, ९ हजार हाथी और हजारों रथ सदा सन्नद्ध रहते हैं।"

चीनी यात्री हुएनत्सांग और फाहियान ने अपने यात्रा विवरणों में तत्कालीन भारत की समृद्धि, राज्य व्यवस्था, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था-विषयक आंखों देखे हाल का चित्रण करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि प्रजा पूर्णतः सम्पन्न और सुखी है, लोग अपने घरों तथा हीरे, जवाहरात, स्वर्ण एवं चांदी आदि की दुकानों पर भी ताले नहीं लगाते। राज्य की ओर से लम्बी-चौड़ी सड़कों के आसपास धर्मशालाओं, अतिथिगृहों, प्रपाओं तथा यात्रियों के लिए सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं एवं सुरक्षा की समुचित व्यवस्था है। भारत के लोग सुखी सम्पन्न और खुशहाल हैं। वे अतिथिसत्कार को अपना पुनीत कर्त्तव्य मानते हैं।

तत्कालीन भारत के सम्बन्ध में विदेशियों द्वारा लिखे गये विवरणों, राजाओं द्वारा उत्कीर्ण करवाये गए शिलालेखों तथा प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध उल्लेखों से यह प्रकट होता है कि राजा और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा ही सौहार्दपूर्ण था। राजा प्रजा की सुख-सुविधा एवं सुरक्षा हेतु समुचित प्रबन्ध करना अपना परम पवित्र कर्त्तव्य मानता था। प्रजा भी शासन को सदा अपने लिए हितकर मानकर राजाज्ञाओं का अक्षरशः पालन करती थी। राजा और प्रजा के बीच प्रेम पूर्ण व्यवहार के कारण शासन स्वचालित यन्त्र की तरह सुचारु रूप से चलता था, न कि सैन्य बल के सहारे। यद्यपि शक्तिशाली सुविशाल सेनाएं सदा सन्नद्ध रखी जाती थीं पर उनका विदेशी आक्रान्ताओं को कुचल डालने एवं आभ्यांतरिक शत्रुओं के दमन के लिए ही उपयोग किया जाता था।

राजा अपनी प्रजा के सुख में ही अपना सुख मानता था। अशोक द्वारा शिलाओं पर खुदवाये गये निम्नलिखित अभिलेख का एक-एक अक्षर इस तथ्य की साक्षी देता है :–

"मेरा यह कर्तव्य है कि शिक्षा के प्रसार द्वारा मैं प्रजाजनों का उपकार करूं। निरन्तर चलने वाले उद्योग एवं न्याय का समुचित प्रबन्ध ये सर्वसाधारण के हित की आधारशिलाएं हैं – इनसे बढ़कर फलप्रद अन्य और कुछ भी नहीं है। मेरे सभी प्रयासों-प्रयत्नों का मूल उद्देश्य यही है कि मैं सभी लोगों के ऋण से उऋण हो जाऊं। जहां तक मुझसे सम्भव है, मैं सर्वसाधारण को सुखी बनाने के लिए प्रयत्न करता रहता हूँ। मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि सव लोग भविष्य में भी स्वर्गीय सुख प्राप्त करें, मेरे पुत्र, पौत्रादि भावी पीढ़ियां भी सर्व साधारण को सुख पहुंचाने में सदा निरत रहें। मैंने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह लिपि उत्कीर्ण करवाई है।"

कितना ऊंचा आदर्श रहा है अहिंसा के उपासक राजाओं का ? इस प्रकार का आदर्श खोजने पर भी संसार के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलेगा।

अहिंसा और जैन धर्म के महान् सिद्धान्तों से परिचित न होने के कारण अनेक विद्वानों को यह विदित नहीं है कि वस्तुतः अपराधियों, आततायियों, असामाजिक तत्त्वों और आक्रान्ताओं को समुचित दण्ड देने में अहिंसा के सिद्धान्त कहीं किसी प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं करते। इस प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में विश्वधर्म-जैनधर्म के आदि-संस्थापक प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने जिस समय सर्वप्रथम राज्य-व्यवस्था, सामाजिक-व्यवस्था एवं अर्थ-व्यवस्था की नींव डाली, उसी समय उन्होंने देश और समाज में अशान्ति तथा अव्यवस्था फैलाने का प्रयास करने वाले असामाजिक तत्वों, आततायियों एवं अपराधियों के दमन के लिये जनहिताय-समष्टिहिताय कठोर दण्डनीति की व्यवस्था की। उस दण्ड-व्यवस्था में अपराधियों के अंगछेदन तक की व्यवस्था थी। भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित उस कठोर दण्ड-व्यवस्था का जनहित में औचित्य वताते हुए प्राचीन आचार्य भद्रेश्वर सूरि ने अपने "कहावली" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि जिस प्रकार भयंकर विषधर अथवा आग की भट्टी की ओर वार-वार मना करने पर भी वढ़ते हुए अबोध वालक को उसका पिता वालक के हित की दृष्टि से रस्सी से एक स्थान पर वांध देता है, घसीटता अथवा ताड़न-तर्जन करता है, उसी प्रकार समष्टि के हित की दृष्टि से अपराधियों की अपराध करने की प्रवृत्ति के उन्मूलन हेतु भगवान् ऋषभदेव ने कठोर दण्डव्यवस्था की।[1]

---

[1] ....वीस पुव्वलक्खोवरि राया जाओ त्ति। न य एवं उस्सुत्तं, चडियपालगो वि ववहारत्थिणो भगवओ तुलहारिव्व दोसो। अहवा एगो गोवालगो कीलंतो सप्पहुत्तं गओ। तत्थ य तं दसिउकामो सप्पो पुणो पुणो हेल्लाउ देंतो वालगपिउणा कहवि दिट्ठो। तओ तुरियमागंतूण तेण भणिओ वालगो – पुत्तगा एहि एहि मा णणंगोल्ल उविज्जसि। सो य वालं तूणधावणेणं सप्पाभिमुहं चेव वच्चंतं दट्ठूण तस्सेव हियकरणत्थं पायाटनू

इससे यह निर्विवाद रूपेण सिद्ध होता है कि अहिंसा के महान् सिद्धान्तों में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये अपराधियों तथा आततताइयों को समुचित दण्ड देने का पूरा प्रावधान युगादि से ही रखा गया है।

यही नहीं संसार को सुशासन देने के लिये समय-समय पर हुए बारह चक्रवर्तियों ने विशाल वाहिनियों के साथ दिग्विजय की। उनमें शान्तिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ ये तीन चक्रवर्ती क्रमशः सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें तीर्थंकर हुए हैं।

ऐसी स्थिति में यदि कोई विद्वान् वास्तविकता की ओर से दृष्टि घुमाकर तथा इन ज्वलंत ऐतिहासिक तथ्यों को नजरन्दाज करके यह कहने की हठधर्मिता करते हैं कि अहिंसा के प्रचार-प्रसार के कारण राजतन्त्र अथवा राजालोग शिथिल एवं शक्तिहीन बने और देश फलतः विदेशी आक्रमणों का शिकार बना, तो यह उनका केवल साम्प्रदायिक व्यामोहमात्र है – उनके इस कथन में कहीं कोई किंचित्मात्र भी तथ्य नहीं है।

वास्तविकता यह है कि अहिंसा के परमोपासक राजाओं का जब तक देश पर आधिपत्य रहा, तब तक देश सुसंपन्न सशक्त, स्वर्गोपम सौख्यशाली और समुन्नत रहा। अहिंसा के परमोपासक मौर्य सम्राट् अशोक को विदेशियों और संसार के प्रायः सभी विचारकों ने संसार का सर्वश्रेष्ठ शासक एवं उसके शासन को विश्व का सर्वोत्कृष्ट सुशासन माना है।

इतिहास साक्षी है कि ज्यों-ज्यों राष्ट्र, राजतन्त्र और राजाओं की अहिंसा के महान् सिद्धान्तों के प्रति आस्था कम होती गई, त्यों-त्यों असहिष्णुता, असमानता, आपसी कलह आदि की अभिवृद्धि होती गई। आपसी-कलह – फूट, वर्ग-विद्वेष – आदि हिंसा की संततियां ही देश की दासता का प्रमुख कारण बनीं, इस तथ्य से कोई विचारक इन्कार नहीं कर सकता।

आर्य इन्द्रदिन्न – गणाचार्य

आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० सं० ३३९ में कौशिक गोत्रीय आर्य इन्द्रदिन्न गणाचार्य नियुक्त किये गए। आर्य इन्द्रदिन्न के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता। आपके गणाचार्य काल में आपके गुरुभाई आर्य प्रियग्रन्थ बड़े ही प्रभावक श्रमण बताये गए हैं। उनका संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

आर्य प्रियग्रंथ

आर्य प्रियग्रन्थ जैन साहित्य में मन्त्रवादी प्रभावक के रूप में विख्यात रहे हैं। यों तो मन्त्रवाद का जैनजगत में कोई महत्व नहीं माना गया है। साधुओं के

घेत्तूण कड्ढिओ पिउणा "जहा य बालस्स धम्मनित्थर हल्लाणइ पीडासंभवे वि परिणाम-सुंदरत्तणओ कड्ढंतस्स पिउणो न दोसो दिट्ठो" तहा भगवओ पयाण परिणाम सुंदरं थोवदोसनिग्गहाइ दंडं कुणमाणस्स न ताण बंधे कोवि दोसो अत्थीति।

[कहावली – भद्रेश्वरसूरि – अप्रकाशित]

लिए इसे सदा हेय बताया गया है, पर संस्कृति-संघर्ष के युग में वादविवाद आदि में प्रतिपक्ष को लोगों की निगाहों से गिरा अपने पक्ष की विजय से जनमत को प्रभावित करने एवं स्वपक्षप्रताप परिवृद्ध्यर्थ इस प्रकार के प्रयत्नों को अपनाया भी गया है। वैयक्तिक स्वार्थसिद्धि के लिए तो मन्त्र-तन्त्र और औषधि आदि का प्रयोग जैन साधु के लिए सर्वथा निषिद्ध माना गया है, पर शासन हित तथा संघ के कल्याणार्थ प्रभावकों, आचार्यों को कभी-कभी इस प्रकार के कार्य भी करने पड़ते थे, जो प्रत्यक्षतः अथवा लौकिक दृष्टि से जैन धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल दृष्टिगोचर हो सकते थे।

स्व० मुनि कान्तिसागरजी ने प्रियग्रन्थ सूरि का परिचय निम्न रूप में दिया है :–

"एक समय प्रियग्रंथ मुनिराज विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए अजमेर के समीप हर्षपुर पहुँचे। हर्षपुर में ब्राह्मणों और श्रमणोपासकों के परिवार पर्याप्त संख्या में थे। मगधपति पुष्यमित्र शुंग द्वारा किये गए दो अश्वमेध यज्ञों के कारण देश में एक बार पुनः *यज्ञ-यागादि की लहर दौड़ चुकी थी।* हर्षपुर के ब्राह्मण वैदिक क्रियाकाण्ड के प्रति इतने अनुरक्त थे कि वे लोग खुले आम पशुओं की बलि देने में भी संकोच का अनुभव नहीं करते थे। तदनुसार ब्राह्मणों ने बड़े समारोह के साथ एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया। उस यज्ञ में बलि के लिए एक हृष्ट-पुष्ट बकरा खूंटे से बांध दिया गया।

श्रमणोपासकों ने आर्य प्रियग्रंथ के समक्ष पूरी स्थिति रखी। बताया जाता है कि हिंसक यज्ञों की प्रवृत्ति को रोकने एवं शासन की प्रभावना को दृष्टिगत रखते हुए प्रियग्रन्थसूरि ने एक अभिमन्त्रित चूर्ण श्रावकों को देकर उसे बलि के बकरे पर डाल देने के लिए कहा। श्रावकों ने येनकेन प्रकारेण वह चूर्ण बकरे पर डाल दिया। वासक्षेप के प्रभाव से बकरा मनुष्य की बोली में कहने लगा :- "आप लोग मुझे अग्नि में झौंकने जा रहे हो। यदि मैं आप लोगों के समान निर्दयी बन जाऊं तो आप सबको तत्काल समाप्त कर सकता हूँ। पर मेरा अन्तर्मन मुझे ऐसा करने के लिए साक्षी नहीं देता, क्योंकि मेरे हृदय में दया का निवास है। हनुमानजी ने रावण की नगरी, लंका में जो ताण्डव नृत्य किया था, उससे भी अधिक भीषण दशा मैं तुम लोगों की कर सकता हूं।"

बकरे के मुँह से इस प्रकार की बात सुन कर इस तरह की अभूतपूर्व घटना से सब ब्राह्मण भयविह्वल और आश्चर्यान्वित हो गये।

किसी तरह साहस बटोर कर उनमें से एक ब्राह्मण बोला :– "तुम कौन हो ? तुम्हारा स्वरूप क्या है ?"

बकरे ने उत्तर दिया – "मैं अग्नि हूं, छाग मेरा वाहन है। आप मेरी बलि देकर किस धर्म की साधना करना चाहते हो ? क्या स्वर्ग की प्राप्ति अथवा इन्द्रासन के लिए पशुबलि करना उचित है ? इस प्रकार का अधर्म किसी

भी दशा में धर्म नहीं कहा जा सकता। यदि तुम लोग वास्तविक धर्म का स्वरूप समझना चाहते हो तो यज्ञ में की जाने वाली हिंसा को बन्द करो और यहां तुम्हारे नगर में विराजित आर्य प्रियग्रंथ मुनि की सेवा में उपस्थित हो उनसे आत्मकल्याण का प्रशस्त पथ समझो।"[1]

इस प्रकार कल्पसुबोधिका नामक ग्रंथ में बताया गया है कि आर्य प्रियग्रंथ ने संघ के कल्याण और जैन संस्कृति के प्रताप को बढ़ाने के लिए मन्त्रविद्या का सहारा लिया और वहां के अनेक ब्राह्मणों को प्रबुद्ध किया।

१४. आर्य षांडिल्य – वाचनाचार्य

श्यामाचार्य के पश्चात् कौशिक गोत्रीय आर्य षांडिल्य वाचनाचार्य हुए। इनको स्कंदिलाचार्य भी कहा जाता है। आचार्य देववाचक (देवर्द्धि क्षमाश्रमण) ने – "वंदे कोसियगोत्तं सांडिल्लं अज्जजीयधरं।" – इस पद से कौशिक गोत्रीय षांडिल्य को वन्दन किया है। गाथा में प्रयुक्त पद – अज्जजीयधरं" – से प्रकट होता है कि आचार्य षांडिल्य जीतव्यवहार के प्रति अधिक निष्ठावान् थे। तपागच्छ पट्टावली में इन्हें 'जीतमर्यादा' नामक शास्त्र का रचनाकार बताया गया है। किन्तु हिमवन्त स्थविरावली में इससे भिन्न प्रकार का उल्लेख मिलता है। उसमें बताया गया है कि आपके एक शिष्य का नाम आर्य जीत था[2], इस कारण आपको आर्य जीतधर कहा गया है। केवल आर्य जीत नामक शिष्य के कारण ही आपको आर्य जीतधर कहा गया हो, यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। हो सकता है कि आपके शिष्य का नाम आर्य जीत हो किन्तु यहां 'जीतधर' शब्द से जीत

---

[1] हनिष्यत नु मां हुत्यैः, वध्नीतायात मा हन।
युष्मद्वन्निर्दयः स्यां चेत्, तदा हन्मि क्षणेन वः॥
यत्कृतं रक्षसां द्रंगे कुपितेन हनूमता।
तत्करोम्येव वः स्वस्थः, कृपा चेन्नान्तरा भवेत्॥
यावन्ति रोमकूपाणि, पशुगात्रेषु भारत।
तावद्वर्षसहस्राणि, पच्यन्ते पशुघातकाः॥
यो दद्यात् कांचनं मेरु, कृत्स्नां चैव वसुन्धराम्।
एकस्य जीवितं दद्या-न्न च तुल्यं युधिष्ठिर॥
महतामपि दानानां, कालेन क्षीयते फलम्।
भीताभयप्रदानस्य, क्षय एव न विद्यते॥ इत्यादि॥
कस्त्वं प्रकाशयात्मानं, तेनोक्तं पावकोऽस्म्यहम्।
ममैनं वाहनं कस्मा-ज्जिघांसथ पशुं वृथा॥
इहास्ति श्री प्रियग्रंथः सूरीन्द्रः समुपागतः।
तं पृच्छत शुभं धर्मं, समाचरत शुद्धितः॥
यथा चक्री नरेन्द्राणां, धानुष्काणां धनंजयः।
तथा धुरि स्थितः साधुः, स एकः सत्यवादिनाम्॥
[कल्पसुबोधिका, २ अधि०, ८ क्षण]

[2] तेषां षांडिल्याचार्याणां आर्य जीतधरार्यसमुद्राख्यौ द्वौ शिष्यावभूताम्।
[हिमवन्त स्थविरावली]

कल्प जैसे शास्त्र को धारण करने वाले अथवा जीतव्यवहार का सम्यक्रूपेण पालन करने वाले – इस प्रकार का अर्थ मानना विशेष संगत प्रतीत होता है। सम्भव है स्थविरावलीकार ने 'अज्जजीयधरं' को एक पद मान कर इसे संज्ञावाचक माना हो पर विचारपूर्वक देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि "अज्ज" शब्द "सांडिल्ल" का विशेषण है और छान्दसत्वात् "अज्जं" के स्थान पर "अज्ज" रखा गया है। इतिहास के विशेषज्ञ इस पर विशेष प्रकाश डालें।

"प्रभावक चरित्र" में उपलब्ध उल्लेख से ऐसा अनुमान किया जाता है कि आचार्य वृद्धवादी इन्हीं आर्य षांडिल्य के शिष्य थे। आचार्य षांडिल्य से 'षांडिल्य गच्छ' निकला जो आगे चलकर 'चन्द्रगच्छ' में सम्मिलित हो गया।

आर्य षांडिल्य का जन्म वीर नि० सं० ३०६ में हुआ। २२ वर्ष की आयु में आपने भागवती दीक्षा ग्रहण की। आप ४८ वर्ष तक सामान्य साधु-पर्याय में रहे। तदनन्तर वीर नि० सं० ३७६ में आपको वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य – ये दोनों पद प्रदान किये गए। ३८ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए जिन-शासन की सेवा कर आपने १०८ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर नि० सं० ४१४ में स्वर्गारोहण किया।

युगप्रधानाचार्य – यह बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ३७६ से ४१४ तक आर्य षांडिल्य वाचनाचार्य पद के साथ-साथ युगप्रधानाचार्य पद पर भी रहे। तदनुसार आप वाचकवंश परम्परा के १४ वें आचार्य और युगप्रधानाचार्य परंपरा के १३ वें आचार्य रहे।

आपके जीवन का इससे अधिक विशिष्ट परिचय उपलब्ध नहीं होता।

आर्य दिन्न – गणाचार्य

आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य इन्द्रदिन्न के पश्चात् आर्य दिन्न गणाचार्य हुए। आप गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे।

आपका जीवन-परिचय उपलब्ध नहीं होता।

१५. आर्य समुद्र – वाचनाचार्य

आर्य संडिल्ल के पश्चात् आर्य समुद्र वीर नि० सं० ४१४ में वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए। आचार्य देववाचक ने नन्दी-स्थविरावली में – "तिसमुद्द-खायकित्ति" – इस पद से यह बतलाया है कि वे आसमुद्र कीर्त्ति वाले थे। आगे के पदों में उनकी ज्ञानगरिमा का गुणगान करते हुए देववाचक ने कहा है – "दीवसमुद्देसु गहिय – पेयालं" – अर्थात् द्वीपों एवं समुद्रों के विषय में आप तलस्पर्शी ज्ञाता थे।

यद्यपि स्पष्ट रूप से आर्य समुद्र के श्रुताराधन का परिचय नहीं मिलता, तथापि देववाचक द्वारा आपके लिये प्रयुक्त किये गये प्रशंसात्मक विशेषणों से यह सहज ही निर्णय किया जा सकता है कि आप क्षेत्र विभाग (द्वीप-समुद्र) के

विशिष्ट ज्ञाता थे और आपका उपदेश सर्वप्रिय होने के साथ ही परम प्रभावकारी भी था। "त्रिसमुद्रख्यातकीर्त्ति" इस विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि आपका विचरण सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी रहा, अन्यथा सम्पूर्ण देश में आपकी इस प्रकार की ख्याति नहीं हो पाती।

संभवतः आर्य समुद्र तत्वज्ञान के अतिरिक्त मुख्य रूपेण भूगोल के विशेषज्ञ थे। आपके लिये देववाचक द्वारा प्रयुक्त "अक्खुब्भियसमुद्दगंभीरं"[1] पद इस बात का द्योतक है कि विविध शास्त्रों के विशिष्ट ज्ञाता एवं प्रकाण्ड पण्डित होने पर भी आपमें समुद्रवत् गाम्भीर्य का अद्भुत गुण विद्यमान था। प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आपका मन किंचित्मात्र भी क्षुब्ध नहीं होता था।

आपकी विद्वत्ता का दूसरा प्रबल प्रमाण यह भी है कि आर्य मंगु जैसे विविध विद्याओं के ज्ञाता मुनि आप ही के शिष्य थे। लगभग ४० वर्ष तक आचार्य पद पर विराजमान रह कर वीर-शासन की सेवा करने के पश्चात् आपने वीर नि० सं० ४५४ में स्वर्गारोहण किया।

वृद्ध-परम्परा के आधार पर ऐसा कहा जाता है कि अपनी आयु के अन्तिम वर्षों में आर्य समुद्र का जंघावल क्षीण हो गया था और वे विहार करने में असमर्थ हो गये थे। ऐसी स्थिति में संभव है कि कुछ काल के स्थिरवास में ही उनका प्राणोत्सर्ग हुआ हो।[2]

आर्य समुद्र के आचार्यकाल के अन्तिम समय में आर्य कालकाचार्य नामक एक महान् प्रभावक आचार्य हुए। उनका परिचय यहां संक्षेप में दिया जा रहा है :-

कालकाचार्य (द्वितीय)

प्रथम कालकाचार्य से लगभग एक शताब्दी पश्चात् वीर निर्वाण की पांचवीं शताब्दी में द्वितीय कालकाचार्य हुए। उत्तराध्ययन टीका, बृहत्कल्पभाष्य, निशीथचूर्णि आदि के आधार पर उनका परिचय यहां संक्षेप में दिया जा रहा है :-

धारावास के राजा वैरसिंह और रानी सुरसुन्दरी के पुत्र का नाम कालक और पुत्री का नाम सरस्वती था। राजकुमारी सरस्वती नाम के अनुसार रूप और गुणों में भी सरस्वती के समान थी। दोनों भाई-वहिन में इतना प्रगाढ़ स्नेह था कि वे दोनों प्रायः साथ-साथ ही रहा करते थे। किसी समय राजकुमार कालक अपनी वहिन सरस्वती के साथ अश्वारूढ़ हो घूमने निकला। नगर के बाहर एक उद्यान में उस समय एक जैन मुनि धर्मोपदेश दे रहे थे। कालक और सरस्वती ने भी उनका उपदेश सुना और उन्हें संसार से विरक्ति हो गई।

---

[1] नंदीसूत्र स्थविरावली, गा० २६

[2] जंघाबल परिक्षीणानामुदधिनाम्नामार्यसमुद्राणामपराक्रमं मरणमभूदिति वृद्धवादिभिः।
[आचारांग वृत्ति, १ श्रु०, ८ अ०, १ उ०]

माता-पिता की अनुमति से कालक और सरस्वती ने गुणाकर मुनि के पास जैन श्रमण दीक्षा स्वीकार कर ली।[1]

आर्य कालक ने अल्प समय में ही गुरु के पास शास्त्राभ्यास कर वीर नि०सं० ४५३ में आचार्य पद प्राप्त किया।[2] कालकाचार्य अपने समय के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे पर कहा जाता है कि उनके द्वारा दीक्षित शिष्य उनके पास अधिक समय तक स्थिर नहीं रह पाते थे। इसे अपने मुहूर्तज्ञान की त्रुटि समझ कर उन्होंने विशिष्ट मुहूर्तज्ञान के लिये आजीवकों के पास निमित्त-ज्ञान का अध्ययन किया।[3]

इस प्रकार आचार्य कालक जैनागमों के अतिरिक्त ज्योतिष और निमित्त-विद्या के भी विशिष्ट ज्ञाता बन गये। किसी समय आर्य कालक अपने श्रमण-संघ के साथ विहार करते हुए उज्जयिनी पधारे। नगर के वाहर उद्यान में आर्य कालक के दर्शन के लिये अन्य श्रमणियों के साथ आई हुई साध्वी सरस्वती को राजा गर्दभिल्ल ने मार्ग में देखा। उसके अनुपम रूप – लावण्य पर मुग्ध हो कर गर्दभिल्ल ने अपने राजपुरुषों द्वारा साध्वी सरस्वती का वलात् अपहरण करवा उसे अपने अन्तःपुर में पहुंचा दिया।

गर्दभिल्ल के इस घोर अनाचारपूर्ण पाप का पता चलते ही आर्य कालक और उज्जयिनी के संघ ने गर्दभिल्ल को समझाने का यथाशक्य पूरा प्रयास किया क़िन्तु उस कामान्ध ने साध्वी सरस्वती को उन्हें नहीं लौटाया। इससे क्रुद्ध होकर आचार्य कालक ने गर्दभिल्ल को राज्यच्युत करने की प्रतिज्ञा की।

भावी संकट से गर्दभिल्ल कहीं सतर्क न हो जाय, इस दृष्टि से दूरदर्शी आचार्य कालक कुछ दिनों तक विक्षिप्त की तरह उज्जयिनी के राजमार्गों एवं चौराहों पर – "गर्दभिल्ल राजा है तो क्या ? उसका अन्तःपुर रम्य है तो क्या ? मैं भिक्षार्थ इधर-उधर घूमता हूँ तो क्या, यदि मैं शून्य देवल में रहता हूँ तो क्या ?" इस प्रकार के अनर्गल प्रलाप करते हुए घूमते रहे। जव उन्होंने देखा कि गर्दभिल्ल को उनके विक्षिप्त होने का पूरा विश्वास हो गया है, तो वे उज्जयिनी से निकल पड़े।

उस समय भरौंच में राजा वलमित्र और भानुमित्र नामक वन्धुद्वय का राज्य था, जो साध्वी सरस्वती और आर्य कालक के भागिनेय थे। आर्य कालक अच्छी तरह जानते थे कि गर्दभिल्ल जैसे शक्तिशाली राजा को पराजित करने के लिए

---

[1] गुणाकरसूरि के पास आर्य कालक के दीक्षित होने का उल्लेख प्रथम कालकाचार्य आर्य श्याम की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि गुणाकरसूरि का समय वीर नि० सं० २६१ से ३३५ तक रहा है। [सम्पादक]

[2] एवं वीर निर्वाण वर्ष ४५३। अस्मिश्च वर्षे गर्दभिल्लकोच्छेदकस्य श्री कालकाचार्यस्य सूरिपदप्रतिष्ठाभूत्। [विचारश्रेणी]

[3] एत्तिउं पढिउं सो न नाओ मुहुत्तो जत्थ पव्वाविओ थिरो होज्जा। तेण निव्वेएण आजीवगाण सगासे निमित्तं पढियं।" [पंचकल्पचूर्णि, पत्र २४]

जैन धर्म का प्रचार-प्रसार और अनेक भव्य जीवों का उद्धार किया। आपका शिष्य-परिवार इतना विशाल था कि वह भारत और भारत से बाहर के विभिन्न प्रदेशों में विचरण कर अगणित भव्य जनों को सद्धर्म का अनुयायी बनाने लगा।

इधर शक राजाओं के पारस्परिक वैमनस्य के कारण उज्जयिनी में शकों का राज्य शनैः शनैः शक्तिविहीन होने लगा। चार वर्ष[१] भी नहीं हो पाये थे कि विक्रमादित्य ने एक प्रबल सेना ले कर वीर निर्वाण संवत् ४७० में उज्जयिनी के शक-राज पर भयंकर आक्रमण किया और युद्ध में शकों को पराजित कर उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर अधिकार कर लिया।

जैन वाङ्मय में अनेक ऐसे पुष्ट प्रमाण विद्यमान हैं, जिनसे निर्विवादरूपेण यह सिद्ध होता है कि विक्रमादित्य ने वीर नि० सं० ४७० में शकों को परास्त कर उज्जयिनी के राजसिंहासन पर अधिकार किया और उसी वर्ष से विक्रम संवत् प्रचलित हुआ। इस प्रकार के प्रबल प्रमाणों की विद्यमानता में भी यह प्रश्न आज तक एक अनबूझ पहेली के रूप में विद्वानों के समक्ष उपस्थित है कि विक्रम संवत् विक्रम के राज्यारोहण के समय से प्रारम्भ हुआ अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात्। जैन वाङ्मय में ही उपलब्ध एक-दो उल्लेखों ने इस प्रश्न को और भी जटिल रूप प्रदान कर दिया है, जिनमें यह बताया गया है कि विक्रमादित्य ने उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर आसीन होने के १७ वर्ष अथवा १३ वर्ष पश्चात् संवत्सर प्रचलित किया।

विक्रमादित्य के वीर नि० सं० ४७० में राज्यासीन होने का सीधा और स्पष्ट उल्लेख 'विचारश्रेणी' की एक गाथा में दृष्टिगोचर होता है, जो इस प्रकार है :–

विक्कमरज्जारंभा, परओ, सिरिवीरनिव्वुई भणिया।
सुन्न-मुणिवेय (४७०) जुतो, विक्कमकालाउ जिणकालो॥

[विचारश्रेणी (मेरुतुंग)]

अर्थात् भगवान् महावीर के निर्वाण दिन से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम का राज्य प्रारम्भ हुआ।

विक्रमादित्य ने विक्रम संवत् उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होते ही प्रचलित किया अथवा कालान्तर में – इस प्रकार के प्रश्न के उत्पन्न होने के पीछे भी एक कारण है। वह यह है कि दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि की एक गाथा में, गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य के वीर नि० सं० ४५३ में होने का उल्लेख किया गया है।[२] उस गाथा में दिये हुए संवत् के आधार पर साध्वी सरस्वती के अपहरणकर्त्ता गर्दभिल्ल का शकों द्वारा उच्छेद किया जाना ४५३ में और विक्रमादित्य द्वारा शकों का उन्मूलन एवं उज्जयिनी के सिंहासन पर आरूढ़ होना

---

[१] ......"नगमस चउ"......

[२] तह गद्दभिल्लरज्जस्स छेयगो कालगायरियो होही।
तेवन्नचउसएहिं (४५३) गुणसयकलिओ पहाजुत्तो॥

४५७ में मान लिया गया। यह पहले बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ४५३ में आर्य कालक को आचार्य पद प्रदान किया गया था।

वीर नि० सं० ४५७ और ४७० के बीच सम्भवतः तालमेल वैठाने के लिए निम्नलिखित गाथा का उपयोग किया गया, जो कि विचारश्रेणी में उल्लिखित है :-

विक्कमरज्जाणंतर सतरसवासेहिं वच्छरपवित्ती

उज्जयिनी के राज्य पर आसीन होने के १७ वर्ष पश्चात् विक्रम द्वारा विक्रम संवत्सर प्रचलित किये जाने की वात भी कालगणना की दृष्टि से ठीक नहीं बैठती। यदि वीर नि० सं० ४५७ में राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के १७ वर्ष पश्चात् विक्रम द्वारा संवत्सर प्रचलित करने की वात मानी जाय तो विक्रम द्वारा संवत्सर प्रवर्तन का काल भगवान् महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् नहीं अपितु ४७४ वर्ष पश्चात् का ठहरता है।

इस वैषम्य को हल करने वाली एक अन्य गाथा विचारश्रेणी के परिशिष्ट में मुनि जिनविजयजी ने दी है :-

विक्कमरज्जाणंतर तेरसवासेसु वच्छरपवित्ती।

इस गाथा में बताया गया है कि विक्रम ने सिंहासनारूढ़ होने के १३ वर्ष पश्चात् संवत् चलाया।

इसके अतिरिक्त वीर नि० सं० ४७० से पहले वीर नि० सं० ४५७ अथवा अन्य किसी समय में शकों को पराजित कर विक्रम द्वारा उज्जयिनी के राज्य-सिंहासन पर अधिकार करने की मान्यता का जन्म सम्भवतः उपरोक्त दो प्राचीन गाथाओं और चतुर्थी के दिन पर्यूषण पर्वाराधन प्रारम्भ किये जाने विषयक निशीथचूर्णि के उल्लेख के आधार पर हुआ है। निशीथचूर्णि में यह उल्लेख विद्यमान है कि आर्य कालक शक राज्य की समाप्ति के पश्चात् उज्जयिनी गये। उस समय उनके भानजे बलमित्र और भानुमित्र उज्जयिनी राज्य के स्वामी थे। उज्जयिनी में अनुकूल अथवा प्रतिकूल परीषह उपस्थित किये जाने पर कालक ने उज्जयिनी से प्रतिष्ठानपुर की ओर विहार कर दिया। प्रतिष्ठानपुर में पहुँचने पर वहां के राजा सातवाहन की प्रार्थना पर आर्य कालक ने परम्परागत पंचमी के स्थान पर चतुर्थी के दिन पर्यूषण पर्वाराधन किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि निशीथचूर्णि के इस प्रकार के उल्लेख की पुष्टि हेतु ही उपर्युल्लिखित दोनों गाथाओं में से किसी एक की रचना की गई हो।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में समीचीनतया पर्यालोचन से गर्दभिल्ल तथा शकों के पश्चात् बलमित्र-भानुमित्र द्वारा उज्जयिनी पर अधिकार किया जाना किसी भी दशा में प्रमाणित नहीं होता। आर्य कालक के भागिनेय बलमित्र भानुमित्र उस समय में भृगुकच्छ (भड़ोंच) के राजा थे और उनका राज्य, शकों का उज्जयिनी पर से विक्रम द्वारा आधिपत्य समाप्त किये जाने के पश्चात् भी भडोंच तक ही सीमित रहा।

वर्तमान में जो वीर नि० सं०, विक्रम सं० और शक सं० प्रचलित हैं, वे पूर्ण प्रामाणिक होने के साथ-साथ परस्पर एक-दूसरे से पूरी तरह तालमेल रखते हैं। इन तीनों ही संवतों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने में सबसे अधिक सहायक एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण यदि कोई उल्लेख है, तो वह विचारश्रेणी का निम्नलिखित उल्लेख है :–

जं रयणि कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतिवई अहिसित्तो पालओ राया॥
सट्ठी पालगरण्णो, पणवन्नसयं तु होइ नंदाणं।
अट्ठसयं मुरियाणं, तीसंचिय पूसमित्तस॥
बलमित्त भानुमित्ताण सट्ठि वरिसाणि चत्त नहवहणे।
तह गद्दभिल्लरज्जं, तेरस वासे सगस्स चउ॥

इन गाथाओं के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण को प्राप्त होने के पश्चात् निम्नलिखित राजाओं का उनके नाम के आगे उल्लिखित वर्षों तक राज्य रहा :–

पालक	६० वर्ष
नन्दवंश	१५५ ,,
मौर्यवंश	१०८ ,,
पुष्यमित्र	३० ,,
बलमित्र-भानुमित्र	६० ,,
नभोवाहन	४० ,,
गर्दभिल्ल	१३ ,,
शक	४ ,,
पूर्ण योग	४७० वर्ष

इसके पश्चात् 'विचारश्रेणी' में निम्नलिखित उल्लेख किया गया है :–

तदनु विक्रमादित्यः	६० वर्ष
धर्मादित्यः	४० ,,
भाइल्लः	११ ,,
नाइल्लः	१४ ,,
नाहडः	१० ,,
एवं	१३५
उभयं (ऊपर के ४७० और ये १३५)	६०५

तदनु शाकसंवत्सरप्रवृत्तिः। उक्तं च –

श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पञ्चोत्तरैः शतैः।
शाक संवत्सरस्यैषा, प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत्॥

इसकी पुष्टि 'तिलोयपण्णत्ती,' 'त्रिलोकसार' आदि दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों द्वारा भी की गई है।[1]

उपरोक्त उल्लेखों से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि वीर नि० सं० ४६६ में गर्दभिल्ल को राज्यच्युत कर उज्जयिनी राज्य पर अधिकार करने वाले शकों को विक्रमादित्य ने वीर नि० सं० ४७० में पराजित किया। इसी वर्ष अर्थात् वीर नि० सं० ४७० में उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होते ही विक्रमादित्य ने अपने नाम का संवत्सर प्रवृत्त किया।

यह सम्भव है कि विक्रमादित्य द्वारा प्रचलित किया गया यह संवत्सर प्रारंभ में उज्जयिनी राज्य तक ही सीमित रहा हो और शकों को भारत के सम्पूर्ण भूभाग से बाहर खदेड़ने तथा भारत के अनेक पड़ौसी राज्यों को अपने शासन के अन्तर्गत ला वृहत्तर भारत का निर्माण करने के पश्चात् उसने पूर्वप्रचालित संवत्सर ही विधिवत् अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में मान्य करने की घोषणा की हो। इस प्रकार की घोषणा का काल वीर नि० सं० ४७० से १७ अथवा १३ वर्ष पश्चात् का हो सकता है, न कि संवत्सर-प्रवर्त्तन का। डिमिट्रियस मीनाण्डर, यूक्रेडाइटीज और अन्य शकों द्वारा भारत के अनेक भागों पर किये गये आधिपत्य को हटाने में विक्रम को १३ अथवा १७ वर्ष अवश्य ही लगे होंगे। हमारे अनुमान से उपरोक्त दोनों गाथाएं विक्रम द्वारा की गई इस प्रकार की उद्घोषणा की ओर ही संकेत करती हैं।

ऐसी स्थिति में एक प्रकार से निश्चित रूपेण यह कहा जा सकता है कि निशीथचूर्णिकार को, बलमित्र भानुमित्र का भडोंच के स्थान पर उज्जयिनी में राज्य होने का और वहां से तन्निमित्त से आर्य कालक के विहार का उल्लेख करने में अवश्य कोई भ्रांति हुई हो।

पंचमी के स्थान पर चतुर्थी का पर्वाराधन

आर्य कालक ने पंचमी के वदले चतुर्थी को पर्यूषण पर्व का आराधन प्रचलित किया[2] इस घटना का विवरण देते हुए निशीथचूर्णी में निम्न प्रकार से उल्लेख किया गया है :-

"अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए आर्य कालक उज्जयिनी (भडोंच) पधारे और वहां वर्षावास किया। उस समय वहां वलमित्र का राज्य था और उनके अनुज भानुमित्र युवराज थे।[3]

वलमित्र-भानुमित्र की एक वहिन थी जिसका नाम भानुश्री था। भानुश्री का पुत्र वलभानु प्रकृति से वड़ा ही सरल एवं विनीत था और साधुओं के प्रति

---

[1] जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ. ५४५

[2] कारणिया चउत्थी अज्ज कालगायरिएण पवत्तिया। [निशीथचूर्णी, भा० ३, पृ० १३१]

[3] वलमित्त भाणुमित्ता, आसि अवंतीइ रायजुवराया।
नियभाणिज्जत्ति तया, तत्थ गम्रो कालगायरिओ ॥८४॥　　[कालकाचार्य कथा]

प्रगाढ़ निष्ठा तथा भक्ति रखता था। संयोगवश कालकाचार्य का उपदेश सुन कर वह प्रतिवुद्ध एवं संसार से विरक्त हो उन्हीं के पास दीक्षित हो गया। इसके फलस्वरूप वलमित्र और भानुमित्र ने रुष्ट होकर कालकाचार्य को वर्षाकाल में ही उज्जयिनी (भडोंच) से विहार करने के लिये वाध्य किया। प्रशासन की ओर से उत्पन्न की गई प्रतिकूल परिस्थिति में आचार्य कालक ने अपने शिष्य-समूह सहित उज्जयिनी (भडोंच) से प्रतिष्ठानपुर की ओर विहार किया।

वर्षाकाल में विहार करने जैसी प्रतिकूल विकट परिस्थिति का अन्य आचार्य एक दूसरा ही कारण वताते हैं। उनका कहना है कि आचार्य कालक के भागिनेय होने के कारण वलमित्र-भानुमित्र अपने मातुल आचार्य के प्रति आन्तरिक श्रद्धा-भक्ति रखते और उनका अत्यधिक आदर-सम्मान करते थे। आचार्य के प्रति उनकी निस्सीम श्रद्धा देख कर पुरोहित के मन में आचार्यश्री के प्रति प्रबल ईर्ष्या उत्पन्न हुई और वह राजा तथा युवराज के सम्मुख वार-वार यह कह कर कि — ये वेद-वाह्य हैं, पाषंडी हैं, उनकी निन्दा करता रहता था। धार्मिक असहिष्णुता से प्रेरित हो पुरोहित ने एक दिन वलमित्र-भानुमित्र के समक्ष आचार्य कालक के साथ सैद्धान्तिक चर्चा प्रारम्भ की। आचार्य ने प्रश्नोत्तर में पुरोहित को निरुत्तर और हतप्रभ कर दिया। अपनी इस पराजय से पुरोहित के अन्तर में आचार्य के प्रति विद्वेषाग्नि भड़क उठी। पुरोहित ने उपयुक्त अवसर देख कर राजा को आचार्य कालक के प्रति भड़काते हुए कहा — "राजन्! ये ऋषि वड़े प्रतापी, पुण्यात्मा और महान् तपस्वी हैं। जिस मार्ग से ये जाते हैं, उस मार्ग से किसी राजपुरुष को नहीं चलना चाहिये। उस मार्ग से चलने पर उनके चरणचिन्हों पर पैर गिरना संभव है। गुरु-चरणों पर पैर गिरने से राज्य में दैवी प्रकोप आदि के रूप में अशिव व्याप्त हो सकता है। अतः राज्यहित और जनहित में इन्हें यहां से विदा कर देना ही श्रेयस्कर है।"

इस प्रकार कारणान्तर से चातुर्मासावधि में ही आचार्य कालक ने वहां से प्रतिष्ठानपुर की ओर विहार कर दिया और प्रतिष्ठानपुर के श्रमणसंघ को संदेश पहुँचाया कि वे पर्यूषण पर्वाराधन से पूर्व ही प्रतिष्ठानपुर पहुंच रहे हैं अतः पर्वाराधन सम्वन्धी आवश्यक कार्यक्रम उनके वहां पहुंचने के पश्चात् निश्चित किया जाय।

प्रतिष्ठानपुर का राजा सातवाहन जैनधर्मावलम्वी और परम श्रद्धालु श्रमणोपासक था। वह वहां के संघ, राजन्यवर्ग, भृत्यगण, परिजन एवं प्रतिष्ठित पौरजनों सहित स्वागतार्थ आचार्यश्री के सम्मुख पहुँचा और वड़े ही आदर-सत्कार एवं उल्लास के साथ कालकाचार्य का नगर-प्रवेश हुआ।

नगर में पहुँचने के पश्चात् आर्य कालकाचार्य ने संघ के समक्ष कहा कि भाद्रपद शुक्ला पंचमी को सामूहिक रूप से पर्यूषण पर्वाराधन किया जाय। श्रमणोपासक संघ ने आचार्य के इस निर्देश को स्वीकार किया परन्तु उसी समय राजा सातवाहन ने कहा — "भगवन्! पंचमी के दिन लोकपरम्परानुसार मुझे इन्द्र-

महोत्सव में सम्मिलित होना होगा। ऐसी स्थिति में यदि पंचमी के दिन पर्वाराधन किया गया तो मैं साधुवन्दन, धर्मश्रवण और समीचीनतया पर्वाराधन से वंचित रह जाऊंगा। अतः ६ के दिन पर्वाराधन किया जाय तो समुचित रहेगा।"

आचार्य ने कहा - "पर्व-तिथि का अतिक्रमण तो नहीं हो सकता।"

राजा सातवाहन ने कहा - "ऐसी दशा में एक दिन पहले चतुर्थी को पर्वाराधन कर लिया जाय तो क्या हानि है ?"

अपनी सहमति प्रकट करते हुए कालकाचार्य ने कहा - "ठीक है, ऐसा हो सकता है।"

इस प्रकार प्रभावक होने के कारण कालकाचार्य ने देश-काल आदि की परिस्थिति को देखते हुए भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी में पज्जोसवण (पर्यूषण पर्वाराधन) प्रारम्भ किया।[1]

कुछ पट्टावलीकारों ने वीर निर्वाण संवत् ९९३ में कालकाचार्य (चतुर्थ) द्वारा चतुर्थी का पर्यूषण पर्व प्रचलित किये जाने का उल्लेख किया है। उसी को दृष्टि में रखकर मेरुतुंग ने अपनी विचारश्रेणी में चतुर्थी पर्व के कर्त्ता कालकाचार्य को निर्वासित करने वाले बलमित्र भानुमित्र को वीर नि० सं० ४७० से ४७२ की अवधि के बीच विद्यमान बलमित्र-भानुमित्र से भिन्न और वीर नि० सं० ९९३ में विद्यमान होने का उल्लेख किया है। संभव है उनके सम्मुख निम्नलिखित गाथा रही हो :-

तेणउअ नवसएहिं, समइक्कंतेहिं वद्धमाणाओ।
पज्जोसवण चउत्थी, कालगसूरीहिं तु ठविया॥

मूलतः यह गाथा किस ग्रंथ की है, इस बात का निर्णय अनेक ग्रंथों के सम्यगवलोकन के पश्चात् भी अभी तक नहीं हो पाया है। ऐसी दशा में इसे प्रक्षिप्त गाथा ही कहा जा सकता है। कल्पसूत्र की संदेहविषौषधि नामक अपनी टीका में आचार्य जिनप्रभ ने इसे तित्थोगालियपइन्ना की गाथा बताया है। पर वहां इस गाथा का कहीं नाम-निशान तक नहीं है। कालकाचार्य कथा में इस गाथा को - "उक्तं च प्रथमानुयोगसारोद्धारे" - लिखकर प्रथमानुयोगसारोद्धार की होना बताया है पर इस नाम का कोई भी ग्रंथ आज अस्तित्व में नहीं है।

कालसप्ततिका में गाथांक ४१ के साथ यह गाथा उपलब्ध होती है, पर इस ग्रंथ की अवचूर्णी में इस गाथा के सम्बन्ध में एक शब्द तक नहीं लिखा गया है। इससे स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि वस्तुतः यह गाथा कालसप्ततिका की नहीं अपितु प्रक्षिप्त है। जैसा कि कल्पकिरणावली में कहा गया है :-

"इति गाथाचतुष्टयं तीर्थोद्गाराद्युक्तसम्मतितया प्रदर्शितं तीर्थोद्गारे च न दृश्यते इत्यपि विचारणीयम्। यद्यपि 'तेणउअनवसएहिं' इति गाथा कालसप्त-

[1] निशीथचूर्णि, उ० १०, भा० ३, पृ० १३१

तिकायां दृश्यते परं तत्र प्रक्षेपगाथानां विद्यमानत्वेन तदवचूर्णावव्याख्यातत्वेन चेयं न सूत्रकृत्कर्तृकेति संभाव्यते ।"[1]

इस प्रकार उक्त गाथा का मूल स्थान अनिर्णीत होने के कारण इसे अविश्वसनीय और प्रक्षिप्त ही कहा जा सकता है। फिर भी यह अवश्य विचारणीय है कि वीर नि० सं० ९९३ में चतुर्थी पर्यूषणा प्रारम्भ होने की गाथोक्त बात तथ्यों की कसौटी पर खरी उतरती है या नहीं।

ऊपर बताया जा चुका है कि निशीथ चूर्णी और अन्य ग्रन्थों में निर्विवाद रूप से यह बात मानी गई है कि प्रतिष्ठानपुर के राजा सातवाहन के निवेदन पर कालकाचार्य ने सकारण चतुर्थी के दिन पर्यूषणा की। जब यह मान लिया जाता है कि सातवाहन के समय में ही पर्यूषणा पर्व चतुर्थी को हुआ तब यह मानना किसी भी तरह संगत नहीं होगा कि वी० नि० सं० ९९३ में कालकाचार्य ने चतुर्थी से पर्व का आराधन प्रारम्भ किया। क्योंकि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ईसा की तीसरी शताब्दी में आन्ध्र राज्य का अन्त हो चुका था। भडौंच में बलमित्र – भानुमित्र का राज्यकाल और प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन का राज्यकाल भी, कालकाचार्य द्वितीय द्वारा वीर नि० सं० ४७० से ४७२ के बीच में भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी के दिन पर्वाराधन प्रारम्भ किये जाने के काल से मेल खाता है।

ऐसी स्थिति में निर्विवाद रूप से यही प्रमाणित होता है कि कालकाचार्य द्वितीय ने वीर नि० सं० ४७० से ४७२ के बीच किसी समय बलमित्र – भानुमित्र के पुरोहित द्वारा उत्पन्न की गई प्रतिकूल परिस्थिति के कारण चातुर्मासावधि में भडोंच से विहार कर प्रतिष्ठानपुर में वहां के राजा सातवाहन की प्रार्थना पर चतुर्थी के दिन पर्यूषण पर्व की प्रतिष्ठापना की।

ऐसा प्रतीत होता है कि वी० नि० सं० ९९३ में कालकाचार्य चतुर्थ द्वारा वल्लभी के राजा ध्रुवसेन के पुत्र-शोक-निवारणार्थ संघ के समक्ष पहले-पहल कल्पसूत्र की वाचना की गई, नामसाम्य के कारण उस घटना के साथ द्वितीय कालकाचार्य द्वारा चतुर्थी के दिन पर्वाराधन की घटना को भी जोड़ दिया गया हो। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि आगे चल कर विक्रम की बारहवीं शताब्दी में चतुर्थी के स्थान पर पुनः पंचमी को पर्वाराधन की प्रक्रिया प्रचलित हुई, उस समय चतुर्थी के पर्वाराधन को अर्वाचीन ठहराने की दृष्टि से किसी ने यह गाथा बना कर किसी प्राचीन ग्रन्थ के नाम से प्रक्षिप्त कर दी हो।

द्वितीय कालकाचार्य के इस समय के सम्बन्ध में दशाश्रुत स्कंध की चूर्णि में एक प्राचीन गाथा भी उपलब्ध होती है, जो इस प्रकार है :–

> तह गद्दभिल्लरज्जस्स छेयगो कालगायरियो होइ।
> तेवण्ण चउसयेहिं, गुणसयकलिओ सुअपउत्तो ॥[2]

---

[1] कल्पकिरणावली, पृ० १३१

[2] (क) दुस्समाकालसमणसंघथयं, अवचूरि [पट्टावली समुच्चय]
(ख) [illegible]

इस गाथा के अनुसार भी द्वितीय कालकाचार्य का अस्तित्व वी० नि० सं० ४५३ में होना सुनिश्चित रूप से सिद्ध होता है।

कालकाचार्य (द्वितीय) स्वर्णभूमि में

अपनी आयु के अन्तिम चरण में एक समय आचार्य कालक (द्वितीय) अपने सुविशाल शिष्य-परिवार के साथ उज्जयिनी में विचर रहे थे। वृद्धावस्था होते हुए भी वे अपने शिष्यसमूह को आगम-वाचना देने में सदा तत्पर रहते थे। उन्हीं दिनों आर्य कालक के प्रशिष्य आर्य सागर जो कि सूत्रार्थ के अच्छे ज्ञाता थे – स्वर्णभूमि में विचरण कर रहे थे।

अपने समीपस्थ शिष्यों में आगमों के अध्ययन के प्रति यथेष्ट रुचि और तत्परता का अभाव देख कर आचार्य कालक एक दिन बड़े खिन्न हुए। वे सोचने लगे – "ये मेरे शिष्य मनोयोग से अनुयोगश्रवण नहीं कर रहे हैं। ऐसी दशा में इनके बीच ठहरने से क्या लाभ ? मुझे उसी स्थान पर रहना चाहिये जहां कि अनुयोगों की प्रवृत्ति अच्छी तरह से हो रही हो। संभव है, मेरे अन्यत्र चले जाने पर शिष्य भी लज्जित होकर अनुयोग ग्रहण करने के लिये उत्साहित हो जायं।"

ऐसा विचार कर आर्य कालक ने शय्यातर से कहा – "मैं स्वर्णभूमि की ओर जा रहा हूं। तुम मेरे शिष्यों को अनायास ही यह बात मत बताना। जब ये अत्यधिक आग्रह करें तो कह देना कि आचार्य स्वर्णभूमि में सागर के पास गये हैं।"

इस प्रकार शय्यातर को अवगत कर रात्रि में शिष्यों के जागृत होने से पहले ही कालकाचार्य स्वर्णभूमि की ओर प्रस्थित हुए और स्वर्णभूमि में पहुंच कर सागर के गच्छ में प्रविष्ट हो गये। आर्य सागर ने भी – "यह कोई खंत है" ऐसा समझ कर उपेक्षा से अभ्युत्थानादि नहीं किया।

अर्थ-पौरुषी के समय तत्वों का व्याख्यान करते हुए आचार्य सागर ने नवागन्तुक वृद्ध साधु (कालकाचार्य) से पूछा – "खन्त ! क्या तुम यह समझते हो ?"

आचार्य ने उत्तर दिया – "हाँ।"

सागर ने सगर्व स्वर में – "तो फिर सुनो" – यह कह कर अनुयोग प्रारम्भ किया।

उधर उज्जयिनी में रहे हुए शिष्यों ने जब आचार्य को नहीं देखा और सब ओर ढूंढने पर भी उन्हें नहीं पाया तो उन्होंने शय्यातर से आचार्य के सम्बन्ध में पूछा।

शय्यातर ने कहा—"जब आप के आचार्य ने आप लोगों को भी नहीं वताया तो मुझे कैसे वताते। अपने आचार्य की इस प्रकार अप्रत्याशित अनुपस्थिति से चिन्तित होकर जब शिष्यों ने बार-बार अत्याग्रहपूर्वक पूछा तो शय्यातर ने कहा—"आगमों के अध्ययन में आप लोगों की मन्द प्रवृत्ति को देखकर आचार्य को वड़ा निर्वेद हुआ है, अतः वे आर्य सागर के पास स्वर्णभूमि चले गये हैं।" यह कह कर शय्यातर ने अध्ययन के प्रति उपेक्षा के लिये उन शिष्यों को कटु शब्दों में उपालम्भ दिया।

इससे लज्जित हो शिष्य भी उसी समय स्वर्णभूमि की ओर चल पड़े। मार्ग में लोग जब उनसे पूछते कि यह कौन आचार्य जा रहे हैं? तो वे उत्तर देते—"आचार्य कालक।" इस प्रकार, यह सूचना वड़ी तीव्र गति से स्वर्णभूमि में सर्वत्र फैल गई और लोगों ने सागर से कहा—"बहुश्रुत और बहुपरिवार वाले आचार्य कालक यहां पधार रहे हैं।"

यह सुनकर आचार्य सागर वड़े प्रसन्न हुए और अपने शिष्यो से कहने लगे—"मेरे श्रद्धेय दादागुरू आ रहे हैं। उनसे मैं कुछ ज्ञातव्य वातें पूछूंगा।"

सागर अपने अनेक शिष्यों को साथ लेकर उस युग के महान् आचार्य अपने दादागुरू आर्य कालक की अगुआनी के लिये सम्मुख पहुंचा। आगन्तुक शिष्य समूह ने उनसे पूछा—"क्या यहां आचार्य आये हैं।" उन्होंने उत्तर दिया—"नहीं! एक अन्य खंत तो आये हुए हैं।"

उपाश्रय में पहुँच कर उज्जयिनी से आये हुए साधु-समूह ने जब भावविभोर हो निस्सीम श्रद्धा के साथ अपने आचार्य के चरणों में वन्दन किया, तव आर्य सागर को ज्ञात हुआ कि ये खंत ही उसके दादागुरू आचार्य आर्य कालक हैं। वह लज्जा से भूमि में गड सा गया। वह पश्चात्ताप भरे स्वर में बोला—"अहो! मैंने वहुत प्रलाप किया और क्षमाश्रमण से वन्दन भी करवाया।" तदनन्तर आसातना की शुद्धि के लिये आर्य सागर ने अपराह्न में 'मिथ्यादुष्कृत' किया और आचार्य के चरणों में मस्तक झुकाते हुए विनम्र स्वर में पूछा—"क्षमाश्रमण! मैं कैसा अनुयोग करता हूं?"

आचार्य कालक ने कहा—"अच्छा है, पर कभी भूल कर भी गर्व मत करना।" आर्य कालक ने मुट्ठी में धूलि ले उसे एक स्थान पर रखा। उसे पुनः उठा-उठा कर क्रमशः तीन स्थानों पर रखा और सागर को वताया कि जिस प्रकार यह धूलि की राशि एक स्थान पर डालने के पश्चात् वहां से दूसरे, तीसरे आदि स्थानों पर रखने और उठाने से निरन्तर कम होती जाती है, उसी प्रकार अर्थ भी तीर्थंकरों से गणधरों को, गणधरों से हमारे पूर्ववर्ती अनेक आचार्य-उपाध्यायों को परम्परा से प्राप्त हुआ है। इस तरह एक स्थान से दूसरे स्थान में आते-जाते इस अर्थ के कितने पर्याय निकल गये हैं, छूट गये हैं, विलीन हो गये हैं, इसकी

कल्पना तक करना कठिन है। अतः ज्ञान के सम्बन्ध में कदापि गर्व करना उचित नहीं।"[1]

इस प्रकार आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य आर्य सागर को प्रतिबुद्ध किया।

एक इस प्रकार की भी मान्यता दृष्टिगोचर होती है कि इन्हीं द्वितीय कालकाचार्य की परम्परा से षांडिल्य गच्छ निकला।

आचार्य वृद्धवादी और सिद्धसेन

विक्रमीय प्रथम शताब्दी के आचार्यों में वृद्धवादी का एक विशिष्ट स्थान है। आप सिद्धसेन के गुरु और बड़े ही प्रतिभाशाली एवं दृढ़ संकल्पशील संत थे। गौड़ देश के कौशल ग्राम में इनका जन्म हुआ। आपका जन्मनाम मुकुन्द था। विद्याधर वंश के आचार्य स्कन्दिलसूरि के उपदेश से विरक्त हो मुकुन्द ने उनके पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। प्रौढ़ वय में दीक्षित होने पर भी वे ज्ञानाभ्यास के बड़े रसिक थे। वे ज्ञान की पिपासा लिये दिन-रात बड़ी लगन के साथ विद्याभ्यास करते। उच्च स्वर से अभ्यास करते रहने के कारण अन्य साधुओं को विक्षेप होने लगा और उन्होंने उन्हें प्रातःकाल जल्दी उठ कर पढ़ने से मना किया। अन्य साधुओं द्वारा समय-समय पर उच्च स्वर से अभ्यास करने का निषेध किये जाने के उपरान्त भी ज्ञानप्राप्ति की तीव्र लगन के कारण उनसे नहीं रहा गया। एक दिन किसी साधु ने उन्हें कह दिया – "इतने उच्च स्वर से पढ़कर क्या तुम्हें मूसल के फूल लगाना है ?"

मुकुन्द मुनि के मन में यह बात चुभी और उन्होंने गुरुकृपा से सरस्वती – मंत्र प्राप्त कर २१ दिन तक निरन्तर आचाम्ल व्रत के साथ उसकी साधना की।[2] मंत्रसिद्धि के परिणामस्वरूप सरस्वती प्रसन्न होकर बोली – "सर्वविद्यासिद्धो भव।"

इस प्रकार दैवी प्रभाव से कवीन्द्र होकर मुनि मुकुन्द गुरुचरणों में उपस्थित हुए और उच्च स्वर से संघ के समक्ष बोले – "जो मेरा यह कह कर उपहास करते हैं कि क्या वृद्धावस्था में यह मूसल के फूल लगायेगा, वे सब देखें, आज मैं वस्तुतः मूसल को पुष्पित किये देता हूं।"

यह कह कर मुकुन्द मुनि ने मैदान में खड़े हो अपनी विद्या के बल से सब के देखते-देखते प्रासुक जल से सींचकर मूसल को पुष्पित कर दिया[3] और यह

---

[1] जहा एस धूली ठविज्जमाणी उक्खिप्पमाणी य सव्वत्थ परिसडइ, एवं अत्थो वि तित्थगरेहिंतो गणहराणं, गणहरेहिंतो जाव अम्हं आयरिय उवज्झायाणं परंपराएण आगयं, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गलिया ? ता मा गव्वं काहिसि।
[बृहत्कल्प, सभाष्य, १ भा., पृ. ७३-७४]

[2] मुहूर्तमिव तत्रास्थात्, दिनानामेकविंशतिम्।
सत्वतुष्टा ततः साक्षाद् भूत्वा देवी तमब्रवीत्॥   [प्रभावक च०, पृ० ५५]

[3] वही, पृ० ५५, श्लोक ३१

शय्यातर ने कहा – "जब आप के आचार्य ने आप लोगों को भी नहीं बताया तो मुझे कैसे बताते । अपने आचार्य की इस प्रकार अप्रत्याशित अनुपस्थिति से चिन्तित होकर जब शिष्यों ने बार-बार अत्याग्रहपूर्वक पूछा तो शय्यातर ने कहा – "आगमों के अध्ययन में आप लोगों की मन्द प्रवृत्ति को देखकर आचार्य को बड़ा निर्वेद हुआ है, अतः वे आर्य सागर के पास स्वर्णभूमि चले गये हैं ।" यह कह कर शय्यातर ने अध्ययन के प्रति उपेक्षा के लिये उन शिष्यों को कटु शब्दों में उपालम्भ दिया ।

इससे लज्जित हो शिष्य भी उसी समय स्वर्णभूमि की ओर चल पड़े । मार्ग में लोग जब उनसे पूछते कि यह कौन आचार्य जा रहे हैं ? तो वे उत्तर देते – "आचार्य कालक ।" इस प्रकार, यह सूचना बड़ी तीव्र गति से स्वर्णभूमि में सर्वत्र फैल गई और लोगों ने सागर से कहा – "बहुश्रुत और बहुपरिवार वाले आचार्य कालक यहां पधार रहे हैं ।"

यह सुनकर आचार्य सागर बड़े प्रसन्न हुए और अपने शिष्यो से कहने लगे – "मेरे श्रद्धेय दादागुरू आ रहे हैं । उनसे मैं कुछ ज्ञातव्य बातें पूछूंगा ।"

सागर अपने अनेक शिष्यों को साथ लेकर उस युग के महान् आचार्य अपने दादागुरू आर्य कालक की अगुआनी के लिये सम्मुख पहुंचा । आगन्तुक शिष्य समूह ने उनसे पूछा – "क्या यहां आचार्य आये हैं ।" उन्होंने उत्तर दिया – "नहीं ! एक अन्य खंत तो आये हुए हैं ।"

उपाश्रय में पहुँच कर उज्जयिनी से आये हुए साधु-समूह ने जब भावविभोर हो निस्सीम श्रद्धा के साथ अपने आचार्य के चरणों में वन्दन किया, तब आर्य सागर को ज्ञात हुआ कि ये खंत ही उसके दादागुरू आचार्य आर्य कालक हैं । वह लज्जा से भूमि में गड सा गया । वह पश्चात्ताप भरे स्वर में बोला – "अहो ! मैंने बहुत प्रलाप किया और क्षमाश्रमण से वन्दन भी करवाया ।" तदनन्तर आसातना की शुद्धि के लिये आर्य सागर ने अपराह्न में 'मिथ्यादुष्कृत' किया और आचार्य के चरणों में मस्तक झुकाते हुए विनम्र स्वर में पूछा – "क्षमाश्रमण ! मैं कैसा अनुयोग करता हूं ?"

आचार्य कालक ने कहा – "अच्छा है, पर कभी भूल कर भी गर्व मत करना ।" आर्य कालक ने मुट्ठी में धूलि ले उसे एक स्थान पर रखा । उसे पुनः उठा-उठा कर क्रमशः तीन स्थानों पर रखा और सागर को बताया कि जिस प्रकार यह धूलि की राशि एक स्थान पर डालने के पश्चात् वहां से दूसरे, तीसरे आदि स्थानों पर रखने और उठाने से निरन्तर कम होती जाती है, इसी प्रकार अर्थ भी तीर्थंकरों से गणधरों को, गणधरों से हमारे पूर्ववर्ती अनेक आचार्य-उपाध्यायों को परम्परा से प्राप्त हुआ है । इस तरह एक स्थान से दूसरे स्थान में आते-आते इस अर्थ के कितने पर्याय निकल गये हैं, छूट गये हैं, विलीन हो गये हैं, इसकी

सिद्धसेन ने डगमगाती चाल देख कर वृद्ध पालकीवाहक से पूछा— "भूरिभारभराक्रान्तः, बाधति स्कन्ध एष ते ?"

वृद्धवादी ने उत्तर में कहा :—
"तथा न बाधते स्कन्धः, यथा बाधति बाधते ।"

परिचित स्वर में उत्तर सुन कर सिद्धसेन चौंक उठे और सोचने लगे —"मेरी भूल बताने वाला यह कौन ? ये कहीं मेरे गुरू वृद्धवादी तो नहीं हैं ?" उन्होंने तत्काल पालकी से नीचे उतर कर देखा और वृद्धवादी को पहिचान कर लज्जित मन से क्षमायाचना की ।

प्रसंगवश सिद्धसेन को साधना में और अधिक स्थित करने के लिये वृद्धवादी ने निम्नलिखित गाथा पढ़ कर उनसे इसका अर्थ पूछा :—

अणफुल्लिय फुल्ल म तोडइ, मा रोवा मोडहिं ।
मणकुसुमेहिं अच्चि निरंजणु, हिंडहि कांइ वणेण वणु ।।१४।।

[प्रबन्धकोश]

बहुत कुछ सोचने पर भी सिद्धसेन इस श्लोक का यथार्थ भाव नहीं समझ सके । तब वृद्धवादी ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा —

"अणफुल्लिय फुल्ल म तोडइ" अर्थात् — सिद्धसेन ! योगरूपी वृक्ष के यश कीर्ति और प्रताप आदि जो फूल हैं, उन्हें केवलज्ञानरूपी फल के पाये विना ही अविकसित दशा में मत तोड़ ।

"मा रोवा मोडहिं" — अर्थात् — महाव्रतों के रोपों (पौधों) को व्यर्थ ही मत मरोड़, मत रोंद ।

"मणकुसुमेहिं अच्चि निरंजणु" — अर्थात् सद्भावरूपी मन के कुसुमों — फूलों से निरंजन जिनेन्द्रदेव की पूजा कर । अथवा सिद्धि प्राप्त निरंजन प्रभु की मनकुसुमों से पूजा कर ।[1]

"हिंडहि कांइ वणेण वणु" अर्थात् — व्यर्थ ही वन से वन भटकने की तरह राजरंजन आदि निरर्थक कार्य क्यों करता है ? कितनी सुन्दर शिक्षा है ?

वृद्धवादी की शिक्षा को सुन कर सिद्धसेन ने आलोचनापूर्वक शुद्धि की । वे संयम-साधना में पूर्णरूपेण स्थिर हुए और राजा को पूछ कर वृद्धवादी के साथ कठोर साधना करते हुए विचरण करने लगे ।

जैनशास्त्रों की भाषा के प्रश्न को ले कर ब्राह्मण विद्वान् प्रायः कहा करते थे कि जैन परम्परा के आचार्य संस्कृत के ज्ञाता नहीं थे । अन्यथा शास्त्रों की रचना प्राकृत जैसी सरल भाषा में नहीं की जाती । इतना ही नहीं इनका महामन्त्र भी साधारण जनों की भाषा — प्राकृत में बोला जाता है । जातिगत संस्कार और

---

[1] (क) प्रभावक चरित्र में पालकी उठाने का उल्लेख नहीं है ।
(ख) मा कुसुमैरर्चय निरंजनं वीतरागम् । [प्रभावक चरित्र]

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की विद्वत्ता और उनके चमत्कारों के सम्बन्ध में बहुत सी जनश्रुतियां प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक में कहा गया है कि चित्रकूट के मानस्तम्भ से सिद्धसेन ने मंत्र-विद्या का एक पत्र प्राप्त किया, जिसमें कि दो विद्याएं थीं। प्रथम – हेमसिद्धि विद्या से यथेप्सित स्वर्ण तैयार किया जा सकता था और दूसरी "सर्सप-विद्या" से सरसों की तरह अगणित सैनिक उत्पन्न किये जा सकते थे। उपरोक्त दोनों विद्याएं लेकर आचार्य सिद्धसेन कूर्मारपुर पहुंचे और वहां के राजा देवपाल को अपने विद्याबल से विजयवर्मा के साथ युद्ध में विजयी बनाया। कृतज्ञतावश राजा देवपाल सिद्धसेन का परम भक्त बन गया और उन्हें उच्चतम राजकीय सम्मान और 'दिवाकर' पद से सम्मानित कर प्रतिदिन वन्दन करने जाता। राजभक्ति से प्रभावित हो आचार्य सिद्धसेन भी पालकी में बैठकर राजा को दर्शन देने जाया करते।

यह नियम है कि रागातिरेक से मानवमन सहज ही प्रभावित हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन भी इसके अपवाद नहीं रहे। राजा और पुरमान्य भक्तजनों की भक्ति से वे संयम-साधना में कुछ शिथिल हो गये। खा-पीकर आराम करने और सोने में उनका अधिकांश समय व्यतीत होने लगा। वे अपने श्रमण वर्ग को भी साधना की प्रेरणा नहीं दे पाते। प्रबन्धकोशकार ने लिखा है – "जहां गुरु निश्चित होकर सोये रहते हों, वहां शिष्यवर्ग पीछे क्यों रहेगा। उनके शिष्य भी खा-पीकर प्रायः दिन-रात सोये रहते हैं और इस प्रकार शयन की स्पर्धा में मुनियों द्वारा मोक्ष पीछे की ओर ठेल दिया जाता है।"[1]

धर्मस्थान में शिथिलाचार के प्रवेश का चित्र खींचते हुए राजशेखरसूरि ने खेदपूर्वक कहा है :–

"सदोष जलपान, फूल, फल और गृहस्थ के सावद्य कर्मों का यतनारहित होकर वहां सेवन किया जाता था। अधिक क्या कहा जाय, वहां साधु वेष की विडम्बना हो रही थी।"[2]

वृद्धवादी ने जब सिद्धसेन की कीर्ति के साथ-साथ उपरोक्त शिथिलाचार के समाचार सुने, तो उन्हें खेद हुआ और वे सिद्धसेन को प्रतिबोध देने हेतु योग्य साधुओं को गच्छ की व्यवस्था सम्हला कर स्वयं एकाकी रूप से कूर्मारपुर की ओर चल पड़े। वहां पहुंच कर वे पालकी उठाने वालों में सम्मिलित हो गये और सिद्धसेन को पालकी में बिठा कर चलने लगे।

---

[1] सुग्रइ गुरु निच्चितो, सीसा वि सुवंति तस्स अणुकमतो।
ओमाहिज्जइ मुक्खो, हुड्डाहुड्डं सुवंतेहिं॥ [प्रबन्धकोश, ६।१२]

[2] दगपाणं पुप्फफलं, अणेसणिज्जं गिहत्थकज्जाइं।
अजया पडिसेवन्ति, जइवेसविडंबगा नवरं॥ [वही, १३]
वर्तमान काल में भी शनैः-शनैः धर्मस्थानों में बिजली की रोशनी, पंखे तथा नल के पानी का उपयोग होने लगा है। मुनिगण गृहस्थों का कार्य बताकर इन कार्यों के लिए अपनी मौन स्वीकृति प्रदान कर रहे हैं। —सम्पादक

सिद्धसेन ने डगमगाती चाल देख कर वृद्ध पालकीवाहक से पूछा – "भूरिभारभराक्रान्तः, बाधति स्कन्ध एष ते ?"

वृद्धवादी ने उत्तर में कहा :–
"तथा न बाधते स्कन्धः, यथा बाधति बाधते ।"

परिचित स्वर में उत्तर सुन कर सिद्धसेन चौंक उठे और सोचने लगे –"मेरी भूल बताने वाला यह कौन ? ये कहीं मेरे गुरू वृद्धवादी तो नहीं हैं ?" उन्होंने तत्काल पालकी से नीचे उतर कर देखा और वृद्धवादी को पहिचान कर लज्जित मन से क्षमायाचना की ।

प्रसंगवश सिद्धसेन को साधना में और अधिक स्थित करने के लिये वृद्धवादी ने निम्नलिखित गाथा पढ़ कर उनसे इसका अर्थ पूछा :–

अणफुल्लिय फुल्ल म तोडइ, मा रोवा मोडहिं ।
मणकुसुमेहिं अच्चि निरंजणु, हिंडहि कांइ वणेण वणु ।।१४।।
[प्रबन्धकोश]

बहुत कुछ सोचने पर भी सिद्धसेन इस श्लोक का यथार्थ भाव नहीं समझ सके । तब वृद्धवादी ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा –

"अणफुल्लिय फुल्ल म तोडइ" अर्थात् – सिद्धसेन ! योगरूपी वृक्ष के यश कीर्ति और प्रताप आदि जो फूल हैं, उन्हें केवलज्ञानरूपी फल के पाये विना ही अविकसित दशा में मत तोड़ ।

"मा रोवा मोडहिं" – अर्थात् – महाव्रतों के रोपों (पौधों) को व्यर्थ ही मत मरोड़, मत रोंद ।

"मणकुसुमेहिं अच्चि निरंजणु" – अर्थात् सद्भावरूपी मन के कुसुमों – फूलों से निरंजन जिनेन्द्रदेव की पूजा कर । अथवा सिद्धि प्राप्त निरंजन प्रभु की मनकुसुमों से पूजा कर ।[1]

"हिंडहि कांइ वणेण वणु" अर्थात् – व्यर्थ ही वन से वन भटकने की तरह राजरंजन आदि निरर्थक कार्य क्यों करता है ? कितनी सुन्दर शिक्षा है ?

वृद्धवादी की शिक्षा को सुन कर सिद्धसेन ने आलोचनापूर्वक शुद्धि की । वे संयम-साधना में पूर्णरूपेण स्थिर हुए और राजा को पूछ कर वृद्धवादी के साथ कठोर साधना करते हुए विचरण करने लगे ।

जैनशास्त्रों की भाषा के प्रश्न को ले कर ब्राह्मण विद्वान् प्रायः कहा करते थे कि जैन परम्परा के आचार्य संस्कृत के ज्ञाता नहीं थे । अन्यथा शास्त्रों की रचना प्राकृत जैसी सरल भाषा में नहीं की जाती । इतना ही नहीं इनका महामन्त्र भी साधारण जनों की भाषा – प्राकृत में बोला जाता है । जातिगत संस्कार और

---

[1] (क) प्रभावक चरित्र में पालकी उठाने का उल्लेख नहीं है ।
(ख) मा कुसुमैरर्चय निरंजनं वीतरागम् ।   [प्रभावक चरित्र]

आवश्यक चूर्णि, निशीथचूर्णि आदि में इन्हें विद्यासिद्ध एवं विद्या-चक्रवर्ती जैसे विशेषणों से अभिहित किया गया है।[1] इससे यह स्पष्टरूपेण प्रमाणित होता है कि वे अतिशय विद्याओं के विशिष्ट ज्ञाता थे।

इनके जीवन से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट घटनाओं का परिचय इस प्रकार है :–

एक बार आर्य खपुट भृगुकच्छपुर पधारे। वहां उनका भगिनीपुत्र भुवन आपके उपदेशों से प्रभावित होकर आपके शिष्यरूप से श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया। बुद्धिशाली समझ कर आर्य खपुट ने भुवन मुनि को कतिपय विद्याएं सिखाईं। संयोगवश भृगुपुर में बौद्ध भिक्षुओं ने राजा बलमित्र के सम्मान से गर्वित होकर जैन श्रमणों के उपाश्रय में घास की पूलियां गिराकर उन्हें पशुतुल्य बताते हुए द्वेष प्रकट करना प्रारम्भ किया। इससे भुवन मुनि बड़ा क्रुद्ध हुआ और श्रावक समुदाय को लेकर राजा बलमित्र की सभा में पहुंचा। वहां उसने उच्च स्वर में कहा – "हे राजन् ! तुम्हारे गुरु गेहेनर्दी बन कर जैन श्रमणों की निन्दा करते हैं। हम उनके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए आ गये हैं। तुम उनको एक बार बुला कर मेरे साथ शास्त्रार्थ करवा दो। जिससे लोग भी वास्तविकता को जान सकें।" मुनि के आह्वान पर राजा ने बौद्धभिक्षुओं को बुलाया और मुनि भुवन के साथ शास्त्रार्थ करवाया। बौद्ध भिक्षु भुवन की अकाट्य युक्तियों के समक्ष चर्चा में परास्त हो गये। भुवन मुनि की विजय से जैन-संघ में हर्ष की लहर फैल गई पर बौद्ध संघ को इस अपमान से गहरा दुःख हुआ। उन्होंने गुडशस्त्रपुर से बौद्धाचार्य वृड्ढकर को बुलाया और भुवन मुनि को उसके साथ शास्त्रार्थ के लिए कहा गया। भुवन मुनि ने विद्याबल एवं तर्क-बल से उसे भी पराजित कर दिया। इस अपमान से दुःखित होकर वृद्धकर कुछ ही दिनों पश्चात् काल कर गुडशस्त्रपुर में यक्ष के रूप से उत्पन्न हुआ। पूर्व-जन्म के वैर के कारण वह जैन संघ और श्रमणों को डराने एवं विविध यातनाएं पहुंचा कर सताने लगा। संघ ने आर्य खपुट को वहां की परिस्थिति से परिचित कर गुडशस्त्रपुर पधारने की प्रार्थना की।

आर्य खपुट गच्छ के अन्य साधुओं के साथ भुवन मुनि को वहीं भृगुपुर में रख कर स्वयं गुडशस्त्रपुर पधारे। जाते समय आर्य खपुट ने एक कपर्द (जन्मी-पट्ट) भुवन मुनि को देकर उसे सावधानी से रखने एवं कभी न खोलने का आदेश दिया। गुडशस्त्रपुर पहुंच कर आर्य खपुट ने यक्ष को अपने प्रभाव से अपना भक्त बना लिया और राजा सहित समस्त नागरिकजनों को भी प्रभावित किया।

---

[1] (क) विज्जाणचक्कवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगावि ।
सिज्झेज्ज महाविज्जा, विज्जासिद्धोऽज्जखउडोव्व ॥
[आवश्यक मलय, पृ. ५४१]

(ख) जो विज्जामंतेण जुत्तो जहा अज्ज खउडो ।
[निशीथचूर्णि, भा० ३, पृ० ५८]

आर्य खपुट गुडशस्त्रपुर में ही विराजित थे कि उनके पास भृगुपुर से दो साधु आये और उन्होंने निवेदन किया — "भगवन् ! आपके इधर चले आने पर भुवन मुनि ने आपकी सम्हलाई हुई गोपनीय कपर्दी को खोल कर उसमें से एक पत्र प्राप्त किया, जिसमें उसे पाठ मात्र से सिद्ध होने वाली आकर्षिणी विद्या प्राप्त हो गई है। वह उस विद्या के प्रभाव से प्रतिदिन उत्तमोत्तम भोजन मंगवा कर खाने लगा। इस पर स्थविरों ने जब उसे ऐसा करने से मना किया तो वह क्रुद्ध होकर सौगतों के विहार में चला गया है। विद्या के प्रभाव से पात्र आकाशमार्ग से जाते और भोज्य पदार्थों से भरे लौटते हैं। इस प्रकार के प्रभाव को देख कर श्रावक भी भुवन मुनि की ओर आकर्षित होने लगे हैं। ऐसी स्थिति में आपको वहां पधार कर संघ को आश्वस्त करना चाहिये।"

मुनि युगल की बात सुन कर आर्य खपुट कुछ विचारमग्न हुए और गुडशस्त्रपुर से भृगुकच्छपुर की ओर चल पड़े। भृगुकच्छपुर पहुंच कर आर्य खपुट कहीं गुप्त रूप से ठहरे और भुवन मुनि द्वारा आकर्षिणी विद्या से मंगवाये गए अन्नपूर्ण पात्रों को आकाशमार्ग में ही शिला द्वारा फोड़ कर गिराने लगे। पात्रों से मिष्टान्न आदि भोजन लोगों के सिर पर गिरने लगा। अपने श्रम को विफल होता देखकर भुवन मुनि को यह समझने में देरी नहीं लगी कि आर्य खपुट वहां पधार चुके हैं। भयभीत होकर वह भृगुपुर से भाग निकला। आर्य खपुट मुनिमण्डल सहित बौद्ध-विहार में पहुंचे और अपनी विद्या के प्रभाव से सबको प्रभावित कर उन्होंने अन्य क्षेत्र की ओर विहार किया। [आवश्यक चूर्णि के आधार पर]

विशिष्ट विद्याओं के माध्यम से चमत्कार-प्रदर्शन के उस युग में आर्य खपुट ने जिन शासन की सेवाएं कीं। तपागच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार आर्य खपुटाचार्य का समय वीर नि० सं० ४५३ और प्रभावक चरित्र में वीर नि० सं० ४८४ बताया गया है।[1] इन दोनों उल्लेखों को एक-दूसरे का पूरक, अर्थात् वीर नि० सं० ४५३ में उनके आचार्य काल का प्रारम्भ और वीर नि० सं० ४८४ में अवसान मान लिया जाय तो उपरोक्त दोनों ग्रन्थकारों के उल्लेख संगत और आर्य खपुट के आचार्य काल के निर्णायक बन सकते हैं।

आर्य रेवतीमित्र (युगप्रधानाचार्य)

आर्य स्कन्दिलाचार्य के पश्चात् आर्य रेवतीमित्र युगप्रधानाचार्य हुए। आपके कुल, जन्म, जन्मस्थान आदि का परिचय प्राप्त नहीं होता। युगप्रधान यंत्र

---

[1] (क) श्रीवीरात् त्रिपंचाशदधिकचतुःशतवर्षातिक्रमे ४५३ भृगुकच्छे आर्य खपुटाचार्य इति पट्टावल्याम्। प्रभावकचरित्रे तु चतुरशीत्यधिकचतुःशत ४८४ वर्षे आर्य खपुटाचार्यः। [तपागच्छ पट्टावली]

(ख) श्रीवीर मुक्तितः शतचतुष्टये चतुरशीतिसंयुक्ते।
वर्षाणां समजायत, श्रीमानाचार्यखपुटगुरुः ॥७६॥
[प्रभावक चरित्र, (विजयसिंहसूरिचरिते) पृ० ४३]

आवश्यक चूर्णि, निशीथचूर्णि आदि में इन्हें विद्यासिद्ध एवं विद्या-चक्रवर्ती जैसे विशेषणों से अभिहित किया गया है।[1] इससे यह स्पष्टरूपेण प्रमाणित होता है कि वे अतिशय विद्याओं के विशिष्ट ज्ञाता थे।

इनके जीवन से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट घटनाओं का परिचय इस प्रकार है :–

एक बार आर्य खपुट भृगुकच्छपुर पधारे। वहां उनका भगिनीपुत्र भुवन आपके उपदेशों से प्रभावित होकर आपके शिष्यरूप से श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया। बुद्धिशाली समझ कर आर्य खपुट ने भुवन मुनि को कतिपय विद्याएं सिखाईं। संयोगवश भृगुपुर में बौद्ध भिक्षुओं ने राजा बलमित्र के सम्मान से गर्वित होकर जैन श्रमणों के उपाश्रय में घास की पूलियां गिराकर उन्हें पशुतुल्य बताते हुए द्वेष प्रकट करना प्रारम्भ किया। इससे भुवन मुनि बड़ा क्रुद्ध हुआ और श्रावक समुदाय को लेकर राजा बलमित्र की सभा में पहुंचा। वहां उसने उच्च स्वर में कहा – "हे राजन्! तुम्हारे गुरु गेहेनर्दी बन कर जैन श्रमणों की निन्दा करते हैं। हम उनके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए आ गये हैं। तुम उनको एक बार बुला कर मेरे साथ शास्त्रार्थ करवा दो। जिससे लोग भी वास्तविकता को जान सकें।" मुनि के आह्वान पर राजा ने बौद्धभिक्षुओं को बुलाया और मुनि भुवन के साथ शास्त्रार्थ करवाया। बौद्ध भिक्षु भुवन की अकाट्य युक्तियों के समक्ष चर्चा में परास्त हो गये। भुवन मुनि की विजय से जैन-संघ में हर्ष की लहर फैल गई पर बौद्ध संघ को इस अपमान से गहरा दुःख हुआ। उन्होंने गुडशस्त्रपुर से बौद्धाचार्य वुड्ढकर को बुलाया और भुवन मुनि को उसके साथ शास्त्रार्थ के लिए कहा गया। भुवन मुनि ने विद्याबल एवं तर्क-बल से उसे भी पराजित कर दिया। इस अपमान से दुःखित होकर वृद्धकर कुछ ही दिनों पश्चात् काल कर गुडशस्त्रपुर में यक्ष के रूप से उत्पन्न हुआ। पूर्व-जन्म के वैर के कारण वह जैन संघ और श्रमणों को डराने एवं विविध यातनाएं पहुंचा कर सताने लगा। संघ ने आर्य खपुट को वहां की परिस्थिति से परिचित कर गुडशस्त्रपुर पधारने की प्रार्थना की।

आर्य खपुट गच्छ के अन्य साधुओं के साथ भुवन मुनि को वहीं भृगुपुर में रख कर स्वयं गुडशस्त्रपुर पधारे। जाते समय आर्य खपुट ने एक कपर्दि (जन्त्री-पट्ट) भुवन मुनि को देकर उसे सावधानी से रखने एवं कभी न खोलने का आदेश दिया। गुडशस्त्रपुर पहुंच कर आर्य खपुट ने यक्ष को अपने प्रभाव में अपना भक्त बना लिया और राजा सहित समस्त नागरिकजनों को भी प्रभावित किया।

---

[1] (क) विज्जागणचक्कवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगाऽवि।
सिज्झेज्ज महाविज्जा, विज्जासिद्धोऽज्जखउडोव्व ॥
[आवश्यक मलय, पृ. ५४१]

(ख) जो विज्जाबलेण जुत्तो जहा अज्ज खउडो।
[निशीथचूर्णि, भा० ३, पृ० २८]

आर्य खपुट गुडशस्त्रपुर में ही विराजित थे कि उनके पास भृगुपुर से दो साधु आये और उन्होंने निवेदन किया – "भगवन् ! आपके इधर चले आने पर भुवन मुनि ने आपकी सम्हलाई हुई गोपनीय कपर्दी को खोल कर उसमें से एक पत्र प्राप्त किया, जिसमें उसे पाठ मात्र से सिद्ध होने वाली आकर्षिणी विद्या प्राप्त हो गई है। वह उस विद्या के प्रभाव से प्रतिदिन उत्तमोत्तम भोजन मंगवा कर खाने लगा। इस पर स्थविरों ने जव उसे ऐसा करने से मना किया तो वह क्रुद्ध होकर सौगतों के विहार में चला गया है। विद्या के प्रभाव से पात्र आकाशमार्ग से जाते और भोज्य पदार्थों से भरे लौटते हैं। इस प्रकार के प्रभाव को देख कर श्रावक भी भुवन मुनि की ओर आकर्षित होने लगे हैं। ऐसी स्थिति में आपको वहां पधार कर संघ को आश्वस्त करना चाहिये।"

मुनि युगल की वात सुन कर आर्य खपुट कुछ विचारमग्न हुए और गुड-शस्त्रपुर से भृगुकच्छपुर की ओर चल पड़े। भृगुकच्छपुर पहुंच कर आर्य खपुट कहीं गुप्त रूप से ठहरे और भुवन मुनि द्वारा आकर्षिणी विद्या से मंगवाये गए अन्नपूर्ण पात्रों को आकाशमार्ग में ही शिला द्वारा फोड़ कर गिराने लगे। पात्रों से मिष्टान्न आदि भोजन लोगों के सिर पर गिरने लगा। अपने श्रम को विफल होता देखकर भुवन मुनि को यह समझने में देरी नहीं लगी कि आर्य खपुट वहां पधार चुके हैं। भयभीत होकर वह भृगुपुर से भाग निकला। आर्य खपुट मुनिमण्डल सहित वौद्ध-विहार में पहुंचे और अपनी विद्या के प्रभाव से सबको प्रभावित कर उन्होंने अन्य क्षेत्र की ओर विहार किया। [आवश्यक चूर्णि के आधार पर]

विशिष्ट विद्याओं के माध्यम से चमत्कार-प्रदर्शन के उस युग में आर्य खपुट ने जिन शासन की सेवाएं कीं। तपागच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार आर्य खपुटाचार्य का समय वीर नि० सं० ४५३ और प्रभावक चरित्र में वीर नि० सं० ४८४ बताया गया है।[1] इन दोनों उल्लेखों को एक-दूसरे का पूरक, अर्थात् वीर नि० सं० ४५३ में उनके आचार्य काल का प्रारम्भ और वीर नि० सं० ४८४ में अवसान मान लिया जाय तो उपरोक्त दोनों ग्रन्थकारों के उल्लेख संगत और आर्य खपुट के आचार्य काल के निर्णायक वन सकते हैं।

आर्य रेवतीमित्र (युगप्रधानाचार्य)

आर्य स्कन्दिलाचार्य के पश्चात् आर्य रेवतीमित्र युगप्रधानाचार्य हुए। आपके कुल, जन्म, जन्मस्थान आदि का परिचय प्राप्त नहीं होता। युगप्रधान यंत्र

---

[1] (क) श्रीवीरात् त्रिपंचाशदधिकचतुःशतवर्षातिक्रमे ४५३ भृगुकच्छे आर्य खपुटाचार्य इति पट्टावल्याम्। प्रभावकचरित्रे तु चतुरशीत्यधिकचतुःशत ४८४ वर्षे आर्य खपुटाचार्यः। [तपागच्छ पट्टावली]

(ख) श्रीवीर मुक्तितः शतचतुष्टये चतुरशीतिसंयुक्ते।
वर्षाणां समजायत, श्रीमानाचार्यखपुटगुरुः ॥७६॥
[प्रभावक चरित्र, (विजयसिंहसूरिचरित्ते) पृ० ४३]

एवं मेरुतुंगाचार्य विरचित विचारश्रेणी में युगप्रधानाचार्यों के गृहस्थपर्याय, सामान्य यतिपर्याय, युगप्रधानपर्याय और पूर्ण आयु का विवरण प्रस्तुत करने वाली ६ गाथाओं के अनुसार रेवतीमित्र १४ वर्ष की आयु में दीक्षित हुए। ४८ वर्ष तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सम्यक्‌रूपेण उपासना करते हुए उन्होंने सामान्य साधुरूप से श्रमणधर्म की परिपालना की। वीर नि० सं० ४१४ में आर्य स्कंदिल (षांडिल्य के स्वर्गगमन के पश्चात् आप युगप्रधान पद पर आसीन हुए। तदनन्तर आपने ३६ वर्ष, ५ मास और ५ दिन तक युगप्रधान पद पर रहते हुए जिन-शासन की उल्लेखनीय सेवाएं कीं। वीर नि० सं० ४५० में ६८ वर्ष की आयु पूर्ण कर आपने स्वर्गारोहण किया।

गणाचार्य – ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य समुद्र के समय में आर्य सुहस्ती की परम्परा के गणाचार्य आर्य दिन्न ही रहे।

आर्य समुद्र के समय के राजवंश

आर्य समुद्र के वाचनाचार्य काल में पाटलिपुत्र में शुंगों, उज्जयिनी में नभोवाहन तथा नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल तथा प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन राजवंस के संस्थापक शिशुक का राज्य रहा। इस समय में अधिकांशतः यज्ञ यागादि कर्मकाण्ड एवं वैदिक संस्कृति का भारत में व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ।

१६. आर्य मंगू-वाचनाचार्य

आचार्य समुद्र, जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है, वे रसों में इतने अनासक्त थे कि सरस-नीरस जो भी आहार भिक्षा में प्राप्त होता, उसको बिना स्वाद की अपेक्षा किये एक साथ मिला कर प्रशान्त भाव से सेवन कर लिया करते थे। उन्हें सदा यह विचार रहता था कि रसों में आसक्ति के कारण कहीं आत्मा कर्मपाश में आवद्ध हो भारी न वन जाय।[1]

इनके इस प्रकार स्वाद-विजय और लाभ के प्रति अनासक्ति के कारण आचार्य देवर्द्धि ने 'अक्खुब्भिय समुद्दगंभीरं' इस पद से आपकी स्तुति की है। आर्य मंगू इन्हीं आर्य समुद्र के शिष्य थे।

आचार्य समुद्र के स्वर्गगमन के पश्चात् उनके शिष्य आर्य मंगू वीर नि० सं० ४५४ में वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए। आप बड़े ज्ञानी, ध्यानी और सम्यग्दर्शन के प्रबल प्रचारक थे। आचार्य देववाचक ने नन्दी की स्थविरावली में आपके लिए 'भणगं करगं झरगं' इन तीन विशेषणों का एक साथ प्रयोग करते हुए अभिव्यक्त किया है कि आप भक्तिपूर्वक सेवा करने वाले शिष्यों को कुशलता के साथ सूत्रार्थ प्रदान करते और सद्धर्म की देशना द्वारा सहस्रों भव्य जनों को प्रतिबोध देकर जिनशासन की महत्वपूर्ण सेवा करते थे।

निशीथ भाष्य और चूर्णि के अनुसार आर्य मंगू बहुश्रुत और बहुशिष्य परिवार वाले होने पर भी उद्यतविहारी थे। एक समय विहारक्रम से विचरण

---

[1] दड्ढिक्कवे अज्ज समुद्दा, ते [illegible] सव्वं मेलेउं भुंजंति। [निशीथ चूर्णि]

करते हुए आचार्य मंगू मथुरा पधारे और अपने मृदु, मनोहर एव वैराग्यपूर्ण वचनों से मथुरा के नागरिकों को उपदेश से प्रतिबुद्ध करने लगे। आचार्य के ज्ञान, वैराग्यपूर्ण प्रवचन के प्रभाव से प्रभावित हो मथुरा के श्रद्धालु भक्तों ने वस्त्रादि से उनकी बड़ी भक्ति की। दूध, दही, घृत, गुड़ आदि स्वादिष्ट पदार्थों से वे उन्हें प्रतिदिन प्रतिलाभित करते। आचार्य का मोह भाव जागृत हुआ और उन्होंने साता- सुख में प्रतिबद्ध होकर वहीं स्थिरवास कर दिया। साथ के शेष मुनि वहां से विहार कर गये।

निमित्तों का भी बड़ा प्रभाव होता है। उपादान अर्थात् आत्मसामर्थ्य में किञ्चित्मात्र दुर्बलता आते ही निमित्त को अपना प्रभाव जमाने में देरी नहीं लगती।

स्थिरवास में रहने के कारण आचार्य के तप, संयम, साधना में शिथिलता आ गई। उनका चारित्राराधन मन्द हो गया और ऋद्धि, रस, साता-गौरव का प्राबल्य बढ़ गया। भक्तजनों द्वारा दिये गए सुस्वादु आहार और प्रेमपूर्ण सेवा से वे उग्रविहार को छोड़ कर वहीं पर प्रमादभाव में रहने लगे। अन्तिम समय में अपने सदोष आचरण की बिना आलोचना किये और बिना प्रमाद त्यागे आयु पूर्ण कर वे चारित्र धर्म की विराधना के कारण यक्ष योनि में उत्पन्न हुए।[1]

ज्ञान के द्वारा जब अपने पूर्व भव का परिचय प्राप्त किया तो वे पश्चात्ताप करने लगे – "अहो! मैंने दुर्बुद्धि के कारण पूर्ण पुण्य से पाने योग्य महानिधान की तरह दुर्गतिहारी जिनमत पाकर भी अपना जीवन विफल कर दिया। ठीक ही कहा है – "चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता भी प्रमाद के कारण अनन्तकाय में जाकर उत्पन्न होते हैं।"[2] इस प्रकार परमनिर्वेद भाव से वे अपने पूर्वकृत प्रमाद की निन्दा करते रहे।

एकदा उन्होंने स्थंडिल भूमि की ओर जाते हुए अपने पूर्वभव के शिष्यों को देखा तो उन्हें प्रतिबोध देने हेतु वे अपना विचित्र स्वरूप बना कर मुंह से लम्बी जिह्वा निकाल मार्ग में खड़े हो गये। यक्ष को देख कर एक सात्विक भावना

---

[1] (क) मथुरा मंगू आगम, बहुसुय वेरग्ग सड्ढपूया य।
सातादि-लोभ-णितिए, मरणे जीहाइ णिद्धमणे ॥३२००॥
सोवि अणालोइय पडिक्कंतो विराहिय सामण्णो वंतरो णिद्धमण जक्खो जातो।
[निशीथ चूर्णि, भा० ३, पृ० १५२–१५३]

(ख) कालं काऊण भवणवासी उववण्णो, साहू पडिवोहणट्ठा आगओ।
[वही, भा० २. पृ० १२५]

(ग) सो गाढपमायपिसाय – गहियहिययो, विमुक्क तवचरणे।
गारवतिग-पडिवद्धो, सड्ढेसु ममत्त संजुत्तो ॥३
दढसिढिलयसामन्नो, निस्सामन्नं पमायमचइत्ता।
कालेण मरिय जाओ, जक्खो तत्थेव निद्धमणे ॥४॥ [दर्शनशुद्धि सटीक]

[2] चउदसपुव्वधरावि, पमायओ जंतिनंतकायेसु।
एयंपि ह हा हा पावं, जीवनतए तया सरियं ॥१०॥ [आर्य मंगू कथा]

वाले शिष्य ने कहा – "देवानुप्रिय ! तुम देव, यक्ष अथवा जो भी हो प्रकट होकर बोलो । इस प्रकार तो हम लोग तुम्हारा अभिप्राय किंचितमात्र भी नहीं समझ पा रहे हैं ।"[1]

यक्ष ने खेदपूर्ण स्वर में कहा – "हे तपस्वियो ! मैं वही तुम्हारा गुरु आर्य मंगू हूँ ।"

साधुओं ने भी खिन्न मन से कहा – "देव ! आपने इस प्रकार की दुर्गति किस प्रकार प्राप्त की ?"

यक्ष ने कहा – "प्रमाद के अधीन होकर चारित्र में शिथिलता लाने वालों की ऐसी ही गति होती है । हमारे जैसे ऋद्धि-रस-साता के गौरव वाले शिथिल-विहारियों की ऐसी गति हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? तुम लोग यदि दुर्गति से बचना और सुगति की ओर बढ़ना चाहते हो तो प्रमादरहित होकर उद्यत-विहार से विचरते हुए निर्ममत्व भाव से तप-संयम की आराधना करते रहना ।"

साधुओं ने कहा – "ओ देवानुप्रिय ! तुमने हमें ठीक प्रतिबुद्ध किया है ।" यह कह कर उन्होंने तत्परता के साथ संयम-धर्म का आराधन प्रारम्भ किया और उद्यत-विहार से विचरने लगे ।

नंदीसूत्र की स्थविरावली में आचार्य देववाचक ने, भरणगं इस पद से कालिक आदि सूत्रों को पढ़ने वाले. करगं से सूत्रोक्त क्रियाकलाप को करने वाले और झरगं पद से धर्मध्यान ध्याने वाले आदि विशेषणों से आर्य मंगू की स्तुति करते हुए उन्हें श्रुतसागर का पारगामी आचार्य बताया है । उनके द्वारा कहे गये – "पभावगं नाणदंसणगुणाणं" – इस पद से ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य मंगू ज्ञान दर्शन के प्रबल प्रभावक थे । आगे चल कर आचार्य देववाचक ने यहां तक लिख दिया है – "श्रुतसागर के पारगामी एवं धीर आर्य मंगू को वंदन हो ।"[2]

दिगम्बर परम्परा के मान्य शास्त्र "कसाय-पाहुड" की टीका जयधवला के अनुसार आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती कसायपाहुड के चूर्णिकार आचार्य यतिवृषभ के विद्यागुरु माने गये हैं । जैसा कि जयधवलाकार ने लिखा है – आचार्य मंक्षु और आचार्य नागहस्ती द्वारा आचार्य यतिवृषभ को दिव्यध्वनिरूप किरण प्राप्त हुई ।[3]

---

[1] दृष्ट्वा प्रासादयष्टीवां, जिह्वां बोधयितुं सुधीः ।
तेष्वेकः सात्विकः साधुरूचे त्वं कोऽसि गुह्यकः ॥५॥ [प्रभावकचरित]

[2] भणगं करगं झरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
वंदामि अज्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं ॥३०॥ [नंदीसूत्र स्थविरावली]

[3] ...विउलगिरिमत्थयत्थ वड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम – लोहज्ज – जंबुसामि-आदि आइरियपरम्पराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमंखु – णागहत्थीहिंतो जइवसहमुहणमिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणि-किरणादो

यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि नन्दी स्थविरावली की ३१ वीं तथा ३२ वीं गाथाओं में वाचक परम्परा के आर्य मंगू के पश्चात् आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त, आर्य वज्र और आर्य रक्षित – इन चार युगप्रधान आचार्यों को वाचनाचार्य भी बताया गया है। चूर्णिकार जिनदासगरिण महत्तर, वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र और टीकाकार मलयगिरि ने इन दोनों गाथाओं का नंदीसूत्र की चूर्णि, वृत्ति और टीका में निर्देश तक नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने इन गाथाओं को प्रक्षिप्त माना है।

इन चार युगप्रधान आचार्यों में से आर्य वज्र स्पष्ट रूप से आर्य सुहस्ती की परम्परा के आचार्य हैं। शेष तीन आचार्य आर्य महागिरि की परम्परा के आचार्य हैं अथवा सुहस्ती की परम्परा के – इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये तीनों युगप्रधानाचार्य किसी अन्य ही स्वतन्त्र परम्परा के अथवा आर्य महागिरि की परम्परा की किसी शाखा के आचार्य हों और इनकी अप्रतिम प्रतिभा के कारण इन्हें वाचनाचार्य माना हो। अनेक प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेखों तथा युगप्रधानाचार्य पट्टावली से यह निर्विवाद रूपेण प्रमाणित होता है कि ये चारों ही आचार्य अपने समय के महान् प्रभावक युगपुरुष और आगमों के पारदृश्वा थे। इनकी विशिष्ट प्रतिभा के कारण ही इन्हें युगप्रधान आचार्य के साथ-साथ वाचनाचार्य भी माना गया है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य मंगू, आर्य नन्दिल और आर्य नागहस्ती ये तीनों ही वाचनाचार्य सुदीर्घजीवी हुए हैं और उनके वाचनाचार्य काल में ही उपरोक्त चारों युगप्रधानाचार्य वाचक वंश के न होते हुए भी अपनी विशिष्ट प्रतिभा एवं तलस्पर्शी आगम-ज्ञान के कारण वाचनाचार्य माने गये हैं।

इन सभी तथ्यों और मुख्य परम्परा को दृष्टिगत रखते हुए इन चारों आचार्यों का परिचय वाचनाचार्य परम्परा में न देकर युगप्रधानाचार्य परम्परा में दिया जा रहा है।

आर्य धर्म – युगप्रधानाचार्य

आर्य रेवतीमित्र के पश्चात् वीर विर्वाण सं० ४५० में आर्य धर्म युगप्रधानाचार्य हुए। आप १८ वर्ष की वय में दीक्षित हुए। ४० वर्ष तक श्रमण धर्म की साधना कर आप युगप्रधान पद पर आसीन हुए। ४४ वर्ष तक युगप्रधान पद पर रहते हुए आपने वीरशासन की प्रभावशाली सेवा की। १०२ वर्ष, ५ मास, ५ दिन की पूर्ण आयु भोग कर आप वीर नि०सं० ४६४ में स्वर्गस्थ हुए। मेरुतुंगीया 'विचारश्रेणी' के उल्लेखानुसार वृद्ध परम्परा में आर्य मंगू का ही अपर नाम धर्म माना गया है। यदि इसमें तथ्य होता तो नंदी स्थविरावली और जयधवला में भी अवश्य इस प्रकार का उल्लेख होता।

आर्य सिंहगिरि – गणाचार्य

आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य दिन्न के पश्चात् आर्य सिंहगिरि गणाचार्य हुए। आपके सम्बन्ध में केवल इतना ही परिचय उपलब्ध होता है कि आप विशिष्ट प्रतिभाशाली एवं जातिस्मरण ज्ञान सम्पन्न प्रभावशाली आचार्य थे। खुशाल पट्टावली के अनुसार वीर नि. सं० ५४७–४८ में अपना स्वर्गवास हुआ। वीर नि. सं. ४९६ में आर्य वज्र का जन्म हुआ, उससे बहुत पहले आर्य समित सिंहगिरि के पास दीक्षित हो चुके थे इससे अनुमान किया जाता है कि आर्य सिंहगिरि वीर नि. सं. ४९० में आचार्य रहे हों। आपके सुविशाल शिष्यपरिवार में से केवल आर्य समित, आर्य धनगिरि, आर्य वज्र और आर्य अर्हद्दत्त इन चार प्रमुख शिष्यों के ही नाम उपलब्ध होते हैं। उनका परिचय इस प्रकार है :-

आर्य समित

आर्य समित का जन्म अतिसमृद्ध अवन्ती प्रदेश के तुम्बवन नामक ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम धनपाल था जो कि बहुत बड़े व्यापारी थे। गौतम गोत्रीय वैश्य श्रेष्ठी धनपाल की उस समय के प्रमुख कोटयधीशों में गणना की जाती थी। आर्य समित के अतिरिक्त श्रेष्ठी धनपाल के एक पुत्री भी थी, जिसका नाम सुनन्दा था।

श्रेष्ठी धनपाल ने अपने होनहार पुत्र समित की शिक्षायोग्य वय में शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था की। आर्य समित बाल्यकाल से ही विरक्त की तरह रहते थे। ऐहिक सुखोपभोगों के प्रति उनके चित्त में किञ्चित्मात्र भी अभिरुचि नहीं थी।

किशोरावस्था में प्रवेश करते ही उन्होंने अतुल धन-वैभव और सभी प्रकार की प्रचुर भोगसामग्री का परित्याग कर आचार्य सिंहगिरि के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली।

उसी तुम्बवन ग्राम के निवासी श्रेष्ठी धन के पुत्र धनगिरि की समित के साथ प्रगाढ़ मैत्री थी। श्रेष्ठी धनपाल ने अपने पुत्र समित के प्रव्रजित हो जाने पर उसके मित्र धनगिरि के समक्ष अपनी पुत्री सुनन्दा के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा। यद्यपि धनगिरि ऐहिक भोगों के प्रति उदासीन था, तथापि अपने मित्र के पिता द्वारा अनन्य आग्रह किये जाने पर उसने अन्ततोगत्वा सुनन्दा के साथ विवाह किया। आर्य समित की बहिन सुनन्दा ने समय पर महान् प्रतापी एवं प्रभावक आचार्य वज्र को जन्म दिया।

आर्य समित ने दीक्षित होने के पश्चात् गुरुसेवा में रहते हुए विधिपूर्वक शास्त्रों का बड़ी ही लगन के साथ अध्ययन किया। वे मन्त्रविद्या के भी विशेषज्ञ थे। उन दिनों अचलपुर के समीप कृष्णा और वेणा नामक दो नदियों से घिरे हुए एक आश्रम में ५०० तापस निवास करते थे। उनके कुलपति का नाम देवशर्म

था।[1] दो नदियों से घिरा हुआ होने के कारण वह आश्रम ब्रह्मद्वीपक के नाम से प्रसिद्ध था। संक्रान्ति आदि कतिपय पर्व दिनों के अवसर पर देवशर्म अपने मत की प्रभावना करने के उद्देश्य से पैरों पर एक विशिष्ट प्रकार का लेप लगाकर सभी तापसों के साथ कृष्णा नदी के जल पर चलता हुआ अचलपुर पहुंचता। इस प्रकार का चमत्कारपूर्ण अद्भुत दृश्य देख कर भोले-भाले और भावुक लोग बड़े प्रभावित होते और अशनपानादि से उन तापसों का बड़ा आदर-सत्कार करते। तापसों के भक्तगण बड़े गर्व के साथ श्रावकों के समक्ष अपने गुरु की प्रशंसा करते हुए उनसे पूछते – "क्या तुम्हारे किसी गुरु में इस प्रकार की अद्भुत सामर्थ्य है ?" श्रावकों को मौन देखकर वे लोग और अधिक उत्साह और गर्व भरे स्वर में कहते – "हमारे गुरु की तपस्या का जैसा अद्भुत एवं प्रत्यक्ष चमत्कार है, उस प्रकार का चमत्कार और अतिशय न तुम्हारे धर्म में है और न तुम्हारे गुरुओं में ही। वस्तुतः हमारे गुरु प्रत्यक्ष देव हैं, इन्हें नतमस्तक हो श्रद्धापूर्वक नमन करो।"

तापसों के भक्तों के इस प्रकार के व्यंगभरे वचनों से श्रावकों के अन्तर्मन को गहरा आघात पहुंचता। उन्हीं दिनों आर्य सिंहगिरि के शिष्य एवं आर्य वज्र के मातुल आर्य समितसूरि का अचलपुर में पदार्पण हुआ। श्रावकगण ने आर्य समित को वन्दन-नमन करने के पश्चात् भूतल की तरह ही नदी के जल पर भी तापसों के चलने-फिरने की सारी घटना निवेदित की। आर्य समित कुछ क्षणों तक मौन रहे। श्रावकों ने पुनः निवेदन किया – "देव ! जनमानस में जिनमत का प्रभाव कम होता जा रहा है। कृपा कर कोई न कोई ऐसा उपाय कीजिए जिससे कि जैन धर्म का प्रभाव बढ़े।"

आर्य समितसूरि ने सस्मित स्वर में कहा – "तापस जल पर चलते हैं, इसमें तपस्या का कोई प्रभाव नहीं, यह तो उनके द्वारा अपने पैरों पर किये जाने वाले लेप का प्रभाव है। भोले-भाले लोगों को वृथा ही भ्रम में डाला जा रहा है।"

श्रावकों ने तापसों द्वारा फैलाये गये मायाजाल और भ्रम को सर्वसाधारण पर प्रकट करने का दृढ़ संकल्प लिए कुलपति सहित सभी तापसों को अपने यहां भोजनार्थ निमन्त्रित किया। जब दूसरे दिन सभी तापस भोजनार्थ श्रावकों के यहां आये तो श्रावकों ने उष्ण जल से सभी तापसों के पैरों को धोना प्रारम्भ किया। कुलपति ने श्रावकों को रोकने का पूरा प्रयास किया। किन्तु श्रावकों ने उनकी एक भी बात नहीं सुनी। "आप जैसे महात्माओं के चरणकमलों को बिना धोये ही यदि हम आपको भोजन करवा दें तो हम सब के सब महान् पाप के भागी हो जाएंगे" – यह कहते हुए श्रावकों ने बड़ी तत्परतापूर्वक उन सब तापसों के पैरों को खूब मल-मल कर धो डाला।

भोजनोपरान्त तापस अपने आश्रम की ओर प्रस्थित हुए। श्रावकों ने उन्हें ससम्मान विदा करने के बहाने हजारों नर-नारियों को वहां पहले ही एकत्रित कर लिया था। तापसों के पीछे विशाल जनसमूह जयघोष करता हुआ चलने लगा।

---

[1] देवशर्मनामा कुलपतिः परिवसति। [पिण्डनिर्युक्ति, पत्र १४४ (१)]

वेणा के तट पर पहुंचते ही कुलपति के साथ-साथ समस्त तापससमुदाय झिझका। उनके समक्ष अति विकट समस्या उपस्थित थी। एक ओर नदी में डूबने का डर था तो दूसरी ओर बड़ी कठिनाई से उपार्जित कीर्ति के मिट्टी में मिलने का भय। लेप का थोड़ा-बहुत प्रभाव तो अवश्य रहा होगा – यह विचार कर कुलपति वेणा के जल में उतरा। वेणा का प्रवाह तेज था और कुलपति के पैरों का लेप गरम पानी से पहले ही धुल चुका था। अतः तापसों का कुलपति वेणा के अगाध एवं तीव्र प्रवाहपूर्ण जल में डूबने लगा।

उसी क्षण आर्य समितसूरि वेणा-तट पर पहुंचे और तापसों के कुलपति को वेणा में डूबता हुआ देखकर बोले – "वेण्णे ! हमें उस ओर जाने के लिए मार्ग चाहिये।" यह देख कर विशाल जनसमूह स्तब्ध रह गया कि तत्क्षण नदी का जल सिकुड़ गया और उस नदी के दोनों पाट पास-पास दृष्टिगोचर होने लगे। आर्य समित एक डग में ही वेणा के दूसरे तट पर पहुंच गये। आर्य समितसूरि की अनुपम आत्मशक्ति से सभी तापस और उपस्थित नर-नारी बड़े प्रभावित हुए। आर्य समित ने उन सबको धर्म का सच्चा स्वरूप समझाते हुए स्व-पर का कल्याण करने के लिए प्रेरित किया। आर्य समित के अन्तस्तलस्पर्शी उपदेश को सुनकर तापस कुलपति अपने ४९९ शिष्यों सहित निर्ग्रन्थ-श्रमण-धर्म में दीक्षित हो गये। वे ५०० श्रमण पहले ब्रह्मद्वीप आश्रम में रहते थे अतः श्रमण धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् उनकी शाखा "ब्रह्मद्वीपिका शाखा" के नाम से लोक में प्रसिद्ध हो गई।[1]

आर्य समित अपने समय के महान् प्रभावक आचार्य थे। उन्होंने आत्म-कल्याण के साथ-साथ अनेक भव्यों को साधना-पथ पर आरूढ़ कर जिनशासन की अनुपम सेवाएं कीं।

आर्य धनगिरि

आर्य सिंहगिरि के दूसरे प्रमुख शिष्य आर्य धनगिरि ने युवास्था में विपुल वैभव और अपनी पतिपरायणा गुर्विणी पत्नी के मोह को छोड़ कर जो उत्कट त्याग-वैराग्य का अनुपम उदाहरण रखा उस प्रकार का अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। आपका परिचय आर्य वज्र के परिचय के साथ दिया जा रहा है।

आर्य अर्हद्दत्त

आपका कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता।

आर्य मंगू के समय के प्रमुख राजवंश

आर्य मंगू के वाचनाचार्यकाल में, वीर नि० सं० ४७० में तदनुसार ईसा से ५७ वर्ष पूर्व तथा शक संवत् से १३५ वर्ष पूर्व अवन्ती के राज्य-सिंहासन पर

---

[1] ते य पंचतावससया समियायरियस्स समीवे पव्वतिता। ततो य बंभदीवा साहा संभुत्ता।
[निशीथचूर्णि, भा० ३, गा० ४२७२, पृ० ४२६]

महान् प्रतापी एवं परमप्रजावत्सल विक्रमादित्य नामक गण-राजा आसीन हुआ। विक्रमादित्य जिस दिन उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ, उसी दिन से अवन्ती राज्य में और उसके १७ अथवा १३ वर्ष पश्चात् सम्पूर्ण भारतवर्ष में उसके नाम से एक संवत् प्रचलित हुआ जो क्रमशः कृत संवत्, मालव संवत्, मालवेश संवत् और विक्रम सम्वत् के नाम से व्यवहृत हुआ। आज भारत के प्रायः सभी भागों में विक्रम संवत् प्रचलित है और प्रतिदिन उस ऐतिहासिक दिवस का जन-जन को स्मरण कराता रहता है, जिस दिन शकारि विक्रमादित्य राज्य-सिंहासन पर बैठा। दो सहस्र से भी अधिक वर्षों से विक्रम संवत् जैन कालगणना को सुनिश्चित करने तथा भारतीय ऐतिहासिक तिथिक्रम को प्रामाणिक रूप से सुनियोजित-सुव्यवस्थित बनाये रखने में प्रमुख एवं सर्वसम्मत आधार माना जाता रहा है।

वीर विक्रमादित्य के शौर्य, दानशीलता, परोपकारपरायणता, न्यायप्रियता एवं प्रजावत्सलता आदि गुणों से ओतप्रोत यशोगाथाओं से भारतीय वाङ्मय भरा पड़ा है। ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी के विद्वान् गुणाढ्य की पैशाची भाषा की महान् कृति "वृहत्कथा" के आधार पर सोमदेव भट्ट द्वारा रचित "कथासरित्सागर" में विक्रमादित्य को अनाथों का नाथ, बन्धुहीनों का वान्धव, पितृहीनों का पिता, निराश्रितों का आश्रयदाता और प्रजाजनों का प्राण-त्राण एवं सर्वस्व तक बताया गया है।[1] विक्रम सम्बन्धी साहित्य के सम्यक् पर्यालोचन के पश्चात् यदि यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम और महान् कर्मयोगी श्रीकृष्ण के पश्चात् भारतीय साहित्य, साहित्यकारों और जनमानस पर सबसे अधिक गहरा प्रभाव विक्रमादित्य का रहा है। वस्तुतः विक्रमादित्य का नाम भारतीय जनमासन में रम गया है।

एक अज्ञात प्राचीन कवि ने तो विक्रमादित्य के लिये यहां तक कह दिया है कि – विक्रमादित्य नृपति ने उन महान् कार्यों को किया, जिनको कि कभी कोई नहीं कर सका, इतने बड़े-बड़े दान दिये, जो कभी कोई नहीं दे सका और ऐसे-ऐसे असाध्य कार्यों को साध्य बनाया, जिनको अन्य कोई साध्य नहीं बना सका।[2]

भारतीय विभिन्न भाषाओं में विक्रमादित्य के सम्बन्ध में बड़ी ही प्रचुर मात्रा में साहित्य निर्मित किया गया है। उस समग्र साहित्य की यदि सूची तैयार की जाय तो संभवतः वह एक बहुत बड़ी सूची होगी। विक्रमादित्य के जीवन से सम्बन्धित अनुमानतः ५० से ऊपर पुस्तकें तो जैन साहित्य में आज दिन तक उपलब्ध हैं। अनुमानतः इतनी ही विक्रम सम्बन्धी पुस्तकें जैनेतर वाङ्मय में होनी चाहिये। इनके अतिरिक्त लोकभाषाओं में हजारों जनप्रिय लोककथाएं एवं

---

[1] स पिता पितृहीनानामबंधूनां स वान्धवः
अनाथानां च नाथः सः, प्रजानां कः स नाभवत् ॥ १८।१।६२

[2] तत्कृतं यन्न केनापि तद्दत्तं यन्न केनचित् ।
तत्साधितमसाध्यं यद्विक्रमार्केण भूभुजा ॥१२४९॥ [शार्ङ्गधरपद्धति]

आख्यान प्रचलित हैं, जिनमें विक्रम की न्यायप्रियता, परोपकारिता आदि अनेक अद्भुत गुणों का बड़ा ही रोचक वर्णन उपलब्ध होता है।

कुछ जैन ग्रन्थों के आधार पर विक्रमादित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :–

मालव प्रदेश की अवन्ती नगरी में गर्दभिल्ल नामक राजा न्यायपूर्वक शासन करता था। उसकी पहली रानी धीमती से भर्तृहरि और उसके पश्चात् दूसरी रानी श्रीमती से विक्रम का जन्म हुआ।[1]

अश्विनीकुमारों के समान सुन्दर स्वरूप वाले वे दोनों कुमार क्रमशः किशोर वय में प्रविष्ट हुए। गर्दभिल्ल ने अपने बड़े पुत्र का राजा भीम की राजकुमारी अनंगसेना के साथ बड़ी धूमधाम-पूर्वक पाणिग्रहण संस्कार करवा दिया। तदनन्तर गर्दभिल्ल ने अनेक देशों को विजित कर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

कालान्तर में शूल रोग से राजा गर्दभिल्ल की मृत्यु हो गई और मन्त्रियों ने भर्तृहरि का अवन्ती के राज्यसिंहासन पर राज्याभिषेक कर दिया।[2]

एक दिन अपने अग्रज भर्तृहरि द्वारा किसी तरह अपमानित किये जाने के कारण विक्रमादित्य अमर्षवशात् खड्ग लेकर एकाकी ही अवन्ती राज्य से निकल पड़ा।[3]

इस प्रकार बड़ा भाई भर्तृहरि अवन्ती राज्य पर शासन करने लगा और उसका अनुज विक्रमादित्य देश-देशान्तरों में परिभ्रमण करने लगा।

---

[1] तत्र न्यायाध्वना सर्वां, जनता पालयन् सदा।
गर्दभिल्लः नृपो राज्यं चकार स्वर्गिनाथवत् ॥१८॥
धीमती श्रीमतीत्याह्वे द्वे पत्न्यौ तस्य सुन्दरे ॥....२१।
दधाना धीमती गर्भं सुन्दरस्वप्नसूचितम्।
शुभेऽह्नि सुषुवे पुत्रं, पूर्वेवार्कस्फुरद्द्युतिम् ॥२२॥
जन्मोत्सवं नृपः कृत्वाकार्य सज्जनबान्धवान्।
ददौ भर्तृहरेत्याख्यां, पुत्रस्य मुदिताशयः ॥२३॥
सम्प्राप्त समये हारिवासरेऽर्कोदयक्षणे।
श्रीमती सुषुवे पुत्रं निधानमिव मेदिनी ॥२९॥
गर्दभिल्ल क्षमापालः कृत्वा जन्मोत्सवं मुदा।
विक्रमार्केति नामादात्, सूनोरर्कविलोकनात् ॥३०॥ [विक्रमचरितम्, सर्ग १]

[2] अन्येद्युः शूलरोगेण गर्दभिल्लमहीपतिः।
मृत्वाकस्मान्मरुद्धाम, जगाम धर्मतत्परः ॥३९॥
मृत्युकृत्यादिके कार्ये कृते मन्त्रीश्वरादयः।
सदुत्सवं व्यधुर्भर्तृहरे राज्याभिषेचनम् ॥४०॥ [वही]

[3] भूपेन विक्रमादित्योऽपमानं गमितान्यदा।
एकाकी खड्गमादाय ययौ देशांतरे क्वचित् ॥४२ [वही]

शुभशीलगणी ने विक्रमादित्य के माता-पिता, भाई आदि का उपरोक्त परिचय देने के पश्चात् "यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता" यह लोकविश्रुत श्लोक देते हुए अमरफल वाला वृत्तान्त दिया है, जिसमें एक ब्राह्मण द्वारा अमरफल प्राप्त करने, उसे भर्तृहरि राजा को देने, राजा द्वारा अपनी रानी को दिये जाने, रानी द्वारा कुबड़े अश्ववाहक को, अश्ववाहक द्वारा गणिका को और गणिका द्वारा पुनः राजा भर्तृहरि को उस फल के दिये जाने का उल्लेख है। इसमें बताया गया है कि वस्तुस्थिति से अवगत होते ही भर्तृहरि संन्यस्त हो वन में चला गया और उसके पश्चात् विक्रमादित्य उज्जयिनी के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ।

अन्यान्य विद्वानों द्वारा रचित विक्रमचरित्रों में कतिपय अंशों में इससे मिलता-जुलता विक्रम का प्रारम्भिक परिचय दिया हुआ है। इनमें से किसी भी ग्रंथ में विक्रमादित्य के वंश के सम्बन्ध में प्रकाश नहीं डाला गया है।

हिमवन्त स्थविरावलीकार और विक्रमादित्य

प्राकृत और संस्कृत भाषा की हस्तलिखित पुस्तक "हिमवन्तस्थविरावली" में विक्रमादित्य को मौर्यवंशी बताया गया है। हिमवन्त स्थविरावली का एतद्विषयक उल्लेख निम्नलिखित रूप में है :-

'अवन्ती नगरी में सम्प्रति के निष्पुत्र निधन के अनन्तर अशोक के पौत्र तथा तिष्यगुप्त के पुत्र बलमित्र एवं भानुमित्र नामक राजकुमार अवन्ती के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुए। वे दोनों भाई जैनधर्म के परमोपासक थे। उनके निधन के पश्चात् बलमित्र का पुत्र नभोवाहन अवन्ती के राज्य का स्वामी बना। नभोवाहन भी जैनधर्म का अनुयायी था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र गर्दभिल्ल राजा बना। गर्दभिल्ल ने कालकाचार्य द्वितीय की बहिन साध्वी सरस्वती का बलात् अपहरण करवा कर उसे अपने अन्तःपुर में बन्द कर दिया। सब प्रकार से समझाने-बुझाने पर भी गर्दभिल्ल ने त्याग-पथ की पथिका साध्वी सरस्वती को मुक्त नहीं किया। अन्ततोगत्वा कालकाचार्य ने अन्य और कोई चारा न देख भृगुकच्छ के अधिपति अपने भागिनेय बलमित्र-भानुमित्र[1] एवं सिन्धुप्रदेश के शक राजाओं की सम्मिलित सेना द्वारा उज्जयिनी पर आक्रमण करवा दिया। भीषण युद्ध में गर्दभिल्ल मारा गया और शकों ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया। आर्य कालक ने अपनी बहिन साध्वी सरस्वती को पुनः संयम धर्म में स्थापित किया और वे स्वयं भी समुचित प्रायश्चित्त कर संयमसाधना में निरत हुए।

---

[1] ये दोनों बन्धु आर्य कालक के भागिनेय भृगुकच्छ राज्य के अधिपति बलमित्र भानुमित्र से भिन्न हैं। इनका सत्ताकाल वीर नि० सं० ३५३ से ४१३ तक का है जबकि भड़ौंच के बलमित्र-भानुमित्र का समय वीर निर्वाण से ४५४ वर्ष पश्चात् का है।
[सम्पादक]

विदेशी शकों के अत्याचारों से संत्रस्त प्रजा का नेतृत्व कर विक्रमादित्य ने शकों को परास्त किया और ४ वर्ष पश्चात् ही पुनः अपने पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया।"[1]

आचार्य मेरुतुंग की 'विचारश्रेणी' तथा अनेक प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित राजवंशों के विवरणों के संदर्भ में विचार करने पर हिमवंत स्थविरावली में वर्णित उपरोक्त घटनाक्रम संगत और विश्वसनीय प्रतीत होता है। कहावली एवं परिशिष्ट पर्व में वीर निर्वाण के पश्चात् राजवंशों की कालगणना में पालक के राज्य के ६० वर्षों को सम्मिलित न किये जाने के कारण जो कालक्रम के आलेखन में त्रुटि रही है, तथा उसके परिणामस्वरूप कालगणनाविषयक एक नवीन मान्यता विगत अनेक शताब्दियों से प्रचलित रही है, उसका प्रभाव हिमवन्त स्थविरावली-कार पर भी पूरी तरह से पड़ा है। उपरिचर्चित उद्धरण में हिमवन्त स्थविरावली-कार ने जो ऐतिहासिक घटनाओं का तिथिक्रम दिया है, उन सभी तिथियों में यह ६० वर्ष का अन्तर स्पष्टतः परिलक्षित होता है। जैन कालगणना विषयक उस दूसरी मान्यता के प्रभाव में हिमवन्तस्थविरावलीकार ने ६० वर्ष पश्चात् घटित होने वाली घटनाओं का तिथिक्रम ६० वर्ष पहले का दे दिया है। नन्दवंश के अन्त एवं मौर्य-शासन के प्रारम्भ होने के काल की चर्चा करते समय इस कालभेद के सम्बन्ध में पहले प्रमाण-पुरस्सर पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। अतः यहां उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

सोमदेव रचित कथासरित्सागर में विक्रमादित्य के पिता का नाम महेन्द्रादित्य और माता का नाम सौम्यदर्शना दिया गया है। उसमें यह बताया गया है कि महेन्द्रादित्य ने पुत्र की कामना से शिव की उपासना की। शंकर के कृपाप्रासद से शंकर का माल्यवान नामक गण सौम्यदर्शना के गर्भ से उत्पन्न हुआ और महेंद्रादित्य ने उसका नाम विक्रमादित्य रखा।

सिंहासन वत्तीसी आदि अनेक ग्रंथों में भर्तृहरि और विक्रमादित्य के जन्म के सम्बन्ध में बड़ा ही अद्भुत् उल्लेख उपलब्ध होता है। उससे सभी परिचित हैं अतः उसे यहां देने की आवश्यकता नहीं।

---

[1] अहावंती णयरम्मि संपइ णिवस्स णिपुत्तस्स सग्गगमणंतरमसोगणिवपुत्ततिस्सगुत्तस्स वलमित्तभाणुमित्तणामधिज्जे दुवे पुत्ते वीराओ दो सय चउणवई वासेसु विइक्कंतेसु रज्जं पत्ते। ते णं दुन्नि वि भाया जिणधम्माराहगे वीराओ चउवन्नाहियतिसयवासेसु विइक्कंतेसु सग्गं पत्ते। तयणंतरं बलमित्तस्स पुत्तो णभोवाहणो अवंती रज्जे ठिओ। से वि य णं जिणधम्माणुगो वीराओ तिसयचउणवइ वासेसु विइक्कंतेसु सग्गं पत्तो। तओ तस्स पुत्तो गद्दहीविज्जोवेओ गद्दहिल्लो णिवो अवंतीणयरे रज्जं पत्तो।

..........तत्थ णं भीसणे जुज्झे जायमाणे गद्दहिल्लो णिवो कालं किच्चा णेरइया-तिहिओ जाओ।......

तउ गद्दहिल्लणिवपुत्तो विक्कमणामधिज्जो तं सामंतणामधिज्जं सगरायमाकम्म वीराओ दसाहियचउसयवासेसु विइक्कंतेसु अवंती णयरे रज्जं पत्तो। से वि य णं विक्कमक्को णिवो अईव परक्कमजुओ जिणधम्माराहगो परोपयारेगणिट्ठो अवंतीए णयरे रज्जं कुणमाणो लोगाणमईव पिओ जाओ। [हिमवन्तस्थविरावली, अप्रकाशित]

जहां एक ओर विक्रमादित्य का संवत् आज से २०३० वर्ष पहले से चला आ रहा है, संस्कृत, प्राकृत एवं विभिन्न भारतीय भाषाओं में विक्रम का जीवन-परिचय देने वाले १०० से ऊपर ग्रंथ, हजारों आख्यान और लोककथाएं भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं तथा विक्रम के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले सैकड़ों शिलालेख, दानपत्र आदि विद्यमान हैं, वहां दूसरी ओर यह देखकर बड़ा आश्चर्य और दुःख होता है कि भारतीय जनजीवन में शताब्दियों से पूर्णतः रमे हुए, भारतीयों के हृदयसम्राट् महान् प्रतापी राजा विक्रमादित्य के अस्तित्व के विषय में भी कतिपय पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान् सन्देह प्रकट करते हैं।

'ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में इस प्रकार का महान् प्रतापी विक्रमादित्य नामक राजा हुआ अथवा नहीं।' अपनी इस शंका की पुष्टि में मुख्य रूप से उन विद्वानों द्वारा यही कहा जाता है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व यदि विक्रमादित्य नाम का महान् प्रतापी राजा हुआ होता और उसने अपने नाम से संवत् प्रचलित किया होता तो उसके नाम के सिक्के अवश्य उपलब्ध होते। इसके साथ ही साथ ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ले कर ईसा की ८वीं शताब्दी के बीच के किसी समय के कम से कम एक दो शिलालेख तो विक्रम संवत् के उल्लेख के साथ मिलते। पर इस अवधि के बीच का एक भी शिलालेख इस प्रकार का नहीं मिलता जिस पर स्पष्ट शब्दों में विक्रम संवत् अंकित हो। विक्रम संवत् के उल्लेख से युक्त सबसे पहला शिलालेख चण्डमहासेन नामक चौहान राजा का धोलपुर से मिला है जिस पर विक्रम संवत् ८९८ खुदा हुआ है। इस प्रकार यह लेख ई० सन् ८४१ का है। इससे पहले के जितने भी अभिलेख विक्रमादित्य के संवत् से सम्बन्धित बताये जाते हैं, उन पर विक्रम संवत् नहीं अपितु निम्नलिखित पद खुदे हुए हैं :-

(१) श्रीर्म्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।
(२) कृतेषु चतुषु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्व्वस्यां।
(नगरी का लेख)
(३) मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्तने॥
(मन्दसोर का कुमारगुप्त (१) का शिलालेख)

जो विद्वान् इस प्रकार की शंका उठाते हैं, उन्हें सर्वप्रथम यह विचार करना होगा कि विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी और उसके पश्चात् की भी कतिपय शताब्दियों में देश की राजनैतिक स्थिति कितनी अस्थिर, डांवाडोल और विदेशी आक्रमणों, गृह कलहों के कारण उथलपुथल से भरी होगी। इस प्रकार के संक्रान्तिकाल में यह बहुत कुछ संभव है कि वह ऐतिहासिक सामग्री बाद में आये हुए शकों द्वारा नष्टभ्रष्ट कर दी गई हो अथवा वह सामग्री इधर-उधर बिखर गई हो।

वह कितना भीषण संक्रान्तिकाल था, इसका अनुमान मालव गण द्वारा अपनी जन्मभूमि झेलम के तट (पंजाब) का परित्याग किया जाकर प्रथमतः

विदेशी शकों के अत्याचारों से संत्रस्त प्रजा का नेतृत्व कर विक्रमादित्य ने शकों को परास्त किया और ४ वर्ष पश्चात् ही पुनः अपने पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया।"[1]

आचार्य मेरुतुंग की 'विचारश्रेणी' तथा अनेक प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित राजवंशों के विवरणों के संदर्भ में विचार करने पर हिमवंत स्थविरावली में वर्णित उपरोक्त घटनाक्रम संगत और विश्वसनीय प्रतीत होता है। कहावली एवं परिशिष्ट पर्व में वीर निर्वाण के पश्चात् राजवंशों की कालगणना में पालक के राज्य के ६० वर्षों को सम्मिलित न किये जाने के कारण जो कालक्रम के आलेखन में त्रुटि रही है, तथा उसके परिणामस्वरूप कालगणनाविषयक एक नवीन मान्यता विगत अनेक शताब्दियों से प्रचलित रही है, उसका प्रभाव हिमवन्त स्थविरावली-कार पर भी पूरी तरह से पड़ा है। उपरिचर्चित उद्धरण में हिमवन्त स्थविरावली-कार ने जो ऐतिहासिक घटनाओं का तिथिक्रम दिया है, उन सभी तिथियों में यह ६० वर्ष का अन्तर स्पष्टतः परिलक्षित होता है। जैन कालगणना विषयक उस दूसरी मान्यता के प्रभाव में हिमवन्तस्थविरावलीकार ने ६० वर्ष पश्चात् घटित होने वाली घटनाओं का तिथिक्रम ६० वर्ष पहले का दे दिया है। नन्दवंश के अन्त एवं मौर्य-शासन के प्रारम्भ होने के काल की चर्चा करते समय इस कालभेद के सम्बन्ध में पहले प्रमाण-पुरस्सर पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। अतः यहां उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

सोमदेव रचित कथासरित्सागर में विक्रमादित्य के पिता का नाम महेन्द्रादित्य और माता का नाम सौम्यदर्शना दिया गया है। उसमें यह बताया गया है कि महेन्द्रादित्य ने पुत्र की कामना से शिव की उपासना की। शंकर के कृपाप्रासद से शंकर का माल्यवान नामक गण सौम्यदर्शना के गर्भ से उत्पन्न हुआ और महेंद्रादित्य ने उसका नाम विक्रमादित्य रखा।

सिंहासन बत्तीसी आदि अनेक ग्रंथों में भर्तृहरि और विक्रमादित्य के जन्म के सम्बन्ध में बड़ा ही अद्भुत् उल्लेख उपलब्ध होता है। उससे सभी परिचित हैं अतः उसे यहां देने की आवश्यकता नहीं।

---

[1] अहावंती णयरम्मि संपइ णिवस्स णिपुत्तस्स सग्गगमणंतरमसोगणिवपुत्ततिस्सगुत्तस्स बलमित्तभाणुमित्तणामधिज्जे दुवे पुत्ते वीराओ दो सय चउणवई वासेसु विइक्कंतेसु रज्जं पत्ते। ते णं दुन्नि वि भाया जिणधम्माराहगे वीराओ चउवन्नाहियतिसयवासेसु विइक्कंतेसु सग्गं पत्ते। तयणंतरं बलमित्तस्स पुत्तो णभोवाहणो अवंती रज्जे ठिओ। से वि य णं जिणधम्माणुगो वीराओ तिसयचउणवइ वासेसु विइक्कंतेसु सग्गं पत्तो। तओ तस्स पुत्तो गद्दहीविज्जोवेओ गद्दहिल्लो णिवो अवंतीणयरे रज्जं पत्तो।

..........तत्थ णं भीसणे जुज्झे जायमाणे गद्दहिल्लो णिवो कालं किच्चा णेरइया-तिहिओ जाओ।.......

तउ गद्दहिल्लणिवपुत्तो विक्कमणामधिज्जो तं सामंतणामविज्जं सगरायमाकम्म वीराओ दसाहियचउसयवासेसु विइक्कंतेसु अवंती णयरे रज्जं पत्तो। से वि य णं विक्कमक्को णिवो अईव परक्कमजुओ जिणधम्माराहगो परोपयारेगणिट्ठो अवंतीए णयरे रज्जं कुणमाणो लोग्गाणमईव पिओ जाओ। [हिमवन्तस्थविरावली, अप्रकाशित]

जहां एक ओर विक्रमादित्य का संवत् आज से २०३० वर्ष पहले से चला आ रहा है, संस्कृत, प्राकृत एवं विभिन्न भारतीय भाषाओं में विक्रम का जीवन-परिचय देने वाले १०० से ऊपर ग्रंथ, हजारों आख्यान और लोककथाएं भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं तथा विक्रम के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले सैकड़ों शिलालेख, दानपत्र आदि विद्यमान हैं, वहां दूसरी ओर यह देखकर बड़ा आश्चर्य और दुःख होता है कि भारतीय जनजीवन में शताब्दियों से पूर्णतः रमे हुए, भारतीयों के हृदयसम्राट् महान् प्रतापी राजा विक्रमादित्य के अस्तित्व के विषय में भी कतिपय पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान् सन्देह प्रकट करते हैं।

'ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में इस प्रकार का महान् प्रतापी विक्रमादित्य नामक राजा हुआ अथवा नहीं।' अपनी इस शंका की पुष्टि में मुख्य रूप से उन विद्वानों द्वारा यही कहा जाता है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व यदि विक्रमादित्य नाम का महान् प्रतापी राजा हुआ होता और उसने अपने नाम से संवत् प्रचलित किया होता तो उसके नाम के सिक्के अवश्य उपलब्ध होते। इसके साथ ही साथ ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ले कर ईसा की ८वीं शताब्दी के बीच के किसी समय के कम से कम एक दो शिलालेख तो विक्रम संवत् के उल्लेख के साथ मिलते। पर इस अवधि के बीच का एक भी शिलालेख इस प्रकार का नहीं मिलता जिस पर स्पष्ट शब्दों में विक्रम संवत् अंकित हो। विक्रम संवत् के उल्लेख से युक्त सबसे पहला शिलालेख चण्डमहासेन नामक चौहान राजा का धोलपुर से मिला है जिस पर विक्रम संवत् ८९८ खुदा हुआ है। इस प्रकार यह लेख ई० सन् ८४१ का है। इससे पहले के जितने भी अभिलेख विक्रमादित्य के संवत् से सम्बन्धित बताये जाते हैं, उन पर विक्रम संवत् नहीं अपितु निम्नलिखित पद खुदे हुए हैं :-

(१) श्रीर्म्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।

(२) कृतेषु चतुषु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्व्वस्यां।
(नगरी का लेख)

(३) मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्तने॥
(मन्दसोर का कुमारगुप्त (१) का शिलालेख)

जो विद्वान् इस प्रकार की शंका उठाते हैं, उन्हें सर्वप्रथम यह विचार करना होगा कि विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी और उसके पश्चात् की भी कतिपय शताब्दियों में देश की राजनैतिक स्थिति कितनी अस्थिर, डांवाडोल और विदेशी आक्रमणों, गृह कलहों के कारण उथलपुथल से भरी होगी। इस प्रकार के संक्रान्तिकाल में यह बहुत कुछ संभव है कि वह ऐतिहासिक सामग्री बाद में आये हुए शकों द्वारा नष्टभ्रष्ट कर दी गई हो अथवा वह सामग्री इधर-उधर बिखर गई हो।

वह कितना भीषण संक्रान्तिकाल था, इसका अनुमान मालव गण द्वारा अपनी जन्मभूमि झेलम के तट (पंजाब) का परित्याग किया जाकर प्रथमतः

पूर्वी राजस्थान में और उसके पश्चात् अवन्ती राज्य में बसने से लगाया जा सकता है।

विक्रम ने अवन्ती के राज्यसिंहासन पर आसीन होते ही अपने नाम का संवत् चलाने के स्थान पर कृत संवत् अथवा मालव संवत् क्यों चलाया ? इस प्रश्न का उत्तर खोजते समय विद्वानों ने आज तक एक बड़े महत्वपूर्ण तथ्य की ओर किंचित्मात्र भी दृष्टिनिक्षेप नहीं किया है। उस तथ्य की ओर ध्यान देने से संभवतः इस प्रश्न का सहज ही समाधान हो जाता है। वह तथ्य यह है कि बलमित्र-भानुमित्र तथा शकों की सम्मिलित सेना द्वारा पराजित एवं राज्यच्युत होने के पश्चात् गर्दभिल्ल की मृत्यु हो गई। ऐसी स्थिति में युवा राजपुत्र विक्रमादित्य के पास न तो कोई संगठित सेना ही रही और न कोई छोटा-मोटा राज्य ही। अपने पैतृक राज्य पर अधिकार करने के लिये निश्चित रूप से उसे विदेशी शकों के विरुद्ध प्रजा में विद्रोह भड़काने तथा किसी अन्य शक्ति की सहायता लेने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। ऐसी स्थिति में क्या यह अनुमान लगाना अनुचित होगा कि विक्रम ने उस समय की एक वीर और योद्धा जाति के मालवों के साथ वैवाहिक अथवा अन्य किसी प्रकार के सम्बन्ध के माध्यम से मैत्री कर कार्यसिद्धि के लिये उनकी सहायता प्राप्त करने का पूरे मनोयोग से प्रयास किया होगा ? इस प्रयास में सफलता प्राप्त होते ही निश्चित रूपेण विदेशी आततताइयों के अत्याचारों से पीड़ित अवन्ती की प्रजा में विद्रोह की आग भड़का, मालवों की सहायता से विक्रमादित्य ने शकों को पराजित कर अवन्ती के अपने पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया होगा। झेलम के तटवर्ती पंजाब के उपजाऊ प्रदेश को परिस्थितिवश छोड़ कर आये हुए मालव लोगों ने भी अवन्ती प्रदेश की उर्वरा भूमि पर स्थायी रूप से बस जाने की आशा लिये शक राज्य के विनाश के लिये प्राणपण से विक्रमादित्य की सहायता की होगी।

मालवों के इस असीम उपकार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये विक्रमादित्य ने अवन्ती प्रदेश का नाम मालव और मालवों के साथ हुई मैत्री को अमर बनाने के लिये प्रारम्भ में मालव राज्य में और कालान्तर में समस्त भारत में कृत सम्वत् अथवा मालव संवत् चलाया। लेखन आदि में भले ही यह कृत संवत् मालव संवत् लिखा जाता रहा हो पर शकों को भारत की धरा से भगा देनेवाले अपने प्रतापी एवं परोपकारी सम्राट् के प्रति कृतज्ञता एवं श्रद्धा प्रकट करते हुए जनता जनार्दन ने बोलचाल में इसे विक्रम सम्वत् के नाम से ही व्यवहार में लिया होगा। कोटि-कोटि कण्ठों पर चढा हुआ विक्रम संवत् अन्ततोगत्वा लेखन आदि में भी कृत संवत्–मालव संवत के स्थान पर व्यवहृत होने लगा।

ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नामक एक महाप्रतापी राजा हुआ, इस तथ्य की पुष्टि केवल जनश्रुति ही डिण्डिमघोष के साथ नहीं करती अपितु ऐतिहासिक अनुश्रुति भी इसकी पुष्टि करती है। सभी लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों को

विक्रम संवत् के आधार पर, ईसा की पहली शताब्दी के ऐतिहासिक विद्वान् सातकर्णी राजा हाल की 'गाथासप्तशती' के उल्लेखों एवं उन्हीं के समकालीन विद्वान् गुणाढ्य की बृहत्कथा के उल्लेखों के आधार पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य नामक प्रतापी राजा हुआ है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डॉ० स्टेनकोनो ने भी विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के इस पहलू को स्वीकार किया है।[1]

जनअनुश्रुति और ऐतिहासिक अनुश्रुति के साथ-साथ साहित्यिक अनुश्रुति से भी विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की पुष्टि होती है। यह पहले बताया जा चुका है कि जैन एवं जैनेतर साहित्य के १०० से अधिक संस्कृत-प्राकृत एवं अन्य भारतीय भाषाओं के ग्रन्थ और हजारों आख्यान विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करते हैं। उनमें स्पष्टतः उल्लेख किया गया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् तदनुसार ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी राजा हुआ। अब यहां इस तथ्य की पुष्टि करने वाले कतिपय प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं :-

१. ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के अस्तित्त्व को सिद्ध करने वाले अगणित साधनों में विक्रम संवत् सबसे प्रमुख और अकाट्य प्रमाण है। 'हाथ कंगन को क्या आरसी' - तथा 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' - इन सूक्तियों को सार्थक करते हुए विक्रम संवत् ने वस्तुतः विक्रमादित्य के अस्तित्व को अमर बना दिया है। जिस संवत् का विगत २०३० वर्षों से अनवच्छिन्न - अजस्र गति से व्यवहार भारत में चला आ रहा है, उसका प्रचलन विक्रम नामक एक महान् प्रतापी राजा ने किया था - इस तथ्य को किस आधार पर अस्वीकार किया जा सकता है? भारत के सुविशाल भूभाग में प्रायः सर्वत्र विक्रम संवत् का व्यवहार किया जाता है। इतने सुविशाल भूभाग में विक्रम संवत् का पिछले २०३० वर्षों से उपयोग किया जाना - यह एक तथ्य ही इस बात का प्रबल एवं पर्याप्त प्रमाण है कि आज से २०३० वर्ष पहले विक्रम का अस्तित्व था, जिसने कि विक्रम संवत् का प्रचलन किया।

२. ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए सातवाहनवंशी राजा हाल ने अपने 'गाथासप्तशती' नामक संगृहीत ग्रन्थ में विक्रमादित्य की दानशीलता का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित गाथा प्रस्तुत की है :-

> संवाहणसुहरसतोसिएण, देन्तेण तुहकरे लक्खं।
> चलणेण विक्कमाइच्च, चरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा ।।४६४

अर्थात् - जिस प्रकार महादानी राजा विक्रमादित्य अपने सेवकों द्वारा की हुई चरणसंवाहनादि साधारण सेवाओं से भी संतुष्ट होकर उन्हें लाखों स्वर्ण मुद्राओं का दान कर देता था, उसी प्रकार विक्रमादित्य की इस दानशीलता का

---

[1] "Problems of Saka and Satavahana History" - Journal of the Bihar and Orissa Research Society, 1930.

अनुकरण करते हुए लाख के लाल रस से रंगे हुए प्रियतमा के चरणों ने प्रियतम द्वारा किये गए चरण-संवाहन से तुष्ट होकर प्रियतम के हाथों में लाख (लाख स्वर्णमुद्राओं के समान लाख का लाल रंग) दे डाला।

गाथा में वर्णित श्रृंगाररस के अद्भुत श्लेष से यहां कोई प्रयोजन नहीं। यहां इस गाथा से यही बताना अभिप्रेत है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए विद्वान् राजा हाल ने विक्रम की लोकप्रसिद्ध दानशीलता का उल्लेख किया है। गाथा सप्तशती में हाल ने अपने समय में प्रसिद्ध, चुनी हुई, चमत्कारपूर्ण गाथाओं का संग्रह किया था - इस तथ्य से यह प्रमाणित होता है कि उपरोक्त गाथा-राजा हाल के समय से पूर्व की कोई प्रसिद्ध रचना है और हाल से बहुत पहले ही विक्रमादित्य की दानशीलता की यशोगाथाएं लोक में गुँजरित हो चुकी थीं।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि 'गाथासप्तशती' के रचयिता महाराजा हाल के ही एक पूर्वज के हाथों विक्रमादित्य रणक्षेत्र में आहत हुए थे और उस शस्त्राघात के फलस्वरूप उज्जयिनी लौटने पर विक्रमादित्य की मृत्यु हुई थी।

३. सातवाहन वंशी राजा हाल के समकालीन विद्वान् गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में "वृहत्कथा" नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आज वह मूल ग्रंथ कहीं उपलब्ध नहीं है। सोमदेव भट्ट ने 'वृहत्कथा' का संस्कृत भाषा में रूपान्तर कर कथासरित्सागर की रचना की, जो आज उपलब्ध है। कथासरित्सागर के लम्बक ६, तरंग १ में विक्रमादित्य का विस्तार के साथ परिचय दिया हुआ है।

"कथासरित्सागर" के लम्बक १८, तरंग १ के निम्नलिखित श्लोक में विक्रमादित्य की, महिमा का जिन शब्दों में गान किया गया है, उस प्रकार का सौभाग्य संभवतः श्री राम कृष्ण को छोड़ कर अन्य किसी राजा को प्राप्त नहीं हुआ होगा :-

स पिता पितृहीनानामबंधूनां स बान्धवः।
अनाथानां च नाथः सः, प्रजानां कः स नाभवत् ॥

४. 'भविष्यपुराण' में भी विक्रमादित्य का अधोलिखित रूप में उल्लेख उपलब्ध होता है :-

शकानां च विनाशार्थमार्यधर्मविवृद्धये।
जातः शिवाज्ञया सोऽपि, कैलाशात् मुह्यकालयात् ॥
विक्रमादित्य नामानं, पिता कृत्वा मुमोह ह।
तस्मिन्काले द्विजः कश्चिज्जयंतो नाम विश्रुतः ॥
तत्फलं तपसा प्राप्तः, शक्तश्च स्वगृहं ययौ।
जयंतो भर्तृहरये, लक्ष स्वर्णेन वर्णयन् ॥
भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढ़ो वनं गतः।
विक्रमादित्य एवास्य, भुक्त्वा राज्यमकंटकम् ॥

[भविष्य पुराण, खण्ड २, अध्याय २३]

५. स्कन्द पुराण में भी विक्रमादित्य का उल्लेख उपलब्ध होता है, जिसमें बताया गया है कि कलियुग के ३००० वर्ष बीतने पर (ईसा से १०० वर्ष पूर्व) विक्रमादित्य का जन्म होगा।

६. गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' के आधार पर क्षेमेन्द्र द्वारा रचित 'वृहत्कथा मंजरी' में भी निम्नलिखित रूप में विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है :-

ततो विजित्य समरे कलिंग नृपतिं विभुः।
राजा श्री विक्रमादित्यः स्त्रींप्रायः विजयश्रियम् ॥
अथ श्री विक्रमादित्यो, हेलया निर्जिताखिलः।
म्लेच्छान् काम्बोज यवनान् चीनान् हूणान् सवर्बरान् ॥
तुषारान् पारसीकांश्च, त्यक्ताचारान् विश्रृंखलान्।
हत्वा भ्रूभंगमात्रेण, भुवो भारमवारयत् ॥
तं प्राह भगवान् विष्णुस्त्वं ममांशो महीपते।
जातोऽसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छ शकांतकः ॥

यह यहां उल्लेखनीय है कि कथासरित्सागर के विद्वान् सम्पादक श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री ने गुणाढ्य का समय ई० सन् ७८ के आसपास का माना है।

७. श्रीमद्भागवत् में भी गर्दभिन् राजाओं के होने का संक्षेप में उल्लेख है, जो इस प्रकार है :-

सप्ताभीरा आवभृत्या, दशगर्दभिनो नृपाः।
कंका षोडश भूपाला, भविष्यन्त्यति लोलुपाः ॥२६

[श्रीमद्भागवत, स्कंध १२, अ० १]

८. पहली शताब्दी ई० पूर्व की कुछ मालव मुद्राएं मालव प्रान्त में प्राप्त हुई हैं, उनमें से कतिपय मुद्राओं पर एक ओर सूर्य का चिन्ह तथा दूसरी ओर 'मालवानां जयः' और 'मालवगणस्य जयः' की छाप लगी हुई है। ये मुद्राएं ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य द्वारा शकों पर मालव जाति के योद्धाओं की सहायता से प्राप्त की गई बड़ी विजय की साक्षी देती हैं। इन मुद्राओं पर एक ओर अंकित सूर्य का चिन्ह विक्रमादित्य शब्द के संक्षिप्त रूप "आदित्य" का द्योतक है।

९. महाकवि बाण भट्ट के पूर्व कालिक कवि सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' के प्रास्ताविक पद्य १० में विक्रमादित्य का निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है :-

सा रसवन्ता विहता, नवका विलसन्ति चरति नो कंकः।
सरसीव कीर्ति शेषं, गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

१०. विक्रम संवत् के प्रचलन से पहले चेटक, श्रेणिक, कूणिक, चण्ड प्रद्योत, नन्द, चन्द्रगुप्त, अशोक आदि महाप्रतापी राजाओं में से किसी ने विक्रमादित्य के विरुद को धारण नहीं किया। ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमदित्य से लगभग दो तीन शताब्दी पश्चात् सात वाहन सम्राट् गौतमीपुत्र सातकर्णि ने और लगभ चार सौ-पांच सौ वर्ष पश्चात् गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त

अनुकरण करते हुए लाख के लाल रस से रंगे हुए प्रियतमा के चरणों ने प्रियतम द्वारा किये गए चरण-संवाहन से तुष्ट होकर प्रियतम के हाथों में लाख (लाख स्वर्णमुद्राओं के समान लाख का लाल रंग) दे डाला।

गाथा में वर्णित शृंगाररस के अद्भुत श्लेष से यहां कोई प्रयोजन नहीं। यहां इस गाथा से यही बताना अभिप्रेत है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए विद्वान् राजा हाल ने विक्रम की लोकप्रसिद्ध दानशीलता का उल्लेख किया है। गाथा सप्तशती में हाल ने अपने समय में प्रसिद्ध, चुनी हुई, चमत्कारपूर्ण गाथाओं का संग्रह किया था – इस तथ्य से यह प्रमाणित होता है कि उपरोक्त गाथा – राजा हाल के समय से पूर्व की कोई प्रसिद्ध रचना है और हाल से बहुत पहले ही विक्रमादित्य की दानशीलता की यशोगाथाएं लोक में गुंजरित हो चुकी थीं।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि 'गाथासप्तशती' के रचयिता महाराजा हाल के ही एक पूर्वज के हाथों विक्रमादित्य रणक्षेत्र में आहत हुए थे और उस शस्त्राघात के फलस्वरूप उज्जयिनी लौटने पर विक्रमादित्य की मृत्यु हुई थी।

३. सातवाहन वंशी राजा हाल के समकालीन विद्वान् गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में "वृहत्कथा" नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आज वह मूल ग्रंथ कहीं उपलब्ध नहीं है। सोमदेव भट्ट ने 'वृहत्कथा' का संस्कृत भाषा में रूपान्तर कर कथासरित्सागर की रचना की, जो आज उपलब्ध है। कथासरित्सागर के लम्बक ६, तरंग १ में विक्रमादित्य का विस्तार के साथ परिचय दिया हुआ है।

"कथासरित्सागर" के लम्बक १८, तरंग १ के निम्नलिखित श्लोक में विक्रमादित्य की, महिमा का जिन शब्दों में गान किया गया है, उस प्रकार का सौभाग्य संभवतः श्री राम कृष्ण को छोड़ कर अन्य किसी राजा को प्राप्त नहीं हुआ होगा :–

स पिता पितृहीनानामबंधूनां स बान्धवः।
अनाथानां च नाथः सः, प्रजानां कः स नाभवत्॥

४. 'भविष्यपुराण' में भी विक्रमादित्य का अधोलिखित रूप में उल्लेख उपलब्ध होता है :–

शकानां च विनाशार्थमार्यधर्मविवृद्धये।
जातः शिवाज्ञया सोऽपि, कैलाशात् गुह्यकालयात्॥
विक्रमादित्य नामानं, पिता कृत्वा मुमोह ह।
तस्मिन्काले द्विजः कश्चिज्जयंतो नाम विश्रुतः॥
तत्फलं तपसा प्राप्तः, शक्रश्च स्वगृहं ययौ।
जयंतो भर्तृहरये, लक्ष स्वर्णेन वर्णयन्॥
भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढ़ो वनं गतः।
विक्रमादित्य एवास्य, भुक्त्वा राज्यमकंटकम्॥
[भविष्य पुराण, खण्ड २, अध्याय २३]

५. स्कन्द पुराण में भी विक्रमादित्य का उल्लेख उपलब्ध होता है, जिसमें बताया गया है कि कलियुग के ३००० वर्ष बीतने पर (ईसा से १०० वर्ष पूर्व) विक्रमादित्य का जन्म होगा।

६. गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' के आधार पर क्षेमेन्द्र द्वारा रचित 'वृहत्कथा मंजरी' में भी निम्नलिखित रूप में विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है :-

ततो विजित्य समरे कलिंग नृपतिं विभुः।
राजा श्री विक्रमादित्यः स्त्रींप्रायः विजयश्रियम्॥
अथ श्री विक्रमादित्यो, हेलया निर्जिताखिलः।
म्लेच्छान् काम्बोज यवनान् चीनान् हूणान् सवर्बरान्॥
तुषारान् पारसीकांश्च, त्यक्ताचारान् विशृंखलान्।
हत्वा भ्रूभंगमात्रेण, भुवो भारमवारयत्॥
तं प्राह भगवान् विष्णुस्त्वं ममांशो महीपते।
जातोऽसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छ शकांतकः॥

यह यहां उल्लेखनीय है कि कथासरित्सागर के विद्वान् सम्पादक श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री ने गुणाढ्य का समय ई० सन् ७८ के आसपास का माना है।

७. श्रीमद्भागवत् में भी गर्दभिन् राजाओं के होने का संक्षेप में उल्लेख है, जो इस प्रकार है :-

सप्ताभीरा आवभृत्या, दशगर्दभिनो नृपाः।
कंका षोडश भूपाला, भविष्यन्त्यति लोलुपाः॥२९

[श्रीमद्भागवत, स्कंध १२, अ० १]

८. पहली शताब्दी ई० पूर्व की कुछ मालव मुद्राएं मालव प्रान्त में प्राप्त हुई हैं, उनमें से कतिपय मुद्राओं पर एक ओर सूर्य का चिन्ह तथा दूसरी ओर 'मालवानां जयः' और 'मालवगणस्य जयः' की छाप लगी हुई है। ये मुद्राएं ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य द्वारा शकों पर मालव जाति के योद्धाओं की सहायता से प्राप्त की गई बड़ी विजय की साक्षी देती हैं। इन मुद्राओं पर एक ओर अंकित सूर्य का चिन्ह विक्रमादित्य शब्द के संक्षिप्त रूप "आदित्य" का द्योतक है।

९. महाकवि बाण भट्ट के पूर्व कालिक कवि सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' के प्रास्ताविक पद्य १० में विक्रमादित्य का निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है :-

सा रसवन्ता विहता, नवका विलसन्ति चरति नो कंकः।
सरसीव कीर्ति शेषं, गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

१०. विक्रम संवत् के प्रचलन से पहले चेटक, श्रेणिक, कूणिक, चण्ड प्रद्योत, नन्द, चन्द्रगुप्त, अशोक आदि महाप्रतापी राजाओं में से किसी ने विक्रमादित्य के विरुद को धारण नहीं किया। ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमदित्य से लगभग दो तीन शताब्दी पश्चात् सात वाहन सम्राट् गौतमीपुत्र सातकर्णि ने और लगभ चार सौ-पांच सौ वर्ष पश्चात् गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त

ने 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया। यह भी इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नामक राजा हुआ और उसने विक्रम संवत् चलाया। उसे आदर्श मान कर सातकर्णि और गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त ने भी अपने अपने नाम के साथ 'विक्रमादित्य' का विरुद लगाया।

११. विक्रमादित्य की राजसभा में ६ रत्न थे—इस प्रकार का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ में विक्रमादित्य की राज्यसभा के ६ रत्नों के नामों का उल्लेख है, जो इस प्रकार है :—

धन्वन्तरिक्षपणकाऽमरसिंह शंकु,—
वैतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते सभायां,
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इन ६ रत्नों के समय को निर्धारित करने के सम्बन्ध में विद्वान् प्रयत्नशील हैं। इनमें से कतिपय रत्नों का समय ईसा पूर्व पहली शताब्दी ही ठहरता है। इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य राजा हुआ और उसने विक्रम संवत् चलाया।

१२. इन सब के अतिरिक्त विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला एक ऐसा प्रमाण है जो पूर्णतः निष्पक्ष और विदेशी साक्ष्य पर आधारित है। वह साक्षी है अरब देश के साहित्य की जो इस प्रकार है :—

"हजरत मोहम्मद साहब से १६५ वर्ष पूर्व 'जर्हम विनतोई' नामक अरब का एक कवि हो गया है, जो ओकाज—मक्का में प्रतिवर्ष भरे जाने वाले अरब के उस समय के सबसे बड़े मेले के कवि सम्मेलन में तीन वर्ष तक लगातार सर्वप्रथम आता रहा। मक्का के इस मेले में हजरत मोहम्मद साहब से लगभग २००० वर्ष पूर्व तक के कवि सम्मेलनों में प्रथम आने वाले कवियों की कविताओं को सोने के पत्रों पर अंकित कर मक्का के विशाल मंदिर में टांगा जाता आ रहा था। अरब के उस समय के महाकवि 'जर्हम विनतोई' की, उन तीन कविताओं में से एक कविता इस प्रकार है :—

इत्रश्शफाई सनतुल विकरमतुन, फहलमिन करीमुन यर्तफीहा वयोवस्सरू।
विहिल्लाहायसमीमिन एला मोतकब्वेनरन, विहिल्लाहा यूही कैद मिन होवा यफ़खरू।
फज्ज़ल-आसारि नहनो ओसारिम वेजेहलीन, युरीदुन बिआबिन कज़नविनयख़तरू।
यह सबदुन्या कनातेफ़ नातेफी बिजेहलीन, अतदरी बिलला मसीरतुन फ़खेफ़ तसवहू।
कउन्नी एज़ा माज़करलहदा वलहदा, अशमीमान, बुरुकन क़द तोलुहो वतस्तरू।
विहिल्लाहा यक़जी वैनना वले कुल्ले अमरेना, फहेया जाऊना विल अमरे विकरमतुन।
[सेअरूल-ओकूल, पृ० ३१५]

वे लोग धन्य हैं, जो राजा विक्रम के राज्यकाल में उत्पन्न हुए, जो (राजा विक्रम) बड़ा दानी, धर्मात्मा और प्रजापालक था। परन्तु ऐसे समय हमारा

अरब ईश्वर को भूल कर भोग विलास में लिप्त था। छल-कपट को ही लोगों ने सब से बड़ा गुण मान रखा था। हमारे तमाम देश (अरब) में अविद्या ने अंधकार फैला रक्खा था। जैसे बकरी का बच्चा भेड़िये के पंजे में फंस कर छटपटाता है, छूट नहीं सकता, ऐसे ही हमारी जाति मूर्खता के पंजे में फंसी हुई थी। संसार के व्यवहार को अविद्या के कारण हम भूल चुके थे, सारे देश में अमावस्या की रात्रि की तरह अन्धकार फैला हुआ था परन्तु अब जो विद्या का प्रातःकालीन सुखदाई प्रकाश दिखाई देता है, वह कैसे हुआ ? यह उसी धर्मात्मा राजा विक्रम की कृपा है, जिसने हम विदेशियों को भी अपनी दया दृष्टि से वंचित नहीं किया और पवित्र धर्म का सन्देश दे कर अपनी जाति के विद्वानों को यहां भेजा, जो हमारे देश में सूर्य की तरह चमकते थे। जिन महापुरुषों की कृपा से हमने भुलाए हुए ईश्वर और उसके पवित्र ज्ञान को जाना और सत्पथगामी हुए, वे लोग राजा विक्रम की आज्ञा से हमारे देश में विद्या और धर्म के प्रचार के लिये आए थे।"[१]

१३. शार्पेन्टियर[1], रॅप्सन[2], फ्रॅंकलिन एजर्टन[3] आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कालकाचार्य कथा में उल्लिखित शकों द्वारा गर्दभिल्ल की पराजय और तदनन्तर विक्रमादित्य द्वारा शकों को परास्त कर उज्जयिनी पर अधिकार करने की घटनाओं को ऐतिहासिक मानते हुए विक्रमादित्य द्वारा ईसा पूर्व ५८-५७ में विक्रम सम्वत् प्रचलित किये जाने की मान्यता अभिव्यक्त की है।

उपरिलिखित प्रमाणों से न केवल विक्रमादित्य का अस्तित्व ही सिद्ध होता है अपितु यह भी प्रमाणित होता है कि विक्रमादित्य वस्तुतः बड़ा साहसी, परोपकारी और अरब जैसे सुदूर देशों में भी प्रसिद्धि-प्राप्त राजा था। उसने अनेक वर्षों तक न्यायपूर्वक राज्य करते हुए केवल भारत ही नहीं अपितु भारत के पड़ोसी एवं सुदूरवर्ती राष्ट्रों से भी अविद्या और गरीबी को मिटाने तथा मानवसमाज को सुसभ्य एवं सुखी बनाने के लिए अनेक प्रयास किये। विक्रमादित्य का व्यक्तित्व वस्तुतः विराट था।

---

१ विक्रय स्मृति ग्रन्थ (सिन्धिया ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, ग्वालियर) में प्रकाशित श्री महेश प्रसाद, मौलवी आलिम फाजिल के लेख से उद्धृत।

1. Only one legend, the Kalkacharya-Kathanaka 'the story of the teacher Kalaka' tells us about some events which are supposed to have taken place in Ujjain and other parts of Western India during the first part of the first century B. C. or immediately before the foundation of the Vikrama era in 58 B. C. This legend is perhaps not totally devoid of all historical interest.
[Cambridge History of India, Vol. 1. P. 167]

2. The memory of an episode in the history of Ujjain..... may possibly be preserved in the Jain story of Kalka...........Both the tyrant Gardabhilla whose misdeeds were responsible for the introduction of these evengers. and his son Vikramaditya, who afterwards drove the Sakas of the realm, according to the story, may perhaps be historical characters. [वही, pp. 532-33]

3. "It seems on the whole at least possible, and perhaps probable, that there really was a king named Vikramaditya who reigned in Malva and founded the era of 58-57 B. C. [Op. W. LXVI]

'विक्रम चरित' के अनुसार किसी सातवाहन वंशी राजा के साथ युद्ध में विक्रमादित्य के घातक प्रहार लगा और उज्जयिनी लौटने पर उसकी वहां मृत्यु हो गई।

ई० सन् १०३० के आसपास हुए इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् अलबेरूनी ने भी अरबी भाषा की अपनी पुस्तक 'किताबुलहिन्द' में शालिवाहन नामक एक जमींदार के साथ विक्रमादित्य के युद्ध का और उस युद्ध में विक्रमादित्य की मृत्यु होने का उल्लेख किया है।

प्रायः सभी जैन ग्रन्थों में विक्रमादित्य को जैन धर्मानुयायी बताया गया है।

१८. आर्य नन्दिल – वाचनाचार्य

आर्य मंगू के पश्चात् वाचक-परम्परा में आर्य नन्दिल वाचनाचार्य हुए। नन्दीसूत्र की स्थविरावली में आचार्य देवर्द्धि ने आर्य नन्दिल की स्तुति करते हुए लिखा है :–

"णाणंमि दंसणंमि य, तवविणए निच्चकालमुज्जंतं।
अज्जं नन्दिल खमणं, सिरसा वंदे पसन्नमणं।।

उपरोक्त गाथा में आर्य देवर्द्धि ने नंदिल को ज्ञान, दर्शन, तप और विनय में सदा-काल तत्पर बतलाया है। उन्होंने नंदिल के जीवन का परिचय देते हुए "खमणं और पसन्नमणं" – ये दो विशेषण दिये हैं, इससे ज्ञात होता है कि आपका जीवन तपप्रधान था और आप कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी सदा प्रसन्नमन रहते थे।

प्रभावकचरित्र के अनुसार आप वैरोट्या नामक देवी के प्रतिबोधक माने गये हैं। वैरोट्या के प्रतिबोध की घटना संक्षेप में इस प्रकार है :–

सार्थवाह वरदत्त की प्रियपुत्री वैरोट्या का पद्मिनी खण्ड के पद्मकुमार नामक सार्थवाह के साथ पाणिग्रहण हुआ। सास की सेवाशुश्रुषा करते रहने पर भी वैरोट्या उसे संतुष्ट नहीं कर सकी। फलस्वरूप सास के अवज्ञापूर्ण कटु वचनों को सुन कर वैरोट्या चिन्ता से कृष रहने लगी। वह सदा यही सोचा करती "मेरे कृतकर्म का फल मुझे ही भोगना है। हंस कर भोगूंगी तो मुझे ही भोगना है और हाय-हाय करके भोगूंगी तो भी मुझे ही भोगना है।" इस प्रकार विचार कर वह सदा मन को शान्त करने का प्रयास करती पर शरीर दुःख से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। उसमें कृषता आ गई।

एक दिन नागेन्द्र के शुभस्वप्न के साथ वैरोट्या ने गर्भ धारण किया। सास अपने दुष्ट स्वभाववश यद्वा-तद्वा बोला करती – "इस अभागिनी के भाग्य में पुत्र कहां, इसके तो पुत्री ही होगी।"

वैरोट्या सास के सब तानों को शान्त भाव से सुना करती। तीन महिने के गर्भकाल में वैरोट्या को दुग्धपाक (खीर) का दोहद उत्पन्न हुआ।

इसी बीच आर्य नन्दिल का वहां पदार्पण हुआ। वैरोट्या ने वन्दन-नमन के पश्चात् आचार्य श्री को अपना सब दुःख कह सुनाया। आचार्य ने क्षमाधर्म की आराधना का उपदेश देते हुए उसे आश्वस्त किया और दूधपाक के दोहद की जानकारी देते हुए कहा "तुम्हारे दोहद की पूर्ति हो जायगी, चिन्ता मत करो।"

चैत्री पूर्णिमा के दिन वैरोट्या ने पुंडरीक तप का उपवास किया और उसकी सास ने दूसरे दिन सार्धमियों को भोजन कराने हेतु दुग्धपाक बनाया। उसमें से बची हुई कुछ खीर उसने वैरोट्या को भी दी। खीर का पात्र लेकर वैरोट्या तालाब पर गई और वस्त्र से आवृत्त क्षीरपात्र को तट पर एक सघन वृक्ष के मूल के पास रख कर स्वयं पैर धोने लगी। सहसा उस समय नागराज की अग्रमहिषी आई और उसने वह सब खीर पी ली। जब वैरोट्या ने लौट कर क्षीर पात्र को रिक्त देखा तो वह हर्षित मन से बोली – "जिसने भी खीर का आस्वादन किया है उसके मनोरथ पूर्ण हों।" सर्वभूतानुकम्पा रूप परोपकार की उस उत्कट भावना के फलस्वरूप नागराज की महिषी बड़ी प्रसन्न हुई। उससे वैरोट्या की उद्दात्त भावना जान कर नागराज ने भी दयार्द्र हो उसकी सास को स्वप्न में वैरोट्या के दोहद की पूर्ति करने की प्रेरणा की। तदनन्तर वैरोट्या का दोहद पूर्ण हुआ और समय पर उसने एक पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। बालक का नाम नागदत्त रखा गया।

कालान्तर में वैरोट्या ने अपने पति पद्मदत्त और पुत्र नागदत्त के साथ श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की। संयम की समुचित रूपेण पालना करते हुए अन्त में पद्मदत्त तथा नागदत्त समाधिपूर्वक देहोत्सर्ग कर सौधर्म देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए और वैरोट्या नागेन्द्र के ध्यान से आयु पूर्ण कर धरणेन्द्र की देवी के रूप में उत्पन्न हुई।

आचार्य नन्दिल ने वैरोट्या के अशान्त जीवन में ज्ञानोपदेश द्वारा शान्ति प्रदान की थी अतः वैरोट्या धरणेन्द्र की महिषी के रूप में उत्पन्न होने के पश्चात् आचार्य नन्दिल के प्रति भक्ति एवं बहुमान रखने लगी। भगवान् पार्श्वनाथ के चरणों में भक्ति रखने वाले भक्तों के कष्टों का निवारण करने में वह समय-समय पर उनकी सहायता करने लगी।

कहा जाता है कि आचार्य नन्दिल ने वैरोट्या के स्तुतिपरक "नमिऊण जिणं पासं" इस मंत्रगर्भित स्तोत्र की रचना कर वैरोट्या की स्मृति को चिर-स्थायी बना दिया।

आर्य भद्रगुप्त – युगप्रधानाचार्य

आर्य धर्म के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० सं० ४९४ में आर्य भद्रगुप्त युगप्रधानाचार्य पद पर अधिष्ठित हुए। दशपूर्वधर आर्य भद्रगुप्त आगमज्ञान के पारगामी और अप्रतिम विद्वान् थे। आपको वज्रस्वामी जैसे महान् युगप्रधान

आचार्य के शिक्षागुरू होने का सौभाग्य प्राप्त है। वज्रस्वामी ने आपसे १० पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया।

आर्य भद्रगुप्त का यत्किंचित परिचय उपलब्ध होता है, वह इस प्रकार है–
आपका जन्म वीर नि० सं० ४२८ में, श्रमण-दीक्षा वीर नि० सं० ४४६ में इक्कीस वर्ष की अवस्था में, युगप्रधानचार्य पद वीर नि० सं० ४९४ में और स्वर्ग गमन वीर नि० सं० ५३३ में हुआ। आपने ४५ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय में और ३९ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए भगवान् महावीर के शासन की महती सेवा की।

इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है कि आर्य रक्षित सूरि ने आपकी निर्यामणा (अन्तिम आराधना) करवाई। आपकी पूर्ण आयु १०५ वर्ष, ४ मास और ४ दिन की थी।

गणाचार्य

आर्य नन्दिल के वाचनाचार्य काल में वीर नि० सं० ५४७–४८ में आर्य सुहस्ती की परम्परा के गणाचार्य आर्य सिंह गिरि का स्वर्गवास हुआ।

१८. आर्य नागहस्ती – वाचनाचार्य

आचार्य आर्य नन्दिल के पश्चात् नागहस्ती वाचनाचार्य हुए। नन्दीसूत्र की स्थविरावली में आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आपको कर्मप्रकृति के प्रधान ज्ञाता तथा जिज्ञासुओं की जिज्ञासाओं का समुचित एवं संतोषप्रद समाधान करने में कुशल वताया है। 'पूर्वज्ञान' के धारक होने के कारण द्रव्यानुयोग और कर्मविषयक ज्ञान के आप मर्मज्ञ माने गये हैं। श्रमणसंघ-स्तोत्र आदि ग्रन्थों के अनुसार नागहस्ती (आर्य नाग) को युगप्रधान-आचार्य भी माना गया है पर इस सम्वन्ध में यह अन्वेषणीय है कि आर्य नागहस्ती और आर्य नागेन्द्र एक ही आचार्य के नाम हैं अथवा दोनों अलग-अलग समय के आचार्य हैं।

हमारे विचार से आर्य नन्दिल के शिष्य वाचनाचार्य नागहस्ती और युग-प्रधानाचार्य नागेन्द्र, जिन्हें आर्य नाग तथा आर्य नागहस्ती के नाम से भी अभिहित किया जाता है, दोनों भिन्न-भिन्न काल के दो भिन्न आचार्य होने चाहिए। हमारे इस अनुमान में निम्न आधार विचारणीय हैं:–

१. नागहस्ती को प्रभावकचरित्रानुसार पादलिप्त का गुरू माना गया है[1] और पादलिप्त का आर्य रक्षित से पहले होना प्रमाणित है। कारण कि आर्य रक्षित द्वारा संकलित अनुयोगद्वार सूत्र में "तरंगवईकारे" पद से आर्य पादलिप्त की स्मृति की गई है। इसके विपरीत आर्य नागेन्द्र को आर्य रक्षित के पश्चाद्वर्ती आर्य वज्रसेन की शिष्य-परम्परा में माना गया है।

---

[1] गच्छे विद्याधराख्यस्यार्य नागहस्तिसूरयः ॥१५॥
पुत्रमिच्छसि चेत्तेणां, पादशौच जलं पिबे ॥१६॥

२. आर्य नागहस्ती वाचकवंश के प्रभावक आचार्य माने गये हैं, जिनके लिये देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है – "वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहत्थीणं।"

अर्थात् – आर्य नागहस्ती का वाचकवंश यशोवंश की तरह वृद्धिगत हो। गाथा में नागहस्ती को वाचकवंश से सम्बद्ध बताया गया है, जब कि वज्रसेन संतानीय आर्य नाग नाइली शाखा, नागेन्द्र गच्छ और नागेन्द्र कुल के प्रवर्त्तक माने गये हैं। ऐसी स्थिति में यदि वज्रसेन संतानीय नागेन्द्र ही वाचकवंशीय नागहस्ती होते तो उनके लिये 'वड्ढउ वायगवंसो' के स्थान पर 'वड्ढउ नाइलवंसो' इस प्रकार का पद प्रयुक्त किया जाता। क्योंकि आर्य नाग नाइल शाखा, नागेन्द्र कुल एवं नागेन्द्र गच्छ के प्रवर्त्तक माने गये हैं।

श्वेताम्बर-परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा के प्रमुख ग्रंथों में भी आर्य मंगू और नागहस्ती का परिचय उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर साहित्य की तरह यद्यपि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती का कोई खास परिचय प्राप्त नहीं होता फिर भी कसायपाहुड़ की जयधवला टीका में आचार्य वीरसेन ने आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती को चूर्णिकार यतिवृषभ के गुरु होने का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित रूप में इन दोनों की स्तुति की है :–

गुणहरवयणविणिग्गय, गाहाणत्थोऽवहारिओ सव्वो।
जेणज्जमंखुणा सो, सणागहत्थी वरं देऊ ॥७॥
जो अज्ज मंखु सीसो, अंतेवासी वि णागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥८॥

इन गाथाओं में बताया गया है कि जिन आर्य मंखु और नागहस्ती ने गुणधराचार्य के मुख-कमल से विनिर्गत गाथाओं के सम्पूर्ण अर्थ को सम्यक्रूपेण अवधारण किया, वे आचार्य मुझे वर प्रदान करें। जो आर्य मंखु के शिष्य और आर्य नागहस्ती के भी अंतेवासी हैं, वे वृत्तिसूत्र के कर्त्ता यतिवृषभ मुझे वर प्रदान करें।

नन्दीसूत्र की स्थविरावली के समान ही दिगम्बराचार्य वीरसेन ने 'जयधवला' में इन दोनों आचार्यों को कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट ज्ञाता और आगम-ज्ञान के पारगामी के रूप में स्वीकार किया है। 'जय धवला' टीका में बताया गया है कि गुणधराचार्य द्वारा १८० गाथाओं में 'कसायपाहुड़' का उपसंहार कर लिये जाने पर वे सूत्र गाथाएं आचार्य-परम्परा से आर्य मंक्षु और आर्य नागहस्ती को प्राप्त हुई। तदनन्तर उन दोनों आचार्यो के चरणकमलों में बैठकर भट्टारक यतिवृषभ ने उन १८० गाथाओं के अर्थ को भलीभांति समझा और प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित हो उन पर चूर्णिसूत्र की रचना की। जैसा कि टीका में कहा है –

"पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणीओ अज्ज मंखुनागहत्थीणं पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं

गुणहरमुख-कमल-विणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयण-वच्छलेण चुण्णि सुत्तं कयं ।"[1]

उपरिलिखित उद्धरणों में यतिवृषभ को आर्य मंखु (मंगु) का शिष्य एवं आर्य नागहस्ती का अंतेवासी बताया गया है। 'शिष्य' एवं 'अंतेवासी' शब्दों की भाषा-विज्ञान की दृष्टि से परिभाषा की जाय तो समानार्थक होते हुए भी ये दोनों शब्द अपने आपमें विशिष्टार्थ को लिये हुए होने के कारण अपना-अपना पृथक् स्थान रखते हैं। 'शिष्य' शब्द का अर्थ है संयमसाधना अथवा विद्याध्ययन हेतु गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करने वाला। 'अंतेवासी' शब्द का अर्थ होता है—जीवन-पर्यंत अथवा सुदीर्घ काल तक ज्ञानदाता के पास रहते हुए तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए ज्ञानार्जन करने वाला। इन शब्दों की इस प्रकार की व्युत्पत्ति स्वीकार करने पर यह संभव प्रतीत होता है कि आर्य मंगू के स्थिरवास काल से कुछ समय पूर्व यतिवृषभ ने उनके पास दीक्षा स्वीकार की हो और उनकी स्थिरवास में रसगृद्धि एवं शिथिलाचार की ओर प्रवृत्ति देखकर आर्य मंगू के अन्य श्रमण परिवार की तरह उनका साथ छोड़ आर्य नागहस्ती की चरण-शरण ग्रहण की हो। तदनन्तर नागहस्ती के अन्तकाल तक उनकी सेवा में निरत रहते हुए उन्होंने उनसे ज्ञानार्जन किया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्पूर्ण घटनाक्रम की ओर संकेत करने के अभिप्राय से ही जयधवलाकार ने यतिवृषभ के लिये "आर्य मंखु के शिष्य" और "आर्य नागहस्ती के अन्तेवासी"—इन भिन्न पदों का प्रयोग किया है।

नंदी-स्थविरावली की ३१वीं एवं ३२वीं प्रक्षिप्त गाथाओं के आधार पर आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती के बीच में आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त, आर्य वज्र तथा आर्य रक्षित के नाम देखकर कतिपय विद्वानों ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती के बीच लगभग १५० वर्ष का अन्तराल रहा अतः यतिवृषभ को कसायपाहुड़ का ज्ञान देने वाले मंखु एवं आर्य नागहस्ती श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य मंगु और नागहस्ती से भिन्न हैं।

वस्तुतः उन विद्वानों की इस प्रकार की मान्यता केवल भ्रान्ति पर आधारित होने के कारण मान्य नहीं की जा सकती। जिन ४ आचार्यों के नाम देखकर कुछ विद्वानों ने जो इस प्रकार की कल्पना की है, वस्तुतः आर्य धर्म से आर्य रक्षित तक के वे चारों आचार्य वाचक परम्परा के मुख्य आचार्य नहीं थे। वे तो वास्तव में अन्य परम्परा के तत्समयवर्ती वाचक आचार्य रहे हैं। उन चारों का मुख्य स्थान युगप्रधान-परम्परा में माना गया है। यह एक ही तथ्य इस भ्रान्ति का निराकरण करने के लिये पर्याप्त है।

इन सब तथ्यों के सन्दर्भ में विचार करने पर वाचक-परम्परा में आर्य मंगू के पश्चात् आर्य नन्दिल और नन्दिल के पश्चात् नागहस्ती—यह क्रम ही उचित प्रमाणित होता है। इस क्रम की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर आर्य मंगू और

[1] जयधवला, भाग १, पृ. ८८

नागहस्ती का सत्ताकाल समसामयिक सिद्ध होने के साथ-साथ जय धवलाकार का वह कथन भी संगत संभव हो सकता है, जिसमें उन्होंने कहा है कि यतिवृषभ ने आर्य मंखु और नागहस्ती – इन दोनों के चरणों में बैठकर कसायपाहुड़ की गाथाओं का अवधारण किया।

'तिलोयपण्णत्ती' भी यतिवृषभ की रचना है। तिलोयपण्णत्ती में वीर नि० सं० १००० तक के काल में हुए राजाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है। इस उल्लेख को आधार बनाकर कतिपय विद्वान् यतिवृषभ का समय वीर निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् का मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कालगणना की शृंखला की कड़ियों को जोड़ने के लिये उक्त गाथाओं में से अनेक गाथाएं कालान्तर में अन्य विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त की गई हों। प्रायः सभी विद्वानों की यह मान्यता है कि तिलोयपण्णत्ती में प्रक्षिप्त गाथाओं का बाहुल्य है।

यद्यपि यतिवृषय ने आर्य मंगू और नागहस्ती का अपनी चूर्णि में कहीं नामोल्लेख नहीं किया है तथापि जयधवलाकार ने इन दोनों आचार्यों की स्तुति करते हुए स्पष्ट रूपेण यह लिखा है कि यतिवृषभ ने आर्य मंक्षु और नागहस्ती से कसायपाहुड़ का ज्ञान प्राप्त किया। जयधवलाकार के इस कथन को प्रामाणिक न मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में एक बड़ा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आर्य यतिवृषभ विक्रमीय प्रथम शताब्दी के प्रथम चरण में विद्यमान थे ? यह प्रश्न गहन शोध की अपेक्षा रखता है। आशा है इतिहास के विद्वान् इस पर प्रकाश डालेंगे।

आपके शिष्यों में आर्य पादलिप्त बड़े ही प्रभावक आचार्य हुए हैं। संक्षेप में यहां उनका परिचय दिया जा रहा है :–

आर्य पादलिप्त

आर्य खपुट की तरह आर्य पादलिप्त भी बड़े प्रतिभाशाली आचार्य माने गये हैं। कोशला नगरी के महाराज विजयवर्मा के राज्य में फुल्ल नाम का एक बुद्धिमान और दानवीर श्रेष्ठी रहता था। उसकी पत्नी का नाम प्रतिकाना था। वह रूप, शील और गुण की आधारभूमि होकर भी पुत्र रहित थी। किसी ने उसे परामर्श दिया कि वैरोट्या देवी की आराधना की जाय तो पुत्रलाभ हो सकता है। इष्टसिद्धि के लिए उसने भी तप, नियम के साथ वैरोट्या का समाराधन कर उसे प्रसन्न किया। देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा – "बोलो ! मुझे किस लिये याद किया है ?"

श्रेष्ठिपत्नी बोली – "पुत्र के लिए।"

देवी ने कहा – "विद्याधर वंश में आर्य नागहस्ती नाम के आचार्य हैं, जो इस समय यहां आये हुए हैं। उनका चरणोदक पिया जाय तो तुम्हें पुत्र की प्राप्ति हो सकती है।"

गुणहरमुख-कमल-विणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयण-वच्छलेण चुण्णि सुत्तं कयं।"[1]

उपरिलिखित उद्धरणों में यतिवृषभ को आर्य मंखु (मंगु) का शिष्य एवं आर्य नागहस्ती का अंतेवासी बताया गया है। 'शिष्य' एवं 'अंतेवासी' शब्दों की भाषा-विज्ञान की दृष्टि से परिभाषा की जाय तो समानार्थक होते हुए भी ये दोनों शब्द अपने आपमें विशिष्टार्थ को लिये हुए होने के कारण अपना-अपना पृथक् स्थान रखते हैं। 'शिष्य' शब्द का अर्थ है संयमसाधना अथवा विद्याध्ययन हेतु गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करने वाला। 'अंतेवासी' शब्द का अर्थ होता है – जीवन-पर्यंत अथवा सुदीर्घ काल तक ज्ञानदाता के पास रहते हुए तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए ज्ञानार्जन करने वाला। इन शब्दों की इस प्रकार की व्युत्पत्ति स्वीकार करने पर यह संभव प्रतीत होता है कि आर्य मंगू के स्थिरवास काल से कुछ समय पूर्व यतिवृषभ ने उनके पास दीक्षा स्वीकार की हो और उनकी स्थिरवास में रसगृद्धि एवं शिथिलाचार की ओर प्रवृत्ति देखकर आर्य मंगू के अन्य श्रमण परिवार की तरह उनका साथ छोड़ आर्य नागहस्ती की चरण-शरण ग्रहण की हो। तदनन्तर नागहस्ती के अन्तकाल तक उनकी सेवा में निरत रहते हुए उन्होंने उनसे ज्ञानार्जन किया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्पूर्ण घटनाक्रम की ओर संकेत करने के अभिप्राय से ही जयधवलाकार ने यतिवृषभ के लिये "आर्य मंखु के शिष्य" और "आर्य नागहस्ती के अन्तेवासी" – इन भिन्न पदों का प्रयोग किया है।

नंदी-स्थविरावली की ३१वीं एवं ३२वीं प्रक्षिप्त गाथाओं के आधार पर आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती के बीच में आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त, आर्य वज्र तथा आर्य रक्षित के नाम देखकर कतिपय विद्वानों ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती के बीच लगभग १५० वर्ष का अन्तराल रहा अतः यतिवृषभ को कसायपाहुड़ का ज्ञान देने वाले मंखु एवं आर्य नागहस्ती श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य मंगु और नागहस्ती से भिन्न हैं।

वस्तुतः उन विद्वानों की इस प्रकार की मान्यता केवल भ्रान्ति पर आधारित होने के कारण मान्य नहीं की जा सकती। जिन ४ आचार्यों के नाम देखकर कुछ विद्वानों ने जो इस प्रकार की कल्पना की है, वस्तुतः आर्य धर्म से आर्य रक्षित तक के वे चारों आचार्य वाचक परम्परा के मुख्य आचार्य नहीं थे। वे तो वास्तव में अन्य परम्परा के तत्समयवर्ती वाचक आचार्य रहे हैं। उन चारों का मुख्य स्थान युगप्रधान-परम्परा में माना गया है। यह एक ही तथ्य इस भ्रान्ति का निराकरण करने के लिये पर्याप्त है।

इन सब तथ्यों के सन्दर्भ में विचार करने पर वाचक-परम्परा में आर्य मंगू के पश्चात् आर्य नन्दिल और नन्दिल के पश्चात् नागहस्ती – यह क्रम ही उचित प्रमाणित होता है। इस क्रम की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर आर्य मंगू और

[1] जयधवला, भाग १, पृ. ८८

नागहस्ती का सत्ताकाल समसामयिक सिद्ध होने के साथ-साथ जय धवलाकार का वह कथन भी संगत संभव हो सकता है, जिसमें उन्होंने कहा है कि यतिवृषभ ने आर्य मंखु और नागहस्ती – इन दोनों के चरणों में बैठकर कसायपाहुड़ की गाथाओं का अवधारण किया।

'तिलोयपण्णत्ती' भी यतिवृषभ की रचना है। तिलोयपण्णत्ती में वीर नि० सं० १००० तक के काल में हुए राजाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है। इस उल्लेख को आधार बनाकर कतिपय विद्वान् यतिवृषभ का समय वीर निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् का मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कालगणना की शृंखला की कड़ियों को जोड़ने के लिये उक्त गाथाओं में से अनेक गाथाएं कालान्तर में अन्य विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त की गई हों। प्रायः सभी विद्वानों की यह मान्यता है कि तिलोयपण्णत्ती में प्रक्षिप्त गाथाओं का बाहुल्य है।

यद्यपि यतिवृषय ने आर्य मंगू और नागहस्ती का अपनी चूर्णि में कहीं नामोल्लेख नहीं किया है तथापि जयधवलाकार ने इन दोनों आचार्यों की स्तुति करते हुए स्पष्ट रूपेण यह लिखा है कि यतिवृषभ ने आर्य मंक्षु और नागहस्ती से कसायपाहुड़ का ज्ञान प्राप्त किया। जयधवलाकार के इस कथन को प्रामाणिक न मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में एक बड़ा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आर्य यतिवृषभ विक्रमीय प्रथम शताब्दी के प्रथम चरण में विद्यमान थे ? यह प्रश्न गहन शोध की अपेक्षा रखता है। आशा है इतिहास के विद्वान् इस पर प्रकाश डालेंगे।

आपके शिष्यों में आर्य पादलिप्त बड़े ही प्रभावक आचार्य हुए हैं। संक्षेप में यहां उनका परिचय दिया जा रहा है :–

आर्य पादलिप्त

आर्य खपुट की तरह आर्य पादलिप्त भी बड़े प्रतिभाशाली आचार्य माने गये हैं। कोशला नगरी के महाराज विजयवर्मा के राज्य में फुल्ल नाम का एक बुद्धिमान और दानवीर श्रेष्ठी रहता था। उसकी पत्नी का नाम प्रतिकाना था। वह रूप, शील और गुण की आधारभूमि होकर भी पुत्र रहित थी। किसी ने उसे परामर्श दिया कि वैरोट्या देवी की आराधना की जाय तो पुत्रलाभ हो सकता है। इष्टसिद्धि के लिए उसने भी तप, नियम के साथ वैरोट्या का समाराधन कर उसे प्रसन्न किया। देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा – "बोलो ! मुझे किस लिये याद किया है ?"

श्रेष्ठिपत्नी बोली – "पुत्र के लिए।"

देवी ने कहा – "विद्याधर वंश में आर्य नागहस्ती नाम के आचार्य हैं, जो इस समय यहां आये हुए हैं। उनका चरणोदक पिया जाय तो तुम्हें पुत्र की प्राप्ति हो सकती है।"

आपकी स्तुति करते हैं। केवल यह विदुषी वेश्या गुणज्ञा होकर भी आपकी स्तुति नहीं करती। आप कोई ऐसा उपाय कीजिए जिससे यह भी आपकी स्तुति करे।"

राजा की बात सुनकर आचार्य पादलिप्त अपने स्थान पर चले आये और रात्रि में गच्छ की सम्मति से प्राण निरोध कर कपट मृत्यु से निष्प्राण हो लेट गये। आचार्य को अर्थी पर लिए जब लोग रुदन करते हुए उस गणिका के द्वार पर पहुंचे तो वह भी द्वार पर आई और रुदन करती हुई बोली :–

सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्स।
जस्स मुहनिज्झराओ तरंगलोला नई वूढा।।

अर्थात्–अरे! उन पादलिप्त का हरण करते समय यमराज का शिर क्यों नहीं फूट गया, जिनके मुख रूपी निर्झर से 'तरंगलोला' तरंगवती नदी प्रवाहित हुई है?

आचार्य यह सुनकर तत्काल उठ बैठे। गणिका ने कहा–"आचार्यवर! क्या आप मर कर स्तुति करवाते हैं?"

आचार्य ने कहा–"क्या तुमने नहीं सुना–'मृत्वापि पंचमो गेयः'–मर कर भी पंचम वेद गाना चाहिये।"[१]

कितना चमत्कारपूर्ण उत्तर है? प्रभावक चरित्र में गणिका के स्थान पर पांचाल नामक विद्वान् के नामोल्लेख के साथ यही कथानक दिया गया है। आचार्य पादलिप्त ने अपने आचार्य काल में स्व-पर कल्याण के साथ-साथ जिनशासन की बड़ी ही उल्लेखनीय सेवाएं कीं।"

आचार्य पादलिप्त ने 'तरंगवती', 'निर्वाणकलिका' एवं 'प्रश्न प्रकाश' आदि ग्रन्थों की रचनाएं कीं। 'तरंगवती' प्राकृत कथा साहित्य का ग्रन्थरत्न माना जाता है।

आचार्य पादलिप्त के जीवन से सम्बन्धित कतिपय घटनाओं के पर्यवेक्षण से उनका विहार-क्षेत्र बड़ा विस्तृत प्रतीत होता है। मान्यखेट का कृष्णराजा, ओंकारपुर का भीमराजा आदि अनेक राजा-महाराजा उनके अनुयायी थे। पाटलिपुत्र, भृगुकच्छपुर आदि में उन्होंने अपने प्रभाव का प्रयोग कर अन्य मतावलम्बियों द्वारा जैन धर्मावलंबियों के विरोध में उत्पन्न किये गये वातावरण को शान्त कर अनेक लोगों को जैन-धर्म का अनुयायी बनाया।

आचार्य पादलिप्त के सम्बन्ध में जैन साहित्य में अनेक कथानक प्रचलित हैं। उनमें बताया गया है कि वे औषधियों के पादलेप द्वारा गगनमार्ग से विचरण करते थे। इस विद्या से प्रभावित होकर ढंक गिरि का निवासी नागार्जुन नामक एक क्षत्रिय उनका अनन्य उपासक बन गया। नागार्जुन का परिचय पृथकतः यथास्थान दिया जायगा।

---

[१] रागस्य पंचमो वेदः।

प्रबन्ध कोश तथा प्रभावक चरित्र के अतिरिक्त सभाष्य निशीथचूर्णि और वृहत्कल्प भाष्य में भी अनेक स्थलों पर आचार्य पादलिप्त के समय में हुए मुरुण्ड राजा के उल्लेख उपलब्ध होते हैं ।

मुरुण्डराज की बहिन द्वारा जैन श्रमणी धर्म की दीक्षा

वृहत्कल्प भाष्य में मुरुण्डराज की बहिन के श्रमणी धर्म में दीक्षित होने का उल्लेख उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है :–

एक बार मुरुण्डराज की विधवा बहिन ने उसके समक्ष प्रव्रजित होने की अभिलाषा प्रकट की। किस धर्म की अनुयायिनी साध्वी के पास उसे दीक्षित करवाया जाय और कौन सा धर्म वस्तुतः वास्तविक आत्मिक धर्म है – इस वात की परीक्षा लेने का मुरुण्ड ने निश्चय किया। उसने महावत को आदेश दिया कि वह हाथी पर बैठ कर राजप्रासाद के पास वाले मार्ग पर इधर-उधर घूमे और ज्यों ही किसी भी धर्म की साध्वी उसे दृष्टिगोचर हो, वह हाथी को उसकी ओर यह कहते हुए बढ़ाए–"तुम्हारे तन पर जो भी वस्त्र हैं, उन्हें दूर फेंक दो अन्यथा यह मदोन्मत्त हाथी तुम्हें कुचल डालेगा ।"

हस्तिचालक ने मुरुण्डराज के आदेश का पालन किया। विभिन्न मतोंवाली साध्वियों की ओर उन्हें वस्त्र फेंक देने की चेतावनी देते हुए महावत जव-जव हाथी को बढ़ाता तो वे तत्काल सव वस्त्र दूर फेंक कर नग्न हो जातीं। मुरुण्डराज अपने प्रासाद के गवाक्ष से इस प्रकार के दृश्य देखता रहता। अंततोगत्वा एक दिन एक जैन साध्वी को उस पथ पर यतनापूर्वक जाती हुई देख कर महावत ने उसे सब वस्त्र फेंक देने की चेतावनी देते हुए उसकी ओर हाथी को वेग से बढ़ाया।

हाथी को तीव्र गति से अपनी ओर वढ़ते हुए देख कर भी साध्वी ने धैर्य नहीं छोड़ा। उसने सबसे पहले हाथी की ओर अपनी मुखवस्त्रिका गिरा दी।[1] हाथी थोड़ी देर रुका, उसने सूंड से मुखवस्त्रिका को पकड़ कर देखा और फिर उसे एक ओर फेंक वह साध्वी की ओर वढ़ा। साध्वी ने उसी धैर्य के साथ अव की वार अपना रजोहरण हाथी की ओर डाला। हाथी रजोहरण को सूंड से पकड़ कर थोड़ी देर तक हवा में फहराता रहा और पुनः साध्वी की ओर वढ़ा। आर्या बड़े धैर्य के साथ अपने अन्यान्य वाह्य उपकरणों को एक-एक करके हाथी की ओर डालती रही। हाथी प्रत्येक वार रुक कर साध्वी द्वारा अपनी ओर डाले गये उपकरणों को इधर-उधर कर देखता और साध्वी की ओर वढ़ता। अंत में साध्वी के पास लज्जा ढांकने का केवल एक ही वस्त्र वचा रह गया। महावत वार-वार तीव्र स्वर में साध्वी को वस्त्र फेंकने के लिए कहता रहा पर वह नटी की तरह कभी हाथी के इस ओर तो कभी उस ओर होकर अपना वचाव करने लगी। राजपथ पर दर्शकों की भारी भीड़ एकत्रित हो गई। साध्वी के अपूर्व साहस और प्रत्युत्पन्नमति ने

---

[1] तीए पढ़मं मुहपोत्तिया मुक्का, ततो निसिज्जा । [वृहत्कल्प भा., भा० ४, पृ० ११२३]

जनता प्रभावित हुई। चारों ओर से आक्रोशपूर्ण तीव्र स्वर महावत पर गर्जन-तर्जन के साथ वरसने लगे – "यह दुष्टता बन्द करो, मोड़ दो हाथी को, पूज्या आर्या की ओर एक डग भी बढ़ाया तो तुम्हारा अक्षेम होगा।" उद्वेलित सागर की तरह क्रुद्ध अपार जनसमुद्र के आक्रोशपूर्ण कोलाहल से हाथी भी किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गया और साथ-साथ महावत भी। साध्वी धैर्य की प्रतिमूर्ति की तरह वस्त्र में लिपटी एक ओर खड़ी थी।

मुरुण्डराज राजप्रासाद के गवाक्ष से यह सब दृश्य देख रहा था। उसने जैन श्रमणी को परीक्षा में पूर्णतः उत्तीर्ण पाकर महावत की ओर संकेत किया। हस्तिवाहक ने विचित्र शब्दों के उच्चारण के साथ अपना अंकुश गजराज के गण्डस्थल पर दे मारा। हाथी तत्काल अपनी सूंड, पूंछ एवं बड़े-बड़े कान फटकारता हुआ मुड़ा और एक चिंघाड़ के साथ तीव्रगति से हस्तिशाला की ओर बढ़ गया।

मुरुण्डराज ने अपनी वहिन से कहा – "सहोदरे ! यही धर्म सर्वज्ञ-दृष्ट है।[1] तुम अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहती हो तो इस जैन साध्वी के पास दीक्षा ग्रहण कर सकती हो।" मुरुण्डराज की विधवा वहिन ने जैनश्रमणी दीक्षा ग्रहण कर ली।[2]

मुरुण्डकाल में धार्मिक कटुता

मुरुण्ड राज के समय देश के कतिपय भागों में धार्मिक कटुता अथवा धार्मिक असहिष्णुता किस प्रकार घर किये हुए थी, इसका परिचय भी निम्न-लिखित छोटे से आख्यान से प्राप्त होता है।

पाटलिपुत्र के मुरुण्डराज की पुरुषपुर (पेशावर) के राजा के साथ प्रगाढ़ मैत्री थी। एक वार मुरुण्ड ने अपना एक दूत पुरुषपुर के अधिपति के पास भेजा। वहां के विदेश मंत्री ने उस विशिष्ट दूत के लिए समुचित आतिथ्य एवं आवास आदि की व्यवस्था कर उसे दूसरे दिन पुरुषपुराधिप से मिलने के समय के सम्बंध में सूचित किया।

दूत दूसरे दिन राजा से मिलने हेतु अतिथिभवन से प्रस्थित हुआ। उन दिनों पुरुषपुर बौद्धों का केन्द्रस्थल बना हुआ था। वह बौद्धभिक्षुओं से इतना संकुल था कि भवन से वाहर निकलते ही दूत की दृष्टि सर्वप्रथम एक बौद्ध भिक्षु पर पड़ी।

दूत ने इसे घोर अपशकुन समझा और उस दिन राजा से मिलने का विचार छोड़कर पुनः अतिथिभवन में लौट गया। लगातार तीन दिन तक जब-जब भी दूत राजा से मिलने हेतु अतिथिगृह से वाहर निकला, तो उसे प्रत्येक वार सर्व

---

[1] एस धम्मो सवन्नु दिट्ठो। [बृहत्कल्प भा०, भा० ४, पृ० ११२३]

[2] साधूनां समीपे भगिनी प्रव्रज्या ग्रहणार्थं विसर्जिता। [वही, पृ० ११२४]

प्रथम बौद्ध भिक्षु ही दृष्टिगोचर हुआ और वह उस तथाकथित अपशकुन से त्रस्त हो तत्काल अपने कक्ष की ओर लौट पड़ा।

तीन दिन बीतने पर भी जब दूत पुरुषपुर के राजा की सेवा में नहीं पहुँचा तो विदेशामात्य दूत के पास पहुँचा और उसने दूत से राजा की सेवा में नहीं पहुँचने का कारण पूछा। सरल हृदय दूत ने अपने मन में जमे विश्वास को प्रकट करते हुए उत्तर दिया – "बौद्ध भिक्षु के दर्शन से बढ़ कर और कोई अन्य अपशकुन नहीं। मैं जब-जब भी राजा की सेवा में उपस्थित होने इस भवन से बाहर निकला तभी जिस व्यक्ति पर मेरी सबसे पहली दृष्टि पड़ी, वह बौद्ध भिक्षु था। अब आप ही बताइये इस प्रकार के घोर अपशकुन की अवस्था में मैं राजदर्शन के लिए कैसे आता ?"

मंत्री ने दूत को बार बार समझाया कि गली के अन्दर अथवा बाहर बौद्ध भिक्षु दृष्टिगोचर हो तो उससे अपशकुन नहीं होता, पर अपशकुन का भय दूत के हृदय से पूर्ण रूपेण नहीं निकला। मंत्री के आग्रह पर वह डरता-डरता राजा की सेवा में पहुँचा।

मत्स्य पुराण, वायु पुराण और श्रीमद्भागवत[1] आदि में मुरुण्ड राजाओं का पुरुण्ड, परुण्ड और गरुण्ड नाम से उल्लेख उपलब्ध होता है।

मुरुण्ड लोग अफगानिस्तान में काबुल के आस-पास के मुरण्ड प्रदेश के रहने वाले थे। प्राचीन काल में मुरण्ड प्रदेश को लम्बक के नाम से भी पहिचाना जाता था। आजकल उस प्रदेश को लमघान कहते हैं।"[2]

युगप्रधानाचार्य :– आर्य नागहस्ती के वाचनाचार्य काल में क्रमशः आर्य श्रीगुप्त और वज्र और रक्षित ये तीन युगप्रधानाचार्य हुए।

आर्य श्रीगुप्त – युग प्रधानाचार्य

आर्य भद्रगुप्त के स्वर्गगमनानन्तर आर्य श्रीगुप्त युगप्रधानाचार्य हुए। आपका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता। दुष्षमाकाल श्रमण-संघ-स्तव के अन्त में जो युगप्रधान यन्त्र दिया हुआ है, उसके अनुसार आपके जीवन की प्रमुख घटनाओं का तिथिक्रम इस प्रकार है :–

आर्य श्री गुप्त का जन्म वीर नि० सं० ४४८ में हुआ। ३५ वर्ष की युवावस्था में आपने वीर नि० सं० ४८३ में श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। ५० वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय में रहते हुए आपने तप, संयम एवं विनय धर्म की

---

[1] ततोऽष्टौ यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्ककाः।
भूयो दश गुरुण्डाश्च, मौना एकादशैव तु ॥३०॥
[श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अ० १]

२ मुरण्ड—muranda, m a country to the north-west of Hindustan(also called Lampaka and now Lamghan in Cabul).
मुरुण्ड—murunda .. a king ... dynasty and a people [मोन्योर मोन्योर विलियम्स]

आराधना के साथ साथ अंग शास्त्रों एवं दश पूर्वों का अध्ययन किया। आपने वीर नि० सं० ५३३ से ५४८ तदनुसार १५ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद से जिन शासन की सेवा की और १०० वर्ष, ७ मास एवं ७ दिन की पूर्णायु का उपभोग कर वी० नि० सं० ५४८ में स्वर्गारोहण किया।

छठा निह्नव रोहगुप्त आप ही का शिष्य था।

छठा निन्हव रोहगुप्त

वीर नि० सं० ५४४ में रोहगुप्त से त्रैराशिक दृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है।[1] भगवद्वचन के एक देश का अपलाप करने के कारण रोहगुप्त को निह्नव माना गया है। त्रैराशिक मत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आवश्यक चूर्णि में निम्नलिखित उल्लेख किया गया है :–

अंतरंजिका नगरी के बाहर भूतगुहा नामक एक चैत्य था। एक समय वहां श्रीगुप्त नामक आचार्य अपने शिष्य समूह के साथ पधारे। उस समय अंतरंजिका में राजा बलश्री का राज्य था। आचार्य श्रीगुप्त के अनेक शिष्यों में से रोहगुप्त नाम का एक बड़ा बुद्धिमान शिष्य था। वह ग्रामान्तर से आचार्यश्री की सेवा में अंतरंजिका पहुंचा। मार्ग में उसने एक परिव्राजक को देखा, जो अपने पेट पर लोह का पट्टा बांधे और हाथ में जामुन की टहनी लिये हुए था। लोगों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि ज्ञानाधिक्य के कारण पेट कहीं फट न जाय, इसलिये उस संन्यासी ने अपने पेट पर लोह का पट्टा बांध रखा है। पेट पर लोहे का पट्टा रखने के कारण उसकी पोट्टसाल के नाम से प्रसिद्धि हो गई। परिव्राजक अपने हाथ में जम्बू (जामुन) की डाली को धारण किये मानो इस बात की ओर संकेत कर रहा था कि समस्त जम्बूद्वीप में उसके साथ वाद करने वाला कोई प्रतिवादी नहीं है। शास्त्रार्थ करने के लिये विद्वानों का आह्वान करते हुए वह ढिंढोरा पिटवा रहा था।

रोहगुप्त ने परिव्राजक द्वारा की गई घोषणा को सुना और परिव्राजक के अतिशय गर्व को देख कर ढिंढोरा रोका। उसने कहा – "मैं परिव्राजक के साथ शास्त्रार्थ करूंगा।"

परिव्राजक के ढिंढोरे को रोकने के पश्चात् रोहगुप्त गुरु की सेवा में पहुँचा और वन्दन-नमन के पश्चात् उसने आचार्य श्रीगुप्त की सेवा में निवेदन किया – "भगवन् ! मैंने पोट्टसाल परिव्राजक के साथ वाद करना स्वीकार किया है।"

आचार्य श्रीगुप्त ने कहा – "परिव्राजक के साथ वाद स्वीकार कर तुमने उचित नहीं किया। परिव्राजक विद्यावली है। यदि वह वाद में पराजित हो भी गया तो भी वह विद्याओं के प्रयोग से तुम्हें परास्त करने का पूरा प्रयास करेगा।"

---

[1] पंचसया चोयाला, तइया सिद्धिगयस्स वीरस्स।
पुरिमंतरंजियाए, तेरासियदिट्ठि उप्पन्ना ॥२४५१॥ [विशेषावश्यक भाष्य]

रोहगुप्त बोला – "अब तो वाद करना स्वीकार कर लिया है अतः अब उसे कैसे परास्त किया जाय, यह बताने की कृपा करें।"

इस पर आचार्य श्रीगुप्त ने सिद्धमात्र विद्याएं देकर रोहगुप्त को अपना रजोहरण भी दिया और कहा – "यदि विद्याओं के उपरान्त भी कोई उपद्रव खड़ा हो जाय तो रजोहरण को घुमा देना। तुम्हें कोई नहीं जीत सकेगा।"

रोहगुप्त गुरु द्वारा प्रदत्त विद्याएं और रजोहरण लेकर राजसभा में पहुंचा और बोला – "परिव्राजक ! अपना पूर्वपक्ष उपस्थित करो।"

परिव्राजक ने सोचा कि यह श्रमण बड़े कुशल होते हैं अतः इन्हीं के सिद्धान्त को मैं अपनी ओर से पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करूं। इस प्रकार सोच कर वह बोला – "संसार में दो राशियां हैं – जीव राशि और अजीवराशि।"

रोहगुप्त ने प्रतिपक्ष में कहा – "नहीं राशियां तीन होती हैं। जीव-अजीव और नोजीव।" जीव अर्थात् चेतना वाले प्राणी, अजीव घटपदादि जड़ पदार्थ और नोजीव – छिपकली की कटी हुई पूंछ।"

संसार में अन्य भी तीन प्रकार के पदार्थ होते हैं। दंड के भी तीन भाग होते हैं – आदि मध्य और अन्त। लोक भी उर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक – इस प्रकार तीन होते हैं। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि राशियां दो ही होती हैं।"

इस प्रकार थोड़ी ही देर के शास्त्रार्थ में रोहगुप्त के प्रबल तर्कों से निरुत्तर होकर परिव्राजक खिसिया गया और वह अपनी विद्याओं के बल से रोहगुप्त को जीतने का प्रयास करने लगा। परिव्राजक ने क्रमशः वृश्चिकी, सर्पिकी, मूषिकी काकी एवं मृगी विद्याओं का रोहगुप्त पर प्रयोग किया। रोहगुप्त ने मयूरी, नकुली, मार्जारी, व्याघ्री और उलूकी विद्याओं के प्रयोग द्वारा परिव्राजक की उन सभी विद्याओं को प्रभावहीन बना दिया।

विद्याबल के प्रयोग में भी रोहगुप्त से पराजित हो जाने पर परिव्राजक बौखला उठा। उसने अन्त में अपने अन्तिम अस्त्र के रूप में सुरक्षित गर्दभी विद्या का रोहगुप्त पर प्रयोग किया। रोहगुप्त के पास उसे निरस्त करने वाली कोई विद्या नहीं थी अतः उसने गुरु द्वारा प्रदत्त रजोहरण के माध्यम से गर्दभी विद्या को प्रभावहीन बना परिव्राजक को पराजित कर दिया। राजा और सभ्यों द्वारा रोहगुप्त को विजयी और परिव्राजक को पराजित घोषित किया गया।

परिव्राजक को पराजित करने के पश्चात् रोहगुप्त अपने गुरु की सेवा में लौटा और उसने अपनी विजय की सारी घटना उन्हें कह सुनाई।

तीन राशियों की प्ररूपणा की बात सुनकर आचार्य श्रीगुप्त ने कहा – "वत्स ! उत्सूत्र प्ररूपणा कर विजय प्राप्त करना उचित नहीं। सभा से उठते ही तुम्हें यह स्पष्टीकरण कर देना चाहिये था कि हमारे सिद्धान्त में तीन राशियां नहीं हैं। मैंने तो केवल वादी की बुद्धि को पराभूत करने के लिये ही तीन राशियां

की प्ररूपणा की है। वस्तुतः राशियां दो ही हैं। जीवराशि और अजीव राशि। अब भी समय है, तुम तत्काल राजसभा में जाकर सत्यव्रत की रक्षा के लिये स्पष्टीकरण के साथ वास्तविक स्थिति रख दो।"

गुरु की आज्ञा को अनसुनी कर रोहगुप्त राजसभा में जाने के लिये उद्यत नहीं हुआ। वह मौन धारण किये अपने स्थान पर बैठा रहा। जब आचार्य श्रीगुप्त ने राजसभा में जाने के लिये उसे बार बार बल दिया तो वह उनसे वाद करने को उद्यत हो गया। उसने अपनी बात को सही प्रमाणित करने का प्रयास करते हुए कहा—"मैंने तीन राशियों की बात कह दी तो इसमें मुझे कौनसा दोष लग गया? राशियां तीन हैं ही।"

रोहगुप्त को अपने साथ वाद करते देख आचार्य श्रीगुप्त ने राजकुल में जाकर कहा—"राजन्! मेरे शिष्य रोहगुप्त ने जो आपकी राजसभा में तीन राशियों की प्ररूपणा की है, वह वास्तव में सिद्धान्तविरुद्ध है। सिद्धान्त में वस्तुतः दो ही राशियां मानी गई हैं। आप हम दोनों के बीच होने वाले वाद-प्रतिवाद को सुनकर सत्य का निर्णय करें।

राजा द्वारा स्वीकृति प्रदान किये जाने के पश्चात् गुरू शिष्य के बीच वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ और निरन्तर ६ मास तक चलता रहा। अन्त में राजा बलश्री ने आचार्यश्री से निवेदन किया—"भगवन्! राज्यकार्य में बड़ा विक्षेप हो रहा हैं। अतः वाद को अब शीघ्र समाप्त करने की कृपा करें।"

बलश्री को आश्वस्त करते हुए आचार्य श्रीगुप्त ने कहा—"राजन्! कल वाद-विवाद समाप्त हो जायगा।"

दूसरे दिन आचार्य श्रीगुप्त ने ६ महिनों से चले आ रहे शास्त्रार्थ को निर्णायक स्थिति में लाने का उपक्रम करते हुए राजसभा के समक्ष राजा से कहा—"राजन्! कुत्रिकापण में संसार भर के सब द्रव्य (पदार्थ) उपलब्ध होते हैं। आप वहां से जीव, अजीव और नोजीव इन तीनों द्रव्यों को मंगवाइये।"

राजा द्वारा तत्काल राज्याधिकारियों को कुत्रिकापण पर भेजा गया। वहां जीव और अजीव की तो उपलब्धि हो गई पर नोजीव मांगने पर कोई वस्तु नहीं मिली।

राजा ने अपना निर्णय सुनाते हुए कहा—"कुत्रिकापण पर संसार के सभी द्रव्य मिल जाते हैं। वहां पर जीव और अजीव मिल गये, नोजीव नामक द्रव्य नहीं मिला। इससे यह प्रमाणित होता है कि संसार में जीव और अजीव ये दो ही राशियां हैं, नोजीव नाम की तीसरी कोई राशि नहीं। ऐसी स्थिति में आचार्य श्रीगुप्त को वाद में विजयी घोषित किया जाता है और उनके दुर्विनीत शिष्य रोहगुप्त को पराजित।" राजा ने रोहगुप्त को अपने देश से निर्वासित भी कर दिया।[1]

[1] वाए पराजिओ सो, निव्विसओ कारिओ नरिंदेण।
घोसावियं च नयरे, जयइ जिणो वद्धमाणोत्ति ।।२५०६ [विशेषावश्यक भाष्य]

आचार्य श्रीगुप्त ने भी दुराग्रही समझ कर रोहगुप्त को श्रमणसंघ से बहिष्कृत कर दिया।

शास्त्रज्ञान तथा अनेक विद्याओं में निष्णात, ज्ञान और प्रतिभा दोनों ही का धनी रोहगुप्त मिथ्याभिनिवेश के वशीभूत होकर मिथ्यात्वी हो गया। इससे प्रमाणित हो जाता है कि मिथ्याभिनिवेश वस्तुतः महान् अनर्थों का मूल है। मिथ्याभिनिवेश के वशीभूत व्यक्ति वर्षों से अर्जित ज्ञान, सम्यक्त्व, गुरुभक्ति आदि को तिलांजलि देकर अपनी आत्मा का घोर पतन कर बैठता है।

जैन साहित्य और इतिहास के अनुसार यही रोहगुप्त वैशेषिक दर्शन का प्रणयनकर्त्ता माना गया है। रोहगुप्त का औलुक्य गोत्र होने के कारण इसके द्वारा प्रणीत वैशेषिक दर्शन को औलुक्य दर्शन तथा छः द्रव्यों का उपदेश करने के कारण षडौलुक्य दर्शन के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

कल्पसूत्र स्थविरावली में कौशिक गोत्रीय षडुलूक रोहगुप्त को आर्य महागिरि का शिष्य बताया गया है।[1] आर्य महागिरि का आचार्यकाल वीर नि० सं० २१५ से २४५ तक माना गया है और रोहगुप्त द्वारा त्रैराशिक दर्शन का प्रवर्तन वीर नि० सं० ५४४ में किया गया। ऐसी स्थिति में रोहगुप्त को आर्य महागिरि का साक्षात् शिष्य किसी भी दशा में स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि वी. नि. सं. २४५ में स्वर्गस्थ हुए आर्य महागिरि के साक्षात् शिष्य का उनसे ३२६ वर्ष पश्चात् विद्यमान रहना संभव नहीं।

वस्तुतः रोहगुप्त युगप्रधानाचार्य श्रीगुप्त के साक्षात् शिष्य थे। आर्य श्रीगुप्त वास्तव में आर्य महागिरि की परम्परा में हुए अथवा किसी अन्य परम्परा में – इस प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। कल्पसूत्र स्थविरावली के इस उल्लेख से कि रोहगुप्त महागिरि के शिष्य थे, इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि युगप्रधानाचार्य श्रीगुप्त आर्य महागिरि की मूल परम्परा से निकली किसी शाखा में हुए हैं।

इन सब तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि रोहगुप्त श्रीगुप्त का साक्षात् शिष्य और आर्य महागिरि की परम्परा के अन्तर्गत शिष्यानुशिष्य सन्तति का एक श्रमण था। कल्प स्थविरावली के एतद्विषयक पाठ का अभिप्राय भी यही होना चाहिए।

लिपिकार के दोष अथवा वास्तविक पाठ के विस्मृति के गर्भ में तिरोहित हो जाने के कारण ही कल्पस्थविरावली में रोहगुप्त को आर्य महागिरि का शिष्य बताया गया है।

---

[1] नामेण रोहगुत्तो, गुत्तेण य लप्पए स चोलूओ।
दव्वाइ छप्पयत्थो – वएसणाओ छलूओत्ति ॥२५०८ [वही]

[2] थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावच्चसगुत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था। तंजहा – थेरे उत्तरे······थेरे छलुए रोहगुत्ते कोसिय गुत्तेणं। थेरेहिंतो णं छलुएहिंतो णं रोहगुत्तेहिंतो तेरासिया साहा निग्गया।

आर्य वज्रस्वामी

भगवान् महावीर के शासन में हुए प्रभावक आचार्यों में आर्य वज्रस्वामी का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। आपके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि आपको अपने जन्म के तत्काल पश्चात् ही जातिस्मरण ज्ञान हो गया और अपने जन्म के प्रथम दिन से ही आप संसार से पूर्णरूपेण विरक्त एवं वैराग्य भावनाओं से ओत-प्रोत हो जीवनपर्यंत अहर्निश स्व-पर कल्याण में निरत रहे।

आर्य वज्रस्वामी के पितामह श्रेष्ठी धन अवन्ती प्रदेश के तुम्बवन नामक नगर के निवासी थे। उनकी गणना अवन्ती राज्य के अतिसमृद्ध, प्रतिष्ठित एवं प्रमुख श्रेष्ठियों में की जाती थी। दानशीलता, दयालुता एवं उदारता आदि गुणों के कारण श्रेष्ठी धन का यश उस समय आर्यधरा में दूर-दूर तक फैला हुआ था।

श्रेष्ठी धन के धनगिरि नामक एक मात्र पुत्र था जो बड़ा तेजस्वी, सुकुमार, सौम्य और सुन्दर था। श्रेष्ठिपुत्र धनगिरि बाल्यावस्था से ही ऐहिक आकर्षणों के प्रति उदासीन और अपनी अवस्था के अननुरूप सदा धार्मिक विचारों में ही निमग्न रहता था। संभवतः आर्य धनगिरि के युवा होने से पूर्व ही श्रेष्ठी धन का देहावसान हो चुका था।

उन दिनों तुम्बवन नगर में धनपाल नामक एक व्यापारी रहता था, जो विपुल वैभव तथा अतुल सम्पत्ति का स्वामी था। श्रेष्ठी धनपाल के समित नामक एक पुत्र और सुनन्दा नाम की एक सर्वगुण-सम्पन्ना परम रूप-लावण्यवती पुत्री थी। श्रेष्ठिपुत्र समित ने आर्य सिंहगिरि के उपदेश से प्रबुद्ध हो पूर्ण तरुणावस्था में ही अपने पैतृक अमित वैभव का परित्याग कर उत्कृष्ट वैराग्य के साथ आर्य सिंहगिरि के पास श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

उधर जब सुनन्दा किशोरावस्था के कगार पर पहुंची तो धनपाल को अपनी कन्या के योग्य वर ढूंढने की चिन्ता हुई। अपने समान कुल, शील एवं धनसम्पन्न श्रेष्ठी धन के पुत्र धनगिरि को अपनी पुत्री के लिये योग्य समझ कर धनपाल ने उसके समक्ष सुनन्दा से पाणिग्रहण करने का प्रस्ताव रखा। सांसारिक भोगों से निस्पृह धनगिरि ने अति विनम्र शब्दों में एक प्रकार से धनपाल के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए प्रश्न किया – "क्या भवसागर की भयावहता से भलीभांति परिचित आप जैसे स्वजनहितैषी महानुभावों द्वारा अपने किसी प्रियजन को भव-पाश में आबद्ध करना उचित कहा जा सकता है ?"

धनपाल ने अतिशय स्नेहसिक्त स्वर में अनेक युक्तियों एवं दृष्टान्तों से धनगिरि को समझाते हुए कहा – "सौम्य ! भवार्णव से असंख्य भव्यों का समुद्धार करने वाले भगवान् ऋषभदेव ने भी ऋण चुकाने के समान भोगों का उपभोग करने के पश्चात् त्यागमार्ग को अंगीकार कर स्व तथा पर का कल्याण किया था। अतः तुम्हें भी मेरी बात को स्वीकार कर लेना चाहिये।"

भोगों के प्रति अनिच्छा होते हुए भी धनपाल के अत्यधिक प्रेमपूर्ण आग्रह के समक्ष धनगिरि को झुकना पड़ा। अन्ततोगत्वा एक दिन शुभ मुहूर्त में सुनन्दा के साथ धनगिरि का विवाह बड़ी धूमधाम और हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हो गया। नवदम्पति सहज-सुलभ सांसारिक भोगोपभोगों का मर्यादापूर्वक उपभोग करने लगे। कुछ ही दिनों पश्चात् सुनन्दा के गर्भ में एक भाग्यशाली जीव अवतरित हुआ।[1]

गर्भसूचक शुभ-स्वप्न से धनगिरि और सुनन्दा को दृढ़ विश्वास हो गया कि उन्हें अत्यन्त सौभाग्यशाली पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। गर्भ की अभिवृद्धि के साथ-साथ सुनन्दा के हर्ष की भी अभिवृद्धि होने लगी। आशा के अतिसुन्दर मानसरोवर में उसका मनमराल हिलोरों के साथ अठखेलियां करने लगा। वह अहर्निश अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करती हुई परमप्रमुदित मुद्रा में रहने लगी।

"ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः" – इस उक्ति के अनुसार ज्ञाततत्त्वा विरक्त धनगिरि के मन में सांसारिक भोगों के प्रति किसी प्रकार का आकर्षण अवशिष्ट नहीं रहा। वे घर परिवार, और वैभव आदि को प्रगाढ़ बन्धन एवं प्रपंचतुल्य समझते थे। उन्होंने आत्मकल्याण के लिये उपयुक्त अवसर समझ कर अपनी पत्नी की प्रसन्न मुद्रा से लाभ उठाने का निश्चय किया।

धनगिरि ने एक दिन सुनन्दा से कहा – "सरले ! तुम्हें यह विदित ही है कि मैं साधनापथ का पथिक बन कर आत्महित-साधन करना चाहता हूँ। सौभाग्य से तुम्हें अपना जीवन यापन करने के लिये शीघ्र ही पुत्र का अवलम्बन प्राप्त होने वाला है। अब मैं प्रव्रजित हो आत्मकल्याण करना चाहता हूँ। तुम्हारे जैसी आर्य सन्नारियां अपने दयित के अभ्युत्थान-मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित करना उचित नहीं समझतीं। वे अपने प्रियतम के अभीष्ट पथ को प्रशस्त बनाने हेतु महान् से महान् त्याग करने के लिये सदा सहर्ष कटिबद्ध रहती हैं। अतः तुम मेरे आत्मसाधना के मार्ग में सहायक बन कर मुझे प्रव्रजित होने की अनुमति प्रदान करो। यही मेरी हार्दिक इच्छा है।"

आर्य धनगिरि के अन्तस्तलस्पर्शी उद्गारों से सुनन्दा का सुषुप्त आर्य-नारीत्व अपने सनातन स्वरूप में सहसा जागृत हो उठा। उसने शान्त, मन्द पर सुदृढ़ स्वर में कहा:–"प्राणाधार ! आप सहर्ष अपना परमार्थ सिद्ध कीजिये। मैं आपके द्वारा दिये हुए सम्बल के सहारे आर्यनारी के अनुरूप गौरवमय जीवन व्यतीत कर लूंगी।"

---

[1] आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रभावक चरित्र में उल्लेख किया है कि गौतमस्वामी द्वारा अष्टापद पर्वत पर प्रतिबोधित सामानिक वैश्रमण देव देवायु पूर्ण होने पर सुनन्दा के गर्भ में उत्पन्न हुआ। वही जन्म ग्रहण करने के पश्चात् वज्रस्वामी के नाम से विख्यात हुआ।
यथा:– स वैश्रमणजातीयसामानिक सुरोऽन्यदा।
अष्टापदाद्रिशृंगे यः प्रत्यबोधीन्द्रभूतिना ॥४२॥
सुनन्दाकुक्षिसारेऽप्यावतीर्णः स्वायुषः क्षये। [प्रभावक चरित्र]

सुनन्दा से अनुमति प्राप्त कर धनगिरि तत्काल घर से निकल पड़े। उस समय संयोगवश आर्य सिंहगिरि तुम्बवन में पधारे हुए थे। धनगिरि ने आचार्य सिंहगिरि की सेवा में उपस्थित हो निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण की और गुरुचरणों में आगमों का अध्ययन करने के साथ-साथ कठोर तपश्चरण एवं संयम-साधना करने लगे। आर्य धनगिरि वैराग्य के रंग में इतने गहरे रंग गये थे कि उन्होंने कभी क्षण भर के लिये भी अपनी पत्नी का स्मरण तक नहीं किया।

सुनन्दा ने गर्भकाल पूर्ण होने पर वीर निर्वाण संवत् ४६६ में एक परम-तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। सुनन्दा द्वारा पुत्र को जन्म दिये जाने के समाचार जिस किसी ने सुने, उसने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। परिवार की स्त्रियों और सुनन्दा की सखियों ने बड़े हर्षोल्लास से पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। उस आनन्द के अवसर पर किसी ने कहा—"यदि इस बालक के पिता धनगिरि प्रव्रजित न हुए होते तो आज इसका जन्मोत्सव और भी अधिक हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता।"

उपरोक्त वाक्य के कर्णरन्ध्रों में पड़ते ही पूर्वजन्म के संस्कारों से बालक को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। नवजात शिशु ने मन ही मन विचार किया—"अहो! मेरे पिता बड़े पुण्यशाली हैं कि उन्होंने श्रमणत्व स्वीकार कर लिया। मुझे भी कालान्तर में यथाशीघ्र संयम ग्रहण करना है, क्योंकि संयम के परिपालन से ही मेरा भवसागर से उद्धार हो सकता है। उसकी माता का उसके प्रति पुत्रस्नेह प्रगाढ़ न बने और उसके व्यवहार से पीड़ित हो माता उसका शीघ्र ही परित्याग कर दे, इसके लिये रुदन को ही शीघ्र फलदायी समझ कर बालक ने तत्काल रुदन करना प्रारम्भ किया। बालक को रुदन से उपरत कराने हेतु सुनन्दा ने, सुनन्दा की सखियों ने और सभी बड़ी, बूढ़ी, सयानी स्त्रियों ने सभी प्रकार के उपाय कर लिये किन्तु बालक का रुदन निरन्तर चलता रहा। अपने पुत्र के अनवरत क्रन्दन से सुनन्दा बड़ी दुखित रहने लगी। उसे न रात्रि में क्षणभर के लिये चैन था न दिन में। वह बार-बार दीर्घ निश्वास छोड़ कर कहती—"पुत्र! यों तो तू बड़ा नयनाभिराम है, तुझे देख-देख कर मेरी आँखें आप्यायित हो जाती हैं पर तेरा यह अहर्निश क्रन्दन बड़ा क्लेशप्रद लगता है। यह मेरे हृदय में शूल की तरह चुभता है। इस प्रकार येन केन प्रकारेण सुनन्दा ने ६ मास छ: वर्षों के समान व्यतीत किये। संयोगवश उस समय आर्य सिंहगिरि का तुम्बवन में पुनः पदार्पण हुआ।

मधुकरी की वेला में जिस समय आर्य धनगिरि मधुकरी हेतु अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर प्रस्थान करने लगे, उस समय किसी पक्षिविशेष के रव को सुन कर निमित्तज्ञ आर्य सिंहगिरि ने अपने शिष्य धनगिरि को सावधान करते हुए कहा—"वत्स! आज तुम्हें भिक्षा में सचित्त, अचित्त अथवा मिश्रित जो भी वस्तु मिले उसे बिना किसी प्रकार का विचार किये तुम ग्रहण कर लेना।"

"यथाज्ञापयति देव" कह कर आर्य धनगिरि आर्य समित के साथ भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए सर्वप्रथम सुनन्दा के घर पहुँचे । आर्य धनगिरि और समित को सुनन्दा के घर में भिक्षार्थ प्रवेश करते देख कर सुनन्दा की अनेक सखियां तत्काल सुनन्दा के पास पहुँचीं और उससे कहने लगीं – "सुनन्दे ! तुम अपना यह पुत्र धनगिरि को दे दो ।"

सुनन्दा अपने पुत्र के कभी बन्द न होने वाले रुदन से दुखित तो थी ही । उसने अपनी सखियों की बात सुन कर तत्काल पुत्र को दोनों हाथों में उठा कर धनगिरि को वन्दन करते हुए कहा – "आपके इस पुत्र के प्रतिपल क्रन्दन से मैं तो बड़ी दुखित हो चुकी हूँ । कृपया आप इसे ले लीजिये और अपने पास ही रखिये । यदि यह आपके पास रह कर सुखी रहता है तो उससे भी मुझे सुखानुभूति ही होगी ।"

आर्य धनगिरि ने स्पष्ट शब्दों में कहा – "श्राविके ! मैं इस को लेने के लिये तैयार हूँ किन्तु स्त्रियों की बात का कोई विश्वास नहीं । पंगु व्यक्ति की तरह उनकी बात आगे चलती नहीं । कालान्तर में किसी प्रकार का विवाद उपस्थित न हो जाय, इस दृष्टि से तुम अनेक व्यक्तियों को साक्षी बनाते हुए उनके समक्ष यह प्रतिज्ञा करो कि भविष्य में तुम कभी अपने पुत्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कोई बात नहीं कहोगी ।"

सुनन्दा ने अतीव खिन्न स्वर में कहा – "एक तो ये आर्य समित (संसार पक्ष से सुनन्दा के सहोदर) मेरे साक्षी हैं और इनके अतिरिक्त मेरी ये सभी सहेलियां साक्षी हैं । इन सबको साक्षी बनाकर मैं स्वीकार करती हूँ कि इस क्षण के पश्चात् मैं अपने इस पुत्र के सम्बन्ध में कभी कोई बात नहीं कहूंगी ।"

तदनन्तर सुनन्दा ने अपने पुत्र को मुनि धनगिरी के पात्र में रख दिया । बालक ने तत्काल परम सन्तोष का अनुभव करते हुए रुदन बन्द कर दिया । मुनि धनगिरि ने झोली के वस्त्र में सुदृढ़ गांठें लगाई और दक्षिण हस्त से दृढ़तापूर्वक पात्रबन्ध को थामे हुए वे सुनन्दा के घर से उस स्थान की ओर प्रस्थित हुए जहां आर्य सिंहगिरि विराजमान थे । सुनन्दा के गृहांगण से निकल कर उपाश्रय पहुँचते पहुँचते मुनि की भुजा उस शिशु के भार से भग्न सी होने लगी । वे उस भार को उठाये किसी तरह अपने गुरु के समक्ष पहुँचे । भार से एक ओर अधिक झुके हुए धनगिरि को दूर से ही देख कर आर्य सिंहगिरि अपने शिष्य के सम्मुख आये और धनगिरि के हाथ से उन्होंने वह झोलीबन्ध अपने हाथ में ले लिया । झोलीबन्ध को हाथ में लेते ही आर्यसिंह गिरि ने धनगिरि से आश्चर्य भरे स्वर में पूछा – "मुने ! तुम यह वज्र के समान अत्यन्त भारयुक्त आज क्या ले आये हो ? यह तो मेरे हाथों की पकड़ से भी खिसका जा रहा है ।" यह कहते हुए आर्य सिंहगिरि ने अपने आसन पर पात्र को रखा और झोली को खोलकर देखा । पात्र में चन्द्रमा के समान कान्तिमान् परमतेजस्वी बालक को देखकर आर्य सिंहगिरि ने उस बालक

का नाम वज्र रखा और कहा—"यह बालक प्रवचन का आधार होगा, इसका संरक्षण किया जाय।"

आचार्य सिंहगिरि ने साध्वियों के उपाश्रय में शय्यातरी की देखरेख में बालक वज्र को सम्हला दिया और स्वयं वहां से किसी अन्य क्षेत्र के लिए विहार कर गये।

शय्यातरी श्राविका अपने बालकों को सम्हालने से पहले बालक वज्र के दुग्धपान, स्नानमर्दन आदि का पूरा ध्यान रखती और दिनभर उपाश्रय में रखकर रात्रि में अपने घर ले आती। बालक भी मल-मूत्र की शंका होने पर मुखाकृति अथवा रुदन से शय्यातरी को सचेत कर देता और उन्हें कष्ट नहीं होने देता।

वालक की इस बदली हुई स्थिति और शय्यातरी श्राविका द्वारा बड़ी लगन के साथ की गई सेवाशुश्रूषा के कारण उसके हृष्ट-पुष्ट होने की बात सुनकर सुनन्दा अपने पुत्र को देखने के लिए एक दिन उपाश्रय में आ पहुँची। अपने सुन्दर एवं स्वस्थ पुत्र को प्रसन्न मुद्रा में देखकर सुनन्दा के हृदय में मातृस्नेह उद्वेलित सागर की तरह उमड़ पड़ा। उसने शय्यातरी से अपने पुत्र को लौटाने का आग्रह किया किन्तु शय्यातरी ने देना स्वीकार नहीं किया। सुनन्दा स्नेहवश वालक वज्र को यथासमय आकर स्तनपान करा जाती। इस तरह बालक वज्र ३ वर्ष का हो गया। वह जाति-स्मरण ज्ञान के कारण प्रस्तुत आहार ही ग्रहण करता और साध्वियों के मुख से शास्त्रों के श्रवण में बड़ी रुचि रखता।

कालान्तर में आर्य सिंहगिरि अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए अपने शिष्यों सहित तुम्ववन में पधारे। सुनन्दा ने आर्य धनगिरि के पास पहुंच कर उनसे अपना पुत्र लौटाने की प्रार्थना की।

आर्य धनगिरि ने सुनन्दा को साध्वाचार के सम्बन्ध में समझाते हुए कहा—"श्राविके! हम साधु लोग साधु—कल्प के अनुसार जिस प्रकार एक वार ग्रहण की हुई वस्त्र-पात्रादि वस्तु को लौटा नहीं सकते, ठीक उसी प्रकार एक वार ग्रहण किये हुए वालक वज्र को भी तुम्हें नहीं लौटा सकते। तुम तो स्वयं धर्मज्ञा हो, अतः एक वार स्वीकार की हुई वात से मुकरने जैसा अनुचित कार्य तुम्हें शोभा नहीं देता। तुमने आर्य समित और अपनी सखियों को साक्षी वना कर वालक वज्र को हमें देते हुए कहा था—'यह वालक मैं आपको देती हूं, अव मैं कभी इस वालक के सम्वन्ध में किसी प्रकार की वात नहीं करूंगी।' अतः अव तुम्हें अपनी उस प्रतिज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करना चाहिये।"

आर्य धनगिरि द्वारा अनेक प्रकार से समझाने—वुझाने पर भी सुनन्दा ने जव अपना अविचारपूर्ण हठ नहीं छोड़ा तो संघ के प्रमुख सदस्यों ने भी उसे समझाने का प्रयास किया। किन्तु इस पर भी सुनन्दा ने हठाग्रह नहीं छोड़ा और उसने राजद्वार में उपस्थित हो राजा के समक्ष अपनी मांग रखते हुए न्याय की प्रार्थना की।

न्यायाधिकारियों ने दोनों पक्षों से पूर्ण जानकारी की और इस जटिल मामले को निर्णय के लिये राजा के समक्ष रखा। दोनों पक्षों के मुख से क्रमशः बालक को देने और लेने की स्वीकारोक्ति सुन कर राजा सहित न्यायाधीश बड़े असमंजस में पड़ गये कि एक ओर तो माता अपने पुत्र को प्राप्त करने की मांग कर रही है। दूसरी ओर स्वयं सुनन्दा द्वारा स्वेच्छा से अपना पुत्र उस मुनि को दिया जा चुका है, जो उस पुत्र का जनक और सुनन्दा का पति रहा है। साधु को दिये जाने के कारण वह बालक संघ का हो चुका। संघ वस्तुतः सर्वोपरि है क्योंकि तीर्थंकरों ने भी संघ को सम्मान दिया है। अन्ततोगत्वा बहुत सोच-विचार के पश्चात् राजा ने यह निर्णय दिया कि यह बालक दोनों पक्षों में से जिस पक्ष के पास स्वेच्छा से चला जायगा, उस ही के पास रहेगा।

राजाज्ञा के अनुसार प्रथम अवसर माता को दिया गया। सुनन्दा ने बालकों को हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेने वाले अनेक प्रकार के सुन्दर एवं मनोहर खिलौने, बालकों को अत्यन्त प्रिय मिष्टान्न आदि बालक वज्र की ओर प्रस्तुत करते हुए उसे अपने पास बुलाने के लिए अनेक बार मधुर सम्बोधनों एवं करतल-ध्वनि के साथ करयुगल प्रसारण आदि से उसका आह्वान किया। पर सब व्यर्थ। एक प्रबुद्धचेता योगी की तरह वह प्रलोभनों की ओर किंचित्मात्र भी आकृष्ट नहीं हुआ। वह अपने स्थान से ठस से मस तक नहीं हुआ।

तदनन्तर राजा ने बालक के पिता मुनि धनगिरि को अवसर दिया। आर्य धनगिरि ने अपना रजोहरण बालक वज्र की ओर उठाते हुए कहा :– "वत्स ! यदि तुम तत्वज्ञ और संयम ग्रहण करने के इच्छुक हो, तो अपनी कर्म-रज को झाड़ फैंकने के लिए यह रजोहरण ले लो।"[1]

आर्य धनगिरि अपना वाक्य पूरा भी नहीं कर पाये थे कि बालक वज्र अपने स्थान से उछल कर उनकी गोद में आ बैठा और उनके हाथ से रजोहरण लेकर उसे चंवर की तरह ढुलाने लगा। समस्त परिषद् यह देखकर क्षण भर के लिए स्तब्ध रह गई। धर्म के जयघोषों से गगनचुम्बी राजप्रासाद गूंज उठा। "बालक वज्र संघ के पास ही रहेगा" – यह राजाज्ञा सुनाते हुए राजा ने साधुओं एवं संघ के प्रति भावभरा सम्मान प्रकट किया। तदनन्तर सब अपने-अपने स्थान को लौट गये।

सुनन्दा मन ही मन विचार करने लगी – "मेरे सहोदर आर्य समित दीक्षित हो गये, मेरे पतिदेव भी दीक्षित हो गये और पुत्र भी दीक्षित के समान ही है। ऐसी दशा में मुझे भी श्रमणी धर्म में दीक्षित हो जाना चाहिये।" पर्याप्त सोच-विचार के पश्चात् उसने दीक्षा ग्रहण करने का दृढ़ निश्चय किया और

---

[1] जइ सि कयव्ववसातो धम्मज्झयभूसियं इमं वइर।
गेण्ह लहुं रयहरणं, कम्मरयपमज्जणं धीर॥
[आवश्यक मलयवृत्ति, उपोद्घात, पृ० ३८३]

एवं सुन्दर विवेचन सुनकर आर्यसिंहगिरि हर्षविभोर हो गद्गद् हो उठे। परमानन्द की अनुभूति के साथ उनके हृदय में सहसा इस प्रकार के उद्गार उद्भूत हुए– "धन्य है भगवान् महावीर का यह शासन, धन्य है यह गच्छ, जिसमें इस प्रकार का अलौकिक शिशुमुनि विद्यमान है।"

बालक-मुनि कहीं हतप्रभ अथवा लज्जित न हो जायं इस दृष्टि से आर्य सिंहगिरि ने उच्च स्वर से आगमनसूचक "निस्सिही-निस्सिही" शब्द का उच्चारण किया।

अपने गुरु का स्वर पहिचानते ही वज्रमुनि को लज्जामिश्रित भय का अनुभव हुआ। उन्होंने शीघ्रतापूर्वक साधुओं के विंटणों को यथास्थान रखा और वे अधोमुख किये हुए गुरु के सम्मुख पहुंचे। आर्य वज्र ने सविनय वन्दन के पश्चात् अपने गुरु के पैरों का वस्त्र से प्रमार्जन कर साफ किया। अपने गुरु के स्नेहसुधा-सिक्त सस्मित दृष्टिनिक्षेप से वज्रमुनि ने समझ लिया कि उनका प्रच्छन्न कार्य गुरु से छुपा नहीं रहा है।

आर्य सिंहगिरि ने रात्रि में अपने शिष्य वज्र मुनि की अद्भुत प्रतिभा पर विचार करते हुए मन ही मन सोचा कि वय में लघु पर ज्ञान में वृद्ध इस बालक मुनि की अपने से दीक्षा में ज्येष्ठ मुनियों की सेवा शुश्रूषा करने में जो अवज्ञा हो रही है, उसे भविष्य में नहीं होने दिया जाना चाहिये। सोच-विचार कर उन्होंने इसके लिए एक उपाय खोज निकाला। प्रातःकाल सिंहगिरि ने अपने शिष्यसमूह को एकत्रित कर कहा – "मैं आज यहां से विहार कर रहा हूँ। शिक्षार्थी सब श्रमण यहीं पर रहेंगे।"

अंगशास्त्रों का अध्ययन करने वाले श्रमणों ने अति विनीत एवं जिज्ञासा भरे स्वर में पूछा – "भगवन्! हमें शास्त्रों की वाचना कौन देंगे?"

आर्य सिंहगिरि ने शान्त, गम्भीर एवं दृढ़ स्वर में छोटा सा उत्तर दिया – "लघु मुनि वज्र।"

यदि उस समय आज के समान दूषित वातावरण होता तो निश्चित रूपेण शिष्यों द्वारा गगनभेदी अट्टहास से गुरु की धज्जियां उड़ा दी जातीं पर वे विनयशील शिष्य गुरुवाक्य को ईश्वरवाक्य समझते थे।

सहज मुद्रा में "यथाज्ञापयति देव" कह कर सब श्रमणों ने गुरु के आदेश को शिरोधार्य किया। तदनन्तर आर्यसिंहगिरि ने कुछ स्थविर साधुओं के साथ वहां से किसी अन्य स्थान के लिये विहार कर दिया। वाचना का समय होते ही साधुओं द्वारा एक पाट पर वज्रमुनि का आसन बिछाया जा कर उस पर वज्रमुनि को आसीन किया गया। सब साधु वज्रमुनि के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित कर अपने-अपने आसन पर बैठ गये। वज्रमुनि ने उन्हें शास्त्रों की वाचना देना प्रारम्भ किया। प्रत्येक सूत्र की, प्रत्येक गाथा की, समीचीन रूप से विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हुए वज्रमुनि ने आगमों के निगूढ़ से निगूढ़ रहस्यों को इस प्रकार

सरल रीति से समझाया कि प्रत्येक साधु के मस्तिष्क में उनका स्पष्ट अर्थ अमिट रूप से अंकित हो गया। प्रतिदिन शास्त्रों की वाचना का क्रम चलता रहा। वज्रमुनि से शास्त्रों की वाचना ग्रहण करते समय प्रत्येक साधु ने अमृत तुल्य रसास्वादन की अनुभूति की।

कतिपय दिनों के पश्चात् आर्य सिंहगिरि पुनः वहां लौट आये। सब श्रमणों ने गुरुचरणों में भक्तिसहित अपने मस्तक झुकाये। गुरु ने अपने शिष्यों से प्रश्न किया – "कहो श्रमणो ! तुम्हारा आगमों का अध्ययन कैसा चल रहा है ?"

सब साधुओं ने एक साथ आनन्दातिरेक भरे सम्मिलित स्वर में उत्तर दिया – "गुरुदेव ! गुरुकृपा से बहुत सुन्दर, अतिसमीचीन। वाचना ग्रहण करते समय हमें परमानन्द की अनुभूति होती है। भगवन् ! अब सदा के लिये आर्य वज्र ही हमारे वाचनाचार्य रहें।"

असीम संतोष का अनुभव करते हुए आर्य सिंहगिरि ने कहा – "प्रत्यक्षानुभव से मैंने यह सब कुछ जान लिया था। इसी लिये इस बालकमुनि की अनुपम गुणगरिमा से तुम लोगों को अवगत कराने के लिये ही मैंने जानबूझ कर यहां से विहार किया था।"

अनेक प्रकार के तपश्चरण के साथ-साथ मुनि वज्र साधु-समूह को वाचना भी देते रहे और अपने गुरु के पास अध्ययन भी करते रहे। स्वल्प समय में ही आर्य वज्र ने अपने गुरु के पास जितना आगम-ज्ञान था वह सब ग्रहण कर लिया। आर्य सिंहगिरि ने तदनन्तर आर्य वज्र को अवशिष्ट श्रुतशास्त्र का अध्ययन कराने के लिये किसी सुयोग्य विद्वान् मुनि की सेवा में भेजने का विचार किया। विहारक्रम से एक दिन वे दशपुर नामक नगर में पहुँचे। वहां से उन्होंने आर्य वज्र को अवन्ती (उज्जयिनी) में विराजित दशपूर्वधर आर्य भद्रगुप्त के पास अध्ययनार्थ भेजा। गुरुआज्ञा को शिरोधार्य कर आर्य वज्र मुनि उग्र विहार करते हुए अवन्ती नगर पहुँचे। संध्याकाल हो जाने के कारण आर्य वज्र ने रात्रि नगर के बाहर ही एक स्थान में बिताई।

प्रातःकालीन आवश्यक कार्यों को सम्पन्न करने के पश्चात् मुनि वज्र दशपूर्वधर आर्य भद्रगुप्त के स्थान की ओर प्रस्थित हुए। उस समय आर्य भद्रगुप्त ने अपने शिष्यों से कहा – "वत्सो ! मैंने रात्रि में एक स्वप्न देखा कि खीर से भरे हुए मेरे पात्र को एक सिंह-शावक ने आकर पी लिया एवं जिह्वा से चाट लिया है।[1] इस स्वप्नदर्शन से ऐसा प्रतीत होता है कि दश पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक कोई महान् बुद्धिशाली व्यक्ति आने ही वाला है।"

आर्य भद्रगुप्त ने अपनी बात समाप्त की ही थी कि मुनि वज्र ने उनके सम्मुख उपस्थित हो भक्ति सहित उन्हें वन्दन-नमन के पश्चात् अपने आगमन का

---

[1] तो आगंतूण सीहपोयएण पीतो लेहिओ य।   [आवश्यक मलय, पत्र ३८६ (१)]

प्रयोजन बताते हुए श्रुतशास्त्र का अध्यापन करने की प्रार्थना की। शरीर की चेष्टाओं और लक्षणों से वज्र मुनि को श्रुतशास्त्र के ज्ञान का सुयोग्य पात्र समझ कर आर्य भद्रगुप्त ने उन्हें पूर्वज्ञान की वाचनाएं देना प्रारम्भ किया। मुनि वज्र को दश पूर्वों का सार्थ सम्पूर्ण अध्यापन कराने के पश्चात् आर्य भद्रगुप्त ने पुनः आर्य सिंहगिरि की सेवा में लौटने की अनुज्ञा प्रदान की। वज्र मुनि अपने गुरु आर्य सिंहगिरि की सेवा में उपस्थित हुए। आचार्य ने प्रसन्न हो दशपुर में आकर उन्हें वाचक पद से सुशोभित किया।

अपने प्रिय शिष्य वज्रमुनि को दशपूर्वधर के रूप में देख कर आर्य सिंहगिरि ने परम संतोष का अनुभव किया और अपनी आयु का अन्तिम समय सन्निकट समझ कर उन्होंने वी० नि० सं० ५४८ में अपने शिष्य दशपूर्वधर आर्य वज्र को अपने उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य पद पर प्रतिष्ठापित किया। आचार्य प्रभाचन्द्रसूरि की मान्यतानुसार वज्र स्वामी के पूर्वभव के मित्र गुह्यकों ने आचार्य सिंहगिरि द्वारा आर्य वज्रस्वामी को आचार्यपद दिये जाने के अवसर पर बड़ा अद्‌भुत महोत्सव किया।[1] उस समय आचार्य वज्र ५०० साधुओं के साथ विचर रहे थे।[2]

आर्य वज्रस्वामी ने भी अपने गुरु सिंहगिरि की अन्त समय तक बड़ी लगन के साथ सेवा-शुश्रूषा की। गुरुदेव के स्वर्गगमन के पश्चात् आचार्य वज्रस्वामी ने बड़ी योग्यता के साथ संघ का संचालन करते हुए जिनशासन की सेवा की। विभिन्न क्षेत्रों में धर्म का प्रचार करते हुए वे एक समय पाटलिपुत्र पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरे। आपके तात्विक उपदेशों से अपने मानस को और दर्शनों से नेत्रों को पवित्र करने के लिये हजारों की संख्या में नरनारीवृन्द उद्यान में उपस्थित हुए। आपकी अतीव रोचक एवं अद्‌भुत व्याख्यानशैली से प्रबुद्ध हो अनेक नरनारियों ने सम्यक्त्व, व्रत, नियमादि ग्रहण कर अपना आत्म-कल्याण किया।

पाटलिपुत्र नगर के निवासी धन नामक एक अतुल सम्पत्तिशाली श्रेष्ठी की रुक्मिणी नाम की कन्या ने अपनी यानशाला में विराजित साध्वियों से आर्य वज्र के गुणों की प्रशंसा सुनी। उसने एक दिन आचार्य वज्रस्वामी के दर्शन किये और उनका व्याख्यान सुना। जब उसने अखण्ड ब्रह्मचर्य के अपूर्व तेज से प्रदीप्त आर्य वज्र के सौम्य मुखमण्डल को देखा और उपदेश देते समय उनकी सुधासिक्त मधुर वाणी को सुना तो श्रेष्ठिकन्या रुक्मिणी आचार्य वज्र पर प्राणपण से मुग्ध हो

---

[1] (क) जस्स अणुन्नाए वायगत्तणे दसपुरम्मि नयरम्मि।
देवेहिं कया महिमा, पयाणुसारिं नमंसामि ॥ ७६७ [आव०]

(ख) वज्रप्राग्जन्मसुहृदो ज्ञानाद् विज्ञाय ते सुराः।
तस्याचार्यप्रतिष्ठायां चक्रुरुत्सवमद्भुतम् ॥ १३२ [प्रभावकचरित्र, पृ० ६]

[2] वयरसामि वि पंचहिं अणगारसयेहिं संपरिवुडो विहरइ। २
[आवश्यक मलय, ३८६(२)]

गई। उसने प्रण किया "यदि आर्य वज्र मेरे पति हों तो मुझे संसार में रहना है अन्यथा भोगों का पूर्ण रूपेण परित्याग कर देना है।"[1] कहा जाता है कि रुक्मिणी ने अपनी सखियों के माध्यम से अपने पिता को कहलवाया कि उसने वज्रस्वामी को अपने पति के रूप में वरण कर लिया है अतः यदि वज्रस्वामी के साथ उसका विवाह नहीं किया गया तो वह निश्चित रूप से अग्नि में प्रवेश कर आत्मदाह कर लेगी।

पिता अपनी पुत्री की दृढ़प्रतिज्ञता एवं हठ से भलीभांति परिचित था अतः वह पुत्री की सहेलियों के मुख से उसके दृढ़ निश्चय की बात सुन कर बड़ा घबराया। बहुत सोच-विचार के पश्चात् अनेक बहुमूल्य रत्न और अपनी अनुपम रूपवती पुत्री को अपने साथ ले कर वह उस उद्यान में पहुँचा जहाँ कि आचार्य वज्रस्वामी अपने शिष्यों सहित विराजमान थे। श्रेष्ठी धन ने वज्रस्वामी को नमस्कार करने के पश्चात् निवेदन किया – "आचार्यप्रवर ! मेरी यह परम रूप-गुणसम्पन्ना कन्या आपके गुणों पर मुग्ध हो आपको अपने पति के रूप में वरण करना चाहती है। मेरे पास एक अरब रौप्यक का धन है। अपनी कन्या के साथ मैं वह सब धन आपको समर्पित करना चाहता हूँ। उस धन से आप जीवन भर विविध भोगोपभोग, दान, उपकार आदि का आनन्द लूट सकते हैं। आप कृपा कर मेरी इस कन्या के साथ पाणिग्रहण कर लीजिये।"[2]

आचार्य वज्र ने सहज शान्त-सस्मित स्वर में कहा – "भद्र ! तुम वस्तुतः अत्यन्त सरल प्रकृति के हो। तुम स्वयं तो सांसारिक बन्धनों में बन्धे हुए हो ही, दूसरों को भी उन बन्धनों में आबद्ध करना चाहते हो। तुम नहीं जानते कि संयम के मार्ग में कितना अद्भुत अलौकिक आनन्द है। वह पथ कण्टकाकीर्ण भले ही हो पर इसका सच्चा पथिक संयम और ज्ञान की मस्ती में जिस अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है, उसके समक्ष यह क्षणिक पौद्गलिक सुख नितान्त नगण्य, तुच्छ और सुखाभास मात्र हैं। संयम से प्राप्त होने वाला अनिर्वचनीय आध्यात्मिक आनन्द अमूल्य रत्नराशि से भी अनन्तगुणित बहुमूल्य है। तुम कल्पवृक्षतुल्य संयम के सुख की तुच्छ तृण तुल्य इन्द्रिय-सुख से तुलना करना चाहते हो। सौम्य ! मैं तो निस्परिग्रही साधु हूँ। मुझे संसार की किसी प्रकार की सम्पदा अथवा विषय-वासना की कामना नहीं है। यदि यह तुम्हारी कन्या वास्तव में मेरे प्रति अनुराग रखती है, तो मेरे द्वारा स्वीकृत परम सुखकर संयम-मार्ग पर यह भी प्रवृत्त हो जाय।"

आचार्य वज्र की त्याग एवं तपोपूत विरक्तिपूर्ण सयुक्तिक वाणी सुन कर श्रेष्ठिकन्या रुक्मिणी के अन्तर्मन पर आया हुआ अज्ञान का काला पर्दा हट गया। उसके अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये। उसने तत्काल संयम ग्रहण कर लिया और

---

[1] जइ सो मम पति होज्जा, ताऽहं भोगे भुंजिस्सं। इयरहा अन्नं भोगेहिं
[आवश्यक मलयगिरि, पत्र ३८८ (२)]

[2] जो कन्नाइ धणेण य निमंतिओ जुव्वणम्मि गिहवइणा।
नयरम्मि कुसुमनामे, तं वइररिसिं नमंसामि ॥७६८॥
[आवश्यक मलय, पत्र ३९० (१)]

संयम का समीचीन रूप से पालन करती हुई वह आर्या रुक्मिणी भी साध्वियों के साथ विचरण करने लगी।

यद्यपि आर्य वज्रस्वामी के पूर्वभव के मित्र जृंभक देवों ने उन्हें प्रसन्न हो गगनगामिनी विद्या दी थी पर स्वयं उन्होंने अपने अथाह आगमज्ञान के सहारे आचारांग सूत्र के महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या को ढूंढ निकाला[1] और भयंकर संक्रान्तिकाल में अनिवार्य आवश्यकता पड़ने पर भूतहितानुकम्पा से प्रेरित हो उस गगनगामिनी विद्या का प्रयोग कर अनेक मानवों के प्राणों की रक्षा की।

इस प्रकार अनेक विद्यासम्पन्न आचार्य वज्र अपने आचार्यकाल में विचरते हुए भारत के पूर्वी भाग से उत्तर प्रदेश में पधारे। वहां भारत के समस्त उत्तरी भाग में घोर अनावृष्टि के कारण भीषण दुष्काल पड़ा। खाद्य सामग्री के आभव के कारण अभाव- अभियोगों से संत्रस्त प्रजा में सर्वत्र हाहाकार व्याप्त हो गया। तृण-फल-पुष्पादि के अभाव में पशुपक्षिगण और अन्न के अभाव में आवालवृद्ध मानव भूख से तड़प-तड़प कर कराल काल के अतिथि वनने लगे। उस दैवी-प्रकोप से संत्रस्त संघ आचार्य वज्रस्वामी की शरण में आया और त्राहि-त्राहि की पुकार करने लगा।

आचार्य वज्रस्वामी ने संघ की करुण पुकार सुन कर दया से द्रवित हो विशाल जनसमूह की प्राणरक्षार्थ, समष्टि के हित के साथ-साथ धर्महित की दृष्टि से, साधुओं के लिए वर्जित होते हुए भी आकाशगामिनी विद्या के प्रयोग से संघ को माहेश्वरीपुरी में पहुंचा दिया। वहां का राजा वौद्धधर्मानुयायी होने के कारण जैन उपासकों के साथ विरोध रखता था पर आर्य वज्र के प्रभाव से वह भी श्रावक वना और इससे धर्म की वड़ी प्रभावना हुई।

दुष्कालों की परम्परा केवल भारत में ही नहीं, अन्य अनेक देशों में भी प्राचीन काल से चली आ रही है। दुष्कालों ने मानवता को समय-समय पर वड़ी वुरी तरह से झकझोरा है। दुष्कालों के दुष्प्रभाव के कारण मानव-संस्कृति, शताब्दियों के अथक परिश्रम और अनुभव से उपार्जित आध्यात्मिक ज्ञान तथा मानवतामूलक धर्म की पर्याप्त क्षति हुई है परन्तु इस प्रकार की संकट की घड़ियों में भी वज्रस्वामी जैसी महान् आत्माओं ने अपने अपरिमेय आत्मिक वल से संयम और आध्यात्मिक ज्ञान की ज्योति को प्रदीप्त रखा। इसी प्रकार के आध्यात्मिक नेताओं के कृपाप्रसाद से हमारा धर्म, आध्यात्मिक ज्ञान और संस्कृति आदि शताब्दियों से भीषण दुष्कालों, राज्यक्रान्तियों, धर्मविप्लवों की थपेड़ें खाने के उपरान्त भी आज तक जीवित रह कर मानवता को अनुप्राणित करते आ रहे हैं।

आचार्य वज्रस्वामी की यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि श्रुतगंगा की पावन धारा अवाध एवं अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहे किन्तु दश पूर्वों का ज्ञान ग्रहण करने वाले किसी सुयोग्य पात्र के अभाव में उन्हें अपने जीवन के

---

[1] महापरिज्ञाध्ययनादाचारांगान्तरस्थितात्।
श्री वज्रेणोद्धृता विद्या, तदागगनगामिनी॥ [प्रभावक चरित्र]

संध्याकाल में चिन्ता रहने लगी कि कहीं दश पूर्वों का ज्ञान उनके साथ ही विच्छिन्न न हो जाय। महान् विभूतियों की आध्यात्मिक चिन्ता अधिक दिनों तक नहीं रह सकती, इस पारम्परिक जनश्रुति के अनुसार आर्य तोसलिपुत्र के आदेश से युवा मुनि आर्य रक्षित आचार्य वज्रस्वामी की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने आर्य वज्रस्वामी से ९ पूर्वों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया पर दसवें पूर्व का वे आधा ही ज्ञान प्राप्त कर सके। एतद्विषयक पूरा विवरण आर्य रक्षित के इतिवृत्त में दिया जा रहा है।

तत्पश्चात् अनेक क्षेत्रों में भगवान् महावीर के धर्म-शासन का उद्योत करते हुए वज्रस्वामी आर्यावर्त्त के दक्षिणी क्षेत्र में पधारे। वहां कफ की शान्ति के लिए उन्होंने अपने किसी शिष्य से सोंठ मंगवाई। उपयोग के पश्चात् अवशिष्ट सोंठ को वज्रस्वामी ने अपने कान के ऊपरी भाग पर रख लिया और भूल गये। मध्याह्नोत्तर वेला में प्रतिलेखन के समय मुखवस्त्रिका को उतारने के साथ ही सोंठ पृथ्वी पर गिर पड़ी। यह देखकर वज्रस्वामी ने मन ही मन विचार किया "मेरी आयु का वस्तुतः अन्तिम छोर आ पहुंचा है और मैं प्रमादशील हो गया हूँ इसी कारण कान पर सोंठ को रखकर मैं भूल गया। प्रमाद में संयम कहां? अतः मेरे लिए भक्त का प्रत्याख्यान कर लेना श्रेयस्कर है।"[1] तत्काल उन्होंने ज्ञान के उपयोग से देखा कि शीघ्र ही एक और बड़ा भयावह द्वादशवार्षिक दुष्काल पड़ने ही वाला है, जो पहले के दुष्काल से भी अत्यन्त भीषण होगा। उस भीषण दुष्काल के कारण कहीं ऐसा न हो कि एक भी साधु जीवित न रह सके। इस दृष्टि से साधुवंश की रक्षा हेतु वज्रस्वामी ने अपने शिष्य वज्रसेन को कुछ साधुओं के साथ कुंकुण (कोंकण) प्रदेश की ओर विहार करने और सुभिक्ष न हो जाने तक उसी क्षेत्र में विचरण करने की आज्ञा दी। उन्होंने आर्य वज्रसेन से यह भी कहा – "जिस दिन एक लाख मुद्राओं के मूल्य के चावलों के आहार में कहीं विष मिलाने की तैयारी की जा रही हो, उस दिन तुम समझ लेना कि दुष्काल का अन्तिम दिन है। उसके दूसरे दिन ही सुभिक्ष (सुकाल) हो जायगा।"[2] गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर आर्य वज्रसेन ने कतिपय साधुओं के साथ कुंकुण की ओर विहार कर दिया और धन-धान्य से परिपूर्ण उस क्षेत्र में विचरण करने लगे।

आर्य वज्रस्वामी जिस क्षेत्र में विचरण कर रहे थे, उस क्षेत्र में शनैः शनैः दुष्काल का दुष्प्रभाव भीषण से भीषणतर होने लगा। कई दिनों तक भिक्षा प्राप्त न होने के कारण भूख से पीड़ित साधुओं को वज्रस्वामी ने अपने विद्या बल से प्रतिदिन समानीत पिण्ड देते हुए कहा – "यह विद्या पिण्ड है और इस प्रकार

---

[1] तेसिं उवओगो जातो अहो ! पमत्तो जातो, पमत्तस्स मे नत्थि संजमो, तं सेयं खलु मे भत्तं पच्चक्खाइत्तए। [आवश्यक मलय पत्र, ३९५ (२)]

[2] इत्याकर्ण्य मुनिः प्राह, गुरुशिक्षाचमत्कृतः।
धर्मशीले शृणु श्रीमद्वज्रस्वामिनिवेदितं ॥१९०॥
स्थालीपाके किलैकत्र, लक्षमूल्ये समीक्षिते।
सुभिक्षं भावि सविषं, पाकं मा कुरु तद्वृथा ॥१९१॥ [प्रभावक चरित्र पृ० ८]

संयम का समीचीन रूप से पालन करती हुई वह आर्या रुक्मिणी भी साध्वियों के साथ विचरण करने लगी।

यद्यपि आर्य वज्रस्वामी के पूर्वभव के मित्र जृंभक देवों ने उन्हें प्रसन्न हो गगनगामिनी विद्या दी थी पर स्वयं उन्होंने अपने अथाह आगमज्ञान के सहारे आचारांग सूत्र के महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या को ढूंढ निकाला[1] और भयंकर संक्रान्तिकाल में अनिवार्य आवश्यकता पड़ने पर भूतहितानुकम्पा से प्रेरित हो उस गगनगामिनी विद्या का प्रयोग कर अनेक मानवों के प्राणों की रक्षा की।

इस प्रकार अनेक विद्यासम्पन्न आचार्य वज्र अपने आचार्यकाल में विचरते हुए भारत के पूर्वी भाग से उत्तर प्रदेश में पधारे। वहां भारत के समस्त उत्तरी भाग में घोर अनावृष्टि के कारण भीषण दुष्काल पड़ा। खाद्य सामग्री के आभव के कारण अभाव- अभियोगों से संत्रस्त प्रजा में सर्वत्र हाहाकार व्याप्त हो गया। तृण-फल-पुष्पादि के अभाव में पशुपक्षिगण और अन्न के अभाव में आवालवृद्ध मानव भूख से तड़प-तड़प कर कराल काल के अतिथि बनने लगे। उस दैवी-प्रकोप से संत्रस्त संघ आचार्य वज्रस्वामी की शरण में आया और त्राहि-त्राहि की पुकार करने लगा।

आचार्य वज्रस्वामी ने संघ की करुण पुकार सुन कर दया से द्रवित हो विशाल जनसमूह की प्राणरक्षार्थ, समष्टि के हित के साथ-साथ धर्महित की दृष्टि से, साधुओं के लिए वर्जित होते हुए भी आकाशगामिनी विद्या के प्रयोग से संघ को माहेश्वरीपुरी में पहुंचा दिया। वहां का राजा वौद्धधर्मानुयायी होने के कारण जैन उपासकों के साथ विरोध रखता था पर आर्य वज्र के प्रभाव से वह भी श्रावक बना और इससे धर्म की वड़ी प्रभावना हुई।

दुष्कालों की परम्परा केवल भारत में ही नहीं, अन्य अनेक देशों में भी प्राचीन काल से चली आ रही है। दुष्कालों ने मानवता को समय-समय पर वड़ी वुरी तरह से झकझोरा है। दुष्कालों के दुष्प्रभाव के कारण मानव-संस्कृति, शताब्दियों के अथक परिश्रम और अनुभव से उपार्जित आध्यात्मिक ज्ञान तथा मानवतामूलक धर्म की पर्याप्त क्षति हुई है परन्तु इस प्रकार की संकट की घड़ियों में भी वज्रस्वामी जैसी महान् आत्माओं ने अपने अपरिमेय आत्मिक वल से संयम और आध्यात्मिक ज्ञान की ज्योति को प्रदीप्त रखा। इसी प्रकार के आध्यात्मिक नेताओं के कृपाप्रसाद से हमारा धर्म, आध्यात्मिक ज्ञान और संस्कृति आदि शताब्दियों से भीषण दुष्कालों, राज्यक्रान्तियों, धर्मविप्लवों की थपेड़ें खाने के उपरान्त भी आज तक जीवित रह कर मानवता को अनुप्राणित करते आ रहे हैं।

आचार्य वज्रस्वामी की यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि श्रुतगंगा की पावन धारा अवाध एवं अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहे किन्तु दश पूर्वों का ज्ञान ग्रहण करने वाले किसी सुयोग्य पात्र के अभाव में उन्हें अपने जीवन के

---

[1] महापरिज्ञाध्ययनादाचारांगान्तरस्थितात्।
श्री वज्रेणोद्धृता विद्या, तदागगनगामिनी॥ [प्रभावक चरित्र]

स्वर्गगमन आदि का विवरण सुनाते हुए कहा कि उस मुनि के स्वर्गगमन के उपलक्ष में देवगण महोत्सव मना रहे हैं।

नितान्त नव-वय के उस मुनि के अद्भुत आत्मबल से प्रेरणा लेकर सभी मुनि उच्च अध्यवसायों के साथ आत्मचिंतन में तल्लीन – एकाग्र हो गये। उन मुनियों के समक्ष व्यन्तर देवी द्वारा अनेक प्रकार के उपसर्ग उपस्थित किये गए पर वे सभी मुनि उन दैवी उपसर्गों से किंचित्मात्र भी विचलित नहीं हुए। वज्रस्वामी ने अपने उन सभी मुनियों के साथ समीपस्थ दूसरे पर्वत के शिखर पर जाकर भूमि का प्रतिलेखन किया तथा वहां उन्होंने अपने-अपने आसन जमाये।[1] वहां आध्यात्मिक चिन्तन (समाधि भाव) में तल्लीन उन सभी साधुओं ने अपनी-अपनी आयु पूर्ण कर स्वर्गगमन किया।

अनशनस्थ अपने सब शिष्यों के देहावसान के पश्चात् आर्य वज्रस्वामी ने भी एकाग्र एवं निष्कम्प ध्यान में लीन हो अपने प्राण विसर्जित किये। इस प्रकार जिनशासन की महान् विभूति आर्य वज्रस्वामी का वीर नि० सं० ५८४ में स्वर्गवास हुआ। आचार्य वज्रस्वामी के स्वर्गगमन के साथ ही दशम पूर्व और चतुर्थ संहनन (अर्धनाराच संहनन) का विच्छेद हो गया।[2]

आचार्य वज्रस्वामी का ज्ञान कितना अगाध था, इसका मापदण्ड आज के युग में हमारे पास नहीं है। जिस पुण्यात्मा वज्र स्वामी ने जन्म के तत्काल पश्चात् जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो जाने के कारण स्तनंधयी शैशवावस्था में स्तनपान के स्थान पर साध्वियों के मुख से उच्चरित तीर्थेश्वर की वाणी का पान करते हुए एकादशांगी को कण्ठस्थ कर लिया हो और जिन्होंने पौगण्डावस्था से ही संसार के समस्त प्रपंचों-झमेलों से सर्वथा दूर रहते हुए निरन्तर समर्थ गुरुओं के सान्निध्य में रह कर अहर्निश ज्ञानाराधना की हो, उनके निस्सीम ज्ञान का थाह पाने में कल्पना भी ऊंची से ऊंची उडानें भरती हुई अन्ततोगत्वा थक कर निराश हो जायगी। ऐसी ही महान् विभूतियों के तपोपूत त्याग-विराग और ज्ञान की आभा से शताब्दियों के तिमिराच्छन्न अतीत के उपरान्त भी साधक आज आलोक का लाभ कर रहे हैं।

आचार्य वज्रस्वामी ने ८० वर्ष तक विशुद्ध संयम का पालन करते हुए धर्म का प्रसार किया। वस्तुतः वे जन्मजात योगी थे। उनकी वक्तृत्वशैली हृत्तलस्पर्शी, प्रभावोत्पादक और अत्यन्त आकर्षक थी। उन महान् आचार्य की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए वीर नि० सं० ५८४ में उनके स्वर्गगमन के पश्चात् वज्जीशाखा की स्थापना की गई।

वज्रस्वामी के शिष्यों द्वारा प्रचालित वज्जीशाखा के अतिरिक्त उनके प्रशिष्यों से जो शाखाएं प्रचलित हुई, वे इस प्रकार हैं :–

---

[1] यामो ध्यात्वेति ते जग्मुस्तदासन्नं नगान्तरम् ॥१७२॥ परि० पर्व, स० १३

[2] दुष्कर्मविनिभृद्वज्रे, श्री वज्रे स्वर्गमीयुषि।
विच्छिन्नं दशमं पूर्वं तुर्यं संहननं तदा ॥१७६॥ [वही]

१२ वर्ष व्यतीत करने हैं। यदि संयमगुण की वृद्धि मालूम होती हो तो यह पिण्ड ग्रहण करो और यदि संयमगुण में किसी प्रकार का लाभ नहीं दिखता हो तो हम लोगों को आजीवन अनशन (संथारा) कर लेना चाहिये। आप लोग स्वेच्छापूर्वक इन दो मार्गों में से जिस मार्ग को श्रेयस्कर समझते हों, उस ही मार्ग को अंगीकार कर सकते हैं।"

वज्रस्वामी की उपरिकथित बात सुनकर सब (५००) साधुओं ने एकमत हो आमरण अनशन करने का अपना निश्चय उनके सामने अभिव्यक्त किया। अपने ५०० ही शिष्यों का एक ही दृढ़ निश्चय सुनकर आचार्य वज्रस्वामी ने अपने शिष्यसंघ सहित दक्षिण प्रदेश के मांगिया[1] नामक एक पर्वत की ओर प्रस्थान किया। उन्होंने अपने नववय के एक साधु को अनशन में सम्मिलित न होने के लिए समझाया पर वह नहीं माना। मार्ग में आचार्य वज्रस्वामी ने उस नववय के साधु को किसी कार्य के व्याज से एक गांव में भेज दिया और वे अपने अन्य सब साधुओं के साथ उस पर्वत पर जा पहुँचे। पर्वत पर पहुंचने के पश्चात् आर्य वज्र स्वामी तथा उनके सभी शिष्यों ने भूमि का प्रतिलेखन किया और सबने यावज्जीव सभी प्रकार के अशन-पानादि का परित्याग कर अनशन ग्रहण कर लिया।

उधर वह युवा साधु गांव से पुनः उसी स्थान पर लौटा, जहां से उसके गुरु ने उसे गांव में भेजा था। अन्य साधुओं सहित वज्रस्वामी को वहां न देख कर वह युवा साधु समझ गया कि गुरु ने जानबूझ कर उसे अनशन के लिए साथ नहीं लिया है। उसने मन ही मन सोचा – "गुरुदेव मुझे सत्वहीन समझ कर पीछे छोड़ गये हैं। क्या मैं वस्तुतः निस्सत्व हूँ, निर्वीर्य हूँ ? सम्भवतः मुझे अनशन के अयोग्य समझ कर ही गुरुदेव ने पीछे छोड़ दिया है। संयम की रक्षार्थ गुरुदेव अन्य सब साधुओं के साथ अनशन ग्रहण कर रहे हैं, तो मुझे भी उन्हीं के पदचिन्हों पर चलना चाहिये।"

यह विचार कर उस युवा साधु ने उत्कट वैराग्य के साथ पर्वत की तलहटी में पड़ी हुई एक प्रतप्त पाषाणशिला पर पादपोपगमन अनशन ग्रहण कर लिया। तप्तशिला और सूर्य की प्रखर किरणें मुनि को आग की तरह जलाने लगीं। पर अनित्य भावना से ओतःप्रोत मुनि ने अपने शरीर के साथ मन को भी पूर्णरूपेण निश्चल रखा और अंतर्मुहूर्त काल में ही वे अपने विनाशशील शरीर का परित्याग कर स्वर्गवासी हुए। देवों ने दिव्य घोष के साथ मुनि के धैर्य, वीर्य एवं गाम्भीर्य का गुणगान किया।

दक्षिण प्रदेश के जिस मांगिया नामक पर्वत पर आचार्य वज्रस्वामी और उनके साधु अनशनपूर्वक निश्चल आसन से आत्मचिन्तन में निरत थे, उस ही पर्वत के अधोभाग में देवताओं द्वारा मनाये जा रहे महोत्सव की दिव्यध्वनि सुन कर एक वृद्ध साधु ने वज्रस्वामी से उसका कारण पूछा। आचार्य वज्रस्वामी ने किशोर वय के मुनि द्वारा प्रतप्त शिला पर पादपोपगमन अनशन ग्रहण करने और उनके

[1] वीर वंशावली अथवा तपागच्छ वृद्ध पट्टावली, जैन साहित्य संशोधक, खंड १, अंक ३, पृ. १५

स्वर्गगमन आदि का विवरण सुनाते हुए कहा कि उस मुनि के स्वर्गगमन के उपलक्ष में देवगण महोत्सव मना रहे हैं।

नितान्त नव-वय के उस मुनि के अद्भुत आत्मबल से प्रेरणा लेकर सभी मुनि उच्च अध्यवसायों के साथ आत्मचिंतन में तल्लीन – एकाग्र हो गये। उन मुनियों के समक्ष व्यन्तर देवी द्वारा अनेक प्रकार के उपसर्ग उपस्थित किये गए पर वे सभी मुनि उन दैवी उपसर्गों से किंचित्मात्र भी विचलित नहीं हुए। वज्रस्वामी ने अपने उन सभी मुनियों के साथ समीपस्थ दूसरे पर्वत के शिखर पर जाकर भूमि का प्रतिलेखन किया तथा वहां उन्होंने अपने-अपने आसन जमाये।[1] वहां आध्यात्मिक चिन्तन (समाधि भाव) में तल्लीन उन सभी साधुओं ने अपनी-अपनी आयु पूर्ण कर स्वर्गगमन किया।

अनशनस्थ अपने सब शिष्यों के देहावसान के पश्चात् आर्य वज्रस्वामी ने भी एकाग्र एवं निष्कम्प ध्यान में लीन हो अपने प्राण विसर्जित किये। इस प्रकार जिनशासन की महान् विभूति आर्य वज्रस्वामी का वीर नि० सं० ५८४ में स्वर्गवास हुआ। आचार्य वज्रस्वामी के स्वर्गगमन के साथ ही दशम पूर्व और चतुर्थ संहनन (अर्धनाराच संहनन) का विच्छेद हो गया।[2]

आचार्य वज्रस्वामी का ज्ञान कितना अगाध था, इसका मापदण्ड आज के युग में हमारे पास नहीं है। जिस पुण्यात्मा वज्र स्वामी ने जन्म के तत्काल पश्चात् जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो जाने के कारण स्तनंधयी शैशवावस्था में स्तनपान के स्थान पर साध्वियों के मुख से उच्चरित तीर्थेश्वर की वाणी का पान करते हुए एकादशांगी को कण्ठस्थ कर लिया हो और जिन्होंने पौगण्डावस्था से ही संसार के समस्त प्रपंचों-झमेलों से सर्वथा दूर रहते हुए निरन्तर समर्थ गुरुओं के सान्निध्य में रह कर अहर्निश ज्ञानाराधना की हो, उनके निस्सीम ज्ञान का थाह पाने में कल्पना भी ऊंची से ऊंची उडानें भरती हुई अन्ततोगत्वा थक कर निराश हो जायगी। ऐसी ही महान् विभूतियों के तपोपूत त्याग-विराग और ज्ञान की आभा से शताब्दियों के तिमिराच्छन्न अतीत के उपरान्त भी साधक आज आलोक का लाभ कर रहे हैं।

आचार्य वज्रस्वामी ने ८० वर्ष तक विशुद्ध संयम का पालन करते हुए धर्म का प्रसार किया। वस्तुतः वे जन्मजात योगी थे। उनकी वक्तृत्वशैली हृत्तलस्पर्शी, प्रभावोत्पादक और अत्यन्त आकर्षक थी। उन महान् आचार्य की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए वीर नि० सं० ५८४ में उनके स्वर्गगमन के पश्चात् वज्जीशाखा की स्थापना की गई।

वज्रस्वामी के शिष्यों द्वारा प्रचालित वज्जीशाखा के अतिरिक्त उनके प्रशिष्यों से जो शाखाएं प्रचलित हुई, वे इस प्रकार हैं :–

---

[1] यामो ध्यात्वेति ते जग्मुस्तदासन्नं नगान्तरम् ॥१७२॥ परि० पर्व, स० १३

[2] दुष्कर्मविनिर्मुक्तेऽब्दे, श्री वज्रे स्वर्गमीयुषि।
विच्छिन्नं दशमं पूर्वं तुर्यं संहननं तदा ॥१७६॥ [वही]

(१) वज्रसेन सूरि के शिष्य नागहस्ती से वीर नि० सं० ६०६ में नाइला शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। कालान्तर में इस नाइला शाखा से नाइल, चन्द, निव्वुई और विज्जाहर नामक चार कुल प्रशाखा के रूप में उद्भूत हुए। इन चारों कुलों की गच्छ के रूप में प्रसिद्धि हुई।

(२) आचार्य पद्म श्री से पोमिली शाखा का उद्भव हुआ।

(३) ऋषि जयन्त से जयन्ती शाखा प्रचलित हुई।

(४) तापस नामक मुनि से तापसी शाखा प्रकट हुई। ये तापस श्री शान्ति श्रेणिक नामक महात्मा के शिष्य थे।[1]

आर्य वज्रस्वामी के बहुमुखी अनुपम महान् व्यक्तित्व का एक कवि ने निम्नलिखित शब्दों में चित्रण किया है :—

किं रूपं किमुपांगसूत्रपठनं शिष्येषु किं वाचना।
किं प्रज्ञा किमु निष्पृहत्वमथ किं सौभाग्यभंग्यादिकं॥
किं वा संघ समुन्नतिः सुरनतिः किं तस्य किं वर्णनं।
वज्रस्वामिविभोः प्रभावजलधेरेकैकमप्यद्भुतम्॥

गणाचार्य—आर्य सुहस्ती की परम्परा के गणाचार्य भी उपरोक्त अवधि में आर्य वज्र ही रहे।

दिगम्बर परम्परा में वज्रमुनि

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा के 'उपासकाध्ययन' और हरिषेणकृत वृहत्कथाकोश में भी प्रभावना अंग का वर्णन करते हुए वज्रमुनि का उल्लेख किया गया है। दोनों परम्पराओं में वज्रमुनि को विविध विद्याओं का ज्ञाता और धर्म का प्रभावक माना गया है। दोनों परम्पराओं में एतद्विषयक जो अन्तर अथवा समानता है वह संक्षेप में इस प्रकार है :—

श्वेताम्बर परम्परा में आर्य वज्र के पिता का नाम धनगिरि और माता का नाम सुनन्दा बताया गया है जबकि दिगम्बर साहित्य में आर्य वज्र को पुरोहित सोमदेव और यज्ञदत्ता का पुत्र बताया है।[2] दिगम्बर परम्परा के उपरोक्त दोनों

---

[1] (क) यज्ञदत्ताभट्टिनीभर्ता सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत्।
[उपासकाध्ययन (भारतीय ज्ञानपीठ), पृ० ८४]

(ख) भुंजानाया रतिं तेन सोमदत्तेन भोगिना।
बभूव सहसा गर्भो यज्ञिकायाः सुतेजसः॥१६॥
[वृहत्कथाकोश, भारतीय विद्याभवनः, पृ० २३]

[2] अज्ज नाइली शाखा एवं जयन्ती शाखा के प्रवर्तकों के सम्बन्ध में कल्प स्थविरावली की संक्षिप्त तथा वृहद्वाचनाओं में मत वैभिन्न्य दृष्टिगोचर होता है। जहां संक्षिप्त वाचना में आर्य नाइल से नाइली शाखा का तथा आर्य जयन्त से जयन्ती शाखा का प्रादुर्भाव बताया है वहां विस्तृत वाचना में आर्य वज्रसेन से नाइली शाखा का और आर्य रथ से जयन्ती शाखा का उद्गम बताया है। यह विचारणीय है। —सम्पादक

ग्रन्थों में उल्लेख है कि जिस समय आर्य वज्र गर्भ में थे उस समय उनकी माता यज्ञदत्ता को आम्रफल खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। उस समय आम्रफल की ऋतु नहीं थी। दोहद की पूर्ति न हो सकने के कारण यज्ञदत्ता दिनप्रतिदिन दुर्बल होने लगी। सोमदेव को अपनी गुर्विणी पत्नी के कृषकाय होने का कारण ज्ञात हुआ[1] तो वह बड़े असमंजस में पड़ गया। अन्ततोगत्वा वह अपने कुछ छात्रों के साथ आम्रफल की खोज में घर से निकला। वह अनेक आम्रनिकुंजों, वनों और उद्यानों में घूमता फिरा किन्तु असमय में आम्रफल कहां से प्राप्त होता? पर सोमदेव हताश नहीं हुआ, वह आगे बढ़ता ही गया। एक दिन वह एक विकट वन में पहुंचा। उस वन के मध्यभाग में उसने एक सघन आम्रवृक्ष के नीचे बैठे हुए एक तपस्वी श्रमण को देखा। यह देख कर उसके हर्ष का पारावार नहीं रहा कि वह आम्रवृक्ष बड़े-बड़े एवं पक्व आम्रफलों से लदा हुआ है। आम्र की ऋतु नहीं होते हुए भी आम्रवृक्ष को आम्रफलों से लदा देख कर सोमदेव ने उसे मुनि के तपस्तेज का प्रभाव समझा और भक्तिविभोर होकर उसने मुनि के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। सोमदेव ने अपने साथ आये हुए छात्रों में से एक छात्र के साथ अपनी पत्नी के पास आम्रफल भेज दिया और शेष छात्रों के साथ मुनि की सेवा में बैठ कर उपदेश-श्रवण करने लगा। मुनि के त्याग-वैराग्यपूर्ण उपदेश और उनसे अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को सुन कर सोमदेव को जातिस्मरण ज्ञान हो गया।[2] भीषण भवाटवी के भयावह भवप्रपंच से मुक्त होने की एक तीव्र उत्कण्ठा उसके अन्तर में उद्भूत हुई और उसने तत्क्षण समस्त सांसारिक झंझटों को एक ही झटके में तोड़ कर उन अवधिज्ञानी[3] सुमित्र मुनि के पास निर्ग्रंथ-श्रमण-दीक्षा ग्रहण करली। सोमदेव के साथ आये हुए छात्र अहिछत्र नगर को ओर लौट गये। एक छात्र के साथ आये आम्र से यज्ञदत्ता का दोहदपूर्ण हो गया। बाद में आये छात्रों के मुख से अपने पति के प्रव्रजित होने का समाचार सुन कर यज्ञदत्ता को बड़ा दुःख हुआ। गर्भकाल की समाप्ति पर यज्ञदत्ता ने तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया।

उन्हीं दिनों मुनि सोमदेव अपने गुरु सुमित्राचार्य के साथ विचरण करते हुए सोपारक नगर आये। मुनि सोमदेव गुरु की आज्ञा ले पास ही के पर्वत पर पहुँचे और वहां एक शिला पर खड़े हो सूर्य की आतापना लेते हुए ध्यानमग्न हो गये। यज्ञदत्ता को जब यह विदित हुआ कि मुनि सोमदेव निकटस्थ पर्वत पर सूर्य की आतापना ले रहे हैं तो वह नवजात शिशु को लेकर उस पर्वत पर मुनि के पास पहुँची। उसने बड़ी ही अनुनय-विनयपूर्वक सोमदेव को एक बार अपने तेजस्वी पुत्र की ओर देखने तथा घर लौट कर अपने गार्हस्थ्य भार को वहन करने की प्रार्थना की। बड़ी देर तक अनुनय-विनय करने के पश्चात् भी

---

[1] आम्राणि खादितुं नाथ, दोहदं मे मनःप्रियम् ॥२१॥ [बृहत्कथाकोश]

[2] वज्र के पिता आर्य धनगिरि के गुरु को जातिस्मरणज्ञान था, इस प्रकार के उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध होते हैं। [सम्पादक]

जब उसने देखा कि मुनि सोमदेव ने घर चलना तो दूर, अपने पुत्र की ओर आंख उठा कर भी नहीं देखा है तो उसने क्रुद्ध हो आक्रोशपूर्ण स्वर में कहा – "ओ मेरे मन को जला डालने वाले पाषाण हृदय मूर्ख वंचक ! इस दिगम्बर वेष को स्वेच्छा से छोड़ कर मेरे साथ घर चलता हो तो चल, अन्यथा सम्हाल अपने इस पुत्र को।"[१]

इतना कहने पर भी मुनि को निश्चल भाव से ध्यानमग्न देख कर यज्ञदत्ता ने अपने उस कुसुमकोमल नवजात पुत्र को मुनि के चरणों पर लिटा दिया और स्वयं अपने घर की ओर लौट गई।

सूर्य के प्रचण्ड ताप से शिला जल रही थी। पैरों पर से प्रतप्त शिला पर गिरने से बालक का कहीं प्राणान्त न हो जाय, इस करुणापूर्ण आशंका से मुनि सोमदेव अपने पैरों को विष्टर की तरह बनाये अचल मुद्रा में खड़े रहे। मुनि ने मन ही मन दृढ़ संकल्प किया कि जब तक वह उपसर्ग समाप्त नहीं हो जायगा तब तक आहारादि ग्रहण करना तो दूर, शरीर को किंचित्मात्र भी हिलाएंगे-डुलाएंगे तक नहीं।[२] मुनि इस प्रकार का अभिग्रह कर पुनः ध्यानमग्न हो गये।

यज्ञदत्ता के लौटने के थोड़ी ही देर पश्चात् भास्करदेव नामक विद्याधरराज अपनी पत्नी के साथ मुनिदर्शन हेतु वहां पहुंचा। जब उसने सुन्दर, स्वस्थ और तेजस्वी शिशु को मुनि के पैरों पर लेटे हुए देखा तो मुनि वन्दन के पश्चात् उसने उसे उठा कर अपनी पत्नी की गोद में देते हुए कहा – "धर्मिष्ठे ! लो। मुनिदर्शन के तात्कालिक सुखद फल के रूप में हम सन्ततिविहीनों को यह पुत्र मिल गया है।" सूर्य की प्रखर रश्मियों की ज्वालामाला का उस शिशु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था, इस कारण विद्याधरदम्पती ने बालक का नाम वज्र रखा। उन्होंने वज्र को अपना पुत्र घोषित करते हुए बड़े दुलार के साथ उसका लालन-पालन किया। शिक्षायोग्य वय में वज्र को समुचित शिक्षा दिलाने तथा चमत्कारपूर्ण विद्याएं सिखाने की व्यवस्था की गई।

दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बर परम्परा की तरह आर्य वज्र का साधुसंघ में रहना नहीं माना गया है। वृहत्कथाकोश के अनुसार पवनवेगा नाम की एक विद्याधर कन्या के साथ और उपासकाध्ययन के अनुसार इन्दुमती और पवनवेगा नामक दो कन्याओं के साथ वज्रकुमार का विवाह होना माना गया है।

उपरोक्त दोनों ग्रन्थों में बताया गया है कि अनेक वर्षों तक गार्हस्थ्यजीवन का सुखोपभोग करने के पश्चात् एक दिन वज्रकुमार को अपने मित्रजनों से जब यह विदित हुआ कि भास्करदेव उसके पिता नहीं अपितु पालक मात्र है। वस्तुतः

---

[१] यदीमं दिगम्बर प्रतिच्छन्दमवच्छिद्य स्वच्छयच्छयागच्छसि तदागच्छ। नो चेदृहाणे-नमात्मनो नन्दनम्। [उपासकाध्ययन]

[२] उपसर्गो महानेष यदि क्षेमेण यास्यति।
तदाहारशरीरादेः प्रवृत्तिर्मे भविष्यति ॥३१॥ [वृहत्कथाकोश, पृ० २३]

उसके पिता तो सोमदेव हैं, जो उसके जन्म से पहले ही मुनि बन चुके हैं। वस्तुस्थिति से परिचित होते ही वज्रकुमार ने प्रतिज्ञा कर डाली कि वह अपने पिता के दर्शन किये बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करेगा। भास्करदेव तत्काल वज्रकुमार को साथ लेकर मुनि सोमदेव के दर्शनों के लिये प्रस्थित हुआ। दर्शन-वन्दन के पश्चात् मुनि के त्याग-विरागपूर्ण उपदेश को सुन कर वज्रकुमार को संसार से विरक्ति हो गई और उन्होंने उसी समय सोमदेव मुनि के पास निर्ग्रंथ श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में आर्य वज्र को चारण-ऋद्धिसम्पन्न मुनि माना गया है और दोनों परम्पराओं के मध्ययुगीन कथासाहित्य में उनके द्वारा आकाशगामिनी विद्या के अद्भुत चमत्कारपूर्ण कार्यों से जिनशासन की महती प्रभावना किये जाने के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आर्य वज्र के प्रगुरू का नाम सुमित्र और गुरु का नाम सोमदेव बताया गया है जब कि श्वेताम्बर परम्परा इन्हें जाति-स्मरणज्ञानधारी आर्य सिंहगिरि का शिष्य मानती है। नाम, स्थान आदि विषयक कतिपय विभिन्नताओं के उपरान्त भी आर्य वज्र के पिता द्वारा वज्र के जन्म से अनुमानतः ६ मास पूर्व ही प्रव्रज्या ग्रहण करने, माता द्वारा उन्हें उनके पिता को दे दिये जाने, आर्य वज्र के गगनविहारी होने, जैनों के साथ बौद्धों द्वारा की गई धार्मिक उत्सव विषयक प्रतिस्पर्धा में आर्य वज्र द्वारा जैन धर्मावलम्बियों के मनोरथों की पूर्ति के साथ जिन-शासन की महिमा बढ़ाने आदि आर्य वज्र के जीवन की घटनाओं एवं सम्पूर्ण कथावस्तु की मूल आत्मा में दोनों परम्पराओं की पर्याप्त साम्यता है, जो यह मानने के लिये आधार प्रस्तुत करती है कि आर्य वज्र के समय तक जैन संघ में पृथकतः श्वेताम्बर तथा दिगम्बर – इस प्रकार का भेद उत्पन्न नहीं हुआ था।

दोनों परम्पराओं के मान्य ये मुनि निश्चित रूप से वे ही वज्रमुनि हैं, जो वीर निर्वाण की छठी शताब्दी में हुए आर्य रक्षित के विद्यागुरु थे। परम्परा भेद के प्रकट होने का इतिहास भी इसी बात को प्रमाणित करता है। कारण कि श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा का स्पष्ट भेद आर्य वज्र के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० सं० ६०६ में और दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० ६०६ में माना गया है।

दशपूर्वधर-विषयक दिगम्बर मान्यता

यह पहले बताया जा चुका है कि दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में भगवान् महावीर के निर्वाण पश्चात् ६२ वर्ष का तथा कुछ ग्रन्थों में ६४ वर्ष का केवलिकाल माना गया है।

इन्द्रभूति, सुधर्मा और जम्बूस्वामी – इन ३ अनुबद्ध केवलियों के पश्चात् दिगम्बर परम्परा में भी ५ श्रुतकेवली अर्थात् एकादशांगी और १४ पूर्वों के ज्ञाता

माने गये है। परन्तु दोनों परम्पराओं द्वारा माने गये श्रुतकेवलियों के नामों में तथा सत्ताकाल में थोड़ी भिन्नता है। केवल पांचवें श्रुतकेवली आचार्य भद्रवाहु के नाम के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं का मतैक्य है।

श्वेताम्बर परम्परा में आर्य प्रभव, आर्य शय्यंभव, आर्य यशोभद्र, आर्य संभूत विजय और आर्य भद्रबाहु – इस प्रकार ५ श्रुतकेवली और इनका श्रुतकेवलीकाल १०६ वर्ष का माना गया है।

जबकि दिगम्वर परम्परा में विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रवाहु इन ५ श्रुतकेवलियों का १०० वर्ष का समय माना गया है।

श्वेताम्वर परम्परा द्वारा मान्य १० पूर्वधरों का परिचय दिया जा चुका है। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा ६४ वर्ष का केवलिकाल, १०६ वर्ष का श्रुतकेवलिकाल और ४१४ वर्ष का दशपूर्वधर-काल माना गया है। केवलिकाल के ६४ वर्ष, श्रुतकेवलिकाल के १०६ वर्ष और दशपूर्वधरकाल के ४१४ वर्ष – ये कुल मिला कर ५८४ वर्ष होते हैं। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० ५८४ तक १० पूर्वों का ज्ञान विद्यमान रहा।

किन्तु दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर ६२ वर्ष तक केवलिकाल, तत्पश्चात् १०० वर्ष तक श्रुतकेवलिकाल और तदनन्तर १८३ वर्ष तक दशपूर्वधरों का काल रहा। इस प्रकार दिगम्वर मान्यतानुसार वीर नि० सं० ३४५ तक ही १० पूर्वों का ज्ञान विद्यमान रहा। दिगम्वर परम्परा द्वारा मान्य १० पूर्वधरों के नाम इस प्रकार हैं:–

१. विशाखाचार्य, २. प्रोष्ठिल, ३. क्षत्रिय, ४. जय, ५. नागसेन, ६. सिद्धार्थ, ७. धृतिषेण, ८. विजय, ९. वुद्धिल, १०. गंगदेव और ११. धर्मसेन। इन ग्यारहों आचार्यों को गुणभद्राचार्य ने द्वादशांग के अर्थ में प्रवीण तथा दश पूर्वधर वताया है।[1]

आ. नागहस्ती एवं आ. वज्र के समय की राजनैतिक स्थिति

यह पहले वताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ४७० से ५३० तक देश में विक्रमादित्य का शासन रहा। विक्रमादित्य के शासनकाल में भारत राजनैतिक, आर्थिक सामाजिक, वौद्धिक एवं सैनिक शक्ति की दृष्टि से सवल, सुसमृद्ध एवं समुन्नत रहा। विक्रमादित्य के पश्चात् उसके पुत्र विक्रमसेन के शासनकाल में भी साधारणतया देश समृद्ध और सवल रहा। विक्रमसेन के शासन के अन्तिम दिनों में शकों के पुनः आक्रमण होने प्रारम्भ हुए और विदेशी शकों ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश के कई क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। विक्रमसेन की मृत्यु के पश्चात् शकों के आक्रमणों का दवाव वढ़ता ही गया।

---

[1] द्वादशांगार्थ-कुशला, दशपूर्वधराश्च ते। [उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लो. ५२३]

सामान्य पूर्वधर-काल

(वीर नि. सं. ५८४ से १०००)

सामान्य पूर्वधर-काल के आचार्य :

१९. आचार्य रक्षित

आचार्यकाल – वी. नि. सं. ५८४ से ५९७

२०. आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र

आचार्यकाल – वी. नि. सं. ५९७ से ६१७

२१. आचार्य वज्रसेन

आचार्यकाल – वी. नि. सं. ६१७ से ६२०

२२. आचार्य नागहस्ती (नागेन्द्र)

आचार्यकाल – वी. नि. सं. ६२० से ६८९

२३. आचार्य रेवतीमित्र

आचार्यकाल – ६८९ से ७४८

२४. आचार्य सिंह

आचार्यकाल – ७४८ से ८२६

२५. आचार्य नागार्जुन

आचार्यकाल – ८२६ से ९०४

२६. आचार्य भूतदिन्न

आचार्यकाल – ९०४ से ९८३

२७. आचार्य कालकाचार्य (चतुर्थ)

आचार्यकाल – ९८३ से ९९४

२८. आचार्य सत्यमित्र

आचार्यकाल – ९९४ से १००१

माने गये है। परन्तु दोनों परम्पराओं द्वारा माने गये श्रुतकेवलियों के नामों में तथा सत्ताकाल में थोड़ी भिन्नता है। केवल पांचवें श्रुतकेवली आचार्य भद्रवाहु के नाम के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं का मतैक्य है।

श्वेताम्वर परम्परा में आर्य प्रभव, आर्य शय्यंभव, आर्य यशोभद्र, आर्य संभूत विजय और आर्य भद्रबाहु – इस प्रकार ५ श्रुतकेवली और इनका श्रुत-केवलीकाल १०६ वर्ष का माना गया है।

जवकि दिगम्वर परम्परा में विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रवाहु इन ५ श्रुतकेवलियों का १०० वर्ष का समय माना गया है।

श्वेताम्वर परम्परा द्वारा मान्य १० पूर्वधरों का परिचय दिया जा चुका है। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा ६४ वर्ष का केवलिकाल, १०६ वर्ष का श्रुतकेवलि-काल और ४१४ वर्ष का दशपूर्वधर-काल माना गया है। केवलिकाल के ६४ वर्ष, श्रुतकेवलिकाल के १०६ वर्ष और दशपूर्वधरकाल के ४१४ वर्ष – ये कुल मिला कर ५८४ वर्ष होते हैं। इस प्रकार श्वेताम्वर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० ५८४ तक १० पूर्वों का ज्ञान विद्यमान रहा।

किन्तु दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर ६२ वर्ष तक केवलिकाल, तत्पश्चात् १०० वर्ष तक श्रुतकेवलिकाल और तदनन्तर १८३ वर्ष तक दशपूर्वधरों का काल रहा। इस प्रकार दिगम्वर मान्यतानुसार वीर नि० सं० ३४५ तक ही १० पूर्वों का ज्ञान विद्यमान रहा। दिगम्वर परम्परा द्वारा मान्य १० पूर्वधरों के नाम इस प्रकार हैं :–

१. विशाखाचार्य, २. प्रोष्ठिल, ३. क्षत्रिय, ४. जय, ५. नागसेन, ६. सिद्धार्थ, ७. धृतिषेण, ८. विजय, ९. वुद्धिल, १०. गंगदेव और ११. धर्मसेन। इन ग्यारहों आचार्यों को गुणभद्राचार्य ने द्वादशांग के अर्थ में प्रवीण तथा दश पूर्वधर वताया है।[1]

आ. नागहस्ती एवं आ. वज्र के समय की राजनैतिक स्थिति

यह पहले वताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ४७० से ५३० तक देश में विक्रमादित्य का शासन रहा। विक्रमादित्य के शासनकाल में भारत राजनैतिक, आर्थिक सामाजिक, वौद्धिक एवं सैनिक शक्ति की दृष्टि से सवल, सुसमृद्ध एवं समुन्नत रहा। विक्रमादित्य के पश्चात् उसके पुत्र विक्रमसेन के शासनकाल में भी साधारणतया देश समृद्ध और सवल रहा। विक्रमसेन के शासन के अन्तिम दिनों में शकों के पुनः आक्रमण होने प्रारम्भ हुए और विदेशी शकों ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश के कई क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। विक्रमसेन की मृत्यु के पश्चात् शकों के आक्रमणों का दवाव वढ़ता ही गया।

---

[1] द्वादशांगार्थ-कुशला, दशपूर्वधराश्च ते। [उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लो. ५२३]

सामान्य पूर्वधर-काल

वीर नि० सं० १७० से ५८४ तक के दशपूर्वधरकाल के आचार्यों का परिचय दिया जा चुका है। वीर नि० सं० ५८४ से वीर नि० सं० १००० तक सामान्य पूर्वधरकाल रहा। इस अवधि में आर्य रक्षित सार्द्धनव पूर्वों के ज्ञाता आचार्य हुए। आर्य रक्षित के पश्चात् भी पूर्वज्ञान की क्रमशः परिहानि होती रही। आर्य रक्षित के पश्चात् होने वाले आचार्यों में कौन-कौन से आचार्य कितने-कितने पूर्वों के ज्ञाता रहे, एतद्विषयक कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। ऐसी दशा में निश्चित रूप से तो यही कहा जा सकता है कि वीर नि० सं० १००० तक सम्पूर्ण रूपेण १ पूर्व का और शेष पूर्वों का आंशिक ज्ञान विद्यमान रहा।

२३. रेवतीनक्षत्र–वाचनाचार्य
२४. रेवतीमित्र – युगप्रधानाचार्य

आर्य नागहस्ती के पश्चात् आर्य रेवतीनक्षत्र वाचनाचार्य हुए। वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और युगप्रधानाचार्य रेवतीनक्षत्र एक ही आचार्य थे अथवा भिन्न-भिन्न, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करने वाला कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इन दोनों आचार्यों के नाम में पर्याप्त साम्य होने के कारण प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को यह भ्रान्ति हो सकती है कि रेवतीनक्षत्र और रेवतीमित्र एक ही आचार्य के दो नाम हैं, जो वाचनाचार्य भी थे और युगप्रधानाचार्य भी। किन्तु वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य इन दोनों परम्पराओं के आचार्यों के काल के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर स्पष्टतः यह अनुमान होने लगता है कि वस्तुतः वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और युगप्रधानाचार्य रेवतीमित्र भिन्न-भिन्न समय में हुए दो भिन्न आचार्य थे।

जिस प्रकार पादलिप्त के गुरु एवं आर्य रक्षित के समकालीन वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती और आर्य वज्रसेन के शिष्य युगप्रधानाचार्य आर्य नागहस्ती (नागेन्द्र) के बीच काल का पर्याप्त व्यवधान होना सिद्ध किया जा चुका है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मद्वीपकसिंह के शिष्य आर्य रेवतीनक्षत्र से नागेन्द्र के शिष्य आर्य रेवतीमित्र भी पर्याप्त काल पश्चात् होने चाहिये।

आर्य वज्रसेन के समय के आसपास होने के कारण वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र का स्वर्गगमन अधिक से अधिक वीर निर्वाण सं० ६४०–६५० के आसपास होना चाहिये जबकि युगप्रधानाचार्य आर्य रेवतीमित्र का स्वर्गगमन वीर नि० सं० ७४८ में माना गया है, जो आर्य रेवतीनक्षत्र के स्वर्गगमन से लगभग १०० वर्ष पश्चात् का ठहरता है।

आर्य रेवतीनक्षत्र की स्तुति करते हुए आचार्य देववाचक ने भी कहा है: "रेवतीनक्षत्र का वाचकवंश वर्द्धमान हो।[1]" आचार्य देववाचक ने आर्य

---

[1] वड्ढउ वायगवंसो, रेवइनक्खत्त नामाणं। [नंदी-स्थविरावली]

सामान्य पूर्वधर-काल

वीर नि० सं० १७० से ५८४ तक के दशपूर्वधरकाल के आचार्यों का परिचय दिया जा चुका है। वीर नि० सं० ५८४ से वीर नि० सं० १००० तक सामान्य पूर्वधरकाल रहा। इस अवधि में आर्य रक्षित सार्द्धनव पूर्वों के ज्ञाता आचार्य हुए। आर्य रक्षित के पश्चात् भी पूर्वज्ञान की क्रमशः परिहानि होती रही। आर्य रक्षित के पश्चात् होने वाले आचार्यों में कौन-कौन से आचार्य कितने-कितने पूर्वों के ज्ञाता रहे, एतद्विषयक कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। ऐसी दशा में निश्चित रूप से तो यही कहा जा सकता है कि वीर नि० सं० १००० तक सम्पूर्ण रूपेण १ पूर्व का और शेष पूर्वों का आंशिक ज्ञान विद्यमान रहा।

२३. रेवतीनक्षत्र—वाचनाचार्य
२४. रेवतीमित्र – युगप्रधानाचार्य

आर्य नागहस्ती के पश्चात् आर्य रेवतीनक्षत्र वाचनाचार्य हुए। वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और युगप्रधानाचार्य रेवतीनक्षत्र एक ही आचार्य थे अथवा भिन्न-भिन्न, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करने वाला कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इन दोनों आचार्यों के नाम में पर्याप्त साम्य होने के कारण प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को यह भ्रान्ति हो सकती है कि रेवतीनक्षत्र और रेवतीमित्र एक ही आचार्य के दो नाम हैं, जो वाचनाचार्य भी थे और युगप्रधानाचार्य भी। किन्तु वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य इन दोनों परम्पराओं के आचार्यों के काल के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर स्पष्टतः यह अनुमान होने लगता है कि वस्तुतः वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और युगप्रधानाचार्य रेवतीमित्र भिन्न-भिन्न समय में हुए दो भिन्न आचार्य थे।

जिस प्रकार पादलिप्त के गुरू एवं आर्य रक्षित के समकालीन वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती और आर्य वज्रसेन के शिष्य युगप्रधानाचार्य आर्य नागहस्ती (नागेन्द्र) के बीच काल का पर्याप्त व्यवधान होना सिद्ध किया जा चुका है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मद्वीपकसिंह के शिष्य आर्य रेवतीनक्षत्र से नागेन्द्र के शिष्य आर्य रेवतीमित्र भी पर्याप्त काल पश्चात् होने चाहिये।

आर्य वज्रसेन के समय के आसपास होने के कारण वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र का स्वर्गगमन अधिक से अधिक वीर निर्वाण सं० ६४०–६५० के आसपास होना चाहिये जबकि युगप्रधानाचार्य आर्य रेवतीमित्र का स्वर्गगमन वीर नि० सं० ७४८ में माना गया है, जो आर्य रेवतीनक्षत्र के स्वर्गगमन से लगभग १०० वर्ष पश्चात् का ठहरता है।

आर्य रेवतीनक्षत्र की स्तुति करते हुए आचार्य देववाचक ने भी कहा है: "रेवतीनक्षत्र का वाचकवंश वर्द्धमान हो।[1]" आचार्य देववाचक ने आर्य

---
[1] वड्ढउ वायगवंसो, रेवइनक्खत्त नामाणं। [नंदी-स्थविरावली]

रेवतीनक्षत्र के शरीर का वर्ण जातीय अंजन, पकी दाख अथवा नील कमल के समान श्याम बताया है।

आर्य रेवतीनक्षत्र के समय में वाचकवंश की उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आगम-वाचना में आप विशिष्ट रूप से कुशल थे। आपके जन्म, दीक्षा आदि काल का परिचय उपलब्ध नहीं होता।

आर्य रक्षित – युगप्रधानाचार्य

आर्य वज्रस्वामी के पश्चात् आर्य रक्षित एक विशिष्ट युगप्रधान आचार्य माने गये हैं। इनका जन्म वीर नि० सं० ५२२ में, दीक्षा २२ वर्ष की वय होने पर वीर नि० सं० ५४४ में, युगप्रधानपद ४० वर्ष तक सामान्य श्रमणपर्याय पालन के पश्चात् वीर नि० सं० ५८४ में और ७५ वर्ष की पूर्णायु के पश्चात् वीर नि० सं० ५९७ में स्वर्गवास माना गया है। कुछ आचार्यों ने वीर नि० सं० ५८४ में आपका स्वर्गवास होना बताया है। आपके दीक्षागुरु आचार्य तोषलिपुत्र और विद्यागुरु आर्य वज्र माने गये हैं। आवश्यक चूर्णि आदि प्राचीन ग्रंथों में आपका परिचय इस प्रकार उपलब्ध होता है :—

मालव प्रदेश के दशपुर (मन्दसोर) नामक नगर में सोमदेव नामक एक ब्राह्मण पुरोहित रहते थे। उनकी धर्मपत्नी रुद्रसोमा जैनधर्म की उपासिका थी। सोमदेव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम रक्षित और दूसरे का फल्गुरक्षित था। सोमदेव ने अपने पुत्र रक्षित को दशपुर में शिक्षा दिलाने के पश्चात् उच्च शिक्षा के लिए पाटलीपुत्र भेजा। प्रतिभाशाली किशोर रक्षित ने पाटलीपुत्र में रह कर स्वल्प समय में ही वेद-वेदांगादि १४ विद्याओं में निष्णातता प्राप्त की और अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् दशपुर लौटे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने पुरोहित-पुत्र के लौटने का समाचार सुन कर दशपुर के राजा ने और नागरिकों ने रक्षित का भव्य स्वागत किया। स्वागतार्थ उपस्थित लोगों में आर्य रक्षित को उनकी माता रुद्रसोमा कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई।

सब लोगों का अभिवादन स्वीकार करने के पश्चात् रक्षित ने घर आकर माता को प्रणाम किया। सामायिक में होने के कारण रुद्रसोमा ने अपने पुत्र की ओर मध्यस्थभाव से देखा और 'स्वागतं' कह वह पुनः आत्मचिन्तन में लीन हो गई। माता की ओर से अपेक्षित वात्सल्य और उल्लास का अभाव और मध्यस्थ भाव देख कर रक्षित ने पूछा – "अम्ब ! मेरे विद्याध्ययन कर लौटने पर नगर में सबको प्रसन्नता है पर तुम्हारे मुख पर मुझे सन्तोष दृष्टिगत नहीं होता। इसका क्या कारण है ?"

माता रुद्रसोमा ने कहा – "पुत्र ! तुमने हिंसावर्द्धक ग्रन्थ पढ़े हैं, इनसे तो जन्म-मरण रूपी भवभ्रमण की ही वृद्धि हो सकती है। ऐसी दशा में मुझे सन्तोष किस प्रकार हो ? स्व-पर का कल्याण करने वाले दृष्टिवाद को पढ़कर आता होता तो मुझे सन्तोष होता।"

रक्षित ने बड़ी जिज्ञासापूर्वक दृष्टिवाद और उसके ज्ञाता आदि के सम्बन्ध में अपनी माता से अनेक प्रश्न किये और माता ने पुत्र की जिज्ञासा को शांत करते हुए कहा – "पुत्र ! इक्षुवाटिका में आचार्य तोषलिपुत्र विराजमान हैं, वे दृष्टिवाद के ज्ञाता हैं।"

"कल ही मैं उनके पास अध्ययनार्थ चला जाऊंगा।" – यह कह कर रक्षित ने माता को आश्वस्त किया और दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही माता की आज्ञा ले वह दशपुर से इक्षुवाटिका की ओर प्रस्थित हुआ।

नगर से बाहर निकलते ही रक्षित को सामने की ओर से आते हुए एक वृद्ध सज्जन मिले जो सोमदेव के बालसखा थे। यथोचित अभिवादनादि के पश्चात् रक्षित का परिचय मिलते ही आगन्तुक वृद्ध ने हर्ष प्रकट करते हुए कहा – "पुत्र मैं तुम्हें देखने के लिए ही आया हूँ। लो, मैं तुम्हारे लिए यह सौगात लाया हूँ।"

यह कह कर वृद्ध ने ९ पूर्ण और एक आधा इस तरह साढ़े नौ इक्षुदण्ड रक्षित की ओर बढ़ाये।

रक्षित ने विनम्र स्वर में वृद्ध से कहा – "तात ! मैं अध्ययनार्थ बाहर जा रहा हूँ। आप घर पधारें, ये इक्षुयष्टियां माता को ही दे दें और कह दें कि रक्षित मुझे मिल गया था।"

इस प्रकार आगन्तुक से थोड़ी देर तक बात करने के पश्चात् रक्षित अपने गन्तव्य स्थान की ओर आगे बढ़ा।

इक्षुवाटिका पहुँचने के पश्चात् रक्षित यह सोचते हुए उपाश्रय के बाहर ही खड़ा हो गया कि आचार्य के पास किस प्रकार जाना और अभिवादन करना चाहिये। रक्षित इस प्रकार सोच ही रहा था कि एक श्रावक उपाश्रय के अन्दर से आया और दैहिकचिन्ता से निवृत्त हो पुनः उपाश्रय में लौटने लगा। रक्षित ने भी तत्क्षण उस श्रावक का अनुसरण करते हुए उपाश्रय में प्रवेश कर आचार्य तोषलिपुत्र को विधिपूर्वक उसी तरह प्रणाम किया जिस प्रकार कि उस श्रावक ने किया।

आचार्य ने नवागन्तुक को यथाविधि वंदन करते हुए देखकर पूछा – "वत्स तुमने यह धर्मक्रिया का ज्ञान कहां से पाया ?"

आर्य रक्षित ने उस श्रावक की ओर इंगित करते हुए कहा – "इनसे।"

तदनन्तर आचार्य द्वारा आगमन का कारण पूछने पर रक्षित ने विनय-पूर्वक निवेदन किया – "भगवन् ! मैं दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए आपकी सेवा में आया हूँ।"

आचार्य द्वारा यह कहने पर कि दृष्टिवाद का ज्ञान तो दीक्षित होने पर ही दिया जा सकता है, रक्षित तत्काल दीक्षा ग्रहण करने के लिए सहर्ष उद्यत हो गया। श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् रक्षित मुनि ने अपने गुरु तोषलिपुत्र से निवेदन किया – "भगवन् ! यहां के राजा का और सभी नागरिकों का मेरे

प्रति अत्यधिक अनुराग है। मुझे आशंका है कि वे लोग कहीं मुझे बलात् घर लौटा कर न ले जाएं अतः मेरे लिए श्रेयस्कर यही है कि अब शीघ्र ही यहां से किसी अन्य स्थान के लिए विहार कर दिया जाय।"

नवदीक्षित मुनि रक्षित की प्रार्थना स्वीकार कर आचार्य तोषलिपुत्र ने अपने शिष्यसमूह सहित इक्षुवाटिका से विहार कर दिया। गुरु-सेवा में रह कर बड़ी लगन के साथ अध्ययन करते हुए मुनि रक्षित ने अल्प समय में ही आचारांग आदि एकादश अंगों का पूर्ण अध्ययन और दृष्टिवाद का जितना ज्ञान आचार्य तोषलिपुत्र के पास था, उसका अध्ययन कर लिया।

तदनन्तर आचार्य तोषलिपुत्र ने मुनि रक्षित को पूर्वों के अग्रेतन अध्ययन के लिए दश पूर्वधर आचार्य वज्र स्वामी के पास भेजा। आर्य वज्र की सेवा में जाते समय मुनि रक्षित उज्जयिनी पहुँचे। वहां स्थविर भद्रगुप्त ने युवा मुनि रक्षित का स्वागत करते हुए कहा – "वत्स! तुम ठीक समय पर आ गये। अब मेरा अन्तिम समय आ चुका है। मेरी संलेखना में यहां अन्य कोई निर्यामक नहीं है अतः तुम निर्यामक बन कर मेरी संलेखना पूर्ण होने तक यहां मेरे पास ही रहो जिससे कि मेरी संलेखना पूर्ण समाधि के साथ सम्पन्न हो।"

तपोधन श्रमणश्रेष्ठ स्थविर की अन्तिम सेवा के स्वर्णिम सुयोग को अपना अहोभाग्य समझ कर मुनि रक्षित उज्जयिनी में स्थविर भद्रगुप्त के पास रहे और उन्होंने बड़ी लगन के साथ उनकी सेवा की।

अन्त में स्थविर भद्रगुप्त ने मुनि रक्षित से कहा – "वत्स! तुम पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आचार्य वज्र के पास जा रहे हो, यह तो ठीक है पर तुम उनसे अलग उपाश्रय में ठहर कर विद्याभ्यास करना। क्योंकि इस समय आर्य वज्र की जन्म कुण्डली में इस प्रकार का योग पड़ा हुआ है कि जो कोई भी उनके पास एक रात्रि के लिए भी ठहरेगा, उसका उन्हीं के साथ मरण होना सुनिश्चित है।" आर्य रक्षित ने स्थविर भद्रगुप्त की आज्ञा को शिरोधार्य किया।

स्थविर भद्रगुप्त के समाधिपूर्वक स्वर्गगमन के पश्चात् आर्य रक्षित ने आर्य वज्र की सेवा में उपस्थित होने के लिए उज्जयिनी से विहार किया। वे सीधे आर्य वज्र के उपाश्रय में न जाकर एक पृथक् स्थान में ठहरे। प्रातःकाल रक्षित मुनि आचार्य वज्र की सेवा में पहुँचे। आर्य रक्षित के उपाश्रय में पहुँचने से कुछ समय पहले आचार्य वज्र ने अपने शिष्यों से कहा – "मैंने आज रात्रि के अवसान समय में स्वप्न देखा कि एक आगन्तुक हमारे यहां आया और मेरे पात्र में रखा हुआ अधिकांश दूध उसने पी लिया, अल्प दुग्ध ही शेष रहा।"

जिस समय आर्य वज्र अपने शिष्यों से यह कह ही रहे थे, उसी समय आर्य रक्षित ने उनकी सेवा में पहुँच कर सविधि भक्तिसहित वन्दन किया।

आचार्य वज्रस्वामी ने आगन्तुक से पूछा – "कहां से आये हो।"

मुनि रक्षित ने कहा – "आर्य तोषलिपुत्र की सन्निधि से।'

आचार्य वज्र ने पूछा – "क्या तुम आर्य रक्षित हो ?"

विनयावनत हो आर्य रक्षित ने कहा – "हां, भगवन् ।"

आचार्य वज्र ने "स्वागतम्" कह कर पूछा – "क्या तुम यह नहीं जानते कि पृथक् स्थान में रहते हुए समीचीन रूप से अध्ययन नहीं होता ?"

आर्य रक्षित ने जब आचार्य भद्रगुप्त से प्राप्त निर्देश के अनुसार पृथक् ठहरने की बात कही तो आचार्य वज्र ने कहा – "ठीक है, स्वर्गस्थ आचार्य ने किसी कारण से ही ऐसा कहा होगा ।"

तदनन्तर आचार्य वज्र ने आर्य रक्षित को पूर्वों की शिक्षा देना प्रारम्भ किया । महामेधावी आर्य रक्षित ने बड़ी लगन और तत्परता से अध्ययन करते हुए अल्प समय में ही नव (९) पूर्वों की शिक्षा पूर्ण कर ली और दशवें पूर्व का अध्ययन प्रारम्भ किया ।

उधर आर्य रक्षित के माता-पिता पुत्रवियोग से चिन्तित हो सोचने लगे – "अहो ! हमने सोचा था कि पुत्र उद्योत करेगा पर वह तो घर में अंधेरा कर चला गया ।" उन्होंने आर्य रक्षित को बुला लाने के लिए अपने कनिष्ठ पुत्र फल्गुरक्षित को भेजा ।

फल्गुरक्षित ने आर्य रक्षित के पास पहुँच कर कहा – "माता आपको अहर्निश स्मरण करती रहती है । आप अगर एक बार दशपुर चलो तो माता-पिता आदि सभी स्वजन प्रव्रज्या ग्रहण कर लेंगे ।"

आर्य रक्षित पूर्णतः अध्यात्मज्ञान में रम चुके थे । उन्होंने समझ लिया था – "संसार के सभी सम्बन्ध नश्वर हैं । तन, धन, परिजन आदि कोई मेरा नहीं है । मैं शरीर से भिन्न शुद्ध चेतन हूँ । ज्ञान मेरा स्वभाव और विवेक ही मेरा मित्र है ।"

उन्होंने फल्गुरक्षित से कहा – "वत्स ! यदि मेरे चलने पर माता-पिता आदि प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए तत्पर हैं, तो पहले तुम तो प्रव्रज्या ग्रहण कर लो ।"

फल्गुरक्षित ने तत्काल प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और वे श्रमणधर्म का यथाविधि पालन करते हुए सदा आर्य रक्षित को दशपुर चलने की स्मृति कराते रहे ।

एक दिन आर्य रक्षित ने आचार्य वज्र से पूछा – "भगवन् ! अब दशवां पूर्व कितना और पढ़ना शेष है ?"[1]

आचार्य वज्र ने कहा – "वत्स अभी तो सिन्धु में से बिन्दु जितना हुआ है और समुद्र जितना शेष है ।"

आर्य रक्षित ने इतना विशाल ज्ञान अर्जन करना अपने सामर्थ्य से बाहर समझ कर आर्य वज्र से दशपुर जाने की अनुमति चाही पर आर्य वज्र ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा – "वत्स ! धैर्य धारण करो । अभी और पढ़ो ।"

---

[1] दशमस्यास्य पूर्वस्य, मयाधीतं कियत्प्रभो ।
अवशिष्टं कियच्चेति, सप्रसादं समादिश ।। [परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३]

"यथाज्ञापयति देव !" कह कर आर्य रक्षित ने पुनः आगे पढ़ना प्रारम्भ किया, पर क्योंकि अब उन्हें पहले के समान आत्मविश्वास नहीं रहा था कि वे अवशिष्ट अथाह ज्ञान को हृदयंगम कर सकेंगे अतः वे पुनः पुनः आचार्य वज्र से दशपुर जाने के लिए अनुमति चाहने लगे। इस पर आचार्य वज्र के मन में विचार आया कि क्या दशवां पूर्व उनके देहावसान के साथ ही विच्छिन्न हो जायगा ? उन्होंने ज्ञानोपयोग लगा कर देखा – "वस्तुतः अब आर्य रक्षित दशपुर जाने के पश्चात् लौट कर नहीं आयेगा।[1] न कोई ऐसा अन्य सुयोग्य पात्र ही दृष्टिगोचर होता है, जो समस्त पूर्वज्ञान को ग्रहण कर सके और न मेरा आयुष्य ही अब इतना अवशिष्ट है। ऐसी दशा में दशवां पूर्व मेरी आयुसमाप्ति के साथ ही भरतक्षेत्र से नष्ट हो जायगा।"[2]

इस प्रकार अपने ज्ञानोपयोग से अवश्यंभावी भवितव्य को देख कर आचार्य वज्र ने अन्ततोगत्वा आर्य रक्षित को दशपुर जाने की अनुमति प्रदान कर दी।

इस प्रकार आर्य रक्षित ९ पूर्वों का सम्पूर्ण और दशवें पूर्व का अपूर्ण-आधा ज्ञान ही प्राप्त कर सके। आचार्य वज्र की अनुमति प्राप्त होते ही वे अपने अनुज मुनि फल्गुरक्षित के साथ दशपुर की ओर प्रस्थित हुए। दशपुर पहुँचने के पश्चात् आर्य रक्षित ने अपने माता-पिता आदि परिजनों को उपदेश देकर प्रतिबुद्ध किया। इसके फलस्वरूप वे सब श्रमणधर्म में दीक्षित हो गये। रक्षित के पिता खंत (वृद्ध मुनि) सोमदेव भी पुत्रानुरागवश उनके साथ विचरते रहे पर बाल्यकाल से चले आ रहे संस्कार और लज्जावश वे निर्ग्रन्थ के लिए विहित लिंग-वेश धारण नहीं कर पाये। उन्हें आरम्भ में छत्र, उपानत्, यज्ञोपवीत आदि धारण करने की छूट देकर फिर शनैः शनैः पूर्णरूपेण साधुमार्ग में स्थिर किया गया।

नवदीक्षित साधुओं को लेकर आर्य रक्षित अपने गुरु आर्य तोषलिपुत्र की सेवा में पहुँचे। साढ़े नौ पूर्वों के ज्ञानधारी अपने शिष्य आर्य रक्षित को देख कर आचार्य तोषलिपुत्र ने परम संतोष का अनुभव किया और उन्हें सर्वथा योग्य समझ कर अपना उत्तराधिकारी आचार्य नियुक्त किया।

आचार्य रक्षित ने विभिन्न क्षेत्रों में विहार कर अनेक भव्यजनों को प्रबोध दिया।

आवश्यक निर्युक्ति में आर्य रक्षित को अनुयोगों का पृथक्कर्त्ता बताने के साथ-साथ उन्हें शक्रेन्द्र द्वारा वन्दित भी बताया गया है। "देविंदवंदिएहिं" इस विशेषण की सार्थकता बताते हुए आवश्यक निर्युक्ति में बताया गया है कि सीमंधरस्वामी के मुखारविन्द से आर्य श्याम (प्रथम कालकाचार्य) की ही तरह आर्य रक्षित की निगोद-व्याख्याता के रूप में प्रशंसा सुन कर इन्द्र आर्य वज्र की

---

[1] सोऽथामंस्तेत्यतोयातो, नायमायास्यति पुनः। [परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३]

[2] तथा दशमपूर्वं च, मय्यैव स्थास्यति ध्रुवम् [प्रभावक च० पृ० १२]

परीक्षा लेने आया और उनके मुख से निगोद की सूक्ष्मतर व्याख्या सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ ।[1]

अनुयोगों का पृथक्करण

अनुयोगों के पृथक्कर्त्ता के रूप में आर्य रक्षित का नाम जैन इतिहास में सदा अमर रहेगा।

जैन शासन में प्रारम्भ से ही यह पद्धति रही है कि आचार्य अपने मेधावी शिष्यों को आगम के छोटे-बड़े सभी सूत्रों की वाचना देते समय चारों अनुयोगों का उन्हें बोध करा दिया करते थे । उनकी वाचना का वह सही रूप हमारे समक्ष नहीं है तथापि इतना कहा जा सकता है कि वे वाचना देते समय प्रत्येक सूत्र पर आचारधर्म, उनके पालनकर्त्ता, उनके साधनक्षेत्र का विस्तार और नियम ग्रहण की कोटि एवं भंग आदि का वर्णन कर सभी अनुयोगों का एक साथ बोध करा देते होंगे। इसी को अपृथक्त्वानुयोग वाचना कहा जाता है । अपृथक्त्वानुयोग की व्याख्या करते हुए आवश्यक मलयगिरि वृत्ति में कहा गया है – "जब चरणकरणानुयोग आदि चारों अनुयोगों का प्रत्येक सूत्र पर विचार किया जाय तो उसे अपृथक्त्वानुयोग कहते हैं । अपृथक्त्वानुयोग में विभिन्न नय-दृष्टियों का अवतरण किया जाता है और उसमें प्रत्येक सूत्र पर विस्तार के साथ चर्चा की जाती है । पर पृथक्त्वानुयोग की व्यवस्था में ऐसा करना आवश्यक नहीं होता ।"[2]

वाचना की यह अपृथक्त्वानुयोगात्मक पद्धति आर्य वज्र तक अक्षुण्णरूपेण चलती रही । जैसा कि कहा गया है :–

"आर्य वज्रस्वामी तक कालिक आगमों के अनुयोग (वाचना) में अनुयोगों का अपृथक्त्व रूप रहा, उसके पश्चात् आर्य रक्षित से कालिक-श्रुत और दृष्टिवाद के पृथक् अनुयोग की व्यवस्था की गई ।"[3]

अनुयोगों के पृथक्करण की वह घटना इस प्रकार है :– "आर्य रक्षित के धर्मशासन में ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी और वादी सभी प्रकार के साधु थे । आर्य रक्षित के उन शिष्यों में पुष्यमित्र नाम के तीन शिष्य विशिष्ट गुणसम्पन्न और महामेधावी थे । उनमें से एक को दुर्वलिकापुष्यमित्र दूसरे को घृतपुष्यमित्र और तीसरे को वस्त्रपुष्यमित्र के नाम से सम्बोधित किया जाता था । दूसरे और तीसरे पुष्यमित्र मुनि लब्धिसम्पन्न थे ।

---

[1] देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिय अज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विहत्तो, अणुओगो ता कओ चउहा ।।७७४।।
[आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, प० ३९१ (२)]

[2] अपुहुत्तमेगभावो, सुत्ते सुत्ते सुवित्थरं जत्थ ।
भन्नंतणुओगा, चरणधम्मसंखाणदव्वाणं ।।
[आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पृ० ३८३ (२)]

[3] जावंति अज्जवइरा अपुहुत्तं कालियाणुओगे य ।
तेणारेण पुहुत्तं कालियसुय दिट्ठिवाये य ।।१६३।। [वही]

घृतपुष्यमित्र अपनी लब्धि के प्रभाव से साधुओं को जितने घृत की आवश्यकता होती उतना ही घृत और वस्त्र-पुष्यमित्र वस्त्रलब्धि के प्रताप से श्रमणों की आवश्यकतानुसार वस्त्र किसी गरीब से गरीब गृहस्थ के यहां से भी प्राप्त कर सकते थे। लब्धि के कारण उन दोनों को प्रत्येक गृहस्थ क्रमशः घृत और वस्त्र देने के लिए सहर्ष उद्यत रहता था।

दुर्वलिकापुष्यमित्र स्वाध्याय के बड़े रसिक थे अतः अहर्निश स्वाध्याय में निरत रहते थे। निरन्तर स्वाध्याय के कारण वे बड़े दुर्बल हो गये थे। गुरु-चरणों में रहकर सतत अध्ययन करते हुए उन्होंने ९ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

आर्य रक्षित के गण में दुर्वलिकापुष्यमित्र, विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल ये चार सर्वाधिक प्रतिभा एवं योग्यतासम्पन्न मुनि माने जाते थे। उनका अन्य साधुओं पर भी बड़ा प्रभाव था। इनमें विन्ध्य मुनि अत्यन्त मेधावी और सूत्रार्थ की धारणा में पूर्णतः समर्थ थे। अध्ययन के समय अन्य शिक्षार्थी साधुओं के साथ उन्हें जितना सूत्रपाठ आचार्य श्री से प्राप्त होता था, उससे उनको संतोष नहीं होता था। मुनि विन्ध्य ने एक दिन आचार्य की सेवा में निवेदन किया – "भगवन्! मुझे पर्याप्त सूत्रपाठ नहीं मिल पाने के कारण मेरा अध्ययन समीचीन रूपेण नहीं हो रहा है अतः कृपा कर मेरे लिए एक पृथक वाचनाचार्य की व्यवस्था करें।"

आचार्य रक्षित ने मुनि विंध्य की प्रार्थना स्वीकार कर आर्य दुर्वलिकापुष्यमित्र को आज्ञा दी कि वे विन्ध्य मुनि को वाचना दें। कतिपय दिनों तक विन्ध्य मुनि को वाचना देने के पश्चात् दुर्वलिकापुष्यमित्र ने आचार्य की सेवा में उपस्थित हो निवेदन किया – "गुरुदेव! मुनि विन्ध्य को वाचना देने में निरत रहने के कारण मैं पठित ज्ञान का पूरा परावर्तन नहीं कर पाता अतः अनेक सूत्रपाठ मेरे स्मृतिपटल से तिरोहित हो रहे हैं। पहले पारिवारिक लोगों के यहां आने-जाने के कारण भी परावर्तन नहीं हो पाया था। इस प्रकार मेरा नौवें पूर्व का ज्ञान नष्ट हो रहा है।"

अपने मेधावी शिष्य दुर्वलिकापुष्यमित्र के मुख से विस्मरण की वात सुन कर आचार्य रक्षित ने सोचा – "जव ऐसे परम मेधावी मुनि को भी पठितार्थ का स्मरण न करने के कारण विस्मरण हो रहा है तो अन्य की क्या स्थिति होगी?"

उपयोग-वल से आचार्य रक्षित ने भविष्यकालीन साधुओं (शिष्यों) की धारणाशक्ति को मंद जान कर उन पर अनुग्रह करते हुए, वे सुखपूर्वक ग्रहण और धारण कर सकें इसके लिए प्रत्येक सूत्र के अनुयोग पृथक् कर दिये। अपरिणामी और अतिपरिणामी शिष्य नयदृष्टि का मूल भाव नहीं समझ कर कहीं कभी एकान्त ज्ञान, कभी एकान्त क्रिया या एकान्त निश्चय अथवा एकान्त व्यवहार को

ही उपादेय नहीं मान लें तथा सूक्ष्म विषय में मिथ्याभाव नहीं ग्रहण करें, एतदर्थ नयों का विभाग नहीं किया।[1]

आर्य रथ – गणाचार्य

आर्य वज्र के आर्य वज्रसेन, आर्य पद्म और आर्य रथ – ये तीन प्रमुख शिष्य थे।[2] आर्य वज्रसेन को कालान्तर में आर्य रक्षित तथा आर्य दुर्वलिका पुष्यमित्र के पश्चात् युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त किया गया। आर्य पद्म से आर्य पद्मा शाखा तथा आर्य रथ से जयन्ती शाखा के प्रकट होने का उल्लेख उपलब्ध होता है।

कल्प स्थविरावली में आर्य वज्र के स्वर्गगमन के पश्चात् स्थविर आर्य रथ को गणाचार्य नियुक्त किया जाना और उनसे प्रचलित हुई आचार्य-परम्परा को प्रमुख परम्परा बताया गया है। कल्प स्थविरावली के एतद्विषयक पहले सूत्र

---

१ (क) नाऊण रक्खियज्जो, मइमेहाधारणासमग्गंपि।
किच्छेणं धरमाणं, सुपण्णवं पूसमित्तं पि॥
अइसयकओवओगो, मइमेहाधारणाइपरिहीणे।
नाऊण सेस्सपुरिसे, खेत्तं कालाणुरूवं च॥
साणुग्गहोऽणुओगे, वीसुं कासी य सुयविभागेण।
सुहगहणाइनिमित्तं, नए य सुनिगूहिय विभागे॥
सविसयमसद्दहंता, नयाण तम्मत्तयं च गेण्हंता।
मन्नंता य विरोहं, अपरिणामातिपरिणामा॥
गच्छेज्ज मा हु मिच्छं, परिणामा य सुहुमादि वहुभेए।
होज्जा सत्ते घेत्तुं, न कालिए तो नयविभागो॥
[आवश्यक मलय, पृ० ३९९ (१)]

(ख) आवश्यकचूर्णि

(ग) श्रुत्वेत्यचिन्तयत् सूरिरीदृग्मेधानिधिर्यदि।
विस्मरत्यागमं तर्हि कोऽन्यस्तं धारयिष्यति॥२४०
ततश्चतुर्विधः कार्योऽनुयोगोऽतः परं मया।
ततोऽङ्गोपाङ्ग मूलाख्य ग्रंथच्छेदकृतागमः॥२४१
अयं चरणकरणानुयोगः परिकीर्तितः।
उत्तराध्ययनाद्यस्तु, सम्यग्धर्मकथापरः॥२४२

(घ) सूर्यप्रज्ञप्तिमुख्यस्तु गणितस्य निगद्यते।
द्रव्यस्य दृष्टिवादोऽनुयोगाश्चत्वार ईदृशः॥२४३ [प्रभावक चरित्र, पृ० १७]

(ङ) नाऊण गहणधारणहाणि चउहा पिहीकओ जेण।
अणुओगो तं देविदवंदियं रक्खियं वन्दे॥२१० [ऋषिमंडलस्तोत्र]

(च) विशेषावश्यक भाष्य

२ थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयमसगुत्तस्स इमे तिन्नि अन्तेवासी.......होत्था। थेरे अज्ज वइरसेणे, थेरे अज्ज पउमे, थेरे अज्ज रहे॥१४
[कल्प स्थविरावली]

में गौतम गोत्रीय आर्य वज्र से वज्री शाखा का प्रकट होना तथा अगले सूत्र में आर्य रथ से जयन्ती शाखा के प्रकट होने का उल्लेख है।[1]

कल्प सूत्रस्थ स्थविरावली में आर्य रथ से प्रचलित हुई आचार्य परम्परा के आचार्यों का ही गणाचार्य परम्परा के रूप में नामोल्लेख किया गया है अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में भी कल्पसूत्रीया स्थविरावली का अनुसरण करते हुए उसे प्रमुख मानकर गण परम्परा के रूप में उस ही का उल्लेख किया गया है। दुर्भाग्य है कि आर्य रथ से प्रचलित हुई इस गणाचार्य परम्परा के आचार्यों का नामोल्लेख के अतिरिक्त कोई परिचय आज उपलब्ध नहीं होता। दूसरी ओर गुर्वावली, तपागच्छ पट्टावली और वीरवंशावली आदि में वज्रसेन के पश्चात् आर्य चन्द्र से आचार्य परम्परा चलती है। ऐसी स्थिति में आर्य रथ से चलने वाली आचार्य परम्परा के आचार्यों का कोई परिचय उपलब्ध न होने के कारण यहां उनके नाम मात्र बताये जा सकेंगे। और आर्य चन्द्र से चलने वाली परम्परा के आचार्यों का यत्किंचित् जो परिचय प्राप्त होता है, उसे यहां संक्षेपतः दिया जायगा।

सातवां निह्नव गोष्ठामाहिल

सातवां एवं अन्तिम निह्नव गोष्ठामाहिल वीर नि० सं० ५८४ में हुआ। गोष्ठामाहिल ने भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के विपरीत अपसिद्धान्त 'अबद्धिक-दर्शन' का प्ररूपण एवं प्रवर्तन किया अतः वह निह्नव कहलाया। गोष्ठामाहिल और उसके द्वारा प्ररूपित अबद्धिक दर्शन का परिचय यहां संक्षेप में दिया जा रहा है।

अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में आर्य रक्षित उद्यत विहार से अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए एक दिन अपने शिष्य परिवार सहित दशपुर नगर के बहिरांचल में अवस्थित इक्षुधर नामक स्थान में पधारे।

उन दिनों मथुरा में अक्रियावादियों का वर्चस्व बढ़ रहा था। उन्होंने सभी धर्मावलम्बियों को शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दी। अक्रियावादियों के साथ वाद करने का किसी विद्वान् ने साहस तक नहीं किया। जैन धर्म की चिरअर्जित प्रतिष्ठा की रक्षार्थ संघ ने एकत्रित होकर विचार-विमर्श किया। अन्य किसी विद्वान् को अक्रियावादियों के साथ शास्त्रार्थ करने में समर्थ न पाकर संघ ने आर्य रक्षित के पास दशपुर (मन्दसौर) सन्देश भेजकर उन्हें मथुरा में आकर अक्रियावादियों को परास्त करने की प्रार्थना की। प्रव्रजित होने के प्रथम दिन से ही अपने कर्मसमूहों को तप-संयम की प्रचण्ड ज्वालाओं में भस्मावशेष कर डालने का दृढ़ संकल्प लिये आर्य रक्षित अपने शरीर को अस्थिपंजर मात्र बना चुके थे। इसके उपरान्त वे बहुत वृद्ध हो चुके थे और उन्हें यह विदित था कि उनके जीवन

---

[1] थेरेहिंतो णं अज्ज वइरेहिंतो गोयमसगुत्तेहिंतो इत्थ णं अज्ज वइरीसाहा णिग्गया ॥१३॥
थेरेहिंतो णं अज्ज रहेहिंतो इत्थ णं अज्ज जयंती साहा णिग्गया ॥१४
[कल्प स्थविरावली]

का अन्तिम समय अब सन्निकट आ चुका है। ऐसी स्थिति में उन्होंने अपना जाना उचित न समझकर शास्त्रार्थ में कुशल एवं सुयोग्य अपने शिष्य गोष्ठामाहिल को मथुरा भेजा।

अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर गोष्ठामाहिल मथुरा पहुंचे। अक्रियावादियों के साथ गोष्ठामाहिल ने शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया। गोष्ठामाहिल के प्रबल तर्कों एवं अकाट्य युक्तियों के समक्ष अक्रियावादियों के पैर उखड़ गये। मध्यस्थों एवं सभ्यों ने सर्वसम्मत समवेत स्वरों में अक्रियावादियों को पराजित और गोष्ठामाहिल को विजयी घोषित किया। जिनशासन की महती प्रभावना हुई और संघ में सर्वत्र हर्ष की हिलोरें लहरा उठीं। विजयी होकर गोष्ठामाहिल गुरुसेवा में दशपुर लौटे। उनके साथ मथुरा संघ के प्रतिष्ठित प्रतिनिधि भी थे। उन्होंने आर्य रक्षित से प्रार्थना की कि वे मुनि गोष्ठामाहिल को मथुरा नगरी में चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान करें। संघ की आग्रह एवं अनुनयविनयपूर्ण विनति को आर्य रक्षित ने स्वीकार किया और गोष्ठामाहिल ने पुनः मथुरा की ओर विहार किया।

चातुर्मासावधि में जब आर्य रक्षित दशपुर में और उनके शिष्य गोष्ठामाहिल मथुरा में थे, उस समय आर्य रक्षित ने अपने शरीर की स्थिति क्षीण और आयु का अन्तिम समय समीप समझकर संघ के समक्ष अपने उत्तराधिकारी के विषय में विचार विमर्श किया। आर्य रक्षित के शिष्य-समूह में घृतपुष्यमित्र, वस्त्रपुष्यमित्र, दुर्बलिका पुष्यमित्र, विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल ये ६ शिष्य बड़े प्रतिभाशाली थे। आर्य रक्षित के मुनिमण्डल में से कतिपय मुनि आर्य फल्गुरक्षित को और कुछ मुनि गोष्ठामाहिल को आचार्य पद का उत्तराधिकारी बनाने के पक्ष में थे। पर आर्य रक्षित केवल दुर्बलिकापुष्यमित्र को ही अपने उत्तराधिकारी आचार्य पद के योग्य समझते थे।

अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने के प्रश्न के सम्बन्ध में जब आर्य रक्षित ने अपने शिष्यसमूह में मतभेद देखा तो उन्होंने बड़ी ही सूझबूझ से काम लिया। सबको एकत्रित कर वे बोले – "कल्पना करो कुछ इंगितज्ञ श्रावकों ने यहां तीन घड़े प्रस्तुत किये। उनमें से एक घड़े में उड़द, दूसरे में तेल और तीसरे में घृत भरा और साधुसमूह एवं समस्त संघ के समक्ष उन तीनों घड़ों को दूसरे तीन घड़ों में क्रमशः उल्टा करवा दिया। उन तीनों रिक्त घड़ों में कितना कितना उड़द, तेल और घृत अवशिष्ट रहेगा ?"

आर्य रक्षित का प्रश्न सुनकर शिष्यों एवं श्रावकप्रमुखों ने उत्तर दिया – "भगवन् ! जो घट उड़द से भरा था, वह पूर्णतः रिक्त हो जायगा, तेल के घट में थोड़ा बहुत तेल अवशिष्ट रह जायगा पर घृत के घट में घृत इधर-उधर चारों ओर चिपके रहने के कारण पर्याप्त मात्रा में अवशिष्ट रह जायगा।"

आर्य रक्षित ने अपने शिष्यसमूह और संघमुख्यों को सम्बोधित करते हुए निर्णायक स्वर में कहा – "उड़द धान्य के घट की तरह मैं अपना समस्त ज्ञान

दुर्बलिकापुष्यमित्र में उंडेल चुका हूं। जिस प्रकार पूरी तरह उंडेल दिये जाने पर भी तेल के घड़े तथा घी के घड़े में थोड़ी मात्रा में तेल और उससे अधिक मात्रा में घृत अवशिष्ट रह जाता है, उसी प्रकार शेष शिष्य मेरे सम्पूर्ण ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सके हैं।"

आर्य रक्षित के इस संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित एवं युक्तियुक्त निर्णय से उत्तराधिकार का प्रश्न तत्क्षण हल हो गया। शिष्यसमूह सहित समस्त संघ ने सर्वसम्मति से दुर्बलिकापुष्यमित्र को आर्यरक्षित का उत्तराधिकारी स्वीकार किया। आर्य रक्षित ने नवनिर्वाचित आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र और संघ को संघ-संचालन विषयक निर्देश दिये। तदनन्तर अध्यात्म-ध्यान में लीन हो आर्य रक्षित ने समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

आर्य रक्षित के स्वर्गारोहण के समाचार सुनकर गोष्ठामाहिल भी चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् साधुसंघ के पास आये और आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र के गणाचार्य पद पर नियुक्त किये जाने की बात सुनकर बड़े खिन्न हुए।[1] श्रमणसंघ एवं श्रावकसंघ द्वारा उन्हें समझाने का पूरा प्रयास किया गया पर गोष्ठामाहिल ने किसी की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और वे सब साधुओं से पृथक् एक अन्य ही उपाश्रय में ठहर कर सूत्र-पौरुषी के समय एकाकी स्वाध्याय करने लगे। अर्थ-पौरुषी के समय जब गणाचार्य आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र साधुसमूह को आगम-वाचना देते, उस समय भी गोष्ठामाहिल उपस्थित नहीं होते। वे मन ही मन गणाचार्य के प्रति विद्वेष रखने लगे। गणाचार्य द्वारा की जाने वाली वाचना के अनन्तर मुनि विन्ध्य जब अर्थवाचना करते, तब गोष्ठामाहिल वहां उपस्थित होते और आठवें पूर्व की व्याख्या सुनते।

अपने अन्तर में उत्पन्न हुए गणाचार्य के प्रति विद्वेष और कांक्षामोह के उदय के कारण वे आठवें पूर्व के भावों को यथार्थरूपेण ग्रहण न कर उनका विपरीत अर्थ ही ग्रहण करने लगे।

आठवें कर्मप्रवादपूर्व की वाचना के समय आर्य विन्ध्य ने कर्मबन्ध के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा :— "आत्मा के साथ कर्म का बन्ध तीन प्रकार का होता है— बद्ध, स्पृष्ट और निकाचित। जीव प्रदेशों के साथ कर्म-परमाणुओं के सम्बन्ध मात्र को बद्ध कहते हैं। जैसे कषायरहित जीव के ईर्यापथिक कर्म का बन्ध सूखी दीवार पर गिराई गई चूर्ण की मुष्टि के समान कालान्तर में बिना स्थिति पाये ही अलग हो जाता है। दूसरा बद्ध-स्पृष्ट — जो कर्म गीली दीवार पर गिराये गये स्नेहयुक्त चूर्ण की तरह कुछ काल तक आत्मप्रदेशों के साथ मिला रहकर अलग हो जाता है, उसे बद्धस्पृष्ट कहा गया है। तीसरा निकाचित कर्म — वही बद्ध-स्पृष्ट कर्म जब अध्यवसायों और रस की अति तीव्रता के कारण न्यूनाधिक्य के रूप में

---

[1] एवं विहियपुहुत्तेहिं रक्खियज्जेहिं पूसमित्तम्मि।
ठविए गणम्मि किर गोट्ठमाहिलो पडिनिवेसेणं ॥२२९६॥ [विशेषावश्यक भाष्य]

परिवर्तन की स्थिति को पार कर जाता है तथा फलभोग के पश्चात् ही जिस कर्म से छुटकारा हो सकता है, उस कर्मबन्ध को निकाचित बन्ध कहा है।

बद्ध, बद्ध-स्पृष्ट और निकाचित कर्म के बन्ध को सरलता से समझने के लिये सूचिका का दृष्टान्त दिया जाता है। बद्ध कर्म का आत्मा के साथ डोरे से लिपटी सुई की तरह सम्बन्ध बताया गया है। जिस प्रकार स्वल्पतर प्रयास मात्र से धागे से लिपटी हुई सुई को धागे से पृथक् किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा को बद्ध कर्म से सहज ही वियोजित किया जा सकता है। बद्ध-स्पृष्ट कर्म को लोहे के पत्र से आबद्ध सुई की तरह बताया गया है। जिस प्रकार लोहपत्र से प्रबद्ध सूचिका को पृथक् करने में विशेष प्रयास की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार बद्ध-स्पृष्ट कर्मों को आत्मप्रदेशों से वियोजित करने में थोड़े पौरुष की आवश्यकता रहती है। तीसरे निकाचित कर्मबन्ध की, सूचिकाओं के उस समूह से तुलना की गई है, जिसे तपाकर घन-प्रहार से संपृक्त कर दिया गया हो। जिस प्रकार तपाकर घरण की चोट से परस्पर मिलाई गई सूचिकाओं को पुनः गलाकर सांचे में ढालने से ही पूर्व रूप में लाया जा सकता है उसी प्रकार निकाचित कर्म के फलभोग के अनन्तर ही उसे आत्मप्रदेशों से पृथक् किया जा सकता है।"

विन्ध्य मुनि द्वारा किये गये कर्मबन्ध विषयक उपरोक्त विवेचन को सुनकर गोष्ठामाहिल ने कहा – "मुने ! यदि कर्म की इस प्रकार की व्याख्या करोगे कि जीवप्रदेशों के साथ अन्योन्य अविभक्त रूप से कर्म का बन्ध होता है, तो उस दशा में आत्मा कभी कर्मबन्ध से मुक्त नहीं हो सकेगा। कंचुकी और पुरुष के समान आत्मा के साथ कर्म का बन्ध होता है। कंचुकी पुरुष को स्पृष्ट कर रहता है बद्ध करके नहीं। ठीक उसी प्रकार कर्म भी आत्मा के साथ दूध पानी की तरह घुल-मिल कर बद्ध नहीं होते, केवल स्पृष्ट होकर ही रहते हैं।"

गोष्ठामाहिल की बात सुनकर विन्ध्य ने कहा – "हमको गुरु ने इसी प्रकार बताया है।" गोष्ठामाहिल ने कहा – "वह स्वयं नहीं जानते तो क्या व्याख्यान करेंगे ?"

इस पर सरलमना विन्ध्य मुनि शंकित हुए और आचार्य के चरणों में पहुंचकर कर्मबन्ध विषयक उपरोक्त विवेचन एवं गोष्ठामाहिल का अभिमत सुनाते हुए उन्होंने स्पष्टीकरण चाहा कि वस्तुतः सूत्र का अर्थ क्या है ?

दुर्बलिकापुष्यमित्र ने कहा – "सौम्य ! जो तुम कहते हो वह ठीक है। एतद्विषयक गोष्ठामाहिल का कथन ठीक नहीं है। उसने, आत्मा के साथ बद्ध, बद्धस्पृष्ट और निकाचित सम्बन्ध मानने पर जीव से कर्म के पृथक् न होने की बात रखी, वह प्रत्यक्ष विरोधिनी है। आयुकर्म का अन्त अथवा वियोजन मरण के रूप में प्रत्यक्ष है। गोष्ठामाहिल का यह कथन भी ठीक नहीं है कि अन्योन्य अविभाग से रहे हुए का वियोग नहीं होता। एक रूप से मिले हुए दूध-पानी का उपाय विशेष से पृथक्करण देखा जाता है। लोहगोलक और अग्नि का अविभक्त सम्बन्ध भी

इसी प्रकार पृथक् होते देखा जाता है। जैसे अग्नि में तपाये गये लोहपिण्ड के कण कण में, प्रत्येक प्रदेश में अग्नि व्याप्त हो जाती है और शीतल जल आदि के प्रयोग से पुनः वह लोहगोलक शीतल – अग्निरहित हो जाता है। इसी प्रकार जीव के आत्मप्रदेशों में घुलमिल कर रहा हुआ भी कर्माणु सम्यग्ज्ञान एवं क्रिया के योग से पृथक् किया जाता है और जीव कर्म रहित हो अपने "सत्यं शिवं सुन्दरम्"-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।"

विन्ध्यमुनि ने गोष्ठामाहिल को वीतराग प्रभु द्वारा उपदिष्ट एतद्विषयक अर्थ समझाने का प्रयास किया। पर गोष्ठामाहिल अपने एकान्त अभिमत पर अड़ा रहा। मुनि विन्ध्य ने वस्तुस्थिति गणाचार्य के समक्ष रखी। आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र ने भी शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियों से गोष्ठामाहिल को समझाने का प्रयास किया पर सब व्यर्थ। फिर आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र ने अन्य-गच्छों के स्थविरों एवं शासनाधिष्ठात्री देवी के माध्यम से भी गोष्ठामाहिल को आत्मा के साथ कर्म के वन्ध के विषय में समझाने का पूरा प्रयास किया पर उसने हठाग्रह नहीं छोड़ा। गोष्ठामाहिल द्वारा की जाने वाली उत्सूत्र प्ररूपणा से खिन्न हो धर्मसंघ ने उसे सप्तम निह्नव घोषित करते हुए संघ से बहिष्कृत कर दिया।

सातवां निह्नव गोष्ठामाहिल किस समय हुआ, यह प्रश्न शताब्दियों से विद्वानों के समक्ष पहेली के रूप में उपस्थित रहा है। विशेषावश्यक भाष्य की –

पंचसया चुलसीया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
आबद्धियाण दिट्ठी दसपुर नयरे समुप्पन्ना ॥

इस गाथा से वीर नि० सं० ५८४ में दशपुर नगर में अबद्धिक दृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है पर ऐतिहासिक अन्य ग्रन्थों में दुर्बलिकापुष्यमित्र के ऐतिहासिक काल के साथ आर्य रक्षित के सम्बन्ध को देखते हुए ५८४ का काल मेल नहीं खाता। यह आर्यरक्षित के स्वर्गगमन के पश्चात् की घटना है और यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि आर्यरक्षित वीर नि० सं० ५९७ में स्वर्गस्थ हुए। इतिहास-विज्ञ इसके लिये विशेष गवेषणा का प्रयत्न करेंगे ऐसी आशा है।

२०. आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र – युगप्रधानाचार्य

वीर नि० सं० ५९७ में आर्य रक्षित के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र युगप्रधानाचार्य बने। आपका जो थोड़ा बहुत परिचय उपलब्ध होता है, वह इस प्रकार है :–

"दुर्बलिकापुष्यमित्र का जन्म वीर नि० सं० ५५० में एक सुसम्पन्न बौद्ध परिवार में हुआ। वीर नि० सं० ५६७ में आपने १७ वर्ष की अवस्था में आर्य रक्षित के पास निर्ग्रंथश्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होने के पश्चात् वर्षों विनयपूर्वक गुरुसेवा करते हुए निरन्तर के पठन, मनन और परावर्तन से आपने एकादशांगी और सार्द्धनव पूर्वों का ज्ञान अर्जित किया।

"जिस प्रकार सरसों से भरे घड़े को उंडेलने पर घड़े में एक भी सर्सपकरण अवशिष्ट नहीं रह जाता, उसी प्रकार मैंने अपना सम्पूर्ण ज्ञान आर्य दुर्बलिका-पुष्यमित्र को सिखा दिया है" – आर्य रक्षित द्वारा अपने अन्तिम समय में संघ के समक्ष प्रकट किये गये इन उद्‌गारों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि सार्द्धनव पूर्वधर आर्य रक्षित से आर्य दुर्बलिकालपुष्यमित्र ने साढ़े नव पूर्वों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया।

आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र प्रबल आत्मबल के धनी होते हुए भी शारीरिक दृष्टि से बड़े दुर्बल रहते थे। वे अध्ययन, चिन्तन, मनन में इतने अधिक तल्लीन रहते थे कि अहर्निश किये जाने वाले उस अत्यधिक परिश्रम के कारण स्निग्धतर और गरिष्ठ से गरिष्ठतम भोजन से भी उनके शरीर में आवश्यक रस का निर्माण नहीं होता था। इसी शारीरिक दुर्बलता के कारण आप संघ में दुर्बलिका-पुष्यमित्र के नाम से प्रसिद्ध हुए।"

भारतीय इतिहास और जैन इतिहास – इन दोनों ही दृष्टियों से आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र का आचार्यकाल बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आपके आचार्यकाल में ऐतिहासिक महत्व की निम्नलिखित दो घटनाएं घटित हुई :–

१. आपके आचार्यकाल (वीर नि० सं० ६०५) में प्रतिष्ठानपुर के अधिपति गौतमीपुत्र सातवाहन ने आर्यधरा से शक-शासन का अन्त कर शालि-वाहन शाक-संवत्सर की स्थापना की, जो विगत १९ शताब्दियों से आज तक भारत के प्रायः सभी भागों में प्रचलित है।

२. आपके आचार्यकाल (वीर नि० सं० ६०९) में जैन-संघ – श्वेताम्बर और दिगम्बर – इन दो भागों में विभक्त हो गया।

यह पहले बताया जा चुका है कि आर्य रक्षित ने आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र द्वारा परावर्तन के अभाव में पठितार्थ के विस्मरण की बात सुन कर कालप्रभाव से भावी शिष्यसन्तति की परिक्षीयमाण स्मरणशक्ति को लक्ष्य में रखते हुए अनुयोगों का पृथक्करण किया। जैन इतिहास की दृष्टि से, अति महत्वपूर्ण, अनुयोगों के पृथक्करण की घटना में भी आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र ही निमित्त माने गये हैं।

३० वर्ष तक सामान्य व्रतपर्याय में रहने के अनन्तर वीर निर्वाण सं० ५९७ में आप युगप्रधानाचार्य बने। युग – प्रधानाचार्य पद से भगवान् महावीर के धर्मशासन की २० वर्ष तक उल्लेखनीय सेवा और प्रभावना करने के पश्चात् वीर नि० सं० ६१७ में आपने स्वर्गारोहण किया। आपकी पूर्ण आयु ६७ वर्ष, ७ मास और ७ दिन की मानी गई है। दुष्षमाकाल श्रीश्रमणसंघस्तोत्र की तालिका में पक्षान्तर का उल्लेख करते हुए आपका युगप्रधानाचार्यकाल २० के स्थान पर १३ वर्ष और पूर्णायु ६७ वर्ष, ७ मास एवं ७ दिन के स्थान पर ६० वर्ष, ७ मास तथा ७ दिन बताई गई है।

शालिवाहन शाक-संवत्सर

प्रतिष्ठान राज्य के अधिपति सातवाहन वंशीय गौतमीपुत्र सातकर्णी ने शक्तिशाली शक-शासक नहपान को मार कर तथा भारत के दक्षिणी भाग, सौराष्ट्र एवं गुजरात से शक महाक्षत्रपों का समूलोन्मूलन कर शकारि विक्रमादित्य का विरुद धारण करने के साथ-साथ वीर निर्वाण संवत् ६०५, तदनुसार विक्रम सं० १३५ तथा ई० सन् ७८ में शाक-संवत्सर प्रचलित किया।

प्राचीन कथासाहित्य के आधार पर सातवाहन वंश के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है कि संभवतः आन्ध्र के किसी नागवंशीय शासक एवं महाराष्ट्रीय विधवा ब्राह्मणी के संयोग से सिमुक नामक बालक का जन्म हुआ, जो आगे चल कर सातवाहनवंश का संस्थापक हुआ। "प्रबन्धकोश" के सातवाहन प्रबन्ध और अल्बरूनी द्वारा किये गये उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि सातवाहनवंश का मूल पुरुष सिमुक विक्रमादित्य का समकालीन था।[1]

सातवाहन वंश में अनेक प्रतापी, शक्तिशाली और विद्वान् राजा हुए हैं। सातवाहन राजवंश के राजाओं ने भारतभूमि पर शकों के शासन का अन्त करने में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान किया। वायुपुराण में सातवाहन वंश के १९ राजाओं का नामोल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है :–

१. शिशुक (सिमुक), २. कृष्ण, ३. सातकर्णि, ४. पुलुमायी, ५. अरिष्टकर्ण, ६. हाल (गाथासप्तसती का रचयिता), ७. पत्तलक, ८. पुरीन्द्रसेन, ९. सुन्दर, १०. चकोर, ११. शिवस्वाति, १२. गौतमीपुत्र, १३. पुलुमायी (द्वितीय), १४. शिवश्री, १५. शिवस्कन्द, १६. यज्ञश्री, १७ विजय, १८. चन्द्रश्री और, १९. पुलुमायी (तृतीय)[2]

---

[1] तथा सातवाहन पृतनया भग्नमवन्तीशितुर्बलम्। विक्रमनरपतिरपि पलाय्य ययाववन्तीम्। तदनु सातवाहनो राज्येऽभिषिक्तः प्रतिष्ठानं च निज-निज विभूति परिभूतवस्वौकसाराविधान् धवलगृह देवगृहहट्टपंक्तिराजपथप्राकारपरिखादिभिः सुनिविष्टमजनिष्ट पत्तनम्।
[प्रबन्धकोश, सातवाहन प्रबन्ध, पृ० ६८]

[2] (क) शिशुकोऽन्ध्रः सजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्।
त्रयोविंशत्समाराजा शिशुकस्तु भविष्यति ॥ २ ॥
एकोनविंशतिर्ह्येते आन्ध्रा भोक्ष्यन्ति वै महीम् ॥१६॥
[मत्स्य पुराण, कलौ भाविनृपान्वयवर्णनम्]

(ख) सिन्धुको ह्यन्ध्रजातीयः, प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्।
त्रयोविंशत्समा राजा सिन्धुको भविता त्वथ ॥ ३४८ ॥
अष्टौ भातस्श वर्षाणि तस्माद्दश भविष्यति (?) ॥ ३४९ ॥
श्री शातकर्णिर्भविता तस्य पुत्रस्तु वै महान्।
पंचाशतंसमाः षट् च शातकर्णिर्भविष्यति ॥ ३५० ॥
ततः संवत्सरं पूर्णं हालो राजा भविष्यति ॥ ३५२ ॥

सातवाहनवंशीय उपरिलिखित १६ राजाओं में से इस वंश का आदिपुरुष शिशुक-सिन्धुक अथवा सिमुक अवन्तीपति महाराज विक्रमादित्य के निधन के कुछ वर्ष पश्चात् युवावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ और उसका छोटा भाई कृष्ण प्रतिष्ठान का राजा बना। कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सातकर्णि बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। सातकर्णि ने अपने राज्य की सीमा में उल्लेखनीय अभिवृद्धि की। महाराष्ट्र के किसी बड़े जागीरदार की पुत्री नायनिका के साथ इसका विवाह सम्पन्न हुआ इससे इसकी शक्ति में अभिवृद्धि हुई। सातकर्णि ने पश्चिमी घाट एवं कोंकण पर विजय प्राप्त की तथा वह पूरे महाराष्ट्र और कर्नाटक का अधिपति बन गया। सातकर्णि की तेजस्विता और प्रताप के कारण इसके पश्चाद्वर्ती सातवाहनवंश के सभी राजाओं के नाम के साथ सातकर्णि उपनाम भी जुड़ता रहा। कतिपय इतिहासविदों की मान्यता है कि सातवाहनवंश के संस्थापक सिमुक और कृष्ण बाल्यकाल में आन्ध्र देश में रहे थे अतः इनकी आन्ध्र सातवाहन नाम से प्रसिद्धि हुई। हमारा अभिमत है कि आन्ध्र के किसी नागवंशी राजा की संतति होने के कारण ही सातवाहनवंशी राजाओं को आन्ध्र-सातवाहन कहा जाने लगा।[1]

यह पहले बताया जा चुका है कि ईसा से लगभग दो शताब्दी पूर्व शक लोग अपने मूल निवासस्थान को छोड़ ईरान की ओर बढ़े और उन्होंने सम्पूर्ण ईरान पर आधिपत्य जमा लिया। शक लोग युद्धप्रिय और बर्बर थे। वे जब कभी

राजा च गौतमीपुत्र एकविंशत्समा नृपु।
एकोनविंशति राजा यज्ञश्रीः सातकर्ण्यथ ।। ३५५ ।।
इत्येते वै नृपास्त्रिंशदन्ध्रा भोक्ष्यन्ति ये महीम् ।। ३५७ ।।

[वायुपुराण, अनुषंगपाद, अ० ९९]

वायुपुराण के उपरोक्त अध्याय में सातवाहनवंशीय पन्द्रह-सोलह राजाओं के ही नाम दिये गये हैं पर इनकी संख्या ३० बताई गई है। मत्स्यपुराण के उपरि उद्धृत श्लोक में सातवाहनवंशी राजाओं की संख्या १९ बताई गई है। ब्रह्माण्ड पुराण में भी इन राजाओं की संख्या १९ ही बताई गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहन वंश की दक्षिण कोशल शाखा में हुए ११ राजाओं की भी इन १९ राजाओं के साथ गणना कर के ३० की संख्या पूरी कर दी गई है। विभिन्न पुराणों में दी गई सातवाहनवंशी राजाओं की नामावली को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके नाम भी उत्तराधिकार के अनुक्रम से नहीं दिये गये हैं।

[सम्पादक]

[1] तत्र चैकदा द्वौ वैदेशिकद्विजौ समागत्य विधवया स्वस्रा साकं कस्यचित्कुंभकारस्य शालायां तस्थिवांसौ।....अन्येद्युः सा तयोर्विप्रयोः स्वसा जलाहरणाय गोदावरीं गता। तस्याश्च रूपमप्रतिरूपं निरूप्य स्मरपरवशोन्तर्ह्रदवासी शेषो नाम नागराजो ह्रदान्निर्गत्य विहित-मनुष्यवपुस्तया सह बलादपि सम्भोगकेलिमकलयत्। भवितव्यताविलसितेन तस्याः सप्त-धातुरहितस्यापि तस्य दिव्यशक्त्या शुक्रपुद्गलसंचारात् गर्भाधानमभवत्। स्वकुलनामधेयं प्रकाश्य व्यसनसंकटे मां स्मरेरित्यभिधाय च नागराजः पातालोकमगमत्। सा च स्वगृहं प्रत्यगच्छत्। [प्रबन्धकोश, सातवाहनप्रबन्ध, पृ० ६८]

किसी देश पर आक्रमण करते तो टिड्डी दल की तरह तूफानी आक्रमण करते थे। उनके स्वभाव में स्वेच्छाचारिता और अहं का आधिक्य होने के कारण उनका शासन बड़ा ही कर्कश और उनके द्वारा विजित राष्ट्र पर किये जाने वाले अत्याचार बड़े ही लोमहर्षक होते थे। ईरान की जनता शकों की दासता से मुक्त होने के लिये स्वल्पकाल में ही छटपटाने लगी। ईरान के प्राचीन राजवंश ने ईरान से शकों के शासन को समाप्त करने का बीड़ा उठाया और वहां के शाह ने एक लम्बे संघर्ष के पश्चात् शकों की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर ईरान में एक सशक्त साम्राज्य की स्थापना की। ईरान में अपने प्रति भीषण असंतोष और प्रतिकार की भावना की तीव्र लहर देखकर शकों ने भारत के सिन्ध प्रदेश की ओर अपना सैनिक अभियान किया और उन्हें सिन्ध के कुछ भाग पर अधिकार करने में सफलता भी मिल गई।

उन्हीं दिनों अपनी बहिन सरस्वती साध्वी को गर्दभिल्ल के अन्तःपुर से मुक्त कराने के प्रश्न को लेकर कालकाचार्य द्वितीय ने सिन्ध के शकों की सहायता प्राप्त की और कालकाचार्य के बुद्धिकौशल एवं भड़ौंच के शासक बलमित्र भानुमित्र की सहायता से शकों ने गर्दभिल्ल को परास्त कर अवन्ती राज्य पर अधिकार कर लिया। अवन्ती राज्य पर शकों का शासन कठिनाई से चार वर्ष ही चल पाया था कि गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों को पराजित कर अवन्ती राज्य पर पुनः अधिकार कर लिया।

यह भी पहले बताया जा चुका है कि वीर नि० सं० ५३० में महाराज विक्रमादित्य की मृत्यु के अनन्तर शकों ने पुनः भारत पर प्रवल आक्रमण प्रारम्भ किये और उन्होंने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों के अनेक भागों पर अधिकार कर लिया। उन्हीं दिनों पार्थियन जाति के विदेशी आक्रान्ता भी ईरान होते हुए भारत में आये। पार्थियन राजा गोंडोफरनीज ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया। उसने अपने राज्य की सीमा में उल्लेखनीय अभिवृद्धि की और अनेक प्रदेशों में अपनी क्षत्रपियां स्थापित की।

सातवाहनवंशी राजा पुलोमावि (प्रथम) के शासनकाल में पश्चिमी क्षत्रपों के वंश के संस्थापक चष्टन का प्राबल्य बढ़ा। उसने पुलोमावि के राज्य के कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर उज्जयिनी पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। चष्टन के पौत्र रुद्रदामा ने अपनी पुत्री का विवाह पुलुमावि के साथ किया। कुछ काल पश्चात् किसी कारणवश श्वसुर जामाता के बीच युद्ध ठन गया। उस युद्ध में पुलुमावि का पराजय ने और रुद्रदामा का विजयश्री ने वरण किया।

शकों की बढ़ती हुई शक्ति को प्रतिष्ठान के सातवाहनवंशी शासकों ने समय समय पर क्षीण करने का प्रयास किया।

वीर नि० सं० ५५२ के आसपास यूची जाति के विदेशी कुषाणों ने भारत में बढ़ते हुए पार्थियन जाति के विदेशियों को पराजित कर अफगानिस्तान और

पंजाब के कतिपय क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। शकों एवं पार्थियन लोगों की तरह कुषाणों ने भी भारतीय संस्कृति और भारतीय धर्मों को अपनाया। उन लोगों ने अपने नाम तक भारतीय पद्धति के अनुरूप रखे और उनमें से प्रायः सभी ने बौद्ध, हिन्दू, शैव, जैन और भागवत धर्मों को अपना लिया। शकराज रुद्रदामा भारतीय भाषाओं तथा व्याकरण एवं तर्कशास्त्र का अपने समय का एक माना हुआ विद्वान् था। उसने चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा निर्मित सुदर्शन झील पर बहुत बड़ी धनराशि व्यय करके उसका जीर्णोद्धार करवाया।

वीर नि० सं० ५६५ से ६०५ तक नहपान नामक एक शक महाक्षत्रप का भारत के पश्चिमी एवं अनेक दक्षिणी भागों पर शासन रहा। नहपान ने भृगुकच्छ, सौराष्ट्र, गुजरात आदि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर प्रतिष्ठान की ओर प्रयाण किया। उस समय प्रतिष्ठान पर गौतमीपुत्र सातकर्णि का शासन था। गौतमीपुत्र ने नहपान की बढ़ती हुई सेनाओं को रोका। दोनों सेनाओं के बीच बड़ा भीषण युद्ध हुआ। कड़े संघर्ष के पश्चात् गौतमीपुत्र सातकर्णि ने रणस्थल में नहपान को मौत के घाट उतार दिया। गौतमीपुत्र सातकर्णि ने भारत से शकों के शासन का अन्त कर शकारि विक्रमादित्य की उपाधि धारण की और इस विजय के उपलक्ष में उसने वीर निर्वाण संवत् ६०५ में शाक-संवत्सर की स्थापना की।[1]

सातवाहनवंशी राजाओं में से कुछ राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किये, इस प्रकार के शिलालेख उपलब्ध होते हैं। अनेक इतिहासविदों का अभिमत है कि सातवाहनवंशी राजाओं के समय में हिन्दू धर्म का उत्कर्ष हुआ। दूसरी ओर जैन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि सातवाहनवंशी राजाओं में से कतिपय जैन थे।[2]

शालिवाहन शाक-संवत्सर – इस पद में शाक शब्द को देखकर कतिपय साधारण लोगों को सहज ही भ्रम होना संभव है कि क्या यह संवत्सर किसी विदेशी शक राजा के द्वारा चलाया हुआ संवत्सर है? वस्तुतः यहां शाक शब्द शक्ति का द्योतक है।[3] शालिवाहन शाक-संवत्सर का शाब्दिक अर्थ है – शालिवाहन द्वारा चलाया गया शक्ति-संवत्सर। प्रायः सभी प्रामाणिक शब्दकोशों में "शाक"

---

[1] (क) सातवाहनोऽपि क्रमेण दक्षिणापथमनृणं विधाय तापीतीरपर्यन्तं चोत्तरापथं साधयित्वा स्वकीय संवत्सरं प्रावीवृतत्। [प्रबन्धकोश पृ० ६८]

(ख) इत्थं य पणहिय छसएसु सागसंवच्छरुप्पत्ती ॥ [विचारश्रेणी]

(ग) श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षं, षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः।
शाकसंवत्सरस्यैषा, प्रवृत्तिर्भरते ऽभवत् ॥ [वही]

[2] (क) जैनश्च समजनि। [प्रबन्धकोश, पृ० ६८]

(ख) प्रस्तुत ग्रन्थ में कालकाचार्य (द्वितीय) का प्रकरण।

[3] शाक – m. power, might, help, aid. – Samvatsara – for any era. [Sanskrit-English Dictionary—by Sir Monier Movier Williams.]

कम से कम रजोहरण और मुखवस्त्रिका – ये दो उपकरण रखते हैं। इस तरह ३ से लेकर १२ उपधि तक के अन्य ७ विकल्प बताये गये हैं।

इस प्रकार जिनकल्प का वर्णन सुन कर शिवभूति ने कहा – "यदि ऐसा है तो आज औधिक और औपग्रहिक के नाम से इतने उपकरण क्यों रखे जाते हैं ?"

आचार्य ने कहा – "जम्बूस्वामी के निर्वाणानन्तर संहनन की मन्दता से जिनकल्प परम्परा विच्छिन्न मानी गई है।"

शिवभूति अपने रत्नकम्बल के हरण से खिन्न तो था ही, उसने कहा – "महाराज ! मेरे जीते जी जिनकल्प का विच्छेद नहीं होगा। परलोकार्थी को भय-मूर्छा और कषाय बढ़ाने वाले संपूर्ण परिग्रह से दूर ही रहना चाहिये।"

गुरू ने कहा – "वत्स! वस्त्र आदि उपकरण एकान्ततः कषायवृद्धि के कारण नहीं हैं। शरीर की तरह ये वस्त्र आदि उपकरण धर्म में सहायक भी होते हैं। जिस प्रकार धर्म-साधन के लिए ममता-मूर्च्छा रहित होकर शरीर धारण किया जाता है, उसी प्रकार वस्त्र आदि आवश्यक उपकरण भी धर्म-साधन की भावना से रखना अनुचित नहीं है। बिना किसी प्रकार की ममता-मूर्च्छा के इन्हें केवल साध्य की सिद्धि के लिए उपकरण मात्र समझ कर रखना चाहिये।"

इस प्रकार आचार्य ने उसे प्रमाणपुरस्सर अनेक युक्तियों से समझाया पर शिवभूति अपने आग्रह पर डटा रहा और उसने वस्त्रादि सभी उपकरणों का परित्याग कर नग्नत्व स्वीकार कर लिया। वह अपने गुरू और साधु परिवार से अलग नगर के बाहर एक उद्यान में रहने लगा। शिवभूति की उत्तरा नाम की एक बहिन भी अपने भाई का अनुगमन कर दीक्षित हो गई। पर उसने फिर वस्त्र धारण कर लिया।

इस प्रकार शिवभूति, जिनको सहस्रमल्ल भी कहते हैं, उनसे श्वेताम्बर परम्परानुसार दिगम्बर मत की उत्पत्ति मानी गई है। शिवभूति के कोण्डिन्य और कोट्टवीर नामक दो शिष्य हुए और इस प्रकार शिवभूति से बोटिक मत की परम्परा चली।[1]

श्वेताम्बर परम्परा के सभी ग्रंथों में प्रायः ऐसा ही मिलता-जुलता उल्लेख है। श्वेताम्बर परम्परा में जिस प्रकार वीर नि० सं० ६०६ में दिगम्बर मत की उत्पत्ति बताई गई है, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में वीर नि० सं० ६०६ में सेवडसंघ-श्वेतपट संघ (श्वेताम्बर संघ) की उत्पत्ति की बात कही गई है।

---

[1] (क) रहवीरपुरं नगरं, दीवगमुज्जाणमज्जकण्हे य।
सिवभूइस्सुवहिम्मि, पुच्छा थेराण कहणा य ॥२५५१॥
बोडिय सिवभूईओ, बोडियलिंगस्स होइ उप्पत्ति।
कोडिन्न-कोट्टवीरा, परम्पराफासमुप्पन्ना ॥२५५१॥
[विशेषावश्यक भाष्य, वृ० वृ०, पृ० १०२०]

(ख) आवश्यक चूर्णि-उपोद्घात निर्युक्ति, पृ० ४२७-२८

भावसंग्रह के रचनाकार देवसेनसूरि ने लिखा है – "विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र की वल्लभी नगरी में श्वेतपट-श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई।"[1]

देवसेन सूरि ने इस सम्बन्ध में विशेष परिचय देते हुए लिखा है – "विक्रम की दूसरी शताब्दी में निमित्त ज्ञानी भद्रबाहु ने अपने श्रमणसंघ से कहा कि निकट समय में ही १२ वर्ष का दुर्भिक्ष होने वाला है अतः आप लोग अपने संघ के साथ देशान्तर में चले जायं। सभी गणधर भद्रबाहु के वचनानुसार अपने-अपने साधु-समुदाय को लेकर दक्षिण की ओर विहार कर गये पर शान्ति नाम के एक आचार्य ने अपने बहुत से शिष्यों के साथ सौराष्ट्र प्रदेश की वल्लभी नगरी की ओर प्रस्थान किया, जहां उन्हें भयंकर दुष्काल का सामना करना पड़ा। वल्लभी में घोर दुष्काल के कारण ऐसी बीभत्स स्थिति उत्पन्न हो गई कि क्षुधातुर रंक लोग दूसरों के पेट चीर-चीर कर उसमें से सद्यःभुक्त अन्न निकाल कर अपनी भूख की ज्वाला मिटाने लगे। तत्कालीन भयङ्कर स्थिति से विवश होकर आचार्य शान्ति के साधु दण्ड, कम्बल, पात्र और आवरण हेतु वस्त्र धारण करने लगे। वे वसतियों में इच्छानुसार जाकर और वहां गृहस्थों के घर बैठ कर भोजन करने लगे।

जब दुष्काल समाप्त हुआ तो आचार्य शान्ति ने संघ के सभी साधुओं को सम्बोधित कर कहा – "अब सुभिक्ष हो गया है अतः इस हीन आचार को छोड़ दो और दुष्कर्म की आलोचना कर सच्चे श्रमणधर्म को ग्रहण करो।"

इस पर उनके शिष्यों ने कहा – "उस प्रकार के कठोर आचार आज कौन पाल सकता है? इस समय हम लोगों ने जो मार्ग ग्रहण किया है, वस्तुतः यह सुखकर है अतः इसको छोड़ना हमारे लिए सम्भव नहीं।"

जब आचार्य शांति ने अधिक कहा तो उनके मुख्य शिष्य ने उनके सिर पर डण्डे से भरपूर प्रहार किया। उससे आचार्य शान्ति की तत्काल मृत्यु हो गई और वे व्यन्तर रूप से उत्पन्न हुए।"[2]

भावसंग्रह में आचार्य देवसेन ने शान्त्याचार्य के शिष्य जिनचन्द्र से ही श्वेतपट्ट संघ की उत्पत्ति बताई है।

रत्ननन्दी के "भद्रबाहु चरित्र" में और हरिषेण के "बृहत्कथाकोष" में भी थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का कुछ इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। वहां स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र के साधु से श्वेताम्बर मत के प्रचलित होने की बात कही गई है।

बृहत्कथाकोष में बताया गया है कि दुर्भिक्ष के समय श्रुतकेवली भद्रबाहु की आज्ञानुसार कुछ साधु विशाखाचार्य के साथ दक्षिण के पुन्नाट प्रदेश में चले गये

---

[1] छत्तीसे वरिससए, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडो संघो हु वल्लहीए ॥५२॥ [भावसंग्रह]

[2] भावसंग्रह, गा० ५३ से ६८

तथा रामिल्ल, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र अपने-अपने साधुसंघ के साथ सिन्धु प्रदेश की ओर गये। रामिल्ल आदि को भयंकर दुष्काल का सामना करना पड़ा। वे श्रद्धालु श्रावकों के आग्रह से भिखारियों के संकट से बचने के लिए वहां रात्रि में भिक्षा लेने जाते और उसे दिन में खा लिया करते थे। श्रावकों की प्रार्थना से वे बांयें स्कन्ध पर एक वस्त्र भी रखने लगे। दुष्काल के पश्चात् दोनों ओर के श्रमरणसंघों का मध्यप्रदेश में पुनः मिलन हुआ। उस समय रामिल्ल, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र ने तो भवभ्रमरण के भय से त्रस्त हो वस्त्र का त्याग कर निर्ग्रन्थ रूप धारण कर लिया।[1] पर कुछ साधु जो कष्ट सहने से घबराते थे, उन्होंने जिनकल्प और स्थविरकल्प की कल्पना कर निर्ग्रन्थ परम्परा से विपरीत स्थविर कल्प को प्रचलित किया।[2] इसमें यह नहीं बताया गया है कि स्थूलाचार्य आदि आचार्यों में से किस आचार्य के किस शिष्य से श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति हुई।

रत्ननन्दी ने अपने "भद्रबाहु चरित्र" में अर्द्धफालक मत से श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति बताई है। उनके अनुसार वल्लभीपुर के महाराज लोकपाल ने महारानी चन्द्रलेखा की प्रार्थना पर उज्जयिनी में विराजमान उसके गुरू जिनचन्द्र को वल्लभी बुलवाया। जिनचन्द्र के शरीर पर मात्र एक वस्त्र देख कर वल्लभी नरेश असमंजस में पड़ गया और उन्हें बिना वन्दन-नमन किये ही अपने राज-प्रासाद की ओर लौट गया। तव रानी ने अपने पति के भावों को समझ कर जिनचन्द्र मुनि के पास वस्त्र भेज कर उन्हें वस्त्र धारण करने की प्रार्थना की। साधुओं द्वारा वस्त्रधारण की वात सुन कर राजा ने भक्तिसहित उनका पूजन किया। उसी दिन से श्वेत वस्त्र धारण करने के कारण अर्द्धफालक मत श्वेताम्बर मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ और यह श्वेताम्बर मत विक्रम नृपति की मृत्यु से १३६ वर्ष पश्चात् प्रचलित हुआ।[3]

---

[1] रामिल्लः स्थविरः स्थूलभद्राचार्यस्त्रयोऽप्यमी।
महावैराग्य सम्पन्ना, विशाखाचार्यमाययुः ॥६५॥
त्यक्त्वार्द्धकर्पटं सद्यः, संसारात्त्रस्तमानसाः।
नैर्ग्रन्थ्यं हि तपः कृत्वा मुनिरूपं दधुस्त्रयः ॥६६॥
[वृहत्कथाकोष, कथानक १३१, पृ० ३१८, ३१९]

[2] इष्टं न यैर्गुरोर्वाक्यं, संसारार्णवतारकम्।
जिनस्थविरकल्पं च, विधाय द्विविधं भुवि ॥६७॥
अर्द्धफालकसंयुक्तमज्ञातपरमार्थकैः।
तैरिदं कल्पितं तीर्थं, कातरैः शक्तिवर्जितैः ॥६८॥ [वही]

[3] धृतानि श्वेतवासांसि, तद्दिनात्समजायत।
श्वेतांवरमतं ख्यातं, ततोऽर्द्धफालकमतात् ॥५४॥
मृते विक्रमभूपाले, षट्त्रिंशदधिके शते।
गतेऽब्दानामभूल्लोके, मतं श्वेताम्बराभिधम् ॥५५॥
[भद्रबाहु चरित्र, (रत्ननन्दीकृत) ४ परिच्छेद]

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों भावसंग्रह, वृहत्कथाकोष और रत्ननन्दी के भद्रबाहु चरित्र – इन तीनों में भिन्न-भिन्न प्रकार से श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है।

श्वेताम्बर परम्परा में बोटिक मत (दिगम्बर मत) की उत्पत्ति के वर्णन में विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि और स्थानांग आदि में मूल घटना की पूर्णरूपेण समानता और वैषम्यरहित मनःस्थिति का परिचय मिलता है, जबकि दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में विविधरूपता व विषम मनस्थिति की प्रतिध्वनि प्रकट होती है।

दोनों परम्पराओं के ग्रंथों के एतद्विषयक उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि वीर नि० सं० ६०६ अथवा ६०९ के लगभग श्वेताम्बर-दिगम्बर का सम्प्रदाय-भेद प्रकट हुआ।

दिगम्बर परम्परा में संघभेद

श्वेताम्बर परम्परा में चन्द्र, नागेन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर – ये चार शाखाएं और विविध कुल प्रकट हुए। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी काष्ठा संघ, मूल संघ, माथुर संघ और गोप्य संघ आदि अनेक संघ तथा नन्दीगण, बलात्कार गण एवं शाखाओं के उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

दिगम्बर परम्परा के साहित्यकारों का ऐसा मंतव्य है कि भगवान् महावीर के निर्वाणानन्तर आचार्य अर्हद्बलि तक मूलसंघ अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। परन्तु वीर नि० सं० ५९३ में[1] जब आचार्य अर्हद्बलि ने पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण के अवसर पर महिमा नगर में एकत्रित किये गये महान् यति – सम्मेलन में आचार्यों एवं साधुओं में अपने २ शिष्यों के प्रति कुछ पक्षपात देखा तो उन्होंने मूल संघ को अनेक भागों में विभाजित कर दिया। तत्पश्चात् मूलसंघ के वे सब भाग स्वतंत्र रूप से अपना-अपना पृथक् अस्तित्व रखने लगे। उन्होंने उस समय जिन संघों का निर्माण किया, उनमें से कतिपय के नाम इस प्रकार हैं :–

१. नन्दिसंघ	६. भद्र संघ
२. वीर संघ	७. गुणधर संघ
३. अपराजित संघ	८. गुप्त संघ
४. पंचस्तूप संघ	९. सिंह संघ
५. सेन संघ	१०. चंद्र संघ इत्यादि[3]

[1] यही समय आर्य रक्षित का भी है। [सम्पादक]

[2] यह सम्मेलन मुख्य रूप से किस उद्देश्य को लेकर किया गया, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता [सम्पादक]

[3] धवला, भाग १, पृ० १४

दिगम्बर परम्परा के कतिपय मान्य ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनमें वताया गया है कि भिन्न-भिन्न समय में होने वाले अनेक संघों में से कतिपय संघों में शिथिलाचार व्याप्त हो गया अत: उन संघों की जैनाभासों में गणना की जाने लगी। आचार्य देवसेन ने इस प्रकार के पांच संघों की उत्पत्ति का उल्लेख किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं:–

१. द्राविड़ संघ, २. यापनीय संघ, ३. काष्ठा संघ, ४. माथुर संघ और ५. भिल्लक संघ।

आचार्य नंदि ने अपने नीतिसार नामक ग्रन्थ में १. गोपुच्छक, २. श्वेताम्बर, ३. द्राविड़, ४. यापनीय, ५. निष्पिच्छिक – ये ५ जैनाभास बताये हैं।[1]

इनमें गोपुच्छक अर्थात् काष्ठा संघी और निष्पिच्छिक-माथुर संघी ये, दोनों देवसेन के अनुसार जैनाभासी कहे गये हैं। परन्तु प्रेमीजी के अनुसार इनका मूल संघ से अधिक पार्थक्य नहीं है, जिससे कि उनको जैनाभासी कहा जा सके।

सब संघों का परिचय दिया जाना कठिन होने के कारण यहाँ केवल उन्हीं संघों का उल्लेख किया जा रहा है, जिनकी कि शास्त्रीय उल्लेखों (दि. प. के ग्रन्थों) के आधार पर खोज हो सकती है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार उनके नाम इस प्रकार हैं:–

१. अनन्तकीर्ति संघ, २. अपराजित संघ, ३. काष्ठा संघ, ४. गुणधर संघ, ५. गुप्त संघ, ६. गोपुच्छ संघ, ७. गोप्य संघ, ८. चन्द्र संघ, ९. द्राविड़ संघ १०. नंदी संघ, ११. नंदीतट संघ, १२. निष्पिच्छिक संघ, १३. पंचस्तूप संघ, १४. पुन्नाट संघ, १५. बागड़ संघ, १६. भद्र संघ, १७. भिल्लक संघ, १८. माघनन्दि संघ, १९. माथुर संघ, २०. यापनीय संघ, २१. लाडवागड़ संघ, २२. वीर संघ, २३. सिंह संघ, और २४. सेन संघ।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार मूल संघ में से ही उत्तरोत्तर अन्य सर्व संघों की उत्पत्ति मानी गई है। अतः मूल संघ को भिन्न न मान कर सामान्य दिगम्बर संघ का नाम ही वताया गया है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् वीर के पश्चात् ३८३ वर्ष की आगम-प्रसिद्ध आचार्य परम्परा वताई गई है।

वीर नि० सं० ३८३ के पश्चात् ५६५ तक के आचार्यों का उल्लेख नहीं मिलता। ३८३ के पश्चात् ५९४ में संघ-विभाजन किस प्रकार हुआ और आगे की आचार्य परम्परा किस रूप में चली, इसे वताने के लिए एक काल्पनिक वृक्ष वना कर वताया गया है। उसमें सर्व प्रथम वीर नि० की छठी सातवीं शताव्दी के आचार्य माघनन्दी, धरसेन और गुणधर के नाम दिये गये हैं। इनका काल वीर नि० सं० ५६५ से ६७३ तक का माना गया है।

आचार्य अर्हद्वलि ने वीर नि० सं० ५९३ में मूल संघ से जिन संघों का विभाजन किया, उनके अतिरिक्त भी उत्तर काल में कई संघ प्रकट हुए और

[1] गोपुच्छकः श्वेतवासा, द्रविडो, यापनीय निष्पिच्छश्चेति पंच जैनाभासाः। [नीतिसार]

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी शाखाओं और कुलों का काफी विस्तार फैला। श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा के आचार्यों की क्रमिक पट्ट-परम्परा और आगमवाचना का स्पष्ट परिचय उपलब्ध नहीं होता। संभव है इस प्रकार का, क्रमिक पट्ट-परम्परा के लेखन का प्रयास ही नहीं हुआ हो।

यापनीय संघ

वर्तमान समय में जैन समाज में श्वेताम्बर और दिगम्बर – ये दो सम्प्रदाय ही मुख्य रूप से प्रसिद्ध हैं पर पूर्व काल में 'यापनीय संघ' नामक एक तीसरा सम्प्रदाय भी भारतवर्ष में एक बड़े संघ के रूप में विद्यमान था। इस तथ्य को सिद्ध करने वाले अनेक पुष्ट प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। यापनीय संघ किस समय अस्तित्व में आया, इस संघ का आदि संस्थापक कौन था तथा इसका अस्तित्व किन परिस्थितियों में, किस समय उठ गया, इस विषय में पुष्ट प्रमाणों के अभाव के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी यापनीय संघ के सम्बन्ध में यत्र-तत्र जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विक्रम की दूसरी शताब्दी से चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक 'यापनीय संघ' जैन धर्म के एक सम्प्रदाय के रूप में आर्यधरा पर विद्यमान रहा। यापनीय संघ के आपुलीय संघ और गोप्य संघ – इन दो और नामों का भी उल्लेख मिलता है।

यापनीय संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जहां कतिपय श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि दिगम्बर सम्प्रदाय से यापनीय संघ की उत्पत्ति हुई, वहां 'भद्रबाहु चरित्र' के रचनाकार आचार्य रत्ननन्दी ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय से इसकी उत्पत्ति होना बताया है।

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य मलधारी राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'षड्दर्शन-समुच्चय' में गोप्य संघ अर्थात् यापनीय संघ को दिगम्बर परम्परा का एक भेद बताते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है :-

दिगम्बराणां चत्वारो, भेदा नाग्न्यव्रतस्पृशः।
काष्ठासंघो मूलसंघः, संघौ माथुरगोप्यकौ ॥२१

आचार्य रत्ननंदी ने 'भद्रबाहु चरित्र' में उल्लेख किया है कि विक्रम संवत् १३६ (वीर नि. सं. ६०६) में सौराष्ट्र के वल्लभी नगर में श्वेताम्बरों की उत्पत्ति हुई[१] और कालान्तर में श्वेताम्बरों से करहाटाक्ष नगर में यापनीय संघ की उत्पत्ति हुई।[२]

---

[१] मृते विक्रम भूपाले, षट्त्रिंशदधिके शते।
गतेऽब्दानामभूल्लोके, मतं श्वेताम्बराभिधम् ॥५५॥ [भद्रबाहुचरित्र, रत्ननंदी, ४ परिच्छेद]

[२] तदातिवेलं भूपाद्यैः, पूजिता मानिताश्च तैः।
धृतं दिग्वाससां रूपमाचारः सितवाससाम् ॥१५३॥
गुरु शिक्षातिगं लिंगं, नटवद् भण्डिमास्पदम्।
ततो यापनसंघोऽभूत्तेषां कापथवर्तिनाम् ॥१५४॥ [वही]

दिगम्बराचार्य देवसेन ने 'दर्शनसार' नाम की अपनी छोटी-सी पुस्तक में श्रीकलश नामक श्वेताम्बर आचार्य से विक्रम सं० २०५ में यापनीय संघ की उत्पत्ति होने का उल्लेख इस प्रकार किया है :-

कल्लाणे वरणयरे, दुण्णिसए पंच उत्तरे जादे ।
जावणिय संघ भावो, सिरिकलसादो हु सेवड़दो ।।२९।।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय जैन श्रमणसंघ श्वेताम्बर और दिगम्बर रूप में विभक्त हुआ, लगभग उसी समय में यापनीय संघ का भी मध्यममार्गावलम्वी-समन्वयवादी परम्परा के रूप में प्रादुर्भाव हुआ हो । दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार श्वेताम्बर दिगम्बर भेद के ६९ वर्ष पश्चात् यापनीय संघ की उत्पत्ति मानी गई है । स्व० श्री नाथूराम 'प्रेमी' ने तीनों परम्पराओं की एक ही समय में उत्पत्ति होने की संभावना प्रकट करते हुए अपने ग्रन्थ – 'जैन साहित्य और इतिहास' में लिखा है – "यदि मोटे तौर पर यह कहा जाय कि ये तीनों ही सम्प्रदाय लगभग एक ही समय के हैं, तो कुछ बड़ा दोष न होगा । विशेष कर इसलिए कि संप्रदायों की उत्पत्ति की जो तिथियां बताई जाती हैं, वे बहुत सही नहीं हुआ करतीं ।"[1]

यापनीय शब्द के अर्थ सम्वन्धी सभी पहलुओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर भी इस प्रश्न का कोई संतोषप्रद संगत उत्तर नहीं मिलता कि इस संघ का नाम 'यापनीय संघ' किस अभिप्राय से रखा गया । इस सम्वन्ध में पन्यास श्री कल्याणविजयजी का अभिमत ही तर्कसंगत प्रतीत होता है । मुनिश्री ने अपने ग्रन्थ 'पट्टावली पराग संग्रह' में लिखा है कि जिस प्रकार मरुधरा के यति परस्पर मिलते एवं विछुड़ते समय 'मत्थएण वंदामि' कहकर एक-दूसरे का अभिवादन करते थे, इस कारण यतिसमूह का नाम ही जनसाधारण द्वारा 'मत्थेरण' रख दिया गया तथा वर्ष में एक बार लुंचन करने वाले साधु समुदाय का – कूर्चिक की तरह उनकी वढ़ी हुई दाढ़ी-मूछ देखकर कूर्चिक नाम रख दिया गया, ठीक उसी प्रकार यापनीयों द्वारा गुरुवन्दन के समय 'जावणिज्जाए' शब्द का कुछ उच्च स्वर में प्रयोग किये जाने के फलस्वरूप संभवत: जनसाधारण ने उस साधुसमूह का नाम यापनीय रख दिया हो ।

यद्यपि आज भारतवर्ष में यापनीय संघ का कहीं अस्तित्व नहीं है और न इस संघ का कोई अनुयायी ही है, तथापि उपलब्ध अनेक उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि भारत में लगभग बारह सौ – तेरह सौ वर्षों तक एक प्रमुख धर्म-संघ के रूप में रहे हुए यापनीय संघ का सर्वांगपूर्ण साहित्य विद्यमान था । आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ 'ललित विस्तरा' में यापनीयतन्त्र का उल्लेख किया है, इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि यापनीयों का अपना समृद्ध साहित्य किसी समय यहां विद्यमान था ।

[1] जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५६ ।

यापनीय आचार्य शाकटायन अपरनाम 'पाल्यकीर्ति' द्वारा रचित 'अमोघवृत्ति', 'स्त्रीमुक्ति-प्रकरण', 'केवलि-भुक्ति प्रकरण', यापनीय आचार्य अपराजित द्वारा भगवती 'आराधना' पर लिखी गई विजयोदया टीका आदि ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। स्वर्गीय दिगम्बर विद्वान् श्री नाथूराम प्रेमी ने भगवती 'आराधना' के रचयिता शिवार्य को यापनीय आचार्य और उनकी रचना भगवती 'आराधना' को प्रमाण पुरस्सर यापनीय संघ का धर्मग्रन्थ सिद्ध करते हुए लिखा है कि मूलाराधना की अनेक गाथाएं दिगम्बर मान्यता से मेल नहीं खातीं और उसमें उद्धृत कल्पव्यवहार आदि श्रुतशास्त्र, अधिकांश गाथाएं एवं मेतार्य मुनि का आख्यान उसी रूप में दिये गये हैं, जिस रूप में कि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य हैं।[1]

शाकटायन की अमोघवृत्ति में दिये गये अनेक उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि यापनीय संघ श्वेताम्बरों के आगमग्रन्थों, आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति, दशवैकालिक आदि को अपने प्रामाणिक धर्मग्रन्थ मानता था।[2]

यापनीय आचार्य अपराजित ने जिस प्रकार अपने यापनीय सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थ भगवती 'आराधना' पर 'विजयोदया' नाम की टीका की रचना की, उसी प्रकार उन्होंने 'दशवैकालिक' सूत्र पर भी 'विजयोदया' नाम की टीका की रचना की थी। इसका उल्लेख स्वयं अपराजित ने भगवती 'आराधना' की गाथा संख्या ११९७ की अपनी 'विजयोदया' टीका में निम्नलिखित शब्दों में किया है :-

'दशवैकालिक टीकायां श्री विजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादि दोषा इति नेह प्रतन्यते' – अर्थात् उद्गमादि दोषों का दशवैकालिक की टीका में वर्णन कर दिया गया है अतः यहां पिष्टपेषण नहीं किया जा रहा है। यापनीय आचार्य अपराजित का ही दूसरा नाम विजयाचार्य था और उन्होंने ही भगवती 'आराधना' तथा दशवैकालिक की 'विजयोदया' टीकाएं लिखीं, इस बात की पुष्टि पं० आशाधर द्वारा 'अनगार प्राभृत टीका' के पृष्ठ ६७३ पर लिखे गये इस वाक्य से होती है :- 'एतच्च श्रीविजयाचार्यविरचितसंस्कृतमूलाराधनटीकायां सुस्थितसूत्रे विस्तरतः समर्थितं दृष्टव्यम्।"

इन सब उल्लेखों से सिद्ध होता है कि यापनीय संघ भी आचारांगादि उन सभी आगमों को अपने धर्मग्रन्थों के रूप में मानता था, जो श्वेताम्बर परम्परा में मान्य हैं और जिन्हें दिगम्बर परम्परा विलुप्त हुआ मानती है। उपरोक्त तथ्यों से यह भी अनुमान किया जाता है कि यापनीय आचार्यों ने दशवैकालिक की तरह अन्य आगमों पर भी टीकाओं की रचनाएं की होंगी। अपराजित ने स्थान स्थान

---

[1] जैन साहित्य और इतिहास (श्री नाथूराम प्रेमी), पृ. ६८ से ७३

[2] (क) एतमावश्यकमध्यापय। इममावश्यकमध्यापय। [अमोघवृत्ति १-२-२०३-४]
(ख) भवता खलु छेद-सूत्रं वोढव्यम्। निर्युक्तीरधीष्व निर्युक्तीरधीते।
[वही ४-४-११३-४०]
(ग) कालिकसूत्रस्यानध्यायदेशकालाः पठिताः। [वही ३-२-४७]
(घ) अथो क्षमाश्रमणैस्ते ज्ञानं दीयते [वही १-२-२०१]

पर अपने पक्ष की पुष्टि में आचारांग, उत्तराध्ययन आदि श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगमों के उद्धरण प्रमाण के रूप में दिये हैं[1], इससे इस बात में किंचित्-मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता कि यापनीय संघ आचारांगादि आगमों को अपने प्रामाणिक धर्मग्रन्थ मानता था।

यापनीयों की मान्यताओं के सम्बन्ध में दर्शनप्राभृत की टीका में श्रुतसागर ने लिखा है – "यापनीयास्तु वेसरा इव उभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलिजिनानां कवलाहारं परशासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति।"

षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्न ने यापनीयों के सम्बन्ध में लिखा है – "यापनीय संघ के मुनि नग्न रहते हैं, मोर की पिच्छी रखते हैं, पाणितल भोजी हैं, नग्न मूर्तियों की पूजा करते हैं तथा वन्दना करने पर श्रावकों को 'धर्मलाभ' कहते हैं।"

आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ ललितविस्तरा में यापनीयतन्त्र का एक उद्धरण दिया है। यद्यपि आज 'यापनीय-तन्त्र' कहीं उपलब्ध नहीं पर उस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि आगमों के अतिरिक्त यापनीय संघ का एक ऐसा ग्रन्थ भी पूर्वकाल में विद्यमान था, जिसमें यापनीय संघ की मुख्य-मुख्य मान्यताओं को सहजसुबोध प्राकृत भाषा में संकलित किया गया था। वह उद्धरण इस प्रकार है :–

---

[1] (क) अथैवं मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टं तत्कथं ?

(ख) आचार प्रणिधौ भणितं।

(ग) प्रतिलेखेत्पात्रकम्बलं ध्रुवमिति असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते ?

(घ) आचारस्यापि द्वितीयाध्ययनो लोकविचयोनाम, तस्य पंचमे उद्देशे एवमुक्तम् – "पडिलेहणं पादपुंछणं उग्गहं कदासणं अण्णदरं उवधिं पावेज्ज।

(ङ) वत्थेसणाए वुत्तं तत्थ एसे हिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज, पडिलेहणं विदियं। एत्थ एसे जुग्गिदे देसे दुवे वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं तिदियं। एत्थ एसे परिस्सहं अणधिहासस्स तगो वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थं।

(च) पुनश्चोक्तं तत्रैव – "आलावुपत्तं वा दारुगपत्तं वा मट्टिगपत्तं वा अप्पपाणं अप्पबीजं अप्पसरिदं तहा अप्पाकारं पात्रलाभे सति पडिग्गहिसामीति" वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते ?

(छ) वरिसं चीवरधारी तेन परमचेलगो जिणो।

(ज) ण कहेज्ज धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुमिदि।

(झ) कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिगं लहुगं इदि।

(ञ) द्वितीयमपि सूत्रं कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकं आचारांगे विद्यते – "अह पुण एवं जाणेज्ज – पातिकंते हेमंतेहिं सुपडिवण्णे से अथ पडिजुण्णमुवधिं पदिट्ठा-वेज्ज।"

[भगवती 'आराधना' की गाथा सं० ४२७ की अपराजित द्वारा रचित विजयोदया टीका]

"स्त्रीमुक्तौ यापनीयतन्त्रप्रमाणम् – यथोक्तं यापनीयतन्त्रे – "णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभव्वा, ण यावि दंसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारि(य) उप्पत्ती, णो असंखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णो ण उवसन्तमोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोंदी, णो ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरण विरोहिणी, णो णवगुणट्ठाणरहिया, णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाण भायणं त्ति कहं न उत्तमधम्मसाहिगत्ति। [ललित विस्तरा, पृ० ४०२]

यापनीय संघ का कर्नाटक और उसके अड़ोस-पड़ोस के क्षेत्रों में बड़ा प्रभाव था। इस तथ्य की कदम्बवंश एवं अन्य राजवंशों के राजाओं द्वारा ई० सन् ४३५-४७५ के आसपास यापनीय संघ को दिये गये भूमिदान के दानपत्र साक्षी देते हैं।[1]

यापनीय संघ का जो थोड़ा बहुत परिचय विभिन्न ग्रन्थों से उपलब्ध होता है, उससे यह प्रमाणित होता है कि यह संघ पूर्वकाल में एक प्रभावशाली संघ रहा है। कागवाड़ा जैनमंदिर के भौहरे में विद्यमान शक सं० १३१६ (वि० सं० १४५१) के शिलालेख में यापनीय आचार्य नेमिचन्द्र को 'तुलुवराज्यस्थापनाचार्य' की पदवी से विभूषित बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि विक्रम की १५वीं शताब्दी तक यापनीय संघ राजमान्य सम्प्रदाय रहा है। ऐसी स्थिति में यदि प्रयास किया जाय तो यापनीय संघ और उसके साहित्य के सम्बन्ध में विपुल सामग्री एकत्रित की जा सकती है। आशा है शोधप्रिय इतिहासविद् इस दिशा में अवश्य प्रयास करेंगे।

२१. आर्य वज्रसेन – युगप्रधानाचार्य

वीर नि० सं० ४९२ में आर्य वज्रसेन का जन्म हुआ। आपने ९ वर्ष की वय में वीर नि० सं० ५०१ में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। ११६ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय में रहते हुए आपने आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। वीर नि० सं० ६१७ में आर्य दुर्वलिका पुष्यमित्र के पश्चात् आप युगप्रधान पद पर अधिष्ठित किये गये।

आपके जन्मस्थान एवं कुल आदि का कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता फिर भी इतना असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि आपने आर्य वज्र से पूर्व आर्य सिंहगिरि के पास दीक्षा ग्रहण की थी। विशिष्ट प्रतिभा और विद्यातिशय सम्पन्न होने के कारण आर्य वज्र को आर्य सिंह ने अपनी विद्यमानता में ही आचार्य पद का कार्यभार सम्हला दिया और स्वर्गवास के समय उन्हें विधिवत् आचार्यपद प्रदान किया।

सम्भव है आर्य वज्र के ज्ञानातिशय के सम्मान हेतु वज्रसेन ने उनकी विद्यमानता में आचार्यपद स्वीकार नहीं किया हो।

आवश्यक चूर्णि आदि के उल्लेख से इनका आर्य वज्र के साथ गुरु-शिष्य का सा सम्बन्ध प्रतीत होता है। जैसा कि आर्य वज्र द्वारा ५०० साधुओं के साथ

---

[1] दाण्डेकर की – History of the Guptas, page 87–91

अनशन करने से पूर्व भावी दुर्भिक्ष की समाप्ति के पूर्वलक्षण के रूप में सोपारक के श्रेष्ठी जिनदत्त के यहां बहुमूल्य अन्न में विष मिलाने की वज्रसेन को दी गई पूर्व-सूचना से प्रमाणित होता है।

इस प्रकार दीक्षा – पर्याय से कनिष्ठ होने पर भी ज्ञानपर्याय की ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता की दृष्टि से आर्य वज्र ही दश पूर्वधर होने के कारण आचार्य पद के लिए सर्वाधिक योग्य माने गये हों। वीर नि० सं० ५८४ में आर्य वज्रसेन गणाचार्य घोषित किये गये और दश से कुछ कम पूर्व के ज्ञाता आर्य रक्षित वज्र के पश्चात् वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य नियुक्त किये गये।

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य वज्रसेन संघ-व्यवस्था के कार्यों में कुशल एवं प्रतिभाशाली होकर भी आर्य वज्र आदि के समान पूर्वज्ञान के विशेषज्ञ नहीं थे। इसी कारण आर्य रक्षित के पश्चात् पूर्वज्ञानी दुर्बलिकापुष्यमित्र को युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त करना उपयुक्त माना गया और उस समय तक वज्रसेन गणाचार्य पद का सुचारू रूप से संचालन करते रहे। १२ वर्ष के दुष्काल के अन्त में जब विहारक्रम से अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए आर्य वज्रसेन सोपारक नगर में पधारे तब वहां के श्रेष्ठी जिनदत्त और श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी ने अपने चारों पुत्रों के साथ वीर नि० सं० ५९२ में आर्य वज्रसेन के पास श्रमणदीक्षा ग्रहण की।

जिनदत्त के चार पुत्रों में से नागेन्द्र से नागेन्द्रगच्छ, नाइली शाखा, चन्द्रमुनि से चन्द्रकुल, विद्याधर मुनि से विद्याधर कुल तथा निर्वृत्ति मुनि से निर्वृति कुल – इस प्रकार ये चार मुख्य कुल प्रकट हुए।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वज्रसेन के समय में ही वीर नि० सं० ६०९ में आचार्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति से दिगम्बर मत का प्रादुर्भाव हुआ। इसका विस्तृत परिचय "संप्रदायभेद" नामक शीर्षक के नीचे दिया जा चुका है।

वीर नि० सं० ६१७ में दुर्बलिका पुष्यमित्र के स्वर्गवासानन्तर, आर्य वज्रसेन युगप्रधानाचार्य पद पर नियुक्त हुए। तीन वर्ष तक सुचारू रूप से युगप्रधानाचार्य पद से जिनशासन की सेवा कर आपने वीर नि० सं० ६२० में १२८ वर्ष की सुदीर्घायु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

१५. आर्य चन्द्र – गणाचार्य

आर्य वज्र के स्वर्गगमन के पश्चात् भारद्वाज गोत्रीय आर्य वज्रसेन एक बार विहारक्रम से सोपारक नगर पधारे। वहां पर सल्हड़ गोत्रीय श्रेष्ठी जिनदत्त अपनी पत्नी ईश्वरी एवं परिवार के साथ रहता था। संयोगवश आर्य वज्रसेन भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए श्रेष्ठी जिनदत्त के घर पहुंचे। उस समय दुष्काल का प्रकोप अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। खाद्यान्नों का सर्वत्र पूर्ण अभाव था। अतुल सम्पत्ति के होते हुए भी धान्याभाव में भूख से तड़प-तड़प कर अपने कुटुम्ब के मरने की कल्पना से जिनदत्त सिहर उठा। अपनी पत्नी से परामर्श के

पश्चात् उसने भूख से छटपटाकर मरने के स्थान पर सकुटुम्ब विषमिश्रित भोजन कर एक साथ इहलीला समाप्त करने का निश्चय किया। विष मिलाने के लिये एक समय की भोजन-सामग्री जुटाना भी बड़ा कठिन कार्य था। श्रेष्ठी जिनदत्त ने एक लाख रुपये व्यय कर येन-केन-प्रकारेण एक समय की भोजन-सामग्री जुटाई।

जिस समय आर्य वज्रसेन श्रेष्ठी जिनदत्त के घर में भिक्षार्थ पहुँचे, उस समय श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी भोजन में विष मिलाने का उपक्रम कर रही थी। लक्ष रौप्यक मूल्य के भोजन में गृह-स्वामिनी को विष का मिश्रण करते देख आर्य वज्र सेन को उन्हें आर्य वज्र द्वारा कहा गया भविष्य-कथन स्मरण हो आया। उन्होंने शान्त एवं गम्भीर स्वर में गृहस्वामिनी ईश्वरी से कहा – "सुभिक्षं भावि सविषं, पाकं मा कुरु तद्वृथा'।[1] श्राद्धे ! अब दुष्काल का अन्त सन्निकट है। तुम भोजन में विष मत मिलाओ। कल तक प्रचुर मात्रा में अन्न उपलब्ध होने लगेगा।"

'परोपकारैकव्रती महापुरुषों के वचन अन्यथा नहीं होते।' इस दृढ़ विश्वास के साथ श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी ने तत्काल प्रस्तुत भोजन मुनिराज को वहरा कर संतोषानुभव किया।

आर्य वज्रसेन के कथनानुसार दूसरे ही दिन धान्य से भरे पोत सोपारक नगर पहुँचे।[2] भूख से पीड़ित दुष्कालग्रस्त निराश लोगों में जीवन की नवीन आशा का संचार हुआ। आवश्यकतानुसार सबको अन्न मिलने लगा। यह देखकर श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी बड़ी प्रसन्न हुई। उसने श्रेष्ठी जिनदत्त से कहा – "कल यदि मुनि ने हमें आश्वस्त नहीं किया होता तो आज हमारे परिवार का एक भी व्यक्ति संसार में दिखाई नहीं देता। हम सब के सब यमराज के अतिथि बन चुके होते। श्रमणश्रेष्ठ ने हम सब को जीवन-दान दिया है। ऐसी स्थिति में क्यों न हम सभी जिनधर्म की शरण ग्रहण कर अपने-अपने जीवन को सफल कर लें।"

श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी का परामर्श सब को रुचिकर लगा और श्रेष्ठिदम्पती ने अपने चारों पुत्रों चन्द्र, नागेन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर के साथ समस्त वैभव का त्याग कर निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म की दीक्षा-ग्रहण कर ली।[3] चन्द्र, नागेन्द्र आदि चारों मुनियों ने विनयपूर्वक क्रमशः अंग शास्त्रों एवं पूर्वों का अध्ययन किया और वे चारों आचार्य पद के योग्य बने।

---

[1] प्रभावक चरित्र, प्रथम प्र., श्लो. १६१

[2] एवं जाते च संध्यायां, वहित्राणि समाययुः।
प्रशण्य शण्यपूर्णानि, जलदेशान्तराध्वना ॥१६२॥ प्रभावक च., वज्र ॥

[3] सुभिक्षं तत्क्षणं जज्ञे, ततः सा सपरिच्छदा।
अचिन्तयदहो मृत्यु, भविष्यदरी ततः ॥
जीवितव्यफलं किं न, गृह्यते संयमग्रहात्।
वज्रसेनमुनेः पार्श्वे, जैनबीजस्य सद्गुरोः ॥
ध्यात्वेति सा सपुत्राहि, व्रतं जग्राह साग्रहं।......
[जैन साहित्य संशोधक, खंड २, अंक ४ में प्रकाशित विचार श्रेणि, परिशिष्ट, पृ. १०]

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य वज्रसेन ने अपनी विद्यमानता में ही अपने इन चारों शिष्यों को पृथक्-पृथक् श्रमण-समुदाय सम्हला कर आचार्य पद पर नियुक्त कर दिया था। आर्य चन्द्र से चन्द्रकुल, आर्य नागेन्द्र से नाइली शाखा (नागेन्द्रकुल), आर्य निर्वृत्ति से निर्वृत्ति कुल और आर्य विद्याधर से विद्याधर नामक ४ कुल प्रकट हुए।[1] चन्द्रकुल ही आगे चल कर चन्द्र गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कतिपय आचार्यों ने आर्य चन्द्र, नागेन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर–इन चारों को किंचिदून १० पूर्वों का ज्ञाता बताया है।[2]

चन्द्रगच्छ से सम्बन्धित पट्टावली एवं टिप्पणों में इस प्रकार के उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं कि चन्द्र, नागेन्द्र आदि चारों आचार्यों में से प्रत्येक ने अपने-अपने सुविशाल शिष्य-समूह में से २१-२१ सुयोग्य श्रमणों को पृथक्-पृथक् रूप से आचार्य पदों पर नियुक्त किया, जिन से वीर नि. सं. ६११ में ४ गणों और ८४ गच्छों की उत्पत्ति हुई।[3]

गहराई से सोचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ८४ गच्छों की उत्पत्ति विषयक इस प्रकार का उल्लेख केवल इन चारों गच्छों का महत्त्व बढ़ाने की दृष्टि से किया गया है। इसमें यथार्थता होती तो उपाध्याय धर्मसागर 'तपागच्छ पट्टावली' में – "तस्माच्च क्रमेणानेक गणहेतवोऽनेके सूरयो बभूवांसः'[4] – इस प्रकार का अनिश्चित उल्लेख नहीं करते। इसके अतिरिक्त यदि इन ४ गणों से ८४ गच्छ उत्पन्न हुए होते तो उनमें से थोड़े बहुत गच्छों का नामोल्लेख भी पट्टावली में अवश्य किया जाता। यही नहीं, अज्ञातकर्त्तृक कुछ श्लोकों में इन चारों गच्छों के सम्बन्ध में परिचय देते हुए ८४ गच्छों का कोई उल्लेख न कर –

'अद्यापि गच्छास्तन्नाम्ना, जयिनोऽवनिमण्डले।'[5] – इस पद से केवल इतना ही उल्लेख किया गया है कि उनके नाम से गच्छ आज भी विद्यमान हैं।

उपरोक्त उल्लेखानुसार वीर नि० सं० ६११ में ८४ गच्छों की उत्पत्ति होने की बात सही मानी जाय तो पश्चाद्वर्ती काल में होने वाले बड़गच्छ, खरतरगच्छ,

---

[1] नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति, विद्याधराख्यान् चतुरः सकुटुम्बान् इभ्यपुत्रान् प्रव्राजितवान्। तेभ्यश्च स्व स्व नामांकितानि चत्वारि कुलानि संजातानीति।
[तपागच्छ पट्टावली, भा. १, स्वोपज्ञवृत्ति (प० कल्याण विजयजी) पृ. ७१]

[2] नागेन्द्रो निर्वृत्तिश्चन्द्रः, श्रीमान् विद्याधरस्तथा ॥
अभूवंस्ते किंचिदूनदशपूर्वविदस्ततः।
चत्वारोऽपि जिनाधीशमतोद्धार धुरंधरा ॥
[जैन सा. संशोधक, खं. २, अं. ४ में प्रकाशित विचार श्रेणि के साथ का परि. पृ. १०]

[3] आदौ चत्वारो गणा, एकस्मिन् एकस्मिन् गच्छे एकविंशति आचार्याः स्थापिताः। एवं क्रमेण श्री वीरात् ६११ वर्षे ८४ गच्छाः संजाताः। [वही]

[4] तपागच्छ पट्टावली, भा. १, (मुनि कल्याण विजयजी) पृ. ७१

[5] विचारश्रेणि के साथ संलग्न परिशिष्ट, जैन सा. सं. खं. २, अंक ४ में प्रकाशित।

आंचलगच्छ, धर्मघोषगच्छ, आदि ८४ गच्छों को वीर नि० सं० ६११ में हुए ८४ गच्छों से निश्चित रूप से पृथक् मानना होगा। क्योंकि इन ८४ गच्छों में से अनेक गच्छ प्रशस्तियों एवं अन्य उल्लेखों के आधार पर वीर नि० सं० ६११ से कई शताब्दियों पश्चात् उत्पन्न हुए सिद्ध होते हैं। इस प्रकार वीर निर्वाण सं० ६११ में ८४ गच्छों की उत्पत्ति की बात को सही मानने की दशा में गच्छों की संख्या ८४ के स्थान पर १६८ माननी होगी, जिसका कि औचित्य किसी भी दशा में सिद्ध नहीं किया जा सकता। वीर नि० सं० ६११ में जो ८४ गच्छों की उत्पत्ति की बात कही जाती है, उसे इस आधार पर भी विश्वसनीय नहीं माना जा सकता कि उन ८४ गच्छों में से किसी एक गच्छ का नाम भी कहीं उपलब्ध नहीं होता।

इन सब तथ्यों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में उत्पन्न होने वाले ८४ गच्छों का स्रोत चन्द्रगच्छ को बता कर इसका महत्व बढ़ाने की दृष्टि से इस प्रकार का उल्लेख किया गया हो।

तपागच्छ पट्टावली में आपका जन्म वीर नि० सं० ५७६ में, दीक्षा ६१३ में, ७ वर्ष गुरू की सेवा करने और २३ वर्ष तक गणाचार्य पद से शासन की सेवा करने एवं वीर नि० सं० ६४३ में स्वर्गस्थ होने का उल्लेख किया गया है[1] पर तत्कालीन घटनाचक्र के पर्यवेक्षण से एवं सोपारक में दुर्भिक्ष के अन्त में आर्य वज्रसेन के पास आपके दीक्षित होने के उल्लेख को देखते हुए वीर नि० सं० ५९२ में आपकी दीक्षा होना संगत प्रतीत होता है। इसी प्रकार तपागच्छ पट्टावली के उपरोक्त उल्लेखानुसार ३७ वर्ष की अवस्था में आपके द्वारा दीक्षा ग्रहण करना माना गया है, वह भी ठीक प्रतीत नहीं होता। "जैन परम्परा नो इतिहास" नामक ग्रन्थ में त्रिपुटी (मुनित्रय) ने आपके वी० नि० सं० ५९२ में दीक्षित होने और ६५० में स्वर्गस्थ होने का उल्लेख किया है।

यदि गणाचार्य चन्द्र की पूर्णायु ६७ वर्ष और स्वर्गस्थ होने का समय वीर नि० सं० ६४३ सही मान लिया जाय तो उस दशा में उनके जन्म, दीक्षा, आचार्य-पद आदि का समय निम्नलिखित रूप से अनुमानित किया जाना पर्याप्तरूपेण संगत और उचित होगा।

जन्म वीर नि० सं० ५७६, दीक्षा ५९३, गणाचार्य पद वीर नि० सं० ६२० में और स्वर्गारोहण वीर नि० सं० ६४३ में।

चैत्यवास

आर्य सुधर्मा से सामंतभद्रसूरि के पहले के समय तक जैन मुनि अधिकांशतः वनों एवं उद्यानों में ही निवास करते रहे, जैसा कि निरयावलिका सूत्र में सुधर्मा स्वामी के गुणशील उद्यान में अवग्रह लेकर विचरने का उल्लेख मिलता है।[2]

---

[1] तपागच्छ पट्टावली, स्वोपज्ञ वृत्ति सहित (पं० कल्याणविजयजी), पृ० ५६

[2] निरयावलिका, १, अ० १, सू० २

परन्तु जब चैत्यवास के रूप में गृहीजनों के निकट सम्पर्क में जैन श्रमणों का निवास प्रारम्भ हुआ तो यह सुनिश्चित था कि आसपास के भक्तजन प्रातः-सायं जितना भी अधिक हो, सेवाभक्ति का लाभ लेने लगें। भावुक भक्तों के वारम्वार गमनागमन और उनके द्वारा की गई उपासना से श्रमणवर्ग का मन भावविभोर हो उठा। परिणामतः मुनियों द्वारा अपने मलमलीन देह और धूलिधूसरित प्रावरणों की, भावुकजनों की प्रीति हेतु धुलाई-सफाई की जाने लगी। चैत्यवासजन्य जनसंसर्ग ने केवल इन सब प्रवृत्तियों को ही जन्म नहीं दिया अपितु इससे रागातिरेक के कारण मुनियों में स्थिरवास की प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी। रागातिरेक से किसी एक स्थान पर स्थिरवास कर लेने पर साधनामय जीवन में कितनी विकृति आ सकती है, इसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। चैत्यवास के कारण यही सब कुछ हुआ।

आचार्य हरिभद्र ने चैत्यवासजन्य तात्कालिक उन विकृतियों का अपने ग्रन्थ 'संबोधप्रकरण' में एक मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। उससे चैत्यवास के दुष्परिणामों को भलीभांति समझा जा सकता है। आचार्य हरिभद्र के वे विचार इस प्रकार है :–

'वे साधु लोच नहीं करते, प्रतिमा वहन करने में शर्माते, शरीर से मैल उतारते, पादुका-उपानत् आदि पहन कर घूमते और निष्कारण कटिवस्त्र धारण करते हैं।" यहाँ लोच नहीं करने वाले को आचार्य ने क्लीव – कायर कहा है।[१] उन्होंने आगे फिर लिखा है :–

"ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं। पूजा करने का आरम्भ एवं देवद्रव्य का उपभोग करते हैं। ये कुसाधु जिन-मन्दिर और शालाएं चुनवाते, रंग-विरंगे, सुगन्धित एवं धूपवासित वस्त्र पहनते, विना नाथ के वैलों की तरह स्त्रियों के आगे गाते, आर्यिकाओं द्वारा लाये गये पदार्थ खाते, तरह-तरह के उपकरण रखते, जल, फूल, फल आदि सचित्त द्रव्यों का उपभोग करते, दो तीन वार भोजन करते और ताम्वूल लवंगादि भी खाते हैं।"

"ये लोग मुहूर्त निकालते, निमित्त वताते और भभूति भी देते हैं। जीमनवार में मिष्टान्न ग्रहण करते, आहार के लिये खुशामद करते और पूछने पर भी सच्चा धर्म नहीं वताते हैं।"

"ये लोग स्नान करते, तैल लगाते, शृंगार करते और इत्र-फुलेल का भी उपयोग करते हैं। स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरों की आलोचना करते हैं।"

इस प्रकार की विकृत स्थिति में भी जो लोग तीर्थंकरों का वेष समझ कर उन मुनियों को वन्दनादि करते हैं, उनके लिये भी आचार्य हरिभद्र ने वड़ी दर्दभरी भाषा में कहा है :–

---

[१] कीवो न कुणइ लोयं, लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेइ।
सोवाहणो य हिण्डइ, वंधइ कडिपट्टयमकज्जे ॥ [सम्बोध प्रकरण, गा० १४]

"कुछ नासमझ लोग कहते हैं कि यह तीर्थंकरों का वेष है। इसे भी नमस्कार करना चाहिये। अहो ! धिक्कार है उन्हें। मैं अपने शिरःशूल की पुकार किसके आगे करूँ ?"[1]

जिनवल्लभ ने अपने संघपट्टक की भूमिका में चैत्यवास का इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखा है :–"वीर नि० सं० ८५० के लगभग कुछ मुनियों ने उग्रविहार छोड़ कर मन्दिर में रहना प्रारम्भ कर दिया। इनकी संख्या धीरे-धीरे बढ़ती गई और समयान्तर में वे बहुत प्रबल हो गये।"

"........उन्होंने यह प्रतिपादन करना प्रारम्भ कर दिया कि वर्तमान काल के मुनियों का चैत्यों में रहना उचित है। उन्हें पुस्तकादि के लिये यथावश्यक द्रव्य भी रखना चाहिये।"

यह भी कहा जाता है कि वि० सं० ८०२ में अणहिलपुर पाटण के राजा बनराज चावड़ा द्वारा उनके गुरु शीलगुणसूरि ने यह आज्ञा प्रसारित करवा दी कि उनके नगर अणहिलपुर पाटण में चैत्यवासी साधुओं के अतिरिक्त अन्य वनवासी आदि साधु प्रवेश तक नहीं कर सकेंगे। उस अनुचित आज्ञा को निरस्त करवाने के लिये विक्रम सं० १०७४ में जिनेश्वर और बुद्धिसागर नामक दो विधिमार्गी विद्वान् साधुओं ने राजा दुर्लभदेव की सभा में चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया और तब कहीं पाटण में विधिमार्गियों का प्रवेश हो सका।

विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि अल्पसंख्यक सुविहित मुनियों की विद्यमानता में भी चिरकाल तक चैत्यवासियों की प्रभुता बनी रही। फिर भी शासनप्रेमी सुविहित मुनियों ने शिथिलता का विरोध करते हुए सिद्धान्तानुगामी मार्ग पर अपने चरण जमाये रखे।

जिनवल्लभ के पश्चात् आचार्य जिनदत्त एवं जिनपति और सौराष्ट्र में मुनिचन्द्र एवं मुनिसुंदर आदि विधिमार्गी विद्वान् मुनि भी अपनी रचनाओं एवं उपदेशों के माध्यम से चैत्यवासियों के साथ टक्कर लेते रहे और अन्त में उन्होंने चैत्यवासियों को हतप्रभ कर दिया। विक्रम की १५वीं शताब्दी के पश्चात् यही चैत्यवास परिवर्तित हो कर यतिसमाज के रूप में दृष्टिगोचर होने लगा।

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी इसका प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। भट्टारकों की गादियां इस चैत्यवास और मठवास की ही प्रतिनिधि कही जा सकती हैं।

आचार्य कुंदकुंद के "लिंगपाहुड़" से पता चलता है कि उस समय ऐसे भी जैन साधु थे जो गृहस्थों के विवाह जुटाते और कृषिकर्म, वाणिज्य आदि हिंसा-कर्म करते थे।[2] चैत्यवास के समर्थक मुनि शिवकोटि ने अपनी रत्नमाला में लिखा है

---

[1] बाला वयंति एवं, वेसो तित्थंकराण एसो वि।
नमणिज्जो धिद्धि अहो, सिरसूलं कस्स पुक्करिमो ॥
[संबोधप्रकरण, गा० ७६ (जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित)]

[2] जो जोडेज्ज विवाहं, किसिकम्मवाणिज्जजीवघादं च। [लिंग पाहुड़]

कि उत्तम मुनियों को कलिकाल में वनवास नहीं करना चाहिये। जिनमन्दिरों और विशेष कर ग्रामादि में रहना ही उनके लिये उचित है।[१]

अनुमान किया जाता है कि दिगम्बर मुनियों ने वि० सं० ४७२ में वनवास छोड़ कर "निसीहि" आदि में रहना प्रारम्भ किया हो एवं उसमें विकृति होने पर वि० सं० १२१६ के पश्चात् मठवास चालू हुआ हो और उनमें रहने वाले मठवासी भट्टारक कहे जाने लगे हों।

उपलब्ध साहित्य के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रम संवत् १२८५ से "चैत्यवास" सर्वथा वन्द हो गया और मुनियों ने उपाश्रय में उतरना प्रारम्भ कर दिया। यथास्थान इस विषय में विशेष प्रकाश डाला जायगा।

तत्कालीन राजनैतिक स्थिति

आर्य रेवतीनक्षत्र के समय की राजनैतिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ लिखने से पूर्व उस समय से पहले की राजनैतिक स्थिति पर थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक है। यह पहले वताया जा चुका है कि पुष्यमित्र शुंग के राज्यकाल में वेक्ट्रिया के यूनानी राजा डिमिट्रियस ने एक प्रवल सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया। मथुरा, साकेत आदि प्रदेशों को विजित करने के पश्चात् उसने पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण किया। किन्तु उसी समय उसे उसके घर में गृहकलह होने तथा यूक्रेटाइडीज द्वारा उसके राज्य पर अधिकार कर लिये जाने की सूचना मिली। अतः उसे तत्काल अपने दलबल सहित बेक्ट्रिया की ओर लौटना पड़ा। वहाँ गृहकलह में उसकी मृत्यु हो गई। डिमिट्रियस की मृत्यु के पश्चात् उसके निकटतम सम्बन्धी मेनेण्डर ने भारत पर आक्रमण किया। उसके पास पर्याप्त धन और शक्तिशाली विशाल सेना थी। मेनेण्डर ने पंजाव पर अधिकार कर साकल अर्थात् स्यालकोट में अपनी राजधानी स्थापित की। पंजाब-विजय के समय मेनेण्डर का अनेक वौद्ध भिक्षुओं से साक्षात्कार हुआ। उसने एक वौद्ध आचार्य से अध्यात्म और दर्शन विषयक अनेक प्रश्न किये। वौद्धाचार्य से अपने प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर सुन कर वह वड़ा प्रभावित हुआ और उसने वौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया। इतिहासज्ञों का अनुमान है कि 'मिलिन्दपन्हो' नामक वौद्ध धर्मग्रन्थ मेनेण्डर के प्रश्नों और वौद्धाचार्य नागसेन द्वारा दिये गये उन प्रश्नों के उत्तर के आधार पर वना हुआ है। वौद्ध ग्रन्थों में मेनेण्डर को मिलिन्द के नाम से अभिहित किया गया है।[२] मिलिन्द ने वौद्धधर्म को राज्याश्रय देकर उसके प्रचार-प्रसार में पर्याप्त सहायता प्रदान की।

पंजाव में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के पश्चात् मिलिन्द (मेनेण्डर) ने सिन्ध की राह से भारत-विजय का अपना अभियान आरम्भ किया। काठियावाड़,

---

[१] कलौ काले वने वासो, वर्ज्यते मुनिसत्तमैः।
स्थीयते च जिनागारे, ग्रामादिषु विशेषतः ॥२२॥ [रत्नमाला]

[२] 'The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, page 3

माध्यमिका (मज्झिमा) और मथुरा को अपने अधिकार में करता हुआ वह आगे बढ़ा। सिन्धु (संभवतः कालीसिन्ध) नदी के दक्षिण तटवर्ती किसी स्थान पर पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने मेनेण्डर को भयंकर युद्ध के पश्चात् बुरी तरह परास्त किया।[1] इस करारी हार के पश्चात् यूनानियों का राज्य केवल पंजाब और भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती कुछ प्रदेशों तक ही सीमित रहा।[2]

इसी समय शकों ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों पर आक्रमण कर वहाँ से यूनानियों की सत्ता को समाप्त कर दिया। शकराज मोगा अपरनाम मोस प्रथम ने शैव धर्म अंगीकार किया और उसने कतिपय वर्षों तक गान्धार (अफगानिस्तान) तथा पंजाब पर राज्य किया। इसके पश्चात् शकों ने उत्तर प्रदेश, राजपूताना और कुछ दक्षिणी प्रदेशों तक अपने राज्य का विस्तार किया। शकों ने भारत के अनेक प्रदेशों में अपनी क्षत्रपियां स्थापित कीं। उनमें से मथुरा की क्षत्रपी का राजुल नामक शासक एक शक्तिशाली क्षत्रप हुआ, जिसके अनेक सिक्के उपलब्ध होते हैं।[3]

वीर निर्वाण की छठी शताब्दी के प्रथम चरण की समाप्ति के अनन्तर, तदनुसार ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रारम्भकाल में पार्थियनों ने ईरान के अनेक प्रदेशों पर अधिकार करने के पश्चात् भारत पर आक्रमण किया। इनका शकों के साथ संघर्ष हुआ। पार्थियनों ने शकों को परास्त कर भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती क्षेत्रों एवं पंजाब पर अधिकार कर लिया। इसके परिणामस्वरूप शकों का राज्य भारत के दक्षिण-पश्चिमी सौराष्ट्र आदि प्रदेशों में ही रह गया। पार्थियनों ने पंजाब पर अधिकार करने के पश्चात् अपने राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ किया। गोंडाफरनीज नामक पार्थियन शासक ने तक्षशिला, मथुरा उज्जयिनी आदि में अपनी क्षत्रपियां स्थापित कीं। थोड़े समय पश्चात् ही अधिकांश पार्थियन क्षत्रपों ने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इसके परिणाम स्वरूप पार्थियनों की शक्ति विकेन्द्रित होने के कारण शनैः शनैः क्षीण होती गई।

यह उल्लेखनीय है कि प्रायः सभी पार्थियन एवं शक शासकों ने भारतीय धर्म स्वीकार कर भारतीय संस्कृति को विकसित-पल्लवित करने के बड़े प्रयास किये। उन लोगों ने पूर्णतः भारतीय शासन-प्रणाली के अनुसार राज्य करते हुए अनेक जनहित के कार्य किये।

अब तक किये गये उल्लेखों से यह तो स्पष्ट ही है कि भारत पर जब जब भी विदेशी आक्रान्ताओं ने आक्रमण किये, तब-तब भारत के गण राज्यों, राजाओं और जनता ने उन विदेशी शक्तियों के साथ बड़ी वीरता से युद्ध किया। यद्यपि भारत में सुदृढ़ केन्द्रीय राज्यसत्ता के अभाव और विदेशियों की सुसंगठित

---

[1] मालविकाग्निमित्र (कालीदास)।

[2] The Gupta Empire by Shri Radhakumud Mookerji, page 3

[3] वही, page 4

विशाल सेनाओं के कारण विदेशियों को भारत के विभिन्न प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफलताएं मिलीं पर भारतीय राज्य शक्तियां उन विदेशियों के साथ प्रायः निरन्तर संघर्षरत रहीं। भारतीय जनता एवं राज्य शक्तियों द्वारा किये गये उन संघर्षों तथा विदेशी आक्रान्ताओं के परस्पर टकराने के फलस्वरूप अन्ततोगत्वा वे विदेशी शक्तियां क्षीण होते होते विलीन ही हो गईं। जिस प्रकार यूनानियों के शासन को प्रथमतः चन्द्रगुप्त मौर्य और तदनन्तर शकों ने, शकों के शासन को वीर नि० सं० ४७० में विक्रमादित्य ने और तदनन्तर वीर नि० सं० ६०५ में गौमतीपुत्र सातकर्णी (शालिवाहन) ने समाप्त किया, उसी प्रकार भारत के विदेशी पार्थियनों के शासन को विदेशी यू-ची जाति के कुषाणों ने समाप्त किया।

आर्य रेवतीनक्षत्र के वाचनाचार्य-काल से पूर्व कुजुल कैडफाइसिस (प्रथम) नामक कुषाण सरदार ने पार्थियनों को पराजित कर गान्धार (अफगानिस्तान) और पंजाब के कुछ प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसके पुत्र वेम कैडफाइसिस ने भारत में और आगे बढ़ना प्रारम्भ किया और आर्य दुर्बलिका-पुष्यमित्र के युगप्रधानत्व काल में पूरे पंजाब तथा दुआबा पर अपना अधिकार करने के पश्चात् पूर्व में वाराणसी तक अपने राज्य की सीमा का विस्तार कर लिया।

विदेशी आक्रमणों के कारण देश को सर्वतोमुखी हानि हुई। विदेशी आक्रान्ताओं के अत्याचारों से संत्रस्त जनमानस में असहिष्णुता, पारस्परिक जातीय, सामाजिक एवं धार्मिक विद्वेष ने बल पकड़ा। विदेशियों द्वारा देश एवं देशवासियों की जो दुर्दशा की जाती उसके लिए एक जाति दूसरी जाति को एक धर्मावलम्बी दूसरे धर्मावलम्बियों को, एक वर्ग दूसरे वर्ग को दोषी ठहराने लगा। देशवासियों के मन में उत्पन्न हुई इस प्रकार की घातक मनोवृत्ति से देश को जो हानि हुई, उसे आंका तक नहीं जा सकता क्योंकि वस्तुतः वह विदेशी आक्रमणों से हुई हानि से कई गुना अधिक थी। इतिहास साक्षी है कि इस प्रकार की विकृत मनोवृत्ति को निहित-स्वार्थ लोगों ने समय-समय पर उभाड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि सहस्राब्दियों से साथ-साथ रहते आये वर्गों, धर्मावलम्बियों एवं जातियों ने परस्पर एक दूसरे को मिटाने के अनेक प्रयास किये। भारत से बौद्धधर्म की समाप्ति में अनेक कारणों के साथ-साथ इस प्रकार का धार्मिक विद्वेष भी प्रमुख कारण रहा है। पुष्यमित्र शुंग द्वारा बौद्धों और बौद्धधर्म के विरुद्ध किया गया अभियान इस तथ्य का साक्षी है।

भारत में विदेशी आक्रान्ताओं की सफलताओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई उन विषम परिस्थितियों में जैनधर्मावलम्बियों को भी बड़े कठिन दौर से गुजरना पड़ा। मौर्य सम्राट् सम्प्रति के राज्यकाल में, जहां भारत और भारत के पड़ौसी राष्ट्रों में भी जैनधर्म का अभूतपूर्व प्रचार-प्रसार हुआ, वहां ईसा की पहली शताब्दी के प्रथम चरण से भारत पर प्रारम्भ होने वाले आक्रमणों के पश्चात् जैन धर्मावलम्बियों की संख्या में उत्तरोत्तर ह्रास होता चला गया।

२०. ब्रह्मद्वीपकसिंह – वाचनाचार्य

वाचनाचार्य आर्य रेवतीनक्षत्र के पश्चात् आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह २०वें वाचनाचार्य हुए। चौबीसवें युगप्रधानाचार्य आर्य सिंह के साथ नाम साम्य होने के कारण वाचनाचार्य आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह और युगप्रधानाचार्य सिंह को अधिकांश लेखकों द्वारा एक ही आचार्य मान लिया गया है। वाचनाचार्य सिंह के नाम के पहले 'ब्रह्मद्वीपक' विशेषण से यह अनुमान किया जाता है कि युग-प्रधानाचार्य सिंह से आप भिन्न और पूर्ववर्ती आचार्य हैं।

२३वें युगप्रधानाचार्य रेवतीमित्र के पश्चात् होने वाले २४वें युगप्रधानाचार्य आर्य सिंह २०वें वाचनाचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह से भिन्न हैं अथवा नहीं, यह एक गवेषणा का विषय है, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न न होकर एक ही होते तो वाचनाचार्य सिंह और युगप्रधानाचार्य सिंह की भिन्नता बताने वाला 'ब्रह्मद्वीपक' विशेषण वाचनाचार्य सिंह के नाम के साथ नहीं जोड़ा जाता। आशा है विद्वान् गवेषक इस सम्बन्ध में शोध कर प्रकाश डालेंगे।

आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह का परिचय आगे आर्य सिंह के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

२२. आर्य नागेन्द्र (नागहस्ती)–युगप्रधानाचार्य

आर्य वज्रसेन के पश्चात् युगप्रधान परम्परा में नागहस्ती का नाम आता है। नागेन्द्र सोपारकपुर के श्रेष्ठी जिनदत्त के दीक्षित चार पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ थे। युगप्रधानों की नामावलि में आर्य नागेन्द्र का आर्य नागेन्द्र नाम से उल्लेख न कर नामसाम्य-जन्य त्रुटि से नागहस्ती के नाम से उल्लेख किया गया है। वस्तुतः युगप्रधान नागेन्द्र वाचक आर्य नागहस्ती से सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं। दुष्षमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार नागेन्द्र का दीक्षाकाल ५९२–९३ माना गया है। किंचिन्न्यून १० पूर्वधर होने से आर्य नागेन्द्र ही वज्रसेन के पश्चात् युगप्रधानाचार्य नियुक्त किये गये। ६९ वर्ष जैसे सुदीर्घ काल तक आपने युगप्रधानाचार्य पद से जिनशासन की सेवा की। वीर नि० सं०,६८९ में इनका स्वर्गवास माना गया है।

पहले यह बताया जा चुका है कि आर्य नागहस्ती और नागेन्द्र – दोनों. दो भिन्न-भिन्न आचार्य हैं। आचार्य नागहस्ती वाचकवंश परम्परा के आचार्य हैं और उनके गुरू आर्य नन्दिल माने गये हैं जबकि नागेन्द्र युगप्रधान परम्परा के आचार्य और वज्रसेन के शिष्य हैं। पहले वज्रसेन के पूर्ववर्ती आचार्य हैं तो दूसरे वज्रसेन के पश्चाद्वर्ती उनके उत्तराधिकारी। वाचक नागहस्ती और युगप्रधान नागेन्द्र की भिन्नता इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि आर्य नागहस्ती का दिगम्बर परम्परा के साहित्य में भी यतिवृषभ के गुरु रूप से उल्लेख किया गया है पर आर्य नागेन्द्र को संशयमिथ्यादृष्टि, श्वेताम्बर आदि विशेषणों से अभिहित किया गया

है।[1] इससे भी प्रतीत होता है कि चन्द्रमुनि के ज्येष्ठ गुरुबन्धु नागेन्द्र ही श्वेताम्बर आचार्य के रूप से दिगम्बर परम्परा में चर्चित होते रहे हैं।

नागहस्ती परम्परा-भेद होने से पूर्व के आचार्य होने के कारण दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उन्हें कहीं पर भी श्वेताम्बर विशेषण से अभिहित नहीं किया गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर नागहस्ती और नागेन्द्र ये दोनों भिन्न-भिन्न काल के दो भिन्न आचार्य प्रमाणित होते हैं। आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती ये दोनों पर्याप्त अंशों में समकालीन होने चाहिये। पर नागेन्द्र को नागहस्ती मान लेने पर किसी भी दशा में संगति नहीं बैठती। क्योंकि आर्य नागेन्द्र का जन्म वी. नि. सं. ५७३ में होने का उल्लेख उपलब्ध होता है जब कि आर्य मंगू का आचार्यकाल ४७० माना गया है।

वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती और युगप्रधानाचार्य आर्य नागहस्ती (नागेन्द्र) ये दोनों भिन्न-भिन्न काल में हुए दो भिन्न आचार्य हैं। इस तथ्य को सिद्ध करने वाले सर्वाधिक सबल शास्त्रीय प्रमाण, अनुयोगद्वार सूत्र के पाठ का वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती के प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है।[2]

१६. आचार्य सामन्तभद्र-गणाचार्य

वीर नि० सं० ६४३ में[3] आर्य चन्द्रसूरि के स्वर्गगमन के पश्चात् १६ वें गणाचार्य सामन्तभद्र हुए। आपके जन्म, कुल आदि का परिचय उपलब्ध नहीं होता। आपका जो कुछ परिचय उपलब्ध होता है, उससे यह विदित होता है कि आप पूर्वश्रुत के अभ्यासी होते हुए भी अस्खलित चारित्र की आराधना करने वाले थे। निर्मोह भाव से विचरण करते हुए ये संयमशुद्धि के लिये अधिकांशतः वनों, उद्यानों, यक्षायतनों, एवं शून्य देवालयों में ही ठहरा करते थे। इनके उत्कट वैराग्य और वनवास को देख कर लोग इन्हें वनवासी और इनके साधुसमुदाय को वनवासी-गच्छ कहने लगे। सौधर्मकाल के निर्ग्रंथ गच्छ का यह चौथा नाम वनवासी गच्छ कहा जाता है। वनवासी शब्द सापेक्ष होने के कारण वसतिवास की स्मृति दिलाता है। भगवान् महावीर और सुधर्मा के समय तक साधुओं का प्रायिक निवास वन-प्रदेशों में ही होता था फिर भी उस समय के श्रमण वनवासी न कहला कर निर्ग्रंथ नाम से ही पहिचाने जाते रहे। क्योंकि उनके सम्मुख वनवासी से भिन्न वसतिवासी नामक कोई भिन्न श्रमणवर्ग नहीं था।

---

[1] (क) इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रवादी मिथ्यादृष्टिः। संशयवादी किलेवं मन्यते, सेयंवरो य।
[बोधप्राभृत, गा० ५३ श्रुतसागरी टीका]

(ख) इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रगच्छोत्पन्नानां तंदुलकपाथोदकादिसमाचारीसमाश्रयीणां श्वेतपटानां
[भावप्राभृत, गा० १३५, श्रुतसागरी]

[2] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ५५२

[3] त्रिपुटी के अनुसार वीर नि० सं० ६५०।

जब निर्ग्रंथ गच्छ, कौटिक गच्छ, और चन्द्रगच्छ के नामान्तरों से गुजरता हुआ साधु-समुदाय जनसम्पर्क में आगे बढ़ा, तब श्रमणों का आवास भी मुख्य रूप से वसतियों में होने लगा हो, यह स्वाभाविक है। संभव है आर्य रक्षित के पश्चात् साधु सम्प्रदाय में शिथिलता अधिक बढ़ी हुई देख कर संयमशुद्धि और उग्र साधना को बनाये रखने के लिये सामन्तभद्र ने शिथिलाचार के विरुद्ध वनवास स्वीकार किया हो।

दूसरा यह भी संभव है कि वीर नि० सं० ६०९ में हुए श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायभेद को पाट कर दोनों में समन्वय करने की दृष्टि से उग्र संनमाराधन का प्रयत्न प्रारम्भ किया गया हो। आचार्य सामन्तभद्र द्वारा किया गया यह उग्र आचार का अभियान शिथिलाचार के विरोध में कुछ समय तक अवश्य प्रभावोत्पादक रहा होगा। पर इसमें यथेप्सित स्थाई सफलता नहीं मिल पाई।

इसी अवधि में दिगम्बर परम्परा में भी समन्तभद्र नामक एक आचार्य के होने के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी के अनुसार उनका समय ईसा की दूसरी शताब्दी में आता है।[1] हो सकता है सामन्तभद्र को ही समन्तभद्र समझ कर उनके उत्कट आचार के कारण उन्हें सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखा एवं अपना लिया गया हो।

आपके जन्म, दीक्षा, आचार्यपद और स्वर्गवास का समय उपलब्ध नहीं होता। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार आपका अस्तित्वकाल वीर नि० सं० ६७० के आसपास माना गया है।

१७. आचार्य वृद्धदेव-गणाचार्य

आचार्य सामन्तभद्र के पश्चात् १७वें गणाचार्य वृद्धदेव हुए। इनका केवल इतना ही परिचय मिलता है कि वृद्धावस्था में आचार्य पद प्राप्त करने के कारण सभी उन्हें वृद्धदेवसूरि के नाम से संबोधित करने लगे। सामन्तभद्र की परम्परा के आचार्य होने के कारण आपको भी उग्र क्रिया का समर्थक माना गया है।

१८. आचार्य प्रद्योतन-गणाचार्य

आचार्य वृद्धदेव के पश्चात् आर्य प्रद्योतनसूरि गणाचार्य हुए। पट्टावलियों में इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध है कि अजमेर और स्वर्णगिरि में आपने प्रतिष्ठा करवाई पर स्वर्गीय मुनि कान्तिसागरजी के अनुसार इतिहास के प्रकाश में इस प्रकार के उल्लेखों की सच्चाई संदिग्ध मानी गई है।[2]

आपका स्वर्गवास वीर नि० सं० ६९८ में होना बताया गया है।

१९. आचार्य मानदेव-गणाचार्य

आचार्य प्रद्योतनसूरि के पश्चात् १९वें पट्टधर गणाचार्य मानदेव हुए। आचार्य मानदेव त्याग-तप की विशिष्ट साधना में इतने प्रसिद्ध थे कि जैन

---

[1] जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष, भा० १, पृ० ३३६

[2] मुनि कान्तिसागरजी द्वारा लिखित जैन इतिहास की पाण्डुलिपि, पृ० १०६।

समाज में संभवतः विरला ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो आपके प्रभाव से अपरिचित हो।

नाडौल निवासी प्रख्यात श्रेष्ठी धनेश्वर आपके पिता और धारिणी माता थी। अपना एकमात्र पुत्र होने के कारण माता-पिता ने आपका नाम मानदेव रखा। एक बार आचार्य प्रद्योतन विहार क्रम से नाडोल पधारे। भाग्यवश मानदेव ने भी आचार्यश्री के उपदेशों को सुनने का सुअवसर पाया। आचार्य प्रद्योतनसूरि की वैराग्यपूर्ण वाणी सुनकर मानदेव को अपूर्व उल्लास हुआ और उन्होंने गुरुचरणों में प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। बड़ी कठिनाई से मानदेव ने माता-पिता से अनुमति प्राप्त की और शुभ समय में श्रमण-दीक्षा अंगीकार कर वे विनयपूर्वक ज्ञानाराधन के साथ कठोर तप की साधना करने लगे। प्रखर प्रतिभा के कारण अल्प समय में ही उन्होंने ११ अंगश्रुत, मूल, छेद और उपांग श्रुतों का पूर्ण अभ्यास कर लिया।[1]

गुरु ने मानदेव को योग्य समझकर आचार्य पद से सुशोभित करना चाहा पर कहा जाता है कि लक्ष्मी (लावण्यश्री) और सरस्वती का आपस में एकत्र अद्भुत सम्मिलन देखकर गुरुदेव इस बात के लिए चिन्तित हुए कि मुनि मानदेव से चारित्र का पालन किस प्रकार निभ सकेगा।

गुरू की चिन्ता से मानदेव चारित्र के प्रति और अधिक आस्थावान् बन गये। गुरुदेव की प्रीति हेतु उन्होंने सम्पूर्ण रूप से विगइ-विकृति का परित्याग कर दिया और भक्तजनों के यहां से आहार लाना भी बन्द कर दिया। आत्मसाधना के प्रति सजगता विश्व को सहज ही झुका देती है। इस नियमानुसार मानदेव के चरणों में भी कुछ दैवी शक्ति का सामीप्य हो गया था, इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

आर्य नागेन्द्र के समय की राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति

इससे पहले के प्रकरण में बताया जा चुका है कि आर्य रेवतीनक्षत्र के वाचनाचार्य काल में कुषाणवंश के राजा वेम कैडफाइसिस ने अपने पिता कुजुल कैडफाइसिस द्वारा ईरान की सीमा से लेकर सिन्धु नदी तक संस्थापित राज्य की सीमा में विस्तार करना प्रारम्भ किया। वेम ने पूरे पंजाब और दोआबा को जीत कर पूर्व में वाराणसी तक अपने राज्य का विस्तार किया। वेम कैडफाइसिस की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कनिष्क वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में तदनुसार शक सम्वत्सर के प्रचलित होने के पश्चात् राज्य सिंहासन पर आसीन हुआ। कनिष्क ने पुरुषपुर-पेशावर नामक एक नवीन नगर बसा कर वहाँ अपनी राजधानी स्थापित की।

---

[1] अंगैकादशकेऽधीती, छेदमौलेषु निष्ठितः।
उपांगेषु च निष्णातस्ततो जज्ञे बहुश्रुतः ॥२३॥ [प्रभावक चरित्र, प्रकरण १३]

कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर विजय का अभियान प्रारम्भ किया। इसने पार्थियनों के शासन को भारत से मूलतः उखाड़ फैंका। काश्मीर-विजय के पश्चात् कनिष्क ने चीनी साम्राज्य के प्रदेशों - चीनी तुर्किस्तान, काशगर, यारकन्द एवं खोतान पर अपना आधिपत्य स्थापित कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। कनिष्क का साम्राज्य ईरान की सीमाओं से वाराणसी, चीनी, तुर्किस्तान से काश्मीर और दक्षिण में विन्ध्य-पर्वतश्रेणियों तक फैला हुआ था।[1] कनिष्क ने काश्मीर में अपने नाम पर कनिष्कपुर नामक एक नगर बसाया। उसने जन्मजात भारतीय की तरह भारतीय संस्कृति को अपनाया। उसने विदेशी होते हुए भी मौर्यसम्राट् अशोक द्वारा अपनाई गई नीति का अनुसरण करते हुए बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में बड़ा योगदान दिया। कनिष्क ने काश्मीर के कुण्डलवन नामक स्थान पर बौद्ध - संगीति (बौद्ध भिक्षुओं, विद्वानों एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों के धर्म-सम्मेलन) का आयोजन किया। उस संगीति में बौद्ध धर्म के प्रचार एवं उसमें नये सुधार से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लिये गये। इतिहासकारों का ऐसा अनुमान है कि कनिष्क द्वारा की गई उस बौद्ध-संगीति के पश्चात् बौद्धधर्म हीनयान और महायान - इन दो संप्रदायों में विभक्त हो गया। बुद्ध के निराडम्बर, सहज-सरल धर्म एवं जीवन-दर्शन को मानने वालों की संख्या स्वल्प थी अतः उन लोगों के संप्रदाय का नाम 'हीनयान' पड़ा। बुद्ध को भगवान् का अवतार मान कर उनकी मूर्ति की पूजा करनेवालों की संख्या अधिक थी अतः उन लोगों का संप्रदाय महायान कहा जाने लगा। कनिष्क ने महायान संप्रदाय को प्रश्रय दिया। कनिष्क के शासनकाल में बुद्ध की प्रतिमाओं की बड़े आडम्बर के साथ पूजा होने लगी और देश में मूर्तिकला का बड़ा विकास हुआ। कनिष्क बौद्ध धर्मावलम्बी था फिर भी उसने अन्य सभी धर्मावलम्बियों के साथ सौहार्दपूर्ण व्यवहार रखा।

कनिष्क के शासनकाल में संस्कृत साहित्य की उल्लेखनीय उन्नति हुई। उसके द्वारा सम्मानित महाकवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित्र', सौन्दरानन्दम्' एवं 'वज्रशूची' नामक उत्कृष्ट कोटि के संस्कृत-ग्रन्थों की रचनाएं की।

कनिष्क ने अपने विशाल साम्राज्य के शासन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये भारत के विभिन्न प्रदेशों में क्षत्रपियां स्थापित की थीं। उनमें से मथुरा, वाराणसी, गुजरात, काठियावाड़ एवं मालवा की क्षत्रपियां एवं उनके खरपल्लान वनस्फर आदि क्षत्रपों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।[1]

शक्तिशाली कुषाणवंशी महाराजा कनिष्क के देश-विदेशव्यापी विजय अभियानों के संक्रान्तिकाल में भी कतिपय भारतीय राजाओं ने बड़े शौर्य और धैर्य के साथ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखा। इसका ज्वलन्त उदाहरण है

1. His Empire in India included Kapisa, Gandhara and Kasmira and extended in the east upto Varanasi and beyond.
[The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 3]

1. 'The Gupta Empire' by Radhakumud Mookerji, p. 4.

दक्षिणापथ का सातवाहन राजवंश, जिसके, विक्रमादित्य के समय से वीर नि० सं० ९९३ तक अक्षुण्ण राज्य चलने के अनेक उल्लेख जैन वाङ्मय में तथा अन्य इतिहास-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

कतिपय सातवाहनवंशी राजाओं के जैन धर्मावलम्बी होने विषयक अनेक उल्लेख जैन साहित्य में विद्यमान हैं।

महाराजा कनिष्क के समय में कुषाणवंशी विदेशी राजसत्ता बौद्ध धर्मावलम्बियों के साथ इतनी अधिक घुलमिल गई थी कि दोनों एक दूसरे के उत्कर्ष को अपना स्वयं का उत्कर्ष समझने लगे थे। इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण कुषाण-साम्राज्य के उत्कर्ष में बौद्ध संघ का सर्वतोमुखी सहयोग और बौद्ध संघ में कनिष्क का वर्चस्व बढ़ता ही गया। बौद्ध और कुषाणों की इस प्रकार की घनिष्ठता जहाँ एक ओर बौद्धधर्म के तात्कालिक उत्कर्ष में बड़ी ही सहायक हुई, वहाँ दूसरी ओर वह बौद्धधर्म के लिए महान् अभिशाप सिद्ध हुई। विदेशी दासता से मुक्ति चाहने वाली समस्त भारतीय प्रजा के हृदय में कुषाणों के प्रति जो घृणा थी, वह कुषाणों के शासन को सुदृढ़ बनाये रखने में सहायता प्रदान करने वाले बौद्ध संघों, बौद्ध-भिक्षुओं एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों के प्रति भी उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। भारत की स्वतन्त्रताप्रिय प्रजा बौद्ध संघ को राष्ट्रीयता के धरातल से च्युत, आध्यात्मिक स्वतन्त्रता से विहीन एवं आततायी का प्राणप्रिय पोष्य-पुत्र समझने लगी। भारतीय जनमानस में उत्पन्न हुई इस प्रकार की भावना अन्ततोगत्वा भारत में बौद्धधर्म के अपकर्ष ही नहीं अपितु सर्वनाश का कारण बनी।

नाग भारशिव राजवंश का अभ्युदय

बौद्धों के सर्वतोमुखी सहयोग के बल पर बढ़ते हुए विदेशी दासता के उस उत्पीड़न ने भारशिव नामक नाग-राजवंश को जन्म दिया। लकुलीश नामक एक परिव्राजक ने विदेशी दासता के जूड़े को उतार फेंकने के लिये लालायित भारतीय जनमानस में शिव के संहारक स्वरूप की उपासना के माध्यम से प्राण फूँकने का अभियान प्रारम्भ किया। भारशिव नागों ने लकुलीश को शिव का अंशावतार मानकर उनके प्रत्येक आदेश का अक्षरशः पालन किया। कनिष्क की मृत्यु होते ही भारशिव नागवंश एक राजवंश के रूप में उदित हुआ। आगे चलकर इन भारशिवों ने कुषाण साम्राज्य का अन्त कर विशाल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की।[1]

ऐतिहासिक तथ्यों के पर्यवेक्षण से कनिष्क का गन्धार के सिंहासन पर आसीन होने का समय वीर नि० सं० ६०५ (ई० सन् ७८) तथा मृत्यु का समय वीर नि० सं० ६३३ (ई० सन् १०६) ठहरता है।[2] तदनुसार भारशिव नागों के

१ Several Vakataka inscriptions mention Bhavanaga, sovereign of the dynasty known as the Bharsivas who were so powerful that they had to their credit the performance of as many as ten Asvamedha sacrifices following their conquests along the Bhagirathi (Ganges). [The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, page 7].

२ 'The Gupta Empire' by Radhakumud Mookerji, page 3-4.

प्रारम्भिक अभ्युदय का समय वीर निर्वाण सं० ६३३ के पश्चात् का अनुमानित किया जाता है।

भारशिव नागवंशी मूलतः पद्मावती, कान्तिपुरी और विदिशा के निवासी थे। ब्रह्माण्ड पुराण और वायुपुराण में नागों को वृष (शिव का नन्दी) नाम से सम्बोधित करते हुए इनके विशाल साम्राज्य का उल्लेख किया गया है। जिसमें मद्र (पूर्वी पंजाब), राजपूताना, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, मालवा, बुन्देलखण्ड और बिहार आदि प्रदेश सम्मिलित थे। शुंगकाल में शेष, भोगिन, रामचन्द्र, धर्मवर्मन और बंगर इन पांच नागवंशी राजाओं का विदिशा में राज्य होने के प्रमाण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त शुंगोत्तरकाल में भूतनन्दी, शिशुनन्दी, यशनन्दी, पुरुपदात, उसभदात, कामदात, भवदात तथा शिवनन्दी नामक आठ नागराजाओं का विदिशा में राज्य होना कतिपय शिलालेखों एवं मुद्राओं से प्रमाणित होता है। कनिष्क द्वारा कुषाण राज्य के विस्तार के समय ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण में नागों को अपने मूल निवास-स्थान विदिशा, पद्मावती और कान्तिपुरी को छोड़कर मध्यभारत की ओर सामूहिक निष्क्रमण करना पड़ा। ये लोग विन्ध्य के पार्श्ववर्ती प्रदेशों में निर्वासितों की तरह रहने लगे। विदिशा, पद्मावती और कान्तिपुरी पर कुषाणों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। नाग लोगों को कुषाणों की बढ़ती हुई प्रबल शक्ति के कारण निष्क्रमण करना पड़ा था पर समुचित अवसर प्राप्त होते ही अपने परम्परागत राज्य पर पुनः अधिकार कर लेने की अभिलाषा उनके अन्तर में बलवती बनी रही। अतः वे लोग अवसर की प्रतीक्षा में शक्ति संचय करते रहे। नागों ने अपने निर्वासनकाल में नागपुर, पुरिका, रीवां आदि के शासकों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखा।

कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त नागों ने अपने मूल निवास-स्थान विदिशा आदि को कुषाणों की दासता से पुनः मुक्त कराने का दृढ़ संकल्प किया। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वे सैनिक अभियान हेतु सभी आवश्यक सामग्री जुटाने में बड़ी तत्परता से जुट गये।

२३ आर्य रेवतीमित्र – युगप्रधानाचार्य

(वीर नि० सं० ६८९–७४८)

आर्य नागेन्द्र के पश्चात् आर्य रेवतीमित्र युगप्रधानाचार्य हुए। आपका यत्किंचित् परिचय वाचनाचार्य आर्य रेवतीनक्षत्र के साथ दे दिया गया है।

भारशिव और कुषाण महाराजा हुविष्क

प्रतापी महाराजा कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त उनका पुत्र हुविष्क अनुमानतः वीर नि० सं० ६३३ (ई० सन् १०६) में कुषाणवंश के विशाल साम्राज्य का अधिपति बना। हुविष्क के शासनकाल में नाग जाति की भारशिव शाखा पुनः एक राज्यशक्ति के रूप में उदित हुई। भारशिवों ने विन्ध्य के निकटवर्ती प्रदेशों में अपनी शक्ति बढ़ाने के साथ-साथ कुषाण साम्राज्य पर आक्रमण करने आरम्भ

किये। उत्तरप्रदेश से चीनी तुर्किस्तान तक फैले कुषाणों के विशाल साम्राज्य से लोहा लेना भारशिवों की नवोदित राज्य शक्ति के लिए कोई साधारण साहस का कार्य नहीं था। मध्यप्रदेश से बुन्देलखण्ड की राह भारशिवों ने कुषाणों के विरुद्ध अपने सैनिक अभियान द्वारा कुषाण साम्राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रों को अपने अधिकार में करना प्रारम्भ किया। भारशिवों ने बड़े साहस और रणचातुरी से काम किया।

इस प्रकार हुविष्क के शासनकाल में ही कुषाण-साम्राज्य का शनै-शनै ह्रास प्रारम्भ हो गया।

कुषाण महाराजा वाशिष्क

वीर नि० सं० ६६५ में हुविष्क की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र वाशिष्क कुषाणवंश के ह्रासोन्मुख साम्राज्य का अधिकारी बना। वाशिष्क ने काश्मीर में अपने पिता के नाम पर हुविष्कपुर नामक एक नगर बसाया। वाशिष्क का शासनकाल वीर नि० सं० ६६५ से ६७९ तदनुसार ई० सन् १३८ से १५२ तक रहा।

भारशिवों द्वारा कुषाण-साम्राज्य पर प्रहार

वाशिष्क के शासनकाल में नवनाग के नेतृत्व में भारशिव नागों ने अपने खोये हुए परम्परागत राज्य को पुनः हस्तगत करने के लिये कुषाण साम्राज्य पर बड़ी वीरता के साथ प्रबल आक्रमण किये। उत्तरप्रदेश के अनेक क्षेत्रों से कुषाण शासन की समाप्ति के पश्चात् अन्ततोगत्वा वीर नि० सं० ६७४ तदनुसार ई० सन् १४७ के आसपास नवनाग ने कुषाणों की दासता से कांतिपुरी के राज्य को मुक्त कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया।

नागवंशी प्रथम भारशिव राजा नवनाग ने कान्तिपुरी में अपना राज्य स्थापित करने के पश्चात् कुषाण-साम्राज्य को समाप्त करने के उद्देश्य से मद्रकों, यौधेयों, मालवों एवं अन्य गणतन्त्रप्रिय संघों को अपना संरक्षण प्रदान किया। भारशिवों से सामरिक सहायता प्राप्त कर वे गणतन्त्र पुनः सक्रिय हुए। नवनाग एवं मद्रक, मालव, यौद्धेय आदि गण-जातियों के आकस्मिक आक्रमणों से कुषाण राज्य निरन्तर क्षीण और आकार में छोटा होता गया।

कुषाण महाराजा वासुदेव

वीर नि० सं० ६६९ में वाशिष्क के देहावसान के पश्चात् उसका पुत्र वासुदेव कुषाण राज्य का अधिपति बना। कान्तिपुरी का राजा नवनाग भारशिव अपने शेष जीवन काल में वासुदेव के साथ युद्धरत रहा। वीर नि० सं० ६९७ तदनुसार ई० सन् १७० के आसपास नवनाग की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र वीरसेन ने कांतिपुरी के राजसिंहासन पर आसीन होते ही बड़े प्रबल वेग से कुषाण साम्राज्य पर प्रहार करने प्रारम्भ किये। वीरसेन ने अनेक युद्धों में कुषाणों को पराजित किया। यौधेय, मद्रक, अर्जुनायन, शिवि एवं मालव आदि गणराज्यों

ने भी भारशिवों द्वारा कुषाण साम्राज्य की समाप्ति के लिये प्रारम्भ किये गये अभियान में बड़ा उल्लेखनीय योगदान दिया और अन्ततोगत्वा भारशिव राजा वीरसेन ने ईसा की दूसरी शताब्दी के समाप्त होते होते आर्य धरा से सदा के लिये कुषाणों के शासन को समाप्त कर दिया।

भारशिवों ने अपनी विजयों के उपलक्ष में काशी में गंगा के किनारे पर १० अश्वमेध यज्ञ किये[१] और इन यज्ञों की स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिये उस स्थान पर दशाश्वमेध घाट का निर्माण करवाया।

यद्यपि भारशिवों ने कुषाण राजवंश के शासन को भारत भूमि से सदा के लिये समाप्त कर दिया पर भारत के अन्तिम कुषाण राजा वासुदेव के पश्चात् भी कुषाण वंश के कतिपय और भी राजा हुए। उनका राज्य काबुल की घाटी और सीमान्त प्रदेश तक ही सीमित रहा। गुप्त राजवंश के चरमोत्कर्षकाल में काबुल की घाटी और सीमान्त प्रदेश के बचे-खुचे कुषाण राज्य भी समाप्त हो गये। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के स्तंभलेख में गान्धार और काश्मीर के कुषाण राजाओं द्वारा बहुमूल्य वस्तुओं की भेंट के साथ समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार किये जाने का उल्लेख है। किदार नामक एक कुषाणवंशी राजा के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। इन तथ्यों से ऐसा प्रकट होता है कि ईसा की पांचवीं शताब्दी तक गान्धार और काश्मीर में कुषाणों का राज्य रहा।[२]

भारशिव राजवंश की शाखाएं

विदेशी कुषाणों के शासन का अन्त करने के पश्चात् भारशिव वंशी नाग राजा वीर सेन ने अपने एक पुत्र हयनाग को कान्तिपुरी के राज्य का, दूसरे पुत्र भीमनाग को पद्मावती के राज्य का और तीसरे पुत्र को जिसका कि नाम अज्ञात है - मथुरा के राज्य का अधिकारी बनाया।

हयनाग के पश्चात् कान्तिपुरी के राज्य पर क्रमशः त्रयनाग, बर्हिन नाग, चरजनाग और भवनाग ने शासन किया। भवनाग ने अन्त समय में अपने दौहित्र रुद्रसेन (वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन के पौत्र) को पुरिका का राज्य दिया। इस प्रकार भारशिव राजवंश की एक शाखा का राज्य वाकाटक राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया।

पद्मावती के राजसिंहासन पर भीमनाग के पश्चात् क्रमशः स्कन्दनाग, बृहस्पतिनाग, व्याघ्रनाग, देवनाग और गणपति नाग बैठे।

वाकाटकों और गुप्तों के साथ भारशिवों के वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुए। इस वैवाहिक गठबन्धन के परिणामस्वरूप इन तीनों राजवंशों ने भारत को एक लम्बे समय तक विदेशी आक्रान्ताओं के भय से सर्वथा मुक्त रखा।

---

१ ......Bharsivas who were so powerful that they had to their credit the performance of as many as ten Ashvamedha sacrifices following their conquests along the Bhagirathi (Ganges) [The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 7]

२ [वही; page 4]

भारशिववंश की तीन शाखाएं मानी गई हैं। उनके राजाओं के नाम इस प्रकार हैं :–

१. कान्तिपुरी की मुख्य शाखा

१. नवनाग
२. वीरसेन
३. हयनाग
४. त्रयनाग
५. बर्हिननाग
६. चरजनाग
७. भवनाग
८. वाकाटक राजा रुद्रसेन (भवनाग का दौहित्र) जिसको भवनाग ने पुरिका का राज्य दिया।

२. पद्मावती शाखा

१. भीमनाग
२. स्कन्दनाग
३. बृहस्पतिनाग
४. व्याघ्रनाग
५. देवनाग
६. गणपतिनाग (इसके सिक्के बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं)

गणपतिनाग के पश्चात् संभवतः पद्मावती शाखा में नागसेन नामक राजा हुआ जिसे कवि हरिषेण के इलाहाबाद स्थित स्तम्भ लेख के अनुसार समुद्रगुप्त ने अपने पहले विजय अभियान में ही पराजित एवं अपदस्थ किया। महाकवि बाण ने भी 'हर्षचरित्र' में नागसेन को पद्मावती का राजा बताते हुए उसकी मूर्खता का उल्लेख किया है।

३. मथुरा शाखा

मथुराशाखा के राजाओं के नाम उपलब्ध नहीं होते।

वाकाटक राजवंश का अभ्युदय

गुप्त राजवंश के उत्कर्ष से पूर्व भारत के बहुत बड़े भूभाग पर वाकाटक राजवंश का विशाल साम्राज्य था। अर्जुनायन, माद्रक, यौधेय, मालव आदि गण-राज्य तथा पंजाब, राजपूताना, मालवा, गुजरात आदि प्रान्तों के प्रायः सभी राजा वाकाटक साम्राज्य के करद एवं अधीनस्थ थे। पुराणों में वाकाटक राजवंश को विंध्यक के नाम से ही अभिहित किया गया है।[1] वाकाटक राजवंश के अनेक सिक्के, शिलालेख एवं ताम्रपत्र उपलब्ध होते हैं। अजन्ता के गुहाचित्रों एवं अभिलेखों से भी वाकाटक राजवंश के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इतिहासज्ञों ने विन्ध्यशक्ति नामक नाग को वाकाटक राजवंश का संस्थापक माना है। पुराणों में कोलिकिल वृषों (भारशिवों) में से इस राजवंश के संस्थापक विंध्यशक्ति का अभ्युदय बताया गया है।[2]

---

[1] विन्ध्यकानां कुलेऽतीते... ॥३७२॥ [वायुपुराण, अध्याय ९९]

[2] तच्छन्नेन च कालेन, ततः कोलिकिला वृषाः ॥३६६॥
ततः कोलिकिलेभ्यश्च, विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति ।...॥३६७॥ [वही]

"ततः कोलिकिलेभ्यश्च, विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति ।" इस श्लोकार्ध से यह प्रकट होता है कि भारशिव नागों के साथ विन्ध्यशक्ति का अति सन्निकट का सम्बन्ध था । भारशिव भी नागवंशी थे और विन्ध्यशक्ति भी नागवंश की किसी शाखा विशेष में उत्पन्न हुआ था । संभव है वह नागवंश की शाखा वाकाटक नाम से विख्यात किसी ग्राम, स्थान अथवा प्रदेश विशेष की रहने वाली हो अतः भारशिव आदि अन्य नागवंशियों से अपनी भिन्नता अभिव्यक्त करने के लिये विन्ध्यशक्ति एवं उसके वंशजों ने अपनी शाखा का नाम वाकाटक रखा हो ।

उपरिलिखित श्लोकांश के आधार पर ही संभवतः कतिपय इतिहासज्ञ अपनी यह मान्यता अभिव्यक्त करते हैं कि विन्ध्यशक्ति वस्तुतः भारशिवों की सेना का सर्वोच्च अधिकारी था और उसने विन्ध्य प्रदेश में अपनी पृथक् राजसत्ता स्थापित कर उसका विस्तार किया अतः विन्ध्य से नवोदित शक्ति के रूप में वह विन्ध्यशक्ति के नाम से विख्यात हुआ । उपरोक्त श्लोकपद से यह तो निर्विवादरूपेण सिद्ध होता है कि भारशिव नागवंश से ही वाकाटक राजवंश उदित हुआ ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है वाकाटक राजवंश के अनेक राजाओं के सिक्के, शिलालेख आदि उपलब्ध होते हैं किन्तु इस राजवंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति के न तो कोई सिक्के ही उपलब्ध हुए हैं और न अभिलेखादि ही । ऐसी स्थिति में विन्ध्यशक्ति के सत्ताकाल को सुनिश्चित करने के लिये अन्य प्रमाणों का सहारा लेना होगा ।

भारशिव वंश के सातवें राजा भवनाग की पुत्री का विवाह वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन (विन्ध्यशक्ति के पुत्र) के पुत्र गौतमी पुत्र के साथ तथा गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पुत्री प्रभावती गुप्ता का पाणिग्रहण वाकाटक नृपति पृथ्वीषेण (प्रथम) के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ हुआ । इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में इन तीनों राजवंशों के सत्ताकाल पर विचार करने पर यह अनुमान किया जाता है कि वाकाटक राजवंश का संस्थापक विन्ध्यशक्ति भारशिव राजवंश के चौथे राजा त्रयनाग तथा गुप्त राजवंश के संस्थापक राजा श्रीगुप्त का समकालीन था । पुराणों में विन्ध्यशक्ति का शासनकाल जो ९६ वर्ष बताया गया है,[1] वह वस्तुतः वाकाटकों का साम्राज्यकाल है । उसमें ३६ वर्ष विन्ध्य शक्ति का और ६० वर्ष प्रवीर अर्थात् प्रवरसेन का राज्य,[2] इस प्रकार ९६ वर्ष का वाकाटकों का साम्राज्यकाल बताया गया है । प्रवरसेन के पश्चात् उसके पौत्र रुद्रसेन प्रथम (भवनाग के दौहित्र) और उसके पश्चात् पृथिवीषेण प्रथम – इन दो वाकाटक राजाओं का शासनकाल ज्ञात करना अवशिष्ट रह जाता है । पृथिवीषेण प्रथम का पुत्र रुद्रसेन द्वितीय, गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का जामाता था । चन्द्रगुप्त द्वितीय ई० सन् ३७५ में

---

[1] ...समाः षण्णवतिं ज्ञात्वा, पृथिवीं च गमिष्यति ॥३६७॥

[वायुपुराण, चतुर्नवतितमोऽध्याय]

[2] विन्ध्यशक्तिसुतश्चापि, प्रवीरो नाम वीर्यवान् ।
भोक्ष्यन्ति च समाः षष्टि पुरीं कांचनकां च वै ॥३७२॥

[वही]

गुप्त साम्राज्य का अधिपति बना, यह प्रायः सभी इतिहासज्ञ स्वीकार करते हैं और मोटे तौर पर यही समय चन्द्रगुप्त द्वितीय के जामाता रुद्रसेन द्वितीय का भी होना चाहिए।

कवि हरिषेण द्वारा उट्टंकित करवाये गये इलाहाबाद स्थित कौशाम्बी के स्तम्भलेख से यह स्पष्ट है कि गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने रुद्रसेन प्रथम (वाकाटक महाराजा) को कौशाम्बी के युद्धक्षेत्र में पराजित किया। समुद्रगुप्त का समय ई० सन् ३३५ से ३७५ के आसपास का माना जाता है और रुद्रसेन प्रथम का समय ई० सन् ३४४ से ३४८ माना गया है।[1]

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के जामाता रुद्रसेन द्वितीय के सिंहासनासीन होने का समय ई० सन् ३७५ मान लिये जाने पर पृथ्वीषेण प्रथम का समय स्वतः ही ई० सन् ३४८ से ३७५ तक का सिद्ध हो जाता है। इन तथ्यों से वाकाटक राजवंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति का शासनकाल ३६ वर्ष उसके पुत्र प्रवरसेन का ६० वर्ष, रुद्रसेन प्रथम का ४ वर्ष और पृथ्वीषेण प्रथम का शासनकाल २७ वर्ष का तथा इन चारों वाकाटक वंश के राजाओं का कुल मिलाकर ई० सन् ३७५ तक १२७ वर्ष का शासनकाल सिद्ध होता है। इस प्रकार ३७५ में से १२७ घटाने पर वाकाटक राजवंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति के राज्यसिंहासनारूढ़ होने का समय ई० सन् २४८ प्रमाणित होता है। गुप्तवंश के संस्थापक श्री गुप्त का शासनकाल ई० सन् २४० से २८० तक का और भारशिव राजवंश के चौथे राजा त्रयनाग का शासनकाल ई० सन् २४५ से २५० तक का अनुमानित किया जाता है। ऐसी स्थिति में विन्ध्यशक्ति गुप्तवंश के प्रथम राजा श्रीगुप्त और भारशिव वंश के चौथे राजा त्रयनाग का समकालीन सिद्ध होता है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ राधाकुमुद मुकर्जी ने भी विन्ध्यशक्ति का लगभग यही समय अनुमानित किया है।[2]

विन्ध्यशक्ति ने कांचनका (बुंदेल खण्ड) में अपनी राजधानी स्थापित की और ई० सन् २४८ से २८४ तदनुसार वीर नि० सं० ७७५ से ८११ तक के ३६ वर्ष के शासनकाल में अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। इसके शासनकाल का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता।

वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन (प्रवीर)

विन्ध्यशक्ति की मृत्यु के पश्चात् वीर नि० सं० ८११ में प्रवरसेन कांचनका के राजसिंहासन पर बैठा। वीर नि० सं० ८११ से ८७१ तक के अपने ६० वर्ष

[1] The first of these kings was Rudradeva who is identified with Rudrasena I Vakataka (A.D. 344-48) and who must have been deprived of the eastern part of his territory between jumna & Vidisa, i. e. Bundelkhand.
[The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 23]

[2] Thus we may assume a period of 150 years at the least for the reigns of the four kings from Vindhyashakti I to Vindhyashakti II and the date A. D. 250 for the foundation of Vakataka I dynasty by Vindhyashakti.
[The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 43]

के शासनकाल में प्रवरसेन ने अनेक विजय अभियान किये और भारत के सुविशाल भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। अपनी विजयों के उपलक्ष में उसने ४ अश्वमेध किये[1] और अपने आपको सम्पूर्ण भारतवर्ष का सम्राट् घोषित किया। भारशिवों ने लम्बे समय तक कुषाणों के साथ युद्धरत रहकर भारत को विदेशी दासता से मुक्त किया। अपनी उन महान् विजयों के उपलक्ष में भारशिवों ने जो दश अश्वमेध किये, इससे यही प्रतीत होता है कि उन्होंने भारत से कुषाण शासन का पूर्णतः उन्मूलन कर दिया। ऐसी स्थिति में अनुमान किया जाता है कि प्रवरसेन के समक्ष विदेशी शक्तियों के साथ संघर्ष करने का कोई अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ और उसने भारशिवों, अन्य राजाओं एवं गणराज्यों के साथ युद्धरत रहकर उन पर विजय प्राप्त की। प्रवरसेन के बड़े पुत्र गौतमीपुत्र का भारशिव वंशी राजा भवनाग की पुत्री से विवाह हुआ। पुराणों में प्रवरसेन के ४ पुत्र होने का उल्लेख है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवरसेन से पहले ही उसके बड़े पुत्र गौतमी पुत्र की मृत्यु हो गई, जिसके परिणामस्वरूप प्रवरसेन का पौत्र रुद्रसेन (प्रथम) अपने दादा के पश्चात् वाकाटक साम्राज्य का अधिकारी बना। प्रवरसेन के शेष तीन पुत्र भी अन्य राज्यों के अधिकारी बने।

रुद्रसेन प्रथम

ऊपर बताया जा चुका है कि रुद्रसेन (प्रथम) का ई० सन् ३४४ से ३४८ तक केवल ४ वर्ष ही शासन रहा। रुद्रसेन को अपने दादा से कांचनका का विशाल साम्राज्य और मातामह भवनाग से पुरिका का राज्य मिला था। समुद्रगुप्त ने इसे युद्ध में परास्त किया[3] और इस प्रकार वाकाटक साम्राज्य के भग्नावशेषों पर गुप्त साम्राज्य का निर्माण हुआ। रुद्रसेन प्रथम के पश्चात् हुए वाकाटक वंश के अनेक राजा गुप्त साम्राज्य के करद रहे।

वाकाटक वंश के राजाओं का शासनकाल इस प्रकार है :–

१. विन्ध्यशक्ति प्रथम	ई० सन् २४८ से २८४
२. प्रवरसेन प्रथम (गौतमीपुत्र)	,, ,, २८४ से ३४४
३. रुद्रसेन प्रथम (भारशिवराज भवनाग का दौहित्र)	,, ,, ३४४ से ३४८
४. पृथ्वीषेण प्रथम	,, ,, ३४८ से ३७५
५. रुद्रसेन द्वितीय (चंद्रगुप्त द्वितीय का जामाता)	,, ,, ३७५ से ३९५
६. दिवाकरसेन की अभिभाविका प्रभावती गुप्ता	,, ,, ३९५ से ४०५
७. दामोदरसेन की अभिभाविका प्रभावती गुप्ता	,, ,, ४०५ से ४१५
८. प्रवरसेन द्वितीय	,, ,, ४१५ से ४३५

[1] यक्ष्यन्ति वाजपेयैश्च, समाप्तवरदक्षिणैः।··· ॥३७४॥
[वायुपुराण, अध्याय ९९]

[2] ···तस्य पुत्रास्तु चत्वारो, भविष्यन्ति नराधिपाः ॥३७४॥ [वही]

[3] समुद्रगुप्त की विजयों का हरिषेण द्वारा तैयार करवाया गया इलाहाबाद स्थित स्तम्भलेख।

९. नरेन्द्रसेन	,, ,, ४३५ से ४७०
१०. पृथ्वीषेण द्वितीय	,, ,, ४७० से ४८५
११. देवसेन	,, ,, ४८५ से ४९०
१२. हरिषेण	,, ,, ४९० से ५२०

वाकाटकों की वत्सगुल्म शाखा :–

१. विन्ध्यशक्ति
२. प्रवरसेन प्रथम
३. सर्वसेन
४. विन्ध्यसेन (विन्ध्यशक्ति द्वितीय)
५. प्रवरसेन द्वितीय
६. (अज्ञात नामा)
७. देवसेन
८. हरिषेण

२० आर्य ब्रह्मद्वीपिकसिंह – वाचनाचार्य
२४. आर्य सिंह – युगप्रधानाचार्य

आचार्य रेवतीनक्षत्र के स्वर्गगमन पश्चात् आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह वाचनाचार्य हुए। आपकी श्रमण-दीक्षा नन्दीसूत्र स्थविरावली के अनुसार अचलपुर में हुई। आचार्य देवर्द्धि ने नन्दीसूत्र की स्थविरावली में 'बंभगदीवगसीहे' इस पद से आपको ब्रह्मद्वीप का सिंह एवं कालिक श्रुत की व्याख्या करने में अत्यन्त निपुण, धीर और उत्तम वाचक पद को प्राप्त करने वाला बताया है।

आर्य सिंह के नाम के साथ ब्रह्मद्वीपक विशेषण से आचार्य देवर्द्धि ने सिंह नाम के अनेक मुनियों से आर्य सिंह को भिन्न बताने के लिए इन्हें 'ब्रह्मद्वीप का सिंह' इस नाम से अभिहित किया है। ब्रह्मद्वीप शब्द को देख कर सहज ही ब्रह्मद्वीपिकी शाखा की स्मृति हो सकती है और ऐसा अनुमान होना भी स्वाभाविक है कि आर्य सिंह ब्रह्मद्वीपिका शाखा के मुनि होंगे। किन्तु ज्यों ही इनका रेवतीनक्षत्र के साथ गुरु-शिष्य का सम्बन्ध और देवर्द्धि द्वारा कथित वाचकपदधरों का ध्यान आता है, तब विचार आता है कि ये आर्य सिंह वाचकवंश के ही विशिष्ट आचार्य होने चाहिये। क्योंकि युगप्रधान परम्परा में रेवतीमित्र के शिष्य ब्रह्मद्वीपकसिंह का नहीं अपितु सिंह का उल्लेख मिलता है। कल्प स्थविरावली में स्थविर आर्य धर्म के शिष्य आर्य सिंह का नाम अवश्य उपलब्ध होता है। यदि उन्हें ब्रह्मद्वीपिकी शाखा के आचार्य मान कर स्कन्दिलाचार्य का गुरु माना जाय तो समय का मेल बैठ सकता है। परन्तु नन्दीसूत्र की चूर्णि, वृत्ति[1] आदि में स्कंदिल को स्पष्ट रूप से वाचक आर्य सिंह के शिष्य के रूप में मान्य किया है।

सम्भव है ब्रह्मद्वीपकसिंह का वाचनाचार्यकाल भी वीर नि० की ८ वीं शताब्दी का अन्तिम काल रहा हो। दुष्पमाकालश्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार युग-प्रधान आचार्य सिंह का काल इस प्रकार मान्य किया गया है :–

---

[1] बहुनगरेषु निर्गतं-प्रसिद्धं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गतयशसः तान् वन्दे सिंहवाचकशिष्यान् स्कन्दिलाचार्यान्। [नन्दी स्थविरावली, हारिभद्रीयावृत्ति, गा० ३३]

वीर नि० सं० ७१० में जन्म, १८ वर्ष पश्चात् ७२८ में दीक्षा, २० वर्ष सामान्य साधु-पर्याय और ७८ वर्ष युगप्रधानकाल पूर्ण कर वीर नि० सं० ८२६ में स्वर्गवास ।

वाचक आर्य सिंह को युगप्रधान सिंह से भिन्न मानने पर आर्य स्कंदिल का कार्यकाल २६ वर्ष अधिक होता है जबकि युगप्रधान आर्य सिंह को ही वाचक आर्य सिंह मानने से आर्य स्कन्दिल का कार्यकाल वीर नि० सं० ८२६ में आता है । इतिहास के विशेषज्ञ विद्वान् तथ्यों को ध्यान में लेकर निर्णय करें कि वाचक आर्य सिंह और युगप्रधान आर्य सिंह भिन्न आचार्य हैं अथवा एक ।

२०. गणाचार्य मानतुंग

आचार्य मानदेव के पश्चात् आचार्य मानतुंग बड़े ही प्रभावक आचार्य हुए हैं । ये वाराणसी के ब्रह्मक्षत्रिय श्रेष्ठी धनदेव के पुत्र बताये गये हैं । उस समय वाराणसी में नग्न जैन मुनियों का आगमन हुआ । मानतुंग उनका उपदेश सुन कर भोगवासना से विरक्त हुए । मुनि चारुकीर्ति ने मानतुंग की इच्छा देख कर माता-पिता की अनुमति से उसे मुनिधर्म में दीक्षित किया और दीक्षानन्तर मानतुंग का नाम महाकीर्त्ति रखा । कहा जाता है कि मुनि महाकीर्त्ति को अपनी वहिन द्वारा कमण्डलु के जल में असावधानी से रहे हुए जलीय जन्तु दिखाये जाने पर प्रेरणा हुई और उन्होंने आचार्य अजीतसिंह के पास श्वेताम्वरी दीक्षा स्वीकार की ।

एक बार राजा हर्ष ने मयूर और वाण की विद्वत्ता एवं चमत्कारपूर्ण भक्ति को देख कर आचार्य मानतुंग को सादर निमन्त्रित किया । मन्त्री के आग्रह पर शासन-प्रभावना का सुअवसर जान कर आचार्य मानतुंग राजभवन पधारे । महाराज हर्ष ने भी अभ्युत्थानपूर्वक अभिवादन कर कहा – "महात्मन् ! भूमण्डल पर ब्राह्मण कितने अतिशयसम्पन्न हैं । एक ने सूर्य की आराधना से अपने अंग का कुष्ट रोग मिटा दिया जब कि दूसरे ने (वाण ने) चण्डिका की उपासना से कटे हाथ पैर पुनः प्राप्त कर लिये । यदि आपकी भी शक्ति हो तो कुछ चमत्कार वताइये ।"

राजा की वात सुन कर आचार्य मानतुंग ने कहा – "भूपाल ! हम गृहस्थ नही हैं, जो धन, धान्य, पुत्र, कलत्र आदि के लिये राजरंजन आदि किया करें । परन्तु शासन का उत्कर्ष ही हमारा कार्य है ।"

मुनि की वात सुन कर राजा ने कहा – "इनको वेड़ियों से जकड़ कर अन्धेरे कोठों में वन्द कर दिया जाय ।"

राजपुरुषों ने ४४ लोहमय वन्धनों से आचार्य मानतुंग को जकड़ कर अन्धेरे कमरों में वन्द कर ताले लगा दिये । आचार्य मानतुंग ने बिना किसी प्रकार के क्षोभ के एकाग्र मन से भगवान् श्री ऋषभदेव की स्तुति रूप भक्तामर स्तोत्र की रचना प्रारम्भ की । स्तोत्र के ४४ श्लोक पूरे होते-होते सारे बंध

कमरों के द्वार स्वतः ही खुल गये और आचार्य मानतुंग के सभी बन्धन कट गये। बन्धन-मुक्त आचार्य पूर्वाचल से उदीयमान भास्कर की तरह राजसभा में जा उपस्थित हुए।[1]

इस प्रकार मानतुंगसूरि के त्याग-तप और प्रतिभा के चमत्कार से प्रभावित राजा हर्ष आपका परम भक्त बन गया। आचार्य मानतुंग ने भी वीतराग-मार्ग का उपदेश सुना कर अपने स्थान की ओर प्रस्थान किया। उनके द्वारा निर्मित "भक्तामरस्तोत्र" आज भी जैन समाज में बड़ी ही श्रद्धा-भक्ति के साथ घर-घर में गाया जाता है।

"भयहरस्तोत्र" भी आचार्य मानतुंग की रचना मानी जाती है। चिरकाल तक जैनशासन का उद्योत कर अपने सुयोग्य शिष्य गुणाकर को आचार्य पद पर नियुक्त कर संलेखनापूर्वक आप वीर नि० सं० ७५८ में स्वर्गस्थ हुए।

तपागच्छ पट्टावली में बताया गया है कि आचार्य मानतुंग के पश्चात् क्रमशः (२१) श्री वीरसूरि, (२२) श्री जयदेवसूरि, और (२३) देवानन्दसूरि गणाचार्य हुए।

इन आचार्यों का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होने के कारण यहां इनकी नामावली मात्र प्रस्तुत की गई है।

युगप्रधानाचार्य आर्य सिंह के काल में गुप्त राजवंश का अभ्युदय

पुण्यभूमि भारत को विदेशी शासकों की दासता से उन्मुक्त करने का जो देशव्यापी अभियान भारशिवों ने प्रारम्भ किया था, उसमें उन्होंने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर एक विशाल भारतीय साम्राज्य की स्थापना की। भारशिवों द्वारा प्रारम्भ किये गये स्वातन्त्र्य-संग्राम को वाकाटक राजवंश ने और अधिक व्यापक बनाया और उनके पश्चात् गुप्त राजवंश ने उसे अन्तिम रूप से सम्पन्न कर अफगानिस्तान, काश्मीर, नेपाल, आसाम और बंगाल से लेकर समुद्रपर्यन्त समस्त दक्षिण-पश्चिमी प्रदेशों तक भारत की चप्पा-चप्पा भूमि को एक सुदृढ़ शासनसूत्र में बांधकर सुविशाल गुप्त साम्राज्य की संस्थापना की।

सभी इतिहासकारों एवं पाश्चात्य विद्वानों ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि गुप्त साम्राज्य के समय में भारत ने चहुंमुखी प्रगति की। इतिहासकारों का

---

[1] स्वयमुद्घटिते द्वारयन्त्रे संयमसंयतः।
सदानुच्छृंखल : श्रीमानुच्छृंखलवपुर्वभौ ॥१४१॥ [प्रभावक चरित्र, पृ० ११६]

कतिपय कथाकारों द्वारा यह उल्लेख किया गया है कि आचार्य मानतुंग को एक के अन्दर एक करके ४४ कोटरियों में अलग-अलग ४४ ताले लगा कर बन्द किया गया। आचार्य मानतुंग आदिनाथस्तोत्र के एक-एक श्लोक की रचना करते गये और कोटरियों के ताले व द्वार क्रमशः स्वतः ही खुलते गये। राजा हर्ष का समय वीर निर्वाण की १२वीं शताब्दी है। हर्ष की मृत्यु ई० सन् ६४८ में हुई। ऐसी स्थिति में आचार्य मानतुंग हर्ष के समकालीन नहीं हो सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभावक चरित्रकार ने यहां राजा का नाम उल्लेख करने में स्खलना की है। —सम्पादक

इस विषय में भी मतैक्य है कि गुप्त राजवंश का आदि संस्थापक श्रीगुप्त था। श्रीगुप्त के सत्ताकाल को निश्चित रूप से निर्णीत करने वाले अभिलेखादि अभी तक भारत में उपलब्ध नहीं हुए हैं। ई० सन् ६७२ में इ-त्सिग नामक एक चीनी यात्री भारत में आया। उसके भारत यात्रा के विवरण श्रीगुप्त के सत्ताकाल पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं। इ-त्सिग ने अपने भारत-भ्रमण के विवरण में ई० सन् ६९० में लिखा है कि ५०० वर्ष पूर्व श्रीगुप्त ने चीनी तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिये मृगशिखावन के समीप एक मन्दिर का निर्माण करवा उसके व्ययभार को वहन करने के लिये २४ गाँव प्रदान किये। इत्सिग ने लिखा है कि मृगशिखावन नालन्दा से पूर्व में ५० स्टेग (अनुमानतः २५० मील) दूर, गंगा नदी के किनारे पर स्थित है। नालन्दा को इत्सिग ने महाबोधि से उत्तर-पूर्व में ७ स्टेग (लगभग ३५ माइल) दूरी पर अवस्थित बताया है।

इ-त्सिग के उपरिलिखित उल्लेखानुसार मगधराज श्रीगुप्त का समय ई० सन् १९० के आसपास का और उसके राज्य की सीमा नालन्दा से आधुनिक मुर्शिदाबाद तक होना अनुमानित किया जाता है। श्रीगुप्त के सत्ताकाल के सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार राधाकुमुद मुकर्जी का अभिमत है कि गुप्त राजवंश के सम्पूर्ण शासनकाल पर गहराई से विचार करने पर श्रीगुप्त का सत्ताकाल ई० सन् १९० के स्थान पर ई० सन् २४० से २८० तक का अनुमानित किया जाता है। क्योंकि श्रीगुप्त के शासनकाल से ५०० वर्ष पश्चात् जनश्रुति के आधार पर एक विदेशी द्वारा उल्लिखित समय में थोड़ा फरक आना अवश्यम्भावी है।[1]

गुप्त महाराजा किस जाति अथवा वंश के थे—इस प्रश्न का समुचित समाधान गुप्त सम्राटों के किसी भी अभिलेख से नहीं होता। वाकाटक महाराजा रुद्रसेन द्वितीय की महारानी प्रभावती गुप्ता (चन्द्रगुप्त : द्वितीय : विक्रमादित्य की पुत्री) के पूना के ताम्रपत्रीय अभिलेख में गुप्त राजाओं का 'धारण' गोत्र बताया गया है।[2]

गुप्तवंश के आदि संस्थापक श्रीगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र घटोत्कच मगध के राज्य सिंहासन पर बैठा। इतिहासज्ञों द्वारा इसका शासनकाल वीर नि० सं० ८०७ से ८४६ (ई० सन् २८०-३१९) अनुमानित किया जाता है पर इसके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा अनेक राज्यों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् वीर नि० सं० ८४६ में गुप्त संवत् प्रचलित किये जाने की ऐतिहासिक घटना को दृष्टि में रखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वीर नि० सं० ८४६ से कुछ वर्ष पहले ही इसका देहावसान हो चुका था।

सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के शासनकाल में श्री घटोत्कचगुप्त नामक वैशाली का शासक (भुक्ति-अधिकारी) था। उसके नाम के मुद्रालेख प्राप्त हुए हैं।

---

[1] The Gupta Empire, by Radhakumud Mookerji, p. 11

[2] वाकाटक नृपति दिवाकरसेन और दामोदर-प्रवरसेन की माता एवं अभिभाविका का पूना का ताम्रपत्राभिलेख।

श्री घटोत्कचगुप्त वस्तुतः महाराजा घटोत्कच का पश्चाद्वर्ती कुमारामात्य मात्र था न कि गुप्त राजाओं के वंशवृक्ष का महाराजा।[१]

गुप्त नृपति घटोत्कच के सम्बन्ध में उसके नामोल्लेख के अतिरिक्त और कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता।

२१. आर्य स्कन्दिल – वाचनाचार्य

वाचक वंश परम्परा में आर्य स्कन्दिल बड़े प्रभावक और प्रतिभाशाली आचार्य हो गये हैं। उन्होंने अति विषम समय में श्रुतज्ञान की रक्षा कर जो शासन की सेवा की है, वह सदा जैन-इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों से लिखी जाती रहेगी। हिमवन्त स्थिविरावली के अनुसार आर्य स्कन्दिल का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :–

"मथुरा के ब्राह्मण मेघरथ और ब्राह्मणी रूपसेना के यहां आपका जन्म हुआ। गर्भकाल में माता ने चन्द्र का स्वप्न देखा अतः पुत्र का नाम सोमरथ रखा गया। आपके माता-पिता प्रारम्भ से ही जैन धर्मावलम्बी थे।

एक वार ब्रह्मद्वीपक आचार्य सिंह विहारक्रम से मथुरा पधारे। उनके धर्मोपदेश को सुनकर सोमरथ ने वैराग्य भाव से श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। गुरु ने दीक्षा के समय आपका नाम स्कन्दिल रखा। मुनि स्कन्दिल ने अपने गुरु आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह की सेवा में निरत रहते हुए एकादशांगी एवं पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। आर्य सिंह ने स्कन्दिल को सुयोग्य एवं प्रतिभाशाली समझकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। तदनुसार आर्य सिंह के स्वर्गगमन के पश्चात् आर्य स्कन्दिल को संघ द्वारा वाचनाचार्य पद पर नियुक्त किया गया।"

कल्प स्थविरावली में आर्य संडिल्ल को काश्यप गोत्रीय आर्य धर्म का शिष्य वताया गया है। संडिल्ल और स्कन्दिल को एक मानकर कुछ लेखकों ने स्कंदिलाचार्य को काश्यप गोत्रीय आर्य सिंह के शिष्य आर्य धर्म का शिष्य वताया है, जवकि नन्दीसूत्र-स्थविरावली में उल्लिखित वाचक आर्य स्कन्दिल रेवतीनक्षत्र के शिष्य आर्य ब्रह्मद्वीपिकसिंह के अन्तेवासी माने गये हैं।

हिमवन्त स्थविरावली में भी यही आर्य ब्रह्मद्वीपिक सिंह स्कन्दिलाचार्य के गुरु माने गये हैं। इन्हीं ब्रह्मद्वीपिकसिंह के मधुमित्र और आर्य स्कन्दिल नामक दो प्रमुख शिष्य थे। आचार्य परम्पराओं को गहराई से देखने पर प्रतीत होता है कि आर्य सिंह नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। पहले आर्यवज्र के गुरु सिंह गिरी। दूसरे आर्य धर्म के गुरु काश्यपगोत्रीय आर्य सिंह। इनके गुरु का नाम भी आर्य धर्म वताया गया है। तीसरे रेवती नक्षत्र के शिष्य आर्य ब्रह्मद्वीपिक सिंह। समान नाम वाले इन तीन आचार्यों में वस्तुतः दो आर्य सिंह आर्य सुहस्ती की परम्परा के हैं, जवकि तीसरे आर्य ब्रह्मद्वीपिकसिंह रेवतीनक्षत्र के शिष्य और आर्य महागिरि की

[१] The 'Gupta Empire', Radhakumud Mookerji, p. 12.

परम्परा के आचार्य माने गये हैं। हिमवन्त स्थविरावली भी इसी बात की पुष्टि करती है।

सम्भव है आर्य समित द्वारा प्रवर्तित ब्रह्मद्वीपिक शाखा से भिन्न ये कोई तत्प्रदेशवर्ती साधु-समुदाय के प्रमुख साधु रहे हों। पट्टावली और परम्परा लेखक स्वयं भी कितनी ही जगहों पर पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाये इसलिये अनेक स्थानों पर नामसाम्य के कारण एक का परिचय उन्होंने दूसरे के साथ जोड़ दिया है, जिससे कतिपय स्थलों पर विपर्यास भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

स्कन्दिलाचार्य का कार्यकाल वीर नि०सं० ८२३ से ८४० के आस-पास का प्रायः सर्वसम्मत रूप से स्वीकार किया गया है पर स्थविरावलीकार ने वि० सं० १५३ में आचार्य स्कन्दिल द्वारा मथुरा में साधु-समुदाय को एकत्रित करने का उल्लेख किया है, जो स्थविरावली में उद्धृत गन्धहस्ती के विवरणकाल को बताने वाली गाथाओं से भी बाधित होता है। आचार्य गन्धहस्ती ने स्कन्दिलाचार्य के अनुरोध से विक्रम सं० २०० में आचारांग का विवरण पूर्ण किया, इस प्रकार का उल्लेख हिमवन्त स्थविरावली में उद्धृत गाथाओं में किया गया है। संभव है लिपिदोष अथवा दृष्टिदोष 'विक्रमार्कस्य त्रिशताधिक त्रिपंचाशत संवत्सरे' इस पद को— 'विक्रमार्कस्यैकशताधिक त्रिपंचाशत संवत्सरे-' समझ लिया गया हो। इस सम्बन्ध में प्राचीनतम प्रति से निर्णय किया जा सकता है। इस प्रकार आर्य स्कन्दिल का कार्यकाल वीर नि० सं० ८२३ के पश्चात् का मानने पर ही आगे के घटनाक्रम की निर्विरोध संगति बैठ सकती है। मेरुतुंग की विचारश्रेणी में भी आर्य स्कन्दिल का समय वीर नि० सं० ८२३ ही दिया हुआ है। मेरुतुंग ने स्पष्ट लिखा है कि विक्रम से ११४ वर्ष पश्चात् आर्य वज्रस्वामी हुए और आर्य वज्रस्वामी से २३९ वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल हुए।[1] वीर निर्वाण से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् चला और उससे ३५३ वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल हुए। इस प्रकार आर्य स्कन्दिल का समय वीर नि० सं० ८२३ ठीक बैठता है।

यह समय बड़ा ही विषम समय था। एक ओर सौराष्ट्र में बौद्धों और जैनों के बीच संघर्ष चल रहा था तो दूसरी ओर मध्य भारत में हूणों के साथ गुप्तों का भयंकर युद्ध चल रहा था। उसी विषम समय में १२ वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा और उस दीर्घकालीन दुष्काल ने भयंकर संघर्षों से पूर्ण उस संक्रान्ति-काल की विभीषिका को और अधिक बढ़ा दिया। इस प्रकार के संकटपूर्ण समय में जैन मुनियों और विशेषतः श्रुतधरों की संख्या घटते घटते अति न्यून रह गई। फलतः आगम-विच्छेद की स्थिति आ चुकी थी। इस प्रकार के अति विकट समय में सुभिक्ष होने पर वी० नि० सं० ८३० से ८४० के मध्यवर्ती किसी समय में स्कन्दिल सूरि ने उत्तर-भारत के मुनियों को मथुरा में एकत्रित कर आगम

---

[1] यतः श्री विक्रमात् ११४ वर्षैर्वज्रस्वामी, तदनु २३९ वर्षैः स्कन्दिल........ ...।
[मेरुतुंगीया विचारश्रेणी]

वाचना की। जैसा कि एक प्राचीन गाथा में कहा गया है:– "दुर्भिक्ष के समाप्त होने पर आर्य स्कन्दिलसूरि ने श्रमणसंघ को मथुरा में एकत्रित कर अनुयोग प्रारम्भ किया।"[1]

आर्य स्कन्दिल के तत्वावधान में आगमों की वाचना हुई और अनुयोग व्यवस्थित किया गया, जो आज भी संघ में प्रचलित है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए प्रबल प्रमाण के रूप में नन्दी-स्थविरावली की निम्नलिखित गाथा पर्याप्त है:–

जेसिमिमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनयरनिग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥३३॥

अर्थात् – जिनके द्वारा संगठित-सुव्यवस्थित अनुयोग (आगमपाठ) आज भी भरतक्षेत्र में प्रचलित है, उन महान् यशस्वी आर्य स्कन्दिल को प्रणाम करता हूँ।

इस गाथा की टीका करते हुए मलयगिरि ने लिखा है:–

"स्कन्दिलाचार्य के समय में दुष्षमाकाल के प्रभाव से बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा। उस भयंकर दुर्भिक्ष के समय में साधुओं को आहार की प्राप्ति दुर्लभ हो गई। इससे अपूर्व सूत्रार्थ-ग्रहण एवं पठित का परावर्तन प्रायः नष्ट हो चुका था। बहुत सा अतिशययुक्त श्रुत भी इस काल में विनष्ट हो गया तथा परावर्तन न हो सकने के कारण अंग-उपांगगत श्रुत भी पूर्ण रूप में नहीं रहा।

जब बारह वर्ष का दुर्भिक्ष समाप्त होने पर सुभिक्ष हुआ तो मथुरा में स्कन्दिलाचार्य की प्रमुखता में श्रमणसंघ ने एकत्र मिलकर आगम-वाचना प्रारम्भ की। जिस-जिस स्थविर को जो-जो श्रुतपाठ स्मरण था, उसे सुन-सुन कर आगमों के पाठ को स्कन्दिलाचार्य ने सर्वानुमति से सुनिश्चित किया। इस प्रकार कालिक-श्रुत और पूर्वगत को सम्यग् अनुसन्धान के पश्चात् सुव्यवस्थित किया गया।

मथुरा में यह संघटना हुई इसलिए इसको माथुरी वाचना कहते हैं और यह उस समय के युगप्रधान स्कन्दिलाचार्य को मान्य थी एवं अर्थरूप से उन्होंने ही शिष्यों को उसका अनुयोग दिया था इसलिए वह स्कन्दिलाचार्य का अनुयोग कहलाता है।

दूसरे आचार्यों का कहना है कि दुर्भिक्ष से कुछ भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ.... ....केवल अनुयोग करने वाले सभी प्रमुख आचार्य दुर्भिक्ष के समय में काल के ग्रास बन चुके थे। केवल एक स्कन्दिलाचार्य

---

[1] दुब्भिक्खम्मि पणट्ठे, पुणरवि मिलित्त समणसंघाओ।
मिहुराए अणुओगो, पवईयो खंदिलो सूरि ॥
[पट्टावली समुच्चय, परिशिष्ट]

ही बचे रह गये थे अतः उन्होंने दुर्भिक्ष के अन्त में मथुरा में पुनः अनुयोग (साधुओं को सूत्रार्थ का अध्यापन) प्रारम्भ किया।[1]

कहा जाता है कि १२ वर्षीय दुष्काल में भिक्षा न मिलने के कारण कितने ही जैन मुनि वैभारपर्वत तथा कुमारगिरि पर अनशन कर स्वर्गवासी हो गये। दुष्काल के पश्चात् जब आर्य स्कन्दिल ने मथुरा में जैन मुनियों की महती सभा आयोजित की तो उस समय स्थविर मधुमित्राचार्य और आर्य गन्धहस्ती प्रमुख १२५ निर्ग्रंथ उसमें उपस्थित थे। उन निर्ग्रंथों के स्मृतिपटल पर अंकित अवशिष्ट कण्ठस्थ पाठों को मिला कर आचार्य गन्धहस्ती आदि की सम्मति से आर्य स्कंदिल ने ११ अंगों का संकलन किया। वे ही सूत्र माथुरी वाचना के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह भी कहा जाता है कि मथुरा निवासी ओस वंशीय श्रावक पोलाक ने गन्धहस्ती के विवरण सहित उन सूत्रों को ताड़पत्रादि पर लिखा कर मुनियों को प्रदान किया।[2]

जिस समय मथुरा में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम-वाचना हुई, लगभग उसी समय में दक्षिण के श्रमणों को एकत्रित कर आचार्य नागार्जुन ने भी वल्लभी में एक आगम-वाचना की। इस प्रकार के उल्लेख 'कहावली', 'योगशास्त्र प्रकाश' और 'ज्योतिषकरण्डक' आदि में उपलब्ध होते हैं।

दुर्भिक्ष की समाप्ति के पश्चात् मथुरा और वल्लभी में हुई दोनों आगम-वाचनाओं का उल्लेख करते हुए भद्रेश्वरसूरि ने अपने ग्रन्थ 'कहावली' में लिखा है कि मथुरा में विशाल आगमज्ञान के धनी स्कन्दिल नाम के आचार्य और वल्लभी में नागार्जुन नामक आचार्य थे। दुष्काल के समय में उन महान् विरक्त आचार्यो ने साधुओं को दूर-दूर के देशों में भेज दिया। उस संकटकाल को किसी न किसी

---

[1] अथायमनुयोगोऽर्द्धभारते व्याप्रियमाणः कथं तेषां स्कन्दिलनाम्नामाचार्याणां सम्बन्धी ? उच्यते, इह स्कन्दिलाचार्यप्रतिपत्तौ········द्वादशवार्षिकं दुर्भिक्षमुदपादि तत्र चैवं ये महति दुर्भिक्षे भिक्षालाभस्यासंभवादवसीदतां साधूनामपूर्वार्थग्रहणपूर्वार्थानुस्मरणश्रुत-परावर्तनानि मूलत एवापजग्मुः। श्रुतमपि चातिशायिप्रभूतमनेशत्। अंगोपांगादिगतमपि भावतो विप्रणष्टम्। तत्परावर्तनादेरभावात्, ततो द्वादशवर्षानन्तरमुत्पन्ने सुभिक्षे मधुरापुरि स्कन्दिलाचार्यप्रमुखश्रमणसंघेनैकत्र मिलित्वा यो यत् स्मरति स कथयतीत्येवं कालिकश्रुतं पूर्वश्रुतं च किंचिदनुसंधाय घटितं, यतश्चैतन्मधुरापुरि संघटितं इयं वाचना "माथुरी"—त्यभिधीयते, सा च तत्कालयुगप्रधानानां स्कन्दिलाचार्याणामभिमता तैरेव चार्थतः शिष्य-बुद्धिं प्रापितेति तदनुयोगः तेषामाचार्याणां सम्बन्धीति व्यपदिश्यते। अपरे पुनरेवमाहुः न किमपि श्रुतं दुर्भिक्षवशादनेशत्, किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्तते स्म। केवलमन्ये प्रधाना येऽनुयोगधराः ते सर्वेऽपि दुर्भिक्षकालकवलीकृताः, एक एव स्कन्दिलसूरयो विद्यन्ते स्म। ततस्तैर्दुर्भिक्षापगमे मधुरापुरि पुनरनुयोगः प्रवर्तित इति वाचना माथुरीति व्यप-दिश्यते, अनुयोगश्च तेषामाचार्याणामिति।" [नन्दीसूत्र, मलयगिरि वृत्ति, पत्र ५१ (२)

[2] मधुरानिवासिना श्रमणोपासकवरेण ओसवंशविभूषणेन पोलाकाभिधेन तत्समस्तमपि ग्रन्थं गंधहस्तिकृतविवरणोपेतं तालपत्रादिषु लेखयित्वा भिक्षुभ्यः स्वाध्यायार्थं समर्पितम्।
[हिमवन्त स्थविरावली]

प्रकार बिताकर सुकाल होने पर वे साधु पुनः मिले। स्वाध्याय करते समय उन्होंने अनुभव किया कि जो कुछ उन्होंने पहले अध्ययन किया था, वह आगमज्ञान अनेक स्थलों की विस्मृति के कारण खंडित हो गया है। कहीं श्रुतज्ञान विनष्ट न हो जाय, इस विचार से उन दोनों आचार्यों ने आगमों का उद्धार करना प्रारम्भ किया। जो पूरी तरह स्मरण था, उसको उसी प्रकार रख लिया गया और जो-जो स्थल विस्मृति के कारण नष्ट हो चुके थे, उनको पूर्वापर सम्बन्ध से सूत्रों के अर्थानुसार पुनः सुसंगठित किया गया।[1]

वाचनाभेद का कारण बताते हुए कहावलीकार ने लिखा है कि – 'मथुरा और वल्लभी में पृथक्-पृथक् हुई आगम-वाचनाओं में आगमों का उद्धार करने के पश्चात् आर्य स्कन्दिल और आर्य नागार्जुन मिल नहीं सके। उनका स्वर्गवास हो गया। इसलिये उनके द्वारा उद्धरित सिद्धान्तों में समानता होने पर भी कहीं-कहीं पर जो वाचनाभेद रह गया था, वह वैसा ही बना रहा। पापभीरू पश्चाद्-वर्ती आचार्यों ने उसे नहीं बदला। फलस्वरूप विवरणकारों ने भी 'नागार्जुनीयाः पुनः एवं कथयन्ति' इस प्रकार के उल्लेख से वाचनाभेद सूचित किया।'[2]

योगशास्त्र की वृत्ति में भी उपरोक्त दोनों वाचनाओं का उल्लेख करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि नागार्जुन और स्कन्दिलाचार्य ने दुष्षमाकाल के प्रभाव से जिनवचन को नष्टप्राय समझकर पुस्तकों में लिखा।[3]

इसी प्रकार ज्योतिषकरण्डक की टीका में भी मथुरा और वल्लभी में हुई वाचनाओं तथा उन दोनों वाचनाओं में परस्पर वाचना-भेद होने का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि विस्मृत सूत्र एवं अर्थ को याद करके व्यवस्थित करने में वाचनाभेद हो जाना अवश्यम्भावी है।[4]

---

[1] अत्थि महुराउरीए सुयसमिद्धो, खन्दिलो नाम सूरि तह वलहीनयरीए नागज्जुणो नाम सूरि। तेहिं य जाए वरिसीए दुक्काले निव्वउ भावओ वि फुट्टिकाऊण पेसिया दिसोदिसिं साहवो गमिउं च कहवि दुत्थं ते पुणो मिलिया सुगाले, जाव सज्झायंति ताव खंडुखुरुडीहूयं पुव्वाहियं। तओ मा सूयविच्छित्ती होइत्ति पारद्धो सूरीहिं सिद्धन्तुद्धारो। तत्थवि जं न वीसरियं तं तहेव संठवियं पम्हुट्ठट्ठाणे उण पुव्वावराउंत सुतत्थाणुसारओ कया संघडणा।
[कहावली, २९८ (अप्रकाशित)]

[2] परोप्परासंपन्नमेलावा य तस्समयाओ खंडिलनागज्जुणायरिया कालं काउं देवलोगं गया तेण तुल्लयाए वि तदुद्धरियसिद्धंताणं जो संजाओ कथमवि वायणभेओ सो य न चालिओ पच्छिमेहिं। तओ विवरणकारेहिं वि "नागज्जुणीया उण एवं पढंती" त्ति समुल्लिगिया तहेवायाराइसु।
[वही]

[3] जिनवचनं च दुःषमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कन्दिलाचार्य-प्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्। [योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७]

[4] इह हि स्कंदिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा एको वलभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परवाचनाभेदो जातः विस्मृत-योर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदः न काचिदनुपपत्तिः।"
[ज्योतिषकरण्डक टीका]

आगमज्ञान को नष्ट होने से बचाकर आर्य स्कन्दिल ने जिन-शासन की अमूल्य सेवा के साथ-साथ मुमुक्षुओं, तत्त्वजिज्ञासुओं एवं साधकों का जो असीम उपकार किया है, उसके लिये जिन-शासन में प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ उनका स्मरण किया जाता रहेगा।

आगमवाचना की समाप्ति के पश्चात् कितने वर्ष तक आर्य स्कन्दिल आचार्य पद पर रहे, यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, केवल अनुमानित काल ही बताया जा सकता है। सम्भव है आप वीर नि० सं० ८४० के आसपास किसी समय में स्वर्गाधिकारी हुए हों। आपने अन्तिम समय में अनशन एवं समाधिपूर्वक मथुरा नगरी में प्राणोत्सर्ग किया।

आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन आगमवाचनाओं के पश्चात् परस्पर मिल नहीं सके, इसी कारण दोनों वाचनाओं में रहे हुए पाठ-भेदों का निर्णय अथवा समन्वय नहीं हो सका।

२२. हिमवन्त क्षमाश्रमण – वाचनाचार्य

आर्य स्कन्दिल के पश्चात् आर्य हिमवान् वाचनाचार्य हुए। आपके जन्म, दीक्षा आदि का स्पष्ट काल-निर्देश उपलब्ध नहीं होता। केवल नंदीसूत्रस्थ स्थविरावली से आपका थोड़ा सा परिचय प्राप्त होता है। नंदी-स्थविरावली में आचार्य देवर्द्धि ने आर्य हिमवन्त की स्तुति करते हुए कहा है :-

ततो हिमवंतमहन्तविक्कमे धिइपरक्कममणंते।
सज्झायमणंतधरे, हिमवन्ते वंदिमो सिरसा ॥३३॥
कालिअसुयअणुओगस्स, धारए धारए य पुव्वाणं।
हिमवंतखमासमणे, वंदे णागज्जुणायरिए ॥३४॥

स्थविरावलीकार आर्य देववाचक ने आर्य हिमवन्त के विक्रम की हिमालय पर्वत से तुलना की है। इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए चूर्णिकार ने बताया है :- "जिनका यश उत्तर में हिमवान् पर्वत व शेष दिशाओं में समुद्र तक फैला हुआ है और जो विशिष्ट सामर्थ्ययुक्त, कुल, गण एवं संघ के हित में प्रतिवादियों पर विजय प्राप्त करने एवं विशिष्ट लब्धिसम्पन्न होने के कारण महान् पराक्रमशाली तथा परीषह-उपसर्ग-सहन एवं तपविशेष में भी धृति-बल से महान् थे, उन महान् आचार्य हिमवंत को प्रणाम करता हूँ। जैसा कि कहा है :-

"महंत विक्कमो कहं – उच्यते सामर्थ्यतो महन्ते वि कुलगण-संघ पओयणे तरति त्ति – परप्पवादिजयण वा विशेषबललद्धिसंपन्नतणतो वा महंत विक्कमो, अहवा परिसहोवसग्गे तवविसेसे वा धितिबलेण परक्कमंतो महंतो। अणंत गम पज्जवत्तणतो अणंतधरो तं महंत हिमवंत णामं वंदे।"[1]

---

[1] नंदीचूर्णि, पृ० १०, गा० ३३

देवर्द्धि द्वारा प्रणीत उपरोक्त गाथाओं से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि हिमवंत क्षमाश्रमण कई पूर्वों के ज्ञाता और समर्थ व्याख्याता-वाचनाचार्य थे। उन्होंने दूर-दूर के क्षेत्रों में विचरण कर जैन धर्म का उल्लेखनीय प्रचार एवं प्रसार किया था। प्रचारक्षेत्रों में आने वाले कष्टों को भी उन्होंने बड़े धैर्य के साथ सहन किया।

नंदीसूत्र-स्थविरावली के अनुसार आचार्य हिमवान् (हिमवन्त) स्कन्दिलाचार्य के शिष्य माने गये हैं। आपके जन्म, दीक्षा, आचार्यकाल एवं स्वर्गगमन विषयक स्पष्ट उल्लेख के नहीं होते हुए भी इतना तो कहा जा सकता है कि आप वीर की नौवीं शताब्दी के मध्यवर्ती काल के आचार्य होने चाहिए।

२३ आचार्य नागार्जुन : वाचनाचार्य
२५ आचार्य नागार्जुन : युगप्रधानाचार्य

हिमवन्त क्षमाश्रमण के पश्चात् आर्य नागार्जुन वाचनाचार्य हुए। कहा जाता है कि नागार्जुन ढंक नगर के क्षत्रिय संग्रामसिंह के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सुव्रता था। नागार्जुन के गर्भ में आते ही माता ने स्वप्न में सहस्र फन वाला नाग देखा, इसलिये बालक का नाम नागार्जुन रखा गया। कहा जाता है कि नागार्जुन ने बाल्यावस्था में ही एक सिंह को मार गिराया और प्रारम्भ से ही प्रबल साहसी होने के कारण पर्वतों की गुफाओं एवं जंगलों में घूम-घूम कर वनवासी महात्माओं के संसर्ग से वनस्पतियों, जड़ियों और रसायनों द्वारा रस बनाना सीख लिया। उसने बचपन से ही पादलिप्तसूरि के अद्भुत चमत्कारों की बात सुन रखी थी अतः एक दिन आचार्य पादलिप्तसूरि के पास उनके किसी शिष्य के माध्यम से उसने एक रसकूपिका पहुंचाई। आचार्य ने रसकूपिका में भरे रस को एक पत्थर पर उंडेल दिया और उसमें अपना प्रस्रवण भर उसे नागार्जुन के पास लौटा कर कहला भेजा कि वह अपनी रसकूपिका सम्हाल ले। नागार्जुन ने भी उस रसकूपिका को पत्थर पर दे मारा। कूपिका को पत्थर पर पछाड़ते ही पत्थर में अग्नि प्रदीप्त हो उठी और वह पत्थर तत्काल स्वर्ण के रूप में परिवर्तित हो गया। यह देख कर नागार्जुन दंग रह गया और पादलिप्तसूरि के पास जाकर उनके चरणों में गिर गया।

उसी दिन से नागार्जुन आचार्य पादलिप्त का परम भक्त बन कर उनके पास रहने लगा। नागार्जुन इतना प्रतिभावान् था कि वह पादलिप्तसूरि के पैरों के लेप को सूंघ-सूंघ कर १६० वनस्पतियों के गुण-धर्म आदि से परिचित हो गया। लेप द्वारा वह स्वयं गगन-विचरण की प्रक्रिया को मूर्त रूप देने लगा। पर एक वस्तु की अपूर्णता के कारण वह कुछ दूर तक आकाश में गमन करने के पश्चात् पृथ्वी पर गिर पड़ता। यह जान कर आचार्य ने उसकी सूक्ष्म बौद्धिक प्रगल्भता से प्रसन्न हो कर कहा—"वत्स ! तुम्हारा औषधविज्ञान निस्संदेह गवेषणापूर्ण है पर इसमें कुछ गुरुगम्य ज्ञान की न्यूनता रह गई है।"

आचार्य ने मार्ग-दर्शन करते हुए कहा – "इस औषधि को चावल के धोवन और कांजी में घिस कर लेप किया जाय तो गगन में सरलता से गमन किया जा सकता है।" तदनन्तर आचार्य ने उसे यह भी शिक्षा दी कि वह सदा भौतिक विभूतियों के प्रलोभनों से दूर रह कर अन्तर्मन से वीतराग मार्ग का आराधन करता रहे, इसी में उसकी आत्मा का सच्चा कल्याण निहित है।

उपरोक्त उल्लेख में, नागार्जुन ने पादलिप्त से विद्या ग्रहण की, यह तो बताया गया है, पर उसने कब और किसके पास दीक्षा ग्रहण की यह नहीं बताया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि आ० पादलिप्त का समय वीर नि० सं० ५९७ से पूर्व का है।

नंदीसूत्र की स्थविरावली में आचार्य हिमवन्त के पश्चात् नागार्जुन का उल्लेख किया गया है। तदनुसार चूर्णिकार जिनदास द्वारा नंदी चूर्णि में और हिमवन्त स्थविरावली के अंत में स्पष्ट रूप से आपको हिमवन्त का शिष्य बताया गया है। आचार्य देवर्द्धि ने नन्दी स्थविरावली में निम्नलिखित शब्दों में आपकी स्तुति की है :–

मिउमद्दव संपन्ने, आणुपुव्विवायगत्तणं पत्ते।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए (गं) वंदे ॥३६॥

अर्थात् – जो सरलता आदि मनोज्ञ गुणों से संपन्न हैं और जिन्होंने क्रमशः योग्यता का विकास करते हुए वाचक पद की प्राप्ति की, उन ओघश्रुत अर्थात् विधिमार्ग की समाचरणा करने वाले वाचक नागार्जुन को वन्दन करता हूँ। गाथा में प्रयुक्त 'आणुपुव्वि' पद वस्तुतः विशिष्ट रूप से विचारणीय है, जो अनुक्रम से वाचक पद की प्राप्ति बताता है। यहां अनुक्रम शब्द से श्रुतग्रहण का क्रम और लघुवृद्ध की अपेक्षा बताई गई है। चूर्णिकार ने भी इसी अर्थ को मान्य किया है।[1]

आनुपूर्वी से वाचक पद प्राप्त करने की बात का अभिप्राय तत्कालीन आचार्य परम्परा के क्रम को देखने से जाना जा सकता है। इतिहास के प्राप्त उल्लेखानुसार आर्य स्कन्दिल, आर्य हिमवान् और आर्य नागार्जुन समकालीन और वाचनाचार्य माने गये हैं। नन्दी स्थविरावली में नागार्जुन को हिमवन्त क्षमाश्रमण का पश्चाद्वर्ती आचार्य बताया गया है, जब कि युगप्रधान पट्टावली और दुष्षमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र में नागार्जुन को आर्य सिंह के पश्चात् युगप्रधान माना गया है। निर्दिष्ट काल और क्रम को ध्यान में रख कर विचारने से ऐसा प्रतीत होता है कि वीर नि० सं० ८२६ में युगप्रधान आर्य सिंह के स्वर्गवास काल में आर्य स्कन्दिल को विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न और बड़ा मान कर वाचक पद प्रदान किया गया और उसी समय युवा मुनि नागार्जुन युगप्रधानाचार्य नियुक्त किये गये।

---

[1] "आणुपुव्वि"–सामाइआदि सुतग्गहणेणं कालतो य पुरिम परियायक्कमेण पुरिसाणुपुव्वीओ य वायगत्तणं पत्तो। [नंदी चूर्णि, (पुण्य विजयजी) पृ० १० गा० ३५]

देवर्द्धि द्वारा प्रणीत उपरोक्त गाथाओं से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि हिमवंत क्षमाश्रमण कई पूर्वो के ज्ञाता और समर्थ व्याख्याता-वाचनाचार्य थे। उन्होंने दूर-दूर के क्षेत्रों में विचरण कर जैन धर्म का उल्लेखनीय प्रचार एवं प्रसार किया था। प्रचारक्षेत्रों में आने वाले कष्टों को भी उन्होंने बड़े धैर्य के साथ सहन किया।

नंदीसूत्र-स्थविरावली के अनुसार आचार्य हिमवान् (हिमवन्त) स्कन्दिलाचार्य के शिष्य माने गये हैं। आपके जन्म, दीक्षा, आचार्यकाल एवं स्वर्गगमन विषयक स्पष्ट उल्लेख के नहीं होते हुए भी इतना तो कहा जा सकता है कि आप वीर की नौवीं शताब्दी के मध्यवर्ती काल के आचार्य होने चाहिए।

२३ आचार्य नागार्जुन : वाचनाचार्य
२५ आचार्य नागार्जुन : युगप्रधानाचार्य

हिमवन्त क्षमाश्रमण के पश्चात् आर्य नागार्जुन वाचनाचार्य हुए। कहा जाता है कि नागार्जुन ढंक नगर के क्षत्रिय संग्रामसिंह के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सुव्रता था। नागार्जुन के गर्भ में आते ही माता ने स्वप्न में सहस्र फन वाला नाग देखा, इसलिये बालक का नाम नागार्जुन रखा गया। कहा जाता है कि नागार्जुन ने बाल्यावस्था में ही एक सिंह को मार गिराया और प्रारम्भ से ही प्रबल साहसी होने के कारण पर्वतों की गुफाओं एवं जंगलों में घूम-घूम कर वनवासी महात्माओं के संसर्ग से वनस्पतियों, जड़ियों और रसायनों द्वारा रस बनाना सीख लिया। उसने बचपन से ही पादलिप्तसूरि के अद्भुत चमत्कारों की बात सुन रखी थी अतः एक दिन आचार्य पादलिप्तसूरि के पास उनके किसी शिष्य के माध्यम से उसने एक रसकूपिका पहुंचाई। आचार्य ने रसकूपिका में भरे रस को एक पत्थर पर उंडेल दिया और उसमें अपना प्रस्रवण भर उसे नागार्जुन के पास लौटा कर कहला भेजा कि वह अपनी रसकूपिका सम्हाल ले। नागार्जुन ने भी उस रसकूपिका को पत्थर पर दे मारा। कूपिका को पत्थर पर पछाड़ते ही पत्थर में अग्नि प्रदीप्त हो उठी और वह पत्थर तत्काल स्वर्ण के रूप में परिवर्तित हो गया। यह देख कर नागार्जुन दंग रह गया और पादलिप्तसूरि के पास जाकर उनके चरणों में गिर गया।

उसी दिन से नागार्जुन आचार्य पादलिप्त का परम भक्त बन कर उनके पास रहने लगा। नागार्जुन इतना प्रतिभावान् था कि वह पादलिप्तसूरि के पैरों के लेप को सूंघ-सूंघ कर १६० वनस्पतियों के गुण-धर्म आदि से परिचित हो गया। लेप द्वारा वह स्वयं गगन-विचरण की प्रक्रिया को मूर्त रूप देने लगा। पर एक वस्तु की अपूर्णता के कारण वह कुछ दूर तक आकाश में गमन करने के पश्चात् पृथ्वी पर गिर पड़ता। यह जान कर आचार्य ने उसकी सूक्ष्म बौद्धिक प्रगल्भता से प्रसन्न हो कर कहा – "वत्स ! तुम्हारा औषधविज्ञान निस्संदेह गवेषणापूर्ण है पर इसमें कुछ गुरुगम्य ज्ञान की न्यूनता रह गई है।"

आचार्य ने मार्ग-दर्शन करते हुए कहा – "इस औषधि को चावल के धोवन और कांजी में घिस कर लेप किया जाय तो गगन में सरलता से गमन किया जा सकता है।" तदनन्तर आचार्य ने उसे यह भी शिक्षा दी कि वह सदा भौतिक विभूतियों के प्रलोभनों से दूर रह कर अन्तर्मन से वीतराग मार्ग का आराधन करता रहे, इसी में उसकी आत्मा का सच्चा कल्याण निहित है।

उपरोक्त उल्लेख में, नागार्जुन ने पादलिप्त से विद्या ग्रहण की, यह तो बताया गया है, पर उसने कब और किसके पास दीक्षा ग्रहण की यह नहीं बताया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि आ० पादलिप्त का समय वीर नि० सं० ५६७ से पूर्व का है।

नंदीसूत्र की स्थविरावली में आचार्य हिमवन्त के पश्चात् नागार्जुन का उल्लेख किया गया है। तदनुसार चूर्णिकार जिनदास द्वारा नंदी चूर्णि में और हिमवन्त स्थविरावली के अंत में स्पष्ट रूप से आपको हिमवन्त का शिष्य बताया गया है। आचार्य देवर्द्धि ने नन्दी स्थविरावली में निम्नलिखित शब्दों में आपकी स्तुति की है :–

मिउमद्दव संपन्ने, आणुपुव्विवायगत्तणं पत्ते।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए (गं) वंदे ।।३६।।

अर्थात् – जो सरलता आदि मनोज्ञ गुणों से संपन्न हैं और जिन्होंने क्रमशः योग्यता का विकास करते हुए वाचक पद की प्राप्ति की, उन ओघश्रुत अर्थात् विधिमार्ग की समाचरणा करने वाले वाचक नागार्जुन को वन्दन करता हूँ। गाथा में प्रयुक्त 'आणुपुव्वि' पद वस्तुतः विशिष्ट रूप से विचारणीय है, जो अनुक्रम से वाचक पद की प्राप्ति बताता है। यहां अनुक्रम शब्द से श्रुतग्रहण का क्रम और लघुवृद्ध की अपेक्षा बताई गई है। चूर्णिकार ने भी इसी अर्थ को मान्य किया है।[1]

आनुपूर्वी से वाचक पद प्राप्त करने की बात का अभिप्राय तत्कालीन आचार्य परम्परा के क्रम को देखने से जाना जा सकता है। इतिहास के प्राप्त उल्लेखानुसार आर्य स्कन्दिल, आर्य हिमवान् और आर्य नागार्जुन समकालीन और वाचनाचार्य माने गये हैं। नन्दी स्थविरावली में नागार्जुन को हिमवन्त क्षमाश्रमण का पश्चाद्वर्ती आचार्य बताया गया है, जब कि युगप्रधान पट्टावली और दुष्षमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र में नागार्जुन को आर्य सिंह के पश्चात् युगप्रधान माना गया है। निर्दिष्ट काल और क्रम को ध्यान में रख कर विचारने से ऐसा प्रतीत होता है कि वीर नि० सं० ८२६ में युगप्रधान आर्य सिंह के स्वर्गवास काल में आर्य स्कन्दिल को विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न और बड़ा मान कर वाचक पद प्रदान किया गया और उसी समय युवा मुनि नागार्जुन युगप्रधानाचार्य नियुक्त किये गये।

---

[1] "आणुपुव्वि"–सामाइआदि सुतग्गहणेणं कालतो य पुरिस परियायक्कमेण पुरिसाणुपुव्विणो य वायगत्तणं पत्तो। [नंदी चूर्णि, (पुण्य विजयजी) पृ० १० गा० ३५]

फिर वीर सं० ८४० के लगभग वाचनाचार्य आर्य स्कन्दिल के स्वर्गस्थ होते ही ज्येष्ठ मुनि हिमवान् को वाचनाचार्य नियुक्त किया और हिमवान् के स्वर्ग गमनानन्तर अन्य वाचनाचार्य के अभाव में नागार्जुन को ही युगप्रधानाचार्य के कार्यभार के साथ वाचनाचार्य का पद भी सम्हला दिया गया। ऐसा मानने पर आर्य स्कन्दिल आर्य हिमवान् और नागार्जुन के समकालीन और वाचनाचार्य होने की समस्या सहज ही हल हो सकती है।

नन्दी सूत्र के चूर्णिकार जिनदास ने भी अनुक्रम से वाचक पद प्राप्त करने का यही अर्थ – 'पुरिसाणुपुव्विओ' पद से मान्य किया है। जैसा कि उन्होंने कहा है – "सामायिक आदि श्रुतग्रहण से तथा काल की अपेक्षा पूर्वकालीन दीक्षा-पर्याय और पुरुषानुक्रम से नागार्जुन ने वाचक पद प्राप्त किया।"

चूर्णिकार के इस विवेचन से हमारे अनुमान की स्पष्टतः पुष्टि हो जाती है। आर्य स्कंदिल के प्रकरण में बताया गया है कि जब मथुरा में आर्य स्कंदिल ने आगम-वाचना की, उस समय नागार्जुन ने भी दक्षिणापथ के श्रमण संघ को एकत्र कर वल्लभी में वाचना की। नागार्जुन द्वारा आनुपूर्वी से वाचकपद प्राप्त करने की बात को मानने पर इसकी संगति भी बराबर बैठ सकती है।

कुछ लेखकों ने नागार्जुन को योगरत्नावली, योगरत्नमाला और अनेकाक्षरी आदि ग्रन्थों का रचनाकार माना है। ये दोनों नागार्जुन एक हैं या भिन्न-भिन्न, यह कहना सरल नहीं। विशेषज्ञ इस पर अनुसन्धान करें, यह अपेक्षित है।

युगप्रधान-यन्त्र के अनुसार युगप्रधानाचार्य नागार्जुन के जीवन की प्रमुख घटनाओं का कालक्रम इस प्रकार है :–

"नागार्जुन का वीर नि० सं० ७९३ में जन्म, १४ वर्ष की अवस्था अर्थात् वीर नि० सं० ८०७ में दीक्षा, १९ वर्ष तक सामान्य साधुपर्याय का पालन करने के पश्चात् वीर नि० सं० ८२६ में युगप्रधानपद और ७५ वर्ष तक आचार्य पद से जिनशासन की सेवा करने के पश्चात् वीर नि० सं० ९०४ में १११ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास।

आर्य स्कन्दिल एवं नागार्जुन के समय के राजवंश

आर्य नागार्जुन के युगप्रधानत्वकाल में गुप्तवंश के महाराजा घटोत्कच का वीर नि० सं० ८४६ तक शासन रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम ने गुप्त वंश के राज्य का विस्तार किया।

चन्द्रगुप्त प्रथम

घटोत्कच की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रगुप्त (प्रथम) मगध के राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ। इतिहासविदों का अनुमान है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का शासनकाल ई० सन् ३१९ से ३३५, तदनुसार वीर नि० सं० ८४६ से ८६२ तक रहा। इतिहास के लब्धप्रतिष्ठ पाश्चात्य विद्वान् फ्लीट ने चन्द्रगुप्त प्रथम

प्रचलित किये गये गुप्त संवत्, नेपाल के लिच्छवी राजा जयदेव (प्रथम) के साथ चन्द्रगुप्त (प्रथम) के घनिष्ठ सम्बन्ध, वल्लभी संवत् तथा शक संवत् आदि के सन्दर्भ में गहन विचार करने के पश्चात् यह सिद्ध किया है कि ई० सन् ३१९ से ३२० में चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने महाराजाधिराज का विरुद धारण कर गुप्त सम्वत् चलाया। ऐसी स्थिति में सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण करने से पहले चन्द्रगुप्त को राजा बनने के पश्चात् महाराजाधिराज का पद धारण करने के लिये मगध के अड़ोस-पड़ोस के राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में कम से कम चार-पांच वर्ष का समय तो अवश्य ही लगा होगा। एक राजा सिंहासन पर आसीन होते ही तत्काल महाराजाधिराज का विरुद धारण करने योग्य विशाल भूभाग को कुछ ही मास में अपने अधिकार में कर ले – यह संभव प्रतीत नहीं होता। इन तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त के राज्यासीन होने का समय ई० सन् ३१९-२० से कुछ वर्ष पूर्व अनुमानित करना ही युक्तिसंगत होगा। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि लिच्छवी राजकुमारी कुमार देवी के साथ विवाह के पश्चात् चन्द्रगुप्त प्रथम लिच्छवियों[1] की सहायता से महाराजाधिराज बना।

चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने अभिलेखों में गुप्तपुत्र के स्थान पर अपने आपको 'लिच्छवी दौहित्र' लिखा है। इतिहासज्ञों ने समुद्रगुप्त के राज्यसिंहासनासीन होने का समय ई० सन् ३३५ अनुमानित किया है। स्मृति-ग्रन्थों में २५ वर्ष की वय राजा बनने के योग्य वय मानी गयी है। ऐसी स्थिति में अनुमान किया जा सकता है कि सन् ३०८ के आसपास चन्द्रगुप्त प्रथम का लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी के साथ पाणिग्रहण और ई० सन् ३१० के लगभग कुमारदेवी की कुक्षि से समुद्रगुप्त का जन्म हुआ होगा। इन सब घटनाओं पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि ई० सन् ३१० से ३१५ के मध्य- वर्ती किसी समय में चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्याभिषेक हुआ अथवा उसने युवराज काल में ही अपने पिता के राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया होगा।

---

[1] भगवान् महावीर की विद्यमानता में मगध के आसपास लिच्छवियों के शक्तिशाली गणतन्त्रों के उल्लेख मिलते हैं। नेपाल के लिच्छवी राजा जयदेव द्वितीय के अभिलेख में भी उल्लेख किया गया है कि उसके पूर्वज सुपुष्प का जन्म (ईसा की पहली शताब्दी में) पाटलिपुत्र में हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाणों के साम्राज्यविस्तार के परिणामस्वरूप लिच्छवियों की शक्ति क्षीण हो गई और इनका कोई छोटा-मोटा राज्य ही अवशिष्ट रह गया हो। लिच्छवी क्षत्रियों की राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह के पश्चात् चन्द्र-गुप्त प्रथम ने राज्य-विस्तार किया – इस ऐतिहासिक तथ्य से यह अनुमान किया जाता है कि मगध और मगध के अड़ोस-पड़ोस में चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में भी लिच्छवी क्षत्रियों की घनी आबादी रही होगी। [सम्पादक]

लिच्छवी क्षत्रियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के पश्चात् लिच्छवियों की सहायता से चन्द्रगुप्त ने राज्य विस्तार किया। इस तथ्य की पुष्टि अयोध्या, वर्द्धमान् और गया में मिले सम्राट् समुद्रगुप्त के उन सिक्कों से होती है, जिन पर दुल्हन को अंगूठी भेंट करते हुए दूल्हे का चित्र, एक ओर चन्द्रगुप्त, दूसरी ओर 'लिच्छवय.' और 'कुमार देवी' अंकित है।

चन्द्रगुप्त प्रथम ने किन-किन राजाओं एवं राज्यों को जीतकर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, इस सम्बन्ध में कोई अभिलेख अथवा अन्य प्रकार की कोई साक्षी उपलब्ध नहीं होती। पुराणों में समुच्चय रूप से गुप्तों के राज्य का उल्लेख उपलब्ध होता है। वायुपुराण में गंगा के निकटवर्ती प्रदेशों, प्रयाग, साकेत और मगध राज्य पर गुप्त राजाओं के आधिपत्य का उल्लेख है।[1] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का उपरोक्त राज्यों पर अधिकार रहा।

इतिहासज्ञों ने श्रीगुप्त को गुप्त राजवंश का और चन्द्रगुप्त प्रथम को गुप्त साम्राज्य का संस्थापक माना है। इलाहाबाद में एक स्तम्भ अभिलेख सुरक्षित है। इस स्तम्भ के ऊपरी भाग पर मौर्य सम्राट् अशोक का अभिलेख और उसके नीचे समुद्रगुप्त का अभिलेख उट्टंकित है। समुद्रगुप्त के इस स्तम्भ-लेख में उट्टंकित कुछ पंक्तियों से ऐसा अनुमान किया जाता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने कनिष्ठ पुत्र समुद्रगुप्त को सर्वाधिक सुयोग्य समझकर अपनी राज्यसभा के समक्ष उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हुए कहा—"अब तुम इस पृथ्वी की प्रतिपालना करो।" इस स्तम्भ-अभिलेख में इस बात का भी संकेत है कि चन्द्रगुप्त के इस निर्णय को सुनकर उसकी राज्यसभा स्तम्भित रह गई और समुद्रगुप्त के भाइयों (तुल्यकुलजाः) के मुख पीले पड़ गये।[2] स्तम्भलेख में खुदे—"घमण्ड पश्चात्ताप में पलट गया।" इस वाक्य से प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त को राज्य सिंहासन पर अधिकार करने में गृहकलह का भी सामना करना पड़ा। काच—(काचगुप्त) द्वारा प्रचलित घटिया सोने के सिक्कों से यह अनुमान लगाया जाता है कि समुद्रगुप्त के बड़े भाई काच ने कुछ समय के लिये पाटलिपुत्र के सिंहासन पर अधिकार कर लिया था जिसे थोड़े समय पश्चात् ही समुद्रगुप्त ने अपदस्थ कर दिया।

चन्द्रगुप्त प्रथम का इससे अधिक परिचय उपलब्ध नहीं होता।

---

[1] अनुगङ्गं प्रयागं च, साकेतं मगधांस्तथा।
एताञ्जनपदान् सर्वान्, भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजा ।।३८३।।
[वायुपुराण, अनुषङ्गपाद, अ. ९९]

[2] आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैः रुत्कर्णितै रोमभिः,
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्य कुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्याकुलितेन वाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा,
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति ।।४।।
कोशाम्बी का अशोक एवं समुद्रगुप्त का स्तम्भलेख, जो इलाहाबाद में विद्यमान है।

आर्य नागार्जुन के समय के राजवंश

गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त पराक्रमांक

यह पहले बताया जा चुका है कि परम भट्टारक महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने अपने जीवन के संध्याकाल में अपने कनिष्ठ पुत्र समुद्रगुप्त को सर्वतः सुयोग्य समझकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।[1] चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् गृहकलह का बड़े साहस के साथ दमन कर वीर नि० सं० ८६२ तदनुसार ई० सन् ३३५ में समुद्रगुप्त मगध के राज्यसिंहासन पर आसीन हुआ। वामन ने अपने 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में चन्द्रगुप्त के पुत्र का नाम चन्द्रप्रकाश उल्लिखित किया है। इससे अनुमान किया जाता है कि संभवतः समुद्रगुप्त का दूसरा नाम चन्द्रप्रकाश हो और समुद्र तक अपने राज्य का विस्तार करने के पश्चात् अपने राज्य की सीमाओं के समुद्र द्वारा सुरक्षित होने के अर्थ को द्योतित करने के लिये उसने अपना नाम 'समुद्रगुप्त' रखा हो।

इलाहाबाद के स्तम्भलेख में समुद्रगुप्त द्वारा दिग्विजय में विजित राजाओं, उनके राज्यों, गणराज्यों एवं तत्कालीन अनेक घटनाओं का उल्लेख है। कौशाम्बी में जिस स्तम्भ पर अशोक ने अपना अभिलेख उत्कीर्ण करवाया, उसी स्तम्भ पर नीचे की ओर समुद्रगुप्त का यह अभिलेख उसके सांधिविग्रहिक कवि हरिषेण ने सुन्दर गद्यपद्यमयी संस्कृत भाषा में अंकित करवाया। सांधिविग्रहिक पद के साथ साथ हरिषेण कुमारामात्य और महादण्डनायक के पदों पर भी कार्य करता था।[2]

ऐतिहासिक दृष्टि से इलाहाबाद का यह स्तम्भलेख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अभिलेख है। इससे भारत की तात्कालिक भौगोलिक एवं राजनैतिक स्थिति के साथ-साथ उस समय के राजाओं, राज्यों की सीमाओं, गणराज्यों आदि का विशद परिचय मिलता है। इस स्तम्भलेख का आज के शोधयुग की दृष्टि से सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें अंकित घटनाचक्र की एक भी तिथि का उल्लेख नहीं किया गया है। यदि इसमें समुद्रगुप्त के विजयोल्लेखों के साथ साथ तिथियां भी उट्टंकित की जातीं तो यह स्तम्भलेख ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता और इससे उलझी हुई अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने में बड़ी सहायता मिलती। इस कमी के रहते हुए भी इस स्तम्भलेख का बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है।

---

[1] ऋद्धपुर के शिलालेख में उत्कीर्ण — "तत्पादपरिगृहीत" पद से भी इलाहाबाद के स्तंभलेख में उट्टंकित इस बात की पुष्टि होती है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने बड़े पुत्रों में से समुद्रगुप्त को अधिक सुयोग्य समझकर उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। [सम्पादक]

[2] एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारक पदानां दासस्य ... महादण्डनायकध्रुवभूतिपुत्रस्य सांधिविग्रहिककुमारामात्यमहादण्डनायक हरिषेणस्य सर्वभूतहितायास्तु।

[अशोक स्तम्भ के पश्चिमभाग पर अंकित समुद्रगुप्त का इलाहाबाद स्थित स्तम्भलेख]

महादण्डनायक, कुमारामात्य और सांधिविग्रहिक पदों को धारण करने वाले अमात्य कवि हरिषेण द्वारा उट्टंकित करवाये गये इलाहाबाद स्थित कौशाम्बी के उपरोक्त स्तम्भलेख में समुद्रगुप्त के तीन विजयाभियानों का विवरण दिया गया है। इस अभिलेख में समुद्रगुप्त द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ का विवरण नहीं दिया गया है अतः यह प्रमाणित होता है कि अश्वमेध के आयोजन से पूर्व ही यह स्तम्भ-लेख उत्कीर्ण करवाया गया।

प्रथम विजय अभियान – समुद्रगुप्त द्वारा आर्यावर्त में किये गये उसके सर्वप्रथम विजय अभियान का विवरण देते हुए इस स्तम्भलेख में बताया गया है कि इस सैनिक अभियान में समुद्रगुप्त ने कतिपय राज्यों को जड़ से उखाड़ फेंका। जिन राज्यों का समुद्रगुप्त द्वारा उन्मूलन किया गया, उनमें अहिच्छत्र के राजा अच्युत और पद्मावती के नागवंशी राजा नागसेन के राज्य प्रमुख थे।[1]

द्वितीय विजय अभियान – अपने दूसरे विजय-अभियान में समुद्रगुप्त अपनी सुविशाल एवं सशक्त विजयवाहिनी के साथ दक्षिणापथ की विजय के लिये प्रस्थित हुआ। इस सैनिक अभियान में समुद्रगुप्त ने क्रमशः निम्नलिखित राज्यों को जीत कर अपने साम्राज्य के अधीनस्थ बनाया :–

कोशल, विन्ध्य के घने जंगलों से आच्छादित दुर्गम एवं भयावह महाकान्तार – जहां वाकाटकों का शक्तिशाली सामन्त व्याघ्र राज्य करता था, कौराल (कोलेर झील एवं मध्यप्रदेश के वर्तमान सोनपुर जिले के आसपास का राज्य जहां मन्तराज का शासन था), पिष्टपुर (महेन्द्रगिरि का राज्य), कोट्टूरा (विजगापट्टम अथवा गंजम जिला), काञ्ची (जहां का राजा विष्णुगोप था), अवमुक्त (जहां नीलराज का राज्य था), वेंगी (हस्तिवर्मन का राज्य), पलक्क (संभवतः वर्तमान नेल्लोर जिला, जहां उग्रसेन का राज्य था), देवराष्ट्र (कलिंग प्रान्तवर्ती राज्य, जहां उस समय कुबेर नामक राजा का राज्य था) और कुश्थलपुर (कुशस्थली नदी का निकटवर्ती राज्य, जहां उस समय धनंजय नामक राजा का राज्य था)।[1]

दक्षिणापथ के उपरोक्त विजय अभियान का उल्लेख करते हुए हरिषेण ने इलाहाबाद स्थित उपरिचर्चित स्तम्भलेख में यह भी बताया है कि समुद्रगुप्त ने

---

[1] उद्वेलोदितबाहुवीर्यरभसादेकेन येन क्षणा –
दुन्मूल्याच्युतनागसेन····। [इलाहाबाद स्तम्भलेख]

[1] तस्य विविध समरशतावतरणदक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धो, पराक्रमांकस्य परशुशर-शंकुशक्तिप्रासासितोमरभिन्दिपालनाराचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढा कुलव्रणशतांकशोभा-समुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मणः कौशलक – महेन्द्र-महाकान्तारक व्याघ्रराज – कैरल कमण्ट-राजपैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकोट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमनकांचेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराज-वैंगेयकहस्तिवर्मपाल्लकोग्रसेनदेवराष्ट्रक कुवेरकौस्थलपुरकधनंजय प्रभृति सर्वदक्षिणापथ-राजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य।
[इलाहाबाद स्थित अशोक स्तम्भ के अधोभाग पर अंकित समुद्रगुप्त का लेख]

दक्षिणापथ के अभियान में अनेक राजाओं को बन्दी बनाया, अनेक राजाओं को बन्दी बनाकर पुनः मुक्त कर दिया एवं अनेक राजाओं पर कृपा कर उनका राज्य उन्हें लौटा दिया। दक्षिण-विजय के फलस्वरूप समुद्रगुप्त के राज्य विस्तार के साथ-साथ उसके प्रताप और कोषबल की भी अपूर्व वृद्धि हुई।

तृतीय विजय अभियान – अपने द्वितीय विजय अभियान द्वारा दक्षिण-विजय के पश्चात् मगध में लौटने पर समुद्रगुप्त ने यह अनुभव किया कि उसका मगध राज्य वस्तुतः ऐसे राजाओं से घिरा हुआ है, जिनके हृदय में उसकी श्री-अभिवृद्धि सदा शूल के समान चुभती रहती है। यदि वे सब संगठित हो जायं तो किसी भी समय उसके शासन के लिये संकट के बादल बन सकते हैं।

इस संभावित संकट को सदा के लिये समाप्त कर डालने का दृढ़ संकल्प लिये उसने आर्यावर्त में दूसरी बार सैनिक अभियान किया। इस विजय अभियान में भीषण नरसंहार हुआ। लोमहर्षक युद्ध के पश्चात् समुद्रगुप्त का विजयश्री ने वरण किया। रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपति नाग, नागसेन, अच्युतनन्दी, बलवर्मा आदि आर्यावर्त के राजाओं की पूर्ण पराजय हुई।[1]

उपरोक्त तीन विजयाभियानों में समुद्रगुप्त ने पश्चिमी शकों के अतिरिक्त भारत के प्रायः सभी छोटे-बड़े दुर्दान्त राजाओं को युद्ध में परास्त कर एक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न सुविशाल गुप्त साम्राज्य की स्थापना की। उसके प्रचण्ड प्रताप से अभिभूत हो समतट (ताम्रलिप्ति से पूर्व का समुद्र-तटवर्ती प्रदेश समतात), डवाक (आसाम का डबोक क्षेत्र), कामरूप (आसाम का गोहाटी जिला), नेपाल, कर्त्तृपुर आदि राज्यों के राजाओं एवं मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक तथा खरपरिकादि गणराज्यों ने करप्रदानादि से समुद्रगुप्त को संतुष्ट कर उसकी अधीनता स्वीकार की।[2]

कवि हरिषेण ने उपरोक्त स्तम्भलेख में उट्टंकित करवाया है कि देवपुत्र शाहि, शाहानुशाहि, शक, मुरुण्ड, आदि विदेशी राजा तथा सिंहल आदि द्वीपों के शासक समुद्रगुप्त की सेवा में आत्मनिवेदन करते, अपनी कन्याएं भेंट में देते तथा अपने विषय एवं भुक्ति के लिये समुद्रगुप्त की गरुडांकित राजमुद्रा के चिन्ह से युक्त आज्ञाएं मांगते रहते थे।[3]

---

[1] रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनअच्युतनन्दिबलवर्माद्यनेकार्यावर्तराजप्रसभोद्धर-णोद्वृत्तप्रभावमहतः, परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य

[इलाहाबाद स्थित हरिषेण का स्तम्भलेख]

[2] समतटडवाककामरूपनेपालकर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभिः मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीर प्रार्जुनसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषित प्रचण्डशासनस्य....।

[वही]

[3] देवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायन-दानगरुत्मदंकस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य...

[वही]

इलाहाबाद स्थित उपरिर्चाचित स्तम्भलेख से यह प्रमाणित होता है कि समुद्रगुप्त युद्धों में सबसे आगे रहकर युद्ध करने वाला महान् योद्धा,[१] कवि[२], संगीतज्ञ,[३] दयालु[४] और लोकोत्तर गुणों से सम्पन्न था ।[५]

यद्यपि इलाहाबाद स्थित उपरोक्त स्तम्भलेख में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है कि समुद्रगुप्त ने कोई अश्वमेध यज्ञ किया अथवा नहीं, तथापि प्रभावती गुप्ता के पूना – दानपत्र[६], स्कन्दगुप्त के अभिलेख[७] तथा समुद्रगुप्त के उन अश्वमेधिक सिक्कों से, जिन पर एक ओर यूप के सम्मुख अश्व का चित्र, दूसरी ओर महारानी का चित्र क्रमशः "अश्वमेध पराक्रमः" और "राजाधिराजःपृथिवीमवित्वा दिवं जयति अप्रतिवार्यवीर्यः" – इन पदों के साथ अंकित हैं, यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किये थे ।

समुद्रगुप्त ने सुदूरवर्ती एवं सीमावर्ती राज्यों को विजित करने के पश्चात् पुनः उन्हें पराजित राजाओं को लौटाकर उनके साथ जो उदारतापूर्ण व्यवहार किया, उससे उसका यश चारों ओर फैल गया । शत्रुओं के प्रति इस प्रकार के सुन्दर व्यवहार से यह प्रमाणित होता है कि वह बड़ा दूरदर्शी, स्थायी शान्ति का इच्छुक और सबके साथ सच्चा सौहार्द रखने के लिये समुत्सुक था ।

समुद्रगुप्त के कुल मिलाकर आठ प्रकार के सिक्के उपलब्ध होते हैं, जो सभी विशुद्ध स्वर्ण के हैं । इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि समुद्रगुप्त के शासनकाल में भारत कितना समृद्धिशाली देश था ।

अनुमान किया जाता है कि समुद्रगुप्त ने वीर नि० सं० ८६२ से ६०२ तक शासन किया ।

---

[१] (क) संग्रामेषु स्वभुजविजिता नित्यमुच्चापकारी ।
(ख) ....परशुशरशंकुशक्तिप्रासासितोमरभिन्दिपालनाराचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढाकुल – व्रणशतांकशोभासमुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मणः....। [वही]

[२] अध्येयः सूक्तमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यं । [वही]

[३] निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैः व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः [वही]

[४] ....अनेकभ्रष्टराज्योत्सन्नराजवंशप्रतिष्ठापनोद्भूतनिखिलभुवनविचरणशान्तयशसः.. (वही)

[५] सुचरितस्तोतव्यानेकाद्भुतोदारचरितस्य,... [वही]

[६] ...तस्य सत्पुत्रो महाराज श्री चन्द्रगुप्तः तस्य सत्पुत्रोऽनेकाश्वमेधयाजी लिच्छिविदौहित्रो महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तः ......
[प्रभावती गुप्ता का पूना – दानपत्र]

[७] ......न्यायगतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः महाराजश्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रः....
[प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन खण्ड २]

आर्य गोविन्द – वाचनाचार्य

आर्य गोविन्द एक विशिष्ट अनुयोगधर और प्रसिद्ध वाचक हुए हैं। नंदीसूत्र स्थविरावली की मूल गाथाओं में आर्य गोविन्द का नाम नहीं मिलता किन्तु आचार्य मेरुतुंग की विचारश्रेणी में नागार्जुन और भूतदिन्न के बीच आर्य गोविन्द का नाम आता है। नंदीसूत्र स्थविरावली की प्रक्षिप्त दो गाथाओं में भी भूतदिन्न से पूर्व आर्य गोविन्द की स्तुति की गई है।[1]

आर्य गोविन्द आर्य महागिरि की परम्परा के मुख्य वाचक रहे अथवा शाखान्तर के, इस सम्बन्ध में निश्चित एवं स्पष्ट उल्लेख न मिलने पर भी इतना तो असंदिग्धरूपेण कहा जा सकता है कि आर्य गोविन्द भी तत्कालीन विशिष्ट वाचक आचार्य थे।

निशीथ चूर्णि के ११वें उद्देशक में 'ज्ञानस्तेन' का वर्णन करते हुए चूर्णिकार ने बताया है :–

> गोविन्दज्जो णाणे, दंसणे सुत्तट्ठ हेउ अट्ठावा।
> पावादिय उवचरगा, उदायिवधगादिगा चले ।।३६५६।।

आर्य गोविन्द के ज्ञानस्तेन होने की घटना का चूर्णिकार ने निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है :–

"गोविन्द नामक एक बौद्ध भिक्षु ने किसी जैनाचार्य के साथ वाद में १८ बार पराजित हो चुकने पर सोचा – "जब तक इनके सिद्धान्त का स्वरूप नहीं जान लिया जायगा तब तक इनको नहीं जीता जा सकेगा।" यह विचार कर गोविन्द ने जैन सिद्धान्तों का अध्ययन करने की अपनी आन्तरिक इच्छापूर्ति मात्र के लिये एक जैनाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। सामायिक आदि श्रुत का अभ्यास करते हुए उन्हें जब शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई तब उन्होंने गुरु को नमस्कार करते हुए निवेदन किया – "भगवन्! मुझे व्रत ग्रहण करवाइये।"

गुरू ने कहा – "वत्स! तुम्हें तो पंच महाव्रत ग्रहण करवाये जा चुके हैं, अब तुम्हें और कौनसे व्रत दिये जायं ?"

इस पर गोविन्द ने गुरु के समक्ष अपनी व्याज-दीक्षा का वास्तविक वृत्तान्त कह सुनाया। आचार्य ने अनुग्रह कर उन्हें पुनः व्रत ग्रहण करवाये।

समय पा कर वही आर्य गोविन्द आचार्य-पद के अधिकारी हुए। निशीथ चूर्णिकार ने "गोविन्द निर्युक्ति" का उल्लेख किया है। इससे आर्य गोविन्द निर्युक्तिकार भी प्रमाणित होते हैं। आज न तो गोविन्द-निर्युक्ति ही उपलब्ध है और न इस प्रकार का कोई उल्लेख ही कि वह निर्युक्ति किस आगम पर थी। ऐसी स्थिति में प्रमाणाभाव के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि आर्य गोविन्द ने

---

[1] गोविन्दाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारणिंदाणं।
निच्चं खंतिदयाणं, परूवणे दुल्लभिंदाणं ।। [नंदीसूत्र स्थविरावली]

किस आगम पर निर्युक्ति की रचना की थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आर्य गोविन्द ने सम्भवतः आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन पर निर्युक्ति की रचना की हो। शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में ५ स्थावर और त्रसकाय का जीवत्व प्रमाणित किया गया है। चूर्णिकार ने भी – "तेरण एगिंदिय जीव साहरणं, गोविंदनिज्जुत्ती कया" – इस वाक्य द्वारा एकेन्द्रिय जीवों के अस्तित्व को स्पष्टतः प्रमाणित करने वाली निर्युक्ति का निर्माण करना बताया है। स्वर्गीय मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार निर्युक्ति के प्रणेता आचार्य गोविन्द अन्य कोई नहीं पर जिनको नंदीसूत्र में अनुयोगधर के रूप में और युगप्रधानपट्टावली में २८वें युग-प्रधान होने के साथ माथुरी वाचना के प्रवर्तक आर्य स्कन्दिल से चौथे युगप्रधान बताया गया है, वे ही होने चाहिये। मुनि पुण्यविजयजी ने आर्य गोविन्द का सत्ताकाल विक्रम की ५वीं शताब्दी का पूर्वार्ध बताया है।[1]

श्राद्ध दिनकृत्य की गाथा सं० ६० में जिनशासन को अज्ञान, मोह और मिथ्यात्व की व्याधि का विरेचन बताया है। इसी की टीका एवं बालबोध में क्रमशः आर्य शय्यंभव, चिलातीपुत्र और गोविन्द वाचक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।[2]

इन सब तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि आर्य गोविन्द अपने समय के महान् प्रभावक वाचनाचार्य हुए हैं।

२४. आर्य भूतदिन्न : वाचनाचार्य

२६. आर्य भूतदिन्न : युगप्रधानाचार्य

आर्य नागार्जुन के पश्चात् वाचनाचार्य आर्य भूतदिन्न हुए। आपका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता फिर भी नन्दी-स्थविरावली और दुष्षमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार आपका परिचय इस प्रकार है :–

नन्दी-स्थविरावली में आर्य भूतदिन्न को वाचक नागार्जुन का शिष्य बताया गया है। पर 'दुष्षमाकाल श्रीश्रमणसंघस्तोत्र' में इनको युगप्रधानाचार्य माना गया है। स्थविरावली में आचार्य देववाचक द्वारा निर्दिष्ट परिचय के अनुसार – "आप मृदु-मनोहर उपदेश से भव्यजनों के वल्लभ और अप्रमत्त भाव से दयाधर्म के परिपालक एवं प्रचारक थे। आचारांग आदि अंग और अंगबाह्य श्रुत के विशिष्ट अभ्यास के कारण आप भारतवर्षीय तत्कालीन मुनियों में प्रमुख माने जाते थे। संघ-संचालन की आपकी कुशलता बताते हुए देववाचक ने कहा है कि जिन्होंने अनेकों योग्य साधुओं को स्वाध्याय और वैयावृत्य आदि कार्यों में नियुक्त किया, ऐसे नागेन्द्र-कुल-वंश की प्रीति करने वाले और उपदेश द्वारा भक्तों के

---

[1] बृहत्कल्पभाष्य की प्रस्तावना, भा० ६, पृ० १६–२०

[2] श्राद्धदिनकृत्य और आत्मनिन्दाभावना, बालबोध, पृ० १८

भवभय को दूर करने वाले आचार्य भूतदिन्न को वन्दन करता हूँ।" आपके शरीर की कान्ति तपाये हुए कंचन के समान गौरवर्ण बताई गई है।[1]

नंदी स्थविरावली की प्रक्षिप्त मानी जाने वाली गाथा में आपको तप-संयम में नित्य अनिर्विन्न, पंडितजन सम्मान्य और संयमविधिज्ञ कह कर वन्दन किया गया है। इससे भी आपकी श्रुतज्ञान के साथ गंभीर संयमनिष्ठा प्रकट होती है।[2]

देववाचक द्वारा निर्दिष्ट इस प्रकार के विस्तृत परिचय से यह सहज ही प्रकट होता है कि आचार्य भूतदिन्न के प्रति देववाचक देवर्द्धिगणी के हृदय में अत्यन्त श्रद्धा भक्ति थी। संभव है आचार्य भूतदिन्न देवर्द्धि की गुरु-परम्परा में हों और उनके साथ देवर्द्धि का साक्षात्कार भी हुआ हो।

युगप्रधान यन्त्र के अनुसार यदि इन्हीं भूतदिन्न को युगप्रधान भी माना जाय तो उनका कार्यकाल इस प्रकार बताया गया है :-

वीर नि० सं० ८६४ में जन्म, ८८२ में दीक्षा। वीर नि० सं० ९०४ में युगप्रधान पद और ९८३ में स्वर्गगमन। इस प्रकार आप १८ वर्ष गृहवास, २२ वर्ष सामान्य साधुपर्याय और ७९ वर्ष युगप्रधान पद को भोग कर ११९ वर्ष की पूर्ण आयु में समाधिपूर्वक स्वर्ग के अधिकारी हुए।

आर्य नागार्जुन एवं भूतदिन्न के समय का राजवंश

चन्द्रगुप्त द्वितीय

वीर नि० सं० ९०२-९४१ (ई० सन् ३७५-४१४)

वीर नि० सं० ९०२ में समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विशाल गुप्त साम्राज्य का स्वामी बना। एरण की प्रशस्ति में गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के अनेक पुत्रों एवं पौत्रों के होने का उल्लेख है।[3] जिस प्रकार समुद्रगुप्त के पिता (चन्द्रगुप्त प्रथम) ने अपने अनेक पुत्रों में से छोटे पुत्र समुद्रगुप्त को सर्वतः सुयोग्य समझकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था उसी प्रकार समुद्रगुप्त

---

[1] तवियवरकणग चंपग-विमउल कमलगब्भसरिवन्ने।
भवियजणहियय दइए, दयागुणविसारए धीरे ॥ ४३ ॥
अड्ढभरहप्पमाणे, वहुविहसज्झाय सुमुणियपहाणे।
अणुओगियवरवसभे, नाइलकुलवंसनंदिकरे ॥ ४४ ॥
भूयहियप्पगब्भे, वंदेहं भूयदिन्नमायरिए।
भवभयवुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥ ४५ ॥ [नंदीसूत्र स्थविरावली]

[2] तत्तो य भूयदिन्नं, निच्चं तवसंजमे अनिविण्णं।
पंडियजणसम्माणं, वंदामो संजमविहिण्णुं ॥ ४२ ॥ [नंदी स्थविरावली]

[3] ....(धीर) स्य पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का, हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता।
....(यस्य)....गृहेषु मुदिता वहुपुत्र पौत्रसंक्रामणी कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा ॥
[एरण की प्रशस्ति]

ने भी अपने अनेक पुत्रों में से चन्द्रगुप्त द्वितीय को सभी दृष्टियों से सुयोग्य समझ कर उसका अपने उत्तराधिकारी के रूप में चयन किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा स्थित शिलालेख तथा स्कन्दगुप्त के विहार एवं भितरी के शिलालेखों में चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए क्रमशः 'तातपरिगृहीतेन' और तातपरिगृहीत' – पदों के प्रयोग को देखकर कुछ विद्वानों की इस धारणा के लिये किंचित्मात्र भी अवकाश नहीं रह जाता कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल के बीच में दो-तीन वर्ष के थोड़े से समय के लिये रामगुप्त जैसे अकर्मण्य एवं क्लीव शासक का शिथिल शासन रहा था। उपरि चर्चित तीन शिलालेखों में से प्रथम में जो 'तातपरिगृहीतेन और शेष दो में 'तातपरिगृहीत' पद का प्रयोग चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिये किया गया है, उससे निर्विवाद रूपेण यह प्रमाणित हो जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय को स्वयं उसके पिता ने गुप्त साम्राज्य का स्वामी बनाया था।

गुप्तवंशी सम्राटों के सभी शिलालेखों एवं अभिलेखों में तथा द्वितीय चन्द्र-गुप्त–विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता (वाकाटक नृपति रुद्रसेन द्वितीय की महारानी तथा वाकाटक नृपतियों दिवाकर सेन तथा दामोदर सेन की ई० सन् ३९५ से ४१५ तक अभिभाविका) के पूना के दानपत्र में जो गुप्त राजवंशी राजाओं की वंशावली दी गई है, उनमें रामगुप्त का नामोल्लेख तक नहीं किया गया है। इन सभी अभिलेखों में गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त के पश्चात् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को ही उसका उत्तराधिकारी गुप्त सम्राट् बताया गया है।[1]

समुद्रगुप्त के पश्चात् यदि रामगुप्त नामक कोई गुप्त राजा गुप्त साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा होता तो कोई कारण नहीं था कि प्रभावती गुप्ता अपने पूना वाले दानपत्र में और स्कन्दगुप्त अपने भितरी के स्तम्भलेख में समुद्रगुप्त के पश्चात् तथा चन्द्रगुप्त (द्वितीय) से पहले रामगुप्त के नाम का उल्लेख नहीं करते। साहित्यिक उल्लेखों की अपेक्षा शिलालेख, स्तम्भलेख, ताम्रपत्राभिलेख अधिक

---

[1] (क) सिद्धम्। सर्वराजोच्छेत्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो धन-दवरुणेन्द्रान्तकसमस्य कृतान्तपरशोः न्यायागतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्ना-श्वमेधाहर्तुः महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कचपौत्रस्य महाराजा-धिराज श्री चन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छिवीदौहित्रस्य महादेव्यां कुमार देव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रः तत्परिगृहीतो महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नः स्वयं चाप्रतिरथः परम भागवतो महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तः तस्य पुत्रः तत्पादा-नुध्यातो महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नः परम भागवतो महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तः तस्य.... [स्कन्दगुप्त का भितरी (जिला गाजीपुर उत्तरप्रदेश) का स्तम्भलेख]

(ख) ......श्री समुद्रगुप्तः तत्सत्पुत्रतत्पादपरिगृहीत पृथिव्यामप्रतिरथः सर्वराजोच्छेत्ता चतुरुदधिसलिलास्वादितयशानेकगोहिरण्यकोटिसहस्रप्रद परम भागवतो महाराजा-धिराज श्री चन्द्रगुप्तः तस्य दुहिता धारण सगोत्रा नागकुलसंभूतायां श्री महादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलअलंकारभूतात्यन्तभगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराजा श्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराज श्री दिवाकर सेन-जननी श्री प्रभावति गुप्ता...। [प्रभावती गुप्ता का पूना (महाराष्ट्र) का दानपत्र]

महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक होते हैं, यह एक सर्वसम्मत निर्विवाद तथ्य है। शिलालेखों में जहां किसी तथ्य का स्पष्ट उल्लेख हो, उसके समक्ष कम से कम किसी नाटक में किये गये उससे विपरीत उल्लेख का तो कोई महत्व नहीं। क्योंकि नाटकों में प्रायः अधिकांश कथावस्तु एवं पात्र कल्पित होते हैं, उनमें चरित्र चित्रण अतिरंजित, अतिशयोक्तिपूर्ण और कभी-कभी वास्तविकता से कोसों दूर रहता है। ऐसी स्थिति में केवल किसी नाटक में किये गये किसी उल्लेख के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों के निर्णय की प्रक्रिया को अपनाया जाने लगे तो इतिहास की प्रामाणिकता ही समाप्त हो जायगी। उदाहरण के तौर पर यदि "कौमुदी महोत्सव" नामक नाटक में तत्कालीन जनमनरंजन के लिये किये गये उल्लेखों को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में अंगीकार कर लिया जाय तो लिच्छिवी जाति के विशुद्ध क्षत्रियों को म्लेच्छ, लिच्छिवी राजकुमारी के साथ विवाह करने वाले चण्डसेन (चन्द्रगुप्त) को पाटलीपुत्र के मौखरी राजा सुन्दर वर्मन का दत्तकपुत्र और गुप्तवंश के राजाओं को कारसकर (कृषक) मानना पड़ेगा। नाटक की दृष्टि से 'कौमुदी महोत्सव' का महत्त्व हो सकता है पर ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं, क्योंकि उसमें एक राजवंश से दूसरे राजवंश को नीचा दिखाने की भावना की गंध स्पष्टतः प्रकट होती है।

कुछ विद्वानों द्वारा इसी प्रकार के 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक एक नाटक के आधार पर गुप्त सम्राटों की नामावली में समुद्रगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त के बीच में रामगुप्त का नाम जोड़ने का प्रयास किया गया है।

'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक ईसा की छटी शताब्दी की कृति अनुमानित की जाती है। यह नाटक मूल रूप में तो उपलब्ध नहीं होता पर उसके कतिपय उद्धरण 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। इसके कर्त्ता के विषय में भी विद्वान् अभी तक अपना कोई निश्चित अभिमत नहीं बना पाये हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि संभवतः 'मुद्राराक्षस' नाटक का रचयिता विशाखदत्त ही इस नाटक का रचनाकार हो, पर इस अनुमान की अन्य किसी प्रकार से पुष्टि नहीं होती। विशाखदत्त ने अनेक नाटकों की रचना की, इस प्रकार का उल्लेख 'मुद्राराक्षस' नाटक में विद्यमान है।[1] यदि अधीन राजवंशोत्पन्न विशाखदत्त को 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक का रचनाकार मान लिया जाय तो इस सन्देह की पुष्टि होती है कि भारत के एक सुविख्यात एवं प्रतिष्ठित राजवंश को जनसाधारण की निगाहों में गिराने की भावना लिये किसी राजवंश का निहित स्वार्थ भरा हाथ इस नाटक की रचना के पीछे अदृष्ट रूप से अवश्य रहा होगा।

'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक के जो थोड़े बहुत उद्धरण उपलब्ध हैं, उनसे केवल निम्नलिखित सूचना प्राप्त होती है–

१. अपने प्रजाजनों के आश्वासन हेतु रामगुप्त ने अपनी महारानी ध्रुवदेवी को शकराज की सेवा में समर्पित करना स्वीकार किया।

---

[1] कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा।– मुद्राराक्षस ४।३

२. कुमार चन्द्रगुप्त ने स्त्रीवेष में शकराज के पास जाने और उसे मारने की पूरी तैयारी की और इष्टसिद्धि हेतु प्रस्थान किया।[1]

३. ध्रुवदेवी के कक्ष के समीप से जाते हुए चन्द्रगुप्त ने राहु द्वारा ग्रस्त चन्द्रकला के समान दुःख, करुणा और शोक से म्लान, अपने पति के नपुंसक तुल्य आचरण के कारण आत्यन्तिक लज्जा, कोप, विषाद, भय एवं घृणा से प्रपीड़िता ध्रुवदेवी को देखा।[2]

ईसा की सातवीं शताब्दी के कवि बाण ने अपने ग्रन्थ 'हर्षचरित्र' में सौराष्ट्र के पर-स्त्री-लम्पट शकराज (रुद्रसिंह तृतीय) को स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त द्वारा मार दिये जाने का उल्लेख निम्नलिखित एक वाक्य में किया है :–

"अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तः चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।"

ईसा की नौवीं शताब्दी के शंकरार्य नामक टीकाकार ने उपरोक्त वाक्य की टीका करते हुए लिखा है – "शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेपजनपरिवृतेन व्यापादितः।" अर्थात् शक राजा ने चन्द्रगुप्त के भाई की महारानी ध्रुवदेवी को अपने पास पहुँचाने की मांग की। इस पर चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी का वेष पहिन कर स्त्री वेषधर पुरुषों को साथ ले शक राजा को मार डाला।

ईसा की दशवीं शताब्दी के कन्नोजाधिपति यशोवर्मा के राजकवि राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में हिमाद्रि की पर्वतमालाओं पर किसी खस राजा के घेरे में आये हुए शर्मगुप्त नामक राजा द्वारा अपनी महारानी ध्रुवस्वामिनी को उस खस राजा को अर्पित किये जाने और वहाँ से हतोत्साहित हो लौटने का उल्लेख किया है। राजशेखर ने उस राजा की क्लैब्यता पर व्यंग कसते हुए आगे लिखा है कि षण्मुख कार्तिकेय के हिमालयवर्ती उस नगर की कामिनियां हिमालय पर्वत की गुफाओं में वायु के संसर्ग से निकलती हुई विविध ध्वनियों की लय के साथ ओ शर्मगुप्त! तेरे यश के गीत गा रही हैं।[3]

---

[1] प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवीसंप्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेन अरिवधनार्थ यियासुः प्रतिपन्नध्रुवदेवी नेपथ्यः कुमारचन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते।
['देवीचन्द्रगुप्तं' का नाट्यदर्पण' में उद्धरण]

[2] यथा 'देवीचन्द्रगुप्ते' चन्द्रगुप्तो ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह–इयमपि सा देवी तिष्ठति।
यैषा – रम्यां चारतिकारिणीं च करुणाशोकेन नीतां दशाम्,
तत्कालोपगतेनराहुशिरसा गुप्तेव चान्द्रीकला।
पत्युःक्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः।
लज्जाकोपविषादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते। [वही]

[3] दत्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्,
यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्री शर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणत्क्वणत्किन्नरे,
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः॥ [काव्य मीमांसा, राजशेखर]

कुछ विद्वानों ने कवि की इस व्यंगोक्ति को भी ध्रुवस्वामिनी और शर्म के साथ गुप्त शब्द को देख कर तथाकथित रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के कथानक के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। हालांकि राजशेखर ने चन्द्रगुप्त द्वारा खसराज को मार कर ध्रुवस्वामिनी के लौटाने और अपनी महादेवी बनाये जाने का कोई उल्लेख नहीं किया है।

उपरिचर्चित उद्धरणों के आधार पर रामगुप्त का कथानक इस प्रकार बनता है :-

"गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त के पश्चात् कायर एवं बुद्धि विहीन रामगुप्त गुप्त साम्राज्य का स्वामी बना। उस पर शकराज ने आक्रमण किया। डरपोक रामगुप्त पराजित हुआ। उसने शकराज के साथ सन्धिवार्ता की और अपनी सती साध्वी महारानी ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी) को शकराज की सेवा में प्रस्तुत करना स्वीकार कर लिया। रामगुप्त का अनुज चन्द्रगुप्त (द्वितीय) स्त्रीवेष धारण कर ध्रुवदेवी का स्वांग बनाये शकराज के शिविर में पहुँचा। कामुक शकराज ध्रुवदेवी से मिलने की उत्कण्ठा लिये ज्यों ही एकान्त कक्ष में पहुँचा त्यों ही स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त ने सिंह की तरह झपट कर शकराज को मौत के घाट उतार दिया। तदनन्तर अवसर पाकर चन्द्रगुप्त ने अपने बड़े भाई रामगुप्त की भी गुप्त रूप से हत्या करवा दी। अपने पति की मृत्यु के पश्चात् ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त के साथ विवाह (विधवा विवाह) कर लिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त (द्वितीय) गुप्त-साम्राज्य का स्वामी बना।"

मुख्यत: लोकरंजन के लिये बनाये गये नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में वर्णित रामगुप्त का उपरोक्त कल्पित कथानक ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, त्यों-त्यों विकृत होता गया। ईसा की १२वीं शताब्दी के अरबी ग्रन्थ 'मुजमलुत् तबारीख' में इस कथानक ने विकृत होते-होते निम्नलिखित रूप धारण कर लिया :-

"भारत में रव्वल नामक एक राजा था। उसके छोटे भाई बरकमारिस द्वारा स्वयंवर में प्राप्त एक राजकुमारी के रूप पर मुग्ध हो रव्वल ने उसके साथ विवाह कर लिया। इस घटना के पश्चात् बरकमारिस अध्ययन में जुट गया और वह एक उच्चकोटि का विद्वान् बन गया। रव्वल के पिता के शत्रु ने आक्रमण कर रव्वल को पराजित किया। रव्वल ने अपने परिवार एवं परिजनों के साथ पर्वत की चोटी पर बने एक दुर्ग में शरण ली और शत्रु से सन्धि की प्रार्थना की। शत्रु द्वारा रखी गई सन्धि की शर्त के अनुसार रव्वल ने अपनी उस रानी और सामन्तों की पुत्रियों को शत्रु के समर्पित करना स्वीकार किया। बरकमारिस ने राजा की आज्ञा से एक चाल चली। सामन्तपुत्रों सहित स्त्रीवेष धारण कर उसने स्वयं ने रानी का और शेष युवकों ने सामन्तपुत्रियों का स्वांग बनाया। उन सबने अपने अपने परिधानों में एक एक शस्त्र छुपा लिया। बरकमारिस ने अपने स्त्रीवेषधारी सब साथियों को समझा दिया कि शत्रु राजा को मौत के घाट उतारने के पश्चात्

ज्यों ही वह बिगुल बजाये, त्यों ही सब युवक बिजली की तरह शत्रुओं पर टूट पड़ें। बरकमारिस और उसके साथियों को सफलता मिली। रव्वल विजयी हुआ पर मन्त्री द्वारा बरकमारिस के प्रति सन्देह उत्पन्न करा दिये जाने के कारण वह पागल हो गया। बरकमारिस ने महल में पहुँच कर रव्वल को मार डाला। उसने राजसिंहासन पर बैठ कर स्वयंवर में प्राप्त उस रानी से विवाह कर लिया। बरकमारिस ने सम्पूर्ण भारत पर अधिकार किया और उसका यश दूर-दूर तक फैल गया।"[१]

ईसा से ५७ वर्ष पूर्व हुए विक्रम संवत् के प्रवर्तक वीर विक्रमादित्य के सम्बन्ध में बड़ी ही विचित्र अनेक लोक कथाएं शताब्दियों से केवल भारत ही नहीं, विश्व के अनेक देशों में प्रचलित रही हैं। यह पहले बताया जा चुका है कि इस्लाम की उत्पत्ति से कतिपय शताब्दियों पूर्व वीर विक्रमादित्य से सम्बन्धित साहित्य अरब में बड़ा लोकप्रिय रहा है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि अरबी लेखक द्वारा लिखा गया भारत के बरकमारिस का उपरोक्त कथानक, संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य के सम्बन्ध में प्रचलित हजारों लोक कथानकों में से किसी एक कथानक का विकृत स्वरूप है। अपने बड़े भाई भर्तृहरि द्वारा अपमानित किये जाने पर विक्रमादित्य के घर से एकाकी निकलने और अनेक वर्षों तक देशविदेशों में घूमने का उल्लेख 'विक्रमचरित्र' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।[3]

संजन से प्राप्त राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष (प्रथम) के दानपत्र (ताम्रपत्र) में भी सुनी-सुनाई किंवदन्ती के आधार पर लिखा है – "हमने सुना है कि गुप्तवंश के कलियुगी दानी एक राजा ने अपने भाई को मार कर उसके राज्य और उसकी स्त्री पर अधिकार कर लिया।"

इस प्रकार की सुनी-सुनाई, किंवदन्तियों और नाटकों पर आधारित बातों को इतिहास का रूप देना वस्तुतः इतिहास के साथ अन्याय करने के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। इतिहास के लब्ध-प्रतिष्ठ निष्पक्ष विद्वानों ने ऐतिहासिक तथ्यों के निर्णय में इस प्रकार के नाटकों को नितान्त अविश्वसनीय माना है।[४]

उपरोक्त तथ्यों पर निष्पक्ष दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने, तथा गुप्त सम्राटों एवं वाकाटक राजमाता प्रभावती गुप्ता द्वारा अभिलेखों में दिये गये गुप्त राजाओं के वंशवृक्ष में रामगुप्त के नाम का उल्लेख तक न होने से यही निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के पश्चात् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

---

[१] अबुल हसन (१०२६ ई०) द्वारा अरबी ग्रन्थ का पारसी अनुवाद। देखिये – 'Elliot and Dawson, *History of India*, I, 110–111.'

[२] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ५४८–४६

[3] प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ५४०

[४] As Sylvian Levi points out, these later historical dramas cannot be considered as trustworthy sources of the history they make for purposes of the drama. 'Mudra-rakshasa' is not considered as a reliable source of Maurya history.

ही गुप्त साम्राज्य के सिंहासन पर आसीन हुआ। इन दोनों सम्राटों के बीच में रामगुप्त नाम का कोई गुप्त राजा नहीं हुआ।

चन्द्रगुप्त (द्वितीय) बड़ा पराक्रमी एवं प्रतापी राजा हुआ है। उसने मालवा, सौराष्ट्र और गुजरात के शक महाक्षत्रपों को परास्त एवं शक महाक्षत्रप सत्यसिंह के पुत्र रुद्रसिंह (तृतीय) को मौत के घाट उतार कर वीर नि० सं० ६२७ तदनुसार ई० सन् ४०० के आसपास भारत से शकों के शासन का सदा के लिये अन्त किया। शकों के राज्य का अन्त करने के कारण प्रजाजनों ने उसे शकारि विक्रमादित्य के विरुद से विभूषित किया। वह बड़ा न्यायप्रिय, सच्चरित्र और विद्वान् सम्राट् था। उसने सम्पूर्ण भारत को एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न शासनसूत्र में बांधा। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के निम्नलिखित ७ अभिलेख अद्यावधि उपलब्ध हुए हैं :–

(१) मथुरा का गु० सं० ६१ (ई० सन् ३८०) का स्तम्भलेख। (२) उदयगिरि का गु० सं० ८२ का गुहा-लेख। (३) गढवा का गु० सं० ८८ का शिलालेख। (४) सांची का गु० सं० ९३ का वेष्टनी पर खुदा लेख। (५) उदयगिरि का बिना तिथि का गुहा (गुहा सं० ७) लेख। (६) मथुरा का बिना तिथि का खण्डित शिलालेख, जिसमें चन्द्रगुप्त तक गुप्तवंशी राजाओं की वंशावली उट्टंकित है। (७) मेहरौली का बिना तिथि का लोह-स्तम्भलेख।

मेहरौली का लोहस्तम्भलेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इसमें चन्द्र नामक राजा द्वारा बंगाल में शत्रुओं की सामूहिक शक्ति को पराजित किए जाने, समुद्र के सात मुखों तुल्य सात नदियों वाले प्रदेश पंजाब को पार कर वाह्लिकों को जीतने एवं विष्णु की भक्ति से प्रेरित हो विष्णुपद पर्वत पर विष्णु की ध्वजा के आरोपित किये जाने का उल्लेख है।[1]

---

[1] यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्,
वंगेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खंगेन कीर्तिभुजैः।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिकाः,
यस्याद्याप्यधिवासते जलनिधिः वीर्यानिलैर्दक्षिणैः ॥१॥
खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां,
मूर्त्या कर्म्म जितावनी गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ।
शान्तस्येव वने हुतभुजो यस्य प्रतापो महा–
न्नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोः यत्नस्य शेषः क्षितिम् ॥२॥
प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाध्यराज्यं क्षितौ,
चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता।
तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णोः मतिम्,
प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥३॥
[चन्द्र का मेहरौली का लोहस्तम्भलेख]

कोंकण, कुन्तल, पश्चिमी मालवा, गुजरात, कोशल, मेकल, आन्ध्र और सम्पूर्ण विन्ध्य की तलहटी का स्वामी बताया है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी दिग्विजय में इन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमार गुप्त के शासन के अन्तिम वर्षों में वाकाटकों, पुष्यमित्रों, पट्टमित्रों (पटुमित्रों) एवं मेकलवासियों ने स्वातन्त्र्यप्राप्ति के लिये गुप्त साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया हो। उस सम्मिलित प्रयास को स्कन्दगुप्त द्वारा कुचल दिये जाने के अनन्तर भी वाकाटक लोग अपनी खोई हुई सत्ता को पुनः प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील एवं अवसर की प्रतीक्षा में रहे। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् वाकाटक नृपति पृथ्वीसेन (ई० सन् ४७० से ४८५) ने अपने वंश की खोई हुई राज्य-लक्ष्मी को पुनः प्राप्त कर "कोशलमेकलमालवाधिपत्यभ्यर्चितशासनः" की उपाधि धारण की।[१]

कुमारगुप्त और पुष्यमित्रों के बीच हुए उस भीषण गृहयुद्ध के कारण भारत की शक्ति क्षीण हुई। यदि यह गृहयुद्ध न हुआ होता तो हूणों को भारत पर आक्रमण करने का साहस ही नहीं होता।

२५ आर्य लोहित्य-वाचनाचार्य

आर्य भूतदिन्न के पश्चात् आर्य लोहित्य वाचनाचार्य हुए। नन्दीसूत्र की स्थविरावली में आपके श्रुतज्ञान सम्बन्धी परिचय के अतिरिक्त आपका अन्यत्र और कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता।

नन्दी स्थविरावली में आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने इन्हें सूत्रार्थ के सम्यक् धारक और पदार्थों के नित्यानित्य स्वरूप का प्रतिपादन करने में अति कुशल बताया है।[२]

दिगम्बर परम्परा में भी आर्य लोहित्य से नाम साम्य रखने वाले लोहाचार्य अथवा लोहार्य नामक अष्टांगधारी आचार्य की प्रमुख आचार्यों में गणना की जाती है।

२६ आर्य दूष्यगणी-वाचनाचार्य

आर्य लोहित्य के पश्चात् आर्य दूष्यगणी वाचनाचार्य हुए। युगप्रधान पट्टावली में इनका परिचय नहीं मिलता। नंदी सूत्र की स्थविरावली में इन्हें लोहित्य के पश्चात् वाचनाचार्य माना गया है।

आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने नंदी स्थविरावली में तीन गाथाओं द्वारा जिन शब्दों से इनकी स्तुति की है, उससे स्पष्टतः प्रतीत होता है कि दूष्यगणी उस समय के विशिष्ट वाचनाचार्य थे और सैकड़ों अन्य गच्छों के ज्ञानार्थी श्रमण

---

[१] पृथ्वीषेण (द्वितीय) का बालघाट – ताम्रपत्र

[२] सुमुणियनिच्चानिच्चं, सुमुणियसुतत्थधारयं वंदे।
सब्भावुब्भावणया, तत्थं लोहिच्चणामाणं ॥४६॥ [नन्दी स्थविरावली]

उनकी सेवा में श्रुतज्ञान का अध्ययन करने आया करते थे। श्रुतज्ञान के व्याख्यान में दूष्यगणी इतने समर्थ वाचक थे कि उन्हें व्याख्यान करने में कभी शारीरिक एवं मानसिक थकान का अनुभव नहीं होता था। देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने दूष्यगणी को श्रुतार्थ की खान, प्रकृति से ही मधुरभाषी, तप, नियम, सत्य-संयम आदि गुणों के विशिष्ट साधक एवं अनुयोग में युगप्रधान वताते हुए प्रणाम किया है।[1]

"प्रशस्त लक्षणों से संयुक्त सुकोमल तलवों वाले आर्य दूष्यगणी के चरण युगल में मैं प्रणाम करता हूँ"[2] इन शब्दों में स्थविरावलीकार देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने जो उन्हें प्रणाम किया है, इससे स्पष्टरूपेण यह प्रमाणित होता है कि वे (देवर्द्धि) आचार्य दूष्यगणी के शिष्य थे और उसी कारण वे उनके लक्षणयुक्त सुकोमल तलवों वाले चरणों से भलीभांति परिचित थे।

कल्पसूत्र की स्थविरावली में संडिल्ल के गुरुभाई की परम्परा में आर्य देसीगणी क्षमाश्रमण का नाम उपलब्ध होता है। संभव है दूष्यगणी और देसीगणी ये दोनों नाम एक ही आचार्य के हों।

आपका विशेष परिचय और काल का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं होता। फिर भी इतना निश्चित है कि वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी का मध्यभाग इनका सत्ताकाल रहा है।

२७. देवर्द्धिक्षमाश्रमण – वाचनाचार्य एवं गणाचार्य

भगवान् महावीर के धर्म-शासन में हुए महान् आचार्यों में वाचनाचार्य आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण का वड़ा महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। आज से लगभग १५२० वर्ष पूर्व दूरदर्शी आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वल्लभी नगरी में श्रमण संघ का सम्मेलन आयोजित किया। उसमें उन्होंने न केवल आगमवाचना द्वारा द्वादशांगी के विस्मृत पाठों को सुव्यवस्थित-सुसंकलित एवं सुगठित ही किया अपितु भविष्य में सदा-सर्वदा विना किसी प्रकार की परिहानि के आगम यथावत् वने रहें, इस अभिप्राय से एकादशांगी सहित सभी सूत्रों को पुस्तकों के रूप में लिपिवद्ध करवा कर अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया। आपके द्वारा किये गये इस अनिर्वचनीय अपूर्व उपकार के प्रति पंचम आरक की समाप्ति पर्यन्त अजस्र रूप से चलने वाला प्रभु महावीर का चतुर्विध संघ पूर्णतः ऋणी रहेगा।

देवर्द्धि जन्मतः काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय थे। आपको देवर्द्धि क्षमाश्रमण और देववाचक, इन दो नामों से सम्बोधित किया जाता है। आप क्षान्ति, धीरता-

---

[1] अत्थमहत्थखाणि, सुसमणवक्खाणकहणनिव्वाणि।
पयईए महुरवाणि, पयओ पणमामि दूसगणि ।।४७।।
तवनियमसच्चसंजम, विणयज्जवखंतिमद्दवरयाणं।
सीलगुणगद्दियाणं, अणुओगजुगप्पहाणाणं ।।४८।। [नंदी स्थविरावली]

[2] सुकुमालकोमलतले, तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे।
पाए पावयणीणं, पडिच्छयसएहिं पणिवइए ।।४९।। [वही]

गम्भीरता आदि गुणों के धारक, एक पूर्व के ज्ञाता एवं आचारनिष्ठ समर्थ वाचनाचार्य थे। जैसा कि कल्प स्थविरावली के अन्त की निम्नलिखित गाथा में कहा गया है :–

सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दव गुणेहिं संपन्ने।
देवड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ।।१४।।

देवर्द्धि के सम्बन्ध में एक आख्यान प्रचलित है। उसके अनुसार आपका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :–

सौराष्ट्र प्रान्त के वैरावल पाटण में आपका जन्म हुआ। उस समय वहाँ के शासक महाराज अरिदमन थे। उनके सामान्य अधिकारी काश्यप गोत्रीय कामर्द्धि क्षत्रिय की पत्नी कलावती की कुक्षि से देवर्द्धि का जन्म हुआ। आप पूर्वजन्म में हरिणैगमेषी देव थे। माता की कुक्षि में जब आप गर्भ रूप से उत्पन्न हुए तब गर्भ के प्रभाव से कलावती ने स्वप्न में ऋद्धिशाली देव को देखा अतः नामकरण के समय पुत्र का नाम देवर्द्धि रखा गया। माता-पिता ने बालक देवर्द्धि को समय पर योग्य शिक्षक के पास पढ़ाया और युवा होने पर दो कन्याओं के साथ उसका विवाह कर दिया।

युवक देवर्द्धि बचपन की कुसंगति के कारण आखेट-क्रीड़ा का रसिक बन गया और समय-समय पर मित्रों के साथ जंगल में शिकार करने जाया करता था। नवोत्पन्न हरिणैगमेषी देव देवर्द्धि को सन्मार्ग पर लाने हेतु विभिन्न उपायों से समझाने का प्रयास करने लगा। एक दिन जब देवर्द्धि मृगयार्थ वन में गया तो उस देव ने उसके सम्मुख भयंकर सिंह, पीछे की ओर गहरी खाई और दोनों ओर दो बड़े-बड़े दंतशूल वाले बलिष्ठ शूकर खड़े कर दिये। देवर्द्धि भयभीत हो कर प्राण बचाने के लिये इधर-उधर बच निकलने का प्रयास करने लगे तो उन्होंने देखा कि उनके पैरों के नीचे की पृथ्वी कम्पायमान और ऊपर से बड़े वेग के साथ मूसलाधार वर्षा हो रही है। उस समय सहसा देवर्द्धि के कानों में ये शब्द पड़े– "अब भी समझ जा, अन्यथा तेरी मृत्यु तेरे सम्मुख खड़ी है।"

भयविह्वल देवर्द्धि ने गिड़गिड़ा कर कहा – "जैसे भी हो सके मुझे बचाओ, तुम जैसा कहोगे वही मैं करने के लिये तैयार हूँ।"

देव ने तत्काल उसे उठा कर आचार्य लोहित्य सूरि के पास पहुंचा दिया और देवर्द्धि भी आचार्य लोहित्य[1] का उपदेश सुन कर उनके पास श्रमणधर्म में दीक्षित हो गये। गुरू की सेवा में निरन्तर ज्ञानाराधन करते हुए आपने एकादशांगी और एक पूर्व का ज्ञान-प्राप्त कर कालान्तर में आचार्य पद प्राप्त किया।

देवर्द्धि क्षमाश्रमण पहले गणाचार्य पद पर अधिष्ठित किये गये और तदनन्तर दूष्यगणी के स्वर्गगमन के पश्चात् आपको वाचनाचार्य पद प्रदान किया गया।

---

[1] इस कथानक के आधार पर ही संभवतः देवर्द्धि क्षमाश्रमण को आर्य लोहित्य का शिष्य समझने की मान्यता प्रचलित हुई प्रतीत होती है। [सम्पादक]

कुछ लेखक आपको दूष्यगणी का शिष्य मान कर उनका उत्तराधिकारी वाचनाचार्य बताते हैं और कतिपय लेखक लोहित्य का शिष्य एवं उत्तराधिकारी। वास्तव में देवर्द्धिगणी किस परम्परा के और किसके शिष्य थे, इस विषय में आगे विचार किया जायगा।

परम्परा से यह कहा जाता है कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने श्रमणसंघ की अनुमति से वीर नि. सं. ९८० में वल्लभी में एक वृहत् मुनिसम्मेलन किया और उसमें आगमवाचना के माध्यम से, जिनको जैसा स्मरण था, उसे सुन कर उपलब्ध शास्त्रों के पाठों को व्यवस्थित कर आगमों को पुस्तकारूढ किया। जैसा कि कहा गया है :–

> वलहिपुरम्मि नयरे, देवड्ढिपमुहसमणसंघेणं।
> पुत्थइ आगम लिहिओ, नवसय असियाओ वीराओ ।।

श्रद्धालुओं द्वारा परम्परा से यह मान्यता अभिव्यक्त की जा रही है कि आपके तप-संयम की विशिष्ट साधना एवं आराधना से कपर्दि यक्ष, चक्रेश्वरी देवी तथा गोमुख यक्ष सदा आपकी सेवा में उपस्थित रहते थे।

आगमवाचना अथवा लेखन

मथुरा में आर्य स्कन्दिल द्वारा और वल्लभी में नागार्जुन द्वारा की गई आगमवाचना के पश्चात् १५० वर्ष से भी अधिक समय बीतने पर आचार्य देवर्द्धिगणी ने वल्लभी में श्रमण संघ को एकत्र कर श्रुतरक्षा की विचारणा की। कहा जाता है कि समय की विषमता, मानसिक दुर्वलता और मेधा की मन्दता आदि कारणों से जब सूत्रार्थ का ग्रहण, धारण एवं परावर्तन कम हो गया, स्वयं देवर्द्धि भी कफ व्याधि की शान्ति के लिये औषधरूप से लाई गई सोंठ का सेवन करना भूल गये। प्रतिलेखन के समय सोंठ को नीचे गिरी हुई देख कर उन्हें स्मृति हुई तो आचार्य ने एक मुनि-परिषद की आयोजना कर संघ के समक्ष विचार रखा कि भावी मन्द मेधावी श्रमणों में इस प्रकार श्रुतिपरम्परा से शास्त्रज्ञान किस तरह अक्षुण्ण रह पायेगा? अतः कोई उपाय सोचना चाहिए जिससे कि श्रुतज्ञान का यथावत् रक्षण हो सके। विचार-विमर्श के पश्चात् सब ने निर्णय किया कि विद्यमान शास्त्रों एवं ग्रन्थों को लिपिबद्ध कर लिया जाय। उस मुनि–परिषद का देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने नेतृत्व किया। परिषद में आगमवाचना की गई अथवा शास्त्र लिपिबद्ध किये गये, इस विषय में इतिहास लेखक एकमत नहीं हैं। परम्परानुसार कई विद्वान् इसे आगमवाचना मानते हैं तो कतिपय नवीन शोधक इसे मात्र आगम-लेखन ही। वास्तव में इसे वाचनापूर्वक आगम-लेखन कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। यह तो सुनिश्चित है कि वीर नि. सं. ९८० में देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने आगमों को लिपिबद्ध करने का निर्णय लिया। उन्होंने प्रथमतः उपस्थित श्रमणों से आगमों के पाठों को सुन एवं स्मरण में लेकर उन्हें व्यवस्थित किया और जहां कुछ वाचनाभेद भी सामने आया, वहां

नागार्जुनीया वाचना के जो महत्वपूर्ण पाठ थे, उन्हें भी यथावत् वाचनान्तर के रूप से सुरक्षित कर सब को पुस्तकारुढ करवाया।

यहां यह विचार हो सकता है कि क्या देवर्द्धि क्षमाश्रमण से पूर्व शास्त्र लिपिबद्ध नहीं हुए थे। यद्यपि पुष्ट प्रमाण के अभाव में स्पष्ट रूप से इस विषय में निर्णय करना संभव नहीं है फिर भी जैन साहित्य में यत्र-तत्र कतिपय पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा किये गये उल्लेखों को देखते हुए यह संभव लगता है कि आर्य रक्षित के समय में शास्त्रीय भागों का कुछ अभिलेखन प्रारम्भ हो गया हो। क्योंकि अनुयोगद्वार सूत्र में द्रव्यश्रुत का नामोल्लेख करते हुए पुस्तक पर लिखित सूत्र का उल्लेख किया गया है। जैसा कि कहा है–

"पत्तयपुत्थयलिहियं"[१]

निशीथ चूर्णि में शिष्य के उपकारार्थ पुस्तक-पंचक के ग्रहण का भी उल्लेख किया गया है। यथा:– 'सेहउग्गहधारणादि परिहाणिं जाणिऊण कालिय-सुयट्ठा, कालियसुयनिज्जुत्तिनिमित्तं वा पुत्थगपणगं घिप्पति।[२]

इतिहासज्ञ मुनि कल्याण विजयजी देवर्द्धिगणी के पहले आगम-लेखन के पक्ष में निम्न विचार प्रस्तुत करते हैं:–

"देवर्द्धिगणी के पहले यदि आगम लिखे हुए नहीं होते तो अनुयोगद्वार सूत्र में द्रव्यश्रुत के वर्णन में 'पुस्तकलिखितश्रुत' का उल्लेख नहीं होता। इससे यह बात तो निश्चित है कि देवर्द्धिगणी के समय से बहुत पहले जैन शास्त्र लिखने की प्रवृत्ति हो चली थी। छेद सूत्रों में साधुओं को कालिक श्रुत और कालिक श्रुत-निर्युक्ति के लिये ५ प्रकार की पुस्तकें रखने का अधिकार दिया गया है।"[३]

फिर मथुरा और वल्लभी की वाचनाओं में भी आगमों का संकलन कर उन्हें लेखबद्ध किया गया इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने अपने योगशास्त्र में कहा है:–

"जिनवचनं च दुष्षमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भि नागार्जुन-स्कन्दिलाचार्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्।"[४] इसके समर्थन में हिमवन्त स्थविरावली में उल्लेख मिलता है कि मथुरा निवासी ओसवंशीय श्रमणोपासक पोलाक ने गन्धहस्तिकृत विवरण के साथ सब शास्त्रों को तालपत्र आदि पर लिखा कर साधुओं को अर्पित किया।[५]

---

[१] अनुयोगद्वार, द्रव्यश्रुताधिकार सूत्र, ३४

[२] निशीथ चूर्णि, उ. १२

[३] वीर निर्वाण और जैन काल गणना, पृ. १०६

[४] योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७

[५] मथुरानिवासिना श्रमणोपासकवरेणौशवंशविभूषणेन पोलाकाभिधेन तत्सकलमपि प्रवचनं गंधहस्तिकृतविवरणोपेतं तालपत्रादिषु लेखयित्वा भिक्षुभ्यः स्वाध्यायार्थं समर्पितम्।
[हिमवन्त स्थविरावली, अप्रकाशित]

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर यह अनुमान होता है कि देवर्द्धिगणी के सूत्र-लेखन से पहले भी जैन शास्त्र लिखे जाते थे। लेखनारंभ के निश्चित समय के सम्बन्ध में तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर इतना कह सकते हैं कि आर्य रक्षित के समय से ही पूर्वों के अतिरिक्त शास्त्रीय भाग का अल्प प्रमाण में लेखन प्रारम्भ हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु उन्होंने सम्पूर्ण आगमों का लेखन करवाया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। आगम लेखन के लिये तो देवर्द्धि क्षमाश्रमण का काल ही सर्वसम्मत माना जाता है। संभव है पूर्ववर्ती आचार्यों के समय में शास्त्र के कुछ विशिष्ट स्थलों का आलेखन किया गया हो। यदि देवर्द्धि की तरह पहले ही सम्पूर्ण शास्त्रों का किसी ने लेखन करवा लिया होता तो श्रुतरक्षण हेतु उन्हें इस प्रकार चिंतित होने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। स्कंदिल के समय में श्रमणोपासक पोलाक द्वारा सम्पूर्ण प्रवचन के लेखन का कथन भी किसी शास्त्र विशेष अथवा स्थल विशेष को लेकर ही संगत हो सकता है। देवर्द्धि ने अपने आगम-लेखन कार्य में उन लिखित भागों को अपने अभ्यस्त पाठों और नागार्जुन-परम्परा के पाठों के साथ मिलाकर उन्हें व्यवस्थित किया होगा। देवर्द्धिगणी को इस कार्य में आर्य कालक का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ और इस प्रकार दोनों वाचनाओं को एक संयुक्त रूप देने में आचार्य देवर्द्धि ने सफलता प्राप्त की।

इस प्रकार आगमलेखन को प्रमुख मानते हुए भी दोनों वाचनाओं के पाठों को ध्यान में रखा गया है। अतः इसे 'वाचना के साथ आगमलेखन' कहना ही उचित होगा।

दुष्षमाश्रमणसंघस्तोत्र यंत्र की प्रति में एक गाथा उपलब्ध होती है –

वालब्भसंघकज्जे, उज्जमियं जुगपहाणतुल्लेहिं।
गंधव्ववाइवेयाल, संतिसूरीहिं वलहीए ॥२॥

गाथा में बताया गया है कि युगप्रधान तुल्य गन्धर्व-वादि वैताल शान्तिसूरि ने वालभ्य संघ के कार्य हेतु वल्लभी नगरी में उद्योग किया।

गाथा में आये हुए "वालब्भसंघकज्जे उज्जमियं" इस पद पर से कुछ विद्वान् यह आशंका अभिव्यक्त करते हैं कि दोनों वाचनाओं को संयुक्त कर एक रूप देने में दोनों वर्गों के बीच संघर्ष हुआ और उस समय वालभ्य संघ अर्थात् नागार्जुनीय परम्परा के श्रमणसंघ में प्रचलित वाचना को मनवाने के लिये शान्तिसूरि ने अपनी पूरी शक्ति लगाई। पर हमारे विचार से इस प्रकार की आशंका करना उचित प्रतीत नहीं होता। कारण कि आर्य स्कंदिल और आर्य नागार्जुन की वाचनाएं जो दोनों के स्वर्गस्थ होने के कारण एक नहीं की जा सकीं, उनको एक रूप देने के लिये दोनों परम्पराओं के श्रमणों ने सद्भावपूर्वक आचार्य देवर्द्धि के नेतृत्व में मुनि-परिषद की। ऐसी स्थिति में विवाद की आशंका करना वस्तुतः उनकी सद्भावना को भुलाना होगा। वाचना को एक रूप देने की भावना ही उनके अनाग्रह भाव को प्रकट करती है। फिर जिस परिषद् के नेता आर्य देवर्द्धि एवं आर्य कालक जैसे प्रमुख श्रमण हों, वहां शास्त्रीय पाठों को लेकर [illegible]

प्रश्न पर दुराग्रह अथवा संघर्ष की संभावना ही किस प्रकार हो सकती है ? संभव है 'वालभ्य संघ के लिये कार्य किया'–इसका अभिप्राय वल्लभी में मिले हुए दोनों परम्पराओं के श्रमणसंघ का आगम लेखन कार्य ही इष्ट हो और शान्ति सूरि ने आगम लेखन और पाठ निर्धारण के कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान किया हो।

देवर्द्धि और देववाचक

देवर्द्धि क्षमाश्रमण की गुरु परम्परा का निर्णय करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण ही देववाचक हैं अथवा दोनों भिन्न-भिन्न। यद्यपि यह सर्वविदित है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण वल्लभी में हुई अंतिम आगम-वाचना के सूत्रधार और नन्दीसूत्र के रचनाकार थे, पर नन्दीसूत्र की टीका में आचार्य हरिभद्र एवं मलयगिरी ने तथा नन्दीसूत्र की चूर्णि में चूर्णिकार जिनदास ने नन्दीसूत्र के रचयिता के रूप में दूष्यगणी के शिष्य देववाचक का उल्लेख किया है।[1] इससे देववाचक और देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के भिन्न-भिन्न होने की भ्रांति हो सकती है। किन्तु विभिन्न ग्रन्थकारों एवं इतिहासकारों के विचारों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि देववाचक और देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण दो नहीं अपितु दो नाम के एक ही आचार्य थे।

पूर्वाचार्यों ने वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर और वाचक इन शब्दों को एकार्थ-वाचक बताया है। पूर्वगत श्रुत के जानकार के लिये इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है।[2]

इस दृष्टि से देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण और देववाचक दोनों शब्द दो भिन्न व्यक्तिवाचक नहीं होते। यह तो एक निस्संदिग्ध तथ्य है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण अपने समय के एक लब्धप्रतिष्ठ महान् गणनायक होने के साथ-साथ एक समर्थ वाचनाचार्य भी थे। संभव है उनके वाचनाचार्य पद की अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनके नाम के प्रथम दो अक्षरों – "देव" के साथ वाचक शब्द जोड़ कर "देवर्द्धिगणी वाचक" के स्थान पर इनका संक्षिप्त नाम देववाचक रख दिया गया हो। देव-वाचक नाम के साथ ही साथ गणधर के रूप में उनकी अधिक प्रसिद्धि होने के

---

[1] (क) क एवमाह – दूष्यगणि शिष्यो देववाचक इति गाथार्थः।
[नन्दी, हारिभद्रीया वृत्ति, पृ० २०]

(ख) देववाचकोऽधिकृताध्ययनविषयभूतस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां कुर्वन्निदमाह–
[वही, पृ० २३]

(ग) तत आचार्योऽपि देववाचकनामा ज्ञानपंचकं व्याचिख्यासुः……तीर्थकृत्स्तुतिमभिधा-तुमाह–　[श्री मलयगिरीया नन्दीवृत्तिः पत्र २]

(घ) दूष्यगणिपादोपसेवि पूर्वान्तर्गतसूत्रार्थधारको देववाचको योग्यविनेयपरीक्षां कृत्वा सम्प्रत्यधिकृताध्ययनविषयस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां विदधाति–　[वही, पत्र ६५ (१)]

(ङ) दूसगणिसीसो देववायगो साधुजणहियट्ठाए इणमाह–　[नन्दी चूर्णि, पृ० १०]

[2] वाई य खमासमणे, दिवायरे वायगत्ति एगट्ठा।
पुव्वगयम्मि सुत्ते, एए सद्दा पउंजंति॥　[पुरातन आचार्य]

कारण उनका दूसरा नाम देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण अथवा देवर्द्धि क्षमाश्रमण ही व्यवहार में बोला जाता रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

वाचकवंश की परम्परा में आचार्य दूष्यगणी के पश्चात् जो २५वें आचार्य देववाचक माने गये हैं, वे कोई अन्य नहीं, देवर्द्धि क्षमाश्रमण ही हो सकते हैं। जैसा कि जयसिंह सूरिकृत धर्मोपदेश माला में गणधर और वाचनाचार्यों में देवर्द्धिगणी को ही आर्य जम्बू से २४वें आचार्य होना बताया है।

यह कोई निरी कल्पना नहीं अपितु इस तथ्य की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण हैं कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का ही दूसरा नाम देववाचक था। कर्मग्रन्थ की स्वोपज्ञ वृत्ति में देवेन्द्रसूरि ने अवधिज्ञान के भेद के विवेचन में नन्दीसूत्रगत पद का उल्लेख करते हुए कहा है :– "यदाह देवर्द्धि क्षमाश्रमण: – "से किं तं अणाणुगामियमित्यादि।"[1] –अर्थात्–नन्दीसूत्र में देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने कहा है– "वह अनानुगामी क्या है ? इत्यादि। यदि देववाचक और देवर्द्धि दो भिन्न आचार्य होते तो देवेन्द्रसूरि वस्तुत: देववाचक के स्थान पर देवर्द्धि क्षमाश्रमण को नन्दीसूत्र का रचनाकार नहीं बताते।

फिर दूसरा प्रमाण यह है कि देववाचक यदि देवर्द्धि क्षमाश्रमण से भिन्न कोई दूसरे ही आचार्य होते तो स्कन्दिलाचार्य की वाचना का प्रतिनिधित्व भी देववाचक को ही मिलना चाहिये था न कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण को। परन्तु स्थिति इससे सर्वथा विपरीत है। यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि वल्लभी वाचना में नागार्जुनीया वाचना के प्रतिनिधि आचार्य नागार्जुन की परम्परा के उत्तराधिकारी आचार्य कालक (चतुर्थ) और स्कन्दिली (माथुरी) वाचना के प्रतिनिधि आर्य स्कन्दिल की परम्परा के उत्तराधिकारी आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण माने गये हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण ही देववाचक हैं, भिन्न नहीं।

मेरुतुंग की स्थविरावली में भी यह उल्लेख है कि देवर्द्धिगणी ने सिद्धान्तों को विनाश से बचाने के लिये पुस्तकारूढ किया।[2] इन्होंने अपनी स्थविरावली में भी पट्टक्रम का निर्देश करते हुए श्री भूतदिन्न, लोहित्य, दूष्यगणी और देवर्द्धिगणी– इस प्रकार दूष्यगणी के पश्चात् स्पष्टरूपेण देवर्द्धिगणी का उल्लेख किया है।

देवर्द्धि क्षमाश्रमण की गुरु-परम्परा

देवर्द्धि क्षमाश्रमण की गुरु-परम्परा के विषय में इतिहासज्ञ एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान् कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार देवर्द्धि को सुहस्ती शाखा के

---

[1] (क) यदाह भगवान् देवर्द्धि क्षमाश्रमण :– नाणं पंचविहं पन्नत्तमित्यादि।
यदाह देवर्द्धिवाचक :– से किं तं मइनाणेत्यादि।
(ख) यदाहुर्निर्दलिताज्ञानसंभारप्रसरा देवर्द्धिवाचकवरा :–
तं समासओ चउविहं पन्नत्तमित्यादि। [आ० देवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रन्थ-स्वोपज्ञवृत्ति]

[2] श्री वीरादनु सप्तविंशतमः पुरुषो देवर्द्धिगणि. सिद्धान्तान् [illegible]
पुस्तकाधिरूढानकार्षीत्। [मेरुतुंगीया स्थविरावली, [illegible]]

आर्य षांडिल्य के शिष्य बता रहे हैं और दूसरे नन्दीसूत्र की स्थविरावली, जिनदास रचित चूर्णि, हारिभद्रीया वृत्ति, मलयगिरीया टीका और मेरुतुंगीया विचारश्रेणी के आधार पर देवर्द्धि को दूष्यगणी का शिष्य बताते हैं। तीसरा पक्ष देवर्द्धि को आर्य लौहित्य के शिष्य होने का भी उल्लेख करता है।

इन विभिन्न विचारों में से यह निर्णय करना है कि वास्तव में देवर्द्धि किस परम्परा के और किनके शिष्य थे। इतिहास के विशेषज्ञ मुनि श्री कल्याणविजयजी आदि लेखकों ने इनको सुहस्ती-परम्परा के आर्य षांडिल्य का शिष्य मान्य किया है। उनका कहना है कि नन्दीसूत्र की स्थविरावली देवर्द्धि की गुर्वावली नहीं अपितु युग प्रधानावली है, देवर्द्धि की गुर्वावली तो कल्पसूत्रीया स्थविरावली है। अपने इस मन्तव्य की पुष्टि में उन्होंने कहा है कि कल्पसूत्रस्थ स्थविरावली में षांडिल्य के पश्चात् कुछ गाथाएं देकर देवर्द्धि को वंदन किया गया है।

कल्प स्थविरावली के गद्य पाठ के अन्तिम सूत्र में आर्य धर्म के अन्तेवासी काश्यपगोत्रीय आर्य षांडिल्य बताये गये हैं। इसके पश्चात् १४ गाथाओं से कतिपय आचार्यों को वंदन किया गया है। उनमें फल्गुमित्र से काश्यपगोत्रीय धर्म तक तो पाठगत स्थविरों की ही वन्दना की गई है। तदनन्तर (१) स्थविर आर्य जम्बू, (२) आर्य नन्दियमपिय, (३) माढरगोत्रीय आर्य देसिगणी, (४) स्थिरगुप्त क्षमाश्रमण, (५) स्थविर कुमार धर्म, और (६) देवर्द्धिक्षमाश्रमण काश्यपगोत्रीय को प्रणाम किया गया है। बस यही कल्पसूत्रीय स्थविरावली को देवर्द्धि की गुर्वावली मानने का आधार माना है। स्थविरावली के अन्य आचार्यों की तरह जम्बू आदि स्थविरों के लिये यह नहीं बताया गया है कि ये किनके अन्तेवासी थे। गाथाओं की शैली और उनमें फल्गुमित्र आदि कुछ आचार्यों के नामों का पुनरावर्तन कर वन्दन करने से प्रतीत होता है कि पीछे के किसी लेखक ने भक्तिवश जम्बू आदि आठ आचार्यों को वन्दन कर अन्तिम गाथा में देवर्द्धि क्षमाश्रमण का नाम भी जोड़ दिया है। स्थविरावली के मूलपाठ में तो इनका कहीं उल्लेख तक नहीं है। ऐसी स्थिति में केवल देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्र का संकलन किया और उसकी स्थविरावली में आर्य धर्म के अन्तेवासी आर्य षांडिल्य का अन्तिम नाम है, यही एक षांडिल्य को देवर्द्धि के गुरु मानने का आधार हो सकता है। अन्यथा कल्पसूत्रीया स्थविरावली में ऐसा कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता, जिस पर से कि देवर्द्धि के गुरु का स्पष्टतः निर्णय किया जा सके।

गाथाओं में निर्दिष्ट आचार्यक्रम के आधार से यदि देवर्द्धि की गुरु परम्परा मान्य की जाय तो स्थविर कुमार धर्म को देवर्द्धि का गुरू मानना होगा। क्योंकि कुमार धर्म की वन्दना के पश्चात् देवर्द्धि क्षमाश्रमण को प्रणिपात किया गया है। वस्तुतः कल्प स्थविरावली की अन्त की गाथाओं में देवर्द्धि क्षमाश्रमण के आसपास कहीं षांडिल्य का नामोल्लेख भी नहीं है। हम नहीं समझ पाते कि ऐसी स्थिति में देवर्द्धि को आर्य षाण्डिल्य का शिष्य किस आधार पर बताया जाता है। स्थविरावली को गहराई से देखने पर भी आर्य षाण्डिल्य को देवर्द्धि का गुरु मानने

का कोई कारण समझ में नहीं आता। आर्य षाण्डिल्य यदि देवर्द्धि के गुरु होते तो अवश्य उनके प्रति कुछ विशिष्ट शब्दों द्वारा वन्दन पूर्वक गुरु भाव व्यक्त किया जाता।

मुनिश्री की कल्पना के अनुसार यदि देवर्द्धिगणी आर्य सुहस्ती की शाखा के आचार्य होते तो नंदीसूत्रस्थ स्थविरावली के समान ही कल्पसूत्रस्थ स्थविरावली में भी प्रत्येक आचार्य का विशेष स्तुतिपूर्वक परिचय दिया जाता। पर वस्तुतः कल्पसूत्रीया स्थविरावली में वैसा न कर, अमुक स्थविर का अन्तेवासी अमुक, केवल इतना ही परिचय दिया गया है। नन्दीसूत्रीया स्थविरावली में प्रत्येक आचार्य को वंदन और पांडिल्य के पश्चात् अधिकांश आचार्यों का स्तुतिपूर्वक स्मरण किया गया है। इसके विपरीत कल्प की स्थविरावली में आदि से अंत तक इतना ही बताया गया है कि कौन किसका शिष्य था। अन्तिम सूत्र में – "थेरस्स णं अज्ज धम्मस्स कासवगुत्तस्स अज्ज संडिल्ले थेरे अंतेवासी" – दिया है। इस वाक्य से केवल इतना ही अभिव्यक्त होता है कि स्थविर आर्य धर्म के अंतेवासी आर्य षाण्डिल्य थे। इसके आगे १४ गाथाओं द्वारा १७वें स्थविर फल्गुमित्र से ३२वें आर्य धर्म तक का स्मरण किया गया है। अंत में जम्बू आदि ६ आचार्यों का स्मरण कर किसी अन्यकर्त्तृक गाथा से देवर्द्धि का स्मरणपूर्वक वंदन किया गया है। कल्पसूत्रीया स्थविरावली गुरु-शिष्य क्रमवाली होने और पांडिल्य के पश्चात् अन्यकर्त्तृक गाथा द्वारा देवर्द्धि को वन्दन करने मात्र से ही यह अनुमान कर लेना कि सूत्र के लेखक आचार्य (देवर्द्धि) की भी यही गुरु-परम्परा है और स्थविरावली के अन्तिम आचार्य षाण्डिल्य उनके दीक्षा-गुरु हैं, उचित नहीं। आर्य स्थविर षाण्डिल्य यदि देवर्द्धि के गुरु होते तो अवश्य ही कुछ विशिष्ट विशेषणों से उनका दूष्यगणी के समान परिचय दिया जाता।

ऐसी स्थिति में नन्दीसूत्र की स्थविरावली को माथुरी वाचनानुगत युग-प्रधान स्थविरावली अथवा वाचकवंश पट्टावली कह कर उसे देवर्द्धि की गुर्वावली न मानना न तो कोई सयौक्तिक ही है और न किसी प्रमाण द्वारा पुष्ट ही।

यह ठीक है कि नन्दीसूत्र की स्थविरावली में मुख्य रूप से वाचकवंश की परम्परा प्रस्तुत की गई है और इसलिये कहीं-कहीं गुरुभाई एवं गणान्तर के आचार्य का भी वहां वाचक रूप से उल्लेख हो गया है पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें गुरु-शिष्य का क्रम सर्वथा ही नहीं है। आचार्य नन्दिल से आगे के सभी नाम नन्दी की स्थविरावली में भी प्रायः गुरु-शिष्य क्रम से ही दिये गये हैं। आर्य सुधर्मा और जम्बू जैसे शिवंगत आचार्यों और अन्य विशिष्ट श्रुतधरों का कल्प की तरह यहां भी नाममात्र से स्मरण कर भूतदिन्न और दूष्यगणी का तीन और दो गाथाओं से अभिवादन कर उनके चरणों में प्रणाम किया गया है। बिना विशिष्ट अनुराग और भक्ति के इस प्रकार गुणगानपूर्वक चरणवन्दन सम्भव नहीं होता। निश्चय ही इस प्रकार के अभिवादन के पीछे, सूत्रकार का कोई विशिष्ट अभिप्राय होना चाहिये और वह विशिष्ट अभिप्राय शिक्षा-दीक्षा आदि सम्बन्ध-

आर्य महागिरि और सुहस्ती की शाखाओं में बड़े होने के कारण महागिरि की शाखा को 'वृद्धशाखा' कहा जाना उचित ही है। जैसा कि विधिपक्ष पट्टावली में आचार्य देवर्द्धि की वन्दना करते हुए कहा गया है –

वीरस्स सत्तवीसे, पट्टे सुत्तत्थरयणसिंगारं।
देवड्ढिखमासमणं, पणमामि य वुड्ढसाहाए ॥२१॥[1]

अर्थात् – वृद्ध शाखा में प्रभु महावीर के २७वें पट्टधर सूत्रार्थरत्न के शृंगार से सुशोभित देवर्द्धि क्षमाश्रमण को नमस्कार करता हूँ।

वल्लभी-परिषद् का आगम-लेखन

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की यह परम्परागत एवं सर्वसम्मत मान्यता है कि वर्तमान में उपलब्ध आगम देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा लिपिबद्ध करवाये गये थे। लेखनकला का प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव के समय से मानते हुए भी यह माना जाता है कि आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण से पूर्व आगमों का व्यवस्थित लेखन नहीं किया गया। पुरातन पराम्परा में शास्त्रवाणी को परमपवित्र मानने के कारण उसकी पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये आगमों को श्रुत-परम्परा से कण्ठाग्र रखने में ही श्रेय समझा जाता रहा। पूर्वकाल में इसीलिये शास्त्रों का पुस्तकों अथवा पन्नों पर आलेखन नहीं किया गया। यही कारण है कि तब तक श्रुत नाम से ही शास्त्रों का उल्लेख किया जाता रहा।

जैन परम्परा ही नहीं वैदिक परम्परा में भी यही धारणा प्रचलित रही और उसी के फलस्वरूप वेद वेदांगादि शास्त्रों को श्रुति के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा। जैन श्रमणों की अनारम्भी मनोवृत्ति ने यह भी अनुभव किया कि शास्त्र-लेखन के पीछे बहुत सी खटपटें करनी होंगी। कागज, कलम, मसी और मसिपात्र आदि लाने, रखने तथा सम्हालने में आरम्भ एवं प्रमाद की वृद्धि होगी। ऐसा सोच कर ही वे लेखन की प्रवृत्ति से बचते रहे। पर जब देखा कि शिष्यवर्ग की धारणा-शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती चली जा रही है, शास्त्रीय पाठों की स्मृति के अभाव से शास्त्रों के पाठ-परावर्तन में भी आलस्य तथा संकोच होता जा रहा है, बिना लिखे शास्त्रों को सुरक्षित नहीं रखा जा सकेगा, शास्त्रों के न रहने से ज्ञान नहीं रहेगा और ज्ञान के अभाव में अधिकांश जीवन विषय, कषाय एवं प्रमाद में व्यर्थ ही चला जायगा, शास्त्र-लेखन के द्वारा पठन-पाठन के माध्यम से जीवन में एकाग्रता बढाते हुए प्रमाद को घटाया जा सकेगा और ज्ञान-परम्परा को भी शताब्दियों तक अबाध रूप से सुरक्षित रखा जा सकेगा, तब शास्त्रों का लेखन सम्पन्न किया गया।

इस प्रकार संघ को ज्ञानहानि और प्रमाद से बचाने के लिये संतों ने शास्त्रों को लिपिबद्ध करने का निश्चय किया। जैन परम्परानुसार आर्य रक्षित एवं आर्य स्कन्दिल के समय में कुछ शास्त्रीय भागों का लेखन प्रारम्भ हुआ माना

[1] भावसागर की 'विधिपक्ष पट्टावली'।

गया है। किन्तु आगमों का सुव्यवस्थित सम्पूर्ण लेखन तो आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण द्वारा वल्लभी में ही सम्पन्न किया जाना माना जाता है।

देवर्द्धि के समय में कितने व कौन-कौन से शास्त्र लिपिबद्ध कर लिये गये एवं उनमें से आज कितने उसी रूप में विद्यमान हैं, प्रमाणाभाव में यह नहीं कहा जा सकता। "आगम पुत्थय लिहिओ" इस परम्परागत अनुश्रुति में सामान्य रूप से आगम पुस्तक रूप में लिखे गये – इतना ही कहा गया है। संख्या का कहीं कोई उल्लेख तक भी उपलब्ध नहीं होता। अर्वाचीन पुस्तकों में ८४ आगम और अनेक ग्रन्थों के पुस्तकारूढ करने का उल्लेख किया गया है। नंदीसूत्र में कालिक और उत्कालिक श्रुत का परिचय देते हुए कुछ नामावली प्रस्तुत की है। बहुत सम्भव है देवर्द्धि क्षमाश्रमण के समय में वे श्रुत विद्यमान हों और उनमें से अधिकांश सूत्रों का देवर्द्धि गणी क्षमाश्रमण ने लेखन करवा लिया हो। नन्दीसूत्रानुसार कालिक एवं उत्कालिक सूत्रों की संख्या निम्न प्रकार है :–

उत्कालिक सुय (श्रुत)

१. दसवेयालियं
२. कप्पियाकप्पियं
३. चुल्लकप्पसुयं
४. महाकप्पसुयं
५. उववाइय
६. रायपसेणइय
७. जीवाभिगम
८. पन्नवणा
९. महापन्नवणा
१०. पमायप्पमाय
११. नंदी
१२. अणुओगदाराइं
१३. देविन्दथव
१४. तंदुलवेयालिय
१५. चंदाविज्जय
१६. सूरपण्णत्ती
१७. पोरिसिमंडल
१८. मंडलपवेस
१९. विज्जाचरणविणिच्छओ
२०. गणिविज्जा
२१. झाणविभत्ती
२२. मरणविभत्ती
२३. आयविसोही
२४. वीयरागसुयं
२५. संलेहणासुयं
२६. विहारकप्पो
२७. चरणविहि
२८. आउरपच्चक्खाण
२९. महापच्चक्खाण, आदि

कालिक सुय (श्रुत)

१२ अंग

१. आयारो
२. सुयगडो
३. ठाणं
४. समवाओ
५. विवाहपण्णत्ती
६. नायाधम्मकहाओ
७. उवासगदसाओ
८. अंतगडदसाओ
९. अणुत्तरोववाइयदसाओ
१०. पण्हावागरणाइं
११. विवाग सुयं
१२. दिट्ठिवाओ (विच्छिन्न)

तथा कहीं-कहीं पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को संयुक्त मान कर चार की संख्या मानी गई है।

स्थानकवासी परम्परा के अनुसार आवश्यक और पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नंदी और अनुयोगद्वार को मिला कर चार मूल सूत्र माने गये हैं। जब कि दूसरी परम्परा नन्दी और अनुयोगद्वार को चूलिका सूत्र के रूप में मान्य करती है।

देवर्द्धि क्षमाश्रमण का स्वर्गगमन और पूर्व-ज्ञान का विच्छेद

वाचनाचार्य आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण के जन्म, श्रमण-दीक्षा, गणाचार्य एवं वाचनाचार्य-काल के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक उल्लेख आज उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार आपके स्वर्गारोहण-काल के सम्बन्ध में भी कोई स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। परम्परागत मान्यतानुसार आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण अंतिम पूर्वधर माने गये हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है भगवती-सूत्र के उल्लेखानुसार भगवान् महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् पूर्वज्ञान का विच्छेद माना गया है। ऐसी स्थिति में एक प्रकार से यह सुनिश्चित हो जाता है कि अंतिम पूर्वधर आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण वीर नि० सं० १००० में स्वर्गस्थ हुए। इसके उपरान्त भी कतिपय पट्टावलीकारों का अभिमत है कि अंतिम पूर्वधर युग-प्रधानाचार्य सत्यमित्र थे तथा सत्यमित्र का वीर नि० सं० १००० में और देवर्द्धि क्षमाश्रमण का उनसे पहले वीर नि० सं० ६६० में स्वर्गगमन हुआ।

'तित्थोगालिय पइन्ना' की हस्तलिखित प्रति का अध्ययन करते हुए हमें दो गाथाएं दृष्टिगोचर हुईं, जिनमें स्पष्टतः उल्लेख है – "भगवान् महावीर के मोक्ष-गमनानन्तर १००० वर्ष व्यतीत हो जाने पर अन्तिम वाचक वृषभ (वाचनाचार्य) के साथ पूर्वज्ञान विलुप्त हो जायगा। वर्द्धमान भगवान् के निर्वाण के १००० वर्ष पूर्ण होते ही परिपाटी से जिसको जितना पूर्वज्ञान प्राप्त होगा, वह नष्ट हो जायगा।"

वे गाथाएं इस प्रकार हैं :–

> वोलीणम्मि सहस्से, वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ।
> उत्तरवायग – वसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो ।।८०५।।
> वरिस सहस्से पुण्णे, तित्थोगालीए वड्ढमाणस्स।
> नासिहि पुव्वगतं, अणुपरिवाडीए जं जस्स ।।८०६।।

इन गाथाओं में देवर्द्धि क्षमाश्रमण का नाम तो स्पष्टतः उल्लिखित नहीं है परन्तु प्रथम गाथा के – "उत्तरवायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो" – इन पदों में प्रयुक्त-'उत्तर-वाचक–वृषभ' पद अंतिम वाचनाचार्य आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का ही बोधक है। क्योंकि समस्त जैन वाङ्मय में देवर्द्धि को ही सर्व सम्मत रूपेण अन्तिम वाचनाचार्य स्वीकार किया गया है।

तित्थोगाली पइन्ना की एक गाथा में आर्य सत्यमित्र नामक एक मुनिपुंगव को अंतिम दशपूर्वधर बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि तित्थोगाली पइन्ना

की उस गाथा में अंतिम दशपूर्वधर आर्य सत्यमित्र के लिये अभिव्यक्त किये गये भावों को नाम साम्य के कारण २८वें युगप्रधानाचार्य सत्यमित्र के साथ जोड़ कर भ्रान्तिवश पट्टावलीकारों द्वारा उन्हें अन्तिम पूर्वधर मान लिया गया है। तित्थोगाली पइन्ना की पूर्वगत श्रुतविषयक गाथाओं के समीचीनतया पर्यालोचन से यह स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि सत्यमित्र को अंतिम दशपूर्वधर बताया गया है, न कि अंतिम एक पूर्वधर। वीर नि० सं० ९९४ से १००१ तक युगप्रधान पद पर रहने वाले २८वें युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र यदि अंतिम पूर्वधर होते तो तित्थोगाली पइन्ना में अंतिम वाचक-वृषभ (देवर्द्धिगणी) को अंतिम पूर्वधर न बता कर आर्य सत्यमित्र को बताया जाता।

पूर्व-ज्ञान के लुप्त होने विषयक तथा श्रमणोत्तम आर्य सत्यमित्र से सम्बन्धित तित्थोगाली पइन्ना की वे गाथाएं इस प्रकार हैं :-

नामेण सच्चमित्तो, समणो समणगुणनिउण विचतिओ।
होही अपच्छिमो किर, दसपुव्वी धारओ वीरो ॥८०२॥
एयस्स पुव्वसुयसारस्स, उदहिव्व छल्ल अपरिमेयस्स।
सुणसु जह अथ काले, परिहाणी दीसते पच्छा ॥८०३॥
पुव्वसुयतेल्ल भरिए, विज्झाए सच्चमित्त दीवम्मि।
धम्मावायनिसिल्लो, होही लोगो सुयनिसिल्लो ॥८०४॥

अर्थात् – श्रमण-गुणों की परिपालना में पूर्णतः निपुण सत्यमित्र नामक वीर श्रमण अन्तिम दशपूर्वधर होंगे। अगाध उदधि के समान छलाछल भरे सारभूत पूर्वश्रुत का कालान्तर में किस प्रकार ह्रास होगा, यह सुनिये। पूर्वश्रुत रूपी तैल से भरे आर्य सत्यमित्र रूपी दीपक के बुझ जाने पर लोग (अधिकांशतः) धर्माचरण एवं श्रुताराधन से विरत हो जायेंगे।"

ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त गाथा संख्या ८०४ से किसी समय इस प्रकार की भ्रान्ति का जन्म हुआ कि सत्यमित्र के स्वर्गगमन के साथ ही सम्पूर्ण पूर्वज्ञान विनष्ट हो गया और उसके फलस्वरूप लोग धर्माचरण एवं श्रुताराधन से विहीन हो गये। वस्तुतः इस गाथा द्वारा अन्तिम दशपूर्वधर सत्यमित्र के स्वर्गगमन से हुई धर्म एवं श्रुत की हानि का ही उल्लेख किया गया है, न कि पूरे पूर्वगत ज्ञान के विलुप्त होने का। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को ही तित्थोगाली पइन्ना में अन्तिम पूर्वधर बताते हुए स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि उनके निधन के साथ ही पूर्वगतज्ञान विलुप्त हो जायगा।

२७ कालकाचार्य (चतुर्थ) – युगप्रधानाचार्य

२६वें युगप्रधानाचार्य आर्य भूतदिन्न के पश्चात् आर्य कालक २७वें युगप्रधान हुए। चतुर्थ कालकाचार्य[1] के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से परिचय उपलब्ध होता है :-

नागार्जुन की परम्परा में आगे चल कर आर्य कालक हुए। उनका जन्म वीर सं० ९११ में, दीक्षा ९२३ में, युगप्रधान पद ९८३ में और स्वर्गवास वीर सं० ९९४ में माना जाता है। श्वेताम्बर परम्परा में यही आचार्य कालक, चतुर्थ कालकाचार्य के रूप में विख्यात हैं।

वल्लभी में हुई अन्तिम आगम-वाचना में जिस प्रकार आचार्य स्कंदिल की माथुरी-वाचना के प्रतिनिधि आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण थे, उसी प्रकार आचार्य नागार्जुन की वल्लभी-आगमवाचना के प्रतिनिधि कालक सूरि (चतुर्थ कालकाचार्य) थे। वल्लभी में वीर नि० सं० ९८० में हुई अन्तिम आगमवाचना में इन दोनों आचार्यों ने मिल कर दोनों वाचनाओं के पाठों को मिलाने के पश्चात् जो एक पाठ निश्चित किया, उसी रूप में आज आगम विद्यमान हैं।

इस प्रकार के प्राचीन उल्लेख उपलब्ध हैं कि वीर नि० सं० ९९३ में वल्लभी के राजा ध्रुवसेन के राजकुमार की मृत्यु हो गई और शोकसंतप्त राजपरिवार वड़नगर में निवास करने लगा। कालकाचार्य ने उस वर्ष वहाँ चातुर्मास कर राजकुटुम्ब के शोकनिवारणार्थ संघ के समक्ष कल्पसूत्र की वाचना प्रारम्भ की। राजा ने भी शोक का परित्याग कर, उपाश्रय में आ कल्पसूत्र का श्रवण किया। तभी से संघ के समक्ष कल्पसूत्र का प्रकट रूप से वाचन होने लगा, जो आज तक भी प्रचलित है।

---

[1] प्रथम और द्वितीय कालकाचार्य का यथासम्भव पूर्ण परिचय यथास्थान दिया जा चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४७४ पर कल्पसूत्रीया स्थविरावली के आचार्यों की नामावली में क्रम संख्या २५ पर आर्य सुहस्ती की परम्परा के २५वें गणाचार्य आर्य कालक का नाम दिया गया है। आर्य सुहस्ती की परम्परा के १३वें आचार्य आर्यवज्र के पश्चात् कल्पसूत्रीया स्थविरावली में जिन आचार्यों के नाम दिये गये हैं, उन आचार्यों का परिचय उपलब्ध नहीं होता। यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में उन गणाचार्यों का नामोल्लेख के अतिरिक्त कोई परिचय नहीं दिया जा सका है। प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ कालकाचार्य का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् सहज ही प्रत्येक पाठक को तृतीय कालकाचार्य का परिचय प्राप्त करने की जिज्ञासा होना संभव है। पर वस्तुतः तृतीय कालकाचार्य का केवल इतना ही परिचय उपलब्ध है कि वे आर्य सुहस्ती की परम्परा के २५वें गणाचार्य थे। आप माढर गोत्रीय आर्य विष्णु के शिष्य एवं पट्टधर थे। आर्य कालक के प्रमुख शिष्य का नाम संघपालित था, जो कल्प-स्थविरावली के अनुसार आपके स्वर्गारोहण के पश्चात् आर्य सुहस्ती की परम्परा में २६वें आचार्य बने। रत्नसंचय प्रकरण (पत्र ३२) के—

सत्तसयवीस अहिए, कालिगगुरू सक्कसंथुणियो ॥५७॥

इस उल्लेख के अनुसार आपके गणाचार्य पद पर आसीन होने का समय वीर नि० सं० ७२० माना गया है।

—सम्पादक

इस प्रकार आचार्य कालक उस समय के प्रधान आचार्य माने गये हैं। दुष्षमाकाल श्रमणसंघ-स्तोत्र के अनुसार वज्रसेन (वीर नि० सं० ६२०) के पश्चात् ६९ वर्ष नागहस्ती, ५९ वर्ष रेवतीमित्र, ७८ वर्ष ब्रह्मद्वीपकसिंह, ७८ वर्ष नागार्जुन, ७९ वर्ष भूतदिन्न और तदनन्तर ११ वर्ष कालकाचार्य का आचार्यकाल रहा।[1] तदनुसार वीर नि० सं० ९९४ में कालकाचार्य का स्वर्गवास माना गया है।

वीर नि० सं० ९९३ में कालकाचार्य द्वारा चतुर्थी के दिन पर्यूषण पर्व मनाने की जो बात कही जाती है, वह उल्लेख वस्तुतः वीर नि० सं० ४५७ से ४६५ के बीच किसी समय द्वितीय कालकाचार्य द्वारा प्रचलित किये गये चतुर्थी-पर्वाराधन के स्थान पर मध्य काल में जो पंचमी के दिन पर्वाराधन का प्रचलन हो गया था, उसे निरस्त कर पुनः चतुर्थी – पर्वाराधन को स्थिर करने की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है।[2]

२८ आर्य सत्यमित्र-युगप्रधानाचार्य

दुष्षमाकाल श्रमणसंघस्तोत्र के अनुसार २८वें युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र का द्वितीयोदय के युगप्रधानाचार्यों में आठवां स्थान माना गया है।[1] युगप्रधान कालकाचार्य (चतुर्थ) के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० सं० ९९४ में आर्य सत्यमित्र २८वें युगप्रधानाचार्य हुए।

आपका केवल यही परिचय उपलब्ध होता है कि वीर नि० सं० ९५३ में आपका जन्म हुआ। वीर नि० सं० ९६३ में आपने १० वर्ष की बाल्यावस्था में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। तीस वर्ष तक सामान्य श्रमण-पर्याय में रहने के अनन्तर वीर नि० सं० ९९३ में आपको युगप्रधानाचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया। आपने ७ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य के रूप में जिन-शासन की सेवा करने के पश्चात् ४७ वर्ष, ५ मास और ५ दिवस की आयु समाधिपूर्वक पूर्ण कर वीर नि० सं० १००१ में स्वर्गारोहण किया।

देवर्द्धि कालीन राजनैतिक स्थिति

गुप्त-सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

(वीर नि० सं० ९८२-९९४)

वीर नि० सं० ९८२ में कुमार गुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका बड़ा पुत्र स्कन्दगुप्त सुविशाल गुप्त – साम्राज्य का स्वामी बना। इसका पहला अभिलेख, जूनागढ़ का चट्टान-अभिलेख गुप्त सम्वत् १३६ का और अन्तिम गढ़वा का शिलालेख गुप्त सं० १४८ का है। इन दोनों शिलालेखों के आधार पर यह विश्वास किया

[1] वयरसेण ३, नागहत्थि ६९, रेवतीमित्त ५९, बम्भदीवगसिंह ७८, नागज्जुण ७८, भूई वर्षाणि ९०४, भूतदिन्न ७९, कालकायरिए ११
[दुष्षमाकाल समणसंघत्थोत्रं, अवचूरि, पट्टा० समु० पृ० १८]

[2] देखें द्वितीय कालकाचार्य का प्रकरण, पृ० ५१७-२१

जाता है कि स्कन्दगुप्त का शासनकाल वीर नि० सं० ९८२ से ९९४ (ई० सन् ४५५-४६७) तक रहा। स्कन्दगुप्त बड़ा ही शूरवीर और प्रतापी सम्राट् था। उसे जीवन भर संघर्षरत रहना पड़ा। यह पहले बताया जा चुका है कि स्कन्दगुप्त ने अपने पिता के शासनकाल में पुष्यमित्रों की बड़ी शक्तिशाली विशाल सेना को परास्त कर गुप्त–साम्राज्य की रक्षा की थी। गुप्त-साम्राज्य की बागडोर सम्हालते ही स्कन्दगुप्त ने मध्य एशिया से आये हुए बर्बर हूण आक्रान्ताओं से अपनी मातृ-भूमि भारत की रक्षार्थ बड़ी वीरता के साथ युद्ध किया। यूरोप और एशिया के अनेक भू-भागों को अपने घोड़ों की टापों से पददलित करते हुए हूणों ने टिड्डी दल की तरह भारत पर आक्रमण किया। एशिया की बड़ी-बड़ी राजसत्ताओं को भू-लुण्ठित करने के पश्चात् हूण जाति का सरदार आंटीला बड़े गर्व के साथ कहा करता था – "जिस भूमि पर मेरे घोड़े की टाप एक बार गिर जायगी, उस भूमि पर बारह वर्ष पर्यन्त घास तक नहीं उग सकेगी।"

हूण सैनिक, संख्या में अत्यधिक होने के साथ-साथ निपुण अश्वारोही थे। उन्होंने प्रलयकालीन आंधी की तरह भारत पर आक्रमण किया। स्कन्दगुप्त अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये एक सशक्त सेना लेकर रणांगण में हूणों की सेना से जा भिड़ा। बड़ा भीषण युद्ध हुआ। हूण सैनिक भारतीयों के भीषण प्रतिरोध से तिलमिला उठे क्योंकि अब तक प्रत्येक देश में बवण्डर की तरह बढती हुई उनकी दुर्दान्त अश्वारोही सेना को इस प्रकार अन्यत्र कहीं नहीं रोका गया था। हूणों ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर पूरी शक्ति के साथ आगे बढ़ने का प्रयास किया। षण्मुख कार्तिकेय के समान स्कन्दगुप्त ने भारतीय सेना का संचालन करते हुए आततायी हूण आक्रान्ताओं का संहार किया और उन्हें आगे नहीं बढ़ने दिया। लोमहर्षक तुमुलयुद्ध में जनधन की अपार क्षति उठाने के अनन्तर बुरी तरह हारा हुआ हूण सरदार अपनी बची खुची सेना के साथ रणांगण से भाग खड़ा हुआ। ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारत पर हुए विदेशी आक्रमणों में हूणों द्वारा किया गया आकमण सबसे अधिक भीषण था।[१] स्कन्दगुप्त ने अद्भुत शौर्य और साहस के साथ दुर्दान्त हूणों को परास्त कर भारत की एक महान् संकट से रक्षा की।

यद्यपि इस युद्ध में हूणों की शक्ति नष्टप्रायः हो चुकी थी तथापि अपनी पराजय का प्रतिषोध लेने के लिये हूणों ने अनेक बार भारत पर आक्रमण किये। हठी हूण सरदार ने पन्द्रह-पन्द्रह, सोलह-सोलह वर्ष की आयु के हूण किशोरों को युद्ध में झोंक दिया पर हर बार स्कन्दगुप्त ने रणक्षेत्र में हूणों को बुरी तरह पराजित किया।

अपने १२ वर्ष के शासनकाल में निरन्तर युद्धों में उलझे रहने के कारण स्कन्दगुप्त का कोषबल अत्यधिक क्षीण हो चुका था तथापि उसने अपने जीवन-काल में बर्बर हूण आततायियों को भारत की धरती पर आगे नहीं बढ़ने दिया।

---

[१] हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।
[स्कन्दगुप्त का भितरी (जिला गाजीपुर, उत्तरप्रदेश) स्तम्भलेख]

कतिपय इतिहासज्ञों का अभिमत है कि गुप्त सम्राट् कुमार गुप्त के निधनानन्तर पुरुगुप्त राज्य सिंहासन पर बैठा। पुरुगुप्त को अपदस्थ करने एवं गुप्त साम्राज्य के सिंहासन पर अपना अधिकार करने के लिये स्कन्दगुप्त को गृहयुद्ध में उलझना पड़ा। उस गृह-कलह में स्कन्दगुप्त अन्ततोगत्वा विजयी हुआ और पुरुगुप्त को राज्यच्युत कर उसने गुप्त साम्राज्य के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। अपने इस अभिमत की पुष्टि में उन विद्वानों द्वारा स्कन्दगुप्त के भितरी (उत्तरप्रदेश) स्तम्भलेख का निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया जाता है :-

पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्,
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिव परितोषान्मातरं साश्रुनेत्राम्,
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ।।६।।

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि पिता के दिवंगत होने के पश्चात् अपने बाहुबल से शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर स्कन्दगुप्त ने संकटों से घिरे गुप्त साम्राज्य की पुनः पूर्ववत् प्रतिष्ठा स्थापित की। जिस प्रकार कंस आदि शत्रुओं का संहार करने के पश्चात् श्री कृष्ण (अपनी विजय का संदेश सुनाने) मां देवकी की सेवा में उपस्थित हुए, उसी प्रकार स्कन्दगुप्त ने भी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर अपनी माता को अपनी विजय का संदेश सुनाया। उसकी माता के नेत्रों में हर्ष के आंसू भर आये।

कुमारगुप्त के पश्चात् पुरुगुप्त को गुप्तसम्राट् मानने वाले विद्वान् "विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्" इस पद से यह अनुमान लगाते हैं कि दायादाधिकार के प्रश्न को लेकर स्कन्दगुप्त का अपने पुरुगुप्त आदि अन्य भाइयों से झगड़ा हुआ। उस गृह-कलह के फल स्वरूप वंशलक्ष्मी विप्लुत अर्थात् संकटाच्छन्न हो गई। स्कन्दगुप्त ने अपने भुजबल से उन शत्रुओं (न कि भाइयों) को जीत कर उस विप्लुत (पलायनोद्यत) वंशलक्ष्मी को पुनः स्थिर किया।

वस्तुतः इस प्रकार के प्रबल प्रमाण विद्यमान हैं, जिनसे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि कुमार गुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्तसाम्राज्य पर जो संकट के काले बादल छाये, वे हूणों के प्रबल आक्रमण के फलस्वरूप थे, न कि तथाकथित दायादाधिकार के प्रश्न को लेकर परस्पर भाइयों में हुए किसी गृहकलह के कारण। इस तथ्य की पुष्टि में निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं :-

१. कुमारगुप्त के समय का गुप्त सं० १३५ का मथुरा से प्राप्त जैन शिलालेख।

देते हैं कि कुमारगुप्त का शासनकाल गुप्त संवत् १३६ (ई० सन् ४५५) तदनुसार वीर नि० सं० ६८२ में समाप्त हो गया।

उपरोक्त प्रमाणों में से अंतिम प्रमाण (जूनागढ़ का चट्टान-अभिलेख) इस तथ्य को तो सिद्ध करता ही है कि गुप्त संवत् १३६ में कुमारगुप्त की मृत्यु होते ही स्कन्दगुप्त का शासनकाल प्रारम्भ हुआ।[1] इस तथ्य के अतिरिक्त निम्न-लिखित तथ्य भी जूनागढ़ के उपरोक्त चट्टान अभिलेख से प्रकट होते हैं :–

१. गुप्त संवत् १३६ (ई० सं० ४५५, वीर नि० सं० ६८२) में जिस समय कुमारगुप्त की मृत्यु हुई और स्कन्दगुप्त विशाल गुप्तसाम्राज्य का स्वामी बना, उसी वर्ष में हूणों ने भारत पर बड़ा भयंकर आक्रमण किया।

२. उसी वर्ष में अर्थात् वीर नि० सं० ६८२ में स्कन्दगुप्त ने हूणों के साथ युद्ध किया और युद्ध में उनका भीषण रूप से संहार कर उन्हें बुरी तरह पराजित किया।[2]

उपरिवर्णित तथ्यों से यह भलीभांति प्रमाणित हो जाता है कि गुप्त सं० १३६ (ई० सन् ४५५) में कुमारगुप्त की मृत्यु होने पर उसका उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त विशाल गुप्त–साम्राज्य के राज-सिंहासन पर आसीन हुआ। उसके राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होते ही ई० सन् ४५५ में हूणों ने भारत पर आक्रमण किया। उसी वर्ष स्कन्दगुप्त ने हूणों को पराजित कर जूनागढ़ का शिलालेख उट्टंकित करवाया। ऐसी स्थिति में कुमारगुप्त (प्रथम) और स्कन्दगुप्त के बीच में पुरुगुप्त के सम्राट् बनने का न कोई प्रश्न ही उत्पन्न होता है और न कोई अवकाश ही रह जाता है। वस्तुतः कुमारगुप्त (प्रथम) के पश्चात् स्कन्दगुप्त गुप्त-साम्राज्य का स्वामी बना यह एक निर्विवाद सत्य है।

हूणों को पराजित करने के पश्चात् स्कन्दगुप्त ने अपने साम्राज्य के सभी प्रान्तों में अपने परम विश्वासपात्र और सुयोग्य शासकों को नियुक्त किया। जिससे कि देश के शत्रुओं को शिर उठाते ही कुचल दिया जा सके। उन दिनों सौराष्ट्र सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रदेश माना जाता था। डिमिट्रि-

---

[1] क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य, ध्यात्वा च कृत्स्नान् गुणदोषहेतून्।
व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्, लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार ॥ [जूनागढ़ का लेख]

[2] प्रथयन्ति यशांसि यस्य, रिपवोऽप्यामूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छ-देशेषु। [वही]
"स्कन्दगुप्त ने जिन शत्रुओं की शक्ति को आमूलचूल विनष्ट कर उनके घमण्ड को चकनाचूर कर डाला, वे शत्रु स्वयं द्वारा पूर्वतः विजित म्लेच्छ देशों (ईराक, ईरान आदि) में भी भीगी बिल्ली की तरह चुपचाप रह कर स्कन्दगुप्त के यश का विस्तार कर रहे हैं" – यह तीखा कटाक्ष शतप्रतिशत हूणों पर ही घटित होता है। वस्तुतः स्कन्दगुप्त ने हूणों की रीढ़ की हड्डी तोड़ दी थी। ई० सन् ४५५ के इस युद्ध में हूणों को जनधन की इतनी अधिक क्षति हुई कि इस युद्ध के ४५ वर्ष पश्चात् कहीं हूणों का सरदार तोरमाण भारत पर बड़ा आक्रमण करने का साहस कर सका और ई० सन् ५०२ में उसने मालवा पर अधिकार किया। –सम्पादक

यस, मेनेण्डर आदि विदेशी आक्रान्ताओं ने सौराष्ट्र को ही भारत का प्रवेश-द्वार बनाया था। शकों ने तो कुछ व्यवधानों को छोड़ कर शताब्दियों तक सौराष्ट्र को अपनी सत्ता का गढ़ बनाये रखा था। स्कन्दगुप्त ने इस महत्त्वपूर्ण प्रदेश की सुरक्षा के लिये किसी सुयोग्य शासक का चयन करने के सम्बन्ध में बहुत दिनों तक सोच-विचार किया और अन्त में पर्णदत्त को ही सर्वाधिक सुयोग्य समझ कर उसे सौराष्ट्र का शासक नियुक्त कर परम संतोष का अनुभव किया।[1]

स्कन्दगुप्त ने जनकल्याण के अनेक कार्य किये। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल में वीर नि० सं० २२७ के आस पास बनी सुदर्शन झील का स्कन्दगुप्त ने विपुल धनराशि व्यय कर जीर्णोद्धार करवाया।[2]

स्कन्दगुप्त स्वयं विष्णुभक्त था पर अन्य सभी धर्मों के प्रति वह सद्भाव रखता था। उसके शासनकाल में शैवों, जैनों एवं बौद्धों को अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

उत्तर प्रदेश में गोरखपुर जिले के कहौम नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख में किसी मद्र नामक व्यक्ति द्वारा आदिकर्त्ता अर्हतों (श्री भगवानलाल इन्द्रजी के अभिमतानुसार एक ही स्तम्भ में आदिनाथ, शान्तिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा महावीर) की मूर्तियाँ बनवाई गईं।[3]

जूनागढ़ के शिलालेख तथा भितरी के स्तम्भलेख में स्कन्दगुप्त के शौर्य, औदार्य, सच्चरित्रता, प्रजावत्सलता आदि सम्राटोचित गुणों का जो चित्रण किया गया है, उसके कतिपय अंश पहले उद्धृत किये जा चुके हैं। स्कन्दगुप्त के शासन-काल में भारतीय जनसाधारण भी भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि से बड़ा समृद्ध था। यथा राजा तथा प्रजा की कहावत को चरितार्थ करने वाले कुछ अंश यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

स्कन्दगुप्त के विमल चरित्र का भितरी के स्तम्भलेख में निम्नलिखित रूप से उल्लेख किया गया है :–

चरितममलकीर्तेः गीयते यस्य शुभ्रम्,
दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः ॥५॥

---

[1] सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तृन्, संचिन्तयामास बहुप्रकारम्।
सर्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु, यो मे प्रशिष्यन्निखिलान्सुराष्ट्रान्।
आम् ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो, भारस्य तस्योद्वहने समर्थः ॥
[स्कन्दगुप्त का, जूनागढ़ का शिलालेख]

[2] जूनागढ़ का शिलालेख

[3] पुण्यस्कंधं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो,
श्रेयोऽर्थं भूतभूत्यै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तॄन्।
मद्रस्तस्यात्मजोऽभूत् द्विजगुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः। [कहौम का स्तम्भलेख]

बाहुभ्यामवनिं विजित्य हि जितेष्वार्तेषु कृत्वा दयाम् ।
नोत्सिक्तो न च विस्मितः प्रतिदिनं संवर्द्धमानद्युतिः
गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो यं प्रापयत्यार्यताम् ।।७।।

स्कन्दगुप्त की प्रजा किस प्रकार आदर्श मानवता से ओतप्रोत, धर्मनिष्ठ, सुखी और समृद्ध थी, इसका चित्रण जूनागढ़ के शिलालेख में निम्नलिखित शब्दों में किया गया है :–

तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चित्, धर्माद्व्यपेतो मनुजः प्रजासु ।
आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो, दण्ड्यो न वा यो भृशपीडितःस्यात् ।।

राजा और प्रजा में इस प्रकार के आदर्श गुणों की समानता विश्व के इतिहास में बहुत कम दृष्टिगोचर होती है ।

वीर नि० सं० ६८२ से ६९४ तक के अपने १२ वर्ष के शासनकाल में स्कन्दगुप्त ने अनेक युद्धों में शत्रुओं को पराजित कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की । स्कन्दगुप्त के शासनकाल में जनकल्याण के अनेक कार्य किये गये ।

भारतीय इतिहास में स्कन्दगुप्त का नाम अमर रहेगा । हूणों जैसी आततायी बर्बर जाति की मदभरी शक्ति को विचूर्णित कर स्कन्दगुप्त ने न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण एशिया महाद्वीप के निवासियों का बड़ा उपकार किया । यदि स्कन्दगुप्त ने हूणों की उन्मत्त अजेय शक्ति को नष्ट न किया होता तो हूणों के अत्याचारों से संत्रस्त हो सम्पूर्ण एशिया त्राहि-त्राहि की पुकार के साथ बड़े लम्बे समय तक कराहता रहता ।

समुद्रगुप्त के शासनकाल से स्कन्दगुप्त के शासनकाल तक, अर्थात् वीर०नि० सं०८६२ से ६९४ तक गुप्त साम्राज्य का उत्कर्ष काल रहा । स्कन्दगुप्त के निधन के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का अपकर्ष प्रारम्भ हो गया । स्कन्दगुप्त के कोई पुत्र नहीं था अतः उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई पुरुगुप्त गुप्त–साम्राज्य का अधिकारी बना ।

संभवतः डेढ़ वर्ष तक ही पुरुगुप्त का राज्य रहा । वीर नि० सं० ६९६ में पुरुगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंह गुप्त अयोध्या के सिंहासन पर बैठा । वीर नि० सं० १००० में नरसिंह गुप्त की भी मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् कुमार गुप्त (द्वितीय) गुप्त-राज्य का स्वामी बना ।

वीर नि० सं० १००० तक हुए गुप्तराजवंश के राजाओं की तिथिक्रम सहित नामावली

नाम :–	अनुमानित शासनकाल :–
१. श्री गुप्त	वीर नि० सं० ७६७ से ८०७
२. घटोत्कच	,, ,, ,, ८०७ से ८४६
३. चन्द्रगुप्त प्रथम	,, ,, ,, ८४६ से ८६२

४.	समुद्रगुप्त	वी० नि० सं० ८६२ से ९०२
५.	चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य	” ” ” ९०२ से ९४१
६.	कुमारगुप्त (प्रथम) महेन्द्रादित्य	” ” ” ९४१ से ९८२
७.	स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य	” ” ” ९८२ से ९९४
८.	पुरुगुप्त	” ” ” ९९४ से ९९६
९.	नरसिंह गुप्त	” ” ” ९९६ से १०००

गुप्त वंश के ८वें राजा बुधगुप्त के नालन्दा से प्राप्त हुए एक मुद्रा अभिलेख में श्रीगुप्त से वुधगुप्त तक गुप्तराजाओं की नामावली दी हुई है, जो इस प्रकार है :-

(१) महाराजा श्रीगुप्त
(२) पुत्र – महाराजा श्री घटोत्कच
(३) पुत्र – महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त प्रथम
महादेवी – कुमारदेवी
(४) पुत्र – लिच्छविदौहित्र महाराजाधिराज समुद्रगुप्त
महादेवी – दत्तदेवी
(५) अप्रतिरथ – परमभागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त द्वितीय
महादेवी – ध्रुवदेवी
(६) पुत्र – महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त प्रथम
महादेवी – अनन्तदेवी
(७) पुत्र – महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्त
महादेवी – चन्द्रदेवी
(८) पुत्र – परमभागवत महाराजाधिराज श्री बुधगुप्त

इस अभिलेख में कुमारगुप्त के पश्चात् स्कन्दगुप्त का और पुरुगुप्त के पश्चात् कुमारगुप्त द्वितीय का नाम छोड़ दिया गया है।

सामान्य पूर्वधर-काल सम्बन्धी दिगम्बर परम्परा की मान्यता

निर्वाणानन्तर दश पूर्वधर–काल तक की श्रुतपरम्परा तथा आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर – दोनों ही परम्पराओं की मान्यताओं का इस ग्रन्थ में यथाप्रसंग जो विवरण दिया गया है, उससे यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि एक ही मूंग की दो फाड़ के समान प्रभु वीर की उपासक इन दोनों परम्पराओं की मान्यताओं में परस्पर पर्याप्त अन्तर है। पूर्वधरों के नाम, उनकी संख्या तथा पूर्व–ज्ञान के अस्तित्वकाल विषयक भेद के अनन्तर इन दोनों परम्पराओं का मान्यता–भेद उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है।

वाहुभ्यामवनिं विजित्य हि जितेष्वार्तेषु कृत्वा दयाम् ।
नोत्सिक्तो न च विस्मितः प्रतिदिनं संवर्द्धमानद्युतिः
गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो यं प्रापयत्यार्यताम् ।।७।।

स्कन्दगुप्त की प्रजा किस प्रकार आदर्श मानवता से ओतप्रोत, धर्मनिष्ठ, सुखी और समृद्ध थी, इसका चित्रण जूनागढ़ के शिलालेख में निम्नलिखित शब्दों में किया गया है :–

तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चित्, धर्माद्व्यपेतो मनुजः प्रजासु ।
आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो, दण्ड्यो न वा यो भृशपीडितःस्यात् ।।

राजा और प्रजा में इस प्रकार के आदर्श गुणों की समानता विश्व के इतिहास में बहुत कम दृष्टिगोचर होती है ।

वीर नि० सं० ९८२ से ९९४ तक के अपने १२ वर्ष के शासनकाल में स्कन्दगुप्त ने अनेक युद्धों में शत्रुओं को पराजित कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की । स्कन्दगुप्त के शासनकाल में जनकल्याण के अनेक कार्य किये गये ।

भारतीय इतिहास में स्कन्दगुप्त का नाम अमर रहेगा । हूणों जैसी आततायी बर्बर जाति की मदभरी शक्ति को विचूर्णित कर स्कन्दगुप्त ने न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण एशिया महाद्वीप के निवासियों का बड़ा उपकार किया । यदि स्कन्दगुप्त ने हूणों की उन्मत्त अजेय शक्ति को नष्ट न किया होता तो हूणों के अत्याचारों से संत्रस्त हो सम्पूर्ण एशिया त्राहि-त्राहि की पुकार के साथ बड़े लम्बे समय तक कराहता रहता ।

समुद्रगुप्त के शासनकाल से स्कन्दगुप्त के शासनकाल तक, अर्थात् वीर०नि० सं०८६२ से ९९४ तक गुप्त साम्राज्य का उत्कर्ष काल रहा । स्कन्दगुप्त के निधन के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का अपकर्ष प्रारम्भ हो गया । स्कन्दगुप्त के कोई पुत्र नहीं था अतः उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई पुरुगुप्त गुप्त–साम्राज्य का अधिकारी बना ।

संभवतः डेढ़ वर्ष तक ही पुरुगुप्त का राज्य रहा । वीर नि० सं० ९९६ में पुरुगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंह गुप्त अयोध्या के सिंहासन पर बैठा । वीर नि० सं० १००० में नरसिंह गुप्त की भी मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् कुमार गुप्त (द्वितीय) गुप्त-राज्य का स्वामी बना ।

वीर नि० सं० १००० तक हुए गुप्तराजवंश के राजाओं की तिथिक्रम सहित नामावली

नाम :–	अनुमानित शासनकाल :–
१. श्री गुप्त	वीर नि० सं० ७६७ से ८०७
२. घटोत्कच	,, ,, ,, ८०७ से ८४६
३. चन्द्रगुप्त प्रथम	,, ,, ,, ८४६ से ८६२

४.	समुद्रगुप्त	वी० नि० सं० ८६२ से ९०२
५.	चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य	" " " ९०२ से ९४१
६.	कुमारगुप्त (प्रथम) महेन्द्रादित्य	" " " ९४१ से ९८२
७.	स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य	" " " ९८२ से ९९४
८.	पुरुगुप्त	" " " ९९४ से ९९६
९.	नरसिंह गुप्त	" " " ९९६ से १०००

गुप्त वंश के ८वें राजा बुधगुप्त के नालन्दा से प्राप्त हुए एक मुद्रा अभिलेख में श्रीगुप्त से बुधगुप्त तक गुप्तराजाओं की नामावली दी हुई है, जो इस प्रकार है :-

(१) महाराजा श्रीगुप्त

(२) पुत्र – महाराजा श्री घटोत्कच

(३) पुत्र – महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त प्रथम
महादेवी – कुमारदेवी

(४) पुत्र – लिच्छविदौहित्र महाराजाधिराज समुद्रगुप्त
महादेवी – दत्तदेवी

(५) अप्रतिरथ – परमभागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त द्वितीय
महादेवी – ध्रुवदेवी

(६) पुत्र – महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त प्रथम
महादेवी – अनन्तदेवी

(७) पुत्र – महाराजाधिराज श्री पुरुगुप्त
महादेवी – चन्द्रदेवी

(८) पुत्र – परमभागवत महाराजाधिराज श्री बुधगुप्त

इस अभिलेख में कुमारगुप्त के पश्चात् स्कन्दगुप्त का और पुरुगुप्त के पश्चात् कुमारगुप्त द्वितीय का नाम छोड़ दिया गया है।

सामान्य पूर्वधर-काल सम्बन्धी दिगम्बर परम्परा की मान्यता

निर्वाणानन्तर दश पूर्वधर–काल तक की श्रुतपरम्परा तथा आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर – दोनों ही परम्पराओं की मान्यताओं का इस ग्रन्थ में यथाप्रसंग जो विवरण दिया गया है, उससे यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि एक ही मूंग की दो फाड़ के समान प्रभु वीर की उपासक इन दोनों परम्पराओं की मान्यताओं में परस्पर पर्याप्त अन्तर है। पूर्वधरों के नाम, उनकी संख्या तथा पूर्व–ज्ञान के अस्तित्वकाल विषयक भेद के अनन्तर इन दोनों परम्पराओं का मान्यता–भेद उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है।

जहां श्वेताम्बर परम्परा चतुर्दश पूर्वधरों की विद्यमानता वीर नि० सं० ६४ से १७०, तदनुसार १०६ वर्ष मानती है, वहां दिगम्बर परम्परा में चौदह पूर्व-

धारियों का समय वीर नि० सं० ६२ से १६२ तक १०० वर्ष का माना गया है। यद्यपि दोनों परम्पराएं चतुर्दश पूर्वधरों की संख्या समान रूप से ५ मानती हैं तथापि अंतिम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के अतिरिक्त शेष चारों चतुर्दश पूर्वधरों के जो नाम दोनों परम्पराओं के प्रामाणिक ग्रन्थों में दिये गये हैं, वे पूर्णतः भिन्न हैं।

इसी प्रकार दश पूर्वधरों का काल जहां श्वेताम्बर परम्परा में वीर नि० सं० १७० से ५८४ तक ४१४ वर्ष का माना गया है, वहां दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में इनका काल वीर नि० सं० १६२ से ३४५ तक, केवल १८३ वर्ष का ही बताया गया है। दश पूर्वधर आचार्यों की संख्या दोनों परम्पराओं में समान रूप से ११ मानी गई है पर इन ग्यारहों आचार्यों के जो नाम दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, वे एक दूसरी परम्परा द्वारा दिये गये नामों से पूर्णतः भिन्न हैं।

दश पूर्वधरों के काल के अनन्तर श्वेताम्बर परम्परा में वीर नि० सं० ५८४ से १००० तक ४१६ वर्ष का पूर्वधर–काल माना गया है।[1] उस ४१६ वर्ष की अवधि में १० आचार्यों को पूर्वज्ञान का धारक माना गया है, जिनमें आर्य रक्षित सार्द्धनव पूर्वों के ज्ञाता तथा देवर्द्धि क्षमाश्रमण एक पूर्व के अन्तिम ज्ञाता थे। मूलागम भगवतीसूत्र में वीर नि० सं० १००० तक पूर्वज्ञान के विद्यमान रहने का उल्लेख होने के कारण श्वेताम्बर परम्परा द्वारा अपनी इस मान्यता को निर्विवादरूपेण पूर्णतः प्रामाणिक माना जाता है।

इस प्रकार जहां श्वेताम्बर परम्परा की यह मान्यता है कि वीर नि० सं० १००० के पश्चात् पूर्वज्ञान का विच्छेद हुआ, वहां दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में यह स्पष्टतः उल्लेख किया गया है कि अंतिम दश पूर्वधर धर्मसेन के स्वर्गस्थ होते ही वीर नि० सं० ३४५ में पूर्वज्ञान का विच्छेद हो गया और तदनन्तर वह (पूर्वज्ञान) एक देश अर्थात् आंशिक रूप में ही विद्यमान रहा। पूर्वज्ञान के अस्तित्वकाल के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं की मान्यता में यह ६५५ वर्ष का अन्तर वस्तुतः प्रत्येक विचारक के लिये केवल चिन्तन ही नहीं अपितु चिन्ता का विषय भी है।

पूर्वज्ञान जैसे अत्यंत महत्वपूर्ण एवं अति विशाल ज्ञान का क्रमिक ह्रास तो युक्तिसंगत एवं बुद्धिगम्य हो सकता है किन्तु बिना किसी असाधारण परिस्थिति

---

[1] (क) गोयमा ! जंबूदीवे णं दीवे भारहेवासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिसइ।

[भगवती सूत्र, श० २०, उ० ८, सू० ६७७ (सुत्तागमे, पृ० ७०४)]

(ख) वोलीणम्मि सहस्से वरिसाण वीरमोक्खगमणाओ।
उत्तर वायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो ॥८०५॥
वरिस सहस्से पुण्णे, तित्थोगालिए वड्ढमाणस्स।
नासीहि पुव्वगतं, अणुपरिवाडीए जं जस्स ॥८०६॥

[तित्थोगालियपइन्ना – अप्रकाशित]

अथवा विप्लवकारी घटना के उल्लेख के, यह कहा जाय कि अंतिम दश पूर्वधर आचार्य धर्मसेन के वीर नि० सं० ३४५ में स्वर्गस्थ होते ही दशों पूर्वों का ज्ञान सहसा एक ही क्षरण में विलुप्त हो गया, दश में से एक भी पूर्व का ज्ञान अवशिष्ट नहीं रहा, यह वात किसी निष्पक्ष विचारक के गले नहीं उतर सकती।

पूर्वज्ञान विषयक दोनों परम्पराओं के इस गहन मान्यता – भेद की अपेक्षा एक और अत्यधिक गम्भीर मतभेद एकादशांगी की विच्छित्ति के सम्बन्ध में है। दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में स्पष्टतः एक स्वर से यह उल्लेख किया गया है कि वीर नि० सं० ६८३ में एकादशांगी का विच्छेद हो गया और उसके पश्चात् उसका केवल एक देश ज्ञान ही अवशिष्ट रह गया।[1]

जैसा कि पहले वताया जा चुका है, श्वेताम्वर परम्परा का मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ आगमों को और स्थानकवासी तथा तेरापंथ ये दोनों सम्प्रदाय ३२ आगमों को वर्तमान काल में विद्यमान मानते हैं। श्वेताम्वर परम्परा के इन तीनों सम्प्रदायों की स्पष्ट और निश्चित मान्यता है कि काल – प्रभाव से आगमज्ञान अंगोपांगादि उत्तरोत्तर क्षीरण, अति क्षीरण और क्षीरणतर होते रहने पर भी दुष्षमाकाल की समाप्ति पर्यंत वीर नि० सं० के २१००३ वर्ष ८ मास १४ दिन वीत जाने पर १५वें दिन प्रथम प्रहर तक अपने शुद्ध स्वरूप में अंशतः विद्यमान रहेगा।

यहां यह विचारणीय है कि दिगम्बर परम्परा के सभी मान्य ग्रन्थों में अंगप्रविष्ट आचारांगादि (द्वादशांगी) के विच्छेद का तो उल्लेख है किन्तु अंगबाह्य आदि शेष आगमों के विच्छिन्न होने का किसी भी ग्रन्थ में उल्लेख नहीं किया गया है। दिगम्बर परम्परा की प्रचलित मान्यता के अनुसार तो द्वादशांगी की तरह अंगबाह्य आगम भी विच्छिन्न की कोटि में गिने जाते हैं पर यदि दिगम्बर परम्परा के उपलब्ध वाङ्मय का समीचीनतया अनुशीलन किया जाय तो उसमें कहीं इस बात का संकेत तक भी नहीं मिलेगा कि अंगबाह्य आगम विलुप्त हो गये।

यदि निष्पक्ष एवं सूक्ष्म दृष्टि से इन दोनों परम्पराओं के आगमों का तुलनात्मक विवेचन किया जाय तो स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति (केवलि-कवलाहार) आदि छोटी वड़ी ८४ वातों के मान्यताभेद के अतिरिक्त शेष सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन,

---

[1] (क) षट्खण्डागम, वेदनाखण्ड, धवला टीका, भाग ६, पृ० १३०
(ख) हरिवंश, पु०, सर्ग ६६, श्लोक २२ से २४
(ग) उत्तरपुराण, पर्व ७६, श्लोक ५१६ से ५२७
(घ) महापुराण पुष्पदन्त, सन्धि १००, पृ० २६४
(ङ) तिलोयपण्णत्ती, अधि० ४, गा० १४९२
(च) श्रुतावतार (इन्द्रनन्दी), श्लोक ७८-८४
(छ) छ सदतिरासिय वासे णिव्वाणा वोच्छित्ति [illegible] ॥१॥
(नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली)

तत्वों का निरूपण आदि दोनों परम्पराओं में पर्याप्तरूपेण समान ही मिलेगा। यही नहीं, दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम और कषायपाहुड़ जैसे एकादशांगी के सर्वाधिक सन्निकट समझे जाने वाले आगमिक ग्रन्थों की क्रमशः धवला और जयधवला टीका में श्वेताम्बर परम्परा के आचारांगादि आगमों के उद्धरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। विवेच्य वस्तुविषय की साम्यता के साथ-साथ दिगम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों में अधिकांशतः ऐसी गाथाएं उपलब्ध होती हैं जो श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगमों, निर्युक्तियों, भाष्यों आदि की गाथाओं से अक्षरशः मिलती-जुलती हैं। वस्तुतः दोनों परम्पराओं के कतिपय आगम ग्रन्थों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करते समय ऐसा अनुभव होता है, मानो एक ही सुधासागर के अमृत को भिन्न-भिन्न पात्रों में भरकर नामभेद से रखा गया हो। दिगम्बर परम्परा के पूर्व एवं अंगज्ञान के एक देशधर आचार्य ने षट्खण्डागम आदि आगमों में जो तात्विक तथा सैद्धान्तिक निरूपण किया है, यह समग्ररूपेण वही है जो श्वेताम्बर परम्परा द्वारा सम्मत एकादशांगी, अंगबाह्य आगमों, छेदसूत्रों, उपांगों, निर्युक्तियों एवं भाष्यों आदि में सूत्ररूपेण अथवा विशद रूपेण पहले से ही विद्यमान है। दोनों परम्पराओं के आगमों में विभेद नाम की यदि कोई वस्तु है तो केवल नाम, शैली और क्रम की ही है। श्वेताम्बर परम्परा के जो अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम वर्तमान काल में विद्यमान हैं, उनका नामोल्लेख तो दिगम्बर परम्परा के आगमों में ज्यों का त्यों विद्यमान है ही पर सार रूप में इन आगमों के विषय का जो परिचय दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में दिया गया है, वह भी श्वेताम्बर परम्परा के विद्यमान आगमों के विषय से अधिकांशतः मिलता-जुलता ही है। यदि यह कह दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगम – ग्रन्थों में मूलतः जिन विषयों का प्रतिपादन किया गया है, वे अर्थतः वे ही हैं जो श्वेताम्बर परम्परा के आगमों एवं आगम – ग्रन्थों में विशद रूपेण वर्णित हैं। उनकी टीकाओं में भी उपर्युक्त ८४ मान्यताभेदों के अतिरिक्त नवीन कुछ नहीं है।

उदाहरणस्वरूप षट्खण्डागम को ही ले लिया जाय। दिगम्बर परम्परा के आगम– ग्रन्थ के रूप में षट्खण्डागम का सर्वोपरि स्थान है। वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ तक १३वें वाचक (वाचनाचार्य) पद पर और १२वें युगप्रधान पद पर रहे आर्य श्यामाचार्य द्वारा पूर्वज्ञान से उद्धृत उपांग–"पन्नवणा (प्रज्ञापना) सूत्र" और वीर नि० सं० ७६३ से ७९१ के बीच हुए आचार्य अर्हद्वलि[1] के पश्चाद्वर्ती आचार्य

---

[1] अंतिम आचारांगधर लोहार्य के पश्चात् हुए आचार्य विनयंधर से अर्हद्वलि एवं अर्हद्वलि से धरसेन तक के आचार्यों के काल के सम्बन्ध में केवल एक अविश्वसनीय-नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के आधार पर दिगम्बर परम्परा के कतिपय उच्चकोटि के विद्वानों ने दिगम्बर परम्परा के आगमों एवं प्राचीन ग्रन्थों से भिन्न मान्यता प्रचलित करने का प्रयास किया है, इस विषय पर इसी अध्याय में आगे प्रकाश डाला जा रहा है। –सम्पादक

धरसेन[1] के शिष्य पुष्पदन्त और भूतवलि द्वारा रचित षट्खण्डागम के तुलनात्मक अध्ययन से यह आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट होता है कि शैलीभेद को छोड़कर पन्नवरणा सूत्र और षट्खण्डागम में पर्याप्त साम्य है। इन दोनों आगमों की समानता सिद्ध करने वाले कतिपय तथ्य संक्षेप में इस प्रकार हैं :-

(१) जीव तथा कर्म का सैद्धान्तिक विवेचन इन दोनों शास्त्रों का विषय है।

(२) दोनों का मूल स्रोत दृष्टिवाद है।[2]

(३) इन दोनों रचनाओं में निरूपण-साम्य के अतिरिक्त समान शब्दावलि एवं उक्तियों का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।

(४) इन दोनों की रचना सूत्र रूप में है।

(५) दोनों में ही सूत्र कहीं-कहीं गाथात्मक भी हैं।

(६) प्रज्ञापनासूत्र और षट्खण्डागम की निम्नलिखित गाथाएं पर्याप्त रूपेण समान हैं :-

प्रज्ञापना सूत्र –

समयं वक्कंताणं, समयं तेसिं सरीर निव्वत्ती।
समयं आणुग्गहणं, समयं ऊसास-नीसासे ॥ ९९ ॥
एक्कस्स उ जं गहणं, बहूण साहारणाणं तं चेव।
जं बहुयाणं गहणं, समासओ तं पि एगस्स ॥१००॥
साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं एयं ॥१०१॥

---

[1] हरिवंशपुराण में जिनसेन द्वारा दी गई आचार्यों की पट्टावली में उल्लिखित आचार्य धरसेन के अतिरिक्त अन्यत्र किसी पट्टावली में पुष्पदन्त तथा भूतवलि के गुरु आचार्य धरसेन का नाम दृष्टिगोचर नहीं होता। हरिवंशपुराण में दी गई पट्टावली के अनुसार विनयंधर से १८वें आचार्य धरसेन को यदि पुष्पदन्त और भूतवलि का शिक्षागुरु मान लिया जाता है तो धरसेन का समय वीर नि० सं० १०१३ से १०४३ के बीच का ठहरता है। पुन्नाटसंघीय आचार्य धरसेन से यदि चन्द्रगुहावासी धरसेन को भिन्न माना जाता है तो भी अर्हद्वली के पश्चद्वर्ती होने के कारण उनका समय निश्चित रूप से वीर नि० सं० ७८३ के पश्चात् का ही ठहरता है।

[2] (क) अज्झयणमिणं चित्तं, सुयरयणं दिट्ठीवायणीसंदं।
जह वण्णियं भगवया, अहमवि तह वण्णइस्सामि ॥३॥
(पण्णवणासुत्त, पृ० १)

(ख) अग्रायणीयपूर्वस्थित पंचमवस्तुगत चतुर्थमहा-।
कर्मप्राभृतकज्ञः सूरिर्धरसेन नामाभूत् ॥१०४॥
कर्म प्राकृतिप्राभृतमुपसंहार्यैव षड्भिरिह खण्डैः ॥१३८॥
(श्रुतावतार-इन्द्रनन्दीकृत)

(ग) भूदबलि-भयवदा जिणवालिद पासे दिट्ठ विसदिसुत्तेण अप्पाउओ त्ति अवगयजिणवालिदेण महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्णबुद्धिणा पुणो दव्वपमाणाणुगममादिं काऊण गंथरचणा कदा।

तत्वों का निरूपण आदि दोनों परम्पराओं में पर्याप्तरूपेण समान ही मिलेगा। यही नहीं, दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम और कषायपाहुड़ जैसे एकादशांगी के सर्वाधिक सन्निकट समझे जाने वाले आगमिक ग्रन्थों की क्रमशः धवला और जयधवला टीका में श्वेताम्बर परम्परा के आचारांगादि आगमों के उद्धरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। विवेच्य वस्तुविषय की साम्यता के साथ-साथ दिगम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों में अधिकांशतः ऐसी गाथाएं उपलब्ध होती हैं जो श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगमों, निर्युक्तियों, भाष्यों आदि की गाथाओं से अक्षरशः मिलती-जुलती हैं। वस्तुतः दोनों परम्पराओं के कतिपय आगम ग्रन्थों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करते समय ऐसा अनुभव होता है, मानो एक ही सुधासागर के अमृत को भिन्न-भिन्न पात्रों में भरकर नामभेद से रखा गया हो। दिगम्बर परम्परा के पूर्व एवं अंगज्ञान के एक देशधर आचार्य ने षट्खण्डागम आदि आगमों में जो तात्विक तथा सैद्धान्तिक निरूपण किया है, यह समग्ररूपेण वही है जो श्वेताम्बर परम्परा द्वारा सम्मत एकादशांगी, अंगबाह्य आगमों, छेदसूत्रों, उपांगों, निर्युक्तियों एवं भाष्यों आदि में सूत्ररूपेण अथवा विशद रूपेण पहले से ही विद्यमान है। दोनों परम्पराओं के आगमों में विभेद नाम की यदि कोई वस्तु है तो केवल नाम, शैली और क्रम की ही है। श्वेताम्बर परम्परा के जो अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आगम वर्तमान काल में विद्यमान हैं, उनका नामोल्लेख तो दिगम्बर परम्परा के आगमों में ज्यों का त्यों विद्यमान है ही पर सार रूप में इन आगमों के विषय का जो परिचय दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में दिया गया है, वह भी श्वेताम्बर परम्परा के विद्यमान आगमों के विषय से अधिकांशतः मिलता-जुलता ही है। यदि यह कह दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगम – ग्रन्थों में मूलतः जिन विषयों का प्रतिपादन किया गया है, वे अर्थतः वे ही हैं जो श्वेताम्बर परम्परा के आगमों एवं आगम – ग्रन्थों में विशद रूपेण वर्णित हैं। उनकी टीकाओं में भी उपर्युक्त ८४ मान्यताभेदों के अतिरिक्त नवीन कुछ नहीं है।

उदाहरणस्वरूप षट्खण्डागम को ही ले लिया जाय। दिगम्बर परम्परा के आगम– ग्रन्थ के रूप में षट्खण्डागम का सर्वोपरि स्थान है। वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ तक १३वें वाचक (वाचनाचार्य) पद पर और १२वें युगप्रधान पद पर रहे आर्य श्यामाचार्य द्वारा पूर्वज्ञान से उद्धृत उपांग–"पन्नवणा (प्रज्ञापना) सूत्र" और वीर नि० सं० ७६३ से ७९१ के बीच हुए आचार्य अर्हद्वलि[1] के पश्चाद्वर्ती आचार्य

[1] अंतिम आचारांगधर लोहार्य के पश्चात् हुए आचार्य विनयंधर से अर्हद्वलि एवं अर्हद्वलि से धरसेन तक के आचार्यों के काल के सम्बन्ध में केवल एक अविश्वसनीय-नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के आधार पर दिगम्बर परम्परा के कतिपय उच्चकोटि के विद्वानों ने दिगम्बर परम्परा के आगमों एवं प्राचीन ग्रन्थों से भिन्न मान्यता प्रचलित करने का प्रयास किया है, इस विषय पर इसी अध्याय में आगे प्रकाश डाला जा रहा है। –सम्पादक

वेदवेदक पद और वेदनापद ये ६ नाम उल्लिखित हैं। षट्खण्डागम के टीकाकार ने षट्खण्डागम के ६ खण्डों के क्रमशः जीवस्थान, क्षुद्रकवन्ध, वन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महावन्ध – ये ६ नाम दिये हैं। वस्तुतः ये तुलना करने योग्य हैं। प्रज्ञापना में उपर्युक्त पदों के अन्तर्गत जिन तथ्यों की चर्चा की गई है, उन्हीं की चर्चा षट्खण्डागम के तत्समान नाम वाले खण्डों में भी की गई है।

(१३) आहारक एवं अनाहारक जीवों का वर्गीकरण करते हुए इन दोनों आगमों में सयोगिकेवली द्वारा आहार ग्रहण किये जाने तथा अयोगिकेवली एवं समुद्घातगत सयोगिकेवली द्वारा आहार ग्रहण न किये जाने का समान रूप में उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है :–

पण्णवणा सूत्र –

"केवलि आहारए णं" भंते ! केवलि आहारए त्ति कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं ।।" सूत्र १३६६।

"सजोगि भवत्थकेवलि अणाहारए णं भंते ! ० पुच्छा। गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसेणं तिण्णि समया।" सूत्र १३७२।

"अजोगिभवत्थकेवलि अणाहारए णं ० पुच्छा। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।" सूत्र १३७३।

षट्खण्डागम –

"आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा" ।।सूत्र १७५।

"आहारा एयंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।।" – जीवट्ठाण संत-परूवणा, सू० १७६।

अर्थात् आहारमार्गणा की दृष्टि से जीव आहारक और अनाहारक दोनों ही प्रकार के होते हैं। १७५

आहारक जीव एकेन्द्रिय से लेकर सयोगिकेवलि पर्यन्त होते हैं ।।१७६।।

"अणाहारा चदुसु ट्ठाणेसु विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घा-दगदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ।।१७७।।

इन दोनों मूल आगमों के मूल पाठ में केवलि-भुक्ति का समान रूप से समान भावद्योतक शब्दों में प्रतिपादन किया गया है।

(१४) प्रज्ञापनासूत्र और षट्खण्डागम – इन दोनों ही आगमों में गति आदि मार्गणास्थानों की अपेक्षा से जीवों के अल्पबहुत्व पर विचार किया गया है। प्रज्ञापनासूत्र में अल्प-बहुत्व की मार्गणाओं में २६ द्वार हैं, जिनमें जीव-अजीव इन दोनों का ही विचार किया गया है। षट्खण्डागम में चौदह गुणस्थानों से सम्बन्धित गत्यादि मार्गणास्थानों को दृष्टिगत रखते हुए जीवों के अल्प-बहुत्व पर विचार किया गया है। यद्यपि प्रज्ञापनासूत्र में अल्प-बहुत्व की मार्गणाओं के

षट्खण्डागम, पुस्तक १४, सूत्र १२२ से १२४ :-

साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं भणिदं ।।[१]
एयस्स अणुग्गहणं, बहूण साहारणाणमेयस्स ।
एयस्स जं बहूणं, समासदो तं पि होदि एयस्स ।।
समगं वक्कंताणं, समगं तेसिं सरीरणिप्पत्ती ।
समगं च अणुग्गहणं, समगं उस्सासणिस्सासो ।।

उपर्युक्त तीन गाथाओं का षट्खण्डागम में जो पाठ दिया गया है, उसकी अपेक्षा पन्नवणासूत्रान्तर्गत पाठ अधिक व्यवस्थित और विशुद्ध है।

(७) पन्नवणा सूत्र में ऐसी अनेक गाथाएं हैं जो षट्खण्डागम में भी हैं। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम, पुस्तक सं० १३ के गाथा सूत्र ४ से ६, १२, १३, १५ और १६ आवश्यक निर्युक्ति (गाथा सं० ३१ से) तथा विशेषावश्यक भाष्य (गा० ६०४ से) की गाथाओं से मिलती-जुलती हैं।

(८) इन दोनों में अल्प-बहुत्व प्रायः समान रूप से वर्णित हैं और उन्हें महादण्डक के नाम से अभिहित किया गया है।

(९) प्रज्ञापनासूत्र (सूत्र १४४४ से ६५) और षट्खण्डागम (पुस्तक ६, सूत्र ११६, २२० आदि), इन दोनों के गत्यागत्यादि प्रकरण में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, तथा वासुदेव के पदों की प्राप्ति के उल्लेख की समानता तो वस्तुतः आश्चर्यजनक है।

(१०) इन दोनों में अवगाहना, अन्तर आदि अनेक विषयों का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है।

(११) जीवों के अल्प-बहुत्व विषयक विचार के प्रसंग में प्रज्ञापनासूत्र और षट्खण्डागम के अधोलिखित पाठों की प्रतिपादनशैली आदि की समानता भी वस्तुतः विचारणीय है :-

"अह भंते ! सव्वजीवप्पबहुं महादंडयं वत्तइस्सामि-सव्वत्थो वा गब्भवक्कंतिया मणुस्सा..........सजोगी विसेसाहिया ९६, संसारत्था विसेसाहिया ९७, सव्व जीवा विसेसाहिया ९८।।"-पन्नवणा, सूत्र ३३४।

"एत्तो सव्वजीवेसु महादंडओ कादव्वो भवदि। सव्वत्थो वा मणुस्सपज्जत्ता गब्भोवक्कंतिया..........णिगोदजीवा विसेसाहिया ।। -षट्खण्डागम, पु० ७, सूत्र १-६९।

(१२) प्रज्ञापनासूत्र में इसके ३६ पदों में से २३ वें से २७ वें और ३५ वें पद के क्रमशः कर्मप्रकृतिपद, कर्मबन्ध पद, कर्मबन्धवेद पद, कर्मवेदबन्ध पद, कर्म-

---

[१] तत्थ इमं साहारण लक्खणं भणिदं । - इस सूत्र सं० १२१ के पाठ से अनुमान किया जाता है कि ये गाथाएं कहीं से उद्धृत हैं। — सम्पादक

स्थानों द्वारा किया गया है। इस प्रकरण में पन्नवणासूत्र की शैली को अपना लिया गया है।

इन दोनों आगमों के सूक्ष्म तथा निष्पक्ष अध्ययन से इस प्रकार की और भी कतिपय समानताओं को प्रकाश में लाया जा सकता है। उपरिलिखित समानताओं पर विचार करने के पश्चात् कम के कम यह तथ्य तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि इन दोनों का स्रोत एक है, इन दोनों का विषय एवं इन दोनों की प्रतिपाद्य वस्तु एक है। यदि इनमें भिन्नता नाम की कोई वस्तु है तो वह है ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम की और निरूपण-शैली की।

गति आदि मार्गणास्थानों द्वारा जीव के अल्प – बहुत्व पर विचार करने के तत्काल पश्चात् इन दोनों ग्रन्थों के एतद्विषयक प्रकरण में महादण्डक का निरूपण तथा षट्खण्डागम के "खुद्दाबंध" नामक द्वितीय खण्ड में पन्नवणासूत्र के समान जीवप्रधान निरूपण शैली को अपनाना–ये दो तथ्य निष्पक्ष विचारकों के इस अनुमान को पुष्ट करते हैं कि इन दोनों ग्रन्थों में से किसी एक की रचना के समय उसके रचनाकार के समक्ष इनमें से कोई एक ग्रन्थ अवश्य ही आधार रूप में विद्यमान रहा होगा।

पन्नवणासूत्र और षट्खण्डागम इन दोनों ग्रन्थों में अधिक प्राचीन कौनसा ग्रन्थ है, इसका निर्णय इन दोनों ग्रन्थों के प्रणेताओं के काल-निर्णय के अनन्तर स्वतः ही हो जाता है।

श्वेताम्बर परम्परा की परम्परागत मान्यतानुसार पन्नवणासूत्र के प्रणेता दश पूर्वधर आर्य श्यामाचार्य और दिगम्बर परम्परा की परम्परागत मान्यतानुसार षट्खण्डागम के प्रणयनकार हैं पूर्व तथा अंगज्ञान के एक देशधर आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि।

दश पूर्वधर आर्य श्यामाचार्य ने पन्नवणासूत्र की रचना की – इस श्वेताम्बर परम्परा की परम्परागत मान्यता की पुष्टि में मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं:–

१. पन्नवणासूत्र के प्रारम्भ में ग्रन्थकार द्वारा तीन गाथाएं दी गई हैं। पहली गाथा में सिद्धों को नमस्कार करने के अनन्तर त्रैलोक्य गुरु भगवान् महावीर का वंदन किया गया है। दूसरी और तीसरी गाथा में ग्रन्थकार ने कहा है कि भव्य जीवों का उद्धार करने वाले भगवान् ने श्रुतरत्ननिधान स्वरूप सब भावों की प्रज्ञापना का उपदेश दिया। जिस प्रकार भगवान् ने वर्णन किया है, उसी प्रकार मैं भी दृष्टिवाद से उद्धृत श्रुतरत्नरूप इस अति सुन्दर अध्ययन का वर्णन करूंगा।

तीसरी गाथा के अन्तिम चरण में आये हुए – "अहमवि तह वण्णइस्सामि" से ग्रन्थकार के नाम का बोध नहीं होता। अतः प्राचीन काल में किसी आचार्य ने

द्वार २६ और षट्खण्डागम में १४ हैं तथापि दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से सहज ही यह प्रकट हो जाता है कि षट्खण्डागम में वर्णित १४ मार्गणाद्वार वस्तुतः प्रज्ञापना सूत्र में वर्णित २६ द्वारों में से १४ के साथ पूर्णतः मिलते-जुलते हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्टतः प्रकट होता है :-

प्रज्ञापनासूत्र	षट्खण्डागम (पुस्तक ७, पृ० ५२०)	प्रज्ञापनासूत्र	षट्खण्डागम
१. दिशा	—	१३. उपयोग	—
२. गति	१. गति	१४. आहार	१४. आहारक
३. इन्द्रिय	२. इन्द्रिय	१५. भाषक	—
४. काय	३. काय	१६. परित्त	—
५. योग	४. योग	१७. पर्याप्त	—
६. वेद	५. वेद	१८. सूक्ष्म	—
७. कषाय	६. कषाय	१९. संज्ञी	१३. संज्ञी
८. लेश्या	१०. लेश्या	२०. भव	११. भव्य
९. सम्यक्त्व	१२. सम्यक्त्व	२१. अस्तिकाय	—
१०. ज्ञान	७. ज्ञान	२२. चरिम	—
११. दर्शन	९. दर्शन	२३. जीव	—
१२. संयत	८. संयम	२४. क्षेत्र	—
		२५. बंध	—
		२६. पुद्गल[1]	

१५ जिस प्रकार पन्नवणासूत्र के बहुवक्तव्यता नामक तीसरे पद में गति आदि मार्गणास्थानों की अपेक्षा से २६ द्वारों द्वारा जीवों के अल्प-बहुत्व पर विचार करने के पश्चात् इस प्रकरण के अन्त में - "अह भंते ! सव्वजीवप्पवहुं महादंडयं वत्तइस्सामि" - इस वाक्य द्वारा महादण्डक प्रस्तुत किया गया है, ठीक उसी प्रकार षट्खण्डागम में भी १४ गुण स्थानों में गति आदि १४ मार्गणास्थानों द्वारा जीवों के अल्पबहुत्व पर विचार करने के पश्चात् इस प्रकरण के अन्त में महादण्डकों का उल्लेख किया गया है।[2]

प्रज्ञापनासूत्र में जीव को केन्द्र मान कर जीवप्रधान निरूपण किया गया है। षट्खण्डागम में यद्यपि कर्म को केन्द्र वना कर कर्मप्रधान निरूपण किया गया है तथापि "खुद्दाबंध" नामक द्वितीय खण्ड में वन्धक - जीव का विचार १४ मार्गणा-

---

[1] सूत्र २१२

दिसि गति इंदिय काए जोगे वेदे कसाय लेस्सा य।
सम्मत्त णाण दंसण संजय उवओग आहारे ॥१८० गाथा॥
भासग परित्त पज्जत्त सुहुम सण्णी भवत्थिए चरिमे।
जीवे य खेत्त वंधे पोग्गल महदंडए चेव ॥१८१ गाथा॥

[पन्नवणासुत्त, तइयं वहुवत्तव्वपयं, सूत्र २१२]

[2] षट्खण्डागम, पुस्तक ७, पृ० ७४५।

तुट्ठेरण धरसेरण भडारएरण सोम्म-तिहि-रणक्खत्त-वारे गंथो पारद्धो। पुरणो कमेरण वक्खारणंतेरण तेरण आसाढ-मास-सुक्क-पक्ख-एक्कारसीए पुव्वण्हे गंथो समारिणदो। विरणएरण गंथो समारिणदो त्ति तुट्ठेहिं भूदेहि तत्थेयस्स महदी पूजा पुप्फ - बलि - संख - तूर - रवसंकुला कदा। तं दट्ठूरण तस्स 'भूदबलि' त्ति भडारएरण रणामं कयं। अवरस्स वि भूदेहिं पूजिदस्स अत्थ - वियत्थ - ट्ठिय - दंत - पंतिमोसारिय भूदेहि समीकय-दंतस्स 'पुप्फयंतो' त्ति रणामं कयं।......

...... तदो पुप्फयंताइरिएरण जिरणवालिदस्स दिक्खं दाऊरण विसदि सुत्तारिण कारिय पढ़ाविय पुरणो सो भूदबलि - भयवंतस्स पासं पेसिदो। भूदबलिभयवदा जिरणवालिद - पासे दिट्ठ विसदि सुत्तेरण अप्पाउओ त्ति अवगय - जिरणवालि - देरण महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्णबुद्धिरणा पुरणो दव्व - पमारणारणुगममादिं काऊरण गंथरयरणा कदा। तदो एवं खंड सिद्धंतं पडुच्च भूदबलि - पुप्फयंताइरियावि कत्तारो उच्चंति।'(वही, पृ० ७१ - ७२)

इस प्रकार विक्रम सं० ८३० (वीर नि० सं० १३००) के आसपास हुए आचार्य वीरसेन ने धवला में पट्खण्डागम का रचनाकार पूर्व तथा अंग - ज्ञान के एक देशधर आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदंत तथा भूतबलि को माना है।

२. इसकी पुष्टि में दूसरे प्रमारण के रूप में इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार के निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किये जाते हैं :-

देशे ततः सुराष्ट्रे, गिरिनगर पुरान्तिकोर्जयन्तगिरौ।
चंदगुहाविनिवासी, महातपा परम मुनि - मुख्यः ॥१०३॥
अग्रायरणीयपूर्वस्थितपंचमवस्तुगतचतुर्थमहा -
कर्म - प्राभृतकज्ञः, सूरिर्धरसेननामाभूत् ॥१०४॥
सोऽपि निजायुष्यान्तं, विज्ञायास्माभिरलमधीतमिदम्।
शास्त्रं व्युच्छेदमवाप्स्यतीति संचिन्त्य निपुरणमतिः ॥१०५॥
देशेन्द्रदेशनामनि, वेरणाकतटीपुरे महामहिमा।
समुदितमुनीन् प्रति, ब्रह्मचारिरणा प्रापयल्लेखम् ॥१०६॥
-अभिवन्द्य कार्यमेवं, निगदत्यस्माकमायुरवशिष्टम्।
स्वल्पं तस्मादस्मच्छ्रुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छित्तिः ॥१०८॥
न स्याद्यथा तथा द्वौ, यतीश्वरौ ग्रहणधारणसमर्थौ।
निशित - प्रज्ञौ यूयं, प्रस्थापयतेति लेखार्थम् ॥११०॥
सम्यगवधार्य तैरपि तथाविधौ द्वौ मुनी समन्विष्य।
प्रहितौ तावपि गत्वा, चापतुरूर्जयन्तगिरिम् ॥१११॥
-सोऽप्यति योग्याविति सञ्चिन्त्य ततः सुप्रशस्तनिर्दिष्टे-
नक्षत्रे तत्पश्चात्, प्रारब्धवान् [illegible] ॥११२॥
दिवसेषु [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] न [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥११[illegible]॥

इस दृष्टि से कि भविष्य में कहीं ग्रन्थकार के सम्बन्ध में भ्रान्ति न हो जाय, दूसरी और तीसरी गाथा के बीच में निम्नलिखित दो गाथाएं रख दीं :-

वायगरवंसाओ तेवीसइमेण धीरपुरिसेण ।
दुद्धरधरेण मुणिणा, पुव्वसुयसमिद्धवुद्धीण ।।१।।
सुयसागरा विणेऊण जेण सुयरयणमुत्तमं दिण्णं ।
सीसगणस्स भगवओ तस्स नमो अज्जसामस्स ।।२।।

अर्थात् – वाचकश्रेष्ठों (वाचनाचार्यों) के वंश में हुए पूर्व – श्रुत – ज्ञान से समृद्ध बुद्धि वाले मुनियों में अधिक गहन ज्ञान धारण करने वाले जिन-तेवीसमें धीर मुनिवर ने अथाह श्रुतसागर से सूत्र – रत्न निकाल कर शिष्यगण को दिया, उन आर्य श्याम को नमस्कार है।

तीसरी गाथा में आये हुए "अहमवि' की परिचायक ये दो अन्य-कर्तृक गाथाएं किसी ने बहुत सोच विचार के पश्चात् उचित स्थान पर ग्रन्थ के मूल भाग में रखी हैं। हरिभद्रसूरि और मलयगिरि ने पन्नवणा की स्वनिर्मित वृत्तियों में इन दोनों गाथाओं को स्थान देकर अन्यकर्तृक अथवा प्रक्षिप्त बताते हुए इनकी व्याख्या की है। आचार्य हरिभद्र वस्तुतः धवलाकार आचार्य वीरसेन से लगभग १२५ वर्ष पूर्व हुए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ये गाथाएं विक्रम की ८ वीं शताब्दी से बहुत पूर्व की हैं। यह भी संभव है कि श्यामार्य के किसी शिष्य ने उनके जीवन-काल में अथवा कुछ समय पश्चात् ही इन गाथाओं को पन्नवणा के आद्य मूल पाठ के साथ जोड़ दिया हो।

२. दूसरा प्रमाण हिमवन्त स्थविरावली का प्रस्तुत किया जाता है, जो इस प्रकार है :-

'समणाणं' णिग्गंठाणं' णिग्गंठीणं' य जिणपवयणसुलहवोहट्ठं' णं अज्जसामेहिं' थेरेहिं य तत्थ पण्णवणा परूविया।[1]

अर्थात् – श्रमण निर्ग्रन्थों एवं निर्ग्रन्थनियों को जिन – प्रवचनों का सुगमता-पूर्वक बोध कराने के उद्देश्य से स्थविर आर्य श्याम ने "पन्नवणा" नामक सूत्र की प्ररूपणा की।

षट्खण्डागम का निर्माण पुष्पदंत और भूतवलि ने धरसेन से ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् किया, दिगम्बर परम्परा की इस परम्परागत मान्यता की पुष्टि में मुख्य रूप से धवला और इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार के निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं :-

१. तदो सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसो आइरिय – परंपराए आगच्छमाणो धरसेणायरियं संपत्तो। (षट्खण्डागम, जीवट्ठाण (धवला), भा० १, पृ० ६८) ....पुणो तेहिं धरसेण भयवंतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुट्ठु

[1] हिमवन्त स्थविरावली, हस्तलिखित।

धरसेन अग्रायणीय पूर्व की पंचम वस्तु के अन्तर्गत चतुर्थ महाकर्मप्राभृत के ज्ञाता थे। अपने जीवन के संध्याकाल में धरसेन को चिन्ता हुई कि कहीं उनके निधन के साथ ही "महाकर्म प्राभृत" विलुप्त न हो जाय। उन्होंने महामहिमा नगरी में एकत्रित श्रमण-समूह की सेवा में एक पत्र भेज कर दो मेधावी मुनियों को अपने पास भेजने की प्रार्थना की, जिन्हें वे चतुर्थ महाकर्म प्राभृत का ज्ञान देकर उसे नष्ट होने से बचावें। वेणातट पर सम्मिलित श्रमणों ने[1] धरसेन के निर्देशानुसार श्रमण-समूह में से दो मेधावी मुनियों को चुन कर उनके पास भेजा। अच्छी तरह परीक्षण के पश्चात् आचार्य धरसेन ने उन दोनों मेधावी मुनियों को चतुर्थ महाकर्मप्राभृत के ज्ञान के लिये सुयोग्य पात्र समझ कर शिक्षा देना प्रारम्भ किया। परम निष्ठा, परिश्रम और विनय-पूर्वक अध्ययन करते हुए उन दोनों मुनियों ने उस सम्पूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन समुचित समय में सम्पन्न किया। सुरों ने बड़े उत्सव के साथ उन दोनों मुनियों में से एक का नाम पुष्पदन्त और दूसरे का भूतपति (भूतबलि) रखा। अध्ययन की समाप्ति के दूसरे दिन ही धरसेन ने अपना अन्त समय सन्निकट समझ कर उन दोनों मुनियों को हितकर निर्देश देकर अपने यहां से कुरीश्वर नामक स्थान के लिये विदा किया। ९ दिनों में वे दोनों कुरीश्वर पत्तन पहुँचे। वहाँ वर्षावास विताने के पश्चात् दक्षिण की ओर विहार कर वे कर-हाट पहुँचे। वहां पुष्पदन्त मुनि के भानजे जिनपालित ने अपने मातुल मुनि के सान्निध्य में निर्ग्रन्थ श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर पुष्पदन्त ने जिनपालित के साथ वनवास में और भूतवलि द्रविड़ देश के मधुरा नामक नगर में रहने लगे।[2] पुष्पदन्त आचार्य ने गुण, जीव आदि बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्र वना उन्हें जिनपालित को पढ़ाकर उसे भूतवलि के पास भेजा। जिनपालित के मुख से सत्प्ररूपणा को सुनकर भूतवलि ने समझ लिया कि अब पुष्पदन्त की आयु स्वल्प ही अवशिष्ट रही है और उनकी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि षट्खण्डागम की रचना की जाय। तदनुसार भूतवलि ने षट्खण्डागम की रचना की।

पन्नवणा सूत्र और षट्खण्डागम – इन दोनों ही आगमों के मूल पाठ में कहीं इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है, जिससे इनके रचयिताओं का नाम ज्ञात हो सके। इन दोनों रचनाओं के रचनाकारों का नामोल्लेख दूसरे विद्वानों द्वारा किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि जहां पन्नवणासूत्र के प्रणेता का

---

[1] दिगम्बर परम्परा में यह मान्यता प्रचलित है कि अर्हद्बली ने उन दोनों मुनियों को धरसेन के पास भेजा। पर इस मान्यता का कोई प्रामाणिक आधार दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण वाङ्मय में खोजने पर भी नहीं मिलता। हरिवंशपुराण और [illegible] के अनुसार अर्हद्बलि का स्वर्गवास वीर नि० सं० ७८३ अथवा ७६१ में अनुमानित किया जाता है। इनके पश्चात् माघनन्दी २१ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे, अतः वीर नि० सं० ८०४ अथवा ८१२ के पश्चात् का धरसेन का समय हो सकता है। —सम्पादक

[2] षट्खण्डागम (पु० १, पृ० ७१) में – "[illegible]" इस प्रकार का उल्लेख है।

तद्दिन एवैकस्य द्विज-पंक्ति विषमितामपास्य सुरैः ।
कृत्वा कुन्दोपमितां नाम कृतं पुष्पदन्त इति ।।१२७।।
अपरोऽपि तुर्यनादैर्जयघोषैर्गन्धमाल्यधूपाद्यैः ।
भूतपतिरेष इत्याहूतो भूतैर्महं कृत्वा ।।१२८।।
स्वासन्नमृतिं ज्ञात्वा मा भूत्संक्लेशमेतयोरस्मिन् ।
इति गुरुणा संचिन्त्य द्वितीय दिवसे ततस्तेन ।।१२९।।
प्रियहित वचनैरमुष्य तावुभावेव कुरीश्वरं प्रहितौ ।
.... ।।१३०।।
–अथ पुष्पदन्त मुनिरप्यध्यापयितुं स्व भागिनेयं तम् ।
कर्म प्राकृतिप्राभृतमुपसंहार्यैव षड्भिरिह खण्डैः ।।१३४।।
वांछन् गुणजीवादिकविंशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणया ।
युक्तं जीवस्थानाद्यधिकारं व्यरचयत्सम्यक् ।।१३५।।
सूत्राणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतबलिगुरोः पार्श्वम् ।
तदभिप्रायं ज्ञातुं प्रस्थापयदगमदेशेऽपि ।।१३६।।
तेन ततः परिपठितां, भूतबलिः सत्प्ररूपणां श्रुत्वा ।
षट्खण्डागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः ।।१३७।।
विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य ततः ।
द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकारः खण्डपंचकस्यान्वक् ।।१३८।।
सूत्राणिषट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि ।
प्रविरच्य महाबन्धाह्वयं ततः षष्टकं खण्डम् ।।१३९।।
त्रिशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा ।
तेषां पञ्चानामपि खण्डानां शृणुत नामनि ।।१४०।।
—एवं षट्खण्डागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्यः ।
आरोप्यासद्भावस्थापनया पुस्तकेषु ततः ।।१४२।।

इन्द्रनन्दी के कथन का सारांश यह है कि वीर नि० सं० ६८३ में अंतिम आचारांगधर लोहार्य के स्वर्गगमन के साथ अंग ज्ञान का भी विच्छेद हो गया। उनके पश्चात् पूर्व और अंगज्ञान के एक-देश-धर क्रमशः (१) विनयधर, (२) श्रीदत्त, (३) शिवदत्त, (४) अर्हद्दत्त, (५) अर्हद्बली और (६) माघनन्दी नामक आचार्य हुए। माघनन्दी से अनिश्चित काल पश्चात् धरसेन नामक महान् तपस्वी आचार्य हुए। धरसेन के समय, इनकी गुरु परम्परा अथवा शिष्य परम्परा आदि से सम्बन्धित किसी प्रकार की सूचना देने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए इन्द्रनन्दी ने लिखा है कि इस सम्बन्ध में न तो किसी मुनि को जानकारी है और न कहीं किसी पुस्तक में ही इस प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध होता है।[1] आचार्य

[1] गुणधर धरसेनान्वय गुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः ।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ।।१५१।। [श्रुतावतार – इन्द्रनन्दीकृत]

सो सिद्धंतेण गुरू, जुत्ती-सत्थेहि जस्स हरिभद्दो ।
बहु- सत्थ-गंथ-वित्थर-पत्थारिय-पयड-सव्वत्थो ।।

[कुवलयमाला प्रशस्ति]

इस प्रकार उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला में हरिभद्र सूरि को अनेक ग्रन्थों की रचना द्वारा समस्त श्रुतशास्त्र का सच्चा अर्थ प्रकट करने वाले तथा स्वयं को प्रमाण और न्यायशास्त्र के सिखाने वाले गुरू के रूप में स्मरण किया है ।

'कुवलय मालाकार' उद्योतन सूरि, अपर नाम दाक्षिण्यचिन्ह ने अपने इस ग्रन्थरत्न के अन्त में इसके समापन के समय का उल्लेख इस प्रकार किया है:-

"..........अह चोद्दसीए चित्तस्स, किण्हपक्खम्मि ।
निम्मविया बोहकरी, भव्वाणं होउ सव्वाणं ।।
....

सगकाले वोलीणे, वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं ।
एग दिणे णूणेहिं, एस समत्ता वरण्हम्मि ।।

अर्थात् -शक संवत् ७०० की समाप्ति से एक दिन पूर्व शुभ वेला में इस (कुवलयमाला) की रचना सम्पूर्ण की । चैत्र कृष्णा चतुर्दशी के दिन पूर्ण की गई यह (कुवलयमाला) सभी भव्यजनों के लिये बोधप्रद हो ।

'कुवलयमाला' जैसे अद्भुत एवं उच्चकोटि के ग्रन्थ का प्रणयन करने योग्य पाण्डित्य प्राप्त करने में उद्योतन सूरि को कम से कम २५-३० वर्ष का समय अवश्य लगा होगा । यह एक निर्विवाद सत्य है कि पाण्डित्य का प्रवेश द्वार प्रमाण और न्यायशास्त्र का अध्ययन माना गया है । उद्योतन सूरि को दीक्षित करने के अनन्तर उनके गुरू तत्तायरिय ने उनकी सुतीक्ष्णबुद्धि और विलक्षण प्रतिभा देख कर उन्हें उस युग के लिये परमावश्यक प्रमाण और न्यायशास्त्र की शिक्षा दिलाने हेतु हरिभद्र सूरी की सेवा में रखा । उस समय तक हरिभद्र सूरि के प्रखर पाण्डित्य की कीर्तिपताका दिग्दिगन्त में फहरा रही होगी, यही प्रमुख कारण हो सकता है कि तत्तायरिय ने हरिभद्र सूरि को अपने मेधावी शिष्य के शिक्षक के रूप में चुना ।

इससे यह अनुमान किया जाता है कि शक सं० ६७० के आसपास उद्योतन सूरि न्याय शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने हेतु हरिभद्र सूरि की सेवा में उपस्थित हुए होंगे । यह भी अनुमान किया जा सकता है कि हरिभद्र को शक सं० ६७० तक इस प्रकार की सर्वतो व्यापिनी प्रसिद्धि कम से कम ३० वर्षों की अनवरत साहित्य सेवा एवं अपूर्व जिन शासन सेवा के पश्चात् ही प्राप्त हुई होगी । इस प्रकार सम्भवतः हरिभद्र सूरि ने शक सं० ६४० के आस-पास साहित्य-सृजन का कार्य प्रारम्भ किया होगा एवं उस समय उनकी अनुमानित वय ४० के लगभग होने से जन्मकाल शक सं० ६०० होना चाहिए । हरिभद्र सूरि ने [illegible]

नामोल्लेख करने वाले दो प्रमुख विद्वानों में से एक ने पन्नवरणा सूत्र की आदि के मूल मंगलपाठ में ही अपनी ओर से २ गाथाएं देकर इस तथ्य को प्रकट किया है कि पन्नवरणा सूत्र की श्रुतसागर के मन्थन द्वारा तेवीसवें वाचक श्रेष्ठ श्यामाचार्य ने रचना की वहां षट्खण्डागम के रचनाकार का नामोल्लेख करने वाली दोनों ही साक्षियां स्वयं मूल ग्रन्थ की न होकर इतर दो ग्रन्थों की हैं। आज से १३०० वर्ष पूर्व भी आचार्य श्यामार्य का पन्नवरणा सूत्रकार के रूप में परिचय देने वाली उपरिलिखित दोनों गाथाएं मूल मंगल पाठ में निहित थीं इस तथ्य की साक्षी विक्रम की आठवीं शताब्दी में हुए आचार्य हरिभद्र सूरि ने पन्नवरणासूत्र की स्वरचित वृति में इन गाथाओं को केवल स्थान देकर ही नहीं अपितु इनकी व्याख्या करके दी है।[1]

इसमें तो किसी की दो राय नहीं होंगी कि याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र ने पन्नवरणा सूत्र पर टीका की रचना करते समय पन्नवरणासूत्र की उनके समय में उपलब्ध हो सकने वाली प्राचीन से प्राचीनतम प्रतियों को प्राप्त करने का प्रयास किया होगा। आज के युग में भी आज से ८००-९०० वर्ष पुरानी आगमों की हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध होती हैं। हरिभद्र सूरि को भी टीका की रचना करते समय आठसौ-नवसौ वर्ष पुरानी न सही कम से कम २०० वर्ष पूर्व लिखी हुई ताड़पत्रीय प्रतियां तो अवश्य मिली होंगी – यह मानने में तो किसी को किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती।

आचार्य हरिभद्र का समय पुरातत्वाचार्य पद्मश्री मुनि जिनविजयजी द्वारा अन्तिम रूप से विक्रम सं० ७५७-८२७ निर्णीत किया जा चुका है,[2] जिसे सभी इतिहासज्ञों ने स्वीकार किया है।

उद्योतनसूरि अपर नाम दाक्षिण्यचिन्ह ने प्राकृत भाषा के अपने उच्चकोटि के ग्रन्थ कुवलयमाला में आचार्य हरिभद्रसूरि को इन शब्दों में नमन किया है:-

जो इच्छइ भवविरहं, भव विरहं[3] को रण वंदए सुयरणो।
समय-सय-सत्थ-गुरुरणो, समरमियंका कहा जस्स ॥

[कुवलय माला, प्रारम्भ]

---

[1] अस्याश्च गाथायाः "अज्झयरणमिरणं चित्त" मित्यनया गाथयासहाभिसम्बन्धः। अतश्च येनेयं सत्वानुग्रहाय श्रुतसागरादुद्घृता असावप्यासन्नतरोपकारित्वादस्मद्विधानां नमस्कारार्हं इत्यतस्तद्विपर्यमिदमपांतराल एवान्यकर्त्तृकं गाथाद्वयमिति। "वायगवरः" गाथा, वाचकाः पूर्वविदः वाचकाश्च ते वराश्च वाचकवराः वाचकप्रधाना इत्यर्थः, तेषां वंशः प्रवाहो वाचकवरवंशस्तस्मिन् त्रयोविंशतितमेन, तथा च सुधर्मादारभ्य आर्य श्यामस्त्रयोविंशतितम एव,.........
[हारीभद्रीया प्रज्ञापनावृत्ति, पृ० ४-५]

[2] (क) जैन साहित्य संशोधक, भाग १, अंक १, वीर नि० सं० २४४६, पृष्ठ २१ से ५३,
(ख) "समदर्शी आचार्य हरिभद्र" (पं० सुखलाल संघवी डी० लिट्) पृ० ८,

[3] "विरह" शब्देन हरिभद्राचार्यकृतत्वं प्रकरणस्यावेदितम्, विरहांकत्वात् हरिभद्रसूरेरिति।
[जिनेश्वर सूरिकृत 'अष्टम प्रकरण' टीका]

इन उल्लेखों के अतिरिक्त पन्नवणाकार आर्य श्यामाचार्य और षट्खण्डागमकार आचार्य धरसेन के काल के सम्बन्ध में विचार किया जाय तो आर्यश्याम वस्तुतः दशपूर्वधर होने के कारण[1] अंग पूर्वदेशधर आचार्य धरसेन से बहुत पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं।

नंदी सूत्रान्तर्गत पट्टावली की गाथा सं० २० से २६ में जिन महापुरुषों का स्मरण और वन्दन किया गया है, उनमें आर्यश्यामाचार्य का २३वां स्थान है। दुष्षमाकाल श्रमण-संघस्तोत्र की अवचूरि[2], विचारश्रेणी[3], तपागच्छ पट्टावली[4] आदि अनेक ग्रन्थों में आपका युगप्रधानाचार्यकाल वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ बताया गया है।

प्रथमोदय युगप्रधान यंत्र में आपका गृहस्थपर्याय २० वर्ष, व्रतपर्याय ३५ वर्ष, युगप्रधानाचार्यकाल ४१ वर्ष और पूर्ण आयु ९६ वर्ष, १ मास तथा १ दिन का बताया गया है। तपागच्छ पट्टावली के अतिरिक्त 'विचारश्रेणी' में भी आर्य श्यामाचार्य को 'प्रज्ञापनासूत्र' का रचनाकार बताते हुए लिखा है :-

"ततः ३३५ अनुनिगोदव्याख्याता कालकाचार्यः। 'किलास्मद्वत् संप्रति भरते कालकाचार्यो निगोदव्याख्यातेति' श्रीसीमंधरवाचं श्रुत्वा वृद्धविप्ररूपेणेन्द्रः कालकाचार्य-पार्श्वे तथैव निगोदव्याख्याश्रवणादनु निजमायुरपृच्छत्। तैश्च श्रुतोपयोगादिन्द्रोऽसाविति ज्ञातः।.........अयं च प्रज्ञापनोपांगकृत्..........

यह पहले ही बताया जा चुका है कि पन्नवणा सूत्र की रचना का उपक्रम करते हुए पन्नवणा सूत्रकार ने इसकी आदि में जो तीन गाथाएं दी हैं, उनमें दूसरी और तीसरी गाथा के बीच में आर्य श्यामाचार्य के पश्चाद्वर्ती किसी आचार्य ने "वायगवरवंसाओ, तेवीसइमेण धीरपुरिसेण" – इन पदद्वय से प्रारम्भ होने वाली दो गाथाएं जोड़कर सदा के लिये स्पष्ट कर दिया है कि इस श्रुतरत्न पन्नवणा सूत्र की रचना आर्य श्याम ने की है।

इन सभी उपर्युक्त सुस्पष्ट, परस्पर पुष्ट एवं प्रबल प्रमाणों से यह निर्विवाद रूपेण सिद्ध हो जाता है कि वीर निर्वाण सं० ३३५ से ३७६ तक युग प्रधान पद पर रहे तेवीसवें वाचक श्रेष्ठ आर्य श्याम ने पन्नवणा सूत्र की रचना की।

---

[1] महागिरि सुहस्ती च सूरिश्री गुणसुन्दरः।
श्यामार्य स्कन्दिलाचार्यो, रेवतीमित्र सूरिराट्॥
श्री धर्मो भद्रगुप्तश्च, श्री गुप्तो वज्रसूरिराट्।
युगप्रधानप्रवरा, दशैते दशपूर्विणः॥

छोटे बड़े ८६ ग्रन्थों की रचना की। उनका सुविशाल साहित्य ही इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि वे अवश्यमेव शतजीवी रहे होंगे।

इन सब तथ्यों पर विचार करने पर हरिभद्र सूरि का जन्मकाल शक सं० ६०० और निधनकाल शक सं० ६९० से ७०० के आसपास का अनुमानित किया जा सकता है।

इस प्रकार 'कुवलयमाला' के उल्लेखानुसार निश्चित रूप से शक सं० ७०० से पहले और अनुमानतः शक सं० ६०० से ७०० तदनुसार विक्रम सं० ७३५ से ८३५ के बीच हुए आचार्य हरिभद्र के समक्ष पन्नवणा की टीका लिखते समय उपरोक्त दो गाथाएं पन्नवणा के मूल पाठ में विद्यमान थीं, जिनमें आर्य श्यामाचार्य को पन्नवणासूत्र का प्रणेता बताया गया है। पन्नवणा पर टीका की रचना करते समय यदि हरिभद्र सूरी के समक्ष २०० वर्ष पुरानी पन्नवणा की प्रतियां भी रही हों तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रम की छठी शताब्दी से पूर्व भी ये दो गाथाएं पन्नवणा के मूल पाठ में अन्यकर्तृक गाथाओं के रूप में विद्यमान थीं, जिनमें यह बताया गया है कि आचार्य श्यामार्य ने पन्नवणा सूत्र की रचना की।

इन तथ्यों से प्रमाणित होता है कि आर्य श्यामाचार्य को पन्नवणा का रचनाकार सिद्ध करने वाली साक्षी हरिभद्र द्वारा किये गये उल्लेख की दृष्टि से विक्रम सं० ७८५ के आसपास की और उनके समक्ष पन्नवणा (मूल) की जो प्रति विद्यमान रही, उसकी दृष्टि से विक्रम सं० ५८५ की है।

आचार्य पुष्पदन्त और – भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की, इस प्रकार का उल्लेख मुख्य रूप से आचार्य वीर सेन ने षट्खण्डागम की अपनी धवला नामक टीका में और इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में किया है। ये दोनों साक्षियाँ पन्नवणा सूत्र को आर्य श्यामाचार्य की रचना बताने वाली उपरोक्त प्राचीन साक्षी की तुलना में अर्वाचीन और कम वजनदार हैं। डॉ० हीरालाल ने आचार्य वीर सेन का समय शक सं० ७३८ तदनुसार विक्रम सं० ८७३ निश्चित रूप से निर्णीत किया है।[1] इन्द्रनन्दी का श्रुतावतार भी विक्रम की ११ वीं शताब्दी का रचना मानी गई है।[2]

उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य श्यामाचार्य का पन्नवणाकार के रूप में परिचय देने वाली उपरिचर्चित २ गाथाएं आज से १४५० से भी अधिक पूर्वकाल से पन्नवणा सूत्र के मूल पाठ के साथ चली आ रही हैं। धरसेन का षट्खण्डागमकार के रूप में परिचय देने वाला धवला का उल्लेख आज से ११५८ वर्ष पहले का होने के कारण पन्नवणा विषयक उल्लेख से लगभग ३०० वर्ष पीछे का है।

---

[1] षट्खण्डागम (जयधवला) प्रथम खण्ड, (द्वितीय संस्करण) की प्रस्तावना, पृ० ३६

[2] "जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार (फतेहचन्द बेलानी), पृ० ११

अन्यकर्तृक बताते हुए उन्होंने इनकी व्याख्या की, तो इससे तो ये गाथाएं आज से १६००–१७०० वर्ष पुरानी सिद्ध होती हैं।

जहां तक प्रक्षिप्त गाथाओं के प्रक्षेप के समय का और प्रक्षेपकर्त्ता के नाम का प्रश्न है, स्वयं डॉ० ए० एन० उपाध्ये इस तथ्य से भलीभांति परिचित हैं कि प्रक्षेपक का नाम और समय बताना शतप्रतिशत मामलों में न सही ६६ प्रतिशत में तो एक प्रकार से असंभव ही है। प्रवचनसार पर ईसा की १० वीं शताब्दी में अमृतचन्द्र[1] ने टीका लिखी, उस समय स्त्री की उसी भव में मुक्ति का निषेध करने वाली "पेच्छदि ण हि इहलोगं" आदि ११ गाथाएं उसमें नहीं थीं अतः न तो अमृतचन्द्र ने उन गाथाओं को अपने टीका-ग्रन्थ में स्थान ही दिया और न उनकी व्याख्या ही की।

आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग २०० वर्ष पश्चात् हुए जयसेनाचार्य ने[2] उन ११ गाथाओं को अपनी टीका में स्थान देकर उनकी व्याख्या की है। उन्होंने स्पष्ट रूप से टीका में लिखा है :-

"तदनन्तरं स्त्रीनिर्वाणनिराकरणप्रधानत्वेन 'पेच्छदि ण हि इह लोगं' इत्याद्येकादश गाथा भवन्ति। ताश्चामृतचन्द्रटीकायां न सन्ति।"[3]

इन ११ गाथाओं को किसने और कब प्रवचनसार में प्रक्षिप्त किया इसका सन्तोषप्रद उत्तर संभवतः किसी विद्वान् के पास नहीं होगा।

पन्नवणा सूत्र की आदि की दूसरी और तीसरी गाथाओं के बीच में प्रक्षिप्त २ गाथाओं में आर्यश्याम को वाचकवर-वंश का तेवीसवां पुरुष बताया गया है। इस सम्बन्ध में डॉक्टर द्वय ने अपने सम्पादकीय में एक बड़ा महत्वपूर्ण मुद्दा उठाया है कि यह वाचकवंश कब प्रारम्भ हुआ और उसकी तेवीसवीं पीढ़ी कब पड़ी – इसका लेखा-जोखा कहां है ?

वस्तुतः यह प्रश्न विचारणीय है। आचार्य परम्परा से संबन्धित वाङ्मय में इसका हल विद्यमान है पर कतिपय विद्वानों का ध्यान उस ओर नहीं गया है। पन्नवणा सूत्रान्तर्गत्त उपर्युद्धृत दो अन्यकर्तृक गाथाओं में से प्रथम गाथा में आर्य श्याम को वाचक वंश का २३ वां पुरुष बताया गया है। वाचक शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार हरिभद्र ने लिखा है – "वाचकाः पूर्व-विदः"[4] अर्थात् वाचक शब्द का अर्थ है पूर्वज्ञान के ज्ञाता। पूर्व-विदों को वाचक मान लिये जाने की स्थिति में भगवान् महावीर के ग्यारहों गणधरों की वाचकवंश में गणना करना आवश्यक हो जाता है। आर्य सुधर्मा से वाचनाचार्यों की गणना किये जाने पर आर्य श्याम का नाम १३ वें स्थान पर आता है। पर [illegible]

---

[1] Introduction—by A. N. Upadhye—on Pravachanasara p. 10[illegible].

[2] Same—p. 104.

[3] प्रवचनसार (ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित), पृ० [illegible]

[4] हारिभद्रीया प्रज्ञापना वृत्ति, पृ० ५.

दिगम्बर परम्परा के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान डॉ० हीरालाल जैन और श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने षट्खण्डागम, प्रथम खण्ड के द्वितीय संस्करण के अपने सम्मिलित सम्पादकीय में – "आर्य श्याम ही पन्नवरणा सूत्र के रचनाकार हैं" – इस तथ्य को संदेहास्पद सिद्ध करने का प्रयास करते हुए लिखा है :-

"..........उन दोनों प्रक्षिप्त गाथाओं में पन्नवरणा सूत्र का नाम भी नहीं आया। जिस श्रुतरत्न का दान श्यामाचार्य ने दिया उससे किसी अन्य ग्रन्थरत्न का भी तो अभिप्राय हो सकता है। यदि हरिभद्राचार्य ने भी इन गाथाओं को प्रक्षिप्त कह कर टीका की है, तो इससे इतना मात्र सिद्ध हुआ कि उनके समय अर्थात् आठवीं शती में श्यामाचार्य की ख्याति हो चुकी थी। किन्तु इससे पूर्व कब व किसके द्वारा वे गाथाएं जोड़ी गईं, इसके क्या प्रमाण हैं। उन गाथाओं में श्यामाचार्य को वाचक वंश का तेइंसवां पुरुष कहा है। यह वंश कब प्रारम्भ हुआ और उसकी तेईसवीं पीढ़ी कब पड़ी, इसका लेखा-जोखा कहां है ? उनसे पूर्व ग्रन्थ की अंगभूत गाथा में तो स्पष्ट कहा गया है कि पण्णवरणा का उपदेश भगवान् जिनवर ने भव्य जनों की निवृत्ति हेतु किया था, जब कि प्रक्षिप्त गाथाओं में दुर्धर धीर व समृद्धबुद्धि मुनि श्यामाचार्य द्वारा किसी अनिर्दिष्ट श्रुतरत्न का दान अपने शिष्यगण को दिया गया। क्या प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्तृत्व के विषय में मूल और प्रक्षेप की मान्यता एक ही कही जा सकती है।"[1]

डॉ० द्वय की प्रथम तीन और अंतिम, इन चार दलीलों में तो वस्तुतः कोई दम नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त दो गाथाएं पन्नवरणा सूत्र की मूल गाथाओं के बीच में जोड़ी गई हैं तथा तीसरी गाथा के चतुर्थ चरण में ग्रन्थकार द्वारा अपने लिये प्रयुक्त – "अहमवि तह वण्णइस्सामि" को पूर्णतः स्पष्ट करने वाली हैं कि यह "अहमवि" कहने वाले आचार्य श्याम ही हैं, अन्य कोई नहीं। मूल गाथाओं के बीच में दी हुई इन गाथाओं को पढ़ते ही साधारण से साधारण पुरुष को भी सहज ही यह ज्ञात हो जाता है कि निश्चित रूप से पन्नवरणा सूत्र को उद्दिष्ट कर ही ये गाथाएं यहां रखी गई हैं और आर्य श्याम ने इसी ग्रन्थरत्न पन्नवरणा सूत्र का अपनी शिष्य-प्रशिष्य सन्तति को दान दिया है। यदि ये दोनों गाथाएं पन्नवरणा सूत्र की मूल गाथाओं के बीच में न होकर अन्यत्र कहीं फुटकर रूप में होतीं तो सम्पादक द्वय की इन दोनों दलीलों में बड़ा महत्वपूर्ण वजन होता।

तीसरी दलील का सीधा सा उत्तर इस प्रकार हो सकता है – हरिभद्राचार्य को पन्नवरणा की टीका करते समय मूल पन्नवरणासूत्र की जो प्रतियाँ मिलीं वे उनके समय से कम-अज-कम ४००–५०० वर्ष पुरानी तो सुनिश्चित रूपेण होंगी क्योंकि आज भी कतिपय आगमों की ८००–६०० वर्ष पुरानी प्रतियां अनेक ग्रन्थागारों – ग्रन्थभण्डारों में विद्यमान हैं। जब आचार्य हरिभद्र को अपने समय से ४००-५०० वर्ष पुरानी प्रतियों में उपरिलिखित २ गाथाएं मिलीं और इन्हें

[1] षट्खण्डागम प्रथम खंड, द्वितीय संस्करण, सम्पादकीय, पृ० ८

नि० सं० ६२६ में हुई आगम वाचनाओं के जिन पाठों के सम्बन्ध में दोनों वाचनाओं के प्रतिनिधि एक मत न हो सके, उन दोनों पाठों को यथावत् पुस्तकारूढ करते हुए नागार्जुनीया वाचना के पाठों के सम्बन्ध में "नागज्जुणीया पुण एवं भणन्ति" अथवा "अण्णे पुण एवं भणन्ति" – इस प्रकार का निर्देश कर दिया गया। नंदीसूत्र के मूल पाठ में पन्नवणा सूत्र का उल्लेख निम्न लिखित रूप में विद्यमान है:-

"८१ से किं तं उक्कालियं ? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा - दसवेयालियं १, कप्पियाकप्पियं २, चुल्लकप्पसुत्तं ३, महाकप्पसुत्तं ४, ओवाइयं ५, रायपसेणियं ६, जीवाभिगमो ७, पण्णवणा ८,"......................महापच्चक्खाणं २९ से तं उक्कालियं।[1]

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि वीर नि० सं० ९८० में हुई आगमवाचना में आर्य स्कंदिल और आर्य नागार्जुन इन दोनों के तत्वावधान में वीर नि० सं० ६२३ में हुई आगमवाचनाओं में जिन आगमों का पाठ सुस्थित एवं सुस्थिर किया गया था, उन्हीं आगमों के दोनों पाठों का एकीकरण करते हुए उसे पुस्तकारूढ किया गया था। ऐसी स्थिति में यह तो सुनिश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि वीर निर्वाण ६२३ के बहुत पहले से ही पन्नवणा सूत्र श्रमण-श्रमणी-समूह के स्मृतिपटल पर अंकित हो उनका कण्ठाभरण बना हुआ था।

पन्नवणासूत्र वस्तुतः वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ तक युगप्रधानपद पर विराजमान २३ वें वाचकवर आर्य श्यामाचार्य की ही कृति है – इस तथ्य के परस्पर एक दूसरे द्वारा परिपुष्ट जितने अधिक प्रबल और प्राचीन प्रमाण उपलब्ध हैं, उतने अधिक संभवतः द्वादशांगी को छोड़कर शेष आगमों में से बहुत कम के ही उपलब्ध हो सकेंगे।

उपरोक्त सभी प्रबल प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि पन्नवणा सूत्र आर्यश्याम द्वारा वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ के बीच के किसी समय में दृष्टिवाद से उद्धृत उनकी कृति है।

यद्यपि नन्दी सूत्रान्तर्गत वाचकवंश की पट्टावली और मेरुतुंगीया विचार श्रेणी के उपर्युक्त उल्लेखों से भली-भांति यह सिद्ध हो चुका है कि श्यामार्य [illegible] वाचकवंश के एक दृष्टि से १२ वें और दूसरी दृष्टि से २३ वें पुरुष हैं, तथापि [illegible] शोधार्थियों के समक्ष शोध हेतु एक जटिल प्रश्न उपस्थित [illegible] है। याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र ने पन्नवणा सूत्र की टीका में उद्धृत दो अन्यकर्तृक गाथाओं की टीका करते हुए आर्य श्याम को वाचकवंश का २३ वां पुरुष तो बताया है, पर उन्होंने उन्हें गौतम गणधर से २३ वां पुरुष न बता कर आर्य सुधर्मा से ही २३ वां पुरुष बताते हुए लिखा है :-

---

[1] नंदी सूत्र सटीक (मुनि पुण्य विजयजी द्वारा सम्पादित), पृ० [illegible]

गणधरों को वाचक मान लिये जाने पर आर्य श्याम निश्चित रूप से २३ वें वाचक ही ठहरते हैं। वस्तुतः सभी गणधर वाचक अर्थात् आगमों की वाचना देने वाले होते ही हैं अतः उनकी वाचकों में गणना करना उचित भी है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है नन्दी सूत्रान्तर्गत पट्टावली की २० वीं और २१ वीं गाथा में ११ गणधरों के नाम देने के पश्चात् गाथा सं० २३ से २६ में सुधर्मा से लेकर आर्य शाण्डिल्य तक वाचनाचार्यों को वंदन किया गया है, इनमें गौतम गणधर से आर्य श्याम तक नामों की गणना की जाय तो आर्य श्याम का नाम तेवीसवें स्थान पर ही आता है।

इसी प्रकार विचारश्रेणी में भी गणधरों की वाचकों में गणना कर आर्य श्याम को २३वां वाचकवर बताते हुए लिखा है :-

"अयं च प्रज्ञापनोपांगकृत् सिद्धान्ते श्रीवीरादन्वेकादशगणभृद्भिः सह त्रयोविंशतितमः पुरुषः श्यामार्य इति व्याख्यातः।"

सिद्धान्त में प्रज्ञापना उपांग के रचनाकार आर्य श्याम को भगवान् महावीर के पश्चात्, ग्यारह गणधरों को वाचकों की गणना में सम्मिलित कर तेवीसवां पुरुष बताया गया है' – आचार्य मेरुतुंग का यह कथन संभवतः नन्दीसूत्रान्तर्गत पट्टावली की ओर ही संकेत करता है।

नन्दीसूत्रान्तर्गत पट्टावली वीर निर्वाण संवत् ९८० में आगम-निष्णात एवं एक पूर्वधर आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा अपने समय में उपलब्ध सभी प्राचीन तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् निर्मित की गई; यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। अतः नन्दीसूत्रान्तर्गत पट्टावली की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में किसी प्रकार के संदेह का किंचित्मात्र भी अवकाश नहीं रह जाता। यह भी सूर्य के प्रकाश के समान सुस्पष्ट एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वीर नि० सं० ६२३ के आसपास आर्य स्कंदिल और नागार्जुन के तत्वावधान में हुई स्कंदिलीया एवं नागार्जुनीया आगमवाचनाओं में अनेक आगम निष्णात स्थविर श्रमणों ने विचार-विमर्श के पश्चात् जिन आगमों के पाठों को सुस्थित एवं सुस्थिर किया,[2] उन्हीं आगमों को वीर नि० सं० ९८० में देवर्द्धिक्षमाश्रमण और कालकाचार्य चतुर्थ के तत्वावधान में वल्लभी में हुई अंतिम आगवाचना में स्कंदिली और नागार्जुनी – इन दो भिन्न आगम-वाचनाओं के पाठों का परस्पर मिलान करने के पश्चात् सर्व सम्मत रूप से एक पाठ निर्धारित कर आगमों को पुस्तकारूढ किया गया। वीर

---

[1] जैन साहित्य संशोधक खंड २, अंक ३ में प्रकाशित 'विचार श्रेणी' पृ० ५.

[2] (क) जेसि इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
वहुनगरनिग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥३२॥ [नंदी सूत्र पट्टावली]

(ख) दुर्भिक्षान्ते च विक्रमार्कस्यैकशताधिक त्रिपंचाशत (६२३) संवत्सरे स्थविरैरार्यस्कं-दिलाचार्यैरुत्तरमथुरायां जैन भिक्षूणां संघो मेलितः। [हिमवंत स्थाविरावली]

नि० सं० ६२६ में हुई आगम वाचनाओं के जिन पाठों के सम्बन्ध में दोनों वाचनाओं के प्रतिनिधि एक मत न हो सके, उन दोनों पाठों को यथावत् पुस्तकारूढ करते हुए नागार्जुनीया वाचना के पाठों के सम्बन्ध में "नागज्जुणीया पुण एवं भणन्ति" अथवा "अण्णे पुण एवं भणन्ति" – इस प्रकार का निर्देश कर दिया गया। नंदीसूत्र के मूल पाठ में पन्नवणा सूत्र का उल्लेख निम्न लिखित रूप में विद्यमान है:–

"८१ से किं तं उक्कालियं ? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा - दसवेयालियं १, कप्पियाकप्पियं २, चुल्लकप्पसुत्तं ३, महाकप्पसुत्तं ४, ओवाइयं ५, रायपसेणियं ६, जीवाभिगमो ७, पण्णवणा ८,..................महापच्चक्खाणं २९ से तं उक्कालियं।[1]

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि वीर नि० सं० ९८० में हुई आगमवाचना में आर्य स्कंदिल और आर्य नागार्जुन इन दोनों के तत्वावधान में वीर नि० सं० ६२३ में हुई आगमवाचनाओं में जिन आगमों का पाठ सुस्थित एवं सुस्थिर किया गया था, उन्हीं आगमों के दोनों पाठों का एकीकरण करते हुए उसे पुस्तकारूढ किया गया था। ऐसी स्थिति में यह तो सुनिश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि वीर निर्वाण ६२३ के वहुत पहले से ही पन्नवणा सूत्र श्रमण-श्रमणी-समूह के स्मृतिपटल पर अंकित हो उनका कण्ठाभरण वना हुआ था।

पन्नवणासूत्र वस्तुतः वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ तक युगप्रधानपद पर विराजमान २३ वें वाचकवर आर्य श्यामाचार्य की ही कृति है – इस तथ्य के परस्पर एक दूसरे द्वारा परिपुष्ट जितने अधिक प्रवल और प्राचीन प्रमाण उपलब्ध हैं, उतने अधिक संभवतः द्वादशांगी को छोड़कर शेष आगमों में से वहुत कम के ही उपलब्ध हो सकेंगे।

उपरोक्त सभी प्रवल प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि पन्नवणा सूत्र आर्यश्याम द्वारा वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ के वीच के किसी समय में दृष्टिवाद से उद्धृत उनकी कृति है।

यद्यपि नन्दी सूत्रान्तर्गत वाचकवंश की पट्टावली और मेरुतुंगीया विचार श्रेणी के उपर्युक्त उल्लेखों से भली-भांति यह सिद्ध हो चुका है कि आचार्य श्याम वाचकवंश के एक दृष्टि से १३ वें और दूसरी दृष्टि से २३ वें पुरुष हैं तथापि हम शोधार्थियों के समक्ष शोध हेतु एक जटिल प्रश्न उपस्थित करना चाहते हैं। याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र ने पन्नवणा सूत्र की टीका में उपर्युक्त दो अन्यकर्तृक गाथाओं की टीका करते हुए आर्य श्याम को वाचकवंश का २३ वां पुरुष तो वताया है, पर उन्होंने उन्हें गौतम गणधर से २३ वां पुरुष न वता कर आर्य सुधर्मा से ही २३ वां पुरुष वताते हुए लिखा है :–

[1] नंदी सूत्र सटीक (मुनि पुण्य विजय द्वारा सम्पादित), पृ० [illegible]

"वाचकाः पूर्वविदः, वाचकाश्च ते वराश्च वाचकवराः वाचकप्रधाना इत्यर्थः, तेषां वंशः – प्रवाहो वाचकवरवंशस्तस्मिन् त्रयोविंशतितमेन, तथा च सुधर्मादारभ्य आर्यश्यामस्त्रयोविंशतितम एव,..........।[१]

वर्तमान में जितनी भी आचार्य परम्परा की पट्टावलियां उपलब्ध हैं, उन सब में आर्य सुधर्मा से गणना कर आर्यश्याम को १३ वां वाचनाचार्य और १२ वां युगप्रधानाचार्य बताया गया है। सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में ऐसी एक भी आचार्य परम्परा की पट्टावली दृष्टिगोचर नहीं होती, जिसमें आर्य सुधर्मा से गणना कर आर्य श्याम को २३ वां पुरुष बताया गया हो। आचार्य हरिभद्र के – "तथा च सुधर्मादारभ्य आर्य श्यामस्त्रयोविंशतितम एव" — इन शब्दों से तो स्पष्टतः यही प्रतिध्वनित होता है कि उनकी दृष्टि में निश्चितरूपेण आर्यश्याम आर्य सुधर्मा से २३ वें पुरुष ही थे। तभी उन्होंने साधिकारिक भाषा में लिखा है– "सुधर्मादारभ्य आर्य श्यामस्त्रयोविंशतितम एव।" तो क्या आचार्य हरिभद्र के समक्ष कोई ऐसी पट्टावली विद्यमान थी, जिसमें आर्य श्याम को आर्य सुधर्मा से २३ वां पुरुष बताया गया था? यह एक ऐसा जटिल प्रश्न है, जिसका उत्तर आचार्य परम्परा की वर्तमान काल में उपलब्ध पट्टावलियों में खोजने पर भी कहीं नहीं मिलेगा। आचार्य हरिभद्र जैसे उच्च कोटि के विद्वान् आचार्य बिना किसी ठोस प्रमाण के इस प्रकार की आधिकारिक भाषा में आर्य श्याम को आर्य सुधर्मा से २३ वां पुरुष कभी न लिखते।

इस प्रश्न पर गहराई से विचार करने के पश्चात् हमें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि ग्यारहों गणधरों की वाचकों में गणना करने पर ही आर्य श्याम २३ वें वाचक ठहरते हैं। हरिभद्रसूरि को भी सुनिश्चित रूपेण ग्यारहों गणधरों की वाचकों में गणना करना अभीष्ट था, इसी कारण उन्होंने वाचक शब्द की व्याख्या करते हुए – "वाचकाः पूर्वविदः" अर्थात् पूर्वज्ञान के वेत्ताओं को वाचक माना गया है – यह लिखा है। शास्त्रों की वाचना देने का सबसे पहला काम तो वस्तुतः गणधरों का ही था अतः वाचकों में न्यायतः सर्वप्रथम उनकी गणना होनी ही चाहिए। हरिभद्र ने भी गणधरों को वाचक मानकर आर्य श्याम को २३ वां वाचक लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने "इन्द्रभूति गौतमादारभ्य" लिखा होगा। किन्तु आर्य सुधर्मा से प्रारम्भ हुई पट्टावलियों को ध्यान में रखते हुए किसी लिपिक ने "इन्द्रभूतिगौतमादारभ्य" – इस पाठ को प्रचलित पट्टपरंपरा के विपरीत समझ, जानबूझ कर उसके स्थान पर – सुधर्मादारम्य" – यह लिख दिया हो। अपनी समझ में लिपिक ने अपने प्रयास को त्रुटि-परिहार माना होगा पर ऐसा करते समय लिपिक ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया कि आर्य सुधर्मा से आर्य श्यामाचार्य २३वें नहीं अपितु १३वें वाचक ही होते हैं। तथ्यों पर आधारित हमारे इस अनुमान का मूल्यांक चिन्तक इतिहासविदों पर

[१] हरिभद्रीया प्रज्ञापनावृत्ति, पृ० ५

निर्भर करता है। आर्य सुधर्मा से आर्य श्यामाचार्य तक ३७६ वर्ष का समय अनेक प्रामाणिक उल्लेखों द्वारा परिपुष्ट और तर्क की कसौटी पर भी खरा उतरता है। अतः नन्दी सूत्रान्तर्गत पट्टावलि में उल्लिखित आचार्यों के अतिरिक्त और भी कोई अज्ञातनामा १० आचार्य हुए हों, इस प्रकार की कल्पना तो किसी भी दशा में नहीं की जा सकती।

वस्तुतः – "सुधर्मादारभ्य" किस दृष्टि से लिखा गया है, इस सम्बन्ध में कहीं कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध न होने के कारण हम साधिकारिक रूप से कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं हैं। इतिहास के विद्वान् इस सम्बन्ध में समुचित खोज कर विशेष प्रकाश डालेंगे तो अत्युत्तम होगा।

"पन्नवणासूत्र आर्य श्याम की कृति है" – इस तथ्य के प्रति शंका प्रकट करते हुए श्री ए. एन. उपाध्ये और श्री हीरालालजी– इन डाक्टरद्वय ने पट्खण्डा-गम, प्रथम पुस्तक (द्वितीय संस्करण) के अपने संपादकीय में लिखा है — " — ग्रन्थ की अंगभूत गाथा में तो स्पष्ट कहा गया है कि पण्णवणा का उपदेश भगवान् जिनवर ने भव्यजनों की निवृत्ति हेतु किया था, जब कि प्रक्षिप्त गाथाओं में दुर्द्धर, धीर व समृद्धबुद्धि मुनि श्यामाचार्य द्वारा किया अनिर्दिष्ट श्रुतरत्न का दान अपने शिष्यगण को दिया गया। क्या प्रस्तुत ग्रन्थ कर्त्तृत्व के विषय में मूल और प्रक्षेप की मान्यता एक ही कही जा सकती है?"

आज के जैन जगत के उच्च कोटि के इन दो विद्वानों द्वारा लिखी गई उपरोक्त पंक्तियों को पढ़कर संभवतः प्रत्येक प्रबुद्ध पाठक को वस्तुतः बड़ा आश्चर्य होगा। क्योंकि पन्नवणा सूत्र की अंगभूत दूसरी और तीसरी गाथा का अर्थ इस प्रकार है :–

"भव्य जनों की निवृत्ति करने वाले जिनेश्वर ने श्रुतरत्न के अक्षय भण्डार स्वरूप सभी भावों की प्रज्ञापनाओं का उपदेश दिया ॥२॥ जिस प्रकार भगवान् ने (सब भावों की प्रज्ञापना का) वर्णन किया, उसी प्रकार मैं भी दृष्टिवाद से उद्धृत अद्भुत श्रुतरत्न स्वरूप इस अध्ययन (पन्नवणा सूत्र) का निरूपण–वर्णन करूंगा ॥३॥[1]

तीसरी गाथा के अन्त में उल्लिखित वे "अहमवि" कौन हैं, यह सुनिश्चित रूप से बताने के लिये ही मुख्यतः किसी अज्ञातनामा आचार्य ने दो गाथाएं मूल के बीच में जोड़ी हैं, जिनमें सार रूप में यह बताया गया है कि जिन [illegible] वाचकोत्तम आर्य श्याम ने श्रुतसागर से उद्धृत कर (यह) श्रुतरत्न शिष्य समूह को दिया, उन आर्य श्याम को नमस्कार है।

मूल गाथाओं के पश्चात् इन अन्यकर्तृक प्रक्षिप्त गाथाओं को पढ़ने से अनायास ही यह बोध हो जाता है कि मूल गाथाओं में [illegible] बताकर अपने लिये जो केवल "अहमवि" शब्द का प्रयोग किया है, [illegible]

[1] पन्नवणा, गा. २ और ३

गाथाओं ने पूरक गाथाओं का काम करते हुए स्पष्ट कर ग्रन्थकार का सार रूप में आवश्यक परिचय दे दिया है। समझ में नहीं आता कि षट्खण्डागम के विद्वान् सम्पादकों को यहां मूल और प्रक्षेप की मान्यता में विभेद किस प्रकार दृष्टिगोचर हुआ। मूल गाथा में भगवान् को मूलतंत्रकर्त्ता और अपना 'अहमवि' से परिचय देने वाले आचार्य को वस्तुतः उपतन्त्रकर्त्ता – अर्थात् पण्णवणाकार बताया है। प्रक्षिप्त कही जाने वाली उन दो अन्यकर्तृक गाथाओं में भी ग्रन्थकार के नामोल्लेख के साथ मूल गाथाओं की पुष्टि की गई है। "पन्नवणा सूत्र की रचना भगवान् महावीर ने की," यह निष्कर्ष विद्वान् सम्पादकों ने किस प्रकार निकाला? मूल और प्रक्षिप्त – दोनों ही प्रकार की गाथाओं में पन्नवणाकार भगवान् को न बता कर 'अहमवि' के रूप में अपना परिचय देने वाले आर्य श्याम को पन्नवणाकार बताया गया है।

त्रिपदी के उपदेश कर्त्ता के रूप में मूलतन्त्रतकर्त्ता तो प्रभु महावीर ही हैं। उस उपदेश के आधार पर द्वादशांगी की रचना करने वाले ग्यारहों गणधर अनुतन्त्रकर्त्ता और अनुतन्त्र दृष्टिवाद से आर्य श्याम ने 'पन्नवणा सूत्र' उद्धृत किया अतः आर्य श्याम उपतन्त्रकर्त्ता हैं।[1] मूलतः तो पन्नवणा सूत्र भी भगवान् की ही वाणी है।

जिस प्रकार पन्नवणा को आर्य श्याम की कृति माना गया है, उसी प्रकार पट्खण्डागम को पुष्पदन्त-भूतवलि की कृति माना गया है।[2]

भगवान् महावीर के उपदेशों को आधार बनाकर पन्नवणाकार की तरह श्वेताम्बर और दिगम्बर, परम्परा के अनेक विद्वान् आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचनाएं कीं, इस तथ्य के प्रमाण जैन वाङ्मय में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। बोधप्राभृत की निम्नलिखित गाथाओं से यह प्रमाणित होता है कि पन्नवणाकार के पद-चिन्हों पर अनेक आचार्य चले हैं :–

> रूवत्थं शुद्धत्थं, जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं।
> भव्वजणबोहणत्थं, छक्कायहियंकरं उत्तं ॥६०॥
> सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
> सो तह कहियं णाणं, सीसेण भद्दबाहुस्स ॥६१॥[1]

पन्नवणाकार ने ग्रन्थ रचना का उपक्रम करते हुए प्रतिज्ञा की है कि श्री वीर प्रभु ने जिस तरह संसार के समस्त भावों की प्रज्ञापनाओं का उपदेश

---

[1] जं पुण अण्णेहिं विसुद्धागमबुद्धिजुत्तेहिं थेरेहिं अप्पाउयाणं मणुयाणं अप्पबुद्धिसत्तीणं च दुग्गाहकं-ति णाऊण तं चेव आयाराइ सुयणाणं परंपरगतं अत्थतो गंथतो य अतिबहुं ति काऊण अणुकंपा णिमित्तं दसवेतालियमादि पकृवियं तं अणेगभेदं अणंगपविट्ठं।
[आवश्यक चूर्णि, भा १, पृ. ८]

[2] तदो मूलतंतकत्ता वड्ढमाण भडारओ, अणुतंतकत्ता गोदमसामी, उवतंतकत्तारा भूदवलि पुप्फयंतादयो।
[पट्खण्डागम, भाग १, पृ. ७२]

दिया, उसी तरह मैं भी प्रज्ञापनासूत्र नामक इस अद्भुत श्रुतरत्न का वर्णन करूंगा। ठीक उसी तरह अपने ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए बोधपाहुडकार ने भी कहा है कि भव्यजनों को बोध देने एवं षड्जीव निकाय के हितार्थ भगवान् ने जो उपदेश दिया, वह शब्दों के रूप में ढाला जाकर भाषा सूत्रों के स्वरूप में प्रकट हुआ। जिनेन्द्र प्रभु के उस उपदेश को उसी रूप में भद्रबाहु के शिष्य ने कहा है।

इन सब तथ्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से सहज ही यह सिद्ध हो जाता है कि पन्नवणासूत्र तेवीसवें वाचक आर्य श्याम की ही कृति है। श्री ए० एन० उपाध्ये और श्री हीरालालजी द्वारा प्रस्तुत शंकाओं के बारे में जो विचार ऊपर प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि उनकी शंकाएं न न्याय संगत ही हैं और न तर्कसंगत ही।

उपर्युल्लिखित विस्तृत विवेचन से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि पन्नवणासूत्र की रचना आर्यश्याम ने वीर नि० सं० ३३५ से ३७६ के बीच किसी समय की। इसके विपरीत षट्खण्डागम के रचनाकार आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि का निश्चित समय बताने वाले प्रामाणिक उल्लेख दिगम्बर परम्परा के साहित्य में आज कहीं उपलब्ध नहीं हैं। हरिवंश पुराण में दी हुई आचार्य-परम्परा की पट्टावली पर विचार करने के पश्चात् अर्हद्बलि का समय वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ अथवा ७९१ तक का सिद्ध होता है। यद्यपि धरसेन और पुष्पदंत तथा भूतबलि की कोई प्रामाणिक पट्टपरम्परा उपलब्ध नहीं होती, फिर भी धवलाकार तथा इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार विषयक विवरण को पढ़ने से धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का समय वीर नि० सं० ८०० और उससे भी पश्चात् का अनुमानित किया जाता है। आगे अभी इसी अध्याय में इस प्रश्न पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

षट्खण्डागम के समान ही कषाय-पाहुड़ का भी दिगम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थों में सर्वोपरि स्थान है। जयधवलाकार ने जयधवला में तथा इन्द्र-नन्दी ने श्रुतावतार में आचार्य गुणधर को कषाय-पाहुड़ का कर्त्ता बताया है। दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों में कहीं आचार्य गुणधर का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। इन्द्रनन्दी ने भी श्रुतावतार में लिखा है कि आचार्य गुणधर और धरसेन की गुरु-शिष्य परम्परा का पूर्वापर क्रम कहीं उपलब्ध नहीं होता। इतना सब कुछ होते हुए भी अर्हद्बलि द्वारा किये गये संघ विभाजन का विवरण प्रस्तुत करते हुए इन्द्रनन्दी ने लिखा है :—

> ये शाल्मलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपागता तेषु।
> कांश्चिद् गुणधर संज्ञान्कांश्चिद् गुप्ताह्वयानकरोत् ॥९८॥[1]

अर्थात् — शाल्मली महावृक्ष के मूल से जो साधु आये थे, उनमें से कतिपय को अर्हद्बलि ने गुणधर संज्ञा और कतिपय को गुप्त संज्ञा प्रदान की।

---

[1] प्राभृत संग्रह, पृ० ९६

इससे अनुमान लगाया जाता है कि गुणधर संघविभाजन से पर्याप्तरूपेण पूर्ववर्ती आचार्य रहे हैं और उनकी शिष्य प्रशिष्य संतति को अर्हद्बलि ने गुणधर संघ के नाम से अभिहित किया।

कषाय-पाहुड़ के उद्धरण, आधार, साक्षी एवं निर्देश आदि श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों 'शतकचूर्णि' तथा 'सप्ततिकाचूर्णि' आदि में उपलब्ध होते हैं। इससे यह अनुमान किया जाता है कि पूर्ववर्ती समय में यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में भी उसी प्रकार मान्य था, जिस प्रकार कि दिगम्बर परम्परा में मान्य है।

कषाय-पाहुड़ की चूर्णि में "सव्वलिंगेसु च भज्जाणि" – अर्थात् चारित्रवेष धारण किये विना जीव अन्य तीर्थिकों के वेष में भी क्षपक हो सकता है – यह जो बात कही गई है, वह दिगम्बर परम्परा की मान्यता से विरुद्ध पड़ती है। इसके अतिरिक्त कषाय-पाहुड़ की चूर्णि में ऋजुसूत्र नय को द्रव्यार्थिक नय के रूप में बताया गया है। वस्तुतः यह दिगम्बर परम्परा की मान्यता के विपरीत है। दिगम्बर परम्परा में नैगम, संग्रह और व्यवहार नय को द्रव्यार्थिक नय तथा ऋजुसूत्रादि नयों को पर्यायार्थिक नय माना गया है।

कषाय प्राभृत चूर्णि में 'देशोपशमना' का अधिकार श्वेताम्बर ग्रन्थ 'कम्मपयडि' में से जान लेने का निर्देश दिया गया है।[1]

जयधवला में कषाय-पाहुड़ के रचयिता आचार्य गुणधर को तथा यतिवृषभ के गुरु आर्य मंक्षु एवं नागहस्ति को वाचक बताया है। वाचक परम्परा वस्तुतः श्वेताम्बर परम्परा की एक क्रमबद्ध एवं विश्रुत परम्परा मानी गई है। केवल यही नहीं गुणधर, मंक्षु और नागहस्ति ये तीनों आचार्य दिगम्बर परम्परा की किसी भी क्रमबद्ध अथवा अक्रमबद्ध पट्टावली में दृष्टिगोचर नही होते।

इन कतिपय तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में श्वेताम्बर परम्परा के अनेक विद्वानों द्वारा गुणधर को श्वेताम्बर आचार्य तथा उनकी कृति कसाय पाहुड़ को श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ बताया जाता है। वस्तुत षट्- खण्डागम और कषाय-पाहुड़ ये दोनों मूल ग्रन्थ दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य होने योग्य हैं।

कालनिर्णय के सम्बन्ध में गम्भीर भ्रान्ति :-

हरिवंशपुराण, धवला, जयधवला, उत्तर पुराण, तिलोयपन्नत्ती, जंबूद्वीप पण्णत्ती, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार, और नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली आदि दिगम्बर परम्परा के सभी मान्य ग्रन्थों में वीर नि० संवत् ६८३ तक अंग ज्ञान की विद्यमानता का उल्लेख किया गया है। वीर नि. सं. ३४५ में अंतिम दश पूर्वधर

---

[1] जा सा करणोवसामणा सा दुविहा······देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि देसकरणोवसामणा त्तिवि। अपसत्थ उवसामणात्ति वि। एसा कम्मपयडिसु।

(कसाय-पाहुड़ चूर्णि, पृ० ७०७)

आचार्य धर्मसेन के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर पूर्वज्ञान के विच्छिन्न होने का इन सभी ग्रन्थों में उल्लेख है। यहां तक केवल केवलिकाल को छोड़कर दशपूर्वधरों[1] तक की श्रुतपरम्परा की विद्यमानता के सम्बन्ध में उपरोक्त ग्रन्थों के रचयिताओं का मतैक्य है।

इसके पश्चात् एकादशांगधर और आचारांगधर आचार्यों के काल के सम्बन्ध में भी नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अतिरिक्त उपरोक्त सभी ग्रन्थों में यह सर्वसम्मत अभिमत व्यक्त किया गया है कि वीर नि. सं. ५६५ में अंतिम एकादशांगधर कंसार्य के दिवंगत होने पर एकादशांगधरों की परम्परा समाप्त हो गई और वीर निर्वाण सं. ६८३ में अंतिम आचारांगधर लोहार्य का स्वर्गवास होते ही आचारांग भी विच्छिन्न हो गया। इन सभी ग्रन्थों में एक स्वर से यह मान्यता प्रकट की गई है कि एक अंग (आचारांग) धारियों में अंतिम आचार्य लोहार्य हुए और उनके पश्चात् सभी आचार्य पूर्वज्ञान तथा अंगज्ञान के एक देश-धर ही हुए तथा पंचम आरक की समाप्ति पर्यन्त सभी आचार्य पूर्व एवं अंगज्ञान के एक देशधर होंगे। दिगम्बर परम्परा की कतिपय पट्टावलियों में भी उपर्युक्त ग्रन्थों के उपरिलिखित अभिमत की पुष्टि की गई है।[2]

दिगम्बर परम्परा में शताब्दियों से सर्वसम्मत रूपेण चली आ रही इस मान्यता एवं आस्था को ई० सन् १९१३ के "जैन सिद्धान्त भास्कर", भाग १, किरण ४ में छपी नन्दी संघ की (तथाकथित) प्राकृत पट्टावली ने थोड़ा हिला दिया। ई० सन् १९३९ में प्रकाशित धवला, प्रथम भाग की प्रस्तावना में प्रसिद्ध विद्वान् डा. हीरालाल ने गौतम आदि आचार्यों के समय पर विचार करते हुए धवला, जयधवला, हरिवंश पुराण, श्रुतावतार (इन्द्रनन्दीकृत) आदि के एतद्विषयक उल्लेखों को प्रस्तुत करने के पश्चात् नन्दीसंघ की तथाकथित पट्टावली को उद्धृत किया। इस पट्टावली में निर्वाण पश्चात् के ३ केवलियों, ५ श्रुतकेवलियों और ११ अंगधरों का तो वही समय दिया गया है, जो हरिवंश पुराण, तिलोय पण्णत्ती, धवला, जयधवला, उत्तर पुराण, श्रुतावतार आदि में उल्लिखित है। परन्तु अंतिम १० पूर्वधर धर्मसेन के पश्चात् पांच एकादशांगधरों का समय जहां उपर्युक्त प्राचीन ग्रन्थों में २२० वर्ष बताया गया है, वहां नन्दी संघ की कही जाने वाली इस पट्टावली में १२३ वर्ष ही दिया गया है।

जहां धवला आदि उपरिचर्चित सभी ग्रंथों में सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य को एकांगधारी (आचारांगधर) बताते हुए इन चारों का समय समुच्चय रूप से ११८ वर्ष उल्लिखित किया गया है, वहां नन्दी संघ की इस पट्टावली में

---

[1] उत्तरपुराण (पर्व ७६, पृ. ५३७) और पुष्पदन्तकृत महापुराण के अनुसार भी वीर नि. सं० १ से ६४ तक केवलिकाल माना गया है। — सम्पादक

[2] सुभद्रोऽथ यशोभद्रो, भद्रबाहुर्महायशाः।
लोहार्यश्चेति विख्याता, प्रथमांगाब्धिपारगाः ॥१०॥ [illegible]

इन्हें दश, नव एवं आठ अंगधारी[1] बताकर एकादशांगधारियों के काल में से काटे गये ९७ वर्षों को इनके साथ संलग्न करते हुए इन चारों का समय ९७ वर्ष बताया है। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के प्रामाणिक माने जाने वाले सभी ग्रंथों में अन्तिम आचारांग- धर लोहार्य का समय जहां वीर निर्वाण संवत् ६८३ बताया गया है, उसे नन्दी संघ की इस प्राकृत पट्टावली में ११८ वर्ष पीछे की ओर ढकेल कर वीर नि. सं. ५६५ उल्लिखित किया गया है। तदनन्तर लोहार्य के पश्चात् हुए विनयधर आदि ४ आराती मुनियों का समय निर्देश तो दूर नामोल्लेख तक इस पट्टावली में नहीं किया गया है। केवल यही नहीं अपितु दिगम्बर परम्परा के समस्त वाङ्मय की मान्यता से पूर्णतः विपरीत एक अति विलक्षण एवं आश्चर्यजनक उल्लेख के साथ नन्दी संघ की तथाकथित पट्टावली में लोहार्य के पश्चात् अर्हद्वलि, माघनंदी, धरसेन, पुष्पदंत और भूतवली, इन पांच आचार्यों को आचारांगधर बताने के साथ साथ इन पांचों का कुल समय ११८ वर्ष बताया गया है। इस प्रकार अंग ज्ञान के विच्छिन्न होने का समय हरिवंश पुराणादि की मान्यतानुसार वीर नि. सं. ६८३ यथावत् रखते हुए पट्टावलीकार ने सुभद्र, यशोभद्र, भद्रवाहु, और लोहार्य को १०, ९ तथा अष्टांगधर बनाकर वीर नि. सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए लोहार्य का ११८ वर्ष पूर्व, वीर नि. सं. ७८३ के लगभग स्वर्गस्थ हुए आचार्य अर्हद्वलि का वीर नि० सं० ५९३ में दिवंगत होना बताया है। धवला प्रथम भाग की अपनी प्रस्तावना में डॉ० हीरालालजी ने इस पट्टावली की विशेषताओं और दोषों का उल्लेख करने के पश्चात् इसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के संबंध में अपना कोई निश्चित अभिमत व्यक्त नहीं करते हुए लिखा है - "समयाभाव के कारण इस समय हम इसकी और अधिक जांच पड़ताल नहीं कर सकते। किन्तु साधक-वाधक प्रमाणों का संग्रह करके इसका निर्णय किये जाने की आवश्यकता है।"[2]

धवला के उपर्युक्त प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण के सम्पादकीय में डॉ० द्वय श्री हीरालालजी और ए. एन. उपाध्ये ने 'पन्नवणा सूत्र और पट्खण्डागम' में प्रतिपादित विपय तथा अन्य कतिपय साम्यताओं पर अपने वहुमूल्य विचार प्रकट कर विशेप प्रकाश डाला है किन्तु नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली के प्रकाशन से निर्वाणानन्तर हुए प्राचीन आचार्यों के काल के सम्वन्ध में जो भ्रान्त एवं संदिग्ध धारणा उत्पन्न हो गई है, उसके सम्वन्ध में कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं किया है।

यद्यपि डॉ० हीरालालजी ने उक्त प्रस्तावनान्तर्गत अपने निष्कर्प में "नन्दी संघ प्राकृत पट्टावली' की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता विपयक कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है पर हरिवंश पुराणादि में दिये गये वीर नि. सं. १ से ६८३

---

[1] नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली में यह नहीं बताया गया है कि इन चारों आचार्यों में से कौन-कौन से आचार्य कितने-कितने अंगों के ज्ञाता थे। —सम्पादक

[2] धवला, प्रथम भाग की प्रस्तावना, पृ. २५

तक हुए गौतमादि लोहार्यान्त आचार्यों के समुच्चयकाल की तुलना में नन्दी संघ प्राकृत पट्टावलीकार द्वारा प्रत्येक आचार्य के पृथक् पृथक् दिये गये काल को कुछ अधिक विश्वसनीय बताया है।[1] इसके साथ ही हरिवंश पुराण, धवला, श्रुतावतार आदि में उल्लिखित पांच एकादशांगधरों के समुच्चय २२० वर्ष के काल के स्थान पर नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में दिये गये १२३ वर्ष के काल निर्देश का तथा आचारांगधर सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहार्य को दश, नव व आठ अंगधारी बताते हुए शेष बचे ९७ वर्ष के समय को इन चारों में विभक्त किये जाने एवं इन चार आचारांगधरों के स्थान पर अर्हद्बली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन अंगज्ञान के एक देशधरों का आचारांगधरों के रूप में उल्लेख कर शेष ११८ वर्ष का समय इनमें विभक्त किये जाने को एक प्रकार से बुद्धिगम्य अथवा तर्कसंगत बताते हुए डॉ० हीरालालजी ने लिखा है :-

"इस पट्टावली में जो अंग विच्छेद का क्रम और उसकी कालगणना पाई जाती है, वह अन्यत्र की मान्यता के विरुद्ध जाती है। किन्तु उससे अकस्मात् अंगलोप सम्बन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है और जो पांच आचार्यों का २२० वर्ष का काल असंभव नहीं तो दुःशक्य जंचता है। उसका समाधान हो जाता है। पर यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि श्रुत परम्परा के संबंध में हरिवंश पुराण के कर्त्ता से लगाकर श्रुतावतार के कर्त्ता इन्द्रनन्दी तक के सब आचार्यों ने धोखा खाया है और उन्हें वे प्रमाण उपलब्ध नहीं थे जो इस पट्टावली के कर्त्ता को थे।"

यद्यपि डॉ० हीरालालजी ने अपनी उक्त प्रस्तावना में इस प्रश्न को अनिर्णीत ही छोड़ दिया है कि नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली विश्वसनीय एवं प्रामाणिक है अथवा नहीं तथापि उनकी प्रस्तावना के उपरिलिखित दो उद्धरणों से नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली द्वारा प्रकाश में आये, नये एवं अति विलक्षण अभिमत को बल मिला। पं० जुगलकिशोरजी द्वारा आचार्य अर्हद्बलि का समय वीर नि० सं० ७१३ अनुमानित किया गया है[2] पर नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अभिमत को मान्य कर लिये जाने पर इनका समय इससे १२० वर्ष पूर्व अर्थात् वीर नि० सं० ५९३ ठहरता है।[3] परम श्रद्धेय अर्हद्बलि आदि आचार्य नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित मान्यतानुसार अधिक प्राचीन सिद्ध होते हैं, इस दृष्टि से आत्यन्तिक धर्मानुरागवशात् प्राकृत पट्टावली को मान्यता केवल

---

[1] "जहां अनेक क्रमागत व्यक्तियों का समय समष्टि रूप से दिया जाता है, वहां बहुधा ऐसी भूल हो जाया करती है। किन्तु जहां एक एक व्यक्ति का काल निर्दिष्ट किया जाता है, वहां ऐसी भूल की संभावना बहुत कम हो जाती है .... प्रस्तुत परम्परा में उक्त २२० वर्षों के काल में ऐसा ही भ्रम हुआ प्रतीत होता है।"

[धवला, भाग १ (द्वितीय संस्करण) की प्रस्तावना, पृ० [illegible]]

[2] समन्तभद्र, (पं० जुगलकिशोर मुख्तार) पृ० ६१।

[3] नंदीसंघ की प्राकृत पट्टावली गा० सं० १५ और १६।

इन्हें दश, नव एवं आठ अंगधारी[1] बताकर एकादशांगधारियों के काल में से काटे गये ९७ वर्षों को इनके साथ संलग्न करते हुए इन चारों का समय ९७ वर्ष बताया है। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के प्रामाणिक माने जाने वाले सभी ग्रंथों में अन्तिम आचारांग- धर लोहार्य का समय जहां वीर निर्वाण संवत् ६८३ बताया गया है, उसे नन्दी संघ की इस प्राकृत पट्टावली में ११८ वर्ष पीछे की ओर ढकेल कर वीर नि. सं. ५६५ उल्लिखित किया गया है। तदनन्तर लोहार्य के पश्चात् हुए विनयधर आदि ४ आराती मुनियों का समय निर्देश तो दूर नामोल्लेख तक इस पट्टावली में नहीं किया गया है। केवल यही नहीं अपितु दिगम्बर परम्परा के समस्त वाङ्मय की मान्यता से पूर्णतः विपरीत एक अति विलक्षण एवं आश्चर्यजनक उल्लेख के साथ नन्दी संघ की तथाकथित पट्टावली में लोहार्य के पश्चात् अर्हद्वलि, माघनंदी, धरसेन, पुष्पदंत और भूतवली, इन पांच आचार्यों को आचारांगधर बताने के साथ साथ इन पांचों का कुल समय ११८ वर्ष बताया गया है। इस प्रकार अंग ज्ञान के विच्छिन्न होने का समय हरिवंश पुराणादि की मान्यतानुसार वीर नि. सं. ६८३ यथावत् रखते हुए पट्टावलीकार ने सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु, और लोहार्य को १०, ९ तथा अष्टांगधर बनाकर वीर नि. सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए लोहार्य का ११८ वर्ष पूर्व, वीर नि. सं. ७८३ के लगभग स्वर्गस्थ हुए आचार्य अर्हद्वलि का वीर नि० सं० ५९३ में दिवंगत होना बताया है। धवला प्रथम भाग की अपनी प्रस्तावना में डॉ० हीरालालजी ने इस पट्टावली की विशेषताओं और दोषों का उल्लेख करने के पश्चात् इसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के संबंध में अपना कोई निश्चित अभिमत व्यक्त नहीं करते हुए लिखा है – "समयाभाव के कारण इस समय हम इसकी ओर अधिक जांच पड़ताल नहीं कर सकते। किन्तु साधक–बाधक प्रमाणों का संग्रह करके इसका निर्णय किये जाने की आवश्यकता है।"[2]

धवला के उपर्युक्त प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण के सम्पादकीय में डॉ० द्वय श्री हीरालालजी और ए. एन. उपाध्ये ने 'पन्नवणा सूत्र और षट्खण्डागम' में प्रतिपादित विषय तथा अन्य कतिपय साम्यताओं पर अपने बहुमूल्य विचार प्रकट कर विशेष प्रकाश डाला है किन्तु नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली के प्रकाशन से निर्वाणानन्तर हुए प्राचीन आचार्यों के काल के सम्बन्ध में जो भ्रान्त एवं संदिग्ध धारणा उत्पन्न हो गई है, उसके सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं किया है।

यद्यपि डॉ० हीरालालजी ने उक्त प्रस्तावनान्तर्गत अपने निष्कर्ष में "नन्दी संघ प्राकृत पट्टावली' की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता विषयक कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है पर हरिवंश पुराणादि में दिये गये वीर नि. सं. १ से ६८३

---

[1] नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली में यह नहीं बताया गया है कि इन चारों आचार्यों में से कौन-कौन से आचार्य कितने-कितने अंगों के ज्ञाता थे। — सम्पादक

[2] धवला, प्रथम भाग की प्रस्तावना, पृ. २५

तक हुए गौतमादि लोहार्यान्त आचार्यों के समुच्चयकाल की तुलना में नन्दी संघ प्राकृत पट्टावलीकार द्वारा प्रत्येक आचार्य के पृथक् पृथक् दिये गये काल को कुछ अधिक विश्वसनीय बताया है।[1] इसके साथ ही हरिवंश पुराण, धवला, श्रुताव-तार आदि में उल्लिखित पांच एकादशांगधरों के समुच्चय २२० वर्ष के काल के स्थान पर नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में दिये गये १२३ वर्ष के काल निर्देश का तथा आचारांगधर सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहार्य को दश, नव व आठ अंगधारी बताते हुए शेष बचे ९७ वर्ष के समय को इन चारों में विभक्त किये जाने एवं इन चार आचारांगधरों के स्थान पर अर्हद्वली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन अंगज्ञान के एक देशधरों का आचारांगधरों के रूप में उल्लेख कर शेष ११८ वर्ष का समय इनमें विभक्त किये जाने को एक प्रकार से बुद्धिगम्य अथवा तर्कसंगत बताते हुए डॉ० हीरालालजी ने लिखा है :–

"इस पट्टावली में जो अंग विच्छेद का क्रम और उसकी कालगणना पाई जाती है, वह अन्यत्र की मान्यता के विरुद्ध जाती है। किन्तु उससे अकस्मात् अंगलोप सम्बन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है और जो पांच आचार्यों का २२० वर्ष का काल असंभव नहीं तो दुःशक्य जंचता है। उसका समाधान हो जाता है। पर यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि श्रुत परम्परा के संबंध में हरिवंश पुराण के कर्त्ता से लगाकर श्रुतावतार के कर्त्ता इन्द्रनन्दी तक के सब आचार्यों ने धोखा खाया है और उन्हें वे प्रमाण उपलब्ध नहीं थे जो इस पट्टावली के कर्त्ता को थे।"

यद्यपि डॉ० हीरालालजी ने अपनी उक्त प्रस्तावना में इस प्रश्न को अनिर्णीत ही छोड़ दिया है कि नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली विश्वसनीय एवं प्रामाणिक है अथवा नहीं तथापि उनकी प्रस्तावना के उपरिलिखित दो उद्धरणों से नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली द्वारा प्रकाश में आये, नये एवं अति विलक्षण अभिमत को बल मिला। पं० जुगलकिशोरजी द्वारा आचार्य अर्हद्बलि का समय वीर नि० सं० ७१३ अनुमानित किया गया है[2] पर नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अभिमत को मान्य कर लिये जाने पर इनका समय उनसे १२० वर्ष पूर्व अर्थात् वीर नि० सं० ५९३ ठहरता है।[3] परम श्रद्धेय अर्हद्बलि आदि आचार्य नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित मान्यतानुसार अधिक प्राचीन सिद्ध होते हैं, इस दृष्टि से आत्यन्तिक धर्मानुरागवशात् प्राकृत पट्टावली की मान्यता केवल

---

[1] "जहां अनेक क्रमागत व्यक्तियों का समय समष्टि रूप में दिया जाता है, वहां बहुधा ऐसी भूल हो जाया करती है। किन्तु जहां एक एक व्यक्ति का काल निर्दिष्ट किया जाता है, वहां ऐसी भूल की संभावना बहुत कम हो जाती है .... प्रस्तुत परम्परा के इस २२० वर्षों के काल में ऐसा ही भ्रम हुआ प्रतीत होता है।"

[धवला, भाग १ (द्वितीय संस्करण) की प्रस्तावना, पृ. [illegible]]

[2] समन्तभद्र, (पं० जुगलकिशोर मुख्तार) पृ० [illegible]।

[3] नंदीसंघ की प्राकृत पट्टावली गा० सं० [illegible] और [illegible]।

साधारण जन-मानस में ही नहीं अपितु चोटी के विद्वानों के हृदय में भी घर करने लगी। क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी जैसे बहुश्रुत एवं अध्ययनशील विद्वान् ने भी अति श्लाघनीय परिश्रम से निर्मित अपने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में डॉ० हीरालालजी के अपूर्ण अभिमत को – ४ आचार्य परम्परा – इस शीर्षक के नीचे – दृष्टि नं० २ (धवला, भाग १, प्रस्तावना २४/ नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली – इस पंक्ति द्वारा एक मान्यता के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया है।[1]

छद्मस्थ द्वारा भूल संभव है, इस संदर्भ में तथ्यातथ्य की गहराई में उतरे विना डॉ० हीरालालजी द्वारा प्रकट किये गये अभिमत को, जिस पर स्वयं उन्होंने अपना निर्णय और अधिक तथ्यों की गवेषणा के पश्चात् ही देने का स्पष्टतः उल्लेख किया है, प्राचीन आचार्यों की मान्यता के समकक्ष ही नहीं अपितु उससे भी सबल मान्यता के रूप में प्रतिष्ठापित करते हुए वर्णी जी ने निम्न नोट आधिकारिक भाषा में लिख दिया है –

"नोट – पहली दृष्टि में लोहाचार्य तक ही ६८३ वर्ष पूरे कर दिये, परन्तु दूसरी दृष्टि में लोहाचार्य तक ५६५ वर्ष ही हुए हैं। शेष ११८ वर्षों में अन्य ६ आचार्यों का उल्लेख किया है, जो आगे बताया जाता है। इन दोनों में प्रथम (द्वितीय)[2] दृष्टि ही युक्त है। इसके दो कारण हैं, एक २२० वर्ष में ५ आचार्यों का होना दुःशक्य है और दूसरे ६८३ वर्ष पश्चात् षट्खण्डागम की रचना प्रसिद्ध है, उसकी संगति भी इसी मान्यता से बैठती है।"[3]

वर्णीजी ने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष – प्रथम भाग के पृष्ठ ३३१ पर जो आचार्य-परम्परा की समयसारिणी दी है, उसमें गौतम से लोहाचार्य का वीर नि० सं० १ से ६८३ तक के काल का विवरण देने के पश्चात् डॉ० हीरालालजी द्वारा अर्द्ध-समर्थित नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में लिखे गये गौतमादि लोहाचार्यान्त आचार्यों के वीर नि० सं० १ से ५६५ तक के काल का उल्लेख किया है। किन्तु इस चार्ट के पश्चात् पृष्ठ ३३२ पर दी गई लोहाचार्य से भूतबली तक के काल की सारिणी, पृष्ठ ३३५ से ३३९ पर – "४ समयानुक्रम से आचार्यों की सूची" शीर्षक के नीचे दी गई सारिणी, पृष्ठ ३४५ पर दी गई पुन्नाट संघ के आचार्यों की काल निर्देश सहित सूची तथा पृष्ठ ३४८ से ३५५ पर – ६ आगम परम्परा, समयानुक्रम से आगम की सूची – नामक शीर्षक के नीचे दी गई सारिणी में एक मात्र नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली को ही मान्यता प्रदान कर अर्हद्बली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि का समय ५६५ से ६८३ के बीच का देते हुए इनसे पश्चाद्वर्ती आचार्यों का भी उनके वास्तविक काल से लगभग १६० वर्ष पूर्व होने का उल्लेख किया है।

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १, पृ० ३३१।

[2] यहां "प्रथम दृष्टि" यह संभवतः प्रेस की गलती से छप गया है। वर्णीजी का अभिप्राय नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित द्वितीय दृष्टि से है। – सम्पादक

[3] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १, पृ० ३३१।

हरिवंश पुराण में दी गई आचार्य परम्परा के अनुसार अर्हद्वलि का समय वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ अथवा ७६१ के बीच का सिद्ध होता है किन्तु वर्णीजी ने आज से ११६० वर्ष पूर्व के लिखित पुष्ट प्रमाण की अपेक्षा भी डॉ० हीरालालजी द्वारा केवल अनुमान के आधार पर अर्द्धसमर्थित नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित अर्हद्वलि के वीर नि० सं० ५६५ से ५६३ तक के काल को प्रश्रय देकर पूर्ण प्रामाणिक ठहराने का प्रयास करते हुए जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में उस ही का उल्लेख किया है।[1] हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने लोहाचार्य को अंतिम आचारांगधर बताते हुए उनका अंतिम समय ६८३ और स्वयं द्वारा हरिवंश पुराण की रचना का काल शक सं० ७०५ तदनुसार वीर नि० सं० १३१० उल्लिखित किया है। पर वर्णीजी ने पुन्नाट संघ की आचार्य परम्परा के आचार्यों की जो सूची दी है, उसमें हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन का तो वही समय (शक सं० ७०५) दिया है, जो हरिवंश में उल्लिखित है किन्तु लोहाचार्य का समय हरिवंशपुराण के उल्लेखानुसार वीर नि० सं० ६८३ न देकर नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार वीर नि० सं० ५१५ से ५६५ दिया है।

कतिपय आचार्यों तथा उनकी कृतियों को, उनके वास्तविक समय से दो-ढाई सौ वर्ष पूर्वकालीन सिद्ध करने के प्रयास का ही प्रतिफल है कि प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेखों की प्रामाणिकता को संदेहास्पद बता नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली को सर्वाधिक प्रश्रय देकर उसे प्रामाणिकता का जामा पहनाने का असफल प्रयास किया जा रहा है। वस्तुतः इस प्रकार की प्रवृत्ति इतिहास की गरिमा के लिये बड़ी घातक सिद्ध हो सकती है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के उल्लेखों को एक मान्यता के रूप में स्थान दे दिया गया है। यह प्रवृत्ति आगे न बढ़ने पाये और यहीं समाप्त कर दी जाय इस दृष्टि से यहां इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विशेष प्रकाश डाला जा रहा है। वास्तविक स्थिति को समझने के लिये सर्व प्रथम धवला तिलोयपण्णत्ती, उत्तर पुराण, हरिवंश पुराण, श्रुतावतार आदि प्राचीन ग्रन्थों के उन उल्लेखों को यहां प्रस्तुत करना आवश्यक है, जो कि परम्परागत मान्यता के मूल आधार हैं।

आचार्य वीरसेन (शक सं० ७३८) ने दिगम्बर परम्परा के परम मान्य षट्खण्डागम-वेदना खण्ड की टीका में वीर नि० सं० १ से ६८३ तक आचार्यों के काल एवं क्रम का निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया है :-

"भगवान् महावीर के मुक्त होने पर गणधर गौतम केवलज्ञानी हुए। १२ वर्ष तक केवली रूप में विचरण कर वे भी मुक्त हुए। उनके पश्चात् आचार्य लोहार्य केवलज्ञान के धारक हुए। वे भी १२ वर्ष तक केवली रूप में विहार कर निर्वाण को प्राप्त हुए। ३८ वर्ष तक केवल विहार से विचरण कर आर्य जम्बू भी सिद्ध हुए। आर्य जम्बू के मुक्त होने पर केवलज्ञान परम्परा का भरत क्षेत्र में

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भा० १, पृ० ३४५

व्युच्छेद हो गया। इस प्रकार वीर निर्वाण के ६२ वर्ष पश्चात् भरत क्षेत्र से केवलज्ञान रूपी सूर्य अस्त हो गया। आर्य जम्बू के निर्वाण के पश्चात् सकल श्रुतज्ञान की परम्परा को धारण करने वाले (द्वादशांग एवं चतुर्दश पूर्व-धर) आचार्य विष्णु हुए। उनके पश्चात् चतुर्दश पूर्वज्ञान की अविच्छिन्न सन्तान परम्परा के रूप में क्रमशः नन्दि, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये सकल श्रुत (द्वादशांगी) के धारक हुए। इन पांच श्रुतकेवलियों के काल का योग १०० वर्ष रहा। भद्रबाहु के स्वर्ग गमनानन्तर भरत क्षेत्र से श्रुतज्ञान रूपी चन्द्र पूर्णावस्था में नहीं रहा और भरत क्षेत्र अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण हुआ। भद्रबाहु के पश्चात् ११ अंगों तथा विद्यानुवाद पर्यन्त दृष्टिवाद अंग के धारक (एकादशांग तथा दश पूर्वधर) विशाखार्य हुए। विद्यानुवाद के आगे के ४ पूर्व, उनका एक देश अवशिष्ट रहने के कारण व्युच्छिन्न हो गये। इस विकलावस्था में श्रुतज्ञान विशाखाचार्य से क्रमशः प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन–इन आचार्यों की परम्परा से १८३ वर्ष तक रह कर व्युच्छिन्न हो गया। धर्मसेन के स्वर्गस्थ होने के साथ ही दृष्टिवाद रूपी प्रकाश के नष्ट हो जाने पर ११ अंगों एवं दृष्टिवाद के एक देश के धारक आचार्य नक्षत्र हुए। वह एकादशांग रूप श्रुतज्ञान जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस – इन (५) आचार्यों की परम्परा से २२० वर्ष पर्यन्त रहकर व्युच्छिन्न हो गया। कंसाचार्य के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर ११ अंग रूप प्रकाश के व्युच्छिन्न हो जाने पर सुभद्राचार्य आचारांग के तथा शेष अंगों एवं पूर्वों के एक देश के धारक हुए। आचारांग भी सुभद्राचार्य से क्रमशः यशोभद्र यशोवाहु और लोहाचार्य की परम्परा से ११८ वर्ष रहकर व्युच्छिन्न हो गया। इस (गौतम से लेकर अंतिम आचारांगधर लोहार्य तक) सब काल का योग (६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३) छह सौ तेरासी वर्ष होता है।[1]

धवलाकार ने आगे चलकर स्पष्ट शब्दों में कहा है – "लोहाइरिये सग्गलोगंगदे आयार दिवायरो अत्थमिओ। एवं वारससु दिणयरेसु भरहखेतम्मि अत्थमिएसु सेसाइरिया सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसभूद पेज्जदोस-महाकम्मपडिपाहुडादीणं धारया जादा।"[2] अर्थात् लोहार्य के स्वर्गस्थ होने पर आचारांग रूपी सूर्य अस्त हो गया। इस प्रकार भरत क्षेत्र से १२ सूर्यों के अस्त हो जाने पर शेष आचार्य सब अंगों तथा पूर्वों के एकदेशभूत 'पेज्जदोस' और 'महाकम्मपयडिपाहुड' आदिकों के धारक हुए।

---

[1] महदिमहावीरे णिव्वुदे संते केवलणाणसंताणहरो गोदम सामी जादो...............
...........सुभद्दाइरियो आयारंगस्स सेसंगपुव्वाणमेगदेसस्स य धारओ जादो। तदो आयारंगमवि जसभद्द-जसबाहु-लोहाइरियपरंपराए अट्ठारहोत्तरवरिससदमागंतूण वोच्छिण्णं। सव्वकाल समासो तेयासीदीए अहियछस्सदमेत्तो।
(षट्खण्डागम, वेदनाखण्ड, धवलाटीका युक्त, भाग ९, पृ० १३०-१३१)

[2] वही, पृ० १३३

दिगम्बर परम्परा के प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थ तिलोय पण्णत्ती में भी वीर नि० सं० १ से ६८३ तक हुए आचार्यों के तथा श्रुतपरम्परा के काल का जो विवरण दिया गया है वह उपरिलिखित धवला के विवरण से पर्याप्त रूपेण मिलता है। तिलोय पण्णत्ती में भी लोहार्य को अंतिम आचारांगधर बताते हुए वीर नि० सं० ६८३ में उनका स्वर्गस्थ होना बताया गया है और यहां स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि लोहार्य के पश्चात् भरत क्षेत्र में कोई आचारांगधर नहीं होगा ।[1]

इन्द्रनन्दी ने भी अपने ग्रन्थ श्रुतावतार में वीर नि० सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए अंतिम आचारांगधर लोहार्य और उनके पश्चाद्वर्ती कतिपय आचार्यों का नामोल्लेख करते हुए कुछ ऐतिहासिक घटनाओं पर निम्नलिखित रूप में प्रकाश डाला है :—

भगवान् महावीर का निर्वाण होते ही तत्क्षण गौतम गणधर को केवल ज्ञान हुआ और वे १२ वर्ष केवली रह कर मुक्त हुए। गौतम का निर्वाण होते ही सुधर्म मुनि ने केवलज्ञान प्राप्त किया। सुधर्म भी १२ वर्ष केवली के रूप में विचरण कर सिद्ध हुए। सुधर्म के निर्वाण के समय ही जम्बू को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे ३८ वर्ष तक केवली रूप से विचरण कर मुक्त हुए। ये तीनों ही अनुबद्ध केवली थे। जम्बू के मुक्त होते ही कैवल्य सूर्य भरत क्षेत्र से अस्त हो गया। (तीनों केवलियों के काल का योग १२+१२+३८=६२)

जंबू के पश्चात् विष्णु, नन्दि, अपराजित गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये ५ श्रुतकेवली हुए इन पांचों श्रुतकेवलियों का सम्मिलित काल १०० वर्ष रहा।

श्रुतकेवलियों का १०० वर्ष का काल व्यतीत हो जाने पर क्रमशः विशाख-दत्त, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजयसेन, बुद्धिमान्,

---

[1] बासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवंताणं ।
धम्मपयट्टणकाले, परिमाणं पिंडरूवेणं ॥१४७८॥
णंदी य णंदिमित्तो बिदिओ अवराजिदो तइज्जो य ।
गोवद्धणो चउत्थो, पंचमओ भद्दबाहुत्ति ॥१४८२॥
पंच इमे पुरिसवरा, चउदस पुव्वी जगम्मि विक्खादा ।......॥१४८३॥
पंचाण मेलिदाणं कालपमाणं हवेदि वाससदं ।...... ॥१४८४॥
.........दसपुव्वधरा इमे सुविक्खादा ।
पारंपरिओवगदो, तेसीदिसदं च ताण वासाणि ॥१४८६॥
—एक्कारसंगधारी, पंच इमे वीर तित्थम्मि ॥१४८८॥
दोण्णि सया वीसजुदा, वासाणं ताण पिंड परिमाणं ।......॥१४८९॥
पढमो सुभद्दणामो, जसभद्दो तह य होदि जसबाहू ।
तुरिओ य लोहणामो, एदे आयार अंगधरा ॥१४९०॥
सेसेक्करसंगाणं चोद्दसपुव्वाणमेक्कदेसधरा ।
एक्कसयं अट्ठारसवासजुदं ताण परिमाणं ॥१४९१॥
तेसु अदीदेसु तदा, आचारधरा ण होंति भरहम्मि
गोदममुणिपहुदीणं, वासाणं (६८३) छस्सदाणि तेसीदि ॥१४९२॥
[तिलोयपण्णत्ती, ४ महाधिकार]

पुन्नाट संघ के आचार्य जिनसेन ने वीर नि० सं० १ से १३१० तक की आचार्य परम्परा की पट्टावली दी है। आचार्य परम्परा की इतनी लम्बी अवधि की क्रमबद्ध एवं अविच्छिन्न पट्टावली दिगम्बर परम्परा में अन्यत्र देखने में नहीं आती। इस पट्टावली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्द्रभूति गौतम से लेकर अंतिम आचारांगधर लोहार्य तक ६८३ वर्ष की आचार्य परम्परा का उल्लेख करने के पश्चात् लोहाचार्य के अनन्तर संघ विभाजन से पूर्व के आचार्यों के क्रमबद्ध नाम देकर तत्पश्चात् संघ विभाजन के अनन्तर हुए पुन्नाटसंघ के आचार्यों का अनुक्रमशः नामोल्लेख किया है। इस पट्टावली के महत्त्व को अभी तक आंका नहीं गया है। यदि यह कहा जाय तो भी अनुचित नहीं होगा कि इस पट्टावली की आज दिन तक विद्वानों द्वारा उपेक्षा की जाती रही है।

नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के माध्यम से आचार्यों के काल के सम्बन्ध में जो एक जटिल समस्या उत्पन्न कर दी गई है, उसका समुचित रूपेण सदा के लिए समाधान करने में यह पट्टावली बड़ी सहायक सिद्ध होगी, अतः इसे यहां यथावत् दिया जा रहा है :–

हरिवंश पुराणान्तर्गत पट्टावली

त्रयः क्रमात्केवलिनो जिनात्परे, द्विषष्टिवर्षान्तरभाविनोऽभवन्।
ततः परे पंच समस्तपूर्विणस्तपोधना वर्षशतान्तरे गताः ॥२२॥
त्र्यशीतिके वर्षशते तु रूपयुक्, दशैव गीता दशपूर्विणः शते।
द्वये च विंशेऽङ्गभृतोऽपि पंच ते, शते च साष्टादशके चतुर्मुनिः ॥२३॥
गुरुः सुभद्रो जयभद्रनामकः, परो यशोबाहुरनन्तरस्ततः।
महार्हलोहार्यगुरुश्च ये दधुः, प्रसिद्धमाचारमहाङ्गमत्र ते ॥२४॥

इसी तरह अपभ्रंश भाषा के लब्धप्रतिष्ठ कवि पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में वीर निर्वाण के पश्चात् हुए केवलियों, श्रुतकेवलियों, दशपूर्वधरों, एकादशांगधरों तथा एकांगधरों का उपरिवर्णित काल बताते हुए लोहाचार्य को अंतिम आचारांगधर बताया है।[1]

इस प्रकार धवला, तिलोयपण्णत्ती, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार, ब्रह्म हेमचन्द्र कृत श्रुतस्कन्ध, उत्तर पुराण, जम्बूद्वीप पण्णत्ती के अन्तर्गत दी हुई श्रुतधर पट्टावली और हरिवंश पुराण में वीर नि० सं० १ से ६८३ तक हुए इन्द्रभूति गौतम से लेकर अंतिम आचारांगधर लोहार्य तक आचार्यों का काल तथा क्रम सर्वसम्मत रूपेण एक समान दिया गया है। गौतम से लोहार्य तक सभी आचार्यों के काल अथवा क्रम के सम्बन्ध में उपरिवर्णित सभी ग्रन्थकार एक मत हैं। कहीं किसी का किंचितमात्र भी मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

दिगम्बर परम्परा के उपरिलिखित प्राचीन एवं प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थों के स्पष्ट उल्लेख के उपरान्त भी आचारांगधर लोहाचार्य का काल वीर नि०

---

[1] महापुराण (पुष्पदन्त), सन्धि १००, पृ० २७४

सं० ५६५ अनुमानित करने की मान्यता का एक मात्र आधार नन्दि आम्नाय की प्राकृत पट्टावली है। इस पट्टावली के प्रारम्भ के श्लोकों एवं पट्टावली की गाथाओं पर भाषा, शब्द, भाव आदि की दृष्टि से विचार करने पर स्वतः ही यह प्रकट हो जाता है कि न तो यह कोई उच्च कोटि के विद्वान् की ही कृति है और न अति प्राचीन ही। इस पट्टावली के प्रथम श्लोक के तृतीय एवं चतुर्थ चरण तथा तृतीय श्लोक को पढते ही साधारण से साधारण भाषाविद् पर भी सहज ही प्रकट हो जाता है कि यह पट्टावली अति स्वल्प भाषाबोध वाले किसी साधारण रचनाकार की सामान्य कृति है। इतना सब कुछ होते हुए भी प्राचीन पुराणों एवं तिलोय पण्णत्ती जैसे माने हुए ग्रन्थ से भिन्न मान्यता की जननी होने के कारण इस पट्टावली का बहुत ही बड़ा महत्व है। इतिहास में अभिरुचि रखने वाले विज्ञों के विचारार्थ इस पट्टावली को यहां दिया जा रहा है:

नन्दि आम्नाय की पट्टावली

श्री त्रैलोक्याधिपं नत्वा, स्मृत्वा सद्गुरुभारतीम्।
वक्ष्ये पट्टावलीं रम्यां मूल संघ गणाधिपाम् ॥१॥
श्री मूलसंघ प्रवरे, नन्द्याम्नाये मनोहरे।
बलात्कार गणोत्तंसे, गच्छे सारस्वतीयके ॥२॥
कुन्दकुन्दान्वये श्रेष्ठमुत्तमं श्रीगणाधिपं।
तमेवात्र प्रवक्ष्यामि, श्रूयतां सज्जना जनाः ॥३॥

पट्टावली:

अंतिम-जिण-णिव्वाणे, केवलणाणी य गोयम मुणिंदो।
बारहवासे य गये सुधम्मसामी य संजादो ॥१॥
तह बारह वासे पुण संजादो जंबुसामि मुणिणाहो।
अठतीसवास रहियो, केवलणाणी य उक्किट्ठो ॥२॥
वासट्ठी-केवलवासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जम्बू य।
बारह बारह दो जण, तिय दुगहीणं च चालीसं ॥३॥
सुयकेवलि पंच जणा वासट्ठि वासे गदे सुसंजादा।
पढमं चउदहवासं विण्हुकुमारं मुणेयव्वं ॥४॥
नंदिमित्त वास सोलह तिय अपराजिय वास वावीसं।
इगहीण वीसवासं, गोवद्धण भद्दबाहु गुणतीसं ॥५॥
सदसुय केवलणाणी, पंच जणा विण्हु णंदिमित्तो य।
अपराजिय गोवद्धण तह भद्दबाहु य संजादा ॥६॥
सद वासट्ठि सुवासे गए सु-उप्पण्ण दस सुपुव्वहरा।
सद-तिरासि वासाणि य एगादस मुणिवरा जादा ॥७॥
आयरिय विसाखपोट्ठल खत्तिय जयसेण णागसेण मुणी।
सिद्धत्थ धित्ति विजयं बुद्धिलिंग देव धम्मसेणं ॥८॥

दह उगणीस य सत्तर, इकवीस अट्ठारह सत्तर।
अट्ठारह तेरह वीस चउदह चोदय (सोडस) कमेणेयं ॥९॥
अंतिम जिण णिव्वाणे, तियसय-पण-चालवास जादेसु।
एगादहंगधारिय पंचजणा मुणिवरा जादा ॥१०॥
नक्खत्तो जयपालग पंडव ध्रुवसेन कंस आयरिया।
अठारह वीस-वासं गुणचालं चोद वत्तीसं ॥११॥
सद तेवीस वासे, एगादह अंगधरा जादा।
वासं सत्ताणवदिय, दसंग नव अंग अट्ठधरा ॥१२॥
सुभद्दं च जसोभद्दं, भद्दबाहु कमेण च।
लोहाचय्य मुणीसं च, कहियं च जिणागमे ॥१३॥
छह अट्ठारह वासे तेवीस वावण (पणास) वास मुणि णाहं।
दस णव अट्ठंगधरा, वास दुसदवीस सधेसु ॥१४॥
पंचसये पणसठे, अंतिम-जिण-समय जादेसु।
उप्पणा पंचजणा, इयंगधारी मुणेयव्वा ॥१५॥
अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदवली।
अडवीसं इगवीस उगणीसं, तीस वीस वास पुणो ॥१६॥
इगसय-अठार-वासे, इयंगधारी य मुणिवरा जादा।
छ सय तिरासिय वासे णिव्वाणा अंगछित्तिकहिय जिणे ॥१७॥
सत्तरि-चउ-सद युतो, जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।
अठ वरस वाललीला सोडस वासेहि भम्मिए देसे ॥१८॥
पणरस वासे रज्जं, कुणंति मिच्छोवदेससंयुत्तो।
चालीस वरस जिणवर-धम्मं पालीय सुरपयं लहियं ॥१९॥

इस पट्टावली के अनुसार वीर के पश्चात् की आचार्य – कालगणना इस प्रकार आती है:

वीर निर्वाण के पश्चात्

१. गौतम	केवली	१२
२. सुधर्म	,,	१२
३. जम्बू स्वामी	,,	३८
		६२
४. विष्णु	श्रुतकेवली	१४
५. नन्दिमित्र	,,	१६
६. अपराजित	,,	२२
७. गोवर्द्धन	,,	१९
८. भद्रबाहु	,,	२९
		१००
९. विशाखाचार्य	दश पूर्वधर	१०
१०. प्रोष्ठिल	,,	१९
११. क्षत्रिय	,,	१७
१२. जयसेन	,,	२१
१३. नागसेन	,,	१८
१४. सिद्धार्थ	,,	१७
१५. धृतिषेण	,,	१८
१६. विजय	,,	१३
१७. बुद्धिलिंग	,,	२०
१८. देव	,,	१४

१९. धर्मसेन दश पूर्वधर १४ (१६)

योग १८१ (१८३)

२०. नक्षत्र ११ अंगधारी १८
२१. जयपाल „ २०
२२. पाण्डव „ ३९
२३. ध्रुवसेन „ १४
२४. कंस „ ३२

योग १२३

२५. सुभद्र १०,९,८ अंगधारी ६
२६. यशोभद्र १०,९ व ८ अंगधारी १८
२७. भद्रबाहु (२) „ २३
२८. लोहाचार्य „ ५२ (५०)

योग ९९ (९७)

२९. अर्हद्बलि १ अंगधर २८ वर्ष
३०. माघनन्दि „ २१
३१. धरसेन „ १९
३२. पुष्पदंत „ ३०
३३. भूतबलि „ २०

योग ११८

पूर्ण योग ६२+१००+१८३+१२३+९७+११८=६८३

हरिवंशपुराण, श्रुतावतार और नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली – इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य सभी उपर्युक्त ग्रन्थों में ग्रन्थकारों ने आर्य लोहाचार्य तक समाप्त हुए वीर नि० के ६८३ वर्षों के पश्चात् न तो आचार्यों का नामनिर्देश ही किया है और न कालनिर्देश ही।

इन्द्रनन्दि द्वारा श्रुतावतार के श्लोक संख्या ७४, ७८, ७९, ८१ और ८४ में 'ततः' शब्द का प्रयोग पूर्वापर अनुक्रम बताने के लिये किया गया है। 'ततः' शब्द का स्वतः सिद्ध सीधा सा अर्थ है – उसके पश्चात्। उपरिचर्चित श्लोकों में भी 'ततः' (तदनन्तरम्) शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है कि पूर्ववर्णित आचार्य के पश्चात् अमुक-अमुक आचार्य हुए, पूर्वचर्चित श्रुतपरम्परा के अनन्तर अमुक श्रुतपरम्परा का अस्तित्व रहा और इन इन ऐतिहासिक घटनाओं के घटित होने के पश्चात् ये ऐतिहासिक घटनाएं घटित हुईं।

वीर निर्वाण सं० १ से ६८३ वर्षों के सुदीर्घकाल में हुए गौतमादि लोहार्यान्त आचार्यों एवं केवली, श्रुतकेवली, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और आचारांगधारी श्रुत-परम्पराओं का परिचय देने के पश्चात् इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में पुनः 'ततः' शब्द के प्रयोग के साथ अंग-पूर्व के देशधर आचार्यों का अनुक्रम निम्नलिखित रूप में दिया है :–

विनयधरः श्रीदत्तः, शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते ।
आरातीया यतयस्ततोऽभवन्नंगपूर्वदेशधराः ॥८४॥
सर्वांगपूर्वदेशैकदेशवित्पूर्वदेशमध्यगते ।
श्रीपुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्बल्याख्यः ॥८५॥

अर्थात् – ततः तदनन्तरं (अंतिम आचारांगधर लोहार्य के पश्चात्) विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त नाम के चार (४) आरातीय मुनि हुए

के एक देश के धारक हुए। ततः – अर्हद्दत्त के पश्चात् पूर्वदेश के मध्यभाग में स्थित श्रीपुण्ड्रवर्धनपुर में सब अंगों एवं पूर्वों के देशधर अर्हद्बलि नामक मुनि हुए।

इन्द्रनन्दि ने इस स्थल पर एक श्लोक से अर्हद्बलि के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है – "वे अर्हद्बलि जिनवाणी के धारण और प्रसारण के विशुद्ध अतिशय से युक्त एवं सत् – विमल क्रिया (साध्वाचार) के पालन में सदा उद्यत रहते थे। वे अष्टांग निमित्त के ज्ञाता तथा सन्धान, अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ थे।"

अर्हद्बलि की महिमा का वर्णन करने के पश्चात् संघविभाजन का उल्लेख करते हुए श्रुतावतारकार ने लिखा है – "एक समय पांच वर्षों के पश्चात् किये जाने वाले युग–प्रतिक्रमण के अवसर पर सौ-सौ योजन से मुनिसमाज एकत्रित हुआ। युग–प्रतिक्रमण के अवसर पर अर्हद्बलि ने एकत्रित सकल श्रमण संघ को यह कहते हुए कि भविष्य में कालप्रभाव से गणपक्षपात का प्राबल्य रहेगा – श्रमण संघ को नन्दीसंघ, वीर संघ, अपराजित संघ, देव संघ, सेन संघ, भद्रसंघ, गुणधर संघ, गुप्त संघ, सिंह संघ और चन्द्र संघ – इन दश संघों में विभाजित किया।"

संघ-विभाजन का विवरण देते हुए इन्द्रनन्दि ने लिखा है कि उस युग प्रतिक्रमण के अवसर पर एकत्रित हुए समस्त मुनि गिरिगुहा, अशोकवाट, पंचस्तूप, शाल्मलीमहाद्रुममूल और खण्डकेसर नामक ५ स्थानों से आये थे। प्रत्येक स्थान से आये हुए मुनियों को दो दो भागों में विभक्त कर अर्हद्बलि ने अनुक्रमशः उपरोक्त १० संघों की स्थापना की।

अपने इस अभिमत का आधार प्रस्तुत करते हुए इन्द्रनन्दि ने एक अज्ञात-लेखक का निम्नलिखित प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है :–

आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटा –
द्देवाश्चान्योऽपरादिर्जित इति यतिपौ सेन भद्राह्वयौ च।
पंचस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधर – वृषभः शाल्मलीवृक्षमूला–
न्निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ॥

एक अन्य मान्यता का उल्लेख करते हुए इन्द्रनन्दि ने लिखा है – "गिरिगुहा से आये हुए मुनियों से नंदिसंघ, अशोक वन से आये हुए मुनियों से देव संघ, पंचस्तूप से आये हुए मुनियों से सेन संघ, शाल्मलीतरु के मूल में निवास करने वाले मुनियों से वीर संघ और खण्डकेसर वृक्ष के मूल में रहने वाले मुनियों से भद्रसंघ इस प्रकार पांच संघ ही गठित किये गये। इस प्रकार मुनिसंघों के प्रवर्तक अर्हद्बलि के प्रति विनय प्रदर्शित करने वाले पांच प्रकार के कुलों के आचार से पूजनीय (उपास्य) पांच आचार्य थे।"

अर्हद्बलि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् माघनन्दि नामक आचार्य हुए। ये भी एक देश अंगपूर्व की प्ररूपणा कर समाधिपूर्वक स्वर्गस्थ हुए। इन्द्रनन्दि ने माघनन्दि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर महामना धरसेनाचार्य के होने का तो उल्लेख किया है किन्तु आचार्य धरसेन आचार्य माघनन्दि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् तत्काल

उनके उत्तराधिकारी बने अथवा अनिश्चित काल व्यतीत होने पर आचार्य बने, इस सम्वन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया है। इन्द्रनन्दि द्वारा श्रुतावतार के श्लोक सं० १५१ में किये गये निर्देश से तो यही प्रकट होता है कि इन्द्रनन्दि के समय में धरसेन के काल, गुरुपरम्परा, शिष्यपरम्परा तथा गण-गच्छ आदि के सम्बन्ध में न तो कहीं किसी प्रकार का कोई उल्लेख ही उपलब्ध था और न किसी को एतद्विषयक कोई जानकारी ही थी।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में उल्लिखित पट्ट-परम्परा को शोधपूर्ण सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सहज ही यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि वीर नि० सं० ६८३ में दिवंगत हुए अंतिम आचारांगधर आचार्य लोहार्य के पश्चात् विनयधर से लेकर अर्हद्बलि तक प्रभु वीर के पट्टधरों का जो नामोल्लेख किया है, वह अनुक्रमशः एक के पश्चात् हुए आचार्यों का क्रमबद्ध उल्लेख है। यदि किसी प्रकार का पूर्वाग्रह न हो तो श्रुतावतार के श्लोक संख्या ८४ का सीधा सा अर्थ इस प्रकार होता है:- "ततः - तदनन्तर अर्थात् वीर नि० सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए लोहार्य के पश्चात् क्रमशः विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त नाम के अंग एवं पूर्वज्ञान के एकदेशधर चार आरातीय मुनि हुए।"

इस श्लोक की शब्दरचना से इस प्रकार का किंचिन्मात्र भी आभास नहीं होता कि विनयधर आदि वे चारों मुनि एक ही समय में अर्थात् समकालीन हुए होंगे, क्योंकि सम्पूर्ण श्रुतावतार को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर उसके १८७ श्लोकों में से एक भी ऐसा श्लोक दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसमें एक ही समय में हुए दो अथवा दो से अधिक मुनियों का उल्लेख किया गया हो। ऐसी स्थिति में इन चारों आरातीय मुनियों के एक ही समय में होने की कल्पना तक नहीं की जा सकती।

का समष्टि रूप से २० वर्ष का समय अपने "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश" में उल्लिखित कर दिया है।[1] वस्तुतः कोश का बहुत बड़ा महत्व होता है। वह भावी पीढ़ियों के लिये सहस्राब्दियों तक एक प्रामाणिक थाती के रूप में प्रकाश स्तम्भ का काम करता है। उसमें उल्लिखित प्रत्येक तथ्य सभी दृष्टियों से पूर्वाग्रहों से परे और परम प्रामाणिक होना चाहिए। वर्णीजी ने सैकड़ों ग्रन्थों के साथ-साथ हरिवंश पुराण का भी आलोड़न किया है। उन्होंने आज से १२०० वर्ष पूर्व की हरिवंश पुराण[2] की साक्षी को दरगुजर कर पुन्नाट संघ की पट्टावली देते हुए आधुनिक विद्वानों के केवल अनुमान और कल्पना पर आधारित अभिमत को प्रश्रय दे कर लोहाचार्य आदि आचार्यों के काल को ११८ वर्ष पीछे की ओर ठेलने का प्रयास किया है। किन्तु पुन्नाट संघ के आचार्य शान्तिसेन, जयसेन और हरिवंश पुराणकार जिनसेन का समय उपलब्ध साहित्य में उल्लिखित है अतः उन्हें उसे बिना हेर फेर किये यथावत् देना पड़ा है। इससे वास्तविक तथ्य स्वतः ही प्रकट हो जाता है।[3]

वस्तुतः इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार के श्लोक संख्या ८४ में प्रयुक्त 'ततः' शब्द का अध्याहार विनयधर आदि चारों मुनियों के साथ कर लिया जाता और हरिवंश पुराण में वीर नि० सं० ६८३ के पश्चात् की जो आचार्य परम्परा दी गई है, उस ओर दृष्टिपात किया जाता तो वास्तविकता सूर्य के प्रकाश के समान सुस्पष्ट हो जाती और मुख्तार सा० आदि तीनों विद्वानों को कल्पना एवं अनुमान का सहारा लेने की किंचित्मात्र भी आवश्यकता नहीं होती। हरिवंश पुराण में वीर नि० सं० ६८३ के पश्चात् लोहाचार्य से उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा इस प्रकार दी हुई है :–

> महातपोभृद्विनयंधरः श्रुतामृपिश्रुतिं गुप्तपदादिकां दधत्।
> मुनीश्वरोऽन्यः शिवगुप्त संज्ञको गुणैः स्वमर्हद्वलिरप्यधात् पदम् ॥२५॥

अर्थात् वीर नि० सं० ६८३ में लोहार्य के स्वर्गस्थ होने पर क्रमशः महान् तपस्वी विनयंधर, गुप्तश्रुति, गुप्त ऋषि, मुनीश्वर शिवगुप्त और अर्हद्वलि आचार्य पद पर अधिष्ठित हुए।

यह लोहाचार्य के पश्चात् की और अर्हद्वलि के समय में हुए संघ-विभाजन से पूर्व की आचार्य परम्परा है। यहां स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि लोहाचार्य के पश्चात् विनयंधर, उनके पश्चात् गुप्तश्रुति, फिर गुप्त ऋषि, तदनन्तर शिवगुप्त और उनके अनन्तर अर्हद्वलि आचार्य हुए। वस्तुतः विनयंधर आदि ये पांचों ही आचार्य मूल आचार्य परम्परा के क्रमशः – एक के पश्चात् एक – हुए आचार्य हैं, इस तथ्य को स्वीकार करने में तो किसी को कोई बाधा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि दिगम्बर संघ में परम्परा से यह मान्यता चली आ रही है कि

अर्हद्बलि ने भावी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पृथक् पृथक् संघों का निर्माण किया। इन्द्रनन्दि ने तो अपने श्रुतावतार में अर्हद्बलि द्वारा किये गये संघ-विभाजन का विशद् एवं सुस्पष्ट विवरण दिया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि विनयंधर से अर्हद्बलि तक जो पांच आचार्यों के नाम हरिवंशपुराण और श्रुतावतार में दिये गये हैं, वे अनुक्रमशः हुए मूल आचार्य-परम्परा के ही आचार्य हैं।

यहां एक बात जो विचारणीय है, वह यह है कि हरिवंश पुराणकार तथा श्रुतावतारकार–इन दोनों ने ही लोहार्य के पश्चात् तथा संघविभाजन से पूर्व हुए आचार्यों की संख्या समान रूप से यद्यपि ५ ही दी है तथापि उन ५ आचार्यों में से २ आचार्यों के नाम दोनों ने एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न दिये हैं। इन दोनों ग्रन्थकारों ने लोहाचार्य के पश्चात् हुए प्रथम आचार्य का नाम विनयंधर और पांचवें आचार्य का नाम अर्हद्बलि दिया है। इन्द्रनन्दि ने तीसरे आचार्य का नाम शिवदत्त और जिनसेन ने चौथे आचार्य का नाम शिवगुप्त दिया है। क्रम के अतिरिक्त इस नाम में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दूसरे और चौथे आचार्यों के नाम इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में श्रीदत्त एवं अर्हद्दत्त लिखे हैं पर जिनसेन ने अपने हरिवंश पुराण में दूसरे आचार्य का नाम गुप्तश्रुति तथा चौथे आचार्य का नाम गुप्त ऋषि उल्लिखित किया है। यह नाम वैषम्य अवश्य ही कुछ खटकने वाला है पर पूर्वापर दोनों आचार्यों के समान नाम, तीसरे आचार्य का नगण्य अन्तर के साथ नाम साम्य तथा दोनों ही ग्रन्थों में आचार्यों की समान संख्या को देखते हुए इन उल्लेखों की प्रामाणिकता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। उपरिलिखित विभिन्न ग्रन्थों में कतिपय आचार्यों के नामों की भिन्नता प्रायः यत्र तत्र दृष्टिगोचर होती है। दिगम्बर परम्परा के कतिपय ग्रन्थों में केवल आचार्यों ही नहीं अपितु गणधरों के नामों में भी वैभिन्य पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हरिवंश पुराण में दी गई आचार्य परम्परा की पट्टावली अपने आपमें परिपूर्ण एवं सभी दृष्टियों से अन्य उपलब्ध पट्टावलियों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। वीर नि. सं. १ से ६८३ तक और दूसरे शब्दों में केवली गौतम से लेकर अन्तिम आचारांगधर लोहार्य तक की ६८३ वर्ष की अवधि में जिनसेन ने २८ आचार्यों के नाम दिये हैं, जो धवला, तिलोयपण्णत्ती, श्रुतावतार आदि सभी प्रामाणिक ग्रन्थों द्वारा समर्थित हैं। लोहाचार्य के पश्चात् वीर नि. सं. ६८३ से वीर नि. सं. १३१० (शक सं. ७०५)[1] तक कुल मिलाकर ६२७ वर्षों में जिनसेन ने ३१ [illegible]

[1] शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां,
सूर्याणामधिमंडलं जय युते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥
कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्री वर्धमाने पुरे,
श्री पार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
पश्चाद्दोस्तटिका-प्रजाप्रजनितप्राज्यार्चनावर्तने,
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥५३॥ [illegible]

३२) आचार्यों का होना बताया है, जो सभी दृष्टियों से सुसंगत प्रतीत होता है। यद्यपि जिनसेन ने विनयंधर से लेकर आचार्य अमितसेन तक ३१ आचार्यों का पृथक् पृथक् आचार्यकाल नहीं दिया है तथापि लोहाचार्य के पश्चात् वीर नि. सं. ६८३ से स्वयं द्वारा हरिवंश पुराण की समाप्ति का समय शक सं. ७०५ तदनुसार वीर नि. सं. १३१० देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि लोहार्य से लेकर उन स्वयं (जिनसेन) तक की ६२७ वर्षों की अवधि में ३१ आचार्य हुए। इस ६२७ वर्ष के समुच्चय काल को ३१ आचार्यों में विभक्त किया जाय तो मोटे तौर पर एक एक आचार्य का काल २० वर्ष के लगभग आंका जा सकता है।

इस प्रकार हरिवंश पुराण की आचार्य-परम्परा की पट्टावली में उल्लिखित तर्कसंगत एवं इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार द्वारा समर्थित प्रामाणिक तथ्यों से विनयंधरादि अर्हद्‌बल्यान्त पांच आचार्यों का, प्रत्येक आचार्य के २० वर्ष के काल के हिसाब से, समुच्चयकाल १०० वर्ष और तदनुसार अर्हद्‌बलि का आचार्यकाल वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ तक का सिद्ध होता है, न कि नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार वीर नि० सं० ५६५ से ५९३ तक का। यह १९० वर्ष का गोलमाल वस्तुतः श्रुतावतार के श्लोक संख्या ८४ का पूर्वाग्रहानुसार अर्थ लगाने एवं हरिवंश पुराण में दी हुई पट्टावली की उपेक्षा करने के कारण हुआ है। यदि दिगम्बर परम्परा के अग्रगण्य विद्वानों ने हरिवंश पुराणान्तर्गत आचार्य परम्परा की पट्टावली पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया होता तो न तो आचार्यों के काल के विषय में इस प्रकार की गम्भीर भ्रान्ति ही उत्पन्न होती और न उसे कोश जैसे प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थ में स्थान ही दिया जाता। इन ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में अर्हद्‌बलि के पश्चाद्वर्ती माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द आदि आचार्यों के काल के सम्बन्ध में भी पुनर्विचार करना परमावश्यक हो गया है।

उपरिलिखित सभी तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर सहज ही यह तथ्य प्रकाश में आ जाता है कि आचार्यों के काल के विषय में हुई इस भूल की मूल जननी वस्तुतः नन्दीसंघ की उपर्युद्धृत प्राकृत पट्टावली है, जिसकी कि हस्तलिखित मूल प्रति डॉ० हीरालालजी के कथनानुसार आज कहीं उपलब्ध नहीं है।'

ऊपर उद्धृत की गई पट्टावलियों एवं सम्बद्ध उल्लेखों से यह तथ्य तो निर्विवाद रूपेण प्रकट हो चुका है कि दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण वाङ्मय में खोजने पर एक भी इस प्रकार की पंक्ति उपलब्ध नहीं होगी, जिसमें कि नन्दी

संघ की प्राकृत पट्टावली में आचार्यों एवं श्रुतपरम्परा की अवस्थिति के सम्बन्ध में उल्लिखित 'तीन लोक से मथुरा न्यारी' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाले विचित्र अभिमत की पुष्टि होती हो। प्राचीन, मध्ययुगीन और अर्वाचीन सभी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में लोहार्य को अंतिम आचारांगधर बताते हुए एक स्वर से यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि वीर नि० सं० ६८३ में लोहार्य के स्वर्गस्थ होते ही द्वादशांगी में से अवशिष्ट एक मात्र आचारांग भी विच्छिन्न हो गया। लोहार्य के पश्चात् कोई आचार्य किसी एक भी सम्पूर्ण अंग का ज्ञाता नहीं हुआ। लोहार्य के पश्चाद्वर्ती सभी आचार्य अंगज्ञान एवं पूर्व ज्ञान के एक देश-धर ही हुए।

ऐसी स्थिति में नन्दी संघ की तथाकथित प्राकृत पट्टावली, जिसकी कि मूल प्रति आज कहीं उपलब्ध नहीं, जिसके रचनाकार एवं रचनाकाल तक का कोई पता नहीं, उसे कहां तक प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक माना जा सकता है, इस सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करना परमावश्यक हो जाता है।

इस पट्टावली में सर्व प्रथम ३ श्लोक संस्कृत के और १६ गाथाएं प्राकृत की हैं। डॉ० हीरालालजी ने इस पट्टावली के सम्बन्ध में लिखा है :- "यह पट्टावली प्राकृत में है और संभवतः एक प्रति पर से बिना कुछ संशोधन के छपाई गई होने से उसमें अनेक भाषादि दोष हैं। इस लिये उस पर से उसकी रचना के समय के सम्बन्ध में कुछ कहना अशक्य है। पट्टावली के ऊपर जो तीन संस्कृत श्लोक हैं, उनकी रचना बहुत शिथिल है। तीसरा श्लोक सदोष है।[1] पर इन पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका रचयिता स्वयं पट्टावली की रचना नहीं कर रहा, किन्तु वह अपनी उस प्रस्तावना के साथ एक प्राचीन पट्टावली को प्रस्तुत कर रहा है।"[2]

१९ गाथाओं की इस छोटी सी पट्टावली में काल – गणना में गणित की दृष्टि से दो स्थानों पर इस प्रकार की त्रुटियां की गई हैं कि इतिहास के विशेषज्ञों को ११ दशपूर्वधरों में से किसी एक महापुरुष की आयु को २ वर्ष बढ़ाने तथा दश-नवाष्टांगधरों में से किसी एक महामुनि की आयु को २ वर्ष घटाने का प्रयास करना पड़ रहा है, क्योंकि इन दोनों वर्गों के आचार्यों का जो पृथक्-पृथक् काल दिया गया है, वह पिण्ड रूप में दिये गये उनके काल से मेल नहीं खाता।[1]

इस पट्टावली की गाथाओं पर भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो ये सदोष ही सिद्ध होंगी। इसकी गाथा संख्या २ के तृतीय चरण में प्रयुक्त 'रहियो' शब्द प्राकृत भाषा की शब्दावली में 'रहा' – इस अर्थ में कहीं देखने में नहीं आया। प्राकृत भाषा में 'रहिओ' शब्द का प्रयोग पार्थक्य अथवा घटाने के अर्थ में होता है। हाँ, डिंगल, राजस्थानी-गुजराती, अपभ्रंश एवं कतिपय देशज भाषाओं में 'रहियो' शब्द का प्रयोग 'रहा' के अर्थ में होता है। इसके अतिरिक्त गाथा संख्या १३ में चार बार 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है जो खटकने के साथ-साथ इस बात का द्योतक है कि पट्टावलीकार का भाषा पर पूर्णाधिकार नहीं था। इस पट्टावली को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर एक बात बड़ी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि पट्टावलीकार को जहां परम्परागत मान्यता और प्राचीन ग्रन्थों से विपरीत बात कहनी थी, वहां उसने जिनागम और जिन-कथन की दुहाई दी है। सभी प्राचीन ग्रन्थों द्वारा समर्थित यह परम्परागत मान्यता रही है कि ६८३ में अंतिम आचारांगधर लोहार्य स्वर्गस्थ हुए। इसके विपरीत लोहार्य को आठ अंगों के धारक और वीर नि० सं० ५६५ में स्वर्गस्थ हुए सिद्ध करने के लिये पट्टावलीकार ने गाथा संख्या १३ में – "लोहाचय्य मुणीसं च, कहियं च जिणागमे" इस गाथार्द्ध द्वारा अपने अभिमत पर जिनागम की छाप लगाने का प्रयास किया है। इसी प्रकार लोहाचार्य के पश्चात् अनुक्रमशः हुए विनयंधर आदि चार आचार्यों को अपनी पट्टावली में स्थान न देकर ८० वर्ष के आचार्यकाल को ऊपर ही ऊपर उड़ाने का प्रयास करते हुए जहां अंग पूर्व के एक देशधर अर्हद्वलि, माघनंदी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि इन ५ आचार्यों को आचारांगधर सिद्ध करने एवं भूतवलि का ६८३ में स्वर्गस्थ होना तथा उनके साथ ही अंग विच्छेद होने की बात सिद्ध करने का प्रयास किया है, वहां पर भी पट्टावलीकार ने लिख दिया है कि जिनेन्द्र भगवान् ने इस प्रकार कहा है :–

> अहिवल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूदवली।
> अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस वीस वास पुणो ॥१६॥
> इगसय अठारवासे दसंगधारी य मुणिवरा जादा।
> छ सय-तिरासिय- वासे णिव्वाणा अंगच्छित्ति कहिय जिणे ॥१७॥

वस्तुतः वास्तविक स्थिति यह है कि किसी जिनागम में अथवा दिगम्बर परम्परा के किसी ग्रन्थ में एक पंक्ति तो क्या एक शब्द भी इस प्रकार का उल्लेख

नहीं होता, जिससे नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के रचनाकार के उपरिलिखित अभिमतों की किंचिन्मात्र भी पुष्टि होती हो ।

एक बात और बड़ी विचारणीय है, वह यह है कि इस पट्टावली के आदि के प्रथम श्लोक में पट्टावलीकार ने त्रैलोक्येश्वर प्रभु को नमस्कार एवं सद्गुरु की वाणी का स्मरण करने के पश्चात् मूलसंघ के गणनायकों (आचार्यों) की सुन्दर पट्टावली की रचना करने की तथा दूसरे एवं तीसरे श्लोक में "श्रेष्ठ मूल संघ के नन्दी आम्नायी बलात्कारगण के सरस्वती गच्छ में जितने कुन्दकुन्दान्वयी आचार्य हुए हैं, उन सबका विवरण मैं यहां प्रस्तुत करूंगा अतः सब सज्जन उसे सुनें"[1], इस प्रकार की प्रतिज्ञा की है ।

पट्टावलीकार की उपरोक्त प्रतिज्ञा के सन्दर्भ में इस सम्पूर्ण पट्टावली को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो स्वतः ही यह तथ्य प्रकट हो जायगा कि यह पट्टावली वस्तुतः अपने आप में अपूर्ण है । क्योंकि पट्टावलीकार की उपर्युद्धृत प्रतिज्ञानुसार न इस पट्टावली में कहीं नन्दी आम्नाय का, न बलात्कार गण का, न सरस्वती गच्छ का और न आचार्य कुन्दकुन्द का ही कहीं उल्लेख दृष्टिगोचर होता है ।

इस पट्टावली की गाथा संख्या १४ के चतुर्थ चरण – "वास दुसद वीस सधेसु ।।" पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर विचारकों के मस्तिष्क में यह आशंका उत्पन्न होती है कि इस पट्टावली के रचनाकार ने प्राचीन, प्रचलित एवं प्रामाणिक पट्टावलियों में उल्लिखित तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर इसमें प्रस्तुत किया है । सभी पट्टावलीकारों की वर्णनशैली का अनुसरण करते हुए नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली के प्रणयनकार ने भी प्रत्येक श्रुतपरम्परा के आचार्यों के काल का उल्लेख करते हुए – "सदतेवीस वासे एगादह अंगधरा जादा" – इस गाथार्द्ध से एकादशांग-धारियों का काल १२३ वर्ष तथा – "वासं सत्ताणवदिय, दसंग नव अंग अट्ठधरा" इस आधी गाथा द्वारा दश नव-अष्टांगधरों का काल ९७ वर्ष बताया है । इस [illegible] पट्टावली को पढ़ने पर यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि इसमें सर्वत्र पृथक्-पृथक् श्रुत परम्परा का पृथक्-पृथक् काल दिया है, दो श्रुत परम्पराओं का सम्मिलित काल नहीं । परन्तु जहां एकादशांगधारियों के परम्परागत २२० वर्ष के काल का प्रश्न आया और उसे पट्टावलीकार ने विवादास्पद बनाया वहां – "दस नव अट्ठंगधरा वास दुसदवीस सधेसु ।।१४।।" इस गाथार्द्ध द्वारा एकादशांगधारियों एवं दश-नवाष्टांगधारियों का सम्मिलित समय २२० वर्ष बताने का प्रयास किया है । यहां पट्टावलीकार द्वारा भयंकर त्रुटि हो गई है । पट्टावलीकार [illegible]

में एकादशांगधारियों का १२३ वर्ष का काल और दश-नव-अष्टांगधारियों का ६७ वर्ष का काल बता चुकने के पश्चात् गाथा संख्या १४ द्वारा पुनः दश, नव तथा आठ अंगधारियों का काल ६७ वर्ष के स्थान पर २२० वर्ष बताते है। यहां पट्टावलीकार द्वारा वस्तुतः बड़ी भारी भूल हो गई है। गाथा की शब्दयोजना पर विचार करने की दशा में यह गाथा त्रुटिपूर्ण और नितान्त अशुद्ध प्रतीत होती है। गाथा के पूर्वार्द्ध में दी हुई संख्या ६+१८+२३+५२ (५०) का योग ६६ और ६७ आता है पर गाथा के उत्तरार्द्ध में दश, नव तथा आठ अंगधारियों का काल २२० वर्ष बीतने तक बताया गया है। पूर्वापर सम्बन्ध की खींच तान से तो इस गाथा का अर्थ येन केन प्रकारेण यह लगाया जा सकता है कि २२० वर्षों में एकादशांगधर तथा दश-नव-अष्टांगधर हुए, पर गाथा की शब्द रचना से तो गाथा का सीधा सा अर्थ यही निकलता है कि इसमें दश-नव-अष्टांगधरों का काल २२० वर्ष बताया गया है। इस अप्रासंगिक, अनावश्यक एवं सदोष उल्लेख को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस पट्टावलीकार के समक्ष एकादशांगधरों का २२० वर्ष का काल बताने वाली अनेक पट्टावलियां विद्यमान थीं। उनमें से हरिवंश पुराणान्तर्गत पट्टावली का – "द्वये च विंशेऽङ्गभृतोऽपि पंच ते" तथा जय धवला का – "तदो तमेक्कारसंगं सुदणाणं जयपाल-पांडु-धुवसेणकंसोत्ति आइरिय परम्पराए वीसुत्तर वेसद वासाइमागंतूण वोच्छिण्णं।" यह पद एवं श्रुतावतार के निम्नलिखित पद पट्टावलीकार के कर्णरन्ध्रों में गूंजते रहे :–

> एते पंचापि ततो बभूवुरेकादशांगधराः।
> विंशत्यधिकं वर्षशतद्वयमेषां बभूव युगसंख्या ।।८१।।

उन पदों की छाप जो नन्दीसंघ प्राकृत पट्टावलीकार के मस्तिष्क में थी, वह अनावश्यक एवं अप्रासंगिक होते हुए भी इस पट्टावली की गाथा संख्या १४ में "दस नव अट्ठंगधरा, वास दुसदवीस सधेसु" के रूप में उतर आई। अन्यथा "वास दुसदवीस सधेसु" यह चरण इस गाथा में किसी भी दृष्टि से उपयुक्त नहीं जंचता। यह पद ही इस बात का साक्षी है कि यहां हेर फेर के रूप में कुछ गड़बड़ की गई है किन्तु वास्तविकता इस चतुर्थ चरण के रूप में अपना चिन्ह छोड़ गई है।

यही नहीं, अपितु इस नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली के प्रणेता ने भावी पीढ़ियों को एक बड़ी उलझन में भी डाल दिया है। गाथा सं० १२ के उत्तरार्द्ध से १४ वीं गाथा तक सुभद्र आदि ४ आचार्यों को दश, नव, आठ अंगों का धारक तो बताया है, पर यह स्पष्ट नहीं किया है कि वे चारों ही आचार्य उपरोक्त तीनों ही अंगों के धारक थे अथवा इनमें से विभिन्न अंगों के। यदि वे विभिन्न अंगों के धारक थे तो कौन-कौन से आचार्य किस-किस अंग के धारक थे? उपनिर्दिष्ट गाथाओं में आचार्यों की संख्या ४ और अंगों की संख्या तीन ही है अतः चारों ही आचार्यों को उपरोक्त तीनों अंगों का समान रूप से धारक माना जाय, उस दशा में तो ठीक है किन्तु इन चारों आचार्यों में से प्रत्येक को उपरोक्त तीनों अंगों में से पृथक्-पृथक्

अंगों का ज्ञाता माने जाने की स्थिति में यह प्रश्न एक जटिल पहेली का रूप धारण कर लेता है।[1]

इस प्रकार आचार्यों के काल के सम्बन्ध में जो तथ्य ऊपर प्रस्तुत किये गये हैं, उन सब पर और विशेषतः हरिवंश पुराण एवं श्रुतावतार में लोहार्य से उत्तरवर्ती वीर निर्वाण सं० ६८३ के पश्चात् की आचार्य-परम्परा के जो उल्लेख ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उन पर निष्पक्ष एवं सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली भट्टारककालीन किसी अति साधारण रचनाकार की नितान्त साधारण, त्रुटिपूर्ण एवं अपूर्ण कृति होने के कारण वस्तुतः अविश्वसनीय और अप्रामाणिक है। एकादशांगधरों के काल के विषय में की गई काट-छांट, दश, नव एवं आठ अंगधरों की कल्पना के साथ उनके काल के सम्बन्ध में जोड़-तोड़, लोहाचार्य के पश्चात् हुए विनयंधर आदि चार आचार्यों को आचार्यों के क्रम में सम्मिलित तक न करना, अंगपूर्वज्ञान के एक देशधर आचार्य अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त तथा भूतबलि को एक अंगधारी मनवाने का प्रयास करना, ये सब बातें वस्तुतः पट्टावलीकार की स्वयं की ऐसी कल्पनाएं हैं, जिनके समर्थन में दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण साहित्य का मंथन करने पर भी एक शब्द तक उपलब्ध नहीं होगा। ऐसी दशा में नंदीसंघ की प्राकृत पट्टावली की किसी भी तरह प्रामाणिकता की कोटि में गणना नहीं की जा सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय आचार्यों को उनके वास्तविक काल से प्राचीन सिद्ध करने के उद्देश्य से भट्टारक काल में इस पट्टावली की रचना की गई है।

दिगम्बर परम्परा के सम्पूर्ण वाङ्मय से पूर्णतः विरुद्ध जो विभिन्न मान्यताएं नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में प्रस्तुत की गई हैं, उनके सम्बन्ध में स्व० डॉ० हीरालालजी ने लिखा है "उससे अकस्मात् अंग लोप सम्बन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है।" दिगम्बर परम्परा के सभी प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थों में जिस प्रकार वीर नि० सं० ३४५ में पूर्वज्ञान का और ६८३ में अंगज्ञान का विच्छिन्न होना बताया गया है; नन्दीसंघ की पट्टावली में भी इन दोनों प्रकार के ज्ञान का ठीक उसी समय में विच्छेद बताया गया है। ऐसी दशा में इनके लोप की कठिनाई तो किंचितमात्र भी कम नहीं होती। केवल तीन अंगों के लोप की कठिनाई काल की दृष्टि से नहीं अपितु क्रम की दृष्टि से कुछ कम होती है पर शेष ६ अंगों के अकस्मात् लोप की कठिनाई तो ज्यों की त्यों ही बनी रहती है। इसी प्रकार पूर्वज्ञान के लोप की कठिनाई में भी इस पट्टावली के उल्लेखों से किसी प्रकार की कमी नहीं आती। कठिनाई को कम करना तो दूर [illegible]

[1] इनके पश्चात् आने के जिन चार आचार्यों को अन्यत्र एकांगधारी [illegible] परंपरा पूरी कर दी गई है उन्हें यहां क्रमशः दस, नव और आठ [illegible], पर यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि कौन कितने अंगों का ज्ञाता था।
[षट्खण्डागम, भाग १, [illegible]]

ने दिगम्बर परम्परा के परम प्रामाणिक माने जाने वाले धवला जैसे प्राचीन ग्रन्थों के एतद्विषयक उल्लेखों के प्रति प्रगाढ़ आस्था को झकझोर कर न सही, पर थोड़ा हिलाकर अनेक नवीन उलझनें उत्पन्न कर दी हैं और कतिपय विद्वानों द्वारा इसको प्रश्रय दिये जाने के कारण आचार्यों के काल के प्रश्न को लेकर एक बड़ी अजीव संशयात्मक स्थिति जनमानस में व्याप्त हो गई है। आज के युग के उच्च कोटि के विद्वानों के एतद्विषयक अभिमत को पढ़ कर प्रबुद्ध जनमानस ईहापोह करने लगा है कि आज से लगभग १२०० वर्ष पूर्व तपोपूत महात्माओं द्वारा प्राचीन ग्रन्थों में आचार्यों का जो कालक्रम लिखा गया है, उसे प्रामाणिक माना जाय अथवा आज के युग के कतिपय विद्वानों द्वारा प्रश्रय प्राप्त तथाकथित "नंदीसंघ की प्राकृत पट्टावली" के उल्लेखों को, जिसके कि न तो लेखक का ही कोई पता है और न लेखनकाल ही का।

इस उलझन भरी जटिल ऐतिहासिक गुत्थी को प्रमाण पुरस्सर सुलझाने का प्रयास किया जाय, एक मात्र इसी सदुद्देश्य से प्रेरित होकर यहां इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा के ही अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण इस दृष्टि से प्रस्तुत किये गये हैं कि पाठकों एवं शोधार्थियों को एक ही स्थान पर पूरी आवश्यक सामग्री उपलब्ध हो जाय और उन्हें विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थों को प्राप्त करने के प्रयास में समय एवं श्रम व्यर्थ ही व्यय न करना पड़े। ऊपर जो ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत की गई है, उसमें "हरिवंश पुराण" के उल्लेखों का एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि उनमें वीर नि० सं० १ से १३१० तक की आचार्य परम्परा का अविच्छिन्न रूप से उल्लेख है। इसमें उल्लिखित, वीर नि० सं० ६८३ में दिवंगत हुए लोहार्य तक की आचार्य परम्परा धवला, जयधवला, उत्तर पुराण, तिलोय पण्णत्ती, जम्बूदीव पण्णत्ती के आदि में दी हुई श्रुतधर पट्टावली, इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार तथा अनेक पट्टावलियों एवं शिलालेखों द्वारा पूर्ण रूपेण समर्थित है। नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली को अनेक प्रमाणों एवं तर्क संगत तथ्यों द्वारा पूर्णतः अप्रामाणिक और अविश्वसनीय सिद्ध किया जा चुका है। इस पट्टावली के अतिरिक्त अन्यत्र कोई एक भी उल्लेख (लोहार्य के समय वीर नि० सं० ६८३ तक) हरिवंश पुराण के विपरीत उपलब्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में लोहार्य के अंतिम आचारांगधर होने तथा उनके समय वीर नि० सं० ६८३ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में किंचित्मात्र भी संदेह के लिये स्थान नहीं रह जाता।

अर्हद्बलि, इन पांच आचार्यों के नाम दिये हैं, उनके क्रमगत आचार्यत्व और आचार्य काल के सम्बन्ध में भी वस्तुतः किसी को किसी प्रकार का संदेह नहीं रहना चाहिए।

इस प्रकार विस्तार सहित प्रस्तुत किये गये उपरिलिखित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में निर्वाण पश्चात् गौतम से लेकर अर्हद्बलि तक हुए दिगम्बर परम्परा के आचार्यों का क्रम एवं काल निम्नलिखित रूप से सुनिश्चित सिद्ध होता है :–

नाम	श्रुतपरम्परा	काल
१. इन्द्रभूति गौतम	केवली	१२ वर्ष
२. सुधर्मा (लोहार्य)	"	१२ वर्ष
३. जम्बू	"	३८ (४०) वर्ष
		योग ६२ (६४)
४. विष्णु (नन्दी)	श्रुतकेवली	समुच्चय काल
५. नन्दिमित्र	"	
६. अपराजित	"	
७. गोवर्धन	"	१०० वर्ष
८. भद्रबाहु	"	
९. विशाख	एकादशांग एवं दशपूर्वधर	
१०. प्रोष्ठिल	"	
११. क्षत्रिय	"	
१२. जय	"	समुच्चय काल
१३. नाग	"	१८३ वर्ष
१४. सिद्धार्थ	"	
१५. धृतिषेण	"	
१६. विजय	"	
१७. बुद्धिल	"	
१८. गंगदेव	"	
१९. धर्मसेन	"	
२०. नक्षत्र	एकादशांगधर	
२१. यशःपाल	"	[illegible]
२२. पाण्डु	"	
२३. ध्रुवसेन	"	[illegible]
२४. कंसाचार्य	"	

२५. सुभद्र	आचारांगधर	समुच्चय काल
२६. यशोभद्र		
२७. यशोबाहु		
२८. लोहार्य		
		११८ वर्ष
	पूर्ण योग	६८३ वर्ष
२९. विनयंधर	अंग-पूर्व के एक देशधर	२० वर्ष (अनुमानतः)
३०. गुप्तऋषि	,,	२० ,,
३१. गुप्तश्रुति	,,	२० ,,
३२. शिवगुप्त	,,	२० ,,
३३. अर्हद्वलि[1]	,,	२० ,,
	योग	१००
	पूर्ण योग	७८३

अर्हद्बलि के पश्चात् हरिवंशपुराण में वीर नि० सं० १३१० तक की अविच्छिन्न आचार्य परम्परा दी है, वह पुन्नाट संघ की आचार्य-परम्परा प्रतीत होती है। यह तथ्य विचारणीय है कि हरिवंश पुराणकार ने इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया है कि पुन्नाट संघ के प्रवर्तक प्रथम आचार्य कौन हुए। हरिवंश पुराण के ६६वें सर्ग के ३१वें श्लोक में पुराणकार ने अमितसेन को पवित्र पुन्नाट गण का अग्रणी आचार्य बताया है। इसका अर्थ यही हो सकता है कि वे पुन्नाट संघ के एक विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे, न कि मूल पुरुष। पुन्नाट संघ के प्रथम आचार्य तो अनुमानतः मन्दरार्य ही होने चाहिए जो कि मूल संघ का विभाजन करने वाले अर्हद्वलि के पश्चात् इस पट्टावली में बताये गये हैं।

यह पहले बताया जा चुका है कि अर्हद्वलि (वीर नि० सं० ७६३-७८३) ने दिगम्बर संघ को १० संघों में विभाजित किया। उन संघों में से अधिकांश के नाम तो आज केवल पत्रों पर ही अवशिष्ट रह गये हैं। कालान्तर में उपरोक्त संघों के अतिरिक्त और भी कई संघ समय-समय पर उत्पन्न हुए तथा उनमें से भी अनेक संघ विलुप्ति के गहन गह्वर में विलीन हो गये। ऐसी स्थिति में अर्हद्वलि के उत्तरवर्ती काल की मूल संघ की कोई एक सर्व-सम्मत आचार्यपरम्परा की पट्टावली प्रस्तुत करना संभव प्रतीत नहीं होता। क्योंकि इस प्रकार की कोई प्रामाणिक एवं अविच्छिन्न पट्टावली कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में अर्हद्वलि के पश्चात् जिन ४ आचार्यों के नाम दिये हैं, उन्हीं के

[1] हरिवंश पुराण, सर्ग ६६, श्लोक २५

नाम नन्दी संघ की तथाकथित प्राकृत पट्टावली में भी दिये गये हैं। अर्हद्वलि द्वारा किये गये संघ विभाजन का विवरण देने के पश्चात् इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में लिखा है :-

तस्यानन्तरमनगारपुंगवो माघनन्दिनामाभूत्।
सोऽप्यंगपूर्वदेशं प्राकाश्य समाधिना दिवं यातः। १०२

अर्थात् – अर्हद्वलि के पश्चात् मुनिश्रेष्ठ माघनन्दि नामक आचार्य हुए। वे भी अंग और पूर्वज्ञान के एक देश का उपदेश कर स्वर्गस्थ हुए।

इन्द्रनन्दि के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्हद्वलि के पश्चात् माघनन्दि आचार्य पद पर अधिष्ठित हुए। संघ-विभाजन के विवरण को दृष्टिगत रखते हुए इस श्लोक का यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि अर्हद्वलि ने मूल संघ को १० अथवा ५ संघों में विभाजित किया, उन संघों में नन्दीसंघ का सर्व-प्रथम स्थान था और उस नन्दिसंघ के आचार्य माघनन्दि हुए। इसी कारण इन्द्रनन्दि ने अर्हद्वलि के पश्चात् माघनन्दि का आचार्य पद पर अधिष्ठित होना बताया है। अर्हद्वलि के पश्चात् जो आचार्य-परम्परा इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुता-वतार में दी है, उसके साथ आनुमानित रूप में यदि नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली में उल्लिखित उन आचार्यों का काल जोड़ दिया जाय तो अर्हद्वलि के पश्चात् आचार्यों का क्रम और काल निम्नलिखित रूप में होगा :-

नाम	आचार्यकाल
३४. माघनन्दि	२१ वर्ष
३५. धरसेन	१९ ,,
३६. पुष्पदन्त	३० ,,
३७. भूतवलि	१० ,,
योग	८० वर्ष
पूर्ण योग	[illegible] वर्ष

किन्तु आचार्य अर्हद्वलि के पश्चात् ऊपर बताये हुए चार आचार्यों के नाम और काल को मानने में निम्नलिखित बाधाएं उपस्थित होती हैं :-

इन्द्रनन्दि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि धरसेन की गुरु शिष्य-परम्परा के सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी ज्ञात नहीं है। इस दशा में धरसेन को माघ-नन्दि का उत्तराधिकारी आचार्य नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार [illegible] धरसेन के समय के सम्बन्ध में भी विदित नहीं है। अतः उनके [illegible] को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

धवला तथा श्रुतावतार के उल्लेखानुसार पुष्पदन्त और भूतबलि [illegible] परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के मुनि थे। [illegible]

हरिवंश पुराण और श्रुतावतार के उल्लेखों के आधार पर यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि वीर नि० सं० ६८३ में स्वर्गस्थ हुए अंतिम आचारांगधर लोहार्य के पश्चात् और लगभग वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ तक आचार्य पद पर रहे आचार्य अर्हद्बलि से पूर्व क्रमशः विनयंधर आदि चार आचार्य हुए। इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार तथा अज्ञातकर्तृक नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली में अर्हद्बलि के पश्चात् क्रमशः माघनन्दी धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन चार आचार्यों के होने का उल्लेख है।

नन्दी संघ की पट्टावली में भी कुन्दकुन्दाचार्य की गुरुपरम्परा निम्न रूप में उल्लिखित है :–

भद्रबाहु
|
गुप्तिगुप्त
|
माघनन्दि
|
जिनचन्द्र
|
कुन्दकुन्द

इन्द्रनन्दी ने श्रुतावतार में सुस्पष्ट रूप से लिखा है कि षट्खण्डागम और कषाय-प्राभृत का ज्ञान गुरु परिपाटी से पद्मनन्दी मुनि को कुण्डकुन्दपुर में प्राप्त हुआ और उन्होंने षट्खण्डागम के आद्य तीन खण्डों पर १२,००० श्लोक परिमाण की परिकर्म नामक टीका की रचना की।

इस प्रकार हरिवंश पुराण, इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार, नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली – इन तीनों ग्रन्थों के उल्लेखों से अर्हद्बलि निश्चित रूपेण कुन्दकुन्दाचार्य के प्रगुरु (दादागुरु) माघनन्दि से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं।

नन्दी संघ की पट्टावली में सर्वप्रथम भद्रबाहु (द्वितीय) और उनके पश्चात् गुप्ति गुप्त का नाम दिया है पर इस पट्टावली से विद्वान् यही निष्कर्ष निकालते हैं कि माघनन्दी ही वस्तुतः नन्दी संघ के प्रथम आचार्य, उनके शिष्य जिनचन्द्र और जिनचन्द्र के शिष्य कुन्दकुन्दाचार्य हुए।

ऐसी स्थिति में सिद्धरवस्ती के उपरिलिखित स्तम्भलेख में कुन्दकुन्द के पश्चात् उनकी ९वीं पीढ़ी में अर्हद्बलि को, दशवीं पीढ़ी में पुष्पदन्त–भूतबलि को और १२वीं पीढ़ी में माघनन्दी को बताया गया है, उसे किस प्रकार प्रामाणिक माना जा सकता है, यह इतिहास के विद्वानों के लिये विचारणीय है। वस्तुतः ये चारों आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य के पूर्वज हैं। हरिवंश पुराण सिद्धरवस्ती के उपरिलिखित लेख संख्या १०५ से ६१५ वर्ष पूर्व लिखा गया था। इसी प्रकार इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार की रचना भी इस लेख से लगभग २५० वर्ष पूर्व की थी

क्योंकि इन्द्रनन्दि इतिहासज्ञों द्वारा विक्रम की ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ के आचार्य माने गये हैं।[1]

दिगम्बर परम्परा के गण्य-मान्य विद्वानों ने बड़े खेद के साथ इस प्रकार के उद्गार अभिव्यक्त किये हैं कि अंगधारियों के पश्चाद्वर्ती काल की दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों की जितनी परम्पराएं उपलब्ध हैं, वे सब अपूर्ण हैं और उस समय संग्रह की गई हैं, जब मूल संघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओं को जानने का कोई साधन नहीं रह गया था।[2]

जिस प्रकार मथुरा के कंकाली टीले की तीन वार की गई खुदाई में कुषाण सं० ५ से ९८ (ई० सन् ८३ से १७६) तक के ऐसे लेख मिले हैं, जिनमें उन ३ गणों, १२ कुलों और १० शाखाओं के नाम उट्टंकित हैं, जो कि श्वेताम्बर परम्परा के आगम – कल्पसूत्र में उल्लिखित हैं, तथा नन्दीसूत्रान्तर्गत वाचकवंश के आचार्यों की पट्टावली के आर्य समुद्र, आर्य मंगु, आर्यनन्दिल, आर्य नागहस्ती तथा आर्य भूतदिन्न के नाम भी कंकाली टीले से प्राप्त लेखों में उट्टंकित मिले हैं,[3] उसी प्रकार यदि दिगम्बर-परम्परा के आचार्यों, गणों, गच्छों आदि के उल्लेख भी उपलब्ध हुए होते तो दिगम्बर परम्परा के आचार्यों के क्रम एवं काल को सुनिश्चित करने में बड़ी सहायता मिलती। पर कंकाली टीले से दिगम्बर परम्परा के आचार्यों के सम्बन्ध में कोई अभिलेख नहीं मिला।

श्री माणिकचन्द्र – दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित "जैन शिला-लेख संग्रह के तीनों भागों के समीचीनतया पर्यालोचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अंगधारियों के पश्चात् की आचार्य परम्परा की एक भी पूर्ण पट्टावली उपलब्ध नहीं है। डॉ० हीरालालजी एवं पं० नाथूरामजी 'प्रेमी' के शब्दों में सब अपूर्ण हैं।

ऐसी स्थिति में जबकि अंगधारियों के उत्तरवर्ती काल के दिगम्बर आचार्यों की एक भी पूर्ण पट्टावली उपलब्ध नहीं होती; दिगम्बर परम्परा के [illegible] प्रामाणिक ग्रन्थों एवं नन्दी संघ की पट्टावली में उपलब्ध तथ्यों से [illegible]

के उपरिचर्चित शिलालेख के आचार्यों के क्रम सम्बन्धी तथ्य अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं, तथा हरिवंश पुराण एवं इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में दी हुई पट्टावलियों के आधार पर अर्हद्बलि का समय वीर नि० सं० ७६३ से ७८३ के बीच का एक तरह से सुनिश्चित हो जाता है, तो उस दशा में अर्हद्बलि से पर्याप्त रूपेण पश्चाद्वर्ती कुन्दकुन्दाचार्य के काल का प्रश्न एक जटिल समस्या के रूप में विद्वानों के समक्ष उपस्थित होता है। यह देख कर तो और भी बड़ा आश्चर्य होता है कि पंचस्तूपान्वयी आचार्य वीर सेन ने धवला में, पुन्नाट संघीय जिनसेन ने हरिवंश पुराण में और वीर सेन के शिष्य जिनसेन (पंचस्तूपान्वयी) ने जय-धवला में दिगम्बर परम्परा के उद्भट विद्वान् कुन्दकुन्दाचार्य का कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य के समय के सम्बन्ध में निम्नलिखित एक अज्ञातकर्त्तृक श्लोक बड़ा प्रसिद्ध है :–

वर्षे सप्तशते चैव, सप्तत्या च विस्मृतौ।
उमास्वामिमुनिर्जातः, कुन्दकुन्दस्तथैव च ॥[1]

अर्थात् – ७७० वर्ष व्यतीत हो चुकने पर उमास्वामी और (आचार्य) कुन्दकुन्द हुए। श्लोक में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं किया गया है कि यह ७७० सम्वत् वस्तुतः वीर नि० सं० है, विक्रम संवत् है, शक सं० है अथवा अन्य कोई संवत्। यही नहीं, इसमें कुन्दकुन्द के पश्चाद्वर्ती आचार्य उमास्वामी के अनन्तर आचार्य कुन्दकुन्द का नाम देते हुए इन दोनों को स्पष्टतः समकालीन बताया गया है। इसके साथ ही साथ यह श्लोक कहां का है, किसकी तथा किस समय की रचना है, ये सब तथ्य भी अंधकार में छुपे हुए हैं। अतः विद्वानों द्वारा इस श्लोक को कुन्दकुन्दाचार्य के कालनिर्णय के सम्बन्ध में न तो विशेष प्रामाणिक ही समझा जा रहा है और न कोई महत्व ही दिया जा रहा है।

कत्तिले वस्ती के एक स्तम्भ-लेख (लेख सं० ५५, लगभग शक सं० १०२२) में कुन्दकुन्द को ही निम्नलिखित श्लोक द्वारा मूल संघ का आदि गणी बताया गया है:–

श्रीमतो वर्द्धमानस्य, वर्द्धमानस्य शासने।
श्री कोण्डकुन्दनामाभूत्, मूल संघाग्रणी गणी ॥३॥[2]

इसी प्रकार लेख सं० ५४ (शक सं० १०५०), ४० (शक सं० १०८५) और लेख सं० १०८ (शक सं० १३५५) में गौतम के उल्लेख के पश्चात् उनकी संतति में भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त के अनन्तर उन्हीं के अन्वय में कुन्दकुन्द मुनि के होने का उल्लेख किया गया है।[3] आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में इन सब परस्पर

---

[1] स्वामी समन्तभद्र, पं० जुगल किशोर, पृ० १४७

[2] जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ० ११५

[3] जैन शिलालेख संग्रह, भा० १

विरोधी और विखण्डित उल्लेखों को देख कर ही स्वर्गीय प्रेमीजी को दिगम्बर परम्परा की उपलब्ध पट्टावलियों के सम्बन्ध में कहना पड़ा कि वे अपूर्ण हैं तथा ऐसे समय में संगृहीत की गई हैं, जब कि विच्छिन्न परम्पराओं को जानने का कोई साधन न रह गया था।

प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत टीका के प्रारम्भ में शिवकुमार और आध्यात्मी बालचन्द्रकृत कन्नड टीका में 'शिवकुमार महाराजम्' के उल्लेख को आधार बना कर कतिपय विद्वानों ने यह अनुमान लगाया कि आचार्य कुन्दकुन्द ने महाराजा शिवकुमार को बोध देने हेतु प्रवचनसार नामक ग्रन्थ की रचना की। कन्नड़ टीका में उल्लिखित शिवकुमार महाराज को शक सं० ४५० में हुए शिव मृगेश वर्म मान कर न्याय शास्त्री पं० श्री गजाधर लालजी जैन ने आचार्य कुन्दकुन्द का समय शक सं० ४५० लिखा है :-

"श्री शिवकुमार-महाराज-प्रतिबोधनार्थं विलिलेख भगवान् कुन्दकुन्दः स्वीयं ग्रन्थमिति, समाविर्भावितं च पंचास्तिकायस्य क्रमशः कार्णाटिक-संस्कृत-टीकाकारैः श्री बालचन्द्र-जयसेनाचार्यैः ततो युक्त्यानयापि भगवत्कुन्दकुन्द समयः तस्य शिवमृगेशवर्मसमानकालीनत्वात् ४५० तम-शक-संवत्सर एव सिद्ध्यति, स्वीकारे चास्मिन् क्षतिरपि नास्ति कापीति।"[1]

अर्थात्-श्री शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के उद्देश्य से आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ की रचना की – यह कर्णाटिक टीकाकार बालचन्द्र और संस्कृत टीकाकार जयसेनाचार्य ने प्रकट किया है। इस युक्ति से भी आचार्य कुन्दकुन्द का समय शिवमृगेशवर्म (कदम्ब राजवंशी) के समकालीन होने से ४५० वां शक संवत्सर सिद्ध होता है और इसे स्वीकार करने में किसी प्रकार की बाधा भी उपस्थित नहीं होती।

प्रवचनसारादि की टीकाओं में किये गये इस उल्लेख के आधार पर कि आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार अथवा शिवकुमार महाराज नामक शासक को प्रतिबोधार्थ प्रवचनसार का उपदेश दिया, डॉ० पाठक ने भी आचार्य कुन्दकुन्द को कदम्बवंशी महाराजा शिवमृगेशवर्म का समकालीन बताते हुए उनका समय शक सं० ४५० माना है।[2]

इसी प्रकार प्रोफेसर चक्रवर्ती ने भी टीकाकारों द्वारा किये गये शिवकुमार के उल्लेख को आधार बना यह अनुमान लगाया है कि पल्लववंशी महाराजा शिवस्कन्द – युवा महाराजा के बोधार्थ आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रन्थ की रचना की।

सर्वप्रथम तो यह बात विचारणीय है कि आज जितने भी ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की कृति माने जाते हैं उनमें से "द्वादश अनुप्रेक्षा" नामक [illegible]

---

[1] समय प्राभृत (प्रथम संस्करण ई० १९१४ में प्रकाशित) की प्रस्तावना [illegible]
[2] समय प्राभृतम् और षट् प्राभृत संग्रह (माणिकचन्द्र दिगम्बर [illegible] १७) की प्रस्तावना, पृ० १५

छोड़ कर शेष किसी भी ग्रन्थ के मूल पाठ में इस प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह सिद्ध होता हो कि अमुक ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की रचना है। यही नहीं, आचार्य कुन्दकुन्द की कृति माने जाने वाले किसी एक भी ग्रन्थ के मूल पाठ में कहीं किंचित्मात्र भी इस प्रकार का उल्लेख नहीं है कि अमुक ग्रन्थ की, किसी अमुक व्यक्ति को, शिवकुमार को अथवा शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिये रचना की गई।

ईसा की १० वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुए आचार्य अमृतचन्द्र[१] ने प्रवचनसार की तात्पर्य वृत्ति में न तो प्रवचनसार के प्रणयनकार का ही कोई उल्लेख किया है और न यही लिखा है कि अमुक व्यक्ति को प्रतिबोध देने के लिये इस ग्रन्थ की रचना की गई। इससे यही सिद्ध होता है कि ईसा की १० वीं शताब्दी तक निश्चित रूपेण किसी को यह ज्ञात नहीं था कि इस ग्रन्थ के कर्त्ता कौन हैं और इसकी रचना किसको बोध देने के लिये की गई है। ईशवन्दन एवं अनेकान्तवाद की जयकार के साथ प्रवचनसार की वृत्ति करने का अपना उद्देश्य प्रकट करने के अनन्तर आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है :–

"अथ खलु कश्चिदासन्न-संसारपारः समुन्मीलितसातिशयविवेकज्योतिरस्तमितसमस्तैकान्तवादविद्याभिनिवेशः परमेश्वरीमनेकान्तविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्रहतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा पुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमां भगवत्पंचपरमेष्ठिप्रसादोपजन्यां परमार्थसत्यां मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरःसराम् भगवतः पंचपरमेष्ठिनः प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन संभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं संप्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते।"[२]

इसका सारांश यह है कि – निकट भविष्य में मुक्त होने वाला कोई भव्य अपने अन्तर में विवेक की ज्योति के प्रकट होने तथा उसके फलस्वरूप एकान्तवाद के समस्त मिथ्याभिनिवेशों की समाप्ति के साथ ही अनेकान्त सिद्धान्त को स्वीकार एवं समस्त मिथ्या पक्षों का परित्याग कर मध्यस्थ हो परम सत्य मोक्ष सुख को ही उपादेय के रूप में चुन कर समस्त तर्थंकरों को वन्दनपूर्वक समस्त आरम्भ समारम्भों से निवृत्त हो मुक्तिप्रदायी श्रमणत्व को स्वीकार करते हुए प्रतिज्ञा करता है।

उस आसन्न भव्य की प्रतिज्ञा ने ही प्रवचनसार ग्रन्थ का रूप धारण कर लिया। अमृतचन्द्र ने, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उस आसान्न भव्य का कोई नामोल्लेख नहीं किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग २०० वर्ष पश्चात् (ईसा की १२ वीं शताब्दी में)[३] हुए जयसेन ने प्रवचनसार पर निर्मित अपनी तात्पर्यवृत्ति में आचार्य

---

[१] Introduction on Pravachansar, by Dr. A. N. Upadhye, p. 101
[२] प्रवचनसार, A. N. उपाध्ये द्वारा संपादित (रामचन्द्र जैन शास्त्र माला), पृ० २
[३] Introduction on Pravachansar by A. N. Upadhye, p. 104

अमृतचंद्र द्वारा उल्लिखित उस आसान्न भव्य का नाम विना किसी विशेषण के केवल शिवकुमार दिया है।[1]

यहां यह विचारणीय है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समय प्राभृत आदि की टीकाओं में न ग्रन्थकार का नाम दिया है और न यही उल्लेख किया है कि वह ग्रन्थ किसके प्रतिबोधार्थ निर्मित किया गया। इसके विपरीत आचार्य जयसेन ने 'पंचास्तिकाय प्राभृत' की अपनी तात्पर्य वृत्ति में ग्रन्थकार का नाम आचार्य कुन्दकुन्द बताते हुए उनके विदेह-गमन, वहां श्रीमंदरस्वामी की वाणी के श्रवण आदि का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि विदेह क्षेत्र से लौटने के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज आदि संक्षेपरुचि शिष्यों को प्रतिबोध देने के लिये पंचास्तिकाय प्राभृत की रचना की।[2]

जयसेन के पश्चात् ईसा की १३ वीं शताब्दी के प्रथम चरण के लगभग हुए आध्यात्मी बालचन्द्र ने प्रवचनसार की अपनी कन्नड़ टीका में, अमृतचन्द्र द्वारा "आसन्न संसारपार:" के रूप में तथा जयसेन द्वारा "कश्चिदासन्नभव्य: शिवकुमार नामा" के रूप में उल्लिखित उस आसन्न भव्य का अपनी ओर से विशेषण लगा कर "आसन्नभव्यनं अप्प शिवकुमार महाराजम्" के रूप में परिचय दिया है।

उपर्युक्त तीनों टीकाकारों के इन उल्लेखों के सम्बन्ध में विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि प्रवचनसार की रचना कुन्दकुन्द द्वारा और वह भी शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिये की गई, यह ईसा की १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए टीकाकार जयसेन की अपनी स्वयं की कल्पना है। यदि ईसा की १०वीं शताब्दी तक इस प्रकार की मान्यता प्रचलित होती अथवा किसी ग्रन्थ में इस प्रकार का उल्लेख होता कि कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार की रचना की और शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिए की, तो ईसा की १०वीं शताब्दी के टीकाकार अमृतचन्द्र अपनी टीका में जयसेन की तरह अवश्य ही इस प्रकार का उल्लेख करते। स्त्री उसी भव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती — इस विषय का प्रतिपादन करने वाली ११ गाथाओं का अमृतचन्द्र द्वारा अपनी टीका में सम्मिलित न किया जाना भी प्रत्येक तटस्थ विचारक के मस्तिष्क में

---

[1] प्रवचनसार (ए. एन. उपाध्ये द्वारा संपादित) पृ० १–२

[2] (क) अथ कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेवशिष्यै: प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा [illegible] सर्वज्ञ श्रीमंदरस्वामी तीर्थकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गत[illegible] वधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतै: [illegible] पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं, अथवा शिवकुमार महाराजादि संक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे [illegible] धिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।

[पंचास्तिकायप्राभृत, [illegible]

(ख) अथ प्राभृतग्रन्थे शिवकुमार महाराजो निमित्तं [illegible] ज्ञातव्यम्। [वही, [illegible]

एक प्रकार का गहरा संदेह उत्पन्न कर देता है कि जिन-जिन ग्रन्थों को आचार्य कुन्दकुन्द की कृति बताया जा रहा है, उनमें से वस्तुतः कौन-कौन से ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा लिखे गये हैं।

पंचास्तिकाय प्राभृत की गाथा संख्या २ और १७३ को ध्यानपूर्वक ढ़प लेने के पश्चात् यह तथ्य स्वतः ही प्रकट हो जाता है कि श्री जयसेन एवं अध्यात्मी बालचन्द्र द्वारा अपनी-अपनी टीकाओं में किया गया शिवकुमार महाराज का उल्लेख पूर्णतः उनकी स्वयं की निराधार कल्पना मात्र है। उस कल्पना में कोई तथ्य नहीं।

पंचास्तिकाय की दूसरी गाथा में ग्रन्थकार ने निम्नलिखित प्रतिज्ञा की है:–

"श्रमण (भगवान् महावीर) के मुख से प्रकट हुए, चारों गतियों का अन्त करने वाले एवं मोक्षप्रदायी अर्थपूर्ण समस्त श्रुत को प्रणाम कर मैं इस (पंचास्तिकाय ग्रन्थ) का कथन करूंगा, उसे सुनो।"

अपनी प्रतिज्ञानुसार पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र का कथन समाप्त करने के पश्चात् अन्त में ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :–

मग्गपभावणट्ठं, पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं, पंचत्थियसंगहं सुत्तम् ।।१७३।।

अर्थात् – प्रवचन की भक्ति से प्रेरित हो जिन-मार्ग की प्रभावना हेतु मैंने प्रवचन के सारभूत पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र का कथन किया है।

ऐसा विचित्र उदाहरण तो संभवतः साहित्य के इतिहास में अन्यत्र खोजने पर भी नहीं मिलेगा। ग्रन्थकार जहां स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि प्रवचन के प्रति अपनी भक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने जिनशासन की प्रभावनार्थ इस ग्रन्थ का कथन किया है, वहां इसके विपरीत टीकाकार का यह कथन किसी भी दशा में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता कि शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने हेतु कुन्दकुन्दाचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना की। जयसेन ने पंचास्तिकाय की टीका में आचार्य कुन्दकुन्द को कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव का शिष्य बताया है। अन्य किसी प्रमाण से इसकी पुष्टि न होने तथा सिद्धान्तदेव की उपाधि के विशेष प्राचीन न होने के कारण दिगम्बर परम्परा के विद्वान्, जयसेन द्वारा किये गये उल्लेख की, प्रामाणिकता की कोटि में गणना नहीं करते।[१]

संस्कृत टीकाकार जयसेन एवं कन्नड़ टीकाकार बालचन्द्र द्वारा पंचास्तिकाय-प्राभृत की टीकाओं में किया गया 'शिवकुमार महाराज' का उल्लेख ही जब काल्पनिक और अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है तो उस दशा में शिवमृगेशवर्म, पल्लवनरेश शिवस्कन्ध अथवा युवा महाराजा को कुन्दकुन्द का समकालीन मान

---

१ कुन्दकुन्द प्राभृतसंग्रह (जीवराज जैन ग्रन्थमाला ६) की प्रस्तावना, (पं० कैलाशचन्द्र) पृष्ठ ८

२ Introductory on Pravachansara, by, Dr. A. N. Upadhye, p. 10–14

कर आचार्य कुन्दकुन्द के समय का निर्णय करना वस्तुत: आकाश कुसुम में सुगन्ध ढूंढने तुल्य निरर्थक प्रयास ही होगा।

ख्यातनाम विद्वान् डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने स्वसंपादित प्रवचनसार की प्रस्तावना में आचार्य कुन्दकुन्द के काल के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। स्वर्गीय श्री नाथूराम प्रेमी, डॉ० पाठक, प्रोफेसर चक्रवर्ती और पं० जुगलकिशोर मुख्तार के अभिमतों को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने केवल प्रोफेसर चक्रवर्ती के इस अभिमत एवं संभावना को अपना थोड़ा समर्थन प्रदान किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द पल्लवनरेश शिवस्कन्द के समकालीन तथा तामिल भाषा के प्रसिद्ध ग्रन्थ कुरल के कर्त्ता थे।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने विस्तृत विवेचन के पश्चात् ऊहापोह के साथ जो अपना अभिमत व्यक्त किया है, वह इस रूप में है :-

"कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में की गई इस लम्बी चर्चा के प्रकाश में, जिसमें हमने उपलब्ध परम्पराओं की पूरी तरह से छान-बीन करने तथा विभिन्न दृष्टिकोणों से समस्या का मूल्य आंकने के पश्चात् केवल संभावनाओं को समझने का प्रयत्न किया है। हमने देखा है कि परम्परा उनका समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध[1] और ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का पूर्वार्द्ध बतलाती है। कुन्दकुन्द से पूर्व षट्खण्डागम की समाप्ति की सम्भावना उन्हें ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य के पश्चात् रखती है। मर्करा ताम्रपत्र से उनकी अन्तिम कालावधि तीसरी शताब्दी का मध्य होना चाहिये। चर्चित मर्यादाओं के प्रकाश में, ये संभावनाएं, कि कुन्दकुन्द पल्लववंशी राजा शिवस्कन्द के समकालीन थे और यदि कुछ और निश्चित आधारों पर यह प्रमाणित हो जाये कि वही एलाचार्य थे तो उन्होंने कुरल को रचा था, सूचित करती है कि ऊपर बतलाये गये विस्तृत प्रमाणों के प्रकाश में कुन्दकुन्द के समय की मर्यादा ईसा की प्रथम दो शताब्दियां होनी चाहिए। उपलब्ध सामग्री के इस विस्तृत पर्यवेक्षण के पश्चात् मैं विश्वास करता हूँ कि कुन्दकुन्द का समय ईस्वी सन् का प्रारम्भ है (प्रवचनसार प्रस्तावना पृ० [illegible])।"[2]

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने प्रवचनसार पर लिखी गई अपनी प्रस्तावना में आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक जो अपने विचार रखे हैं, उनमें संभावनाओं के अतिरिक्त ऐसा कोई ठोस प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे कि उनके द्वारा प्रकट किये गये अभिमत की पुष्टि होती हो [illegible]

---

[1] आचार्य कुन्दकुन्द के सामान्यत: सभी ग्रन्थों से एवं विशेषत: [illegible] सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य उस समय के आचार्य हैं, जिस समय [illegible] मतभेद चरम सीमा तक पहुँच चुका था। यह तो दोनों परम्पराओं द्वारा [illegible] तथ्य है कि वीर नि० सं० ६०६ अथवा ६०९ में निर्ग्रन्थ संघ [illegible] हुआ। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध भी कुन्दकुन्द का [illegible] प्रकार की परम्परागत मान्यता तो कहीं देखने सुनने में नहीं आई। [illegible]

[2] कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह की प्रस्तावना, पृ० [illegible]

रूपेण इस निर्णय पर पहुँचा जा सके कि – "कुन्दकुन्द का समय ईस्वी सन् का प्रारम्भ है।"[1] डॉ० उपाध्ये ने विविध संभावनाओं पर तो विस्तार पूर्वक चर्चा की है पर उनकी प्रस्तावना के पढ़ने के पश्चात् यह बात खटकती है कि आचार्य कुन्दकुन्द के कालनिर्णय में सर्वाधिक सहायक दिगम्बर परम्परा के आज उपलब्ध प्रमाणों में सबसे अधिक प्राचीन लिखित प्रमाण की ओर उनका ध्यान नहीं गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है – गौतम से लोहार्य (वीर नि० सं० ६८३) तक की आचार्य-परम्परा का सभी प्रामाणिक ग्रन्थों में समान उल्लेख है। वीर निर्वाण सं० ६८३ में दिवंगत हुए लोहाचार्य के पश्चात् की, संघविभाजन के समय तक की आचार्य परम्परा पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण, सर्ग६६, श्लोक २५ में उल्लिखित की है। हरिवंश पुराण का यह उल्लेख दिगम्बर परम्परा के उपलब्ध प्रमाणों में सबसे अधिक प्राचीन है, इस तथ्य को तो कोई विद्वान् अस्वीकार नहीं कर सकता। इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार के श्लोक संख्या ८४ तथा ८५ द्वारा हरिवंश पुराण के उपरोक्त श्लोक में उल्लिखित तथ्यों की पुष्टि की है कि आर्य लोहाचार्य के पश्चात् अनुक्रमशः पांच आचार्य हुए। जिनमें से प्रथम का नाम विनयधर और पांचवें का अर्हद्बलि था। अर्हद्बलि के पश्चात् हरिवंश पुराण में तो पुन्नाट संघ के आचार्यों की नामावलि दी गई है किन्तु इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार के श्लोक सं० १०२ –१०४, १२७, १२८, १३२, १३३, १४६ द्वारा अर्हद्बलि के पश्चात् हुए माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, और जिनपालित इन ५ आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है। तदनन्तर श्लोक संख्या १६० तथा १६१ द्वारा इन्द्रनन्दी ने कुण्डकुन्दपुर में आचार्य पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य) के होने तथा उनके द्वारा षट्खण्डागम के आद्य ३ खण्डों पर १२,००० श्लोक परिमाण के परिकर्म नामक ग्रन्थ के लिखे जाने का उल्लेख किया है।

"षट्खण्डागम के आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक एक ग्रन्थ लिखा गया था" – इन्द्रनन्दि के इस कथन की तो पुष्टि होती है, पर वह "कौण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि द्वारा लिखा गया था," इस कथन की पुष्टि करने वाला एक भी प्रमाण आज उपलब्ध नहीं है। धवलाकार ने धवला टीका में परिकर्म नामक ग्रन्थ का प्रचुर मात्रा में उल्लेख करने के साथ-साथ उसके अनेक उद्धरण भी दिये हैं। जीवट्ठाण के द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोगद्वार के सूत्र ५२ की धवला टीका को पढ़ने पर तो यह पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है कि परिकर्म वस्तुतः षट्खण्डागम के पश्चाद्वर्ती काल का ही नहीं अपितु षट्खण्डागम का ही *व्याख्या-ग्रन्थ है।* उपरोक्त सूत्र में लब्धपर्याप्त मनुष्यों का प्रमाण क्षेत्र की अपेक्षा से जगतश्रेणी के असंख्यातवें भाग बताने के पश्चात् यह भी कहा गया है कि जगतश्रेणी के असंख्यातवें भाग रूप श्रेणी असंख्यात करोड़ योजन प्रमाण होती है। इस पर धवला में यह शंका उठाई गई है कि इसके कहने की क्या आवश्यकता थी ? इस शंका

1. I am inclined to believe, after this long survey of the available material, that Kundkunda's age lies at the beginning of the Christian era.
[Introduction on Pravachansara, by A. N. Upadhye, p. 22]

का समाधान करते हुए कहा गया है कि इस सूत्र से इस बात का ज्ञान नहीं हो सकता था कि जगतश्रेणी के असंख्यातवें भाग रूप श्रेणी का प्रमाण असंख्यात करोड़ योजन है। इस पर पुनः शंका की गई है कि इस बात का ज्ञान तो परिकर्म से ही हो जाता है, ऐसी दशा में सूत्र में इस कथन की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि इस सूत्र के बल अर्थात् आधार से ही तो 'परिकर्म' की प्रवृत्ति हुई है।

आचार्यों से संबंधित इन्द्रनन्दि द्वारा श्रुतावतार में उल्लिखित विवरण को पढ़ने के पश्चात् यह स्पष्ट आभास होता है कि माघनन्दी और धरसेन के बीच तथा जिनपालित एवं कुन्दकुन्द के बीच में और भी अनेक आचार्य हुए होंगे और उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की सूचना उपलब्ध न हो सकने के कारण इन्द्रनन्दि उन आचार्यों के क्रम, नाम, संख्या आदि का उल्लेख नहीं कर पाये।

वस्तुतः हरिवंश पुराण में उल्लिखित और इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार द्वारा समर्थित उपरिवर्णित तथ्यों की ओर ध्यान न जाने के कारण ही डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने कुन्दकुन्द का समय ईस्वी सन् का प्रारम्भ माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार प्रवचनसार पर प्रस्तावना लिखते समय धवला में विद्यमान परिकर्म के विपुल उल्लेखों एवं उद्धरणों की ओर डॉ० उपाध्ये का ध्यान नहीं गया, उसी प्रकार हरिवंश पुराण में उल्लिखित उपर्युक्त तथ्यों की ओर भी ध्यान नहीं गया है। धवला के प्रकाशित होने के पश्चात् उन्होंने अपना अभिमत बदल दिया है।[1]

पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार एवं श्री नाथूरामजी प्रेमी ने आ० कुन्दकुन्द के समय पर अपने विचार प्रस्तुत करते समय डॉ० ए० एन० उपाध्ये की तरह इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में उल्लिखित तथ्यों की उपेक्षा तो नहीं की है पर हरिवंश पुराण में उल्लिखित लोहाचार्य से संघविभाजन तक की आचार्य परम्परा की ओर संभवतः उनका ध्यान नहीं गया है, जिसके परिणाम स्वरूप, यद्यपि इन्द्रनन्दि ने अपने सम्पूर्ण श्रुतावतार में एक ही काल में हुए एक से अधिक आचार्यों का कहीं एक साथ उल्लेख नहीं किया है, फिर भी श्लोक सं० ८४ की शब्द-रचना पर आधार करते हुए यह अनुमान लगाया कि विनयधर आदि चार आरातीय मुनि सम-कालीन थे और उनका सम्मिलित काल २० वर्ष हो सकता है।[2] यदि इन दोनों विद्वानों का ध्यान हरिवंश पुराण, सर्ग ६६ के श्लोक संख्या २५ की ओर जाता तो वे बहुत संभव है इन चारों आचार्यों को—एक के पश्चात् एक—अनुक्रमशः हुए आचार्य मानकर इन चारों का काल २० के स्थान पर ८० वर्ष अनुमानित करते और इस प्रकार इनके पश्चात् हुये आचार्य अर्हद्बलि का समय वीर नि० सं० ७६२ से ७८३ के बीच का अनुमानित करते।

---

[1] कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह, प्रस्तावना, पृ० ३३

[2] श्री जिनेन्द्रवर्णी ने भी मुख्तार सा० के इस अनुमान के आधार पर अपने जैनेन्द्र सिद्धान्त [illegible] कोश, प्रथम भाग के पृष्ठ ३३२ पर इनको समकालीन मानते हुए [illegible] काल २० वर्ष दिया है।

राष्ट्रकूटवंशी राजा गोविन्द तृतीय के वे दोनों ताम्रपत्राभिलेख विद्वानों में बड़े चर्चा के विषय रहे हैं अतः पाठकों की सुविधार्थ उन्हें यहां यथावत् उद्धृत किया जा रहा है :–

राष्ट्रकूटवंशीय महाराज गोविन्द तृतीय
का
शक सं० ७१६ का ताम्रलेख

आसीद् (वै) तोरणाचार्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः ।
स चैतद्विषये श्रीमान्, शाल्मलीग्राममाश्रितः ।।
निराकृततमोऽराति, स्थापयन् सत्पथे जनान् ।
स्वतेजोद्योतित क्षौणिश्चण्डार्चिरिव यो बभौ ।।
तस्याभूत् पुष्पनन्दी तु शिष्यो विद्वान् गणाग्रणीः ।
तच्छिष्यश्च प्रभाचन्द्रस्तस्येयं वसतिः कृता ।।

गोविन्द तृतीय का शक सं० ७२४
का
दूसरा ताम्रलेख

कोण्डकोन्दान्वयोदारो, गणोऽभूद् भुवनस्तुतः ।
तदैतद् विषय विख्यातं[1] शालमली ग्राममावसम् (त्) ।।
आसीद् (वै) तोरणाचार्यस्तपः फलपरिग्रहः ।
तत्रोपशमसंभूतभावनापास्तकल्मशः ।।
पण्डितः पुष्पनन्दीति, बभूव भुवि विश्रुतः ।
अन्तेवासी मुनेस्तस्य सकलश्चन्द्रमा इव ।।
प्रतिदिवस भवद्वृद्धिनिरस्तदोषो व्यपेत हृदयमलः ।
परिभृतचन्द्रबिम्बस्तच्छिष्योऽभूत् प्रभाचन्द्रः ।।[2]

उपर्युल्लिखित दोनों ताम्रपत्राभिलेखों का भावार्थ यह है कि कौण्डकुन्दान्वयी तोरणाचार्य शालमली ग्राम में आकर रहे । उन्होंने अज्ञानान्धकार को ध्वस्त कर लोगों को सत्पथ का पथिक बनाया । अपने तपस्तेज से पृथ्वी-मण्डल को प्रकाशित करते हुए वे मध्याह्न के सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे । उनके शिष्य पुष्पनन्दि हुए, जो बड़े विद्वान् एवं दूर-दूर तक विख्यात थे । उन पुष्पनन्दि के अन्तेवासी शिष्य प्रभाचन्द्र नामक मुनि हुए, जो सब प्रकार के दोषों से रहित, विशुद्ध हृदय एवं पूर्णिमा के चन्द्र के समान दैदीप्यमान मुखमण्डल वाले थे ।

स्व० डॉ० के० बी० पाठक का कहना है कि पहले का लेख शक सं० ७१६ का है तो प्रभाचन्द्र के दादागुरु तोरणाचार्य शक सं० ६०० के आस-पास रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है । तोरणाचार्य जब कुन्दकुन्दान्वय में हुए हैं तो

---

[1] 'विषयख्यातं' पाठ होना चाहिये अन्यथा छन्दो-भंग की स्थिति होती है ।

[2] जैन शिलालेख संग्रह, भा० २, पृ० १२२, १२३ और १२६

कुन्दकुन्द का समय उनसे १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक सं० ४५० के लगभग मानने में कोई हानि नहीं।

यहां श्री पाठक ने तोरणाचार्य और कुन्दकुन्दाचार्य के समय निर्धारण में जिस अनुमान अथवा कल्पना की प्रक्रिया का अवलम्बन किया है, उसे पढ़ कर प्रत्येक पाठक अनुभव करेगा कि किसी भी तरह के आधार के अंकुश के अभाव में इस प्रकार के काल्पनिक काल को तो कोई यथेच्छ घटा अथवा बढ़ा सकता है। ताम्रपत्र में उल्लेख है कि शक सं० ७१६ में प्रभाचन्द्र के नाम पर वसति का निर्माण कराया गया। वे प्रभाचन्द्र पुष्पनन्दि के शिष्य एवं तोरणाचार्य के प्रशिष्य थे। इनमें से प्रत्येक आचार्य का ४० वर्ष का आचार्य काल गिनने पर ही श्री पाठक के कथनानुसार तोरणाचार्य का आचार्य पद पर आसीन होने का काल शक सं० ६०० के आस-पास हो सकता है। एक से अधिक – अनेक आचार्यों के अज्ञात काल के सम्बन्ध में किसी संभावित निर्णय पर पहुँचना हो तो मोटे तौर पर प्रत्येक आचार्य का काल २० वर्ष के लगभग अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य के काल निर्णय के प्रयास में श्री पाठक ने अनुमान लगाया है कि तोरणाचार्य से १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक सं० ४५० के लगभग कुन्दकुन्दाचार्य का समय मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं है। एक विद्वान् कह सकता है कि कुन्दकुन्दाचार्य और तोरणाचार्य के बीच का अन्तराल काल २०० वर्ष माना जाय। इसी प्रकार दूसरा ५० वर्ष और तीसरा विद्वान् १०० वर्ष का अन्तराल काल मानने की बात कह सकता है।

कालीन होने का अनुमान किया है, उस पर माघनन्दि, धरसेन जिनपालित (जिनचन्द्र) आदि के सम्बन्ध में ऊपर प्रस्तुत किये गये तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर श्री पाठक का अनुमान तथ्य के थोड़ा निकट पहुँचता हुआ प्रतीत होता है।

यह यहले बताया जा चुका है कि आज से ६० वर्ष पूर्व पं० गजाधरजी जैन, न्यायशास्त्री ने भी कुन्दकुन्द का समय शक सं० ४५० तदनुसार वीर नि० सं० १०५५ के आस-पास का अनुमानित किया था।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द के समय पर विचार करते समय कोङ्गरिग महाराजा अविनीत (कोङ्गरिग द्वितीय) का मर्करा के खजाने से प्राप्त ताम्रपत्र (संस्कृत कन्नड़), जिस पर कि संवत्सर ३८८ (सोमवार स्वाति नक्षत्र) अंकित है, विद्वानों में विगत अनेक वर्षों से बड़ा चर्चा का विषय रहा है। इस ताम्रपत्र के–"श्रीमान् कोङ्गरिग महाराज अविनीत नामधेय दत्तस्य देसिगगणं कोण्डकुन्दान्वय गुणचन्द्र-भट्टार शिष्यस्य अभयणंदि"[2] आदि अंश में 'देसिग गणं कोण्डकुन्दान्वय' के ६ आचार्यों का उल्लेख देख कर ए० एन० उपाध्ये[3] आदि अनेक विद्वानों ने कुन्द-कुन्दाचार्य का समय ईसा की तीसरी शताब्दी अनुमानित किया था। पर डॉ० गुलाबचन्द चौधरी ने गहन शोध के पश्चात् प्रमाणपुरस्सर मर्करा के उक्त ताम्र-पत्र को बनावटी सिद्ध कर दिया है।[4] डॉ० हीरालालजी ने भी श्री चौधरी के शोधपूर्ण अभिमत की पुष्टि करते हुए लिखा है :–

"(११) मर्करा के जिस ताम्रपत्र लेख के आधार पर कोण्डकुन्दान्वय का अस्तित्व ५ वीं शती में माना जाता है, वह लेख परीक्षण करने पर बनावटी सिद्ध होता है, तथा देशीय गण की जो परम्परा उस लेख में दी गई है, वह लेख नं० १५० (सन् ६३१) के बाद की मालूम होती है।

(१२) कोण्डकुन्दान्वय का स्वतन्त्र प्रयोग आठवीं नौवीं शती के लेख में देखा गया है तथा मूल संघ कोण्डकुन्दान्वय का एक साथ सर्वप्रथम प्रयोग लेख नं० १८० (लगभग १०४४ ई०)[5] में हुआ पाया जाता है।"[6]

उपरिलिखित तथ्यों और विस्तृत चर्चा से कुन्दकुन्दाचार्य का काल वीर नि० सं० १००० के आस-पास का सुनिश्चित हो जाने के अनन्तर विद्वानों के लिये यह खोज करना भी परमाश्यक हो जाता है कि वस्तुतः आचार्य कुन्दकुन्द ने किन-किन ग्रन्थों का निर्माण किया।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ७५७

[2] जैन शिलालेख संग्रह, भा० २, पृ० ६३-६४

[3] Introduction on Pravachansar, (by A. N. Upadhye) p. 22

[4] जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, (मा० दिग० ग्रन्थमाला) प्रस्तावना, पृ० ४६-५०

[5] जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृ० २२० (मा० दिग० जैन ग्रं० माला)

[6] जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, प्राक्कथन, पृ० ३

केवली-काल से पूर्वधरकाल तक की साध्वी-परम्परा

जैनधर्म की अनादिकाल से यह विशेषता रही है कि इसमें पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी साधनापथ पर अग्रसर होने की पूर्ण अधिकारिणी माना गया है। जिस प्रकार किसी भी वर्ण, वर्ग अथवा जाति का मुमुक्षु पुरुष अपने सामर्थ्यानुसार अणुव्रत अंगीकार कर श्रावक एवं पंच महाव्रत धारण कर श्रमण बन सकता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक वर्ग, वर्ण अथवा जाति की स्त्री भी अपनी शक्ति एवं इच्छा के अनुरूप श्रमणोपासिका-धर्म अथवा श्रमणी-धर्म ग्रहण कर सकती है। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्" – इस प्रकार के प्रतिबन्ध के लिये जैनधर्म में कभी कहीं किंचित्मात्र भी स्थान नहीं रखा गया है। इसका अकाट्य प्रमाण है अनादिकाल से तीर्थंकरों द्वारा अपने-अपने समय में साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना किया जाना। यदि स्त्रियों को इस अधिकार से वंचित रखा जाता तो जैनधर्म में चतुर्विध तीर्थ के स्थान पर साधु और श्रावक वर्ग के रूप में द्विविध तीर्थ ही होता। वस्तुस्थिति यह है कि अनादिकाल से तीर्थंकर तीर्थ-स्थापना के समय पुरुष वर्ग की तरह नारीवर्ग को भी साधना-क्षेत्र का सुयोग्य एवं सक्षम अधिकारी समझकर चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करते आये हैं।

इतिहास साक्षी है कि सभी तर्थकरों द्वारा प्रदत्त इस अमूल्य अधिकार का स्त्रियों ने सहर्ष हार्दिक स्वागत किया। इस अधिकार का सदुपयोग करते हुए महिलाएं भी पुरुषों की तरह बड़े साहस के साथ साधनापथ पर अग्रसर हुई और उन्होंने आत्मकल्याण के साथ-साथ जनकल्याण करते हुए जैनधर्म के प्रचार-प्रसार तथा अभ्युत्थान में परम्परा से बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान दिया।

की ४००० साध्वियों के मोक्षगमन का उल्लेख है। मुक्त हुई इन साध्वियों की यह संख्या उनके मुक्त हुए साधुओं की संख्या से दुगुनी है। इसी प्रकार कल्पसूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर की क्रमशः ३ हजार, २ हजार एवं १४०० साध्वियों के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने का उल्लेख है। इन तीनों तीर्थंकरों के मुक्त हुए साधुओं की अपेक्षा मुक्त हुई इनकी साध्वियों की संख्या भी दुगुनी है।[1]

इन सब तथ्यों से निर्विवादरूपेण यही सिद्ध होता है कि अनादि-अतीत में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं और महाविदेह क्षेत्र में जो तीर्थंकर विद्यमान हैं, उन सब ने पुरुषों और स्त्रियों को समान रूप से साधना के क्षेत्र में अग्रसर होने का अवसर अथवा अधिकार प्रदान किया है।

भगवान् महावीर ने भी धर्मतीर्थ की स्थापना के समय जिस प्रकार इन्द्रभूति गौतम आदि ११ गणधरों को उनकी शिष्य-मण्डली सहित श्रमण-धर्म में तथा अन्य मुमुक्षु पुरुषों को श्रमणोपासक धर्म में दीक्षित कर पुरुष वर्ग को साधना-पथ का अधिकारी घोषित किया, उसी प्रकार चन्दनबाला आदि महिलाओं को भी श्रमणी- धर्म में तथा अन्य मुमुक्षु महिलावर्ग को श्रमणोपासिका धर्म में दीक्षित कर नारी वर्ग को भी पुरुषों के समान ही साधना द्वारा स्व-पर-कल्याण करने का अधिकारी घोषित किया।

सकल चराचर के शरण्य विश्वैकबन्धु प्रभु महावीर ने जिस समय चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना की, उस समय आर्यावर्त में धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति बड़ी विचित्र थी। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्" का नाद घर-घर में, सर्वत्र गुंजरित हो रहा था। पुरुष भोक्ता है और नारी भोग्या-इस प्रकार का 'अहं' पुरुषवर्ग में जागृत हो चरम सीमा पर पहुंच चुका था। वह नारी को अपने समकक्ष स्थान देने के लिए सहमत नहीं था। अपनी आंखों पर पड़े स्वार्थपरता के आवरण के कारण पुरुषवर्ग ने नारी की हीनता का अंकन करने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी थी। साधना के क्षेत्र में भी अपना एकाधिपत्य बनाये रखने की आकांक्षा लिये पुरुषवर्ग ने नारी को अबला घोषित कर सन्यस्त जीवन के लिये अनधिकारिणी बतलाया। देश में सर्वत्र यही लोक-प्रवाह चल रहा था।

इस लोक-प्रवाह के विरुद्ध नारी को सन्यास-धर्म में दीक्षित करने का किसी धर्मप्रवर्तक को साहस नहीं हो रहा था। बौद्धधर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध भी नारी को भिक्षुणी-धर्म में प्रव्रजित करने का सहसा साहस नहीं कर पाये, यह बौद्ध धर्मग्रन्थ 'चुल्लवग्ग' के निम्नलिखित विवरण से स्पष्टतः प्रकट होता है :—

"बात उन दिनों की है जब भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विराजमान थे। महाप्रजापति गौतमी (भगवान् बुद्ध की मौसी, जिसने नवजात शिशु बुद्ध की माता के देहावसान के पश्चात् उन्हें अपना स्तनपान करा उनका

[1] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १ (परिशिष्ट) पृष्ठ ५८६–५९०

अपने पुत्र के समान लालन-पालन किया था), जहां भगवान् थे, आई, आकर भगवान् को अभिवादन किया। अभिवादन कर एक ओर बैठ गई। वह भगवान् से बोली भन्ते ? मैं नारी, अगार धर्म से अनगार धर्म में आकर तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय दीक्षा पाना चाहती हूँ। भगवान् बुद्ध ने कहा – गौतमी ! तुम्हारी (नारी की) तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय-भिक्षु धर्म में रुचि न हो, यही अच्छा है। महाप्रजापति ने तीन वार आवेदन किया और भगवान् बुद्ध ने तीनों ही वार अस्वीकार किया।

भगवान् नारी को तथागत-प्रवेदित धर्म में दीक्षित नहीं करते हैं, यह देख गौतमी दुःखी दुर्मन और अश्रुमुखी होती हुई, रोती हुई भगवान् को अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर लौट गई।

कपिल वस्तु से विहार करते हुए भगवान् वैशाली आये, महावन स्थित कूटागार शाला में टिके। तव महाप्रजापति गौतमी केशच्छेदन कर, काषाय वस्त्र पहन, वहुत सी शाक्य महिलाओं के साथ वैशाली आई। वह महावन में स्थित कूटागार-शाला की ओर चली। उसके नंगे पैर धूल के कणों से भरे थे। दुःखी, दुर्मन, अश्रुमुखी गौतमी वाहरी द्वार पर ठहरी। आयुष्मान् आनन्द ने महाप्रजापति गौतमी को इस स्थिति में देखा। देख कर पूछा – यह सब क्यों ? गौतमी बोली-भन्ते आनन्द ! भगवान् नारी को तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में आने की अनुज्ञा नहीं देते हैं। आनन्द ने कहा - मुहूर्त भर तुम यहीं ठहरो, मैं भगवान् से इस सम्वन्ध में याचना कर आऊँ।

आयुष्मान् आनन्द भगवान् के पास आया, अभिवादन कर एक ओर बैठा, भगवान् से निवेदन किया – महाप्रजापति गौतमी, भगवान् नारी को दीक्षित नहीं करते, यह देख दुःखी, दुर्मन और आंसू गिराती हुई वाहरी द्वार पर बैठी है, उसके नंगे पैर धूल से भरे हैं। भगवन् ! अच्छा हो, नारी तथागत-प्रवेदित विनय-धर्म में दीक्षा पा सके। भगवान् ने कहा – नहीं आनन्द ! नारी को तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में दीक्षित किया जाय, ऐसी रुचि तुम्हारी नहीं होनी चाहिए। आनन्द ने दूसरी वार और तीसरी वार भी निवेदन किया और भगवान् ने निषेध।

भगवान् बोले-आनन्द ! यदि गौतमी आठ गुरु धर्म स्वीकार करे तो उसकी उपसम्पदा (दीक्षा) हो सकती है। [1]

चुल्लवग्ग के अनुसार उनमें (आठ गुरु धर्मों में) से मुख्य-मुख्य ये हैं[2] –

१. सौ वर्ष पूर्व भी दीक्षित भिक्षुणी उसी दिन दीक्षित भिक्षु का भी अभिवादन – प्रत्युत्थान व अंजलि-कर्म करे।

२. जिस गांव में भिक्षु न हो, वहां भिक्षुणी न रहे।

३. हर पक्ष में उपोसत्थ किस दिन है और धर्मोपदेश सुनने के लिये कब आना है, ये दो बातें वह भिक्षु-संघ से पूछे।

४. चातुर्मास के पश्चात् भिक्षुणी को भिक्षु-संघ और भिक्षुणी संघ से प्रवारणा – स्व-दोष-ज्ञापन की प्रार्थना करनी होगी।

५. किसी भी कारण से भिक्षुणी भिक्षु को डांटे-फटकारे नहीं और भिक्षु भिक्षुणियों को उपदेश दे।

तदनन्तर भगवान् बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी को उपसम्पदा दी पर अन्ततः वे इससे तुष्ट नहीं थे। उन्होंने आनन्द से कहा कि धर्म-संघ सहस्रों वर्ष चलता पर क्योंकि नारी को इसमें स्वीकार कर लिया गया है अतः यह चिरकाल तक नहीं टिकेगा। अब यह सैकड़ों वर्ष ही टिकने वाला है।"

महाप्रजापति गौतमी के प्रव्रज्या-प्रसंग को पढ़ने से ज्ञात होता है कि महात्मा बुद्ध नारी-प्रव्रज्या के लिए अन्ततः सहमत नहीं थे। महाप्रजापति गौतमी द्वारा तीन वार निवदेन किया जाना, बुद्ध द्वारा तीनों वार निषेध किया जाना, भगवान् के अनन्य अन्तेवासी आनन्द द्वारा भी तीन वार अनुरोध किया जाना, उस पर भी बुद्ध की अस्वीकृति – ये घटनाक्रम यह सिद्ध करते हैं कि आनन्द द्वारा दूसरे प्रकार से पुनः प्रार्थना किये जाने पर बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी की प्रव्रज्या की जो स्वीकृति दी, वह केवल आनन्द का मन रखने के लिए थी। वे ऐसा कर प्रसन्न नहीं थे। संघ के उत्तरोत्तर उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में उनकी आशा धूमिल हो गई, जो उनके अन्तिम वाक्यों से प्रकट होता है।

इस सन्दर्भ में हम यदि भगवान् महावीर के विचारों पर गहराई से ऊहापोह करें तो उनके चिन्तन में ऐसा भेद ही प्रतीत नहीं होता कि अमुक मुमुक्षु पुरुष है या नारी। उनकी दृष्टि में केवल, यह साधनोन्मुक्त व्यक्ति है, इतना सा रहता है। जिस प्रकार जाति, वर्ण, वर्ग का भेद उनके मन पर कोई असर नहीं करता, उसी प्रकार लिंग-भेद भी उनके समक्ष समस्या बन कर नहीं आता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भगवान् महावीर ने विना किसी संकोच के तीर्थ-स्थापना के अवसर पर गौतमादि पुरुषों को श्रमण-धर्म में दीक्षित कर तत्काल चन्दनवाला आदि नारियों को भी श्रमणी-धर्म में दीक्षित किया।

---

[1] चुल्ल वग्ग १०, १. १ [2] चुल्ल वग्ग १०, २. २

महाप्रजापति के उपर्युक्त आख्यान और भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ-स्थापना के दिवस की तात्कालिक वेला में ही चन्दनबाला आदि नारियों के श्रमणी धर्म में दीक्षित किये जाने के विवरण से यह स्पष्टतः प्रकट होता है । गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका ने छू लिया था और तीर्थंकर महावीर को वह व्यावहारिक भूमिका किंचितमात्र भी छू नहीं सकी । तीर्थंकर अनुस्रोतगामी नहीं होते । वे तो सत्यविमुख रूढ़ परम्पराओं, अंधश्रद्धाओं और निस्सार-थोथी मान्यताओं का उन्मूलन कर एक नूतन क्रान्तिकारी आध्यात्मिक संस्कृति की प्रतिष्ठापना करते हैं । ऐसे महापुरुष भला लोक-प्रवाह में कैसे बह सकते हैं ? सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने स्व-पर-कल्याणकारी धर्माराधना-अध्यात्म साधना के क्षेत्र में तत्वतः पुरुष और नारी जैसा कोई भेद न रख कर साधना की सापवाद (देशविरति) और निरपवाद (सर्वविरति)-इन दोनों विधाओं अर्थात् श्रावक-श्राविका धर्म एवं साधु-साध्वी धर्म के अनुसरण-अनुपालन के लिये पुरुष तथा नारी वर्ग का समान रूप से आह्वान किया । यह वस्तुतः भगवान् महावीर की महावीरता थी । इसका परिणाम भी अतीव श्रेष्ठ और परम सुखावह रहा । नारी वर्ग ने यह सिद्ध कर दिया कि आत्मा के अभ्युत्थान के लिये अध्यात्म-साधना-पथ का अवलम्बन करने की नारी भी पुरुष के समान पूर्ण अधिकारिणी है, प्रबुद्ध पुरुष की तरह प्रबुद्धा नारी भी उत्कट संयम का पालन और सर्वोच्च त्याग करने में सर्वथा सक्षम है । भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन काल से लेकर आज तक का जैन धर्म का इतिहास इस बात का साक्षी है कि श्रमणी-धर्म में दीक्षित नारियों ने [illegible] बड़ी संख्या में, जिस अद्भुत आत्मबल, प्रबल साहस और उत्कट [illegible] संयम का निर्वहन तथा धर्म का प्रचार-प्रसार किया, एवं कर रही हैं, [illegible] कतिपय दृष्टियों से पुरुष-साधकों की अपेक्षा कुछ बढ़कर ही [illegible] ।

भगवान् की प्रथम शिष्या चन्दनबाला भगवान् के निर्वाण से पूर्व ही मुक्त हुईं अथवा पश्चात् – इस सम्बन्ध में भी श्वेताम्बर तथा दिगम्बर – दोनों परम्पराओं के किसी ग्रन्थ में कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। भगवान् के निर्वाण के पश्चात् भगवान् की ३६,००० साध्वियों में से बहुत-सी साध्वियां निश्चित रूप से विद्यमान रही होंगी, पर उनमें से किसी एक का भी नामोल्लेख निर्वाणोत्तर काल के जैन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता। न कहीं इस प्रकार का कोई एक भी उल्लेख दृष्टिगोचर होता है कि निर्वाण के तत्काल पश्चात् अथवा वीर नि० सं० १ से १००० तक की सुदीर्घ कालावधि में साध्वी संघ की प्रवर्तिनियां कौन-कौन रहीं।

वीर नि० सं० १ में दीक्षित हुए आर्य जम्बूस्वामी की दीक्षा के प्रसंग में आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में उल्लेख किया है कि जम्बूकुमार की माता, पत्नियों और सासुओं (सासों) को आर्य सुधर्मा ने श्रमणी धर्म की दीक्षा प्रदान कर उन्हें साध्वी सुव्रता की आज्ञानुवर्तिनी बनाया। साध्वी सुव्रता साध्वियों के किसी संघाटक की मुख्या थीं अथवा सम्पूर्ण श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी, इस सम्बन्ध में परिशिष्ट पर्व में कोई संकेत नहीं किया गया है। परिशिष्ट पर्व में उपर्युक्त विवरण के पश्चात् उल्लेख किया गया है कि ५१० पुरुषों और १७ महिलाओं, कुल मिलाकर ५२७ मुमुक्षुओं के साथ जम्बूकुमार को दीक्षित करने के पश्चात् आर्य सुधर्मा अपने शिष्यों को साथ लिये प्रभु महावीर की सेवा में पहुंचे। परिशिष्टपर्वकार द्वारा किया गया यह उल्लेख प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के सभी मान्य ग्रन्थों में वीर निर्वाण के पश्चात् जम्बूकुमार के दीक्षित होने का उल्लेख है। परम्परागत मान्यता भी यही रही है कि जम्बूकुमार ने वीर निर्वाण के पश्चात् वीर नि० सं० १ में किसी समय दीक्षा ग्रहण की। परिशिष्ट-पर्वकार द्वारा किये गये इस वीर नि० विषयक उल्लेख के संशयास्पद सिद्ध होने की स्थिति में परिशिष्ट पर्व में किये गये उस उल्लेख पर भी पूरी तरह विश्वास नहीं किया जा सकता, जिसमें कि श्रमणी समूह की मुख्या साध्वी का नाम सुव्रता बताया गया है।

यह पहले बताया जा चुका है कि साधु समाज की तरह साध्वी समाज ने भी मानवता पर अनेक महान् उपकार किये हैं। सहज करुणा-कोमल-हृदय सती-वर्ग के उदात्त चारित्र और हितप्रद मधुर उपदेशों से मानव समाज सदा साधना के सत्पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणाएं लेता रहा है। आर्य महागिरि, आर्य सुहस्ती, आर्य वज्र एवं याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र आदि महान् प्रभावक आचार्य जिस प्रकार जिन-शासन की उत्कट सेवा और जनकल्याण के महान् कार्य करने में सफल हुए, वह सब मूलतः साध्वी-समाज की ही दैन रही है। इन सब वास्तविकताओं को दृष्टिगत रखते हुए निर्वाणोत्तर काल की साध्वी-परम्परा की जितनी अधिक महत्तराओं, प्रवर्तिनियों, स्थविराओं के जीवन का परिचय दिया जाय, वह केवल साधकों ही नहीं अपितु समस्त मानव-समाज के लिये उतना

ही अधिक श्रेयस्कर, प्रेरक और दिशावबोधक हो सकता है। निर्वाणोत्तर काल की साध्वी परम्परा का सर्वांगीण परिचय प्रस्तुत करने हेतु अनेक ग्रन्थों का अवलोकन किया गया, अनेक विद्वान् इतिहासविदों, सन्तों एवं साध्वियों से आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया गया पर इन सब प्रयत्नों का कोई उत्साहप्रद परिणाम नहीं निकला। श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों तथा दिगम्बर एवं श्वेताम्बर – दोनों परम्पराओं के शिलालेखों के उल्लेखों से यह तो पूरी तरह सिद्ध होता है कि तीर्थस्थापन के काल से लेकर वर्तमान काल तक जैन श्रमणीवर्ग की पुनीत एवं पावन परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है परन्तु समय-समय पर जो प्रमुख साध्वियां हुईं, उनका जीवन-परिचय मिलना तो दूर अधिकांशतः नामोल्लेख तक दृष्टिगोचर नहीं होता। बड़े विस्तीर्ण काल के व्यवधान के पश्चात् दो चार प्रमुख साध्वियों के नाम अथवा नामोल्लेख के अभाव में उनका केवल साध्वियों के रूप में उल्लेख मात्र मिलता है।

निर्वाण काल से पूर्व की चन्दन बाला, मृगावती आदि कतिपय श्रमणी मुख्याओं का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में दिया जा चुका है। अब निर्वाण पश्चात् १००० वर्ष की अवधि में हुई श्रमणी-मुख्याओं में से जिन-जिन का जिस रूप में परिचय उपलब्ध होता है, उसे यहां संक्षेप में दिया जा रहा है :-

१. आर्या चन्दनबाला

महिलाओं को हजारों की संख्या में श्रमणी-धर्म में दीक्षित कर कल्याण-मार्ग में उनका नेतृत्व किया। आपने स्वयं प्रभु द्वारा प्रदत्त श्रमणीसंघ-मुख्या (प्रवर्तिनी) पद पर रहते हुए ३६,००० साध्वियों के अति विशाल साध्वी-संघ का बड़ी कुशलता के साथ संचालन किया। आपके तत्वावधान में आपका समस्त श्रमणी समूह सम्यक् रूपेण संयमप्रतिपालन, स्वाध्याय, ज्ञानार्जन, तपश्चरण आदि में निरत रह स्व-पर कल्याण में उत्तरोत्तर अग्रसर होता रहा। प्रवर्तिनी चन्दना बड़ी अनुशासनप्रिय थीं। आपके अनुशासन की यह विशेषता थी कि श्रमणी वर्ग की सभी साध्वियां सदा सजग रह कर स्वतः ही श्रमणी-आचार का समीचीन रूप से पालन करती रहतीं थीं। प्रवर्तिनी चन्दनबाला श्रमणाचार में साधारण से साधारण शैथिल्य एवं छोटी से छोटी भूल को भी भविष्य के लिय भयंकर अनर्थ का मूल मान कर अनुशासन और साध्वी समाज के हित की दृष्टि से किसी भी साध्वी को, चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो, प्रेमपूर्वक सावधान करने में किंचित्मात्र भी संकोच नहीं करती थीं। आपने साध्वी मृगावती जैसी उच्चकोटि की साधिका को भी प्रभु के समवसरण में असमय तक बैठे रहने पर उपालम्भ देने में संकोच नहीं किया। अपनी गुरुणी द्वारा दिये गये उपालम्भ पर महासती मृगावती ने भी अपनी भूल के लिये निश्छल भाव एवं विशुद्ध अन्तःकरण से पश्चात्ताप किया और तत्क्षण क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो केवलज्ञान की अनुत्तर, अक्षय एवं अनन्त परम ज्योति प्राप्त कर ली। एक लम्बे समय तक जिनशासन की सेवा एवं स्व-पर का कल्याण करते हुए प्रवर्तिनी चन्दनबाला ने ४ घाती-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान और तदनन्तर अवशिष्ट चार अघाती-कर्मों का क्षय कर अन्त में अखण्ड-अव्याबाध-अनन्त आनन्दस्वरूप मोक्ष प्राप्त किया।[१] महासती चन्दनबाला का परम श्लाघनीय एवं प्रेरणाप्रदायी संयमी-जीवन श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में बड़ा सम्मानास्पद माना गया है। आपकी आज्ञानुवर्तिनी प्रभु महावीर की ३६००० साध्वियों में से १४०० साध्वियों ने (चन्दनबाला सहित) समस्त कर्म समूह को ध्वस्त कर मोक्ष प्राप्त किया।[२]

महासती चन्दनबाला के प्रवर्तिनीकाल में समस्त श्रमणी-संघ अविच्छिन्न और एकता के सूत्र में बन्धा रहा। इनके समय में साध्वी सुदर्शना के अतिरिक्त श्रमणियों का कोई अन्य संघाटक श्रमणी-संघ से पृथक् अथवा स्वेच्छाचारी हुआ हो, ऐसा कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। साध्वी सुदर्शना भी प्रभु महावीर के प्रथम निन्हव जमाली के प्रति स्नेहवश कुछ समय के लिए विपरीत श्रद्धानुगामिनी बन गई थी किन्तु अल्पकाल पश्चात् ही ढंक प्रजापति की प्रेरणा से प्रतिबुद्ध हो एक हजार साध्वियों के साथ प्रायश्चित्तादि से आत्मशुद्धि कर पुनः आपके संघ में सम्मिलित हो गई।

१–२ 'स्त्री तद्भव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती' – इस मान्यतानुसार दिगम्बर परम्परा में इन सबका मोक्ष जाना, नहीं माना गया है। –सम्पादक

आर्या चन्दनबाला के अनुपम उद्दात्त जीवन से मुमुक्षु साधक सदा प्रेरणा लेते रहेंगे। महासती चन्दनबाला ने भगवान् महावीर से पूर्व निर्वाण प्राप्त किया अथवा पश्चात्, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख अभी तक प्रकाश में नहीं आया है; अतः इस विषय में खोज की आवश्यकता है। आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस दिशा में प्रयास करेंगे।

२. आर्या सुव्रता एवं धारिणी आदि

(वीर निर्वाण सं०[1])

प्रभु महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा के आचार्यकाल में महासती सुव्रता का उल्लेख मिलता है पर उनका कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता। आर्या सुव्रता प्रवर्तिनी चन्दनबाला की आज्ञानुवर्तिनी स्थविरा थी अथवा आर्य सुधर्मा के श्रमणी-संघ की प्रवर्तिनी, यदि वे प्रवर्तिनी थीं तो किस समय से किस समय तक प्रवर्तिनी रहीं – इस सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता।

वीर नि० सं० १ में जब राजगृही में आर्य सुधर्मा के उपदेश से श्रेष्ठिकुमार जम्बू भवप्रपंच से विरक्त हो दीक्षित हुए उस समय १७ उच्चकुलीन महिलाओं ने भी आर्या सुव्रता की सेवा में श्रमणीधर्म की दीक्षा स्वीकार की। उनके नाम इस प्रकार हैं :–

१. आर्या धारिणी (जम्बूकुमार की माता)

जम्बू की सासें :–

२. पद्मावती	६. कमलावती
३. कमल भाग	७. सुषेणा
४. विजयश्री	८. वीरमती
५. जयश्री	९. अजयसेना

जम्बू की धर्मपत्नियाँ :–

१०. समुद्रश्री	१३. सेना
११. पद्मश्री	१५. कनकश्री
१२. पद्मसेना	१६. कनकवती
१३. कनकसेना	१७. जयश्री[2]

समुद्रश्री आदि जम्बूकुमार की ऐश्वर्य में पली अनुपम सुन्दरी आठों पत्नियों ने भोगयोग्या भरपूर यौवनभरी अवस्था में समस्त काम-भोगों, सुख-सुविधाओं एवं अपार सम्पदा को ठुकरा कर एक बार मनसा वरण किये गये अपने पति जम्बूकुमार के साथ जिस प्रकार अपने अविचल प्रेम का अन्त तक निर्वहन किया, वह वस्तुतः अति महान्, अद्वितीय, अनुपम-अनूठा, अत्यद्भुत और मुमुक्षुओं के लिये प्रेरणा का अक्षय स्रोत रहा है और रहेगा। विश्व के साहित्य में इस प्रकार का और कोई उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता।

परम प्रभाविका यक्षा आदि साध्वियां

(वीर नि० दूसरी-तीसरी शती)

आर्य सुधर्मा और जम्बू के समय की कतिपय प्रमुख साध्वियों का यथोपलब्ध थोड़ा-सा परिचय ऊपर दिया गया है। आर्य जम्बू के पश्चात् आर्य प्रभव, आर्य शय्यंभव और आर्य यशोभद्र के आचार्यकाल की साध्वियों का परिचय उपलब्ध नहीं होता। इन आचार्यों के समय में भी साध्वी-परम्परा अविछिन्न रूप से निरन्तर चलती रही पर उस समय की प्रमुख साध्वियों के नाम अभी तक उपलब्ध जैन साहित्य में कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुए हैं।

आर्य यशोभद्र के शिष्य आचार्य संभूतिविजय के आचार्यकाल में महामंत्री शकडाल की ७ पुत्रियों के दीक्षित होने का उल्लेख मिलता है। यक्षा आदि सातों बहिनों की स्मरणशक्ति बड़ी प्रखर और प्रबल थी। कठिन से कठिन एवं कितने ही लम्बे गद्य अथवा पद्य को केवल एक बार सुन कर ही यक्षा उसे अपने स्मृति-पटल पर अंकित कर तत्क्षण यथावत् सुना देती थी। इसी प्रकार दूसरी, तीसरी यावत् सातवीं बहिन क्रमशः दो, तीन, चार, पाँच, छ और ७ बार सुन कर किसी भी गद्य-पद्य को यथावत् सुना देती थी। इन सातों बहिनों ने अन्तिम नंद की राजसभा में वररुचि जैसे पण्डित को अपनी अद्भुत स्मरणशक्ति के चमत्कार से हतप्रभ कर किस प्रकार उसके 'अहं' को विचूर्णित किया, यह आर्य स्थूलभद्र के प्रकरण में बताया जा चुका है।

वररुचि द्वारा नियोजित षड्यन्त्र के परिणाम स्वरूप महामन्त्री शकडाल द्वारा मृत्यु का वरण किये जाने और महाराज नवम नन्द द्वारा दिये जा रहे महामात्यपद को ठुकरा कर स्थूलभद्र के प्रव्रजित हो जाने पर स्थूलभद्र की यक्षा आदि सातों विदुषी बहिनों ने भी अपने भ्राता श्रीयक से अनुमति ले उस समय की श्रमणीमुख्या के पास पंच महाव्रत रूप श्रामण्य की दीक्षा ग्रहण की। इन सातों विदुषी साध्वियों ने एकादशांगी का गहन अध्ययन कर अनेक वर्षों तक जिन-शासन की महती सेवा की। अद्भुत स्मरणशक्ति वाली उन सातों साध्वियों ने कितना अथाह ज्ञान अर्जित किया होगा, इसका आज अनुमान नहीं किया जा सकता।

श्वेताम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि क्रमशः आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती ने बाल्यकाल से ही उस समय की

महान् विदुषी आर्या यक्षा के सान्निध्य में रह कर एकदशांगी का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती जैसे आचारनिष्ठ प्रतिभाशाली एवं महान् प्रभावक श्रमण-श्रेष्ठों में प्रारम्भ से ही उच्चकोटि के संस्कार ढालने वाली महासती यक्षा कैसी विदुषी, कितनी तेजस्विनी, आचारनिष्ठा तथा संस्कार-निर्माण में कितनी कुशल होगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में आर्या यक्षा के विदेह-गमन का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। उसमें यह बताया गया है कि आर्य स्थूलभद्र और तदनन्तर यक्षा आदि सातों बहिनों के प्रव्रजित हो जाने के कुछ समय पश्चात् स्थूलभद्र के कनिष्ठ सहोदर श्रीयक ने भी श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। श्रीयक मुनि अत्यन्त सुकोमल प्रकृति के थे। वे भूख-प्यास को सहन करने में इतने अधिक अक्षम थे कि एक उपवास की तपस्या करना भी उनके लिये बड़ा दुष्कर कार्य था। साध्वी यक्षा ने अपने भ्राता मुनि को तपस्या करने के लिये प्रोत्साहित करते हुए एक दिन कहा – "मुनिवर ! तपस्या की अग्नि से ही कर्मसमूह को ध्वस्त किया जा सकता है। यदि उपवास करना कठिन प्रतीत होता है तो आज एकाशन ही कर लीजिये। धीरे-धीरे इस प्रकार तपस्या करने का अभ्यास हो जायगा।"

अपनी बड़ी बहिन की प्रेरणा से मुनि श्रीयक ने एकाशन व्रत करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। मध्याह्न तक का समय बड़े आनन्द के साथ व्यतीत हो गया। श्रीयक को भूख प्यास ने अधिक नहीं सताया। मध्याह्नोत्तर काल में साध्वी यक्षा ने श्रीयक मुनि के पास जा कर जब यह सुना कि उन्हें उस समय तक तो भूख प्यास विशेष असह्य नहीं हो रही है, तो उन्होंने श्रीयक मुनि को उपवास कर लेने का परामर्श दिया। उत्साहवशात् श्रीयक मुनि ने उपवास का संकल्प कर लिया।

रात्रि में भूख एवं प्यास ने उग्र रूप धारण कर लिया और उपोसित श्रीयक मुनि का संभवतः कड़ी प्यास के कारण प्राणान्त हो गया। प्रातःकाल होते ही मुनि श्रीयक की मृत्यु के समाचार सुन कर साध्वी यक्षा ने श्रीयक मुनि की मृत्यु में अपने आपको कारण मान कर बड़े दुःख, पश्चात्ताप और आत्मग्लानि का अनुभव किया। संघ ने बार-बार उन्हें समझाया कि वे निर्दोष हैं पर साध्वी यक्षा ने कई दिनों तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। संघ द्वारा बार-बार विनती किये जाने पर साध्वी यक्षा ने कहा "यदि कोई अतिशयज्ञानी (केवलज्ञानी) यह कह दें कि यक्षा निर्दोष है, तभी मैं अन्न-जल ग्रहण करूंगी, अन्यथा नहीं।"

अन्ततोगत्वा शासनाधिष्ठात्री देवी की संघ ने आराधना की और देवी की सहायता से आर्या यक्षा महाविदेह क्षेत्र में श्रीमंदरस्वामी के समवसरण में पहुँची। घट-घट के अन्तर्यामी तीर्थंकर श्रीमंदरस्वामी ने श्रीमुख से आर्या यक्षा को निर्दोष बताया और ४ अध्ययन प्रदान किये। विदेह क्षेत्र में श्रीमंदर प्रभु के दर्शनों से अपना जीवन सफल तथा उनकी वाणी से अपने आपको निर्दोष मान कर आर्या यक्षा दैवी सहायता से पुनः लौट आई। उन्होंने वे चारों अध्ययन संघ

के समक्ष प्रस्तुत किये, जो आज भी चूलिकाओं के रूप में विद्यमान हैं। तदनन्तर साध्वी यक्षा पुनः पूर्ववत् अपनी बहिनों के साथ स्व-पर-कल्याण एवं जिनशासन की सेवा के कार्यों में निरत हो गई।

इस प्रकार आर्य संभूति विजय के आचार्य-काल में दीक्षित होकर आर्या यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा और रेणा ने साध्वीसंघ में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। यक्षा आदि सातों साध्वियों का संयम-काल आर्य संभूति विजय, आर्य भद्रबाहु और आर्य स्थूलभद्र के आचार्यत्वकाल में कितना कितना रहा तथा ये प्रवर्तिनी आदि पद पर रहीं अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में प्रमाणाभाव के कारण कुछ भी कहना वस्तुतः कल्पना की उडान के अतिरिक्त और कुछ न होगा। यक्षा आदि इन बालब्रह्मचारिणी, महामेधाविनी एवं विशिष्ट श्रुतसम्पन्ना महासतियों से युगयुगान्तर तक साध्वीमंडल ही नहीं, समस्त जैन संघ गौरवानुभव और प्रेरणा प्राप्त करता रहेगा।

आर्या पोइणी

(अनुमानतः वी० नि० सं० ३०० से ३३० के आस पास)[1]

वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह के समय में साध्वीमुख्या विदुषी महासती पोइणी और ३०० अन्य निर्ग्रन्थिनी साध्वियों की विद्यमानता का उल्लेख हिमवन्त स्थविरावली में उपलब्ध होता है। कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल द्वारा वीर निर्वाण की चतुर्थ शताब्दी के प्रथम चरण में कुमारिगिरि पर आयोजित आगम-परिषद में वाचनाचार्य आर्य बलिस्सह एवं गणाचार्य आर्य सुस्थित सुप्रतिबद्ध की परम्पराओं के ५०० श्रमणों के विशाल मुनि-समूह के साथ आर्या पोइणी आदि ३०० निर्ग्रन्थ श्रमणियों के उपस्थित होने का स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगत होता है।[2]

इस प्रकार के प्राचीन उल्लेखों से यह भलीभांति सिद्ध होता है कि श्रुत-रक्षा एवं संघहित हेतु आयोजित वाचनाओं, विचारणाओं अथवा परिषदों में साधुसंघ के समान साध्वीसंघ और यहां तक कि श्रावक-श्राविकाओं के संघों का भी सर्वथा पूर्ण सहयोग प्राप्त किया जाता था।

---

१ "एसो णं जिणसासणपभावगो भिक्खुराय णिवो............वीराओ णं तीसाहिय तिसय वासेसु विइक्कंतेसु सग्गं पत्तो।"—हिमवन्त स्थविरावली के इस उल्लेख के अनुसार खारवेल का अंतिम समय वीर नि० सं० ३३० सिद्ध होता है। महासती पोइणी भी खारवेल द्वारा आयोजित आगम-परिषद् में सम्मिलित थीं अतः उनका भी यही समय अनुमानित किया जाता है। —सम्पादक

२ ....तेणं भिक्खुरायणिवेणं जिणपवयण संगहट्ठं जिणधम्म वित्थरट्ठं य संपइ णिवुव्व समणाणं णिग्गंठाणं णिग्गंठीणं य एगा परिसा तत्थ कुमारिपव्वय-तित्थम्मि मेलिया।.........अज्जा पोइणीयाईणं अज्जाणं णिग्गंठीणं तिन्नि सया समेया।
[हिमवन्त स्थविरावली, अप्रकाशित]

आगम के पाठों को स्थिर अथवा सुनिश्चित करने में जिस साध्वी की सहायता ली गई हो, वह साध्वी कितनी बड़ी ज्ञान-स्थविरा, आगम-मर्मज्ञा, प्रतिभाशालिनी और प्रकाण्ड विदुषी होगी, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। ज्ञान और क्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति आर्या पोइणी जैसी विदुषी का कुल, वय, शिक्षा, दीक्षा एवं साधना संवन्धी परिचय यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है तथापि यह अनुमान किया जा सकता है कि आर्या यक्षा के पश्चात् किसी निकट-वर्ती समय में ही आर्या पोइणी ने साध्वी संघ में प्रमुख स्थान प्राप्त किया और वह एक वहुश्रुता, संघ संचालन में कुशल एवं आचारनिष्ठा साध्वी थीं।

आर्य महागिरि के आचार्यकाल तक श्रमण संघ में एक आचार्य की परम्परा रही, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्या यक्षा के समय तक साध्वी संघ एक ही प्रवर्तिनी अथवा साध्वीसंघ-मुख्या के नेतृत्व में चलता रहा। विदुषी साध्वी पोइणी के समय में साधु-संघ की तरह साध्वी-संघ में भी पृथक् नेतृत्व का प्रचलन हो गया था अथवा नहीं, इस सम्वन्ध में किसी प्रकार का उल्लेख उपलब्ध न होने के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु अनुमान किया जाता है कि आर्य महागिरि के पश्चात् श्रमण-संघ में हुए पृथक् नेतृत्व के प्रादुर्भाव का साध्वी-संघ पर भी सहज ही प्रभाव पड़ा होगा। इतना सब कुछ होते हुए भी यह तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि साधारण मतभेद होने के उपरान्त भी उस समय तक मन-भेद नहीं हुआ था। इस अनुमान की हिमवन्त स्थविराली के निम्नलिखित उल्लेख से भी पुष्टि होती है, जिसमें कुमारिगिरि पर आयोजित आगम परिषद में दोनों परम्पराओं के मुनिमण्डलों के एकत्रित होने का स्पष्ट उल्लेख है :-

"..............तेणं भिक्खुराय णिवेणं............समणाणं णिग्गंठाणं णिग्गंठीणं य एगा परिसा तत्थ कुमारि पव्वयतित्थम्मि मेलिया। तत्थ णं थेराणं अज्जमहागिरीणमणुपत्ताणं वलिस्सह वोहिलिंग देवायरि धम्मसेण नक्खत्ता-यरियाइ जिणकप्पि तुलत्तं कुणमाणाणं दुण्णिसया णिग्गंठाणं समागया। अज्ज सुट्ठिय सुवडिवद्ध उमसाइ सामज्जाइणं थेरकप्पियाणं वि तिन्निसया निग्गंठाणं समागया।............[1]"

अर्थात् – महाराज भिक्खुराय द्वारा आयोजित निर्ग्रन्थ श्रमण-श्रमणियों की परिषद् में आचार की दृष्टि से जिनकल्पियों के समान व्यवहार करने वाले आर्य वलिस्सह आदि २०० साधु और स्थविरकल्पी आर्य सुस्थित सुप्रतिवद्ध आदि ३०० साधु एकत्रित हुए। बाह्य वेष के साधारण भेद के उपरान्त भी उनके अन्तर्मन एक थे, भेद रहित थे और उन सब ने एक साथ बैठकर पारस्परिक सह-योग से विचारों के आदान-प्रदान से आगम-परिषद को सफल वनाया।

साधु-समूह के समान साध्वी-समूह के समक्ष जिनकल्प और स्थविरकल्प का प्रश्न न होने की दृष्टि से यद्यपि साध्वी-संघ में पृथक् नेतृत्व की भावना के

[1] हिमवन्त स्थविरावली (अप्रकाशित)

उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं था तथापि साध्वी-समुदाय परम्परा से श्रमण-संघ का अभिन्न अंग रहा है। पृथक् समुदायों के रूप में इन दोनों का अस्तित्व रहने के उपरान्त भी नीति निर्देश, ज्ञानार्जन, मार्गदर्शन आदि की दृष्टि से साध्वी समूह सदा से श्रमण संघ के तत्वावधान में कार्य करता रहा है अतः यह सुनिश्चित सा प्रतीत होता है कि श्रमणसंघ का नेतृत्व ज्यों ही अनेक आचार्यों में विभक्त हुआ त्यों ही श्रमणी-समूह का नेतृत्व भी उन पृथक् हुए आचार्यों की प्रमुख शिष्याओं के तत्वावधान में विभक्त हो गया होगा।

चाहे आर्या पोइणी तटस्थ भाव से अपने साध्वी-समाज का नेतृत्व करती रही हों, चाहे वह आर्य वलिस्सह अथवा सुस्थित की परम्परा की साध्वियों के समुदाय की संचालिका रही हों पर कुमारी पर्वत पर हुई आगम-परिषद् में साध्वी पोइणी के उपस्थित होने और एकादशांगी के पाठों के निर्धारण में उनके द्वारा सहयोग दिये जाने सम्बन्धी हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप समस्त चतुर्विध संघ साध्वी पोइणी की ज्ञान-गरिमा का बड़ा समादर करता था और संघ में उनका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था।

पोइणी का संस्कृत रूपान्तर है 'पोतिनी'–अर्थात् बहुत बड़ी जहाज। इस नाम से भी यही प्रकट होता है कि वे अपने समय की बड़ी ही प्रभाविका महासती हुई हैं, जिन्हें भव्यजन भव-सागर से पार लगाने वाली धर्मजहाज मानते थे।

कलिंग जैसे दूरस्थ प्रदेश के कुमारी पर्वत के समान दुरूह एवं विकट स्थान पर ३०० श्रमणियों के एकत्रित होने सम्बन्धी हिमवन्त स्थविरावली के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि वीर निर्वाण की चौथी शती में श्रमणी-समुदाय का स्वरूप सुविशाल था और भारत के विभिन्न प्रान्तों में श्रमणों की तरह श्रमणियां भी अप्रतिहत विहार करती हुई जन-जन के मन में आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न कर रही थीं।

साध्वी सरस्वती

(वीर निर्वाण की पांचवीं शताब्दी)

वीर की पांचवीं शती के पूर्वार्द्ध (आर्य गुणाकर के समय) में द्वितीय कालकाचार्य के साथ उनकी भगिनी सरस्वती द्वारा पंच महाव्रत स्वरूप निर्ग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण किये जाने का उल्लेख मिलता है।

द्वितीय कालकाचार्य के प्रकरण में साध्वी सरस्वती का पूरा परिचय दिया जा चुका है।[1] साध्वी सरस्वती ने अपने ऊपर आये हुए संकट में बड़े साहस से काम लिया। गर्दभिल्ल के राजमहल में वन्दिनी की तरह बन्द किये जाने,

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ५१०–५१३

गर्दभिल्ल द्वारा अनेक प्रकार की यातनाएं, भय एवं प्रलोभन दिये जाने के उपरान्त भी वे सत्पथ से विचलित नहीं हुईं। गर्दभिल्ल के पाश से मुक्त होने के पश्चात् आर्या सरस्वती ने आत्मशुद्धि पूर्वक जीवन पर्यन्त कठोर तप एवं संयम की साधना की और अन्त में समाधिपूर्वक देह त्याग कर सद्गति प्राप्त की।

साध्वी सुनन्दा

(वीर की छठी शताब्दी का प्रारम्भ)

वीर की पांचवीं शताब्दी के द्वितीय एवं तृतीय चरण में हुई साध्वी सरस्वती के पश्चात् वीर नि० सं० ५०४ के आसपास आर्य वज्र की माता सुनन्दा द्वारा आर्य सिंह गिरि की आज्ञानुवर्तिनी स्थविरा साध्वी के पास श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख उपलब्ध होता है। धनगिरि जैसे भवविरक्त महान् त्यागी की पत्नी और आर्य वज्र जैसे महान् युगप्रधानाचार्य की माता सुनन्दा का गौरव-गरिमापूर्ण उल्लेख जैन इतिहास में सदा स्वर्णाक्षरों में किया जाता रहेगा। यौवन भरी प्रथम वय में सुनन्दा ने गुर्विणी होते हुए भी दीक्षित होने के लिये उत्कण्ठित अपने पति को प्रव्रजित होने की अनुमति देकर जो आदर्श भारतीय नारी का उदाहरण प्रस्तुत किया, वह अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होगा।

उपलब्ध प्राचीन साहित्य में यद्यपि विगत की बीच-बीच की अनेक कालावधियों में सध्वियों के नामोल्लेख नहीं मिलते तथापि कतिपय ऐसे प्रबल प्रमाण साहित्य में मिलते हैं, जिनके आधार पर सुनिश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वीर निर्वाण के पश्चात् साध्वी-परम्परा कभी विच्छिन्न नहीं हुई अपितु वह अक्षुण्ण रूप से चलती रही है।

उन अनेक प्रबल प्रमाणों में से एक प्रमाण है आर्य वज्र का शैशवकाल। आर्य वज्र का वीर नि० सं० ४९६ में जन्म हुआ। जन्म के थोड़ी देर पश्चात् ही अपनी माता की सहेली के मुख से अपने पिता धनगिरि के दीक्षित होने की बात सुनकर शिशु वज्र को जातिस्मर ज्ञान हो गया। उनके प्रति माता की ममता न बढ़े और उसके परिणाम स्वरूप उन्हें समय पर दीक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय—यह विचार कर बालक वज्र ने रुदन ठाना। वज्र का रुदन तभी बन्द हुआ जब कि उसकी माता सुनन्दा ने उसे सदा-सर्वदा के लिये श्रमण-संघ को अर्पित करते हुए आर्य धनगिरी की झोली में रखा। अपने शिष्य धनगिरि को तुम्बवन में मधुकरी के समय प्राप्त हुए शिशु वज्र को आर्य सिंहगिरी ने समुचित समय तक पालनार्थ शय्यातरी श्राविका को सम्हला दिया।

जातिस्मर-ज्ञान-सम्पन्न बालक वज्र ने शय्यातरी के साथ दिन के समय निरन्तर ज्ञानस्थविरा श्रमणियों के मुख से सुन-सुनकर बाल्यकाल में ही सम्पूर्ण एकादशांगी को कण्ठस्थ कर लिया।

इस प्रकार आर्य वज्र द्वारा श्रमणियों के मुखारविन्द से सुन-सुनकर एकादशांगी के कण्ठस्थ किये जाने का उल्लेख इस बात का प्रबल प्रमाण है कि वीर-

बीच के अनेक अन्तरालों में साध्वी-परम्परा की साध्वियों के नाम सुरक्षित न रह पाने के कारण उपलब्ध साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होते तथापि न केवल साध्वी-परम्परा ही अपितु सम्पूर्ण एकादशांगी की पारंगत साध्वी-परम्परा सदा अक्षुण्ण रूप में विद्यमान रही है। यदि ऐसा नहीं होता तो एकादशांगी के ज्ञान में निष्णात साध्वियों से बालक वज्र द्वारा ऐकादशांगी के कण्ठाग्र किये जाने का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं किया जाता।

वस्तुतः आर्या सुनन्दा और वे अनुपलब्धनामा ज्ञानस्थविरा आर्याएं, जिनसे बालक वज्र ने एकादशांगी कण्ठस्थ की और जिनके पास वज्र की महामहिमामयी माता सुनन्दा ने श्रमण-धर्म अंगीकार किया, उस अक्षुण्णा साध्वी-परम्परा की शृंखला की अविच्छिन्न कडियां हैं, जो तीर्थस्थापन की वेला से आज तक अनवरत रूप से स्व-पर-कल्याण करती चली आ रही है।

आर्या सुनन्दा का विस्तृत परिचय आर्य सिंहगिरि के प्रकरण में दिया जा चुका है।[1]

बालब्रह्मचारिणी साध्वी रुक्मिणी

(वीर निर्वाण की छठी शताब्दी का पूर्वार्द्ध)

साधना पथ पर अग्रसर होने वाले नरशार्दूलों के समान नाहरियों तुल्य पराक्रमशालिनी नारियों द्वारा किये गये त्याग के भी एक से एक बढ़ कर बड़े ही अद्भुत एवं अनुपम उदाहरण जैन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के अत्युच्चकोटि के त्याग करने वाली महामहिमामयी महिलाओं में साधिका रुक्मिणी का भी बहुत ऊंचा स्थान है। वस्तुतः साध्वी रुक्मिणी का त्याग अपने आप में सब से निराला-सबसे अनूठा है। एक क्षण पहले मोह के मादक नशे के वशीभूत हुए मन ने जिसे अपने विलासितापूर्ण भोगमार्ग के आराध्य देव के रूप में वरण कर लिया हो, दूसरे ही क्षण, मोह का नशा उतार दिये जाने पर भोग-मार्ग के लिये चुने गये उसी आराध्य देव को योग-मार्ग का आराध्य देव बना कर समस्त भोगों को ठुकरा जीवन भर के लिये कण्टकाकीर्ण योग-पथ का पथिक बन जाना – यह कोटिपति श्रेष्ठि की इकलौती पुत्री रुक्मिणी के जीवन की अप्रतिम एवं बड़ी ही अद्भुत् विशेषता है। वह अभूतपूर्व घटना इस प्रकार है :–

गणाचार्य आर्य सिंहगिरि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आर्य वज्र विहार क्रम से पाटलीपुत्र पहुँचे। अपने समय के महान् युगपुरुष के, अपने नगर के बहिर्भाग में अवस्थित उपवन में, शुभागमन का समाचार सुनते ही पाटलीपुत्र का अपार जनसमूह उद्वेलित सागर के समान आर्य वज्र के दर्शन एवं उपदेश श्रवण की उत्कण्ठा लिये उस उपवन की ओर उमड़ पड़ा। पाटलिपुत्र के धन नामक कोट्यधीश श्रेष्ठी की इकलौती पुत्री कुमारी रुक्मिणी भी अपनी सखी-सहेलियों के साथ उस उपवन में पहुँची।

---

[1] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ५६६–५७२

अखण्ड ब्रह्मचर्य के अत्यद्भुत तेज से देदीप्यमान आर्य वज्र के सौम्य, शान्त एवं नयनाभिराम मुखमण्डल को निर्निमेश नयनों से निहारता हुआ जन-समुद्र आप्यायित हो उठा। गणाचार्य आर्य वज्र के घनरव-गम्भीर निर्घोष से प्रवाहित सुधा-सुरसरी तुल्य श्रुतसरिता में निमज्जन-उन्मज्जन करते हुए उपस्थित आबालवृद्ध ने एक अलौकिक तथा अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति की।

कुमारी रुक्मिणी की मोहविमुग्ध दृष्टि ने आर्य वज्र को एक और ही रूप में देखा। मोह के प्राबल्य से वह सम्मोहित हो गई। उसने क्षण भर में ही अपने ऐहिक सुख के एक नवीन रंगीन-संसार की कल्पना कर ली। योग-मार्ग के महान् पथिक आर्य वज्र रुक्मिणी को अपने भोग-मार्ग के आराध्य देव प्रतीत हुए। उसने मन ही मन आर्य वज्र का अपने पति के रूप में वरण करते हुए दृढ़ प्रतिज्ञा कर डाली कि वह आर्य वज्र को छोड़ अन्य किसी के साथ प्रणय-सूत्र में नहीं बंधेगी। मोह ने उसके मन, मस्तिष्क और रोम-रोम पर अधिकार कर लिया था अतः वह यह सोच ही नहीं सकी कि अपनी इस प्रतिज्ञा द्वारा वह अमृत के देवता को गरल-पान का निमन्त्रण देना, अनन्त आकाश को मुट्ठी में बन्द करना और समुद्र की अथाह जलराशि को अपनी अंजलि में समा देना चाहती है। मोह का आवरण पड़ने पर मन, मस्तिष्क और दृष्टि की गति बड़ी विचित्र हो जाती है। रुक्मिणी उस समय भला इस प्रकार कैसे सोचती, जब कि उसके तन मन पर मोह छाया हुआ था।

आर्य वज्र के दर्शन एवं उपदेश-श्रवण के पश्चात् भावविभोर जनसमूह मुनि-चरणों में मस्तक झुका शनैः-शनैः पाटलीपुत्र की ओर उसी प्रकार लौट गया, मानो ज्वारभाटे की समाप्ति के अनन्तर पूर्णिमा के चन्द्र की किरणों से आप्यायित-तृप्त सागर पुनः अपनी सीमा में सिमट गया हो।

कुमारी रुक्मिणी भी गहन विचारों में डूबती-उतराती, कल्पना के अनेक मनोहारी रंगीन चित्र चित्रित करती हुई, भारी मन लिये अपने घर लौटी। उसके हृदय में प्रबल वेग से उद्भूत हुई आर्य वज्र की चरणानुचरी बनने की तीव्र उत्कण्ठा ने एक एक क्षण का विलम्ब भी उसके लिये एक एक युग के समान भारी बना डाला था। अन्तर की ज्वालाओं के शमन का और कोई उपाय न था, लाचार हो उसने लोकलाज को एक ओर रख स्वयं अपने पिता के पास जाकर अपना यह दृढ़ संकल्प रखा – "मैं आर्य वज्र को प्राणपण से अपना प्राणाधार चुन चुकी हूँ। यदि उनके साथ मेरा प्रणयबन्धन में गठबन्धन संभव नहीं हुआ तो मैं अग्नि में प्रवेश कर आत्मदाह कर लूंगी।"

है" – इस लोकोक्ति के अनुरूप उसने मन में सहसा अपनी अपार सम्पदा के साथ आर्य वज्र से सौदा करने का निश्चय किया। वह सौ करोड़ (एक अरब) मुद्राएं और वस्त्राभूषणादि से अलंकृता अपनी पुत्री को साथ ले वज्र स्वामी के पास पहुंचा।[1] धन श्रेष्ठि ने अभिवादनपूर्वक वज्र स्वामी से निवेदन किया – "नाथ! मेरी यह पुत्री अपने प्राणनाथ के रूप में आपका वरण कर चुकी है। अतः आप कृपा कर मेरी इस अनुपम रूप-लावण्य-यौवन संपन्ना पुत्री को ग्रहण कीजिये। इसके साथ ये एक अरब मुद्राएं भी ग्रहण कीजिये। जीवन पर्यन्त आप स्वेच्छा पूर्वक सभी प्रकार के सांसारिक सुखोपभोगों का आनन्द लें, तो भी यह धनराशि समाप्त नहीं होगी।" यह कह कर श्रेष्ठि धन महर्षि वज्र के चरण कमलों पर अपना मस्तक रख अभीष्ट उत्तर की आशा लिये उनके मुखकमल की ओर उत्कण्ठा पूर्वक देखने लगा।

आर्य वज्र ने सहज शान्त स्वर में कहा – "श्रेष्ठिन्! तुम अत्यधिक सरल और बड़े भोले हो, जो स्वयं संसार के बंधनों में बंधे रहने के कारण, भव-प्रपंच से बहुत दूर जो लोग हैं, उन्हें भी बांधना चाहते हो। जिस प्रकार कोई मुधामुग्ध व्यक्ति धूलि के ढेर के बदले में रत्नों की राशि, तृण के बदले में कल्पवृक्ष, कौए के बदले में हंस, भील की झौंपड़ी के बदले में देवविमान और क्षारयुक्त जल के बदले में अमृत के क्रय करने का मूर्खतापूर्ण व्यर्थ प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार तुम भी अपने इस तुच्छ कुधन द्वारा मुझे गरलोपम विषयभोगों का रसास्वादन कराने के बदले में परमात्मपद-प्रदायी मेरा तप-संयम मुझ से छीनना चाहते हो। क्षणिक विषय-सुख घोर दुखानुबन्धी और अनन्तकाल तक विकट भवाटवी में भटकाने वाले हैं। शाश्वत शिवसुख की तुलना में संसार का समस्त धन वालुकण तुल्य है। यदि तुम्हारी यह पुत्री अन्तर्मन से वस्तुतः अनुरक्त हो मेरे शरीर की छाया के समान मेरा अनुसरण करना चाहती है तो सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप मेरे द्वारा ग्रहण किये हुए महाव्रतों को अंगीकार कर शाश्वत सुखप्रदायी श्रेयस्कर साधनापथ पर अग्रसर हो आत्मकल्याण में निरत हो जाय।"

जिस प्रकार गले से नीचे उतरते ही अमृतकण घातक से घातक विष के प्रभाव को नष्ट कर देता है, ठीक उसी प्रकार शाश्वत सुख और सुखाभास का वास्तविक बोध कराने वाले आर्य वज्र के हितकर वचनों को सुनते ही कुमारी रुक्मिणी के मन, मस्तिष्क और नेत्रों पर छाया हुआ मोह का नशा तत्क्षण उतर गया। उसने अनुभव किया कि उसके अन्तर में प्रकाश की एक किरण प्रकट हुई है, जो शनैः शनैः तेज होती हुई उसके हृदय में व्याप्त निविड़तम अन्धकार को उजाले के रूप में परिवर्तित कर रही है। उसे लगा, जैसे उसकी आंखों पर पड़ा आवरण दूर हो गया है और उसके परिणामस्वरूप उसे समस्त दृश्यमान जगत् वदला हुआ सा, परिवर्तित स्वरूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। उसे समस्त ऐहिक सुख-विषय-कषाय आदि विष तुल्य हेय प्रतीत होने लगे। कुछ ही क्षणों पहले

[1] प्रभावक चरित्र, श्लोक संख्या १३६

उसका जो मन आर्य वज्र को प्राप्त कर सांसारिक भोगोपभोगों के लिये आकुल-व्याकुल हो रहा था, अब वही मन आर्य वज्र को अपना योग-मार्ग का आराध्यदेव बनाकर कण्टकाकीर्ण साधनापथ पर तत्काल अग्रसर होने के लिये व्यग्र हो उठा।

रुक्मिणी ने आर्य वज्र के समक्ष शिर झुका अंजलिबद्ध हो प्रार्थना की – "मेरे आराध्य गुरुदेव ! आपने मेरे अन्तर के नेत्र उन्मीलित कर दिये हैं। मुझे आपने धर्ममार्ग पर प्रवृत्त कर नया जन्म दिया अतः आप मेरे धर्म-पिता हैं। अपनी धर्म-पुत्री के गुरुतर सब अपराधों को क्षमा कर अपने संघ की शरण में लीजिये। मैं प्रव्रजित होना चाहती हूँ।"

इस प्रकार के अश्रुत-पूर्व अद्भुत् हृदय-परिवर्तन और अपूर्व त्याग के समाचार विद्युत्वेग से तत्क्षण समस्त पाटलीपुत्र में फैल गये। जिसने सुना, उसी का शिर रुक्मिणी के प्रति श्रद्धा से सहसा झुक गया। रुक्मिणी ने आर्य वज्र की आज्ञानुवर्तिनी साध्वीमुख्या के पास श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर जीवनपर्यंत विशुद्ध संयम का पालन कर भवाटवी में भटकाने वाले कर्मभार को हल्का किया। आर्या रुक्मिणी का अनुपम त्यागपूर्ण जीवन साधक-साधिकाओं के लिये बड़ा प्रेरणादायक रहा है और भावी सहस्राब्दियों तक प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

महासती धारिणी[1]
(वीर नि०सं० २४–६० के लगभग)

साध्वी धारिणी का जीवन चरित्र जैन इतिहास में वस्तुतः आदर्श नारी का प्रतीक माना जाकर सदा स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता रहेगा। श्रमणी धर्म में दीक्षित होने से पूर्व अपने सतीत्व की रक्षा हेतु अतुल ऐश्वर्य और अपनी संतति तक का मोह त्याग कर तथा श्रमणी धर्म में दीक्षित होने के पश्चात् दो राज्यों के युद्ध में संभावित भीषण नरसंहार को रोक कर महासती धारिणी ने संसार के समक्ष जो दो उच्चकोटि के आदर्श प्रस्तुत किये, उनसे आर्य नारियां अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करती हुई सदा प्रेरणाएं लेती रहेंगी।

धारिणी अवन्ती-राज्य के अधीश्वर महाराजा पालक के छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन की पत्नी (चण्डप्रद्योत की पौत्रवधु) थी। अवन्तीश पालक ने वीर नि० सं० ६० में अपने बड़े पुत्र अवन्तीवर्द्धन को अवन्ती का राज्य और छोटे पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद दे कर आर्य सुधर्मा के पास श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।[2] अवन्तीवर्धन अपने छोटे भाई युवराज राष्ट्रवर्द्धन के परामर्श से राज-काज का संचालन करने लगा। युवरानी धारिणी ने एक पुत्र को जन्म दिया। शिशु का नाम अवन्तीसेन रखा गया। धारिणी अपने पति के साथ अवन्ती राज्य के ऐश्वर्य एवं विविध ऐहिक सुखों का उपभोग करती हुई अपना समय व्यतीत कर रही थी।

---

[1] महासती धारिणी का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ३५८ पर साध्वी प्रकरण में दे दिया जाना चाहिए था पर प्रमादवश वह भूल रह गई। — सम्पादक

[2] आवश्यक चूर्णि, भाग २, पृ० १८६

एक दिन अवन्तीवर्द्धन ने राजप्रासाद के उद्यान में क्रीड़ा करती हुई धारिणी को देखा। वह उस पर आसक्त हो गया। अपनी विश्वस्ता दासी के माध्यम से उसने अपने भाई की पत्नी के पास अपना निन्द्य प्रस्ताव पहुंचाया। धारिणी ने भर्त्सना भरे शब्दों में अपने ज्येष्ठ के कामुकतापूर्ण कुत्सित प्रस्ताव को ठुकराते हुए दासी के माध्यम से उसे कहलवाया कि उनके अनुज के अतिरिक्त संसार के समस्त पुरुषवर्ग को वह पिता, भाई एवं पुत्र तुल्य समझती है।

अवन्तीवर्द्धन पर धारिणी की फटकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह धारिणी को पाने के लिये, जल से स्थल पर पटकी हुई मछली के समान छटपटाने लगा। धारिणी को पाने का और कोई उपाय न देख उस कामान्ध अवन्तीवर्द्धन ने अपने सहोदर राष्ट्रवर्धन की बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से हत्या करवा दी। गुर्विणी (गर्भिणी) धारिणी को काल की उस कराल करवट ने कुछ समय के लिये किंकर्त्तव्यविमूढ बना दिया। उसे अपने चारों ओर घोर अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होने लगा। अपने सतीत्व पर आने वाले संकट की कल्पना मात्र से वह सिहर उठी। उसका पुत्र अवन्तीसेन उस समय एक अबोध बालक था। उसे कहीं कोई सहारा दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। उसे समस्त सांसारिक कार्यकलाप विडम्बनापूर्ण प्रतीत होने लगे। उस अति विकट संकटापन्न स्थिति में भी, जबकि उसके चारों ओर घोर निराशा के बादल मंडरा रहे थे, धारिणी ने धैर्य नहीं त्यागा। उसने अपने सतीत्व की रक्षा का दृढ़ संकल्प किया। अपने और अपने पति के कतिपय बहुमूल्य आभूषणों को एक गठरी में लपेट कर राजप्रासाद का सदा के लिये परित्याग करने हेतु वह उद्यत हुई। प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए अपने पुत्र अवन्तीसेन की ओर ममता भरी दृष्टि का निक्षेप कर उसने एक बार ऊपर अनन्त आकाश की ओर एक क्षण के लिये देखा और वह प्रच्छन्न वेष में राजप्रासाद से बाहर निकली। जिस ओर डग पड़े उसी ओर बढ़ती हुई धारिणी नगर के बाहर पहुँची। उसे स्वयं को भी पता नहीं था कि अन्ततोगत्वा उसे कहां पहुंचना है, वह दिग्विमूढ़ की तरह निरन्तर आगे की ओर बढ़ती रही। उसने मुड़ कर देखा-अवन्ती, अवन्ती के गगनचुम्बी राजप्रासाद, भव्य भवन, अट्टालिकाएं–सब क्षितिज के उस छोर में छुप गये हैं। उसने संतोष की एक दीर्घ सांस ली और वह पुनः अपने लक्ष्य-विहीन पथ पर अग्रसर हुई। विकट वन्य प्रदेशों को पार करती हुई धारिणी रात भर चलती रही। सूर्योदय हो चुका था, वह थक कर चूर हो चुकी थी तथापि वह अदम्य साहस की पुतली सी बनी, बिना एक क्षण भी विश्राम किये आगे की ओर बढ़ती रही। एक टेकरी की चढ़ाई को पूरा करने के पश्चात् ढलान की ओर बढ़ते हुए उसने देखा कि एक सार्थ रात्रि के विश्राम के अनन्तर अपना पड़ाव उठा कर आगे बढ़ने को उद्यत हो रहा है। धारिणी के अन्तर्मन में आशा और संतोष की एक लहर उठी। वह तीव्र गति से सार्थ की ओर बढ़ी और

उसके साथ धारिणी ने आगे की ओर प्रस्थान किया। सार्थ में सम्मिलित महिलाओं के साथ वह घुलमिल गई। कतिपय दिनों की यात्रा के पश्चात् सार्थ के साथ-साथ धारिणी कौशाम्बी नगर पहुँची।

कौशाम्बी के महाराजा की यानशाला में ठहरी हुई स्थविरा श्रमणियों के दर्शन और उपदेश-श्रवण से धारिणी को अद्भुत् शान्ति की अनुभूति हुई। सांसारिक प्रपंचों से दूर, केवल आध्यात्मिक चिंतन में लीन उन जैन साध्वियों का शान्त-दान्त जीवन धारिणी को बड़ा सुखकर लगा। राष्ट्रवर्द्धन की हत्या, कामान्ध अवन्तीवर्द्धन द्वारा संभावित संकट और पुत्रवियोग के कारण धारिणी का हृदय भीषण भट्टी की तरह जल रहा था। उसकी ज्वालाएं उसके तन, मन, रोम-रोम को भस्मसात् किये जा रही थीं। साध्वियों के सान्निध्य में धारिणी को अनुभव होने लगा कि उसके अन्तर की आग शनैः-शनैः शीतल होती चली जा रही है, उसके तन-मन की जलन मिटती जा रही है। उसके अंतर में आशा की नयी किरण उदित हुई। उसके मन में विश्वास जमने लगा कि इन श्रमणियों की सेवा में रह कर वह सदा सर्वदा के लिये भवताप को भी समाप्त करने में सिद्धकाम हो सकती है। उसने श्रमणी-धर्म में प्रव्रजित होने का दृढ़ निश्चय किया। उसने सोचा - "यदि संघाटक-मुख्या साध्वी को उसके गर्भिणी होने की बात विदित हो गई तो निश्चित रूप से वे उसे श्रमणी-धर्म की दीक्षा प्रदान नहीं करेंगी।" अब उसका वैराग्य अपनी चरम सीमा पार कर चुका था, अब उसे दीक्षित होने में एक-एक क्षण का विलम्ब भी असह्य हो रहा था। अतः धारिणी ने इस रहस्य को प्रकट नहीं किया और श्रमणी-मुख्या के पास पंच महाव्रत रूप श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। साध्वी धारिणी अपने बीते दिनों की याद भुला कर अहर्निश साध्वियों की सेवा, ज्ञानार्जन और आत्मचिन्तन में तल्लीन रहने लगी।

कुछ समय पश्चात् गर्भसूचक स्पष्ट चिन्हों को देख कर संघाटक-मुख्या स्थविरा ने धारिणी से वस्तुस्थिति के बारे में पूछा। धारिणी ने अपना पूरा परिचय देते हुए अपने साथ घटी आद्योपान्त सारी घटना यथातथ्य रूप से गुरुणीजी को सुना दी।

को अपना पुत्र घोषित कर उसका लालन-पालन एवं शिक्षण-दीक्षण किया। उन्होंने अपने (दत्तक) पुत्र का नाम मणिप्रभ रखा।

भाई की हत्या करवाने पर भी जब अवन्तीवर्द्धन को धारिणी नहीं मिली तो उसका सम्मोह दूर हुआ। अपने अति निकृष्ट दुष्कृत्य पर उसे आन्तरिक पश्चात्ताप हुआ। अपने छोटे भाई राष्ट्रवर्धन के पुत्र अवन्तीसेन को राज्य-सिंहासन पर आसीन कर अनुमानतः वीर नि० सं० २४ में अवन्तीवर्द्धन ने श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

कौशाम्बीपति अजितसेन की मृत्यु के पश्चात् मणिप्रभ कौशाम्बी के राज-सिंहासन पर बैठा। इस प्रकार राष्ट्रवर्धन और देवी धारिणी का बड़ा पुत्र अवन्तीसेन अवन्ती का और छोटा पुत्र मणिप्रभ कौशाम्बी का शासन करने लगा। कौशाम्बी और अवन्ती के राजवंश में चण्डप्रद्योत के समय से ही परस्पर शत्रुता चली आ रही थी। अवन्तीसेन ने भी किसी छोटे-बड़े कारण को लेकर कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। दोनों ओर से युद्ध की पूरी तैयारियां हो चुकी थीं, भीषण नरसंहार प्रारम्भ होने ही वाला था, उस समय अहिंसा की प्रतिमूर्ति साध्वी धारिणी ने मणिप्रभ और अवन्तीसेन के पास जाकर उन्हें बताया कि वे दोनों एक दूसरे के सहोदर हैं, मणिप्रभ छोटा और अवन्तीसेन बड़ा। वस्तुस्थिति का बोध होते ही दोनों भाई बड़े प्रेम से मिलकर एक दूसरे को आनन्दाश्रुओं से सिंचित करने लगे। साध्वी धारिणी द्वारा किये गये बीच-बचाव के फलस्वरूप भीषण नरमेध होते होते बच गया।

महत्तरा विजयवती और साध्वी विगतभया

(वीर नि० सं० ४४ के लगभग)

आवश्यक चूर्णि में महत्तरा विजयवती की शिष्या विगतभया का उल्लेख आता है।[1] जिस समय अवन्तीसेन ने कौशाम्बी पर आक्रमण किया, उससे थोड़े समय पहले साध्वी विगतभया द्वारा कौशाम्बी में अनशन किये जाने का विवरण आवश्यक चूर्णि में किया गया है। चूर्णि में यह भी बताया गया है कि साध्वी विगतभया द्वारा संलेषना पूर्वक अनशन किये जाने के अवसर पर कौशाम्बी के श्रावक-श्राविका संघ ने अनेक दिनों तक महोत्सव का आयोजन कर उनके प्रति अपूर्व सम्मान प्रकट किया। इस उल्लेख के अतिरिक्त चूर्णि में महत्तरा का और उनकी शिष्या का और कोई परिचय नहीं दिया है। पालक ने वीर नि० सं० २० में दीक्षा ली, उसके लगभग ४ वर्ष पश्चात् अवन्तीवर्द्धन और धारिणी ने दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार वीर नि० सं० २४–२५ में धारिणी ने मणिप्रभ को जन्म दिया। जिस समय अवन्तीसेन ने मणिप्रभ के साथ युद्ध करने के लिये कौशाम्बी पर आक्रमण किया, उस समय मणिप्रभ की वय कम से कम २० वर्ष तो अवश्य होनी चाहिये। इस हिसाब से अवन्तीसेन द्वारा कौशाम्बी पर आक्रमण किये

[1] आवश्यक चूर्णि, भाग २, पृ० १९१

जाने की घटना का काल अनुमानतः वीर नि० सं० ४४–४५ के आसपास ठहरता है। इस आक्रमण से कुछ समय पूर्व साध्वी विगतभया द्वारा अनशन किये जाने का उल्लेख आवश्यक चूर्णि में है। इससे यह सिद्ध होता है कि महत्तरा विजयवती वीर निर्वाण की प्रथम शताब्दी के प्रथम चरण में साध्वियों के किसी छोटे अथवा बड़े संघाटक की प्रमुखा थीं।

अज्ञातनामा साध्वी मुरुण्ड-राजकुमारी

(वीर की पांचवी छठी शती)

जिस प्रकार भगवान् महावीर के श्रीचरणों में कोटिवर्ष के—उस समय विदेशी समझे जाने वाले—चिलातराज के श्रमण-धर्म में दीक्षित होने का उल्लेख उपलब्ध होता है,[1] उसी प्रकार निर्वाणोत्तर काल में भी एक विदेशी महिला के श्रमणीधर्म में दीक्षित होने का उल्लेख उपलब्ध होता है।

विशेषावश्यक भाष्य एवं निशीथ चूर्णि के उल्लेखानुसार मुरुण्डराज (विदेशी शक शासक) के समक्ष उसकी विधवा बहिन ने प्रव्रजित होने की इच्छा प्रकट की। मुरुण्डराज ने अपनी बहिन को प्रव्रजित होने की अनुज्ञा प्रदान करने से पूर्व यह परीक्षा करना चाहा कि कौनसा धर्म सर्वश्रेष्ठ है, जिसमें दीक्षित होकर उसकी बहिन सच्चे अर्थों में अपनी आत्मा का उद्धार कर सके। बहुत सोच-विचार के पश्चात् इस प्रकार की परीक्षा लेने का एक उपाय उसे सूझा। उसने अपनी हस्तिशाला के एक कुशल हस्तिवाहक (महावत) को आदेश दिया कि वह हस्तिशाला के सबसे विशालकाय हाथी पर आरूढ़ हो राजपथ पर राजप्रासाद के समीपस्थ चतुष्पथ पर खड़ा हो जाय। जब भी जिस किसी धर्म की कोई साध्वी उस पथ पर उसे दृष्टिगोचर हो तो उसकी ओर हाथी को तीव्र वेग से हांकते हुए, बड़े कर्कश स्वर में कठोर चेतावनी दे कि वह सब वस्त्रों को तत्काल डालकर निर्वसना हो जाय, अन्यथा मदोन्मत्त हाथी उसे अपने पांवों से कुचल डालेगा।

मुरुण्डराज ने राजप्रासाद के गवाक्ष से देखा कि हस्तिवाहक उसके आदेश का अक्षरशः पालन कर रहा है और उस पथ पर आने-जाने वाली साध्वियां भीमकाय गजराज को अपनी ओर अतिवेग से बढ़ते देख, घबरा कर, हस्तिवाहक की कड़ी चेतावनी के अनुसार अपने सभी वस्त्र एक ओर फेंक आशाम्बरा हो जाती हैं। यह देखकर मुरुण्डराज को बड़ी निराशा हुई। वह चिन्तित हो सोचने लगा कि उसकी स्नेहमयी सहोदरा कृतसंकल्पा है प्रव्रजित होने के लिये पर इन काषाय, पीत, गेरुआ, श्वेत आदि विभिन्न रंग के परिधान को धारण करने वाली विभिन्न मतमतान्तरों की परिव्राजिकाओं में एक भी ऐसी समर्थ साध्वी दृष्टिगत नहीं होती, जिसके पास प्रव्रजित हो वह अपना इहलोक और परलोक सुधार सके।

उपर्युक्त विचारों में डूबे हुए मुरुण्डराज के कर्णरन्ध्रों में पुनः साध्वी की चिंघाड़ के साथ हस्तिवाहक का कर्कश स्वर गूंज उठा। मुरुण्डराज ने पुनः उसके,

[1] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० [illegible]

कुछ उत्सुकता भरे भाव से चतुष्पथ पर दृष्टिपात किया। वह सहसा एक झटके के साथ उठ खड़ा हुआ। वह गवाक्ष में झुक कर सांस को जहां की तहां रोके बड़ी उत्सुकता के साथ चतुष्पथ की ओर देखने लगा। यह देखकर उसके आश्चर्य का पारावार न रहा कि कालोपम हस्तिराज चिंघाड़ता हुआ एक श्वेताम्बरा कृषकाय-साध्वी की ओर बड़े वेग से बढ़ा जा रहा है। हस्तिवाहक द्वारा बिजली की कड़क के समान अति कठोर स्वर में पुनः पुनः दुहराई गई चेतावनी समस्त वातावरण को विभत्स बनाती हुई गगन में गुंजरित हो रही है पर वह साध्वी शान्त मुखमुद्रा धारण किये सहजगति से अपने गन्तव्य की ओर, जिस ओर से कि हाथी उस पर झपटा आ रहा है, उसी ओर निडर हो बढ़ती जा रही है। उसकी ओर बढ़ता हुआ हाथी जब उससे थोड़ी ही दूर पर रह गया तो साध्वी ने अपनी मुखवस्त्रिका हाथी की ओर डाली। हाथी सहसा रुका, मुखवस्त्रिका को सूंड में पकड़ इधर-उधर करते हुए देखा और उसे एक ओर डालकर पुनः द्रुतगति से साध्वी की ओर बढ़ने का उपक्रम करने लगा। निरन्तर अति तीव्र स्वर में चीख-चीख कर चेतावनी देने के कारण अब हस्तिवाहक के कण्ठ से फटे बांस की फटकार के समान स्वर निकल रहे थे। हाथी पुनः चिंघाड़ कर आगे बढ़ा। सहजशान्त-निर्भय मुद्रा में खड़ी साध्वी ने अपना रजोहरण हाथी की ओर गिराया।[1] वह बढ़ने से पुनः रुका। उसने रजोहरण की डंडी को अपनी सूंड में पकड़ कर कुछ क्षणों तक चामर की तरह इधर-उधर हवा में घुमाया-फेरा और फिर एक ओर फेंक दिया। इसी प्रकार वह साध्वी एक-एक करके अपने पात्रादि अन्य धर्मोपकरणों को हाथी की ओर डालती रही और वह उन्हें थोड़ी-थोड़ी देर इधर-उधर करके देखता और अन्त में एक ओर फेंकता रहा। अब साध्वी के पास एक वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ भी बचा न रहा। हाथी पुनः आगे बढ़ा। एक वसन में लिपटी दुबली-पतली साध्वी द्रुतगति से कभी हाथी के इस ओर तो कभी उस ओर होती हुई बड़े धैर्य के साथ स्वयं को बचाती रही। चतुष्पथ पर एकत्रित विशाल जनसमूह तपोपूता साध्वी के अद्‌भुत बुद्धिकौशल और अनुपम धैर्य एवं साहस को देख कर स्तब्ध रह गया। उपस्थित जन-समूह के धैर्य का पात्र किनारे तक भर चुका था, सब्र का प्याला लबरेज हो चुका था। अब धैर्य प्रतिकार के रूप में वह निकला। क्रुद्ध जन-समूह ने हस्तिवाहक को ललकारा। सहस्रों कण्ठों से क्रोध-आक्रोश भरा यह निर्घोष सहसा गूंज उठा – "बन्द करो इस दुष्टता को। अब यदि हाथी ने एक डग भी आगे बढ़ा दिया तो न तुम्हारी कुशल है, न हाथी की ही। क्रुद्ध भीड़ के कोलाहल से हाथी और महावत दोनों ही किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो चुके थे। हस्तिवाहक ने मुरुण्डराज की ओर दृष्टि घुमाई, उसे कुछ संकेत मिला। मुरुण्डराज का संकेत पाते ही हस्तिवाहक ने एक विचित्र ध्वनि करते हुए हाथी के स्कन्ध भाग पर अंकुश का प्रहार किया। एक चिंघाड़ के साथ हाथी मुड़ा और अपनी लम्बी पूंछ, सूंड और कानों को फटकारता हुआ हस्तिशाला की ओर भाग खड़ा हुआ।

---

[1] बृहत्कल्प भाष्य, भा. ४, पृ. ११२३

मुरुण्ड राज ने अपनी वहिन से कहा – "सहोदरे ! इस अगाध धैर्य-शालिनी सर्वंसहा, समर्था साध्वी के पास तुम प्रव्रजित हो सकती हो। वस्तुतः इस साध्वी का धर्म श्रेष्ठ और सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म है।"[1]

अपने भाई की अनुमति प्राप्त होते ही मुरुण्ड-राजकुमारी ने उस तपोपूता, कृषकाया जैन-साध्वी के चरणों पर अपना मस्तक रखते हुए उनसे विधिवत् श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। सहस्रों शिर उस अतुल आत्मवलशालिनी तपोकृषा अज्ञातनामा साध्वी और उनकी सद्यः दीक्षिता शिष्या मुरुण्ड कुमारी के चरणों में झुक गये। सहस्रों कण्ठों से उद्घोषित जयघोषों द्वारा सर्वसम्मानिता वे दोनों साध्वियां – गुरुणी और शिष्या जन-जन के मन में श्रद्धा का अजस्र स्रोत प्रस्फुटित करती हुईं उपाश्रय में पहुँचीं।

साहस, सहनशीलता, शान्ति एवं साधना की प्रतिमूर्ति उन गुरुणीजी और उनकी शिष्या साध्वी मुरुण्डराज कुमारी का नाम लम्बे अतीत की अनेक परतों के नीचे छुपा होने के कारण आज भले ही पुस्तकों, पन्नों, पत्रों एवं अभिलेखों में अंकित न हो पर उनके यत्किंचित् इतिवृत्त को पढ़ते ही उनका अति सौम्य–अति शान्त चित्र प्रत्येक श्रद्धालु साधक के हृदय में अंकित हो, उसे साधनापथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देता रहता है।

साध्वी रुद्रसोमा

(वीर की छठी शती)

यदि किसी परिवार में धर्म के प्रति आन्तरिक एवं अनन्य निष्ठा रखने वाला एक भी सदस्य हो तो वह सम्पूर्ण कुटुम्ब का सही अर्थ में उद्धार कर देता है – तिरा देता है। साध्वी वनने से पूर्व का रुद्रसोमा का गार्हस्थ्य जीवन इस तथ्य का एक आदर्श प्रतीक माना जाता है।

रुद्रसोमा दशपुर के वेदवित् विद्वान् सोमदेव की पत्नी थी। सोमदेव दशपुर के महाराजा के राजपुरोहित थे। उनका राजपरिवार, राजसभा, समाज और समस्त प्रजावर्ग में वड़ा सम्मान था। रुद्रसोमा जैन धर्म में प्रगाढ़ निष्ठा रखने वाली श्रद्धालु श्राविका थी।

राजपुरोहित-पत्नी रुद्रसोमा ने वीर नि. सं. ५२२ में एक महान् भाग्यशाली पुत्र आर्य रक्षित को जन्म दिया। आगे चल कर आर्य रक्षित जैन धर्म का परमोद्योत करने वाले महान् प्रभावक युग-प्रधानाचार्य हुए। रुद्रसोमा के दूसरे पुत्र का नाम फल्गुरक्षित था।

राजपुरोहित सोमदेव ने शिक्षा योग्य वय में बालक रक्षित की शिक्षा की समुचित व्यवस्था की। प्रारम्भिक शिक्षा की समाप्ति पर सोमदेव ने अपने पुत्र रक्षित को उच्च शिक्षा दिलाने हेतु पाटलिपुत्र भेजा। पाटलिपुत्र में अनेक

---

[1] "एस धम्मो सवन्नु दिट्ठो" – बृहत्कल्प भाष्य, भाग ४, पृ. ११२३

वर्षों तक विद्याभ्यास करते हुए कुशाग्र बुद्धि रक्षित ने छहों अंगों सहित वेदों का अध्ययन किया। सभी विद्याओं में पारंगत होने के पश्चात् वीर नि. सं. ५४४ में जब रक्षित पाटलिपुत्र से दशपुर पहुँचा तो राजा और प्रजा ने भव्य समारोह के साथ नगर-प्रवेश करा उसे सम्मानित किया।

जिस समय हर्षोल्लास में भरा रक्षित अपनी मां के पदवन्दन हेतु घर में पहुँचा, उस समय रुद्रसोमा सामायिक ग्रहण किये आत्म चिन्तन में तल्लीन थी। रक्षित अपनी मां के चरणों में निढाल हो जाना चाहता था पर उसे सामायिक में देख उसने दूर से ही उसके चरणों में भावविभोर हो प्रणाम किया। उसे आशा थी कि उसकी मां उसे देखते ही हर्ष गद्‌गद् हो अपनी गोद में समेट कर उसकी सहस्रों बलैयां लेगी। जिस प्रकार दशपुरपति, दशपुर की प्रजा, पिता और पारिवारिक जनों ने उस पर स्मित एवं हर्ष विभोर मुखमुद्रा तथा मधुर वचनों के माध्यम से अपार स्नेह और सम्मान का सागर उस पर उंडेल दिया, उसी प्रकार मां भी उसे देखते ही अवश्यमेव उससे बढ़कर संसार के समस्त मातृवात्सल्य को उस पर उंडेल कर उच्च अध्ययन में किये गये अथक श्रम की थकान को दूर कर देगी। पर उसे यह सब कुछ मां की ओर से नहीं मिला। मां तो केवल एक बार स्नेहभरी दृष्टि डाल कर पुनः अपने नित्य-नियम में तल्लीन हो गई। वह मां के सम्मुख विचारमग्न मुद्रा में बैठ गया। उसके मन में प्रश्न उठा – "क्या मां रुष्ट है ?" दूसरे ही क्षण अन्तर्मन ने उत्तर दिया – "नहीं। मां कभी रुष्ट नहीं होती। मां तो स्नेह और ममता की प्रतिमूर्ति है जिसके नेत्रों से, रोम-रोम से स्नेह की सरिताएं निरन्तर बहती रहतीं हैं।"

रक्षित ने देखा कि उसकी मां ने सामायिक का पारण कर लिया है। वह आगे बढ़ा और मां के चरणों से लिपटते हुए उन पर अपना मस्तक रख दिया। मां का स्नेहिल वरद हस्त रक्षित के मस्तक, भाल, कपोल, ग्रीवा और पृष्ठ भाग को सहलाता रहा और रक्षित मां के चरणों से अपना मस्तक चिपकाये चुपचाप लेटा रहा। कई क्षणों तक यही स्थिति रही। रक्षित ने मौन भंग करते हुए रुंधे कण्ठ-स्वर में कहा – "मेरी माँ ! सफलतापूर्वक उच्च अध्ययन कर लौटे हुए तेरे लाड़ले लाल का आज दशपुराधीश और दशपुर की प्रजा ने अपनी आंखों की पलकें बिछा स्वागत-सम्मान किया। माँ ! अपने पुत्र की इस सफलता और अपूर्व सम्मान पर जिस प्रकार की प्रसन्नता तुम्हें होनी चाहिये, वह मैं तुम्हारे मुख पर नहीं देख रहा हूँ। सच-सच कहो माँ ! यह कहीं मेरा दृष्टिदोष तो नहीं है ?"

रुद्रसोमा ने शान्त स्वर में कहा – "वत्स ! भला संसार में ऐसी कौन अभागिन माँ होगी जो अपने पुत्र की सफलता पर प्रसन्न न हो। तुम्हारी सफलता पर सब को प्रसन्नता है पर तुम जिस विद्या में निष्णात होकर आये हो, उस विद्या का फल सांसारिक सुखोपभोग प्रदान करने और अपना स्वयं का तथा अपने परिजनों का भरण-पोषण करने तक ही सीमित है। स्व-पर-कल्याण

अथवा आध्यात्मिक अभ्युत्थान में वह विद्या किंचित्मात्र भी सहायक नहीं। पुत्र ! सच कहती हूँ, मुझे वास्तविक खुशी तो तब होती जबकि तुम अध्यात्म-विद्या से ओतःप्रोत दृष्टिवाद का अध्ययन कर आते। अपनी और अपने आश्रितों की उदरपूर्ति तो पशुपक्षि तक भी कर लेते हैं। मेरे जीवन की एकमात्र यही साध थी, आन्तरिक अभिलाषा थी कि मेरा पुत्र दृष्टिवाद का अध्ययन कर अध्यात्मविद्या में निष्णात हो अध्यात्म-मार्ग का सफल पथिक और कुशल पथ-प्रदर्शक बने।"

माँ के हृदय के गहन तल से प्रकट हुए अमोघ उद्‌गार पुत्र के हृदयपटल पर सदा-सदा के लिये अंकित हो गये। उसने दृढ़ स्वर में कहा – "माँ ! मैं तुम्हारी आन्तरिक अभिलाषा को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। मेरी अच्छी माँ ! तुमने मेरी अंतर की आंखें खोल दी हैं। मैं दृष्टिवाद का अध्ययन करके ही तुम्हारी सेवा में पुनः लौटूंगा। पर माँ ! यह तो बताओ कि मुझे दृष्टिवाद की शिक्षा कहां मिलेगी ?"

"नगर के बाहर अपनी इक्षुवाटिका में आचार्य तोषलिपुत्र विराजमान हैं, उनकी सेवा में चले जाओ। सब व्यवस्था हो जायगी।" माँ ने कहा।

दिवस का अवसान होने ही वाला था अतः वह रात्रि तो रक्षित ने मन मसोस कर जिस किसी तरह घर पर बिताई। प्रातःकाल होते ही रक्षित मां की चरणरज भाल पर लगा दृष्टिवाद के अध्ययन की उमंग लिये अपनी इक्षुवाटिका में विराजमान आचार्य तोषलिपुत्र की सेवा में पहुँचा।

"निर्ग्रन्थ श्रामण्य की दीक्षा ग्रहण करने पर ही दृष्टिवाद का अध्ययन कराया जा सकता है, अन्यथा नहीं" – आचार्य तोषलिपुत्र से अपनी प्रार्थना का यह उत्तर सुनकर रक्षित ने तत्काल बिना किसी हिचक के आर्य तोषलिपुत्र के पास श्रमण-दीक्षा अंगीकार कर ली।

आर्य रक्षित ने आचार्य तोषलिपुत्र के पास एकादशांगी का गहन अध्ययन करने के पश्चात् किस प्रकार आर्य वज्र की सेवा में पहुँच कर सार्द्ध नव पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया, किस प्रकार माता-पिता द्वारा स्वयं (आर्य रक्षित) को लिवा ले जाने के लिये आये हुए अपने अनुज फल्गुरक्षित को श्रमण धर्म में प्रव्रजित किया, यह सब आर्य रक्षित के प्रकरण में बताया जा चुका है। आर्य रक्षित साढ़े नव पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर पुनः अपने गुरु आचार्य तोषलिपुत्र की सेवा में पहुँचे। गुरू ने सार्द्ध नव पूर्व के ज्ञान से सम्पन्न अपने शिष्य को सर्वथा योग्य समझ कर उन्हें गणाचार्य पद प्रदान किया और तदनन्तर वे समाधि संलेखना पूर्वक स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य पद पर अधिष्ठित होने के पश्चात् आर्य रक्षित पूर्व में फल्गुरक्षित के माध्यम से किये गये माता रुद्र सोमा के अनुरोध और अनेक दीक्षार्थियों के हित को दृष्टिगत रखते हुए, दशपुर पहुँचे।

रुद्रसोमा ने और रुद्रसोमा द्वारा निर्मित प्रेरणाप्रद भूमिका के फलस्वरूप राजपुरोहित सोमदेव तथा उनके परिवार के अनेक मुमुक्षुओं ने आचार्य रक्षित के पास पंचमहाव्रत स्वरूप अरणगार-धर्म की दीक्षा ग्रहण की।

आर्या रुद्रसोमा ने कठोर तपश्चरण करते हुए अनेक वर्षों तक विशुद्ध संयम की साधना की। आर्या रुद्रसोमा के दोनों ही जीवन, गार्हस्थ्य जीवन और साध्वी-जीवन, मानवमात्र के लिये बड़े प्रेरणादायक हैं। वंश-विस्तार और अपने वंश की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने अर्थात् वंश का नाम स्थायी रखने की लोकरूढ़ बात का स्व-पर-कल्याण की तुलना में रुद्रसोमा के समक्ष कोई महत्व नहीं था। वह मानव-जीवन की सफलता, वंश-विस्तार में नहीं अपितु स्व-पर-कल्याण में मानती थी। प्रारम्भिक जीवन से ही जैन धर्म में प्रगाढ़ आस्था रखने वाली दृढ़ सम्यक्त्वधारिणी रुद्रसोमा की यह सुनिश्चित धारणा थी कि जो मानव अध्यात्म-विद्या का अध्ययन कर साधना-पथ पर स्वयं अग्रसर होता हुआ और अन्य लोगों को साधनापथ पर अग्रसर करता हुआ जन-जीवन में आध्यात्मिक चेतना के जागरण से जितना अधिक स्व तथा पर के कल्याण में निरत रहता है, वस्तुतः वह उतना ही अधिक अपने मानव-जीवन को सफल बनाता है। कितने उच्चकोटि के विचार थे रुद्रसोमा के? उसने अपने इन विचारों को अपने जीवन में अक्षरशः ढाला। उसके वंश का नाम आगे चलेगा अथवा नहीं, इस बात की किंचित्मात्र भी चिन्ता न करते हुए उसने अपने दोनों पुत्रों में उच्चकोटि के संस्कार डाल कर उन्हें आध्यात्मिक साधनापथ के पथिक और पथप्रदर्शक बनने तथा अपना एवं औरों का कल्याण करने की प्रेरणा दी। रुद्रसोमा की प्रेरणा का ही प्रतिफल था कि बालक रक्षित आगे चलकर युगप्रधानाचार्य आर्य रक्षित बना। आर्य रक्षित ने जन-जन के मन में आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न कर स्व-पर का कल्याण एवं जिनशासन की सेवा करने में जो उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की, उसका मूलतः श्रेय रुद्रसोमा को ही है।

यद्यपि सोमदेव और रुद्रसोमा की संतति, वंश-परम्परा आर्य रक्षित एवं फल्गुरक्षित के दीक्षित हो जाने के कारण आगे नहीं चली किन्तु जैन इतिहास में अनुयोगों के पृथक्कर्त्ता के रूप में आर्य रक्षित के नाम के साथ-साथ पुरोहित सोमदेव और मुख्यतः रुद्रसोमा का नाम अमर हो गया। रुद्रसोमा के समय से लेकर आज तक एक तरह से असंख्य महिलाएं हुई हैं, जिनकी संतति—वंशपरम्परा चली। उनमें से आज का मानव-समाज किसी का नाम नहीं जानता परन्तु लगभग दो हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी आज तक श्रद्धालुओं एवं साधकों द्वारा बड़ी श्रद्धा के साथ रुद्रसोमा का नाम स्मरण किया जाता रहा है और भविष्य में भी सहस्रों शताब्दियों तक भक्ति के साथ स्मरण किया जाता रहेगा। प्रातः स्मरणीया रुद्रसोमा के उदात्त एवं अनुकरणीय जीवन से आज का मानवसमाज, मुख्यतः महिला-समाज यदि थोड़ी बहुत भी प्रेरणा ले तो भौतिकता की प्रचण्ड भट्टी में जलते हुए आज के मानवसमाज को राहत देने वाली, शान्ति पहुँचाने वाली

महान् आत्माएं समय-समय पर समाज में उभर कर मानवता को सच्चे सुख की ओर अग्रसर कर सकती हैं ।

साध्वी ईश्वरी

(वीर की छठी शती का अंतिम दशक)

संसार वस्तुतः दुःखों का अथाह सागर है, जिसका कोई ओर है न छोर । एक भी ऐसा मानव नहीं; जिसे जीवन में दुःखों ने नहीं घेरा हो, संकटों ने नहीं सताया हो । गर्भ-काल से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक मानव छोटे-बड़े किसी न किसी प्रकार के दुःखों से घिरा ही रहता है । दारुण दुःख की घड़ियां बीत जाने पर मानव दुःख के दिनों को भूल कर पुनः मृगमरीचिका तुल्य सुख की खोज में दौड़ लगाता है, पुनः दुःख आ घेरते हैं, कुछ समय पश्चात् फिर उन्हें भूल जाता है । प्रत्येक मानव के जीवन में यही क्रम प्रायः मृत्यु पर्यन्त चलता रहता है । लाखों में से विरला ही कोई मानव ऐसा होता है, जो अपने ऊपर आये हुए दुःख से शिक्षा ग्रहण कर सदा-सर्वदा के लिये दुःख से छुटकारा पाने का सही और सच्चा प्रयास करता है ।

साधिका ईश्वरी की गणना उन विरलों की श्रेणी में शीर्ष स्थान पर की जा सकती है ।

भीषण दुष्कालजन्य अन्नाभाव की वीभत्स संकटापन्न स्थिति में भूख से तड़प-तड़प कर मरने के स्थान पर सोपारक नगर के ईभ्य (अतुल सम्पदाशाली) जिनदत्त और उसकी पत्नी ईश्वरी ने अपने चार पुत्रों और पूरे परिवार सहित विषमिश्रित भोजन कर स्वेच्छा-मृत्यु का वरण करने का निश्चय किया । एक लाख मुद्राएं व्यय करने पर भी जिनदत्त अपने परिवार के अन्तिम (विषमिश्रित) भोजन के लिये बड़ी कठिनाई से केवल दो अंजलिभर अन्न जुटा पाये । ईभ्य-पत्नी ईश्वरी ने उस अन्न को पीसकर अपने परिवार के लिये भोजन बनाया । उस भोजन में विष मिलाने के लिये ज्योंही ईश्वरी ने सद्यःप्राणहारी कालकूट की पुड़िया खोली, त्योंही युगप्रधानाचार्य वज्रसेन ने वहां पदार्पण किया । आसन्न-मृत्यु के विकट क्षणों में मुनिदर्शन को अपना परम पुण्योदय मान ईश्वरी ने हर्ष-गद्गद् हो मुनि को भक्ति सहित भावपूर्ण त्रिधा वन्दन किया ।

श्रेष्ठिपत्नी के हाथ में कालकूट विष देख आर्य वज्रसेन ने कारण पूछा । श्रेष्ठिपत्नी के मुख से वास्तविक स्थिति से अवगत होते ही आचार्य वज्रसेन को अपने गुरु द्वारा की गई उस भविष्यवाणी का स्मरण हो आया, जिसमें आर्य वज्रसेन को बताया गया था कि जिस दिन तुम लक्षपाक अर्थात् १ लाख मुद्राओं के मूल्य के भोजन में गृहस्वामिनी को विष मिलाते हुए देखो उसी क्षण समझ लेना कि दूसरे दिन दुष्कालजन्य अन्नाभाव की दुःखावह स्थिति सुनिश्चित रूप से समाप्त हो जायगी ।

आचार्य वज्रसेन ने ईश्वरी से कहा – "श्राविके ! भोजन में विष मिलाने की कोई आवश्यकता नहीं। कल यहां प्रचुर मात्रा में अन्न उपलब्ध हो जायगा।"

मुनिवचनों की अमोघता में अनन्य आस्थावती ईश्वरी ने विष की पुड़िया समेट कर उसे विनष्ट करने हेतु एक ओर रख दिया। ईश्वरी द्वारा अति करुण स्वर में बार-बार हार्दिक अनुरोध किये जाने पर आर्य वज्रसेन ने दो कवल भोजन उस विशुद्ध आहार में से ग्रहण किया।

भविष्यदर्शी सत्यवक्ता मुनियों के वचन कभी मोघ नहीं होते। उसी रात्रि में अन्न से लदे जहाज सोपारकपुर के बन्दर पर पहुँचे। सूर्योदय होते ही नागरिकों को यथेप्सित मात्रा में अन्न उपलब्ध होने लगा। प्राणहारी भीषण संकट के टलते ही सबने सुख की सांस ली। सबका कार्यकलाप पूर्ववत् चलने लगा। जैसे उन पर कभी कोई संकट आया ही न हो।

सूर्य की प्रचण्ड किरणों के संसर्ग से मरुभूमि की वालुराशि में उत्पन्न हुई दिगन्त व्यापिनी चमक में जलाशय की भ्रान्त कल्पना कर प्यासा मृग जिस तरह जल के लिये अनवरत दौड़ लगाता रहता है, ठीक उसी प्रकार लोगों में सर्वत्र सुखाभास की ओर ताबड़तोड़ दौड़ में होड़ लग रही थी।

श्रेष्ठि जिनदत्त के घर पर भी अन्न पहुंचा। सबने भूख की ज्वाला को शान्त किया। श्रेष्ठिपत्नी ईश्वरी ने बीते प्राणापहारी संकट की विभीषिका पर विचार करते हुए अपने पति और चारों पुत्रों को सम्बोधित कर कहा :– "यदि महामुनि वज्रसेन कुछ ही क्षण विलम्ब से आते तो हम सब लोग असंयतावस्था में, अव्रतावस्था में ही अकालमृत्यु द्वारा ग्रस्त हो अधोगति के भागी बनते। जीवन और मृत्यु के सन्धिकाल के अन्तिम क्षण में मुक्ति के देवता के रूप में मुनि उपस्थित हुए और उन्होंने हम सबको कराल काल के गाल में जाने से बचा लिया। मुनिराज ने ही हमें जीवन-दान दिया है। विषय-कषाय के प्रचण्ड झोंकों से निरन्तर जाज्वल्यमान् इस जन्म, जरा, मृत्यु रूपी दुःखदावानल में बारम्बार जलने के स्थान पर तो हम सबके लिये यह परम श्रेयस्कर होगा कि हम लोग आचार्य वज्रसेन के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर तप और संयम की अग्नि में अपने कर्मेन्धन को जला सदा के लिये इस दारुण दुःख-दावानल से बचने का प्रयास करें।"

ईश्वरी के इस अति सुखद सुन्दर सुझाव की सराहना करते हुए जिनदत्त आदि सभी ने संसार से विरक्त हो प्रव्रजित होने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

ईभ्य जिनदत्त, ईभ्यपत्नी ईश्वरी तथा उनके नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति एवं विद्याधर–इन चारों पुत्रों ने अपार वैभव और समस्त सांसारिक भोगों को ठुकरा कर आचार्य वज्रसेन के पास सर्वविरति स्वरूप अणगार-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। ईश्वरी ने उस संकटकाल से शिक्षा ग्रहण की और उसके चिन्तन की सही दिशा ने उस भीषण संकट के अभिशाप को भी स्वयं के लिये तथा अपने परिवार के लिये वरदान के रूप में बदल दिया। किसी शायर की –

"शमा महफिल देख ले, यह घर का घर परवाना है।" यह उक्ति ईश्वरी के परिवार पर अक्षरशः घटित होती है। घर का घर प्रव्रजित हो जीवन भर अध्यात्म-ज्योति का परमोपासक बना रहा।

आज जो चन्द्र गच्छ, नागेन्द्र कुल, निर्वृत्ति कुल और विद्याधर कुल ये चार गच्छ अथवा कुल श्वेताम्वर परम्परा में प्रसिद्ध हैं, वे उन महामहिमामयी साधिका ईश्वरी के महान् प्रभावक पुत्रों के नाम पर ही प्रचलित हुए थे।

साध्वी ईश्वरी का जीवन वस्तुतः साधक एवं साधिकाओं के लिये वड़ा ही-प्रेरणाप्रदायी है। वह मानव मात्र को निरन्तर यही प्रेरणा देता रहता है कि— ओ मानव! दुःख की थपेड़ खा कर सम्हल जा, उसी क्षण से ऐसे प्रयास में जुट जा, जिससे तुझे फिर कभी दुःख का दिन देखना ही न पड़े।

महती प्रभाविका साध्वी ईश्वरी के पश्चात् देवर्द्धि-क्षमाश्रमण के काल तक साध्वियों का परिचय उपलब्ध न होने के कारण यहां नहीं दिया जा रहा है।

उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ में वीर नि. सं. १ से लेकर १००० तक का जैन धर्म का इतिहास दिया गया है जिसमें १००० वर्ष की अवधि में हुए आचार्यों, प्रमुख साधु-साध्वियों, महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं, राजवंशों, राज्य परिवर्तनों आदि का यथाशक्य प्रामाणिक विवरण देने का प्रयास किया गया है। वीर नि. सं. १००० के पश्चाद्वर्ती काल का इतिहास आगे के भागों में दिया जायगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

परिशिष्ट

१. शब्दानुक्रमणिका
२. सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची
३. अर्थ सहायकों की सूची
४. 'प्रथम भाग' पर प्राप्त विद्वानों की सम्मतियाँ
५. शुद्धिपत्र

१. शब्दानुक्रमणिका

(क) तीर्थंकर, आचार्य मुनि, राजा, श्रावकादि

(अ)

(आ)

(ई)

(उ)

(प)

(म)

(य)

(र)

(ल)

(व)

(श)

(ह)

(ख) ग्राम, नगर, प्रान्त, स्थानादि

(क)

(ख)

(ग)

(म)

(य)

(ग) सूत्र, ग्रन्थादि

(आ)

(इ)

(उ)

(ध)

(न)

(प)

(ब)

(भ)

(म)

(य)

(घ) मत, सम्प्रदाय, वंश, गोत्रादि

(त)

(द)

(ध)

(न)

(प)

२. संदर्भ ग्रन्थों एवं शिलालेखादि की सूची

अंग पण्णत्ती, शुभचन्द्र (विजय कीर्ति शिष्य) रचित, प्रकाशक–माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थ माला, बम्बई

अनुयोगद्वार–वृत्तिकार हेमचन्द्रसूरि, प्रकाशक राय धनपतसिंह बहादुर

अभिधान चिन्तामणि, आचार्य हेमचन्द्रकृत टीका विजयधर्म सूरि वीर सं० २४४१

अभिधान राजेन्द्र, भाग १–७, विजय राजेन्द्र सूरि रचित, प्रकाशक–श्री जैन श्वेताम्बर समस्त संघ, जैन प्रभाकर प्रिन्टिग प्रेस, रतलाम सन् १९१३

अमोघवृत्ति–शाकटायन व्याकरण पर यापनीय आचार्य द्वारा रचित स्वोपज्ञवृत्ति

अशोकावदान

आगम अष्टोत्तरी, कस्तूरचन्द जवरचन्द गादिया, बम्बई

आचारकल्प

आचारांग, अनुवाद आ० आत्मारामजी म., प्रकाशक आ० श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना

आचारांग (निर्युक्ति सहित) वृत्तिकार शीलांकाचार्य, प्रकाशक–राय धनपतसिंह

आप्त मीमांसा, समन्तभद्ररचित

आर्य मंगू कथा

आराधना कथा कोश

आवश्यक कथा

आवश्यक चूर्णि, आ० जिनदास गणि महत्तर, रतलाम से सन् १९२८ में प्रकाशित

आवश्यक निर्युक्ति, भद्रबाहु (द्वि०) रचित, हारिभद्रीया वृत्ति, हेमचन्द्र सूरि टिप्पणकम्, सं० १९७६.

आवश्यक निर्युक्ति–अवचूर्णि

आवश्यक मलयगिरीया वृत्ति

आवश्यक वृहद्वृत्ति

आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति

Introduction by A. N. Upadhye on Pravachansara.

इन्वेजन आफ इण्डिया बाइ अलेक्जेण्डर–मैकक्रिडिलकृत

उत्तरपुराण, गुणभद्राचार्यकृत, भारतीय ज्ञान पीठ, दुर्गाकुण्ड रोड वाराणसी, सं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, संवत् २०११

उत्तराध्ययन सूत्र, जीवराज घेलाभाई, अहमदाबाद

उत्तराध्ययन सूत्र–पाइय टीका–शान्तिसूरिकृता

उपदेश माला दोघट्टी वृत्ति, रत्नप्रभसूरि, धनजीभाई देवचन्द्र जौहरी, मिर्जा स्ट्रीट, बम्बई

Epitome of Jainism.

एरण की प्रशस्ति

ओघनिर्युक्ति–द्रोणाचार्यकृता टीका, प्र० श्री विजयानन्द सूरी जैन ग्रन्थमाला, गोपीपुरा सूरत, सं० २०१४

औपपातिक सूत्र टीका अनुवाद घासीलालजी महाराज, प्र० अ० भारतीय श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सं० २०१५

कथासरित्सागर, सोमदेव भट्ट, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना, [illegible]

कर्मग्रन्थ भा० १ देवेन्द्र सूरि, कन्हैयालाल लालचन्द भटेवरा रतलाम, वि० सं० २०३०

कल्पचूर्णि

कल्प सूत्र – देवेन्द्र मुनि द्वारा सम्पादित अनूदित,

कल्प सूत्र – पुण्य विजयजी द्वारा सम्पादित (गुजराती)

कल्पान्तर्वाच्यानि (हस्तलिखित) अलवर भण्डार के सौजन्य से प्राप्त

कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल के शिलालेख का विवरण, श्री के० पी० जायसवाल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से–इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग, सन् १९२८

कसाय पाहुड चूर्णि सहित, भारतीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा

कहावली–भद्रेश्वरसूरि (हस्तलिखित), पं० दलसुख भाई मालवणिया, संचालक, लाल भाई दलपत भाई, भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद के सौजन्य से

कहौम का स्तम्भलेख

कार्पस इन्स्क्रिप्शनं इन्डिकेरम्, भाग ३

कालकाचार्य कथा, प्रकाशक–श्री साराभाई नवाब, अहमदाबाद

काव्य मीमांसा–राजशेखर

काष्ठा संघस्य गुर्वावली, हस्तलिखित, पं० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य डुमराव कोलोनी, वाराणसी से प्राप्त

कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह, सम्पादक– पं० कैलाशचन्द्र, प्रकाशक–जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर, १९६०

कुवलय माला–उद्योतन सूरि (दाक्षिण्य चिन्ह) सिंघी सिरीज

केवलि भुक्ति प्रकरणम्–शाकटायन, जैन साहित्य संशोधक, खं० २ अंक ४

Cambridge History of India

गच्छाचार पइण्णा, दान विजय गणी, प्र० दयाल विमलजी ग्रन्थमाला, अहमदाबाद

गणधरवाद, सं० मुनि रत्नप्रभ विजयजी

गर्ग संहिता

गाथा सप्तशती–हालरचित (काव्य माला २१ में) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३३

गार्गी संहिता युग पुराण प्रकरण

गुर्वावली – सुन्दरसूरिकृत

गौतम चरित्र, भट्टारक धर्मचन्द्रकृत, पं० हीरालालजी शास्त्री, व्यावर नसियां से प्राप्त

चउवन्न महापुरिसचरियं, शीलांकाचार्य, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी ५

चन्द्र का मेहरौली का लोह स्तम्भ लेख

चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, राधा कुमुद मुकर्जी, राजकमल प्रकाशन

चुल्लवग्ग

छान्दोग्योपनिषद् (शांकर भाष्य सहित), प्र० गीताप्रेस गोरखपुर

ज्योतिर्विदाभरण

ज्योतिष्करण्डक टीका

जम्बू चरियं, गुणपाल, सं० आ० जिनविजयजी, प्र० सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई ७

जम्बू स्वामि चरित्र, रत्नप्रभ सूरि

जम्बू स्वामि चरित्रम्, पं० राजमल्ल जैन

जम्बू सामि चरिउ, वीर कवि, सं० डॉ० विमलप्रकाश जैन

जरनल आँफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, दिसम्बर १९२९, वॉल्यूम भाग ४

जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार, श्री फतेचन्द वेलानी, सन्मति प्रकाशन, जैन संस्कृति संशोधक मण्डल, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस, १९५० ई०

जैन धर्म का मौलिक इतिहास, आ० हस्तीमलजी म. प्रकाशक—इतिहास समिति, लाल भवन, चौड़ा रास्ता जयपुर, ई० १९७१

जैन परम्परानो इतिहास, भाग १,२–त्रिपुटी

जैन शिलालेख संग्रह भाग १ श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थ माला समिति हीरा बाग, पो. गिरगांव, बम्बई

„ भाग २ „

„ भाग ३ „

„ भाग ४ डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी की प्रस्तावना

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १–४, श्री जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन

त्रिषष्ठी शलाका पुरुष चरित्र, आचार्य हेमचन्द्र

तत्त्वार्थ श्लोक वार्त्तिक, विद्यानन्द प्र० गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

तत्त्वार्थ सूत्र, उमा स्वाति

तत्त्वार्थाधिगम स्वोपज्ञ भाष्य उमा स्वाति

तपागच्छ पट्टावली, धर्म सागर गणि रचित स्वोपज्ञ वृत्ति सहित, पन्यास श्री कल्याण विजयजी द्वारा सम्पादित

तित्थोगालिय पइन्ना, हस्तलिखित, पं० दलसुख भाई मालवणिया, संचालक–लालभाई दलपत भाई, भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर अहमदाबाद के सौजन्य से प्राप्त

तिलोय पण्णत्ती भाग १, यतिवृषभ, जैन संस्कृति रक्षक संघ शोलापुर सम्पादक –ए. एन. उपाध्ये और डॉ० हीरालाल सं० २०१६

दर्शनशुद्धि सटीक

दर्शनसार, देवसेनाचार्य विरचित, प्र० जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई

दशवैकालिक चूर्णि–अगस्त्य सिंह रचित

दशवैकालिक निर्युक्ति–भद्रबाहु (द्वितीय)

दशवैकालिक, सं० श्री घेवरचन्द बांठिया, साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ सैलाना सं० २०१४

दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति

दशाश्रुत स्कन्ध-निर्युक्ति–भद्रबाहु (द्वितीय)

दी गुप्ता एम्पायर–बाई आर० के० मुकर्जी

The Journal of the Royal Asiatic Society, 1920

दिव्यावदान

दीपमालिका कल्प, जिनसुन्दरसूरि, सं० २००६

दुषमाकाल श्री श्रमण संघ स्तोत्र अवचूरि (पट्टावली समुच्चय प्र० भाग) प्र० श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला वीरमगांव (गुजरात)

नन्दीचूर्णि, जिनदास महत्तर, पुण्य विजयजी म० द्वारा सम्पादित, प्रकाशक–प्राकृत ग्रन्थ परिषद वाराणसी ५, अहमदाबाद ९, १९६६ ई०

नन्दी मलय गिरीया वृत्ति, प्र० [illegible]

नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावली [illegible] षट्खण्डागम भाग १ की [illegible] [illegible] से प्राप्त

नन्दी सूत्र, सं० श्री हस्तीमलजी म० द्वारा सम्पादित, प्रकाशक–[illegible]

नन्दी सूत्र–प्र० [illegible]

नन्दी सूत्र हारिभद्रीया वृत्ति

[illegible]

नायाधम्म कहाओ, आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित, सन् १९१९
निरयावलिया सूत्र भाषा टीका, राय धनपत सिंह, ई० १९४१
निशीथ पूज्य घासीलालजी महाराज द्वारा अनूदित
निशीथ सूत्र–भाष्य, विसाहगणि, विशेष चूर्णि–जिनदास महत्तर, सं० कवि अमरचन्दजी, मुनि कन्हैयालालजी कमल, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
नीतिसार

पंचकल्प चूर्णि–हस्तलिखित
पंचकल्प भाष्य–संघदास गणि
पंचास्तिकाय प्राभृत जयसेनाचार्यकृत तात्पर्य वृत्ति
प्रज्ञापना सूत्र–हारिभद्रीया वृत्ति
प्रबन्धकोश राजशेखर सूरि रचित, सं० जिनविजयजी, प्रकाशक–सिंघी जैन ज्ञान पीठ, शान्ति निकेतन
प्रभावक चरित्र, आचार्य प्रभाचन्द्र, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, सन् १९२७
प्रभावती गुप्ता का पूना का दानपत्र
प्रवचनसार, ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित सटीक

Introductory by A. N. Upadhye on Pravachanasara

प्रवचन सारोद्धार, नेमिचन्द्र सूरि रचित, प्रकाशक–देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार समिति, बम्बई सन् १९२२, १९२६
प्रश्न व्याकरण सूत्र–अनु० पं० घेवरचन्द बांठिया, प्र० अगरचन्द भैरोंदान सेठिया, बीकानेर
प्रश्न व्याकरण वृत्ति, अभयदेव सूरिकृता, प्र० राय बहादुर धनपतसिंह
प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन

पट्टावली समुच्चय, मुनि दर्शन विजयजी, प्र. श्री चरित्र स्मारक ग्रन्थमाला, वीरमगाँव (गुजरात)
पन्नवणा–मुनि श्री पुण्यविजयजी व पं. दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित
पन्नवणा सूत्र वृत्ति, प्र. रायबहादुर धनपतसिंह
Prof. Hultzseh. corp. Inscr. Indic. Pt. I. Pref. xxxiii
Problems of Shaka & Satvahana History, Journal of the Bihar & Orissa Research Society, 1930

परिशिष्ट पर्व–आचार्य हेमचन्द्र रचित

बोध प्राभृत–श्रुत सागरी टीका

भगवती आराधना की विजयोदया टीका, अपराजित (यापनीय) रचित, प्र. देवेन्द्रकीर्ति दि. जैन ग्रन्थमाला, कारंजा
भगवदी आराहणा–शिवार्य (यापनीय), प्र. देवेन्द्र. दि. जैन ग्रन्थमाला, कारंजा
भगवती सूत्र–अ. टी.–पूज्य घासीलालजी म., प्रकाशक–भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट, १९६१
भगवती सूत्र–अ० श्री घेवरचन्दजी बांठिया, प्र०–जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना
भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास, पूर्वार्द्ध मुनि ज्ञान सुन्दरजी, प्र०–श्री रत्न प्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला फलोदी (मारवाड़) सन् १९४३
भद्रबाहु चरित्र–रत्ननन्दिकृत
भविष्य पुराण
भाव प्राभृत–श्रुतसागरी टीका
भाव संग्रह–आ. देवसेन (विमलसेन के शिष्य), दर्शनसार के कर्ता से भिन्न

मत्स्य पुराण–प्र० [illegible]
[illegible], सन् [illegible]

मनुस्मृति–सं० स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती, पुस्तक मन्दिर, मथुरा, सं० २०१६

मलयगिरीया पिण्ड निर्युक्ति टीका

महापुराण–जिनसेन (धवलाकार) प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ई० १६५१

महापुराण पुष्पदन्त रचित

महाभारत कर्ण पर्व, गीता प्रेस गोरखपुर

महावीर चरित्, गुणचन्द्रगणि

महावीर चरित्-कवि रयधू (हस्त लिखित), पं. हीरालालजी शास्त्री, व्यावर नसियां के सौजन्य से प्राप्त

महावंशो-बौद्ध भिक्षु घेनुसेन (लंका) रचित

मालविकाग्नि मित्रम्-कालिदास

मुण्डकोपनिषद् प्र० गीताप्रेस गोरखपुर

मुद्राराक्षस-विशाखदत्त

मूलाचार-वट्टकेर रचित

मेरुतुंगीया स्थविरावली, जैन साहित्य संशोधक खण्ड २ अंक २

बृहत्कल्पपीठिका-मलयगिरीया टीका

बृहत्कल्प सूत्र, पुण्य विजयजी म. द्वारा संपादित, भाग १ आत्मानंद जैन सभा, भावनगर सन् १६३३-१६४२.

बृहद् आरण्यकोपनिषद्

वसुदेव हिण्डी, प्रथम अंश-संघदास गणी, प्र. श्री जैन आत्मानन्द सभा सन् १६३०

वायुपुराण, दूसरा खण्ड, सं. श्रीराम शर्मा, प्र. संस्कृति संस्थान, बरेली (उ.प्र.), १६६७-ई.

वासवदत्ता–भासरचित

विक्रम चरित्रम्-शुभ शील गणि रचित, (हस्त लिखित), आचार्य श्री विनय चन्द्र ज्ञान भण्डार जयपुर के सौजन्य से प्राप्त

विक्रम स्मृति ग्रन्थ, प्रकाशक-सिन्धिया ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, ग्वालियर

विचार श्रेणि (परिशिष्ट सहित), जैन

श्रुतस्कन्ध-ब्रह्महेमचन्द्र विरचित, माणिक्य चन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
श्रुतावतार इन्द्रनन्दी कृत
श्रीमद्भागवत महा पुराण, गीता प्रेस गोरखपुर
शान्तिनाथ चरित्र

षट्खण्डागम-धवला टीका (पूर्ण), प्र.-जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर

संबोध प्रकरण, आ. हरिभद्र, प्रकाशक-जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद
स्कन्द पुराण
स्कंध गुप्त का जूनागढ शिलालेख
स्कंध गुप्त का भितरी का स्तम्भलेख
स्थानाँग सूत्र घासी लाल जी म. द्वारा संपादित, भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट द्वारा प्रकाशित
स्थानांग सूत्र-टीका अभयदेव सूरि, प्रकाशक राय धनपत सिंह
समंत भद्र-पंडित जुगल किशोर मुख्त्यार
समदर्शी आचार्य हरिभद्र- पं. सुखलाल संघवी डी. लिट्., प्रकाशक राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर १९३३ ई.
समय प्राभृत कुन्दकुन्दाचार्य, प्रथम संस्करण ई. १९१४
समय प्राभृतम् और प्राभृत संग्रह, प्र. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, (पुष्प १७), बम्बई
सयवायांग अभय देवीया टीका
समवायांग सूत्र-टीका अनुवाद, पू. घासीलालजी म., प्र. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट
समवायांग, प्र. रायबहादुर धनपत सिंह
सर्वार्थ सिद्धि-देवनन्दि पूज्यपाद (जिनेन्द्रबुद्धि) रचित, प्रकाशक-सखाराम नेमिचन्द्र जैन ग्रन्थमाला सोलापुर
साङ्गंधर पद्धति
सुत्तपाहुड़-आ. कुन्दकुन्द प्रणीत, षट् प्राभृतादि संग्रह, प्रकाशक-माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई
सूत्रकृतांग, आ. जवाहर लाल जी म. द्वारा अनूदित, प्रकाशक-शम्भूमल गंगाराम मूथा, बैंगलोर
सुत्तागमे प्रथमो अंसो सं. पुप्फभिक्खु, प्र. सूत्रागम प्रकाशक समिति, रेल्वे रोड, गुड़गांव छावनी, १९५३ ई.
Sacred Books of the East, Vol. 22 by Hermann Jacobi

हरिवंश पुराण, आ. जिनसेन (पुन्नाट संघीय) प्रणीत सं. पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६२
हरिवंश पुराण-कृष्ण द्वैपायन,
हरिषेण द्वारा कोशाम्बी में उट्टंकित करवाया हुआ समुद्र गुप्त का (इलाहाबाद स्थित) स्तम्भ लेख
हिमवन्त स्थविरावली (हस्तलिखित), मुनिश्री कल्याण विजयजी से प्राप्त
History of the Guptas, by Dandekar.

विशेष—सूची में दिये गये ग्रन्थों के अतिरिक्त उपलब्ध सम्पूर्ण आगम साहित्य और अन्य ग्रन्थों से सहायता ली गई है। उन सब की सूची देना संभव नहीं।

३. अर्थ सहायकों की सूची

स्तम्भ सदस्य

3001) श्री वर्द्धमान स्थानक वासी जैन संघ बालोतरा
3000) " इन्द्रनाथ जी मोदी जोधपुर
3000) " गणेशमलजी जयवन्तराजजी एदलाबाद
3000) " पृथ्वीराजजी कवाड़ मद्रास
3000) " गुनिमलजी सिंघवी जोधपुर
3101) " भन्डारी एण्ड सन्स मद्रास
3001) " पी. एम. दुगड़ मद्रास
3001) " सुरेशमलजी दुगड़ मद्रास
3001) " किरोड़ीमलजी उमरावमलजी (मद्रास) ट्रस्ट मार्फत किरण कुमारी सुराणा
3000) " मोहनमलजी दुगड़ चेरिटेबल ट्रस्ट मद्रास
3000) " दलीचंदजी उंकारलालजी रांका सैलाना

सहायक संरक्षक सदस्य

1000) श्री फतेचंदजी मूलचंदजी सुराणा पाली
1501) " भुरालालजी धर्मीचन्दजी पालडेचा धनोप
1001) " लालचंदजी भंवरलालजी गोठी मद्रास
1000) " माणकचंदजी नाहर बरेली
1000) " थानचंदजी मेहता जोधपुर
1502) " सुगनमलजी भोपालचंदजी पगारिया बेंगलोर
1001) " मूथा कालूरामजी चांदमलजी रायचूर
1501) " मुकनचंदजी खुशालचंदजी रायचूर
1001) श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफणा भोपालगढ़
1001) श्रीमती गुलाबबाई, पत्नी श्री चोथमलजी बोहरा रायचूर
1001) श्री आनंदराजजी मूथा बम्बई
1001) श्रीमती पानकंवर बाई बिलाड़ा
1000) श्री हस्तीमलजी तपसीचंदजी नाहर कोसाणा
1001) " सुगनमलजी गणेशमलजी भण्डारी बेंगलोर
1000) " ताराचंदजी गेलड़ा ट्रस्ट मद्रास
1001) " इंदरचंदजी धनराजजी धोका आधोनी
1003) " भंवरलालजी सुरजमलजी भण्डारी, चेतपेठ
1002) " घेवरचंदजी जसराजजी गोलेछा, बेंगलोर
1001) " तिलोकचंदजी संचेती मद्रास
1001) " अशोक कुमारजी कुंभट मद्रास
1001) " कल्याणमलजी कनकमलजी चोरड़िया मद्रास
1001) " चेनराजजी मेहता मद्रास
1001) " सुमेरमलजी चोरड़िया मद्रास
1001) " रिखबचंदजी कांकरिया मद्रास
1001) " गजराजजी मूथा मद्रास

साधारण सदस्य

150) श्री मोहनमलजी भंवरलालजी देवलिया कलां
200) श्रीमती कंचन कुमारी सुराणा जयपुर
100) श्री जतनलालजी मोहनलालजी नवलखा जयपुर
101) " चोथमलजी मुलतानमलजी छाजेड सुदापुर

101) श्रीमती लीलावती वहन हीरालालजी जोधपुर

101) श्री नेमीचंदजी पारसमलजी दफतरी रायचूर

100) " मांगीलालजी के. मेहता

101) " मांगीलालजी जोधपुर

151) श्रीमती धर्मपत्नी श्री भंवरलालजी सुराणा बीकानेर

501) श्री तेजराजजी उदयराजजी रूणवाल विजापुर

101) " जड़ावमलजी माणकचंदजी वेताला बागलकोट

101) " छोटेलालजी पालावत अलवर

311) " शांतीलालजी दुर्लभजी जवेरी जयपुर

201) " भीकमचंदजी मोदी

100) श्रीमती अजीला देवी

101) श्री भंवरलालजी छाजेड़

100) " लादूरामजी

200) " हेमराजजी डागा जोधपुर

101) " चम्पालालजी पाली

201) " जमनी सहायजी सुराणा जयपुर

201) " गणेशमलजी चम्पालालजी

500) श्रीमती चक्का वाईजी जयपुर

501) श्री एम. भण्डारी एण्ड सन्स मद्रास

101) " मांगीलालजी डागा जोधपुर

501) " खुशालचंदजी बाबूलालजी बरमेचा लासलगांव

101) श्रीमती विदाम बाई बोथरा कवर्धा

151) श्री वीरेन्द्र कुमारजी पारख दिल्ली

201) " महेन्द्र कुमारजी लोढ़ा आगरा

171) " पदमचंदजी नाहर दिल्ली

151) श्रीमती विद्याकुमारी जयपुर

101) श्री बैकुण्ठ नाथजी पांडे जयपुर

251) " धर्मचंदजी जैन बम्बई

151) " जिनुभाई जैन बम्बई

151) श्रीमती धापुवाईजी पुष्कर

201) " धापुवाईजी आंचलिया, गोवला

125) " वरजुवाई पीपाड़ा, भिणाय

201) " अनोपवाई बाफणा मांडलगढ़

101) " जडाव कुंवरवाई चोरड़िया जोधपुर

151) " रुखमावाई भंसाली जोधपुर

151) " नीमजीवाई मूथा जोधपुर

201) " सुंदरवाई गांग अहमदावाद

101) श्री मिश्रीमलजी मूथा लांक

501) " सुमन कुमारजी कुंभट मद्रास

302) " डी. सुगनचंदजी जैन बेंगलोर

201) " किसनलालजी बम्ब विल्लीपुरम

501) श्रीमती मनोहर बाई डागा जोधपुर

201) श्री मगनराजजी धरमचंदजी नाहर कोसाणा

101) " ज्ञानचंदजी चोरड़िया जयपुर

201) " जे. शांतीलालजी महावीर प्रसादजी मैसूर

302) " हुकमीचंदजी डोसी बेंगलोर

402) " एल. के. जवाहरलालजी मोतीलालजी बेंगलोर

201) " टी. पुखराजजी एण्ड कम्पनी मैसूर

201) " चंदनमलजी उमेदराजजी मैसूर

201) " एच. बी. घीसूलालजी एण्ड सन्स मैसूर

201) " श्री मांगीलालजी प्रकाशचंदजी रूणवाल मैसूर

201) " मिश्रीलालजी फूलचंदजी [illegible] मैसूर

201) श्रीमती सागरबाई, पत्नी [illegible] भंडारी, मैसूर

101) श्री [illegible] पुखराजजी मैसूर

101) " [illegible] मैसूर

101) " के. प्रकाशचंदजी एण्ड [illegible] मैसूर

201) " [illegible] मैसूर

201) श्री रांका ग्रॉटो फाइनेन्स कारपोरेशन वेंगलोर
101) " पुखराजजी चम्पालालजी मूथा वेंगलोर
101) " मीठालालजी राजेन्द्र प्रसादजी वेंगलोर
201) " मोहन गलोथ कारपोरेशन वेंगलोर
101) " मिश्रीलालजी सुरजमलजी मरलेचा वेंगलोर
201) " सम्पतलालजी सिरेमलजी मरलेचा वेंगलोर
101) " कस्तुरचंदजी कुंदनमलजी लुंकड़ वेंगलोर
101) " जेठमलजी चोरड़िया वेंगलोर
201) " शंकरलालजी खींचा वेंगलोर
201) " सेठ शम्भुमलजी गंगारामजी वेंगलोर
101) " चम्पालालजी चेतनप्रकाशजी डूंगरवाल वेंगलोर
101) " हिम्मतमलजी भंवरलालजी वांठिया वेंगलोर
101) " भंवरलालजी शंकरलालजी वेंगलोर
101) " नवरतनमलजी वेंगलोर

101) श्री गोविंदरामजी प्यारेलालजी मेहर वेंगलोर
101) " विरदीचंदजी अर्जुनलालजी पितलिया वेंगलोर
101) " हीरालालजी बन्सीलालजी वैंकटलालजी धोका वेंगलोर
101) " सूरजमलजी कुन्दनमलजी वाफणा वेंगलोर
101) " मिश्रीलालजी मदनलालजी कटारिया वेंगलोर
201) " हीरालालजी चांदमलजी वेंगलोर
101) " वदनमलजी धरमीचंदजी भण्डारी वेंगलोर
101) " जवाहरलालजी जयप्रकाशजी दफ्तरी वेंगलोर
101) " चम्पालालजी मंगलचंदजी सुराणा नागौर
101) " कानमलजी छगनलालजी सुराणा नागौर

इनके अतिरिक्त तीन सज्जनों ने क्रमशः 100), 351) एवं 100) की राशियां प्रदान की हैं, जो अपने नाम का प्रकाशन नहीं चाहते ।

---

९. 'प्रथम भाग' पर प्राप्त विद्वानों की सम्मतियाँ

महाराष्ट्र मंत्री एवं प्रवर्तक श्री विनय ऋषिजी म. सा.

ग्रन्थ क्या है, मानो साहित्यिक विशेषताओं से संपृक्त एक महनीय कृति है, जो भारती भण्डार में, विशेषत: जैन साहित्य में श्री वृद्धि के साथ साथ एक महती आवश्यकता की संपूर्ति करती है।

यह ग्रन्थ इतिहास, पुरातत्त्व और शोधनकार्य के साथ ही साथ अध्येता विद्वज्जनों एवं साधारण पाठकों की ज्ञान-पिपासा को एक साथ पूर्ण करता है। ....यह नवोदित सर्वोत्तम ग्रन्थ रत्न है।

आत्मार्थी मुनि श्री मोहन ऋषिजी म. सा.

बहुत वर्षों की साधना और तपश्चर्या के पश्चात् श्री उपाध्यायजी की कृति समाज के सामने आई है। इतनी लगन के साथ इतना परिश्रम आज तक शायद ही अन्य किसी लेखक ने किया होगा।

भावी पीढ़ी के लिये उनकी यह अपूर्व देन सिद्ध होगी।

पं. रत्न श्री प्रतापमलजी म. सा.

....पुस्तक प्रथम दर्शन से ही चित्त को आकर्षित करने वाली है। चौबीस तीर्थंकरों से सम्बन्धित सम्पूर्ण जानकारी इसी ग्रन्थराज में उपलब्ध है।

इतिहास-जिज्ञासुओं के लिये पर्याप्त सामग्री का यह एक अपूर्व भण्डार है।

सम्यग्दर्शन (सैलाना) २० मार्च, १९७२
समीक्षक: श्री उमेश मुनि 'अणु'

इतिहास की नूतन विधा पश्चिम जगत् की देन है। फिर भी यह मानना भ्रान्त होगा कि प्राचीन भारत के मनीषी, इतिहास रूप साहित्य विधा से बिलकुल अपरिचित थे। वैदिकों ने पुराणों में इतिहास निबद्ध करने का प्रयत्न किया। जैन आचार्यों ने कालचक्र के अवसर्पिणी उत्सर्पिणी रूप विभागों के अनुसार घटना क्रम को संयोजित करके, इतिहास को सुरक्षित करने का प्रयास किया।

....यह तीर्थंकर खण्ड है। इसमें तीर्थंकरों के पूर्व भवों और जीवन के विषय में लेखन हुआ है। तीर्थंकरों के पूर्वभवों को आज के इतिहासविद् शुद्ध इतिहास के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि आधुनिक इतिहास-लेखन भौतिकवाद की भित्ती पर प्रतिष्ठित है।

भ० महावीर के विषय में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री का विपुल मात्रा में उपयोग किया गया है। प्रभु वीर के भक्त राजाओं का परिचय भी दिया गया है। कुछ भ्रान्तियों (महावीर, पासत्थ, श्रेणिक और कूणिक के धर्म आदि से सम्बन्धित) का निरसन भी किया गया है।

भ० महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् बुद्ध के निर्वाण काल को अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है।

पूज्य श्री की सैद्धान्तिक दृष्टि इस लेखन में बराबर स्थिर रही है। भाषा प्रवाहपूर्ण और सरस है। कथा-रस-प्रेमी और इतिहास-प्रेमी दोनों की रुचि को सन्तुष्ट करने की सामर्थ्य है-इस ग्रन्थ में। इतनी विशाल पृष्ठभूमि पर तीर्थंकरों के विषय में एक ही ग्रन्थ में प्रमाण पुरस्सर आलेखन का मेरी दृष्टि में यह प्रथम व्यवस्थित प्रयास है। ऐतिहासिक अन्वेषकों के लिए, यह ग्रन्थ बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है।

इसमें पहली बार गवेषणात्मक ढंग से सारी सामग्री को व्यवस्थित किया गया है। इसी क्रम में जैनेतर स्रोतों का भी उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है और जैन दृष्टि से लिखते हुए तथ्यों की अतिरंजता से बचा गया है। संक्षेप में कहूँ तो ग्रन्थ में इतिहास के परिप्रेक्ष्य में तीर्थंकरों के बारे में उपलब्ध तथ्यों, साक्ष्यों आदि का समावेश करते हुए एकांगी दृष्टिकोण न अपना कर सही मूल्यांकन करने में सफलता प्राप्त की है।

तथ्यों के प्रतिपादन की शैली सुबोध और रोचक है जो लोक भाषा की समन्वित छटा साधारण पाठकों को भी संपूर्ण ग्रन्थ पढ़ने के लिये आकर्षित करती है। हमें विश्वास है कि इतिहास के विद्यार्थी की तरह ही साधारण पाठकों द्वारा भी ग्रन्थ का पठन-पाठन किया जायेगा।

मुद्रण निर्दोष, आकर्षक और कलात्मक है।

मालव केशरी श्री सौभाग्य मुनिजी महाराज सा.

"जैन धर्म का मौलिक इतिहास, तीर्थंकर-खण्ड" देखा। मन प्रसन्नता से भर उठा। तीर्थंकरों की ये जीवनियां इतिहास के अध्येताओं के लिये तर्कसम्मत और उपयोगी सिद्ध होंगी। सरस सुबोध शैली एवं सरल भाषा विद्वान् आचार्य महाराज की अपनी विशेषता है। प्रयास बहुत ही सुन्दर है।

मधुकर मुनिजी

""इतिहास का आलेखन वस्तुतः सरल नहीं माना जाता। उसके आलेखन में प्रमुख आवश्यकता होती है तटस्थता की और सजग रहने की।

अनेक पुरातन व नव्य भव्य ग्रन्थों का अध्ययन-अवलोकन करके आचार्य श्री जी ने जो यह ग्रन्थ तैयार किया है, उसमें वे काफी सफल हुए हैं, ऐसा मेरा अभिमत है।

जैन साध्वी श्री उमराव कंवरजी म. सा.

""इस इतिहास के सम्यक्तया पठन से जैन धर्म की मौलिक इतिवृत्तात्मक परम्परा का सुविशद ज्ञान हो जाता है। वस्तुतः एतद्विषयक अभूतपूर्व इतिहास का निर्माण कर के परम श्रद्धेय गुरुदेव ने जैन समाज को ही नहीं अपितु जैनेतर जिज्ञासुओं को भी उपकृत किया है।

परम विदुषी महासतीजी श्री उज्वल कुमारीजी महाराज सा.

चौवीस तीर्थंकरों के दिव्य जीवन सुललित और साहित्यिक भाषा में तथा भव्य भावों में प्रस्तुत ग्रन्थ में लिखे गये हैं। यह ग्रन्थ लिखकर आचार्य श्री जी ने एक बडी भारी आवश्यकता की पूर्ति की है।

तीर्थंकरों के जीवन की प्रामाणिक सामग्री प्राप्त कराने के लिये आचार्यश्रीजी ने जो महान परिश्रम उठाया है, उसे देख कर कोई भी व्यक्ति धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

डॉ० रघुवीरसिंह, एम. ए. डी. लिट्, **सीतामऊ (मध्यप्रदेश)**
२७ जनवरी, ७२ का पत्रांश

अब तक जैन धर्म का प्रामाणिक पूरा इतिहास कहीं भी और विशेष कर हिन्दी में तो अवश्य ही देखने को नहीं मिला था, अतएव इस ग्रन्थ के प्रकाशन से वह बहुत बड़ी कमी कई अंशों में पूरी होने जा रही है। अतः इस ग्रंथ के प्रकाशन का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ। हर्मन जेकोबी आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने अवश्य ही जैन धर्म के इतिहास की ओर कुछ ध्यान दिया था, तथापि इधर प्राचीन भारतीय इतिहास विषयक संशोधकों और इतिहासकारों ने जैन धर्म के इतिहास तथा तत्सम्बन्धी आधार-सामग्री की प्रायः उपेक्षा ही की है। जैन धर्म के इतिहास की आधार सामग्री अधिकतर अर्ध मागधी आदि प्राच्य भाषाओं में प्राप्य है एवं उनका सम्यक् ज्ञान और अध्ययन नहीं होने के कारण भी इतिहासकारों ने उक्त सामग्री में प्रायः जानकारी की ओर ध्यान नहीं दिया था, तथापि जो कुछ ज्ञात हो सका है उससे यह बात स्पष्ट है कि प्राचीन काल में तो अवश्य ही जैन धर्मावलम्बियों की भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, अतएव प्राचीन भारतीय इतिहास के उस पहलू का पूरा पूरा अध्ययन किये बिना तत्सम्बन्धी सही परिप्रेक्ष्य की जानकारी नहीं हो सकेगी। मेरा विश्वास है कि उस दृष्टि से भी जैन धर्म का यह मौलिक इतिहास विशेष रूप से उपयोगी और सहायक होगा। अतः इसके आगे के भागों की भी प्रतीक्षा रहेगी।

······· प्रागैतिहासिक काल के विवरण को जैन ग्रंथों के आधार पर प्रस्तुत कर उस काल पर आगे शोध करने वालों को तत्सम्बंधी अधिक जानकारी और अध्ययन में बहुत बड़ी सहायता दी गई है। प्रारम्भिक तीर्थंकरों के काल आदि की समस्या अवश्य उठती है। तत्सम्बंधी जैन परम्पराओं का अब तक अध्ययन और विश्लेषण नहीं हुआ, क्योंकि सुनिश्चित रूप में सुबोध ढंग से वह इतिहासज्ञों को सुलभ नहीं थी। अतः अब इस मौलिक इतिहास में प्रस्तुत विवरण के आधार पर वह भी भविष्य में सम्भव हो सकेगा।

जैन धर्म के तत्त्वों आदि की भी सरल सुबोध ढंग से व्याख्या की गई है। यों इस ग्रन्थ को बहुविध जानकारी से परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। जैन धर्म ही नहीं भारतीय संस्कृति और पुरातन परम्पराओं के इस पहलू विशेष की जानकारी के इच्छुकों के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी प्रमाणित होगा। अतः यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि हिन्दी साहित्य की विशेष उपलब्धि के रूप में इस ग्रन्थ को विशेष स्थान प्राप्त होगा।

पं. हीरालाल शास्त्री (नसियां, ब्यावर)

के समय में ऐसे ही जैन इतिहास के ग्रन्थ की आवश्यकता बहुत समय से अनुभव की जा रही थी, उसकी पूर्ति करके इतिहास समिति ने एक बड़ी कमी की पूर्ति की है, ग्रन्थ की छपाई-सफाई आदि बहुत उत्तम है, इसके लिए आप सर्व धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है कि इसका द्वितीय भाग भी इसी के समान सर्वांग सुंदर निकलेगा।

श्री अगरचन्द नाहटा

पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। काफी श्रम से तैयार की गई है। इससे कुछ नये तथ्य भी सामने आये हैं। दिगम्बर श्वेताम्बर तुलनात्मक कोष्टक उपयोगी है। ऐसी पुस्तक की बहुत आवश्यकता थी। आशा है इसका दूसरा भाग भी शीघ्रही प्रकाशित किया जायेगा।

जैन सन्देश (शोधांक) ३२, दि. २७. ६. ७३
समीक्षक-डॉ. ज्योति प्रसाद जैन

... चौबीस तीर्थंकरों का चरित्र आधुनिक ऐतिहासिक शैली में प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। यथा सम्भव श्वेताम्बर एवं दिगम्बर उभय आम्नायों के साधनस्रोतों का उपयोग करते हुए दृष्टि को तुलनात्मक बनाये रखने की भी चेष्टा की गई है। ग्रन्थ के अन्त में संक्षेप से महावीर निर्वाणकाल का भी विवेचन किया गया है। इस सम्बन्ध में हमारी पुस्तक जैन सोर्सेज आफ दी हिस्ट्री ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया का भी उपयोग किया जा सकता था तथापि ग्रन्थ अति उत्तम, पठनीय एवं संग्रहणीय हैं।....

श्री श्रीचन्द जैन, एम. ए., एल-एल. बी.
प्राचार्य एवं उपाध्यक्ष, हिन्दी विभाग
सान्दीपनि स्नातकोत्तर महाविद्यालय
उज्जैन (म.प्र.)

.......वस्तुतः इतिहास लिखना तलवार की धार पर तीव्रगति से चलना है। इस कठिन साधना में सफलता उसी विद्वान् को प्राप्त होती है, जिसके मानस में सत्योपलब्धि की ललक अग्नि-ज्वाला के समान प्रज्वलित रहती है।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म. ने जिस सुनिश्चित एवं व्यापक दृष्टिकोण को अपना कर जैन धर्म का मौलिक इतिहास लिखा है, वह उनकी सतत साधना का एक अविनश्वर कीर्तिस्तम्भ है। इसमें उनके विस्तृत अध्ययन, निष्पक्ष चिन्तन, अकाट्य तर्कशीलता एवं अन्तर्मुखी आत्मानुभूति की निष्कलंक छवि प्रस्फुटित हुई है। जिस प्रकार व्यग्र तूफानों की कसमसाहट में नाविक का चातुर्य परीक्षित होता है, उसी प्रकार सहस्राधिक विरोधी प्रमाणों की पृष्ठभूमि में एक मानवतावादी, दार्शनिक और ऐतिहासिक सत्य की स्थापना करना इतिहासकार की विवेकशीलता का द्योतक है। पूज्य हस्तीमलजी महाराज की लेखनी में यह वैशिष्ठ्य सर्वत्र विद्यमान है। विद्वानों की यह एक मान्यता सी है कि इतिहास में पर्याप्त शुष्कता होती है। फलतः पाठक उसके अनुशीलन से घबड़ाते हैं। लेकिन पूज्य आचार्य की शैली पूर्णरूपेण सरस है; भाषा प्राञ्जल है। ग्रन्थ में सर्वत्र भाषा शैली की

सुघड़ता उल्लेख्य है। भावों को व्यवस्थित रूप में प्रकट करने वाली प्रवाहपूर्ण ऐसी भाषा वहुत कम विद्वानों के ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।........

समालोच्य रचना एक ऐसे अभाव की पूर्ति करती है, जो सैकड़ों वर्षों से जैनमनीषियों को खटक रहा था लेकिन आस्था-विश्वास की कमी के कारण कोई निष्ठावान् इतिहास का विद्वान् आगे वढ़ने का साहस नहीं कर पा रहा था। इस ग्रन्थ में मौलिकता का प्राधान्य है। साहित्यसाधना के लिये समर्पित सन्त ही ऐसे महान् कार्य कर सकते हैं।

परिस्थितियों का चित्रण इस रचना की एक विशेपता है। इस इतिहास से ऐसे कई तथ्य प्रकाश में आए हैं जो ऐतिहासिक पीठिका को वलवती बनाते हैं जिससे प्रसिद्ध इतिहास-कारों को भी अपनी मान्यताओं को परिवर्तित करना होगा। आचार्य श्री की यह साहित्य-साधना युग-युगों तक स्मरणीय रहेगी। ऐसे महिमामय ग्रन्थ को प्रकाशित कर जैन इतिहास समिति साधुवाद के सर्वथा योग्य है।

डॉ० महावीर सरन जैन एम. ए., डी. फिल., डी. लिट्.

अध्यक्ष– स्नातकोत्तर हिन्दी एवं भाषा विज्ञान विभाग,
जवलपुर विश्वविद्यालय

........जैन धर्म का मौलिक इतिहास, तीर्थंकर खण्ड मैंने आद्योपान्त पढ़ा। जैन धर्म के चौवीस तीर्थंकरों के सम्वन्ध में प्रचुरमात्रा में नये तथ्यों का उद्घाटन एवं विवेचन हुआ है। इस इतिहास की सव से वड़ी विशेपता यह है कि इसमें उपलब्ध समस्त सामग्री का उपयोग तथा दिगम्वर एवं श्वेताम्वर दोनों परम्पराओं की मान्यताओं का प्रतिपादन किया गया है।

समीक्षा

आकाशवाणी, जयपुर

समीक्षक-स्व० श्री सुमनेश जोशी

........प्रस्तुत खण्ड में चौवीस तीर्थंकरों के सम्वन्ध में प्राचीन व आधुनिक ग्रन्थों के प्रकाश में अनुशीलनात्मक प्रामाणिक और सुव्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत की गई है और साथ ही उन वातों का निरसन किया गया है जो भ्रामक थीं। आचार्यश्री ने तय किया है कि वर्तमान ग्रन्थ सामान्य पाठकों के लिये सरल, सुवोध शैली में प्रस्तुत किया जाय, उन्हें इस प्रयास में पूर्ण सफलता मिली है। परिशिष्ट में जो चौवीस तीर्थंकरों के सम्वन्ध में अलभ्य ऐतिहासिक सामग्री वर्गीकृत ढंग से दी है, उसने ग्रन्थ की महत्ता को कई गुना वढा दिया है।

जैन परम्परा के तीर्थंकरों के सम्वन्ध में एक साथ इतने व्यवस्थित रूप से संभवतः पहली वार ही इतिहास ग्रन्थ तैयार किया गया है। जैन और जैनेतर उन सभी लोगों के लिये ग्रन्थ अत्यन्त महत्व का है जो जैन परम्परा के चोवीसों तीर्थंकरों के जीवनवृत्त, कठोर तप साधना और उनके उदात्त चरित्रों को जानना चाहते हैं।

श्री कैलाशचन्द्र जैन

........इसको पढ़ने से मुझे अनेक महत्वपूर्ण नई वातों की जानकारी प्राप्त हुई है। वहुत अच्छा होता कि इस ग्रन्थ में यह भी विचार किया जाता कि जैन पुराणों के

आधार पर तीर्थंकरों से सम्बन्धित सामग्री अभी की खोज की गई पुरातात्विक सामग्रा से कहां तक मेल खाती है। ऐसा करने से इस ग्रन्थ का महत्व अधिक बढ जाता।

अनेकान्त
श्री परमानन्द जैन शास्त्री

……ग्रन्थ में यथास्थान मतभेदों और दिगम्बर मान्यताओं का निर्देश किया गया है। लेखन शैली में कहीं भी कटुता और साम्प्रदायिक अभिनिवेश का उभार नहीं होने पाया है। भाषा सरल एवं मुहावरेदार है। उसमें गति एवं प्रवाह है।

परिशिष्ट के चार्ट बहुत उपयोगी हैं। पुस्तक पठनीय और संग्राह्य है।

डॉ० कमलचन्द सोगानी

…इतिहास समिति, जयपुर एक बहुत ही उत्तम कार्य में लगी है। आचार्यश्री के अथक परिश्रम ने ऐसी उत्तम पुस्तक हमें प्रदान की है।

तीर्थंकरों के परम्परागत इतिहास पर अभी तक कोई पुस्तक ऐसी व्यवस्थित देखने को नहीं मिली। इसमें लेखक ने सभी दृष्टियों से तीर्थंकरों के चरित्र लिखने में सफलता प्राप्त की है। फुट नोट्स के मूल ग्रन्थों के सन्दर्भ से कृति पूर्ण प्रामाणिक बन गई है।….

तीर्थंकर (इन्दौर) जनवरी, १९७२
समीक्षक : डॉ. नेमीचंद जैन

आलोच्य ग्रन्थ इस दशक का एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय प्रकाशन है। इसमें जैन तीर्थंकर-परम्परा को लेकर तुलनात्मक और वैज्ञानिक पद्धति से तथ्यों को आकलित, समीक्षित और मूल्यांकित किया गया है। यों जैन धर्म के इतिहास को लेकर कई छुटपुट प्रयत्न हुए हैं, किन्तु उक्त ग्रन्थ का इस संदर्भ में अपना स्वतन्त्र महत्व है। इसकी सामग्री प्रामाणिक, विश्वसनीय, व्यवस्थित और वस्तून्मुख है।

ग्रन्थ की महत्ता इसमें नहीं है कि इसने किस तीर्थंकर की कितनी सामग्री दी है वरन् इसमें है कि इसने पहली बार इतनी *प्रामाणिक, वैज्ञानिक, विश्वसनीय, तुलनात्मक* और गवेषणात्मक ढंग से सारी सामग्री को व्यवस्थित किया है। समग्रता और समीक्षात्मक दृष्टि उक्त ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है। दूसरी बात यह भी महत्वपूर्ण है कि इसमें न केवल अथक श्रम और सूक्ष्म आलोडन के साथ तथ्यों की समीक्षा हुई है वरन् सारा प्रकाशन एक सुव्यवस्थित ऐतिहासिक अनुशासन से बद्धमूल है। स्वतन्त्र गवेषणात्मक दृष्टि के कारण ही जैनेतर स्रोतों का भी उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है और जैन दृष्टि से लिखे जाने पर भी तथ्यों की अतिरंजना से बचा गया है। आचार्य श्री हस्तीमलजी के सुयोग्य निर्देशन का मणि-कांचन योग सर्वत्र द्रष्टव्य है। उनके द्वारा लिखे गये प्राक्कथन ने ग्रन्थ के महत्व को स्वयमेव बढ़ा दिया है। प्राक्कथन में कई मौलिक तथ्यों पर पहली बार विचार हुआ है, यथा "तीर्थंकर और क्षत्रियकुल" "तीर्थंकर और नाथ सम्प्रदाय"। परिशिष्टों ने ग्रन्थ की उपयोगिता में वृद्धि की है। प्रायः जैन ग्रन्थों में इतने व्यापक और तुलनात्मक परिशिष्ट नहीं देखे जाते

किन्तु इस ग्रन्थ के तीनों परिशिष्ट कई तथ्यों का विहंगावलोकन प्रस्तुत करते हैं। दिये गये तथ्य तुलनात्मक हैं और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दृष्टिकोण को अनासक्त रूप में प्रस्तुत करते हैं।

तथ्यों के प्रतिपादन की शैली सुबोध और रोचक है। इतिहास की नीरसता और शुष्कता की अपेक्षा साहित्य और सहज लोकभाषा की समन्वित छटा दिखायी देती है। इससे ग्रन्थ की पठनीयता में वृद्धि हुई है। जैन विचार, आचार और सम्बन्धित महापुरुषों को लेकर उक्त ग्रन्थ मौलिक है और अपना पृथक् स्थान रखता है।

हमें विश्वास है इसका इतिहास और धर्म के मर्मज्ञों में समादर होगा और जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदाय इसकी समग्रता से प्रभावित होकर अधिक निकट आयेंगे।

छपाई निर्दोष, आकर्षक और कलात्मक है, मूल्य सर्वथा उचित है।

श्रमण (वाराणसी) फरवरी, १९७२
समीक्षक-श्री हरिहरसिंह

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकरों के जीवन सम्बन्धी घटनाओं का प्राचीन व आधुनिक ग्रन्थों के आधार पर सुव्यवस्थित एवं प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है। ब्राह्मण एवं जैन ग्रन्थों के आधार पर तीर्थंकर अरिष्टनेमि की वंशावली भी दी गई है। पुस्तक में बहुत सी बातों का समुचित ढंग से निराकरण किया गया है, जो अब तक संदेहात्मक थीं। सभी तीर्थंकरों के बारे में एक साथ इतने सुव्यवस्थित ढंग से पहली ही बार लिखा गया है।

ऐतिहासिक तथ्यों की गवेषणा के लिये लेखक में ब्राह्मण व बौद्ध साहित्य का भी उपयोग किया है। पुस्तक के तीन परिशिष्ट बड़े ही महत्व के हैं। यह पुस्तक साधारण पाठकों एवं विशिष्ट अध्येताओं के लिये समान उपयोगी है। भाषा-शैली सरल एवं प्रवाह पूर्ण है। ऐसे ग्रन्थ को प्रकाश में लाने के लिये लेखक, संपादक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

जैन सन्देश २४ फरवरी, ७२
समीक्षक : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

........यह प्रथम खण्ड है। इसमें २४ तीर्थंकरों का इतिवृत्त आगमिक साहित्य के आधार पर दिया गया है। श्वेताम्बर साहित्य में उक्त सम्बन्ध में जो कुछ सामग्री मिलती है उसे बड़े ही सुन्दर ढंग से उपस्थित किया गया है। यथा स्थान दिगम्बर मान्यताओं और मत भेदों का भी निर्देश है। कहीं भी शैली में साम्प्रदायिकता का अभिनिवेश नहीं आने पाया है।

अन्तिम पृष्ठों में तीर्थंकर को लेकर विविध मान्यताभेद श्वेताम्बर तथा दिगम्बर ग्रन्थों के आधार पर चार्टों द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं जो बहुत उपयोगी हैं। पुस्तक पठनीय है, संग्राह्य है। लेखन की तरह प्रकाशन भी आकर्षक है। इस समय इसी तरह के सुन्दर प्रकाशनों की आवश्यकता है। हम इतिहास समिति को उसके इस सुन्दर प्रकाशन पर बधाई देते हैं।

श्री स्थानकवासी जैन (अहमदाबाद) २० फरवरी, २७

... आपणा स्था० जैन समाज मां जैन परम्परानां इतिहास नी खूब जरूर छे, ते ध्यान मां लई आचार्यवर पू. श्री हस्तीमलजी महाराज सा. आ दिशा मां पोतानों प्रयास शुरू कर्यो छे। दरेक तीर्थंकर ना समय नी बनेली विशिष्ट घटनाओं नो सप्रमाण उल्लेख कर्यो छे। परिशिष्टमां तीर्थंकरो नी आगवी नोंध विस्तृत माहिती आपी छे। प्रमाणो साथे रजु करेल आ इतिहास आवकार पात्र छे। दरेक ग्रन्थालयो माटे दर्पण रूप छे। पू. श्री ना आ भगीरथ प्रयास ने अमे आवकारीए छीए।

डॉ० भागचन्द्र जैन एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

...... इसमें यत्र-तत्र जैनेतर साहित्य का भी भरपूर उपयोग किया गया है। शास्त्र के विपरीत न जाने का विशेष ध्यान विद्वान लेखक ने रखा है। फिर भी दिगम्बर जैन परम्परा के और बौद्ध तथा वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में समाहित ऐतिहासिक तथ्यों को यथास्थान उद्घाटित करने का महाराज सा० का प्रयत्न सराहनीय है।

भाषा, भाव, शैली और विषय की दृष्टि से लेखक निःसन्देह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हुआ है। ऐसे महनीय ग्रन्थ के लिए लेखक और सम्पादक मण्डल धन्यवाद के पात्र हैं।

---

५. शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४	१४	हृदयथिग्रं	हृदयग्रंथि
२००	१६	त्रक्षे	क्षेत्र
२०१	२५	भुमे	मुभे
२२२	१५	जम्ब्रूकुसार	जम्बूकुमार
२५०	नीचे से २	डडीसा	उड़ीसा
२६६	२	रहती है	रहती थी
२९२	८	विन्द्याचल	विन्व्याचल
४०४	१७	अभिप्सित	अभीप्सित
४१४	नीचे से ६	भद्रबाहु	स्थूलभद्र
५३५	,, ८	तिर्वाण	निर्वाण
५४७	,, १	लगभ	लगभग
५५०	१०	१८	१७ (२१)
५५२	१५	१८	१८ (२२)
५५५	नीचे से १०	प्रतिकाना	प्रतिमाना
५७३	३	कुण्डमाण्डपाक	कूष्माण्डपाक
५८९	१०	२३	१९ (२३)
६९४	नीचे से ३	वज्र	रक्षित
६०७	,, १	Movier	Monier
६३१	१	२०	२० (२४)
६४८	५	२१	२१ (२५)
६५३	१३	२२	२२ (२६)
६५४	१०	२३	२३ (२७)
६५६	नीचे से ६	थम	प्रथम
६६३	१	आर्य गोविन्द	(२८) आर्य गोविन्द
६६४	१८	२४	२४ (२९)
६७४	१५	२५	२५ (३०)
६७४	२५	२६	२६ (३१)
६७५	१७	२७	२७ (३२)
७०३	२२-२३	पट्ठावली	पट्टावली